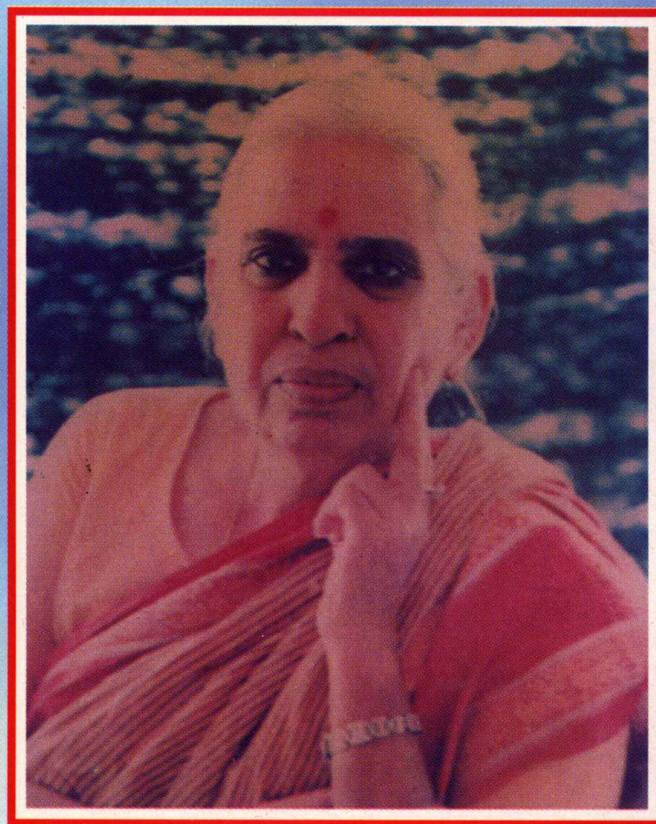
प्रेम-रसायन एवं सङ्गीत-मीमांसा

The Alchemy of Love and Wisdom

Expressed through the holistic life and works of

Prof. Prem Lata Sharma



सम्पादन

डॉ. ऊर्मिला शर्मा

प्रेम-रसायन एवं सङ्गीत-मीमांसा
The Alchemy of Love & Wisdom

प्रेम-रसायन एवं सङ्गीत-मीमांसा

The Alchemy of Love & Wisdom

As expressed through the holislic life and works of

Prof. Prem Lata Sharma

(A compilation of various articles of her and about her)

साहित्य-सङ्गीत-कला-दर्शन-संस्कृति-भक्ति-रसिका आचार्या

प्रेमलता शर्मा

के कुछ लेखों, प्रकीर्ण कृतियों के सहित उनके

व्यक्तित्व-कृतित्व-सङ्केतक विविध लेखों का सञ्चय

सञ्चय एवं सम्पादन

डॉ० ऊर्मिला शर्मा

राधा पब्लिकेशन्स

नई दिल्ली

राधा पब्लिकेशन्स

आम्नाय, धर्मजित् नगर,
209/1, करौंदी, वाराणसी-221005

प्रथम संस्करण—2002
ISBN–81-7487-259-0
Rs. 1500/–

श्रीमती राधा रानी गर्ग द्वारा राधा पब्लिकेशन्स 4378/4बी अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-2 के लिए प्रकाशित।
जे० आर० टाइपसैटर, खजानी नगर, जौहरीपुर, दिल्ली-94 द्वारा शब्द संयोजन तथा तरुण आफसेट प्रिंटर्स, दिल्ली-53 में मुद्रित।

समर्पण-पत्र

प्राच्यविद्यावारिधि विद्वद्वरेण्य गुरुवर्य

डॉ० पं० परशुराम लक्ष्मण वैद्य

के प्रति

सश्रद्ध समर्पित

जिन्होंने प्रेमलता जी को

तत्त्व-गवेषणा, संस्कृत ग्रन्थों के पाठ-संशोधन

एवं सम्पादन आदि में निष्णात बनाया

तथा

नन्हीं ऊर्मिला को प्रणाम करना सिखाया

निवेदन

''नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि''

श्रीमद्भगवद्गीता में कहे गये इस प्रभु-वाक्य का अर्थ प्रकट जीवन में अनेक स्तरों पर जीते हुए अनेक महा-मनीषियों का दर्शन-सान्निध्य-सेवा का सौभाग्य पाना भगवान् की कृपा का ही फल है। इसी फल से समृद्ध एवं भगवत्प्रेम से ही उगी-पनपी 'लता' की स्निग्ध ऊष्मा, छाया एवं रस से पाला-पोसा गया था यह 'ऊर्मिला'-नामक जीव (जिसे यह नाम भी उन्हीं ने दिया था)। १९९८ के दिसम्बर ५ को वह स्वनामधन्य (प्रेमलता बहिनजी) आलम्ब अप्रकट हो जाने से यह प्राणी निष्प्राण-जैसा हो गया। किन्तु पुनः उन्हीं 'अव्यक्त' ने इसे स्वधर्म सुझाया एवं सन्तों-मनीषियों के मुख से कहलाया कि उनके प्रति सच्ची श्रद्धाञ्जलि होगी :—१. उनके द्वारा हो रहे—(अचानक महायात्रा के कारण-) मँझधार में छूट गये कार्यों को यथाशक्ति पूरा करने का प्रयत्न करना; एवं—२. उनके विविध लेखों और सङ्गीत-रचनाओं के रूप में बिखरी हुई (प्रायः अप्राप्य हो रही)—उनकी वाणी को तथा उनके व्यक्तित्व-कृतित्व-परिचय को 'अक्षय' रूप में सँजो देना—उनके वर्तमान एवं भावी परिवार (सङ्गीत-साहित्य- दर्शन-शिक्षण-अध्यात्म-क्षेत्रीय) के लिये। इसी स्वधर्म-पालन में जुटना ही अब इस छाया-सम काया का जीवन है। इन तीन वर्षों में बहुत-कुछ हुआ है, बहुत कुछ होना शेष है, क्योंकि पू० बहिनजी के कार्य ''हरि अनन्त हरिकथा अनन्ता''—जैसे हैं। सच ही, सन्तों के शब्दों में—''बहिनजी के कार्य भगवत्कार्य ही हैं''— मुझे इनके होने में निमित्त-माध्यम बने रहना है-जब तक भगवान् चाहें। अस्तु।

तत्त्वज्ञान तथा प्रयोग में साहित्य-सङ्गीत-कला-प्रवीणा, जीवन में सतत कर्मयोगिनी एवं हृदय से भक्तिरसिका तपस्विनी-प्रेमलताबहिनजी-के व्यक्तित्व का मूल स्वर था प्रेम, अबाध स्नेह, जो उनके प्रत्येक व्यवहार में प्रकट रहता था (कभी-ही उभर आने वाले क्रोध में भी उस व्यक्ति के हितचिन्तन की भावना-रूपी उत्कट स्नेह ही कारण होता था) उस अगाध प्रेम-रस से ओतप्रोत उनके व्यक्तित्व-कृतित्व की कुछ झाँकी वर्तमान-भविष्य जगत् में बनी रहे इसी हेतु से प्रस्तुत ग्रन्थ बना है और इसी हेतु से मैंने दो वर्ष पूर्व आम्नाय-प्रकाशन (स्वयं कृत) द्वारा Indian Aesthetics and Musicology नाम से उनके कुछ अप्राप्य लेखों का संग्रह प्रकाशित किया था, जिसमें कुछ अंग्रेज़ी संस्मरण-लेख एवं कुछ चित्र भी सम्मिलित किये थे। शीघ्र ही उसका द्वितीय भाग भी प्रकाशित होगा।

इस बीच प्रेममयी बहिनजी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के परिचायक स्वयं उनके कुछ संस्कृत-हिन्दी लेखों, नृत्य-नाट्य-प्रस्तुतिपुस्तिकाओं, काव्य-कृतियों तथा सङ्गीत-रचनाओं के साथ उनके वरिष्ठ, समवयस्क तथा अनुवर्ती मित्रवर्ग तथा शिष्यवर्ग के लेखों एवं उद्गारों का यह सङ्कलन प्रस्तुत हो रहा है। इसका विषय तो विषयानुक्रमणी में स्पष्ट है ही; विशेष रूप से यहाँ समावेशित हैं बहिनजी के बहुआयामी जीवन की कुछ झाँकी कराने वाले पिच्चासी (८५) दुर्लभ चित्र। इनमें से अनेक केन्द्रिय सङ्गीत नाटक अकादमी के

सौजन्य से प्राप्त हुए (जिनके प्रकाशन की अनुमति के लिये मैं उनकी आभारी हूँ।) शेष सभी चित्र बहिनजी के निजी संग्रह में से लिए गए हैं। मूल चित्रों के सदृश तो प्रकाशन नहीं हो पाया है किन्तु वे दृश्य तो सामने आ ही रहे हैं।

पू० बहिनजी स्वनामधन्या रहीं, उनके जीवन एवं कार्यात्मक सम्पूर्ण सङ्गीत का षड्ज-स्वर रहा प्रेम, उनके व्यक्तित्व की रग-रग में बह रहा था यही रस जो उनके प्रतिपल व्यवहार में छलकता था। उसी फुहार से सिंचे उनके सभी स्तरों के साथी यह अनुभव करते रहे; कोई १% यदि उसकी प्रतीति से वञ्चित रहे भी तो अपने ही मन की किन्हीं कुण्ठाओं के कारण, किन्तु निकटवर्ती सभी इस सत्य-तथ्य के साक्षी हैं कि स्वयं बहिनजी उन व्यक्तियों के लिये भी हित-चिन्तन एवं यथासम्भव अपनी ओर से हाथ बढ़ा कर उनकी सहायता का उतना ही प्रयत्न करती थीं जितना कि समर्पित सहयोगियों के लिये। कभी मैंने बहिनजी को पूछा भी कि वे उन व्यक्तियों द्वारा परोक्ष में किया जाने वाला असत्य एवं विपरीत आचरण जानते हुए भी कैसे इतना स्नेह उँडेल पाती हैं?—तब उत्तर मिला—''कोई किसी कमी के कारण अपना धर्म भूल जाये तो उस पर दया रहनी चाहिये, पर उसकी कमी से हमारा स्वभाव क्यों बदले? मैं तो प्यार के सिवा कुछ भी कर नहीं सकती; दूसरा क्या करता है यह वह जाने। कोई ग़लत रास्ते पर चले तो उसे सही राह दिखाना हमारा धर्म है। प्रारब्धवश वह न मान सके तो दुःख होगा, पर इस से हम क्यों अपना सही रास्ता छोड़ें?''

उनके व्यवहार में इस 'मन्त्र' की सजीवता मैंने सदा अनुभव की है। इन्हीं अनुभूतियों से प्रेरित है इस सङ्कलन का नाम—''**प्रेमरसायन**''। साथ ही, उनके बहु-आयामी कर्म-क्षेत्र में संयोग-वश ही प्रधान बन गया था सङ्गीत—जो ''स्वर-ताल-पदात्मक'' है अत: वेदत्रयी—

ऋक्-पद, साम-स्वर, यजुष्-ताल;

ऋक्-ज्ञान, साम-भक्ति, यजुष्-कर्म;

ऋक्-वाक्, साम-प्राण, यजुष्-मनस्;

—ऐसे त्रयी का समन्वित विग्रह है सङ्गीत।

—यह दर्शन उन्हें भलीभाँति हुआ था। इसीलिए 'परब्रह्म' का साक्षाद्-बोध जगाने में सक्षम माना गया ''नादब्रह्म'' जिस सङ्गीत का मूल है, उस सङ्गीत के—सदियों से उपेक्षित हुए शास्त्रपक्ष (जिसकी उपेक्षा के कारण ही सङ्गीत अपनी गरिमा गँवा कर निकृष्ट श्रेणी की कला माना जाने लगा था—उसी) के पुनरुद्धार में '**दिगम्बर**'-योगी (नादतनु शिव) और उनके प्रिय '**विष्णु**' तथा दोनों (ईश्वर स्वरूप) के वाचक '**प्रणव**' (पं० ओङ्कारनाथ ठाकुर) की सहायिका सन्तति (विस्तारक, शिष्या) बनीं डॉ० प्रेमलता शर्मा, और अपने गुरुजनों को वह आनन्द दिया जो गुरु एवं पिता का आदर्श अभिलषित है—

''सर्वत्र जयमिच्छेत् शिष्याद् वा पुत्राद् वा इच्छेत् पराजयम्।''

स्वर-सम्राट् सङ्गीतमार्तण्ड ''गुरुजी'' के आशीर्वाद स्वरूप उनकी **यह शिष्या सङ्गीत के प्रयोग-पक्ष में भी 'सिद्ध' हुईं, उत्तम 'वाग्गेयकार' भी हुईं, किन्तु अपनी प्रयोग-निपुणता का विनियोग उन्होंने**

'शास्त्र' के पुनरुद्धार के लिये ही किया, अपने इहलोक की सुख-समृद्धि एवं ''चकाचौंध'' के लिये नहीं। वे भलीभाँति समझती थीं कि 'शास्त्र'-पक्ष की अवज्ञा के कारण ही सङ्गीत उत्तम योग-साधन होते हुए भी वह प्रतिष्ठा खो कर कालक्रम से 'हेय' निम्नस्तर की आजीविका बनकर तिरस्कार का पात्र बन गया था। परमगुरुदेव (पं० विष्णु दिगम्बर पलुस्कर जी) ने सङ्गीत की पवित्रता एवं प्रतिष्ठा की पुनः स्थापना का यज्ञ प्रारम्भ किया था, 'गुरुजी' ने आगे बढ़ाया था और **उनकी इसी शिष्या के सर्वाङ्ग-समर्थ प्रयत्नों तथा वाणी की सक्षमता के द्वारा उस यज्ञ की पूर्णाहुति हुई कि सङ्गीत-प्रयोग एवं शास्त्र दोनों भारतीय इतिहास में पहली बार विश्वविद्यालयीय स्तर की सब पदवियों का विषय बने,** सङ्गीतकारों तथा सङ्गीत-शास्त्रियों का सम्मान अपेक्षित स्थान पर प्रतिष्ठित हुआ।

बहिनजी ने सङ्गीत की सर्वाङ्गीण मीमांसा के लिये अपना जीवन दान किया था, इसीलिए उनके प्रति श्रद्धाञ्जलि-स्वरूप प्रस्तुत संकलन का दूसरा शीर्षक हुआ—**''सङ्गीत-मीमांसा''**। 'सङ्गीत-मीमांसा' एवं 'सङ्गीत-चूर्णिका'—शीर्षक उन्हें प्रिय थे, इन्हीं नामों से वे अपना चिन्तन-सार सच्चे जिज्ञासुओं विद्यार्थियों के लिए विभिन्न-विषय-बद्ध लेख-माला के रूप में प्रस्तुत करने की योजना बना रही थीं, उसके लिये स्वयं 'विषयानुक्रमणिका' भी लिख ली थी और कुछ शब्दाङ्कित चिन्तन-जैसे लघु लेख एकत्र रखे थे जिनका विस्तार करने वाली थीं, किन्तु १९९५ से क्रमशः बढ़ती जा रही अस्वस्थता में भी बाहर से सामने आये सर्वोपयोगी कार्यों की व्यस्तता के कारण अपने कार्य उपेक्षित रहे और अन्ततः छूट ही गये। फिर भी उनके उसी शब्दाङ्कित चिन्तन को ''सङ्गीतचूर्णिका''—शीर्षक से ही मैं प्रकाशित करना चाहती अवश्य हूँ, वह सम्पन्न होना श्रीहरि-इच्छा पर निर्भर है।

एक और महान् कार्य वे १९९५ तक में पूरा करके रख गयी हैं—भरत-नाट्यशास्त्र के पञ्चम अध्याय तथा सङ्गीत-परक चारों अन्तिम अध्यायों का सम्यक् पाठ-संशोधन तथा अंग्रेजी एवं हिन्दी में अभूतपूर्व विशद-सटीक अनुवाद। वह सम्पूर्ण पाण्डुलिपि कालिदास-अकादमी, उज्जैन, के 'कर्ता-धर्ता' व्यक्तियों के पास है; पू० बहिनजी की अतीव इच्छा थी कि उसका प्रकाशन उनके सामने हो जाय क्योंकि वह उनकी चिरकाल की साधना की परिणति है और सङ्गीत-शास्त्र-जगत् के लिये अनुपम देन है;—किन्तु कालिदास-अकादमी की अतिशय शिथिलता का फल है कि **स्वयं बहिनजी के रहते तो वह प्रकाशन नहीं ही हुआ, उनके निधन के बाद मेरे द्वारा बारम्बार प्रार्थना किये जाने पर भी वह पाण्डुलिपि मुझे अब तक सौंपी नहीं गयी है जबकि मैं अपनी ही यत्किञ्चित् निधि द्वारा उसके प्रकाशन के लिए तत्पर हूँ। मैं चाहती थी कि उनके इस अमृत-जयन्ती-वर्ष (७५ पूर्त्ति) तक उस महान् कृति का प्रकाशन हो जाए—इस रूप में उनकी अतृप्त इच्छा पूर्ण करने की भावना थी**—जो बहुधा व्यक्त भी की गयी किन्तु सब व्यर्थ रहा। वह कार्य करने के लिये केवल लिपिक का वेतन और प्रकाशन का आश्वासन कालिदास अकादमी द्वारा दिया गया था ; इसी नाते सम्पूर्ण पाण्डुलिपि उनको सौंप दी गयी, किन्तु इतनी चिर-व्यापिनी उपेक्षा की आशङ्का हमें नहीं थी। पूरे सात वर्ष बीत चुके हैं, अब तक वह पाण्डुलिपि एवं पाठसंशोधन-वाले Colation-sheets कहाँ किस दशा में रखे होंगे—इस दुश्चिन्ता की व्यथा मेरे चित्त में है। **कम से कम उस कार्य की सूचना तो सब के सामने आ जाए**—इसी भावना से यह शब्दाङ्कन हुआ है। इससे जिन्हें बुरा लगे उनसे क्षमा चाहती हूँ, किन्तु विवश हूँ। अस्तु।

प्रस्तुत सङ्कलन के निर्माण में जिन-जिन का प्रत्यक्ष-परोक्ष योगदान रहा है उन सभी के प्रति हृदय से आभारी हूँ, जिन में प्रमुख हैं वे सभी (वरिष्ठ*, समवयस्क एवं कुछ वयस् में छोटे भी)—जिन के लेख यहाँ हैं। मद्रास में रहते हुए एवं कुछ-कुछ बहिनजी की भाँति ही सङ्गीत-शास्त्र-सेवा में अति-व्यस्त होते हुए भी हमारे भाई **डॉ० एन्० रामनाथन्** का जो सतत सहयोग मुझे मिलता रहा है—उसके लिए विशेष कृतज्ञ हूँ।

प्रस्तुत ग्रन्थ के अंग्रेजी लेखों का प्रूफ़-संशोधन करने में मुझे पू० बहिनजी की सहयोगिनी (शिष्यावत्) डॉ० नीहारिका लाल (इस समय वसन्त कन्या महाविद्यालय, कमच्छा, वाराणसी में अंग्रेजी-प्राध्यापिका) ने भरपूर सहयोग दिया है, तदर्थ उसे स्नेहपूर्ण साधुवाद देती हूँ। इसी प्रकार इस ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड में विद्यमान सब स्वर-लिपियों का प्रूफ़-संशोधन करके डॉ० सुभद्रा चौधरीजी ने मुझे उपकृत किया है एवं अपनी 'प्रेमबहनजी' के कार्य में सहयोग द्वारा उनके प्रति समादर प्रकट किया है; वे बड़ी हैं अत: उन्हें प्रणाम करती हूँ।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए **'राधा पब्लिकेशन्स'** के प्रायोजक श्री नितिन गर्ग को भी हृदय से साधुवाद देती हूँ, जिन्होंने बड़ी सुरुचि से कार्य सम्पन्न करवाया है। फिर भी छूट गई हुई 'मुद्राराक्षसीय' अशुद्धियों के लिये पाठकों से क्षमाप्रार्थिनी हूँ।

अन्त में प्रभु-धाम में विराज रहीं पू० बहिनजी से प्रार्थना करती हूँ कि "तुलसी"—जी के शब्दों द्वारा मेरी भी वही विनति प्रभु को निवेदित कीजियेगा—

"जाहि न चाहिय कबहुँ कछु, तुम सन सहज सनेह।
बसहु सदा अन्तर तिनकें, सो राउर निज गेह॥"

'आम्नाय' धर्मजित् नगर,
करौंदी, **वाराणसी-२२१००५**
दूरभाष-३१६४६० (०५४२)

—ऊर्मिला शर्मा
(चैत्र-पूर्णिमा, २०५९)
(२६.४.२००२)

---

* विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं दिवङ्गत—पं० हरिहरनिवास द्विवेदी जी तथा प्रो० रामसिंह तोमर जी; जिनकी स्नेहछत्र-छाया से अब मैं वञ्चित हो गयी हूँ।
—ऊर्मिला

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

(१-१८२)

प्रो० प्रेमलता शर्मा के कतिपय निबन्ध, व्याख्यान, स्फुट चिन्तनादि

द्वितीय खण्ड

(१८३-४०७)

सङ्गीत-नाट्य-काव्यात्मक विविध कृतियाँ

तृतीय खण्ड

(४०९-४६१)

श्रद्धाञ्जलि एवं स्मारक व्याख्यान

चतुर्थ खण्ड

(४६३-५७९)

श्र० प्रेमलता जी के वरिष्ठ, समवयस्क एवं निकट अनुवर्ती मित्रों के संस्मरणात्मक उद्गार तथा इस ग्रन्थ के लिये दिये गये काव्य तथा लेख आदि

पञ्चम खण्ड

(५८१-७३६)

प्रेमलताजी के अनुवर्ती उनसे घनिष्ठ सम्बद्ध विद्वान् मित्रों तथा छात्र-छात्राओं के कार्य-सम्बन्धी एवं संस्मरण-भरे लेख

यहाँ स्वतन्त्र ३२ पृष्ठों में, श्री० बहिनजी के बहुआयामी जीवन की कुछ झाँकियाँ ८५ छवियों में प्रस्तुत हैं।

परिशिष्ट

(७३७-८१६)

(क)
जीवन-कर्म-तथ्य-परिचय

(ख)
कुछ विशिष्ट-अभिनन्दन

(ग)
'प्रेमलता' के 'गोलोकवास' के पश्चात् व्यक्त हुए स्नेहिजनों के कुछ उद्गार

विशेष

प्रथम खण्ड

प्रो० प्रेमलता शर्मा के कतिपय निबन्ध, व्याख्यान, स्फुट चिन्तनादि

प्रथम खण्ड

(१-१८२)

प्रो० प्रेमलता शर्मा के कतिपय निबन्ध, व्याख्यान, स्फुट चिन्तनादि

.१.

भारतीय सङ्गीत में 'शोध' की आवश्यकता और क्षेत्र*

'रिसर्च' के लिये आजकल भारतीय भाषाओं में 'खोज', 'अन्वेषण', 'गवेषणा', 'अनुशीलन', 'परिशीलन', 'शोध' या 'अनुसन्धान' शब्दों का प्रयोग किया जाता है। इनमें से प्रत्येक शब्द का स्वयं में विशिष्ट अर्थ है, *उदाहरणार्थ*—

१. खोज—का मूल अर्थ है पदचिह्न। इसी का अर्थविस्तार करने पर व्यापक अर्थ होता है चिह्न। 'रिसर्च' के लिये उपयोगी वाङ्मय एकत्र करना या जुटाना, अज्ञात साहित्य की खोज करना, इस सन्दर्भ में यह शब्द सार्थक है किन्तु इसमें मौलिक चिन्तन और सूक्ष्म विवेचन का समावेश नहीं है, जो कि 'रिसर्च' में अभिप्रेत है।

२. अन्वेषण—'इष्' धातु का अर्थ है चाहना और 'अनु' उपसर्ग का अर्थ है पीछे-पीछे; दोनों का सम्मिलित अर्थ बनता है इच्छित वस्तु को खोजना। इस प्रकार अन्वेषण शब्द भी 'अज्ञात या छिपी हुई, खोई हुई या लुप्त हो चुकी वस्तु को खोज निकालना'—यही अर्थ प्रकट करता है।

३. गवेषणा—इसका वास्तविक अर्थ है गायों की इच्छा या खोज। निसर्ग की गोद में खेलने वाले गोपबालकों द्वारा अपने झुण्ड में से दूर चली गयी चरती हुई गायों को उत्सुकता-पूर्वक खोज लाना या खोजते रहना—यही तथ्य गवेषणा के मूल में है। खोज की उस उत्कटता (खोई हुई गाय के मिलने तक चैन न पड़ना) से ही इस शब्द का अर्थ विस्तार हुआ है। इसीलिये किसी भी अभीप्सित वस्तु की उत्सुकता एवं उत्कट इच्छापूर्वक तब तक खोज करना जब तक वह मिल न जाय, इस उत्कट-प्रयत्न के अर्थ में 'गवेषणा' शब्द का प्रयोग होता रहा है। यहाँ 'गो' का अर्थ केवल 'गाय' नहीं, 'वाणी', 'इन्द्रिय', 'किरण' आदि सभी अर्थों का समावेश है। 'किरण' के लाक्षणिक अर्थ में प्रकाश और ज्ञान आते हैं। इसीलिये 'गवेषणा' का मुख्य अर्थ बन गया ज्ञान की उत्कट इच्छा से की जाने वाली खोज। इसी नाते बंगाली भाषा में 'रिसर्च' के लिये विशेष रूप से 'गवेषणा' शब्द का प्रयोग होता है। इस प्रकार यह 'अन्वेषण' का पर्याय बन गया है।

४. अनुशीलन—'शील्' धातु का अर्थ है ध्यान, चिन्तन अथवा अध्ययन करना। उस में 'अनु' उपसर्ग लगने से अर्थ होता है—पुनः-पुनः या निरन्तर चिन्तन, अध्ययन। इससे 'रिसर्च' के प्रधान अङ्ग का बोध तो होता है किन्तु उसकी प्रक्रिया अथवा प्रविधि का सङ्केत नहीं मिलता; फिर भी सङ्गीत में प्रयोग और चिन्तन में सम्बन्ध स्थापित करने की दिशा में 'शोध' के लिये यह शब्द विशेष सार्थक होगा।

५. परिशीलन—'परि' उपसर्ग सहित 'शील्' धातु का अर्थ बनता है 'सर्वाङ्ग या साङ्गोपाङ्ग (सभी ओर से) चिन्तन, मनन, अध्ययन।' यह भी 'रिसर्च' के निकट है किन्तु पूरे अभिप्राय का बोध नहीं कराता।

६. शोध—'शुध्' धातु का अर्थ है मल-रहित या सन्देहरहित होना या करना। चिन्तन-मनन के सब दोष निकाल डालना, शुद्ध करना, पूरी 'चौकसी' रखते हुए किसी निष्कर्ष पर पहुँचना अथवा किसी वस्तु या विचार का यथायथ (सही-सही) वास्तविक स्वरूप निश्चित करना। इस शब्द में 'रिसर्च' के बहुत-कुछ वैशिष्ट्य मिलते हैं। आजकल हिन्दी में यही शब्द 'रिसर्च' के

* इस लेख का मराठी रूपान्तर—'संगीतकलाविहार'—फरवरी १९७७ में प्रकाशित हुआ था।

समानार्थक या पर्याय रूप से प्रयोग में आ रहा है। यह शब्द छोटा होने के कारण व्यवहार में सुविधाजनक भी है, विशेष रूप से पाठ-समीक्षा या पाठ संशोधन के लिये यह अधिक सार्थक है, क्योंकि लिपिकारों द्वारा क्रमशः आये हुए दोषों का निवारण करके किसी रचना का मूल पाठ क्या रहा होगा यह निश्चित करने का प्रयत्न किया जाता है।

७. अनुसन्धान—'धा' धातु का अर्थ है रखना, दृष्टि अथवा मन किसी एक स्थान पर स्थिर करना, लगाना या धारण करना। सम् उपसर्ग लगने पर 'सन्धान' का अर्थ होता है संयोजन करना, ध्येय की ओर दत्तचित्त होना। उसमें फिर 'अनु' उपसर्ग लगने पर अर्थ बनता है उसी (ध्येय) का पीछा करना, उसी पर विचार करना, कोई सूत्र पकड़ कर उस विषय के मूल तक पहुँचना, मूलगामी प्रवाहित चिन्तन, निरीक्षण, परीक्षण, जाँच-परख इत्यादि। ये सभी अर्थ सङ्गीत के इतिहास के सन्दर्भ में सबसे अधिक उपयोगी ठहरते हैं—ऐसा लगता है। इसीलिये यह शब्द (अनुसन्धान) 'रिसर्च' के अधिक समानार्थक प्रतीत होता है। अतः प्रस्तुत निबन्ध में 'रिसर्च' के लिये इसी शब्द का अधिकतर उपयोग किया गया है।

सङ्गीत और प्रत्येक प्रयोगशील कला के सन्दर्भ में और भी एक शब्द 'रिसर्च' के हार्द के निकट दिखता है—पुनराकलन और परिशीलन के आधार पर '**पुनः सर्जन**' (Reconstruction) उदाहरण के लिये सङ्गीतशास्त्र में जिन गीत-प्रकारों का वर्णन मिलता है, उनका परिशीलन करके, अर्थात् 'उक्त' और 'अनुक्त' दोनों प्रकारों से जाँच-परख कर उन गीत-प्रकारों का पुनः सर्जन अर्थात् **पुनर्निर्माण**। *यह भी 'रिसर्च' का एक पक्ष है।

सङ्गीत-क्षेत्र में अनुसन्धान की नितान्त आवश्यकता है—यह कहना न होगा। आज की परिस्थिति में तो इस प्रसङ्ग में अनुसन्धान अतीव उपयोगी है। सङ्गीत-विषयक अनुसन्धान वर्तमान परिस्थिति में विशेष रूप से क्यों आवश्यक है इसे समझने के लिये संक्षेप में देखें तो आज की परिस्थिति में चार पहलू हैं—

१. उपयोजन—तथाकथित 'शास्त्रीय' सङ्गीत का वास्तविक शास्त्र में कहा गया 'निबद्ध' भाग अब किन-किन सम्प्रदायों (गुरु-शिष्य-परम्परा) के 'अनिबद्ध' (अनियमित) रूपों में कितना-सा मिलता है—इसका माप-तोल और भान आज हमें प्रायः नहीं-सा रहा है। शास्त्र में 'निबद्ध' और 'अनिबद्ध' ये शब्द 'गायन' के विशेषण-रूप से नहीं आये हैं, बस जो नियमित स्थिर किया हुआ स्वर-प्रयोग है वह 'निबद्ध' और जो अनियमित (पहले से निश्चित-निर्दिष्ट न किया हुआ) प्रवाहानुरूप अस्थिर प्रयोग-विधा है वह 'अनिबद्ध' है—ऐसा विशिष्ट अर्थ इन शब्दों से अभिप्रेत है।

२. शास्त्र—जिसे हम सङ्गीत का शास्त्र कहते हैं वह केवल ग्रन्थ-भाण्डार में ही समाया पड़ा है—ऐसा आमतौर पर समझा जाता है। परन्तु वास्तव में देखें तो इसके दो पक्ष हैं—एक सङ्गीत-विषयक मूल ग्रन्थों की शृङ्खला (जो मुख्यतया संस्कृत में है) और दूसरा है—सम्प्रदाय—अर्थात् ग्रन्थों में से न मिलकर गुरु-शिष्य-परम्परा में व्यवहार में चला आता हुआ शास्त्र। आज तो हालत यह है कि न तो हमें ग्रन्थों में विद्यमान शास्त्र का ज्ञान है क्योंकि उनका सर्वाङ्गीण अध्ययन किया नहीं जाता और न ही अध्ययन-अध्यापन की परम्परा का परिचय है क्योंकि वह परम्परा आज अधिकांश नष्ट हो चुकी है।

३. इतिहास—सातत्य (Continuity) और परिवर्तन (change) इन दोनों तटों के बीच बहने वाला कालप्रवाह ही किसी भी विद्या का इतिहास कहलाता है। इस दृष्टि से सङ्गीत के इतिहास के निर्माण और अध्ययन का अभी प्रयास नहीं हुआ है।

४. शिक्षण—गुरुकुल-पद्धति को स्थगित करके अब सङ्गीत-शिक्षण ने संस्थागत रूप ले लिया है इस कारण सङ्गीत-शिक्षण में जो समस्यायें उभरी हैं उन्हें सुलझाने के लिये आवश्यक गम्भीर चिन्तन और अभ्यास का प्रारम्भ भी अभी कहाँ हुआ है? इस दिशा और दृष्टि से अभी बहुत-कुछ करना बाकी है।

---

* श्र० 'बहिनजी' ने इस दिशा में अतीव मौलिक कार्य किये बल्कि जीवन का अधिकांश इसी में लगाया; प्रबन्ध, विविध गीतक, ध्रुवायें, पूर्वरङ्ग के सभी अङ्ग, प्राचीन पाटाक्षरों तथा 'झण्टुं जगतिय कुचझल' आदि का सङ्गीत एवं नाट्य में विनियोग—इत्यादि बहुत कुछ का उन्होंने सीधे नाट्यशास्त्र तथा परवर्ती सङ्गीतशास्त्र-ग्रन्थों के आधार पर पुनः सर्जन प्रयोगात्मक रूप में किया, कराया, करना सिखाया। —सम्पा०

परिशोधन या अनुसन्धान के अभिप्राय या तात्पर्य के विषय में और अधिक अभी कहने का अवकाश नहीं है। इस ('रिसर्च') के क्षेत्र (scope) सम्बन्ध में संक्षेप में कुछ कहना तो अञ्जलि में समुद्र भरने जैसा ही होगा। फिर भी कुल सात विभागों में सङ्गीत-अनुसन्धान को देखने का प्रयत्न किया जा सकता है—

१. शास्त्र के निबद्ध भाग की शृंखला, २. इतिहास, ३. लक्ष्य-लक्षण-सम्बन्ध, ४. शिक्षण, ५. बहिर्लक्षण सङ्गीत, ६. संग्रह, ७. सम्बद्ध विषय (Allied Subjects)

इनमें से प्रत्येक को कुछ विस्तार से देखें—

1. शास्त्र के निबद्ध भाग की शृङ्खला—इसमें (क) पाठ समीक्षण (Textual Criticism), (ख) शब्दकोश-रचना (Lexicography), (ग) ग्रन्थसूचीपरक कार्य (Bibliographical work) (घ) अनुवाद (Translations)—ये चार प्रमुख अङ्ग हैं। पाठसमीक्षण का सम्बन्ध मुख्य रूप से शास्त्रग्रन्थों से है। उसकी आवश्यकता सदा बनी रहेगी। सङ्गीत में तो पदांशों के भी पाठसमीक्षण की बहुत ही आवश्यकता है। दोनों प्रकार का एक-एक उदाहरण यहाँ देखें—

(क) **शास्त्रग्रन्थ**—'सङ्गीतरत्नाकर' के प्रकीर्णकाध्याय में शब्द (कण्ठ) के गुणों में 'मृष्ट' की व्याख्या करते समय कहा गया है—"श्रोत्रनिर्वाचको मृष्टस्त्रिषु स्थानेष्वविस्तरः" तीनों स्थानों (मन्द्र, मध्य, तार) में सही रहना बेसुरी न होना, आवाज न फटना न दबना—यह 'मृष्ट' होना है। किन्तु 'अविस्तर' पाठ का क्या अर्थ होगा? तीनों स्थानों में राग आदि का विस्तार तो होना ही है, विस्तार का अभाव कैसे कहा जा सकता है? और यदि 'अभाव' हो तो वह गुण कैसे कहलायेगा? इस प्रकार वस्तु-चिन्तन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ 'विस्वर' शब्द रहा होगा, 'अविस्वरः' पाठ लें तो अर्थ बनता है कि तीनों स्थानों में बेसुरा न होना 'मृष्ट' गुण का अर्थ है। जो आवाज़ (कण्ठध्वनि) तीनों स्थानों में एक समान सुरीली रहते हुए न फटे, न दबे-वह 'मृष्ट' है।

(ख) **गीत का पद्यांश**—पूरिया का एक प्रसिद्ध छोटा ख्याल है—मौखिक परम्परा से प्राप्त हुआ था जिसके बोल थे—

"सपने में आये पी जबते मोरी माँ,
सौतन की कल बिगर गई री,
पकर ना सकी, पल उघर गई।

यहाँ सवाल उठा कि स्वप्न तो बिल्कुल व्यक्तिगत अनुभव है, उसकी जानकारी भला सौतन को कैसे मिली? इस पर एक उत्तर आया कि नायिका ने स्वयं ही उत्साह के कारण सौतन को बताया होगा। पर यह बात कुछ जमती नहीं। 'रागकल्पद्रुम' में 'सौतन' की जगह 'मो तन' पाठभेद मिला। यह देखते ही समस्या सुलझ गई। सपने में प्रियतम को देखकर अपने तन की हालत (सुध-बुध) बिगड़ना (वश में न रहना) स्वाभाविक ही है। आगे की पंक्ति से उसका मेल भी बैठता है।

पाठ-संशोधन की दृष्टि से (ऊपर वाले) दोनों (उदाहरणों की) दिशाओं में बहुत काम किया जाना बाकी है। अधिकतर शास्त्रीय ग्रन्थों के पाठ-संशोधन-युक्त संस्करण (critical editions) अभी नहीं बने हैं और गेय पदों के पाठसमीक्षण का कार्य तो बस प्रारम्भ ही हुआ है। उदाहरणार्थ सङ्गीत-नाटक अकादमी (केन्द्रिय) ने १९६२ में बख्शु नायक के एक हजार ध्रुपदों के संग्रह **'सहसरस'** का critical edition प्रकाशित किया है।[१]

सङ्गीत-विषयक कोश की दिशा में अभी कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं हुआ है। श्री रामकृष्ण कवि का 'भरतकोश' अवश्य उपयोगी है, किन्तु विशिष्ट शब्दों के अर्थों का क्रमविकास, अर्थ-सङ्कोच, अर्थविस्तार, अर्थ का दिशान्तरण—इन सब के विचार से युक्त कोश बनना अभी बाकी है। ग्रन्थों में आये पारिभाषिक शब्दों का कोश, मौखिक परम्परा में चले आते शब्दों-

१. यह अतीव महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक संशोधित-पाठ-सम्पादन स्वयं प्रेमलता शर्मा जी द्वारा ही हुआ था। —सम्पा०

परिभाषाओं का कोश, फिर इनमें परस्पर सम्बन्ध या अर्थ-विस्तार आदि की पहचान कराने वाला कोश आदि। ऐसा कोश बनना अत्यावश्यक है।[१]

ग्रन्थ-सूची की दिशा में भी (Bibliographical) कार्य अभी तक बहुत कम हुआ है। डॉ० राघवन् ने कुछ वर्ष पहले इस दृष्टि से कुछ कार्य किया था। काशी-हिन्दु विश्वविद्यालय के (हमारे) सङ्गीतशास्त्र विभाग ने भी इस प्रकार का कुछ कार्य किया है। Indian Music Journal में भी कुछ ग्रन्थों का सारपरिचय प्रकाशित हुआ है।

अब अप्रकाशित ग्रन्थों के विषयों के संक्षिप्त-समीक्षणात्मक और तुलनात्मक रेखाङ्कन से युक्त कोई ग्रन्थ बनाया जाना आवश्यक है।[२]

मूल सङ्गीतशास्त्र-ग्रन्थों का संस्कृत से आधुनिक भाषाओं में अनुवाद का कार्य भी अब कहीं-कहीं प्रारम्भ हुआ है। मराठी में डॉ० जी०एच० तारलेकर द्वारा किया हुआ 'सङ्गीतरत्नाकर' के चार अध्यायों का अनुवाद अभी ही प्रकाशित हुआ है। हमारे द्वारा का०हि०वि० में सं० रत्नाकर का अंग्रेजी अनुवाद किया जा रहा है जो शीघ्र ही प्रकाशित होने वाला है।[३]

यह तो हुई संस्कृत-ग्रन्थों की बात। आज की भारतीय भाषाओं में भी अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ पिछले सवा-सौ वर्षों में लिखे गये हैं, उनका भी हिन्दी में अनुवाद होना चाहिये। उदाहरणार्थ—सुब्बाराव दीक्षितार की 'सम्प्रदाय प्रियदर्शिनी' (तेलगू), शिरप्पाधिकारम् (तमिल्), 'सङ्गीतसार', 'यन्त्रक्षेत्र दीपिका' (बंगला), 'सङ्गीतकलाधर' (गुजराती)[३] 'भारतीय सङ्गीत' (मराठी), आदि का हिन्दी में अनुवाद प्रकाशित होना बहुत उपयोगी होगा। अच्छे ग्रन्थों की विषयवस्तु को भी भाषान्तर (अनुवाद) में समाविष्ट किया जाय तो समय, शक्ति और धनव्यय में किफायत के साथ-साथ बहुत उपयोगी कार्य होगा।

अंग्रेजी (पाश्चात्य सङ्गीत के) साहित्य का भारतीय भाषा में अनुवाद विशेष उपयोगी नहीं होगा— क्योंकि उनके उदाहरणादि भारतीय-सङ्गीत के सन्दर्भ में सर्वथा अपरिचित रहेंगे। अत: यहाँ के सङ्गीत के अनुकूल कुछ रूपान्तरण (Adaptation) और चुनिन्दा पुस्तकों का संक्षेप (Abridgement) करते हुए अनुवाद प्रकाशित होना चाहिये।

२. इतिहास—इतिहास के विषय में सामान्यतया स्पष्ट समझ भारतीय शिक्षक-वर्ग में प्राय: नहीं है। इतिहास के नाम से बस—वर्तमान से सम्बन्ध न हो ऐसे भूतकाल का वर्णन—यही अर्थ समझा जाता है। उसका स्वतन्त्र रूप से अध्ययन किया जा सकता है, किन्तु आज के सङ्गीत और सङ्गीतशास्त्र के सन्दर्भ में वैसे इतिहास के अध्ययन की विशेष उपयोगिता नहीं है।

वास्तव में **इतिहास तो सातत्य (continuity) और परिवर्तनशीलता (change) की प्रवाहिता को समझने का साधन है।** उदाहरणार्थ सङ्गीत का कोई शब्द लें—**स्वर, राग, ताल**। इनके सम्बन्ध में **हमारी जो धारणायें हैं उनके उद्‌भव-विकास-दिशान्तर अथवा अध:पात (विकार) का क्रम समझने के लिए तत्सम्बन्धी प्राचीन और मध्ययुगीन उल्लेख देखने पड़ते हैं। उन उल्लेखों का क्रमवार अध्ययन, उनमें विद्यमान साम्य और भेद के आकलन से उन धारणाओं (concepts) के अर्थ और इतिहास का स्पष्टीकरण होता है। उनका प्रतीक ही इतिहास-शब्दार्थ है।**

---

१. ऐसा ही एक **विशाल कोश—'महाकोश' बनाने की तैयारी वे स्वयं सं०ना० अकादमी के अन्तर्गत कर रही थीं।** योजना का क्रियान्वयन प्रारम्भ होने जा रहा था कि दिवंगत हो गईं।

२. इसी प्रकार का भी **एक ग्रन्थ "Source Book of Music" तैयार करने की विराट् पूर्वी योजना** प्रो० प्रेमलता जी ने सं०ना० अकादमी के तत्त्वावधान में बनाई थी एवं उसके लिए प्रारम्भिक कार्य भी प्रारम्भ किया था, तभी १९९८ के दिसं० प्रारम्भ में वे दिवङ्गत हो गईं, 'महाकोश' एवं यह **''भारतीय-सङ्गीत-स्रोत''** दोनों अस्त हो गये।

३. डॉ० प्रेमलता शर्मा एवं डॉ० र०कु० शृङ्गी (सं०शा० विभाग में सहयोगी) द्वारा किए गए इस अंग्रेजी अनुवाद के दो खण्ड १९७८, १९८८ में प्रकाशित हुए शेष अङ्ग्रेजी अनुवाद का कार्य प्रेमलता जी के प्रमुख शिष्यगण कर रहे हैं और हिन्दी अनुवाद डॉ० सुभद्रा चौधरी कर रही हैं।

४. **डाह्यालाल शिवराम के 'सङ्गीतकलाधर' का हिन्दी अनुवाद** अपने शिष्यों से करवा कर प्रो० शर्मा जी ने सङ्गीत ना० अकादमी के अन्तर्गत स्वयं सम्पादित किया, **वह शीघ्र ही प्रकाशित होने** वाला है।

एक शब्द **'स्वर'** को लें। भरतमुनि ने शब्द (sound) के दो प्रकार कहे हैं—'स्वरवान्' और 'अभिधानवान्'। इनमें से स्वरवान् को 'नानातोद्य-समाश्रय' कह कर फिर उसे शरीर-वीणा, दारवी-वीणा, वंश, अवनद्ध और घन—ऐसे क्रम से अनेक वाद्यों द्वारा अङ्कित (व्यक्त) होने वाला बताया है। इस प्रकार 'स्वर' को वाद्य से जोड़कर उसे भाषागत स्वर (vowel) की अपेक्षा पृथक् सिद्ध किया है, और 'वाद्य' (जिसमें कण्ठ-यन्त्र भी समवेत है) को साङ्गीतिक स्वर के अभिव्यक्त होने का माध्यम बताया है। इसमें **भरतमुनि की लक्ष्यप्रधान दृष्टि एवं शैली** स्पष्ट दिखाई देती है। **मतङ्ग के समय लक्षण-प्रधान शैली** का प्रारम्भ हुआ था। इस कारण बृहद्देशी में 'स्वयं राजन्ते इति स्वराः' ऐसी **व्याकरणशैली** की व्युत्पत्ति कही गई। यह परिभाषा का प्रत्यक्ष नहीं परोक्ष मार्ग है। किन्तु इसमें सङ्गीत के स्वर और भाषा के स्वर (व्याकरण 'अच्' वर्णों) का परस्पर अन्तर स्पष्ट नहीं होता। 'अभिनवभारती' में सर्वप्रथम सङ्गीत के स्वर की व्याख्या करते हुए अनुरणनात्मकता, माधुर्य और **स्निग्धता**—ये तीन विशेषण लगा कर भाषागत स्वर से इसकी विशिष्टता दिखाई है। इसके अतिरिक्त सङ्गीतरत्नाकर में मतङ्ग के 'स्वयं राजन्ते' के स्थान पर 'स्वतो रञ्जयति' ऐसा कह कर उसकी **रञ्जकता को प्रकृष्ट धर्म** (गुण) के रूप में प्रदर्शित किया गया है।

'स्वर' के सम्बन्ध में इस **भारतीय चिन्तन-प्रवाह को यदि हम निर्जीव भूतकाल की एक कहानी-मात्र मानकर उसकी उपेक्षा करें तो भारी नुकसान ही होगा।** वास्तव में जो अपने शास्त्र (अर्थात् लक्षण) का अध्ययन करने चलें वे इतिहास से एक इंच भी दूर रह कर अपने लक्ष्य की ओर चल नहीं सकते, और ऐसा **इतिहास-विमुख लक्षण का अध्ययन व्यर्थ-प्रयास ही रहेगा।**

ऊपर कहे गये प्रकार के अध्ययन छिट-पुट प्रमाण में ही कहीं-कहीं चल रहे हैं। उनका सुसम्बद्ध क्रमवार (chronological) स्वरूप अभी विशेष रूप से कहीं दिखाई नहीं दे रहा है। अपने इतिहास-प्रवाह के बहुत ही अल्पांश का उपयोग अभी तक किया गया है। सङ्गीतशास्त्र के ग्रन्थों में उस-उस काल एवं देश की परिस्थितियों के अनुरूप स्थापत्य, मूर्ति, शिलालेख, कला, अलङ्कार-शास्त्र, तत्त्वज्ञान आदि को सही पंक्ति में बैठाने का बहुत थोड़ा प्रयत्न किया गया है। इसी प्रकार मध्ययुग के इतिहास-सम्बन्धी अधिकांश वाङ्मय का समुचित या अपेक्षानुरूप उपयोग नहीं हुआ है। विभिन्न संस्थानों के लेखे-जोखे के **'बस्तों'** में से जानकारी का संकलन करने से उस-उस भाग के सङ्गीत के इतिहास पर बहुत-कुछ प्रकाश पड़ने की सम्भावना है।

जहाँ इतिहास है ही नहीं वहाँ इतिहास के समीक्षण (Historiography) का प्रश्न ही नहीं उठता। **इतिहास की ओर निरोगी या स्वस्थ दृष्टि से देखना आ जाय तथा मृत-भूतकाल को 'भूत' न समझ कर सजीव वर्तमानकाल से उसे जोड़ना आ जाये तभी कोई मौलिक एवं उपयोगी कार्य हो सकता है।** अभी तो परिस्थिति यह है कि आज हमारी जितनी-सी समझ है बस उसी को अनादिकाल से अखण्ड चली आती हुई मानते हैं, या फिर अब सभी कुछ बदल गया है इसलिये परम्परा से हमारा पूरा विच्छेद हो चुका है—यह मानकर निष्क्रिय रहते हैं। और कुछ लोग इतिहास के प्रति रुचि रखते हुए भी उसे कोरी कहानी या दन्तकथाओं से भिन्न नहीं मानते। ये तीनों ही मान्यतायें सत्य से बहुत दूर हैं।

सङ्गीतज्ञों के जीवनचरितों के प्रति भी अभी तक स्पष्ट विचारणा नहीं है। उनके **जीवन की बाह्य घटनाओं को ही संङ्गीतज्ञ की जीवनी मान लिया जाता है।** जीवन की घटनाओं का उन सङ्गीतज्ञों की साङ्गीतिक विशिष्टताओं से सम्बन्ध स्थापित करने का आवश्यक प्रयत्न कभी नहीं किया जाता। इस दृष्टि से भी संशोधन का एक बड़ा अवसर पड़ा हुआ है। उसके लिये समुचित दृष्टिकोण की सर्वप्रथम आवश्यकता है।

३. लक्ष्य-लक्षण-सम्बन्ध—'लक्ष्य' और 'लक्षण' ये प्राचीन शब्द हैं। सङ्गीत के सन्दर्भ में इन शब्दों का उपयोग सर्वप्रथम अभिनवभारती में प्राप्त होता है। साहित्य और शिल्प (स्थापत्य, मूर्त्ति, चित्र) में ही इन शब्दों का उपयोग परम्परागत होता रहा है। काव्य (महाकाव्य) खण्डकाव्य, नाटक, मुक्तक आदि लक्ष्य रहे और उनके समीक्षणात्मक अध्ययन की निबद्ध सामग्री को लक्षण कहा गया। मन्दिर, मूर्त्ति, चित्र आदि लक्ष्य हैं और उनके निर्माण-सम्बन्धी नियमों का निबद्ध साहित्य लक्षण (शिल्पशास्त्र) हैं। इसी प्रकार उपयोजित साहित्य लक्ष्य है और उससे सम्बन्धित विधि-निषेध, समीक्षण, प्रक्रिया आदि का नियोजित-निबद्ध स्वरूप लक्षण कहलाता है। लक्षण के दो पक्ष हैं—एक ग्रन्थ में निबद्ध हुआ और दूसरा सम्प्रदाय गुरु-शिष्य परम्परा में चला आता हुआ। अन्य भी एक दृष्टि से लक्षण के दो पक्ष दिखाई देते हैं—एक में सीधे प्रक्रिया होती है, दूसरे में उस प्रक्रिया के 'क्या' और 'कैसे' का विवेचन होता है। इनमें पहले को Music Theory (सङ्गीत के सिद्धान्त) और दूसरे को The Theory of

Music-Theory (सङ्गीत-सिद्धान्त के सिद्धान्त) कहा जा सकता है। हमारे शास्त्रीय ग्रन्थों में पहला पक्ष विस्तृत प्रमाण में उपलब्ध है, दूसरा पक्ष भी कहीं-कहीं प्राप्त होता है। 'वाद्यों' का अध्ययन और अभ्यास लक्ष्य-लक्षण-सम्बन्ध द्वारा ही होता है; क्योंकि वाद्यों का ग्रन्थ-गत वर्णन 'लक्षण' का ही एक भाग है और वाद्य सम्बन्धी अध्ययन यदि वादन की प्रविधि (Technique) और उसकी अन्तर्वस्तु (content) को साथ-साथ जोड़ते हुए न किया जाय तो वाद्याध्ययन एकाङ्गी ही रहेगा। शास्त्रग्रन्थों में 'वाद्य' शब्द का उपयोग Instrument, Technique और content इन तीनों अर्थों में किया गया है—इसका उल्लेख करना उचित होगा।

किसी भी विद्या की प्रारम्भिक स्थिति में लक्ष्य के आधार पर लक्षण बने होते हैं, आगे चलकर लक्षण स्वयं लक्ष्य को प्रभावित करने लगते हैं। इस प्रकार लक्ष्य और लक्षण में परस्पर लेन-देन स्थूल-सूक्ष्म स्तरों में चलता-रहता है। आज के सन्दर्भ में कहें तो 'लक्षण' की सुदीर्घ परम्परा का 'निबद्ध' पक्ष ही ग्रन्थों में थोड़ा-बहुत प्राप्त होता है बहुत-सा खण्डित या नष्ट हो गया है। किन्तु उसका 'पारम्परिक' (गुरु-शिष्य-परम्परा से प्राप्त) भाग तो दुर्लभ-जैसा ही है। संस्थागत सङ्गीतशिक्षण में जिस 'लक्षण' का उपयोग हो रहा है उसमें लक्षण की निबद्ध परम्परा का परिचय है नहीं और सम्प्रदायगत 'अनुक्त' का भी परिचय नहीं है। इसलिये आज लक्ष्य और लक्षण के मध्य परस्पर सम्बन्ध के विषय में प्रारम्भ से ही भगीरथ प्रयत्न करना होगा।

लक्षण-ग्रन्थों के आधार पर उस-उस समय के देश-काल में प्रचलित लक्ष्य का पुनराकलन (Reconstruction) करने का प्रयास न किया जाय तो भी लक्षण का अध्ययन एकाङ्गी ही रहेगा। और आज के लक्ष्य को यदि परम्परागत लक्षण के आधार से समझने का प्रयत्न नहीं किया गया तो देश की महान् समृद्ध पूर्वजों से प्राप्त सांस्कृतिक सम्पत्ति से हम मानो स्वयं को ही विच्छिन्न कर लेंगे। इसलिये आज लक्षण के आधार पर लुप्त लक्ष्य को खोज निकालने की और उपलब्ध लक्ष्य के आधार पर गुप्त लक्षणों की गुत्थियाँ सुलझाने की अत्यन्त आवश्यकता है। इस कार्य के लिये एक ओर लक्ष्यगत सम्प्रदाय का तात्त्विक संशोधन आवश्यक है, दूसरी ओर लक्षणगत निबद्ध अर्थात् शास्त्रग्रन्थ एवं अनिबद्ध अर्थात् सम्प्रदाय—इन दोनों का गम्भीरता से आलोडन-संशोधन आवश्यक है।

यह कार्य बहुत बड़ा है और किन्हीं दो-चार व्यक्तियों के वश का नहीं, इस सन्दर्भ में रवीन्द्रनाथ ठाकुर की एक पंक्ति का स्मरण हो आता है—अस्त होते हुए सूर्य ने पूछा—'मेरा कार्य कौन संभालेगा?' तब पृथ्वी पर के चराचर सभी स्तब्ध हो रहे। मिट्टी के एक नन्हे दिये की बाती बोली—'स्वामी! जितनी सी शक्ति मुझमें है उतना मैं अवश्य करूँगी।'—उस नन्हीं शिखा की अपेक्षा अधिक कुछ कर पाने की शक्ति मुझ में है—ऐसा हममें से कोई भी व्यक्ति निश्चयपूर्वक कह नहीं सकता, किन्तु **यथाशक्ति यह कार्य करना अवश्य हमारा प्रत्येक का स्वधर्म है—यह मान कर जितनी अधिक बातियाँ प्रज्ज्वलित हों उतना ही अच्छा होगा।**

४. शिक्षण—संस्थाओं में दिये जाने वाले सङ्गीत-शिक्षण के सम्बन्ध में जितनी समस्यायें हैं उनके विषय में थोड़ा विचार मैंने अपने अध्यक्षीय भाषण में किया है, यहाँ इतना ही कहना आवश्यक है कि विद्यार्थियों की शक्ति तथा रुचि-अरुचि को ध्यान में रखते हुए उसके अनुसार ही विभिन्न प्रकार के पाठ्यक्रम तैयार किये जाने चाहियें। अध्यापन के लिये समुचित वाङ्मय का चयन, संकलन अथवा नवीन निर्माण होना चाहिए, गुरुकुल-पद्धति के गुण अपनाये जायें और परीक्षा-पद्धति में आमूलाग्र परिवर्तन हो सके—इसके लिये व्यक्तिगत स्वार्थों को छोड़कर स्वच्छ अन्त:करण से गम्भीर चिन्तन एवं संशोधन करने की आवश्यकता है।

यहाँ पर और एक बात कहना अप्रासङ्गिक न होगा (वह यह) कि महफ़िलों के अतिरिक्त अन्य जिन-जिन स्थानों या प्रकारों (विधाओं) में सङ्गीत का उपयोग किया जाता है—जैसे कि नाटकादि में, वहाँ के लिये भी सङ्गीत के समुचित शिक्षण को महत्त्व दिया जाना चाहिये।

५. बहिर्लक्षण सङ्गीत—सङ्गीत का क्षेत्र लक्षण की गति-पर्यन्त ही सीमित नहीं। आदिवासियों के सङ्गीत और जन-सङ्गीत का भी अतीव व्यापक क्षेत्र है, वह शास्त्रग्रन्थों में आये लक्षणों से बाहर है इसीलिये उसे 'बहिर्लक्षण' सङ्गीत कहा गया।

'जनसङ्गीत' के विषय में यहाँ कुछ कहना अस्थानीय न होगा। सर्वसाधारण रूप से 'लोकसङ्गीत' नाम प्रचलित है। 'लोक' शब्द बहुत मार्मिक है। 'वेद और लोक' 'नाट्य और लोक' 'शास्त्र और लोक'—ऐसे कितने ही सुपरिचित जोड़ों में 'लोक' आता

है। इन प्रयोगों में किसी विशिष्ट परम्परा के घेरे में न आने वाले सामान्य जीवन के किन्हीं व्यवहारों को 'लोक'-संज्ञा दी जाती है। इसी अर्थ में शास्त्र-सम्प्रदाय-गत सङ्गीत की अपेक्षा भिन्न सङ्गीत को 'लोक'-विशेषण देना उचित है। परन्तु सङ्गीत कला है, **और कला का उपयोग किसी भी स्तर पर हो उसमें सामान्य जीवन के अनुभव कुछ असामान्य रूप से ही दर्शाये जाते हैं। इसलिये 'लोक' का अर्थ यदि सामान्य जीवन हो तो सङ्गीत का या किसी भी कला का कोई भी स्तर पूरी तरह लौकिक नहीं माना जा सकता; क्योंकि कला हमेशा जीवन के अनुभवों को अलौकिक बना कर ही प्रस्तुत करती है।** उदाहरणार्थ— लोकगीतों में जिस तरह शोक-भावना व्यक्त की जाती है, वह कार्य केवल रोने से नहीं होता। जीवन का शोक गीत में आकर अलौकिक बनता है। उसी प्रकार हाथी-घोड़े-तोते आदि के चित्रों या खिलौनों (कपड़ा, फूस, मिट्टी या धातु से बने) में भी 'अनुकरण' का अलौकिक तत्त्व ही दिखाई देता है; वे जीवन वाले हाथी-घोड़े नहीं रहते। इसलिये 'लोक-सङ्गीत' में लौकिकता की गन्ध भी उपयोगी नहीं। उसकी शङ्का न उठे इसीलिये मैंने 'जन-सङ्गीत' शब्द का उपयोग किया है।

जनसङ्गीत की अपनी ही परम्परायें अथवा सम्प्रदाय हैं, किन्तु उनमें लक्षण-पक्ष नहीं जैसा ही होता है। लक्षण-बद्ध सङ्गीत का विकासक्रम समझने-समझाने के लिये तथा लक्षणगत एवं बहिर्लक्षणगत (यानी लक्षणों से न बँधे हुए) सङ्गीत के मध्य परस्पर लेन-देन की प्रक्रिया समझ पाने के लिये सङ्गीत के इस क्षेत्र (बहिर्लक्षण) एवं पद्धति का गम्भीर अध्ययन एवं उसमें शोधकार्य होना अत्यावश्यक है।

यहाँ, जो परम्परायें सर्वमान्य लक्षण में समाविष्ट नहीं होतीं, किन्तु फिर भी जो सर्वथा बहिर्लक्षण नहीं कही जा सकतीं— ऐसी कुछ प्रादेशिक परम्पराओं का उल्लेख करना उचित होगा। इस सम्बन्ध में एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा—वह है उड़ीसा में चली आ रही ओड़ीसी गायन पद्धति। भारतीय सङ्गीत की दो ही लक्षणगत पद्धतियाँ आज मान्य हैं—एक हिन्दुस्तानी दूसरी कर्णाटकी। ओडिसी इनमें से किसी के अन्तर्गत नहीं, क्योंकि उसका अपना लक्षण है, अपना लक्ष्यगत वैशिष्ट्य भी है। इसलिये प्रचलित मान्य लक्षणों में उसका अन्तर्भाव न होने पर भी वह बहिर्लक्षण नहीं है। इस प्रकार की विकसित प्रादेशिक पद्धतियों का अध्ययन और उनमें शोध-कार्य—यह भी भारतीय सङ्गीत के व्यापक क्षेत्र का एक विशिष्ट अङ्ग है।

६. संग्रह—गम्भीर संशोधन-कार्य के लिये आवश्यक सामग्री की उपलब्धि की दृष्टि से ग्रन्थ, पाण्डुलिपियाँ, वाद्य, ग्रामोफ़ोन रिकार्डस्, टेपरिकॉर्डस् आदि का व्यवस्थित एवं वर्गीकृत सङ्ग्रह प्राप्त होना आवश्यक है। ऐसे संग्रह को भी संशोधन-कार्य का एक विशिष्ट पहलू माना जाना चाहिये। इस प्रकार के costodianship का विकास अभी हमारे देश में नहीं हुआ है। योरोप में इस प्रकार के सङ्ग्रह करने-वालों ने बहुत शोध-कार्य किये हैं। हमारे यहाँ सङ्गीतनाटकअकादमी की शाखा ऐसे कार्य कर रही है।* परन्तु बहुत-कुछ करना बाकी है, और ऐसे संग्रह किये हुए साहित्य तथा सामग्री का समुचित उपयोग करने वाले संशोधकों की संख्या भी यहाँ बहुत कम है।

७. सम्बद्ध विषय—भारतीय दृष्टिकोण से **शिक्षा, प्रातिशाख्य, व्याकरण, छन्द, तत्त्वज्ञान, आयुर्वेद, साहित्य (काव्यादि)** तथा शिल्प—इनके लक्ष्य और लक्षण —**ये सब सङ्गीत से प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध हैं।** सङ्गीत के लक्षण समझने-समझाने के लिये उक्त सब विषय-विधाओं का ज्ञान होना आवश्यक है। उदाहरणार्थ—सङ्गीत में 'वर्ण' यह शब्द स्वरों की विशिष्ट गति का बोध कराता है (आरोही-अवरोही-सञ्चारी वर्ण)। शिक्षा और व्याकरण में 'वर्ण' संज्ञा ध्वनि के विशिष्ट आकार (अक्षर) को प्राप्त है (संस्कृत में ''वर्णास्त्रिषष्टि:'') कुल त्रेसठ ध्वनियाँ (अक्षर) स्वीकृत हैं। विशिष्ट तत्त्वों के साथ 'वर्ण' संज्ञा का इन दोनों क्षेत्रों में सम्बन्ध समझा जाय तो सङ्गीत के 'वर्ण' के तत्त्व समझने में सहायता ही होती है। व्याकरण के 'स्फोट' के प्रभाव से साहित्य में 'ध्वनि'-सम्बन्धी चिन्तन विकसित हुआ है; इसी के साथ-साथ 'स्वर' की अनुरणनात्मकता और रञ्जकता के विषय में समझ स्पष्ट हुई है। इसीलिये व्याकरण-दर्शन और साहित्य-दर्शन को सङ्गीत के समान्तर (Parallal) रखकर चिन्तन किया जाय तो अवश्य ही सुगम होगा।

नाद, षट्चक्र, बीजाक्षर आदि के सङ्गीतशास्त्र में स्थान के सम्बन्ध में मतङ्ग से लेकर शार्ङ्गधर-पर्यन्त सबने स्पष्टीकरण दिया है। उसे समझने के लिये योग और तन्त्र का ज्ञान होना आवश्यक है।

---

* १९८८ से 'इन्दिरागांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र' का 'कलानिधि'-विभाग भी इस क्षेत्र में अग्रसर रहा है। —सम्पा०

वर्तमान समय में पश्चिम-देशों में विकसित हुई कुछ विधायें भी भारतीय सङ्गीत के अध्ययन से जोड़ना उपयोगी है। जैसे कि (Acoustics) (ध्वनिविज्ञान), Psychology (मनोविज्ञान) Anthropology (नृतत्त्वविज्ञान) और Philology (भाषाविज्ञान)—इनमें से किसी का इतिहास एक-शताब्दी का है तो किसी का उससे भी कम (50 वर्ष) ही। इनका सङ्गीत से सम्बन्ध जुड़ना तो और भी इधर ही हुआ।

सम्बद्ध विषयों के बारे में यह कहा जा सकता है कि यदि उन विषयों के विशेषज्ञ सङ्गीतज्ञ संशोधको के साथ मिलकर कार्य करें तो बहुत अच्छे परिणाम आ सकते हैं। इस प्रकार के एकत्र प्रयत्न (collaboration) की आवश्यकता आज अनेकों विशेषज्ञों को प्रतीत हो रही है। प्राणियों तथा वनस्पति (पेड़-पौधों) पर सङ्गीत के परिणाम-सम्बन्धी प्रयोग भी उन-उन विशेषज्ञों द्वारा किये जा सकते हैं (कुछ किये गये भी हैं।) अवश्य ही इन प्रयोगों का प्रत्यक्ष फल उन-उन विद्या-क्षेत्रों को ही होगा। Therapy (चिकित्सा), Botony (वनस्पति-विज्ञान), Agriculture (कृषि), dairy-farming, Zoology (जीव-विज्ञान) अथवा Chemistry (रसायनविज्ञान) के क्षेत्रों में सङ्गीत के प्रभाव पर जो शोधकार्य होंगे उनका लाभ उन्हीं क्षेत्रों को प्राप्त होगा। सङ्गीत की अपनी 'प्रतिष्ठा' पर उन शोधकार्यों का प्रभाव नहीं पड़ेगा। निश्चय ही उन विभिन्न विद्याक्षेत्रों में भी उक्त प्रयोगों तथा उनके परिणाम-ग्रहण में सङ्गीत का स्थान द्वितीय य तृतीय स्तर (second or third priority) पर रहेगा।

कुछ पहले मैंने कुछ पाश्चात्त्य-विद्याओं के नाम लिये थे। उस सन्दर्भ में बड़ी नम्रता से कहना चाहती हूँ कि हम उन विषयों से **प्रेरणा अवश्य लें किन्तु सङ्गीत और संस्कृति के सन्दर्भ को न भूलें। वे सब विद्यायें अपने स्थान पर अत्यन्त उपयोगी हैं, परन्तु उनकी चकाचौंध यदि अपनी आँखों को चौंधिया दे तो हमारा अपनी संस्कृति का विराट् दायभाग (विरासत) ओझल-सा हो जाने से हमारी बहुत हानि हो जायेगी,** और उन विद्याओं को भी कोई लाभ न मिल सकेगा। वास्तव में देखा जाय तो पश्चिम में अठारहवीं शताब्दी के enlighenment के बाद जो एक नई दृष्टि पनपी है उसके कारण **वहाँ का युवावर्ग उकताकर अब अखण्डितता के लिये भारतीय-संस्कृति की ओर मुड़ रहा है। इसलिये हमें अपनी अखण्ड संस्कृति को भलीभाँति समझने और दूसरों को समझा सकने की क्षमता विकसानी चाहिये—यही हमारा कर्तव्य है।** केवल भारत में जन्म लेने से ही वह योग्यता प्राप्त नहीं हो जाती, इसलिये हम अपनी संस्कृति को प्राथमिकता दें यह परम आवश्यक है ऐसा मुझे लगता है। **कार्य करने के विषय में, पद्धति और लगन में हम पाश्चात्त्य स्फूर्ति अवश्य अपनायें,** किन्तु विश्वरूप-दर्शन के बाद कातर हुए अर्जुन की भाँति निस्तेज होने से काम नहीं चलेगा।

अपने सङ्गीतशास्त्र (Musicology) को ऊपर कही गई पाश्चात्त्य विद्याओं की ही पंक्ति में बैठा देना हमारे सन्दर्भ में उचित नहीं है। एक ओर उसे सङ्गीत से सम्बद्ध इतर विषयों में समाविष्ट करना उपहासास्पद होगा और दूसरी ओर भारतीय सङ्गीत का सन्दर्भ भुला कर उसका पाश्चात्त्य Musicology से तादात्म्य (Identification) स्थापित करना सत्य की अवहेलना होगी। अतः पहले कहे गये पथ से या उस दिशा में जो संशोधन-कार्य होंगे उनके द्वारा Indian Musicology का निर्माण होगा।

उपसंहार करने से पहले, अब तक सुझाये गये संशोधन कार्य (Researchwork) की पूर्व तैयारी (Equipment) सम्बन्धी कुछ कहना आवश्यक है। उक्त शोधकार्य कौन कर सकता है या जो भी करना चाहे उसमें आदर्श (Ideally) रूप से क्या योग्यतायें अपेक्षित हैं—इसे संक्षेप में देखें :

1. सङ्गीत के प्रयोग एवं उपयोग का प्रत्यक्ष अनुभव।
2. भारतीयता पर श्रद्धा।
3. जिज्ञासा (spirit of enquiry) अर्थात् पूर्वग्रहों से दूषित न होना, सुनी-सुनाई या प्रचलित बातों को सनातन न मानना। सीखने की नम्रता तो जिज्ञासा में अन्तर्निहित है ही।
4. **भाषाज्ञान**—मातृभाषा के अतिरिक्त संस्कृत, ब्रजभाषा, अंग्रेजी, हो सके तो फ़ारसी-वाली हिन्दी (हिन्दुस्तानी सङ्गीत के लिये) और जितनी भी क्षमता हो उतनी प्रादेशिक भाषाओं का ज्ञान।

5. किसी भी दृष्टिकोण या प्रतिपाद्य-विषय को तर्क-सुसङ्गत रीति से प्रस्तुत करने की शक्ति।
6. गम्भीर चिन्तनशीलता।
7. व्यापक दृष्टि—अर्थात् अधिकाधिक सम्बद्ध विषयों का परिचय।
8. प्रमाण एकत्र करना (Documentation) सूची-निर्माण (Indexing) पाठशुद्धि करना—इत्यादि का प्रशिक्षण (Training)
9. परिश्रम शीलता।

'गेय' की विविधता अनन्त है, उसी प्रकार संशोधन के क्षेत्र भी अनन्त हैं। मैंने जो सात विभाग दिखाये हैं ये मोटामोटी देखी गई दिशायें भर हैं। बहुत-सी बातें इनमें से छूट गई प्रतीत होंगी; जैसे कि आग्नेय एशिया अर्थात् बृहत्तर भारत (Greater India) और मध्यपूर्वीय देशों (Middle East) की सङ्गीत-पद्धतियों का तुलनात्मक अध्ययन भी भारतीय सङ्गीत के संशोधन का एक भाग हो सकता है। अवश्य ही वह सङ्गीत के इतिहास के अन्तर्गत होगा। इसी प्रकार सङ्गीत-समीक्षा (Music criticism), रसशास्त्र (Aesthetics), सङ्गीत की निर्माण-प्रक्रिया (Creative Process) आदि विषयों का लक्ष्य-लक्षण-सम्बन्धी विशाल विभाग में समावेश है। केवल दिशा-निर्देश से अधिक कुछ कहना यहाँ अवसर और समय की मर्यादा में सम्भव नहीं।

★★★

.२.

सङ्गीत-शिक्षण में संवेदना और स्वाध्याय*

ब्रह्मग्रन्थिजमारुतानुगतिना चित्तेन हृत्पङ्कजे
सूरीणामनुरञ्जकः श्रुतिपदं योऽयं स्वयं राजते।
यस्माद् ग्रामविभागवर्णरचनाऽलङ्कारजातिक्रमो
वन्दे नादतनुं तमुद्धुरजगद्गीतं मुदे शङ्करम्॥

भारत के विभिन्न प्रदेशों से आए हुए सङ्गीत-शिक्षक भाई-बहनों को मेरे हार्दिक प्रणाम स्वीकार हों। गोमंतक के सुरम्य प्रदेश में सस्नेह मिलन का यह सुखद अवसर जिन्होंने उपस्थित कर दिया है उन सबको मेरे हार्दिक धन्यवाद समर्पित हैं।

यहाँ एकत्रित भाई-बहन भिन्न-भिन्न प्रकार की परिस्थितियों में सङ्गीत-शिक्षण के काम में लगे हुए हैं। कोई तो सामान्य (General) शिक्षण के विद्यालयों में, कोई सङ्गीत विद्यालयों में, कोई डिग्री कॉलेजों में, कोई विश्वविद्यालयों में और कोई सम्भवतः अपने-अपने घरों में सङ्गीत-शिक्षण देते होंगे। कोई यहाँ अधिक संख्या में उपस्थित होंगे, कोई कम संख्या में। किन्तु इन सभी प्रकारों का प्रतिनिधित्व करने वाले भाई-बहन यहाँ अवश्य होंगे, ऐसा मैं समझती हूँ। सभी की अपनी-अपनी कठिनाइयाँ, अपनी-अपनी समस्याएँ और अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। यहाँ पर तीन दिन हम लोग साथ रहेंगे, अपने-अपने सुख-दुःख को बाँट लेंगे और एक-दूसरे के अनुभव से बहुत-कुछ सीखेंगे। जब तक जीवन है तब तक सीखना तो चलता ही है और चलना ही चाहिए। हम लोग परस्पर बल-सञ्चार करेंगे और नवीन उत्साह लेकर यहाँ से लौटेंगे।

सङ्गीत-शिक्षकों की विभिन्न परिस्थितियाँ जो अभी मैंने गिनाई, उनमें प्रमुख रूप से दो भेद हैं—एक तो संस्थागत शिक्षण और दूसरे स्वतन्त्र रूप से शिक्षण। दूसरे प्रकार का परम्परागत नाम है गुरुकुल पद्धति। आज अधिकांश सङ्गीत-शिक्षण संस्थागत है और उसमें भी दो भाग हैं। एक तो केवल सङ्गीत को समर्पित है और दूसरे में अन्य विषयों के साथ-साथ सङ्गीत का शिक्षण चलता है। केवल सङ्गीत का शिक्षण सङ्गीत-विद्यालयों और विश्वविद्यालयों के सङ्गीत-विभागों में चलता है। संस्थाओं से स्वतन्त्र गुरुकुल-पद्धति का शिक्षण सङ्गीतसेवी अथवा सङ्गीतोपजीवी परिवारों में ही यत्र-तत्र जीवित है। संस्थागत सङ्गीत-शिक्षण के जो दो भेद हम देख रहे हैं उनमें परस्पर आदान-प्रदान चलता ही है। सङ्गीतविद्यालयों के विद्यार्थी डिग्री कॉलेजों में और कॉलेजों के विद्यार्थी सङ्गीतविद्यालयों में आते जाते ही रहते हैं। उसी प्रकार विश्वविद्यालयों के सङ्गीत-विभागों में भी जो विद्यार्थी आते हैं वे या तो सङ्गीतविद्यालयों में शिक्षित होते हैं या डिग्री कॉलेजों में। तात्पर्य यह है कि आज सङ्गीत-शिक्षण का कोई भी प्रकार अपने को अन्य प्रकारों से सर्वथा पृथक् नहीं मान सकता। यहाँ तक कि आनुवंशिक सङ्गीत-विद्यार्थी भी स्कूल, कॉलेज, विद्यालय अथवा विश्वविद्यालय के सङ्गीतविभाग से आज सर्वथा अछूते नहीं हैं। इसलिए यह सर्वथा उचित है कि सङ्गीत की सभी प्रकार की शिक्षा-प्रणालियों से सम्बद्ध व्यक्ति एकत्र हों और उनमें परस्पर संवाद (dialogue) हों।

भारत में संस्थागत सङ्गीत्त-शिक्षण का इतिहास सौ वर्ष से भी कम समय का है। यहाँ हम प्राचीन काल की बात नहीं कर रहे हैं। आधुनिक युग में सङ्गीत-शिक्षण की सर्वप्रथम संस्था सन् १८८६ में बड़ोदा में मौलाबक्श द्वारा स्थापित हुई थी। उससे

---

* अखिल भारतीय गान्धर्व-महाविद्यालय मण्डल के नवम "अखिल भारतीय सङ्गीत-शिक्षक-सम्मेलन, १९७६, में प्रस्तुत उद्घाटन-भाषण"

कुछ पूर्व जामनगर में पं० आदित्यराम ने (सन् १८८० से पूर्व) भी सामूहिक शिक्षण का कुछ प्रयास किया था। इसीलिए हमने सौ वर्ष से कम समय की बात की। गांधर्व महाविद्यालय ने अभी पचहत्तर वर्ष पूरे किये। लखनऊ के भातखण्डे सङ्गीत विद्यापीठ और प्रयाग सङ्गीत समिति के अभी पचास वर्ष पूरे हुए। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के सङ्गीत विभाग ने अभी पच्चीस वर्ष पूरे किए। इसलिए हमारे विचाराधीन समय पूरे सौ वर्ष का भी नहीं है। आज भारत में सभी विषयों का संस्थागत शिक्षण ब्रिटिश शासन-काल की विरासत है। सङ्गीत-शिक्षण भी उस प्रभाव से अछूता नहीं कहा जा सकता।

संस्थागत शिक्षण के तीन अविच्छिन्न अंग होते हैं:—१—पाठ्यक्रम, २—पाठ्य पुस्तकें और ३—परीक्षा। गुरुकुल पद्धति में इन तीनों का रूपान्तर होकर भी कुछ न कुछ स्थान तो रहता ही है। अन्तर इतना ही है कि संस्था में नियमों का बन्धन, व्यक्तिगत शक्ति और रुचि के भेद को छोड़कर सर्वसामान्यता की ओर झुकाव और समय, संख्या (राग-ताल की) आदि का निर्धारण अनिवार्य रहता है। और गुरुकुल में सब कुछ गुरु और शिष्य की व्यक्तिगत शक्ति और रुचि के अनुसार चलता है। निर्धारित और अनिर्धारित क्रम के अपने-अपने गुण-दोष हो सकते हैं। देश, काल, पात्र से निरपेक्ष होकर किसी भी पद्धति को सर्वथा निर्दोष अथवा सर्वथा सदोष नहीं कहा जा सकता।

सङ्गीत-शिक्षण में निर्धारित क्रम अपनाने के अर्थात् उसे संस्थागत बनाने के तीन मुख्य प्रयोजन समझ में आते हैं। एक तो—उस शिक्षण को अन्य विषयों के शिक्षण के स्तर पर ला कर सम्मान दिलाना, दूसरे—उसे यथासम्भव सर्वजनसुलभ बनाना और तीसरे—अनियमितता और मनमौजीपन आदि को दूर करना। ये प्रयोजन गत पचहत्तर वर्षों में काफी हद तक सिद्ध भी हुए किन्तु इस शिक्षण-पद्धति ने कुछ नयी समस्याएँ भी खड़ी की हैं, जिनका लेखा-जोखा आज अत्यन्त आवश्यक है। इन समस्याओं को मोटे तौर पर इस प्रकार समझा जा सकता है।

१. अन्य विषयों की तुलना में सङ्गीत शिक्षण के जो विशेष पहलू हैं, उन पर से ध्यान हटता चला गया। इसीलिए पाठ्यक्रमों में संख्या (राग-ताल की) की ओर झुकाव बढ़ा।

२. सर्वजनसुलभता के उत्साह में विद्यार्थियों के शक्तिभेद, रुचिभेद के अनुरूप समुचित व्यवस्था नहीं हो सकी। गणबद्धता (Regimentation) की प्रवृत्ति बढ़ी। और गुणवत्ता (Quality) की अपेक्षा संख्या (Quantity) का पलड़ा भारी होने लगा।

३. नियमबद्धता के उत्साह में व्यक्तिगत सर्जनशीलता (Creativity) की हानि अवश्य हुई।

आज यह सोचने का अवसर आ गया है कि संस्थागत सङ्गीत-शिक्षण में क्या शिक्षक और विद्यार्थी की सर्जनशीलता को अवकाश नहीं हो सकता? क्या राग-तालों की संख्या ही सफलता की एकमात्र कसौटी है? क्या विभिन्न शक्ति और रुचि के विद्यार्थियों के लिए विभिन्न प्रकार के पाठ्यक्रम नहीं हो सकते? क्या परीक्षा का आज जो कठोर ढाँचा है, उसमें कुछ लचीलापन नहीं आ सकता? शिक्षण और परीक्षण एक दूसरे के साथ सम्बद्ध हो कर चलते हैं। आज परीक्षा का जो आतङ्क है, शिक्षण के क्रम से उसे बिल्कुल अलग काल में रखने की जो पद्धति है, वह अनिवार्य है क्या? शिक्षण और परीक्षण को साथ-साथ चलने वाली प्रक्रिया नहीं बनाया जा सकता क्या? परीक्षा-पद्धति के साथ स्पर्धा या होड़ (Competition) का जो अस्वास्थ्यकर रूप आज पनप रहा है, उससे सङ्गीत को नहीं बचाया जा सकता? आज क्या सभी विषयों के शिक्षण के प्रसङ्ग में जो चिन्तन चल रहा है, उसका सार यही है कि शिक्षक को पाठ्य-सामग्री, उसके विन्यासक्रम आदि के चयन में अधिक से अधिक स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए।

पाठ्यक्रम, पाठ्यपुस्तक, परीक्षा-प्रणाली आदि के माध्यम से विशिष्ट अनुभवी और व्यापक-दृष्टि-सम्पन्न व्यक्तियों के अनुभव और विचार द्वारा सामान्य शिक्षकों और विद्यार्थियों को लाभ मिल सके यह भी एक प्रयोजन संस्थागत शिक्षण में रहता है। किन्तु यह प्रयोजन कहाँ तक सिद्ध होता है, यह अवश्य विचारणीय है। कहने का तात्पर्य यह है कि कुछ गिने-चुने व्यक्तियों ने जो पाठ्यक्रम निर्धारित किया हो, उसके अनुसार शिक्षण देने और लेने में यदि कोई कठिनाई आती हो तो उस पर सहानुभूति-पूर्वक विचार होना ही चाहिए। शिक्षण-सम्बन्धी नीति और ब्यौरेवार क्रम का निर्धारण करने की जिम्मेदारी जिन लोगों

पर है उनका सम्पर्क और संवाद शिक्षक और विद्यार्थी से किसी न किसी रूप में होना ही चाहिये। कई स्थानों पर ऐसे संवाद के अभाव में शिक्षक की सफलता कुण्ठित हो जाती है, ऐसा देखने में आया है। सङ्गीत-शिक्षण में ऐसे संवाद की आवश्यकता सर्वाधिक है, क्योंकि क्रमबद्ध सङ्गीत-शिक्षण अभी तक परिपक्व अवस्था तक नहीं पहुँचा है।

आज यह भी गम्भीर रूप से विचारणीय प्रश्न है कि संस्थागत व्यक्तिनिरपेक्ष शिक्षण की नियमितता और व्यक्तिनिष्ठ स्वतन्त्र शिक्षण की सर्जनशीलता और संवेदनशीलता, इन दोनों का समन्वय क्या असम्भव है ? शिक्षण के वास्तविक धरातल पर आकर देखें यानी 'यथार्थ' पर विचार करें तो यह स्वीकार करना होगा कि शिक्षक और विद्यार्थी के रूप में व्यक्ति की वास्तविक सत्ता है। पाठ्यक्रम, पाठ्य सामग्री, परीक्षा प्रणाली ये सब जब कार्यान्वित होती हैं तो व्यक्ति के द्वारा ही होती हैं। उनका निर्धारण भले ही व्यक्तिनिरपेक्ष हो, किन्तु उनकी सफलता अथवा विफलता व्यक्ति पर ही निर्भर है। इसलिये पाठ्यक्रम आदि के निर्धारण में जितनी सूझबूझ और व्यापक दृष्टि की आवश्यकता है उससे कहीं अधिक जागरूकता और संवेदनशीलता यथार्थ के धरातल पर उसके कार्यान्वयन में आवश्यक है। और यथार्थ में व्यक्ति ही एकमात्र सत्य है। व्यक्तिनिरपेक्ष होकर, अमूर्त को लेकर जो कुछ निर्धारित किया जाता है वह मूर्त रूप में पहुँच कर निखरता है या मलिन होता है, यह देखे बिना किसी भी निर्धारित क्रम की गुणवत्ता (quality) का मूल्याङ्कन अवास्तविक होगा।

नियम के घेरे में संवेदनशीलता बधिर न हो जाए और सर्जनशीलता का रस सूख न जाए इसके प्रति सजग रहने का कुछ विनम्र प्रयास मैंने स्वयं किया है। व्यक्तिनिरपेक्ष रहकर बने हुए पाठ्यक्रम को व्यक्ति-सापेक्ष यथार्थता में कैसे क्रियान्वित किया जाए इस विषय में भी सतत प्रयोग (Experiment) करने का प्रयास यथासम्भव मैंने किया है और उससे जो थोड़ी-सी सफलता हाथ लगी है, वह इस दिशा में अधिकाधिक जागरूकता के लिये प्रेरक है। यह सत्य है कि इस प्रकार के प्रयोग (Experiment) की सुविधा सर्वत्र नहीं होती। इसीलिये यहाँ इस बात पर बल देना चाहती हूँ कि सङ्गीत-शिक्षण की संस्थाओं की व्यवस्था जिनके हाथ में है, वे जब तक शिक्षक की सर्जनशीलता और संवेदनशीलता को अवकाश नहीं देंगे तब तक संस्थागत शिक्षण में जीवन-रस का पनपना सम्भव नहीं है। सङ्गीत-शिक्षक भाई-बहनों को जिन विकट परिस्थितियों में काम करना पड़ता है, उन्हें देखते हुए उनसे कुछ कहने का मेरा साहस नहीं होता। हाँ, विश्वविद्यालयों के सङ्गीतविभागों में यह सुविधा कुछ न कुछ अवश्य उपलब्ध है और तदङ्गभूत शिक्षक भाई-बहन उस सुविधा का पूरा लाभ स्वयं लेते होंगे और शिक्षार्थियों को देते होंगे ऐसी मैं आशा करती हूँ।

विश्वविद्यालयों के सङ्गीत-विभागों में, जहाँ विद्यार्थियों की संख्या काफी कम रहती है, गुरुकुल पद्धति के गुणों का बहुत कुछ समन्वय किया जा सकता है, यह भी मैं अपने विनम्र अनुभव के आधार पर कहती हूँ। **किसी भी प्रयोगात्मक कला (Performing art) में व्यक्तिगत शक्ति, रुचि, शिक्षा, अभ्यास के सूक्ष्म भेदों को नकारा नहीं जा सकता। इसलिए सङ्गीत का शिक्षण संस्थागत भले ही हो, उसमें शिक्षक का व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित हुए बिना नहीं रह सकता। कलागत वैचित्र्य की दृष्टि से** यह गुण है, किन्तु संस्था के घेरे में आ कर बहुत बार यह व्यक्तिगत राग-द्वेष की दीवारें खड़ी करता है। इसलिये अपने-अपने कलागत वैचित्र्य को सम्भालते हुए, सँवारते हुए, चित्तकी निर्मलता अर्थात् राग-द्वेष से दूर रहना बहुत आवश्यक है। राग-द्वेष से पूर्ण मुक्ति की तो कल्पना करना सामान्य रूप से कठिन है, किन्तु वह हम पर हावी न हो जाय, इसका यदि ईमानदारी से प्रयत्न किया जाए तो बहुत कुछ सफलता मिल सकती है। यह बात भी मैं अपने अनुभव के बल पर कहती हूँ। इसके लिये सतत आत्म-निरीक्षण और सावधानता की आवश्यकता है। **हमारा व्यक्तिगत राग-द्वेष, जिसे सादे शब्दों में पसंदगी या नापसंदगी कह लें, विद्यार्थियों के हित-साधन में बाधक न हो जाए, इसके प्रति यदि हम जागरूक न रह सकें तो फिर शिक्षक पद के गौरव के अधिकारी कैसे बनें ?**

सङ्गीत-शिक्षण की जब हम बात करते हैं तो जिसे आज शास्त्रीय सङ्गीत कहा जाता है, एकमात्र वही हमारे ध्यान में रहता है। यहाँ 'शास्त्रीय' नाम पर कुछ कहना अप्रासंगिक नहीं होगा। **किसी भी विद्या के ज्ञान की जो निबद्ध यानी नियत धारा बनती है, उसका नाम है शास्त्र, किन्तु उसके अध्ययन-अध्यापन और प्रयोग (Usage या Performance) को ले कर जो गुरु-शिष्य परम्परा अथवा धारा बनती है उसका नाम है सम्प्रदाय।** इस धारा को अनिबद्ध या अनियत भी कह सकते हैं। किसी भी विद्या की ज्ञान-समष्टि में शास्त्र और सम्प्रदाय दोनों का ही योगदान होता है। यदि ऐसी बात न होती तो केवल ग्रन्थों से

ही अध्ययन संभव होता और गुरुमुख से अध्ययन की कोई आवश्यकता न रहती। सङ्गीत प्रयोगात्मक (Performing) विद्या है, और ऐसी विद्याओं में तो गुरु-शिष्य परंपरा का विशेष महत्त्व सर्वमान्य है। इसलिये जिसे हम शास्त्रीय सङ्गीत कहते हैं उसमें शास्त्र और सम्प्रदाय दो पक्ष है, केवल शास्त्र नहीं। अतः उसे शास्त्र-सम्प्रदाय-सङ्गीत कहना अधिक उपयुक्त होगा।

सङ्गीत का संस्थागत शिक्षण केवल शास्त्र-सम्प्रदाय-सङ्गीत के घेरे में ही बँधा रहे यह क्या अनिवार्य है ? क्या यह आवश्यक है कि राग-ताल के अनुसार नियम-बद्ध सङ्गीत ही सब प्रकार की संस्थाओं में और सब स्तरों में शिक्षण का विषय बने ? इस प्रश्न को लेकर गत पन्द्रह वर्षों से कुछ चिन्तन चल रहा है। इस चिन्तन का दिग्दर्शन इन्दौर के सङ्गीत-शिक्षक-सम्मेलन में प्रो० वे० वे० षड्गोपन के 'आधार-स्वर भाषण' (Keynote address) में प्रस्तुत हुआ था।

सङ्गीत-शिक्षण का विनियोग मुख्य रूप से पाँच धाराओं में हो सकता है।

१. विवेकयुक्त (discerning) सङ्गीत-श्रवण (music appreciation)। इसी के साथ सङ्गीत-समीक्षा (music criticism) को भी सम्बद्ध कर सकते हैं।

२. सामूहिक सङ्गीत में योगदान (participation)

३. एकल गायन-वादन (solo perfomance)

४. सङ्गीत-शिक्षण का प्रशिक्षण (music teachers training)

५. सङ्गीतशास्त्र (musicology) और अनुसन्धान (research)

ये पाँचों धाराएँ एक दूसरे से सर्वथा पृथक् हों ऐसी बात नहीं है। फिर भी व्यावहारिक दृष्टि से यह उचित माना जा सकता है। तात्पर्य यह है कि सङ्गीत-समीक्षक का सङ्गीतशास्त्र से सम्बन्ध न हो, अथवा सङ्गीत-शास्त्री का गायन-वादन से सम्बन्ध न हो, अथवा सङ्गीत-शिक्षक का समीक्षा अथवा सामूहिक गायन-वादन से सम्बन्ध न हो, ऐसी बात नहीं है। किन्तु फिर भी विशेष अध्ययन अथवा विशेष कौशल की दृष्टि से इस प्रकार का विभाजन होना स्वाभाविक है। सब विद्यार्थियों में एकल गायक-वादक बनने की सहज क्षमता नहीं हो सकतीं, यह अनुभवसिद्ध हैं। जिसमें जैसी क्षमता हो और जिसकी जैसी रुचि हो, उसे तदनुसार शिक्षण लेने की सुविधा मिलनी चाहिये, इस बारे में दो राय नहीं हो सकती। उचित समय पर विद्यार्थी को अपनी शक्ति और रुचि के अनुरूप शिक्षणधारा में प्रवेश मिल सके, यह तभी सम्भव है जब स्कूलों का प्रारम्भिक पाठ्यक्रम एकल गायन-वादन की दृष्टि से न बना हो। आज तो यही तथ्य है कि संस्थागत सङ्गीत-शिक्षण का प्रारम्भ एकल गायन-वादन के प्रयोजन को ले कर ही होता है। परिणाम यह होता है कि जिनकी सहज क्षमता है, उनका विकास कुण्ठित रह जाता है क्योंकि वर्ग के सभी विद्यार्थी वैसी क्षमता वाले नहीं होते और जिनकी क्षमता नहीं है वे भी निराशा का अनुभव करते हैं, क्योंकि जो लक्ष्य उनके सामने रखा गया वह उनकी शक्ति के अनुरूप नहीं है। इस प्रकार की कुण्ठा और निराशा से विद्यार्थियों को बचाया जा सकता है। शिक्षणधारा का विभाजन कब, कैसे हो यह तफसील (detail) की बात है। मोटे तौर पर तो यह कहा जा सकता है कि आरम्भ में सङ्गीत का श्रवण अर्थात् सङ्गीत के सामने बालक के चित्त का अनावरण (exposure) और साथ-साथ सामूहिक गान में योगदान इन दो पक्षों का विशेष महत्त्व है। शिक्षक की संवेदनशीलता को उचित अवकाश मिले तो वह ठीक समय पर धारा-विभाजन के बारे में मार्ग-दर्शन कर सकता है।

अब ऊपर कही गई पाँचों धाराओं को क्रमशः कुछ विस्तार से देख लेना उचित होगा।

१. विवेकयुक्त सङ्गीत-श्रवण (Music appreciation) और सङ्गीत समीक्षा (Music criticism) को लेकर कोई विशेष पाठ्यक्रम हमारे देश में अभी नहीं बने हैं। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, केवल काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के सङ्गीत-शास्त्र-विभाग में Music Appreciation का दो वर्ष का Diploma Course गत १० वर्षों से चल रहा है। इस दिशा में अभी बहुत कुछ करना शेष है।

२. सामूहिक सङ्गीत में योगदान (Participation) को लेकर कहीं कोई पाठ्यक्रम बना हो ऐसा मुझे ज्ञात नहीं है। स्कूल

के प्रारम्भिक पाठ्यक्रम तो इस प्रकार के होने ही चाहिये। विश्वविद्यालयों में भी सङ्गीतप्रेमी छात्रों और शिक्षकों के लिए ऐसे पाठ्यक्रम चलाये जा सकते हैं। इस प्रकार के पाठ्यक्रम के लिये उपयोगी गीतों की रचना और चयन बहुत आवश्यक है। 'त्यागभारती' ने इस दिशा में जो सराहनीय काम किया है उसका यहाँ स्मरण प्रासङ्गिक है। यहाँ एक बात कहना आवश्यक लगता है कि सङ्गीत में सम्मिलित होने का अनुभव गायन से ही आरम्भ होना चाहिए। क्षमता (Talent) की अभिव्यक्ति और परीक्षण को कुछ अवसर मिलने के बाद ही यह निर्णय हो सकता है कि विशेष अध्ययन के लिये गायन को चुनें या वादन को। इसलिए Music Participation को ध्यान में रखकर अध्यापन की जो भी प्रणाली या सामग्री निश्चित की जाएगी वह गायन-प्रधान होगी, इसमें संदेह नहीं है।

३. एकल गायन-वादन को ध्यान में रखकर सङ्गीत-विद्यालयों, डिग्री कॉलेजों और विश्वविद्यालयों के सङ्गीतविभागों में जो पाठ्यक्रम चल रहे हैं उनके सन्दर्भ में कुछ प्रश्न गम्भीर रूप से विचारणीय हैं। यथा—

(१) पाठ्यक्रम में संख्या (राग तालादि की) पर आज तक जो बल दिया जाता रहा है, उसमें किसी परिवर्तन की आवश्यकता है या नहीं?

(२) व्यक्तिनिष्ठ शिक्षण को किस मुकाम (Stage) पर स्थान मिलना चाहिए? आज यह होता है कि कई बार एक ही विद्यार्थी को एक से अधिक शिक्षकों से सीखना पड़ता है। इस व्यवस्था के हानि-लाभ पर निष्पक्ष रूप से विचार करना आवश्यक है। उच्चतर अवस्था में एक ही शिक्षक से सीखने का अवसर मिले तो जिस प्रकार डॉक्टर, वकील आदि के लिए apprenticeship अर्थात् किसी एक निष्णात व्यक्ति से अपने-अपने पेशे की शिक्षा लेना आवश्यक माना जाता है, वैसी कुछ व्यवस्था हो सकती है। गुरुकुल पद्धति में तो अनायास ही वह व्यवस्था उपलब्ध थी, किन्तु संस्थाओं में उसके समकक्ष क्या व्यवस्था हो सकती है, यह सोचने की बात है। तात्पर्य यह है कि किसी निश्चित पाठ्यक्रम को पूरा कर लेने के बाद भी विद्यार्थी स्वतन्त्र रूप से एकल प्रयोग (Solo performance) के लिए पूर्णत: सज्जित (Equipped) नहीं हो पाता। इस कमी को दूर करने के लिए संस्थाओं में कोई व्यवस्था हो सकती है क्या? काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में गान-वादन विभाग में D.Mus. कक्षा में छात्रों को अपना विशिष्ट शिक्षक चुनने की छूट दी गई है, किन्तु वहाँ भी निश्चित पाठ्यक्रम होने के कारण और संस्थागत अन्य मर्यादाओं के कारण ठीक-ठीक Apprenticeship का रूप निखरना कुछ कठिन रहता है।

(३) जिस प्रकार की संस्थाएँ आज चल रही हैं, उनमें दैनिक शिक्षणकाल अत्यन्त सीमित रहता है। साथ ही पाठ्यक्रम आदि की मर्यादाएँ लगी रहती हैं। इसलिए यह सामान्य धारणा बन गई है कि स्कूल-कॉलेजों में सीखने वाले कभी गायक-वादक नहीं बन सकते। इस उक्ति में सत्य का जो अंश निहित है, उसे देखते हुए यह सोचना पड़ता है कि क्या ऐसी कुछ संस्थाएँ नहीं बन सकतीं, जहाँ विशेष शक्ति-सम्पन्न विद्यार्थियों को प्रयोग-प्रधान **व्यावसायिक (Professional) स्तर की उच्च शिक्षा** दी जाये? यूरोप और अमेरिका में इस प्रकार की संस्थाएँ Conservatoire कहलाती है। इनमें कम से कम ८ घंटा प्रतिदिन शिक्षण की व्यवस्था रहती है। मद्रास का **'केन्द्रीय कर्णाटक सङ्गीत विद्यालय' (Central College of Karnatak Music)** कुछ इसी प्रकार की संस्था है। अन्य प्रदेशों में भी इस प्रकार की संस्थाएँ हों और विश्वविद्यालयों के सङ्गीत-विभागों के साथ उनका सहयोग हो तो संस्थागत सङ्गीत-शिक्षण का एक नया आयाम (Dimension) खुल सकता है।

४. सङ्गीत-शिक्षकों के प्रशिक्षण (Music Teachers' Training) की दिशा में अभी कुछ भी काम नहीं हुआ है। इसके लिये सभी का सम्मिलित प्रयास आवश्यक है।

५. **सङ्गीतशास्त्र (Musicology) के विशिष्ट अध्ययन के लिये** अभी तक बहुत कम काम हुआ है। इधर कुछ छोटे-मोटे प्रयास इस दिशा में हो रहे हैं और यत्किञ्चित् जागरूकता आ रही है। **काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का सङ्गीतशास्त्र-**

विभाग पूरे देश में अपने ढंग का अकेला विभाग है और उसका लघु स्वरूप पूरे देश को देखते हुए नगण्य है। सङ्गीतशास्त्र के अध्ययन के साथ अनुसन्धान (Research) का सहज सम्बन्ध है। इस शास्त्र के अध्ययन का सम्प्रदाय (जीवित परम्परा) बिल्कुल ही समाप्त हो चुका है। इसलिये अनुसन्धान के बिना एक पग भी आगे बढ़ना असम्भव है। यहाँ आयोजित परिसंवाद (Seminar) में **मुझे अनुसन्धान के क्षेत्र (Scope) पर कुछ कहने का अवसर मिलेगा** ही इसलिये इस समय उस विषय पर कुछ न कह कर केवल इतना ही सङ्केत करना काफी होगा कि सङ्गीतशास्त्र के विशेष (Specialized) अध्ययन के लिये किस प्रकार की पूर्व तैयारी चाहिये, शिक्षण-क्रम के कौन से मुकाम (Stage) पर इस प्रकार के अध्ययन का उचित स्थान हो सकता है, अन्य चार धाराओं में सङ्गीतशास्त्र का कब, कितना, **कैसा स्थान होना चाहिए इत्यादि प्रश्न इस प्रसङ्ग में विचारणीय है। इस प्रसङ्ग में पाठ्यपुस्तकों का अभाव सर्वोपरि शोचनीय है।**

ऊपर कही गई पाँचों धाराओं के इस संक्षिप्त वर्णन के बाद एक मूलभूत बात की ओर ध्यान दिलाना चाहती हूँ और वह यह है कि सङ्गीत शिक्षण से सम्बद्ध संस्थाओं के जो प्रकार हमने आरम्भ में कहे थे, उन सबके अपने-अपने उद्देश्य आज कुछ स्पष्ट नहीं है। जो काम Conservatoire कर सकता है, वह विश्वविद्यालय का सङ्गीत-विभाग नहीं कर सकता और जो काम सङ्गीत-विभाग को करना चाहिए उसकी अपेक्षा सङ्गीत-विद्यालय से नहीं रखी जा सकती, यह सत्य है। किन्तु आज तो सङ्गीत-शिक्षण के उद्देश्यों के बारे में कुछ ऐसी उलझन या अस्पष्टता बनी हुई है कि प्रत्येक प्रकार की संस्था प्रत्येक उद्देश्य की पूर्ति में अपने आपको समर्थ समझती है, और इसीलिये उसके प्रति अपने को जिम्मेदार समझती है। इस प्रकार 'यथार्थ' के अभाव में भ्रान्तिजाल पनपता है। सत्य तो यह है कि इन संस्थाओं के प्रत्येक वर्ग की अपनी-अपनी मर्यादाएँ हैं और प्रत्येक की अपनी कुछ विशेषताएँ भी है। इन्हें ध्यान में रखते हुए प्रत्येक वर्ग का वैशिष्ट्य यदि निश्चित हो सके तो संस्थागत सङ्गीत-शिक्षण का स्तर ऊँचा करने के लिये सभी का सम्मिलित प्रयास हो सकता है। इसीलिये मैंने आरम्भ में ही कहा था कि हम सबका आपस में संवाद (Dialogue) बहुत आवश्यक है। **हममें से कोई भी अपने-अपने पृथक् द्वीप बनाकर नहीं रह सकता। अपनी-अपनी मर्यादाएँ और विशेषताएँ समझ कर यदि हम तदनुसार अपनी शक्तियों का उपयोग करें तो सङ्गीत-शिक्षण के विराट् पुरुष के भिन्न-भिन्न अङ्गों के रूप में अपने-अपने कर्तव्यों का निर्वाह करते हुए हम सुसङ्गत, सशक्त और सफल शिक्षण-पद्धति का निर्माण कर सकते हैं। आज चिकित्सा, उद्योग, कानून के शिक्षण के लिये अखिल-भारतीय परिषद् बनी हुई है, यदि सङ्गीत-शिक्षण के लिये भी उस प्रकार की परिषद् बन सके तो अब तक जिन प्रश्नों और समस्याओं का मैंने विवरण दिया है, उन सबके समाधान** के लिये व्यवस्थित प्रयास हो सकता है। ललितकला (चित्र, मूर्तिकला) के शिक्षण को (All India Council of Technical Education) के अन्तर्गत मान लिया गया है, किन्तु सङ्गीत शिक्षण के नीति-निर्धारण के लिए कोई अखिल-भारतीय संस्था नहीं है। इस बार का सङ्गीत-शिक्षक सम्मेलन यदि इस दिशा में कुछ कदम बढ़ा सके तो यह एक बड़ी उपलब्धि होगी।

आप लोगों को ऐसा लग सकता है कि मैंने अब तक केवल प्रश्न और समस्याएँ ही आपके सामने रखीं। न तो कोई उत्तर दिया और न ही कोई योजना प्रस्तुत की। यह सत्य है। पर किसी प्रश्न को यदि सचमुच समझ लिया जाय तो उस समझ में से ही समाधान अपने आप निकल आएगा ऐसी मेरी श्रद्धा है।

मैं अपनी ओर से कोई समाधान या योजना प्रस्तुत करने लगूँ तो वह मेरी दृष्टि में अविनय ही कहलाएगा। आप सबकी चिन्तनशीलता, सर्जनशीलता और संवेदनशीलता के प्रति मैं ऐसा अविनय नहीं कर सकती। मुझे स्वयं जिन समस्याओं का अनुभव हुआ है, जो प्रश्न मेरे सामने उठे हैं, उन सबके बारे में अपने यत्किञ्चित् चिन्तन को मैंने आप सबके साथ बाँट लिया। आपने धैर्यपूर्वक उसे सुना, इसी में मेरे लिए इस अवसर की कृतार्थता है। ऐसे संवाद के लिए कोई स्थायी 'मञ्च' बन सके तो समाधान का मार्ग प्रशस्त होगा। यों **समस्या और समाधान का तो अनन्त चक्र है। जब तक जीवन है तब तक यह चक्र चलने ही वाला है। आत्मविश्वास, कर्तव्यनिष्ठा और उत्साह के साथ हम अपनी समस्याओं के साथ आँख मिला सकें अर्थात् उनका यथार्थ दर्शन कर सकें तो समाधान कहीं बाहर से नहीं खोजना होगा।**

अन्त में, गुरुपद के उत्तरदायित्व के प्रतिपादक आप्तवचन का स्मरण यहाँ करना चाहती हूँ।

''ज्ञान-विज्ञान-करण-वचन-प्रयोगसिद्धि-शिष्यनिष्पादनानि षडाचार्यगुणा इति। ज्ञानम्=शास्त्रावबोध।'' विज्ञानम्=क्रियासम्पादनम्। करणम्=कण्ठहस्तगौण्यम्। वचनम्=जितग्रन्थता। प्रयोगसिद्धिः=देशादिसम्पदाराधनम्। शिष्यनिष्पादनम्=शिष्यस्वभावमविशेष्योपात्तय उपदेशात्॥'' (भरत—नाट्यशास्त्र अ० ३३ पृ० ४००)

गुरुमहिमा की बात हम दीर्घकाल से कहते-सुनते आए हैं, किन्तु आज गुरु के कर्तव्यों के स्मरण का अवसर है। 'आचार्यदेवो भव' तो हम तभी कह सकेंगे जब स्वयं **'शिष्यवत्सलो भव'** का पालन कर सकें।

सङ्गीतरत्नाकर में 'शिक्षाकार' अर्थात् शिक्षण देने में निपुण सङ्गीतकार को एक स्वतन्त्र श्रेणी में रखा गया है। उसकी विशेषताएँ हम सब में विकसित हो सकें यह प्रभु से प्रार्थना है।

आप सबको हार्दिक धन्यवाद और प्रणाम पुनः अर्पित करके इस निवेदन को पूरा करती हूँ।



.३.

संस्थागत सङ्गीत-शिक्षण

पं० दिलीप चंद्र बेदी जी, आदरणीय भाई जी, हमारी प्रिय बहन सुमति मुटाटकर, डॉ० सुभद्रा चौधरी, प्रोफेसर शत्रुघ्न शुक्ला और अभ्यागत भाई और बहनों, भाई जी का अनुरोध मैं टाल नहीं सकती थी इसलिए यहाँ उपस्थित हूँ। हम सबका, इस पूरी सभा का यह बड़ा सौभाग्य है कि पंडित दिलीप चंद्र बेदी जी हम सबके गुरु स्थानीय हैं उनका शुरू में ही हमें आशीर्वाद मिला। बहुत सी बातें उन्होंने कहीं, मैं भी कुछ बातें दोहराऊँगी। कई बातों की ओर उन्होंने ध्यान दिलाया है।

आज की इस पूरी गोष्ठी का जो विषय रखा गया है **'संस्थागत सङ्गीत-शिक्षण'** इस पर मैं थोड़ा कुछ निवेदन करूँगी। बाद में कुछ और वक्ता रहेंगे और कल मैं फिर समापन या पूर्णापन कहिए उसके समय पुनः कुछ निवेदन करूँगी।

संस्थागत सङ्गीतशिक्षण का थोड़ा-थोड़ा आरम्भ १९वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में हुआ। उसका विकास २०वीं शताब्दी के आरम्भ से हुआ। और हम आप समझ सकते हैं कि १९वीं शताब्दी के उपरान्त इस देश की जो परिस्थिति आयी थी पूरे समाज में पूरे जन-जीवन में, पूरे समाज में जो उथल-पुथल और जो नयी व्यवस्था ब्रिटिश राज व्यवस्था कायम होने के कारण उपस्थित हुई उसी के कारण यह सङ्गीत शिक्षण को संस्था में लाने की बात या उसकी आवश्यकता महसूस हुई। क्योंकि हम जानते हैं कि अन्य विषयों में जो संस्थागत सङ्गीत या स्कूल व्यवस्था पहले थी वे पाठशालाएं थी, मदरसे थे। तो उनके साथ-साथ एक स्कूल की व्यवस्था जो ब्रिटिश साम्राज्य कायम होने के बाद शुरू हुई उसका भी पोषण विशेषत: 19वीं शताब्दी के उपरान्त ही हुआ। पूरे देश में कहिए, समाज में कहिए, शिक्षा में कहिए, सोचने के ढंग में कहिए एक बड़ा परिवर्तन उस समय उपस्थित हुआ था जिसके कारण संगीत शिक्षण भी बिल्कुल अछूता नहीं रह सकता था। इक्के दुक्के प्रयास कुछ कलकत्ता में सुरेंद्र मोहन चटर्जी द्वारा हुए, चाहे जैसे भी रहे हो, और बड़ौदा में मौला बख्श के द्वारा आरम्भ हुए। १९८० के आसपास और १९०१ में पंडित विष्णु दिगंबर जी का महाविद्यालय लाहौर में स्थापित हुआ। और बाद में अन्यत्र भी बंबई और दूसरे स्थानों में बढ़ा। इसकी शाखाएँ भी थीं। तो ये सारे प्रयास जो थे देश के विभिन्न कोनों में, या विभिन्न व्यक्तियों के द्वारा ये इसलिए स्वाभाविक बात है कि सङ्गीतकार को यह आवश्यकता महसूस हुई कि सङ्गीत को सँवारने प्रतिष्ठा दिलाने के लिए उसका शिक्षण भ। जैसे अन्य विषयों का शिक्षण हो रहा है कुछ-कुछ उस ढंग से हो। पूरा तो नहीं हो सकता पर कुछ-कुछ, जैसे कि बेदी जी ने कहा कि यह सोचा गया कि संस्था में ही सङ्गीत-शिक्षण हो तो पुस्तकें लिखी गयी क्योंकि वह जरूरी था। मौला बख्श जी ने लिखी, पंडित विष्णु दिगंबर जी ने लिखी। भारतेंदु जी ने भी बनाई और हरेक ने बनाई क्योंकि संस्था हो तो लगता है कुछ पाठ्यक्रम होना चाहिए। उसके पहले कोई यह नहीं सोच सकता था कि सङ्गीत के लिए पाठ्यक्रम होना चाहिए। क्योंकि तब यह था और आज भी है, एक बहुत सोचने की बात है कि आज भी जो हम जानते हैं वह सङ्गीत का ९८ प्रतिशत है। अगर पुस्तक है भी और कितनी भी बड़ी हो, वह पुस्तक भी शायद २ प्रतिशत काम करती है। लेकिन ९८ प्रतिशत सङ्गीत का शिक्षण आज भी वाचिक परंपरा जिसको अंग्रेजी में ओरल ट्रैडीशन कहते हैं, आज ओरल ट्रैडीशन पर बड़ी-बड़ी चर्चा होती है। बड़े फैशन का शब्द हो गया है यह, लेकिन उस फैशन को हम भूल भी जायें तो यह तो सच्ची बात है कि हमारा सङ्गीत जो है, भारतीय सङ्गीत खास

* पं० विनयचन्द्र मौद्गल्य द्वारा आयोजित 'गान्धर्व महाविद्यालय स्वर्ण जयन्ती विचार-गोष्ठी समारोह'—सितम्बर १२,१९८९ में अध्यक्षीय भाषण।

तौर से गुरु मुख जिसको कहा जाता है ओरल ट्रांसमीशन जिसको कहा जाता है—गुरु से शिष्य उससे पुनः शिष्य उससे पुनः तो ओरल ट्रांसमीशन वहाँ वाचिक परंपरा के माध्यम से जीवित रहा है। आज भी जीवित रह रहा है। अब जब संस्था में सङ्गीत को लाया गया तो ठीक है जिन्होंने लाया उन्होंने प्रयास किये इस बात के कि पाठ्यक्रम बनने चाहिएँ। पर वह सब समझते थे इस बात को कि पाठ्य पुस्तक पूरा सङ्गीत नहीं सिखा देगी। थोड़ा सा स्मृति के लिए एक आधार बन सकता है और वह भी बहुत एक उसके ढाँचे को खड़ा कर देगा। उसकी पूर्ति करना है उसमें जो भराव लाना है वह तो गुरु मुख से ही सीखना होगा। कुछ आलाप बाँध कर प्रकाशित करने की कोशिश शुरू से ही की गयी। विष्णु दिगंबर जी की भी वह कोशिश रहीं। उन्होंने तो कम से कम पूरे ५ रागों में ३ गायकी लिखने की कोशिश की। अगर कोई कम से कम गा ले तो एक घंटा राग गा ले। ऐसा भी उन्होंने प्रयास शुरू किया। आप जानते हैं कि मालकौस है, विहाग है राग भैरवी है। शायद कल्याण भी है इस तरह से ५ रागों में उन्होंने ऐसी भी पुस्तक तैयार की जो उसको भी अगर याद कर ले सीख ले हालांकि यह भी जानते हैं कि उसको याद करने के लिए गुरुमुख की जरूरत है। क्योंकि केवल याद में रख कर ही कोई नहीं गाया जाता है। ठीक-ठीक गाना नहीं होगा। नोटेशन का सहारा तो 19वीं सदी के उपरांत से शुरू हुआ और २०वीं सदी में आगे बढ़ा। और उसमें प्रगति हुई। आज तक लोग बना रहे हैं। तो वह सब प्रयास एक ओर है। लेकिन फिर भी संस्थागत सङ्गीत शिक्षण की जो मर्यादा है वह हम सभी लोग समझ रहे हैं। जो इंस्टिट्यूशन हैं, शुरू-शुरू में यही समझते थे। कि जो काम गुरु मुख से होता था वह संस्था में भी हो सकेगा। लेकिन जैसा भाई जी ने शुरू में ही कहा वही नहीं हो सकता क्योंकि चूंकि संस्था में एक तो समय की मर्यादा बहुत है। फिर यूनिवर्सिटी डिपार्टमेंट तो कुछ बाद में आये। सन् ५० के आसपास कहना चाहिए। उसके पहले विद्यालय थे। विद्यालय भी ऐसे जो शाम-शाम को चलते थे। दिन भर दूसरे काम करते और लोग शाम को आ जाया करते थे। रोज आ जायें तो बहुत अच्छा नहीं तो हफते में दो दिन मिल गये ४ दिन मिल गये जिसे जो भी समय मिला उसमें आता था। अब जब यूनीवर्सिटी डिपार्टमेंट आये तो उनके सामने कोई और मॉडल तो था नहीं। मॉडल तो वही था जो विद्यालयों का था। और तो कोई था नहीं। तो कुछ विद्यालय ऐसे भी थे जिसको हम गांधर्व महाविद्यालय कहते हैं। उनमें दो प्रकार के शिष्य होते थे। कुछ तो शाम को आते थे तो इस चीज को तो वह प्रचार का माध्यम मानते थे। लेकिन शिष्य परंपरा को तैयार कराना लक्ष्य हो तो शाम को सीखना वह तो शिष्य—परंपरा नहीं है।

जिन शिष्यों के नाम अभी बेदी जी ने गिनाये वे शाम के विद्यालय में नहीं तैयार हुए। वह तो उस पद्धति में तैयार हुए थे जो दिन रात गुरु के साथ रहते थे। तो गुरुकुल 'वास' अंतर्राष्ट्रीय गुरुकुलवास करना कहा जाता था जिसको वह भी उन विद्यालयों में प्रचलित था और प्रचार के लिए शाम के विद्यार्थी चलते थे। तो इस प्रकार की दोहरी व्यवस्था कुछ दिनों तक विद्यालयों में चलती रही। बाद में धीरे-धीरे यह दोहरी व्यवस्था समाप्त हो गयी। इकहरी व्यवस्था रह गयी शाम वाली। और जब ये सङ्गीत विभाग विश्वविद्यालय में बने—बड़ौदा में बना, बनारस में बना, दिल्ली में बना उसके बाद बंबई में भी बना। और अब तो अनेकानेक विश्वविद्यालय हैं। याद भी नहीं आते कुछ बहुत से हैं जो कालेज में सङ्गीत को एक ऐच्छिक विषय के रूप में वैकल्पिक विषय के रूप में रखते हैं। तो ये सब कुछ स्वतंत्रता के बाद की घटनाएं हैं। इन सबमें यह भ्रम जरूर रहा, जैसा भाई जी ने शुरू में संकेत किया, अब तो मैं समझती हूँ कि वह भ्रम काफी कुछ टूट गया है। बहुत प्रहार भी हुए हैं उस पर। यह भ्रम था कि जो काम विद्यालय करते थे या गुरुकुल करते थे वही काम ये सब करेंगे। करने वाले तो नहीं समझते होंगे लेकिन बाहर के लोग ऐसा समझते थे। और अगर समझते रहे होंगे तो बहुत ही बड़े मोहजाल में रहे होंगे। वह नहीं सोचते कि कोई समझता होगा। लेकिन हाँ, बाहर के लोग तो जरूर ही यह समझते थे कि बच्चा सङ्गीत सीख रहा है विद्यालय में, जरूर ही कल गवैया बजैया बन जायेगा जैसे दूसरे और गवैये बन गये हैं। तो वह तो नहीं हुआ। यह तो हो नहीं सकता था और नहीं हुआ। आखिर इसी भ्रम के कारण प्रहार भी होने लगे क्योंकि जब देश की हालत की सही पहचान नहीं है, गलत उद्देश्यों को लेकर अगर कोई आशा लगायें तो जब वह आशा टूटेगी तो स्वाभाविक है कि प्रहार भी होंगे ही।

यह तो पहले ही मालूम होना चाहिए था कि ये संस्थाएँ कुछ कर पायेंगी, सब कुछ नहीं कर पायेंगी। इसलिए हमने उनको पहचाना नहीं। वह नहीं कर सकती थी। उनकी रोजी-रोटी उस पर है। तो उसके बाद कुछ विद्यार्थी आये या नहीं आये। अगर नहीं आये तो कल मैनेजमेंट कहेगा कि यदि इतने विद्यार्थी नहीं आयेंगे तो हम बंद कर देंगे, तो वह एक उसके लिए छूट नहीं

है। उसकी स्वतन्त्रता नहीं है कि किसको वह प्रवेश देगा और किसको नहीं देगा। कुछ न कुछ संख्या दिखानी है इसलिए प्रवेश पर नियन्त्रण कम होना चाहिए। जो गुरु का नियन्त्रण होता था वह नहीं है। कभी-कभी विश्वविद्यालयों में भी यह स्थिति होती है। वह इतनी सफल रूप में तो नहीं लेकिन प्रच्छन्न रूप में, गुप्त रूप में थोड़ी बहुत रहती है। कल को कहीं पर सवाल हो जाये तो हम क्या जवाब दें। प्रच्छन्न रूप में यह चिन्ता रहती है। तो जितना नियन्त्रण प्रवेश पर होना चाहिए वह नहीं हो पाता। पहली समस्या तो वहीं से शुरू हो जाती है। आज अगर १० विद्यार्थी हैं। उन्हीं में से अगर अब ४-५ सुरीले हैं और ४-५ बेसुरे हैं। अब दोनों को सिखाना है। कैसे सिखायेंगे? यह समस्या आ जाती है। अंग्रेजी में एक कहावत है कि कोई क्रेन है आपके पास तो उसमें कितनी ताकत है यह उसकी जो सबसे दुर्बल कड़ी है उस पर निर्भर है। जो सबसे मजबूत कड़ी है उस पर नहीं है। क्योंकि आप जब उसको खीचेंगे तो दुर्बल वाली कड़ी सबसे पहले टूट जायेगी। उसी में उसकी मर्यादा है। इसलिए इस पूरी क्लास को पीछे खींचता है जो उसका सबसे दुर्बल अंग है वह। आगे नहीं बढ़ने देता। तो शिक्षक कहता है कि हम क्या करें? तबसे पहली दुर्गति ते यहाँ से शुरू होती है। प्रवेश पर नियन्त्रण न होने से। फिर बहुत से लोग कोरे आ जाते हैं। बड़ी अजीब-अजीब विसंगतियां हैं कि अगर किसी ने सङ्गीत कुछ भी नहीं सीखा है तो उसको हम प्रवेश दे देते हैं बी०ए० में सङ्गीत में। भाई बी०ए० भी करो और सङ्गीत भी सीखों। यह बड़ी अजीब बात है। ऐसा है कई जगह। उसका कारण यह है कि हमारे देश में सङ्गीत शिक्षण पर हमारे देश के कर्णधर हैं जो नीति निर्धारित करते हैं उन्होंने नहीं सोचा। यह तो कहा कि हाँ सङ्गीत की शिक्षा होनी चाहिए कॉलेजों में। लेकिन यह नहीं सोचा कि कॉलेज में यह आयेगी कहाँ से? अगर हमारे पास कोई व्यवस्था नहीं है तो ये जो आयेंगे बिल्कुल बिना सीखे बिना किसी संस्कार के वे कैसे सीखेंगे?

अच्छा फिर जीवनपद्धति बदलने से संस्कार मिलने के जो माध्यम थे वे सब नष्ट-भ्रष्ट हो जायेंगे। वरना आज से १०० साल पहले या शायद ७०-८० या शायद ५० साल पहले भी किसी हद तक कि जो विद्यालय में नहीं भी गया है उसको घर में मिलता था को घर में माता चक्की पीसते समय या दूसरे काम करते समय जो गाती थीं वह कन्याएँ सीख लेती थीं। तो वह एक सङ्गीत का संस्कार था। हर सामाजिक अवसर पर विवाह में और दूसरे अवसरों पर स्त्रियाँ गाती थीं तो उनका एक अपना संस्कार नारी समाज को मिल जाता था जिसके लिए किसी विद्यालय में जाने की जरूरत नहीं थी। हर नारी को सङ्गीत का संस्कार घर में ही मिल जाता था। वह व्यवस्था आज बिल्कुल नष्ट-भ्रष्ट हो चुकी है। आज तो विवाह होता है तो रिकार्ड ले जाकर बजा देते हैं। घर की कोई नारी तो गाती नहीं। तो वह तो नष्ट होगा ही। मैंने अपने बचपन में देखा कि घर की स्त्रियाँ विवाह के २०-२५ दिन पहले से ही संध्या को बैठकर रोज ३-३ ४-४ घंटे गाती थीं। पूरे मुहल्ले की स्त्रियाँ आती थीं। जब बारात चली जाती थी तब पूरी रात वे जागती थीं कि कोई चोर डाकू न आ जायें। इसलिए रात भर गाती रहती थीं। और जागती रहती थीं। कुछ स्वांग भी होता था। तो वह नाटक था। इससे स्वर का संस्कार लय का संस्कार तो अनायास ही मिल जाता था। उसके लिए किसी विद्यालय में वह जाना जरूरी नहीं अब कहीं घर में किसी को मिलता नहीं। अच्छा, अगर लड़का है तो कहीं मंदिर में है कहीं अखाड़े में है। कुछ न कुछ सङ्गीत तो होता था। उसका संस्कार उस पर रहता था। वह भी गया। अब संस्कार विद्यालय के बाहर मिलने की तो कोई गुंजाइश है नहीं। इसलिए विद्यालय में जाना चाहिए। विद्यालय में जायें तो विद्यालय भी यह अपेक्षा करता है कि आपको शुरू से ही सिखाने लगे। विद्यालय को भी यह चिन्ता नहीं है कि आप बिल्कुल ही स्वर लय के संस्कार से रहित हैं तो आपको भी संस्कार बिना कैसे सीधी रूटीन में डाल दिया जायें। हर विश्वविद्यालय भी यही करता है। जैसे कोई विद्यार्थी आया और शुरू, गाओ सा रे गा मा प धा नी सा उसमें किसकी रुचि होती है किसकी नहीं होती। तो रुचि कैसे बने? और जो संस्कार बाहर कहीं मिल पाये हैं उसकी पूर्ति हम कैसे करें? इसकी चिन्ता भी हम लोगों ने नहीं की इसलिए यह आज की वस्तुस्थिति है कि जो संस्कार जीवन में अनायास मिलते थे उनकी पद्धति बिल्कुल समाप्त हो गयी है और उसकी हमने बिल्कुल चिन्ता नहीं की कि वह समाप्त हो गयी तो उसकी क्षति पूर्ति हम किस तरह करें। इसको कहते हैं कि 'एक्सपोजर' नहीं है। कान के पास सङ्गीत तो आना चाहिए न, वह आता है तो पॉप म्यूजिक आता है। हमारी अपनी धरती के जो संस्कार नहीं हैं, अपनी धरती से हम इतना अधिक कट गये हैं। गाँव के आदमी के भी संस्कार हम बराबर काटते जा रहे हैं क्योंकि शहर से ले जाकर रिकार्ड बराबर बजाये जा रहे हैं। और वहाँ भी वही होता है। कम से कम शहर के निकट-निकट के गाँव हैं वहाँ भी अब यही स्थिति हो गयी है कि कोई समारोह हो तो उसमें वहाँ भी वही रिकार्ड बजाते हैं। जो आप शहर में सुनते हैं, वहीं

आप वहाँ सुन लीजिए। जिनका कि उस प्रसंग से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह नहीं कि वह कोई विवाह हो तो विवाह के प्रसंग के गीत बजते हों। बिल्कुल नहीं। हो सकता है वहाँ विवाह हो तो जनाजे का गीत भी वहाँ बज जायें। तो यह भी विवेक वहाँ कोई नहीं रखता। बिना विवेक के, क्योंकि वह तो कमर्शियल होगा ही कि आप ने किसी को कांट्रेक्ट दिया है कि तुम माइक ले आना तुम एम्प्लीफायर ले आना और तुम रिकार्ड ले आना। तो वह बजाये जो उसका विवेक होगा। उसका विवेक कहाँ तक होगा। जो उसे उपलब्ध होता है या जो वह समझता है कि इसको लोग पसंद करेंगे वही बजाता है। उसका न तो उस परिवेश से कोई सम्बन्ध है न उस परिस्थिति से कोई सम्बन्ध है।

अब विद्यालय में या सङ्गीत विद्यालय में हम आये तो कोई संस्कार हम साथ नहीं लाये, आज की पीढ़ी के। हम लोग तो लाते थे कुछ न कुछ संस्कार। सीखने से पहले हम लोग गाते थे बचपन में। ऐसा तो नहीं कि सीख के ही जाते थे। बिना सीखे ही हर कोई बच्चा, अगर कोई बहुत बेसुरा हो तो तब अलग बात है। वह तो अपना-अपना गुण है। वरना अधिकतर बच्चे गाते थे। वह भी अब नहीं रह गया और स्कूल में कोई व्यवस्था नहीं है। ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है कि स्कूल में हम सङ्गीत शिक्षण को ऐसे स्तर पर रखें जिसमें यह चिन्ता रखी गयी हो कि ये ही आगे चल कर कॉलेज में जायेंगे। तो ये आगे क्या करेंगे? ऐसी कोई सुविधा नहीं रखी जाती। कॉलेज में हम बिल्कुल नये लोगों को ले लेते हैं। बिना यह जाने कि उसकी पृष्ठभूमि क्या है?.............. बिना संस्कार के लोगों को ले लेते हैं तो बुनियाद में ही सबसे पहले हमारी खोट है। इसलिए ऊपर महल कैसे खड़ा होगा? तो यह तो बिल्कुल ऐसी बात है कि बिना बुनियाद के रेत के ऊपर महल खड़ा कर देना। बिना बुनियाद बनाये बिना वैसी कोशिश हम सङ्गीत विभागों में कर रहे हैं। और जगह भी कर रहे हैं। और विद्यालय जो इस तरह के चल रहे हैं, भाई जी ने कहा है कि इसमें कोई मर्यादा नहीं है कोई हफ्ते में २ दिन, कोई आया ३ दिन। इसमें तो जो सबसे ऊपर का, टॉप का उद्देश्य हम रखते हैं वह तो पूरा हो नहीं सकता किसी तरह। हां, दूसरे उद्देश्य होते हैं। यह ठीक है कि दूसरे विषयों का भी हमें ध्यान रखना चाहिए। उनके पाठ्यक्रमों पर सोचना चाहिए यह सब कुछ ठीक है। लेकिन अगर उसका सबसे ऊंचा उद्देश्य जो हमने रखा है उसकी व्यवस्था अगर विद्यालय में किसी एक स्तर पर हमने करनी है तो गुरुकुल वास में जो कुछ गुण थे, उसमें भी दुर्गुण थे, उसमें भी एक्सप्लाइटेशन था। शोषण था। ऐसी बात नहीं है कि उसमें सब गुण ही गुण थे। लेकिन उसके दुर्गुण तो आज अपने आप छूट जायेंगे या एक्सप्लाइटेशन कोई होने नहीं देगा आज। यह तो सीधी बात है। आज हर व्यक्ति इतना जागरूक हो गया है कि वह अपना एक्सप्लाइटेशन तो उस प्रकार से नहीं होने देगा जिस प्रकार से वह उस युग का विद्यार्थी होने देता था। लेकिन गुरुवास में उस गुरु का सान्निध्य हो वह बहुत बड़ी बात है। बहुत-सी बातें ऐसी होती हैं जो कि बिना कहे, बिना सुने सीखी जाती हैं। यह नहीं कि सामने बैठा है, उसे जो सिखाया जाता है उतना ही है। साथ रहने का, अन्तेवासी रहने का एक बहुत बड़ा लाभ यह होता है कि अवचेतन रूप से आप बहुत ग्रहण कर लेते हैं। क्योंकि जो सीधे कह कर भी सिखाया जाता है और बहुत-सी वहाँ की बातें और विद्या की भी बातें। मान लीजिए गुरु सीधे ही अभ्यास कर रहा है। आपको सीधे नहीं सिखा रहा है स्वयं गा रहा है। तो उसमें यह है कि आपने उसमें से अगर रोज सुन रहे हैं गुरु का गाना, सीख नहीं भी रहे हैं और कुछ संस्कार आपको मिल चुका है तो आप अवश्य अपने आप उसमें से कुछ ग्रहण कर लेंगे। कोई बहुत बड़ा शून्य है एक्सपोजर है। एक्सपोज तो बाहर कुछ हो रहा है। वैसे आप रेडियो से सुन रहे हैं आप टी०वी० से सुन रहे हैं। लेकिन आप इतनी तरह का सुन रहे हैं इतनी विभिन्न किस्मों का सुन रहे हैं। उसमें आप अपने विवेक से क्या ग्रहण कर पायेंगे। उस सारे को मिला के आप अपनी क्या गायकी बनायेंगे। यह बहुत मुश्किल है। उससे तो आप अधिक से अधिक कन्फ्यूज ही हो जायेंगे। कन्फ्यूज न हो और अपने में अपने आप ऐसा विवेक हो कि उसमें से कुछ ग्रहण कर सकें। उसके लिए किसी को भी, आप गुरु कहिए या न कहिए किसी को भी किस पद्धति का गाना या बजाना बहुत कुछ आपको सुनने के मिलना चाहिए। फिर आप भिन्न पद्धति से कुछ तो ग्रहण कर लें। आज तो ग्रहण हो ही रहा है। परम्परा की शुद्धि के लिए पहले गुरु को १० बरस तक दूसरे का गाना सुनने न देता था। वह इसलिए नहीं सुनने देता कि उसका भी मिला कर यह गाने लगा और परम्परा की शुद्धि नहीं रह जायेंगी। इसलिए सुनने नहीं देता था। इसको हम कहते हैं कि बड़ा अत्याचार करता था। ऐसी बात नहीं है। वह जो एक विचार था वह तो आज संभव नहीं है। गुरु कर ही नहीं सकता ऐसी व्यवस्था कि शिष्य और कहीं का भी न सुने। वह न भी चाहे तो उसके कान में बाहर का पड़ता रहेगा। वह रेडियो बजाये तो कैसे रोक लेगा कि यह मैं नहीं सुनूँगा। कान

मूंद लेगा क्या? कैसे रोकेगा? तो कान में तो जाता ही रहेगा कुछ न कुछ। फिर ऐसी स्थिति में भी एक हद तक परम्परा का कम से कम एक स्टेज तक परम्परा का निर्वाह, उसके बाद भले ही आप दूसरी परंपराएं भी ग्रहण करें, वह कैसे किया जाये—यह भी एक समस्या है। जिसकी भी पद्धति को हम अपनाना चाहते हैं जिसके प्रति हमें शौक है जिसमें हमें रुचि है उसका अधिक से अधिक सान्निध्य कैसे उपलब्ध हो यह एक सोचने की बात है। और संस्थागत शिक्षण में एक जो काफी बड़ा Class आज आ जाता है कि मान लीजिए बी०ए० का विद्यार्थी या बी०म्यूजिक का; और तीन शिक्षक हैं मान लीजिए विभाग में, अक्सर यह होता है कि एक पीरियड एक के पास है, दूसरा पीरियड दूसरे के पास और तीसरा तीसरे के पास। तो इसलिए भी उसमें Class खड़ा होता है।

अब आप देखिए पश्चिम में भी संस्थागत, जिसको कंजरवेटोयर कहते हैं, वहाँ भी यह व्यवस्था है कि एक आदमी तीन लोगों से सीखे, पहले दिन से जिससे सीखे १० बरस उसी से सीखेगा। यह व्यवस्था उन्होंने भी रखी है क्योंकि वे जानते हैं कि हर पारम्परिक आर्ट में कितना भी आप उसको स्टैंडर्ड कर दीजिए तो भी उसमें यह एक पर्सनल एलीमेंट रह जाता है। इसकी तो रक्षा करनी ही पड़ती है। और एक ही गुरु से आदि से अंत तक सीखे अगर उसे कुछ कहना है तो। हाँ, लेकिन पहले कुछ सीख कर आया हो। नये आदमी को नहीं ले लेते वे लोग। पहले काफी कुछ सीखकर आया हो और फिर ८-१० बरस रगड़ते हैं तो एक ही गुरु के पास आदि से अंत तक एक ही गुरु के पास। फिर गुरु शिष्य को चुन ले या शिष्य गुरु को चुन ले। दोनों ही ओर से चुनाव होना चाहिए। यह तो आमतौर पर आज सम्भव नहीं हो पाता। कॉलेजों में भी सङ्गीत विद्यालयों में भी। क्योंकि वहाँ फिर आपसी टकराहट आती है। और इसका कोई हल नहीं निकल पाता। और यही हल निकाला जाता है कि सबको एक एक पीरियड बाँट दो। जो करना है करो। लेकिन उसमें विद्यार्थी की काफी खींचतान होती है। मैं जो यह बात कह रही हूँ अपने व्यक्तिगत अनुभव से कह रही हूँ। इसमें किसी से सुनने की कोई जरूरत ही नहीं क्योंकि मेरी सारी उम्र उसी में बीती है। सुनी सुनाई कुछ भी कहने की जरूरत नहीं। ऐसा कुछ नहीं जो मुझे सुनकर कहना पड़े। सभी में से खुद गुजरी हूँ सीखने में भी, सिखाने में भी, और ये सारी समस्याएँ सामने आयी हैं।

फिर भी किसी हद तक विभाग में रह के भी सम्भव है सही शिक्षण देना। **मुझे लोग कहते थे कि आप तो विभाग में रहते हुए भी गुरुकुल के हिसाब से इसे चला रही हैं। यह इसलिए सम्भव था कि विद्यार्थियों की संख्या कम थी मेरे पास** और कुछ ऐसी व्यवस्था थी कि अधिक शिक्षक थे ही नहीं। **मैं ही अकेली थी। इसलिए गुरुकुल ठीक ढंग से चल गया।** अगर अधिक शिक्षक होते तो नहीं चलता। उस समय मैं समझती थी कि यह मेरा दुर्भाग्य है कि कोई शिक्षक दिया ही नहीं। दूसरे शिक्षक मिले ही नहीं। विभाग में मैं अकेली थी। और अकेले से सब काम करती थी। लेकिन एक ढंग से अच्छा ही था। अच्छा इस रूप में कि उसमें गुरुकुल पद्धति ठीक से निभा सकी। **इसमें क्या होता था कि जिनको २ बरस मैंने पढ़ा दिया तो अगले वर्ष मैं कहती कि मेरे पास तो बहुत काम है अकेली मैं कैसे करूंगी। अब आगे तुम पढ़ाओं।** तो फिर मैं दूसरों को ले लेती थी। **तो इस तरह उनकी ट्रेनिंग उनको पढ़ाने में भी चलती और एक सोचने की, एक काम करने की पद्धति वह विकसित होती चलती।** क्योंकि हर कोई ५-७ बरस कॉलेज में बिताता है एम०ए० करने के बाद पी०एच०डी० वहाँ से करता था। तो पी०एच०डी० करने के दौरान आगे वह पढ़ाने लगता था। हालांकि **बीच-बीच में मैं देखती रहती थी कि क्या हो रहा है। तो इस तरह से एक कुल विकसित होता था।** एक व्यक्ति कुल नहीं बनाता। कुल विकसित होता है। उसके विकसित होने का मौका मिला एक कहिए संयोग से या कहिए by defalt। और डिफाल्ट का मतलब कि और कुछ नहीं मिला तो इसलिए करना ही था। लेकिन उसमें से रास्ता निकला और देखने वाले लोग बहुत आदर से यह कहते थे कि गुरुकुल पद्धति में जितनी अच्छी बातें थी उन सबका आप यहाँ निर्वाह कर पा रही हैं। क्योंकि इतना एक 'परसनल टच' रहता था। और **हर विद्यार्थी के सुख-दुख में साथ दिया जाता था। भले ही हम रहते एक साथ नहीं थे। एक घर में में नहीं रहते थे लेकिन इस तरह रहते थे मानो एक ही घर में रह रहे हों।** तो यह भी कहीं-कहीं कभी-कभी सम्भव है। पर उसके लिए ऐसी परिस्थितियाँ हर जगह सम्भव तो नहीं होती। यह तो संयोग था कि ऐसी परिस्थितियाँ मुझे मिल गयीं जिनके लिए मैं काफी झींकती भी रही सोचती रही कि यह मेरा दुर्भाग्य है। अब लौटकर पलटकर सोचती हूँ **तो यह दुर्भाग्य नहीं था सौभाग्य था। मेरा या मेरे साथ रहने वालों का भी।** तो ऐसा काम भी कभी-कभी हो सकता है, लेकिन वह दुर्लभ है। इसलिए कि ऐसे संयोग तो सब जगह नहीं

बनते। और ऐसे संयोग बनें यह चाहने जैसी बात ही नहीं हैं। लेकिन अच्छी बात एक जरूर है।

मुझे एक बात याद आती है। हजारी प्रसाद द्विवेदी जी की वह कहा करते थे कि देखिए गुरुकुल पद्धति यही है कि एक व्यक्ति केन्द्र में है। वह जिसको तैयार करता है वह फिर पढ़ाने लगता है। क्रमश:-क्रमश: और ऐसा कि आजकल बिल्कुल फौरन टीचर बन गये। धीरे-धीरे साथ-साथ पढ़ाते रहते। इस तरह से एक चक्र का एक कुल का निर्माण होता है। तो यह भी एक सोचने जैसी चीज है कि क्या इस तरह की छोटी-छोटी संस्थाएं बन सकती हैं। मैं किस ढंग से कर रही थी इसको लेकर कितना जूझना पड़ता था, **कहलाने को तो सङ्गीत विभाग ही था। लेकिन एक व्यक्ति केंद्रित संस्था थी। ऐसा ठोस काम ऐसे में ही सम्भव हो पाता है। दो व्यक्ति भी हों तो उनमें ऐसा सामंजस्य हो कि वह एक ही तरह काम कर सकें।** ऐसा न हो तो अहंकारों की टकराहट होती है। जितने व्यवित होते हैं सब की egos टकराती है। egos की टकराहट में विद्यार्थियों का नुकसान होता है। अपने विषय का, शिक्षा का नुकसान होता है। यह ईगो की टकराहट आज विश्वविद्यालयों के विभागों में भी सर्वत्र काम कर रही है। जहाँ मैं रहती थी वहाँ भी मैं देखती यह हमेशा। अन्यत्र भी दूर दूर से सुनते हैं। सभी जगह है। चूंकि यह विषय ऐसा है इसमें ईगो का निर्माण काफी होता है। अन्य विषयों में उतना नहीं होता। यह बात भी है। तो इसलिए अगर संस्थायें बनी है तो, बल्कि इस ढर्रे की नहीं बन सकती जैसी और विषयों में बनी। अब तक तो हमने उसी ढर्रे पर बना दी। किसी ने नहीं सोचा कि यह विषय विश्वविद्यालय में नहीं था, अब इसको विश्वविद्यालय में ला रहे हैं तो कुछ अलग ढंग अपनायें। वही प्रोफेसर, वही रीडर, वही लेक्चरर और हर एक से यही आशा रहती है कि वह रिसर्च कराये। रिसर्च कैसे कराये? रिसर्च की कोई ट्रेनिंग है क्या? **यह जो एक बहुत बड़ा भ्रम हो गया है कि ये जो गाना गा लेता है वही रिसर्च भी करा लेगा।** हर एक की प्रवृत्ति नहीं है, क्षमता और शिक्षण भी नहीं है। उसके लिए कुछ 'बैकग्राउंड' चाहिए। **अगर गाने के लिए 'बैकग्राउंड' चाहिए तो क्या रिसर्च के लिए कोई 'बैकग्राउंड' नहीं चाहिए?** हमने तो यही मान रखा है।

आज सारे सङ्गीत जगत में कोई सबसे बड़ा भ्रम है तो यही है कि कोई गाना गा लेता है तो रिसर्च जरूर करा लेगा। यह तो कोई बात नहीं हुई। गाना गा लेना और रिसर्च करा लेना ये दोनों भिन्न बैकग्राउंड की बात हैं। एक आदमी दोनों को जोड़ कर सकता है एक हद तक लेकिन हर कोई तो नहीं कर सकता। बहुत कम लोग हैं। और उनमें से भी उन्नीस-बीस रहे हैं। अगर कोई अपने काम के प्रति ईमानदार है तो वह जरूर मानेगा कि इसमें मैं बीस हूँ, इसमें उन्नीस हूँ। दोनों में एक से बीस हों यह बहुत मुश्किल है। असम्भव है, हम यह समझते हैं। पर विश्वविद्यालय का रजिस्ट्रार या वाइस चांसलर कैसे समझेगा? वह तो और विषयों को जानता है कि अगर प्रोफेसर है तो जरूर रिसर्च करायेगा। यह नहीं समझते कि प्रोफेसर तो है लेकिन यह दूसरे बैक ग्राउंड से आया है। रिसर्च के लिए जो ट्रेनिंग चाहिए, जो इक्विपमेंट चाहिए वह इसके पास नहीं है। यह नहीं समझते। तो जितने भी प्रोफेसर आते हैं उनको लिखना होता है कि आपने कितना रिसर्च किया। हरेक को हर साल भरना पड़ता है। इसी से कुंठाएँ बढ़ती हैं और रिसर्च के प्रति भी अन्याय होता है। फिर हर कोई सोचता है कि चलो कुछ नाम अपना भी होना चाहिए। कहाँ तक बर्दाश्त किया जाये कुंठा को तो चलो रिसर्च के क्षेत्र में भी काम किया जाये।

इस तरह **विश्वविद्यालयों में अगर सबसे अधिक अनाचार हो रहा है तो रिसर्च को लेकर ही हो रहा है।** अतिचार अत्याचार अनाचार जो कुछ भी कहिए। आप कह रहे हैं कि कला का 'एनालीसिस' करना है। उसके लिए 'टूल्स' ही नहीं हैं आपके पास इसके लिए जो 'टूल्स' चाहिए वह तो किसी ने विकसित किये ही नहीं। जिन्दगी भर उनको जलेबी पसंद थी या कि लड्डू पसंद थे— यह लिखेंगे। तो ये रिसर्च हो गयी। तो विश्वविद्यालय विभागों का यह हाल है तो ठीक है कि यह उनका पहला कर्तव्य है कि वे रिसर्च को बढ़ावा दें। किसी भी यूनिवर्सिटी का किसी भी डिपार्टमेंट में किसी भी विषयों का यह तो माना हुआ उद्देश्य है जब सङ्गीत विश्वविद्यालय में चलाया गया तो यह माना गया कि इसके लिए भी यह होना चाहिए। किसी ने नहीं सोचा कि उसके लिए कुछ तैयारी की जानी चाहिए। यह किसी ने नहीं सोचा कभी भी, भाषा का ज्ञान होना चाहिए। उसकी तैयारी की बात हो सकती है। लेकिन पहले तो यह समझा गया कि सङ्गीत वालों को भाषा की क्या जरूरत है। गाना गाना है भाषा कोई भी हो गाने में भाषा का क्या काम है। **तो भाषा के मामले में पहले से ही हम अलग हो गये कि भाषाज्ञान की हमें कोई जरूरत नहीं। लेकिन रिसर्च जरूर करायेंगे।**

यह सारी बहुत सोचने की बात है। साहित्य और सङ्गीत के बीच सीमा रेखा कहाँ है। साहित्य सङ्गीत में है लेकिन कुछ हद तक है, किसी हद तक नहीं है। किस स्तर पर है किस पर जा के उसका मूल्य किस स्तर का रह जाता है। सङ्गीत के हर स्तर पर साहित्य का एक ऐसा मूल्य नहीं है। मूल्य तो है ही पर वह कैसे है ये बात सारी सोचने की हैं। पर इन पर हमने विचार किया नहीं। इन पर विचार कहीं विचार गोष्ठियों में होता है तो होता है। बस उससे शिक्षा जगत् पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह कोई नहीं सोचता कि विद्यार्थियों को हम किस स्तर पर किस प्रकार का गाना दें या क्या करें। बेदी जी ने इस पर बहुत अच्छा उदाहरण सहित संकेत किया। चाहे विष्णु दिगंबर जी हों चाहे भातखंडे जी, वे तो अपने समय के लिए जितना काम कर सकते थे कर गये। बहुत काम कर गये। अब आगे आने वालों को क्या काम करना है यह सोचना है। हमारी यह वृत्ति हो गयी है कि हम तो यह समझते हैं कि भातखंडे जी कर गये या विष्णु दिगंबर जी जो कर गये हैं सो कर गये अब हमें तो करने की जरूरत नहीं। उसी को लेकर सारी जिन्दगी कट जायेगी .... तो यह बहुत गलत बात है। स्वयं भगवान ने गीता में क्या कहा? कि भई यह योग है। यह काल से नष्ट हो गया। काल से नष्ट हो गया तो इसको पुनः मैं तुम्हें कह रहा हूँ। तो हर चीज को पुनः-पुनः कहना पड़ता है। काल क्रम से नष्ट हो जाता है। यह योग पहले नष्ट हो गया था। यह पहले मैंने सूर्य को बताया था, सूर्य ने मनु को बताया था, मनु ने इक्ष्वाकु को बताया था। लेकिन फिर काल से नष्ट हो गया। अब मैं पुनः तुमको बता रहा हूँ। यह बात कही श्रीकृष्ण ने गीता में। तो मतलब इसका यह है कि हर प्रकार के ज्ञान को चाहे वह योग हो चाहे वह कोई भी ज्ञान हो समय-समय पर उसको फिर-फिर परिभाषित करना पड़ता है, कहना पड़ता है। तो ये लोग काम जो कर गये सो कर गये। अब समय बहुत बदल गया है। और स्वतन्त्रता के बाद तो इतनी तेजी से बदलाव आया है इन ४० बरसों में इतना शायद २००-२५० बरसों में नहीं आया होगा। जितना दो-ढ़ाई सौ वर्षों में आया होगा उतना इन ४० बरसों में आ गया है। हम उसके साथ चल ही नहीं पाये। हम आज भी उसी विष्णु दिगंबर जी, भातखंडे जी वाले जमाने में जी रहे हैं। जो कि बिल्कुल बदल गया है। और इस बदली हुई परिस्थिति में हम कैसे इन समस्याओं को सुलझायेंगे, कैसे इनसे जूझें, कैसे हम अपनी तैयारी करें। इसका कोई ध्यान हमने नहीं रखा है। न हमने रखा और न हमारे कर्णधारों ने रखा। ज़ो नीति-निर्धारक हैं उन्होंने भी नहीं रखा और उन्होंने भी नहीं रखा जिसके लिए हम सोचते हैं कि शायद हम ही जिम्मेदार हैं। क्योंकि डेमोक्रेसी में कहा गया है कि "We have to educate our masters."। उनको भी शिक्षित करना हमारा धर्म है। वह हमने भी नहीं किया, उन्होंने भी नहीं किया। अपनी शिक्षा नहीं की तो उनकी कहाँ से करेंगे? इसलिए यह स्थिति है कि भ्रम तो है ही। पूरा कन्फ़्यूशन है कहीं। उसमें सब जो है गड्डमड्ड हो रहा है हमारे सामने। एक में दूसरा उलझा हुआ है कि कहाँ से क्या बदलाव शुरू करें।

यह तो निश्चित ही है कि जिस प्रकार से सङ्गीत विभागों की स्थापना हुई जिस प्रकार से विद्यालय चल रहे हैं उनसे एक बहुत मर्यादित उद्देश्य की ही पूर्ति हो सकती है। उससे आगे नहीं हो सकती। अगर इसके आगे करना है तो बहुत कुछ सोचना पड़ेगा और सङ्गीत विभागों को तो अवश्य ही सोचना पड़ेगा। उनके सिर पर रिसर्च की जिम्मेदारी है। विद्यालयों पर रिसर्च की तो कोई जिम्मेदारी नहीं है और होनी भी नहीं चाहिए। विश्वविद्यालय का हो तो वह न भी चाहे तो भी लाद दी जाती है उस पर रिसर्च की जिम्मेदारी। उसके साथ जो अनाचार और उसके साथ जो अन्याय होता है वह हम सब जानते हैं। जिस प्रकार के थीसिस सामने आ रहे हैं उनसे बात सामने आ जाती है। जो हमने बिना सोचे समझे बिना तैयारी के सब कुछ में हम कूद पड़े। यह भी हम दावा करनें लगे कि हम गायक वादक तैयार कर देंगे यह भी दावा करने लगे कि हम रिसर्च करने वाले तैयार कर देंगे। यह भी दावा करने लगे कि हम पाठ्य-ग्रन्थ तैयार कर देंगे। तैयारी हमने की नहीं और पाठ्यक्रम का निर्धारण भी कभी किसी जमाने में सोचा गया कि ९-१० राग होने चाहिए यह हमने कर दिया था। आज की बदली हुई परिस्थितियों में अब यह सोचने की बात है कि अब इतने कम पाठ-वर्ग भी नहीं हो पाते तो वह ९-१० राग कैसे तैयार हों। तो घटाये जायें। क्या हर्ज है? इस पर भी सोचने की जरूरत है। पाठ्यक्रम पर, लेकिन पता नहीं क्या सोच के बढ़ा दिये गये। कभी-कभी तो यह होता है कि छपा हुआ पाठ्यक्रम बिल्कुल अलग है और पढ़ाई चौथाई होती है। या बहुत अधकचरी होती है। अगर होती भी है तो उन्हें यह बता दिया जाता है कि साहब ये सिखाया गया है इतने में से आप पूछिए, और बाकी तो नहीं मालूम। यह सब कुछ चलता है। पाठ्यक्रमों का तालमेल बैठाना चाहिए। जो असली पढ़ाई होती है उससे और कितनी हो पायेगी इसको समझ कर हम करें। क्यों न हम ईमानदार हो जायें। हम तीन ही राग सिखायें पर पूरी तरह।

बेदी जी ने कहा कि कोई बड़ा गायक पूरी जिन्दगी में १०-१२ राग से अधिक नहीं गाता। जानकारी तो उसको होती है शायद सौ-पचास की। लेकिन उसको वह महफिल में नहीं गाता। इसलिए नहीं गाता कि शायद वह जानता है कि मैंने उसको उतना नहीं साधा है। यह असंभव है कि १०० राग साध ले जिन्दगी में। तो जानकारी तो ठीक है। तो वही हम शिक्षण में भी करें। जानकारी तो हो जाये और साधने के लिए दो-तीन राग दें साल में। दो-तीन बहुत होते हैं साधने के लिए। यह सब हम सोचें। लेकिन ये छोटी बातें हैं। सोचने की बात है कि इन पर क्या करना चाहिए—कैसे किया जाये और ये समस्या तो हैं ही। जो शिक्षक हैं विभागों में या विद्यालयों में उनमें आपस में कैसा तालमेल हो और विद्यार्थी को किस प्रकार से नुकसान न हो यह सब से बड़ी समस्या है। अन्य विभागों में भी है पर इतने उग्र रूप में नहीं है। होने को तो सब जगह है। आदमी तो वही है। कोई गाने वाला आदमी अलग थोड़े ही होता है। किसी भी विभाग में चले जाइए। पर फिर भी परिस्थितियाँ वहाँ पर कुछ ऐसी होती हैं कि उसको ज्यादा अवकाश मिलता है अहंकार के विकास में। औरों को उतना नहीं मिलता। तो इसलिए मैं संक्षेप में फिर से दोहरा दूँ। एक तो विद्यार्थियों को प्रवेश देने में नियंत्रण कैसे हो। किस प्रकार परीक्षा लें। जैसे बेदी जी ने अभी कहा कि आप एक घंटे में किसी का टेस्ट नहीं ले सकते। मैं बड़ी चौंक गयी। क्योंकि बनारस में टेस्ट लेने की व्यवस्था शुरू-शुरू में मैंने ही अपने गुरु से कहकर करवाई थी। तो उन्होंने कहा अच्छी बात है। तो टेस्ट लेने लगे हम लोग। यह सन ५५ में हमने शुरू किया कि टेस्ट लेकर ही हम प्रवेश देंगे। उसके पहले तो शुरू हुआ था, जो कोई भी आता डिप्लोमा कोर्स में एडमीशन दे दिया जाता। तो हम तो सीख कर गये थे। टेस्ट तो ले लिया गुरु जी ने लेकिन अब ये जो नये आते थे उनको तो ऐसे ही ले लिया जाता था शुरू में, तो सन् 54-55 में टेस्ट लेना शुरू किया। तो यही देखते थे कि स्वर ज्ञान लय ज्ञान अच्छा है। स्वर ज्ञान अच्छा नहीं है तो लय ही पकड़े। यह थोड़ा सा देखते थे। अब आपने अभी कहा कि एक घंटे में देखना बड़ा मुश्किल है। तो सात दिन में देखा जाये यह भी बड़ा मुश्किल है। तो उसमें भी और विकास होना चाहिए। कि टेस्ट कैसे किया जाये। हमने तो अपने ढंग से किया। जैसा समझ में आया वैसे शुरू किया। लेकिन हमें भी काम करने की, मेहनत करने की जरूरत है कि सचमुच 3-4-5 दिन देखा जाये और किस ढंग से किया जाये यह तो हम भी करते थे कि गाने में तुम नहीं चलोगे तो वायलिन में भी नहीं चलोंगे। वायलिन में भी उतना ही स्वरज्ञान चाहिए। अच्छा, चलो सितार में। हालांकि उसमें भी स्वर ज्ञान तो चाहिए ही। बाद में जब मींड़ बजेगी तो बिना स्वर-ज्ञान के सितार थोड़े ही बजायेगा। तब सोचते थे कि चलो शायद तब तक कान में कुछ स्वर ज्ञान पड़ जाये अगर थोड़ा भी है तो.......बिल्कुल नहीं है तो फिर तबले में चलेगा। तबले में भी थोड़ी लय देखते थे। वह भी नहीं तो फिर बिल्कुल डिस्कार्ड कर देते थे। लेकिन उस समय भी बहुत प्रेशर थे। और तमाम तरह की परेशानियाँ होती थीं। स्टूडेंट्स लीडर्स के प्रेशर। यह बाद की बात है.......सन् ७० तक तो यह समस्या नहीं थी। ७५ के बाद यह समस्या उभरी कि स्टूडेंट्स लीडस के प्रेशर.......तो वह सब भी बर्दाश्त किया हम लोगों ने। अंत में ये डिप्लोमा कोर्स बिल्कुल अलग कर दिया। जिसको गाना है आये......करो मरो उसमें। अब तीन साल में कोई भी पास नहीं होगा और सब चले जायेंगे। इसलिए अब कर दिया है कि जिसको भी आना हो आये डिप्लोमा में। क्योंकि इतने प्रेशर आने लगे इतनी परेशानियाँ हो गयी कि नींद हराम हो गयी हम सबकी। तब यह किया अंत में जाकर के। बाद में कोई बचेगा नहीं जिसको डिग्री लेनी हो ले ले। उस समस्या से इस तरह से मुक्ति पाई।

ये सब फिर भी डिपार्टमेंट में तो ठीक है, उसमें संख्या की समस्या नहीं है। लेकिन ये जो डिग्री कालेज चल रहे हैं इसमें सबसे बड़ी समस्या है। उनको भी तो देखना है। हम अपनी दुनिया में और विभागों की दुनिया में सीमित नहीं रह सकते। वहाँ तो यह है कि बेचारा सङ्गीत शिक्षक की नौकरी चली जायेगी अगर इतने विद्यार्थी नहीं हैं तो। तो वह तो भरता है। यह सारी बातें हैं। और फिर अधिक से अधिक शिक्षक किस स्टेज तक सीखें किस स्टेज तक न सीखें यह भी सोचने की बात है। कब से हो कि एक ही गुरु के मात हत हो जायें वे। यह कहाँ से हो एम ए से हो या कब से हो। ये सब सोचने की बातें हैं। यह हमने भूल कर भी नहीं सोचा। फिर उसको यह व्यवस्था कैसे हो कि अच्छा गाना बजाना एक समय तक सुनने को मिले। यानी जो कि हम चाहते हैं वह सुनें। चाहे जहाँ का नहीं। यह कहाँ से हो। तो कुछ-कुछ तो हो सकता है। ऐसी बात नहीं है। हर यूनीवर्सिटी के पास टेप हैं रिकार्ड हैं। आज बहुत कुछ सुविधा है। उसका कुछ उपयोग हमें व्यवस्थित ढंग से करना चाहिए। एक व्यवस्थित रीति से निर्धारित रीति से श्रव्य का एक कार्यक्रम हो। शिक्षक का एक हो। विद्यार्थी के श्रवण का एक हो। जो

हम कह दें वही सुनें। जो शिक्षक तय कर दें। जैसे शिक्षक यह तय करता है कि यह किताब पढ़ कर आना। वैसे ही शायद यह भी तय किया जा सकता है कि इतना गाना सुनकर आना। उस पर बात होगी। तो कोशिश करेंगे। यह भी हो सकता है। और कोई असम्भव भी नहीं है। हर विभाग के पास आज मशीनें हैं टैक्नीशियन हैं सब कुछ है। थोड़ी-सी कल्पना शक्ति की जरूरत है। थोड़ी सी मेहनत की जरूरत है। यह किया जाये। मतलब यह कि अब समय आ गया है कि अब हम अपनी नींद से जागें और इन समस्याओं पर सोचें...........अच्छा है कि भाई जी ने हम सबको यह अवसर दिया। मौके-मौके पर अवसर आता रहे तो नींद थोड़ी टूटती रहे हम सब की। तो आपने यह अवसर दिया इसके लिए मैं पूरा धन्यवाद तो आपको कल दूंगी अभी तो आरम्भ है ही। पर यह अच्छा है, शुभ है। आपने अपने विद्यालय के इस स्वर्ण जयंती वर्ष में यह विचार गोष्ठी करने का यह आयोजन किया। इसके लिए हम सबको आपको साधुवाद देना चाहिए। आपके प्रति कृतज्ञ होना चाहिए।

★★★

.४.

नाट्यशास्त्र में सङ्गीत के इतिहास-विषयक उल्लेख

एक चर्चात्मक व्याख्यान

माननीय अध्यक्ष महोदय, प्रो० शाह, प्रो० कमलेश दत्त त्रिपाठी और विद्वज्जन, मुझे जो 'डिस्कशन' की भूमिका दी गयी है उसका निर्वाह मैं कुछ भिन्न रीति से करने जा रही हूँ। भिन्न रीति का मतलब यह है मुझे डा० त्रिपाठी ने जो बात कही उनके प्रतिपादन पर कोई प्रश्न नहीं उठाना है, जैसा कि आमतौर पर अपेक्षा की जाती है क्योंकि वह और मैं करीब-करीब एक ही पृष्ठभूमि से आ रहे हैं। यदि मुझे उनके स्थान पर बैठाया गया होता तो शायद मैंने भी कुछ-कुछ वैसी ही बात की होती। इसलिए मुझे कोई सवाल नहीं उठाना है। लेकिन जो कुछ मैं कहूँगी वह उनकी कही हुई बात का किसी अंश तक पूरक हो सकता है क्योंकि समय की मर्यादा प्रत्येक के लिए बाधक होती है। उनके लिए भी बाधक थी। कुछ बातें ऐसी हैं जिनका वह विस्तार नहीं कर पाये। उनका थोड़ा-सा मैं विस्तार करने की कोशिश करूँगी। नयी तो शायद बात नहीं कह पाऊँगी, पता नहीं। मुझे जो समय दिया गया है उस मर्यादा का मैं निश्चित रूप से पालन करूँगी, अतिक्रमण बिल्कुल नहीं करूँगी।

हम दोनों के पास एक टेलीफोन काल पहुँचा था करीब एक सप्ताह पहले यहाँ से। उसमें यह कहा गया था कि बहन कपिला जी की ऐसी इच्छा है डा० त्रिपाठी नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय पर बोलें और उस अध्याय पर सौन्दर्य शास्त्र की दृष्टि से, टेक्स्ट (Text) की दृष्टि से, और हिस्टरी (History) की दृष्टि से, सोश्योलोजी की दृष्टि से विचार हो, साथ में मेरा नाम भी था, मैं भी उसमें बात करूँ। हम लोग आपस में तय कर लें कौन क्या करेगा, ऐसा टेलीफोन कॉल में था। तो उसी के अनुसार हम दोनों ने यह तय किया वह टेक्स्ट पर बात करेंगे क्योंकि मुख्य वक्ता वहीं हैं और मुख्य वक्ता की जो भूमिका है उसमें टेक्स्ट की बात उन्होंने की। आप लोगों ने सुनी। 'एस्थेटिक्स' पर वह बात करें इसके 'इन्टरप्रेटेशन' की पद्धति पर वह बात करें यह सब उन्होंने किया। मैं स्वयं भी कोई 'सोश्योलोजिस्ट' नहीं हूँ। 'हिस्टरी' भी मेरा विषय नहीं है फिर भी मैं यह कोशिश करूँगी कि इसी प्रथम अध्याय में से कुछ इतिहास की बात निकलती है क्या? या कुछ सोशल आर्डर के सम्बन्ध में कोई बात निकलती है क्या? नाट्यशास्त्र की क्या दृष्टि है सोशल आर्डर या सामाजिक व्यवस्था के बारे में, इतना ही निवेदन करने की कोशिश करूँगी*।

जो बात हमारे भाई त्रिपाठी जी ने कही उसको यथासम्भव पुनरावृत्ति न हो इसकी भी कोशिश करूँगी। जैसा कि आपने कहा, आरम्भ में ही, जैसा यह प्रश्न उठाया गया नाट्य वेद की उत्पत्ति कैसे और क्यों हुई तो तुरन्त एक काल सम्बन्धी उल्लेख आता है। जहाँ नाट्य 'टाइम्' + में 'लोकेट्' करने की कोशिश की गयी है :—

पूर्वं कृतयुगे विप्रा वृत्ते स्वायम्भुवेऽन्तरे।
त्रेतायुगेऽथ सम्प्राप्ते मनोर्वैवस्वतस्य तु॥ (ना०शा०१/८)

यह आया है। आप सब जानते हैं कि भारत की काल-गणना की पद्धति चतुर्युग, मन्वन्तर और कल्प इन तीनों खण्डों

* इस व्याख्यान में बहिनजी ने प्रचलित अंग्रेजी शब्दों को ज्यों का त्यों जानबूझ कर लिया।—सम्पा०

को लेकर चलती है। इनमें एक यूनिट है चतुर्युग का, फिर १४ मन्वन्तर हैं। ये १४ मन्वन्तर मिलकर एक कल्प है। एक कल्प मिलकर एक ब्रह्मा का एक दिन है। अभिनव-गुप्तापादाचार्य हमें स्मरण दिलाते हैं कि यह देखिये जिस काल में बात हो रही है, और जिसमें आज हम लोग भी चल रहे हैं, या जिस काल में अभिनव गुप्त जी थे, जिसमें वह समझते हैं कि नाट्य शास्त्र की रचना हुई वह वैवस्वत मन्वन्तर चल रहा है जो कि सातवाँ है। १४ में से जिसका स्थान सातवाँ है। लेकिन सात से बात शुरू नहीं की। पहला जो मन्वन्तर है स्वयम्भू मन्वन्तर वह जब बीत गया और वैवस्वत मन्वन्तर आ गया। अभिनव गुप्त यह याद दिलाते हैं कि जब किसी भी उत्पत्ति की बात की जाती है तो पूर्व की बात कही जाती है? भले ही हम 'साइक्लिक टाइम' में बात कर रहे हों, तब भी पहले के कालचक्र में भी 'पूर्वपद' बैठा लिया जाता है, जैसे कि चतुर्युग के चक्र में कृत युग। सत्ययुग से शुरू करके कलि तक पूर्वपद सम्बन्धी आनुपूर्वी बनी हुई है, उसी पर मन्वन्तरों की भी आनुपूर्वी बनी हुई है। तो यहाँ जब नाट्यवेद-उत्पत्ति को काल के साथ जोड़ना है तो केवल वैवस्वत मन्वन्तर का नाम नहीं ले लिया गया इसलिए कि कोई ऐसा न समझ ले कि वैवस्वत मन्वन्तर में ही आकर यह हुआ। वह कहते हैं—नहीं, बात ऐसी है कि स्वयम्भू मन्वन्तर जब बीत गया, माने स्वयम्भू मन्वन्तर में भी हुआ था, बीच में भी हुआ था। यानि आदि, मध्य और अन्तिम सप्तम जो वैवस्वत मन्वन्तर है जिसमें कि नाट्य शास्त्र है। जिस ग्रन्थ को हम ले रहे हैं जो 'टेक्स्ट' अभिनव गुप्तपाद के सामने है वह वैवस्वत मन्वन्तर के साथ जुड़ा हुआ है लेकिन कहा है कि हर मन्वन्तर में हर त्रेता के युग में ऐसा होता रहा है।

यहाँ मैं थोड़ा-सा निवेदन करना चाहूँगी कि हमारे देश की जो इतिहास के प्रति दृष्टि है वह पश्चिम की दृष्टि से भिन्न इसलिए है कि वे सीधे केवल लीनियर बात कहते हैं। साइकिल के भीतर भी लाइन तो बनानी पड़ती है, हम लोगों ने भी बनायी है, अनुपूर्वी बनाई है, लेकिन केवल लीनियर बात कह कर इतिहास को बताना यह हमारी पद्धति नहीं रही है। इसलिए पश्चिम का आदमी बहुत बार यह कहता है कि भारत के आदमी को 'सेंस आफ हिस्ट्ररी' नहीं है। बहुत बड़ा आक्षेप हम लोगों पर लगाया जाता है। बहुत दिनों से लगाया जा रहा है। उस तरह की हिस्ट्री, उस 'सेंस आफ हिस्ट्री' को लेकर चलें तो वास्तव में वह हिस्ट्री नहीं है। हमें उसका कोई मलाल नहीं है। नहीं है तो नहीं है, ठीक है। लेकिन हमारी जो काल-गणना है, उसमें हम यह दिखा रहे हैं कि हर बार जब सत्य युग पूरा होता है और त्रेता युग आता है, सत्य और त्रेता युग की सन्धि बीत चुकी होती है तब नाट्य की आवश्यकता पड़ती है। हमारा यह भी एक अनुरोध है **इसको हम केवल चतुर्युग के भीतर न लें। मैं यह समझती हूँ कि किसी भी मानव-समुदाय में अथवा किसी समुदाय के किसी एक व्यक्ति के जीवन में यह चतुर्युगीन परिस्थितियाँ या दशायें आती हैं।** समुदाय को हम बहुत बड़े विराट् रूप में रख कर भी देख सकते हैं और छोटे रूप में रख कर भी देख सकते हैं। हमारी दिल्ली का समाज भी एक समाज है। पूरे भारत का समाज एक समाज है। पूरे विश्व का समाज भी एक समाज है। इसलिए सभी सत्य है। **अगर हम केवल दिल्ली की बात करें तो मिथ्या नहीं है, पूरे भारत की बात करें तो मिथ्या नहीं है, पूरे विश्व की बात करें तो भी मिथ्या नहीं है। दिल्ली की बात कर के भी हम विश्व की बात कर सकते हैं। यह भारत की दृष्टि है।** मुझे एक कथा याद आती है बड़े काम की। गणेश और कार्तिकेय के बीच स्पर्धा की गयी कि कौन पूरे विश्व की परिक्रमा कर पहले लौटेगा, जो लौटेगा वह पुरस्कृत होगा। गणपति वहीं बैठे रहे और कार्तिकेय निकल गये। सब ने यह कहा कि चूहे के सवारी पर यह क्या करेगा। यह तो मोर पर उड़ कर झट से कर लेगा, इसको तो हारना ही है। गणपति तो बैठा रहा चुपचाप देवगण बोले, तुम नहीं चलोगे? बोले नहीं मुझे नहीं जाना है। **शिव और पार्वती जहाँ बैठे थे उसी स्थान की उन्होंने परिक्रमा कर ली और कहा कि हमारी तो विश्व परिक्रमा हो गयी और उनकी बात मानी गयी।** यानी वह पूरे यूनिवर्स को देख रहे थे उस केन्द्र में।

हम जहाँ हैं उसमें केन्द्र बिन्दु से भी बात हो सकती है + और उसकी पूरी परिधि से बात हो सकती है, परिधि के भीतर अनन्त परिधियाँ हो सकती हैं, छोटी, बड़ी क्रमशः उसमें बात हो सकती है। जहाँ से भी बात की जायेगी वह उतनी ही सच्ची होगी। जरूरी नहीं कि बिल्कुल बाहर के घेरे की बात की जाए तब ही सच्ची हो या बढ़िया हो। बात कहीं से भी उठायी जा सकती है। यहाँ बात उठायी गयी स्वयम्भू से लेकर वैवस्वत मन्वन्तर तक। श्री अभिनव गुप्तापादचार्य ने हमें याद दिलाया कि इससे यह समझिये कि मध्य के सभी आ गये यानी प्रत्येक मन्वन्तर में यह हुआ। मैं यह कह रही थी कि किसी भी मानव समुदाय अथवा किसी एक मनुष्य के जीवन में किसी न किसी रूप में चार युग आते हैं। 'एब्सोल्यूटली' तो कभी कुछ भी नहीं हो सकता

है। इस जीवन में हमेशा जो भी बात होगी वह 'रिलेटिवली' होगी। पारमार्थिक स्तर की बात व्यवहार के प्रसङ्ग में नहीं हो सकती। सत्य युग में तो सभी लोग धर्म के प्रति निष्ठावान् हैं। इसीलिए नाट्य की कोई जरूरत तब तक नहीं पड़ती। जब त्रेता का प्रारम्भ है तो हुआ क्या :—

''त्रेतायुगे सम्प्राप्ते ग्राम्यधर्मप्रवृत्ते तु कामलोभवशङ्गते।
ईर्ष्याक्रोधादिसम्मूढे लोके सुखितदुःखिते॥''

लोक में क्षोभ पैदा हुआ। जिसके कारण नाट्य की जरूरत पड़ती है। कहाँ आकर क्षोभ पैदा होता है? कहाँ आकर कोई अशान्ति पैदा होती है, कोई अव्यवस्था पैदा होती है, कोई गड़बड़ है जिसको ठीक करना है। क्या है गड़बड़? दो जोड़े हैं—काम और लोभ और ईर्ष्या और क्रोध। इसके साथ हम भगवद्गीता को जोड़ कर देखें :

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात् सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥

इसके साथ अगर जोड़ कर देखें तो स्पष्ट होता है कि काम से लोभ होता ही है। अभिनव गुप्तापादचार्य ने जोड़ा है—काम से ईर्ष्या होती है और लोभ के कारण क्रोध होता है। लोभ जब पूरा होता नहीं है तो क्रोध होता है, काम से ही प्रेरित होती है ईर्ष्या। सत्य और त्रेता युग की सन्धि बीत जाने के बाद समाज में क्या हुआ है—काम और लोभ के वश हो गया मानव समुदाय। ईर्षा और क्रोध से सम्मूढ हो गया है; वह बात नाट्य शास्त्र कह रहा है और क्या है? एक साथ सुखित और दुखित है। सुख और दुख दोनों हैं। अभिनव गुप्तपादाचार्य कहते हैं दु:खित शब्द जो बाद में डाला है वह इसलिए कि दु:ख से कुछ ज्यादा सुख से मोह होता है। यहाँ तक इसे बारीकी में देखा जाता है। एक और बड़े मजे की बात कह रही हूँ। अभिनव गुप्त ने कहा कि जम्बू दीप का मतलब कर्म भूमि समझें। यह कर्मभूमि है, देवताओं का जो दिव्य लोक है वह भोगभूमि है। लेकिन कर्मभूमि यही है। जम्बू द्वीप में समावृत्त क्या है? देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, नाग इतने सब भर गये हैं। जैसा कल हमारे भाई प्रो० रामचन्द्र गाँधी कह रहे थे माण्डूक्य में जो मण्डूक आया है इसका 'मैटाफॉरीकल' अर्थ है वैसा ही सांप। वह सांप नहीं है जिसको हम समझते हैं। मनुष्य ही हैं सब। कोई राक्षस वृत्ति वाले हैं, कोई उरग वृत्ति वाले हैं, कोई गन्धर्व हैं, कोई यक्ष है, छिप कर काम करते हैं। जैसा कि शिवसंकल्पमन्त्र में कहा गया है ''यदपूर्वम् यक्षमन्त : प्रजानाम्'' प्रजाओं के भीतर जो बैठा होता है यक्ष, बाहर नहीं दिखाई देता है। भीतर से काम करता है। ''तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु'' मन में ही यक्ष है, राक्षस है, महोरग है, देव है, गन्धर्व है, सब प्रकार के लोग हैं, सब स्तरों के लोग हैं, भिन्न-भिन्न स्तरों पर सोचने वाले, जीने वाले तमाम तरह के लोग हैं। सवाल यह है कि परेशानी क्या है? यह समाक्रान्ति हो जाए तो मुश्किल क्या होगी। इन सब को ऐसा कौन-सा माध्यम हो सकता है।

मेरा यह आग्रह जरूर है कि केवल एक दृष्टि से इसकी व्याख्या नहीं करनी चाहिए। एन्थ्रोपोलोजी की दृष्टि से करना हो तो अवश्य करें लेकिन वही एक दृष्टि है यह आग्रह नहीं रखा जाना चाहिए इन शास्त्रों के विषय में। 'शारीरिक जाति' 'जन्मजाति' की बात न करके आचरण की बात हो जो कि दोनों को जोड़ कर भी हो सकती है। कुछ भी हो। यह कहा कि जम्बू द्वीप जब इन सबसे समाक्रान्त हो गया है, तब लोकपाल-प्रतिष्ठा आदि किसी-किसी प्रकार व्यवस्था बनाई जा रही है फिर भी, जो व्यवस्था इष्ट है वह क्योंकि टूट रही है, तब इसकी चिन्ता किसको होती है? इतने सारे हैं तो सही वहाँ, लेकिन इन्द्र को आगे करके केवल देव ही ब्रह्मा के पास पहुँचते हैं। वे कहते हैं **'क्रीडनीयकमिच्छामः'** .... तब इस पर भी अभिनव गुप्तपाद याद दिलाते हैं कि देवताओं ने क्या अपने लिए यह खिलौना मांगा था, अपने विलास के लिए, अपने मनोविनोद के लिए माँग लिया था क्या? कहते हैं, नहीं ऐसी बात नहीं है। यह सर्वसाधारण के लिए मांगा है, पूरे समाज के लिए मांगा है, जिसमें ये सब शामिल हैं। लेकिन ये सब के सब चिन्ता करके ब्रह्मा के पास नहीं पहुंचे हैं, पहुँचे केवल देव ही हैं। यह जरूर है। उन्होंने .... क्रीडनीयक माँग लिया और जब उसका प्रयोग शुरू हुआ तब वहाँ ये सारे के सारे उपस्थित हैं। अकेले देवों ने नहीं देखा, यह बात बहुत ध्यान देने की है कि 'आडियन्स' में जब यह नाट्य प्रवर्तित हुआ, पहला 'प्रयोग'

हुआ इसका, तब ऐसा नहीं हुआ कि क्योंकि देवों ने मांगा था इसलिए अकेले बैठ कर देख लिया हो। सर्वसाधारण है। उसमें दैत्य भी बैठे, देव, दानव, राक्षस सब बैठे थे। स्वाभाविक बात है कि 'ऑडियन्स' दो तरह की हो सकती है। नाट्य शास्त्र में जब यह सब दिखाया गया—अमृतमन्थन दिखाया गया हो, चाहे देवासुरसंग्राम दिखाया गया हो, उसमें दैत्य और दानव क्षुब्ध हुए। इसको मैं इस तरह से समझना चाहती हूँ, आज भी हम देखते हैं कि 'ऑडियन्स' दो तरह की हो सकती है मोटेतौर पर। एक तो वह, जो अहम् को थोड़ी देर के लिए छोड़ कर उस प्रयोग में तल्लीन हो सके, या तादात्म्य में स्थापित हो सके। दूसरा एक ऐसा वर्ग हो सकता है जोकि अहम् को न छोड़ पाये। मैं इसमें कहाँ हूँ? कहीं मुझे तो नहीं दिखाया जा रहा है यहाँ? दैत्यों ने, दानवों ने इस दृष्टि से देखा, इसलिए उनको क्षोभ हुआ। अगर 'अहम्' की चिन्ता नहीं होती तो क्षोभ होने का कोई सवाल ही नहीं था। एक पंक्ति है कि कर्म और भाव से न बिँधे दर्शक होने के कारण देवता तो बड़े प्रसन्न हुए। लेकिन दानव क्षुब्ध हुए। उनका क्षोभ पहले अध्याय में दिखाया है और पाँचवें अध्याय में भी दिखाया गया। मैं पाँचवें अध्याय की याद दिलाऊंगी क्योंकि मैं सगीत की विद्यार्थी हूँ, वहाँ सङ्गीत का सवाल उठा। पाँचवें अध्याय में यह सवाल उठाया कि देवताओं का स्तुतिगान हो रहा था और दैत्यों ने कहा कि यह गीत तो हमें नहीं पसन्द है। हम इसको नहीं गायेंगे। फिर क्या गायेंगे? वहाँ निर्गीत भी चल रहा था। निर्गीत का अर्थ है जिसमें किसी सार्थक पद का प्रयोग नहीं हुआ; नाट्य शास्त्र में निर्गीत है और उसके 'डेफिनेट फार्म्स' भी बताये हैं जिनकी पूरी विवेचना 29वें अध्याय में जाकर हुई है। कोई कहे कि यह कैसा शास्त्र है कि एक बात पहले अध्याय में कही जाती है तो एक बात पाँचवें अध्याय में कही जाती है और दूसरी बात २९वें अध्याय में कही जाती है। अगर २९वें अध्याय में नहीं दिखायेंगे तो निर्गीत के 'फार्म्स' नहीं समझ आयेंगे यह तो शास्त्र है ही जरूर। इसका अपना एक कर्म भी है जो कभी-कभी किसी को अकर्म भी दिखाई दे सकता है। वहाँ दैत्यों ने कहा यह तो हम नहीं गायेंगे, निर्गीत गायेंगे। हमें तो निर्गीत सुखकर लगता है उनको हम जरूर गायेंगे क्योंकि इसमें किसी की स्तुति नहीं है, देवताओं की स्तुति कम से कम नहीं है। वह अपद है। पद का मतलब कोई सार्थक पद इसमें नहीं है। थोड़ा-सा इसके बाद देवताओं की प्रतिक्रिया दिखायी है भरतमुनि ने। यह क्यों, यह लोग निर्गीत ही गाना चाहते हैं तो नारद के पास जाते हैं देवता, कहते हैं निर्गीत को समाप्त कर दो। उन लोगों को यही पसन्द आ रहा है। क्यों न इसको समाप्त कर दिया जाए नारद कहते हैं, नहीं भाई, इनका सन्तोष अगर इसमें होता है तो इसको रहने दो। ये इससे सन्तुष्ट रहेंगे और कोई विघ्न नहीं करेंगे।

एक बात और कहना चाहूँगी। इस मिथक में जब यह बात आयी है कि अप्सराओं की सृष्टि ब्रह्मा को करनी पड़ी। इस ओर मेरा बहुत ध्यान जाता है, बार-बार। अभिनवगुप्त ने बहुत इशारा भर यह कह दिया है। उन्होंने इशारा इतना ही किया है कि मुनिकन्याएं यह काम नहीं करेंगी। क्योंकि सवाल यह उठता है भरत के १०० पुत्र थे शायद कन्या भरत के नहीं थी तो किसी और के तो कन्याएँ होंगी? क्या तब संसार कन्याशून्य था? कन्यारहित तो नहीं था संसार? क्यों ब्रह्मा को अपने मन से अप्सराओं की सृष्टि करनी पड़ी? क्यों वह जरूरी समझा गया या यह उचित समझा गया? अभिनव गुप्त ने एक पंक्ति में यह कहा कि मुनिकन्याओं से यह काम नहीं हो सकता। यहाँ मुझे रवीन्द्र नाथ टैगोर की कविता उर्वशी याद आती है। पूरी कविता तो याद नहीं लेकिन पहली पंक्ति बहुत सार्थक है जो उन्होंने शुरू में ही कहा है : ''न हो वधु न हो कन्या'' उर्वशी को सम्बोधन किया है कि तुम न वधु हो न कन्या हो। इसकी व्याख्या बहुत से लोगों ने इस तरह की है कि ''इट इज ए डिस्क्रिप्शन आफ ब्यूटी''। ''ब्यूटी केन नोट बी पोसैस्ड'', ''ब्यूटी इज नोट समथिंग टु बी पोसैस्ड''। इसलिए कहा कि इसका कोई 'रिलेशनशिप' 'पोजेशन' का किसी के साथ नहीं हो सकता। न किसी की वधु है न किसी की कन्या है। उर्वशी इज ए 'एम्बाडीमेन्ट आफ ब्यूटी'। यह करके भी लोगों ने व्याख्या की है वह भी ठीक है। अभी-अभी दो-तीन महीने पहले आन्ध्र प्रदेश की विशिष्ट परम्परा के साथ मेरा परिचय हुआ। वहाँ की जो देवदासी परम्परा थी उससे कुछ घनिष्ठ परिचय हुआ। उसमें यह बताया गया कि उस पूरे समुदाय को उर्वशी सम्प्रदाय आज भी कहा जाता है। ''दे आर नोन एज उर्वशी-संतति''। यह एक सोशल प्रश्न है जिसके कई तरह के हल हमारे इतिहास में कई पीरियडस् में निकाले गये। आज से १००-५० साल का या किसी-किसी हद तक, अभी भी कई प्रयोग की परम्पराएं ऐसी है जहाँ नारी के पात्र भी पुरुष पात्रों द्वारा किये जा रहे हैं। लेकिन यह कम से कम नाट्य शास्त्र का जो प्रवर्तन का समय है अगर उनकी दृष्टि से किया जा सकता होता तो उनको स्त्रीजन मांगने की जरूरत नहीं थी। लेकिन

उन्होंने स्त्रीजन को मांगा और एक ऐसा वर्ग सृष्ट किया गया जो कि ब्रह्मा की मानस सृष्टि है, किसी मनुष्य की सृष्टि नहीं है, किसी की कन्या कहलाए, किसी की वधु कहलाये, ऐसा वर्ग वह नहीं है इस पर सोश्योलोजी दृष्टि से ध्यान देने की जरूरत है। हमारे देश में विभिन्न पीरियड में विभिन्न इसके हल निकाले गये इस समस्या के। मैं उन हलों पर उनके हानि-लाभ पर कुछ नहीं कहूँगी क्योंकि समय नहीं है। आप सब लोग विज्ञ हैं, सब जानते हैं और भी खोज कर सकते हैं। एक तो मुझे यह बात कहनी थी।

दूसरी बात यह कहनी थी कि मिथक की व्याख्या की जब हम बात करते हैं तो मैं यह आग्रह करूंगी कि वेद में जो व्याख्या की पद्धति है तीन स्तरों पर किसी भी बात की व्याख्या करना उसको हमें यहाँ भी ग्रहण करना चाहिए : अधिभूत, अधिदेव, अध्यात्म। मैं नहीं समझती कि किसी भी शास्त्र में दैत्य और दानव को 'आइडेंटीफाइ' किया गया हो विघ्न के साथ, विघ्न शब्द दिया गया। नाट्य शास्त्र यह शब्द हमें देता है। यह बड़ा सार्थक शब्द है। दैत्य, दानव कहा है और कह दिया विघ्न। उनका स्वरूप क्या है कि वह विघ्न करते हैं। विघ्न क्या करते हैं ? विघ्न क्या हमारे अपने भीतर नहीं है ? अध्यात्म में भी विघ्न उपस्थित है। शरीर की जड़ता है, बुद्धि की जड़ता है, स्मृति की जड़ता है। जहाँ-जहाँ भी 'रसिस्टेंस' पड़ा हुआ है, जो भी 'एबिलिटी' के विरोधी तत्त्व हैं, सारे के सारे विघ्न हैं। और जो बाहर है वह उसका 'परसॉनिफ़िकेशन' है। जैसे वेद में सप्त ऋषि है। यह बड़ा भारी रूपक है सप्त ऋषियों का। सप्त ऋषि अधिभौतिक रूप से आकाश में आज भी है। आध्यात्मिक रूप से हमारे भीतर हैं, प्रत्येक मनुष्य के मुखमंडल में हैं। यह जो दो आँख और दो कान हैं यह चार विवरों का एक ग्रुप है। आकाश में भी आपको चार का एक ग्रुप दिखाई देगा तीन का अलग ग्रुप दिखाई देगा। चार और तीन मिलकर सात हुए हैं। आपके मुखमंडल में देख लीजिए चार विवर हैं और तीन विवर नासिकारन्ध्र तथा मुख हैं यानी 4 और तीन सात हैं। इनमें आपकी चार ज्ञानेन्द्रियाँ स्थित हैं। केवल स्पर्श इन्द्रिय ऐसी हैं जो आपके पूरे शरीर में व्याप्त हैं, बाकी चार (आँख, कान, नाक, जीभ) यहीं पर व्यवस्थित हैं। ये आध्यात्मिक सप्त ऋषि हो गये। आधिभौतिक रूप से, आकाश मण्डल में सप्त ऋषि सात तारे हैं। आधिदैविक रूप से सप्त ऋषि वशिष्ठ, अत्रि, मरीचि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, अङ्गिरा रूप है उनका। जैसे प्रत्येक वेद में मन्त्र की या प्रत्येक बात की व्याख्या तीन स्तरों पर हो सकती है वैसे ही नाट्यशास्त्र के इस पूरे मिथक को अगर हम देखें तो अपने भीतर क्या 'रसिस्टेंस' है, क्या विघ्न आते हैं ? आधिदैविक रूप से, आंधी, पानी, बरसात जो भी है तूफान में यह विघ्न आ सकते हैं आधिभोतिक रूप से, अन्य प्राणियों से मक्खी है, चींटी है, सांप है, बिच्छु है और भी अन्य प्राणियों की ओर से जो विघ्न आ सकता है यह इन सब को विघ्न भी कहा है और असुर दैत्य भी कहा है। असुर और दैत्य अपने भीतर भी है और बाहर प्रकृति में भी है और प्राणी जगत् में भी है। इस प्रकार से यदि देखें तो बात कुछ अधिक समझ में आये। मुझे जितना समय दिया गया था वह पूरा हो गया इसलिए मैं अपनी बात पूरी करती हूँ। धन्यवाद।

★★★

·५·

भारतीय सङ्गीत का इतिहास नाट्यशास्त्र के सन्दर्भ में

मैं आज आपके सामने एक outline या survey रखूँगी। पहले मैं यह बात करना चाहती हूँ कि what is history? हम लोग कहते हैं history of Indian music या किसी भी चीज की history। ये जो शब्द हमारे पास हैं वे अंग्रेजी शब्द है। इसके अनुवाद में अपने यहाँ इतिहास शब्द का प्रयोग करते हैं। अगर हमारे पास history शब्द के निकट कुछ है तो वह इतिहास है। लेकिन फिर भी आज पश्चिम में history की जो व्याख्या या history के बारे में जो धारणा है, उससे हमारे यहाँ इतिहास के प्रति जो traditional दृष्टिकोण रहा है वह काफी भिन्न है। इसलिये बहुत बार लोग कहते हैं कि भारतीयों को history का कोई sense नहीं है। Indians don't have any sense of history. बहुत बार पश्चिम के आज के विद्वानों के द्वारा यह आपेक्ष लगाया जाता है कि history का कोई sense भारतवर्ष में नहीं रहा। तो फिर इतिहास हम किसको कहते हैं। शायद ऐसा हो कि जिसको history समझा जाता है और जिसको हमारे यहाँ इतिहास समझा जाता है इन दोनों में अन्तर है।

तो history में मोटे तौर पर संक्षेप में हम यों कह सकते हैं कि देश और काल या time and space के साथ जोड़ करके कुछ घटनाओं के क्रम को देखा जाता है। मैं बहुत ही सूत्र रूप में कह रही हूँ। मान लीजिए आपने कहा कि बड़ा भारी युद्ध हुआ। तो कब और कहाँ हुआ। स्वाभाविक सवाल होगा। कब यानी time की बात है और कहाँ यानी space की बात है। Time और space एक दूसरे को पूरा करते हैं। केवल time की बात कहने से बात पूरी नहीं होती। देश और काल दोनों से ही कुछ बात बनती है। घटना यहाँ हुई और इस समय हुई। ये बात तो एक है। लेकिन इतिहास शब्द का अर्थ केवल इतना ही नहीं है कि कोई घटना कब किसी देश और काल में घटी। उसका अर्थ यह है कि न केवल किसी देश-काल में वैसा हुआ, बल्कि वैसा होता रहा है। यह बात इतने महत्त्व की नहीं है कि कब हुआ कहाँ हुआ, किसी समय हुआ होगा जरूर। ज्यादा महत्त्व की बात यह है कि ऐसी कुछ बात कही जाय जो कि हमेशा होती रहती हो। यह कहें कि ऐसा कुछ होता रहा है, और ऐसा कुछ हुआ था, इन दोनों में थोड़ा कुछ अन्तर है।

मान लीजिए हम किसी युद्ध का वर्णन करें। यह ठीक है कि वह खत्म हो गया तो ये history है। लेकिन इतिहास का दृष्टिकोण यह है कि युद्ध भी अगर हुआ है तो हम उसका वर्णन इस ढंग से करेंगे, देश और काल इस प्रकार बताएँगे कि जिसके कहने का एक ढंग हमारे पास है। वह ढंग आज के history के ढंग से मेल नहीं खायेगा। हमारे काल का विभाजन आप जानते ही हैं कि चार युगों के cycle में है। आज के हिसाब से इसको history मानना मुश्किल है। तो हम इतिहास में देश काल की बाते करेंगे, लेकिन ऐसा करते हुए भी ऐसी कुछ बात कहेंगे कि जो देश और काल में आबद्ध नहीं होगी। It is not limited to a particular time and space. हम ऐसे ढंग से बात कहते हैं या किसी घटना का वर्णन करते हैं कि जिससे यह अर्थ निकलता है कि वैसी घटना होती रही है अथवा होती रहती हैं। आप महाभारत ले लीजिए। हमारे यहाँ उसको परम्परागत इतिहास कहा जाता है, जो आज की कसौटी पर पूरा नहीं भी उतरेगा। लेकिन उसमें जो बात कही गयी है वो ऐसी है कि बाहर की बात भी है, और मनुष्य के भीतर की बात भी है। भीतर-बाहर आपस में जो कुछ भी होता रहता है या समय-समय पर जो कुछ भी हुआ करता है, वह इस ढंग से कहा गया है कि न केवल एक बार घटित हुआ था बल्कि घटित हुआ करता है। यानी हमारा दृष्टिकोण व्यापक या देश काल को लेते हुए भी देश काल के परे जाने का, timeless and spaceless होकर के बात करने का है।

हमारे देश में इसलिए कभी इस बात की चिन्ता नहीं की गयी कि जो painter है, sculptor है, वह अपना नाम कहीं छोड़ जाय। हमारे देश में एक से एक सुन्दर मन्दिर हैं, परन्तु उन पर कहीं भी उत्कीर्ण करने वाले का नाम नहीं है। क्योंकि हर प्रयोक्ता जो है, हर शिल्पी जो है, वह यह मानता है कि मैं कुछ नया नहीं कर रहा हूँ। मैं जो कुछ कर रहा हूँ, ये तो एक परम्परा का निर्वाह कर रहा हूँ, परम्परा की एक कड़ी हूँ और मैं originality claim नहीं करता। Nobody has claimed originality or novelty. पश्चिम में किस व्यक्ति ने किया है, यह महत्त्वपूर्ण है। मैं इसको भला-बुरा नहीं कहती। मैं केवल अन्तर बता रही हूँ। हमें अन्तर मालूम होना चाहिए। जब कहते हैं कि भारतीयों को कोई sense of history नहीं है, तो यह इसलिए कहा जाता है कि अगर हम मान लें कि history, time और space में घटित events का एक chronicle या विवरण है, तो इस दृष्टिकोण की समझ हमारे यहाँ। अगर रही भी हो तो बहुत कम रही है।

लोग कहते हैं कि कालिदास की date नहीं मालूम है, तिथि नहीं मालूम है और कहाँ पैदा हुए यह भी निश्चित नहीं है। आजकल बहुत से scholars उस पर विचार कर रहे हैं। उसके time और space दोनों स्पष्ट नहीं हैं। इसी प्रकार अन्य नाम हैं, जैसे भरत। उनकी identity और date कोई बतला नहीं सकता। लेकिन क्या एक भरत है, एक व्यास है ? ये एक प्रकार के individual नहीं हुए होंगे, ऐसा मैं नहीं कहती हूं। Individual जरूर कोई हुआ होगा। लेकिन वह deindividualize हो गया है। हमारी परम्परा में आकर एक individual जो है, वह एक धारा का हो गया है। भरत की एक धारा है। जितने भी performing arts हैं उनको हम संस्कृत में प्रयोगात्मक कलायें कहते हैं। प्रयोग यानी experiment नहीं, performance है। हमारे यहाँ प्रयोग शब्द का इस्तेमाल performance के अर्थ में हुआ है।

तो performing arts, जिसका सबसे बड़ा आकार है नाट्य, उसको लेकर के और हर performing arts पर अलग-अलग जिसने भी विचार किया है, जिसने उसका प्रयोग किया है, जिसने उस पर चिन्तन किया है, वे सारे के सारे भरत की परम्परा में हैं। हो सकता है आरम्भ में कोई individual हुआ हो। व्यास की भी एक परम्परा है। आज भी जो पुराण की कथा कहते हैं, उनको "व्यास" कहते हैं। **व्यास यानी जो विस्तार से बात को कहे।** बात को कहने का भी एक ढंग होता है। एक तो होता है कि आप सूत्र रूप में कह दीजिए, और दूसरा ढंग है कि आप कहानी कहिये, या इधर उधर के उदाहरण दीजिए, मिर्च मसाला लगाइये, छोटी-सी बात को आप घंटा भर बढ़ा कर कहिए। यह है व्यास की शैली। व्यास यानी विस्तार करने वाला। जो कथा या कहानी के जरिये विस्तार करके कहता है उसको हम आज भी व्यास कह देते हैं। **इस प्रकार के व्यक्तिगत नाम परम्परा के नाम भी हैं। इन नामों वाला व्यक्ति भी रहा है लेकिन परम्परा के रूप में वह व्यक्ति से बहुत बड़ा हो गया है। वह नाम एक व्यक्ति में सीमित नहीं रह गया। इस प्रकार के हमारे यहाँ व्यास और भरत ये दो बहुत बड़े उदाहरण हैं।** इसलिये जब यह कहा जाता है कि Indians lack a sense of history, वह इसी दृष्टि से कहा जाता है। वह दृष्टिकोण ही history के प्रति हमारे पास नहीं रहा। उसके लिये कोई शर्मिन्दा होने की बात नहीं है, क्योंकि हमारे यहाँ उस ढंग से सोचा नहीं गया।

अब हम थोड़ा time and space के बारे में बात करेंगे। जिसको हम time and space कहते हैं ये क्या हैं। Time, space को लेकर भी चलें, तो क्या है। वह यह है कि **जीवन में दो बातें हमेशा हमारे साथ लगी रहती हैं। एक है continuity और दूसरा है change। सातत्य और परिवर्तन।** आप देखते हैं कि **ये दोनों हमारे जीवन में आते हैं। हर व्यक्ति के जीवन में समाज के जीवन में, देश के जीवन में और राष्ट्र के जीवन में आते हैं। पूरी मनुष्य जाति के जीवन में है। सारी सृष्टि में यही** बात है। change भी है, continuity भी है, नहीं तो जीवन चलता नहीं है। change तो घड़ी-घड़ी देखते हैं, किसी भी व्यक्ति के जीवन में देख लीजिए। यह चेतना हमेशा रहती है कि जब मैं बच्चा था, तब ऐसा किया करता था। मतलब अब तो मेरा शरीर इतना बड़ा हो गया है कि मैं बच्चा तो नहीं रहा, लेकिन **कोई तत्त्व मेरे भीतर ऐसा है, जो continuity बनाये हुए है। चैतन्य तत्त्व कहिये उसे, या आत्मा कहिये, कुछ भी कहिये ऐसा कुछ तत्त्व है, जो यह पहचानता है कि मैं जो बच्चा था, वह आज मैं ही हूँ।** शरीर छोटा था, तब मैं ऐसा करता था, अब मैं यह करता हूँ। तो मैं change हो गया हूँ, लेकिन फिर भी continuous कुछ तत्त्व मेरे भीतर हैं, जो ये पहचानता है कि मैं था और अब वही हूँ। कौन है वह। कोई भी हो, वेदान्त में उसी को आत्मा कहते हैं, जो यह कहता है कि मैं बच्चा था। मतलब यह है कि हमारा शरीर तो change होता है। Doctors

कहते हैं कि ७ साल में एक बार शरीर के सारे cells बदलते हैं, लेकिन फिर भी बदलने से क्या इसका मतलब यह है कि आदमी भी बदल जाता है। एक अर्थ में बदल जाता है और एक अर्थ में बदल नहीं भी जाता है। लेकिन उसकी चेतना तो नहीं बदल जाती है। शरीर ठीक है, बदल जाते हैं।

हर सुबह नई भी है और पुरानी भी है। हर सुबह नई है एक प्रकार से तो लेकिन हम यह नहीं कह सकते कि सुबह फिर नहीं आयेगी, आज की सुबह नहीं आयेगी। सुबह तो हर रोज आती ही है। तो जीवन में आपको continuity और change दोनों ही दिखाई देते हैं। वैसे ही, किसी भी देश के या किसी भी कला के इतिहास में ये बात है कि परिवर्तन भी होता है और सातत्य भी। परिवर्तन कोई बुरी बात नहीं, ये तो जीवन का धर्म है। तो परिवर्तन तो कुछ होता ही है पर कुछ बात ऐसी भी है जो continue भी करती है। continuity नहीं रही तो जीवन चलेगा ही नहीं। इसलिये balanced दृष्टिकोण रखने के लिये ये बड़ा जरूरी है कि हम दोनों को समझें। अगर balance न करें, तो यह होगा कि हम समझने लगेंगे कि आज हम जो गाते हैं वह सब बदल चुका, इसमें कुछ पुराना नहीं है। ये एक दृष्टिकोण आ सकता है। या यह आ सकता है कि जो भरत के जमाने में हम गाते थे ही आज भी हम गा रहे हैं। ये दोनों ही गलत है। गलत का मतलब है कि इन दोनों में balance नहीं है। Balance यानी **पूरा सत्य दोनों में से एक नहीं हो सकता है। अगर आप कहें सब बिल्कुल बदल गया है तो भी ठीक नहीं है, और अगर आप कहें कि ये एक unbroken tradition है तो भी गलत है।** Unbroken tradition ये कोई absolute word नहीं है। सब relative है। Absolutely कोई भी नहीं कह सकता है कि यह unbroken tradition है, क्योंकि व्यक्ति से परिवर्तन आता है।

आप आज घराना ले लीजिये। हालांकि घराना शब्द बहुत ही अर्वाचीन है प्राचीन शब्द नहीं है। लेकिन कोई परम्परा हो, कोई भी धारा हो, ये आप देखेंगे कि एक गुरु से दूसरे तक आते-आते बात कुछ तो बदल जाती है। नहीं तो उसका व्यक्तित्व क्या है। कोई किसी की photocopy तो नहीं हो सकता और न होना ही चाहिये। लेकिन फिर भी हम उसमें कुछ identity या कोई ऐसी पहचान देखते हैं जिसके कारण कहते हैं कि फलाना है। उस धारा में कुछ continuity रहती है, फिर भी हर व्यक्ति के साथ कुछ न कुछ परिवर्तन आता है। **इतिहास समझने की हमारी जो इच्छा है, या फिर हमारी जो चेष्टा है, प्रयत्न है वह यही है कि हम यह जानने की कोशिश करें कि परिवर्तन अगर समझ में आये तो कहाँ कितना, कैसा और क्यों हुआ होगा। और, अगर continuity रही है, तो क्या रही है। ऐसी क्या बात है जो एकदम चली आई है।** ये समझ में आये तो इतिहास के अध्ययन के प्रति हमारा एक balanced या संतुलित दृष्टिकोण हो सकता है।

अब हमारे देश में सङ्गीत के अध्ययन के लिये क्या sources है, इस बात को समझें। हम किसी बात का अध्ययन करेंगे तो हमें यह तो मालूम होना चाहिये कि what are the sources ? कहाँ से अध्ययन करेंगे। किन आधारों पर करेंगे, यानी किन sources के आधार पर हम सङ्गीत के इतिहास का अध्ययन करें। ये हमारे पास बड़ा सवाल है। सङ्गीत के इतिहास के प्रसङ्ग पर जब हम आते हैं तो **एक बड़ी भारी बात समझ लेनी है कि सङ्गीत अन्य कलाओं से कैसे भिन्न है। भिन्न यूँ है कि यह अपना कोई चिन्ह नहीं छोड़ जाता है,** आज के रिकार्डिंग की बात जाने दीजिये। अगर आपने कोई शिल्प या मूर्ति बनायी हो तो वह रह जायेगी, हजार, दो हजार, पाँच हजार वर्ष रह सकती है। उसको देख के आप कुछ अनुमान लगा सकते हैं कि कैसा शिल्प होता था। इतिहास जो है उसमें प्रत्यक्ष प्रमाण काम देगा ही नहीं। किसी बात का इतिहास हो क्या किसी ने उसे प्रत्यक्ष देखा है आँख से। यानी प्रत्यक्ष केवल दो बातों से होती है—आँख से देखना और कान से सुनना। **इतिहास को बनाने में प्रत्यक्ष प्रमाण किसी भी देश में, कहीं भी काम नहीं दे सकता है। किसी भी प्रसङ्ग में नहीं, सङ्गीत ही क्या।** प्रत्यक्ष तो पहले ही cut हो गया। जो आँखों देखी बात है वही हम कहेंगे, तो आप पचास साल पीछे जा सकेंगे, या सौ साल पीछे, इससे अधिक नहीं। प्रत्यक्ष थोड़ी दूर तक साथ देता है, जब तक जीवित लोग आपके पास हों। उसके आगे नहीं, अर्थात् वह बहुत जल्दी ही साथ छोड़ देगा।

मान लीजिये कि नब्बे वर्ष का व्यक्ति आप को बताये कि रहमत खाँ ऐसे गाते थे। आपने तो सुना नहीं है। उसके कहने

पर आप मान रहे हैं। आपके लिये तो शब्द प्रमाण है, प्रत्यक्ष नहीं। क्योंकि रहमत खाँ को आपने नहीं सुना। प्रत्यक्ष प्रमाण बहुत जल्दी आपका साथ छोड़ देता है। फिर अनुमान प्रमाण रह जाता है। अनुमान का मतलब अन्दाज नहीं है। अंग्रेजी में इसे inference कहते हैं। हमारे यहाँ अनुमान का परम्परागत उदाहरण धुएँ और आग का है। दूर से आपने देखा कि धुआँ निकल रहा है, तो आप कहेंगे कि जरूर वहाँ आग है। क्योंकि आग के बिना धुआँ नहीं निकलता। यह अनुमान है क्योंकि आग को आपने अपनी आँख से नहीं देखा, देखा है आपने धुएँ को जो आग का concomitant होता है। Concomitant याने जो साथ रहता है। आग और धुआँ साथ रहते हैं एक पदार्थ धुएँ को देखकर आप दूसरे आग का अनुमान कर लेते हैं। Inference के लिए कोई आधार होना चाहिए, और ये परम्परागत उदाहरण है आग और धुएँ का।

यदि हम किसी भी काल के सङ्गीत के बारे में जानकारी करना चाहें तो प्रत्यक्ष प्रमाण बिल्कुल साथ नहीं देगा क्योंकि यह दृश्य कला नहीं है। दृश्य कला हो तो कुछ न कुछ शेष रह ही जाता है। सङ्गीत क्षण-क्षण चल है। Dynamic गतिशील या चलायमान है। प्रति क्षण नया है और प्रति क्षण विनाशशील है। अगला क्षण पिछले क्षण को पीछे छोड़ जाता है। उसका कुछ भी शेष नहीं बचता। तो उसके बारे में अनुमान लगाने का कहाँ से क्या सहारा है। Direct कुछ भी विशेष छोड़ नहीं जाता, लेकिन indirect कुछ तो छोड़ जाता है। Indirect प्रमाण के रूप में मान लीजिए कोई वाद्यों की आकृतियां छोड़ जाता है, जो मूर्ति के साथ बनी हों। क्योंकि वाद्य एक चीज है जो दृश्य है, अतः उसके आकार प्रकार से कुछ-कुछ अनुमान आप लगा सकते हैं कि कैसा सङ्गीत रहा होगा। यदि प्रत्यक्ष वाद्य हो और यदि एक या दो सौ साल वाद्य को कोई देख दे, तो वह बच सकता है। मान लीजिये कि कोई कहे कि तीन सौ साल पुरानी वीणा है तो ये हो सकता है, इससे अधिक नहीं, क्योंकि यह बाँस या लकड़ी की बनी होती है, जो जल्दी क्षय होने वाले पदार्थ हैं। लेकिन क्षय होने पर भी उसकी अनुकृति से representation either in stone, wood, fresco, or in painting कुछ भी हो, उससे थोड़ा कुछ आधार अनुमान को अवश्य मिलेगा।

एक अन्य बहुत बड़ा क्षेत्र है या source है हमारे पास अनुमान करने के लिए, और वह है लक्षण। यानी लक्षण का जो आपके पास साहित्य है, वह अब मैं आपको दो शब्दों से परिचय कराऊँगी—लक्ष्य और लक्षण। लक्षण क्या है। आपने किसी भी ग्रन्थ का नाम सुना होगा। एक ग्रन्थ का नाम लीजिए जैसे सङ्गीत परिजात। यह सत्रहवीं शताब्दी का ग्रन्थ है और लक्षण ग्रन्थ कहलाता है। ऐसे ग्रन्थों की हमारे यहाँ बहुत बड़ी परम्परा है, जो भरत के नाट्यशास्त्र से शुरू हुई है और करीब करीब इस शताब्दी तक आ गयी है। भातखण्डे जी का ''लक्ष्यसङ्गीतम्'' ग्रन्थ इसकी अंतिम कड़ी है। यह सङ्गीत का लक्षण ग्रन्थ है, मगर लक्ष्य नहीं है। सङ्गीत का जब actual performance होगा तब उसे लक्ष्य कहते हैं।

लक्ष्य तो साथ ही साथ विनाशशील है। कोई कहे कि आप सत्रहवीं शताब्दी का सङ्गीत सुन लें, तो वह नहीं हो सकता। लेकिन यदि सत्रहवीं शताब्दी में किसी ने सङ्गीत के बारे में लिखा यानी लक्षण लिखा है, तो उसको आज हम पढ़ सकते हैं। लक्षण का अर्थ है कि आप सङ्गीत के बारे में किन terms का इस्तेमाल करते हैं। सङ्गीत की विभिन्न क्रियाओं और प्रक्रियाओं के बारे में कौन-सी पारिभाषिक शब्दावली या Terminology इस्तेमाल करते हैं। उन सब की क्या व्याख्या है। कैसे आप सोचते हैं इसके बारे में, क्योंकि इसी से पता चलता है कि आप उसके बारे में क्या कह रहे हैं। ये हैं लक्षण। **लक्ष्य और लक्षण यूँ तो हर कला में है, साहित्य में भी है।** साहित्य में उसके दोष गुण पर विचार कीजिये। उत्तम कोटि का साहित्य कौन-सा होगा, उस पर विचार कीजिए। उसमें सौन्दर्य लाने के क्या-क्या तत्त्व हैं, इस पर विचार कीजिये। ये सारे के सारे जो विचार हैं, ये लक्षण के विचार कहलाते हैं। ये लक्षण हैं साहित्य के और यदि आप काव्य बनाइये तो वह लक्ष्य है। लक्षण किसका बनता है। जो **काम किया जाता है, उसका लक्षण बनता है।** वैसे ही सङ्गीत आप जो प्रयोग कर रहे हैं, सीख रहे हैं, अभ्यास कर रहे हैं—वह सब लक्ष्य है। लेकिन इसके साथ कुछ न कुछ लक्षण भी चलते हैं। लक्षण के बिना काम नहीं चलता है। सबसे बड़ा लक्षण है कि आप intervals को नाम देते हैं—सा, रे, ग, म, प, ध, नि। ये भी लक्षण हैं, क्योंकि मैं जो कान से सुन रही हूँ। मुझे सा, रे, ग, म, प, ध, नि मालूम न भी होगा, तो भी उसका आनन्द ले सकती हूँ। पर बिना जाने नहीं गा सकते। आपको तो जानना बहुत जरूरी है। ये पहला लक्षण है। आप कहते हैं कि ताली है, खाली है—यह भी लक्षण है। यानी आप किसी किसी क्रिया के नाम रखते हैं। उन नामों का आपके मन में एक विशेष अर्थ होता है और प्रयोग करते समय, सीखते समय, सिखाते

समय आप उस terminology के आधार पर अपना काम चलाते हैं। वह आपके पास लक्षण है। लक्षण की यह परम्परा हमारे पास बहुत पुरानी है। किसी भी काल का सङ्गीत हमारे पास कैसा रहा होगा, इसके बारे में थोड़ा बहुत जानना जरूरी है। इसके बारे में पूरा पूरा अनुमान नहीं लगा सकते, लेकिन कुछ न कुछ जरूर लगा सकते हैं।

लक्षण ग्रन्थों के रूप में एक बहुत बड़ा source हमारे पास है। **लक्षण ग्रन्थों की एक बहुत बड़ी और विशाल परम्परा हमारे पास है, काफी लम्बी, कम से कम दो हजार वर्ष पुरानी तो है ही, ज्यादा ही कहनी चाहिये लेकिन दो हजार साल तो निश्चित रूप से। भरत के नाट्यशास्त्र को अगर हम दो हजार साल पुराना कहें तो उसमें जो लक्षण मिलता है वह तो एक दिन में नहीं बन गया होगा। उसको बनते-बनते दो हजार वर्ष लगे होंगे,** जिसका कि कोई निश्चित प्रमाण हमारे पास नहीं है। फिर भी बहुत लम्बी परम्परा है और उसमें अनेक शब्दों के अर्थ बदलते गये हैं। ये सभी जानना जरूरी है, क्योंकि बहुत शब्द ऐसे मिलेंगे जो नाट्यशास्त्र से लेकर आज भी प्रयोग में है। और हो सकता है कि आप इन्हें भिन्न अर्थ में प्रयोग कर रहे हैं। बहुत से अर्थ वही हैं पर शब्द बदल गये हैं। **लक्षण में तीन प्रक्रियाएँ चलती रही हैं—अर्थभेद, शब्दभेद और शब्दों का लोप हो जाना। इसलिए सङ्गीत के इतिहास के अध्ययन में लक्ष्य तक तो कभी पहुँच ही नहीं सकते, लेकिन लक्षण के सहारे कुछ न कुछ अनुमान करने को मिल जाता है। कल्पना के सहारे के लिये लक्षण बड़ा आधार बन सकता है।**

एक और शब्दों की जोड़ी है, जिससे परिचय होना भी जरूरी है। वह है शास्त्र और सम्प्रदाय। बहुत अच्छा जोड़ा है ये शब्दों का। **इस प्रकार एक जोड़ा है लक्षण और लक्ष्य का और दूसरा है शास्त्र और सम्प्रदाय का। इन दोनों जोड़ियों का आपस में बहुत बड़ा सम्बन्ध है।** आप शायद समझेंगे कि लक्षण जो है ये तो एक प्रकार से शास्त्र की बात है। ये ठीक है। सङ्गीत का जो शास्त्र है उसे लक्षण ही कहा जा सकता है। Notation जो है वह भी एक प्रकार का लक्षण ही है। **Notation सङ्गीत नहीं है। वह सङ्गीत तब बनेगा जब आप उसको गा लेंगे। शास्त्र तो लक्षण ही कहेगा। शास्त्र तो वह है जो किसी भी विषय के चिन्तन को formulate करता है। यानी उसको निबद्ध करके एक व्यवस्थित ढंग से निश्चित कर देता है।** लेकिन लक्षण जो है शास्त्र से भी कुछ अधिक व्यापक होता है। **लक्षण मौखिक भी हो सकता है।** आप गुरु के पास बैठ कर सीखेंगे तो वहाँ भी दस बीस terms आपके सामने आ जायेंगी जो आपकी जानकारी में या आपके प्रयोग में मौखिक परम्परा से आपके पास आ रही हैं। ये लक्षण हैं। शास्त्र चाहे न हो लेकिन लक्षण जरूर हैं। Logical दृष्टि से हमें कहना चाहिये कि जो शास्त्र है वह लक्षण जरूर है, लेकिन लक्षण जो है, वह जरूरी नहीं कि सारा शास्त्र में हो। शास्त्र के बाहर भी कुछ लक्षण हुआ करते हैं। Unformulated लक्षण भी बहुत कुछ होता है। जैसे कि शास्त्र में कहे गये तीव्र और कोमल स्वर को बोलचाल में गुनी लोग चढ़ा उतरा कहते हैं, और ये भी लक्षण हैं। इससे कुछ communicate तो होता है। इस प्रकार लक्षण का घेरा जरा व्यापक है। शास्त्र तो निबद्ध है और ज्यादा formulated भी है। अगर कोई गुरु अपने शिष्य को समझाने के लिये कुछ terms बना लें तो कोई बड़ी बात नहीं है। ये सारे के सारे मुलायम ढंग से स्वर लगाने के तरीके हैं। अब शास्त्र में ये सब नहीं है, लेकिन फिर भी लक्षण तो है। सूत्र में यह कह सकते हैं कि शास्त्र तो लक्षण ही है, लेकिन लक्षण जो है शास्त्र में ही सीमित न हो कर, उसके बाहर भी चलता है।

सम्प्रदाय का अर्थ है सम्यक् रूप से देने वाला, सही ढंग से प्रदान करने वाला। और यह सही ढंग से प्रदान करने वाली क्या चीज है। **वह है गुरु शिष्य परम्परा। इस परम्परा से ही ज्ञान चला जाता है।** आजकल का घराना शब्द बहुत ही अर्वाचीन है। घराने में थोड़े वंशानुक्रम की बात आ जाती है। परन्तु सम्प्रदाय में केवल गुरु शिष्य परम्परा है, वहाँ शिष्य भी पुत्र हो सकता है अथवा नहीं भी हो सकता है। यह कोई महत्त्व की बात नहीं है। लेकिन वह शिष्य परम्परा का जरूर है। सम्प्रदाय में ज्यादा महत्त्व की बात है। **हमारा जितना लक्ष्य है, जितने performing traditions हैं वे सारे के सारे सम्प्रदाय के अन्तर्गत ही आयेंगे।** यह कोई लिखित tradition नहीं है। सारी की सारी गुरु-शिष्य परम्परा है, चाहे घराने के नाम से हो या न हो। हमारे देश के जितने भी performing arts हैं, उनका इतना ज्यादा विस्तार है कि ये अनेक स्तरों में हैं। **ये सब oral traditon के हैं। oral** tradition का क्या मतलब है। **यह वह tradition है जिसमें हम बिना लिखे गुरुमुख से सीखते हैं।** हमारी यह tradition बड़ी formulated tradition है, जिसको आज हम शब्द'से कहते हैं। इसमें सीखना बहुत व्यवस्थित ढंग से होता है परन्तु **लोक में सीखने का ढंग कुछ अलग ही होता है जिसको लोक में सुन सुन के सीखना कहते हैं।** लोक में तो कोई

सीखने नहीं बैठता है, पर सब लोग गाते हैं। सास गाने लगती है और ननद भी गाने लगती है। एक दूसरे से सुन-सुन के स्त्रियाँ गाने लगती हैं, लेकिन रही oral tradition ही। एक के मुख से दूसरे ने सुना और गाने लगा, दूसरे के मुख से तीसरे ने सुना और गाने लगा। उसको लिखने की कोई चिन्ता नहीं होती, कोई जरूरत भी नहीं समझी जाती। ये सब सम्प्रदाय के अधीन रहा है। लेकिन उसका लक्ष्य प्रयोग पर जो चिन्तन हुआ है, वह जरूर शास्त्र में निबद्ध हुआ है। ये शास्त्र ग्रन्थ लक्ष्य का अनुमान लगाने में पूरी-पूरी तो नहीं, परन्तु काफी हद तक मदद कर सकते हैं। लक्ष्य को अनुमान लगाने के लिये और भी evidence हमारे पास हो सकते हैं, जो अनेक sources से मिलते हैं। मान लीजिये कोई ऐतिहासिक दस्तावेज है, जिसकी मुगलों के जमाने में एक परम्परा चल पड़ी थी, जिसके उदाहरण बाबरनामा, आइने अकबरी इत्यादि हैं। इसी तरह से किसी-किसी राजवंश के अपने-अपने records हैं। ये historical records हैं। कोई music के records नहीं है। लेकिन हमें उसमें कुछ न कुछ बात सङ्गीत के बारे में बिखरी हुई मिल जाती है। तो historical records जो है, जितने प्रकार के भी हों, किसी भी period के हों, उनमें से कुछ न कुछ अध्ययन के लिये मिलता है। ढाई सौ, तीन सौ वर्षों में जितनी रियासतें या राजवाड़ें थे, उनके अपने जो विवरण हैं उनमें से बहुत बातें मिल जाती हैं। ये records सङ्गीत के लिये नहीं लिखें गये लेकिन इनमें रियासत की सारी बातें लिखी गयीं। मान लीजिये रियासत के खर्च का हिसाब लिखते हैं। उसमें एक शब्द था ''गुनीजनखाना''। सङ्गीतकारों के हिसाब जिसमें लिखे जाते थे, वह गुनीजनखाना है। इसमें सारंगी वाले, पखावज वाले, तबले वाले या गायक को कितनी तनख्वाह दी गयी, उसका हिसाब लिखते थे। इस गुनीजनखाने में नामावली भी मिलती है और comparative study के लिये उनके social status का मसाला भी आपको मिलता है। ये सब peripheral बातें हैं।

नाट्यशास्त्र का आरम्भ कथोपकथन या संवाद शैली में हुआ है। यह पुराण की पद्धति है कि कोई प्रश्न पूछता है और कोई उत्तर देता है। पुराण की ही क्या, महाभारत की भी यही पद्धति है। भगवद्गीता में आप देखिये, आरम्भ में धृतराष्ट्र संजय से प्रश्न पूछते हैं, और संजय पूरा narration करता है कि अर्जुन ने ऐसा कहा, इत्यादि। नाट्य शास्त्र में प्रश्न पूछने वाला एक व्यक्ति नहीं है, बल्कि मुनियों का एक group है। ये मुनि लोग भरत से प्रश्न पूछते हैं। भरत को भी मुनि की संज्ञा दे दी गयी है और उनको एक mythological figure बना दिया गया है जिसका time और space के साथ कोई relation नहीं रहा है। ये कब पैदा हुए, कहाँ पैदा हुए इसका कुछ वर्णन नहीं मिलता। जो प्रश्न मुनि लोग करते हैं उसी में हमारे काम की बात आ जाती है। सङ्गीत भी उसी में आ जाता है। **वे एक श्लोक में नाट्य वेद के बारे में प्रश्न पूछते हैं जिसके पाँच खण्ड हैं—(१) कैसे उत्पन्न हुआ, (२) किसके लिए हुआ, (३) इसके कितने अङ्ग हैं, (४) इसका क्या प्रमाण है—प्रमाण का मतलब evidence नहीं, बल्कि ग्रहण करने का माध्यम है, अर्थात् modes of perception क्या है, और (५) प्रयोग इसका कैसे होता है : प्रयोग means नाट्य का actual performance। ये उनके प्रश्न के पाँच खण्ड हैं।**

सङ्गीत की बात वहाँ आ जाती है, जहाँ यह पूछा गया है कि इसके अङ्ग कितने हैं इसके उत्तर में नाट्य के चार अङ्ग बतलाये गये हैं। (१) पाठ्य : इसका मतलब है यानी पद, आजकल इसे नाट्य की script कहते हैं, (२) गीत, (३) अभिनय, और (४) रस। इन्हीं चार अङ्गों को लेकर नाट्य बना है। सङ्गीत के विद्यार्थियों को नाट्यशास्त्र इसलिये देखना पड़ता है कि सबसे पहले सङ्गीत का लक्षण-निरूपण इसी ग्रन्थ में मिलता है। लक्षण का शास्त्र सबसे पहला यही है। नाट्यशास्त्र का काल मोटे तौर पर, क्योंकि इसके विषय में बहुत controversy है, ५०० B.C. से 200 A.D. के मध्य माना जाता है। ऐसा भी हो सकता है कि समय-समय पर इसमें कुछ जोड़ा भी गया हो। ऐसा होता रहा है हमारे यहाँ। लेकिन इस समय जो पाठ हमारे पास है वह कम से कम नवीं-दशवीं शताब्दी का है क्योंकि अभिनव गुप्त ने इस पर commentary की है और वे दशवीं शताब्दी के थे। नाट्यशास्त्र एक समय की रचना है या नहीं निश्चित नहीं कह सकते लेकिन इसमें जो सिद्धान्त है वे इसके काफी पहले ही formulate हुए होंगे ५०० B.C. से भी पहले लेकिन उन सिद्धान्तों को इस प्रकार से निबद्ध होने में समय लगता है, एक दिन में सिद्धान्त नहीं बन जाते। **अब देखिये कि हमारे देश की यह पद्धति है कि जो कोई उत्तर देता है, वह कभी भी यह नहीं कहता कि बात मैं बता रहा हूँ। वह कहता है कि पहले भी किसी ने यह बात पूछी थी और अमुक ने उसका उत्तर यह दिया था, जो मैं तुमको बतला रहा हूँ। No body claims originality** भले ही उसके पास originality हो तब भी वह यह नहीं कहेगा कि यह मेरी बात है। **वे अहं को बिल्कुल विलीन कर देते हैं, जिसका उल्टा आज हो रहा है।**

तो मुनि लोग प्रश्न पूछते हैं और फिर भरत कहना शुरू करते हैं। इसके बाद मुनि मौन हो जाते हैं। वे पूरे नाट्य शास्त्र में कहीं-नहीं बोलते। एक बार भी नहीं। फिर भरत ब्रह्मा और देवी देवताओं का संवाद बताते हैं जो पहले अध्याय तक समाप्त हो जाता है। पहला अध्याय नाट्य शास्त्र की नींव है क्योंकि इसमें नाट्य के सभी प्रश्नों की सारी बात और सारी कथा भी आ जाती है। इस अध्याय में पाँच प्रश्नों में से पहले चार प्रश्नों का उत्तर मिल जाता है। लेकिन पाँचवें प्रश्न (इसका प्रयोग कैसे होता है) इसी प्रश्न को लेकर बाकी नाट्यशास्त्र लिखा गया है।

यह कैसे उत्पन्न हुआ? देवता जब ब्रह्मा के पास गये तब ब्रह्मा ने इसे बनाया। यानी यह ब्रह्मा से उत्पन्न हुआ। किसके लिये उत्पन्न हुआ? समाज के हर वर्ग के लिये हुआ। ऐसा नहीं कि केवल उच्च वर्ग के लिए हो, सब के लिए यानी सार्ववर्णिक है। कितने अङ्ग हैं? चार अङ्ग हैं—पाठ्य, गीत, अभिनय और रस। कैसे इसका ग्रहण होता है। श्रवण और दर्शन इन दोनों से इसका ग्रहण होता है। और प्रयोग कैसे होता है। इसका उत्तर पूरे नाट्यशास्त्र में है।

जब चार अङ्गों में से गीत की चर्चा होती है तब सङ्गीत की बात मिल जाती है। अब इस ग्रन्थ के दृष्टिकोण के बारे में यह कहना है कि **क्या कारण था कि जब संचार के साधन इतने सीमित थे, communication इतना limited था तब ज्यादा cultural unity दिखाई पड़ती थी। और जब आज संचार के साधन इतने ज्यादा हैं तो ज्यादा regionalism दिखाई पड़ता है।** इसके बारे में समय-समय पर मुझे कुछ न कुछ कहना पड़ता है। **नाट्यशास्त्र से सङ्गीतरत्नाकर तक और उसके बाद भी किसी ग्रन्थकार ने यह नहीं कहा कि हम किस region की बात कर रहे हैं। बंगाल की, दक्षिण की या महाराष्ट्र की। नाट्य शास्त्र की दृष्टि इतनी व्यापक है कि उसमें न केवल आपके भारत को, बल्कि जिसको आप Greater India या बृहत्तर भारत कहते हैं, जिसमें Afghanistan, Burma, Sri Lanka, Malaysia, Java और Sumatra भी आते हैं, इस पूरे को शामिल किया गया है।** शास्त्र किसी एक region की बात नहीं कर रहा है, लेकिन सारे region उसके ध्यान में है। Regional दृष्टि थी, मगर They were not limited to a particular space क्योंकि देश भेद से आचार भेद होता है और यह वे बड़ी अच्छी तरह जानते थे। लेकिन जानते हुए भी उनका अपना लगाव या involvement किसी एक region के साथ नहीं था। आप नहीं कह सकते कि भरत को कोई एक particular region पसन्द था। उन्होंने पूरे बृहत्तर भारत यानी Greater India की बात करते हुए, उसकी political या geographical नहीं बल्कि cultural boundaries मानते हुए, उसे चार खंडों में विभाजित किया है, जिसे वहाँ 'प्रवृत्ति' कहा गया है, जो एक technical शब्द है। देश-भेद से आचार भेद होता है, और क्योंकि हम नाट्य की बात कर रहे हैं, इसलिए जब हम dramma का presentation करेंगे तो you will have to relate it to some time and space. यह बम्बईया cinema नहीं है, जिसमें कि there is no relation to time and space जिसे देख कर आप यह नहीं कह सकते कि किस region की बात कही जा रही हैं, जैसे किस region का पहनावा है इत्यादि। भरत कहते हैं कि जब stage पर आयेंगे तो यह मालूम होना चाहिये कि वे Maharashtra के हैं या Gujarat के हैं, Andhra के, Karnataka के या Orissa के। **Performance always has to be regional / Non-regional हो ही नहीं सकता। इसलिए उन्होंने कहा कि देश-भेद से आचार-भेद होता है, लेकिन पूरे देश की चार प्रवृत्तियाँ मैं बतलाता हूँ।**

दक्षिण सागर से लेकर विन्ध्याचल तक जितना प्रदेश है उसको उन्होंने **दाक्षिणात्या प्रवृत्ति** कहा है और यह भी कहा है कि यहाँ का प्रयोग (performance) कैशिकीवृत्ति-प्रधान या गीत-नृत्य-प्रधान है। फिर जितना आपका पूर्वी तथा उत्तर-पूर्वी क्षेत्र है—जिसमें उड़ीसा, बिहार, बंगाल, आसाम, नेफा, और वर्मा आदि आ जाते हैं, उसको उन्होंने **औड्र-मागधी** कहा है। इसमें सारे प्रदेशों के नाम गिनाये गये हैं—अंग, बंग, कलिंग, मगध और प्राग्ज्योतिष जो आसाम है। इस प्रकार औड्र-मागधी में पूर्वी, उत्तरपूर्वी और थोड़ा बहुत दक्षिणपूर्वी भाग भी है। अब केन्द्रीय या मध्यदेशीय और उसके साथ पश्चिमी भारत की **अवन्तिका प्रवृत्ति** कही है। अवन्तिका प्रवृत्ति में सारा मध्य प्रदेश, गुजरात, मालवा, सिन्धु कच्छ और विदर्भ आ जाते हैं। उत्तर और उत्तर पश्चिम या ब्रज का प्रदेश जो है, इसके साथ पंजाब, कश्मीर, अफगानिस्तान और गान्धार तक आ जाता है, उसको **पाञ्चाल** कह दिया है।

इस प्रकार चार विराट् क्षेत्रों (regions) की परिकल्पना की गई है। प्रयोगों (performences) की विशेषताओं को हम

चार प्रखण्डों में रख के देख सकते हैं। इतनी व्यापक थी भरत की क्षेत्रीय (regional) दृष्टि। 'क्षेत्रीय' से मेरा मतलब है कि अगर कोई भी धुन आप सुनेंगे तो उसे किसी लोक क्षेत्र का होना ही चाहिये। It should be identified with a region. इसमें कोई दोष नहीं है। मगर आज जो regionalism है, उसमें जो हमारा seperatism या parochialism है, यह वहाँ नहीं था। अगर खुले ढंग से लेंगे तो प्रवृत्ति इसमें आ ही जायेगी, यह जरूरी है। लेकिन अगर आप वह कहें कि हमारा अच्छा है, बाकी सब इससे नीचे हैं तो इन बातों का आधार कुछ नहीं है। आजकल यह केवल राजनैतिक कारणों से उभर रहा है और इसका इतिहास दो सौ साल से पुराना नहीं है। इसे अधिक बढ़ावा पिछले पचास साठ वर्षों में और उससे भी अधिक स्वतंत्रता के बाद मिला है, यानी 30-40 वर्षों से समझिये। सत्रहवीं शताब्दी तक कर्नाटक सङ्गीत की संज्ञा कहीं नहीं मिलती। सङ्गीत परिजात में देख लीजिये या किसी और ग्रंथ में देख लीजिये, आपको यह कहीं नहीं मिलेगा कि यह कर्नाटक सङ्गीत का या हिन्दुस्तानी सङ्गीत का ग्रन्थ है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं हुआ कि सारे देश में एक जैसा गाते थे। एक जैसा नहीं गाते थे पर काकु भेद को तो रहना ही पड़ेगा। ''देश-काकु'' एक शब्द है जिसको शार्ङ्गदेव ने भी लिखा है। हर देश का एक काकु है अर्थात् बोलने का एक लहजा है। अगर बंगाली आदमी बोलता है तो हम समझ लेते हैं कि वह बंगाली है। यह तो अच्छी बात है क्योंकि ये उसकी विशेषता है, पहचान है। **जैसे बोलने में देश-काकु है, वैसे गाने में भी है।** इसको हम लोगों ने अच्छी तरह पहचाना है। न केवल हर राग की भाषायें बतायी हैं, **मतङ्ग के समय में तो राग की भाषाओं में भी प्रदेशों के नाम हैं—मालवी, दाक्षिणात्या, गुर्जरी—**सब भाषा के रूप में रागों के नाम हैं। मतङ्ग के समय **यानी कम से कम 7वीं शताब्दी से यह नाम हैं। उससे पहले भी होंगे, मगर मतङ्ग के समय उल्लिखित किये गये।** ये सब क्षेत्रीय नाम हैं जो रागों की प्रादेशिक भाषायें हैं।

इस राग-वर्गीकरण की परिकल्पना ठीक विशाल कुटुम्ब या प्रासाद की कल्पना पर आधारित है। जैसे कि एक विशाल परिवार के भीतर छोटे कुटुम्ब होते हैं, या विशाल भवन के भीतर प्रखण्ड होते हैं, उनके भीतर फिर पृथक्-पृथक् कक्ष होते हैं वैसे ही राग एक बड़ी इमारत है या बड़ा कुटुम्ब है और उसके अन्तर्गत उसके भाग और प्रविभाग आदि की तरह भाषा और विभाषायें हैं। कुछ अन्तर-भाषायें भी हैं मगर बहुत कम। इस प्रकार **एक वंशवृक्ष की उपमा पर राग के भेद बताये हैं, परन्तु इन भेदों में सारे भेद क्षेत्रजन्य नहीं हैं, लेकिन उनका एक भेद देशज है।** यानी उन्हें देशजा भाषा कहा गया है।

दर्शन और चिन्तन उनका बहुत व्यापक और सुस्पष्ट था, इसमें कोई शक नहीं है। **जब यातायात, प्रचार के साधन नहीं थे तब उस समय कैसे एक जगह बैठकर इस व्यक्ति ने इस सारे बृहत्तर भारत का विभाजन किया है, इसका प्रमाण नाट्यशास्त्र है।** जितने प्रदेशों के नाम लिये हैं वे केवल एक नमूने के तौर पर लिये हैं, जैसे—

महेन्द्रो मलयः सह्यो मेकलः पालमञ्जरः।
एतेषु ये श्रिता देशाः स ज्ञेयो दक्षिणापथः॥

कोसलस्तोसलाश्चैव कलिङ्गयवनाः रवसाः।
द्रविडान्ध्रमहाराष्ट्रा वैणा वै वानवासजाः॥

दक्षिणस्य समुद्रस्य तथा विन्ध्यस्य चान्तरे।
ये देशास्तेषु युञ्जीत दाक्षिणात्यां तु नित्यशः॥

ना० शा० १३ अ०/पृ० ३८-४१ श्लो०

ये सब दक्षिण के हैं। दक्षिण में महेन्द्र पर्वत या सह्यादि को ''सह्य'' कह रहे हैं। मलय केरल हो गया। या मलय से आन्ध्र-तमिल भी समझ सकते हैं। ये सब प्रदेश दक्षिण समुद्र और विंध्य के बोच आते हैं। इन सारे देशों में दाक्षिणात्य प्रवृत्ति लगेगी।

आवन्तिका वैदिशिकाः सौराष्ट्रा मालवास्तथा।
सैन्धवास्त्वथ सौवीरा आनर्ताः सार्बुदेयकाः॥

दाशार्णास्त्रैपुराश्चैव तथा वै मार्तिकावताः।
कुर्वन्त्यावन्तिकीमेते प्रवृत्तिं नित्यमेव तु॥

ना० शा० १३/४२-४३

अवन्तिका-प्रवृत्ति में क्या है ? उज्जैन को अवन्ती कहते हैं। अवन्ती के लोग अवन्तिका वैदेशिक, विदिशा जो मध्य प्रदेश में है, सौराष्ट्र, मालवा, सैन्धव, सिन्ध के लोग, सौवीर, अवन्ती, सार्बुदेयक, दाशार्ण, त्रैपुर तथा मार्तिकावत ये लोग आवन्तिका-वृत्ति अपनाते हैं।

अब है आपका औड्र मागधी—जिसमें अङ्ग, बङ्ग, कलिङ्ग इत्यादि हैं। कलिङ्ग को दक्षिण में भी लिया है। आज भी उड़ीसा में कुछ जो आन्ध्र की सीमा के निकट हैं, वहाँ दक्षिण का प्रभाव अधिक है। कुछ बंगाल का निकट जो है, वहाँ बंगाल का प्रभाव ज्यादा है। तो कलिङ्ग को दक्षिणात्य और औड्रमागधी दोनों में लिया है। औड्रमागधी में ये आते हैं—

अङ्गा बङ्गाः कलिङ्गाश्च वत्साश्चैवोड्रमागधाः।
पौण्ड्रा नेपालकाश्चैव अन्तर्गिरबहिर्गिराः॥

तथा प्लवङ्गमा ज्ञेया मलदा मल्लवर्तकाः।
ब्रह्मोत्तरप्रभृतयो भार्गवा मार्गवास्तथा॥

प्राग्ज्योतिषाः पुलिन्दाश्च वैदेहास्ताम्रलिप्तकाः।
प्राङ्गा प्रावृतयश्चैव युञ्जन्तीहोड्रमागधीम्॥

ना० शा०/१३ अध्या०/१५९ पृ०/४४-४७ श्लो०

मगध बिहार है और पौण्ड्र नेपाल है। ब्रह्मोत्तर बर्मा है और प्रागज्योतिष आज का आसाम है। वैदेह है जहाँ पर सीता का जन्म हुआ, जो नेपाल की सीमा पर है, जो जनक की राजधानी थी। जो भी अन्य सब देश कहे गये हैं पुराणों में, इन सब पर औड्रमागधी प्रवृत्ति लग जायगी।

अब सात्वती और आरभटी वृति की बात करें। ये पाञ्चाली प्रवृत्ति में आ जाती है। पञ्चाल, शूरसेन, कश्मीर, हस्तिनापुर, वाह्लीक, शाकल, मद्रकौशिक, हिमालय में स्थित तथा गंगा की उत्तर दिशा में स्थित पाञ्चालमध्यम क्षेत्रों में प्रयोगों की वृत्तियाँ सात्वती तथा आरभटी कहीं गई है। आज भी देखा जाय तो इन प्रदेशों में कुछ अक्खड़पना है ही। इसीलिये उस समय भी इनमें उद्धत एवं नृत्तप्रधान प्रयोगों वाली वृत्तियाँ मानी गयीं। औड्रमागधी में कुछ मध्य स्थिति है अतः वहाँ सात्त्विक-अभिनय-युक्त सात्त्वती एवं कैशिकी वृत्ति कही गई। दक्षिण में गीत-नृत्य तथा सूक्ष्म-अभिनय-प्रधान प्रयोगों में सौम्य कैशिकी वृत्ति मानी गई।

नाट्यप्रयोग के चार प्रकार बताये गये, वे ही वृत्तियाँ हैं।* ....

★★★

---

* यह लेख अपूर्ण है, क्योंकि इसके आगे का अंश खण्डित है; फिर भी सङ्गीत-इतिहास की दृष्टि से इतना अंश महत्त्वपूर्ण है। —सम्पा०

.६.

श्री सङ्गीत-कलाधर : ग्रन्थ-परिचय*

भावनगर के राजगायक स्व० पं० श्री डाह्यालाल शिवराम के द्वारा १९८५-१९०० में लिखा गया, १९०१ में प्रथम बार प्रकाशित यह ग्रन्थ बहुत समय से अप्राप्य है, किन्तु भावनगर के स्वर्गीय महाराजा साहब नेक नामदार सर कृष्णकुमार सिंह जी ने हमारी प्रार्थना पर इस ग्रन्थ के १९३८ ई० में प्रकाशित द्वितीय संस्करण की एक प्रति अनुसन्धान के लिये १९६२ में भेज दी थी। उनके इस अनुग्रह का हार्दिक आभार सहित स्मरण करते हुए इस ग्रन्थराज का निम्नलिखित संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है।

१. लेखक की अपनी प्रस्तावना

लेखक ने बताया है कि यह उन पाठकों के लिये लिखा गया है जो प्राचीन शैली का अनुसरण करते हुए नवीन शैली पसन्द करते हैं। अर्थात् हमारे परम्परागत सङ्गीतशास्त्र के प्रमुख विषयों को गुजराती भाषा में आधुनिक विचारसरणी के योग-सहित प्रस्तुत करने का लेखक ने यत्न किया है। आधुनिक विषयों के समावेश के उदाहरण-स्वरूप निम्नलिखित विषय मिलते हैं।

१. ध्वनि की उत्पत्ति, प्रवहण और ग्रहण का वैज्ञानिक निरूपण; ध्वनितरङ्ग, ध्वनि की तारता, तीव्रता और गुण का वैज्ञानिक स्पष्टीकरण।

२. पाश्चात्य सङ्गीत के स्टाफ नोटेशन का विस्तृत और सुबोध परिचय, साथ ही भारतीय सङ्गीत के नोटेशन के विन्यास का यत्न।

३. मानव शरीर के ध्वनि-उत्पादक यन्त्र का वैज्ञानिक विवरण।

४. श्रवणेन्द्रिय का संक्षिप्त वर्णन।

५. भारतीय वाग्गेयकारों के अतिरिक्त पाश्चात्य सङ्गीत के Composers का भी यत्र-तत्र उल्लेख।

लेखक ने अपनी विषयवस्तु को अधिकाधिक सरल भाषा में रखने का यत्न किया है ऐसा उनका कहना है, ग्रन्थ के पाठक के लिये उन्होंने ''सहृदय, उदारचेता, रमणीयताग्राहक, सारग्राही और सङ्गीतशास्त्र का अभ्यासी''—ऐसी कल्पना की है।

मनुष्य जीवन में सङ्गीत का मौलिक स्थान, आर्य संस्कृति में वैदिकयुग अर्थात् प्रागैतिहासिक काल में भी सङ्गीत की उच्च विकसित अवस्था, परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—वाक् के इन चार भेदों का संक्षिप्त परिचय, शब्द के शुद्ध उपयोग से आत्मबल की निष्पत्ति, जैसे जप द्वारा, सङ्गीत और योग का साम्य, सङ्गीत के अङ्ग, गीत-वाद्य-नृत्य का परस्पर सम्बन्ध, वर्णोच्चार

* प्रो० प्रेमलता शर्मा द्वारा १९६४-६५ में लिखा गया यह लेख एवं इसके अन्त में दी गयी सारणी पाठकों के लिये अतीव महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी है, इसीलिये इसे नवीन हिन्दी संस्करण में सम्मिलित किया गया है, जो सङ्गीत नाटक अकादमी, दिल्ली द्वारा शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है। वह विराट् गन्थ सर्वसुलभ होना कठिन होगा, किन्तु उसका यह परिचय अवश्य ही सबके लिये उपयोगी है अत: यहाँ भी संगृहीत किया जा रहा है। —*ऊर्मिला शर्मी*

और स्वरोच्चार का परिचय, सङ्गीत का मानव एवं सम्पूर्ण प्राणिजगत् पर व्यापक प्रभाव—इतने विषयों का प्रारम्भिक परिचयात्मक स्पर्शमात्र लेखक ने प्रस्तावना में किया है।

इसके बाद लेखक ने सङ्गीतकार के तात्कालिक समाज में निम्न स्थान की और धीरे-धीरे शिष्ट वर्ग में उसके प्रति अनुराग-वृद्धि (उदाहरण के लिये पूना इत्यादि में सङ्गीत-समाजों की स्थापना) की संक्षिप्त चर्चा की है और अपने महाराजा श्री भावसिंहजी बहादुर के उदार आश्रय का उल्लेख किया है। ग्रन्थ-रचना की प्रेरणा उन्होंने ही दी थी क्योंकि उन्हें गतानुगतिक रीति पसन्द नहीं थी। वे अर्वाचीन एवं प्राचीन रीति को मिला कर देश-काल के अनुरूप नवीन रीति की उद्भावना कराने के लिये तत्पर थे। वे स्वयं सङ्गीत के अभ्यासी, ज्ञाता और अच्छे सङ्गीतकारों के आश्रयदाता थे।

नाटक, काव्य और पुराणों में से राजपुत्र और राजकुमारियों के सङ्गीत-ज्ञान के उदाहरण दिये हैं, बाद में धीरे-धीरे विदेशी आक्रमणों के कारण इस विद्या की नष्ट-प्राय: स्थिति, अकबर के समय उसका महत्त्वपूर्ण उत्थान, मुगल साम्राज्य के पतन के साथ-साथ इस विद्या का ह्रास, ब्रिटिश राज्य की स्थापना के काल तक इसका इतना अध:पतन कि समाज में नैतिक पतन के साथ उसका तादात्म्य-सम्बन्ध, कहीं-कहीं पवित्र नीति-मान् भक्त आदिकों में इस विद्या का संसर्ग रहने पर भी इन लोगों की सङ्गीतकार श्रेणी से बाहर रहने की प्रवृत्ति—इत्यादि का संक्षिप्त उल्लेख लेखक ने किया है। यह भी कहा है कि उनके अपने काल में सङ्गीत-विद्या का जन-समाज में जो कुछ भी पुन: आदर जागा है उसका श्रेय नाटक को है। यद्यपि नाटक द्वारा विशुद्ध शास्त्रीय सङ्गीत का प्रचार नहीं हुआ फिर भी सङ्गीत के प्रति रुचि व आदरभाव जगाने में इनका योगदान अवश्य था। लेखक ने यह भी कहा है कि नाटक से सङ्गीत-विद्या अल्पबुद्धि मनुष्यों का मनोरञ्जक साधन बन गई। किन्तु कहीं-कहीं बीच-बीच में सङ्गीत विद्या के शुद्ध मार्ग का अवलम्बन भी उनमें पाया गया और उसी ने विद्वानों का ध्यान सङ्गीत के शुद्ध स्वरूप की ओर खींचा। लेखक ने इस दिशा में तत्कालीन प्रयत्नों के लिये निम्नलिखित सुझाव दिये हैं—

१. प्राचीन ग्रन्थों की खोज करके उन्हें प्रकाशित करना।

२. मुसलमानी तथा पाश्चात्य सङ्गीत-गन्थों का अनुवाद करना।

३. ऊपर लिखे दोनों श्रेणी के ग्रन्थों में समन्वय करना।

४. पूरे भारत के लिये एक उपयोगी नोटेशन-पद्धति की स्थापना (स्वयं उन्होंने एक नोटेशन-पद्धति प्रस्तुत की ही थी)।

५. स्कूलों में सङ्गीत-शिक्षण का प्रवेश कराना और साथ ही इस विद्या के लिये विशेष विद्यालयों की स्थापना करना।

६. देश के भिन्न-भिन्न स्थानों के सङ्गीत-विद्वानों की सभा बुलाकर नवीन सुधारों की योजना करना और अच्छे सङ्गीतवेत्ताओं के ग्रन्थों के प्रकाशन में सहायता करना।

७. स्थान-स्थान पर सङ्गीत-मण्डलों की स्थापना करके नोटेशन की सहायता से प्राचीन गीतों का अभ्यास शुरू करना।

अन्त में लेखक ने अपना वंश-परिचय इस प्रकार दिया है कि—उसका वंश एक शताब्दी से भावनगर राज्य के आश्रय में था।

१. मनसुखराम गायक—महाराजा वखतसिंह जी तथा महाराजा विजयसिंह जी।

२. शिवराम और उनके भाई सूरजराम—महाराजा जसवन्तसिंहजी तथा तखतसिंहजी।

३. स्वयं लेखक तथा सूरजराम के पुत्र विट्ठलदास—महाराजा भावसिंहजी।

लेखक का कथन है कि उनके काका श्री सूरजराम का प्राचीन सङ्गीत-ग्रन्थों में विशेष प्रवेश था।

ग्रन्थकार के परिचय के लिये रविशंकर, महाशंकर जोशी की प्रस्तावना भी उपयोगी है। उसमें ग्रन्थकर्त्ता के अन्य ग्रन्थों का भी उल्लेख है।

ग्रन्थ का विभाजन १६ कलाओं में होने के कारण इसका नाम 'कलाधर (चन्द्रमा) दिया है।

सङ्गीत-कलाधर की द्वितीय आवृत्ति की प्रस्तावना (संक्षिप्त)

(ले० रविशंकर महाशंकर जोशी, प्रो० सामलदास कॉलेज)

ग्रन्थकार के पूर्वज कविता और गीत के निर्माण में विशेष कुशल थे और उन लोगों के कई ग्रन्थ उनके आश्रयदाताओं ने प्रकाशित भी कराये थे।

ग्रन्थकार का जन्म सन् १८६९ में हुआ। शिक्षा में सङ्गीत और साहित्य दोनों का स्थान रहा। अपने बाप-दादाओं की संगृहीत सङ्गीत और काव्य की हस्तलिखित पुस्तकों का परिशीलन बड़े अध्यवसाय से करते थें। युवावस्था में सुदृढ़ देह, प्रभावशाली डीलडौल और मधुरकण्ठ के धनी थे। स्वभाव चिन्तनशील, कुटुम्बप्रेमी, मितभाषी, शान्त और सन्तोषी था।

साहित्य और सङ्गीत का प्रत्यक्ष प्रयोग करने के लिये उन्होंने रंगभूमि का भी स्वयं अनुभव लिया था। 'सङ्गीत-लीलावती' नाटयप्रयोग में उन्होंने सुमतिविलास की भूमिका ली थी जिसकी सभी ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की थी। गायन के शौक के कारण वे उस समय के प्रख्यात दादाभाई ठुण्ठी की उर्दू (नाटक) कम्पनी से भी कुछ दिन सम्बद्ध रहे थे। तत्कालीन नाटकों में सङ्गीत शास्त्रीय दृष्टि से शुद्ध न होने का उन्हें दुःख था। बम्बई में रहते समय गुणियों को सुनने-सुनाने और शास्त्रीय दृष्टि से वाद-विवाद करने का मौका उन्होंने कभी नहीं गँवाया, और वहीं पर जो सिद्धान्त इन्होंने स्थिर किये वही 'सङ्गीत-कलाधर' के बीज बने।

नाटक का सहवास थोड़े समय में ही उन्हें छोड़ देना पड़ा क्योंकि पिता के स्वर्गवास के बाद उन्हें वंशपरम्परागत गायक का पद संभालना पड़ा।

भावनगर में लौट कर उन्होंने निर्णय किया कि नाटक खेलने की अपेक्षा गीत बाँधना, नाटक लिखना, काव्य बनाना और अपने पिता से भी कुछ अपूर्व कर दिखाना अच्छा होगा।

सङ्गीत-ग्रन्थों के अलावा उन्होंने स्वतन्त्र काव्य, गेय गीत, आख्यान, नाटक और स्वर्गीय श्री मणिशंकर रत्न जी भट्ट के साथ मिलकर नाटक और काव्य भी लिखे थे।

हिन्दुस्तानी सङ्गीत के लिये नोटेशन पद्धति की आवश्यकता, स्वर की तारता-तीव्रता-गुण का वैज्ञानिक रहस्य, ध्वनि के साथ वायु का सम्बन्ध इत्यादि प्रश्न उनके दिमाग में चक्कर काटते ही रहते थे। इसी समय सामलदास कॉलेज के प्रिंसिपल श्री जमशेद जी नवरोजी उनवाला से इनका समागम हुआ। उनसे English notation का ज्ञान मिला और अंग्रेजी भाषा का अभ्यास इनके सहवास में बढ़ाया, साथ ही शेख मुहम्मद इस्फानी पर्शियन प्रोफेसर, सामलदास कॉलेज से फारसी का अभ्यास भी बढ़ाया। और अन्त में एक एकान्त स्थान में तम्बूरा और पुस्तकों-मात्र को संगी बना कर 16 साल की तपस्या से यह ग्रन्थ लिख कर पूरा किया। ग्रन्थ भावनगर के दरबारी छापाखाने में छप कर 1901 में प्रकाशित हुआ। ग्रन्थ के पूरे लेखनकाल में और प्रकाशन में महाराजा भावसिंह जी की प्रेरणा और उत्साह-संवर्धना सदैव प्राप्त रही। ग्रन्थ के प्रकाशन के बाद ग्रन्थकार परिश्रम के आधिक्य से बहुत अस्वस्थ हो गये। महाराजा भावसिंह जी की उदार प्रेरणा से विशेष चिकित्सा के फलस्वरूप पुनः स्वस्थ हुए।

अन्त में महाराजा भावसिंह जी के स्वर्गवास के बाद प्रबल मानसिक आघात के कारण जीवन से विरक्त हो गये और स्वास्थ्य गिरने लगा। अन्त में संवत् १९८१ (सन् १९२४) में आपका स्वर्गवास हो गया।

२. ग्रन्थ की विषयवस्तु का संक्षिप्त परिचय

प्रथम कला— इंग्लिश म्यूज़िक सार-वर्णन

प्रकरण १. ध्वनि क्या है ? यह समझाने के लिये आन्दोलन का अनेक उदाहरणों द्वारा स्पष्टीकरण।

ध्वनि का वाहक माध्यम, वायु की घनता पर ध्वनि की तीव्रता की निर्भरता, हवा के अतिरिक्त तरल व ठोस पदार्थों की ध्वनिवाहकता, गर्मी का ध्वनि की तीव्रता पर प्रभाव।

प्रकरण २. हवा में ध्वनि की गति का वर्णन, अर्थात् ध्वनि तरङ्ग का निरूपण सोदाहरण।

प्रकरण ३. ध्वनि-तरङ्ग, ध्वनि की तारता, प्रकाशत्व (Amplitude) (तीव्रता और मन्दता) तथा विशेष गुण (Quality)।

प्रकरण ४. सङ्गीतोपयोगी ध्वनि कैसे उत्पन्न होती है।

प्रकरण ५. तार की लम्बाई, तनाव और घनता के साथ ध्वनि का सम्बन्ध।

प्रकरण ६. सङ्गीतोपयोगी ध्वनि की उत्पत्ति, (चालू) nodes का वर्णन, organ pipe, closed pipe, open pipe. संवाद-विवाद का वैज्ञानिक स्पष्टीकरण। सङ्गीत-सप्तक रचना तथा स्टाफ़ नोटेशन का प्रारम्भिक परिचय।

द्वितीय कला— इंग्लिश म्यूज़िक

प्रकरण १. मानव शरीर का ध्वनि-उत्पादक यन्त्र तथा श्रवणेन्द्रिय की रचना।

प्रकरण २. नोटेशन, स्टाफ़नोटेशन का विस्तृत परिचय, मेट्रोनोम के अनुसार लय विभाग, अंग्रेज़ी के प्रायः ३० गीतों का देशी नोटेशन (Solfa notation के साथ)।

तृतीय कला— आर्य-सङ्गीत-वर्णन

प्रकरण १. 'सङ्गीत' के तीन अङ्ग—गीत, वाद्य, नृत्य।

सङ्गीत के दो भेद— १. सङ्गीत कला (सङ्गीतशास्त्र के नियमानुसार स्वयं गीत-वाद्य-नृत्य करना) २. सङ्गीत विद्या (सङ्गीतशास्त्र के नियमानुसार हर किसी चीज़ को गाने बजाने योग्य करना अर्थात् नोटेशन बद्ध करना) सङ्गीतोत्पत्ति का यावनी मत।

प्रकरण २. नायकों का वर्णन (नायक अर्थात् वाग्गेयकार के लक्षणों का अल्प परिचय, देववर्ग के नायक, मनुष्य वर्ग के नायक, इतालियन नायक। इसके बाद भारतीय नायकों का अल्प जीवन परिचय—१. गोपाल, २. बैजू, ३. बख्शु, ४. अमीर खुसरो, ५. तानसेन, ६. तानतरंगखाँ, ७. लालखाँ, ८. सुमानखाँ, ९. सूरजखाँ और चाँद खाँ, १०. स्वामी हरिदास जी, ११. सदारंग, १२. अदारंग; तथा सङ्गीत के ३ अङ्गों में से गायन की प्रधानता।

चतुर्थ कला— आर्य-सङ्गीत-वर्णन

प्रकरण १. प्रणव से शब्दमात्र की उत्पत्ति—ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक शब्द—सङ्गीतोपयोगी नाद और शोर में अन्तर—सप्तस्वर—पशु पक्षियों के नादों में सप्तस्वरों का प्रतिनिधित्व—मावन शरीर में सप्तस्वरों का स्थान—स्वरों के रङ्ग, ग्रह, अधिष्ठाता देव—छन्द-रस-गुणागुण- ऋतु-विधि-निषेध;—इन विषयों का परम्परागत वर्णन है। इसके बाद स्वरावकाश यानि अन्तराल के विषय में जो कुछ लिखा है वह Temperd scale से प्रभावित मालूम पड़ता है क्योंकि सा रे और रे ग अन्तराल को एक-सा बताया है। पश्चात् तीन सप्तक आरोह-अवरोह-क्रम का संक्षिप्त उल्लेख है।

प्रकरण २. स्वरों में मित्र-शत्रु-सम्बन्ध, वादी-संवादी-अनुवादी और विवादी का वर्णन, राग-लक्षण के अनुसार किया है। संवादी के प्रसङ्ग में नवश्रुति तथा तेरह श्रुति के अन्तर का भी भरत के नाम से उल्लेख है। इसके बाद ग्रह, न्यास, लाग-डाट उरप-तुरप का भी लक्षण दिया है। इसके बाद दशविध गमक के निम्नलिखित भेदों के लक्षण दिये हैं। १. गमक, २. डाल, ३. जमजमा, ४. स्फुरित, ५. गिट कटि, ६. कम्पित, ७. प्रत्याहत, ८. त्रिपुच्छा अथवा मसक, ९. आन्दोलन और १०. मूर्च्छना। इनमें से मूर्च्छना का अर्थ शास्त्रीय अर्थ से बिल्कुल भिन्न बताया गया है। इस प्रसङ्ग में यह स्मरणीय है कि बंगाल में आज भी मूर्च्छना का अर्थ एक

कम्प-विशेष ही लिया जाता है। यहाँ पर ग्रन्थकार ने मूर्च्छना का अर्थ एक स्वर से दूसरे स्वर में जाते समय बीच की मींड से लिया लगता है। किन्तु साथ ही मन्द्रसप्तक की मूर्च्छनाएँ कहकर षड्जग्राम की, मध्य सप्तक की कहकर मध्यमग्राम की और तार सप्तक की कह कर गान्धारग्राम की मूर्च्छनाओं के नाम भी दे दिये हैं। यद्यपि ग्राम का यहाँ नाम भी नहीं लिया गया है। इन २१ मूर्च्छनाओं का लेखक की व्याख्या के साथ क्या सम्बन्ध हो सकता है यह स्वयं उन्होंने स्पष्ट नहीं किया है।

ग्राम—ग्राम के ३ अर्थ दिये हैं—१. गाँव, २. विश्राम, ३. समूह। ग्रामों के नामों के बारे में कुछ मतभेद दिये हैं—

(१) १. षड्जग्राम, २. मध्यमग्राम, ३. निषादग्राम,

(२) स प स

(३) स म स

(४) १. षड्जग्राम, २. मध्यमग्राम, ३. गान्धारग्राम।

(५) १. '' 2. '' ३. ×

(६) १. नन्द्यावर्त, २. जीमूत, ३. अवसान अथवा सुभद्र।

लेखक का कहना है कि कोई लोग ३ सप्तकों को ही ३ ग्राम मानते हैं।

सितार पर यदि केवल ३ तारों की कल्पना की जाय (जैसा कि सह-तार के नाम से माना जाता है) तो पहले तार को छठे पर्दे पर दबाने से षड्ज बोलेगा दूसरे तार को ९ वें पर दबने से षड्ज बोलेगा (यहाँ गान्धार का केवल एक ही पर्दा माना गया है) और तीसरे तार को चौथे पर्दे पर दबाने से षड्ज बोलेगा। पहला तार मध्यम में, दूसरा षड्ज में और तीसरा पंचम में मिला है। पहली तार से स ग्राम, दूसरी से म ग्राम और तीसरी से नि ग्राम। इसलिये समझ सकते हैं कि पहली तार के नीचे जहाँ हमने स बाँधा है, दूसरी तार के नीचे उसके म पर और तीसरी तार के नीचे उसके नि पर स आता है।

ग्राम शब्द का अर्थ गाँव लिया जाय तो जैसे एक गाँव से दूसरे गाँव को जाना हो तो बीच में विश्राम की जगह भी चाहिये वैसे ही स्वरों में पहले स्वर 'स' से अन्तिम स्वर नि तक जाने के लिये मध्य में मध्यम स्वर विश्राम स्थान है। इसलिये भी स म और नि ये ग्राम ३ माने जा सकते हैं।

लेखक का कहना है कि ग्राम की ये व्याख्यायें विशुद्ध शास्त्रीय दृष्टि से भले ही महत्त्व न रखें किन्तु इनका इतना मूल्य तो है ही कि ये तत्कालीन विचारधाराओं की प्रतिनिधि हैं। शुद्ध स्वर-सप्तक को षड्जग्राम, कोमल स्वरों वाले सप्तक को मध्यमग्राम और अति कोमल स्वरों वाले सप्तक को गान्धार ग्राम कहते हैं। अति कोमल स्वर गाने में कठिन होते हैं इसीलिये गान्धार ग्राम को मर्त्यलोक में गेय नहीं माना जाता।

स ग्राम के म से म ग्राम और म ग्राम के म से यानि स ग्राम के नि से नि ग्राम भी लेखक ने दिखाया है।

पञ्चम कला— स्वर-भेद-वर्णन

प्रकरण १. अचल स्वरों (स प) को स्थायी और चल स्वरों (रि ग म ध नि) को सञ्चारी कहा है। सञ्चारी स्वरों में कोमल, तीव्र और अति कोमल, तीव्रतर संज्ञायें बताई हैं।

श्रुतिविचार—७ स्वरों के बीच में जो विभाग हैं अथवा जिसका श्रवण होने से स्वरभेद का अनुमान हो, वह श्रुति है। श्रुतियों का स्वर में विभाजन षड्जग्राम की व्यवस्थानुसार ग्राम का नाम लिये बिना दिया है। एक कोष्ठक में यह विभाजन श्रुतिनाम और श्रुतिजाति के निर्देश-सहित दिया है।

श्रुति के बारे में लेखक ने एक और मत यह दिया है कि एक ही स्वर को ध्वनिभेद से सुनना उसकी श्रुति है, यानी स्वर की शुद्ध विकृत अवस्था। कर्नाटक देश में शुद्ध विकृत स्वर १६ हैं ऐसा लेखक ने कहा है, किन्तु इन 16 का जो स्वरूप वर्णन किया है, वह कर्णाटकी स्वरों के अनुरूप नहीं है। उत्तर हिन्दुस्तान में १२ श्रुति मानी हैं।

इसके बाद विकृत स्वरों के १२ नाम, जिनमें बहुत से बिल्कुल नवीन लगते हैं, व्याख्यासहित दिये हैं।

स्वरसंयोग—इसमें Hormony का सरलतम स्वरूप दिखाया है। अलङ्कार का अतिसंक्षिप्त लक्षण है। आलाप और उसके 4 संञ्चारों का संक्षिप्त वर्णन है।

प्रकरण २. **तान प्रकार**—१ से अधिक स्वरों का त्वरा से आरोहण तान है और अवरोहण पलटा है। दोनों को तान भी कह सकते हैं। नाभि से नाद तान, वक्षःस्थल से कुमकतान, कण्ठ से कण्ठतान और मगज से बन्दतान बताई है।

स्वरभेद से तानों के आर्चिक गाथिक सामिक आदि नाम भी दिये हैं।

४९ कोटि तानों का अर्थ दिया है सात सप्तक। जिनका प्रयोग मनुष्य-कण्ठ से असम्भव है।

तानप्रस्तार—इसमें १ स्वर का १, दो के २, ३, ४ के २४, ५ के १२०, ६ के ७२० और ७ के ५०४२ प्रस्तार गिनाये हैं। और सभी को सोदाहरण दिखाया है।

इसके बाद खण्डमेरु पर नष्टोद्दिष्ट विधि भी बताई है। यह बड़े स्पष्ट और सुलझे हुए ढंग से बताई है।

प्रकरण ३. **गायक-गुण-दोष**—गायक के १६ शृङ्गार, गायक जाति, गायन-प्रकार (इसमें ४ बानियों और अतिरिक्त २ बानियों का बहुत संक्षिप्त उल्लेख है।)

राग-जाति (औडव षाडव सम्पूर्ण) और सात अन्य जातियाँ और उनका विवरण सुस्पष्ट है।

षष्ठी कला— सविस्तार रागोत्पत्ति-वर्णन

प्रकरण १. रागों की पौराणिक संख्या १६००० और तालों की ३६० का उल्लेख करके राग-रागिणी संख्या के वर्तमान ४ मत बताये हैं—महादेव मत, श्रीकृष्णमत, भरतमत और हनुमन्त मत। यह भी कहा है कि वर्तमान काल में हनुमन्तमत प्रचलित है। इन मतों के अनुसार राग-रागिणी-तालिकाओं का मूल-सन्दर्भ ग्रन्थकार ने नहीं दिया है। किन्तु फिर भी शिवमत और हनुमन्त मत इन दो के अनुसार रागों और रागिणियों की नामावली बहुत कुछ सङ्गीतदर्पण के अनुसार पायी जाती है। किन्तु रागपुत्रों और पुत्रवधुओं के नाम तो सङ्गीतदर्पण में प्राप्त नहीं हैं इसलिये ग्रन्थकार का मूलस्रोत कुछ अन्य होना चाहिये। रागकल्पद्रुम देखकर इन तालिकाओं का स्रोत पता लगाना होगा। रागों और रागिणियों के ही रूप-ध्यान दिये हैं, पुत्र-परिवारों के नहीं। एक ही नाम भार्याओं और पुत्रवधुओं में पुनरक्त होने का कारण लेखक ने कल्पित किया है।

इन प्रथम प्रकरण में केवल हनुमन्त मत के अनुसार तालिका है और उसमें से केवल भैरव राग का सपरिवार वर्णन है। दूसरे प्रकरण में राग मालकोश, तीसरे में राग हिन्दोल, चौथे में राग दीपक, पाँचवें में

श्रीराग और छठे में मेघ राग का सपरिवार वर्णन हैं। ७वें प्रकरण में हनुमत् मत के अनुसार ६ रागों में से प्रत्येक की ५-५ पुत्रियों के भी नाम गिनाये हैं। इस प्रकार ६ राग ३० रागिणी ४८ पुत्र तथा ४८ पुत्रवधुओं के वर्णन के उपरान्त भी जो प्रचलित राग बच जाते हैं उनके अलग से संक्षिप्त वर्णन किये हैं, इनकी संख्या ४६ है। ये राग पुत्र भार्या बिना के हैं इसलिये लेखक ने इन्हें धुन कहा है।

इस कला के इस अन्तिम प्रकरण के अन्त में स्थायी-अन्तरा-आभोग इन तीन गीत-खण्डों के संक्षिप्त लक्षण दिये हैं। सरगम, तिराना, चतुरंग, ठुमरी, ध्रुपद और सम—इनके संक्षिप्त लक्षण दिये गये हैं।

सप्तमी कला— राग-मतान्तर-भेद-वर्णन

प्रकरण १. इसमें शिव मत, भरत मत के अनुसार रागों के बहुत संक्षिप्त वर्णन दिये हैं—केवल मुख्य रागों के ही मत में रागिणियों के केवल नामोल्लेख हैं और पुत्र हनुमत् मत के अनुसार समझें ऐसा कहा है। इस मत के अधिष्ठाता श्री महादेव को सर्वोपरि सङ्गीत-पारङ्गत बताकर उनके मत से गाने के ढंग को सबसे उत्तम, कठिन और पुरातन कहा है। इसमें आलापचारी की प्रधानता कही है, जैसे ध्रुपद में।

प्रकरण २. कृष्णमत अथवा कालिनाथ मत के अधिष्ठाता श्रीकृष्ण को बताया है और उनके मत में ठुमरी, दादरा, गरबी इत्यादि रसिक और कर्णमधुर गायन-शैलियों को लिया है। इसमें भी शिवमत के अनुसार ही मुख्य ६ राग हैं केवल रागिणियों में ही कहीं-कहीं अन्तर है। और ८-८ पुत्रों का नामोल्लेख स्वतन्त्र किया गया है।

प्रकरण ३. भरतमत में भजन-कीर्तन आदि सरल सङ्गीत का स्थान कहा गया है। इस मत में राग-रागिणी-पुत्र-भार्या वगैरह सब हनुमत् मत के अनुसार ही कहे हैं।

राग-रागिणी-सम्बन्धी मतों का गायन-शैलियों से अथवा स्तर-भेद से सम्बन्ध जोड़ने की कल्पना सर्वथा नवीन है। यह भी ध्यान देने की बात है कि राग-रागिणियों की तालिका तो मुख्य दो ही हैं, जिन का आधार सङ्गीत-दर्पण है (हनुमत् मत और शिवमत)।

प्रकरण ४. सङ्गीत के विषय में ईरानी मत का वर्णन—इस प्रकरण में १२ मुकाम जिनका सम्बन्ध आसमान के १२ बुर्जों या राशियों से माना गया है—का वर्णन है। इन मुकामों का असर समय, मुकानों में १४ शोअबा को रागिणियों के समकक्ष तथा ६ नुगुमा जिन्हें रागों के समकक्ष माना है और प्रत्येक मुकाम के ४-४ गोशा जो राग-पुत्रों के समकक्ष कहे हैं—वर्णित हैं। साथ ही इन सबके स्वररूप के साथ भारतीय रागों की तुलना भी कर बताई है और अन्त में ईरानी पद्धति के १७ तालों के नाम गिनाये हैं।

प्रकरण ५. भारतीय सङ्गीत के १०५ प्रचलित रागों में लगने वाले कोमल तीव्र स्वरों, प्रयोग समय और जाति का एक कोष्ठक इस प्रकरण में दिया है।

अष्टमी कला— तालोत्पत्ति-वर्णन

प्रकरण 1. सङ्गीत में ताल की अनिवार्यता, ताल का लक्षण, उसकी उत्पत्ति के विषय में पौराणिक मत—१. शिव पार्वती के नृत्य में से, २. समुद्र मन्थन में से अमृत निकलने के बाद देव और दानवों का अमृतपान की लालसा से जो नृत्य हुआ उसमें से—देवों के नृत्य में से सम गतिवाले ताल (२, ४, ८ मात्रा वाले) और दानवों के नृत्य में से विषमगति वाले ताल, ३. श्रीकृष्ण के कालियनाग के फणों पर किये गये नृत्य में से निकले।

प्राचीन समय में ३६० जाति के ताल प्रचलित थे, किन्तु आज हिन्दुस्तानी सङ्गीत में बहुत कम ताल प्रचलित हैं, कर्णाटक सङ्गीत में आज भी तालों का विशेष परिचय है ऐसा लेखक का कथन है।

तालस्वरूप—मात्रा का दूसरा नाम कला कह कर ताल के लय अथवा मार्ग पर से मात्रा का लघु, गुरु अथवा द्रुत परिमाण से गिना जाना बताया है (तुलनीय पं० विष्णु दिगंबरजी द्वारा प्रचलित मात्रा-गणन-पद्धति)

ताल-अङ्ग—प्रत्येक ताल के अन्तर्गत १० वस्तुएँ हैं जिन्हें अङ्ग कहते हैं। ताल के दश अङ्गों का काफ़ी विस्तृत वर्णन है। (पृ० १६०-६६) अन्तिम अङ्ग ताल-प्रस्तार का तो सोदाहरण १० पृष्ठों में वर्णन दिया है। (१६७-१७६)

प्रकरण २. ताल खण्डमेरु और नष्टोद्दिष्ट विधि बड़ी सरल रीति से समझाये हैं।

प्रकरण ३. **वाद्य जाति**—तत, आनद्ध (वितत), सुषिर और घन-वाद्यों की इन चार श्रेणियों का संक्षिप्त वर्णन और ताल का प्रकरण होने से आनद्ध वाद्यों का कुछ विशेष वर्णन। इसमें मृदङ्ग को ही प्रधानता दी है, पर मृदङ्ग से पखावज का बाज पृथक् होने की जो घटना लिखी हैं उससे यह पार्थक्य पूरा स्पष्ट नहीं हो पाता। कुछ प्रमुख पखावज-वादकों के नाम दिये हैं और फिर पखावज के पाँच अक्षरों की वादन-विधि बताई है। अन्त में कोटडा (ठेका), तोड़ा, मुँहड़ा और परन के संक्षिप्त लक्षण दिये हैं। फिर पखावज सीखने वालों के लिये कुछ आवश्यक सुझाव हैं।

नवमी कला— ताल-निरूपण*—इस कला में १४३ तालों की नोटेशन (चक्राकार में) ठेके सहित, और अधिकांश तालों में टुकड़े मोहरे परन आदि सहित दिये हैं। ताल के लिये चक्राकार नोटेशन की कल्पना बहुत ही उचित है। यह पद्धति केवल ठेके बताने के लिये ही अपनाई गई, परन आदि सीधी लिख दी गई हैं। कला के अन्त में लेखक ने कहा है कि प्रस्तार के अनुसार ताल तो अनन्त हैं किन्तु जो भी उन्हें शोध में मिलीं, उन सबका उन्होंने उल्लेख किया है। लेखक की ऐसी इच्छा थी कि सभी तालों के गीत भी ग्रन्थ में दिये जायँ किन्तु समयाभाव से, अवकाशाभाव से वह सम्भव नहीं हो सका। यदि कोई जिज्ञासु पाठक किसी ताल का गीत सुनने की इच्छा रखेंगे तो लेखक उस इच्छा को अवश्य पूरी करेंगे, ऐसा लिखा है। अर्थात् उनके पास सभी तालों के गीत भी रहे होंगे, जो उनके साथ चले गये।

दशमी कला— प्रसिद्ध वाद्य वर्णन

प्रकरण १. तत जाति के वाद्यों में से प्रधानता बताकर उसकी प्रशंसा में सोमनाथ का श्लोक 'शम्भुर्दण्डो' इत्यादि उद्धृत करके स्वयं लेखक का बनाया हुआ हिन्दी कवित्त और गुजराती दोहे (३) दिये हैं।

वाणी की चार जातियाँ हैं—१. नारदी, २. ब्राह्मी, ३. रौद्री, ४. शारदी। नारदी वीणा आधुनिक तम्बूरा है। जिसका खासा वर्णन किया है। ब्राह्मी वीणा को स्वर-मण्डल बताया है। रौद्री वीणा—लेखक का कहना है कि रवि वर्मा के चित्रों में सरस्वती की छवि में हाथ में जो वीणा दी गई है उसे कुछ लोग रौद्री वीणा कहते हैं, और कुछ लोग सारङ्गी को भी रौद्री वीणा कहते हैं, इतना कहकर सारङ्गी का साङ्गोपाङ्ग वर्णन दिया है। शारदी वीणा—इसे बीन कहा है—दो तुम्बे वाली जिसकी डण्डी बाँस अथवा लकड़ी की होती है। इसका भी साङ्गोपाङ्ग वर्णन दिया है।

प्रकरण २. **सितार वर्णन**—सितार का आविष्कारक अमीर खुसरो को बताकर सितार मिलाने की पद्धति, सितार के बोल, २ प्रकार के बाज (मसीतखानी, रजा खानी) गत का संक्षिप्त वर्णन किया है। इसके बाद पदों के नाप स्वरों के गुणोत्तर प्रमाण के अनुसार (जैसे पञ्चम का २/३) दिये हैं। फिर ठाठ का वर्णन किया है और अन्त में सितार की स्वर-लेखन-पद्धति के चिन्हों का परिचय दिया है।

---

* इस पर श्र० बहिनजी द्वारा किया गया सारणीरूप विवेचन इस लेख के अन्त में दिया जा रहा है। —*ऊर्मिला शर्मा*

प्रकरण ३. अलङ्कार—प्रसन्नादि सात स्थायी अलङ्कार और उन सातों के आरोह, अवरोह फिर १२ अन्य आरोही अलङ्कार और उनके अवरोह, फिर २६ सञ्चारी अलङ्कार और उनके अवरोह, इनके अतिरिक्त १२ गीतोपयोगी अलङ्कार और दिये हैं (इन अलङ्कार नामों और स्वरूपों की प्राचीन ग्रन्थोक्त नामों से तुलना कर लेनी होगी)।

एकादशी कला—सितार गति दर्शन

प्रकरण १. शुद्ध ठाठ में ५५ गतें एक-एक तोड़े सहित।

प्रकरण २. तिलंग ठाठ में ४ गतें एक-एक तोड़े सहित।

प्रकरण ३. ठाठ देशखमाज १३ गतें एक-एक तोड़े सहित।

प्रकरण ४. ठाठ काफी २६ गतें एक-एक तोड़े सहित।

प्रकरण ५. ठाठ पीलू ३ गतें एक-एक तोड़े सहित।

प्रकरण ६. ठाठ सिंध भैरवी ३ गतें एक-एक तोड़े सहित।

प्रकरण ७. ठाठ भैरवी ९ गतें एक-एक तोड़े सहित।

प्रकरण ८. ठाठ तोड़ी ५ गतें एक-एक तोड़े सहित।

प्रकरण ९. ठाठ भैरवी २५ गतें एक-एक तोड़े सहित।

द्वादशी कला— लेखनविधि-चिह्न-दर्शन एवं राग-स्वर-स्वरूप-दर्शन

लेखक द्वारा अपनाई गई नोटेशन पद्धति का परिचय और तालबद्ध १० अलङ्कार नोटेशन सहित। इसके बाद निम्न रागों में तालबद्ध सरगम में स्थायी अन्तरा आभोग सहित—१. भैरव, २. विभास, ३. भैरवी, ४. तोडी, ५. ललित, ६. तिलंग, ७. जौनपुरी, ८. बिलावल, ९. सारंग, १०. गौड़ सारंग, भीमपलास, ११. मुलतानी, १२. पूर्वी, १३. काफी, १४. पीलु, १५. झिंझोटी, १६. पूरिया, १७. मारवा, १८. मालश्री, १९. हिंडोल, २०. गौरी, २१. श्री, २२. इमन कल्याण, २३. भूपाली, २४. हमीर कल्याण, २५. केदारा, २६. दरबारी कानड़ा, २७. बागेसर कान्हड़ा, २८. जयजयवंती, २९. देश, ३०. खमाज, ३१. बिहाग, ३२. परज, ३३. मालकोश, ३४. मल्हार (ये सरगमें रागों के स्वरूप की खोज करने वालों के लिये बहुत उपयोगी हैं)।

त्रयोदशी कला—लेखनविधि-पूर्वक विविध-गीत-दर्शन

इस कला में ५ प्रकरणों में अनेक रागों और अनेक तालों में बद्ध बहुसंख्यक गीत नोटेशन-सहित दिये हैं।

चतुर्दशी कला—लेखनविधि-पूर्वक विविध-गीत-दर्शन

इसमें भी १३वीं कला की भाँति ही अनेक रागों तथा तालों में अनेक गीत हैं। इन दोनों कलाओं में विभाजन किस आधार पर किया गया है यह स्पष्ट नहीं है। ४ प्रकरण हैं जिसमें तीसरा ठुमरी का है।

पञ्चदशी कला—लेखन-विधि-पूर्वक विविध-गीत-दर्शन

प्रकरण १. गीतगोविन्द की १५ अष्टपदियाँ नोटेशन सहित दी हैं।

प्रकरण २. रागमाला, नये-नये तालों के गायन।

षोडशी कला— नृत्य-वर्णन तथा सङ्गीत-सम्बन्धी विशेष-विचार-वर्णन

प्रकरण १. नृत्य के ताण्डव और लास्य भेद, तीसरा भेद त्रिभङ्गी, जिसके प्रवर्तक श्री कृष्ण हैं। नृत्य, नृत्त और नाट्य का भेद— इन सबका बहुत संक्षिप्त परिचय देकर फिर 'परमलु' के बोल, नृत्याङ्ग (इसमें भी उरप तुरिप लाग-डाट है) रङ्गभूमि, नृत्य की गतों के भेद जैसे सलामी की गत, मुकुट की गत आदि, भाव, नाचने की रीति, 16 प्रकार की गत (सब कत्थक शैली के अनुसार है) लक्षणों सहित दिये हैं, और अन्त में नृत्य के कुछ बोल, तोड़े, 'परमलु' दिये हैं।

प्रकरण २. काँस्य ताल यानी मंजीरा का परिचय, इस पर कुछ तालों के बोल।

प्रकरण ३. सारंगी, ताऊस, दिलरुबा की ५ गतें (लहरे)।

प्रकरण ४. सङ्गीत सम्बन्धी विशेष विचार (जे० एस० करवेन के ग्रन्थ के आधार पर) सङ्गीतोपयोगी नाद की नियमितता, तीव्रता, तारता और गुण, आन्दोलन की संख्या, विस्तार और उत्पाद के माध्यम, ध्वनि तरंग, हारमोनियम के टेम्पर्ड स्केल के अनुसार स्वरों का अन्तराल-वर्णन, राग, राग-लक्षण, ताल-इत्यादि का बहुत संक्षिप्त उल्लेख। इसके बाद एक बड़ा कोष्ठक दिया है, जिसमें natural scale, क्रॉमेटिक स्केल, देशी स्केल, तार की लम्बाई का प्रमाण ये सब आमने-सामने गुणोत्तर प्रमाण सहित दिखाये हैं। यह कोष्ठक ४ पृष्ठों में पूरा होता है, और बाद में इसका स्पष्टीकरण भी १ पृष्ठ में दिया है।

इन सब स्केलों और ग्रामों का पुनः जो विवरण दिया है उसका विवेचन करना होगा।[१]

सङ्गीतकलाधर पर सम्मतियाँ—१. धांगध्रा के राजा साहब। २. C. Mayne, प्रिंसिपल राजकुमार कॉलेज राजकोट (लेखक के शिक्षण-कौशल की प्रशंसा) B. M. A. Turkhud, Educational Inspecter, गोण्डल।

समाचार पत्र—१. क़ैसरे हिन्द, २. अखबारे सौदागर, ३. मुम्बई समाचार, ४. ज्ञानवर्धक, ५. विश्वदर्शन, ६. मासिक मजाह, ७. रास्त गोफ्तार तथा ८. सत्यप्रकाश।

सभी अध्याय महत्त्वपूर्ण हैं; इनमें भी नवमी कला में जो ताल-निरूपण है वह अतीव ध्यानपूर्वक मनन करने योग्य है; यह अतीव दुष्कर कार्य लेखक ने चक्राकार चित्रों एवं सीधी सारणियों में सुगम बनाकर रख दिया है। प्रायः[२] एक शताब्दी पहले 'प्रेस' की प्रारम्भिक स्थितियों में भी ग्रन्थकर्त्ता के चित्त के अनुरूप 'प्रेस' ने जो कार्य कर दिखाया वह कौतुकास्पद है, जबकि आज की सुविकसित सुविधाओं में भी इसे पुनर्मुद्रित करने में 'प्रेस' को अतिशय कठिनाई झेलनी पड़ सकती है। उस विस्तार को पाठकों की सुविधा के लिए मैंने कुछ विशेषोल्लेखों-सहित एक सारणी में रख दिया है, जो इसी लेख के बाद दी जा रही है।

यदि इस ग्रन्थ का पुनर्मुद्रण कराना सम्भव हो सका तो वह सङ्गीत के इतिहास को सुरक्षित रखने की दिशा में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कदम होगा, साथ ही प्रकाशन-संस्था के लिए गौरवप्रद होगा। मेरी दृष्टि से यह कार्य सङ्गीत नाटक अकादमी, नयी दिल्ली के द्वारा हो तो स्वयं अकादमी तथा इस ग्रन्थ की गरिमा के अनुरूप होगा।[३]

प्रेमलता शर्मा

*

१. यह विवेचन इस प्रकाशन के समय पूज्या 'बहिनजी' स्वयं करने वाली थीं, किन्तु 'अवसर' न रहा।

२. अब तो एक शताब्दी से अधिक का समय बीत चुका, पहला मुद्रण १८९५-१९०० में हुआ था।

३. १९६६ में पूज्या 'बहिनजी' के चित्त में उठे सङ्कल्प का साकार रूप आज उन्हीं की मनोनीत सङ्गीत-पुनर्नवा-शृंखला योजना में, सङ्गीत नाटक अकादमी, नयी दिल्ली द्वारा ही, उन्हीं के सम्पादकत्व में, किन्तु उनकी सन्देह अनुपस्थिति में हो रहा है, इससे हम सब का चित्त हर्ष-शोकान्वित 'शबल' स्थिति में है। —ऊर्मिला शर्मा

इस महामहिम ग्रन्थ को प्रस्तुत रूप में जिज्ञासु-रसिक पाठकों के सम्मुख लाने का श्रेय (१) राष्ट्रीय-सङ्गीत नाटक अकादमी नई दिल्ली, (२) श्रद्धेया बहिनजी के आशीष, प्रेरणा और वर्तमान कार्यवाहकों में अनुस्यूत दृष्टि (३) श्र० बहिनजी के प्रति सम्मान एवं उनके सौंपे कार्य को भाव-भरे मनोयोग सहित कुशलता से सम्पन्न करने में सक्षम 'विश्वविद्यालय प्रकाशन' के समस्त परिवार को है। मेरी अपनी अक्षमता के कारण जो त्रुटियाँ रह गयी हों, उनके लिये सुधी-जनों से क्षमा चाहती हूँ और जो प्रभु ''सर्वभूतानां हृद्देशे तिष्ठति'' उन्हीं को इन सब में अनुभव करती हुई सविनय प्रणाम निवेदित करती हूँ—

ऊर्मिला शर्मा
(पूज्या बहिनजी की कार्यवाहिनी छाया)
महाशिवरात्रि, वि०सं०२०५७, ४ मार्च, २०००

'आम्नाय', २०९/१, धर्मजित् नगर,
करौंदी, वाराणसी-२२१००५

'सङ्गीत-कलाधर' में उल्लिखित ताल : एक दृष्टि में

संख्या	नाम	जाति	मात्रा	स्थान	रूप	विशेषोल्लेख
१.	श्री	×	२	१-१	२/२	वास्तव में यहाँ स्थान १ ही होना चाहिए क्योंकि पहली मात्रा पर ताली है और दूसरी मात्रा पर खाली है।
२.	एकताल (जलद दादरा)	तिस्र	३	१	३/३	हाथ को दायें बायें ले जाने का उल्लेख है।
३.	एकताल (लावणी)	चतुस्र	४	१	४/४	हाथ को बायें दायें और ऊपर ले जाने का उल्लेख है।
४.	एकताल	खण्ड	५	१	५/५	इसे सूलफाक का आधाभाग बतलाया है। सूलताल के अतिद्रुत रूप में यही बनेगा, ऐसा कहा है।
५.	रूपक (१)	तिस्र	५	१-३	५/२-३	खाली नहीं।
६.	द्विताल (दादरा)	तिस्र	६	१-४	६/३-३	इसमें दोनों विभाग ३-३ मात्रा के हो गए और दोनों पर ताली हैं तो छः मात्रा का चक्र कैसे बनेगा?
७.	एकताल (हींच)	दिव्य सङ्कीर्ण	६	१-४	६/६	४ पर खाली है।
८.	शङ्ख	चतुस्र	६	१-५	६/४-२	
९.	पिश्तो (गज़ल)	तिस्र	७	१-४-६	७/३-२-२	यहाँ 'एक' पर खाली दिखाया है और '४' व '६' पर ताली है। यह आज के रूपक सदृश है। शायद पहले ही स्थान पर खाली रहने से उसे स्वतन्त्र स्थान दे दिया है। खाली पर सम रखने का पुराना नियम है, ऐसा उल्लेख है।
१०.	लघुशेखर (धमाल)	खण्ड	७ या १४	१-६-११	१४/५-५-४	
११.	झम्पा	चतुस्र	७	१-२-४	७/१-२-४	स्पष्ट है कि आज के झपताल से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।
१२.	लब्धा	चतुस्र	७	१-५	७/४-३	
१३.	अद्धी (जैतमान)	चतुस्र	७ या १४	१-५-१०	१४/४-५-५	यह धमार का उल्टा है-५-५-४ की बजाय ४-५-५।

संख्या	नाम	जाति	मात्रा	स्थान	रूप	विशेषोल्लेख
१४.	त्रिपुट (तीव्रा) (१)	तिस्र	७	१-४-६	७/३-२-२	
१५.	अर्द्धआड़ चौताल	×	७	१-२-४-६	७/१-२-२-२	यहाँ कोई भी अङ्ग ३, ४, ५ आदि मात्रा का नहीं है इसलिए कोई भी जाति नहीं बताई है।
१६.	दीपचंदी (चर्चरी या चाचर)	तिस्र	७ या १४	१-४-८-११	१४४/३-७-४	८ खाली है।
१७.	रूपक (२)	तिस्र	७ या १४	१-७-११	१४/६-४-४	यह रूपक का ही दोगुना है और इसमें भी खाली पर सम है। इसीलिए उसे पृथक् विभाग गिना गया है।
१८.	फरोदस्त	चतुस्र	७ या १४	१-५-९-११-१३	१४/४-४-२-२-२	
१९.	करुणा	चतुस्र	८	१-५	८/८	५ पर खाली है।
२०.	कर्णताल	चतुस्र	८	१-३-५-७	८/२-२-२-२	सभी विभाग एक से हैं। चक्र कैसे बनेगा? शायद हाथ को दायें बायें ले जाकर।
२१.	त्रिपुट (तीव्रा) (२)	चतुस्र	८	१-५-७	८/४-२-२	कर्णाटकीय पद्धति के आदिताल सदृश।
२२.	कवाली	चतुस्र	८	१-३-५-७	८/२-४-२	यह आठ मात्रा का तीन ताल ही है। पाँच पर खाली है।
२३.	जलद त्रिताल (ख्याल)	चतुस्र	८	१-३-७	८/२-४-२	पाँच पर खाली है।
२४.	त्रिताल (चलती)	चतुस्र	८	१-३-७	८/२-४-२	इसमें बहुत अधिक परन इत्यादि दिये हैं।
२५.	कार्वली चतुर्पुट	तिस्र	९	१-४-६-८	९/३-२-२-२	खाली नहीं।
२६.	समताल	चतुस्र	९	१-५-७	९/४-२-३	खाली नहीं।
२७.	निसोरुख	चतुस्र	९	१-५-९	९/४-४-१	
२८.	रूपक (३)	मिश्र	९	१-५-८	९/७-२	पाँच पर खाली है।
२९.	दावानल	दिव्य सङ्कीर्ण	१०	१-७	१०/६-४	खाली नहीं।
३०.	चतुर्ताल	चतुस्र	१०	१-३-५-७	१०/२-२-२-४	खाली नहीं। नाम 'चतुस्ताल' होना चाहिये।
३१.	प्रतिमण्ठ	चतुस्र	१०	१-५-९	१०/४-४-२	खाली नहीं।
३२.	उच्छव	चतुस्र	१०	१-५-७-९	१०/४-२-२-२	खाली नहीं।

संख्या	नाम	जाति	मात्रा	स्थान	रूप	विशेषोल्लेख
३३.	झम्पक	खण्ड	१०	१-३-६-८	१०/२-३-३	खाली को स्वतन्त्र गिन लिया है।
३४.	सूलफाग (सूलफाख्ता)	चतुस्र	१०	१-५-७	१०/४-२-४	खाली नहीं।
३५.	जगपाल	खण्ड	११	१-६-८-१०	११/५-२-२-२	खाली नहीं।
३६.	षष्टिता-पुत्रिकम्	चतुस्र	११	१-५-९-११	११/४-४-२-१	शायद यह नाम 'षट्-पितापुत्रक' होगा, किन्तु उसमें तो बारह मात्राएँ हैं, खाली नहीं।
३७.	भानुमति	चतुस्र	११	१-५-९-१०	११/४-४-१-२	खाली नहीं।
३८.	प्रतिभानुमति	चतुस्र	११	१-५-७-८	११/४-२-१-४	खाली नहीं।
३९.	प्रसिद्ध एकताल	×	१२	१	१२/१२	बारह मात्रा में केवल एक ताल, यहाँ उसके नाम का ही अनुसरण किया गया है।
४०.	हरमुख	चतुस्र	१२	१-५-७-९-११	१२/४-२-२-२-२	
४१.	हंसताल	दिव्य सङ्कीर्ण	१२	१-७	१२/६-६	४ और १० पर खाली दिखाई पर उसे स्थान में नहीं गिना।
४२.	विरञ्जत	चतुस्र	१२	१-३-५-९	१२/२-२-४-४	यह चौताल का ठीक उल्टा है।
४३.	विलोकत	चतुस्र	१२	१-९-११	१२/८-२-२	पाँच पर खाली दिखाई है किन्तु उसे स्थानों में नहीं गिना है।
४४.	मदन	चतुस्र	१२	१-५	१२/४-८	९ पर खाली दिखाई है किन्तु उसे स्थानों में नहीं गिना है।
४५.	मदन (मतान्तर)	चतुस्र	१२	१-३-५	१२/२-२-८	१, ३, ५ पर ताली और ९ पर खाली दिखाई है। स्थान दिखाते समय ५ छूट गया है किन्तु ९ को खाली गिन लिया गया है।
४६.	रति ताल	चतुस्र	१२	१-९	12/8-4	५ पर खाली दिखायी है किन्तु उसे स्थानों में नहीं गिना है।

संख्या	नाम	जाति	मात्रा	स्थान	रूप	विशेषोल्लेख
४७.	खट (षट्) ताल (छक्का)	चतुस्त्र	१२	१-३-५-७-९-११	१२/२-२-२-२-२-२	सभी विभाग समान होने पर चक्र कैसे बनेगा?
४८.	चन्द्र ताल (चौताल या ध्रुवपद)	चतुस्त्र	१२	१-५-९-११	१२/४-४-२-२	इसके चक्र में बारह, चौबीस, अठारह, बत्तीस और अड़तालीस मात्राएँ. बनाकर दिखाई गई हैं। इसमें भी अनेक परन आदि दिए हैं।
४९.	फरोदस्त (१)	चतुस्त्र	१३	१-३-५-७-१०	१३/२-२-२-३-४	
५०.	सम्मुखतरा	चतुस्त्र	१३	१-५-९-१२	१३/४-४-३-२	
५१.	ध्रुव ताल	चतुस्त्र	१४	१-५-९-११-१३	१४/४-४-२-२-२	
५२.	आड़ा चौताल	चतुस्त्र	१४	१-३-७-११	१४/२-४-४-४	
५३.	राजमार्त्तण्ड	चतुस्त्र	१४	१-९-१३	१४/८-४-२	५ पर खाली दिखाई है किन्तु स्थान में उसे नहीं गिना है।
५४.	गज ताल	चतुस्त्र	१४	१-५-९	१४/४-४-६	
५५.	इडवान	चतुस्त्र	१४	१-३-७-९-११	१४/२-४-२-२-४	
५६.	झूमरा	तिस्त्र	१४	१-४-८-११	१४/३-७-४	आठ पर खाली है किन्तु उसे भी स्थानों में गिन लिया है।
५७.	जयझम्पा	चतुस्त्र	१५	१-९-११-१३	१५/८-२-२-३	५ पर खाली है किन्तु स्थानों में उसे नहीं गिना है।
५८.	गार्गी पञ्जक	मिश्र	१५	१-८-१०-१२-१४	१५/७-२-२-२-२	खाली कहीं पर नहीं है।
५९.	दिव्यमणि	चतुस्त्र	१५	१-५-९-१३-१५	१५/४-४-४-२-१	
६०.	पंजाबी	चतुस्त्र	१६	१-५-१३	१६/४-८-४	९ पर खाली है किन्तु उसे स्थानों में नहीं गिना।
६१.	मूल ताल	चतुस्त्र	१६	१-५-१३	१६/४-८-४	९ पर खाली है किन्तु उसे स्थानों में नहीं गिना।
६२.	झूमरा	चतुस्त्र	१६	१-५-१३	१६/४-८-४	९ पर खाली है किन्तु उसे स्थानों में नहीं गिना।
६३.	चौताल	खण्ड	१६	१-६-११-१६	१६/५-५-५-१	खाली कहीं नहीं है।
६४.	सवारी	चतुस्त्र	१६	१-५-९-१३-१५	१६/४-४-४-२-२	
६५.	कोकिला	चतुस्त्र	१६	१-५-७-११-१४	१६/४-२-४-३-३	

संख्या	नाम	जाति	मात्रा	स्थान	रूप	विशेषोल्लेख
६६.	श्लथ तिताली या धीमा तिताली या टप्पा	चतुस्त्र	१६	१-५-१३	१६/४-८-४	
६७.	तिलकामोद	चतुस्त्र	१६	१-५-९-११-१३-१५	१६/४-४-२-२-२-२	
६८.	मकरन्द (फरोदस्त ३.)	चतुस्त्र	१६	१-३-५-९-१३	१६/४-२-४-४-४	खाली नहीं।
६९.	अभंग	चतुस्त्र	१६	१-५	१६/४-१२	११ पर खाली है किन्तु उसे स्थानों में नही गिना है।
७०.	ललिता	चतुस्त्र	१६	१-३-५-९	१६/२-२-४-८	
७१.	प्रधान ताल	चतुस्त्र	१६	१-३-५	१६/२-२-१२	११ पर खाली है किन्तु स्थानों में उसे नहीं गिना है।
७२.	राजमृगांग (क)	चतुस्त्र	१६	१-३-५-१३	१६/२-२-८-४	९ पर खाली है किन्तु स्थानों में गिना नहीं गया है।
७३.	गजलीला	मिश्र	१७	१-८-१५-१६	१७/७-७-१-२	खाली कहीं नहीं है।
७४.	आड़ा चौताल (२)	खण्ड	१७	१-६-११-१६	१७/५-५-५-२	
७५.	प्रतिवर्द्धन	खण्ड	१७	१-५-१०-१४	१७/४-५-४-४	खाली कहीं नहीं।
७६.	प्रतापशेखर	दिव्य सङ्कीर्ण	१७	१-७-१३-१५	१७/६-६-२-३	खाली कहीं नहीं।
७७.	गजलीला (२.)	चतुस्त्र	१८	१-५-९-१३-१७	१८/४-४-४-४-२	
७८.	षष्ठी ताल (१.)	खण्ड	१८	१-६-११-१३-१५-१७	१८/५-५-२-२-२-२	
७९.	अष्टताली	तिस्त्र	१८	१-३-५-७-१०-१२-१४-१६	१८/२-२-२-३-२-२-२-३	पूरा ताल एक जैसे दो भागों में बँटा है किन्तु कहीं भी खाली न होने से चक्र कैसे बनेगा?
८०.	लीला	चतुस्त्र	१८	१-३-७	१८/२-४-१२	१३ पर खाली है किन्तु स्थानों में गिना नहीं है।
८१.	सारस	चतुस्त्र	१८	१-५-७-९-११-१५	१८/४-२-२-२-४-४	
८२.	खट ताल (छक्का) (2.)	चतुस्त्र	१८	१-५-७-११-१३-१५	१८/४-२-४-२-२-४	खाली नहीं है।
८३.	सरस्वती	चतुस्त्र	१८	१-५-७-११-१५	१८/४-२-४-४-४	खाली नहीं है।
८४.	त्रिखण्ड (वजी?)	खण्ड	१९	१-६-११-१३-१५	१९/५-५-२-२-५	खाली नहीं है।
८५.	रागप्रधन	तिस्त्र	१९	१-३-६-८	१९/२-३-२-१२	१४ पर खाली है किन्तु उसे गिना नहीं है।

संख्या	नाम	जाति	मात्रा	स्थान	रूप	विशेषोल्लेख
८६.	राजविद्याधर	चतुस्त्र	२०	१-५-९-१७-१९	२०/४-४-८-२-२	१३ पर खाली है किन्तु उसे गिना नहीं है।
८७.	नन्दन	चतुस्त्र	२०	१-५-७-९	२०/४-२-२-१२	१५ पर खाली है लेकिन गिना नहीं है।
८८.	दशाङ्गी	चतुस्त्र	२०	१-५-९-१३	२०/८-४-८	५ और १७ पर खाली है किन्तु ५ को गिनकर १७ को नहीं गिना है।
८९.	पूर्णमहाकाल	चतुस्त्र	२०	१-३-५-७-९-१७	२०/२-२-२-२-८-४	१३ पर खाली है किन्तु गिना नहीं है।
९०.	खण्ड महाकाल	चतुस्त्र	२०	१-३-५-१३	२०/२-२-८-८	९ और १७ पर खाली है पर गिना नहीं है।
९१.	सम महाकाल	चतुस्त्र	२०	१-९-१७	२०/८-८-४	५ और १३ पर खाली है पर गिना नहीं है।
९२.	विषम महाकाल	चतुस्त्र	२०	१-५-१३	२०/४-८-८	९ और १७ पर खाली है पर गिना नहीं है।
९३.	अद्रितालो	चतुस्त्र	२०	१-५-९-११-१३-१७	२०/४-४-२-२-४-४	खाली नहीं है।
९४.	मुकुन्द	चतुस्त्र	२०	१-५-७-९-११-१३	२०/४-२-२-२-२-८	१७ पर खाली है किन्तु गिना नहीं है।
९५.	गौरी	चतुस्त्र	२०	१-५-९-१३-१७	२०/४-४-४-४-४	सभी विभाग समान हैं, खाली नहीं है। चक्र कैसे बनेगा?
९६.	गणेश	चतुस्त्र	२०	१-५-७-९-१३-१७-१८-१९-२०	२०/४-२-२-४-४-१-१-१-१	खाली नहीं है।
९७.	अभिनन्द	चतुस्त्र	२०	१-५-९-११-१३-१७	२०/४-४-२-२-८	१७ पर खाली है, उसे गिन लिया है।
९८.	लक्ष्मी ताल (1)	चतुस्त्र	२१	१-५-९-१३-१७-१८-२०	२१/४-४-४-४-१-२-२	खाली नहीं है।
९९.	मल्ल ताल	चतुस्त्र	२१	१-५-९-१३-१७-२०	२१/४-४-४-४-३-२	खाली नहीं है।
१००.	मत्थिका	चतुस्त्र	२२	१-९-११	२२/८-२-१२	५ और १७ पर खाली है लेकिन गिना नहीं है।
१०१.	षष्ठी ताल (२.)	दिव्य सङ्कीर्ण	२३	१-७-१३-१९-२१-२२	२३/६-६-६-२-१-२	खाली नहीं है।
१०२.	श्रीकीर्त्ति	चतुस्त्र	२४	१-९-१७-२१	२४/८-८-४-४	५ और १३ पर खाली है किन्तु गिना नहीं है।

संख्या	नाम	जाति	मात्रा	स्थान	रूप	विशेषोल्लेख
१०३.	भद्रमालिनी	चतुस्त्र	२४	१-९-११-१३-१५-१७	२४/८-२-२-२-२-८	५ और २१ पर खाली है किन्तु गिना नहीं है।
१०४.	गौड	चतुस्त्र	२४	१-५-९-११-१३-१७	२४/४-४-२-२-४-८	२१ पर खाली है किन्तु गिना नहीं है।
१०५.	ध्रुव-पञ्च	मिश्र	२५	१-८-१५-२२-२४	२५/७-७-७-२-२	४, ११ और १८ पर खाली है किन्तु गिना नहीं है।
१०६.	भग्न ताल (ग्रह)	चतुस्त्र	२५	१-५-९-११-१३-१५-१७-२०-२३	२५/४-४-२-२-२-२-३-३-३	
१०७.	षष्ठी ताल (३.)	मिश्र	२६	१-८-१५-२२-२४-२५	२६/७-७-७-२-१-२	४, ११ और १८ पर खाली है किन्तु गिना नहीं है।
१०८.	ब्रह्मताल	चतुस्त्र	२८	१-५-९-११-१५-१७	२८/४-४-२-४-२-	सं० पारिजात और सं०
				-१९-२३-२५-२७	२-४-२-२-२	सा० के अनुसार ४, २, ४, २, २, ४, २, २, २, ४ विभाजन होना चाहिए।
१०९.	ब्रह्मजोग	चतुस्त्र	२८	१-५-७-११-१३-१५	२८/४-२-४-२-२-	आज इसे ब्रह्म ताल कहते हैं।
				-१९-२१-२३-२५	४-२-२-२-४	सं० पा० और सं० सा० में यही है।
११०.	दीपकधर	चतुस्त्र	२८	१-३-५-९-१३-२१	२८/२-२-४-४-८-८	१७ और २५ पर खाली है पर गिना नहीं है।
१११.	चतुर्मुख	चतुस्त्र	२८	१-५-१३-१७	२८/४-८-४-१२	९ और २३ पर खाली है पर गिना नहीं है।
११२.	राजनारायण	चतुस्त्र	२८	१-३-५-९-१७-२१	२८/२-२-४-८-४-८	१३ और २५ पर खाली है पर गिना नहीं है।
११३.	ललितप्रिया	चतुस्त्र	२८	१-५-९-१७-२१	२८/४-४-८-४-८	१३ और २५ पर खाली है पर गिना नहीं है।
११४.	मोहन (ऋषि)	चतुस्त्र	२८	१-५-९-११-१३-१७-२१	२८/४-४-२-२-४-४-८	२५ पर खाली है किन्तु गिना नहीं है।
११५.	सरस्वत्याभरण	चतुस्त्र	२८	१-९-१७-२१-२५-२७	२८/८-८-४-४-२-२	५ और १३ पर खाली है किन्तु गिना नहीं है।

संख्या	नाम	जाति	मात्रा	स्थान	रूप	विशेषोल्लेख
११६.	चन्द्रकान्ता	चतुस्र	३०	१-९-१७-२५	३०/८-८-८-६	५, १३, २१ और २८ पर खाली है, किन्तु गिना नहीं है।
११७.	रुद्र ताल	चतुस्र	३२	१-९-११-१३-१७-१९-२१-२५-२७-२९-३१	३२/८-२-२-४-२-२-४-२-२-२-२	५, १५ और २३ पर खाली है किन्तु गिना नहीं है।
११८.	जयमुख	चतुस्र	३२	१-५-९-१७-२१-२५	३२/४-४-८-४-४-८	१३ और २९ पर खाली है किन्तु गिना नहीं है।
११९.	विजयानन्द	चतुस्र	३२	१-५-९-१७-२५	३२/४-४-८-८-८	१३, २१ और २९ पर खाली है किन्तु गिना नहीं है।
१२०.	जयश्री	चतुस्र	३२	१-९-१३-२१-२५	३२/८-४-८-४-८	५, १७ और २९ पर खाली है गिना नहीं।
१२१.	श्रीवन्द	चतुस्र	३२	१-९-१७-२१	३२/८-८-४-१२	५, १३ और २७ पर खाली है गिना नहीं।
१२२.	कोविद	चतुस्र	३२	१-५-९-११-१३-२१	३२/४-४-२-२-८-१२	१७ और २७ पर खाली है।
१२३.	अनङ्ग	चतुस्र	३२	१-५-१७-२१-२५	३२/४-१२-४-४-८	११ और २९ पर खाली है।
१२४.	पञ्चक	चतुस्र	३३	१-९-१७-१८-२६	३३/८-८-१-८-८	५, १३, २२ और ३० पर खाली है।
१२५.	हंसनाद	सङ्कीर्ण	३५	१-१०-१९-२१-२३-२५-२७	३५/९-९-२-२-२-२-९	खाली नहीं है।
१२६.	वसन्त	चतुस्र	३६	१-५-९-१३-२१-२९	३६/४-४-४-८-८-८	१७, २५ और ३३ पर खाली है।
१२७.	नन्दिताल	चतुस्र	३६	१-५-९-११-१३-१७-२१-२९	३६/४-४-२-२-४-४-८-८	२५ और ३३ पर खाली है।
१२८.	सत्यसेना	खण्डजाति	३७	१-६-११-१६-२१-२६-३१-३६	३७/५-५-५-५-५-५-५-२	कहीं खाली नहीं है।
१२९.	चकोर	तिस्र	३८	१-४-७-१०-१२-१४-१७-२०-२३-२७-३१-३५-३७	३८/३-३-३-२-२-३-३-३-४-४-४-२-२	कहीं खाली नहीं है।

संख्या	नाम	जाति	मात्रा	स्थान	रूप	विशेषोल्लेख
१३०.	कीर्त्ति	चतुस्त्र	४०	१-५-१७-२५-२९	४०/४-१२-८-४-१२	२१, २१ और ३५ पर खाली है।
१३१.	चङ्ग	चतुस्त्र	४०	१-५-९-१३-१७-२५-३३-३७	४०/४-४-४-४-८-८-४-४	२१ और २९ पर खाली है।
१३२.	श्रीखण्ड	चतुस्त्र	४०	१-९-१३-२१-२३-२५-३३	४०/८-४-८-२-२-८-८	५, १७, २९ और ३७ पर खाली है।
१३३.	सारंगदेव	चतुस्त्र	४०	१-३-५-९-२१-२९-३७	४०/२-२-४-१२-८-८-४	१५, २५ और ३३ पर खाली है।
१३४.	विश्वमनु (णि)	चतुस्त्र	४०	१-५-७-९-१३-१५-१७-२१-२५-२९-३१-३३-३५-३७	४०/४-२-२-४-२-२-४-४-४-२-२-२-२-४	खाली कहीं नहीं है।
१३५.	लक्ष्मी (२)	चतुस्त्र	४२	१-५-७-९-१२-१४-१६-१८-२०-२२-२५-२८-३०-३२-३४-३७-३९-४१	४२/४-२-२-३-२-२-२-२-२-३-३-२-२-२-३-२-२-२	खाली कहीं नहीं है।
१३६.	लक्ष्मी (मतान्तर)	चतुस्त्र	४२	१-५-७-९-१२-१४-१६-१९-२०-२१-२३-२४-२५-२७-३०-३३-३७-४०	४२/४-२-२-३-२-२-३-१-१-२-१-१-२-३-३-४-३-३	"
१३७.	नि:षंग लीला	संकीर्ण	४४	१-७-१३-१९-२५-३३-४१	४४/६-६-६-६-८-८-४	२९ और ३७ पर खाली है।
१३८.	सप्तदशी	चतुस्त्र	४८	१-५-७-९-१३-१५-१७-२१-२५-२९-३३-३५-३७-३९-४३-४५-४७	४८/४-२-२-४-२-२-४-४-४-४-२-२-२-४-२-२-२	खाली कहीं नहीं है।
१३९.	सूर्यताल	चतुस्त्र	४८	१-५-९-१७-२५-२९-३३-३५-३७-४१-४३-४५	४८/४-४-८-८-४-४-२-२-४-२-२-४	१३ और २१ पर खाली है।
१४०.	नि:षंग	चतुस्त्र	५२	१-५-१३-१९-२५-३३-४१-४५	५२/४-८-६-६-८-८-४-८	९, २९, ३७ और ४९ पर खाली है।
१४१.	तिथि ताल	चतुस्त्र	५३	१-९-१३-१५-१७-१९-२५-३१-३४-३७-४०-४४-४८-५०-५२	५३/८-४-२-२-२-६-६-३-३-३-४-४-२-२-२	५ पर खाली है।
१४२.	चन्द्रकला	चतुस्त्र	६०	१-५-७-९-१३-१५-१७-२१-२९-३३-३७-४५-४९-५३-५७-५९	६०/४-२-२-४-२-२-४-८-४-४-८-४-४-४-२-२	२५ व ४१ पर खाली है।
१४३.	पार्वतीरो (लो) चन	चतुस्त्र	६२	१-९-१७-२५-२९-३५-४१-४९-५७-५९-६१	६२/८-८-८-४-६-६-८-८-२-२-२	५, १३, २१, ४५ और ५३ पर खाली है।

.७.

ताल-विषयक चिन्तन-बिन्दु *

मात्रा और अक्षर के विचार का निबद्ध या लिखित रूप पहले छन्द के प्रसङ्ग में मिलता है और यह सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय, शिक्षा, प्रातिशाख्य आदि में भरा पड़ा है। एक मात्रा को एक ह्रस्व स्वर, दो मात्रा को एक दीर्घ स्वर और तीन मात्रा की इकाई को प्लुत स्वर कहा जाता है। यह स्वर अकेला भी हो सकता है और व्यञ्जन-सहित भी हो सकता है। अकेले व्यञ्जन को अर्द्धमात्रिक माना गया है। मात्रा को अणु और परमाणु में भी बाँटा गया है जो कि मात्रा का आधा और चौथाई अथवा १/४ व १/८ है।

ध्यान देने की बात है कि मात्रा एक अवधारणा या Concept है जिसका स्थूल रूप अक्षर में भी देखा गया है। मात्रा और अक्षर में भी वही सम्बन्ध है जो श्रुति और स्वर में या स्वर और वर्ण में या मेल और राग में है।

लौकिक छन्दों में केवल दो ही इकाइयाँ रही हैं, लघु और गुरु जो ह्रस्व और दीर्घ के समतुल्य, किन्तु उनसे कुछ अधिक व्यापक हैं। (ह्रस्व के सामने संयुक्ताक्षर होने पर वह गुरु हो जाता है, पदान्त ह्रस्व होने पर वह गुरु हो जाता है-इत्यादि।)

ताल का शास्त्रीय विचार जब सबसे पहले नाट्यशास्त्र में हमारे सामने आता है तब वार्णिक वृत्त का स्पष्ट प्रभाव उस पर दिखाई देता है। वार्णिक वृत्तों में वृत्त या छन्द का नाम ऐसा होता है जो उसके लक्षण में कहीं न कहीं फिट बैठ जाता हैं— **''उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौग:''**। इसी प्रकार पाँचों मार्ग तालों के नाम ऐसे हैं जो उनके कालमान की इकाई के क्रम को व्यक्त करते हैं। अन्तर इतना ही है कि प्लुत इकाई को व्यक्त करना केवल गुरु द्वारा सम्भव नहीं है। अत: प्लुत का अलग से निर्देश करना पड़ता है। ताल के नाम के अक्षर-विन्यास के अनुसार बनने वाले रूप को ही ताल का यथाक्षर रूप कहा गया है, स्मरण रखने की बात है कि वैदिक पद्धति के अनुसार गान्धर्व की ताल पद्धति में भी कालमान की तीन इकाइयाँ स्वीकृत हैं—लघु, गुरु और प्लुत। इन्हें ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत न कहने के पीछे लौकिक छन्द: शास्त्र का प्रभाव रहा होगा। छन्द और ताल की मात्रा को पाँच निमेष या लघु अक्षर के बराबर माना गया है। ऐसी दो मात्राओं की इकाई भरत की ताल पद्धति में स्वीकृत है। यही उसका गुरु है।

लघु, गुरु एवं प्लुत इन तीन इकाइयों में १+१+१ का क्रम देखा जा सकता है। यद्यपि गुरु को लघु का दुगुना कह सकते हैं किन्तु प्लुत गुरु का दुगुना नहीं है, इसलिए १+१+१ कहना ही उचित है। प्लुत की उपयोगिता वैदिक पद्धति में जो भी रही हो, भरत की ताल पद्धति में उसकी इतनी उपयोगिता अवश्य समझ में आती है कि चार मात्राओं का एक समूह बनाने में २+२ अथवा २+१+१ के स्थान पर ३+१ अथवा १+३ में एक विशेष आलङ्कारिकता है। पाँच मार्ग तालों में से तीन का ही विशेष प्रयोग हुआ है उनमें से दो यानी चच्चत्पुट और षट्पितापुत्रक में क्रमश: १+३ और ३+१ दोनों का प्रयोग है। सम्पक्वेष्टाक के आदि और अन्त में प्लुत हैं जिन्हें लघु से सन्तुलित नहीं किया है। स्मरणीय है कि इस ताल का अत्यल्प प्रयोग किया गया है। प्रथम

* श्र० बहिन जी द्वारा स्वयं लिखा गया स्फुट शब्दाङ्कित चिन्तन

तीन तालों का सौन्दर्य इसी बात में है कि विषमता में समता उपजायी गयी है। सम्पक्वेष्टाक और उद्घट्ट काफी कुछ सपाट हैं, इसलिए उनका प्रयोग नहीं के बराबर हुआ है।

किसी ताल की लम्बाई को दुगुना करने के दो उपाय भरत पद्धति में हैं। एक तो यह कि जितने नाप की सशब्द क्रिया मूल ताल में है उतने ही नाप की एक नि:शब्द क्रिया उससे पहले जोड़ दी जाये। इसी प्रक्रिया से किसी भी ताल के एकल रूप को द्विकल और चतुष्कल बनाया जाता है। द्विकल रूप में गुरु के लिए सशब्द क्रिया से पहले एक गुरु की नि:शब्द क्रिया, लघु के लिए उसके दुगुने के गुरु की नि:शब्द क्रिया और प्लुत के लिए एक गुरु की सशब्द क्रिया और दो गुरुओं की नि:शब्द क्रिया जोड़ी जाती है। इस प्रकार सशब्द क्रिया से पूर्व सारा Extension होता है। दूसरा उपाय है—मार्ग। इसके अनुसार छोटे मार्ग की क्रियाएँ लम्बे मार्ग में दुगुनी-दुगुनी लम्बी होती चली जाती हैं अर्थात् सशब्द क्रियाएँ ही दुगुनी लम्बी हो जाती हैं। इन सशब्द क्रियाओं की लम्बाई को साधने के लिए ध्रुवका, कृष्ण, सर्पिणी आदि 'मात्रा' सं० र० में कही गयी हैं। प्रकट है कि इस पद्धति में Extension सशब्द क्रिया के बाद आयेगा, पहले नहीं। आज किसी भी ताल की लम्बाई को दुगुना करने के लिए सशब्द क्रिया के बाद मात्रा-संख्या बढ़ाई जाती है। उदाहरणार्थ तीन ताल में, ४, ८, १६ गिनना।

देशी तालों में भी किसी भी ताल में जो अंग लम्बा होगा, जैसे—लघु की अपेक्षा गुरु अथवा द्रुत की अपेक्षा लघु, उसमें सशब्द क्रिया के बाद हाथ को बाहर की ओर फैकने या नीचे की ओर ले जाने या दायें-बाएँ घुमाने की कोई न कोई क्रिया रहती थी। स्पष्ट है कि ऐसी क्रिया सशब्द के बाद ही उसका Extension होती थी, पहले नहीं। इसी में से एक और बात निकलती है और वह यह है कि खाली किस प्रकार सशब्द क्रिया का Extension है। पूरे देशी तालों में दो-तीन अपवादों को छोड़कर कहीं भी नि:शब्द क्रिया का विधान नहीं है। किन्तु हर बड़े अंग के बाद कोई नि:शब्द क्रिया अवश्य है इसका प्रमाण या उदाहरण ब्रह्मताल के लक्षण से मिलता है। यथा—१,०,१,०,०,१,०,०,०,१—इस प्रकार १० इकाइयों की चौदह मात्राएँ बन जाती हैं।

यह सवाल अपनी जगह पर है कि यदि अति प्राचीन काल से मात्रा का स्थूल रूप अक्षर के द्वारा ही देखा जाता रहा तो आज हिन्दुस्तानी सङ्गीत में से अक्षर की धारणा कैसे लुप्त हो गई? और केवल मात्रा ही क्यों बच गयी है? कुछ ऐसा लगता है कि अक्षर का स्थान ठेके ने ले लिया होगा इसलिए ताल का मूर्त्त रूप ठेका बन गया और अमूर्त्त रूप मात्रा संख्या में रह गया जिसे १, २, ३, ४ से कहा जाने लगा। ग्रन्थों में कहीं भी १, २, ३, ४ की बात नहीं है।

ठेके में एक मात्रा में कभी दो अक्षर होते हैं और कभी दो मात्राओं के लिए एक ही अक्षर होता है। उदाहरण—चौताल और धमार। इसलिए अक्षर संख्या के स्थान पर मात्रा को ही रखना सुविधाजनक लगा होगा और वही परम्परा बन गयी। मात्रा को मूर्त्तरूप १, २, ३, ४ के द्वारा दिया गया और अक्षर का विन्यास ठेके द्वारा हुआ। ठेके में अक्षरों की संख्या नियत न होने के कारण उसे अक्षर-काल की गिनती का आधार नहीं बनाया गया। कर्नाटक पद्धति में भी यह बात सही है कि प्रत्येक अक्षर काल के लिए मृदङ्ग पर एक से अधिक अक्षर भी होते हैं फिर भी वहाँ ताल की पहचान मृदङ्ग के अक्षरों या ठेके से नहीं होती। इसलिए वहाँ ताल के अमूर्त्त मात्रा रूप को अक्षर काल संख्या द्वारा बताया जाता है। मात्रा वहाँ भी है लेकिन वह केवल ताल की धारणा के रूप में है। जैसे—ध्रुवताल १,०,१,१ का यह रूप है। इससे लघु को एक मात्रा मानकर पूरे ताल का मूल्य 3½ मात्रा बताया गया है। ध्रुवताल जब साकार होगा तो किसी न किसी जाति में होगा तब उस जाति में उसका स्वरूप अक्षर काल में बताया जायेगा। किन्तु उसका मूल मान मात्रा में ही गिना जाता है।

ताल के नाम के अनुसार उसका लक्षण हो, यह व्यवस्था देशी तालों में नहीं रही ठीक वैसे ही जैसे कि मात्रिक छन्दों में यह व्यवस्था नहीं रही।

खाली को स्वतन्त्र स्थान मानने की स्थिति बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक बहुत स्थिर नहीं थी। उदाहरण—सङ्गीतकलाधर, नाद-विनोद। दूसरी ओर बंगाल के ग्रन्थों में यह स्थिति १९वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में स्थिर हो चुकी थी। ऐसा लगता है कि जिन तालों के मध्य में बड़ी इकाई होती है, उन्हीं में खाली को स्वतन्त्र स्थान मानने की प्रवृत्ति कुछ स्वाभाविक हो सकती

है। जिनके अन्त में बड़ी इकाई है, उनमें खाली को स्वतन्त्र स्थान मानने की प्रवृति स्वाभाविक नहीं होगी। आज हिन्दुस्तानी सङ्गीत में ऐसे ही ताल प्रचार में रह गये हैं, जिनमें बड़ा अंग मध्य में है और इसी कारण खाली से हर ताल का उत्तरार्द्ध शुरू होता है। उदाहरण—त्रिताल, झपताल, धमार। चौताल के पहले दोनों अंग बड़े हैं, इसलिए उसमें दो खाली है फिर भी दूसरी खाली को ही अधिक महत्त्व का माना जाता है क्योंकि वह ताल के उत्तरार्द्ध का आरम्भ है। तीन ताल को भी पुराने लोग (यन्त्रक्षेत्रदीपिका में संस्कृतमत) पहले तीन ताली और अन्त में एक खाली मानते हैं। किन्तु आज मध्य में खाली वाला तीन ताल ही प्रचलित है। इसका प्रथम लिखित रूप राधागोविन्द-सङ्गीतसार में मिलता है।

देशी तालों में मार्ग तालों की भाँति प्रत्येक में तीन span का विधान नहीं है, फिर भी तीन मार्गों का संस्कार इतना प्रबल रहा है कि **सङ्गीतकलाधर में प्रत्येक ताल को तीन चक्रों में रखा गया है। अन्दर का चक्र उसका सबसे छोटा रूप, उसके बाहर का रूप उसके दुगुना, और सबसे बाहर का रूप उसका दुगुना है।** पं० विष्णु दिगम्बर तीन ताल को ४, ८, १६ मात्रा इस प्रकार तीन span में सिखाते थे।

ताल के span को देखने की दो दृष्टियाँ हैं एक तो यह है कि तीन ताल कुल सोलह मात्रा का है जिसको ४, ४, ४, ४ अथवा ४, ८, ४ में बाँटा गया है। दूसरी यह कि तीन ताल एक विशिष्ट ढाँचा है जिसमें जो पहली इकाई है उससे दुगुनी दूसरी और ठीक वैसी तीसरी इकाई है। पहली इकाई का मूल्य यदि एक मात्रा मान लें तो वह ठीक 4 मात्रा का हो जाएगा, २ मानने ८ का और ४ मानने पर १६ का हो जायेगा। यह पुरानी दृष्टि है और जो ऊपर कही गयी वह मात्रिक छन्दों से प्रभावित दृष्टि है। मात्रिक छन्द में कुल लम्बाई अधिक महत्त्वपूर्ण है, जबकि वार्णिक में कुल लम्बाई के घटक और उनका क्रम अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। मात्रिक छन्दों का प्रभाव तो स्पष्ट दिखाई देता है किन्तु छन्द अथवा ताल का प्रभाव कितना या क्या होगा यह हम नहीं कह सकते। वार्णिक वृत्तों के अनुसार गणों द्वारा ही देशी तालों का वर्णन किया गया है। वार्णिक वृत्तों में कुल लम्बाई मात्रा संख्या के अनुसार नियत हो जाती है किन्तु ध्यान उस पर न देकर लघु द्रुत आदि के वर्णों के लघु गुरु क्रम पर दिया जाता है। लघु द्रुत आदि के द्वारा ताल का वर्णन १९ वीं शताब्दी के अन्त या २०वीं शताब्दी के आरम्भ में मिलता है किन्तु गोविन्द राम बुरहानकर की तालमञ्जरी में २० वीं शताब्दी के मध्य तक होता रहा है किन्तु मौखिक परम्परा में मात्रा द्वारा ही ताल को कहने का ढंग बन गया है।

जैसे मार्ग तालों में एक मात्रा को ५ निमेष या लघ्वक्षर माना गया वैसे ही देशी तालों में लघु का मूल्य ४, ३, ५, ७, ९ मानकर तदनुसार अन्य घटकों का मूल्य भी निर्धारित किया जाता रहा। सप्त सूड़ादि तालों में केवल लघु ही परिवर्तनशील रह गया और शेष द्रुत, अणुद्रुत को चतुरस्र लघु के आधे और चौथाई के बराबर स्थिर कर दिया। इन तालों में प्लुत है ही नहीं, गुरु भी नहीं है। केवल लघु, द्रुत और अणुद्रुत के आधार पर ये बने हैं।

जैसे मार्ग ताल पद्धति में प्रत्येक ताल की दुगुनी-२ लम्बाई के तीन चक्र बनते हैं, जिन्हें एककल, द्विकल, चतुष्कल अथवा चित्र, वार्त्तिक, दर्शन——मार्ग कहा जाता है, वैसे ही प्रत्येक ताल के अङ्ग को तीन बार आधा-आधा करने की व्यवस्था देशी तालों में की गई है, ऐसा लगता है। ऐसा करने के लिए प्रत्येक अङ्ग के खण्ड बनाने पड़े है और इसीलिए इनको अणुद्रुत तक पहुँचना पड़ा। इतना अवश्य है कि सं०र० में अणुद्रुत नहीं है।

जिन तालों में सब अङ्ग समान है, उनमें चक्र कैसे बनता होगा, यह समस्या है। कल्लि० ने कुछ मार्ग बताया है किन्तु वह भी बहुत दूर तक नहीं जाता। रा०गो०सं०सा० में हाथों की दूरी और डोरी की लम्बाई की कुछ बात कही जो कि स्पष्ट नहीं है। एक ही बात समझ में आती है कि ऐसे तालों की पहचान ठेके के माध्यम से बनती होगी। रा०गो०सं०सा० में ऐसे प्रत्येक ताल का ठेका 'थोम्' पर समाप्त होता है। प्रत्येक ताल के साथ नृत्य के बोल भी वहाँ दिये हैं। ऐसे ताल आज तो कोई नहीं बचे हैं।

★★★

.८.

लालित्य-संस्कृति*

प्रकृति-विकृति-संस्कृति

प्राकृतिक शक्तियों का यदृच्छा-संयोजन **विकृति** है और सामाजिक मङ्गल की दृष्टि से संयोजन **संस्कृति** है।

मनुष्येतर जीवन के लिए प्रकृति केवल प्रकृति है, किन्तु सभ्य जीवन के लिए वह कभी विकृति है और कभी संस्कृति।

प्राकृतिक शक्तियों को अभीष्ट दिशा में ले जाने के संयोजन को ही मङ्गल कहते हैं। वह भी अर्थ की तरह **सामाजिक** होता है।

विनायक धर्म

स्पष्ट है कि वाक्-तत्त्व के लिए पद-पद पर विनायक धर्म की आवश्यकता है। स्थूल जगत् में वह अभीष्ट पदार्थ को प्रकाशित करता है और सूक्ष्म भाव-जगत् में रस को।

मनुष्य और प्रकृति

मनुष्य ने प्रकृति को ज्यों का त्यों नहीं स्वीकार किया है। उसने उसे अपने प्रयत्नों द्वारा अभीष्ट दिशा में अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया है। यह प्रयत्न मनुष्य का सहज धर्म है।

सभ्यता प्राप्त करके मनुष्य ने बहुत-सी प्राकृतिक शक्तियों पर अधिकार किया है। वह कीड़े-मकोड़ों की तरह प्रकृति पर पूर्णतः आश्रित नहीं। उसने अपने प्रयत्नों से प्रकृति के रहस्य का पता लगाया है। वह नये सिरे से प्राकृतिक शक्तियों के नये-नये संयोजन से नयी-नयी चीजों को पैदा कर सकता है, ठीक उसी प्रकार वह ज्ञात वर्णों से नये-नये शब्दों की योजना कर सकता है। किन्तु यदृच्छा से संयोजित वर्ण जिस प्रकार अभीष्ट अर्थ नहीं देते, उसी प्रकार यदृच्छा-संयोजित प्राकृतिक शक्तियाँ भी उसे अभीष्ट दिशा में नहीं ले जातीं।

विनायक धर्म

वर्णानामर्थसङ्घानां रसानां छन्दसामपि।
मङ्गलानां च कर्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ॥

कला में प्रेषण-धर्मी वाक् तत्त्व और मङ्गलादेशी विनायक धर्म निस्सन्देह आवश्यक तत्त्व है। किसी एक की भी उपेक्षा

* '**आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी-प्रसङ्ग**' पर '**वागर्थ**'—भारतभवन, भोपाल—में 18 जुलाई 1987 को प्रस्तुत व्याख्यान के लिए स्वयं लिखे विचार बिन्दु।

करने से काव्य या कला विराट् और उदात्त बनने में चूक जाती है और ललित मनोहर बनकर केवल क्षणिक ज्योति विकीर्ण करके समाप्त हो जाती है।

वाक् का व्यापक अर्थ

वाक्-अर्थ पार्वती-परमेश्वर के समान संयुक्त (कालिदास), परन्तु वाक् तत्त्व और अर्थ तत्त्व का अर्थ अधिक व्यापक है। कालिदास सफल कलाकृति के लिए प्रयत्न और संस्कार दोनों को आवश्यक समझते हैं, यही विनायक तत्त्व है।

सारा संसार नाम और रूप में प्रतिभासित हो रहा है। नाम =शब्द, रूप = अर्थ। लेकिन यह साधारण बात है। विशेष अवस्था में रूप भी अर्थ देते हैं।

संसार में जो भी अर्थ देने की क्षमता रखता है, उसे संप्रेषण-धर्मी कहा जा सकता है। जिस प्रकार भाषा में शब्द अर्थ-विशेष का संप्रेषण करते हैं, उसी प्रकार चित्र और मूर्ति में रूप भी अर्थ-विशेष का संप्रेषण करते हैं।

परा, पश्यन्ती, मध्यमा वाक्, जो जिह्वा, कण्ठ, ताल्वादि से उच्चरित व्यक्त वाणी से भिन्न है। वाक् शब्द का शास्त्रीय अर्थ बहुत व्यापक है। जिस प्रकार कवि शब्दों के माध्यम से अपनी बात प्रकट करता है उसी प्रकार चित्रकार, मूर्तिकार, अभिनेता आदि भी भिन्न-भिन्न साधनों के माध्यम से अर्थ ध्वनित करने का प्रयत्न करते हैं।

जिस प्रकार कवि शब्दों के माध्यम से अपनी बात प्रकट करता है, उसी प्रकार चित्रकार मूर्तिकार, अभिनेता आदि भी भिन्न-भिन्न साधनों के माध्यम से अर्थ ध्वनित करने का प्रयत्न करते हैं। व्यापक अर्थों में यही सभी कुछ भाषा या वाणी है।

'वर्ण' शब्द भाषा में निश्चित प्रकार की ध्वनि का वाचक है, वहीं रूप-पक्ष में विशेष-विशेष प्रकार के रङ्गों का द्योतक है।

नाम-रूपात्मक-जगत् में नाम श्रव्य वर्णों के संयोजन का परिणाम है और रूप दृश्य वर्णों के संयोजन का।

नाम या शब्द-निर्माण के क्षेत्र में मनुष्य के प्रयास सीमित हैं। सब शब्द सब मनुष्यों के लिए अर्थप्रसू नहीं होते। परन्तु रूप-निर्माण अधिक व्यापक होता है। एक जन समूह द्वारा गृहीत अर्थ दूसरे जनसमूह द्वारा भी ग्रहणीय हो सकता है।

वर्ण-समाम्नाय वाक् तत्त्व है, परन्तु अर्थ समवाय एक प्रकार के ऐसे विनायक धर्म की स्वीकृति चाहता है जो अभीष्ट अर्थ को प्रकट करा सके।

भाव वस्तुतः अन्तर्जगत् का सत्य होता है। माधुर्य या लावण्य केवल अनुभवगम्य है। भाषा में केवल बाह्य जगत् की वास्तविकता को प्रकट करने का प्रयास नहीं होता, बल्कि अन्तर्जगत् के अनुभूत अर्थों को भी अनुभूत करने का प्रयास होता है।

भाषा सामान्य अर्थ को प्रकट करती है, विशिष्ट अर्थ को नहीं।

लालित्य

नाना आचार-विचारों और विश्वासों की मिलन-भूमि होने के कारण इस देश की संस्कृति में अनेक प्रकार के वैचित्र्य आए। काव्य में, चित्र में, मूर्ति में, वास्तु में, नृत्य-गीत वादित्र में और नाटक आदि चाक्षुष कलाओं में नवीन बातों का समावेश होता गया और एक प्रकार की प्रच्छन्न गतिशीलता का प्रादुर्भाव हुआ। इस बहु विचित्र जन मण्डली के सर्वोत्तम को रूप-ललित रूप देना बड़ी मर्म-भेदनी दृष्टि और अर्थग्राहिका शक्ति का परिचायक है।

मनुष्य निर्मित सौन्दर्य को ही लालित्य कहा गया है। लालित्य अर्थात् प्राकृतिक सौन्दर्य से भिन्न, किन्तु उसके समानान्तर चलने वाला मानव रचित अर्थात् सजाया सँवारा रूप।

विश्व व्यवस्था के **मूल में एक व्यापक छन्द की बात कालिदास को स्वीकार है।** यह विश्वव्यापक छन्द समष्टिगत चिच्छक्ति की सर्जनेच्छा या सिसृक्षा के अतिरिक्त कुछ नहीं है। विशुद्ध चैतन्य की सिसृक्षा ने ही स्त्री-पुरुष-द्विधा विभक्त होने

को प्रवृत किया था। **एक ही केवलात्मा का द्विधा विभक्त होकर परस्पर आकृष्ट होने का सिलसिला विश्व ब्रह्माण्ड के प्रत्येक पिण्ड में** चलता रहा है। **ब्रह्म की इच्छा शक्ति ही समष्टिगत छन्द है, जिसने समस्त भेदोपभेद का छादन कर रखा है।**

ब्रह्म की इच्छाशक्ति ही वह छन्द है जिसने सृष्टि को नाना वर्णों गन्धों और रूपों में रूपायित किया है।

उसकी क्रियाशक्ति से ही यह विश्वब्रह्माण्ड दृष्टिगोचर हो रहा है। जहाँ कही भी आकर्षण है, उल्लास है। जहाँ सृष्टि की इस मूल छन्दोधारा का प्रातिकूल्य है, वही वस्तु असुन्दर और भद्दी है। **गुणीभूत ज्ञानशक्ति है सत्त्व। इच्छाशक्ति है रजस् और क्रियाशक्ति है तमस्।**

(पश्चिमी विचार—)

व्यक्ति-चित्त की इच्छा को सौन्दर्य का हेतु मानें।

सुन्दर = प्राणतत्त्व - जिजीविषा की माँग पूरी करो।

असुन्दर = जो हमारी जिजीविषा के प्रतिकूल है।

व्यक्तिगत इच्छा की महिमा।

— किन्तु वास्तव में वैयक्तिक इच्छा का कोई अन्त नहीं, अनवस्था जैसी स्थिति।

सुन्दर का कोई निश्चित रूप स्थिर नहीं हो पाता।

इस दोष से बचने के लिए दीर्घकाल तक एक ही परिस्थिति में बसनेवाली मानव-मण्डली के सामान्य अनुभव आदि की कल्पना करनी पड़ती है।

कालिदास—व्यक्ति-इच्छा को समष्टि-व्यापिनी इच्छा का विशिष्ट रूप मानते हैं।

समष्टि-इच्छा विश्वव्यापिनी मङ्गलेच्छा के अनुकूल होने पर ही व्यक्तिगत इच्छा सार्थक होती है। उसके प्रतिकूल-मार्ग पर व्यक्तिगत इच्छा कुत्सित हो जाती है।

समष्टि इच्छा चेतन धर्म है। जो बात चेतन धर्म के अनुकूल है, वही सुन्दर है।

समष्टि चेतना सर्जनात्मक है। वह सिसृक्षा है।

व्यक्तिगत इच्छा उसके अनुकूल रहकर ही सार्थक या चरितार्थ होती है।

जिस इच्छा में अज्ञान, मोह, परोत्सादन वृत्ति हो वह पाप इच्छा है, तमोगुण का उद्रेक करती है, जडत्व से अभिभूत होती है, सौन्दर्य उसमें नहीं होता। रूप कभी पाप-वृत्ति को नहीं उकसाता। पाप जो देता है, वह रूप नहीं।

''यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमेतद् व्यभिचारि तद्वचः।''

प्रकृति का सौन्दर्य-निर्माण, और मनुष्य का रूप-निर्माण, इनमें विरोध? क्या ये परस्पर निरपेक्ष हैं?

एरिक न्यूटन ने विरोध को बताया है—

कलाकार की वृत्ति——एक मात्र यही आकार (दूसरा नहीं) मेरी इच्छा को सन्तुष्ट कर सकता है।

प्रकृति की वृत्ति——एक मात्र यही आकार (दूसरा नहीं) **उपयोगी हो सकता है।**

कालिदास—एक मात्र यही आकार (दूसरा नहीं) विश्वात्मा की मूल सर्जनेच्छा (जिसे आजकल प्रकृति कहते हैं), के अनुकूल है दूसरा नहीं।

कवि को 'अहं' का स्थान कहाँ? **आत्मदान** ही उस का शील है।

बहुत समस्यायें सुलझ जाती हैं। यदि कुछ बचता है तो यही कि सचमुच कोई विश्वात्मा है। सचमुच उसकी कोई इच्छा है। यह विचार दूसरे अनुशासन का क्षेत्र है।

''मनुष्य जिन ललित रूपों की रचना करने का प्रयास करता है, वे सब अच्छे ही नहीं होते, क्योंकि पूर्ण समाधि के बिना सुन्दर रूप की रचना नहीं होती। पूर्ण समाधि में ही चित्त सत्त्वाख्य होता है। उसी में अनिन्द्य सुन्दर रूप की रचना सम्भव है।''

मालविकाग्निमित्रम्—

चित्रगतायामस्यां कान्तिविसंवादशंकि मे हृदयम्।
संप्रति शिथिलसमाधिं मन्ये येनेयमालिखिता॥ २/२

विद्धचित्र—हूबहू चित्रण

रसचित्र—कलाकार के रूप में यक्ष सत्त्वस्थ, द्रष्टा के रूप में।

मेघदूत—यक्ष द्वारा प्रिया के चित्र का निर्माण—चित्त की सत्त्वस्था-अवस्था।

चित्रों को देखकर राजसभाव-अश्रुधारा एक साथ सात्त्विक राजस, यानि चित्रकला में रजोगुण, तमोगुण से अभिभूत चित्त से प्राणवन्त, सुकुमार सौन्दर्य नहीं निकल सकता—

''न प्रभातरलं ज्योतिरुदैति वसुधातलात्।'' (शाकु०)

विनिवेशन, अन्यथाकरण और अन्वयन

कालिदास विधाता की सृष्टि-रचना को उत्तम कलाकार की कलाकृति मानते हैं।

'विश्वसृज' की कला-रचना-प्रक्रिया के बहाने उन्होंने श्रेष्ठ मानव-कलाकार के गुणों का उल्लेख किया है। यद्यपि विधाता 'विभु' या परम समर्थ है, फिर भी विधाता को भी मनुष्य की तरह श्रेष्ठ रचना के लिए प्रयत्न करना पड़ता है, समाधि की अवस्था में पहुँचना पड़ता है। तभी सौन्दर्य-सृष्टि करा सकता है।

प्रकृति का सौन्दर्य/मानव कलाकृति का सौन्दर्य कालिदास के लिए उतना भिन्न नहीं है। वे अनायास मानव-कलाकार के उपकरणों को विधाता के उपकरणों के साथ-साथ एक ही साँचे में समान गौरव के साथ रख दे सकते हैं।

विधाता सूर्य-किरणों से कमल में 'विभेद' उभार लाते हैं।

चित्रकार चित्र में विभेद-उभार लाता है तूलिका की मदद से।

नवयौवन द्वारा पार्वती का सपाट चतुरस्र शरीर निखर उठा; उसमें ऊँचाई, निचाई आ गई।

सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथाप्रदेशं विनिवेशितेन।
सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकस्थसौन्दर्यदिदृक्षयेव॥

विनिवेशन

''विधाता ने क्या किया था, यह जानने का उपाय हमारे पास नहीं है। लेकिन कालिदास ने निःसन्देह ऐसा कुछ किया था। तब जाकर वे पार्वती के काञ्चन-पद्म-धर्मी रूप को निखार सके थे।''

अन्यथाकरण

चित्रकार की विवशता है कि उसे ठीक-ठीक चित्र बनाने के लिए बाह्य जगत् से गृहीत सामग्री का अन्यथा-करण करना पड़ता है, कुछ छोड़ना, कुछ जोड़ना, कुछ बदलना। या कभी रूढ़ियों का आश्रय लेना। यह उसकी विवशता है।

अन्यथाकरण (Distortion)—

चार आयामों के जगत् को तीन, दो या एक में बदलना होता है।

यद्यत्साधु न चित्रे स्यात् क्रियते तत्तदन्यथा।
तथापि तस्या लावण्यं रेखया किञ्चिदन्वितम्॥

चित्रकार कुछ जोड़ देता है। पण्डित कहेंगे—

फिर भी इसमें इसका लावण्य कुछ उतर ही गया है।

हर पण्डित से लोहा लेते फिरने की स्पर्धा तो मुझमें नहीं है, पर मुझे लगता है कि कालिदास का तात्पर्य वही है जो पहले कहा गया है। (जोड़ने की बात)

परिदृश्यमान जगत् की सच्चाई क्या है? एक व्यक्ति इसे जैसा देखता है या पूरा समाज जैसे देखता है। व्यक्ति-दृष्टि सच्चाई नहीं। समष्टि दृष्टि सच्चाई है।

अन्वयन

अन्वय है सन्तान-परम्परा—''रघूणामन्वयं वक्ष्ये'' चित्र अपने भाव में स्थिर पदार्थ हो, किन्तु जब वह रसयुक्त बनता है—तब भाव-परम्परा को दीर्घ-काल तक उत्पन्न करता रहता है, ठीक वीणा के तार के अनुरणन की तरह। परन्तु **वीणा का अनुरणन श्राव्य-ध्वनि-परम्परा है और चित्र का अनुरणन मानसिक भाव-परम्परा है। इसी भाव-परम्परा को उत्पन्न करने की क्षमता को अन्वय कहते हैं और उस प्रक्रिया को अन्वयन। इसमें रेखा का विशेष महत्त्व है, क्योंकि रेखा की मोटाई या पतलेपन से नतोन्नत या उच्चावच भाव दिखाना कौशल का काम है।**

वातावरण और अलङ्करण का महत्त्व है अन्वयन में। मुक्तक रचनाओं की व्याख्या के लिए जैसे वातावरण की योजना करनी पड़ती है, तद्वत् **वातावरण के बिना भावचित्र, रसचित्र अधूरे रह जाते हैं।**

शकुन्तला का चित्र अच्छा बन गया था—सानुमती ने कहा—''मानो सखी मेरे सामने ही खड़ी है।''

विदूषक ने भी प्रशंसा की। फिर भी दुष्यन्त सन्तुष्ट नहीं था, क्योंकि शकुन्तला का शारीरिक-मानसिक चित्रण तो उसमें हो गया था, किन्तु दुष्यन्त उस चित्र में नहीं आ पाया था। निपुण कारीगर की मर्यादा दुष्यन्त ने पा ली थी किन्तु सहृदय कलाकार नहीं उकेर पाया था। उसने रेखाओं से अपना कुछ जोड़ना चाहा था, पर जुड़ नहीं पाया था। फिर उसे सूझा था.............. निश्छल, निसर्ग, सुकुमार, सहजभाव। इसे चित्रित किये बिना सब कुछ बेकार था।

कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः।

शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः
शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम्॥

अब जाकर चित्र में रस आया।

''कविता की तुलना में महाकाव्य में, महाकाव्य की तुलना में उपन्यास में, नृत्य की अपेक्षा नाटक में और नाटक की अपेक्षा चलचित्र में, ऐसे ही चित्र की अपेक्षा मूर्ति में और मूर्ति की अपेक्षा वास्तु में—बाह्य जगत् की व्यवस्था अधिक सबल और मुखर होती है।''

'सुन्दर', सौन्दर्यशास्त्र

भारत में सौन्दर्यशास्त्र के नाम से कोई अलग शास्त्र नहीं, किन्तु कथा, शिल्प, चित्र, मूर्ति, सङ्गीत, नाटक आदि की आलोचना के प्रसङ्ग में और विविध आगमों में चरम सुन्दर तत्त्व की महिमा के बहाने इसकी चर्चा अवश्य हुई है। 'सुन्दर' एक 'समग्र' भाव की अनुभूति है, कुछ हद तक दृष्टि-सापेक्ष है। लेकिन कालिदास का सुन्दर सबके लिए सुन्दर होता है, उसके लिए वह अधिक सुन्दर होता है जिससे लगाव है। किन्तु दूसरी ओर-मनुष्य का मन सर्वत्र एक है। एक ही प्रकार से सोचने वाला, एक ही प्रकार से उद्‌बुद्ध या अवबुद्ध होने वाला है मनुष्य का मन। इसी सामान्य-बोध को अंग्रेजी में norm कहते हैं। समष्टि-मानव-चित्त की कल्पना।

मनुष्य की प्रथम रूप-सृष्टि आनन्द मूलक है भयमूलक नहीं। कदाचित् भावावेग की अभिव्यक्ति का प्रथम मानवीय प्रयत्न नृत्य के माध्यम से हुआ होगा। **मण्डलाकार नृत्य के केन्द्र में कोई अतिमानवीय शक्ति रहती है।**

नृत्य=जड़ के गुरुत्वाकर्षण पर चैतन्य की विजयेच्छा का प्रयास।

ताण्डव = निरुद्देश्य, निर्बाध (केवल उल्लास, त्रिपुर-विजय का)

लास्य=प्रयोजन है, अर्थ है। रस-भाव है।

गीत भी=वाक् का प्रथम स्फोट है।

शब्द की, भाषा की सीमाएँ हैं—जाति या समाज को ही कह सकता है शब्द। जाति, व्यक्ति, क्रिया, यदृच्छा, या केवल जाति "जात्यादिजातिरेव वा" इसलिए, उपमा, उत्प्रेक्षा का सहारा लिया गया।

इच्छा अनन्त, क्रिया सान्त।

इच्छा=नाद=Continuum गति, काल।

क्रिया=बिन्दु=quantum स्थिति, देश।

गति और स्थिति के इस द्वन्द्व से रूप, छन्द, गीत तथा नृत्य बनता है।

देश-काल के द्वन्द्व से जीवन रूप लेता है।

नाटक—मनुष्य के भावाभिव्यञ्जक वाक्-तत्त्व के पर्याप्त आयत्तीकरण के बाद की कला।

पद—पदार्थ के विवेक के बाद।

गीत—नृत्य में आदिकाल से लेकर आज तक के लालित्य-बोध में पर्याप्त समानता है।

नृत्य, गीत के बाद ही काव्य, चित्र, मूर्ति आदि का आविर्भाव।

लालित्य

मनुष्य की इच्छा-शक्ति जब सर्जनात्मक रूप ग्रहण करती है, तो भारतीय शास्त्रों में उसे विश्वव्यापिनी सर्जनात्मक शक्ति 'ललिता' का व्यष्टिगत रूप कहा जाता है। विश्व ब्रह्माण्ड में व्याप्त सर्जनात्मक शक्ति का ही वह पिण्ड में प्रतिनिधित्व करती है।

क्रीडा ते लोकरचना सखा ते चिन्मयः शिवः।
आहारस्ते सदानन्दो वासस्ते हृदये सताम्॥

जहाँ कहीं मानव-चित्त में सौन्दर्य का आकर्षण है, सौन्दर्य-रचना की प्रवृत्ति है, सौन्दर्यास्वादन का रस है, वहीं यह देवी

क्रियाशील है। इसलिए भी हमारे आलोच्य शास्त्र का नाम 'लालित्य-शास्त्र' ही हो सकता है। एक प्राकृतिक सौन्दर्य है, दूसरा मानवीय इच्छाशक्ति का विलास है।

प्राकृतिक	मानवनिर्मित
	प्रथम द्वारा चालित, किन्तु मनुष्य के अन्तस्तल की अपार इच्छाशक्ति को रूप देने का प्रयास
अनुभूति देकर विरत	अनुभूति से उत्पन्न होकर अनुभूत परम्परा का निर्माण करता है।

——फिर भी इनमें विरोध नहीं।

मनुष्य की इच्छाशक्ति द्वारा चालित प्रयास से जो सृष्टि होती है, वह किसी अन्य जीवधारी के वश की बात नहीं, वह 'अपूर्व' है।

भरतनाट्यशास्त्र में कहा गया कि देवता 'अनुकरण' नहीं कर सकते, वह तो मुनियों का ही काम है। 'देवता' भी भोग-योनि-मात्र हैं, जैसा उन्हें बनाया गया है बस वैसा ही, उतना ही, वे कर सकते हैं। जब कुछ नया करना होता है तो मूल चैतन्य को मनुष्य रूप में जन्म लेना पड़ता है।



.९.

'संस्कृति'—शब्द की अर्थव्याप्ति

'संस्कृति'—शब्द आज अंग्रेजी के Culture शब्द का पर्याय बन गया है। हमारी परम्परा में इस शब्द का कोई लम्बा इतिहास नहीं है, जैसा कि 'संस्कार' शब्द का है। प्रत्यय-भेद से प्रयोग-भेद और अर्थव्याप्ति के भेद का यह अच्छा नमूना है। संस्कार का सीधा अर्थ शोधन-प्रक्रिया है, जिसका सम्बन्ध भाषा, चित्त, अन्न, आचार, विचार आदि से माना गया है। 'प्राकृत' भाषा से 'संस्कृत' की ओर गति, राग-द्वेषादि से चित्त का रहित होना अर्थात् चित्त की शुद्धि, प्रकृति से प्राप्त अन्न को आहार के उपयोगी बनाने की विभिन्न क्रियायें, काया, मन, वाणी के द्वारा होने वाले समस्त व्यवहार की एक निश्चित व्यवस्था, सम्बन्धों की शृंखला यानी पञ्चभूतों, वनस्पति जगत्, पशु-पक्षी, मनुष्य समुदाय, वेष-भूषा, उपकरण आदि के साथ सम्बन्धों को लेकर एक निश्चित अभिवृत्ति या रुख—ये सब संस्कार के अन्तर्गत हैं। इस प्रकार शोधन के साथ-साथ आहार-विहार की एक रीति या सरणी भी संस्कार के अन्तर्गत आती है, जिसका सम्बन्ध अंग्रेजी के Conditioning शब्द से माना जा सकता है।

'संस्कार' शब्द की जो अर्थव्याप्ति हमने ऊपर देखी, उसकी तुलना में संस्कृति शब्द के व्यापक अर्थ की परिधि कोई बहुत भिन्न हो ऐसी बात नहीं है। केवल इतना कहा जा सकता है कि 'संस्कार' शब्द की रुढ़ि शोधन या Conditioning की प्रक्रिया से जुड़ी है, जबकि संस्कृति उस प्रक्रिया के स्थूल परिणामों का पुञ्ज है। उदाहरण के लिए वेष-भूषा, बर्तन, औजार आदि के प्रति अभिवृत्ति तो संस्कार की देन है किन्तु उनका आकार-प्रकार, उपादान आदि संस्कृति का अङ्ग है। वैसे ही भाषा की शोधन-प्रक्रिया संस्कार है और उससे निष्पन्न भाषा का स्वरूप और उससे रचित साहित्य संस्कृति के अन्तर्गत है। अन्न के प्रति अभिवृत्ति या रुख संस्कार की देन है और व्यञ्जनों का स्वरूप संस्कृति में गिना जायेगा। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि अभिवृत्ति और बाहरी आकार-प्रकार को सर्वथा भिन्न रखना इन दो शब्दों का उद्देश्य है। पुनः स्मरण दिलाना आवश्यक है कि हमारे देश में संस्कार शब्द का ही लम्बा इतिहास है, संस्कृति शब्द का नहीं।

ऊपर हमने संस्कार शब्द की जो संक्षिप्त व्याख्या की है, वह अत्यन्त व्यापक दृष्टि से निपजी है, 'षोडशसंस्कार' में संस्कार शब्द का एक विशिष्ट अर्थ में प्रयोग है, जिसका हमारे व्यापक अर्थ से टकराव नहीं है। मानव में गर्भाधान से लेकर मृत्यु-पर्यन्त स्थूल और सूक्ष्म के सम्पृक्त और असम्पृक्त होने के बिन्दुओं को चुनकर चेतना के संस्कार का विधान वैदिक-परम्परा में है, ऐसे सोलह बिन्दु चुने गये हैं। इन्हीं में उद्गम और विलय की क्रमिक प्रक्रिया भी देखी जा सकती है। इसीलिए ये षोडशसंस्कार हैं। 'संस्कार' यहीं छोड़कर अब संस्कृति की बात की जाय।

आज संस्कृति शब्द को अंग्रेजी के Culture शब्द के पर्याय के रूप में अपनाया गया है। 'कल्चर' में सामान्य रूप से मानव की सभी सर्जनात्मक प्रवृत्तियों का ग्रहण किया जाता है, जिनमें साहित्य, प्रयोगधर्मा कलायें (Performing Arts), दृश्य कलायें (ललित कलायें) इत्यादि शामिल हैं, जिनसे जीवन में समृद्धि आती है। जीवन में परिमार्जन, सौष्ठव, सौन्दर्यबोध आदि के साथ Culture का सम्बन्ध है, ऐसा कहा जा सकता है। साथ ही मानव का अन्य मानवों से सम्बन्ध, दूसरे की बात स्वयं समझने और स्वयं की बात दूसरे को समझाने की क्षमता भी Culture के सामान्य अर्थ में निहित है। हमने संस्कार या संस्कृति

---

* एक विचार-गोष्ठी में प्रस्तुति के लिये लिखा गया बहिन जी का हस्तलिखित लेख। —सम्पा०

की जो व्याख्या ऊपर की है वह इससे भी अधिक व्यापक है, क्योंकि उसमें पञ्चभूतों, वनस्पतिजगत् और मनुष्येतर प्राणियों से सम्बन्ध को भी समेटा गया है।

भारत सरकार ने जब सर्जनात्मक प्रवृत्तियों के संरक्षण, प्रोत्साहन और प्रसार का उत्तरदायित्व समझा, तब स्वतन्त्रता के प्रथम दशक के भीतर ही प्रयोगधर्मा कलाओं के लिए सङ्गीत नाटक अकादमी, साहित्य के लिए साहित्य अकादमी और दृश्य कलाओं के लिए ललितकला अकादमी की स्थापना की गयी। ये अकादमियाँ स्वायत्त होंगी—इस परिकल्पना के साथ सरकारी ढाँचे में संस्कृति-विभाग की भी स्थापना की गई, जिसका सीधा सम्पर्क इन तीनों अकादमियों से रहा है और जो स्वतन्त्र रूप से भी कार्यरत रहा है। इस प्रकार सरकारी ढाँचे में संस्कृति का सरोकार केवल कलात्मक सर्जन से रहा है। संस्कृति का वह व्यापक अर्थ उसमें नहीं उभर पाया है जिसका सङ्केत हम ऊपर कर चुके हैं। यह भी है कि संस्कृति के नाम पर सरकारी ढाँचे में प्रयोगधर्मा कलाओं का ही बोलबाला रहा है, क्योंकि 'उत्सव' का रूप उन्हीं में उभर कर सामने आता है। केन्द्रिय सरकार की भाँति राज्य सरकारों में भी 'संस्कृति विभाग' या 'सांस्कृतिक-कार्य-विभाग' स्थापित हैं। ध्यान देने की बात है कि केन्द्र और राज्यों के संस्कृति-विभागों का शिक्षा-विभाग से कोई सरोकार नहीं है, जिसका परिणाम यह है कि जनमानस में संस्कृति शब्द नृत्य-गीत-नाट्य के 'प्रदर्शन' में सिमटकर रह गया है। इसीलिए अंगेजी के Culture शब्द को भी इसी 'संस्कृति' का पर्याय बनाकर गीत-नृत्य आदि के प्रयोग को 'Culture Programme' कहा जाने लगा है और उसी का उलथा है सांस्कृतिक कार्यक्रम। शब्दों की यह उलट-पुलट कितनी मूल रहित है यह स्पष्ट ही है वस्तुतः अंग्रेजी भाषा में 'Cultural Programme' जैसा कोई शब्दविन्यास नहीं है, किन्तु Culture और संस्कृति-दोनों शब्दों के अतिसङ्कुचित अर्थ के समीकरण से इस प्रकार के शब्द-प्रयोग प्रचलित हो गये हैं।

संस्कृति का सम्बन्ध धर्म से है या नहीं? यह प्रश्न उठाया जाने लगा है। धर्म का स्वरूप हम क्या समझते हैं इसी से इस प्रश्न का निर्णय होना चाहिए। मनुष्य के जीवन को यदि दो खण्डों में बाँट दिया जाय जिनमें से एक का सम्बन्ध उसके श्रद्धा, विश्वास के पुञ्ज से हो, और दूसरे का उसकी तथाकथित भौतिक प्रवृत्तियों से हो, तब तो पहले का नाम धर्म हो सकता है और दूसरे का नाम संस्कृति। किन्तु वास्तव में ऐसा विभाजन किसी भी मानव समुदाय में सम्भव है क्या? किसी भी समुदाय के विश्वास, भौतिक जगत् के साथ मनुष्य के सम्बन्ध को लेकर उसकी विचारसरणी क्या उसके कलात्मक सर्जन में प्रतिबिम्बित हुए बिना रह सकती है? धरती, आकाश, जल, अग्नि और वायु में देवतत्त्व का वास उसी प्रकार नदी, पर्वत, सागर में देवत्व का आधान और तुलसी, पीपल, वट, नीम, बिल्व आदि का देवमय रूप यदि किसी मानव समुदाय ने किया है तो खेती, रसोई, भोजन, पशु-पालन, कताई-बुनाई, रँगाई-छपाई, गृह-निर्माण, गृहसज्जा, उत्सव क्रम, ऋतुचर्या आदि उस मौलिक श्रद्धा या विश्वास से अछूते रह सकते हैं क्या? **जीवन का इस प्रकार से विभाजन वर्तमान युग के पश्चिमी चिन्तन का साक्षात् प्रभाव है, जिससे हम सर्वथा ग्रस्त हैं।**

भारत की बात करें तो आज संस्कृति को लेकर एक बहुत बड़ा विवाद और आक्रोश का बिन्दु इस बात पर उभर रहा है कि कोई संस्कृति की मुख्यधारा (Main Stream) है और कोई उपधारायें (Sub Streams) हैं। **आज छोटे से छोटा समुदाय अपनी अस्मिता स्थापित करने को उग्र रूप से प्रयत्नशील है क्योंकि तथाकथित मुख्यधारा का आधिपत्य उनकी अपनी पहचान का कहीं ध्वंस न कर दे, यह आतङ्क फैला है या फैलाया गया है।** मुख्यधारा का रूपक निश्चित ही इस आतङ्क को जन्म दे सकता है, क्योंकि उपधारायें मुख्यधारा में मिलकर अपना अस्तित्व खो देती हैं। इस प्रसङ्ग में मुझे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का एक रूपक याद आता है। उन्होंने कहा है कि **भारतीय संस्कृति एक ऐसा कन्था है जिसका एक टांका भूटान में भरा गया है तो दूसरा केरल में और तीसरा कश्मीर में।** इस रूपक में **प्रत्येक टाँके का अपना अस्तित्व है। कोई किसी में विलीन नहीं होता।** विभिन्न रंगों के फूलों वाले उद्यान का रूपक भी चल सकता है। मुख्य और गौण को उभारने वाले रूपक इस समय घातक सिद्ध हो रहे हैं। **छोटे से छोटे समुदाय की संस्**कृति का भारत की विशाल संस्कृति में अपना स्थान है, यह स्वीकार आज का युगधर्म है।

'संस्कृति' के साथ लोक शब्द का सङ्कर बहुत प्रचलित हो गया है, जो अंग्रेजी के Folk Culture का पर्याय है। यहाँ

भी संस्कृति का अर्थ गीत, वाद्य, नृत्य, नाट्य, शिल्प, चित्र आदि तक सीमित है, और 'लोक' का अर्थ है ग्रामीण जनसमुदाय। अंग्रेजी में Folk और Tribal अलग किया जाता है। इसलिए हमें भी 'लोक' को ग्रामीण में सीमित करके Tribal को आदिवासी या जनजाति से सम्बद्ध नाम देना पड़ता है। **'लोक' का यह अर्थ हमारे इतिहास से कहीं जुड़ा नहीं है। हमारे यहाँ 'मार्ग' और 'देशी' का विभाजन रहा है, और ये दोनों धाराएँ समानान्तर नहीं, बल्कि एक-दूसरे की पूरक या एक-दूसरे से लेन-देन करती हुई मानी गयी हैं।**

अंग्रेजी में प्राय: 'Art and Culture' कह कर कला और संस्कृति का पृथक् उल्लेख भी किया जाता है। हमने भी यह जोड़ा अपना लिया है। इस जोड़े के अनुसार कला के अन्तर्गत सौन्दर्य बोध-मूलक सर्जन और संस्कृति के अन्तर्गत मानव जीवन के अन्य पहलू गिने जाते हैं। शब्दों की अर्थव्याप्ति में इस प्रकार का सङ्कोच और प्रसार हुआ ही करता है, किन्तु अंग्रेजी शब्दों पर आधारित हमारा चिन्तन हमारी जड़ों से कटा हुआ है, यही बात चिन्ता का विषय है।

इस प्रकार संस्कृति शब्द की अर्थ-व्याप्ति 'संस्कार' की तुल्यता को लेकर सर्वाधिक विस्तृत है, कलाओं से विशेषत: प्रयोगधर्मा कलाओं से जुड़कर यह शब्द सीमित हो गया है और कला के साथ युग्म बनाकर यह एक भिन्न अर्थ-व्याप्ति का वाहक बन गया है। हमारा चिन्तन अंग्रेजी से आक्रान्त होने के कारण हमारे देश की विशिष्टता उसमें उभर नहीं पाती है। इस संकट से उबरने का एक ही उपाय है कि हम चिन्तन का स्वातन्त्र्य अर्जित करने के लिए प्रयत्नशील हों। **चिन्तन का दासत्व प्रत्यक्ष दासत्व से भी कहीं अधिक घातक है।**

उपसंहार में आनन्द कुमार स्वामी का एक उद्धरण देने का लोभ हो आया है।

''संस्कृति की व्याख्या में चित्त की एक प्रकार की समाहित अवस्था या अनासक्ति को जोड़ा जा सकता है। शरीर और मन की निश्चलता साधने की शक्ति भी इसमें शामिल है, क्योंकि चञ्चलता या अस्थिरता असंस्कृत होने का लक्षण है। व्यक्तियों या समुदायों के केवल 'बाह्य' रूपों को भेद कर उनके पार देखने की क्षमता भी संस्कृति का अङ्ग है। संस्कृति में जीवन का सन्तुलित दर्शन अन्वित है, जिसमें वास्तविक और मिथ्या 'अर्थों' के बीच अविवेक न हो। और भी, ऐसी बातों की थोड़ी बहुत समझ या उनमें रुचि भी संस्कृति में समाविष्ट है, जिनकी कोई प्रत्यक्ष उपयोगिता न हो अर्थात् जो केवल इन्द्रियसुख नहीं देतीं या किसी पूर्वग्रह की पुष्टि नहीं करती हैं''।

(—Coomaraswamy : His life And Work by
Rozer jipsey, 1978, p. 52, में से भावानुवाद)

★★★

.१०.

भारतीय सङ्गीतशास्त्र में एकाधिक अनुशासनों का योग

भारतीय सङ्गीतशास्त्र में सङ्गीत पर विचार करने की रीति अनेक अनुशासनों से प्रेरित है। इन अनुशासनों को निम्नलिखित वर्गों में रखा जा सकता है—

१. शरीर-सम्बन्धी चिन्तन—इसमें आयुर्वेद, योग और तन्त्र आते हैं।

२. वाक् सम्बन्धी चिन्तन—इसमें शिक्षा, व्याकरण, छन्द और साहित्य-शास्त्र का स्थान है।

३. चित्तसम्बन्धी चिन्तन—इसमें रस-सिद्धान्त का प्रमुख स्थान है।

४. पुरुषार्थ-सम्बन्धी चिन्तन—इसमें प्रयोजन और फल का विचार है।

५. देश-काल सम्बन्धी चिन्तन—इसमें ज्योतिष का प्रमुख स्थान है।

६. दार्शनिक चिन्तन—इसमें मीमांसा, वेदान्त, सांख्य आदि का स्थान है।

इन वर्गों पर परिचयात्मक विचार क्रमशः प्रस्तुत है।

1. **शरीर सम्बन्धी चिन्तन**—नादोत्पत्ति का प्रमुख साधन शरीर को ही माना गया है, जिसे उपनिषद् में दैवी वीणा नाम दिया गया है और सङ्गीतशास्त्र में शारीरी वीणा। इसलिए शरीर 'पिण्ड' की उत्पत्ति अर्थात् माता के गर्भधारण से लेकर शिशु के जन्म तक की प्रक्रिया का संक्षिप्त अथवा विस्तृत वर्णन सङ्गीतशास्त्र-ग्रन्थों में मिलता है। प्रथम उदाहरण है शारदातनय का भावप्रकाशन एवं द्वितीय शार्ङ्गदेव का सङ्गीतरत्नाकर, यह निरूपण सीधे आयुर्वेद से लिया गया है। इसके अतिरिक्त भी आयुर्वेद से प्रभावित चिन्तन सङ्गीतशास्त्र में दो प्रसङ्गों में मिलता है। पहला है कण्ठ के वर्गीकरण के प्रसङ्ग में, जहाँ वात-पित्त-कफ और सन्निपात को आधार बनाया गया है। इसका आरम्भ मतङ्ग की बृहद्देशी में ही हो जाता है। बाद के ग्रन्थों, यथा सङ्गीतरत्नाकर, में इसका विस्तार हुआ है। प्रबन्ध के निरूपण में 'अङ्ग' और 'धातु' का विचार सीधे आयुर्वेद से प्रभावित है।

आयुर्वेद की दृष्टि से शरीर या 'पिण्ड' के वर्णन के साथ-साथ हठयोग की दृष्टि से चक्रों और नाडियों का निरूपण भी सङ्गीतशास्त्र में मिलता है। इसका सर्वाधिक विस्तृत रूप सङ्गीतरत्नाकर में प्राप्त है। वैसे, नाद-बिन्दु की चर्चा तो बृहद्देशी से ही आरम्भ हो जाती है।

तन्त्र की दृष्टि से सात स्वरों के वाचक अक्षरों—'स-रि-ग-म-प-ध-नि' का बीजाक्षरों की भाँति निरूपण बृहद्देशी में मिलता है और वहीं से तन्त्र का सङ्गीतशास्त्र में प्रवेश लक्षित होता है। आगे चलकर तान्त्रिक पद्धति से रागध्यान देने की रीति सामने आती है। इसका स्पष्ट दर्शन चौदहवीं शताब्दी के ग्रन्थ सङ्गीतोपनिषत्सारोद्धार में होता है और पन्द्रहवीं शताब्दी के सङ्गीतराज में और भी विस्तार सामने आता है। इस पद्धति में राग के पुल्लिङ्गवाचक अथवा स्त्रीलिङ्गवाचक नाम के अनुसार उसका 'ध्यान' देव या देवी के रूप में दिया जाता है। इस ध्यान में शरीर का वर्ण यानी रङ्ग, वस्त्रों का वर्ण, सिरों और भुजाओं की संख्या, आयुध अर्थात् हाथों में धारण किये हुए उपकरण और वाहन ये पाँच बातें सम्मिलित रहती हैं।

---

* यह लेख पू० बहिनजी ने १९९५-९६ में लिखकर कहीं भेजा था, उनका हस्तलेख उपलब्ध हुआ किन्तु कहाँ के लिये लिखा था यह ज्ञात नहीं। —सम्पा०

२. **वाक्सम्बन्धी चिन्तन**—'शिक्षा'—शास्त्र का सम्बन्ध वर्णोच्चारण से है। सङ्गीत का प्रमुख तत्त्व नाद है, किन्तु वास्तव में नाद और वर्ण अभिन्न रूप से जुड़े हैं, इसलिए शिक्षा में वर्णोत्पत्ति का जो क्रम बताया गया है, अर्थात् पहले आत्मा में विवक्षा (कहने की इच्छा) उठना, फिर आत्मा द्वारा मन को नियुक्त किया जाना, मन का कायाग्नि को प्रेरित करना, और कायाग्नि से वायु की ऊर्ध्वगति होना—यही क्रम सङ्गीतशास्त्र में स्वरोत्पत्ति के लिए ज्यों का त्यों स्वीकृत एवं वर्णित हुआ है। यह वर्णन बृहद्देशी एवं सङ्गीतरत्नाकर में मिलता है। **स्वर, वर्ण और पद व्याकरणशास्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं और ये ही सङ्गीतशास्त्र में भी ज्यों के त्यों आये हैं। दोनों शास्त्रों में इनके अर्थ स्थूल रूप से भिन्न हैं, किन्तु उनमें आन्तरिक समानता है।** व्याकरण में 'स्वर' की व्याख्या है—'स्वयं राजते' अर्थात् जो स्वयं प्रकाशित होता है। सङ्गीत में 'स्वतो रञ्जयति' स्वर का लक्षण है। स्वयं अर्थात् किसी अन्य अक्षर की सहायता के बिना जो प्रकाशित होता है वह व्याकरण का स्वर है। सङ्गीत का स्वर स्वयं अर्थात् किसी अन्य अर्थ की अपेक्षा के बिना ही श्रोता के चित्त को आनन्द देता है। दोनों 'स्वरों' में 'स्वतः' या 'स्वयं' समान है, एक स्वयं प्रकाशित होता है और दूसरा रञ्जन भी करता है।

वर्ण (अक्षर, व्यक्त श्रव्य ध्वनि) भाषा की पहली इकाई है और सङ्गीत में स्वर की गति की प्रथम अभिव्यक्ति हैं वर्ण। 'वर्ण' शब्द का सामान्य अर्थ है रङ्ग। दृश्य में रङ्ग ही विशिष्टता लाता है। भाषा में वर्ण ही विशिष्टता का प्रथम साधन है। उसी प्रकार सङ्गीत में भी विशिष्टता 'वर्ण' से ही आती है। या तो हम किसी स्वर को पुनः-पुनः लेते हैं (स्थायी) या क्रमशः ऊँचाई की ओर बढ़ते हैं (आरोही) या नीचे की ओर उतरते हैं (अवरोही) और या तीनों का मिश्रण करते हैं (सञ्चारी)।

पद भाषा की पहली सार्थक इकाई है। संस्कृत भाषा में कोई भी शब्द तब तक प्रयोग के योग्य नहीं माना गया जब तक उसमें सुप् (संज्ञा में लगने वाले) प्रत्यय या तिङ् (धातु—क्रियावाचक शब्द में लगने वाले) प्रत्यय न लग जायें। इसलिए पद का लक्षण किया गया है—'सुप्तिङन्तं पदम्' अर्थात् जिसके अन्त में सुप् या तिङ् प्रत्यय लगा हो वह पद होता है। सङ्गीत में सार्थक अथवा निरर्थक दोनों ही प्रकार की वर्णात्मक ध्वनियों के विशिष्ट समूह की संज्ञा पद है। किसी भी भाषा के सार्थक पद तो 'गेय' में आते ही हैं, साथ ही ''झण्टुं, जगतिय, वलितक, दिगिनिगि, तितिझल, कुचझल, तितिचा'' जैसे अर्थहीन अक्षर समूह भी पद कहलाते हैं। ये पद-समूह नाट्यशास्त्र में '**शुष्काक्षर**' अथवा '**वाक्करण**' कहे गये हैं। जाति या राग जैसे स्वरसन्निवेश के विस्तार में स्वरों के सञ्चार की जो इकाइयाँ बनती हैं उन्हें भी 'पद' कहा गया है। भाषा में जैसे पदों से वाक्य बनता है वैसे ही इन स्वरात्मक पदों से जाति या राग का स्वरसन्निवेश प्रकट होता है।

इस प्रकार हमने देखा कि व्याकरण और सङ्गीत के मूलभूत चिन्तन में कितनी समानता है। व्याकरण के दर्शन में '**स्फोट**' का जो विचार है उसे सङ्गीत में स्वरगत-अनुरणन के रूप में स्थान मिलता है।

छन्दः शास्त्र में पद के लघु-गुरु अक्षर-विन्यास अथवा मात्रा-संख्या के अनुसार पद-रचना अथवा केवल अक्षरों या वर्णों की संख्या के नियमन पर विचार होता है। पदगत रचना के प्रारूप (Patterns) सरगम में, सितार-सरोद जैसे प्रहारयुक्त तन्त्रीवाद्यों में और सभी अवनद्ध वाद्यों में स्पष्ट दिखाई देते हैं। यों तो घर्षण—(वह चाहे गज से हो या फूँक से) से भी ये प्रारूप बनते ही हैं किन्तु प्रहार में इनका रूप अधिक स्पष्ट होता है। ध्रुवा, 'गीतक' और 'प्रबन्ध' में क्रमशः लघु-गुरु-विन्यास से बने वार्णिक वृत्तों अथवा चार पादों में विभाजन से हटकर वर्ण-विन्यास के प्रारूपों, चतुर्मात्रिक गणों और वार्णिक तथा मात्रिक छन्दों का प्रयोग हुआ है। आज भी मौखिक परम्परा में बीन, सितार या सरोद में मिज़राव या जवे के बोलों के प्रसङ्ग में '**छन्द**' शब्द का प्रयोग भरपूर होता है। तबला, पखावज के बोलों में भी '**छन्द**' की झलक दिखाई देती है और इस शब्द का प्रयोग भी होता है। इस प्रकार छन्द सङ्गीत में सर्वत्र व्याप्त है, उसका प्रत्यक्ष उल्लेख हो या न हो।

साहित्यशास्त्र में शब्द और अर्थ के '**सहित**'-**भाव** पर विचार होता है। शब्द के समकक्ष स्वर का सङ्गीत में स्थान है। काव्य का शरीर यदि शब्द से बनता है तो गेय का शरीर स्वर से। **काव्य में** शब्द या पद की रचना में समास की बहुलता या विरलता के आधार पर **रीति का निरूपण हुआ है**। उसके समकक्ष **सङ्गीतशास्त्र में गीति का विचार है,** जिसमें प्रमुख रूप से स्वरों के सरल अथवा वक्र प्रयोग, गमकों की बहुलता अथवा विरलता आदि का विचार विषय-निरूपण का आधार बना है। गुण-दोष, अलङ्कार, भी दोनों शास्त्रों में समानरूप से निरूपण का विषय बने हैं। **काव्य में शब्द कौर अर्थ के गुण-दोष कहे**

गये हैं, तो सङ्गीत में गायक, कण्ठ और गीत, उसी प्रकार वादक, हस्त और वाद्य के गुण-दोष कहे गये हैं। काव्य में अलङ्कार का दर्शन शब्द और अर्थ में किया गया है और सङ्गीत में उसका सम्बन्ध केवल स्वर से है। आज अलङ्कार को 'पलटों' का पर्याय माना जाता है, किन्तु अलङ्कार का प्राचीन अर्थ उससे अधिक व्यापक है, जिसमें, बाद के गमक का भी समावेश है। विस्तार भय से व्याख्या का यहाँ अवकाश नहीं है। इतना अवश्य कहना होगा कि **गेय में सार्थक पद के माध्यम से काव्य के शब्दालङ्कारों का सहज प्रवेश हो जाता है।**

३. **चित्तसम्बन्धी चिन्तन**—मनोवृत्तियों को लेकर नाट्य के प्रसङ्ग में जो विचार हुआ है, उसकी निष्पत्ति **भाव और रस** में हुई है। यह विचार सभी कलाओं में व्याप्त है। सङ्गीतशास्त्र में भी राग, प्रबन्ध, नृत्य के प्रसङ्ग में विशेष रूप से रसों और भावों का उल्लेख हुआ है। विस्तार के लिए यहाँ अवकाश नहीं है। इस चिन्तन का सार यह है कि **'लोक' अर्थात् जीवन में हमारी चित्तवृत्तियाँ देश-काल-पात्र के साथ जुड़ी रहती है, इसलिए हम उनके प्रति तटस्थ नहीं रह पाते। तादात्म्य और तटस्थता, दोनों एक साथ रहें, यह तभी हो पाता है, जब जीवन की अवस्थाएँ नाट्य अथवा किसी अन्य कला के माध्यम से प्रस्तुत की जाएँ। तब चित्तवृत्तियों का आस्वादन सम्भव होता है और आस्वादन का अनुभव ही रस है।** (देखें लेखिका की पुस्तक रस सिद्धान्त : मूल, शाखा, पल्लव और पतझड़)।

४. **पुरुषार्थ सम्बन्धी चिन्तन**—'पुरुषार्थ' भारतीय संस्कृति का केन्द्रबिन्दु है। मानव-जीवन के चार 'अर्थ' या प्रयोजन माने गये हैं—'धर्म' अर्थात् नीतिमूलक आचरण, 'अर्थ' अर्थात् जीवनोपयोगी सभी पदार्थ, 'काम' अर्थात् आत्म-विस्तार की कामना और 'मोक्ष' अर्थात् आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति और निरतिशय सुख स्वरूप होना।

संङ्गीत को इन चारों पुरुषार्थों का समर्थ साधन माना गया है। सङ्गीतशास्त्र पुरुषार्थ के विचार को पूर्ण रूप से आत्मसात् किये हुए है।

५. **देश-काल-सम्बन्धी चिन्तन**—इस चिन्तन का सीधा सम्बन्ध ज्योतिष से है। वैसे देश और काल पर थोड़ा बहुत विचार हर दर्शन में हुआ है। काल की चक्रिक गति के स्वीकार का स्पष्ट प्रभाव ताल के स्वरूप पर है। देश का विचार संङ्गीतशास्त्र के ग्रन्थ बृहद्देशी में विशेष रूप से हुआ है। 'ध्वनि' का अनुभव 'देश' के अनुसार होता है, अर्थात् ध्वनि सामने-पिछे, बाएँ-दाएँ, ऊपर-नीचे कहाँ से आ रही है, इसका अनुभव होता है। इसलिए ध्वनि देशी होती है, इस चर्चा से इस ग्रन्थ का आरम्भ होता है। फिर 'मार्ग' के प्रतियोगी (Counterpart) 'देशी' का सम्बन्ध भी देश-देश में रहने वाले जनों से है। रागों की भाषाओं (प्रकारों) की एक कोटि भी देशजा है, जिसमें-सैन्धवी, गूर्जरी, सौवीरी, कालिङ्गी, सौराष्ट्री जैसे नाम मिलते हैं।

नाट्यशास्त्र की १८ जातियों में से आन्ध्री नाम तो सीधे देश से जुड़ा है, शेष नामों में भी 'गान्धार' और 'उदीची', ये दो घटक देश-वाचक कहे जा सकते हैं, यद्यपि गान्धार स्वर-वाचक भी है। तात्पर्य इतना ही है कि देश का विचार सङ्गीतशास्त्र में बराबर होता रहा है। काल तो सङ्गीत का मूलतत्त्व है ही, क्योंकि 'श्रव्य' की निष्पत्ति काल में ही होती है। सुनना क्रमिक होता है, इसलिए उसमें काल अनिवार्य है।

६. **दर्शन-सम्बन्धी चिन्तन**—वेदान्त और सांख्य दर्शनों का प्रभाव सङ्गीतशास्त्र में पिण्डोत्पत्ति अर्थात् जीव द्वारा शरीर-धारण की प्रक्रिया में और सत्त्व-रजस्, तमस्, इन तीन गुणों के सिद्धान्त के आधार पर प्रतिपादन में प्रमुख रूप से दिखाई देता है। पूर्व-मीमांसा का प्रभाव विषय-प्रतिपादन में 'विधि', 'परिसंख्या' जैसे शब्दों के प्रयोग से स्पष्ट होता है। (देखिए डॉ० विमला मुसलगाँवकर की पुस्तक—भारतीय सङ्गीतशास्त्र का दर्शनपरक अनुशीलन)

उपसंहार—इस प्रकार हमने देखा कि भारतीय सङ्गीतशास्त्र में भारतीय चिन्तन की अनेक धाराओं का घुला-मिला रूप प्राप्त होता है। ये सभी धाराएँ परस्पर जुड़ी हुई हैं। भारतीय संस्कृति की जीवन के प्रति अखण्ड दृष्टि सङ्गीतशास्त्र में भलीभाँति उजागर होती है।

★★★

.११.

राग-रागिणी-चित्रण-परम्परा

'राग' अर्थात् विशिष्ट स्वर सन्निवेश में एक ओर परुषता, गाम्भीर्य, प्रौढ़ता आदि तथा दूसरी ओर कोमलता, तरलता, स्निग्धता आदि की अनुभूति को, दर्शन को, अभिव्यक्त करने के लिए—सूक्ष्म को स्थूल तथा अग्राह्य को ग्राह्य बनाने के लिए,—पुरुषत्व और स्त्रीत्व के सर्वव्यापक और चिरन्तन प्रतीक का ग्रहण भारतीय सङ्गीत-परम्परा का एक विशिष्ट अङ्ग है। राग-रागिणी-वर्गीकरण का उद्भव और विकास इसी प्रतीक के आश्रित रहा है। राग-ध्यान की परम्परा इसी वर्गीकरण-पद्धति के आश्रय में अथवा इसी की सहगामिनी के रूप में पनपी है और राग-चित्रण-परम्परा ने शाब्दिक राग-ध्यान की स्थूल प्रतिकृति उपस्थित की है। इस प्रकार राग-रागिणी-वर्गीकरण, राग-ध्यान और राग-चित्रण—इन तीनों में उत्तरोत्तर स्थूल रूप से एक ही विचारधारा अथवा अभिव्यक्ति-माध्यम का पल्लवन प्राप्त होता है।

अमूर्त्त अनुभूति को मूर्त्त रूप देने के लिए मनुष्य श्रव्य और दृश्य माध्यम का परस्पर-विनिमय सहज ही किया करता है। किसी सुन्दर चित्र को देख कर हम कह उठते हैं—'अहा! इसमें तो मानों काव्य लिखा पड़ा है।' दृश्य चित्र में श्रव्य काव्य का श्रवण—इस विरोधाभास को अभिव्यक्ति के सहज माध्यम के रूप में अनायास ग्रहण किया जाता है। तद्वत् भावपूर्ण गायन अथवा वादन को सुनकर प्राय: ऐसा उद्‌गार सहज निकल पड़ता है—"वाह! करुणा अथवा वियोग-वेदना अथवा हर्षोल्लास का मानों चित्र ही खड़ा कर दिया हो।" श्रव्य गायन-वादन में दृश्य का दर्शन हमारी अनुभूति की तीव्रता और गहनता को ही अभिव्यक्त करता है। दृश्य और श्रव्य के परस्पर-विनिमय का व्यवहार कलात्मक अनुभूति तक ही सीमित नहीं, प्रतिदिन के सामान्य अनुभव में भी उसका व्यापक व्यवहार मिलता है। नाम और रूप में कोई तात्त्विक अन्तर तो है ही नहीं। फिर श्रव्य और दृश्य का विनिमय क्यों न हो? अस्तु।

राग-चित्रण-परम्परा के उद्भव और विकास का ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत करने का यहाँ स्थानाभाव के कारण अवकाश नहीं है। इस सम्बन्ध में अत्यन्त संक्षिप्त उल्लेख ही सम्भव है। राग-रागिणी-चित्रण का सर्वप्रथम रूप १५वीं-१६वीं शती ई० में उपलब्ध होता है। राग-ध्यान का सर्वप्रथम उपलब्ध उल्लेख १४वीं शती ई० का है।[१] राग-चित्रण का विशेष विस्तार राजस्थानी और मालवा चित्र-शैलियों के अन्तर्गत हुआ है। कुछ चित्र दक्खिनी (बीजापुर) शैली के भी मिलते हैं और बहुत थोड़े से चित्र कांगड़ा शैली के उपलब्ध होते हैं।

यहाँ हम मालवा शैली के तीन चित्र और दक्खनी शैली के दो चित्र दे रहे हैं।*[१] मालवा शैली वाले चित्र १७वीं शती

---

* "नादरूप"—द्वि०खं० १९६१—में से सङ्कलित। —सम्पा०

१. द्रष्टव्य—सुधाकलश का 'संगीतोपनिषत्सारोद्धार' (गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज़ में बड़ोदा से प्रकाशित)। यह ध्यान देने की बात है कि इस ग्रन्थ में 'रागिणी' के स्थान पर 'भाषा' संज्ञा का प्रयोग मिलता है। उसी प्रकार चित्रण-परंपरा के सर्वप्रथम उपलब्ध रूप में भी स्त्री-राग को 'भाषा' ही कहा गया है। इससे यह सहज अनुमान हो आता है कि मतंग के राग-वर्गीकरण में ग्राम-राग (पुल्लिंग) और भाषा (स्त्रीलिंग) के रूप में रागों के 'पुरुषत्व' और 'स्त्रीत्व' का बीज प्राप्त हो जाता है। मतंगोक्त 'भाषा'-संज्ञाओं में से कुछेक तो बाद में रागणियों के रूप में ग्रहण कर ली गई। उदाहरण के लिए 'त्रवणा' या 'त्रिवणी' (जिसका चित्र संलग्न है) का नाम लिया जा सकता है।

के ई० हैं। ये तीनों चित्र तथा दक्खनी शैली के दो चित्रों के ब्लॉक भारत कला भवन के सौजन्य से हमें प्रकाशनार्थ उपलब्ध हुए हैं। इस उदारता के लिए मान्यवर श्री राय कृष्णदास, अध्यक्ष भारत कला भवन, के प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।*

मालवा शैली के जो तीन चित्र यहाँ दिए हैं ये किन्हीं हिन्दी कवि लछमनदास की कृति 'राग-माला' के आधार पर निर्मित चित्र-माला में से लिए गए हैं। चित्रकार का नाम अज्ञात है। इस 'राग-माला' में छः पुरुष राग और प्रत्येक राग के अन्तर्गत पाँच-पाँच रागिणियाँ कही गई हैं जिनकी तालिका इस प्रकार है।

१. श्री राग	२. दीपक राग	३. हिंडोल राग	४. मेघ राग	५. भैरव राग	६. मालवकौशिक राग
१. रामकरी	१. गौडकरी	१. नट	१. मालसिरी	१. मधुमाधवी	१. गौरी
२. गूजरी	२. मालवा	२. वैराटी	२. कानरो	२. बंगाल	२. टोडी
३. ललित	३. पटमंजरी	३. भैरवी	३. आसावरी	३. गुनकिरी	३. ककुभ
४. विभास	४. कामोद	४. वसन्त	४. मलार	४. बरारि	४. खंभावती
५. धनाश्री	५. पंचम	५. देसाख	५. बिलावल	५. सुरगान्धार	५. केदार

राग-ध्यान और राग-चित्रण की परम्परा के विषय में निम्नलिखित सामान्य उल्लेख यहाँ स्थानीय होंगे—

(1) राग-रागिणी-वर्गीकरण के भिन्न-भिन्न रूप भिन्न-भिन्न ग्रन्थों और चित्रमालाओं में मिलते हैं। किसी में एक राग को प्रमुख रागों में गिना है, तो किसी में उसी को रागिणियों में ले लिया है। इस विपुल मतभेद का कोई शास्त्रीय आधार कहीं भी प्राप्त नहीं होता।

(2) नायक-नायिका-भेद का राग-ध्यान और चित्रण-परम्परा पर विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। उदाहरणार्थ, रामकली के संलग्न चित्र में खण्डिता नायिका का चित्रण किया गया है। रामकली के पदों में आज भी ''सगरी रैन के जागे'' इस प्रकार खण्डिता नायिका का वर्णन प्रायः मिलता है।

(३) किस राग के अन्तर्गत कौन सी रागिणी मानी जाए, इस विषय में विपुल मतभेद होने पर भी एवं राग-रागिणी के नामों में काफी भिन्न-भिन्न परम्पराएँ होने पर भी कुछेक राग-रागिणियों के ध्यान और चित्र-रूप प्रायः सर्वत्र एक से पाए जाते हैं। उदाहरणार्थ, भैरवी के ध्यान और चित्रण में शिव की पूजा का [1] तथा तोडी के ध्यान में हिरणों की मुग्धावस्था का प्रायः सर्वत्र एक ही प्रकार से उल्लेख मिलता है। भैरवी और तोडी के संलग्न चित्र उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत हैं।

(४) प्रमुख पुरुष रागों के अन्तर्गत स्त्रीलिंगवाची राग-संज्ञाओं के साथ-साथ पुल्लिंगवाची संज्ञाएँ भी प्रचुर मात्रा में पाई जाती हैं। इन पुल्लिंगवाची संज्ञाओं द्वारा अभिधेय रागों का ध्यान कैसा रखा जाए, यह ग्रन्थकारों के लिए समस्या ही रही होगी[2], क्योंकि प्रमुख रागों के अन्तर्गत होने से इन रागों का मूल रूप तो स्त्रीलिंग-वाच्य ही मानना पड़ता है। जिस 'रागमाला' में से प्रस्तुत चित्र लिए गए हैं, उसमें इस प्रकार की पुल्लिंग-वाच्य रागिणियों (जैसे—केदार, कामोद, मल्लार) का ध्यान इस प्रकार दिया है कि विरहदग्धा नायिका पुनर्मिलन के लिए पुरुष वेष धारण करके तपस्या कर रही है। संलग्न केदार का चित्र इसी श्रेणी का है। मल्लार के लिए भी इसी 'रागमाला' में कहा गया है, 'पुरुष भेष धरि भई सन्यासिनी'।

---

* किन्तु अब यहाँ उनका पुनर्मुद्रण सम्भव नहीं हुआ। —सम्पा०

१. उदाहरणार्थ, भैरवी की स्वरावली में निबद्ध एक 'ध्रुपद' (चौताल) की निम्नलिखित शब्दावली भी शिव-पूजन की ही द्योतक है—

सुंदर सरूप जाके सुंदर सिंगार कीन्हो,
सुंदर नवेली जो पिया की प्रानप्यारी।
पूजती महादेव सिला पर सुचि मान,
रहस रहस गावत दोउ कर तारी॥

२. यहाँ उसी परंपरा से तात्पर्य है जिसमें राग-पुत्रों को स्थान नहीं दिया गया है; अन्यथा रागपुत्रों के रूप में तो अनेकों पुरुष-राग भी रागणियों की भाँति प्रमुख पुरुष-रागों के अन्तर्गत समाविष्ट हो जाते हैं।

(५) राग-ध्यान की परम्परा के प्रारम्भिक काल में तो रागों के 'दृश्य' ध्यान के साथ-साथ उनके 'श्रव्य' पक्ष अर्थात् स्वरमय रूप का भी संक्षिप्त उल्लेख किया जाता रहा। संस्कृत के ग्रन्थों में प्रायः सर्वत्र यही परम्परा रही। स्वर-रूप का वर्णन अस्पष्ट, अतिशय संक्षिप्त, दुर्बोध भले ही होता था, किन्तु उसका सर्वथा अभाव नहीं रहता था। किन्तु बाद में, विशेषतः हिन्दी में, ऐसी रचनाओं की परम्परा चल पड़ी जिनमें रागों के स्वरूप से कोई सरोकार न रखते हुए केवल राग-ध्यान ही दिये जाते थे। देव कवि का 'राग-रत्नाकर' इसी कोटि की रचना है[१] (१७वीं शती ई०)। इन रचनाओं में राग ध्यान के अतिरिक्त सङ्गीत शास्त्र के अन्य किसी भी विषय का स्पर्श नहीं किया गया है। विभिन्न चित्रमालाओं के आधार प्रायः ऐसे ही ग्रन्थ रहे हैं। स्वररूप के स्पष्ट, सुबोध उल्लेख के अभाव में किसी भी राग के भावरूप का वास्तव-दर्शन असम्भव है। इसलिए राग-ध्यान अथवा चित्रण का मौलिक आधार (अर्थात् पुरुषत्व-स्त्रीत्व का प्रतीक-ग्रहण) सुसंगत और वैज्ञानिक होने पर भी उसका प्रत्यक्ष जो रूप उपलब्ध होता है उससे रागों के स्वरमय और भावमय रूपों का सामञ्जस्य स्थापित करने में कोई सहायता नहीं मिलती। कुछ ऐसा लगता है कि रागों के पुरुषत्व और स्त्रीत्व का संकेतमात्र लेकर ध्यान-रचना और चित्र-आलेखन की प्रवृत्ति स्वतन्त्र रूप से विकसित होती गई और रागों के स्वर सन्निवेशों की ओर प्रायः ध्यान नहीं दिया गया। परम्परा का अन्धानुकरण, कल्पना की स्वतन्त्र उड़ान और चित्रकला के कला-पक्ष और भव-पक्ष की ओर सङ्गीत से निरपेक्ष होकर स्वतन्त्र झुकाव,—इन सब कारणों से रागों के ध्यान और चित्रण में उनके स्वर-रूपों के सामञ्जस्य की आवश्यकता ही मानो ध्यान-रचयिताओं और चित्रकारों की दृष्टि से तिरोहित हो गई थी।

ऊपर लिखी वस्तुस्थिति में यह विशेष विचारणीय है कि राग-रागिणी-चित्रण-परम्परा के शास्त्रीय अध्ययन के प्रति क्या दृष्टिकोण रखा जाये और उस अध्ययन से किस प्रयोजन की सिद्धि की अपेक्षा रखी जाए। (क्रमशः)*

राग श्री की रागिणी रामकली

रामकिरी अति रसिक रंगीली। सुन्दर सुभग प्रवीन छबीली॥
कनकलता सी भूषन किये। श्रीफल सरस बिराजैं हिये॥
लीला वपु सोहै भामिनी। मनों मेघ दरसति दामिनी॥
दिवि कुण्डल आनन छबि गनौं। ऊभै भानु विधि घेरौ मनौं॥
रतिरस रति के रूप समानी। सिपति करै पिय चतुर सयानी॥
मानु तज्यौ नहि मानिनि जबै। पाइनि परै (जु) परम पतित ह्वै॥

निसि आगम आवन कह्यौ, आये गये प्रभात।
रामकरी रिसपुंज, पति पाइनि परे न जात॥

राग हिंडोल की रागिणी भैरवी

राजकुमारी भैरवी भली। पिय के विरह मदन दलमली॥
भवन भोग की सुरति बिसारी। विरह रूप भई राजकुमारी॥
फटिक मनिन को मंडपु जहँ। सखिन सहित त्रिय आई तहँ॥

१. इस कोटि की एक अन्य रचना की प्रतिलिपि हमारे शोध-विभाग में की गई है, जिसका नाम है 'राग-विवेक' और जिसके रचयिता हैं श्री पुरुषोत्तम (१७वीं शती ई० का उत्तरार्ध)। आगामी अंक में इसका यथासंभव विस्तृत परिचय दिया जाएगा।

—प्रेमलता शर्मा
—ऊर्मिला

* किन्तु आगामी अङ्क प्रकाशित नहीं हुआ था।

विधिवत सिव की पूजा लाई। चंदन चामरु कमल चढाई॥
लिये ताल करताल मुख गावै। पति हित गौरीपतिहि रिझावै॥

आनंदित संजोग रसु, सिव देवनि के देव।
मानसरोवर तीर तकि, करति भैरवी सेव॥

राग मालकौंस की रागिणी केदार

पिय वियोग विरहिनी केदारू। जोगरूप जिय प्रेम सुमारू॥

सुन्दर मुद्रा श्रवननि किये। वपु विभूति को मंजनु दिये॥

अस्थिमात्र तन अति ही भईं। दीन जननि जो उपमा दई॥

लिये बेनु पिय पीय बजावै। प्रेम मगन पिय के गुन गावै॥

तारुन तापसि रुद्र बिसेषी। बिरहिनी भई पुरुष वर वेषी॥

सुनि सुनि नाग (नाद?) तरंग धुनि, थके निसंक (सु) जान।

बिरहु न घटै किदार कैं, क्यौं करि लहै बिहानु॥

तोडी रागिणी—दकनी शैली 18वीं शती ई०

रागिणी त्रिवणी (त्रिवेणी)—दकनी शैली १७वीं शती ई०

.... तरोर्मूले निषण्णा पीतवर्णभाक्
तन्वङ्गी हारसंयुक्ता रागिणी त्रिवणी मता।

दधती कदलीपुष्पं बाला नीलांशुकावृता
नीलकुञ्चितधम्मिल्ला विलसद्रक्तकञ्चुका।



इन सभी वर्णन-पद्यों के साथ चित्र भारतकलाभवन का०हि०वि० से प्राप्त हुए थे जो 'नादरूप'—द्वितीय अंक १९६१ में प्रकाशित हुए थे, किन्तु अब उनका पुन: प्रकाशन सम्भव नहीं हुआ। —सम्पा०

.१२.

शास्त्रों में गाइकी से सम्बन्धित कुछ तत्त्व*

मुझे अपने जीवन का कुछ भाग भारतीय सङ्गीत शास्त्र के अध्ययन में बिताने का अवसर मिला, और मैं अपने आप को इस शास्त्र की विनम्र विद्यार्थिनी समझती हूँ।

हमारी वाचिक परम्परा या Oral tradition बड़ी सबल और बड़ी सशक्त परम्परा है। इसकी एक पूरक हमारी लिखित परम्परा भी है। हमें यह देखने की कोशिश करनी है कि हमने जो सवाल सङ्गीत के बारे में उठाये हैं, उसपर कुछ कहा या सोचा गया है क्या हमारे शास्त्र में? अगर सोचा गया तो दो बातें होती है। एक तो हमें प्राचीन लिखित परम्परा से पुष्टि मिल जाती है और हमारे मन में अपने सोच के प्रति एक प्रकार का सन्तोष या आश्वस्तता जागती है। We get reassured कि हम लोग ठीक सोच रहे हैं। दूसरे कभी-कभी हो सकता है, कि हमें सोचने के लिए कुछ दिशा भी मिल जाती है। ऐसी बात नहीं है कि जो भी चिन्तन इन ग्रंथों में अङ्कित है, उसमें से हमारे काम की या हमारे सोच विचार के काम की कोई बात नहीं मिले। जब-भी किसी मसले को उठाया गया, किसी भी विषय को उठाया गया, तो हमेशा कुछ न कुछ इन ग्रन्थों में मिला है। इन शब्दों में न सही पर भिन्न रूप में जरूर मिला है। अपनी ग्रन्थोक्त परम्परा में प्रत्येक विषय पर कुछ न कुछ चिन्तन हमें अवश्य ही अङ्कित मिलता है।

मैं स्वयं सोचने लगी कि गाइकी के समतुल्य हमारे शास्त्र में कोई शब्द है क्या? सबसे पहले हमें यही सोच होना चाहिए कि आज हम 'गायकी' शब्द प्रयोग करते हैं, तो इसके आस-पास कोई शब्द है क्या Comparable to this? मुझे एक ही शब्द लगा जो शायद पूरा इसको न समेटे, लेकिन किसी हद तक समेट सकता है—वह शब्द है 'गीति'। ये शब्द बहुत ही प्राचीन काल से है, और दो सन्दर्भों में इसका प्रयोग हुआ है। 'नाट्यशास्त्र' में जो सर्वप्रथम ग्रन्थ है हमारे सङ्गीत शास्त्र का, गीति शब्द केवल सङ्गीत के पद के अङ्ग के लिये आया है।

यहाँ मैं आपको एक और बात बताना चाहती हूँ कि नाट्यशास्त्र से ही हमें यह पता चलता है कि सङ्गीत के घटक तीन माने गये—स्वर, ताल और पद। यह बात आज भी वैसी की वैसी है। इसमें कोई अन्तर नहीं है। स्वर में आप राग का सारा प्रयोग ले लीजिए निबद्ध और अनिबद्ध, ताल में लय की काट-छाट या ताल के जो भी वैविध्य है, और पद में जिसे हम साहित्य कहें जैसे तराने के अक्षर, या वाद्यों के अक्षर, सब ले लीजिए। ये तीन प्रमुख घटक या Components सङ्गीत के हैं। ठुमरी जैसी पद्धति में स्वर और ताल जो हैं, पद के भाव के वाहक बनते हैं। और उससे भिन्न जो पद्धति है, जिसे हम आज के मन्द में खयाल की पद्धति कहते हैं, उसमें जो पद है वह स्वर और ताल का वाहक बन जाता है। इन दो स्थितियों का वर्णन आज ही नहीं लेकिन नाट्यशास्त्र में भी इसकी अच्छी वर्णन मिलती है जिसको उन्होंने 'गान्धर्व' कहा है। इसमें पद जो है स्वर, ताल का अनुभावक है। इससे भिन्न गान की पद्धति है जिसका प्रयोग नाट्य के अन्दर होता है, और जिसमें पद का अर्थ समझ में आना बहुत जरूरी है। उसमें स्वर और ताल, पद के वाहक बन जाते हैं। ऐसा चिन्तन २००० वर्ष से तो हमारे यहाँ रहा है। दो प्रकार के विनियोग, स्वर, पद और ताल के साथ हमेशा से रहे हैं।

* Journal of the Sangeeta Research Academy, 1988 से साभार सङ्कलित S.R.A. कलकत्ता में दिये गये व्याख्यान का लिखित रूप।
—सम्पा०

नाट्यशास्त्र में गीती शब्द का प्रयोग सङ्गीत के पदांश के लिये हुआ है। यानी पद कैसा है ? आप किस तरह गायेंगे, इस पर निर्भर है आप कैसा पद लेते हैं। इसको इन्होंने दो प्रकार से देखा। जिस पद आप गा रहें है उसमें गुरु-अक्षर प्रधान है या लघू-अक्षर प्रधान है। ये दो भिन्न गीतियाँ बन जाती हैं। अगर गुरु अक्षर प्रधान है तो उसको संभाविती गीती कहा है। अगर लघू-अक्षर जैसे नट-खट, लट-पट, झट-पट, इत्यादि का भरमार हो, तो गाने का अलग प्रभाव होगा और अलग चाल होगी। पदों की आवृत्ति कैसे करते हैं—ये भी गीती के प्रयोग के अन्तर्गत ही आयेगा। जिनको वैदिक परम्परा का थोड़ा सा भी परिचय होगा, या वैदिक पाठ कर्ताओं को 'घन-पाठ' करते सुना होगा, तो आप पदों की आवृत्ति में ये देखेंगे कि एक पद जहाँ समाप्त हुआ उसका अन्तिम वर्ण लेकर, फिर उसके साथ अगला पद जुड़ा होता है। जैसे अग्निमीडे। इसकी आवृत्ति होगी—अग्नि, अग्निमी, अग्निमीडे, अग्निमीडे पु, अग्निमीडे पुरो, अग्निमीडे पुरोहितम्—इस तरह से चलते हैं। तो यह पदों का आवृत्ति का एक सिलसिला है। इसी सिलसिलों को उन्होंने जिसको हम non-Vedic कहते है, यानी वैदिक से भिन्न जो धारा है सङ्गीत की, उसमें भी लिया है।

इसमें दो तरह से आवृत्ति हो सकती है। एक तो पूरे-पूरे पदों की आवृत्ति यानी पदों को तोड़े बिना आवृत्ति करना। यह 'मागधी' गीति कहलायेगी। दूसरा जो पदों को तोड़कर आवृत्ति किया जाता है, उसको 'अर्धमागधी' गीति कहेंगे। और अभिनवगुप्त ने कहा कि जब हम आवृत्ति करते हैं, तब अर्थ की चिन्ता नहीं करते हैं। 'आवृत्तिषु अर्थोनात्रियते'—और ये बात किसी हद तक सङ्गीत में लागू होती है। पइ का जो अर्थ है उसे अगर एक या दो बार गायेंगे तो अर्थ वही आयेगा। जितनी बार भी गायेंगे अर्थ वही होने वाला है। मैं तोड़मरोड़ की कोई वकालत नहीं कर रहीं हूँ, लेकिन मैं इतना कह रही हूँ कि एक आवृत्ति की पद्धति ऐसी भी हो सकती है जिसमें हम थोड़ी देर के लिये अर्थ को भूल जायें। कोई हर्ज़ नहीं क्योंकि पद को अनेक बार गा चुके हैं, सब लोग सुन चुके हैं और समझ चुके हैं। फिर उसके बाद टूट भी जाता है तो कोई चिन्ता नहीं जैसे ये वैदिक 'घनपाठ' में होता है। तो मागधी में पूरे-पूरे पदों की आवृत्ति है। जैसे उदाहरणत:—

दे	ऽ	वम्	ऽ	। रु	ऽ	द्रम्	ऽ।
दे	वम्	रु	द्रम्	। वं	ऽ	दे	ऽ।

जितने काल में हमने एक पद ले लिया था, उतने में फिर दो पद ले लिया, उतने में फिर तीन पद ले लिया। और चार भी अगर चाहिए ले सकते हैं। तो उन्होंने कम से कम तीन दर्जे दिखा दिये। हम सब गाने बजाने वाले जानते हैं कि तीन दर्जों के बिना बात नहीं बनती, चाहे वह तीन स्थान हो स्वर के या लय के। इस गीति से गायकी की पूरी शकल तो नहीं आयेगी, लेकिन गायकी का कुछ अन्दाज कुछ झलक, या कुछ आस-पास की बात गीति में दिखाई देती है। पद की गायकी, पदगीति कहलाती है।

इसके बाद कुछ ही शताब्दियों के बाद राग में रीति की धारणा भी विकसित हुई और जब हम लोग मतङ्ग के बृहद्देशी पर पहुँचते है सातवीं शताब्दी के आस-पास तो यह धारणा काफी विकसित रूप में हमारे सामने आती है। बीच के कई ग्रन्थ लुप्त हो गये हैं। उनकी बहुत पक्की धारणा थी। आजकल हमलोग बहुत सपाट होते जा रहे हैं। 25, 30 वर्ष पहले हम यह सुनते थे कि यह राग मन्द्र में गाया जायेगा, या अमुक राग तार में और मध्यम में रहेगा। जो राग मुख्य रूप से तार में या मध्यम में रहेगा जाहिर है कि बहुत विलम्बित गति में नहीं गाया जाता है। स्थानभेद, रागभेद और सञ्चारभेद से आज हम बहुत कुछ छोड़ रहे है। लेकिन प्राचीन काल के लोग इसके प्रति बहुत जागरूक थे, ऐसा इस गीति की धारणा से पता चलता है।

गीति का जो concept रागों के सन्दर्भ में मिलता है, उसमें पाँच गीतियाँ मोटे तौर पर बतायी गयी है। पहला है 'शुद्धा' यानी कुछ राग ऐसे है जिनमें स्वर सीधे, सरल और अवक्र लगेंगे। 'भिन्ना' यानी जिसमें स्वर वक्र लगते हैं। कुछ राग आज भी ऐसे हैं, जिसमें आप को वक्र होना ही पड़ेगा, सीधा नहीं कर सकते हैं। 'गौड़ी' यानी जिसमें बड़े-बड़े संचार या phrases बनेंगे और गमकयुक्त होंगे। फिर एक नाम दिया है 'वेसरा' जिसका कम से कम शार्ङ्गदेव ने आकर उसका अर्थ लगाया है। वेगस्वरा का शायद वेसरा हो गया हो, यानी जिन रागों में द्रुत गति से संचार हो वह वेसरा गीति कहलायेंगे। जब कोई भी वर्गीकरण करते हैं, miscellaneous उसमें डालना ही पड़ता है, जिसको कहीं भी न डाल सकें या जिसमें सब मिलाजुला हो। ये 'साधारणी'

है जो पाँचवीं गीति है। इसमें हमें यह पता चलता है कि वे ये समझते थे कि सारे राग बिल्कुल एक तरह से बरते नहीं जाये। ये कर्नाटक और हिन्दुस्तानी दोनों पद्धतियों में समझते रहे हैं। अब भी समझते हैं पर धीरे-धीरे मुझे लगता है भूलते जा रहे हैं।

इसके बाद 'नायकी' शब्द के समकक्ष कोई शब्द शास्त्र में मुझे नहीं दिखाई दिया। लेकिन 'गोपाल नायक' या 'नायक गोपाल' एक ऐसा नाम है। कम से कम सङ्गीत-रत्नाकर के टीकाकारों ने नायक गोपाल का नाम लिया है। यानी यह ऐसा नाम था जिसको पन्द्रहवीं शताब्दी की संस्कृत की लिखित परम्परा में स्थान मिला। उसके साथ जो नायक शब्द मिला है, इसका अर्थ जरूर कुछ न कुछ होगा। कह नहीं सकते हैं कि यही अर्थ है जो आज हम समझते हैं। इस 'नायकी' से समझते हैं जो निबद्ध हिस्सा है सङ्गीत का। तो नायक गोपाल प्रबन्ध निर्माण में बहुत कुशल थे या नहीं कहना मुशकिल है, अन्य प्रमाणों के अभाव में। लेकिन ये नायक शब्द कम से कम किसी title के रूप में किसी सङ्गीतकार के लिये होता है—इतना ही कह सकते हैं।

हमें गायकी के साथ बन्दिश को जोड़कर देखना चाहिए क्योंकि दोनों एक दूसरे से भिन्न नहीं है। हम किस प्रकार का अनिबद्ध प्रयोग करेंगे और किस प्रकार का अनिबद्ध विस्तार करेंगे, ये इसपर भी निर्भर है कि हमारे हाथ में बन्दिश कैसी है। ये नहीं कि एक तरह की हो और विस्तार उसमें दूसरी तरह से हो। ये कभी भी नहीं होता। ध्रुपद के अंग से काम करना हो तो उसकी बन्दिश भी अलग ढंग की है। हम खयाल के अंग की बन्दिश को लेकर ध्रुपद का काम एक हद तक कर सकते हैं, बोल-बाँट कर लेते हैं उसमें, लेकिन ध्रुपद अंग की बन्दिश लेकर ख्याल का काम नहीं कर सकेंगे। वो और भी मुशकिल हो जायेगा and it will be more incongruous. कुछ ताल-मेल और सामञ्जस्य तो बैठना चाहिए। इसीलिए निबद्ध और अनिबद्ध दोनों एक दूसरे पर बिल्कुल अवलम्बित है।

हमारे शास्त्र-ग्रन्थों में एक दो सामान्य प्रकरण है जिसको मैंने थोड़ा सा analysis करने की कोशिश की है। जो गायकी हम प्रस्तुत करते हैं, निबद्ध और अनिबद्ध दोनों को मिलाके, इसके पीछे बहुत काम कर चुके होते हैं। तब जाकर stage पर बैठकर गाना प्रस्तुत करते हैं। ये ऐसा ही है जैसा हम कोई पकवान बनाके किसी के सामने जब परोसते हैं, तो हम सभी जानते हैं कि उसके पीछे कितना बीनना, कूटना, फटकना, पीसना और कितनी प्रक्रियाएँ होती है। तब जाके वो अन्तिम रूप जो पकवान है, वो धारण करता है। सब चीज़ एक साथ आग पर नहीं चढ़ाई जाती है। उसी तरह गाने में भी होता है। गाने की तैयारी में कुछ व्यक्त तैयारी और कुछ अव्यक्त तैयारी होतो है। व्यक्त यानी जितने अपने गले से या हाथ से दिखाते हैं—जो सामने दिखाई देता है या जो प्रकट है। अव्यक्त यानी आपके भीतर जो भी psychological qualities है—जो अप्रकट रहते हैं।

अब कुछ general बातों को देखेंगे। ये आपके व्यक्तित्व या अन्तःहकरण या psychological set-up से संबन्धित है। उन्होंने कहा कि गायक को बड़ा 'सुघट' होना चाहिए। सुघट या सुघड़। अब सुघड़ता की कोई tight व्याख्या नहीं हो सकती है। जैसे जीवन में सुघड़ता या उसका उलटा फुहड़ता होती है—ऐसे ये हर level पर होता है। वाणी के व्यवहार में, और अन्य व्यवहारों में भी सुघड़ता और फुहड़ता दोनों होती है। कब क्या बोलना, कब नहीं बोलना, कहाँ कितना बोलना, ये सारी बातें वाणी में भी है। और अन्य व्यवहारों में भी है। वैसी गाने में भी है। सुघड़ता की व्याख्या है—जैसे शोभन लगे। स्वर, वर्ण और ताल, तीनों को जो स्पष्ट करके घटित या इकट्ठा करता है; इन तीनों का संबन्ध जो आपस में सही-सही बैठाता है, वह सुघड़ है। तो ये एक general quality है जो निबद्ध और अनिबद्ध दोनों में रहेगी। फिर ये कहा कि जिसमें धारणा है 'धारणान्वित'। अगर हम इसको अंग्रेजी में सीधा अनुवाद करें तो retention या retain करने की शक्ति होगी। एक होता है ग्रहण—grasping और उसके बाद धारण। इसके बाद तीसरी stage है प्रयोग। Perform तो बाद में करेंगे। पहले ग्रहण या Conceive करें, चाहे भीतर से या बाहर से, और फिर जब तक उसको धारण नहीं करें तब तक प्रयोग नहीं कर सकते हैं। Creative काम जो कोई करेगा, तो ये जानता है कि जो कुछ हमने सोचा है, Conceive किया है, उसको काफी देर भीतर धारण करना पड़ता है। तब उसके बाद प्रयोग किया जाता है। ये सच्चा प्रयोग होगा। To conceive an image and to retain it दोनों धारणा में आ जाते हैं। इसके अलावा अवधान भी होना जरूरी है। अनअवधान से गाना नहीं हो सकता है। हमारे गुरुजी उदाहरण देते थे कि अगर कोई मुँह में सत्तू भर के हँसे, तो क्या होगा? वैसे ही अवधानरहित गाना होगा जैसे मूंह में सत्तू भर के हँसना। और भी बहुत

सारी बातें बताई है। अच्छा गायक वही होता है जिसका कंठ आधीन है, जो आयुक्त है, जो सावधान है जितश्रम है यानी जो थक्ता नहीं और जो क्रियापर है यानी जो कभी अभ्यास नहीं छोड़ता है। और एक बहुत बड़ा गुण बताया है जिसको परम्परा में जो कोई सीखे हैं वो मानेंगे—अच्छा सम्प्रदाय यानी सुसम्प्रदाय। ये माना है कि अच्छे सम्प्रदाय में सीखा है तो आधा काम हो ही गया है।

अब कुछ technical बातें बताई हैं। कुछ technical बातें ऐसी हैं जो बिल्कुल निबद्ध के संबन्ध में हैं। जैसे प्रबन्धगान में कुशल होना—यह गायक का गुण बताया है। और यहाँ ये याद रखनी चाहिए कि आज हम लोगों कि बन्दिशें आमतौर से कुछ संक्षेप होती है। उनके युग में बन्दिश कुछ लम्बी रहती थी ऐसा अन्दाज होता है क्योंकि ऐसे उदाहरण पद के मिलते है। प्रबन्ध जिसको कहते थे वो उतना छोटा नहीं होता था। ध्रुवपद में जैसे चार तुक रहते थे, उससे भी थोड़ा बड़ा हो सकता है, लेकिन उससे छोटा नहीं होता था। इसलिए प्रबन्ध गाने की एक और भी विशिष्टता रही होगी। हमारे पास भी है, छोटे बन्दिशों को अच्छे ढंग से कह सकते हैं। इतना सा अन्तर शायद उस युग में और आज में अवश्य हमें सूझना चाहिए।

अनिबद्ध की बात भी कही। 'विविध-आलप्तितत्त्ववित्'। अनिबद्ध के लिए एक सामान्य नाम 'आलप्ति' है। आज हमारे पास अनिबद्ध के लिए तमाम नाम है—अलाप, बोलतान, बोल-बाँट, फिरत इत्यादि है। उन्होंने बस एक नाम रखा है 'आलप्ति' और इसमें भी कुछ भेद जरूर किये हैं। जितना भी और जिस तरह भी improvisation करते हैं, उसके लिए एक ही नाम 'आलप्ति' रख दिया है। कहा है कि गायक को विविध आलप्तितत्त्व को जानने वाला होना चाहिए। अनेक-स्थाय-संचार एक और गुण बताया है। अनेक स्थायों में संचार करने की योग्यता उसकी होनी चाहिए। स्वर प्रयोग के विभिन्न पक्षों को लय, उच्चार इत्यादि के बारे में बताया है जो विशेष रूप से कण्ठ से सम्बन्धित है। इतनी सुन्दर उपमायें ली है। क्योंकि आवाज़ के लगाव के बारे में अगर आपको शब्दों में लिखना है, तो आप कैसे लिखेंगे? गा के बता सकते हैं, मगर ग्रन्थकारों को verbalize करना था। तो स्वाभाविक है कि अगर आपको verbalize करना हो तो आपको उपमाओं का सहारा लेना पड़ेगा। उदाहरणतः कहा है कि ऐसे स्वर चले जैसे गङ्गा की तरङ्गे। कभी कह दिया कि ऐसा स्वर हिलता है, जैसे आधा भरा हुआ घड़ा सिर पर रखा हो और चलते समय उसकी जो आवाज़ होती है, उस तरह से स्वर हिलता है। कभी कह दिया कि मोती जैसा स्वर लुढ़कता है। मोती बड़ा चिकना होता है, और उसको अगर लुढ़का दिया जाय, उस तरह से स्वर को फिसलना चाहिए। यहाँ बेसुरा होने का मतलब नहीं। लेकिन सौन्दर्य के अर्थ में है। आप स्वरों का pattern बुन रहे हैं जैसे मान लीजिए कोई खम्भे पर चित्र उकेरने का काम कर रहा हो। कहीं पर ये कहा है कि कुछ काम ऐसे है जो वाद्य का अनुकरण करते हैं, या कण्ठ भी कभी-कभी वाद्य का अनुकरण करता है। इस तरह बहुत कुछ व्यापक रूप से, बड़े गहराई में जाकर, बड़ी variety देखते हुए, सारे स्वर प्रयोग के वैचित्र्य को एक प्रकार से 96 प्रकारों में बाँधा गया, जो 96 स्थाय सङ्गीत रत्नाकर में है।

रागों के बारे में जो जानकारी दी है, उसमें निबद्ध और अनिबद्ध दोनों को समेटा है। बार-बार हम सुनते रहे हैं कि राग के बारे में जानकारी हमे बन्दिशों से मिलती है। इस प्रसंग में मैं ये ज़रूर कहना चाहूँगी कि आज हमने हिन्दुस्तानी सङ्गीत में बन्दिश के महत्त्व को बहुत कम कर दिया है। ये बहुत चिन्तनीय बात है। कर्नाटक पद्धति से हमें सीखने की बात है कि वहाँ बन्दिश के महत्त्व को अभी भी बनाये रखा है। रागों में चार प्रकार उन्होंने लिये—रागाङ्ग, भाषाङ्ग, क्रियाङ्ग और उपाङ्ग। उस समय देशी-रागों में प्रचलित थे। आज ये सब हमारे लिये प्रासंगिक नहीं रह गये क्योंकि वे परिभाषायें आज नहीं रह गयीं। आपका जो अनिबद्ध होगा वो आपके abstraction के आधार पर होगा। निबद्ध में जो abstraction आपके समझ में आता है उसी को concrete बनायेंगे आपके अनिबद्ध में। लेकिन इसके पहले concrete या direct रूप बन्दिश के माध्यम से सामने आना चाहिए। इसीलिए राग की जानकारी, फिर ताल की जानकारी जिसे दो शब्दों में बताया है—'तालज्ञ' और 'युक्तलय' यानी ताल में पक्का होना और लयदारी दोनों होना चाहिए। प्रबन्ध में भेद जो उस समय प्रचलित थे, आज नहीं रहे। कुछ प्रकार के प्रबन्धों को शुद्ध सूड और कुछ को सालग सूड कहते थे।

अब हमारे यहाँ 'नायक' के समकक्ष 'वाग्गेयकार' एक शब्द है। वाग्गेयकार उसको कहा जो साहित्य भी स्वयं बनाता है और उसके लिए स्वर, ताल, रचना भी बनाता है। वाग्गेयकार के भी कुछ गुण बताये हैं, जो गायक के गुण से थोड़े अलग

हैं। मुख्य रूप से जो प्रबन्ध बनायेगा, उसके लिये भाषा और साहित्य का ज्ञान, अभिधान-प्रवीणता यानी vocabulary बड़ी rich होनी चाहिए। अभिधान यानी lexicon होना चाहिए। फिर उसके पास अलङ्कारों में शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार इत्यादि में कुशलता होनी चाहिए। फिर अशेष भाषाओं या अनेक भाषाओं का ज्ञान होना चाहिए। और छन्द का ज्ञान भी होना चाहिए क्योंकि यह एक प्रकार से पदांश का आधार (base) है।

अब प्रबन्ध बनाने वाले की general qualities देखिये। ये गायक के गुणों (qualities) से ज्यादा भारी भरकम हैं। सभा को जीतने में **'वाकपटुत्व'** होना चाहिए, यानी wit and eloquence जरूरी है। फिर आता है **'रागद्वेषत्याग'**—यानी राग द्वेष का परित्याग। ये जितना सङ्गीत में कठिन है और उतना शायद जीवन के किसी पक्ष में कठिन नहीं है। दूसरे गुण है **सान्द्रता यानी** गीलापन या रूखा न होना; उचितज्ञता यानी **औचित्य का ज्ञान** या कहाँ क्या करना और क्या नहीं करना इसका ज्ञान। यह किसी भी कला पर लागू होगा, गाने में भी और साहित्य में भी हर कला में एक balance या restraint जरूरी है। **'परचित्तपरिज्ञानम्'**, यानी दूसरे के चित्त का ज्ञान, **अवधान और नवीन-नवीन रचना की क्षमता** जरूरी है। और फिर बन्दिश बनाने का ज्ञान और कौशल; **उसे गीत, वाद्य और नृत्य, इन तीनों में निपुण होना चाहिए।** जैसे गायक के गुणों में कहा कि प्रबन्ध गाने में कुशल होना चाहिए, वैसे वाग्गेयकार के गुणों में भी कहा है कि **विविधालप्ति** उसको भी मालूम होनी चाहिए। तो इस **सारे गुणों में से निबद्ध और अनिबद्ध का परस्पर अवलम्बन** निकल आता है।

हम देखते हैं कि कभी-कभी गीत वाद्य को प्रभावित करता है और कभी वाद्य गीत को प्रभावित करता है। वादक, गायक से हमेशा inspiration लेता है, पर कभी-कभी वादक से गायक प्रभावित हो जाता है। गीत और वाद्य दोनों का relative importance यानी सापेक्ष महत्त्व किस प्रकार से रह सकता है, इसके बारे में तीन कल्पनायें हमें शास्त्र में मिलती हैं। उन्होंने कहा कि तीन संभावनायें है। एक तो यह कि कभी गीत प्रमुख है और वाद्य गौण है। अब यहाँ गीत का मतलब केवल vocal rendering नहीं है, बल्कि पूरा melodic aspect है। सङ्गीत का जो स्वरांश है, उसकों वे मोटे तौर पर गीत कह देते थे। चाहे वो कंठ से, या वाद्य से, या सुषिर वाद्य से निकले—सब को गीत कहते हैं। हमारे शास्त्र में बहुत बार कुछ शब्दों के व्यापक अर्थ है और कुछ restricted अर्थ है। गाने को भी गीत कहेंगे पर गीत का एक व्यापक अर्थ है। जितना स्वर-व्यवहार या स्वरवितान है, सब गीत में आ जाते हैं।

दूसरा कभी दोनों की तुल्य प्रधानता है। और तीसरा कभी वाद्य प्रधान है और गीत गौण है। ऐसे तीन प्रकारों की कल्पना नाट्यशास्त्र में है। जहाँ वाद्य प्रधान है और गीत गौण है, उसको चित्तवृत्ति कहा है। जहाँ दोनों की तुल्य प्रधानता है, उसको वृत्तिवृत्ति कह दिया। जहाँ गीत प्रधान है और वाद्य गौण है उसको दक्षिणावृत्ति कहा है।

फिर वाद्यप्रयोग के बारे में भी सोचा है कि यह कितनी स्थितियों में हो सकता है। वाद्य शब्द जब अपने आप में अकेला रहता है, तो **उसमें चारों प्रकार के वाद्य आ जाते हैं—तत, सुषिर, घन और अवनद्ध।** लेकिन जब गीत और वाद्य कहते हैं, तो वहाँ वाद्य का मतलब अवनद्ध या percussion से ही होता है। आप देखेंगे कि एक performance में तीनों वृत्तियाँ दिखाई देंगी। इसी से तो variety उपजती है। गायन-प्रस्तुति में सब समय स्वर, ताल और पद है, लेकिन हम कभी पद का मजा दे रहे हैं audience को, कभी राग का मज़ा दे रहे है और कभी विशेष रूप से ताल का मज़ा दे रहे हैं। परन्तु किसी न किसी का प्राधान्य होता रहता है और वह प्राधान्य shift होता रहता है। इसी में सौन्दर्य है। The predominance has to shift and it does shift.

उन्होंने कहा कि अवनद्ध वाद्यों के प्रयोग चार तरह के हो सकते हैं। एक तो अकेला, जिसको आज हम solo कहते हैं, और इसका नाम उन्होंने **'शुष्क'** रखा है। फिर **'गीतानुग'** यानी जो गीत के पीछे चल रहा है या संगत, कर रहा है। 'नृत्यानुग' जो नृत्य की संगत करता है और **'गीतनृत्यानुग'** जो गीत और नृत्य दोनों की संगत करता है।

फिर उन्होंने कहा कि गीत के संगत भी तीन तरह के हो सकते हैं। जो गाया जा रहा है और उसका identical बजाया जा रहा है, उसे 'तत्वम्' कहा है। जो संगत पीछे चलता है, उसे 'अनुगत' कहा है। तीसरा जब संगत करने वाला वाद्य चढ़कर बोलता है। यानी मान लीजिए कि अगर आपने एक मात्रा कही है, तो उतनी ही जगह में चार बजते हैं। इसको 'ओघ' कहा है। 'ओघ' का मतलब है exuberance या abundance. अत्यधिकता।

अब सवाल उठता है कि हम किस गाने को अच्छा कहेंगे? इसपर उन लोगों ने जरूर सोचा है। जैसे निबद्ध और अनिबद्ध दोनों की बात उठाई गई है गुणों में, वैसे ही एक ग्रन्थ में गायक के दो प्रकार बता दिये है। एक **'आलप्ति गायक'** जो गीत से अधिक अच्छी आलप्ति गाता है और दूसरा **'रूपक गायक'** जो आलप्ति से अधिक अच्छा गीत गाता है। ये दो categories बना दीं musicians की। गीत के गुणों में उन्होंने दस लक्षण बता दिये है। पहला गुण है **'व्यक्तम्'**। व्यक्त यानी articulated फिर **'पूर्ण'**, यानी जिसमें पूर्णाङ्ग गमक है—जहाँ जैसी चाहिए वहाँ वैसा गमक है। फिर **'प्रसन्न'** यानी clear जिसमें clarity हो। फिर **'सुकुमार'** इसके बाद **'अलंकृत'** यानी स्वर के जितने अलङ्करण हैं, स्वर के लगाव की जितनी खूबसूरतियाँ हैं जैसे कण, मुरकि इत्यादि, इसमें निपुणता। फिर **'सम'** यानी स्वर, ताल और पद तीनों एक लय से चले। यानी जितने घटक है गीत के उन सब में समानता हो। **'सुरक्त'** यानी अच्छी तरह से रञ्जक। **'श्लक्ष्ण'** यानी with smoothness, उदाहरणत: तेल की अगर धारा को बाँधिये तो वो टूटती नहीं है। वैसे ही आप जो भी गा रहे हैं, उसमें एक तरह की continuity रहनी चाहिए। फिर **'विकृष्ट'** यानी खुला हुआ या ऊँचा। क्योंकि धीमी आवाज़ में गाना प्रभावकारी नहीं होता है। और अन्त में 'मधुर'। ये दस गुण सङ्गीतरत्नाकर के प्रबन्ध अध्याय में मिलते हैं।

ऐसे ही लोक और शास्त्र की दृष्टि से दस दोष भी बता दिये है। श्रुति का दोष, फिर काल का दोष यानी लय बिगड़जाना। टीकाकार ने लिखा है कि जिस काल में नहीं गाना चाहिए, उस काल में गाना। 'पुनरुक्तम्' यानी repitition 'कलाबाह्यम्' यानी कला में जो बाह्य या त्याज्य है। 'गतक्रमम्' यानी क्रम जिसमें टूट जाये। 'अपार्थ' यानी जिसका गाना व्यर्थ है या जिसमें कोई unity नहीं है। 'ग्राम्य' यानी vulgar 'सन्दिग्ध' यानी doubtful उदाहरणत: आप ये नहीं समझ पायें कि गायक यमन गा रहा है कि भूप। इस प्रकार से ये दस दोष हैं।

मुझे लगता है कि गायकी को और इसके साथ नायकी को देखे तो ये थोड़ी बातें शास्त्र में मिलती हैं। ये हमारी समझ को थोड़ा पुष्ट करने में या हमें थोड़ा सोचने के लिए दिशा देने में उपयोगी हैं।



·१३·

वेदमार्ग-स्थापक महाराणा कुम्भा

एक विनीत श्रद्धाञ्जलि

युगमनीषी महाराणा कुम्भा की आत्मा के साथ, 'सङ्गीतराज' के माध्यम से, मेरा गत चार-पाँच वर्षों से दिवा-रात्रि का सम्पर्क है। यदि उनके हार्द का मुझे यत्किञ्चित् भी बोध हुआ हो तो उसे उन्हीं की महिमा का द्योतक समझा जाय, एवं यदि उनके मर्म को समझने में मुझ से कोई त्रुटि हुई हो तो उसे मेरा ही दोष मान कर विज्ञजन मुझे क्षमा करें।

महाराणा कुम्भा के विपुल प्रशस्तिसूचक विशेषणों में से अन्यतम है—"वेदमार्ग-स्थापनचतुराननः"। अर्थात् उन्हें वेदमार्ग-स्थापना के निमित्त अवतीर्ण ब्रह्मा के तुल्य कहा गया है। यह एक विशेषण ही उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व और कृतित्व को अपने में समेटे हुए है ऐसा मुझे लगता है। इससे गुरुतर विशेषण भारतीय संस्कृति में और क्या हो सकता है? इसी विशेषण की अल्प व्याख्या का लघु प्रयास यहाँ करना चाहती हूँ।

भारतीय संस्कृति में ज्ञान-विज्ञान, कला, शास्त्र, धर्म, दर्शन—सबका उत्स वेद ही हैं। हमारे यहाँ सम्पूर्ण ज्ञान-भण्डार का अष्टादश विद्याओं में विभाजन किया गया है। चार वेद, चारों वेदों के चार उपवेद (जो धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, स्थापत्य वेद तथा आयुर्वेद के नाम से प्रख्यात हैं) छः वेदाङ्ग (व्याकरण, शिक्षा, निरूक्त, कल्प, छन्द, ज्योतिष्) पुराण न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र—ये अष्टादश विद्यायें हैं। महाराणा कुम्भा का प्रायः इन सभी में गहन प्रवेश था। प्रायः सभी की सुरक्षा व उन्नति के लिये वे आजीवन सतत प्रयत्नशील रहे। इसी सत्य का दर्शन करना यहाँ प्रयोजन है। इससे यह प्रकट होगा कि महाराणा कुम्भा केवल बाह्य रूप से प्रजा रक्षक अथवा रणकुशल शासक नहीं थे, उनका मोर्चा केवल राज्य कार्य तक सीमित नहीं था, उनकी विचक्षण दृष्टि में केवल राजनैतिक स्वतन्त्रता ही वाञ्छनीय नहीं थी, अपितु इन सबके ऊपर किसी अन्य मूर्धन्य स्थान पर उनकी दृष्टि केन्द्रित थी। वह केन्द्र बिन्दु क्या था भला? वह था भारतीय संस्कृति की सुदृढ़ सुरक्षा के प्रति उनका सतत जागरूकतापूर्ण आग्रह। इस केन्द्रबिन्दु को प्रकाशस्तम्भ मान कर हम उनके महाप्राण व्यक्तित्व और चमत्कृतिपूर्ण कृतिपुंज का यथार्थ दर्शन कर सकेंगे।

भारतीय संस्कृति का मूल स्रोत वेद ही है। किन्तु नाना कारणों से वेद में सबका अधिकार नहीं हो पाता अर्थात् सभी लोग उससे प्रत्यक्ष लाभ नहीं उठा पाते। **जनसाधारण की सहज प्रवृत्तियों को भी वेद मार्ग की परिधि में समाविष्ट कर लेने की समर्थता हमारे देश की निजस्व सम्पत्ति है।** इस क्षेत्र में हमारी अद्वितीयता विश्व भर में अप्रतिहत है। **ऐसा और कौन सा देश होगा जहाँ गीत, वाद्य, नृत्य, नाट्य का शास्त्र, युद्ध-विद्या, स्थापत्य तथा अन्य ललित कलाओं एवं चिकित्सा शास्त्र को सामान्य लौकिक धरातल से उठाकर उपवेद के उच्च स्तर पर पहुँचाया गया होगा।** ऐसा देश और कहाँ मिलेगा **जहाँ मनुष्य के लौकिक जीवन की सहज प्रवृत्तियों में से ही उसके पारमार्थिक जीवन का प्रशस्त मार्ग प्रस्तुत किया गया होगा।** ऐसा और कौन सा भूखंड होगा **जहाँ मानव जीवन की किसी भी प्रवृति को केवल लौकिक न कह कर प्रपञ्च और परमार्थ का ऐसा सुन्दर समन्वय किया गया होगा जैसा कि हमारे उपवेदों में प्राप्त है?**

---

* उदयपुर में दिया गया भाषण—1968

इसीलिए तो भारत भूमि सुरवन्दिता है, पुण्य-प्रसू है। इसे यह बन्द्यता प्रदान करने में जिन असंख्य मुनियों-ऋषियों का योगदान रहा है, उनके प्रति नतमस्तक होना तो हमारा कर्त्तव्य है ही, किन्तु हमारे इतने निकट के इतिहास में, प्राय: पाँच सौ वर्ष पूर्व ही एक ऐसा मनीषी हो गया है जिसने अपने देश की इस गौरवमयी परम्परा को विदेशी आक्रमण के प्रबल प्रभाव में किंचित् लड़खड़ाते हुए देख कर इसकी सुरक्षा के लिये अपनी बहुमुखी प्रतिभा तथा दृढ़ कटिबद्धता का महान् विनियोग किया था; यह सोच कर कौन भारतीय पुलकित न हो उठेगा! किसका हृदय उभर न आयेगा?

सामवेद के उपवेद गान्धर्व वेद की सुरक्षा महाराणा कुम्भा के स्तुत्य प्रयास का यशस्वी प्रतीक है उनका ग्रन्थ 'सङ्गीतराज' इस ग्रन्थ की प्रमुख विशेषता है—सङ्गीत शास्त्र को उपवेद के रूप में प्रतिष्ठित करने का महत् प्रयास तथा सङ्गीत शास्त्र की प्राचीन परम्परा के प्रति अडिग आस्था। प्राचीन परम्परा की सुरक्षा के हेतु उनकी जागरूकता का यहाँ एक उदाहरण देना ही पर्याप्त होगा। पन्द्रहवीं शताब्दी में सङ्गीत शास्त्र में से प्राचीन ग्रामराग-देशी राग-वर्गीकरण प्राय: समाप्त हो चुका था और उसका स्थान राग-रागिणी-वर्गीकरण अथवा मेल पद्धति ने ले लिया था। किन्तु महाराणा कुम्भा ने प्राचीन राग-वर्गीकरण को ही अक्षुण्ण रूप से अपने ग्रन्थराज में स्थान दिया। यहाँ यह आक्षेप हो सकता है कि शास्त्रकार को तो अपने काल की लक्ष्य-लक्षण-पद्धतियों का प्रतिनिधित्व अवश्य करना चाहिये, किन्तु महाराणा कुम्भा ने इस कर्त्तव्य का पालन न करके एक मृतप्राय परम्परा को क्यों अपनाया? इसका उत्तर यही है कि उनकी दृष्टि विशाल तथा व्यापक थी। केवल तत्कालीन प्रवृत्तियों का संग्रह करना उनका उद्देश्य नहीं था। उन्हें चिन्ता इस बात की नहीं थी कि उनकी समकालीन प्रवृत्तियों को ग्रन्थबद्ध न किया गया तो उनकी सुरक्षा कैसे होगी? चिन्ता तो उन्हें इस बात की थी कि कहीं ऐसा न हो कि प्राचीन परम्परा की सामग्री बिल्कुल लुप्त हो जाय। यदि उन्होंने यह **दृष्टि न अपनाई होती तो आज मतंग की राग-सम्बन्धी सामग्री की नितान्त खण्डित अवस्था को एवं 'सङ्गीत रत्नाकर' के तत्सम्बन्धी अतिशय संक्षिप्त तथा अपूर्ण उल्लेखों को लेकर कोई भी किसी भी प्रकार प्राचीन परम्परा का पूर्ण दर्शन न कर पाता।** उस समृद्ध परम्परा का संग्रह तथा उसका इतना सुनियोजित विवरण—इन दोनों कार्यों का सम्पादन कुम्भा के काल में भी अवश्य दुष्कर रहा होगा। किन्तु उस दुष्कर को साध कर उन्होंने भावी युग का प्रभूत उपकार किया है। **रागध्यान की जिस परम्परा का मध्ययुग में अत्यन्त विस्तार हुआ उसका मौलिक विशुद्ध रूप भी 'सङ्गीतराज' में ही प्राप्त होता है। अन्य सभी ग्रन्थों में प्राप्त रागध्यानों पर नायक-नायिका भेद का प्रभाव स्पष्ट है। किन्तु 'सङ्गीत राज' में रागध्यानों पर तन्त्र-शास्त्र की सुदृढ़ छाप दिखाई देती है।** वहाँ पाश, अंकुश, पद्म, चक्र इत्यादि तान्त्रिक परिभाषाओं का ही प्रयोग मिलता है। मेरा दृढ़ अनुमान है कि मतंग के देशी राग प्रकरण में भी जिसका आज केवल प्रारम्भिक अंश उपलब्ध है, रागध्यान की यह परम्परा अवश्य रही होगी। इसी की सुरक्षा महाराणा कुम्भा ने अपने ग्रन्थ में की थी।

गीतगोविन्द की कुम्भा विरचित 'रसिकप्रिया' टीका भी उनके गान्धर्व-विद्या के प्रति अनुराग की स्मारिका है। पण्डित-समाज में आज भी इस टीका का प्रभूत सम्मान है, किन्तु दुर्भाग्य से आज यह बिल्कुल दुष्प्राप्य है। सन् १८९९ में बम्बई के निर्णयसागर प्रेस से इसका प्रथम प्रकाशन हुआ था। तत्पचात् वहीं से कई संस्करण निकले, जिनमें से अन्तिम सन् १९४९ में निकला था। खेद है कि आज इसकी एक भी प्रति बाज़ार में कहीं उपलब्ध नहीं है।

अब 'सङ्गीतराज' के प्रकाशन के पश्चात् तो इस टीका का महत्त्व पहले से भी कई गुना बढ़ जायगा, क्योंकि इसमें 'सङ्गीतराज' के अनेकों उद्धरण हैं जिनका सन्दर्भ सहित अध्ययन 'सङ्गीतराज' में से ही सम्भव है, साथ ही **'सङ्गीतराज' में उल्लिखित मिश्रसूड प्रबन्धों के अट्ठाईस भेद भी इसी टीका में उदाहृत हैं। इस प्रकार 'रसिकप्रिया' टीका को 'सङ्गीतराज' का पूरक परिशिष्ट समझा जा सकता है।** 'सङ्गीतराज' के प्रकाशन के पश्चात् 'रसिकप्रिया' के सुसम्पादित प्रकाशन की व्यवस्था हो सकेगी ऐसी आशा है। हमारे विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में 'रसिकप्रिया' का सन् १८९९ का प्रथम संस्करण संगृहित है। उसे प्राप्त करके मैंने अपने शोध-विभाग में उसकी हस्तलिखित प्रतिलिपि बनवा ली है। अब यही देखना है कि प्रकाशन की सुविधा कब मिल पाती है।

स्थापत्य वेद में कुम्भा के कृतित्व के योगदान का एक पहलू अवश्य ही आज सर्वविदित है। कीर्तिस्तम्भ, कुम्भलमेरु,

राणकपुर के जैन मन्दिर, चित्तौड़गढ़, आबू में कुम्भस्वामी के मन्दिर, श्री एकलिंगजी के मन्दिर का मण्डप इत्यादि अनेकानेकअद्भुत स्थापत्य कृतियों में कुम्भा का यश आज भी मुखरित है। यह तो **स्थापत्य-कला में उनकी प्रत्यक्ष प्रयोगगत कृतियों** का परिचय हुआ। **इसके शास्त्रीय पक्ष में उनके अमूल्य योगदान के बारे में आज सर्वसाधारण को** विशेष जानकारी नहीं है। यहाँ अवकाशाभाव से विस्तृत विवरण न देकर इतना कहना ही पर्याप्त है कि **कुम्भा के राज्याश्रित स्थपति-प्रवर सूत्रधार मण्डन द्वारा रचित ग्रन्थ प्रासाद-मण्डन, रूपावतार (देवतामूर्ति प्रकरण) रूपमण्डन, राजवल्लभमण्डन, वास्तुसारमण्डन— कुम्भा की ही प्रेरणा के फलस्वरूप भारतीय स्थापत्यशास्त्र को प्राप्त हुए।** कुम्भा ने स्वयं भी कीर्तिस्तम्भों के निर्माण के विषय में एक ग्रन्थ का प्रणयन किया था ऐसा डॉ० गौरीशंकर ओझा ने उल्लेख किया है। यह ग्रन्थ आज अप्राप्य है।

धनुर्वेद के साक्षात् प्रयोक्ता के रूप में अप्रतिम योद्धा कुम्भा के इस उपवेद सम्बन्धी कृतित्व के विषय में कुछ भी कहना सूर्य को दीपक दिखाने के समान होगा। उनके जीवन चरित का चमत्कारपूर्ण तथ्य तो यही है कि प्रायः सम्पूर्ण जीवन रण-क्षेत्र में बिताने पर भी उन्होंने गान्धर्ववेद, स्थापत्यवेद तथा अन्य शास्त्रों के प्रयोग-पक्ष और सिद्धान्तपक्ष दोनों को कैसे आत्मसात् किया होगा।

इस प्रकार तीन उपवेदों के प्रसङ्ग में कुम्भा के अपूर्व योगदान का हमने अल्प अवलोकन किया।

छहों वेदाङ्गों के वे अवश्य ही गम्भीर ज्ञाता रहे होंगे और व्याकरण, ज्योतिष आदि के विद्वानों को राज्याश्रय देकर उन्होंने अवश्य ही वेदाङ्गों की परम्परा की सुरक्षा का प्रबन्ध किया होगा इसमें तनिक भी सन्देह को स्थान नहीं है। उनके **'सङ्गीत राज'** में ही इसके विपुल प्रमाण मिलते हैं। कुम्भा के पिता मोकल ने कृषिकर्म में रत ब्राह्मणों को वेदाध्ययन कराने के उद्देश्य से एक पाठशाला की स्थापना की थी। कहना न होगा कि कुम्भा ने भी उस पाठशाला को यथोचित संरक्षण तथा प्रोत्साहन अवश्य ही दिया होगा। **कुम्भलमेरु में उनके द्वारा निर्मित सुन्दर यज्ञशाला, जो आज भारतभर में अपने ढंग की एक ही है,** उनके वेदानुराग का ज्वलन्त उदाहरण है।

वेद, वेदाङ्ग, उपवेद के अतिरिक्त पुराण, न्याय (वैशेषिकदर्शन-सह), मीमांसा (पूर्वमीमांसा उत्तरमीमांसा) तथा धर्मशास्त्र (सांख्ययोगादि-सह) इन विषयों का उनका अगाध ज्ञान भी 'सङ्गीतराज' में पग-पग पर दृष्टिगोचर होता है। प्रत्येक को लेकर व्याख्या करने का यहाँ अवकाश नहीं है। अतः केवल पूर्व-मीमांसा तथा उत्तरमीमांसा (वेदान्त) सम्बन्धी कतिपय उल्लेखों से सन्तोष कर लेना होगा।

यज्ञ में सङ्गीत का क्या स्थान है, सङ्गीतशास्त्र में चौरासी शुद्ध तानों के परम्परागत यज्ञनामों का क्या रहस्य है, अर्थवाद और विधि क्या है, सङ्गीत में अपूर्व और अदृष्ट क्या है, ऐसे कितने ही विषयों की चर्चा 'सङ्गीतराज' में यत्र-तत्र मिलती है। शङ्कर वेदान्त की छाप उनकी विचारधारा में स्पष्ट है। मुख्यतः शिवभक्त होते हुए भी वे स्मार्त्त पद्धति से पंचदेवोपासना के अनुयायी जान पड़ते हैं। 'सङ्गीतराज' के निम्नलिखित श्लोक में उनका हार्द मानो मुखर हो उठा है—

ध्यानं वैष्णवमन्वहं प्रकुरुते शैवं तथा पूजनं
ब्राह्मं धर्ममधिष्ठितं न कुरुतेऽन्यस्मै नतं स्वं शिरः।

(श्लोक की शेष दो पंक्तियाँ यहाँ प्रयोजनीय नहीं हैं।)

विष्णु तथा शिव की उपासना में उनकी भेदबुद्धि अथवा विरोधभावना नहीं थी, यह स्पष्ट है। गीतगोविन्द की टीका का प्रणयन, नवीन 'गीत-गोविन्द' का निर्माण तथा बाणभट्ट कृत 'चण्डीशतक' की विस्तृत व्याख्या उनकी ये कृतियाँ उपासनाक्षेत्र में उनके समदर्शी दृष्टिकोण का परिचय देती हैं। खेद है कि उनका रचित 'गीतगोविन्द' आज अप्राप्य है तथा चण्डीशतक की व्याख्या भी अभी हाल ही में अत्यन्त खण्डितावस्था में प्राप्त हुई है।[1]

---

* द्रष्टव्य 'राजस्थान भारती' का महाराणा-कुम्भा-विशेषांक पृ० 109-112

श्रीएकलिङ्गनाथ का मन्दिर शैवमत की लकुलीश शाखा के अन्तर्गत प्रतिष्ठित है। कुम्भा को इस मत के विशिष्ट आचार्य नन्दिकेश्वर का अवतार मान कर शिलालेखों में 'अभिनवनन्दिकेश्वरावतार' ऐसा विशेषण दिया गया है। इससे स्पष्ट है कि उपासना के क्षेत्र में कुम्भा की महत्ता कहाँ तक स्वीकृत थी।

अपने कर्त्तव्य-अभिमान के त्याग का कुम्भा ने 'सङ्गीतराज' में बहुत ही सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है। वे एकाधिक स्थलों पर यह कहते हैं कि भगवान् शिव ही मानो उन्हें माध्यम बनाकर उस नाट्यवेद की पुनः स्थापना करना चाहते हैं; जो कालक्रम से नष्टप्राय हो चुका है। दो एक उदाहरण यहाँ स्थानीय होंगे।

यं पूर्वं भरताय नाट्यनिगमं पद्मोद्भवः प्रीतितः
साङ्गं शम्भुररदीदिशत् स समयादुत्सन्नकल्पोऽभवत्॥
लोकानां हितकाम्यया स भगवान् श्रीकुम्भकर्णक्ष्मा-
धीशव्याजमुपेत्य वीतविषयं तं वक्ति भूयो वशी॥

(सं०रा० १.१.१.३६)

कालेनाथ पुनर्विलीनमिव तद् दृष्टवा गणग्रामणीः
शम्भु : कुम्भनृपोपधिः प्रयतते वक्तुं विदामग्रणीः॥

(सं०रा० ३.१.१.१७॥)

इस प्रकार हमने देखा कि भारतीय संस्कृति की महान् निधि को सुरक्षित रखने एवं परिवर्द्धित करने में कुम्भा का प्रयास कितना सशक्त और सफल था। राजनैतिक परतन्त्रता के काल में महाराणा प्रताप हमारे प्रेरणास्रोत थे तो राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद संस्कृति का नवजागरण जब अपेक्षित है उस वर्तमान काल में महाराणा कुम्भा हमारे आलोक स्तम्भ होने चाहियें। सांस्कृतिक ह्रास राजनैतिक परतन्त्रता से भी भयावह माना जा सकता है। अतः कुम्भा का वेदमार्ग-स्थापक के रूप में दर्शन करके आज का भारत उनसे प्रेरणा प्राप्त कर सके यही भगवान् श्री एकलिङ्गनाथजी से हमारी प्रार्थना है। **जिस दूर दृष्टि से उन्होंने वेद-मार्ग की स्थापना के लिए, सांस्कृतिक सुरक्षा के लिए सुदृढ़ मोर्चेबन्दी की थी, उस अमूक दृष्टि की आज हमें जितनी आवश्यकता है उतनी शायद पहले कभी नहीं थी।**

उपसंहार के पूर्व एक उल्लेख आवश्यक है। 'वेदमार्ग' का यहाँ व्यापक अर्थ लेना चाहिये। जैन धर्म को कुम्भा ने जो उदार आश्रय दिया था वह राणकपुर के जैन मन्दिरों में स्वतःसिद्ध है। अतः यह मानना पड़ता है कि जिन मतों को एक संकुचित अर्थ में वेद-विरोधि कहा जाता है वे भी भारतीय संस्कृति की उपज होने के कारण कुम्भा के आश्रय में पनपते रहे, उसकी व्यापक दृष्टि में विशाल हृदय में उनका भी उचित स्थान था।

मेवाड़ के सीसोदिया राजवंश का जगत् भर के राज-वंशों में विशिष्ट स्थान है—एक तो इसलिए कि प्रायः चौदह शताब्दियों तक यह वंश अखण्डता से शासनारूढ़ रहा है और दूसरे इसलिए कि अकेले इस वंश ने सुदीर्घ काल तक जितने प्रतापी शासक उत्पन्न किये हैं उतने नररत्न वसुन्धरा की झोली में डालने का श्रेय शायद ही किसी अन्य वंश को प्राप्त हुआ हो। निकट के इतिहास से हम्मीर, कुम्भा, सांगा, प्रताप ये लोकविश्रुत नाम ही उदाहरण स्वरूप पर्याप्त हैं। उसी गौरवपूर्ण वंश-परम्परा के प्रत्यक्ष प्रतिनिधि वर्तमान महाराणा साहब की संरक्षकता, कुम्भा की पुण्य-स्मृति को पुनरुज्जीवित करने के उद्देश्य से स्थापित, इस सङ्गीत कला परिषद् को प्राप्त हो, इससे अधिक सौभाग्य क्या हो सकता है? भावि सन्तति कृतज्ञता से यह स्मरण रखेगी कि महाराणा **कुम्भा के पाँच सौ वर्ष पश्चात् उन महाप्राण की स्मृति को सजीव बनाने में माननीय श्री भगवतसिंहजी ने क्या अमूल्य सहयोग दिया था। आज से पाँच सौ वर्ष पूर्व के कितने नरेशों के भाग्य में यह लिखा होगा कि उनके पुण्य स्मरण में आयोजित समारोह को उनके ही अपने वंशधर की संरक्षकता प्राप्त हो।** यहाँ भी कुम्भा का पुण्य-प्रताप अवलोकनीय है।

वर्तमान युग में भारतीय सङ्गीतशास्त्र की प्राचीन परम्परा को पुनरुज्जीवित करने का श्रेय जिन्हें प्राप्त है, जिस शास्त्र को 'निरुपयोगी' तथा 'मृत' घोषित कर दिया गया था, उसकी परमोपादेयता सिद्ध करने में जिन्हें अपूर्व सफलता मिली है, वे परम पूज्यपाद गुरुदेव पं० ओंकारनाथजी ठाकुर इस परिषद् के अध्यक्ष हों यह भी एक सुन्दर संयोग है।

विविधमुखी गहन शोध के लिए जिन्होंने राजस्थान को प्रमुख क्षेत्र बनाया है, ऐसे श्री अगरचन्दजी नाहटा का सहयोग भी परिषद् के लिए एक अमूल्य वरदान है। आपके उद्योग से प्रकाशित 'राजस्थान-भारती' का 'कुम्भा विशेषांक' कुम्भा के प्रति आपकी अगाध श्रद्धा का परिचायक है।

राजस्थान की गौरवगाथा को वर्तमान युग में प्रकाशित करने में जिन इतिहासकारों ने अथक प्रयास किया है, उन सबका कर्नल टॉड, महामहोपाध्याय कविराज श्री श्यामलदासजी, श्री हरविलास शारडा, महामहोपाध्याय डॉ० श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा इत्यादि सुविख्यात इतिहास-प्रणेताओं का पुण्य स्मरण आज आवश्यक है। अतीत का कृतज्ञतासह स्मरण, वर्तमान के विविध तत्त्वों का सहयोग और भावी की दृढ़ आशा लेकर यह परिषद् अपने महान् उद्देश्यों में अग्रसर हो, यही प्रार्थना है।

सभी योगायोग अद्भुत हैं। इस परिषद के बीज को प्रस्फुटित, अङ्कुरित, पल्लवित, पुष्पित और फलयुक्त बनाने में हम सभी अपना-अपना हार्दिक सहयोग दान दे सकें यही परमपिता परमात्मा से प्रार्थना है, जिसकी कृपा से यह अकल्पनीय योगायोग सम्भव हुआ है।



.१४.

सङ्गीत में निबद्ध और अनिबद्ध*

'निबद्ध' 'अनिबद्ध' के विभिन्न अर्थ—भरत, मतङ्ग शार्ङ्गदेव के अनुसार—

निबद्ध और अनिबद्ध शब्दों का प्रयोग भरत ने 'पद' के प्रसङ्ग में किया है, यथा—

यत्स्यादक्षरसम्बद्धं तत्सर्वं पदसंज्ञितम्।
निबद्धञ्चानिबद्धञ्च येन तेन द्विधा स्मृतम्॥

अतालञ्च सतालञ्च द्विप्रकारं तदुच्यते।
सतालञ्च ध्रुवार्थेषु निबद्धं सर्वसाधकम्॥

यत् तु वाक्करणोपेतं सर्वातोद्यानुरञ्जकम्।
अतालमनिबद्धञ्च तदतालं प्रकीर्तितम्॥

नियताक्षरसम्बद्धं छन्दोयतिसमन्वितम्।
निबद्धं तु पदं ज्ञेयं नानाछन्दःसमुद्भवम्॥
(सतालपतनाक्षरम्)।

अनिबद्धाक्षराणि स्युर्यानि जातिकृतानि तु।
आतोद्यकरणैस्तेषां विधानमभिनिर्मितम्॥

अपदान्यनिबद्धानि तालेन रचितानि तु।
आतोद्येषु नियुक्तानि तानि तानि तु रञ्जयेत्॥

यानि चैवं निबद्धानि छन्दोवृत्तविधानतः।
ध्रुवारूपाणि पूर्वाणि तानि वक्ष्यामि तत्त्वतः॥

(ना० शा० ३२/१२८-३४)

गान्धर्व (गीत-वाद्य) को भरत ने स्वर-ताल-पदात्मक कहा है। अर्थात् गान-वादन के घटक स्वर, ताल, पद को माना है। पद का सामान्य अर्थ है सार्थक शब्द। पद के क्षेत्र के विषय में भरत का अभिप्राय महामाहेश्वर अभिनवगुप्ताचार्य ने ऊपर उद्धृत श्लोकों की टीका में स्पष्ट किया है। अत्यन्त संक्षेप में उनका आशय इस प्रकार है —'गान्धर्व' शब्द का प्रयोग भरत ने सामान्य और विशेष दो अर्थों में किया है। सामान्य अर्थ में स्वर, ताल, पद का कोई भी सम्मिलित प्रयोग गान्धर्व है। विशेष अर्थ में स्वर-ताल-पद के ऐसे समुच्चय को गान्धर्व कहते हैं जो प्रयोक्ता को अदृष्ट-फलदायक, देवता-परितोष का साधन और अपरिवर्तनीय

---

* पद्मश्री पं० बलवन्तराय भट्ट के ग्रन्थ '**भावरङ्गलहरी**' के द्वितीय भाग की भूमिका में १९७४ में प्रकाशित लेख। —सम्पा०

हो। इस विशेष गान्धर्व से भिन्न है 'गान' जो कि दृष्ट-फलदायक, श्रोता का रञ्जक अथवा नाट्य का उपरञ्जक और परिवर्तनीय है। सामान्य गान्धर्व में विशेष गान्धर्व और गान दोनों का ग्रहण हो जाता है। विशेष गान्धर्व की दृष्टि से पद में केवल सार्थक शब्दों का ही नहीं, अपितु कुछ विशेष निरर्थक अक्षरों का भी समावेश माना गया है। यथा 'झण्टुं (ऋन्दुं) दिग्ले कुचझल, तितिझल' इत्यादि कुछ नियत अक्षर भरत ने दिये हैं जिनके लिये यह कहा है कि ब्रह्मा ने उन्हें शिव-स्तुति में गाया था। (ना० शा० ३१/१०४) किन्तु गान में ऐसी बात नहीं है। वहाँ प्रस्तुत रस आदि के औचित्य के अनुरूप अक्षर-योजना होती है। अर्थहीन अक्षर योजना भी गान में कभी-कभी होती अवश्य है, किन्तु उसे वहाँ पदसंज्ञा नहीं दी गई है 'पद' की व्याप्ति (क्षेत्र) के अनुरूप ही गान्धर्व और गान में पद के विशेषण अनिबद्ध और निबद्ध का अर्थ भी कुछ भिन्न है।

विशेष गान्धर्व में निबद्ध पद वही है जिसमें नियत अक्षर हैं, अर्थात् ब्रह्म ने वेदमन्त्रवत् जिन अक्षरों को गाया था, उनकी संख्या और स्वरूप नियत होने के कारण उन्हें निबद्ध संज्ञा दी गई है। कवियों द्वारा रचित देवस्तुतिपरक पद को वहाँ अनिबद्ध कहा है, क्योंकि उनका स्वरूप और संख्या नियत नहीं है। 'गान' में निबद्ध पद वह है जिसमें ताल और छन्द के अनुसार अक्षर योजना हो और जो सार्थक भी हो। नाट्य के अन्तर्गत कभी-कभी अताल और अनिबद्ध गान भी होता है, किन्तु वहाँ वाद्यध्वनियों के अनुकरणात्मक अक्षरों को लेकर स्वर योजना होती है। इस गान का प्रयोजन तत, सुषिर आदि वाद्यों का अनुरञ्जन और भावी ध्रुवा 'नाट्यान्तर्गत गीतविशेष' के उपयुक्त वातावरण तैयार करना है। इस अर्थहीन अक्षर-योजना को 'गान' में पद-संज्ञा नहीं दी गई है, जबकि गान्धर्व में ब्रह्म-प्रोक्त अर्थहीन अक्षरों को ही 'निबद्ध पद' संज्ञा दी गई है। गान में अर्थहीन वाद्यानुकृतिमूलक अक्षर-योजना को 'अपद' और 'अनिबद्ध' कहा गया है। यह प्रयोग अताल भी होता है। इस प्रकार अनिबद्ध पद का 'गान' में कोई स्थान नहीं है। और वहाँ निबद्ध पद में छन्दोबद्धता, सतालता और सार्थकता अन्वित है। गान्धर्व में नियतता से ही निबद्ध संज्ञा होती है। इस प्रकार पद को निबद्ध और अनिबद्ध विशेषण देने में 'गान्धर्व' और 'गान' का दृष्टिकोण बहुत भिन्न है। उसका कारण यह है कि गान्धर्व में अदृष्ट फल प्राप्ति और देवता-परितोष ही प्रयोजन है, इसलिये वहाँ स्वर-ताल प्रमुख हैं और पद की अर्थबोधकता गौण है। दूसरी ओर गान में नाट्यान्तर्गत रस-भाव का उपरञ्जन करना मुख्य प्रयोजन है। इसलिये वहाँ पद की सार्थकता का बहुत महत्त्व है। सामाजिकों (दर्शकों) को पद का अर्थबोध होने से ही वहाँ प्रयोजन-सिद्धि हो सकती है।

मतङ्ग ने निबद्धसंज्ञा का प्रयोग आलापादि के साथ किया है। ग्रंथ का पाठ भ्रष्ट और खण्डित होने के कारण बात बहुत स्पष्ट तो नहीं होती, किन्तु तात्पर्य और अनुमान से यह समझा जा सकता है कि आलापादि अर्थात् रागादि के नियमों से बद्ध प्रयोग निबद्ध है और नियमों से स्वतन्त्र स्वेच्छा पूर्वक प्रयोग अनिबद्ध। इस निबद्ध में 'मार्ग' और अनिबद्ध में 'देशी' की सामान्य झलक दिखाई देती है। इस प्रसंङ्ग में बृहद्देशी का पाठ निम्नलिखित है।

अबलाबालगोपालैः क्षितिपालैर्निजेच्छया।
गीयते सानुरागेण स्वदेशे देशिरुच्यते॥
निबद्धश्चानिबद्धश्च मार्गोऽयं द्विविधो मतः।
आलापादिनिबन्धो यः स च मार्गः प्रकीर्तितः॥

(बृह० १३. १५)

यहाँ स्मरणीय है कि भरत ने तो 'पद' के प्रसङ्ग में निबद्ध और अनिबद्ध विशेषणों का प्रयोग किया है और मतङ्ग ने अधिक व्यापक रूप से पूरे गीत-प्रयोग के लिये ये विशेषण दिये हैं।

सङ्गीतरत्नाकर में निबद्ध और अनिबद्ध को 'गान' के अन्तर्गत ही रखा गया है, 'गान्धर्व' के अन्तर्गत नहीं। यथा—

यत्तु वाग्गेयकारेण रचितं लक्षणान्वितम्।
देशीरागादिषु प्रोक्तं तद्गानं जनरञ्जनम्॥
निबद्धमनिबद्धं तद् द्वेधा निगदितं बुधैः।
बद्धं धातुभिरङ्गैश्च निबद्धमभिधीयते॥

आलप्तिर्बन्धहीनत्वादनिबद्धमितीरिता।
संज्ञात्रयं निबद्धस्य प्रबन्धो वस्तु रूपकम्॥
(सं० र० ४। ३-६)

अर्थात् जिसकी रचना वाग्गेयकार ने की हो, देशी रागादि में विहित, जनरञ्जक, लक्षण युक्त प्रयोग गान है। वह गान दो प्रकार का है निबद्ध और अनिबद्ध। जो 'धातु' और 'अङ्गों' द्वारा बँधा हुआ है, वह निबद्ध है और आलप्ति अनिबद्ध है क्योंकि वह बन्धहीन है।

इस प्रकार शार्ङ्गदेव ने निबद्ध और अनिबद्ध विशेषण पूरे 'गान' के लिये दिये हैं, भरत के समान केवल 'पद' के लिये नहीं।

'धातु' 'अङ्ग' आदि की व्याख्या 'भावरंगलहरी' के प्रथम भाग की भूमिका में हम दे चुके हैं, और 'निबद्ध' की तीन संज्ञाओं-प्रबन्ध, वस्तु, रूपक पर भी विचार कर चुके हैं।

'निबद्ध' के साथ ताल और छन्द का सहज सम्बन्ध है। इसलिए इन दोनों पर भी हम इसी लेख के अन्तर्गत यत्किञ्चित् विचार करेंगे।

निबद्ध और अनिबद्ध पर भरत से लेकर शार्ङ्गदेव तक की विचारधारा का जो संक्षिप्त दर्शन हमने ऊपर किया, उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि नियतस्वरूप, सतालता, छन्दोबद्धता पद की सार्थकता, नियमबद्धता और धातु, अङ्ग आदि के माध्यम से निर्मित बन्धविशेष (Form) इत्यादि 'निबद्ध' में अन्वित हैं। दूसरी ओर अनिबद्ध में, इसके विपरीत, अनियत स्वरूप, अतालता, छन्दोहीनता, पद की निरर्थकता, नियमबद्धता का अभाव और 'बन्ध' हीनता का भाव है।

सामान्य भाषा में 'बँधा हुआ' और 'न बँधा हुआ' से हम सङ्गीत में दो अर्थ समझते हैं। एक तो सतालता और दूसरा पूर्वयोजना (Predetermination) ये दोनों पक्ष परस्पर व्यावर्तक (Mutually exclusive) हैं, यानी सताल प्रयोग में पूर्वनियोजन अनिवार्य नहीं है, तत्काल उद्भावना भी सताल प्रयोग में संभव है; और वैसे ही पूर्वयोजना भी अताल रूप में बहुत कुछ संभव है। इस प्रकार ताल की दृष्टि से जो निबद्ध है, पूर्वनियोजित न होने के कारण वह अनिबद्ध भी है; वैसे ही अताल होने कारण जो अनिबद्ध है, पूर्वनियोजित होने के कारण वह निबद्ध भी हो सकता है।

सताल और पूर्वनियोजित निबद्ध की विस्तृत चर्चा हम प्रथम भाग में कर चुके हैं। यहाँ अनिबद्ध की कुछ चर्चा करना चाहते हैं, जिसमें अताल और सताल दोनों प्रकार आ जाते हैं, किन्तु पूर्वयोजना और नियत 'बन्ध' का अभाव है। आज के सन्दर्भ में गान्धर्व और गान अथवा मार्ग और देशी का सैद्धान्तिक पार्थक्य सर्वग्राह्य रूप में व्यवहारगत नहीं है, इसलिये 'गान' के साथ सम्बन्ध जोड़कर जिस अनिबद्ध का शार्ङ्गदेव ने निरूपण किया है, उसका अध्ययन हम आज के तथाकथित शास्त्रीय सङ्गीत के प्रयोग की दृष्टि से ही करेंगे।

आलप्ति और उसके भेदोपभेद

ऊपर हम देख ही चुके हैं कि अनिबद्ध को शार्ङ्गदेव ने आलाप्ति की संज्ञा कहा है। अतएव उनके अभिप्रेत अनिबद्ध का निरूपण आलप्ति में ही मिलता है। इस प्रसंग में विशेष ध्यान देने की बात यह है कि आज आलप्ति या आलाप हमारे व्यवहार में अनिबद्ध का एक अंग-मात्र है, किन्तु शार्ङ्गदेव ने पूरे अनिबद्ध का 'आलप्ति' में समावेश किया है। सङ्गीत रत्नाकर के प्रकीर्णकाध्याय में आलप्ति का विशद निरूपण है। यथा—

रागालपनमालप्तिः प्रकटीकरणं मतम्॥
सा द्विधा गदिता रागरूपकाभ्यां विशेषणात्।
रागालप्तिस्तु सा या स्यादनपेक्ष्यैव रूपकम्॥
स्वस्थानैः सा चतुर्भिः स्यादिति गीतविदो विदुः।
यत्रोपवेश्यते रागः स्वरे स्थायी स कथ्यते॥

ततश्चतुर्थो ऽद्ध्यर्धः स्यात् स्वरे तस्मादधस्तने।
चालनं मुखचालः स्यात् स्वस्थानं प्रथमं च तत्॥
द्व्यर्धस्वरं चालयित्वा न्यसनं तद्द्वितीयकम्।
स्थायिस्वरादष्टमस्तु द्विगुणः परिकीर्तितः॥

द्व्यर्धद्विगुणयोर्मध्ये स्थिता अर्धस्थिताः स्वराः।
अर्धस्थिते चालयित्वा न्यसनं तु तृतीयकम्॥
द्विगुणे चालयित्वा तु स्थायिन्यासाच्चतुर्थकम्।
एभिश्चतुर्भिः स्वस्थानैः रागालप्तिर्मता सताम्॥

स्तोकस्तोकैःस्वतः स्थायैः प्रसन्नैर्बहुभङ्गिभिः।
जीवस्वरव्याप्तिमुख्यै रागस्य स्थापना भवेत्॥
रूपकस्थेन रागेण तालेन च विधीयते।
या प्रोक्ता रूपकालप्तिः सा पुनर्द्विविधा भवेत्॥
प्रतिग्रहणिकैकान्या भञ्जनीत्यभिधीयते।
विधाय स्थायमालप्ते रूपकावयवो यदि॥
प्रतिगृह्येत सा प्रोक्ता प्रतिग्रहणिका बुधैः।
भञ्जनी द्विविधा ज्ञेया स्थायरूपकभञ्जनात्॥

यदा तत्पदमानेन स्थायो रूपकसंस्थितः।
नानाप्रकारः क्रियते सा ज्ञेया स्थायभञ्जनी॥
तैः पदैस्तेन मानेन समग्रं रूपकं यदि।
अन्यथा चान्यथा गायेदसौ रूपकभञ्जनी॥
वर्णालङ्कारसम्पन्ना गमकस्थायचित्रिता।
आलप्तिरुच्यते तज्ज्ञैर्भूरिभङ्गिमनोहरा॥

(सं० र० ३ ।१८९-२०२)

'लप्' (कहना) धातु में 'आ' उपसर्ग लगा कर तीन प्रत्ययों से तीन शब्द बनते हैं–'क्तिन्' से आलप्तिः, 'घञ्' से आलापः, 'ल्युट्' से आलपनम्। हिन्दी भाषा की दृष्टि से तीनों शब्द समानार्थक ही हैं, किन्तु संस्कृत भाषा में प्रत्यय-भेद से सूक्ष्म अर्थ-भेद माना जाता है। कल्लिनाथ ने सङ्गीत रत्नाकर के ऊपर उद्धृत अंश की टीका में इन तीन शब्दों का अर्थभेद विस्तार से कहा है। तदनुसार संक्षेप में यह समझ सकते हैं कि 'आलप्तिः' शब्द स्त्रीलिङ्ग है और उसमें राग का तिरोभाव—पक्ष विशेषरूप से अन्वित है। 'आलापः' शब्द पुँल्लिङ्ग है और उसमें राग का आविर्भाव-पक्ष प्रबल है। 'आलपनम्' शब्द नपुंसकलिङ्ग है। इसलिये वह आविर्भाव और तिरोभाव दोनों का मध्यस्थ है अर्थात् दोनों से सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। 'आलप्ति' शब्द में राग का तिरोभाव अथवा उसे ढकना मुख्य है, इसलिये लक्षण में साथ ही प्रकटीकरण शब्द भी रखा हुआ है। दोनों का सम्मिलित अर्थ यह होगा कि आलप्ति में आविर्भाव और तिरोभाव दोनों का विनियोग करते हुए राग का किञ्चित्-किञ्चित् प्रकटीकरण अभिप्रेत है। राग को एकदम उघाड़ कर रख देने में सौन्दर्य नहीं है। ढकने उघाड़ने की लुका-छिपी में सहृदयों को आनन्द मिलता है। इसलिये 'रागालपनमालप्तिः प्रकटीकरणं मतम्' इस लक्षण में तिरोभाव-सूचक लक्ष्य 'आलप्ति' शब्द का पूरक है आविर्भाव-सूचक प्रकटीकरण-रूपी लक्षण आलाप का और आविर्भाव और तिरोभाव दोनों में अन्वित क्रियात्मक भाव का बोधक है, आलपन जो अपने आप में दोनों का मध्यस्थ है।

'आलाप' शब्द का प्रयोग शार्ङ्गदेव ने रागाध्याय में किया है और उसका लक्षण इस प्रकार दिया है—

ग्रहांशमन्द्रताराणां न्यासापन्यासयोस्तथा।
अल्पत्वस्य बहुत्वस्य षाडवौडुवयोरपि॥
अभिव्यक्तिर्यत्र दृष्टा स रागालाप उच्यते।
रूपकं तद्वदेव स्यात् पृथग्भूतविदारिकम्॥
(सं० र० २।२।२३-२५)

अर्थात् ग्रह-अंश, मन्द्र-तार, न्यास-उपन्यास, अल्पत्व-बहुत्व और षाडव-औडुव—इन दस राग लक्षणों की अभिव्यक्ति जहाँ हो वह रागालाप है। इससे यह स्पष्ट है कि आलाप में प्रयोजन राग-विशेष के लक्षणों की अभिव्यक्ति मात्र है। इसे एक प्रकार से राग लक्षणों का प्रत्यक्ष प्रदर्शन कह सकते हैं, किन्तु सहृदयों का रञ्जन यहाँ प्रयोजन नहीं है। राग-लक्षण के निरूपण, शिक्षण और अभ्यास में इसका उपयोग समझा जा सकता है। यही रागालाप, शार्ङ्गदेव के अनुसार जब विदारी (खण्ड) पृथक्-पृथक् करके अर्थात् अपन्यास स्वरों के अनुसार विराम देते हुए प्रस्तुत किया जाय, तब रूपक कहलाता है। यह रूपक अनिबद्ध का प्रकार है, और निबद्ध की तीन संज्ञा-प्रबन्ध, वस्तु, रूपक में आया हुआ 'रूपक' इससे बिल्कुल भिन्न है। रागालाप के प्रसङ्ग में शार्ङ्गदेव ने 'करण', 'वर्तनी' और आक्षिप्तिका' इन तीन संज्ञाओं का भी प्रयोग किया है किन्तु इनका लक्षण यहाँ प्रासंगिक नहीं है। राग-लक्षणों के नाम रागालाप के प्रसङ्ग में ऊपर आये हैं। आज के लक्ष्य के प्रसङ्ग में इन पर हम इसी लेख में यथावसर संक्षेप में विचार करेंगे।

अब पुनः प्रकीर्णकाध्याय में वर्णित आलप्ति की बात करें। आलप्ति के दो भेद कहे गये हैं—रागालप्ति और रूपकालप्ति। रागालप्ति का प्रयोग रूपक अर्थात् प्रबन्ध से निरपेक्ष होता है। इसका विभाजन चार स्वस्थानों में किया जाता है। स्वस्थानों का क्षेत्र स्थायी स्वर से निर्धारित होता है। आज सभी रागों में षड्ज ही स्थायी स्वर होता है। इसलिये चारों स्वस्थानों की व्याख्या यहाँ हम षड्ज को ही आधार-बिन्दु मान कर देंगे। स्थायी (षड्ज) से चतुर्थ (मध्यम) स्वर से पूर्व तक अर्थात् स्थायी से तीसरे स्वर (गान्धार) तक प्रथम स्वस्थान का क्षेत्र है। अर्थात् रागालप्ति का प्रथम खण्ड षड्ज से गान्धार तक ही बनेगा। हाँ, स्थायी स्वर से नीचे, अर्थात् मन्द स्वरों में भी प्रथम स्वस्थान का क्षेत्र रहेगा। चतुर्थ (मध्यम) स्वर को द्वि+अर्ध=द्व्यर्ध संज्ञा दी गई है, जिसका अर्थ है एक से दुगने तक के अन्तर का आधा भाग यानी डेढ़। 'द्विगुण' संज्ञा अष्टम (सं) स्वर की है। अतः चौथा स्वर द्व्यर्ध है। जब चतुर्थ (मध्यम) स्वर को लेते हुए रागालप्ति होगी, तब द्वितीय स्वस्थान बनेगा। चतुर्थ और अष्टम स्वर के बीच अर्थात् सप्तम (निषाद) स्वर तक तृतीय स्वस्थान होगा और द्विगुण यानी अष्टम (सं) स्वर को ले लेने पर चतुर्थ स्वस्थान निष्पन्न होगा। अष्टम स्वर के बाद तो तार स्थान में मध्य स्थान की ही पुनरुक्ति होती है, इसलिए तार स्थान में कोई नया स्वस्थान नहीं माना गया है। स्वरों की गिनाई की इस व्यवस्था में लोप्य स्वर भी गिना जाता है। जैसे, ऋषभ यदि लुप्त है तो भी गान्धार तक ही पहला स्वस्थान बनेगा। इन चारों स्वस्थानों में छोटे-छोटे रागाभिव्यञ्जक स्वर-गुच्छों (स्थायों) के मोड़-तोड़ (भङ्गी) से राग की स्थापना होती है। इन स्वर-गुच्छों में 'जीव' (अंश) स्वर की व्याप्ति प्रमुख रहती है अर्थात् अंश स्वर को केन्द्र बनाकर ही इनकी रचना होती है। राग की स्थापना अथवा प्रकटीकरण के इस लक्षण की व्याख्या में कल्लिनाथ ने कहा है कि प्रत्येक राग में कुछ सञ्चार तो ऐसे होते हैं जो उसके निजी हैं अर्थात् जो किसी अन्य राग में नहीं आते और कुछ ऐसे होते हैं जो अन्य रागों में भी आते हैं। प्रथम प्रकार द्वारा राग का आविर्भाव और द्वितीय प्रकार द्वारा उसका तिरोभाव होता रहता है। इन दोनों का मिला-जुला प्रयोग है रागालप्ति। अर्थात् इसमें राग का खुला हुआ या उघड़ा हुआ रूप मात्र अभिप्रेत नहीं है। उसकी 'किञ्चित् प्रतीयमानता' अर्थात् कुछ-कुछ प्रकट होना यहाँ अभीष्ट है। इस आँखमिचौनी के लिए कल्लिनाथ ने दो सुन्दर उदाहरण दिए हैं। देवदत्त किसी सभा में गया। सभा में जब उसने प्रवेश किया, उस समय उसे लोगों ने देवदत्त के रूप में पहचाना। यह 'आविर्भाव' हुआ। किन्तु जब वह सभा में बैठ गया तो उसके सदृश वेश वाले पुरुषों के बीच उसकी पृथक् पहचान लुप्त हो गई। यह 'तिरोभाव' हुआ। किसी काम से देवदत्त उठा और इधर-उधर गया तब पुनः उसे सभा में पृथक् रूप से लोगों ने पहचाना। यह पुनः आविर्भाव हुआ। दूसरा उदाहरण है, मणि-मुक्ता का। रंगबिरंगी मणियों के बीच मोती पिरोया गया हो तो मोती में दोनों ओर के मणियों का रंग संक्रान्त होता रहता है और उसका अपना स्वरूप ठीक से पहचान में नहीं आता। यह तिरोभावमूलक किञ्चित् प्रकटीकरण हुआ। कभी सूत थोड़ा सा खिसक जाए और मणियाँ मुक्ता से कुछ दूर हट जाएँ तो मुक्ता का अपना रूप स्पष्ट दिखाई देता है।

यह आविर्भाव हुआ। 'छुप छुप देत दिखाई' के द्वारा कवियों ने सुन्दरी के मुखचन्द्र का अवगुण्ठन मे से झाँकना और ढँक जाना कहा है। राग का भी रसिकों ने इसी 'किञ्चित् प्रतीयमान' रूप से प्रकटीकरण श्लाध्य माना है, क्योंकि आलप्ति में राग-लक्षणों का निरूपण प्रयोजन नहीं है। सहृदय-हृदयाह्लाद का यह क्रम बड़ी काव्यमय रीति से कल्लिनाथ ने कहा है। अस्तु।

'रूपक' या प्रबन्ध या वस्तु जिस राग और ताल में निबद्ध है, उसकी अपेक्षा से अर्थात् उसके अनुरूप जो आलप्ति की जाती है, वह रूपकालप्ति कहलाती है। 'रागालप्ति' को आज की ध्रुपद शैली के आलाप के समकक्ष समझ सकते हैं, जो कण्ठ और तन्त्री वाद्यों द्वारा प्रस्तुत होता है। स्मरण रहे कि रागालप्ति अताल होती है। और 'रूपकालप्ति' के अन्तर्गत ध्रुपद, ख्याल, ठुमरी, टप्पा इत्यादि में बन्दिश के साथ जो काम किया जाता है, उसका समावेश हो जाता है। रूपकालप्ति का वर्णन उक्त तुलना-सहित नीचे प्रस्तुत है।

रूपकालप्ति दो प्रकार की है—प्रतिग्रहणिका और भञ्जनी। 'प्रतिग्रहण' का अर्थ है 'छोड़ कर पुनः पकड़ना'। आलप्ति के अङ्गीभूत 'स्थाय' का प्रयोग करके रूपक के अवयव का 'प्रतिग्रहण' करना प्रतिग्रहणिका है। 'रूपक के अवयव' को आज की भाषा में मुँह या मुखड़ा समझ सकते हैं। आलापतान, बहलावा इत्यादि रागाभिव्यञ्जक प्रयोग (स्थाय) लेकर बार-बार मुँह या मुखड़ा पकड़ना प्रतिग्रहणिका है। गेंद को उछाल कर पुनः पकड़ने की क्रिया से इसकी तुलना हो सकती है। आज का अधिकांश अनिबद्ध सताल प्रयोग 'प्रतिग्रहणिका' कोटि का ही है। बन्दिश के शब्दों को लिए बिना जितना 'अनिबद्ध' प्रयोग आज होता है, उसके सभी रूप 'प्रतिग्रहणिका' के अन्तर्गत समझे जा सकते हैं।

रूपकालप्ति का दूसरा भेद है 'भञ्जनी' जिसका शब्दार्थ है तोड़ना या खण्डों में बाँटना। भञ्जनी पुनः दो प्रकार की है—स्थायभञ्जनी और रूपकभञ्जनी। शार्ङ्गदेव के अनुसार स्थायभञ्जनी में स्थाय अर्थात् रूपक के अवयव को, पदों का मूल मान बनाये रखते हुए, नाना प्रकार से प्रस्तुत किया जाता है। यहाँ स्थाय शब्द का सामान्य से बिल्कुल भिन्न, एक विशिष्ट अर्थ में प्रयोग किया गया है। यहाँ प्रबन्ध या बन्दिश के एक अवयव या एकदेश यानी एक खण्ड को स्थाय कहा गया है। कल्लिनाथ के शब्दों में गायक या वादक अपनी प्रतिभा-विशेष से इस स्थाय के नवीन-नवीन प्रकारों की उद्भावना करता है। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि इस नवीन उद्भावना में शर्त यह रखी गई है कि पदों का मूल मान अविकृत बना रहना चाहिये। जिस पद को बन्दिश में जितनी मात्रा का मान दिया गया है उस मान को बनाये रखते हुए केवल स्वर विधान में नवीनता लाकर प्रयोग करना यहाँ अभिप्रेत है। आज बोल-बाँट, बोल-तान, या बोल-बनाव या शब्दालाप के नाम से जो प्रयोग होता है, उसमें पदों का मूल मान अविकृत बनाये रखने की शर्त का ध्यान प्रायः नहीं रखा जाता।

रूपकभञ्जनी में नवीनता इतनी ही है कि जहाँ स्थायभञ्जनी में बन्दिश में किसी खण्ड को लेकर नवीन प्रयोग होते हैं वहाँ रूपकभञ्जनी में पूरी बन्दिश को, पदों का मूल मान बनाये रखते हुए, 'अन्यथा-अन्यथा' यानी नवीन-नवीन प्रकार से गाया बजाया जाता है। भञ्जनी के प्रसङ्ग में पद का अर्थ है प्रबन्ध के खण्डविशेष के अन्तर्गत विदारी भाग। इस प्रकार यहाँ का 'पद' गान-वादन दोनों के प्रसङ्ग में सार्थक है। प्रबन्ध के खण्ड के अन्तर्गत जो इकाईयाँ सार्थक शब्द अथवा वाद्यशब्द की अनुकृतिमूलक ध्वनियों (जैसे—नोम् तोम् दिरि-दिरि) की योजना के रूप में गोचर होती हैं, वही यहाँ पद हैं और उनका मूलमान परिवर्तित न करते हुए स्वर प्रयोग की विविधता की उद्भावना द्वारा यहाँ चमत्कार-सृष्टि होती है। यह प्रयोग आज की भाषा में 'बन्दिश-लौटना या उलटना' कहलाता है। किन्तु क्वचित् ही सुनने में आता है।

आलप्ति के इस वर्णन के उपसंहार में शार्ङ्गदेव ने कहा है कि वर्ण, अलङ्कार से सम्पन्न (समृद्ध), गमक और स्थाय से चित्रित (रंगबिरंगी) और भूरि-भङ्गियों (अनेक जोड़-तोड़, जिसे आधुनिक सङ्गीतभाषा में 'ढुरन-मुरन' कहा जाता है) से मनोहर प्रयोग आलप्ति कहलाता है। यह लक्षण आलप्ति के ऊपर कहे हुए सभी भेदों को लागू होता है।

इस प्रसङ्ग में वर्ण, अलङ्कार, गमक और स्थाय के विषय में दो शब्द कहना अप्रासङ्गिक न होगा। वर्ण का मुख्य अर्थ है रङ्ग। दृश्यजगत् में वैशिष्ट्य का आधार रङ्ग द्वारा ही होता है, इसीलिये जब भाषा की व्याकृत ध्वनियों के लिये वर्ण-संज्ञा का प्रयोग होता है तो वहाँ भी ध्वनियों का वैशिष्ट्य लाक्षणिक रूप में उनका रङ्ग समझा जा सकता है। सङ्गीत में स्वर की गति के

आरम्भ का सूचक है वर्ण। स्वरों की गति में एक ही बिन्दु की आवृत्ति, अथवा 'दीप्ति' (उच्चता) की ओर गति, अथवा मृदुता (नीचता) की ओर गति, अथवा इन तीनों गतियों का मिला-जुला रूप—ये चार ही प्रकार संभव हैं। इसीलिये शास्त्र में कहा है कि गान-क्रिया का नाम है वर्ण, और वर्ण चार प्रकार के हैं—स्थायी, आरोही, अवरोही और सञ्चारी। इन्हीं वर्णों के आधार पर अलङ्कारों की रचना होती है।* अलङ्कार का लक्षण शार्ङ्गदेव ने ''विशिष्ट स्वर सन्दर्भ'' दिया है।

भाषा का सादृश्य देखें तो सङ्गीत का वर्ण व्याकृत ध्वनियों के समकक्ष माना जा सकता है और अलंकार वाक्य के घटक पद या पद समूह (Phrase) के सदृश। 'गमक' में स्वर के कम्प की सभी सम्भावनाओं का समावेश किया गया है। (शार्ङ्गदेव ने गमक के १५ प्रकार कहे हैं।) स्थाय को भाषा के सादृश्य में वाक्य-स्थानीय मान सकते हैं। स्थाय का विस्तृत निरूपण सङ्गीतरत्नाकर के प्रकीर्णकाध्याय में है, जिसमें राग-गत स्वर-प्रयोग में वैचित्र्य लाने वाले सभी तत्त्वों का ९६ स्थायों के रूप में बहुत व्यापक और तल-स्पर्शी निरूपण है। इन सारे तत्त्वों को लेकर चलती है आलप्ति जिसे अनेक वाक्यों से बनी हुई संरचना कह सकते हैं। इसमें वैचित्र्य के साथ रागगत एकता का सूत्र रहता है। स्वर से लेकर राग प्रकटीकरण तक की यात्रा की यह संक्षिप्त कहानी है।

निबद्ध में ताल और छन्द

ताल और छन्द दोनों का सीधा सम्बन्ध काल मान से है। श्रव्यमात्र में क्रमिकता अनिवार्य रूप से रहती है। चलता का ही दूसरा नाम है क्रमिकता। क्रम का बोध ही पूर्व और अपर (पहला और बाद वाला) के रूप में प्रकट होता है। ध्वनियों का श्रवण एक के बाद एक—यों क्रमिक रूप से ही होता है। काल का ही मूर्त रूप है क्रम। (इसी के साथ कार्य-कारण भाव अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। कारण पूर्व है और कार्य अपर।) इसलिए श्रव्यमात्र में काल अन्वित रहता है। दृश्य अचल भी हो सकता है और चल भी। चित्र, मूर्ति, स्थापत्य—ये अचल दृश्य हैं और नृत्य, नाट्य चल दृश्य। किन्तु श्रव्य में अचलता की कोई सम्भावना ही नहीं है।

किसी भी ध्वनि के श्रवण के साथ उसकी चार विशेषतायें हमें गोचर होती हैं। पहली विशेषता है उसकी उच्चता-नीचता जिसे वैज्ञानिक भाषा में तारता (Pitch) कहते हैं। सङ्गीत में अन्तराल (Interval) इसी तत्त्व का बोधक है। पूरा स्वरशास्त्र इसी के विश्लेषण को समर्पित है। दूसरी विशेषता है ध्वनि का विस्तार (Volume या intensity) जिसे तीव्रता भी कहते हैं। तीसरी है उसकी छाया, कान्ति या छवि। अंग्रेजी मे फ्रेञ्च भाषा का Timbre शब्द इस विशेषता के लिये प्रयुक्त होता है, जिसका शब्दार्थ है ध्वनि का रंग। यह विशेषता ध्वनि के उस तत्त्व की द्योतक है जिसके कारण ध्वनि के उत्पादक माध्यम का श्रोता को बोध होता है। एक वाद्य से दूसरे वाद्य की ध्वनि का भेद, मनुष्यों में व्यक्तिविशेष की ध्वनि का वैशिष्ट्य इसी तत्त्व के कारण प्रत्यक्ष होता है। आजकल इसे बहुधा 'विशेष गुण' कह दिया जाता है। हमने यहाँ सप्रयोजन छाया, कान्ति और छबि शब्दों का प्रयोग किया है। छाया शब्द में यह अर्थ अन्वित है कि उत्पादक माध्यम की छाया जिस गुण के कारण ध्वनि में आ जाती है, वह गुण उत्पादक की प्रत्यभिज्ञा (पहचान) का कारण होता है। 'कान्ति' से ध्वनि की चमक या रंग और 'छबि' से उसका व्यक्तित्व प्रकट होता है। इसलिये हमें ये तीनों शब्द Timbre के लिये 'विशेष गुण' की अपेक्षा अधिक उपयुक्त जान पड़े हैं। ध्वनि की चौथी विशेषता है उसका काल-मान। जिसे अंग्रेजी में Duration कहते हैं। इन चारों विशेषताओं का एक साथ ग्रहण होता है। कोई भी ध्वनि सुनते ही उसकी उच्चता-नीचता, तीव्रता-मन्दता, छाया और काल की दृष्टि से लम्बा-छोटा-पन एक साथ गृहीत होता है।

यहाँ हमें काल-मान का ही विचार करना है। ध्वनि के दो प्रमुख भेद हैं—एक वर्णात्मक syllabic दूसरा नादात्मक (Tonal)। प्राधान्य के आधार पर ही ये भेद बनाये जाते हैं। वैसे दोनों की स्थिति गुण-प्रधान-भाव से रहती है अर्थात् एक प्रधान रहता है तो दूसरा गौण, किन्तु कोई एक कभी अकेला नहीं रहता। बोलचाल की भाषा, काव्य-साहित्य आदि में वर्णात्मक ध्वनि

---

* अलङ्कार शब्द का भरत ने कुछ अधिक व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है। और 'गमक' 'स्थाय' का नाट्यशास्त्र में उल्लेख नहीं है। किन्तु यहाँ इन शब्दों के इतिहास का अध्ययन असम्भव है।

की प्रधानता है और गीत, वाद्य में नादात्मक ध्वनि की। भारतीय परम्परा में ध्वनि के इन दोनों पक्षों की अविच्छिन्नता को स्वीकार किया गया है और दोनों को एक ही वाक् तत्त्व की अभिव्यक्ति माना गया है, इसीलिये यहाँ पद (सार्थक अथवा निरर्थक वर्ण योजना) को भी स्वर-ताल के साथ ही साथ गीत, वाद्य का घटक माना गया है। उसे सङ्गीत से बहिरङ्ग तत्त्व कभी नहीं माना गया। वर्णात्मक ध्वनि के काल-मान का नियामक है छन्द और नादात्मक का ताल।

छन्द के प्रसङ्ग में भरत का एक बहुत सार-गर्भ वचन है कि कोई शब्द छन्दोहीन नहीं होता और कोई छन्द शब्दहीन नहीं।

''छन्दोहीनो न शब्दोऽस्ति नच्छन्दः शब्दवर्जितः''

(ना०शा० काशी स० १५/४०)

'ऐसी कोई ध्वनि नहीं जिसका कोई कालमान या छन्द न हो और ऐसा कोई छन्द नहीं जो ध्वनि के बिना सुव्यक्त हो सकता हो' किसी भी गति की लय का प्रत्यक्ष तब तक स्फुट नहीं होता जब तक गति का संयोग ध्वनि के साथ न हो। केवल दृश्य गति अपने 'छन्द' को सुव्यक्त नहीं कर सकती। इस प्रकार छन्द का वर्णात्मक ध्वनि के साथ सहज सम्बन्ध है।

ताल की कल्पना ''स्वर-संघात'' के मान के लिये हुई है। दत्तिल ने कहा है ''पदस्थः स्वरसंघातस्तालेन सुमितस्तथा''। अर्थात् पद में जो स्वर-संघात स्थित है, वह ताल द्वारा सुमित (अच्छी तरह नापा हुआ) बनता है।

छन्द और ताल दोनों मान के नियामक होते हुए भी किस प्रकार भिन्न हैं, इसका सबसे सीधा उत्तर यह है कि ताल की सत्ता वाद्य के बिना सिद्ध नहीं होती; जबकि छन्द वाद्य से स्वतन्त्र रूप से भी सिद्ध है। ताल का सीधा सम्बन्ध घन वाद्य से है जिसका आदिम रूप मनुष्य के दो हाथ हैं। इसीलिये भरत ने ताल का प्रसंग उठते ही तालाध्याय के प्रथम श्लोक में ही कहा है—

वाद्यं तु यद् घनं प्रोक्तं कलापातलयान्वितम्।
कालस्तस्य प्रमाणं हि विज्ञेयस्तालयोगतः॥

(ना० शा० ३१।१)

घन-वाद्य पर ताल अभिव्यक्त होता है, इसी से स्पष्ट है कि उसमें मानव के शरीरगत उच्चारणयन्त्र से कुछ भिन्न क्रिया अपेक्षित है। यह क्रिया दो प्रकार की है, सशब्द और निःशब्द। सशब्द का दूसरा नाम है पात और निःशब्द का कला। 'कला' शब्द के ताल के प्रसङ्ग में अनेकों अर्थ हैं जिनमें से एक है निःशब्द क्रिया का पर्याय। लय भी यहाँ पारिभाषिक शब्द है। यह शब्द 'लीञ्'-श्लेषणे धातु से बना है जिसका अर्थ है जोड़ना। इसीलिये लय शब्द का मुख्य अर्थ है घुल-मिल जाने का भाव। लय का लक्षण शार्ङ्गदेव ने ''क्रियाऽनन्तरविश्रान्तिर्लयः'' कह कर दिया है। तालगत क्रिया के साथ जुड़ी हुई विश्रान्ति है लय। अर्थात् एक क्रिया और दूसरी क्रिया के कालगत अन्तराल का नाम है लय। भरत के काल से ही लय के तीन भेद माने गये हैं—द्रुत, मध्य और विलम्बित। लय के उक्त लक्षण के अनुसार द्रुत का द्विगुण है मध्य और मध्य का द्विगुण है विलम्बित। आज लय की धारणा इसके बिल्कुल विपरीत है, क्योंकि आज विलम्बित का दुगना मध्य और मध्य का दुगना द्रुत माना जाता है। स्पष्ट है कि जहाँ प्राचीन दृष्टिकोण लय का आधार विश्रान्ति को मानता था,—वहाँ आज लय को गति का समानार्थक समझा जाता है। इसलिये गति का वेग बढ़ने को आज हम लय का बढ़ना कहते हैं और प्राचीन दृष्टि में गति के वेग का घटना लय (विश्रान्ति) का बढ़ना था।

भरत ने ताल के दो ही मूलभूत भेद माने हैं—त्र्यस्र (त्रि+अस्र या अश्र) और चतुरस्र (चतुः+अस्र या अश्र) यानी त्रिकोण और चतुष्कोण। तीन और चार संख्यायें ही तालों की रचना में मूलभूत हैं।'इन्हीं संख्याओं के योग-विभाग-गुणन इत्यादि से तालरचना की पूरी सृष्टि सिद्ध हो जाती है। भरत के पूरे ताल-विधान को शार्ङ्गदेव के समय मार्ग-ताल पद्धति मान लिया गया था और उससे भिन्न तालविधान देशी ताल के नाम से प्रचलित हो चुका था। भरतोक्त ताल पाँच ही थे जो बाद में मार्ग-ताल कहलाये और जिनके नाम-रूप, संख्या सर्वथा अपरिवर्तित रहे वे देशी कहलाए। शार्ङ्गदेव ने १२० देशीताल कहे हैं जिनके नाम, रूप, संख्या में बहुत कुछ परिवर्तन होता रहा।

अत्यन्त संक्षेप में मार्ग और देशी ताल-पद्धतियों का संकेत-मात्र देना यहाँ संभव है। मार्ग तालों के सम्बन्ध में दो ही बातें यहाँ उल्लेखनीय हैं, एक तो यह कि उस ताल-पद्धति में लघु, गुरु और प्लुत जो क्रमशः एक, दो और तीन मात्राओं की संज्ञाये हैं—यही तीन इकाइयाँ स्वीकृत थीं और मात्रा का मान पाँच निमेष अथवा पाँच लघु अक्षर का उच्चारण काल था। दूसरी विशेषता यह थी कि प्रत्येक ताल के तीन मार्ग थे, जो क्रमशः द्विगुण मान के थे। सबसे छोटे मार्ग का नाम चित्रमार्ग, उससे दुगने का नाम वृत्ति या वातिकमार्ग और उससे भी दुगने का नाम दक्षिणमार्ग था। यहाँ मार्ग का अर्थ है ताल के चक्र की परिधि या लम्बाई। त्रिताल को आज द्रुतलय में चार मात्रा, मध्यलय में आठ मात्रा और विलम्बित लय में १६ मात्रा का मानकर व्यवहार करने की परिपाटी है। इसी के सादृश्य से तीन मार्गों की स्थूल धारणा बनाई जा सकती है। तीनों मार्गों में मात्रा का मान एक-सा रहने पर भी मार्ग की लम्बाई-छोटाई के कारण क्रमशः द्रुत, मध्य और विलम्बित 'भाव' (लय तो तीनों में अपरिवर्तित है, किन्तु धीमेपन और तेजी अथवा मध्य स्थिति का आभास) रहता है।

देशी तालों में लघु-गुरु-प्लुत के अतिरिक्त द्रुत (आधी मात्रा) और विराम (जिस इकाई के साथ विराम का योग होता है उसका आधा मान उसके साथ जुड़ जाता है) ये दो इकाइयाँ और मानी गईं। यहाँ मात्रा का मान छन्द की भांति एक लघु अक्षर काल ही है। इन सभी इकाइयों के चिह्न इस प्रकार हैं—प्लुत ऽ', गुरु ऽ, लघु।, द्रुत०, विराम'। जैसे 'का अर्थ होगा। $\frac{१}{२}+\frac{१}{४}=\frac{३}{४}$। मार्ग और देशी ताल-पद्धतियों में एक और बड़ा अन्तर यह है कि मार्ग-तालों में ताल के प्रत्येक मार्ग की सशब्द और निःशब्द क्रियायें निर्दिष्ट हैं, किन्तु देशी तालों का वर्णन छन्दों के वर्णन जैसा ही है। उसमें क्रियाओं का निर्देश नहीं है। छन्द से देशी ताल का अन्तर यही है कि छन्द में गुरु और लघु दो ही इकाइयाँ मानी जाती हैं, जबकि देशी तालों में प्लुत, द्रुत और विराम—ये तीन इकाइयाँ अधिक मानी गई हैं।

ताल के विषय में ऊपर लिखे संक्षिप्त संकेतों से अधिक कुछ कहना यहाँ स्थान-संकोच के कारण संभव नहीं है। आज की प्रचलित हिन्दुस्तानी ताल पद्धति के प्रसंग में इतना ही उल्लेख पर्याप्त होगा कि आज मात्रा ही ताल की एकमात्र इकाई है, किन्तु उसका कोई नियत मान नहीं है। तालों में विविधता आवर्तन या चक्र की लम्बाई, विभाग (जो सशब्द और निःशब्द क्रिया का सूचकमात्र है) और ठेका (ताल के चक्र को अवनद्ध वाद्य पर प्रकट करने वाली नियत क्रिया-योजना की अनुकृतिमूलक वर्ण संघटना), के कारण आती है।

ताल से सम्बद्ध वाद्यों के विषय में एक उल्लेख प्रासंगिक है। प्राचीन परम्परा में 'गीत' (गान-वादन के स्वरांश) की उत्पत्ति तत और सुषिर वाद्यों से मानी जाती थी, अवनद्ध वाद्य गीत के पदांश (सार्थक अथवा निरर्थक वर्ण-समूह) की अनुकृति प्रस्तुत कर के गीत का उपरञ्जन करते थे, और मान का काम घन वाद्यों का था। हिन्दुस्तानी सङ्गीतपद्धति में आज मान का काम भी अवनद्ध वाद्यों को ही सौंप दिया गया है। कर्णाटकी पद्धति में आज भी अवनद्ध वाद्य गीत का उपरञ्जन करते हैं और मान के लिये पृथक् 'तालधर' की व्यवस्था है।

ताल-सम्बन्धी इस संक्षिप्त उल्लेख के उपसंहार में तालशब्द की व्युत्पत्ति देना अनुचित न होगा। शार्ङ्गदेव ने कहा है—

''तालस्तलप्रतिष्ठायामिति घातोर्घञि स्मृतः।
गीतं वाद्यं तथा नृत्तं यतस्ताले प्रतिष्ठितम्''॥

(सं० र० ५/२)

'तल्' धातु से ताल शब्द बना है। तल वह आधार है जिस पर कोई भी वस्तु टिकी रह सकती है। हाथ के तल पर हम वस्तुओं को धारण करते हैं, हमारे पद-तल पर शरीर टिका रहता है और पृथ्वीतल पर सभी प्राणी व स्थिर वस्तुएँ टिकी रहती हैं। 'ताल' पर गीत, वाद्य, नृत्य तीनों की प्रतिष्ठा है, इसका तात्पर्य यही है कि गीत, वाद्य और नृत्य तीनों चल होने के कारण कालाश्रित हैं और अखण्ड काल को खण्ड में विभाजित करने वाला ताल इन तीनों का सहज आधार है।

छन्द के प्रमुख दो भेद हैं—मात्रिक और वार्णिक। मात्रिक छन्दों में नियतता मात्रा-संख्या के आधार पर लाई जाती है, और वार्णिक छन्दों (वृत्तों) में लघु-गुरु अक्षरों के क्रम के आधार पर। संस्कृत भाषा में वार्णिक वृत्तों का ही अधिकतर प्रयोग हुआ

है और मात्रिक छन्द प्राकृत, अपभ्रंश से हिन्दी आदि में आये हैं। इन दो के अतिरिक्त एक अन्य कोटि भी है जो वार्णिक होते हुए भी बहुत कुछ नियम-मुक्त है जिसे अक्षर-मुक्तक संज्ञा दी गई है। संस्कृत का अनुष्टुप् छन्द और हिन्दी की घनाक्षरी इस कोटि में आते हैं। अनुष्टुप् में प्रत्येक चरण में आठ अक्षर रखने का नियम है और लघु-गुरु के क्रम में बहुत कुछ (पूरी नहीं) स्वतन्त्रता है। घनाक्षरी में तो प्रत्येक अक्षर को एक सा वज़न देकर पढ़ने की परिपाटी है, इसलिये उसमें लघु-गुरु-क्रम का कोई नियम नहीं।

किसी छन्दोबद्ध रचना को तालबद्ध करने के लिये सर्वप्रथम छन्द के प्रत्येक चरण की मात्रा-संख्या पर ध्यान देना आवश्यक है। छन्द मात्रिक हो, अथवा वार्णिक, आज की ताल-रचना मात्राधारित होने के कारण छन्द का मान मात्रा की इकाई के अनुसार जानना आवश्यक है। छन्द का एक चरण और ताल का एक आवर्तन बिल्कुल एक से हों, ऐसा न तो प्रत्येक स्थिति में संभव है और न ही अनिवार्य। छन्द का एक चरण ताल के कई आवर्तनों में भी बाँधा जा सकता है। इस प्रसंग में चार बातों का विशेष ध्यान रखना आवश्यक है। १—छन्दोगत मान का ताल के साथ साम्य साधने के लिए वर्णों का कर्षण (स्वरों में खींचना यानी लम्बाना) तो किया जा सकता है, किन्तु वर्णों के मूल मान को घटाना कदापि उचित नहीं। जैसे १३ मात्रा के छन्द के वर्णों का कर्षण करके १६ मात्रा के त्रिताल के साथ उसका साम्य लाया जा सकता है, किन्तु १३ मात्रा के छन्द के मान को घटा कर १२ मात्रा के ताल में बैठाना किसी प्रकार भी उचित नहीं। २—छन्द की यति या विराम पर पूरा ध्यान रहना चाहिये, और उसका साम्य ताल के विभाग अथवा आवर्तन के साथ अवश्य बैठना चाहिये। ३—कर्षण गुरु वर्णों का ही होना चाहिये, लघु का नहीं। ४—ताल के आवर्तन में किस स्थान से छन्दोबद्ध पद का ग्रह (उठान) बैठाया जाय, इसका निर्णय इस प्रकार करना चाहिये कि ताल के सम पर छन्द के किस अक्षर या मात्रा का पड़ना उचित है। कुछ उदाहरणों से ये बातें नीचे स्पष्ट हो जायेंगी।

वसन्ततिलका वृत्त-चौताल

ऽऽ। ऽ ।।। ऽ, ।।ऽ। ऽ ऽ-यह वसन्ततिलका का एक चरण है। यति आठवें अक्षर पर है। अत: प्रथम विदारी का मान १२ मात्रा और दूसरी का ९ मात्रा है। प्रथम विदारी चौताल के एक आवर्तन में बैठ जाएगी और द्वितीय के अन्त में तीन मात्राओं का कर्षण करने से इसका मान भी १२ मात्रा हो जाएगा।

भुजङ्गप्रयात वृत्त—झपताल

। ऽऽ । ऽऽ। ऽ ऽ। ऽ ऽ-यह भुजङ्गप्रयात का एक चरण है। इसमें यगण की अर्थात् एक लघु, दो गुरु की ही चार बार आवृत्ति होती है। यगण की मात्रायें हैं ५। झपताल का आधा भाग ५ मात्रा का है, किन्तु झपताल के विभागों की दृष्टि से इस छन्द के द्वितीय अक्षर को सम पर रखना उचित होगा क्योंकि उससे २, ३, २, ३ का विभाजन बन जाएगा और झपताल की रचना से उसका पूर्ण साम्य होगा।

त्रोटक वृत्त-कहरवा

।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ—त्रोटक के एक चरण में सगण अर्थात् दो लघु, एक गुरु की चार बार आवृत्ति है सगण का मान है चार मात्रा। कहरवा ताल की गति के साथ सगण का साम्य सहज है।

पञ्चचामर वृत्त-दादरा

। ऽ। ऽ। ऽ। ऽ। ऽ। ऽ। ऽ। ऽ—पञ्चचामर के एक चरण में लघु-गुरु क्रम की ८ बार आवृत्ति है। अत: तीन तीन मात्रा की इकाइयों में यह सहज ही बँट जाता है, और दादरा के साथ इसका साम्य अनायास सिद्ध है, किन्तु ध्यान रहे कि तीन मात्रा की इकाइयाँ ऽ। क्रम में दादरा के उपयुक्त हैं। अत: ताल का आरम्भ दूसरे अक्षर से करें।

ऊपर तीन उदाहरणों में नियत अक्षर-क्रम की आवृत्ति है। ऐसे छन्दों को ताल वृत्त कहा जाता है।

दोहा—इसके चारों चरण समान नहीं हैं। प्रथम ओर तृतीय चरण में १३ मात्रा तथा द्वितीय और चतुर्थ चरण में ११ मात्रा का नियम है। कर्षण द्वारा प्रत्येक चरण को १६ मात्रा का बना कर त्रिताल में बैठाया जा सकता है, किन्तु 'सम' कहाँ पर रखना होगा इसका निर्णय अपने अभीष्ट दोहे को देखकर ही करना उचित होगा। यदि निम्नलिखित दोहा हो—

नील सरोरुह नीलमनि, नील नीरधर स्याम।

तो 'सरोरुह' के 'रो' या 'नीलमनि' के 'नी' पर सम रखा जा सकता है।

सोरठा—इसमें दोहे से विपरीत क्रम रहता है, अर्थात् प्रथम, तृतीय चरण में ११ मात्रा और द्वितीय चतुर्थ में १३ मात्रा रहती हैं। इसमें ८ वीं मात्रा पर सम रखने से त्रिताल के अनुरूप कर्षण करने पर साम्यापादन हो सकता है। यथा

प्रनवउँ पवन कुमार, खल बन पावक ज्ञान घन।

यहाँ 'मा' पर सम रखकर इन तीन मात्राओं का कर्षण कर के आठ मात्रा पूरी करनी होंगी अर्थात् छन्द का ग्रह ताल के खाली पर रहेगा।

घनाक्षरी—इसके एक चरण में प्राय: ३१ अक्षर होते हैं और यति ८, ८, ८, ७ अक्षरों पर होती है। लघु गुरु का इस छन्द में समान वजन होने के कारण एक सामान्य नियम इसमें बरता जा सकता है, कि प्रत्येक विदारी के पहले, तीसरे, पाँचवें और सातवें अक्षर का एक-एक मात्रा कर्षण करके प्रत्येक विदारी का मान १२ मात्रा बनाकर चौताल के एक आवर्तन में उसे बैठा दिया जाय। अन्तिम विदारी में सात अक्षर होंगे। इसलिये वहाँ सातवें अक्षर का दो मात्रा कर्षण किया जाय। घनाक्षरी का ही दूसरा नाम है कवित्त। अनेकों ध्रुपद गीतों की रचना कवित्त के आधार पर हुई है। प्रथम खण्ड की प्रथम विदारी को ही ध्रुपद में 'ध्रुव' का रूप दिया जाता है।

विस्तार-भय से अधिक उदाहरण प्रस्तुत करना यहाँ संभव नहीं है। ऊपर जिन बातों की ओर ध्यान दिलाया गया है, उनका कुछ स्पष्टीकरण इन उदाहरणों से अवश्य हो सकेगा।

प्रत्येक छन्द में गेयता की संभावना है, किन्तु यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक गेय रचना छन्दोबद्ध ही हो। ऊपर छन्द को गेय बनाने की विधि का दिग्दर्शन मात्र दिया गया है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि गेय में छन्द का रहना अनिवार्य है।

ताल-छन्द के परिचयात्मक इस लघु प्रकरण के उपसंहार में, भावात्मक अभिव्यक्ति में दोनों का योगदान संक्षेप में विचारणीय है। गुरु अक्षर (छन्द में अथवा 'गेय' के 'पद' में) अथवा गुरु प्रहार (तन्त्री अथवा अवनद्ध वाद्यों में) में विशालता, गम्भीरता, दूरस्थता, शान्ति, अवसाद इत्यादि का 'भाव' रहता है। लघु अक्षर अथवा लघु प्रहार में, इसके विपरीत, लघुता, तरलता, निकटस्थता, उद्वेग, दीप्ति इत्यादि का 'भाव' रहता है। लघु-गुरु अक्षर योजना का 'गेय' के समग्र प्रभाव में स्पष्ट योगदान अनुभव में आने के कारण ही भरत काल से 'सम्भाविता' और पृथुला ये दो गीतियाँ* मानी गईं। सम्भाविता में गुरु अक्षरों की प्रधानता है और पृथुला में लघु अक्षरों की। इन दोनों का अपना प्रभाव है जो 'गेय' के अन्य तत्त्वों—स्वर, ताल के साथ मिल कर स्फुट होता है। स्वर, ताल और पद के सहज सम्बन्ध को सूत्र-रूप में यों कहा जा सकता है कि गुरु अक्षर, लम्बा छन्द अथवा ताल का बड़ा 'मार्ग' (लम्बा आवर्तन) विलम्बित लय और मन्द्र स्थान—इनका परस्पर सहज संबंध है। वैसे ही गुरु-लघु की सम्मिश्र योजना, छन्द की मध्यम लम्बाई, ताल का मध्य 'मार्ग', मध्य लय और मध्य स्थान—इनका परस्पर स्वाभाविक सम्बन्ध है और लघु अक्षर, छोटा छन्द, छोटा 'मार्ग', द्रुत लय और तार स्थान—इनका परस्पर सीधा सम्बन्ध है। इस सहज सम्बन्ध के प्रति संवेदन-शीलता गीत-वाद्य प्रयोग के प्रभाव में व्यापकता और गहराई ला सकती है।

---

* पद-सम्बन्धी गीतियाँ चार हैं, जिनमें से सम्भाविता और पृथुला का गुरु-लघु-अक्षरयोजना से सम्बन्ध है और मागधी, अर्धमागधी का पदों के आवृत्ति-क्रम से। 'राग' के प्रसंग में भी पाँच गीतियाँ मानी गई हैं जिनका सम्बन्ध सरल, वक्र, गमकयुक्त इत्यादि स्वर-प्रयोग की। विशेषताओं से है। इनका सादृश्य साहित्य-शास्त्रगत 'रीति' से देखा जा सकता है, जहाँ समास का बाहुल्य अथवा अल्पत्व भेद उपजाता है।

रागलक्षण

रागालाप के प्रसङ्ग में रागलक्षणों का उल्लेख शार्ङ्गदेव ने किया है। आज के लक्ष्य की दृष्टि से इस विषय पर थोड़ा सा विचार करना आवश्यक है। रागलक्षण की जो शब्दावली आज सबसे अधिक प्रचलित है, वह है वादी-संवादी-अनुवादी-विवादी।

यह शब्दावली प्राचीन है और भरत ने स्वरों के संवाद, विवाद, अनुवाद सम्बन्ध को स्फुट करने के लिए इसका प्रयोग किया है। सम्बन्ध दो बिन्दुओं के बीच ही स्थापित हो सकता है। यहाँ आधार-बिन्दु है 'वादी' और अन्तराल-भेद से दूसरा बिन्दु संवादी, विवादी अथवा अनुवादी है। राग लक्षण में इस शब्दावली का प्रयोग काफी बाद की घटना है। आज इसके प्रयोग में कई चिन्तकों को विप्रतिपत्ति है, क्योंकि राग में जिस स्वर का बहुत प्रयोग हो उसे बादी और जिसका तदपेक्षा गौण प्रयोग ही, उसे संवादी कहने से सर्वदा संवाद सम्बन्ध के दर्शन नहीं होते। इस अदर्शन के प्रमुख उदाहरण हैं—श्री राग के 'रे़ प' और मारवा के 'रे़-ध'।

इस असङ्गति से बचने के लिए प्राचीन राग-लक्षण ग्रह-अंश आदि का प्रयोग इस युग में पुनः आरम्भ किया गया। (द्रष्टव्य स्व० पं० ओंकारनाथ ठाकुर द्वारा रचित सङ्गीताञ्जलि भाग २-६)। इस शब्दावली के आधुनिक प्रयोग के विषय में संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि यह शब्दावली ग्राममूर्च्छना पद्धति के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई है। आज तो षड्ज ही सब रागों में आधार स्वर है। इस बदली हुई परिस्थिति में इस शब्दावली का प्रयोग सीमित रूप से ही सार्थक हो सकता है। यह विषय अत्यन्त विस्तृत है। अतः संक्षेप में यहाँ इसके साथ न्याय संभव नहीं है। वादी, अंश, स्थायी ये स्वर संज्ञाएँ आज तो वास्तव में 'षड्ज' के प्रसङ्ग में ही पूर्णतः सार्थक हैं। किन्तु इनका आज के सन्दर्भ में राग के प्रमुख स्वर के लिए जो प्रयोग होता है, उसकी संगति के प्रति आलोचनात्मक दृष्टि के लिए इनके आदिम प्रयोग के संदर्भ को स्पष्टतया समझना चाहिए। इतना सङ्केत देना ही यहाँ संभव है।

उपसंहार

इस लेख में 'अनिबद्ध' और 'निबद्ध' संज्ञाओं का इतिहास और उनके द्वारा निर्दिष्ट गान-वादन की विशिष्ट क्रियाओं को संक्षेप में देखने का प्रयास किया गया। 'निबद्ध' के विशिष्ट संग्रह 'भाव-रङ्ग लहरी' के द्वितीय भाग की भूमिका के रूप में इस विषय के समावेश का औचित्य स्पष्ट है। संक्षेपीकरण यदि कहीं अस्पष्टता का कारण बन गया हो तो विज्ञ पाठक क्षमा करेंगे।

शुभाशंसा

'भावरंग लहरी' के प्रथम भाग का प्रकाशन पू० पं० गुरुदेव पण्डित ओंकार नाथ ठाकुर के जीवन-काल में हुआ था। इस दूसरे भाग के प्रकाशन के अवसर पर वे पञ्च भौतिक देह में उपस्थित नहीं हैं। किन्तु उनके आशीर्वाद इस शुभ अवसर पर अवश्य 'भावरङ्ग' के साथ हैं, इसमें संदेह नहीं। 'निबद्ध' के क्षेत्र में यह सर्जनात्मक प्रयास श्लाघनीय है। स्व० पण्डितजी के शिष्य-मित्र-परिवार को 'भावरङ्ग' से बहुत आशाएँ हैं। सबके व्यक्त-अव्यक्त शुभाशंसात्मक स्वरों में अपना स्वर मिलाने का यह अवसर पाकर मुझे हार्दिक प्रसन्नता है। आपके सुदीर्घ सफल जीवन के लिए प्रार्थना का यह परम सुखद प्रसंग है।

वाग्गेयकार-लक्षण

वाङ्मातुरुच्यते गेयं धातुरित्यभिधीयते।
वाचं गेयं च कुरुते यः स वाग्गेयकारकः॥
शब्दानुशासनज्ञानमभिधानप्रवीणता।
छन्दःप्रभेदवेदित्वमलङ्कारेषु कौशलम्॥
रसभावपरिज्ञानं देशस्थितिषु चातुरी।
अशेषभाषाविज्ञानं कलाशास्त्रेषु कौशलम्॥
तूर्यत्रितयचातुर्यं हृद्यशारीरशालिता।
लयतालकलाज्ञानं विवेकोऽनेककाकुषु॥
प्रभूतप्रतिभोद्भेदभावत्वं सुभगगेयता।
देशीरागेष्वभिज्ञानं वाक्पटुत्वं सभाजये॥
रोषद्वेषपरित्यागः सार्द्रत्वमुचितज्ञता।
अनुच्छिष्टोक्तिनिर्बन्धो नूत्नधातुविनिर्मितिः॥
परचित्तपरिज्ञानं प्रबन्धेषु प्रगल्भता।
द्रुतगीतविनिर्माणं पदान्तरविदग्धता॥
त्रिस्थानगमकप्रौढिर्विविधालप्तिनैपुणभ्।
अवधानं गुणैरेभिर्वरो वाग्गेकारकः॥

(सं० रं० ३१२-८)

अर्थात्—

गीत के 'वाक्' अंश को 'मातु' और 'गेय' अंश को 'धातु' कहते हैं। जो 'वाक्' और 'गेय' दोनों की रचना करता है, वह 'वाग्येयकार' है।

उत्तम वाग्गेयकार के लक्षण या गुण इस प्रकार हैं—

(१) 'शब्दानुशासन' अर्थात् व्याकरण-शास्त्र का ज्ञान, (२) 'अभिधान' अर्थात्, अमरकोशादि में प्रवीणता, जिससे किसी भी शब्द के विविध पर्याय ज्ञात रहते हैं, (३) 'छन्द' के भेद-प्रभेदों का ज्ञान, (४) उपमा आदि अर्थालङ्कारों और अनुप्रास आदि शब्दालङ्कारों के प्रयोग में कुशलता, (५) रस (शृङ्गारादि), भाव का ज्ञान, (६) 'देशस्थिति' में चातुरी अर्थात् पाञ्चाल, गौड़ आदि देशों की संस्कृति के सूक्ष्म भेदों का ज्ञान, (७) अनेक भाषाओं का ज्ञान, (८) कला-शास्त्र अर्थात् गीतादि समस्त कलाओं के शास्त्र की अभिज्ञता, तूर्यत्रितय (गीत वाद्य, नृत्य) में चातुर्य, (१०) हृद्य अर्थात् मनोरम शारीर (शरीर के साथ उत्पन्न कण्ठ ध्वनि) (११) लय, ताल, कला (ताल की निःशब्द क्रिया) का ज्ञान, (१२) अनेक काकुओं का विवेक अर्थात् काकु (भाव-सूचक ध्वनि विकार अथवा देश, वाद्य, 'क्षेत्र' यानी मनुष्य शरीर आदि के भेद से ध्वनि-वैशिष्ट्य या Timbre के अनेक भेदों की समझ (१३) प्रभूत प्रतिभा (नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि) की उद्भावना का धनी होना, (१४) सुभगगेयता अर्थात् गान की सुश्रव्यता, (१५) देशी रागों का ज्ञान (१६) सभा को जीतने में वाक्पटुता, (१७) राग-द्वेष का परित्याग (१८) सार्द्रता अर्थात् चित्त का भीगापन या सरसता (१९) उचितज्ञता अर्थात् औचित्य का ज्ञान (२०) अनुच्छिष्ट (जो जूठी न हो) उक्ति को बद्ध करना (२१) नूतन धातु, (गेय) का निर्माण (२२) दूसरों के चित्त का ज्ञान (२३) प्रबन्धों के भेदों का प्रौढ़ ज्ञान (२४) द्रुत गति से गीतों का निर्माण, (२५) पदान्तर (विभिन्न पद अथवा प्रबन्ध का भेद-विशेष) का निर्माण (२६) त्रिस्थान-व्यापी गमकों में प्रौढ़ता, (२७) आलप्ति में निपुणता और (२८) अवधान अर्थात् एकाग्रता।

★★★

.१५.

सङ्गीतशास्त्र में मिथक *

(१) भूमिका :

मिथक शब्द अंग्रेज़ी के मिथ (Myth) का ही किञ्चित् रूपान्तर है। 'मिथ' के लिये मोनियर विलियम्स ने पुरावृत्त या पुरावृत्ताख्यान या पुराण इस प्रकार संस्कृत भाषान्तर दिया है। पुराण अथवा महापुराण के जो पाँच या दश लक्षण परम्परा-प्राप्त हैं, वे सब 'मिथ' शब्द के साथ लग सकते हैं या नहीं, यह प्रश्न यहाँ प्रासङ्गिक नहीं है। आयोजकों ने पुराण शब्द न रखकर 'मिथक' शब्द को अपनाया है, इससे ऐसा लगता है कि 'मिथ' शब्द की अर्थव्याप्ति को उन्होंने पुराण से भिन्न अवश्य माना है।

'मिथ' का लक्षण देना बड़ा कठिन है। इतना ही कहा जा सकता है कि इस शब्द के साथ अर्थ का जो साहचर्य सामान्य रूप से जाना-पहचाना है, उसके निम्नलिखित पहलू हैं—

(१) पुरावृत्त अर्थात् किसी बीती हुई घटना का आख्यान।

(२) देश काल पात्र—इन तीनों के निश्चित निरूपण का अभाव।

(३) कुछ ऐसी बात का प्रतिपादन जो कि दैनन्दिन अनुभव के आधार पर तत्काल समझी नहीं जा सकती।

ऊपर लिखे तीनों पहलू सर्वत्र एक साथ उपस्थित रहें—यह आवश्यक नहीं है, किन्तु इनमें से कम से कम कोई दो पहलू तो 'मिथ' के स्वरूप के लिए आवश्यक हैं ही। उदाहरण के लिए भारतीय सङ्गीत में रागों के साथ ऋतु और दिन-रात के कालचक्र का सम्बन्ध 'मिथ' कोटि में रखा जा सकता है, क्योंकि इसके मर्म को हठात् समझना असंभव है। किन्तु इसमें कोई पुरावृत्त का आख्यान नहीं है। तथापि इस परम्परा के उद्गम का देश-काल-पात्र अनिर्धारित है और सामान्य समझ के परे तो यह है ही।

(२) स्रोत :

प्रस्तुत निबन्ध का विषय है—सङ्गीत शास्त्र में 'मिथ'। भारतीय सङ्गीतशास्त्र का मुख्य स्रोत है नाट्यशास्त्र। उसमें से हम कुछ ऐसे 'मिथसमूह' का भी संग्रह करेंगे जो सीधे-सीधे सङ्गीतशास्त्र के अन्तर्भुक्त न होने पर भी उसके साथ भलीभाँति जुड़ा हुआ है। नाट्यशास्त्र के अतिरिक्त बृहद्देशी और सङ्गीतरत्नाकर भी इस अध्ययन के लिए प्रमुख स्रोत हैं। वेद में सब विद्याओं और कलाओं का मूल विद्यमान है, यह अपने आप में एक 'मिथ' है। इस विराट् 'मिथ' के भीतर झाँकने का छोटा सा प्रयास यहाँ किया जायेगा, जिससे कि सङ्गीतशास्त्र में जाने-पहचाने 'मिथसमूह' का मूलस्रोत थोड़ा बहुत उद्घाटित हो सके। पुराण भी इस अध्ययन के स्रोत हो सकते हैं, किन्तु विस्तारमय से उनका यहाँ ग्रहण नहीं हो पाया है और न ही रामायण, महाभारत का हम स्पर्श कर सकें हैं। ऊपर लिखे स्रोतों से जिस 'मिथ' समूह का संग्रह हो पाया है उसे निम्नलिखित वर्गों में रख सकते हैं—

---

* **The Vikram** : Journal of Vikram University Ujjain, Vol. XXIX–XXX, १९८५ में प्रकाशित लेख।

(१) उद्गम सम्बन्धी—इसमें वाद्यों अथवा प्रयोग (Performance) के विभिन्न तत्त्वों के उद्गम का निरूपण समाविष्ट होगा।

(२) शक्ति सम्बन्धी—सङ्गीत में कितनी शक्ति है, उसका प्रभाव कैसा व्यापक है, इसका संग्रह यहाँ होगा।

(३) उपासना सम्बन्धी—देवताओं के आयुधों में वाद्यों का संग्रह और देव विशेष की पूजा में वाद्य-विशेष का ग्रहण इसके अन्तर्गत है।

(४) शास्त्रीय प्रतिपादन सम्बन्धी—इस वर्ग में वे 'मिथ' आयेंगे जिनका सम्बन्ध मुख्य रूप से स्वर व राग-सम्बन्धी प्रतिपादन से है।

(३) सङ्गीतशास्त्र के प्रमुख 'मिथ'

(क)—उद्गम-सम्बन्धी 'मिथ'

१. नाट्यवेदोत्पत्ति—नाट्यशास्त्र का प्रथम अध्याय नाट्य के उद्गम का प्रतिपादक है। उसका नाम ही नाट्योत्पत्ति है। पूरे अध्याय के बृहद् मिथ को निम्नलिखित खण्डों में रखकर देखना सुविधाजनक होगा—

१. मुनियों का भरत से——नाट्यवेद कैसे, किसके लिए, कितने अङ्गों वाला, किस प्रमाण से ग्राह्य और कैसा उसका प्रयोग है—इन पाँच विषयों को लेकर प्रश्न।

२. त्रेता युग में महेन्द्रादि देवताओं का पितामह ब्रह्मा से निवेदन—'हमें ऐसा क्रीडनीयक चाहिये जो दृश्य और श्रव्य हो। वेद में सब का अधिकार नहीं है अतः सार्ववर्णिक पञ्चम वेद बनाइये।'

३. ब्रह्मा का एवमस्तु कहकर, चार वेदों का स्मरण और योग में स्थिर होकर पञ्चम वेद के निर्माण का सङ्कल्प।

४. ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस का ग्रहण करके ब्रह्मा द्वारा नाट्यवेद की सृष्टि।

५. ब्रह्मा का इन्द्र के प्रति कथन—'इस नाट्यवेद के अनुसार, मेरे द्वारा सृष्ट इतिहास का प्रयोग देवताओं द्वारा कराओ।'

६. इन्द्र का उत्तर—'देवता नाट्यकर्म के अयोग्य हैं क्योंकि वे इस नाट्यवेद के ग्रहण, धारण, ज्ञान और प्रयोग में अक्षम हैं। मुनि ही इसके प्रयोग में सक्षम हैं।'

७. ब्रह्मा द्वारा आज्ञापित भरत द्वारा अपने पुत्रों को नाट्यवेद का अध्यापन और भारती, सात्त्वती और आरभटी वृत्तियों का समाश्रित प्रयोग।

८. ब्रह्मा द्वारा भरत को कैशिकी वृत्ति की योजना की आज्ञा।

९. भरत द्वारा कैशिकी वृत्ति के योग्य 'द्रव्य' की याचना, स्त्रीजन के बिना कैशिकी का प्रयोग असंभव, ऐसा कथन।

१०. ब्रह्मा द्वारा मन से अप्सराओं की सृष्टि; स्वाति की स्वशिष्यों के साथ 'भाण्ड' (अवनद्धवाद्य) में नियुक्ति, नारदादि गन्धर्वों की गान में नियुक्ति।

११. ब्रह्मा द्वारा 'इन्द्रध्वजमह', महेन्द्र उत्सव अर्थात् महेन्द्र विजयोत्सव के प्रङ्ग में प्रयोग की आज्ञा।

१२. भरत द्वारा आशीर्वचन युक्त 'नान्दी' के अनन्तर दैत्यों पर देवों के विजय की अनुकृति का प्रयोग।

१३. प्रयोग से तुष्ट होकर देवताओं द्वारा भरत के पुत्रों को विभिन्न उपकरणों का दान।

१४. दैत्य-दानव-नाश के अनुकृति-परक प्रयोग से दैत्यों को क्षोभ और उनके द्वारा विघ्नों का उपस्थापन।

१५. इन्द्र द्वारा 'ध्यान' में विघ्नों का दर्शन और उठकर ध्वज से विघ्नों को जर्जर बनाना।

१६. देवताओं द्वारा इन्द्र की स्तुति और विघ्नों को जर्जर बनाने वाले ध्वज का 'जर्जर' नामकरण।

१७. भरत द्वारा ब्रह्मा से प्रार्थना—''नाट्य के विनाश के लिए विघ्न निश्चित हैं; अतः उनसे रक्षा का उपाय कीजिए।''

१८. ब्रह्मा द्वारा विश्वकर्मा को आज्ञा—"लक्षण-सम्पन्न नाट्यगृह बनाओ।" तदनुसार विश्वकर्मा द्वारा नाट्यगृह का निर्माण और ब्रह्मा को उसे देखने के लिए प्रार्थना।

१९. ब्रह्मा और इन्द्र सहित सब देवों द्वारा मिलकर नाट्यगृह का निरीक्षण और नाट्यगृह के विभिन्न भागों में रक्षार्थ विभिन्न देवों की ब्रह्मा द्वारा नियुक्ति।

२०. सब देवताओं द्वारा ब्रह्मा से प्रार्थना—"आप साम, दाम, भेद और दण्ड के द्वारा विघ्नों को शान्त करें।"

२१. ब्रह्मा द्वारा विघ्नों (दैत्यों) के प्रति कथन—"आप लोग नाट्य के विनाश के लिए क्यों उद्यत हैं?"

२२. विरूपाक्ष का ब्रह्मा के प्रति वचन—"आपने देवताओं की इच्छा से यह जो नाट्यवेद बनाया है यह देवताओं के लिए ही है और हम लोगों का इसमें प्रत्यादेश है। यह आपके लिए उचित नहीं क्योंकि आप लोक-पितामह हैं और जैसे देव, वैसे ही दैत्य भी आपसे उत्पन्न हुए हैं।"

२३. ब्रह्मा की दैत्यों के प्रति उक्ति—"आप लोग विषाद छोड़ दें, मैंने जो नाट्यवेद बनाया है वह देव व दैत्य दोनों के कर्म व भाव का 'अन्वयापेक्षी' है। यह आप दोनों का 'शुभाशुभ-विकल्पक' है। न तो यह ऐकान्तिक रूप से आप लोगों का है और न देवताओं का। यह तो त्रैलोक्य का 'भावानुकीर्तन' है।"

२४. सब देवताओं के प्रति ब्रह्मा की उक्ति—"अब आप लोग नाट्यमण्डप में विधिवत् पूजन करें। रङ्गपूजा के बिना कभी नाट्य-प्रयोग नहीं करना चाहिये।"

ऊपर उद्धृत बृहद् 'मिथ' में **नाट्य का स्वरूप, अनुकरण, अनुदर्शन और अनुकीर्तन जैसे मर्म-समर्पक शब्दों का संग्रह, कलाओं के अन्तःसम्बन्ध का सूक्ष्मदर्शन, 'लोक' (जीवन) और नाट्य का सम्बन्ध इत्यादि अनेक मूलभूत विषयों का प्रतिपादन है,** जिनकी व्याख्या के लिये यहाँ अवकाश नहीं है।

२. अवनद्ध वाद्यों की उत्पत्ति—नाट्यशास्त्र (३४/४-११) में निम्नलिखित कथा दी है :

किसी अनध्याय के दिन स्वाति बड़े दुर्दिन के समय जल लाने के लिए जलाशय पर गए। उस समय जलाशय पर भारी वृष्टि हो रही थी। जलाशय में जो ज्येष्ठ, मध्य और कनिष्ठ कमल-पत्र थे उन पर वायुवेग से गिरती हुई वर्षा की धाराओं से बड़ा गम्भीर मधुर नाद निकल रहा था जिसे सुनकर स्वाति महा-मुनि को आश्चर्य हुआ और उस सुन्दर नाद को उन्होंने अवधारण (चित्त में उसकी छवि का अङ्कन) कर लिया। आश्रम में लौटकर उन्होंने उसी नाद का ध्यान किया और विश्वकर्मा के साथ मिलकर पुष्कर वाद्यों की सृष्टि की।

ऊपर लिखे आख्यान में सुने हुए नाद के अवधारण और उसकी अनुकृति को उत्पन्न करने की इच्छा तथा सामर्थ्य से अवनद्ध वाद्यों का उद्गम बताया गया है। इन वाद्यों के ज्येष्ठ, मध्य, कनिष्ठ मुख नाद-भेद के कारण होते हैं। यह तथ्य पुष्करिणी में स्थित तीन प्रकार के पद्म-पत्र के उल्लेख से स्पष्ट किया है। आघात और अनुरणन का भी वर्षा की धारा और 'पद्म-पत्र' के नीचे स्थित जल के द्वारा उल्लेख कर दिया गया है।

३. नृत्त या नृत्य का उद्गम—सङ्गीतरत्नाकर (७ + ७, ८) में पार्वती द्वारा बाण की पुत्री उषा को, उषा द्वारा सौराष्ट्र की स्त्रियों को और उनके द्वारा अन्य जनपदों की स्त्रियों को लास्य की शिक्षा दिये जाने का उल्लेख है।

नृत्त का उद्गम शिव से नाट्यशास्त्र (४ / १३) में बताया गया है। ब्रह्मा द्वारा सृष्ट नाट्यवेद के अनुसार अमृतमन्थन नामक समवकार का प्रयोग और त्रिपुरदाह नामक डिम का प्रयोग महादेव को दिखाया गया। महादेव ने सन्तुष्ट होकर कहा कि मैंने भी सन्ध्याकाल में नृत्य करते समय नाना करण और अङ्गहारों से विभूषित नृत्य की सृष्टि की है उसे नाट्य के पूर्वरङ्ग में जोड़ लेना चाहिये। ब्रह्मा ने अङ्गहारों के प्रयोग को जानने की इच्छा प्रकट की और शिव ने तण्डु को आदेश दिया कि भरत को करण व अङ्गहार सिखा दें। तण्डु ने आदेश का पालन किया और इस प्रकार पूर्वरङ्ग में नृत्त का समावेश हो गया।

ऊपर लिखे 'मिथ' में ब्राह्म और शैव परम्पराओं के सङ्गम का जो सङ्केत है, वह बड़ा सूचक है।

४. चार नाट्यवृत्तियों का उद्गम—नाट्यशास्त्र (२०/१-२५) में नाट्य की चार वृत्तियों के उद्गम की कथा है।

'सारे जगत् को एकार्णव बनाकर अर्थात् प्रलय के पश्चात् भगवान् अच्युत नाग-शय्या पर सो रहे थे। उस समय वीर्य-बल से उन्मत्त मधु-कैटभ नाम के दो असुरों ने विष्णु को युद्ध के लिए ललकारा। अपने कठोर वचनों से वे मानो समुद्र को कम्पित करने लगे। उनकी वाणी को सुनकर ब्रह्मा ने विष्णु से पूछा—'क्या भारती वृत्ति वाणी से ही प्रवर्तित होती है'? उन्होंने विष्णु से यह कहा कि इन दोनों राक्षसों का आप नाश कीजिए। 'विष्णु ने ब्रह्मा से कहा कि' मैंने कार्य हेतु से इस भारती वृत्ति का निर्माण किया है और यह 'वाक्य-भूयिष्ठा' है। 'अब मैं इन दैत्यों का संहार करता हूँ' ऐसा भी विष्णु ने कहा और फिर उन्होंने शुद्ध, अविकृत अङ्गों और अङ्गहारों से उन दो दैत्यों के साथ युद्ध किया। यहाँ तक भारती वृत्ति की प्रधानता थी। फिर 'सत्त्वाधिक' (मनोव्यापाराधिक्य) से युक्त क्रिया हुई जिसमें विष्णु ने अपने धनुष को तीव्र और दीप्ततर रूप से गतिशील किया। यह सात्त्वती वृत्ति हुई। फिर लीला समन्वित विचित्र अङ्गहारों के साथ उन्होंने अपने शिखापाश को बाँधा। यह कैशिकी-वृत्ति हुई। विचित्र अङ्गहारों के साथ गीत-वाद्य प्रयोग अवश्य हुआ होगा। यह हमें लेना चाहिए। इसके बाद आरभटी वृत्ति उत्पन्न हुई जिसमें संरभ और आवेग से भरे हुए नाना 'चारी' समुत्थित नियुद्धकरण विष्णु ने किए। विष्णु ने इन वृत्तियों में जो-जो क्रिया की, उसकी ब्रह्मा ने 'तदर्थानुग' 'जप्य' (काव्य) द्वारा प्रतिपूजा की अर्थात् प्रत्येक क्रिया का ब्रह्मा ने काव्य द्वारा वर्णन किया। जब दोनों दैत्य विष्णु द्वारा मार दिए गए तब ब्रह्मा ने विष्णु से कहा—"अहो! आपने विचित्र, विषम, स्फुट, ललित अङ्गहारों के द्वारा दानवों का नाश किया है। आपकी इन्हीं क्रियाओं के अनुसार लोक में 'नियुद्ध' की पद्धति और शस्त्र छोड़ने के 'न्याय' बनेंगे" ब्रह्मा ने विष्णु के चरित्रों का जो जप्य (स्तोत्र काव्य रूप) बनाया उसी के अनुसार भरत ने ब्रह्मा की आज्ञा से नाट्य की चार वृत्तियाँ चार वेदों से उठा लीं—ऋग्वेद से भारती, यजुर्वेद से सात्त्वती, सामवेद से कैशिकी और अथर्ववेद से आरभटी।

वाक्प्रधाना भारती, मनःप्रधाना सात्त्वती, प्राण अथवा अंग-प्रधाना आरभटी और गीतवाद्य सहकृत-ललित अङ्गहार रूपा कैशिकी का स्वरूप उक्त पुराण-कथा में निरूपित है।

(ख) शक्ति-सम्बन्धी मिथ

सङ्गीत के प्रभाव अथवा शक्ति को लेकर जो 'मिथ' बने हैं, उसमें से केवल दो का यहाँ उल्लेख पर्याप्त होगा।

(१) वैदिक वाङ्मय में दुन्दुभि

अथर्ववेद के पञ्चम काण्ड में २० वें २१ वें सूक्त में दुन्दुभि का विपुल उल्लेख है, अतः इन्हें दुन्दुभि सूक्त कह सकते हैं।

वाजसनेय संहिता २९. ५५-५७ में शत्रुओं को डराने के लिए दुन्दुभि के प्रयोग का वर्णन है। अर्थात् शत्रुओं को भयभीत करने की शक्ति दुन्दुभि में मानी गई है।

कौशिक गृह्यसूत्र (१६.१) में सब वादित्रों से तथा उसी गृह्यसूत्र के 'विहृद्यम्' सूक्त में दुन्दुभि से प्रार्थना है—शत्रुओं को डराओ, त्रास दो, वैमनस्य उत्पन्न करो और मोहित करो।

(२) श्रीमद्भागवत में वेणु

श्रीमद्भागवत के वेणुगीत (१०.२१) में श्रीकृष्ण के वेणु के प्रभाव का जो वर्णन है, उसके निम्नलिखित अङ्ग हैं—

१. नदियों का हर्ष से रोमाञ्चित (कमलों के कारण) होना।

२. तरुगण द्वारा अश्रुमोचन।

३. वृन्दावन में मत्त मयूरों का नृत्य।

४. देवियाँ विमानारूढ़ दशा में विह्वल हो गई, उनके कबरी में से प्रसून गिरने लगे और नीवी शिथिल हो गई।

५. हरिणियों और कृष्णसार (मृगों) द्वारा 'प्रणयावलोक' से पूजा।

६. गायें, कानों को ऊपर उठा कर कर्णपुट से वेणुगीत को पीने लगीं और अश्रुपात करने लगीं, वत्सगण दुग्धपान छोड़कर मुँह से दूध टपकाते हुए खड़े हो गए।

७. विहगगण वृक्षों पर चढ़ कर वाणीरहित होकर अपलकनेत्र बन कर सुनने लगे।

८. नदियों में आवर्त (भँवर) मानों मनोभव (काम) के रूप में उनके वेग को भङ्ग करने लगे और ऊर्मि रूपी भुजाओं द्वारा कमलोपहार देती हुई वे मुरारि के पादयुगल का स्पर्श करने लगीं।

९. मेघ अपने शरीर से कृष्ण पर छत्र छाने लगे।

१०. जङ्गम स्पन्दहीन हो गए।

११. तरुगण पुलकित हो गए।

(ग) उपासना-सम्बन्धी

१. ब्रह्मा का सामगान, सरस्वती का वीणाधारिणी स्वरूप, विष्णु के आयुधों में शङ्ख, श्रीकृष्ण की वंशी, शिव का डमरू, गणेश का मृदङ्ग—देव-देवियों के साथ इस प्रकार वाद्यों का सम्बन्ध सर्वपरिचित है।

२. सङ्गीत रत्नाकर के वाद्याध्याय में कुछ वाद्यों को देव-विशेष की पूजा में उपयोगी बताया गया है। यथा—

पाविका—इसका वादन नागयक्षावेश-विधायक है। (६.७६८)

कुडुक्का—इसके देवता क्षेत्रपाल हैं। (६.१०९७)

मण्डिडक्का—चर्यागान और शक्तिपूजा में विनियोग। (६.११२५)

(आज भी सौराष्ट्र में देवी के आवेश के प्रसङ्ग में डक्कुली नाम का वाद्य ही बजाया जाता है।)

वाग्देवता के वनस्पतिमात्र प्रवेश के कारण विभिन्न वाद्यों से नादोत्पत्ति की बात काठक सं० २३.४ में कही गई है। विशेष रूप से वेणु में वाग्देवता के प्रवेश की बात तैत्तिरीय संहिता ५.१.१ में कही गई है।

आज भी शिवमन्दिर में डमरू और विष्णुमन्दिर में शङ्ख का ही वादन होता है।

३. वीणा के विभिन्न अङ्गों में देवताओं का वास (सङ्गीत रत्नाकर ६.५४, ५६) कहा गया है। यथा—

दण्ड = शम्भु	तन्त्री = उमा
पत्रिका = लक्ष्मी	ककुभ = विष्णु
दोरक = वासुकि	जीवा = चन्द्र
	सारिका = रवि

वीणा सर्वदेवमयी, सर्वमङ्गला और दर्शन स्पर्शन से भोगस्वर्गापवर्गप्रदा तथा ब्रह्महत्या इत्यादि पापों की मोचिका है।

४. श्रीमद्भागवतमाहात्म्य (६.८६) में प्रह्लाद को तालधारी (हाथ से ताल देने वाला) उद्धव को कांस्यधारी (मंजीरा-वादक), देवर्षि नारद को वीणाधारी, अर्जुन को रागकर्ता गायक, इन्द्र को मृदङ्गवादक, चतुः सनत्कुमारों को कीर्तनकारी और शुकदेव को सरस वक्ता कहा गया है।

ये सभी 'मिथ' उपासना-सम्बन्धी हैं। इन्हें 'मिथ' इसीलिए कहना पड़ता है, क्योंकि इनकी विशेष व्याख्या अपेक्षित है। इनमें एक प्रकार की रहस्यात्मकता है।

(घ) विषय-प्रतिपादन-सम्बन्धी

१. सप्त स्वरों के वर्ण (रङ्ग और ब्राह्मण क्षत्रियादि जाति) कुल (देवकुल, पितृकुल-इत्यादि) द्वीप, देवता, ऋषि, छन्द, पशुपक्षी उच्चारयिता इत्यादि को सङ्गीतशास्त्र में कहा गया है। (सङ्गीतरत्नाकर १, ३, ४, ६, ५२-६०)।

२. नाट्यशास्त्र में कथित चौरासी मूर्च्छना-तानों को यज्ञ-नाम देने की परम्परा का आरम्भ बृहद्देशी (पृ. २६.२७) में मिलता है।

३. रागों के दिन-रात के चक्र विभिन्न काल और ऋतुओं का सम्बन्ध सङ्गीत रत्नाकर के रागाध्याय में स्पष्ट रूप से उल्लिखित है। बाद में इस दिशा में और भी अधिक विस्तार हुआ है। आज भी 'मल्हार' का वर्षा से और 'वसन्त' का वसन्त ऋतु से सम्बन्ध जन-मानस में व्याप्त है। इस परम्परा का मूल वेद में प्राप्त होता है, यह एक आश्चर्यजनक तथ्य है। उदाहरणार्थ कुछ सन्दर्भ प्रस्तुत हैं—

(क) वार्षाहार साम का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण १४.२.२.२६ में तथा कात्यायन श्रौत सूत्र २६.१४१ में प्राप्त है।

(ख) दिवाकीर्त्य साम का उल्लेख काठक संहिता ३३.६ और तैत्तिरीय संहिता ७.३.१०. १-२ में मिलता है।

(ग) पूर्वाह्ण, उत्तराह्ण आदि में गेय सामों का उल्ल्लेख तैत्तिरीय संहिता ७.१.४ में मिलता है।

(घ) ऋतुपरक सामों का उल्लेख वाजसनेय-संहिता १३. ५४-५८ में प्राप्त है। शिशिर को छोड़ कर शेष पाँचों ऋतुओं के साम कहे गए हैं। (हेमन्त में दो साम हैं)। ऋतुपरक सामों के नाम हैं—रथन्तर, बृहद्, वैरूप, शाक्वर और रैवत।

४. राग ध्यान की परम्परा, जिसका स्पष्ट उल्लेख १४ वीं शताब्दी में 'सङ्गीतोपनिषत्सारोद्धार' से आरम्भ होता है, उसका भी स्वरूप 'मिथ' कोटि का ही है। सोमनाथ ने १७ वीं शताब्दी में इसे रागों का देवतामयरूप कहा। इस परम्परा का आरम्भ उपासना-पद्धति के अनुरूप ही हुआ है। १६ वीं शताब्दी से इसमें नायक-नायिका भेद का प्रभाव भी विपुल मात्रा में दिखाई देने लगा है। चाहे तान्त्रिक पद्धति से रागों के चतुर्भुज आदि रूप, शरीर और वस्त्रों के रङ्ग, आयुध और वाहन कहे गये हों और चाहे नायक-नायिका भेद के अनुसार शृंगार की संयोग-वियोग आदि अवस्थाओं के आधार पर राग-ध्यान दिये गये हों, दोनों प्रकारों में ही 'मिथ' का स्वरूप स्पष्ट है। आज तक इस परम्परा के अवशेष जन-मानस में व्याप्त हैं। राग भैरव को शिव के रूप में, रागिणी भैरवी को पार्वती के रूप में, रागिणी तोड़ी को वीणाधारिणी और मृगों से घिरी हुई और रागिणी आसावरी को सर्पों से लिपटी हुई मूर्ति के रूपों में ध्यान का विषय आज भले ही न बनाया जाता हो, किन्तु ये मूर्तियाँ लोक-मानस में व्याप्त हैं।

(४) उपसंहार :

भारतीय सङ्गीतशास्त्र में यत्र-तत्र विकीर्ण मिथकों का ऊपर जो संक्षिप्त संग्रह दिया गया उससे सङ्गीत को लेकर भारत के समष्टिगत अचेतन (Collective Unconscious) के आधार का यत्किञ्चित् दर्शन हो सकेगा, ऐसी आशा है। पश्चिम में १९वीं-२०वीं शताब्दी में 'मिथ' को नयी सञ्जीवनी मिली है। हमारे देश में पश्चिम के प्रबल प्रभाव से १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और २०वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक सङ्गीतशास्त्र के 'मिथ' परक अंशों के प्रति कुछ तिरस्कार की भावना उठी और पनपी भी, किन्तु १९५० के बाद पुनः हमारी सांस्कृतिक धरोहर के इस पक्ष के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण का उदय होने लगा है। हम उसका स्वागत करते हैं और उसके दीप्त-दीप्ततर होने की कामना करते हैं।

★★★

.१६.

साधना के समर्थ उपाय के रूप में सङ्गीत

भारतीय सङ्गीत-शास्त्र का यह वैशिष्ट्य है कि उसके ग्रन्थों में संगीत के लिए, विशेषतः गीत के लिए अनेक ऐसे उल्लेख मिलते हैं जिनमें आध्यात्मिक-जीवन में उसकी उपयोगिता का महत्त्व बताया गया है। इन उल्लेखों को स्थूलरूप से निम्नलिखित शीर्षकों में रक्खा जा सकता है—

१. नाद-प्रशंसा

यथा— **नादादभिव्यज्यते वर्णः, पदं वर्णात्पदाद् वचः।**
वचसो व्यवहारोऽयं नादाधीनमतो जगत्॥

(सं० र० १-२-२)

नाद से वर्ण की, वर्ण से पद की और पद से वचन (वाक्य) की अभिव्यक्ति होती है। सब व्यवहार वाणी से ही चलता है, इसलिए जगत् नाद के अधीन है।

२. नादोपासना की प्रशंसा

यथा— **नादोपासनया देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।**
भवन्त्युपासिता नूनं यस्मादेते तदात्मकाः॥

(सं० र० १-३-२)

नाद की उपासना से ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर इन देवों की उपासना हो जाती है, क्योंकि ये नादात्मक हैं यानी इनका स्वरूप नाद है।

३. देवत्व की विभिन्न अभिव्यक्तियों में गीत के प्रति प्रेम

यथा— **गीतेन प्रीयते देवः सर्वज्ञः पार्वतीपतिः।**
गोपीपतिरनन्तोऽपि वंशध्वनिवशंगतः॥
सामगीतिरतो ब्रह्मा वीणाऽऽसक्ता सरस्वती॥

(सं० र० १-१-२६, २७)

सर्वज्ञ देव पार्वतीपति गीत से प्रसन्न होते हैं, अनन्त भी वंशी-ध्वनि के वश में हैं, ब्रह्मा सामगान में रत हैं और सरस्वती वीणा में आसक्त हैं।

---

* हलवासिया-स्मृतिग्रन्थ में से पुनर्मुद्रित।

४. चारों-पुरुषार्थों की गीत में साधकता

यथा— **तस्य गीतस्य माहात्म्यं कः प्रशंसितुम् ईशते।**
धर्मार्थ-काम-मोक्षाणामिदमेवैक-साधनम्॥

(सं० र० ४-१-३०)

गीत का माहात्म्य कौन कह सकता है? धर्मार्थ काम मोक्ष का यही एक साधन है।

सङ्गीत-शास्त्र के ग्रन्थों के अतिरिक्त स्मृति पुराण आदिकों में एवं तत्सम्बनधी साहित्य में सङ्गीत के प्रशंसात्मक अनेकों वाक्य मिलते हैं। उदाहरण के लिए—

वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं निगच्छति॥
गीतज्ञो यदि गीतेन नाप्नोति परमं पदम्।
रुद्रस्यानुचरो भूत्वा तेनैव सह मोदते॥

(याज्ञ० स्मृति ३-४-११५, ११६)

जो वीणावादन के तत्त्व या सार को जानता है, जो श्रुतियों और जातियों (के प्रयोग) में कुशल है, जो ताल का ज्ञाता है, वह मोक्ष मार्ग को प्राप्त होता है। गीतज्ञ यदि गीत के द्वारा परम पद को प्राप्त नहीं होता तो वह रुद्र का अनुचर बन कर उनके सङ्ग में आनन्द पाता रहता है।

एक विख्यात पौराणिक उक्ति इस प्रकार है—

अर्चनादधिकं ध्यानं ध्यानात् कोटिगुणं जपः।
जापात् कोटिगुणं गानं गानात् परतरं नहि॥

ध्यान पूजा से अधिक है, जप ध्यान से अधिक है, गान जप से अधिक है और गान से अधिक कुछ भी नहीं है।

ऊपर उद्धृत वाक्यों से निम्नलिखित निष्कर्ष निकल सकते हैं :—

(१) संगीत न केवल उपासना और साधना का एक उपाय है, अपितु उत्कृष्ट उपाय है।

(२) देवत्व की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ (देव-देवी) न केवल संगीत से प्रेम रखती हैं, अपितु उनकी सर्वोत्तम धारणा यही हो सकती है कि वे नादात्मक हैं।

(३) संगीत की साधना के विभिन्न स्तर हैं। उसके निम्न स्तरों में धर्म, अर्थ, काम की प्राप्ति होती है और उच्च स्तर में मोक्ष की।

हम सङ्गीत के माहात्म्य के इन तीनों पहलुओं को कुछ विस्तार से समझने का यत्न करेंगे और इस परम्परा की दार्शनिक भित्ति का भी सन्धान पाना चाहेंगे। ये तीनों पहलू एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। इसलिए इन्हें पृथक्-पृथक् रूप से लेना संभव नहीं होगा, किन्तु उपसंहार में इन तीनों के साथ पूरी बात को संबद्ध करने का यत्न किया जाएगा।

मौलिक सत्ता अथवा परम तत्त्व को ब्रह्म कहा जाता है और वह निरपेक्ष, तर्कातीत तत्त्व है। यह सत्ता हमारे उच्चतम अनुभव में 'अस्ति' (विशुद्ध निरुपाधिक सत्ता), 'भाति' (चित्) और 'प्रियं' (आनन्द) के रूप में प्रकट होती है।

'आनन्द' के प्रसङ्ग में ब्रह्म को 'भूमन्' और कभी-कभी 'मधु' भी कहा जाता है। इस प्रकार वह आनन्दात्मक चैतन्य है—

यो वै भूमा तत्सुखम्। नाल्पे सुखमस्ति।

(छन्दोग्य० ७-२३-१)

यह आनन्द अथवा रस सत्तामात्र की व्यापक पृष्ठभूमि है। अनन्त आकाश अथवा असीम अर्णव की भाँति यह आनन्द विश्व में सभी सत्ताओं का आधार है। इन दो उपमाओं में आकाश विशेषतः सत् और चित् के वर्णन में उपयोगी है और अर्णव विशेषतः आनन्द का सूचक है। वास्तव में ये दो पहलू पृथक् नहीं किये जा सकते। आकाश निःस्पन्द अधिष्ठान का द्योतक है और अर्णव मूलस्पन्द का। महामौन को मूलवाक् में अभिव्यक्त करता है महानन्द, जिसे ॐकार या प्राणब्रह्म भी कहा जाता है। इस प्रकार ॐकार के रूप में महानाद सृष्टि की प्रथम अभिव्यक्ति है। इसका न केवल सत् और चित् से अपितु आनन्द से सम्बन्ध है अर्थात् यह तीनों की अभिव्यक्ति है। आनन्द का मूलस्पन्द से सीधा सम्बन्ध है और सत्+चित् उसका अधिष्ठान है; इसलिए आनन्द को ही समग्र सृष्टि का उद्गम-स्थान, पोषक और विलय-स्थान कहा जाता है।

आनन्दाद् ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।
(तैत्ति० ३-६)

भूमा की प्रथम आत्माभिव्यक्ति है महानाद और भूमा तो रस अथवा आनन्द से अभिन्न है। भूमा अथवा आनन्द उस मूलस्पन्द का समग्र स्वरूप है जिससे सृष्टि का आरम्भ होता है, जिस पर वह स्थिर रहती है और जिसमें विलीन रहती है।

रस अथवा आनन्द समग्र सृष्टि का 'हृत्' (सारभूत केन्द्रबिन्दु) है। संगीत द्वारा इस 'हृत्' तक पहुँचना सुगम हो सकता है क्योंकि (१) यह नादात्मक है, अतः मूलस्पन्द अथवा महानाद के अनुभव का यह सुखद और सुगम मार्ग हो सकता है। (२) स्थूल स्तर पर भी सङ्गीत हर्ष की स्वाभाविक और सार्वभौम अभिव्यक्ति के रूप में सर्वमान्य है। हाँ, यह अवश्य है कि उपर्युक्त अनुभूति के लिए उचित भाव, मन और शरीर की शुद्धि तथा अनन्य लगन सर्वथा आवश्यक है।

सृष्टि के आरम्भ की बात यहाँ तक हुई। जहाँ तक सृष्टि के विस्तार का प्रश्न है, उसके लिए यह उल्लेखनीय है कि सृष्टि का क्रम ऋजु, सम और अखण्ड नहीं है अपितु वह आवर्तनात्मक है जो तरङ्ग का, चक्र का अथवा सर्पिल कुण्डली का आकार धारण करता है। उदाहरण के लिए बीज से वृक्ष और वृक्ष से पुनः बीज यह एक चक्रिक क्रम है। तदनुसार महानाद बीजरूप 'बिन्दु' बनता है और वही 'कला' के रूप में उस बिन्दु की क्रमबद्ध अभिव्यक्ति भी बनता है। अभी जिन तीन आकारों का हमने उल्लेख किया वे सभी सङ्गीत में स्पष्ट रूप से मिलते हैं। यथा-ध्वनि तरङ्गों से तरङ्गवत् क्रम, ताल से चक्रिक क्रम और स्वर अष्टकों के सम्बन्ध में सर्पिल क्रम का सादृश्य पाया जाता है।

सृष्टि-विकास के उपर्युक्त क्रम के अनुसार महानाद अथवा परनाद अपने आपको सुषम छन्द (विविध होते हुए भी एकता के सूत्र से आबद्ध) के ढाँचे में अभिव्यक्त करता है। विविधता और एकता का यह समन्वय भारतीय सङ्गीत के राग और ताल में बहुत उत्कृष्ट रूप में पाया जाता है।

रस अथवा आनन्द मूलतः स्वसमाहित अवस्था का द्योतक है जिसे 'स्वलसित' कहा जा सकता है। यही अपने आपको 'उल्लसित' अथवा 'विलसित' बनाता है। सङ्गीत की भाषा में बात करें तो ॐकार या परनाद स्वरसप्तक के रूप में अपनी अभिव्यक्ति करता है। (प्राचीन सङ्गीतशास्त्र में मौलिक स्वरग्राम को षड्जग्राम कहा गया है और उसमें षड्ज, ऋषभ, गान्धार का श्रुतिक्रम 4, 3, 2 है। यही श्रुतिक्रम प, ध, नि में पुनरावर्तित होता है। ये दोनों त्रिक समान हैं और दोनों के बीच में जोड़ने वाली कड़ी के रूप में मध्यम पड़ा हुआ है। स्पष्ट है कि इस ग्राम में दूसरा त्रिक पहले का ही पुनरावर्तन है।) यह स्वलसित का स्तर है। उल्लास के लिए स्वर आधारभूत 'सुर' (ड्रोन) बनता है और विलास के लिए वह स्वरसन्निवेशात्मक 'धुन' का रूप लेता है। **अभिव्यक्ति का यह क्रम जो एक अखण्ड नाद से आरम्भ होता है, सङ्गीत के स्थूलतम स्तर पर भी इन्द्रियगोचर हो सकता है और योगजन्य अनुभव के सूक्ष्म स्तरों में भी अवगत हो सकता है। सृष्टि की अभिव्यक्ति का अनुलोम क्रम और लय का विलोम क्रम—ये दोनों सङ्गीत के द्वारा जितनी सुगमता से अवगत हो सकते हैं उतने शायद किसी अन्य साधना से नहीं।**

यदि उपर्युक्त अनुभूति को सङ्गीत का लक्ष्य मान लिया जाय तो फिर किसी राग को गाते बजाते समय यही काफ़ी नहीं

है कि स्वरों का यथोचित सन्निवेश किया जाय अपितु यह भी आवश्यक होगा कि स्वरों को नाद के अधिष्ठान अथवा भित्ति पर अभिव्यक्त किया जाय। 'नाद' में अभिव्यक्ति का क्रम और 'बीज' में विलय का क्रम अनुस्यूत है और सङ्गीत में इन दोनों का स्थान है।

सङ्गीत द्वारा अध्यात्म-साधना का लक्ष्य है वितान अथवा विस्तार और विलय के क्रम का अनुभव करना। नादात्मक अभिव्यक्ति (स्वरोदय) और बिन्द्वात्मक लय (स्वरविलय) की मात्रा अथवा नाप होना बहुत आवश्यक है। 'अमेय' का 'मान' आवश्यक है और यही सङ्गीत में ताल का आधार है।

सुषम छन्द के ढाँचे में अभिव्यक्ति की जो बात हमने ऊपर कही उस पर पुनः ध्यान दें तो यह कहा जा सकता है कि जिसे मोक्ष या मुक्ति या योग कहा जाता है उसका सत्त्व है सभी मानसिक, बौद्धिक, भावनात्मक, शारीरिक संघर्षों, दबावों या तनावों का अन्त। 'समत्वं योग उच्यते'। हम लोग विषम स्तर पर पड़े हुए हैं और इससे हमें सुषम स्तर पर जाना है। इसी बात को योग की भाषा में यों कहा जाता है कि इडा और पिंगला की गति वक्र है और सुषुम्ना की गति सरल, सीधी है। सुषुम्ना के पथ में प्रवेश ही योगी का साध्य होता है। सङ्गीत मोक्ष का साधन बन सकता है यदि वह इस पथ को खोलने में सहायक हो और सुप्त शक्ति (कृण्डलिनी) के जागरण में प्रेरक हो। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए स्वर और छन्द की साधना जो कि सङ्गीत का सत्त्व है, महत्त्वपूर्ण है।

भारतीय सङ्गीत में राग को साधना का फ़ार्मूला माना जा सकता है। निरुक्त पद्धति से 'राग' के घटक 'र', 'आ', 'ग'— इन तीनों की निम्नलिखित व्याख्या की जा सकती है।

'र' को अग्नि के बीजाक्षर 'रं' का प्रतिनिधि माना जा सकता है। मनुष्य के शरीर में अग्नि अथवा तेज का स्थान है मणिपूर चक्र जहाँ से नाद उठता है। नाद के उत्थान से पहले मूलाधार में अग्नि का सुलगना आवश्यक है। मूलाधार से स्वाधिष्ठान चक्र तक उस सुलगी हुई अग्नि में प्रवाहिता आनी चाहिये क्योंकि स्वाधिष्ठान 'अप्' या जल का स्थान है। सच्चे सङ्गीत की बात छोड़ दें तो हमारी साधारण वाक् का व्यापार कण्ठ में ही होता है और उसका नियमन इडा, पिंगला की विषम गति द्वारा ही होता है। इस गति का समान होना आवश्यक है (प्राणापानौ समौ कृत्वा)। इस समानता के बिना सुषुम्ना का पथ नहीं खुलेगा और शक्ति रूपा अग्नि गतिशील नहीं होगी, कुल कुण्डलिनी में गति नहीं आयेगी। सुषुम्ना की अग्नि की गति अभिव्यक्ति के क्रम में बिन्दु + नाद + कला है और विलय के क्रम में कला + नाद + बिन्दु है।

'र' और 'ग' के बीच में जो 'आ' पड़ा हुआ है वह इस बात का द्योतक है कि 'र' अचल नहीं है बल्कि वह परनाद, पर बिन्दु और सुषम कला के रूप में अभिव्यक्त होता है।

'ग' गति का प्रतिनिधि है और जैसे 'कं ब्रह्म' = भूमा अथवा 'खं ब्रह्म' = आकाश, वैसे ही 'गं ब्रह्म' = प्राण ब्रह्म। 'राग' में 'ग' इस बात का द्योतक है कि मुख्यप्राण के रूप में प्राणब्रह्म को प्राण अपान के दासत्व से मुक्त होकर 'अर्धमात्रा'[1] अथवा कुलकुण्डलिनी को जगाना है ताकि रजस् तमस् के निम्न स्तरों से उन्नत शक्ति के स्तर प्रज्ञान और आनन्द तक पहुँचा जा सके।

राग की साधना यदि ठीक ढंग से की जाय तो इस ऊर्ध्व गति में सहायक हो सकती है। इस प्रकार राग अपने उच्चतम स्तर में रस अथवा आनन्द की अपनी अलसित (अव्यक्त) स्थिति से स्वलसित, उल्लसित और विलसित स्तरों तक की गति का द्योतक है। अत: राग आनन्द समाधि अथवा महाभाव का साधन हो सकता है, जो कि परमलक्ष्य है।

सृष्टि का हृत् (सारभूत केन्द्रबिन्दु) जो कि रस अथवा आनन्द है उसकी बात फिर से की जाय तो यह समझना होगा कि इस हृत की अपनी हृल्लेखा (आन्तरिक आलेख्य) है। इस आलेख्य को काल के प्रसङ्ग से अबाधित प्रवाह के रूप में समझा जा सकता है और देश के प्रसङ्ग से निर्धारित स्थिति के रूप में। इनमें से प्रथम (काल-सम्बन्धी) चल है ओर वह ऋतु के रूप में कार्य करती है और दूसरी (देश-सम्बन्धी) अचल है जो सत्य के रूप में कार्य करती है। इस द्विविधता में हृत् अपने चल

1. 'अर्धमात्रा' में 'अर्ध' का अर्थ आधा नहीं है। उसका अर्थ है ऋध्यमान = सदा वृद्धि को प्राप्त होता हुआ, सदा विस्तृत होता हुआ।

रूप में 'हृदय' बनता है और अचल रूप में 'हृद्देश' बनता है। भारतीय सङ्गीत के प्रबन्धों में, जैसे कि ध्रुपद में, ध्रुव अथवा स्थायी को 'हृद्देश' का प्रतिनिधि कहा जा सकता है क्योंकि वह पुनरावर्तित होने के कारण एक प्रकार का अचलत्व धारण करता है और गीत के अन्य खण्ड, जैसे कि अंतरा, संचारी, आभोग, जोकि अधिक पुनरावर्तित नहीं होते, उन्हें 'हृदय' अर्थात् चलता का प्रतिनिधि माना जा सकता है। उसी प्रकार राग में किसी एक स्वर को (प्राचीन परिभाषा के अनुसार) वादी, अंश अथवा स्थायी बनाना होता है और शेष स्वर उसके संवादी अथवा अनुवादी होते हैं। इस प्रकार किसी राग के वादी अथवा स्थायी स्वर को उसका 'हृद्देश' कहा जा सकता है क्योंकि वह स्थिर है और उसे अपने आपको 'हृदय' में भी परिणत करना होता है अर्थात् जो स्वर स्थायी नहीं हैं, उसकी चलता से वादी स्वर को गति मिलती है और इस प्रकार स्वलसित रस का उल्लसित और विलसित में विकास होता है। इस प्रकार की प्रस्तुति के लिए नादब्रह्म + बिन्दुब्रह्म का कलाओं में विस्तार अपेक्षित है जिसे सुषम कलावितान कह सकते हैं। **कलाओं की अभिव्यक्ति के क्रम में स्वर का विवाह छन्द से हो जाता है, 'अमेय' का गठबन्धन 'मेय' से हो जाता है।**

भारतीय सङ्गीत की कला और विज्ञान का आधार दर्शन में किस प्रकार मिल जाता है इसका संकेत ऊपर दिया गया है। इसी प्रसंग में कुछ अन्य उदाहरण भी दिए जा सकते हैं, यथा—

(१) कलनी शक्ति, जो कलाओं के रूप में अभिव्यक्ति का क्रम बनाती है, मूलतः षडङ्ग योजना के अनुसार कार्य करती है। ये छः अङ्ग 'रं' 'लं' 'वं' इत्यादि छः बीजाक्षरों में अनुस्यूत हैं। मूल राग भी छः ही हैं—राग-रागिणी-पद्धति में तो वैसा हैं ही, प्राचीन ग्राम-राग-पद्धति में भी शुद्ध राग छः ही हैं। मूल रागों की यह संख्या (६) मनुष्य-शरीर में छः चक्रों से भी संबद्ध है। राग-रागिणी-पद्धति के छः रागों के साथ छः बीजाक्षरों का सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। उदाहरण के लिए—'ॐ वं' को मेघ राग का बीज माना जा सकता है क्योंकि 'वं' जल का बीजाक्षर है; उसी प्रकार 'ॐ रं' दीपक राग का बीज हो सकता है। क्योंकि 'रं' अग्निबीज है।

(२) 'गमक' का भारतीय सङ्गीत में महत्त्वपूर्ण स्थान है। गमक के द्वारा ही 'नाद' की 'मूर्च्छा' टूटती है और आलाप से स्वरों का 'नृत्य' आरम्भ होता है। 'गमक' = 'गमन' कराने वाला यानी ज्ञान कराने वाला। स्वर का वैचित्र्य-विलास गमक से ही होता है। यह शब्द शास्त्रीय दृष्टि से बहुत सार्थक है।

(३) भारतीय सङ्गीत की प्राचीन पद्धति में मूर्च्छना शब्द का मौलिक महत्त्व है। **'मूर्च्छ' धातु के दो अर्थ हैं—मोह और उभार। दोनों अर्थों का साङ्गीतिक मूर्च्छना में स्थान है।** मूर्च्छना के द्वारा ही नाद अपनी अलसित (मूर्च्छित) स्थिति में से जागता है अथवा अव्यक्त बीजरूप बिन्दु का सुषम कलाओं में विकास होता है। पारिभाषिक शब्दों में कहें तो मूर्च्छना ही ग्राम के सातों स्वरों को संभावनाओं को व्यक्त करती है। विलोम क्रम में ग्राम पुनः अव्यक्त बन जाता है। इस प्रकार 'मूर्च्छ' का उभार अर्थ मूर्च्छना में लागू होता है। कमल की पंखुड़ियों का विकास और संकोच उदाहरण के रूप में यहाँ समझा जा सकता है। अभिव्यक्ति के क्रम में 'अखण्ड' और 'अमात्र' रस खण्डित और विलोम क्रम से खण्डित और मात्रिक रस पुनः अखण्ड और अमात्र हो जाता है।

'प्रियं' अथवा आनन्द ही तो 'अस्ति भाति' का 'हृत्' है और सृष्टि एवं विलय में उसका एक मात्र काम है सुषमता लाना अथवा मधुच्छन्दः बनना। सुषमता ही तो सङ्गीत का प्राण है। **सृष्टि क्या है—निर्दोष ताल में 'नृत्य' है, आन्तरिक घनिष्ठता में 'वादन' है, और आनन्दातिरेक में गान है।** नृत्य और वादन में निर्दोष 'मात्रा' (नाप) की आवश्यकता है और गान में उन दोनों (नृत्य-वादन) का उत्कर्ष है अमेय आनन्द में। नृत्य और वादन का व्यापार सुषम कलाओं में चलता है और गीत में नाद बिन्दु का संयोग है, जहाँ से कि कलाओं का उद्गम होता है। **नृत्य-वादन में व्यासवृत्ति प्रधान है अर्थात् काल और देश के प्रसङ्ग में पृथक्करण प्रमुख है और गान में समास अथवा समाहृति प्रधान है अर्थात् एकीकरण प्रमुख है। प्राणन = प्राणव्यापार का तालात्मक निःसरण नृत्य है, मनन की वाद्यों से घनिष्टता वादन है अर्थात् मन में कल्पित स्वर सन्निवेश की वाद्य पर अवतारित रूप के साथ घनिष्टता है, और गीत में गति, भावन और आह्लादन है, जो नृत्य और वादन की भी मौलिक प्रेरणा बनते हैं। वाक्-प्राण-मन के वैदिक त्रिक की भाषा में कहें तो नृत्य में प्राण प्रधान है, वादन में मन**

और गान में वाक्। नृत्य का सम्बन्ध हमारे शरीर से, वादन का मस्तिष्क (बुद्धि) से और गीत का हृदय से कहा जा सकता है। इसीलिए हिन्दू सङ्गीत की परम्परा में गान में आलाप के द्वारा 'राग' का संवेदन-आवेदन सर्वोत्कृष्ट रूप से हो सकता है, क्योंकि उसमें एकीकरण की उच्चतम अवस्था की संभावना है।

उपसंहार से पूर्व यह कहना आवश्यक है कि ऐसे लघु लेख में केवल उदाहरण-रूप से कुछ संकेत देना ही सम्भव है जिससे हिन्दू सङ्गीत के वैदिक और तान्त्रिक (यौगिक) आधार का दिक्सूचन हो सके। इस विराट् विषय के साथ कुछ भी न्याय करना सम्भव नहीं। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि हिन्दू सङ्गीत का एक ओर शरीर-मूलक हठयोग से घनिष्ठ सम्बन्ध है और दूसरी ओर मनोमूलक राजयोग से। **सङ्गीत में वाक्, प्राण, मन का सभी स्तरों पर समत्व साधा जाता है। अतः सङ्गीत बड़ी सुगमता से किसी भी साधना-पद्धति का सहगामी बन सकता है, जो शरीर को, मन को अथवा वाणी को आधार मानकर चलती हो।**

इस लेख के उपक्रम में जो तीन निष्कर्ष रखे गये थे उन्हें यहाँ उपसंहार में दोहरा लेना उचित होगा।

(१) भारतीय सङ्गीत साधना का उत्कृष्ट उपाय है क्योंकि उसकी संकल्पनाएँ वैदिक दर्शन, योग और तन्त्र पर आधारित है।

(२) देवत्व की विभिन्न अभिव्यक्तियों की धारणा उन्हें नादात्मक समझने से सर्वोत्कृष्ट रीति से हो सकती है क्योंकि **नाद मौलिक अभिव्यक्ति भी है और बीजरूप बिन्दु भी है।** देव-देवियों की धारणा या तो मौलिक शक्तियों की अभिव्यक्ति के रूप में होती है अथवा इस व्यक्त सृष्टि के बीज के रूप में।

(३) भारतीय सङ्गीत की सङ्कल्पना ऐसी है कि उसमें निम्नतम से लेकर उच्चतम स्तरों की साधना के लिए अवकाश है और मुक्ति तथा भक्ति का सम्बन्ध स्वाभाविक रूप से उच्चतम स्तर के साथ है।



.१७.

सूरदास की कृतियों में गेय 'पद'-बन्ध

सूरदास के 'पद' या 'पदावली' से साहित्य या सङ्गीत का विद्यार्थी-मात्र परिचित है। 'पद' के जो अर्थ हमें परिचित हैं, वे इस प्रकार हैं—

(१) संस्कृत व्याकरण के अनुसार विभक्तियुक्त शब्द। 'सुप्तिङन्तं पदम्' (पाणिनि)। 'सुप्' अथवा 'तिङ्' प्रत्यय (जिनकी 'विभक्ति' संज्ञा है) लगने से ही कोई भी शब्द अपना अर्थ प्रदान करने में समर्थ होता है।

(२) 'गान्धर्व' (गीत + वाद्य) के लक्षण—'गान्धर्वं त्रिविधं विद्यात् स्वरताल-पदात्मकम्' (ना० शा०, २८.११) में गृहीत 'पद'। इस प्रसङ्ग में सार्थक अथवा निरर्थक 'अक्षर-समूह' की ही 'पद' संज्ञा है।[१] कण्ठ से जो भी ध्वनि निकलेगी, वह अक्षरात्मक तो होगी ही। गाने में अकारादि किसी भी 'स्वर' का 'कर्षण' षड्जादि स्वरों में होता है और वाद्य में प्रहार अथवा घर्षण का साम्य व्यञ्जनात्मक ध्वनियों से होता है। इस प्रकार गान-वादन दोनों में ही अक्षर (स्वर-व्यञ्जन) सहकृत स्वर-प्रयोग होता है। इस 'अक्षरांश' की ही वहाँ 'पद' संज्ञा है; अर्थ-बोध की भाषा में जो अनिवार्यता है, वह सङ्गीत में नहीं है।

(३) गेय पद-बन्ध-विशेष। अंग्रेजी के Form शब्द के लिए 'बन्ध' शब्द उचित लगता है।

सूरदास की रचनाएं गेय हैं और उनमें से अधिकांश 'पद-बन्ध' में है। अतः यहाँ हम ऊपर लिखे अर्थों में से तीसरे अर्थ को ही केन्द्र में रख कर चर्चा करेंगे। कहना न होगा कि तीसरे अर्थ में पहले दो भी अन्वित हैं। अर्थात् 'पद=बन्ध' में सार्थक 'पद' ही उपादान बनते हैं और वे अक्षरमय तो होते ही हैं। विशेषता उन (पदों) में बन्ध-विशेष की ही होती है और उसी को समझने का हम यत्न करेंगे।

Form (फॉर्म) या आकृति का सामान्य अर्थ क्या है? 'देश' अथवा 'काल' को बाँधने अर्थात् एक नियत मर्यादा देने का ढाँचा। इसीलिए Form के लिए बन्ध शब्द उचित प्रतीत होता है। श्रव्य के सन्दर्भ में जो बन्ध होगा उसकी रचना काल ही में होगी। और दृश्य के सन्दर्भ में बन्ध मुख्यतः देशगत होगा। अतः पद-बन्ध कालगत है।

सूरदास के काव्य में पद-बन्ध पूर्णतः प्रतिष्ठित, विकसित और परिपक्व रूप में प्राप्त होता है। स्पष्ट है कि उसके पीछे कई शताब्दियों की परम्परा रही होगी। उस परम्परा का यत्किञ्चित् दर्शन करने का हम यत्न करेंगे।

यों तो छन्दोबद्ध रचना-मात्र गेय होती है, किन्तु फिर भी गेय के लिए विशिष्ट बन्ध प्राचीन काल से ही अस्तित्व में रहे हैं। भरत के नाट्य-शास्त्र में जो गेय बन्ध उल्लिखित हैं, उनमें दो पृथक् धारायें स्पष्ट रूप से दिखाई देती हैं। एक धारा तो छन्दोबद्ध है और दूसरी छन्दोविहीन।

---

* यत् स्यादक्षरसम्बद्धं तत्सर्व पदसंज्ञितम् (ना० शा० २९. २८)

नाट्य के अन्तर्गत जो ध्रुवा-गान कहा गया है वह छन्दोबद्ध ही है। नाट्य-शास्त्र के ३२ वें अध्याय में उल्लिखित सभी ध्रुवायें विभिन्न वार्णिक वृत्तों में निबद्ध है। गीतक या प्रकरण-गीत जिन्हें बाद में शुद्ध गीत भी कहा जाने लगा था, की पद-रचना के जो उदाहरण नाट्य-शास्त्र के ३१ वें अध्याय में उपलब्ध हैं, उनमें कोई छन्दोबद्धता नहीं है। हाँ, चगण अर्थात् चार-चार मात्राओं के समूह उनमें अवश्य हैं यथा—

देवं देवैः संस्तुतनमितम्।
दैत्यैर्यक्षैर्नागैः पितृभिः प्रणमितचरणम्।
त्रैलोक्यहेतुमीशं रुद्रं शरणमहमुपगतः॥

(ना० शा० पृ० २०७)

इस प्रकार की रचनाओं में भरतोक्त चतुर्मात्रिक गण तो अवश्य मिलते हैं किन्तु ऐसा कोई एक रूप या ढाँचा नहीं मिलता है, जिसके आधार पर वार्णिक या मात्रिक किसी छन्द का अस्तित्व खोजा जा सके। और भी एक बात है कि छन्द के लिए पाद-विभाजन अनिवार्य होता है और वह इन रचनाओं में नहीं है। इस प्रकार की रचनाएँ आज तक चली आ रही हैं। आज की ध्रुपद, ख्याल, ठुमरी आदि विधाओं में इसी प्रकार की रचनाओं का बाहुल्य है। यह अवश्य अविस्मरणीय है कि ये रचनायें गेय ही होती हैं, पाठ्य की दृष्टि से इनका कोई विशेष मूल्य नहीं होता। दूसरी ओर छन्दोबद्ध रचनाएँ गेय एवं पाठ्य दोनों में उपादेय होती हैं। यह बात अवश्य सम्भव है कि इनमें से कोई किसी विशेष गान-विधा की दृष्टि से रचित हो और कोई सामान्य रूप से अर्थात् केवल छन्द की दृष्टि से निबद्ध हो। जिस विशिष्ट पद-बन्ध की चर्चा हमने सूरदास के प्रसङ्ग में उठाई है, वह छन्दोबद्ध तो है ही, साथ ही विशिष्ट गीत-विधा के साथ भी संश्लिष्ट है। आज के साहित्य के विद्यार्थियों के लिए उसका पाठ्य रूप भी कम मूल्यवान् नहीं है।

सूरदास से पूर्व ऊपर लिखी दोनों धाराओं का समृद्ध रूप देखने के लिए दो उदाहरण पर्याप्त होंगे। छन्दोविहीन धारा संस्कृत के गीतक, प्रकरण-गीत या शुद्ध गीतों में से 'प्रबन्धों' में होती हुई देशभाषा में चली आयी। संस्कृत के गेय प्रबन्धों के कुछ उदाहरण सोमेश्वर के मानसोल्लास में मिलते हैं, इनमें से कुछ तो छन्दोबद्ध हैं, किन्तु अधिकांश छन्दोविहीन हैं यथा—

कमलाकुचकलशकेलिकल्पितकस्तूरिकापत्रभङ्गम् (ङ्ग)।
पत्रभङ्गविषदानवपूतनाप्रलयकारकः (कर)।
करकलितसुदर्शनानुगृहीतपुरन्दर।
दरचकितभक्तजनवत्सलकौस्तुभप्रभाजालसहस्त्ररचनाविदग्ध।
दग्धनिखिलदुरित भगवन्नारायण नमस्ते।

(मानसोल्लास पृ० ३३ तृतीय खण्ड)

देशभाषा में इस धारा का बहुत बड़ा उदाहरण सूरदास से ठीक पूर्व मिलता है। नायक बख्शू का नाम गायकों में विशेष परिचित है। ये ग्वालियर के शासक मानसिंह तोमर के समकालीन थे और इनके रचे गये पदों का संग्रह शाहजहाँ के शासन-काल में 'सहस रस' के नाम से हुआ था। इस ग्रन्थ का सम्पादन लेखिका ने किया है और सङ्गीत नाटक एकादमी, नयी दिल्ली से सन् १९७२ में प्रकाशित हुआ है। इसमें नायक बख्शू के १००० पद संगृहित हैं। अधिकांश पदों में शाहजहाँ की मुद्रा लगा दी गयी है। एक उदाहरण देखें—

कहौ मौ प्यारे सों इतनी विनती मेरी।
मोंकू जियति जिन बिसारियो, हौं जनम जनम की चेरी॥

---

* "सूर : सन्दर्भ और समीक्षा" में प्रकाशित पू० बहिनजी का यह लेख 'Offprint' रूप में मिला, अतः प्रकाशन समय ज्ञात नहीं हो सका।
—सम्पा०

मोंहि काम सों ऐसी बनी है, जैसी नाहर छेरी॥
शाहजहाँ की चरन परसहुँ, तब टरिहैं ऐरी॥

(सहसरस पद संख्या ८)

संस्कृत की तुलना में देश भाषा की रचनाओं में अन्त्यानुप्रास का समावेश नवीन है और इसका मूल प्राकृत तथा अपभ्रंश की रचनाओं में निहित है। गीत के खण्डों की विभाजन-रेखा के रूप में अन्त्यानुप्रास का ग्रहण पूरे निखार के साथ सहसरस में उपस्थित है।

गेय की छन्दोबद्ध धारा के सबसे उज्ज्वल रत्न हैं गीत-गोविन्द के प्रणेता जयदेव। गीत-गोविन्द के सभी पद छन्दोबद्ध हैं और हमारी प्रस्तुत चर्चा के केन्द्र पद-बन्ध के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। संस्कृत में यह बन्ध अपनी समग्र समृद्धि, माधुर्य और ऐश्वर्य के साथ सर्वप्रथम गीत-गोविन्द में प्रकट हुआ है। इसीलिए डा० सुनीति-कुमार चटर्जी का ऐसा मत बना है कि गीत-गोविन्द का मूल प्राकृत में रहा होगा और हमें उपलब्ध उसका संस्कृत पाठ उस मूल का उलथामात्र होगा। जो कुछ भी हो, जयदेव के गीत-गोविन्द में प्राप्त पद-बन्ध का बहुत व्यापक प्रभाव सभी देश-भाषाओं पर पड़ा। सूरदास के पूर्व उस प्रभाव को बंगाल के चण्डीदास और मिथिला के विद्यापति के पदों में स्पष्ट देखा जा सकता है।

★★★

.१८.

भक्तिशास्त्र में सङ्गीत और सङ्गीतशास्त्र में भक्ति*

भक्तिशास्त्र से हमारा यहाँ तात्पर्य है—भक्ति-निरूपक वैष्णव-ग्रन्थ, जिनमें प्रमुख हैं श्रीमद्भागवत, विष्णुपुराण, महाभारत, पाञ्चरात्र, नारदभक्तिसूत्र, शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र एवं भक्तों की वाणी। इनमें श्रीमद्भागवत प्रमुख है और उसी के आधार पर यहाँ हम विचार करेंगे। इसके अतिरिक्त गौड़ीय सम्प्रदाय के श्री रूपगोस्वामी द्वारा प्रणीत श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु में श्रीमद्भागवत की ही धारा का पल्लवन है। इसलिए उसका भी हमारे प्रस्तुत चिन्तन में यथोचित समावेश होगा। आधारभूत सामग्री का यह सीमा-निर्धारण अपने सीमित अध्ययन की दृष्टि से तो किया ही गया है, साथ ही उससे प्रस्तुत विषय का मर्म पकड़ में आ जाएगा ऐसा विश्वास भी है।

सङ्गीतशास्त्र में भक्ति का सीधे निरूपण होने का कोई प्रसङ्ग नहीं है। नादोत्पत्ति का प्रमुख स्थान मानव शरीर होने के कारण सङ्गीतशास्त्र में आयुर्वेद और हठयोग को अवश्य स्थान मिला है, जिसका आरम्भ मतङ्ग की 'बृहद्देशी' (अनुमानतः सातवीं से नवीं शताब्दी के बीच) में और पूर्ण विकास शार्ङ्गदेव के सङ्गीत-रत्नाकर (तेरहवीं शताब्दी) में मिलता है। भक्ति की झलक सङ्गीतशास्त्र में या तो मंगलाचरण-पद्यों में मिलती है, या फिर उदाहरण-परक पद्यों या पदों में। मंगलाचरण-पद्यों का वैशिष्ट्य अभिनवगुप्तपाद की अभिनव-भारती (नाट्यशास्त्र की टीका) से आरम्भ होता है और बाद के प्रायः सभी ग्रन्थों में इस परम्परा का न्यूनाधिक निर्वाह मिलता है।

उदाहरण-परक पद्यों की परम्परा नाट्यशास्त्र से ही आरम्भ हो जाती है। इसका विशेष विस्तार नान्यदेव के भरतभाष्य और सोमेश्वर के मानसोल्लास में मिलता है। शार्ङ्गदेव के सङ्गीतरत्नाकर में नान्यदेव द्वारा प्रस्तुत उदाहरणों की ही प्रायः आवृत्ति है। ये सभी उदाहरण शिवपरक हैं और मानसोल्लास के विष्णुपरक। दोनों ग्रन्थ अर्थात् भरतभाष्य और मानसोल्लास प्रायः समसामयिक हैं। सङ्गीतरत्नाकर के बाद के ग्रन्थों में उदाहरण-पद्य प्रायः नहीं मिलते हैं। १७ वीं शताब्दी के ग्रन्थ 'सङ्गीत' और 'सङ्गीतसारामृत' में सङ्गीतरत्नाकर के उदाहरणों की ही पुनरावृत्ति है। एक प्रमुख अपवाद है—महाराणाकुम्भा कृत सङ्गीतराज (पन्द्रहवीं शताब्दी) जिसमें प्रचुर उदाहरण-पद्य मिलते हैं जो किसी भी अन्य ग्रन्थ की तुलना में कहीं अधिक हैं और जिनमें से अनेक नवीन हैं। ये सभी उदाहरण शिवपरक हैं। सत्रहवीं शताब्दी के कुछ ग्रन्थों में (जैसे-कि भावभट्ट के ग्रन्थों में) देश-भाषा के गीतों के उदाहरण अवश्य सङ्कलित हैं, किन्तु उनके विषय विविध हैं। देवस्तुति उनमें से केवल एक विषय है। संक्षेप की दृष्टि से हम केवल सङ्गीतराज तक की सामग्री का इस लेख मे उपयोग करेंगे। इसलिए हमारी सामग्री संस्कृत तक ही सीमित रहेगी।

सङ्गीतशास्त्र में भक्ति के समावेश की एक और दिशा भी समझ में आती है, वह है रागध्यान की परम्परा। भक्ति में आराध्य के रूपध्यान का विशेष महत्त्व होता है। राग-रागिणियों के तान्त्रिक ध्यान चौदहवीं शताब्दी के सङ्गीतोपनिषत्सारोद्धार और पन्द्रहवीं शताब्दी के सङ्गीतराज में मिलते हैं। तान्त्रिक कहने से हमारा तात्पर्य यह है कि प्रत्येक राग या रागिणी (जिसे वहाँ 'भाषा' कहा गया है) का देव अथवा देवी के रूप में ध्यान मिलता है, जिसमें ध्येय के वर्ण (रंग), उसके परिधान के वर्ण, उसके 'आयुध'

---

* भारतीय भाषा परिषद्, कलकत्ता से १९९५ में प्रकाशित "भक्तितत्त्व : दर्शन-साहित्य-कला" में सङ्कलित लेख

(अर्थात् हाथ में लिए हुए उपकरण) और वाहन का उल्लेख होता है। यह एक प्रकार से राग अर्थात् विशिष्ट स्वर-सन्निवेश को देव के रूप में ध्यान का विषय बनाने की प्रक्रिया है। इसे साक्षात् भक्ति शायद न कहा जा सके, किन्तु सङ्गीत साधना में भक्ति के आरोप का मार्ग तो कहा ही जा सकता है। उदाहरण के लिए भैरव राग का ध्यान देखें—

भैरवः श्वेतवर्णः स्यादेकवक्त्रोऽष्टहस्तभाक्।
वृषयानः कृत्तिवासाः कालभैरवरूपभृत्॥
सर्पत्रिशूलखट्वाङ्गजयमालाभिरन्वितैः।
वीणापाशफलाब्जैश्च पाणिभिर्भूषितो ह्ययम्॥

(सङ्गीतोपनिषत्सारोद्धार १/८८,८९)

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सत्रहवीं शताब्दी के सोमनाथ ने अपने 'रागविबोध' में यह कहा है कि राग के दो रूप होते हैं—एक स्वरमय और दूसरा देवतामय। रागध्यान ही देवतामय रूप है।

भक्तिशास्त्र में सङ्गीत का स्थान

यहाँ 'सङ्गीत' से मुख्यतया गीत ही अभिप्रेत है। वाद्य तो आरती जैसे अवसरों पर अथवा गीत के सहकारी के रूप में आता है। नृत्य भी भक्ति के उद्रेक का ही सूचक है। यह तो हुई भक्ति की साधनावस्था अथवा सिद्धावस्था में भक्त के द्वारा सङ्गीत-प्रयोग की बात। इसके साथ ही भक्ति के विभाव के रूप में श्रीकृष्ण की मुरली-ध्वनि का विशेष स्थान है। श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध का वेणुगीत नामक 21 वाँ अध्याय वेणुनाद के व्यापक प्रभाव को ही समर्पित है। उसी प्रकार रास के प्रसङ्ग में गीत-वाद्य-नृत्य तीनों का विशद वर्णन श्रीमद्भागवत में है। साधक भक्त द्वारा सङ्गीत प्रयोग और विभाव के रूप में ध्यान के विषय श्रीकृष्ण की मुरली-ध्वनि अथवा रास जैसे सङ्गीत प्रयोग—इन दोनों पक्षों का ग्रहण यहाँ संकल्पित है।

पहले भक्ति की साधनावस्था अथवा सिद्धावस्था में वर्णित सङ्गीत-प्रयोग को लें। यहाँ एक बात सर्वप्रथम उल्लेखनीय है और वह यह है कि बहुत बार श्रीमद्भागवत में 'गायन' का लाक्षणिक प्रयोग हुआ है। श्रीमद्भागवत में अनेकानेक बार श्रीभगवान् के गुणगान अथवा यशोगान का जो उल्लेख है, वहाँ यह आवश्यक नहीं कि स्वरतालयुक्त गायन का ही तात्पर्य समझा जाय। तन्मयता, प्रशंसा, अनुराग, ऐकान्तिकता, अन्तर्मुखता और पौनः पुन्य आदि अनेक आन्तरिक भाव गान के लाक्षणिक अर्थ में अन्वित है। किसी बात को 'कहना' सतही हो सकता है, बहिर्मुख भाव से किया जा सकता है किन्तु किसी बात को 'गाना' सर्वान्तःकरण के अभिनिवेश का द्योतक होता है, इसलिए गायन के उल्लेखों को स्वर-ताल-युक्त प्रयोग और लाक्षणिक अर्थ—इन दोनों प्रकार से समझना चाहिए।

लाक्षणिक अर्थ में 'गान' या 'गायन' का प्रयोग श्रीमद्भगवद्गीता के नाम में ही अन्वित है। श्री भगवान् ने उसे गाया है और अर्थात् सर्वात्मना अर्जुन के प्रति सम्प्रेषित किया है। गाने में 'स्वान्तः सुखाय' का भी भाव अन्वित रहता है। जब अपने आप को कोई बात कही जाय तो उसका गाया जाना ही अधिक स्वाभाविक होता है। अभिन्न सखा अर्जुन को हृदय-दौर्बल्य से उबारने के लिए भगवान् ने जो उपदेश दिया है, उसे 'गीता' संज्ञा मिली, 'उक्ता' या 'कथिता' नहीं।

गान के लाक्षणिक प्रयोग के श्रीमदभागवत में से कुछ उदाहरण—

सर्वप्रथम श्रीमद्भगवद्गीता के ही विषय में श्रीमद्भागवत की उक्ति देखें:—

गीतं भगवता ज्ञानं सत् तत्सङ्ग्राममूर्धनि
कालकर्मतमोरुद्धं पुनरध्यगमत् प्रभुः।

(भा० १/१५/३०)

नारद द्वारा अपने पूर्वजन्म के बाल्यकाल का वर्णन—

तत्रान्वहं कृष्णकथाः प्रगायताम्-
अनुग्रहेणाशृणवं मनोहराः।
ताः श्रद्धया मेऽनुपदं विशृण्वतः
प्रियश्रवस्याङ्ग ममाभवद् रतिः॥

(भा० १/५/२६)

दिग्विजय के लिए निकले हुए परीक्षित् द्वारा अपने पूर्वजों के यशोगान का श्रवण—

तत्र तत्रोपशृण्वानः स्वपूर्वेषां महात्मनाम्।
प्रगीयमानं च यशः कृष्णमाहात्म्यसूचकम्॥

(भा० १/१६/१३)

सम्मुख मृत्यु को देखते हुए परीक्षित् द्वारा विष्णुगाथा का आवाहन—

तं मोपयातं प्रतियन्तु विघ्ना गङ्गा च देवी धृतचित्तमीशे।
द्विजोपसृष्टः कुहकस्तक्षकोवा दशत्वलं गायत विष्णुगाथाः॥

(वही १९/१५)

साधक और सिद्धभक्तों द्वारा गायन के उदाहरण—

शेषनाग द्वारा भगवान् के अनन्त गुणों का गायन—

नान्तं विदाम्यहममी मुनयोऽग्रजास्ते
मायाबलस्य पुरुषस्य कुतोऽपरे ये।
गायन् गुणान् दशशतानन आदिदेवः
शेषोऽधुनापि समवस्यति नास्य पारम्॥

(भा० २/७/४१)

स्वयंसिद्ध रूद्र के द्वारा अपने गाये हुए गीत (स्तव) का साधन के रूप में उपदेश :—

य इमं श्रद्धया युक्तो मद्गीतं भगवत्स्तवम्।
अधीयानो दुराराध्यं हरिमाराधयत्यसौ॥
विन्दते पुरुषोऽमुष्याद्यद्यदिच्छत्यसत्वरम्।
मद्गीतगीतात् सुप्रीताच्छ्रेयसामेकवल्लभात्॥

(भा० ४/२४/७६-७७)

रास के समय श्रीभगवान् के अन्तर्हित हो जाने पर रोगियों द्वारा गान—

गायन्त्य उच्चैरमुमेव संहता
विचिक्युरुन्मत्तकवद् वनाद् वनम्।
पप्रच्छुराकाशवदन्तरं बहिर्
भूतेषु सन्तं पुरुषं वनस्पतीन्॥

(भा० १०/३०/४)

दधिमन्थन करते समय गोपाङ्गनाओं द्वारा उच्चस्वर से लीला गायनः—

उद्गायतीनामरविन्दलोचनं व्रजाङ्गनानां दिवमस्पृशद् ध्वनिः।
दध्नश्च निर्मन्थनशब्दमिश्रितो निरस्यते येन दिशाममङ्गलम्॥

(भा० १०/४६/४६६)

श्रीमद्भागवत में नवधा भक्ति के अन्तर्गत द्वितीय भक्ति है-कीर्तन, जिसमें व्याख्यान, लाक्षणिक गान—अर्थात् स्तुति और स्वर-लय युक्त गायन—तीनों का समावेश होता है।

श्रवणं कीर्तनं, विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

(भा० ७/८/२३)

कीर्तन का श्रवण के साथ युग्मभाव है। जो सुना जाता है, वह कहा जाता है और जो कहा जाता है, वह सुना जाता है। 'कीर्तन' के सन्दर्भ में देवों-गन्धर्वों, सिद्धभक्तों-पार्षदों के द्वारा समवेत गीत-वाद्य-नृत्य-व्याख्यान के भावमय रूप का वर्णन श्रीमद्भागवत-माहात्म्य में निम्नलिखित श्लोक में मिलता है:—

प्रह्लादस्तालधारी तरलगतितया चोद्धवः कांस्यधारी,
वीणाधारी सुरर्षिः स्वरकुशलतया रागकर्ताऽर्जुनोऽभूत्।
इन्द्रोऽवादीन्मृदङ्गं जयजयसुकराः कीर्तने ते कुमाराः
यत्राग्रे भाववक्ता सरसरचनया व्यासपुत्रो बभूव॥

(श्रीपद्मपुराण में भागवतमाहात्म्य ६/८६)

श्रीमद्भागवत में साधक और सिद्धभक्तों द्वारा गान-प्रयोग के कुछ उदाहरण हम देख चुके हैं। इसी ग्रन्थ में दशम स्कन्ध अ० ३५ में संगीत के कुछ पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है, जिससे ऐसा संकेत मिलता है कि जिस सङ्गीत की बात वहाँ कही गई है, वह काफी प्राचीन सङ्गीत है। ये शब्द हैं—स्वरजाति, अमिश्रिता स्वरजाति, मार्ग और ध्रुव। 'स्वरजाति' संज्ञा का प्रयोग नाट्यशास्त्र में हुआ है। (अध्याय २८, पृष्ठ ३७, गद्यांश)। इसके दो प्रकार कहे गये हैं—शुद्धा और विकृता। शुद्धा को ही यहाँ 'अमिश्रिता' कहा गया है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि 'जाति' राग की पूर्ववर्त्तिनी है। इसलिए उक्त प्रङ्ग में राग का उल्लेख न होना और स्वरजाति का उल्लेख होना इस ग्रन्थ की अतिप्राचीनता का सूचक है। उसी प्रकार 'मार्ग' शब्द भी प्राचीन ताल-पद्धति का अङ्गभूत है (द्र० ना० शा० अध्याय ३१)। 'देशी और मार्ग' के युग्म में जो 'मार्ग' है, उससे ताल का मार्ग भिन्न है। ध्रुव शब्द अवश्य ही नाट्यशास्त्र का परवर्त्ती है।

श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु में साधनभक्ति के चौंसठ अङ्गों में ३२ वाँ अङ्ग गीत कहा गया है—

अर्चनं परिचर्या च गीतं सङ्कीर्तनं जपः।

(१/२/८५)

साथ ही ताण्डव अर्थात् नृत्य को भी वहाँ 24 वाँ अङ्ग कहा गया है—

....ताण्डवं दण्डवन्नतिः।

(वही, ८४)

यो नृत्यति प्रहृष्टात्मा भावैर्बहुसुभक्तितः।
स निर्दहति पापानि मन्वन्तरशतेष्वपि॥

(वही, १२७)

नृत्यतां श्रीपतेरग्रे तालिकावादनैर्भृशम्।
उड्डीयन्ते शरीरस्थाः सर्वे पातकपक्षिणः॥

(वही, १२८)

भक्ति के ६४ अङ्गों में सङ्कीर्तन ३३ वाँ अङ्ग कहा गया है, उसका लक्षण दिया है—

नामलीलागुणादीनामुच्चैर्भाषा तु कीर्तनम्।

(वही, १४५)

आलम्बन-विभाव के रूप में श्रीकृष्ण के वेणु-माधुर्य और वेणु के सदृश वंश, मुरली, वंशी, शृङ्ग नूपुर और शङ्ख का विशद उल्लेख श्री भ० र० सि० के द्वितीय विभाग की प्रथम लहरी में है। इसका अर्थ यह है कि उन सब वाद्यों का ध्यान भक्तों को इष्ट है।

अनुभावों में भी नृत्य और गीत का उल्लेख भक्तिरसामृतसिन्धु के द्वितीय विभाग की द्वितीय लहरी में है। तात्पर्य यह है कि भक्ति के आधार के रूप में एवं उसके प्रभाव के रूप में—यों दोनों प्रकार से गीत-नृत्य को स्थान दिया गया है।

सङ्गीतशास्त्र में भक्ति

सङ्गीतशास्त्र में भक्ति की प्रत्यक्ष-चर्चा प्रायः नहीं है, यह बात हम आरम्भ में कह चुके हैं। भक्ति की झलक मङ्गलाचरण-पद्यों में अथवा उदाहरण-परक पद्यों या पदों में मिलती है। हाँ, भुक्ति-मुक्ति की चर्चा सङ्गीतशास्त्र में अवश्य है।

अधिकांश मङ्गलाचरणों में शिवस्तुति ही पायी जाती है, किन्तु सङ्गीतसूर्योदय, रसकौमुदी एवं सङ्गीत-दामोदर 16 वीं शताब्दी जैसे कुछ ग्रन्थों में विष्णु-परक मङ्गलाचरण हैं। जैन ग्रन्थकर्त्ताओं ने मङ्गलाचरण में 'जिन' स्तुति रखी है, यथा सङ्गीतोपनिषत्सारोद्धार (१४ वीं शताब्दी)।

गेय पदों या पद्यों के उदाहरणों का आरम्भ नाट्यशास्त्र से ही हो जाता है। पाँचवें, इकत्तीसवें और बत्तीसवें अध्याय में क्रमशः ध्रुवा, गीतक और पुनः ध्रुवा के उदाहरण मिलते हैं। ३२वें अध्याय में सभी ध्रुवायें प्राकृत में हैं, जिनकी संस्कृतच्छाया भी दी गई है। यहाँ हम 'गेय' के प्रसङ्ग में ही उदाहरणों की बात कर रहे हैं, अन्यथा उदाहरण पद्य तो छन्द, काकु, लक्षण और अलंकार के प्रङ्ग्ग में भी नाट्यशास्त्र में मिलते हैं।

पूर्वरङ्ग के प्रसङ्ग में कुछ ध्रुवाओं के उदाहरण देखें।

चतुरश्रा ध्रुवा

पादतलाहतिपातितशैलं, क्षोभितभूतसमग्रसमुद्रम्।
ताण्डवनृत्तमिदं प्रलयान्ते, पातु जन्मत्सुखदायि हरस्य॥

(ना० शा० ८/१२७)

उत्थापनी ध्रुवा

देवं विभुं त्रिभुवनाधिपतिं, कैलासपर्वतगुहाभिरतम्।
शैलेन्द्रराजतनयादयितं, मूर्ध्नानतोऽस्मि परनाशकरम्॥

(वही, पृ. २५६, पञ्चमाध्याय का अतिरिक्त पाठ)

अवकृष्टा ध्रुवा

वरदं रमणं त्रिपुरान्तकरम् वृषभकेतुम्।
गजचर्मपटं, विषमेक्षणं भुवननाथम्।
भुजगाभरणं जगतां हितम्-भुवनयोनिम्।
प्रणतोऽस्मि भवन्तमुमापतिं त्वसितकण्ठम्॥

(वही पृ. २५८)

(१) देवं देवैः संस्तुतनमितम्।
दैत्यैर्यक्षैर्नागैः पितृभिः प्रणमितचरणम्।
त्रैलोक्यहेतुमीशं रुद्रं शरणमहमुपगतः॥

(ना० शा० ३१/१०७)

(२) भूताधिपतिं भगनेत्रहरं देवैर्वन्द्यं सुरमखमथनम्।
रौद्रं भयदं गजचर्मपटं शम्भुं त्र्यक्षं ज्वलननिभजटम्।
भुजगपरिकरं त्रिदशगणवरं दैत्यैर्नित्यं परिपठितचरितम्।
उमापतिं नमितमभिमतसुखदं शरणं सुरनुतमहमिह समुपगतः॥

(वही, ११०)

(३) अमरं प्रवरं मदनाङ्गहरं भुवनैकनाथमभयप्रदम्।
त्रिपुरनाशकरं देवं तमहं प्रणतः सुरपितृगणनतचरणम्।
पृथिवी सलिलं ज्वलनः पवनः सूर्यश्चन्द्रो यजमानो व्योमाख्यः कार्यः।
मुनिभिर्यस्य प्रोक्तस्त्रैलोक्यगुरुं तमचिन्त्यमजं विद्यानिलयं भैरवरूपम्।
खट्वाङ्गधरं स्थित्युत्पत्तिप्रलयनिमित्तम्।
चन्द्रार्धधरं तिलकार्धधरं मुण्डार्धधरं रशनार्धधरम्।
बहुभिर्विकृतैर्विविधैर्विकटैर्वेद्यं त्रिविधैर्विमुखैरपि तैः-
प्रथमैः परिवृतमहमीशं सुखदं सततं प्रणतः॥

(वही ११३)

नाट्यशास्त्र के ध्रुवाध्याय (३२) में दो अक्षरों से लेकर २६ अक्षरों तक के पाद वाले छन्दों के उदाहरण दिए गए हैं, किन्तु इनमें देवस्तुति केवल प्रथम तीन उदाहरणों में है, जो इस प्रकार है:—

(१) देवम्, शर्वम्। ईशम् वन्दे॥

(२) शङ्करः, शूलभृत्। पातु माम्, लोककृत्॥

(३) उमेशः, सुरेन्द्रः। तवायुः, करोतु॥

शेष सभी उदाहरण प्राकृत में हैं और उनमें वर्षा, बसंत, पर्वत, मेघ, सागर, नदी, पक्षी, पशु आदि का वर्णन है। नाट्य की विभिन्न परिस्थितियों में उपयोग के लिए ये ध्रुवायें दी गयी हैं, इसलिए इनमें देवस्तुति को स्थान नहीं है।

गेय पदों के उदाहरण अभिनवभारती, भरतभाष्य और सङ्गीतरत्नाकर में जातियों के प्रस्तार-गीतों के रूप में मिलते हैं। सबसे अधिक शुद्ध पाठ सङ्गीतरत्नाकर में ही है और इन उदाहरणों का उद्धरण १७वीं शताब्दी तक के ग्रन्थों में होता रहा है। इनमें से एक-दो नमूने प्रस्तुत हैं—

धैवती जाति का प्रस्तार-गीत

तरुणामलेन्दुमणिभूषितामलसरोजं
भुजगाधिपैककुण्डलविलासकृतशोभम्।
नगसूनुलक्ष्मीदेहार्धमिश्रितशरीरं
प्रणमामि भूतगीतोपहारपरितुष्टम्।

षड्जोदीच्यवा जाति का प्रस्तार-गीत

शैलेशसूनुप्रणयप्रसङ्गसविलासखेलनविनोदम्।
अधिकमुखेन्दुनयनं नमामि देवासुरेशनररुचिरम्॥

विस्तारभय से हम यहाँ ग्रामरागों की आक्षिप्तिकाओं (गीतों) के उदाहरण नहीं दे रहे हैं।

महाराणा कुम्भा के सङ्गीतराज (१५वीं शती) में से जयदेव के गीतगोविन्द की शैली के अनुसार रचित कुछ गीतकों के उदाहरण देखें—

जय जय हर हर मदशिवनिकरम्।
हिमगिरिशेखरशिरसं वृषभमनोरमयानम्।
गजवदनोदितभुजवनलीलालालनहर्षितवदनम्॥
समदमदनमददमनविधूनितरतिवरदाननिदानम्॥

(प्रथम खण्ड, पृ. ५०५)

यत्पादपद्ममकरन्दजुषः शुकाद्या देवा तमहं शरणं प्रपद्ये।
उदयगिरिशिखर शेखरदिनकरतानिकरानुकाररुचिरतरम्।
वरवृषभोपरिपरिणतमशिवहरं शङ्करं वन्दे।
दिनकरशशधरहुतवहनयनरुचिरारोचितत्रिदिवम्।
त्रिदिवाधीशाराधितचरणयुगं संश्रये गिरिशम्।
शिखिवाहनशिखिविशिखीकरणाकुलकरभुजङ्गपरितुष्टम्।
गजवदनं कलयन्तं मनसि मुदा मोदितं भजेऽहमजम्॥

(वही, पृ. ५०१)

कर्पूरगौरवपुषं विशदं, कलावत्कलाधरं, पिङ्गजटाकलापम्,
.... कर्णावतंसीकृतभानुचन्द्रं, चन्द्रार्कनेत्रम्,
हतचन्द्रकान्तिम् .... पद्मासनोत्पीडितयोगपादीकृताहिराजोल्वणफूत्कृतेन
घूर्णद्‌गणारब्धनवीननृत्तं योगीशमीशं शिरसा नतोऽस्मि।

(वही, पृ. ५००)

प्रबन्धों के उदाहरण मानसोल्लास में ही मिलते हैं, और वे सभी विष्णुपरक हैं, उनमें से दो-तीन यहाँ प्रस्तुत हैं—

जयमालिका प्रबन्ध

जय भुजपरिघधृतगोवर्धनधराधर।
जय कल्पान्तकालकेसरिकरालाकार! कालियप्रलयकारिन्!
जय मधुवधूवदन विधुन्तुद!
जय गोपीजननयनीलोत्पलशीतकिरण!
जय मन्दरग्रावकषण! निर्मलीकृतकेयूरमणिभासितभुजदण्डमण्डन!
....
....
जय जठरकुहरनिक्षिप्तत्रिभुवन! त्रायस्व देव लक्ष्मीपते!!

(मानसोल्लास १६/४/३०९)

पद्धडी प्रबन्ध

जनितकमलानन्द! प्रणतसुरगोविन्द!
दनुजकुलसम्भार! अघकमलनीहार!
भक्तजनभयहरण! सुरसङ्घनतचरण!
पुण्यसञ्चयसदन! सरसीरुहनिभवदन!
नीलजलधरवर्ण! मकरकुण्डलकर्ण!
तरुणरविनिभचक्र! स्वभुजपालितशक्र!
हतदैत्यगणदर्प! दमितकालियसर्प!
कंसभुजबलनाशदक्ष!!

(वही, ३१७)

शरभलील

देव! नीलोत्पलदलसमानकायकान्ते
विहितसकलभक्तलोकदुरितशान्ते!!
इच्छामात्रजनितनिखिलजगज्जन्य!
करकमलतलकल्पितपाञ्चजन्य!!
नाभिनलिनस्थपद्मासनस्तूयमान!
पादस्पर्शपवित्रीकृतवैनतेययान!
नाकिलोकनेत्रामृतायमानमूर्ते!
तुभ्यं नमः प्रसाधितधवलकीर्त्ते!!

अनेक वार्णिक वृत्तों को भी गेय प्रबन्ध के रूप में रखकर मानसोल्लास में उदाहरण दिए गए हैं—यथा—शिशुभृता, इन्द्रवज्रा, वंशस्थ, प्रहर्षिणी, वसन्ततिलका, मालिनी, शार्दूलविक्रीडित, स्रग्धरा इत्यादि; अन्तिम स्रग्धरा का उदाहरण देखें—

वृन्दं वृन्दारकाणां स्वयमतिसमरं दृप्तदैत्येन्द्रहस्तात्,
पीयूषं येन जह्रे स्फुटकपटवधूवेषवैदग्ध्यभाजा।
स श्रेयः प्राप्तिमूलं दुरिततृणवनप्लोषसप्तोर्चिरर्चिर्
युष्मान् पुष्णातु लक्ष्मीपतिरखिलजगद्वन्दनीयो मुकुन्दः॥

(वही, २३०)

अब तक के प्रबन्धों में छन्दोगत योजना न्यूनाधिक मात्रा में मिली है; अब एक उदाहरण **गद्यप्रबन्ध** का भी देखें—

अतसीपुष्पप्रकारसमानकायकान्त्युत्सङ्गविष्टरोपविष्टलक्ष्मीलोललोचन-चारुचषकपेपीयमानागण्यलावण्यपीयूष रसविरसामृतकरबिम्बविडम्बिना कम्बुना, विलूनबाणबाहुचक्रेण चक्रेण, प्रतिहतत्रिदिवपरिपन्थिभुजोद्भट-मदोत्कटगद्या गदया, जनितनिखिलनाकनायकनिकायकामिनीनयनानन्देनारविन्देन, विराजमानकरचतुष्टयमयस्तम्भविभ्रमभुजदण्ड-मण्डलमाखण्डलपुरःसरासुरसहस्रसमभ्यर्च्चितपादपद्मयुगलम् अनिशमशेषत्रिभुवनत्राणपरायणनारायणम्अहरहरर्चतां जपतां ध्यायतां ध्यायिनाञ्च भूयोभूयो भवभीषणभूमिविभ्रान्तयो न भवन्ति, भवन्ति च विलासविभवविजितजम्भारातिविभूतयो भूतयः॥

(वही, २४८)

उपसंहार

भक्तिशास्त्र में सङ्गीत का लाक्षणिक और प्रकट महत्त्व हमने संक्षेप में देखा; यह भी देखा कि सङ्गीतशास्त्र में प्रत्यक्षरूप

से भक्ति का उल्लेख न होने पर भी गेय पद्यों या पदों में देवस्तुति प्रचुर मात्रा में मिलती है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि भक्त के द्वारा भगवत्स्मरण, चित्त की द्रवावस्था में सहज ही गीत का रूप ले लेता है या उसका आनन्दोल्लास नृत्य के रूप में स्फुट हो उठता है और दूसरी ओर सङ्गीत के साधक की परिपूर्णता देवस्तुति में ही होती है। इसलिए सङ्गीत-प्रशंसा में देवता-परितोष का उल्लेख प्रायः मिलता है; यथा—

गीतेन प्रीयते देवः सर्वज्ञः पार्वतीपतिः।
गोपीपतिरनन्तोऽपि वंशध्वनिवशं गतः॥
सामगीतिरतो ब्रह्मा वीणाऽऽसक्ता सरस्वती।
किमन्ये यक्षगन्धर्वदेवदानवमानवाः॥

(सं. रत्नाकर १/१/२६-२७)

निष्कर्ष यह निकला कि भक्ति की सहज अभिव्यक्ति या परिणति सङ्गीत में होती है और सङ्गीत का परम प्रयोजन चारों पुरुषार्थों के साधन के भी ऊपर देवता-परितोष में निहित है।

भक्ति के समुदायगत रूप के प्रसङ्ग में हमारे देश के विभिन्न प्रान्तों में प्रवचन, गीत, नृत्य, नाट्य के स्वतन्त्र अथवा मिले-जुले प्रयोग की परम्पराएँ चली आयी हैं। बंगाल और महाराष्ट्र के कीर्त्तन में व्याख्यान, गायन के एकल और समवेत रूप, कहीं-कहीं नृत्य का भी मिला-जुला रूप दिखाई देता है। दक्षिण की 'हरिकथा' का भी इसी प्रकार मिला-जुला रूप है। मणिपुरी नट-संकीर्त्तन और आसाम के बड़-गीत में केवल गायन और मणिपुर के नृत्य में गान सहकृत नृत्य है। पंजाब के 'शबद' में एकल और समवेत गायन का रूप है। नाम-संकीर्त्तन तो पूरे देश में व्याप्त है।

नाट्य की बात करें तो ब्रज की रासलीला, देश के अनेकों भागों में प्रचलित रामलीला के विविध रूप, आसाम का 'आँकिया नाट' और 'भावना', बंगाल की 'जात्रा' उन-उन प्रदेशों की स्थानीय परम्पराओं से जुड़े विविध रूप हैं। छत्तीसगढ़ की 'पण्डवानी' भी गीत-नृत्य-नाट्य के मिले-जुले एकल प्रयोग का उत्कृष्ट उदाहरण है। तात्पर्य यह है कि भक्ति की प्रेरणा से देश के प्रत्येक कोने में प्रवचन, गान (एकल या समवेत) और नृत्य-नाट्य के स्वतन्त्र अथवा मिले-जुले अनेक रूपों का विकास उन-उन प्रान्तों की स्थानीय प्रयोग-परम्पराओं के आधार पर हुआ है। दूसरी ओर ऐकान्तिक सङ्गीत-साधना जिसे आज अंग्रेजी से उधार ली हुई Classical की संज्ञा दी जाती है, में भी भक्ति का अनुप्रवेश 'पद' के माध्यम से सर्वत्र हुआ है। देवस्तुति, **देवलीला के पद हिन्दू-मुस्लिम गायक समान रूप से प्रेमपूर्वक गाते रहे हैं, और किसी भी नारे के बिना राष्ट्रीय एकता को सिद्ध करते रहे हैं।**

भक्ति और सङ्गीत के सहज सम्बन्ध की कुछ झलक हमने संक्षेप में देखी। अन्त में यही उल्लेख पर्याप्त होगा कि प्रखर दार्शनिक भगवान् शङ्कराचार्य ने भी लोक-शिक्षण के लिए भक्तिसहकृत सङ्गीत का आश्रय लिया और उनके '**भज गोविन्दम्**...........' आदि स्तोत्र-गीत जन-जन में मुखरित हो उठे। चैतन्य महाप्रभु ने भी समवेत नाम-संकीर्त्तन के द्वारा विधर्मी शासन से त्रस्त, भीत जनता में नवीन मनोबल का सञ्चार किया।

★★★

.१९.

सङ्गीत*

गीतं वाद्यं तथा नृत्तं त्रयं सङ्गीतमुच्यते॥

(सं० र० १, २१ गद्य)

अर्थात् गीत, वाद्य एवं नृत्य, इन तीनों का सामूहिक प्रयोग सङ्गीत कहा जाता है। सङ्गीत की ऐसी अवधारणा सर्वप्रथम तेरहवीं शताब्दी के आरम्भ में 'सङ्गीतरत्नाकर' में आती है। इससे अधिक प्राचीन शब्द गान्धर्व है जो नाट्यशास्त्र एवं वैदिक साहित्य में मिलता है। वैदिक साहित्य में तो चार उपवेदों में से एक उपवेद 'गान्धर्ववेद' ही है।

सामान्य रूप से गीत एवं वाद्य-प्रयोग के लिए गान्धर्व शब्द आया है। यह 'गान्धर्व' का सामान्य अर्थ है। आज अंग्रेजी का Music शब्द गान्धर्व का समानार्थक माना जा सकता है। आज सङ्गीत का अंग्रेजी अनुवाद प्राय: Music कर दिया जाता है, जोकि सही नहीं है। अंग्रेजी में सङ्गीत की समानार्थक कोई शब्द नहीं है।

विशेष अर्थ में ऐसे सङ्गीत को गान्धर्व की संज्ञा दी गयी है, जो विशेषरूप से नियमबद्ध हो एवं जिसका प्रयोजन देवता-परितोष हो। नाट्यशास्त्र में 'गान्धर्व' से भिन्न ऐसे सङ्गीत को गान कहा गया है जोकि विशेषरूप से नियमबद्ध न हो और जिसका प्रयोजन देवता-परितोष न होकर नाट्य का विभिन्न परिस्थितियों को पुष्ट करना हो।

मार्ग एवं देशी शब्द सातवीं शताब्दी के आस-पास प्रचलित हुए एवं मतङ्गकृत बृहद्देशी में आये। यहाँ बहुत स्पष्ट रूप से इन शब्दों की व्याख्या नहीं की गई है, पर ऐसा लगता है कि जिस गीत में आलाप आदि का विस्तार सम्भव हो उसे मार्ग कहा गया है। अपनी ओर से ऐसी व्याख्या की जा सकती है कि जिस सङ्गीत में विशेष नियमों के आधार पर विस्तार किया जाय, उसे मार्ग कहा जाय। क्योंकि सामान्यरूप से विस्तार विशेष नियमों के आधार पर ही किया जाता है। जिस सङ्गीत में विस्तार की गुंजाइश न हो उसे 'देशी' कहा गया है। बृहद्देशी में यह कहा गया है कि जो सङ्गीत समाज के सभी वर्गों द्वारा स्वेच्छा से प्रेमपूर्वक अपने आनन्द के लिए गाया बजाया जाए, वह देशी सङ्गीत है। सभी वर्गों के अन्तर्गत अबला, बाल, गोपाल, क्षितिपाल, (राजा) आदि सभी आ जाते हैं।

अबलाबालगोपालैः क्षितिपालैर्निजेच्छया।
गीयते सानुरागं या स्वदेशे देशिरुच्यते॥

सङ्गीतरत्नाकर में इन दोनों शब्दों को पूरे सङ्गीत के साथ जोड़ने का प्रयास किया गया है। इस कारण यहाँ नृत्य के भी मार्ग एवं देशी लक्षण दिए गए हैं।

आज शास्त्रीय (Classical) और लोक (Folk) शब्द प्रचलित हैं। ये व्यवहृत शब्द निकटवर्ती हो सकते हैं परन्तु समानार्थक नहीं हैं।

★★★

* —स्फुट शब्दाङ्कित विचार।

.२०.

'गवेषणा' में योगदान*

(संगीत रिसर्च अकादमी, कलकत्ता के लिये वार्षिक शोधपत्रिका का 'गवेषणा' नामकरण एवं सम्पादन १९९५ में प्रो० प्रेमलताजी ने किया था, उसमें स्वयं उनके द्वारा दिये गये लेखन यहाँ प्रस्तुत हैं—सम्पा०)

शास्त्र-मौक्तिकम्

(Pearls from *Śāstra*)

आचार्यगुणाः

ज्ञान-विज्ञान-करण-वचन-प्रयोगसिद्धि-निष्पादनानि षडाचार्यगुणा इति।

तत्र ज्ञानं शास्त्रावबोधः।

तथा च क्रियासम्पादनं विज्ञानम्।

कण्ठ-हस्त-गौण्यं करणम्।

जितग्रन्थता वचनम्।

देशादिसम्पदाराधनं प्रयोगसिद्धिः।

शिष्यस्वभावमविशेष्योपात्तय उपदेशाच्छिष्यनिष्पादनमिति॥

(नाट्यशास्त्रम्, ३३)

1. *Jñāna i.e.* Knowledge and understanding of the *Śāstra* and similarly *vijñana i.e.* performance, *karaṇa* i.e. the excellence of 'instruments' viz. voice and hand (the means of execution), *vacana* i.e. being independent of written material (*grantha*), *prayoga-siddhi* i.e. accomplishment in performance or the cultivation of regional variations and the treatment or education of students in accordance with their nature, these are the six qualities of an *ācārya.*

सहस्रगुणिता विद्या शतशः परिकीर्त्तिता।

आगमिष्यति जिह्वाग्रे स्थलान्निम्नमिवोदकम्॥

(नारदीयशिक्षा, २.८.२२)

Learning becomes thousandfold when it is repeated hundred times, it will appear on the tip of the tongue at the right moment, just as water flows downward.

---

* संगीत रिसर्च अकादमी, कलकत्ता के सौजन्य से। —सम्पा०

यथा खनन् खनित्रेण भूतले वारि विन्दति।
एवं गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति॥

(तत्रैव, २.८.२७)

Just as one obtains water from the bottom of the earth by digging with a spade, similarly a student who serves the *guru* obtains his learning.

आचार्याः सममिच्छन्ति पदच्छेदं तु पण्डिताः।
स्त्रियो मधुरमिच्छन्ति विकुष्टमितरे जनाः॥

(नाट्यशास्त्रम्, ३४, १८२)

The *ācāryas* long for the *equality* (*sama*) of textual, melodic and temporal units, the scholars wish to see the proper splitting of textual components, women seek sweetness in musical rendering and the common people appreciate loudness of the voice.

अतालकमतालज्ञमशास्त्रज्ञमवादकम्।
चर्मघातकमित्येवं प्रवदन्ति मनीषिणः॥

(तत्रैव, ३४, १९९)

The drummer who plays out of *tāla,* who does not know *tāla* (conceptually), who is ignorant of *Śāstra,* who lacks skill in playing is said by the wise to be one who just beats a membrane.

EDITOR'S NOTE

The first issue of the revamped version of the journal of the Sangeet Research Academy under a new name 'Gaveṣaṇā' is presented here-by.

Out of the objectives set forth for this journal, it has been possible to relate only to the first two in this issue. The article on the classification of voice presents an analysis of the written tradition and an attempt to relate it to performance. The article on *sthāyas* is a direct attempt to analyse the written tradition in terms of contemporary practice. Similarly, the essay on technical terms handed down in oral tradition is yet another attempt to go back to the written tradition in order to understand the former, wherever possible.

The SRA has taken up a special responsibility of preserving and promoting the performance traditions that has been transmitted orally. An attempt at re-discovering links between the oral and written traditions is a corollary of the above responsibility. The rich written tradition is often neglected under the misconception that it has no relevance to contemporary practice. An institution like SRA has a special responsibility in validating the relevance of the written tradition. This journal is an important step in this direction.

Song-texts embody a major component of the oral tradition that has been partially documented in the written tradition for at least two millenia. They deserve serious attention and study from various angles. A humble beginning has been made in this direction.

Two summaries of the discussions held in SRA from part of our plan to gradually present the vast material accumulated in SRA by way of similar discussions and illustrations.

It is hoped that it will be possible in the near future to relate this journal to the other objectives.

After the matter for this issue was composed in the press about two years ago, the article on voice appeared in the Journal of the Indian Musicological Society. It had been lying with the SRA for quite some time and the author, being ignorant of the SRA's move for revamping their journal, gave another copy of the same to the Musicological Society in the interest of expediency. When this duplication came to our notice it was already too late. Since the readership of the two journals might be different to some extent and on account of the difference ninn editing and the Hindi summary that has been added by us, is was considered advisable not to scrap the composed portion pertaining to this article.

The bi-lingual format according to which the English items are summarised in Hindi and vice-versa will be found useful. The inordinate delay in bringing out this first issue is regretted. We hope to bring out at least one issue every year.

स्थाय : शास्त्र और प्रयोग के बीच सेतुबन्ध-परक अनुशीलन

[इस लेख में प्रस्तुत उदाहरणों में सर्वप्रथम डॉ० ऋत्विक् सान्याल का सहयोग प्राप्त हुआ। उसके बाद प्रो० इन्द्राणी चक्रवर्ती के कुछ दिनों के लिए वाराणसी आने पर यत्र-तत्र उनके सुझाव या टिप्पणी का समावेश किया गया। अन्त में पं० बलवन्तराय भट्ट 'भावरङ्ग' को पूरा लेख सुना कर उनसे जो टिप्पणियाँ प्राप्त हुईं, उन्हें यथास्थान समाविष्ट किया गया है। सभी का उल्लेख कुलनामों से ही किया गया है।—लेखिका*]

गमक और स्थाय दोनों ही नाट्य-शास्त्र के परवर्ती शब्द हैं। गमक में स्वरों के कम्प के कालमान (तिरिप, स्फुरित, कम्पित, लीन, आन्दोलित, प्लावित), आरोह-अवरोह गति (उल्लासित, नामित), वक्रगति (वलि), तीनों स्थानों में अविश्रान्त धनस्वरता (त्रिभिन्न), कण्ठ की कोमलता (कुरुल), अग्रिम स्वर पर आघात करके लौटना (आहत), हृदयङ्गम हुंकार (हुम्फित), मुखमुद्रण (मुद्रित) स्वर-प्रयोग के इतने पक्षों का ग्रहण हुआ है। इन चौदह भेदों को गिनाने के बाद सं० र० में यह कहा गया है कि पन्द्रहवाँ मिश्र भेद है जिसका विवरण स्थायवागों में दिया जायेगा।

'स्थाय' को राग का अवयव कहा गया है। अवयव को घटक या Component या अङ्ग के रूप में समझ सकते हैं। स्थाय-प्रकरण के आरम्भ में स्थाय को राग का अवयव कहकर वाग को गमक के साथ एकरूप कहा गया है। इन दोनों कथनों से गमक और स्थाय का घनिष्ठ सम्बन्ध स्पष्ट होता है। 'स्थाय' और 'वाग' दोनों शब्द देशी हैं। 'स्थाय', 'ठाय' का संस्कृतीकरण है और 'वाग' शायद 'वाक्' का अपभ्रंश है और उसका वाणी या स्वरोच्चार से सम्बन्ध समझा जा सकता है।

स्थाय-प्रकरण के आरम्भ में यह भी कहा गया है कि स्थायों के प्रसङ्ग से कुछ वागों का भी लक्षण दिया जायेगा। यह भी स्थाय और गमक के घनिष्ठ सम्बन्ध का द्योतक है। समझने की बात यह है कि गमक या वाग स्वर के कम्प या आरोहावरोह, वक्रगति या आघात या कोमलता, हुंकार या मुद्रण—इस विविध उच्चारभेद का abstract या सूक्ष्म या अमूर्त्त रूप प्रस्तुत करते हैं। दूसरी ओर स्थाय इन सबका concrete या मूर्त्त रूप यानी विभिन्न रागों में इनके प्रयोग का विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

नाट्य-शास्त्र में अलङ्कार के अन्तर्गत कम्प का समावेश हो गया है (कुहर)। सङ्गीत-रत्नाकर तक आते-आते अलङ्कार 'विशिष्ट-वर्ण-सन्दर्भ' में सीमित हो गया है और कम्प तथा अन्य उच्चार-भेदों के लिए गमक और फिर इन्हीं भेदों के राग में मूर्तिमान होने के लिए 'स्थाय' का निरूपण होने लगा था। बृहद्देशी की स्थिति नाट्यशास्त्र और सङ्गीत-रत्नाकर के बीच की है (इसका बाद में विस्तार करेंगे)।

स्थायों को सङ्गीत-रत्नाकर में दो प्रकार से विभाजित किया गया है। एक तो प्रसिद्ध या अप्रसिद्ध और दूसरे असंकीर्ण या संकीर्ण लक्षण वाले। प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध का तात्पर्य ऐसा लगता है कि स्थाय की परम्परा काफ़ी लम्बी रही होगी और सङ्गीत-रत्नाकर तक आते-आते उनमें से कुछ प्रसिद्ध रह गये होंगे और कुछ अप्रसिद्ध हो चुके होंगे। कुछ के लक्षण बिल्कुल स्पष्ट

* स्वयं बहिनजी (प्रेमलता शर्मा)

रूप से अलग-अलग किये जा सकते होंगे, उन्हें असंकीर्ण कहा है और कुछ के एक दूसरे में मिल-जुल जाने की सम्भावना वाले होंगे, उन्हें संकीर्ण कहा है। प्रसिद्ध में दस असंकीर्ण और तैंतीस संकीर्ण लक्षण वाले कहे हैं। अप्रसिद्ध में बीस असंकीर्ण और तैंतीस संकीर्ण लक्षण वाले कहे हैं। इस प्रकार छियानबे कुल संख्या बताई गई है। पहले दस भेदों को लेकर ही हम यहाँ विचार करेंगे। शेष भेदों पर अगले अङ्क में विचार किया जायेगा।

१. सबसे पहला भेद है—शब्द के स्थाय। शब्द यानी ध्वनि (Sound)। लक्षण यह दिया है कि जिनमें मुक्त शब्द का प्रतिग्रहण हो वे शब्द के स्थाय हैं। मुक्त का अर्थ है—छोड़ा हुआ यानी जिस स्वर पर साँस तोड़ दिया हो, उसी को फिर से पकड़कर चलना। यह चलना आगे यानी आरोह की ओर भी हो सकता है और पीछे यानी अवरोह की ओर भी हो सकता है। किसी एक ही ओर होगा, ऐसा कोई सङ्केत नहीं है। इस लक्षण के अनुसार आज के राग-प्रयोग को लेकर जो अर्थ समझे जा सकते हैं, वे इस प्रकार हैं।

(क) कुछ रागों में यह अनिवार्य होता है कि किसी विशिष्ट स्वर पर साँस तोड़कर फिर से उस स्वर को लिया जाता है—जैसे केदार में स म—म ग—प ऽ यह स्थाय रागवाची है। मध्यम पर साँस तोड़कर पुनः मध्यम से पञ्चम पर, बीच में गुप्त गान्धार को लपेटते हुये जाया जाता है। *—(शर्मा)*

(ख) ध्रुपद की डागर परम्परा में विशेष रूप से किसी भी राग के तीन या चार स्वरों को लेकर, जिस स्वर पर अपन्यास हो सकता हो उसे केन्द्र में रखकर उसपर साँस तोड़कर पुनः उसी से नये-नये सञ्चार बताये जाते हैं। जैसे—दरबारी में थोड़ी देर के लिए ऋषभ को अपन्यास बनाया जा सकता है—स ध़ नि़ रि, रि स नि़ रि, रि स रि नि़ रि, रि स रि नि़ स ध़ नि़ रि, रि- ग़ म रि स

(सान्याल) या नट में—

स गरि, रि ग, ग म रि, रि ग म प, प रि —यहाँ ऋषभ पर साँस तोड़कर फिर ऋषभ से ही उठना, पुनः गान्धार पर साँस तोड़कर गान्धार से ही उठना और पुनः पञ्चम तक पहुँचकर पञ्चम से ही ऋषभ पर लौटना होता है। *(सान्याल और शर्मा)*

पं० ओङ्कारनाथ ठाकुर ने शुद्ध नट के 'रेकॉर्ड' ('करत हों') में शुद्ध ऋषभ पर बार-बार अपन्यास का उत्तम प्रयोग किया है। *(भट्ट)*

(ग) तान-प्रकारों में कई ऐसे हैं जिनमें जिस स्वर पर टुकड़ा पूरा होता है उसी से अगला टुकड़ा शुरू होता है। नि रि ग रि, रि ग म प, प म ग म, ग म ध नि, नि ध प म ग ग म ध प म ग रि स इत्यादि।

निष्कर्ष यह निकलता है कि छोड़े हुए स्वर को फिर से लेना किसी राग की विशेष क्रिया के रूप में देखा जा सकता है या फिर किसी भी राग में अपन्यास स्वर को ही हर बार पुनः लेकर सञ्चार बनाने की क्रिया में भी मुक्त शब्द का प्रतिग्रहण देखा जा सकता है।

ध्यान देने की बात है कि इस स्थाय को सबसे प्रथम स्थान दिया गया है। इससे यह कल्पना होती है कि अनेक पहलुओं से यह देखा गया होगा कि अपन्यास स्वर पर साँस तोड़कर पुनः उसी से उठना अनेक परिस्थितियों में होता है। ये परिस्थितियाँ अनेक प्रकार की हो सकती हैं और इनके प्रत्येक प्रकार की विपुलता भी देखी जा सकती है। सम्भवतः इसीलिए इस स्थाय को पहला स्थान दिया गया होगा।

सङ्गीत-रत्नाकर के स्थाय प्रकरण के आरम्भ में ही कल्लिनाथ अपनी टीका में कहते हैं "अवयव एकदेशः। सोऽप्यत्र न्यासापन्याससंन्यासविन्यासेष्वन्यतमस्वरविश्रान्तत्वेन प्रयुक्तोंऽशादिकतिपयस्वरसन्दर्भो वेदितव्यः।

(सं० र० ३/९७ पर कलानिधि टीका)

अर्थात् स्थाय को राग का अवयव कहा गया है और अवयव का अर्थ है एकदेश—यानी राग का कोई एक भाग या टुकड़ा। एक एकदेश न्यास, अपन्यास, संन्यास और विन्यास में से किसी एक स्वर पर विश्रान्ति से बनता है। 'अंश' को यहाँ 'स्थायी'

या 'वादी' यानी राग के स्वरान्तरालों की नियामक मूर्च्छना के आरम्भ-स्थान के रूप में न समझकर किसी भी 'स्थाय' या phrase को आरम्भ-स्थान समझना होगा। इस अर्थ में 'अंश' का प्रयोग ग्रन्थों में अलङ्कार के प्रसङ्ग में बहुत बार हुआ है। कहना न होगा कि 'अंश' को लेकर स्थाय-रचना में राग के अल्पत्व-बहुत्व का और 'अंश' से आरम्भ करके कुछ स्वरों का सन्दर्भ या संयोजन है, ऐसा समझना चाहिए। कल्लिनाथ ने न्यास-अपन्यास आदि की जो बात कही है, वह बहुत ही सार्थक है।

प्राचीन व्यवस्था में न्यास, अपन्यास, संन्यास, विन्यास आदि का जो सूक्ष्म भेद था, उसे छोड़कर हम केवल अपन्यास संज्ञा का ही प्रयोग यहाँ करेंगे, जिससे हमारा यह तात्पर्य है कि राग में जिस भी स्वर पर ठहरा जा सकता हो या साँस तोड़ा जा सकता हो, वही अपन्यास स्वर है। यह स्पष्ट ही है कि स्थाय की विश्रान्ति ऐसे ही स्वर पर हो सकती है जहाँ राग में ठहराव सम्भव हो, चाहे जिस स्वर पर नहीं।

२. दूसरा स्थाय है—**ढाल**। सान्याल ने बताया कि उनके उस्ताद स्व० जिया मोहिउद्दीन डागर इस शब्द से परिचित थे। इसके लक्षण में कहा गया है कि स्वरों का मोती की तरह लुढ़कना यहाँ अभिप्रेत है। मोती की चिकनाहट जानी-पहचानी है। पार्श्वदेव ने इस लक्षण को यह कहकर आगे बढ़ाया है कि काँच के फर्श पर मोती के लुढ़कने का सादृश्य यहाँ अभिप्रेत है। इससे स्वयं मोती की और जिस धरातल पर उसे लुढ़कना है, इन दोनों की चिकनाहट की व्यञ्जना होती है। ढाल संज्ञा की भी यह व्यञ्जना है कि ऊँचे तल से नीचे की ओर लुढ़कना है। इसलिए यही कल्पना होती है कि मोती के लुढ़कने का सादृश्य अवरोह में ही दिखाई दे सकता है।

सान्याल ने बताया कि ध्रुपद के आलाप के अन्त में झाला के प्रयोग में द्रुत गति में कोमल कण्ठ से स्वरों का अवरोह जब किया जाता है, तब उस प्रयोग में ढाल का सादृश्य देखा जा सकता है। प्रयोग की इस विशिष्टता को स्वरलिपि में दिखाना सम्भव नहीं है। स्वर का दाना तो बना रहे, किन्तु अत्यन्त मृदु रूप से स्वरों का प्रयोग अभिप्रेत है। आज ख्याल विधा में तानों के दाने स्पष्ट होने के लिए मोती की उपमा दी जाती है, किन्तु 'ढाल' शब्द में नीचे की ओर लुढ़कने की जो व्यञ्जना है, वह अवरोह में ही सार्थक होती है, ऐसा लगता है, जबकि ख्याल की तान में तो आरोह-अवरोह दोनों का समान स्थान होता है। चक्रवर्ती ने कहा कि मोती की तरह लुढ़कने की प्रक्रिया कण्ठ में यदि अवरोही क्रम में अनुभव में आती है तो वाद्य में इसका ठीक उल्टा समझा जा सकता है। तन्त्रीवाद्यों के उन सभी प्रकारों में जिनमें तार को दबाकर या उसपर घिसकर बजाया जाता है, आरोही की तानों में, विशेषतः सपाट तानों में स्वर को लुढकाकर ऊपर ले जाने की प्रक्रिया में स्वर से जो स्पष्ट दाने बनते हैं, वे अवरोह में उतने सहज-साध्य नहीं होते। दृश्य-रूप में सितार, सरोद, सारङ्गी आदि में स्वरों की आरोही गति में हाथ ऊपर से नीचे की ओर चलता है, और उससे स्वरों के लुढ़कने की कल्पना आ सकती है। इन वाद्यों पर जब हाथ ऊपर से नीचे की ओर चलता है, तब स्वरों की आरोही गति होती है और दृश्य तथा श्रव्य दोनों रूप से लुढ़कने की प्रक्रिया उसी में सहज-साध्य होती है। इस स्थाय को भी प्रसिद्ध स्थायों में द्वितीय स्थान दिया गया है, इससे इसका महत्त्व समझा जा सकता है।

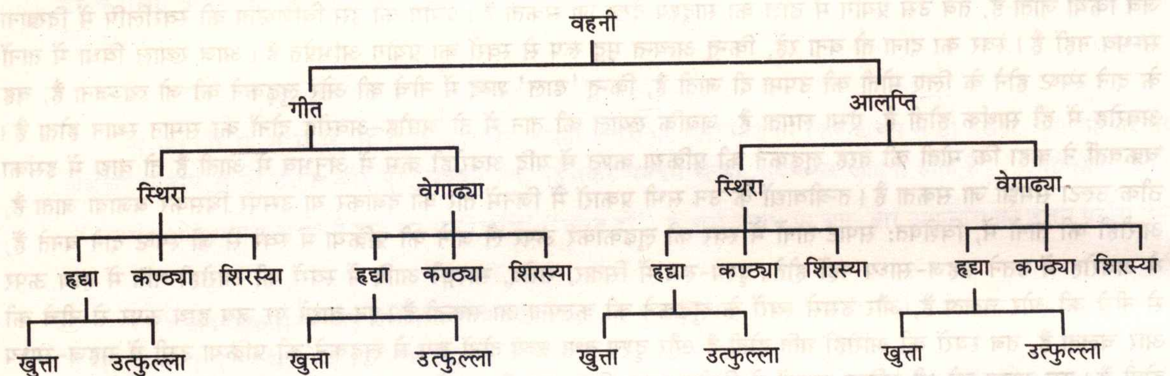
३. तीसरा स्थाय है—**लवनी**—जहाँ अति कोमल नमन यानी अवरोह किया जाये वह लवनी है और वह जिन स्थायों में हो, वे लवनी के स्थाय कहलाते हैं। नमन का अर्थ है—झुकना—जिसे स्वरों में हम अवरोह के रूप में देख सकते हैं। नामित गमक में अन्वित 'नमन' को सिंहभूपाल ने अवरोह के रूप में ही समझा है। इसलिए यहाँ नमन को अवरोह समझने में कोई बाधा नहीं है। अति कोमल नमन को दो प्रकार से देख सकते हैं, एक तो अवरोह की मींड़ में जैसे तिलक-कामोद में अवरोह में सां प और नट में प रि या सां रि की मींड़ में। दूसरे अवरोह में कोमलता का प्रयोग। यह ढाल से इस प्रकार भिन्न होगा कि ढाल में द्रुत गति अन्वित है, जो कि यहाँ नहीं है। —*(शर्मा, सान्याल)*

४. चौथा स्थाय है—**वहनी**। इसका सीधा अर्थ दिया गया है कम्प, जो कि आरोही, अवरोही, सञ्चारी तथा स्थायी में से किसी भी वर्ण में हो सकता है। पुनः इसके दो भेद किये गये हैं—एक गीत, जिसे यहाँ निबद्ध से सम्बन्धित समझ सकते हैं और दूसरा अनिबद्ध से सम्बन्धित। इसका अर्थ यह हुआ कि वहनी को निबद्ध और अनिबद्ध दोनों के साथ जोड़कर देखा गया है। इसके बाद पुनः विलम्बित और द्रुत लय के अनुसार स्थिरा और वेगाढ्या—ये दो भेद बनाये हैं। फिर स्थान-भेद से तीन भेद और किये हैं—हृद्या, कण्ठ्या और शिरस्या। हृद्या के पुनः दो भेद किये हैं—खुत्ता और उत्फुल्ला। खुत्ता के लिए यह कहा है कि उसमें स्वर जैसे भीतर की ओर प्रवेश करते हैं और उत्फुल्ला में बाहर की ओर निकलते हैं।

स्वरों का भीतर प्रवेश या बाहर निर्गम दो प्रकार से देखा जा सकता है, एक तो Dynamics या तीव्रता (loudness) को लेकर और दूसरे आरोह में निर्गम और अवरोह में प्रवेश देखकर। जब स्वरों का जोर से यानी बल-पूर्वक प्रयोग हो तो स्वरों का बाहर निकलना समझा जा सकता है, और जब हल्की आवाज से प्रयोग हो तब स्वरों का भीतर प्रवेश समझा जा सकता है। आरोह और अवरोह को इस प्रकार समझ सकते हैं कि जिस भी स्वर को अंश या आरम्भ-बिन्दु मानकर स्थाय बन रहा हो, उस स्वर से आगे बढ़ना यानी आरोह करना स्वरों का निर्गम समझा जाये और अवरोह करना यानी अंश की ओर लौटना उनका प्रवेश समझा जाये। यह आरम्भक बिन्दु षड्ज या और भी कोई स्वर हो सकता है।

भट्ट ने बताया कि स्व० पं० ओंकारनाथ ठाकुर के सुघराई के 'रिकार्ड' में ऊपर से बड़ी आवाज में शुरू करके नीचे तक बलपूर्वक पहुँच कर फिर छोटी आवाज से ऊपर की ओर जाने का प्रयोग मिलता है, जिसे क्रमशः उत्फुल्ला और खुत्ता का उदाहरण समझा जा सकता है। किन्तु ग्रन्थ में खुत्ता और उत्फुल्ला को मन्द्र में ही रखा गया है।

वहनी में निबद्ध और अनिबद्ध से सम्बन्ध, विलम्बित और द्रुत गति से सम्बन्ध, तीन स्थानों से सम्बन्ध और अन्त में हृदय-स्थान से सम्बद्ध प्रयोग में स्वरों के प्रवेश और निर्गम को लेकर दो भेद बनाकर चार पहलुओं से कम्प को देखा गया है। ध्यान देने की बात है कि स्वरों के अन्तःप्रवेश और बहिर्निर्गम को हृदयस्थान में देखा गया है। सान्याल का कहना है कि स्वरोच्चार में बल-प्रयोग मन्द्र स्थान में ही अच्छा लगता है, मध्य या तार में नहीं। आरोह या अवरोह की गति तो किसी भी स्थान में देखी जा सकती है। इसलिए खुत्ता और उत्फुल्ला में बल-प्रयोग का क्रमशः अभाव या उपस्थिति समझने के पक्ष में ही पलड़ा भारी दिखाई देता है। इस प्रसङ्ग में प्राचीनों की दृष्टि की सूक्ष्मता का परिचय मिलता है। *—(सान्याल, शर्मा)*



५. पाँचवाँ स्थाय है—**वाद्यशब्दज**। जिनमें वाद्य के शब्द 'रागमग्न' हों, वे वाद्यशब्दज स्थाय हैं। 'वाद्य-शब्द' का एक अर्थ है—किसी भी वाद्य के आघातों का वर्णों या अक्षरों के साथ तादात्म्य बैठाने से बने 'शब्द'। किसी भी वाद्य की अपनी ध्वनि को भी 'वाद्य-शब्द' कह सकते हैं। किन्तु वह अर्थ यहाँ लागू नहीं होता, क्योंकि काकु के अन्तर्गत 'यन्त्र-काकु' का ग्रहण होने ही वाला है। 'वाद्य-शब्द' राग में मग्न हो यानी डूब जाये, इसका क्या अर्थ हो सकता है? चार सम्भावनायें समझ में आती हैं—

(क) गाने में पाटाक्षरों या वाद्य-शब्दों का प्रयोग प्रबन्ध-परम्परा का अङ्ग रहा है और यह परम्परा बृहद्देशी (सातवीं शताब्दी के आस-पास) से भी पूर्व से चली आ रही है। तराना, त्रिवट, चतुरङ्ग में पाटाक्षरों का प्रयोग होता ही है। कुछ ख्याल की बन्दिशों में भी यह प्रयोग मिलता है। उदाहरण के लिए शुद्ध कल्याण में त्रिताल की प्रसिद्ध बन्दिश है—'मन्दर बाजो', जिसका अन्तरा पखावज के बोलों से पूरा होता है—तक धिलांग धुमकिटतक गदिगन, गदिगन धुमकिटतक धिलांग धा, धा, धा। उसी प्रकार मियाँ-मल्हार में त्रिताल की बन्दिश 'उमड़-घुमड़ घन बरसे बून्दरा' के अन्तरे में पाटाक्षर ऐसे हैं—धिट तान तान धिट तिलैया धिरकिट धा धिरकिट धा। *—(शर्मा)*

(ख) बीन पर तार परन का जो काम होता है उसमें पखावज के बोलों की अनुकृति बीन पर की जाती है। सान्याल ने बताया कि उसके उस्ताद बताते थे कि यह काम रबाब से बीन में आया है। रबाब में चमड़े से मढ़ी तबली पर रबाब-वादक

बीच-बीच में हाथ से पखावज के बोलों की अनुकृति प्रस्तुत करते थे। बीन में तबली न होने के कारण वैसी सम्भावना तो है नहीं, किन्तु तन्त्री पर ही पखावज के बोलों की अनुकृति आकर्षण रूप से प्रस्तुत हो जाती है। बीन निश्चित रूप से राग का आश्रय है, इसलिए पखावज के बोल बीन में 'रागमग्न' कहे जा सकते हैं। —*(सान्याल)*

(ग) सितार, बीन, सरोद जैसे किसी भी तत-वाद्य में बायें हाथ का काम जब प्रधान होता है, तब तो 'वाद्य-शब्द' गौण रहते हैं, किन्तु जब दाहिने हाथ का काम प्रधान रहता है, तब वाद्य-शब्दों की विभिन्न संरचनाओं से चमत्कार उत्पन्न होता है और उस समय के स्थाय विशिष्ट 'राग' या रञ्जकता खड़ी करते हैं। —*(शर्मा)*

(घ) ध्रुपद-परम्परा के आलाप के अन्तिम चरण झाले में विशेष रूप से बीन के बोलों की अनुकृति गले में खड़ी की जाती है। यह भी वाद्यशब्दों का रागमग्र होना है। —*(सान्याल)*

६. यन्त्रज स्थाय—जो यन्त्र में ही संभव हैं, उन्हें यन्त्रज कहा है। सान्याल का कहना है कि बीन या सितार जैसे तत-वाद्यों में एक साथ तीन तार दबाकर कुछ काम किया जाता है जो कि गले में सम्भव नहीं है। यह यन्त्रज स्थाय का एक उदाहरण हो सकता है।

७. काकु—काकु का अर्थ दिया है—छाया। छाया का अर्थ प्रतिबिम्ब और कान्ति दोनों है। काकु के छः भेद कहे गये हैं—स्वरजा, रागजा, अन्यरागजा, देश-काकु, क्षेत्र-काकु एवं यन्त्रकाकु इन छहों प्रकारों में एकता का सूत्र यह है कि ये सभी किसी स्वर, राग, शरीर (क्षेत्र), देश या यन्त्र की विशिष्ट पहचान के हेतु बनते हैं। यन्त्रकाकु और क्षेत्रकाकु में Timber की ही बात है और इसे कान्ति के रूप में समझ सकते हैं जिससे गाने वाले व्यक्ति (शरीर) या यन्त्र (वाद्य) की अपनी विशिष्ट पहचान बनती है। गाने-वाले के देश की पहचान देश-काकु से होती है। यहाँ देश की काकु गाने वाले में प्रतिबिम्बित हो रही हो, ऐसा कह सकते हैं। अन्य भेदों में भी 'प्रतिबिम्ब' का अर्थ अन्वित होता है। काकु के छहों प्रकारों का विवरण इस प्रकार है—

(*i*) स्वरजा काकु—किसी प्रकार की श्रुति घटाने या बढ़ाने से उस पर दूसरे स्वर की छाया आ जाना स्वर-काकु है। कल्लिनाथ ने इसकी व्याख्या में उदाहरण दिया है कि निषाद को दो श्रुति चढ़ाने के दो परिणाम होते हैं। एक तो यह कि निषाद षड्ज की दो श्रुतियाँ लेकर चतुःश्रुतिक बन गया और उस पर षड्ज की छाया आ गई तो वह षड्जवत् प्रतीत होने लगा। दूसरे यह कि निषाद के द्वारा दो श्रुतियाँ ले लिये जाने पर षड्ज दो श्रुति का ही रह जाता है और वह निषादवत् लगने लगता है। प्राचीन-स्वर-व्यवस्था में जो स्वर स्वयं चढ़ता या उतरता है, उससे आगे वाला स्वर भी अन्तराल के बदल जाने से विकृत कहलाता है। जैसा कि मध्यम ग्राम का पञ्चम एक श्रुति उतरने से प—ध अन्तराल तीन की बजाय चार श्रुति हो जाता है और इसलिए धैवत विकृत कहलाता है। प्रस्तुत उदाहरण में भी निषाद दो श्रुति चढ़ता है तो षड्ज के नजदीक पहुँचता है, किन्तु इसका दूसरा परिणाम यह भी है कि षड्ज की निषाद से दूरी कम हो जाने के कारण षड्ज पर निषाद की छाया आ जाती है। प्रत्यक्ष अनुभव में आज के श्रोता को किसी स्वर का अन्तराल बदल जाने मात्र से उस स्वर में कोई विशिष्टता दिखाई देती हो, ऐसी लगता नहीं है।

एक स्वर पर दूसरे स्वर की छाया कण या आघात से तो आती ही है और इसके उदाहरण प्रायः प्रत्येक राग में मिल जायेंगे। किन्तु यहाँ एक शर्त यह भी है कि स्वरान्तर की छाया तब पड़े, जबकि किसी स्वर की श्रुति घटाई या बढ़ाई जाये। किसी राग में जो स्वर स्वीकृत हो, उनमें से किसी स्वर को थोड़ी देर के लिए थोड़ा चढ़ाने या उतारने की क्रिया कभी-कभी की जाती है। सान्याल ने ऐसे दो उदाहरण दिये। एक तो भीमपलासी में कभी-कभी कोमल-निषाद को थोड़ा चढ़ा कर यानी उस पर षड्ज की छाया लाकर पुनः पञ्चम से उसे अपने ठीक स्थान पर खींच कर ध प लेना कभी किया जाता है। दूसरे, सूर-मल्हार में ऋषभ पर आन्दोलन देते समय उस पर क्वचित् कोमल गान्धार की छाया दिखाई देती है। चक्रवर्ती ने षड्ज का निषादवत् अनुभव होने में सन्देह व्यक्त किया और तीन बिन्दु सामने रखें—

(क) श्रुतिगत-विकृति के सिद्धान्त को प्राचीन नहीं, मध्यकालीन मान सकते हैं। श्रुतिगत-विकृति का अर्थ है—किसी

स्वर के श्रुतिगत अन्तराल में परिवर्तन होना, किन्तु उस स्थान का अपरिवर्तित रहना। यह दृष्टिगत अन्तर है, प्रयोगगत नहीं। इसी त्रिश्रुतिक या चतु:श्रुतिक स्वर का अपने पूर्ववर्ती स्वर से अन्तराल बढ़ जाना या घट जाना, वीणा के तार पर दृष्टिगत अर्थात् देशगत अन्तराल को तो बदलता है, किन्तु उस स्वर को सुनने से कोई विशेष अनुभव होता हो, ऐसी बात नहीं है। स्वरों की अन्तरालगत विकृति पर विशद चर्चा शार्ङ्गदेव के समय से अधिक होने लगी थी, जो परवर्ती ग्रन्थकारों में और भी विस्तृत रूप धारण करती गई।

(ख) षड्ज की दो श्रुतियों का ग्रहण करने पर काकली-निषाद षड्जक्षेत्र में प्रवेश करता है, अत: वह षड्जवत् अनुभव में आने लगता है। वास्तव में यह अनुभव भी उस समय होता है जब निषाद से षड्ज की ओर आगे बढ़ें। उदाहरण के लिए पग, मध म धनि, मध म नि, मप धनि; सं नि, सं नि, सं नि, सं—यमन के इन स्वर समुदायों में अन्य स्वरों के साथ निषाद की बढ़त में षड्ज की छाया नहीं आती। किन्तु जब षड्ज पर पहुँचते हैं तो निषाद का प्रयोग षड्ज के कण से होता है, और भीतर से षड्ज को छूने की प्रवृत्ति होती है। यहाँ निषाद का रुख षड्ज की ओर होने से उसका षड्जवत् प्रतीत होना अनुभवगत है।

(ग) षड्ज का स्थान न बदलते हुए जो अन्तरालगत विकृति दिखाई देती है उसके कारण षड्ज का निषादवत् अनुभव नहीं हो सकता। —*(चक्रवर्ती)*

(*ii*) रागकाकु—किसी राग की विशेष क्रिया इसमें आयेगी। जैसे शङ्करा में ग प $^{\text{रि}}$गऽ रिस या भीमपलासी में मग̲ $^{\text{स}}$रि स। इस प्रकार अवरोह में गान्धार पर ऋषम का कण शङ्करा में और अवरोह में ऋषम का कण शङ्करा में और अवरोह में ऋषम पर षड्ज का कण भीमपलासी में रागवाची क्रिया है। —*(शर्मा, सान्याल)*

सान्याल ने रागकाकु का एक अन्य पहलू निर्दिष्ट किया, जिसका सम्बन्ध अल्पत्व-बहुत्व के साथ है। किसी स्वर का अल्पत्व केवल इस बात से प्रकट नहीं होता है कि उसे बार-बार लिया जाता है या नहीं, बल्कि इस बात पर भी निर्भर रहता है कि उसे कितना लम्बा किया जाता है। जैसे कि बिहाग में ऋषभ और धैवत को केवल अवरोह में लिया जाता है लेकिन वह भी लम्बा करके नहीं। ग-रिस और नि-धप, यह बिहाग की रागकाकु है। ऋषभ और धैवत को लम्बाने से बिहागड़ा की छाया आने लगेगी। परज और बसन्त में धैवत और निषाद का काल-मान विशिष्ट है। परज में धैवत को लम्बा करने से बसन्त दिखाई देने लगेगा और बसन्त में निषाद को लम्बा करने से परज की निकटता दिखाई देगी। उसी प्रकार मुल्तानी में ऋषभ-धैवत का अल्पत्व उनके लम्बे न किये जाने से सधता है; उन्हें लम्बा किया जाये तो तोड़ी सिर उठाने लगेगी। देशकार में ग-रि स यों ऋषभ को छोटा रखा जाता है, जबकि भूपाली में ग-रि-स, यों ऋषभ को लम्बाना विहित है इत्यादि।

भट्ट ने मियाँ मल्हार के नि̲-ध नि सं का उदाहरण दिया। इसके बिना मल्हार नहीं होगा। किन्तु बहार में कोमल निषाद को लम्बा किये बिना नि̲ध निसं होता है।

(*iii*) अन्यराग-काकु—किसी राग में किसी अन्य राग की छाया दिखाई देना अन्यराग-काकु है। मिलते-जुलते रागों में यह स्थिति कभी-कभी आती है जिसे आज आविर्भाव अर्थात् किसी मिलते-जुलते राग की छाया लाना और तिरोभाव यानी उस छाया को तिरोहित करके पुन: मूल राग में लौट आना कहा जाता है। जैसे कामोद में श्याम कल्याण की और श्यामकल्याण में कामोद की छाया लाकर तिरोहित कर दी जाती है। —*(शर्मा-भट्ट)*

सान्याल ने अहीर-भैरव में उत्तराङ्ग में खमाज दिखाई देने का उदाहरण दिया। यह स्थायी रूप से भैरव और खमाज के मिश्रण का उदाहरण है और अविर्भाव-तिरोभाव की क्रिया स्थायी न होकर आने-जाने वाली होती है। अन्यराग-काकु को इन दोनों पहलुओं से देखा जा सकता है। यह कहना कठिन है कि इनमें से कौन-सा लक्षणकारों का अभिमत रहा होगा।

मल्हार और कान्हड़ा के कई प्रकारों में नि̲प सङ्गति, सारङ्ग का स्मरण दिलाती है। यह भी अन्य-राग-काकु का ऐसा उदाहरण हो सकता है जहाँ अन्य राग की छाया नियमित रूप से किसी राग में अनुप्रविष्ट रहती है। —*(शर्मा)*

(*iv*) **देश-काकु**—जैसे बोल-चाल में देशकाकु स्पष्ट पहचान में आती है, वैसे ही गाने में उसकी पहचान मिलती है। कर्णाटक-सङ्गीत की काकु इतनी विशिष्ट है कि वह केवल गायन में ही नहीं, वादन में भी स्पष्ट पकड़ में आती

है। किन्तु हिन्दुस्तानी-सङ्गीत में विस्तृत क्षेत्र में भी महाराष्ट्र, बङ्गाल की काकु गायन में बहुत स्पष्ट रूप से पकड़ में आती है। यह पकड़ कभी तो स्वरोच्चार के आश्रित रहती है और कभी पद के उच्चार से समझ में आती है। वादन में इन प्रदेशों की काकु को अलग पहचानना संभव नहीं है। देश-काकु पर सोचने की एक अन्य दिशा सान्याल ने सुझाई। देश का अर्थ विशिष्ट भौगोलिक इकाई तो है ही जिसकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं, किन्तु उसका अर्थ 'Space' या 'अवकाश' भी है। श्रव्य के प्रसङ्ग में ध्वनि के उत्पादक माध्यम और श्रोता के बीच की दूरी और दिशा यानी ध्वनि श्रोता के कितने पास या कितनी दूर से या किस ओर से आ रही है, इन दोनों का अपना महत्त्व है। कहने का तात्पर्य यह है कि श्रवणगत प्रत्यक्ष (Aural perception) का एक पहलू यह भी है कि श्रोता के पास श्रव्य कितनी दूरी से या किस दिशा से पहुँच रहा है। श्रोता का अवधान दूरी या दिशा से प्रभावित होता ही है। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि श्रवण-प्रत्यक्ष में दूरी या दिशा की भी 'छाया' रहती है। सङ्गीत-रत्नाकर में देशकाकु को 'देश स्वभाव' के साथ जोड़ा है। देश का अर्थ भौगोलिक इकाई तो है ही, सांस्कृतिक इकाई भी उसी में अन्वित है। उसकी तो विशिष्ट काकु है ही, किन्तु श्रव्य की विशिष्टता का एक पहलू श्रवणगत दूरी और दिशा से भी निश्चित रूप से जुड़ा है। श्रव्य के इस वैशिष्ट्य को भी देश-स्वभाव माना जा सकता है।

भट्ट ने इस बात पर ध्यान दिलाया कि देश-काकु का सहज दर्शन लोक-संगीत में अपेक्षाकृत अधिक होता है। उदाहरण के लिए सौराष्ट्र या राजस्थान के भाट-चारणों के गायन में देश-काकु सर्वथा स्पष्ट होती है। लक्षणबद्ध संगीत में देशगत विशिष्टता का ह्रास होता है।

(*v*) क्षेत्र-काकु—मनुष्य का शरीर क्षेत्र कहलाता है। प्रत्येक मनुष्य का कण्ठ क्या बोलने में और क्या गाने में, अलग पहचान में आता है। यह मनुष्य कण्ठ का Timbre है।

(*vi*) यन्त्रकाकु—प्रत्येक यन्त्र या वाद्य की अपनी काकु होती है, जिससे उसकी पहचान बनती है। यह वाद्य का Timbre है।

छाया को समझाने के लिए सङ्गीत-रत्नाकर में ऊपर लिखे छः प्रकारों को कहने के बाद पुनः कहा गया है कि अन्य छाया में प्रवृत्ति या आरम्भ होने के बाद दूसरी कोई छाया जहाँ आ जाती है, वे स्थाय छाया के कहे जाते हैं। यह लक्षण केवल स्वरकाकु और अन्य-राग-काकु को ही लागू होगा, ऐसा लगता है क्योंकि राग-काकु, देश-काकु, क्षेत्र-काकु और यन्त्र-काकु—इन सबमें अपनी-अपनी ही विशिष्ट छाया रहती है। अन्य छाया आने का प्रसङ्ग नहीं उठता।

८. स्वरलङ्घित—अनेक स्वरों का लङ्घन इसमें अन्वित है। यह लङ्घन या तो राग का अङ्गभूत हो सकता है, जैसे केदार में स से म पर जाना या मल्हार में रि से प पर जाना या नट में प से रि पर आना या एक स्थान के प से अगले स्थान के रि पर जाना। ऐसे और भी अनेकों उदाहरण मिल सकते हैं। यह तो हुई ऐसे स्वर-लङ्घन की बात जिससे कि राग का स्वरूप बनता हो, किन्तु किसी भी राग में रागवाची-क्रिया के बिना भी लङ्घन किया जा सकता है और प्रायः किया ही जाता है। मध्य स से तार स पर जाना या तार के गान्धार, ऋषभ, मध्यम, किसी भी स्वर को लेकर तुरन्त मध्यस्थान में उसी स्वर को लेना या शक्य हो तो मन्द्र में भी उसी स्वर को ले लेना, तानों में नि ग, ग नि—इस प्रकार 'छूट' का काम हुआ ही करता है। लङ्घन के ये दोनों प्रकार स्वरलङ्घित में समझे जा सकते हैं। —*(शर्मा, सान्याल)*

९. प्रेरित—ऊपर, नीचे और तिरछे स्वरों को प्रेरित करना इसका लक्षण है। ऊपर, नीचे तो आरोह-अवरोह है ही किन्तु तिरछे क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में यही समझ सकते हैं—कि स्वरों की वक्रगति अभिप्रेत रही होगी। यह वक्रता गौड़-सारङ्ग जैसे राग में सर्वत्र व्याप्त हैं, किन्तु गौड-मल्हार, मियाँ-मल्हार, दरबारी-कान्हड़ा जैसे रागों में कहीं सरल तो कहीं वक्र प्रयोग मिले-जुले रहते हैं। जैसे—

गौड़-मल्हार—**रि ग म—, ध नि सं, ध नि प**

मियाँ मल्हार—**म प, नि म प नि नि सं, नि-प म प ग म प मम रि सा।**

दरबारी कान्हड़ा—**स रि ग, म प ध, नि-सं, ध नि प म ग म रि स** —*(शर्मा, सान्याल)*

१०. तीक्ष्ण—पूर्णश्रुति स्वर जब तार स्थान में लिया जाता है, तब वह प्रयोग तीक्ष्ण कहलाता है। पूर्ण-श्रुति का अर्थ क्या समझा जाये? कभी-कभी 'पूर्ण श्रुति' से चतु:श्रुति-स्वर समझा जाता है, किन्तु वह अर्थ शायद यहाँ पूरा-पूरा न लग सके क्योंकि तार में आज के शुद्ध गान्धार पर ठहरने से विशेष तीखेपन का बोध होता है, लेकिन वह गान्धार चतु:श्रुतिक नहीं, त्रिश्रुतिक ही है। सान्याल का कहना है कि किसी भी स्वर को बिना कम्पित या आन्दोलित किये, सीधे उस पर खड़े हो जाना, उस स्वर को पूर्ण श्रुति के रूप में प्रस्तुत करना है। इस लक्षण के अनुसार तार के षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, किसी को भी पूर्ण-श्रुति के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। उसकी अपनी श्रुतियाँ भले ही चार, तीन या दो हों। स्वर पर कम्प या आन्दोलन देने से श्रुति आगे या पीछे खिसकती है और वैसी स्थिति जहाँ न बने वह स्वर पूर्णश्रुति कहला सकता है।

तार स्वर में सहज तीक्ष्णता होती है। कम्पित या आन्दोलित स्वर भी तार प्रयोग में तीक्ष्ण प्रतीत होते हैं।

—*(चक्रवर्ती)*

स्थायों के वर्णन में जिस प्रकार अनेक उपमाओं का सहारा लिया गया है (उदाहरण के लिए 'ढाल में'), कुछ इसी प्रकार का वर्णन शिक्षा-ग्रन्थों में भी मिलता है। पाराशरी शिक्षा में से निम्नलिखित उद्धरण यहाँ रोचक होंगे। यथा:—

शून्यालये पिशाचोऽपि गर्जते न च दृश्यते।
एवं वर्णाः प्रयोक्तव्याः .... ॥ ५९ ॥

—जैसे शून्यभवन में पिशाच गरजता हुआ भी दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार वर्णों का प्रयोग करना चाहिए।

यथा पुत्रवती स्नेहाच्चुम्बतीति पुनः पुनः।
एवं वर्णाः प्रयोक्तव्या .... ॥ ६४ ॥

—जैसे माता पुत्र को स्नेह से बार-बार चूमती है, उसी प्रकार वर्णों का प्रयोग करना चाहिए।

यथा भारभराक्रान्तो निःश्वसेल्लघुचेतसः।
एवं वर्णाः प्रयोक्तव्या .... ॥ ७६ ॥

—जैसे भार के दबाव से आक्रान्त दुर्बल व्यक्ति निःश्वास यानी लम्बी साँस लेता है, उसी प्रकार वर्णों का प्रयोग करना चाहिए।

स्मरण रहे कि विभिन्न वर्ण-सङ्गतियों के उच्चारण के प्रसङ्ग में ये उपमायें दी गई हैं। लोक से सादृश्य दिखाने की यह पद्धति स्थायों के लक्षण में भी बड़े समृद्ध रूप में मिलती है। यह बात इस लेख-माला की आगामी कड़ियों में अधिक स्पष्ट होगी।

क्रमशः

(घ)

STHĀYA :

A STUDY FOR BUILDING A BRIDGE BETWEEN ŚĀSTRA AND PRAYOGA

(Editor's Summary)

[Dr. Ritwik Sanyal was the first collaborator in the illustrations provided in this article. After that when Prof. Indrani Chakravorty was in Varanasi for a few days, her comments were incorporated here and there; at the end, the complete article was read out to Pt. Balawant Rai Bhatt 'Bhāvaraṅga' and his comments were incorporated. All of them including the author have been mentioned by surnames.—Author]

Sthāya and *gamaka* are post-*Nāṭya-Śāstra* words. The varieties of *gamaka* are based on the temporal measure of the shake on *svaras* viz. *tiripa, sphurita, kampita, līna, āndolita* and *plāvita,* on ascent and descent, viz. *ullāsita* and *nāmita* respectively, on the curved movement of *svaras,* viz. *vali,* on the incessant and dense use of *svaras* in the three registers, viz. *tribhinna,* on softness of the voice viz. *kurula,* on returning to a *svara* after attacking its next one, viz. *āhata,* on performance with the "*hum*" sound produced from the chest region, viz. *humphita* and on singing with the mouth shut, viz. *mudrita, Saṁgīta-ratnākara* (III. 93cd-94b), after enumerating the fourteen varieties of *gamaka* listed above, says that the 15th variety is a mixed one which will be described under *sthāya-vāgas.*

The texts that describe *sthāya* are *Saṁgīta-ratnākara, Saṁgīta-samaya-sāra, Saṁgītarāja* and *Saṁgīta-sudhā.* For the purpose of our study here, concentration on *Saṁgīta-ratnākara* is sufficient and valid. SR has defined *sthāya* as an *'avayava'* or limb of *rāga. Avayava* could be understood as a component. In the beginning of the section on *sthāya, vāga* has been identified with *gamaka.* This statement brings out an intimate connection between *sthāya* and *vāga* ; both of them are *deśī* words. *Sthāya* is a Sanskritized form of *'thāya'* and *vāga* could perhaps be an *apabhraṁśa* of *vāk;* the latter could be construed to be related with *vāṇī* or the production of *svaras.* It has also been said in the beginning of the section on *sthāyas* that in the context of *sthāyas,* some *vāgas* will be given. This also supports the intimate connection between *sthāya* and *gamaka.* It is notable that whereas *gamaka* is described without reference to *rāga, sthāya* is directly related to *rāga.* This does not mean that *gamaka* is not used in *rāga;* only the difference in the treatment of *gamaka* and *sthāya* in the text is implied here.

In NŚ, *kampa* or shake has been included under *alaṁkāra* in the variety named *kuhara.* By the time of SR. *alaṁkāra* was limited to 'a specific arrangement of *varṇas* or units of melodic movements' and *kampa* as well as other varieties of rendering of *svaras* were included under *gamaka* and the concretization of these and other varieties came to be treated under *sthāya. Bṛhaddeśī* comes in between NŚ and SR.

SR. divides *sthāyas* in two ways—(1) well-known and obscure, (2) those having *asaṅkīrṇa* (unmixed or without overlapping) *lakṣaṇa* or description and *saṅkīrṇa* (mixed) *lakṣaṇa.* The division into well-known and obscure categories suggests that *sthāya* must have had a fairly long tradition and by the time of SR. some of them may have remained well-known and the others would have remained obscure, some would have been described in a clear-cut way and others might have been described with overlappings. In the well-known ones, there are ten with unmixed descriptions and thirty-three with mixed ones. In the obscure category, there are twenty with unmixed descriptions and thirty-three with mixed ones. Thus, the total number is ninety-six. A study of the first ten varieties is being presented here ; the remaining varieties will be dealt with in subsequent issues of this journal.

1. The first variety is said to be of the *sthāya* pertaining to *śabda* (lit sound). This has been said to involve a 're-catching' of the *śabda* that marks the end of the previous phrase (*mukta,* lit, forsaken). The forsaking of a *svara* could be understood as letting out of breath on a point and then restarting from the same, this re-starting could be towards ascent or decent. This description could be interpreted in the context of the current usage of *rāgas* in the following ways :

   (*a*) In some *rāgas* it is indispensable to let out the breath on a specific *svara* and re-start on the same—*e.g.* in *kedāra sa ma—, ma pa ga.* —*(Sharma)*

   (*b*) In the Dāgara tradition of *ālāpa,* small phrases of three to four *svaras* are 'woven' around a *svara* on which *apanyāsa* (mid-pause) is permissible by ending a phrase on that point and restarting from there. —*(Sanyal)*

   (*c*) There are many *tāna*-patterns in which the last joint of a phrase becomes the first one of the next phrase.

It is notable that this *sthāya* has been given the first position; this suggests that it must have been observed that re-starting from a point that marks the end of a phrase was a common feature of *rāgas* in general.

Kallinātha, commenting on the definition of *sthāya* (SR. III. 97) says—

"An arrangement of *svaras* beginning with *aṁśa* and resting on any one out of *nyāsa, apanyāsa, samnyasa* and *vinyāsa* is an *avayava* or part of *rāga.*"

Aṁśa should be understood here as the initial note of a given phrase and not the initial note of a *mūrchanā* that regulates the intervals in a given situation. This word has been used in the former sense in the context of *alaṁkāras* both in *Bṛhaddeśī* and SR. It is needless to add that in the arrangement of *sthāyas,* due cognizance has to be given to the *alpatva-bahutva* (paucity-abundance) of notes in a given *rāga.* Without going into the distinctive nuances of *nyāsa, apanyāsa, samyāsa* and *vinyāsa,* we will be using only *'apanyāsa'* here in order to indicate a *svara* or *svaras* where it is possible to make a pause or to let out the breath. It is obvious that a *sthāya* can end only on a *svara* where a pause is possible and not on just any *svara.*

2. The second *sthāya* is named *'ḍhāla'*. Sanyal said that his *ustād* Late Zia-Mohiuddin Dāgara was acquainted with this word. It has been defined as implying a similarity of the movement of notes with the rolling of pearls. The smoothness of pearls as well as the distinctness of each seed is implied here. The act of rolling also implies downward movement. Hence, a suggestion of the descending movement of *svaras* seems to be implicit.

   Sanyal said that towards the end of *ālāpa* in the *dhrupad* form when *svaras* are used in descent in fast speed during *jhālā,* a semblance of *ḍhāla* could be observed. It in not possible to show this characteristic movement in notation. A very soft production of *svaras* is implied, wherein the grainy substance (*dānā*) of each *svara* is retained. In the *khyāla* form there is great emphasis on the proper rendition of *tāna* with distinct 'grains' (*dānās*), but they are valid both for ascent and descent whereas '*ḍhāla*' seems to imply only descent.

   Chakravorty said here that in lutes or zithers, the distinctness of *svaras* in fast tempo is more easily maintained in ascent than in descent because the hand moves downwards in descent.

   This *sthāya* has been given the second position among the well-known *sthāyas* and hence its importance.

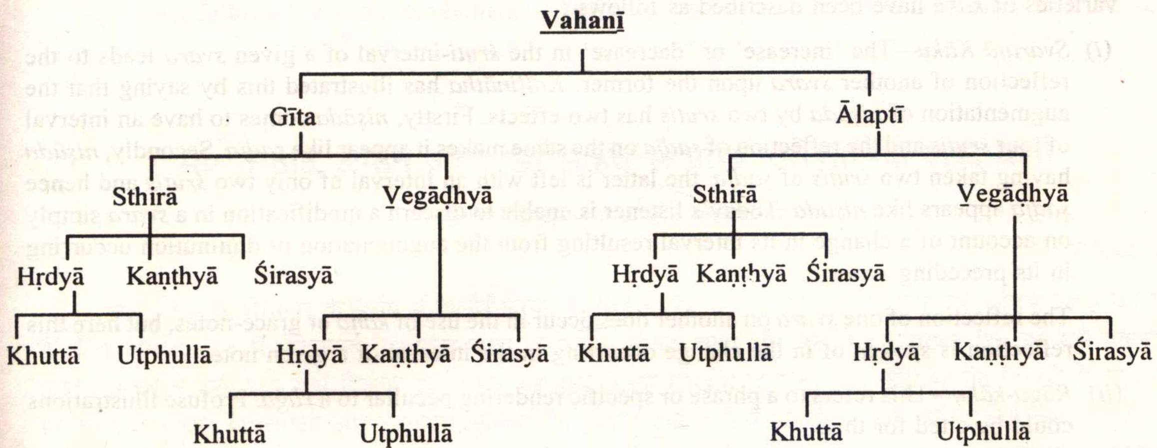
3. The third *sthāya* is *lavani, Namana* means bending which could be seen in the descending movement of *svaras. 'Lavani'* stands for very soft *namana.* Softness in descent could be seen in two ways—(1) in the mind in descent like *sapa* in *Tilaka-kāmoda* or *pari* or *sari* in *Naṭa* and the second one could be general softness in descent which could be distinguished from *ḍhāla* in the sense that *ḍhāla* implies fast tempo and here no such implication seems to be involved. —*(Sharma, Sanyal)*

4. The fourth *sthāya* is *vahanī.* It has been directly related with *kampa* or 'shake' which could come about in any of the four *varṇas,* viz. *ārohin, avarohin, sañcārin* and *sthāyin.* It has been said to be two-fold as pertaining to *gīta* and *ālapti* which could be identified as *nibaddha* and *anibaddha* respectively. There are two sub-divisions according to slow and fast tempo, known as *sthirā* and *vegāḍhyā* and then again there are three sub-divisions according to the three *sthānas,* named *hṛdyā, kaṇṭhyā* and *śirasyā. Hṛdyā* has further been subdivided as *khuttā* and *utphullā. Khuttā* has been described to involve as if movement of *svaras* entering inwards and *utphullā* has the same emerging outwards. These two could be understood in two ways, one in the context of loudness and the other by identifying 'emergence' in *āroha* and 'entry' in *avaroha.* When *svaras* are used with force, then

a semblance of emergence could be observed and when they are used with a gentle voice, then the inward entry of *svaras* could be discerned. Ascent and descent could thus be understood—when a *sthāya* is being created from the initial point known as *aṁśa* then moving forward from that point *i.e.* ascent, could be identified with emergence and moving backward *i.e.*, descent, could be observed as entry.

Thus, *kampa* or shake has been seen in the aspects of *nibaddha-anibaddha, vilambita-druta,* the three *sthānas* and ultimately the two-fold movement in the *mandra sthāna.* Sanyal observed that the use of force is agreeable in the *mandra sthāna* alone and not in *madhya* or *tāra.* Ascent or descent could be seen in any *sthāna.* Hence, the identification of *khuttā* with the use of extra force and of *utphullā* with its absence seems to carry more weight. —*(Sanyal, Sharma)*

The kinds of *vahanī* could be seen in the tree given below :



5. The fifth *sthāya* is that born of *vādyaśabda, i.e.,* sounds of instruments. Those in which the sound of instruments are immersed in *rāga* are *sthāyas* born of *vādyaśabda. 'Vādya-śabda'* could be understood in two ways—(1) the syllabic identifications of strokes on a given instrument and (2) the characteristic sound of an instrument. The second meaning could not be valid here because it is going to be covered under *yantra-kāku.* What could be the implication of the *vādya-śabda* being immersed in *rāga?* Four possibilities could be construed :

   (*a*) The inclusion of syllables associated with instruments in the text of *prabandha* or composition has formed part of tradition since the time of *Bṛhaddeśī.* In today's usage, these syllables form part of *tarānā, trivaṭa* and *caturaṅga.* Sometimes they are included in some compositions in the *khyāla* form. —*(Sharma)*

   (*b*) The performance of '*tār-paran*' on *rudra-vīṇā* (*bīn*) embodies the reproduction of the *bols* of *pakhāwaj.* Sanyal said that his *ustād* used to say that the above pattern of performance has been adopted in the *bīn* from *rabāb. Bīn* is definitely the substratum of *rāga;* hence the *bols* of *pakhāwaj* could be said to be 'immersed in *rāga*' in the *bīn.*

   (*c*) When the left hand becomes prominent on pressed-string instruments like sitar, bīn, sarod etc., then the *vādya-śabdas* remain subdued. But when the right hand becomes prominent then the various combinations of syllables become delightful, *i.e.,* they give rise to *rāga,* colour of delight. —*(Sharma)*

(*d*) In the last part of the *ālāpa* in the dhrupad tradition known as *jhālā*, the instruments associated with the *bīn* are reproduced with the voice. This also represents the *vādya-śabdas* becoming immersed in *rāga*. —*(Sanyal)*

6. *Sthāyas* born of *yantra* or instrument—Those that are possible only on an instrument are called *yantraja*. Sanyal said that on stringed instrument like *bīn* or sitar, sometimes three strings are pressed at one and the same time and this is not possible in voice. This could be one example of *yantraja sthāya*.

7. *Kāku*—*Kāku* has been defined as *'chāyā'*, which means both reflection and lustre. *Kāku* has been said to be six-fold—(*i-iii*) that born of *svara, rāga* and *anyarāga*, (*iv*) *deśa-kāku*, (*v*) *kṣetra-kāku*, (*vi*) *yantra-kāku*. The point of unity among the six is that all of them characterize a *svara, rāga*, body (*kṣetra*), region (*deśa*) or instrument (*yantra*) and become the basis of their specific identity. Six varieties of *kāku* have been described as follows :

(*i*) *Svarajā Kāku*—The 'increase' or 'decrease' in the *śruti*-interval of a given *svara* leads to the reflection of another *svara* upon the former. *Kallinātha* has illustrated this by saying that the augmentation of *niṣāda* by two *śrutis* has two effects. Firstly, *niṣāda* comes to have an interval of four *śrutis* and the reflection of *ṣadja* on the same makes it appear like *ṣadja*. Secondly, *niṣāda* having taken two *śrutis* of *ṣadja*, the latter is left with an interval of only two *śrutis* and hence *ṣadja* appears like *niṣāda*. Today's listener is unable to discern a modification in a *svara* simply on account of a change in its interval resulting from the augmentation or diminution occurring in its preceding *svara*.

The reflection of one *svara* on another does occur in the use of *kaṇa* or grace-notes, but here this reflection is spoken of in the change occurring in the interval of a given note.

(*ii*) *Rāga-kāku*—This refers to a phrase or specific rendering peculiar to a *rāga*. Profuse illustrations could be cited for this.

(*iii*) *Anya-rāga-kāku*—This has been explained as the reflection of one *rāga* upon another. This occurs in *rāgas* that resemble each other *e.g. Śyāmakalyāna* and *Kāmoda*.

(*iv*) *Deśa-kāku*—This refers to regional accent which is very obvious in speech. In music, regional reference in rendering is perceived ostensibly in Karnataka vis-a-vis Hindustani music not only in vocal music but also in instrumental. Within the vast field of Hindustani music, the characteristics of Maharastra and Bengal are usually discernible on the basis of voice-production and pronunciation of *pada* or text. But this applies only to vocal music. Bhatt said that *deśa-kāku* is more obvious in regional or 'folk' music than in art music. Sanyal offered another dimension of space as the basis of *deśa-kāku* and that is related to the direction or distance of sound-production with the listener as the point of focus.

(*v*) *Kṣetra-kāku*—The human body is known as *kṣetra* and *kṣetra-kāku* stands for the timbre of each human voice.

(*vi*) *Yantra-kāku*—This represents the timbre of musical instruments.

8. *Svara-laṅghita*—This involves a leap of more than one *svara*. This could be a peculiar feature of a *rāga e.g.*, the leap from *sa* to *ma* in *Kedāra*, or *ri* to *pa* in *Malhāra* or *pa* to *ri* in *Naṭa*. The act of leaping could also be performed without its being a characteristic feature of the same. This is known as *choot* in oral tradition.

9. *Prerita*—The 'throwing' of *svaras* upwards, downwards, diagonally is prescribed here. Upwards and downwards can be understood as ascent and descent. But what is diagonal (*tirachā*)? This could perhaps be understood as involving the use of *vakra svaras,* which could be seen in *rāgas* like *Gauḍa-malhāra, Miyān-malhāra, Darabārī-Kānaḍā* etc.

10. *Tīkṣṇa*—When a *pūrṇa-śruti svara* is taken in the *tāra-sthāna,* this rendering is known as *'tīkṣṇa'* or 'sharp'. The implication of *'pūrṇa-śruti'* has not been indicated. Sanyal said that in the use of any *svara* in a pointed way without any shake, the rendering would be said to be sharp. Chakravorty said that a *svara* in the *tāra-sthāna* has a natural sharpness which is not lost if a shake is added.

The treatment of *sthāyas* is replete with similes and metaphors drawn from life and nature. In the ten *sthāyas* covered here, only *ḍhāla* is described with a simile, but later on many descriptions will involve several similes and metaphors. It is interesting to note here that this mode of treatment of sound-production has also been followed in texts on phonetics (*śikṣā*). A few illustrations have been cited from *Pārāśarī Śikṣā.*

म० उस्ताद अमान अली खाँ साहब से प्राप्त पारिभाषिक शब्दावली

प्राप्ति-माध्यम—टी० डी० जानोरीकर

प्रेमलता शर्मा

मार्च, '९० के सेमिनार के प्रसंग में जानोरीकरजी ने कहा था कि उनके पास एक सौ चार पारिभाषिक शब्दों का संग्रह है। फिर अगस्त, '९० में मैंने उनसे उस शब्द-संग्रह के बारे में जानना चाहा और उन्होंने १६ अगस्त '९० को मुझे बताया कि उनके उस्ताद ने उन्हें १९५२ में दिल्ली जाते समय यह शब्द-संग्रह लिखवा दिया था और कहा था कि दिल्ली से लौटकर वे इन शब्दों के लक्षण या व्याख्या और उदाहरण लिखवा देंगे। किन्तु दुर्भाग्य से वे दिल्ली में कुछ अधिक दिन रुक गए और वहीं पर १९५३ में उनका देहान्त हो गया। इस प्रकार इन शब्दों की तालिका मात्र जानोरीकरजी के पास सुरक्षित रह पाई। वह तालिका उन्होंने उदारता-पूर्वक मुझे दी और बताया कि म० उस्ताद अमान अली खाँ साहब कहते थे कि मनुष्य के कण्ठ से जो कुछ भी गान-क्रिया हो सकती है, उसके सब प्रकार इन नामों में आ जाते हैं। इस तालिका को बनाने में, उन्हें गुरु-परम्परा से जो कुछ प्राप्त हुआ होगा, उसके अलावा उनका अपना चिन्तन भी शामिल होगा, ऐसा जानोरीकरजी की बातचीत से समझ में आया। इन शब्दों के पीछे उनका चिन्तन क्या था, यह जानने का आज कोई उपाय नहीं है। उन्होंने जो कुछ लिखकर रख छोड़ा था वह भी आज दुष्प्राप्य हो चुका है। इसलिए अपने सामान्य ज्ञान और संगीत-रत्नाकर में प्राप्त शब्दावली के आधार पर इन शब्दों की व्याख्या यहाँ पेश है। सुधी पाठक इस विषय पर अपने विचार प्रकट करें और इस प्रकार बात कुछ आगे बढ़े, ऐसी हमारी हार्दिक इच्छा है।

इन १०४ शब्दों को लेकर मैंने श्री सुनील बोस, श्री निवृत्ति बुआ सरनायक से चर्चा की थी। इस चर्चा में श्री अनन्त वैद्यनाथन् पूरे समय साथ रहे इसलिए इन दोनों गुणियों के साथ-साथ वैद्यनाथन् की भी टिप्पणी कहीं-कहीं मिलती रही। प्रत्येक शब्द पर हम जो टिप्पणियाँ दे रहे हैं, उनमें निम्नलिखित सङ्केताक्षरों का प्रयोग किया गया है।

सु० = श्री सुनील बोस। नि० = श्री निवृत्ति बुआ सरनायक। वै० = श्री अनन्त वैद्यनाथन्। ले० = लेखिका।

१. सुर—इस शब्द का प्रयोग प्रायः आधार स्वर के लिये होता है। कर्णाटक सङ्गीत में इसी को श्रुति कहते हैं। इस शब्द को सबसे पहले रखने का यह तात्पर्य हो सकता है कि आधार स्वर का सही लगाव गाने की बुनियाद है। [ले०]

२. बर्ताव—बर्ताव या बरतना राग के विस्तार की प्रक्रिया का नाम है। [ले०]

३. आवन—इसका सीधा अर्थ है आना, जिसे अवरोह के रूप में समझ सकते हैं। किन्तु इस शब्दावली में संख्या ५, ६ पर 'आरोह' 'अवरोह' भी पड़े हुये हैं, इसलिये इस शब्द का तात्पर्य क्या रहा होगा, यह कहना कठिन है। [ले०]

४. गवन—इस शब्द का अर्थ है जाना, जिसे आरोह के साथ जोड़ सकते हैं। किन्तु 'आवन' पर दी गई टिप्पणी यहाँ भी लागू है। [ले०]

५-६. आरोह-अवरोह—अर्थ स्पष्ट है।

७. चलन—यह शास्त्रों में आये सञ्चार शब्द का पर्याय जान पड़ता है। राग के रूप को खड़ा करने के प्रसङ्ग में इसका प्रयोग होता है। [ले०]

८. उपज—सामान्य रूप से नई उद्‌भावना का अर्थ इस शब्द से समझा जा सकता है। ध्रुपद में ताल के साथ स्वर-पद-लय को लेकर जो काम किया जाता है, उसे उपज कहते हैं, यहाँ सामान्य रूप से सर्जनशीलता का अर्थ लिया जा सकता है। यह अवश्य ध्यान देने की बात है कि यह सर्जनशीलता अनिबद्ध से प्रसङ्ग में समझी जानी चाहिये, निबद्ध के सम्बन्ध में यानी बन्दिश की रचना के प्रसङ्ग में नहीं। [ले०] इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग आगरा घराने में ख्याल के बोल-बाँट के लिए किया जाता है। [वै०]

९. छूट—स-प, रि-ध, ग-नि जैसी जोड़ियों में, जहाँ बीच में कुछ स्वर छूटते हैं, इस संज्ञा का प्रयोग प्रायः होता है। इस तरह की जोड़ियाँ लेते हुए जो तानें बनाई जाती हैं उन्हें छूट की तान कहना प्रचलित है। नि० ने बताया कि अल्लादिया खाँ साहेब गगग, निनिनि, गंगंगं इस प्रकार की तान को छूट नहीं बल्कि उड़ान की तान कहते थे। तीन से लेकर सात स्वरों तक की 'छूट' स्वीकृत है और धक्के के साथ कूदने की क्रिया रहती है।

१०-११-१२. एकहरा, दोहरा, तेहरा चलन—ऐसा लगता है कि एक-एक स्वर को लेकर आलाप या तानों में टुकड़े बनाना एकहरा चलन कहलाता होगा और उसी प्रकार दो-दो या तीन-तीन स्वरों को लेकर कुछ दूरी तक चलना दोहरा या तिहरा चलन कहलायेगा। ध्यान देने की बात है कि 'छूट' के प्रसङ्ग में उड़ान के नाम से तेहरे स्वरों की तान का उदाहरण आ चुका है। जो एक दृष्टि से उड़ान या छूट है, वही दूसरी दृष्टि से तेहरा चलन भी है। आज कर्णाटक-सङ्गीत में स्फुरित के नाम से दोहरे चलन को ही जाना जाता है और विभिन्न के नाम से तेहरे चलन को। [ले०]

१३. आकार—गायकों में यह शब्द बहुत प्रचलित है क्योंकि आकार का शुद्ध होना, अच्छे गायन के लिये, अनिवार्य माना जाता है। मुँह का ठीक से खुलना इसके लिये अपेक्षित होता है। शिक्षा के आरम्भ में इसी पर गुरु लोग ध्यान देते हैं। [ले०]

१४. लय में मुँह कहना—मुखड़ा पकड़ने में लय का वैचित्र्य दिखाने का अर्थ समझा जा सकता है। [ले०]

१५. बराबर की लय—एक-एक मात्रा में एक-एक स्वर का प्रयोग करना बराबर की लय का काम कहलाता है। यह मध्य या द्रुत लय में ही सम्भव है। कर्णाटक सङ्गीत में इस प्रकार के काम को सर्वलघु कहते हैं। [ले०]

१६-१७-१८-१९. दूनी-डेढ़ी-चौगुनी लय और डेढ़ की दुगुन यानी तिगुन—अर्थ स्पष्ट है।

२०. बढ़त—राग का क्रमशः विस्तार करना बढ़त कहलाता है। [ले०]

२१. मुँह का बनाव—मुखड़ा पकड़ते समय विशिष्ट प्रयोग को मुँह बनाना कहा जाता है। [ले०]

२२. बोल का बनाव—गेय पद के शब्दों या बोलों को लेकर स्वर-लय-वैचित्र्य उपजाना बोल बनाना कहलाता है और ठुमरी में इसका विशेष स्थान है। [ले०] आगरा घराने में ख्याल में भी इस शब्द-समूह का प्रयोग होता है। [वै०]

२३. सुरों की सच्चाई—सुरों के लगाव में परिशुद्धि (precision) से तात्पर्य है। [ले०]

२४. बोल बढ़त—गेय पद के बोलों को लेकर राग की बढ़त करना। [ले०]

२५. बोलतान—गेय पद के बोलों को लेकर तान-प्रयोग। [ले०]

२६. बोलबाँट—बाँट शब्द संस्कृत के भञ्जनी का पर्याय माना जा सकता है। गेय-पद के शब्दों को तोड़ना अर्थात् विभिन्न स्वर-लय-योजना में प्रस्तुत करना, इसका अर्थ है। संगीत-रत्नाकर में जिसे स्थाय-भञ्जनी कहा गया है, उसमें शब्दों का मूल-मान यानी काल-मान बनाये रखने की शर्त कही गई है, उदाहरण के लिये यदि मूल पद में किसी शब्द या बोल का कालमान तीन मात्रा है तो उसे बिना बदले स्वर-योजना में नीवनता लाने का नाम स्थाय-भञ्जनी कहा गया है। आज ध्रुपद और ख्याल दोनों में बोलबाँट का काम होता तो है, किन्तु मूल कालमान को बनाये रखने की शर्त को निभाना आवश्यक नहीं माना जाता। आगरा घराने में बोल-बाँट का विशेष महत्त्व है, यद्यपि ग्वालियर घराने में भी इसका प्रयोग होता है। [ले०]

२७. तुकबोल—तुक का अर्थ है—प्रास, जिसे प्राय: अन्त्यानुप्रास ही समझा जाता है। गेयपद की रचना में तो अन्त्यानुप्रास का ध्यान रखा ही जाता है, किन्तु गायकी में इसका प्रयोग कैसे हो सकता है, यह अस्पष्ट है। पद के खण्ड को भी तुक कहा जाता है, क्योंकि अन्त्यानुप्रास इन खण्डों का सूचक होता है। इसलिये शायद गीत के एक तुक या खण्ड में जितने बोल हैं उन सबको एक साथ लेकर जो काम किया जाये उसे ही तुकबोल कहा जाता है। [ले०]

२८. बन्द बोल—'बन्द' और 'खुला', बोल के इन विशेषणों का प्रयोग तबला जैसे अवनद्ध वाद्यों, सितार जैसे तत वाद्यों आदि के प्रसङ्ग में तो होता है और उसी प्रकार कण्ठ के लिये भी बन्द आवाज़, खुली आवाज़, ऐसा प्रयोग भी सुनने में आता है, किन्तु बन्द बोल या खुला बोल ऐसा प्रयोग गाने के प्रसंङ्ग में प्राय: नहीं किया जाता। हो सकता है कि बन्द आवाज़ से किये गये बोलों के काम को बन्द बोल कहा जाता है। [ले०]

२९. तुकबन्दबोल—विशेष प्रासमय शब्द-समूह के लिये शायद इस संज्ञा का प्रयोग होता हो, जैसे 'लपक-झपक झटपट नटखट'। यद्यपि यह विशिष्टता पदगत है, फिर भी गाने में इसका प्रतिबिम्बित होना स्वाभाविक है और शायद इसीलिये इसे इस शब्दावलि में स्थान दिया गया है। [ले०]

३०-३१-३२. पूरा बोल, आधा बोल, दूना बोल—'पूरा' को यदि 'बराबर' का पर्याय माने तो बराबर की लय में बोलों के काम का पूरा बोल, उससे आधी लय में अर्थात् दो अक्षरों के कालमान में एक अक्षर बोलने में आधा बोल और दुगुनी लय में एक अक्षर के कालमान में दो अक्षर बोलने में दूना-बोल समझा जा सकता है। [ले०]

३३. सिमटा हुआ बोल—बोलों के मूल कालमान को घटाकर यदि प्रयोग किया जाये तो बोल पास-पास आ जायेंगे। उस स्थिति में 'सिमटा हुआ बोल', ऐसी संज्ञा दी जा सकेगी। इसका प्रयोग मुखड़ा पकड़ने में ही प्राय: होगा। [ले०]

३४. ठहराव—किसी भी स्वर पर ठहरना या ठहर-ठहर कर बढ़त करना। [ले०]

३५. रचाव—'रच पच' के गाना अर्थात् आनन्द में डूबकर गाना, इसी की भाववाची संज्ञा के रूप में 'रचाव' को समझ सकते हैं। [ले०]

३६-३७. सूत-मींड—एक स्वर और दूसरे स्वर के बीच में दो या अधिक स्वरों की 'छूट' होने पर भी दोनों छोरों के बीच स्वर को तोड़े बिना सातत्य बनाये रखते हुए प्रयोग को सूत और मींड कहा जाता है। आरोह में इस क्रिया की संज्ञा सूत और अवरोह में मींड है। [सु०] सूत संज्ञा का प्रयोग आमतौर पर सरोद जैसे वाद्यों के प्रसङ्ग में होता है। [ले०]

३८. उचक-समेट—ये दोनों सामान्य भाषा के शब्द हैं। उचकना यानी ऊपर को उठना, जैसे कन्धे उचकाना यानी कन्धे ऊपर को उठाना और समेटना तो किसी भी बिखरी हुई वस्तु के खण्डों को एकत्र करने का नाम है। बात को भी समेट कर कहा जाता है। समेटने का उल्टा है फैलाना। स्वर-प्रयोग में भी फैलाना और समेटना हुआ ही करता है। उचकने को स्वरों की ऊपर की ओर गति, शायद कुछ झटके के साथ, के रूप में समझा जा सकता है। उचककर फिर समेटना, ऐसा अर्थ समझा जा सकता है। [ले०]

३९. बल—इस शब्द के दो अर्थ हैं—एक तो जोर यानी आघात [सु०] और दूसरा घुमाव [ले०], जैसे रस्सी का बल। तान में **संनिधप, धपमगरिस,** खमाज की इस तान में जहाँ ध प को दुहराया गया है वहाँ कुछ आघात भी है और घुमाव भी। इस शब्द का तानों के प्रसङ्ग में ही प्राय: प्रयोग होता है। [ले०]

४०. पेंच—इस शब्द में जटिलता का भाव है। कुश्ती में भी दाँव-पेंच शब्द परिचित हैं। संगीत में जटिल-फिरत को पेंच कहते हैं, जैसे पूरिया को तान का यह टुकड़ा **नि़ रि़ ग म, नि़ म म ग रि़ स**। [सु०]

४१. गद्दा—यह कुश्ती का शब्द है जिसका अर्थ है गर्दन पकड़ना [सु०]। स्पष्ट है कि इस शब्द का लाक्षणिक अर्थ ही यहाँ अभिप्रेत होगा। स्वरों को गर्दन से दबोचने जैसे झटके वाली क्रिया जैसा कुछ समझा जा सकता है। [ले०]

४२. धमाका—अचानक जोर का शब्द धमाका कहलाता है, जैसे पटाखा या बम फूटने का शब्द। अचानक ज़ोर की आवाज़ लगाने के लिये शायद इस शब्द का प्रयोग होता हो। [ले०]

४३-४४. धुरन-मुरन—धुरन को दुरन भी कहते हैं। धनाश्री का प्रसिद्ध ध्रुपद 'धुरन-मुरन तान-ताल के प्रमाण, युक्ता-युक्त के विधान साध गाय' (स्थायी) धुरन-मुरन से ही शुरू होता है।

इस शब्द-जोड़ी को ध्रुपद की परम्परा में ही विशेष स्थान मिला है। ढुरना यानी ढुलकना और मुरना यानी लौटना। इसलिए ढुरन को आरोह गति और मुरन को अवरोह गति के रूप में समझा जा सकता है। (देखें ध्रुपद वार्षिकी सं० १, १९८६, पृ० ४९)। [ले०]

४५. गमक—श्वास के बलपूर्व प्रयोग के साथ स्वरों को लेना आजकल गमक का अर्थ समझा जाता है। ग्रन्थों की परम्परा में गमक सामान्य शब्द है, जिसमें स्वर के कम्प के प्रकार, आघात, ऊर्ध्वगति, अधोगति आदि सभी शामिल किये गये हैं। आज मौखिक परम्परा में इस शब्द का अर्थ बहुत सीमित हो गया है। [ले०]

४६. तान—यह शब्द बहुत प्राचीन है। नाट्यशास्त्र में मूर्च्छना-तान संज्ञा सात स्वरों वाली मूर्च्छनाओं में से एक या दो स्वर वर्जित करके बने हुये षाडव-औडव रूपों के लिये है। स्वरों के वर्जन से भी एक प्रकार का विस्तार होता है, इसलिए विस्तार के अर्थ वाली 'तनु' धातु से बना तान शब्द यहाँ सार्थक है। स्वरों के क्रम को तोड़ते या बदलते हुए जो विस्तार होता है, उसे कूटतान नाम दिया गया है, जो कि वृहद्देशी में सबसे पहले मिलता है। आज इस शब्द का अर्थ किसी भी राग में प्रयुक्त लयबद्ध स्वरयोजना हो गया है। यह प्रयोग प्राय: मध्य द्रुत लय में ही होता है। इसमें राग के नियमों का पालन आलाप की अपेक्षा शिथिल रहता है। कर्णाटक सङ्गीत में तानम् शब्द ध्रुपद के जोड़ के समतुल्य काम के लिये प्रयुक्त होता है। [ले०]

४७. बन्धान—यह शब्द किसी भी प्रसङ्ग में आधारभूमि तैयार करने के लिये या ईंटों की चिनाई की भाँति किसी भी प्रक्रिया के लिये समझा जा सकता है। स्वर-प्रयोग में इसका लाक्षणिक अर्थ ही लेना होगा। मौखिक परम्परा में जिसे 'बैठक बनाना' कहते हैं, उसी के जैसी कुछ बात इस शब्द से अभिप्रेत होगी, ऐसा लगता है। [ले०]

४८. सीधी तान—सीधी गति को शास्त्रों में सरलगति कहा गया है और यह वक्र गति के विपरीत है। [ले०]

४९. उल्टी तान—इसमें स्वरों की वक्र-गति अभिप्रेत है। [ले०]

५०. सीधी-उल्टी तान—सरल और वक्र गति का मिश्रण यहाँ समझा जा सकता है। [ले०] ठोके पर तान पूरी हो तो सीधी और ठोके पर पूरी न हो तो उल्टी कहते हैं। यही बात तान की शुरुआत को भी लागू होती है। [नि०]

५१-५२. खुली तान, बन्दतान—बहुत सम्भव है कि खुली आवाज़ और बन्द आवाज़ से गाई हुई तान के लिये ये विशेषण प्रयुक्त होते हो, ऐसा लगता है। स्थायों में 'वहनी' के अन्तर्गत उत्फुल्ला और खुत्ता का इस प्रसङ्ग में स्मरण होता है। हो सकता है कि खुली तान को उत्फुल्ला और बन्द तान को खुत्ता के रूप में समझा जा सके। (देखे इसी अङ्क में स्थाय पर लेख)। [ले०]

५३. खुली-बन्द तान—यहाँ खुली और बन्द का मिश्रण है। [ले०]

५४. सपाट तान—राग के सीधे आरोह-अवरोह को लेकर की गई तान को सपाट तान कहते हैं। वक्ररागों में सपाट तान नहीं की जाती क्योंकि इसमें सरल गति अनिवार्य है। [ले०]

५५. मट्ठी तान—गमक के साथ हुँकार लेते हुये ली हुई तान की यह संज्ञा हे। इसमें द्रुत गति सम्भव नहीं होगी। [नि०]

५६. मट्ठा अङ्ग—शायद मट्ठी-तान के ढङ्ग से ही अभिप्राय होगा।

५७-६०. एकहरी-दोहरी-तिहरी-चौहरी तान—इन शब्दों को स्वरों की आवृत्ति और लयभेद इन दो अर्थों में समझा जा सकता है। प्रत्येक स्वर को केवल एक बार लेना या, दो, तीन, चार बार लेना, स रि ग; सस रिरि गग; ससस रिरिरि गगग; ससससस रिरिरिरि गगगग। लयभेद में एक मात्रा में एक, दो, तीन या चार स्वर लेना समझा जा सकता है, लेकिन उसके लिये आमतौर से बराबर दुगुन-तिगुन और चौगुन की तान कहना अधिक प्रचलित है। इसलिए पहला अर्थ ही अधिक तर्कसङ्गत लगता है। [ले०]

६१. सीधा बल—अर्थ अस्पष्ट है।

६२. तुलन (व) बल—अर्थ अस्पष्ट है।

६३. सीधा-उल्टा बल—अर्थ अस्पष्ट है।

६४-६६. सीधा पेंच, उल्टा पेंच, सीधा-उल्टा पेंच—पेंच का अर्थ हम संख्या चालीस में दे चुके हैं। सीधा पेंच से शायद यह तात्पर्य होगा कि जिस दिशा में कोई स्वर-योजना शुरू हुई हो उसी में जटिल रचना की जाये नि़ रि ग म नि़ म म ग रि स यह शायद सीधा पेंच हो और नि़ रि ग, म, म नि़ म ग, म ग रि स यह शायद उल्टा पेंच हो और दोनों का मिश्रण तो हो ही सकता है। [ले०]

६७. खुला बल—अर्थ अस्पष्ट है।

६८. हउद बल—अर्थ अस्पष्ट है।

६९. खुला पेंच—अर्थ अस्पष्ट है।

७०. बन्द पेंच—अर्थ अस्पष्ट है।

ऊपर के दोनों शब्द तबले के बोलों में तो परिचित हैं किन्तु गायकी में नहीं।

७१-७२. जुरत-फुरत—डागर-परम्परा में 'झुरत-पुरत' यह शब्द जोड़ी रुद्र वीणा के प्रसङ्ग में आती है। झुरत का अर्थ है दायें और बायें हाथ का उचित प्रयोग। इसकी समाप्ति को ही पुरत कहते हैं। (द्रष्टव्य-ध्रुपद वार्षिकी, संख्या-१, १९८६, पृ० ५०) [ले०]

७३. लोंच—शायद लोच से तात्पर्य हो। गले में लोच होना परिचित भाषा है। लोच का अर्थ आवाज़ का लचीलापन समझा जाता है। [ले०]

७४. झोंक—शायद स्वर-योजना में छन्दोगत आघात (Metrical accentuations) से तात्पर्य हो। एक ही स्वर योजना में आघात भेद से भिन्नता आ सकती है जैसे—नि़ रि ग म ग, रि ग रि; नि़ रि ग म, गरि, गरि; नि़ रि ग, म ग रि, ग रि इत्यादि। प्रथम में ५ + ३, द्वितीय में ४+२+२ एवं तृतीय में ३+३+२ का छन्द है। [ले०]

७५. अङ्ग—राग का अङ्ग सुपरिचित है। संस्कृत में अङ्ग शब्द के दो अर्थ है, एक तो कोई भी समूचा शरीर और दूसरे उसका अवयव। जैसे मनुष्य का शरीर भी अङ्ग है और उसके हाथ-पाँव भी अङ्ग हैं। राग के अवयव के रूप में 'अङ्ग' का प्रयोग होता है। यहाँ गायकी के अवयव से भी तात्पर्य हो सकता है। ठुमरी के लिये पूरब अङ्ग, पंजाब अङ्ग या पटियाला अङ्ग, ऐसे प्रयोग भी प्रचलित हैं। [ले०]

७६. मिज़ाज—इसके समकक्ष 'तबियत' भी प्रचलित है। इसका अर्थ मनोयोग तो है ही, साथ ही चित्त की प्रसन्न भी समझी जा सकती है। दूसरे शब्दों में 'भरे मन से गाना' के विपरीत इसे समझा जा सकता है। [ले०]

७७. कन (कण)—किसी स्वर पर किसी अन्य स्वर का ईषत् स्पर्श कण कहलाता है। इसे स्वर के ऊपर बायीं ओर दिखाया जाता है। जैसे पञ्चम पर धैवत के कण को इस प्रकार दिखायेंगे धप। [ले०]

७८. मुर्की—हल्के गले से ली गई छोटी-छोटी तानों को मुर्की कहते हैं। पंजाबी और पहाड़ी लोक-सङ्गीत में इसका प्रयोग सहज ही दीख पड़ता है।

७९. फन्दा—रस्सी, धागे या तार में गाँठ लगाकर बनाया हुआ घेरा, जिसका प्रयोजन किसी जीव या वस्तु को फँसाना हो, फंदा कहलाता है। संस्कृत में इसे पाश कहते हैं और अंग्रेज़ी में Snare। स्वरों के प्रसङ्ग में इसका लाक्षणिक अर्थ ही समझा जा सकता है। कुछ देर तक एक ही स्वर से तान के टुकड़ों को शुरू करना या अन्त करना शायद फन्दा बनाने की क्रिया कहला सके। [ले०]

८०. गिटकरी—यह तान के 'दाने' का नाम है। [सु०]

८१. खटका—इसके दो प्रकार होते हैं। एक में पहले स्वर से उठकर आगे जाकर पुनः उस मूल स्वर की पुनरावृत्ति करते हैं यथा पध पप। दूसरे प्रकार में मूल स्वर से एक स्वर आगे तथा एक स्वर पीछे जाकर पुनः मूल स्वर पर आते हैं यथा पध मप परन्तु भातखण्डेस्वरलिपि में दोनों ही प्रकारों को एक ही ढङ्ग से लिख दिया जाता है, यथा (प)। [ले०]

८२. जमजमा—इस शब्द का प्रयोग प्रायः तन्त्री वाद्यों के प्रसङ्ग में ही होता है और इसका तात्पर्य कम्प-विशेष समझा जाता है। [ले०]

८३. गाँस—सामान्य भाषा में इसके कई अर्थ हैं, जैसे बन्धन, बैर, द्वेष, ईर्ष्या, हृदय की गुप्त बात, भेद की बात, रहस्य, गाँठ, फन्दा, तीर या बर्छी का फल इत्यादि। इसलिये या तो इसे 'फन्दे' के समकक्ष समझ सकते हैं या नुकीले फलक से बीधने की क्रिया का लाक्षणिक अर्थ ले सकते हैं। [ले०]

८४. कलास—यह शब्द नृत्य के प्रसङ्ग में शास्त्र-ग्रन्थों में मिलता है। कम से कम तीन ग्रन्थों में इसका उल्लेख मिलता है। एक तो सङ्गीत-रत्नाकर दूसरे जाय सेनापति की नृत्तरत्नावली और तीसरे राणा कुम्भा का सङ्गीतराज। इनमें से कलास का विस्तृत वर्णन सङ्गीतराज में ही मिलता है। विशेष विवरण के लिये द्रष्टव्य सङ्गीतराज, नृत्यरत्नकोष, ४.१.३७-८५। नृत्य के करणों के देशी प्रकारों को कलास कहा गया है और उसके २२ भेद कहे गये हैं। जैसे कि विद्युत्कलास, खड्गकलास, मृगकलास इत्यादि। यह शब्द हमारी प्रस्तुत शब्दावली में कैसे आ गया, कहना कठिन है। [ले०]

८५. वग (नग ?)—अस्पष्ट।

८६. छव—संस्कृत का छबि शब्द कान्ति का वाचक है। चमकदार कण्ठ को छविमान कहा गया है। आज की मौखिक परम्परा में इस शब्द का क्या अर्थ लिया जाता है, यह अज्ञात है। राग के रूप को तस्वीर कहने का तो रिवाज है, किन्तु 'छबि' का प्रयोग इस प्रसङ्ग में सुना नहीं गया है।

८७. लछन—यह 'लक्षण' का अपभ्रंश है और इस रूप में यह शब्द सामान्य रूप में राग के लक्षण के लिये प्रयुक्त हो सकता है, किन्तु गायकी के प्रसङ्ग में इसका कोई विशेष अर्थ है या नहीं यह कहना कठिन है। [ले०]

८८. मिसल—'मिसिल' या 'मिस्ल' उर्दू में 'फाइल' के लिये प्रयुक्त होता है। यहाँ तो इसका लाक्षणिक अर्थ ही हो सकता है। और वह भी अस्पष्ट है। [ले०]

८९. बहु—रागों में स्वरों का अल्पत्त्व-बहुत्त्व सुपरिचित है। जिस स्वर का बहुत्त्व हो वह बहु कहलायेगा। [ले०]

९०. **मुखविलास**—गाते समय मुख पर आने वाले 'हाव-भाव' को यह संज्ञा दी जाती है। [ले०]

९१. **खानेपूरी**—इसे 'स्थायी भरना' भी कहते हैं। रिक्त स्थान (gaps) भरने का यह नाम है। [सु०]

९२. **गिरफ़्त**—सामान्य भाषा से इसे पकड़ या अधिकार या कब्जा कहते हैं, इसका फारसी रूप 'गिरिफ्त' है। [ले०]

९३. **जोग**—यह 'योग' का अप्रभंश हो सकता है, जिसका अर्थ है—जोड़ना। जोड़ने की क्रिया आलाप या तान के टुकड़ों को जोड़ने के प्रसङ्ग में समझी जा सकती है। [ले०]

९४-९५. **जुमला, फ़िकरा**—यह दोनों शब्द उर्दू में 'वाक्य' के लिये आते हैं। सूक्ष्म अन्तर इतना ही है कि 'जुमला' में एक पूर्णता का भाव समझा जा सकता है और आमतौर से किसी चुटीली उक्ति के लिये इसका प्रयोग होता है। फ़िकरा सामान्य वाक्य को कहते हैं। सङ्गीत में स्वर-योजना के विभिन्न चरणों को बताने के लिये भाषागत शब्दों का सहारा प्रायः लिया जाता है। अंग्रेजी में phrase शब्द का प्रयोग स्वर-योजना के टुकड़े के लिये कहा ही जाता है। संस्कृत में वर्ण, पद, वाक्य, महावाक्य इन शब्दों का प्रयोग सङ्गीत-शास्त्र में हुआ है, ये सब शब्द भाषागत ही हैं। (द्रष्टव्य-बृहद्देशी १.) [ले०]

९६. **फ़िकर**—इसका अर्थ है चिन्ता। गाने में चिन्ता का क्या स्थान हो सकता है, यह कहना कठिन है। हाँ, चिन्तन अवश्य हो सकता है। [ले०]

९७. **सट्टा**—आरोहावरोह मिलाकर सपाट तान को सट्टा कहते हैं। [सु०] ऊपर से नीचे आने वाली सपाट तान को सट्टा कहते हैं। गंरिं गं रिं सं नि ध प म ग रि स।

९८. **दुक्का**—दो की संख्या से इसका सम्बन्ध है। तान या और कोई काम दो बार करना शायद इसका तात्पर्य हो। [ले०]

९९. **आलाप**—यह सर्वपरिचित शब्द है, इतना भी कहना आवश्यक है कि ग्रन्थों में आलाप शब्द का प्रयोग पूरे अनिबद्ध-गान के लिये हुआ है, जिसमें आज के आलाप, तान, बोलतान, बोलबाँट आदि सबका समावेश हो जाता है। किन्तु आलाप शब्द अनिबद्ध के केवल एक प्रकार के अर्थ तक आज सीमित हो गया है। [ले०]

१००. **सरगम (विलम्बित)**—स्पष्ट है। [ले०]

१०१. **सरगम जोड़ बाँट**—जोड़ या बोलबाँट के ढङ्ग से सरगम करना अभिप्रेत होगा। [ले०]

१०२. **सरगम कर्णाटक**—कर्णाटक पद्धति से सरगम का काम अभिप्रेत होगा। [ले०]

१०३. **पल्टा**—स्वरों के उलट फेर से बने 'प्रतिमान' (pattern) का आरोहवरोह में निर्वाह करने से पल्टा बनता है। पल्टे का अभ्यास में विशेष उपयोग है। किसी भी स्वरावलि को लेकर राग से स्वतंत्र अभ्यास में इनका विशेष स्थान है। किसी भी पल्टे को राग में ढाल देने से उसे आलङ्कारिक तान कहा जाता है। [ले०]

१०४. **हरकत**—छोटे-छोटे काम की यह संज्ञा है। [सु०, वै०] 'इसके गले में हरकत है' ऐसा प्रायः कहा जाता है। जिस गले में लोच हो उसे हरकत वाला गला कहने का रिवाज़ है।

TECHNICAL TERMS OBTAINED FROM LATE AMAN ALI KHAN

Source : T.D. Janorikar

Prem Lata Sharma

(च) (Editor's Summary)

T.D. Janorikar had said in the seminar organised by S.R.A. in March '90 on "Problems and Methodology of Collecting Data from Musicians" that he had a set of 104 technical terms. In August '90, the author asked Janorikar about this set of terms and he told her that his Ustad, Aman Ali Khan, had dictated this list of terms to him in 1952 and that he had promised to give the definitions and illustrations of these terms after returning from Delhi. His stay in Delhi was prolonged and unfortunately he passed away there in 1953. Thus, only the list of terms remained with Janorikar. He was generous enough to hand it over to the author. He said that his Ustad used to say that all the potentials of the human voice were covered by this set of terms. The Ustad must have supplemented the list handed down by his tradition with his own thinking. The author has explained these terms on the basis of her own understanding and has tried to connect them with the written tradition (specially *Saṅgīta Ratnākara*) with a historical perspective wherever possible. Comments from readers are invited for furthering the study of this aspect of oral tradition.

The author held discussions with Sunil Bose and Nivritti Bua Sarnaik. A. Vaidyanathan joined these discussions and offered his own comments at some points. The explanations offered by these three persons have been incorporated with an indication of respective names.

The list includes some very well-known terms like *ālāp, tān,* some obscure terms like *ucak-sameṭ,* some terms from the *dhrupad* and *bīn* tradition like *dhuran-muran* and *jhurat-purat* respectively. Most of the terms embody a figurative description of the nuances of melodic rendering. An attempt has been made to sensitize the reader to this figurative usage.



·२१·

'जपसूत्रम्'-निवेदन*

१. निपातनिका

'जपसूत्रम्' के हिन्दी अनुवाद का प्रथम खण्ड हिन्दी जगत् को अर्पित करते हुए मुझे तुलसीदास की निम्न पंक्तियों का बार-बार स्मरण हो रहा है।

तुलसी जस भवितव्यता, तैसी मिलइ सहाइ।
आपुन आवै ताहि पै, कै ताहि तहां लै जाइ॥

इस अभिनव और विलक्षण ग्रन्थ-राज का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत करने का माध्यम बनने की कल्पना कभी स्वप्न में भी नहीं हुई थी। सन् १९६५ के आरम्भ में काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय से परमधामगत जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामी भारतीकृष्ण तीर्थ महाराज (गोवर्धन पीठ) के वैदिक गणित-सम्बन्धी ग्रन्थ का प्रकाशन होने वाला था। घटना-क्रम से उसका मुद्रण-सम्बन्धी सब कार्य मान्यवर स्वर्गीय डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुरोध से मुझे करना पड़ा था। श्री शङ्कराचार्यजी की प्रिय शिष्या श्रीमती मञ्जुला त्रिवेदी ने, जिनके माध्यम से उक्त ग्रन्थ हमारे विश्वविद्यालय को प्रकाशनार्थ मिला था, ऐसी इच्छा प्रकट की थी कि भूमिका लिखने का अनुरोध श्रद्धेय म० म० श्री गोपीनाथ कविराज से किया जाय। तदनुसार मैंने उनसे प्रार्थना की और उन्होंने ही इस प्रसंग में मुझे पूज्यपाद स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती (पूर्वाश्रम के प्रोफ़ेसर प्रमथनाथ मुखोपाध्याय) के नाम और संक्षिप्त परिचय से अवगत कराया और यह कहा कि उक्त ग्रन्थ की भूमिका लिखने के उपयुक्त अधिकारी स्वामीजी ही हैं। अतएव ऐसा विचार किया गया कि श्रीमती मञ्जुलाजी और मैं पुस्तक के मुद्रित फ़र्मे लेकर पूज्यपाद स्वामीजी के पास कलकत्ता जाएँ और उनसे भूमिका लिखने का अनुरोध करें। डॉ० श्रीगोविन्द गोपाल मुखोपाध्याय (अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, वर्धमान विश्वविद्यालय) से पूज्य स्वामीजी का पता मँगा कर मैंने इस सम्बन्ध में उन्हें एक पत्र लिखा। उत्तर मिला कि स्वामीजी शीघ्र ही स्वयं काशी पधारने वाले हैं। दैवयोग से कलकत्ता का चक्कर बच जाने का बड़ा हर्ष हुआ। श्रीमती मञ्जुलाजी नागपुर से काशी आईं और हम दोनों फरवरी १९६५ के अन्तिम सप्ताह में (सम्भवतः २३ फरवरी को) पूज्यपाद स्वामीजी के दर्शनार्थ उनके काशी के निवासस्थान 'मधुवन' (महमूरगंज) में उपस्थित हुईं। यह प्रथम दर्शन बड़े विनोद के वातावरण में हुआ। पूज्य स्वामीजी मेरे पत्र से मेरा नाम 'प्रेमनाथ' समझे थे और इसी नाम से उन्होंने पत्रोत्तर भी भेजा था। उनके सम्मुख उपस्थित होकर जब मैंने श्रीमती मञ्जुलाजी का परिचय दिया और ग्रन्थ के फ़र्मे दिखाकर भूमिका के लिए पुनः प्रार्थना की तो वे बोले कि उनके यजमान श्री कन्हैयालाल जी से उन्हें पता चला था कि डॉ० प्रेमनाथ भी उनसे मिलने आने वाले थे। जब श्रीमती मञ्जुलाजी ने मेरा पूरा परिचय दिया तब उनका रसिक रूप उन्मुक्त भाव से अभिव्यक्त हो उठा। हास के प्रथम उद्रेक के बाद उनके मुखमण्डल पर कुछ-कुछ क्षणों में पुनः-पुनः मधुर हास की रेखाएँ उभर आती थीं। इस सहज विनोद से प्रथम मिलन की वह घटना मेरे लिए

* १९६६ में प्रकाशित ''जपसूत्रम्'' प्रथम (भूमिकात्मक) खण्ड से उद्धृत। श्र बिहन जी द्वारा किये गये अध्यात्मक्षेत्रीय कार्यों में 'जपसूत्रम्' का अनुवाद विशिष्ट-महत्त्वपूर्ण रहा जो नादयोग से भी सम्बद्ध है। इसी हेतु से यह भूमिकात्मक लेख यहाँ संगृहीत किया गया है। इस प्रथम खण्ड का द्वितीय संस्करण विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी से २००१ में प्रकाशित हुआ है।

चिरस्मरणीय बन गई। इस प्रथम दर्शन में ही उन्होंने 'कुरुष्व मदर्पणम्' (Unto Me Dedicate) नामक अपना एक लघु काव्य-संग्रह और 'The Metaphysics of Physics' नामक एक लघु अंग्रेज़ी ग्रन्थ आशीर्वाद-स्वरूप दिए थे।

उक्त भूमिका के प्रसंग में चार-पाँच बार पूज्य स्वामीजी के पास जाने का सौभाग्य हुआ। बीच में, ८ मार्च को वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय में तन्त्र सम्मेलन के उद्‌घाटन के अवसर पर अध्यक्ष के रूप में भी उनका दर्शन मिला। कुछ दिन में (२२ मार्च को) उन्होंने भूमिका लिखकर मेरे पास कृपा-पूर्वक भेज दी। उसी शाम को मैंने उसे डॉ० अग्रवाल को पढ़कर सुनाया। सुनकर वे इतने प्रभावित और प्रसन्न हुए कि उन्होंने पूज्य स्वामीजी के दर्शनार्थ जाने की इच्छा व्यक्त की। तदनुसार, २४ मार्च को अपराह्ण बेला में हम लोग 'मधुवन' में उपस्थित हुए। उस दिन स्वामीजी रक्तचाप के बढ़ जाने से कुछ अस्वस्थ थे और अधिक वार्तालाप करने में असमर्थ-से थे। इसलिए अपने संन्यासी परिचायक से उन्होंने 'जप-सूत्रम्' के दो खण्ड मँगा कर डॉ० अग्रवाल जी के हाथ में अवलोकनार्थ दिए। डॉ० साहब ने एक खण्ड मेरे हाथ में देकर कुछ पढ़कर सुनाने को कहा। यह पञ्चम खण्ड था और पुस्तक खोलते ही 'कूर्म' और 'मीन' की व्याख्या निकली, जिसमें से प्रायः दो पृष्ठ मैंने पढ़कर सुनाए। सुनकर डॉ० अग्रवाल मुग्ध हो गए। उनके प्रशंसात्मक उद्‌गार सुनकर स्वामीजी सहज भाव से बोले कि कविराजजी की बड़ी इच्छा थी कि इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद हो जाता। उनका यह वाक्य सुनते ही डॉ० अग्रवाल बोल उठे—'इसमें कौन-सी कठिन बात है, प्रेमलताजी तो अच्छी बंगला जानती हैं। ये अनुवाद कर सकेंगी'। मैं इस प्रस्ताव को सुनकर स्तब्ध रह गई। ग्रन्थ के गौरव से यद्यपि पूर्ण परिचय नहीं था, किन्तु उसके आकार की कल्पना ही अनुवाद-कार्य को असाध्य मान लेने के लिए काफी थी। मेरे स्तब्धता-जनित मौन के कारण बात वहीं समाप्त हो गई। प्रथम दर्शन में जो दो पुस्तकें पूज्य स्वामीजी ने दी थीं उनमें 'जपसूत्रम्' का नामोल्लेख पढ़कर इस ग्रन्थ-राज के दर्शन के लिए मन में कौतूहल अवश्य जागा था, अतः मैंने स्वामीजी से ग्रन्थ के छहों खण्डों का प्राप्ति-स्थान पूछा। उन्होंने 'गरिया' (२४ परगना) स्थित अपने आश्रम का ही पता बताया और कुछ देर बाद हम लोग वहाँ से लौट आए। उसी रात को मैं अस्वस्थ हो गई और पुनः स्वामीजी के दर्शनार्थ नहीं जा सकी।

पता नहीं किस प्रेरणा से, पाँच दिन बाद २९ मार्च को स्वामीजी ने मेरे पास 'जपसूत्रम्' के चार खण्ड अपने आदमी द्वारा भिजवाए और शेष दो खण्ड कलकत्ता से भिजवा देने की बात लिखी। पत्र में उन्होंने ऐसी इच्छा भी व्यक्त की कि मैं इस ग्रन्थ का अध्ययन और सम्भव हो तो हिन्दी अनुवाद करूँ। अनुवाद के गुरुतम कार्य-भार को ग्रहण करने की तब भी मेरी कोई प्रवृत्ति नहीं हुई। पूर्व-गृहीत कार्यों का बाहुल्य ही इसका कारण था। ३० मार्च को स्वामीजी काशी से कलकत्ता के लिए प्रस्थान कर गए और उसके प्रायः १० दिन बाद ही उन्होंने डाक द्वारा 'जपसूत्रम्' के शेष दो खण्ड मेरे लिए और छहों खण्डों का एक पूरा सेट डॉ० अग्रवाल के लिए मेरे पास भिजवा दिया। अनुवाद की बात उन्होंने पुनः पत्र में लिखी। डॉ० अग्रवाल के पास उनका सेट पहुँचाकर मैंने उनसे स्वामीजी को अनुवाद-सम्बन्धी इच्छा की बात जब कही तो उन्होंने इस कार्य के लिए मुझे अदम्य उत्साह से प्रेरित किया। अन्यान्य कार्यों की बात कहकर जब मैंने असमर्थता प्रकट की तब उन्होंने यही कहा कि कार्य आरम्भ कर देना चाहिए, कभी न कभी पूरा हो ही जायगा। उनकी इस प्रबल प्रेरणा से मेरा जाड्य कुछ कम हुआ, किन्तु कार्य तत्काल आरम्भ नहीं हो सका।

उन्हीं दिनों एक बार परम श्रद्धेय आचार्यचरण श्रीगोपीनाथ कविराज महोदय से भी स्वामीजी की इस इच्छा के सम्बन्ध में चर्चा करने का अवसर मिला। मुझे स्मरण है कि उस दिन वे तीव्र ज्वर के कारण शय्यागत थे। 'जपसूत्रम्' के अनुवाद का प्रस्ताव सुनते ही उत्साह से तत्क्षण उठ बैठे और बोले—"यदि तुम यह कार्य कर सको तो मेरे जीवन का एक बड़ा भार उतर जायगा। मैंने स्वामीजी को वचन दिया था कि हिन्दी अनुवाद की व्यवस्था करा दूँगा। श्रीहनुमान् प्रसाद पोद्दार (गीता प्रेस वाले) से इस कार्य की चर्चा हुई थी और उन्होंने अपनी सहमति भी प्रकट की थी। किन्तु उन्हें समय नहीं मिल पाया। तुम यदि इस कार्य को करोगी तो आज तक जो कुछ तुमने किया है, उससे किसी प्रकार भी यह कम महत्त्वपूर्ण न होगा, अधिक ही होगा।" एप्रिल ६५ में रामनवमी का वह दिन था। उनकी प्रेरणा का यह अप्रत्याशित बल पाकर धन्यता का अनुभव किया, किन्तु फिर भी कार्य प्रारम्भ करने का योग तत्काल नहीं आया। मई ६५ के आरम्भ में एक सप्ताह के लिए परम आत्मीया सुश्री विमला बहन ठकार के पास माउण्ट आबू जाना हुआ। वहाँ 'जपसूत्रम्' के कुछ अंश (विशेषतः पञ्चम खण्ड में से) उन्हें पढ़कर सुनाये। अनुवाद-सम्बन्धी स्वामीजी की इच्छा की बात भी उनसे हुई। कार्य के विस्तार और गाम्भीर्य के प्रति अपने भय और आशङ्का

की भी मैंने उनसे चर्चा की। वे बहुत अल्प अंश सुनकर ही इतनी प्रभावित हुई थीं कि ग्रन्थ को किसी भी प्रकार हिन्दी जगत् के समक्ष प्रस्तुत होते देखने के लिए बहुत ही उत्सुक बन गई थीं। उन्होंने यह सुझाव दिया कि हिन्दी अनुवाद तो बहुत अधिक परिश्रम और समय की अपेक्षा रखता है, किन्तु यदि संस्कृत मूल मात्र को देवनागरी अक्षरों में एक जिल्द में प्रकाशित कर दिया जाय तो कम से कम मूल तो सुलभ हो जायगा।

आबू से पूर्वापेक्षा कुछ भिन्न भाव से अनुप्राणित होकर लौटी। लौटते ही पूज्य स्वामीजी का पत्र मिला, जिसमें बड़े आश्चर्य-जनक रूप से सुश्री विमलताई के सुझाव का प्रतिघोष था। उन्होंने लिखा था कि यदि मूल-मात्र देवनागरी अक्षरों में संस्कृत टिप्पणी-सहित पहले प्रकाशित कर दिया जाय तो अच्छा रहेगा। उनके पत्र के अनुसार उसी ग्रीष्मावकाश में मैंने अपनी अनुजा कुमारी ऊर्मिला शर्मा के सहयोग से पूरे मूल (५२२ सूत्र और २०५९ कारिका या श्लोक) की देवनागरी में प्रतिलिपि कर ली, किन्तु संस्कृत टिप्पणियाँ लिखने के लिए विस्तृत बंगला भाष्य का गहन अध्ययन आवश्यक प्रतीत हुआ जो कि अक्लान्त श्रम और विपुल समय से ही साध्य था। इसलिए ऐसी प्रतीति हुई कि हिन्दी अनुवाद का कार्य कुछ अग्रसर हो जाने पर ही संस्कृत टिप्पणियाँ लिखना सम्भव और वाञ्छनीय होगा। इसी प्रतीति ने हिन्दी अनुवाद की ओर तत्काल प्रेरित किया और संस्कृत टिप्पणियों का कार्य भविष्य पर छोड़ देना पड़ा। इस प्रकार प्रथम प्रस्ताव के प्रायः चार मास बाद जुलाई, ६५ में अनुवाद-कार्य आरम्भ हुआ। उसी ग्रीष्मावकाश में मान्यवर आचार्य श्रीहजारी प्रसाद द्विवेदी से भी काशी में ही 'जपसूत्रम्' की चर्चा करने का अवसर मिला। यह जानकर आश्चर्यमय हर्ष हुआ कि श्रीद्विवेदीजी पूरे ग्रन्थ को पढ़ चुके थे और इतने प्रभावित हुए थे कि अपना परिचय दिए बिना अलक्ष्यभाव से स्वामीजी के दर्शन भी कर आए थे। उनसे भी अनुवाद-कार्य की प्रेरणा को बल मिला।

इस प्रथम खण्ड का प्रकाशन प्रायः तीन मास पूर्व ही हो सकता था, किन्तु प्रेस अन्यान्य अनिवार्य कार्यों में व्यस्त था; इसलिए निर्धारित समय की अपेक्षा कुछ विलम्ब से यह प्रकाशन हो रहा है।

२. ग्रन्थ का बहिरङ्ग परिचय

इस अपूर्व ग्रन्थ का परिचय देना मेरे लिए बड़ा कठिन होता, किन्तु उसके लिए स्वयं पूज्यपाद स्वामीजी, म० म० श्रीगोपीनाथ कविराज महोदय एवं डॉ० श्री गोविन्दगोपाल मुखोपाध्याय की भूमिकाएँ सुलभ होने से मैं अपने आपको इस दुस्तर कार्य से मुक्त रख सकी हूँ। ग्रन्थ का अन्तरंग परिचय स्वयं ग्रंथकार से एवं प्रतिपाद्य विषय के मर्मज्ञ, भारतीय अध्यात्म-साधना की विभिन्न धाराओं के तत्त्वज्ञ, मनीषि-प्रवर श्रीकविराज महोदय की लेखनी से पाठकों को प्राप्त हो सकेगा। साथ ही, श्रीगोविन्द गोपालजी की भूमिकाएँ मूल ग्रन्थ की रचना और प्रकाशन के क्रम से एवं ग्रन्थ के वैशिष्ट्य से पाठकों का सुष्ठु परिचय कराएँगी। अतः केवल बहिरंग परिचय देने का कर्तव्य-निर्वाह करके क्षान्त हो जाना ही मैं उचित समझती हूँ।

प्रस्तुत प्रथम खण्ड वास्तव में भूमिका-खण्ड ही है। मूल ग्रन्थ के सूत्र और कारिका का इसमें समावेश नहीं है। 'पूर्वपीठिका' के अन्तर्गत ग्रन्थकार की दो संक्षिप्त भूमिकाएँ, म० म० श्रीकविराजजी की विस्तृत भूमिका, श्री कल्याणमल जी लोढ़ा (अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय) द्वारा लिखित स्वामीजी का परिचय और डॉ० श्रीगोविन्द गोपाल मुखोपाध्याय की मूल छहों खण्डों की प्रस्तावनाएँ हैं। श्रीगोविन्द गोपालजी का पूज्य स्वामीजी से सुदीर्घकाल-व्यापी प्रगाढ़ सम्बन्ध रहा है, मूलग्रन्थ के प्रणयन और प्रकाशन से भी उनका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है; अतः उनकी समर्थ लेखनी के प्रसाद से पाठकों को आप्यायित करने का लोभ संवरण नहीं कर सकी। ग्रन्थ की विषय-प्रतिपादन-शैली प्राचीन परम्परा से अविच्छिन्न होते हुए भी अभिनव है, इसलिए 'पूर्वपीठिका' के रूप में इस विपुल सामग्री का छहों खण्डों से संकलन करके इस प्रथम खण्ड में समावेश करना उचित प्रतीत हुआ है। इससे हिन्दी जगत् मूलग्रन्थ को ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत हो सकेगा, इस विश्वास से ही उक्त औचित्य-विचार को बल मिला है। समग्र ग्रन्थ की विषय-वस्तु का विहङ्गम-दर्शन भी इससे पाठकों को सुलभ होगा।

'पूर्वपीठिका' के बाद 'भूमिका' के रूप में ग्रन्थकार के छह लेख दिए गए हैं जो मूल के प्रथम खण्ड में भी उसी रूप में हैं।

उक्त 'भूमिका' के बाद मूलग्रन्थ के अन्तर्गत विषयावतरणिका के रूप में जो सामग्री है उसे रखा गया है। यह भी मूल के प्रथम खण्ड का अङ्ग है। मूल में उसके बाद प्रथम अध्याय के प्रथम पाद के १५ सूत्र कारिका-भाष्य सहित दिए गए हैं, किन्तु मूल ग्रन्थ के प्रथम अध्याय को एक साथ एक जिल्द में देने के विचार से इन सूत्रों को प्रस्तुत खण्ड में छोड़ दिया गया है। इसी प्रकार आगामी खण्डों में भी सामग्री के सन्निवेश में यत्किञ्चित् परिवर्तन करने की योजना है, जिसका पूरा निर्देश यथास्थान दिया जायगा। इस परिवर्तन के लिए पूज्य स्वामीजी का पूर्ण अनुमोदन प्राप्त हुआ है।

मूलग्रन्थ के श्लोकों का अन्वय अनुवादिका की ओर से जोड़ा गया है। यद्यपि यह अन्वय पूर्णरूप से भाष्य के आधार पर ही बनाया गया है, तथापि भ्रम-प्रमाद की सम्भावना नगण्य नहीं कही जा सकती। यदि कहीं मूल के तात्पर्य को अन्वय में प्रस्तुत करने में अशुद्धि हो गई हो तो सुज्ञ पाठकों से उसके लिए क्षमा चाहती हूँ। वैसे तो श्लोकों का तात्पर्य भाष्य में ग्रन्थकार ने स्पष्ट किया ही है, किंतु शब्दशः अर्थ समझने में अन्वय से सुविधा होगी ऐसा सुझाव कुछ मित्रों ने दिया था, और पूज्य स्वामीजी से उसका अनुमोदन मिलने पर इस कार्य में प्रवृत्त हुई हूँ। यदि कुछ पाठकों को अन्वय से लाभ हो सकेगा तो यह श्रम सफल होगा। मूल ग्रन्थ में 'उपोद्घात' और 'उपक्रमणी' के श्लोकों के प्रतिपाद्य विषय का निर्देश करते हुए अनुवादिका की ओर से [ ] कोष्ठक में शीर्षक दिए गए हैं।

ग्रन्थकार की अपनी भूमिका में एवं मूलग्रन्थ में उपनिषत्, पुराण आदि के वाक्य अथवा वाक्यांश यत्र-तत्र विपुल मात्रा में उद्धृत हुए हैं। पाद-टिप्पणियों में उनके मूल सन्दर्भ का निर्देश प्रायः सर्वत्र देने का यत्न किया गया है। टिप्पणियों का उत्तरदायित्व निर्दिष्ट करने के लिए 'अनुवादिका' का उल्लेख कर दिया गया है। कहीं-कहीं यह उल्लेख छूट भी गया है, किन्तु 'पूर्वपीठिका' के अन्तर्गत दो तीन स्थलों को छोड़कर (जहाँ मूल का स्पष्ट संकेत दे दिया गया है) सभी पाद-टिप्पणियाँ अनुवादिका की ओर से ही हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में जहाँ एक ओर परम्परागत वैदिक, पौराणिक, तान्त्रिक शब्दावली का विपुल प्रयोग है, वहाँ नवीन पारिभाषिक शब्द भी बहुत बड़ी संख्या में मिलते हैं। पूज्य स्वामीजी जैसे विलक्षण मनीषी को अपनी अभिनव-शैली के लिए नवीन पारिभाषिक शब्दों की आवश्यकता पड़ना स्वाभाविक ही था। यह शब्दावली 'स्वयम्भू' रूप से पूज्य स्वामीजी की वाणी में प्रकट होती चली गई है, ऐसा अनुभव पाठक को होता है। कहीं आयास या कष्ट-कल्पना का लेश भी दिखाई नहीं देता। प्राचीन और नवीन संज्ञाओं के इस सागर में यथेच्छ और यथाशक्ति अवगाहन करने में अनुवादिका द्वारा प्रस्तुत शब्दानुक्रमणी सहायक होगी ऐसी आशा है।

ग्रन्थकार की भूमिका में अनेक वैज्ञानिकों, साहित्यिकों, विचारकों आदि का उल्लेख हुआ है। इनका संक्षिप्त परिचय देने के लिए परिशिष्ट में टिप्पणियाँ दी गई हैं। कुछ साहित्यिक कृतियों के विशिष्ट स्थलों का उल्लेख यत्र-तत्र मिलता है। इन पर भी संक्षिप्त टिप्पणियाँ परिशिष्ट में दी गई हैं। विद्वानों के लिए ये सम्भवतः अनावश्यक होंगी, किन्तु सामान्य पाठकों के लिए उपयोगी होंगी ऐसी आशा है।

अनुवाद की भाषा के सम्बन्ध में दो शब्द। सर्वत्र मूल के पारिभाषिक शब्दों को यथावत् रखना पड़ा है, क्योंकि उनके पर्याय देना अनधिकार चेष्टा होती। वाक्य-विन्यास में भी हिन्दी की प्रकृति के अनुरूप न्यूनतम परिवर्तन किया गया है, सम्भव है इससे पाठकों को कहीं-कहीं कुछ अटपटापन लगे, किन्तु विषय के पारिभाषिक प्रतिपादन की सूक्ष्मता और ग्रन्थकार की समर्थ शैली की नवीनता की हानि न हो इस भावना से यह अनुवाद-सरणि अपनाई गई है। पूज्य स्वामीजी महान् दार्शनिक, भौतिक विज्ञान और अध्यात्म विज्ञान के अद्भुत समन्वय-कर्ता एवं विषय-प्रतिपादन की अनुच्छिष्ट शैली के धनी होने के साथ-साथ कवि भी हैं। उनकी वाणी में उनके कवि-हृदय का उन्मेष सर्वप्रथम पाठक को आकृष्ट करता है। मूल ग्रन्थ के काव्य-सौन्दर्य, वक्रोक्ति-चमत्कार को अक्षुण्ण रखने का यथासम्भव प्रयास किया गया है। इसीलिए कहीं-कहीं कुछ बंगला मुहावरों को प्रायः मूलरूप में ही हिन्दी में उतारने का यत्न करना पड़ा है। मुझे लगता है कि इससे हिन्दी की श्री-मर्यादा की कोई क्षति नहीं होगी, अपितु उसमें वृद्धि ही होगी। देश भर के लिए हिन्दी के सार्वभौम रूप को विकसित करने में प्रान्तीय भाषाओं से अलगाव तो नहीं ही रखा जा सकता और फिर बंगला का तो हिन्दी से चिर-साहचर्य रहा है। फिर भी यदि भाषा के सम्बन्ध में किन्हीं त्रुटियों का संकेत विद्वानों की ओर से मिलेगा तो आगामी खण्डों में उनका मार्जन करने का प्रयत्न किया जायगा। मूल में ग्रन्थकार ने जो

अंग्रेज़ी शब्द दिए हैं उनको यथावत् बनाए रखते हुए यथासम्भव उनके हिन्दी पर्याय भी दिए गए हैं। अपवाद-स्वरूप कुछ ठेठ वैज्ञानिक शब्दों के पर्याय देना सम्भव नहीं हुआ है।

प्रूफ़ संशोधन में पर्याप्त सावधान रहने पर भी मुद्रण की कुछ अशुद्धियाँ रह ही गई हैं। छपाई में मात्राएँ टूट जाने से जो अशुद्धियाँ आ गई हैं उनका संशोधन विज्ञान पाठकों पर छोड़कर अन्य अशुद्धियों को शुद्धिपत्र में दे दिया गया है। पाठकों से निवेदन है कि शुद्धिपत्र के अनुसार संशोधन करके ही पुस्तक का अध्ययन करें।

३. 'जपसूत्रम्' और भारतीय सङ्गीत-शास्त्र

'जपसूत्रम्' के अध्ययन के अधिकारी कौन होंगे इस सम्बन्ध में डॉ० श्री गोविन्द गोपाल मुखोपाध्याय की प्रस्तावनाओं में एकाधिक उल्लेख मिलेंगे। उनकी पुनरावृत्ति आवश्यक नहीं है, किन्तु प्रायः पन्द्रह वर्षों से भारतीय सङ्गीत शास्त्र के अध्ययन और अनुसन्धान का जो अवसर मुझे मिला है उसके आधार पर उक्त शास्त्र के अध्येता के लिए 'जपसूत्रम्' के उपयोग के विषय में कुछ कहना प्रसङ्गानुकूल समझती हूँ। भारतीय सङ्गीत-शास्त्र का परम वैशिष्ट्य यही है कि उसका विषय-प्रतिपादन जिस प्रकार सङ्गीत के बहिरङ्ग पक्ष को लागू होता है, उसी प्रकार सङ्गीत को अध्यात्म-साधना का अंग मान लेने पर यह भी निर्विवाद है कि उस साधना के अन्तरङ्ग पक्ष को भी वह शास्त्र समग्र-रूप से अपने में समेटे हुए है। किन्तु इस दृष्टि से इस शास्त्र का विश्लेषण आधुनिक युग में अभी तक नहीं हुआ है। गान्धर्ववेद को सामवेद का उपवेद कहने की परम्परा सर्व-सामान्य को विदित है, किन्तु हमारे सङ्गीत-शास्त्र में वैदिक परम्परा का कहाँ, कैसा कितना समावेश है, इसके तात्त्विक अनुसन्धान की ओर प्रायः ध्यान नहीं दिया जाता। याज्ञवल्क्य का निम्न-लिखित श्लोक सभी की जिह्वा पर रहा है, किन्तु इसके प्रकृत तात्पर्य के उद्घाटन की चिन्ता कौन करता है?—

वीणा-वादन-तत्त्वज्ञः श्रुति-जाति-विशारदः।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं निगच्छति॥ याज्ञवल्क्यस्मृति ३।४।११५

उसी प्रकार सङ्गीत को 'नादयोग' बताने वाले श्लोक अथवा नाद के महिमा सूचक वचन भी प्रत्येक सङ्गीत-प्रेमी या सङ्गीत-सेवी के मुख पर रहते हैं, किन्तु यह प्रश्न ही प्रायः नहीं उठाया जाता कि गायन-वादन की जो बहिरङ्ग-साधना हम लोग करते हैं उसे अध्यात्म साधना में परिणित करने के लिए किसी उपाय-विशेष की आवश्यकता है या नहीं। इस घोर भ्रममय परिस्थिति के निराकरण के लिए जो गहन अनुसन्धान अपेक्षित है उसके लिए वैदिक, पौराणिक और तान्त्रिक विचार-धाराओं का सूक्ष्म अध्ययन अनिवार्य है। **'जपसूत्रम्' में शब्द-तत्त्व की, विशेषतः नाद की अद्वितीय रूप से प्राञ्जल और विस्तृत व्याख्या है।** इसके अतिरिक्त पूज्य स्वामीजी स्वयं कितने सङ्गीत-मर्मज्ञ हैं, इसका प्रमाण उनकी वाणी में पद-पद पर पाठकों को मिलेगा। उदाहरण के लिए 'भूमिका' में पृष्ठ ७० पर निर्विशेष सत्ता की अपेक्षा लीला-विलास के वैशिष्ट्य को समझाते हुए शहनाई-वादन की उपमा और मूल ग्रन्थ में 'उपोद्घात' के अन्तर्गत ७६ संख्यक श्लोक के भाष्य में सृष्टि की अनुक्रमिक गति की व्याख्या करते समय ताल का उदाहरण—इन दो स्थलों का निर्देश करना ही पर्याप्त समझती हूँ; वैसे संवाद-विवाद, श्रवण-शक्ति की अध-ऊर्ध्व-सीमा इत्यादि अनेक सङ्गीत-सम्बन्धी विषयों का यत्र-तत्र उल्लेख ग्रन्थकार की अप्रतिम शैली में मिलता है। शब्द-तत्त्व की सूक्ष्म विश्लेषणात्मक व्याख्या के अतिरिक्त सङ्गीत विषयों का यह उपर्युक्त उल्लेख सोने में सुहागे का काम करता है।

सृष्टि तत्त्व के साथ सङ्गीत का सम्बन्ध सभी को मान्य है (Music is the harmonious voice of creation; an echo of the invisible)। किन्तु इस सम्बन्ध का दर्शन हमें कहाँ होता है? उसके लिए यत्न करने की प्रवृत्ति ही हममें कहाँ होती है? सङ्गीत को शब्दावली में सृष्टि-रहस्य का उद्घाटन जैसा 'जपसूत्रम्' में मिलता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। पूज्य स्वामीजी ने भारतीय सङ्गीत-शास्त्र में उपर्युक्त अनुसन्धान-सरणि का मार्ग बहुत कुछ प्रशस्त कर दिया है। प्रस्तुत ग्रन्थ भारतीय सङ्गीत-शास्त्र के अध्येता के लिए परम उपादेय है, इसमें सन्देह का तनिक भी अवकाश नहीं। इस अनुपम ग्रन्थ से इतना निकट का परिचय होना मैं अपने लिए बड़े सौभाग्य का विषय समझती हूँ। **जो समस्याएँ कई वर्षों से मुझे उलझाए हैं वे इस समग्र ग्रन्थ के अध्ययन से बहुत कुछ सुलझ सकेंगी ऐसी दृढ़ आशा है।** और यह एक कल्पनातीत उपलब्धि है।

४. ग्रन्थकार का परिचय

ग्रन्थकार का परिचय उनके श्रद्धालु शिष्य श्री कल्याणमलजी लोढ़ा के शब्दों में स्वतन्त्र रूप से दिया गया है। उनसे मेरे परिचय की अवधि बहुत ही अल्प है और आत्म-परिचय के प्रचार से वे इतने विमुख हैं कि श्रद्धेय श्री कविराज जी के बार-बार अनुरोध करने पर भी आज तक कभी अपने विषय में लेखनी नहीं उठा सके हैं। पत्र द्वारा मेरे अनुरोध करने पर भी उन्होंने इस सम्बन्ध में अपनी विवशता ही सूचित की थी। किन्तु हाल ही में 'तपोवनेर वाणी' शीर्षक से उनके पाँच निबन्ध, जो प्राय: तीस वर्ष पूर्व बंगला की 'देश' पत्रिका में प्रकाशित हुए थे, पुस्तिका के आकार में पुनर्मुद्रित हुए हैं। उक्त पुस्तिका में स्वयं स्वामीजी की और श्रीगोविन्द गोपाल मुखोपाध्याय की जो भूमिकाएँ हैं उनमें से जो कुछ सामग्री उपलब्ध हो सकी हैं उसका सारांश यहाँ देने का लोभ नहीं छोड़ सकी हूँ।

पूज्य स्वामीजी जब बी०ए० में पढ़ते थे और कलकत्ता में एमहर्स्ट स्ट्रीट स्थित एक मेस में रहते थे तब श्रीगोविन्द गोपाल के पितृव्य श्रीललित गोपाल मुखोपाध्याय उनके सहपाठी थे; दोनों में अभिन्न मैत्री थी। श्रीललित गोपाल जी आपको 'प्रेमदा' कह कर बुलाते थे, यद्यपि आपका नाम 'श्री प्रमथनाथ' था। आपकी सहृदयता, स्निग्धता आदि गुणों की झलक इस सम्बोधन में मिलती है। श्रीललित गोपाल के माध्यम से आप देवधर के श्रीश्रीबालानन्द ब्रह्मचारी महाराज के आश्रम में उपस्थित हुए थे। वहाँ जाते ही आपको ऐसी अनुभूति हुई थी, मानो वही आपका अपना स्थान है। श्रीबालानन्दजी के प्रबल प्रभाव का आपने अपनी अननुकरणीय शैली में वर्णन किया है। इस वर्णन में से कुछ पंक्तियों का रसास्वादन पाठक कर सकें इस उद्देश्य से निम्न उद्धरण प्रस्तुत हैं।

''इस प्रथम दर्शन के बाद मैं बीच-बीच में देवधर में श्रीश्रीमहाराज के चरण-प्रान्त में दौड़-दौड़ कर आता था—लौह जैसे अयस्कान्त मणि के आकर्षण से दौड़ा आता है। प्रत्येक बार ही आकर अनुभव करता था कि तरुण जीवन की समस्त कर्मव्यस्तता और भावचाञ्चल्य ने यहीं आकर अपने स्थिर केन्द्रबिन्दु को प्राप्त किया है। जीवन की सभी मृगैषणाएँ यहाँ आकर अपने ध्रुवसत्य-रूप-पीठ में प्रतिष्ठित होती थीं। इसीलिए बीच-बीच में मुझे यहाँ आना ही पड़ता था।

''इस प्रकार कुछ दिन बीतने के बाद सहसा इस जीवन में मानो एक विपुल वन्या (बाढ़) उद्वेलित हो उठी थी। उसका रोध बहुत वर्ष तक नहीं कर पाया था। यह थी—इस अवनत भारत के दासत्व-शृङ्खलित देशात्मा की सर्वाङ्गीण मुक्ति के लिए जो महीयसी आकूति थी, वही। वर्तमान शतक के आरम्भ में ही मैं उस महाप्लावन में कूद पड़ने को बाध्य हुआ थ। 'तपोवन' (देवघरस्थित) की उस एकान्त शान्त गुहा का निगूढ़ आकर्षण भी मुझे रोक नहीं सका था, किन्तु अन्तर के गहनतम प्रत्यय में वह तपोगुहा अपनी समाहित महिमा से विराज रही थी, इस बारे में मुझे कभी भी संशय नहीं हुआ। भीतर और बाहर, सत्ता के अन्त:प्रकोष्ठ और बहि:प्रकोष्ठ में, एक द्वन्द्व ने उपस्थित होकर मुझे बहुत दिन तक उस गुहा-केन्द्रीण स्थिर अक्ष-रेखा से च्युत कर दिया था अवश्य, किन्तु मेरे अपने लक्ष्य-बिन्दु से मुझे कभी भी उसने च्युत नहीं किया था। उस लक्ष्य-पथ में सहज-सुषम गति के स्थल में मानो कुछ-कुछ विषम और व्यावृत्त गति आ गई थी, शायद इसीलिए ऐसा लगता था कि न जाने केन्द्र से कितनी दूर हटता जा रहा हूँ। जो कुछ भी हो, जातीय विप्लव का जो पन्थ था वह मुझे 'तपोवन' से क्रमश: बहुत कुछ दूर ही हटाए लिए जा रहा था, इसमें सन्देह नहीं है। इस प्रकार देश की जातीय शिक्षा, जातीय मुक्तिसंग्राम इन सब में अधिकाधिक जुट जाने के फलस्वरूप देवघर में, उस अपनी जगह में बीच-बीच में जाना और रहना नहीं हो पाता था। श्रीश्रीमहाराज के साथ बहुत वर्षों तक इस बाह्य (बहिरङ्ग) व्यवधान में ही मेरा जीवन कटा, यद्यपि अन्तर में गहन-अन्तरंग योग कभी भी नहीं कट पाया था।''

बाह्य दृष्टि से पूज्य स्वामीजी का गुरुकरण किसी को विदित नहीं है, तथापि श्रीबालानन्दजी के अमिट प्रभाव की जो स्वीकृति उनकी अपनी वाणी में मिलती है, वह बहुमूल्य है।

५. कृतज्ञता-ज्ञापन

दु:साध्य प्रतीत होने वाले इस कार्य का सम्पादन जिनकी प्रबल प्रेरणा से सम्भव हुआ उन स्वनामधन्य परम श्रद्धेय आचार्यचरण म० म० श्री गोपीनाथ कविराज महोदय के प्रति कृतज्ञता निवेदित करने की धृष्टता कैसे करूँ! गत १५ वर्षों के निरन्तर

उनकी अबाध स्नेह-कृपा-धारा से सिञ्चित होने का सौभाग्य मिलता रहा है। कौड़ी का धनी अमूल्य मणि-माणिक्यों के अवदान का प्रतिदान कैसे दे सकता है? 'अमृत' का प्रतिदान 'मर्त्य' क्या देगा? इस कार्य से उनकी इच्छा-पूर्ति हो सकी यही सबसे बड़ा सौभाग्य है। यह कहना भी दुःसाहस होगा कि सेवा-रूप में यह कार्य किया गया है। क्योंकि शास्त्र-महाजनों के श्रीमुख से सुना है कि **जो स्वयं 'अपूर्ण' है वह कभी सच्ची सेवा नहीं कर सकता**। इससे उनका सन्तोष-विधान हुआ है, यही इसका चरम फल समझती हूँ। अनुवाद करते समय कई कठिन स्थलों के स्पष्टीकरण के लिए उन्हें कष्ट देना पड़ा है। ग्रन्थ के नाम 'जपसूत्रम्' से सम्भवतः प्रतिपाद्य विषय के विस्तार का बोध न हो सके , इसलिए व्याख्यात्मक शीर्षक बना देने की उनसे प्रार्थना की, जिसे उन्होंने कृपापूर्वक पूरा किया। वही शीर्षक भीतरी मुख-पृष्ठ पर कोष्ठक में दिया गया है। मुख-पृष्ठ के पार्श्व में उनका जो अमूल्य आशीर्वचन मुद्रित है, उसके लिए उनके प्रति पुनः-पुनः प्रणामाञ्जलि निवेदित करती हूँ।

अनुवाद-कार्य की योजना के प्रथम स्फुरण के सक्रिय साक्षी के रूप में एवं तत्सम्बन्धी मेरी जड़ता का अपनी स्निग्ध वाणी द्वारा हरण करने वाले अनुप्राणयिता के रूप में पुण्यश्लोक स्वर्गीय डॉ० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल का स्मरण इस अवसर पर बार-बार हो रहा है। हिन्दी 'जपसूत्रम्' का मुद्रण आरम्भ होने की प्रथम सूचना जब मैंने उन्हें दी थी तब जिस गद्‌गद् वाणी से उन्होंने उसका स्वागत किया था वह अभी भी मेरे कानों में गूँज रही है। पुस्तक उनके हाथों में समर्पित नहीं कर सकी, इसका अपार दुःख हृदय को मथ रहा है। उनसे जो स्नेह, सद्भावना, शुभेच्छा, प्रोत्साहन, आश्वासन, मार्ग-दर्शन द्वादशाधिक वर्षों तक मिला है उसका स्मरण उनके अभाव-बोध-जनित दुःख की तीव्रता को बढ़ाता है। इस कार्य के प्रस्ताव का जिस सहज मधुर स्मित से उन्होंने समर्थन किया था, उसके तल में उनका जो विमल मनःप्रसाद था उसके प्रति अपनी अश्रुसिक्त श्रद्धाञ्जलि अर्पित करके विरत होती हूँ।

मूल ग्रन्थकार पूज्यपाद स्वामीजी के प्रति कृतज्ञता-निवेदन तो क्या, उनके असीम स्नेह-लाभ के लिए अपनी धन्यता का ज्ञापन अवश्य करना चाहती हूँ। अप्रिल १९६५ से आज तक इस कार्य के ब्याज से उनके साथ जो विस्तृत पत्र-व्यवहार हुआ है (प्रति सप्ताह प्रायः एक पत्र की औसत से) उसमें उनकी स्नेह सुधा जिस प्रकार अप्रतिहत गति से इस अकिञ्चन के प्रति निरन्तर प्रवाहित हुई है, वह किसी भी जीवन को धन्य बनाने के लिए पर्याप्त है। अनुवाद के फ़र्मे देखकर जिन शब्दों में उन्होंने अपना सन्तोष, प्रसाद, आशीर्वाद व्यक्त किया है, वे अमूल्य निधिस्वरूप हैं। उनकी यह कृपा सर्वथा अहैतुकी हे, उनकी अदोष-दर्शिता और गुणग्राहिता की ही वह अभिव्यक्ति है, यह प्रतीति कभी तिरोहित न हो यह प्रार्थना है। उनके अकृपण, अकुण्ठ, अविच्छिन्न स्नेह-वर्षण को जीवन की अमूल्य उपलब्धि के रूप में मस्तक पर धारण करके मौन होती हूँ।

हिन्दी के मूर्द्धन्य विद्वान् आचार्य श्रीहजारी प्रसादजी द्विवेदी ने अपनी अमूल्य सम्मति देकर इस प्रकाशन का गौरव बढ़ाया है। इस अनुग्रह के लिए उनके प्रति आन्तरिक कृतज्ञता निवेदित करती हूँ।

अनेक व्यस्तताओं के बीच जिन दो कुशल सहयोगियों के बल पर ही इस कार्य-भार का वहन कर सकी हूँ, उनके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन के बिना यह निव्रेदन अधूरा ही रहेगा। वे हैं—श्रीजगन्नाथ पाठक और मेरी अनुजा कुमारी ऊर्मिला शर्मा। इन दोनों के प्रति साभार अपनी शुभ-कामना व्यक्त करती हूँ।

वैज्ञानिकों की परिचयात्मक टिप्पणियों के लिए सामग्री जुटा देने के हेतु डॉ० श्री कैलाशचन्द्र गंगराड़े धन्यवाद के पात्र हैं।

मूल ग्रन्थ से अनुवाद करने के लिए स्वत्य-सम्बन्धी अनुमति जिनसे अनायास प्राप्त हुई वे श्रीकालीपद मैत्र (कलकत्ता निवासी) हार्दिक धन्यवाद के भाजन हैं। पूज्यपाद स्वामीजी के अन्यान्य श्रद्धालु भक्तों (श्रीकल्याणमल लोढ़ा, श्रीमती सुधा वसु इत्यादि) से जो कुछ प्रोत्साहन मिला है उसके लिए भी सभी के प्रति आभार निवेदित करती हूँ।

मुद्रक को धन्यवाद देने के प्रसङ्ग में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय प्रेस के दिवङ्गत सञ्चालक श्रीलक्ष्मीदासजी का स्मरण होता है। २० अगस्त को उनका असामयिक निधन हो गया। उनके सहयोग और सद्भावना को साभार स्मरण करते हुए उनकी आत्मा की शान्ति के लिए प्रार्थना करती हूँ।

६. उपसंहार

दैवी-प्रेरणा-प्रणीत इस ग्रन्थ के अनुवाद का कृतित्व अपने पर लादने की दुर्बुद्धि कभी न हो यही कामना है। जिस सर्वनियन्ता ने इस कार्य के प्रस्ताव, प्रेरणा, अनुमोदन, सहयोग, व्यवस्था आदि को अकल्प्य भाव से जुटा दिया, उन्हीं को इसका कृतित्व समर्पित है। मैंने इसके लिए कभी स्वेच्छापूर्वक सङ्कल्प तक नहीं किया, अपितु सदैव प्रतिरोध ही उपस्थित किया। फिर कृतित्व कैसा?

अंग्रेज़ी अनुवाद के लिए भी पूज्यपाद स्वामीजी ने एकाधिक बार साग्रह प्रेरणा दी है। इसके लिए कोई सुष्ठुतर माध्यम स्वतः ही जुट जायगा, ऐसा विश्वास है।

पूज्यपाद स्वामीजी इस धरा पर दीर्घकाल तक अवस्थान करें और हिन्दी के शेष पाँचों खण्ड उनके समक्ष पूर्ण हो सकें यही एकमात्र प्रार्थना है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी—५ **प्रेमलता शर्मा**
श्रीकृष्णजन्माष्टमी, (प०पू० स्वामीजी की भी जन्मतिथि)
७ सितम्बर, १९६६

'जपसूत्रम्'—अनुवाद का द्वितीय खण्ड १९९२ में प्रकाशित हो सका। तृतीय-चतुर्थ खण्डों का कार्य अधिकांश किया हुआ होने पर भी कुछ कारणवश यथासमय प्रकाशित नहीं हो पाया, और फिर श्र बहिन जी की अत्यधिक व्यस्तता, अस्वस्थता एवं गोलोकवास होने से वह सम्भव नहीं रहा।

परमपूज्यपाद स्वामीजी के एक अन्य बंगला ग्रन्थ ''इतिहास ओ संस्कृति'' का अनुवाद (पू० स्वामीजी की प्रेरणानुसार एवं अपनी भी अतीव रुचि के कारण) बहिनजी स्वयं करना चाहती थीं, कुछ प्रारम्भ भी किया था, उसे पूरा करने की मेरी अभीप्सा अवश्य है, तथा पू० स्वामी जी की ही मेरे प्रति प्रेरणानुसार उनके अंगला ग्रन्थ ''पुराण ओ विज्ञान'' का भी हिन्दी अनुवाद मनोनीत है। 'सर्वनियन्ता प्रभ्भु' चाहेंगे तो ये कार्य पूरे होकर प्रकाशित हो ही जायेंगे। —ऊर्मिला

★★★

.२२.

प्रणव-बन्ध-व्याख्या*

चित्र-बन्ध की गणना शब्दालङ्कार में की गई है; उससे युक्त काव्य ''चित्र-काव्य'' कहलाता है। चित्र-बन्ध में वर्णों का विन्यास इस प्रकार किया जाता है कि उन्हें पद्म, चक्र, खड्ग आदि के चित्रों में लिखकर तदनुरूप क्रम से पढ़ा जा सके और अर्थबोध भी अखण्डित रहे। वर्ण-विन्यास का सुनियोजित क्रम ही इसमें चमत्कार की सृष्टि करता है। एतत्सम्बन्धी शास्त्रीय परम्परा का उल्लेख संस्कृत साहित्य के लक्षण-ग्रन्थों में प्रमुख रूप से दण्डी के काव्यादर्श में, अग्निपुराण में, रुद्रट के काव्यालङ्कार में, मम्मट के काव्यप्रकाश में तथा भोज के सरस्वतीकण्ठाभरण में पाया जाता है। संस्कृत के महाकवियों में भारवि तथा माघ के नाम चित्र-काव्य की रचना के प्रसङ्ग में विशेष उल्लेखनीय है। इस रचना-पद्धति की तत्कालीन लोकप्रियता की कल्पना इसी बात से की जा सकती है कि ''चित्र-बन्ध-रामायण'' जैसे सम्पूर्ण प्रबन्ध-काव्य चित्रों में लिखे गए थे।

वर्तमान युग में यह परम्परा लुप्तप्राय हो चुकी है। रुइया पाठशाला, नगवा, वाराणसी के वयोवृद्ध प्राध्यापक पं० रामरूप पाठक ने सुदीर्घ काल तक चित्र-काव्य की साधना की है और अनेक चमत्कारपूर्ण चित्र-बन्धों का निर्माण किया है।* आप के द्वारा प्रस्तुत ''प्रणव-बन्ध'' में वर्णों की न्यासविधि निम्नलिखित हैः—

बिन्दुतो मध्य आगच्छेत्ततः पार्श्वद्वयेऽपि च।
पुनर्बिन्दौ विलोम्नाऽत्र क्रमोऽयं प्रणवात्मके॥

(श्री दामोदरशास्त्रिप्रणीत 'चित्रबन्ध-काव्य' से उद्धृत)

अर्थात् ''ऊँकार'' के बिन्दु से क्रमशः मध्यस्थान पर पहुँचें, मध्यस्थान से दोनों ओर जाएँ तथा पुनः मध्य से ही विलोम क्रम (उल्टी गति) से बिन्दु पर पहुँचें। इस विधि के अनुसार प्रस्तुत बन्ध को पढ़ने से प्रथम चरण ''साक्षाद् वाणी वेदरूपा विपङ्का''—बिन्दु से मध्य तक बन जाएगा, मध्यस्थ वर्ण ''का'' से ऊपर के पार्श्व में पढ़ें तो ''कायाद् धातुनिर्गता चोंस्वरूपा'' यह द्वितीय चरण मिल जाएगा; ''का'' से नीचे के पार्श्व में पढ़ने से ''काश्यां स्थित्वा विश्वविद्यालये हि'' यह तृतीय चरण बनेगा और पुनः ''का'' से विलोम-क्रम से बिन्दु की ओर पढ़ने से ''कामान् नृभ्यः संप्रदात्री जयेत् सा''—यों चतुर्थ चरण से श्लोक सम्पूर्ण होगा।

प्रस्तुत श्लोक में वाणी की वन्दना है। ॐ-स्वरूपा वाणी साक्षात् वेदमाता हैं और निर्मल हैं। (ओंकार अथवा प्रणव को वेदों के बीज के रूप में सर्वत्र स्वीकार किया गया है)। वह वाणी ब्रह्मा के तनु से उद्भूत हुई हैं। काशी (हिन्दू) विश्वविद्यालय में स्थित होकर वे (वाणी) मनुष्यों को ''काम'' (अभीप्सित पदार्थ) प्रदान करती है। उनकी जय हो। विश्वविद्यालय में सरस्वती के प्रसाद का सदैव उत्कर्ष हो, यही कवि की प्रार्थना है।

श्लोक के वर्ण्य विषय के अनुरूप ''ॐकार'' के मध्य में सरस्वती देवी का चित्र दे दिया गया है। वस्तुतः सरस्वती का चित्र ''प्रणवबन्ध'' का नियमित अङ्ग नहीं है। प्रस्तुत चित्र विश्वविद्यालय के चिह्न (Emblem) की यथावत् प्रतिकृति भी नहीं है।

---

* का०हि०वि० की वार्षिक पत्रिका ''प्रज्ञा'' १९६६ से सङ्कलित। चित्र का पुनः मुद्रण सम्भव नहीं हुआ।

१. द्रष्टव्य इसी ग्रन्थखण्ड में ''चित्रकाव्यकौतुक-सम्पादकीयम्''—तथा ''चित्रकाव्यमीमांसा'' ये दोनों संस्कृत लेख। —सम्पा०

.२३.

चित्रकाव्यकौतुकस्य

सम्पादकीयम्*

करुणावरुणालयस्य भगवतो विश्वनाथस्यासीमानुकम्पया चित्रकाव्यसंग्रहोऽयं प्रकाशं गच्छतीति महत आनन्दस्य विषयः।

कस्याश्चिदपि प्रवृत्तेरुपयोगित्वं धनलाभस्य मात्रयैवाङ्कनीयमिति मन्वाने वर्तमानयुगे समस्ताशाऽऽकांक्षा विहाय 'स्वान्तःसुखाय' कस्यांश्चित्कलात्मकरचनारूपिसुदीर्घकालव्यापिसाधनायां निरतो जनो विरल एव दृश्यते। चित्रकविपण्डितरामरूपपाठका एतादृग्विरलसाधनालङकृता महाभागाः। विद्यानुराग-विनय-सहिष्णुता-आर्जव-निःस्पृहत्व-सन्तोष-अमानित्व-मानदत्वादयो ब्राह्मणोचिता गुणास्तत्रभवतां व्यक्तित्वे मूर्तिमन्त इवोपलभ्यन्ते। 'आशीर्वचन'-शीर्षकान्तर्गतो निम्नोद्धृतः श्लोकः पण्डितवराणां यथार्थपरिचायकः—

विद्याधर्मवयोऽतिगेन तपता सूक्ष्मेक्षिकां तन्वता
ह्रस्वेनापि गरीयसा कवयतां मूर्धानमुद्धुन्वता।
अन्तर्गर्भवसुन्धराप्रतिभटप्रज्ञासमज्ञाजुषा
बन्धाः केऽपि समुद्धृताः सुकविना वेद्या विदां वन्दितैः।

चित्रकवेः परिचयमहं चतुर्दशवर्षपूर्वं लब्धवती। भगवद्रसिकप्रवरश्रीरूपगोस्वामिपादैः प्रणीतानां कतिपयबन्धात्मकश्लोकानां तत्तदनुरूपचित्रेषु वर्णविन्यासस्य प्रयोजने समुपस्थितेऽहम् आचार्यपादश्रीमहादेवशास्त्रिमहोदयानुपगता। तैश्चित्रकवेः सान्निध्यं तदर्थं साधितम्, चित्रकविभिर्मम उद्देश्यं पूरितञ्च। तदनन्तरं काश्यां समायोजितासु विभिन्नकाव्य-गोष्ठीषु चित्रकवीनां दर्शनम् अनेकवारं जातम्। वर्षद्वयात्पूर्वं ग्रीष्मावकाशे भगवत्प्रेरणया चित्रकवीनां रचनानां सावधानमवलोकनस्याभिलाषः सञ्जातः। तदनुसारं ते मया गृह आमन्त्रिताः। तेषां चित्रबन्धावलोकनकाले वार्तालापप्रसङ्गे मया पृष्टं तैः स्वीयकाव्यस्य प्रकाशनार्थं यत्नः कृतो न वेति। तैरतिसरलभावेनोक्तम् "अधुना भवत्यैवास्य प्रकाशनं क्रियेत" इति। हठाद् ब्राह्मणमुखनिःसृतस्य वचनस्यामोघता भगवतोऽभिमताऽऽसीत्। ईशप्रेरणया तेषां चित्रबन्धानां रेखाचित्राङ्कनं 'ब्लाक'-निर्माणञ्च मया स्वीयार्थव्ययेन मासचतुष्टये साधितम्, किन्तु ग्रन्थमुद्रणसम्बन्ध्यर्थव्यवस्था सुदुष्करैव प्रतिभाति स्म। अत्रान्तरे 'आकाशवाणी'-कार्यप्रसङ्गे दिल्लीनगरे गतवती, तत्र मोतीलाल-बनारसीदास-प्रकाशनसंस्थानस्य स्वामिनः श्रीसुन्दरलालजैनमहोदयाः प्रकाशनार्थं प्रार्थिताः। तैरनायासमेव प्रकाशनभारः स्वीकृतः, अहं निश्चिन्तीकृता च। तदनन्तरं बहुविधकार्यव्यापृताऽविलम्बं सम्पादनमुद्रणयोरसमर्था आसम्। अनुकूले काले समुपस्थिते इदानीं प्रकाशनं सम्पन्नं, पण्डितरामरूपपाठकानां सुचिरकालव्यापिनी साधना फलीभूता, तैर्यत् स्वप्नेऽपि नो कल्पितं तत्सत्यं जातं, भगवतो 'हीनार्थाधिकसाधक' इति नाम सार्थकं संवृत्तम्।

ग्रन्थेऽस्मिन् पञ्चपञ्चाशच्चित्रबन्धाश्चित्रकवीनां स्वोपज्ञटीकासंवलिताः संगृहीताः। वाराणसेयसंस्कृतविद्यालयीयसाहित्य-विभागाध्यक्षपण्डितरामकुबेरमालवीयानां सूचनामनुसृत्य कतिपयसमस्यापूर्तयोऽनुबन्धे संकलिताः। अस्मादनुबन्धात् साहित्यविद्यार्थिनां महानुपकारो भविष्यति। चित्रकविरचितानि लघुकाव्यान्यपि पृथगनुबन्धे समाविष्टानि। तत्र 'श्रीरामचरितम्' इतिसंज्ञककाव्यस्य सम्बन्धे

---

* "चित्रकाव्यकौतुकम्"—पं० रामरूपपाठक के चित्रकाव्यों का संग्रह जो उक्त नाम से १९६५ में बहिनजी ने सम्पादित किया था उसके प्रारम्भ में दिये सम्पादकीय तथा भूमिकात्मक लेख "चित्रकाव्य मीमांसा"—श्र० बहिनजी के संस्कृतलेखन के परिचायक हैं, अतः ये दोनों क्रमशः यहाँ प्रस्तुत हैं। —सम्पा०

किंचिच्द् वक्तव्यमस्ति। पण्डितरामरूपपाठकैर्महाकाव्यलक्षणानुसारेणास्य रचना सङ्कल्पिताऽऽसीत्; पञ्चशताधिकश्लोकैः सर्गसप्तकं रामविवाहपर्यन्तं रचितञ्च। केनचिज्जनेन तस्य समग्रा पाण्डुलिपिः प्रकाशनार्थं नीता किन्तु तदनन्तरं काऽपि वार्ता तत्सम्बन्धे न ज्ञापिता। रामवियोगे दशरथस्यावसानमिव स्वस्यापि रामकाव्यवियोग एवंविहलोकत्यागो भविष्यतीति वदन्ति गलदश्रवश्चित्रकवयः। तत्काव्यस्य कतिपयांशाः स्वीयसंग्रह इतस्ततः प्रकीर्णेषु पत्रखण्डेषु तैः प्राप्ताः, तानेव संगृह्य प्रथमानुबन्धे दत्त्वा ते यत्किंचित् तुष्टाः सन्ति। एतानि लघुकाव्यानि, तत्रापि विशेषेण रामचरितस्याल्पांशमवलोक्य सहृदयपाठकाश्चित्रकवेः सहजकवित्वशक्तिं प्रसादगुणोपेतं रचनाकौशलञ्च नितरां श्लाघयिष्यन्ति, तत्रा नास्ति सन्देहलेशः। तदीयं बालसुलभसारल्यमेतद्रचनासु प्रतिपदं प्रतिभाति।

काव्ये चित्रतत्त्वस्य मीमांसा चित्रबन्धनस्येतिहासश्च साहित्यविद्यार्थिनां प्रयोजनं साधयिष्यत इति मत्वा 'चित्रकाव्यमीमांसा' शीर्षके लेख एतद्विषयद्वयं समाविष्टम्।

सुधीपाठकाः संपादनत्रुटिमार्जनानुग्रहं कुर्युरिति याचे।

कृतज्ञता-प्रकाशः

प्रस्तुतग्रन्थस्य सङ्कलन-सम्पादन-मुद्रण-प्रकाशनकार्ये यैर्गुरुजनैः सहयोगिमित्रैः सुदूरस्थमहानुभावैश्चामूल्यसहयोगप्रदानेन अनुगृहीताऽस्मि तान् प्रति हार्दिककृतज्ञताप्रकाशस्य पवित्रकर्तव्यनिर्वाहसहितं विरताऽस्मि दीर्घतरवचनसमारम्भात्।

अनन्तश्रीविभूषितजगद्गुरु-शंकराचार्य-काशीसुमेरुपीठाधीश्वरस्वामिमहेश्वरानन्दसरस्वतीपादाः (कवितार्किकचक्रवर्तिपण्डित-महादेवशास्त्रिणः)—'आशीर्वचनम्'-इतिशीर्षके चित्रकाव्यस्य विवेचनोदाहरणप्रदानार्थम्।

वेदतत्त्वज्ञब्रह्मर्षिदैवरातमहोदयाः (गोकर्णवासिनः) 'चित्रप्रशंसा' इतिशीर्षके चित्रस्य संकेतभाषाया विवरणप्रदानार्थम्।

श्रीसुन्दरलालजैनमहोदयाः (मोतीलाल-बनारसीदास-प्रकाशनसंस्थानस्य स्वामिनः) प्रकाशनभारग्रहणार्थम्।

पण्डितश्रीरुद्रदेवत्रिपाठिमहोदयाः (उज्जैननिकटस्थउन्हेलनिवासिनः) चित्रकाव्यस्य इतिहाससम्बन्धि-सामग्री-सङ्कलने साहाय्यार्थम्।

पण्डितश्रीजगन्नाथपाठकमहोदयाः—चित्रबन्धानां हिन्दीटीकानिर्माणार्थम्।

पण्डितश्रीरतिनाथझामहोदयाः—सम्पादनकार्ये योगदानार्थम्।

पण्डितश्रीरामकुबेरमालवीयमहोदयाः—समस्यापूर्तिसंग्रहे सहयोगार्थम्।

समादरणीयाः कविवर्याः—स्वस्वरचनाप्रदानार्थम्।

श्रीचन्द्रभूषणतिवारीमहोदयाः (मध्यप्रदेशस्थशहडोलनिवासिनः) रामचरितमानसान्तर्गतचित्रबन्धसम्बन्धिसूचनाप्रदानार्थम्। सूचनेयं सागर-विश्वविद्यालये प्रस्तुत-अप्रकाशित—शोधप्रबन्ध-अन्तर्गता।

पण्डितश्रीजगन्नाथमुरलीधरअहिवासीमहोदयाः—बन्धानां रेखाचित्रनिर्माणव्यवस्थायां सहयोगार्थम्।

श्रीदुर्गाप्रसादपट्टनायकमहोदयाः—मुखपृष्ठचित्रस्य प्रारम्भिकरूपरेखानिर्माणार्थम्।

पण्डितश्रीगजाननशास्त्रिमुसलगाँवकरमहोदयाः—वेदे चित्रसम्बधिमन्त्राणां सन्दर्भसहितमनुसन्धानार्थम्।

श्रीलक्ष्मीदासमहोदयाः (काशीहिन्दूविश्वविद्यालयस्थमुद्रणालयव्यवस्थापकाः)—मुद्रणकार्ये तत्परतार्थम्।

॥ इति शम्॥

विज्ञापयित्री

शर्मोपाह्वा प्रेमलता
एम०ए०, शास्त्राचार्य (साहित्य)—
पीएच०डी०, संगीतालङ्कार—उपाधिधारिणी।
काशीहिन्दूविश्वविद्यालयस्थश्रीकलासंगीतभारत्यां
सङ्गीतशास्त्रानुसन्धाने रीडरपदस्था।

काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः
फाल्गुन-कृष्णत्रयोदशी
(शिवरात्रिः)
सोमवासरः
विक्रमाब्दः २०२१
1 मार्च, खिष्टाब्दः 1965

---

* ''चित्रकाव्यकौतुकम्''—में से कुछ अंश दृष्टान्त-रूप से यहाँ (पृ० १६४-६९) प्रस्तुत है जो सीधे उस ग्रन्थ से ज्यों का त्यों छबि-रूप में लिया गया है।
—सम्पा०

३१. सरोवन्धः

मानसधामन् कामदनामन् मित्रसुदामन् पालय धीमन्
मानद राकाकान्त भजामि मित्रभरूपापार वसामा ॥
नर्तनपद्म मन्त्रसुपात्र त्रस्तसुपाल लम्बितगान ।
सर्वविनोद दक्षसभासु सुप्रभकाय यज्ञ सुहंस ।
धातृप नानानाट्य यशोदादामभ सद्धीधीद हि माधाः ॥

सरोबन्धलक्षणम्—

कोणेभ्यः परितः स्तम्भे सश्लेषं सर्वतः पुनः ।
सम्पठेत् पाठकश्चात्र सरोबन्धे कविप्रियः ॥

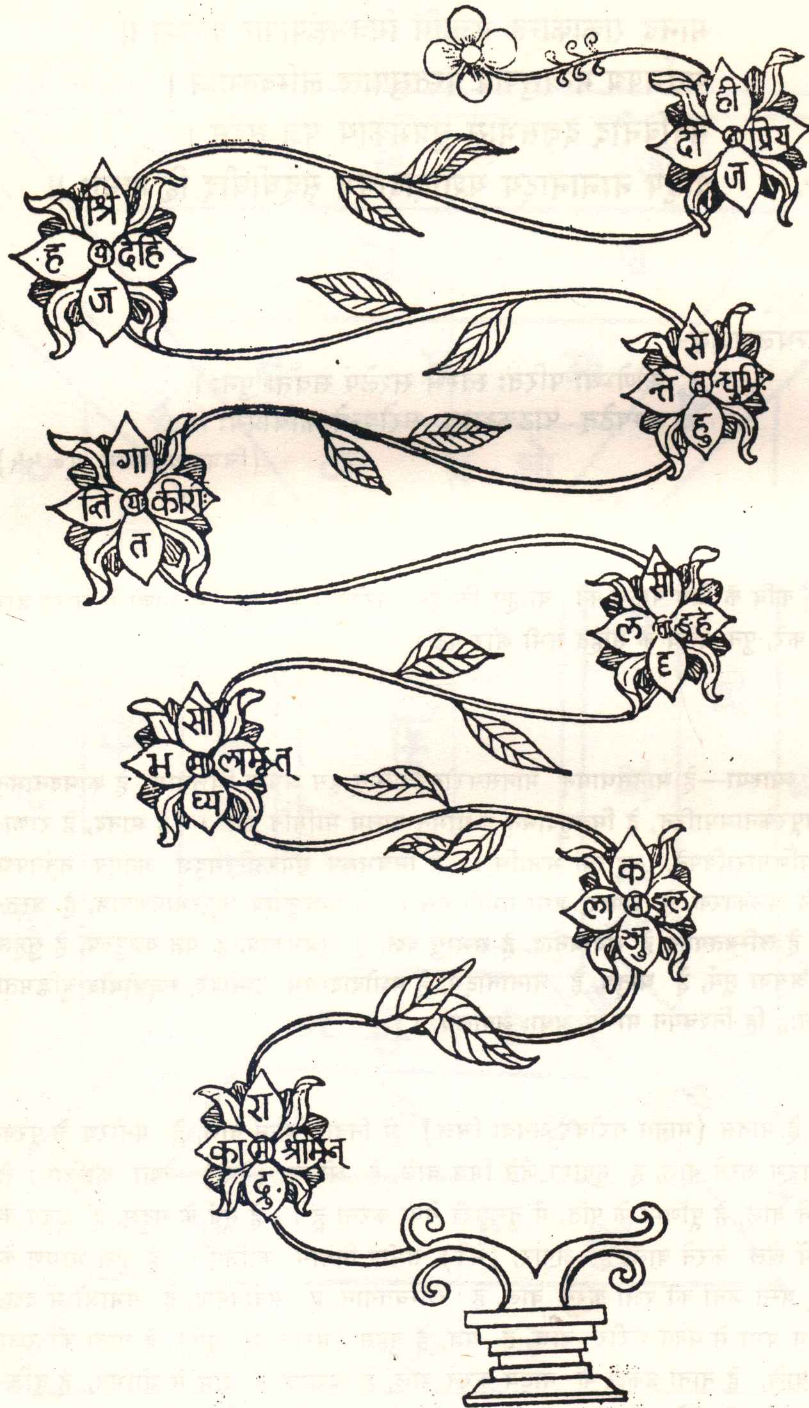
(चित्रबन्धकाव्यम्, पृ० ५५)

कवि के प्रिय पाठक को चाहिए कि इस सरोबन्ध में स्तम्भ में कोणों से चारों ओर भ्रमण करे, पुनः श्लेष के सहित सभी ओर पढ़े ।

व्याख्या—हे **मानसधामन्** मानससरोवरवासिन् हंस अथवा चित्तवास, हे **कामदनामन्** मनोरथपूरकनामधारिन्, हे **मित्रसुदामन्** हे **धीमन् पालय** मामिति शेषः । हे **मानद**, हे **राका-कान्त** पूर्णिमारात्रिपते, अहं त्वां **भजामि** । हे मित्रभरूप सूर्यकान्तिसदृश अतएव **नर्तनपद्म** हृत्कमले खेलकारक, हे **अपार, अमा** समीपे **वस** । हे **मन्त्रसुपात्र** गुप्तभाषणपात्र, हे **त्रस्त-सुपाल**, हे **लम्बितगान, हे सर्वविनोद, हे सभासु** दक्ष, हे **सुप्रभकाय**, हे **यज्ञ** यज्ञपुरुष, हे **सुहंस** मराल अथवा सूर्य, हे **धातृप**, हे **नानानाट्य**, हे **यशोदादामभ** दामोदर, **सद्धीधीद** बुद्धिमतां बुद्धिदातः,, **हि** निश्चयेन **मा** मां **अधाः** अपालयः ।

हे मानस (मानस सरोवर अथवा चित्त) में निवास करने वाले, हे मनोरथ के पूरक नाम धारण करने वाले, हे सुदामा जैसे मित्र वाले, हे श्रीमन्, (मेरी) रक्षा कीजिए। हे मान देने वाले, हे पूर्णिमा के पति, मैं तुम्हारी सेवा करता हूं । हे सूर्य के सदृश, हे हृदय के कमल में खेल करने वाले, हे अपार, (मेरे) समीप निवास कीजिए । हे गुप्त भाषण के पात्र, हे त्रस्त जनों की रक्षा करने वाले, हे लम्बितगान, हे सर्वविनोद, हे सभाओं में दक्ष, हे शोभन प्रभा से यक्त शरीर वाले, हे यज्ञ, हे सुहंस (मराल या सूर्य), हे धाता की रक्षा करने वाले, हे नाना प्रकार के नाट्य करने वाले, हे यशोदा के दाम से शोभित, हे बुद्धि-शालियों को बुद्धि देने वाले, निश्चय ही आपने मुझे पालन किया ।

३४. प्रेमलताबन्धः



रामकामद्रुम श्रीमन् कमलामञ्जुमङ्गल ।
सोमाभमाध्यमालाभृत्सीतालताद्दताङ्ग हे ।।
गायन्ति यतयः कीराः सेवन्ते बहुबन्धुभिः ।
श्रियं हयं जयं देहि हीनदीनजनप्रिय ।।

प्रेमलताबन्धलक्षणम्—

उपरिष्टात्पार्श्वतश्चाधस्तात्तु मध्यभागके ।
ततः पार्श्वे क्रमादूर्ध्वं लताबन्धे सरेद् बुधः ।।
(चित्रबन्धकाव्यम्, पृ० ५३)

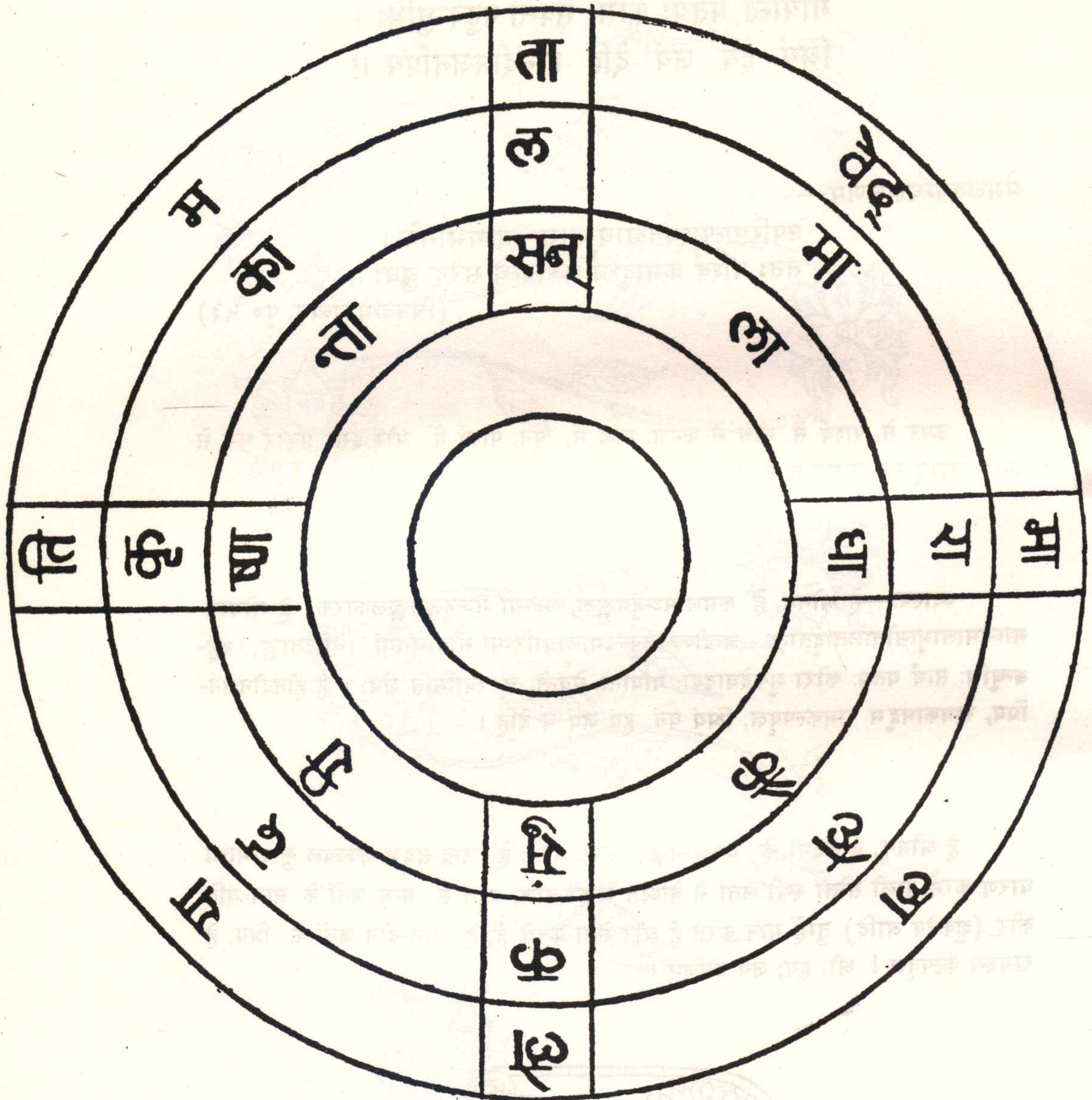
ऊपर से, पार्श्व से, नीचे से क्रमशः मध्य में, पुनः पार्श्व में और इसी प्रकार क्रम से ऊपर विद्वान् इस लताबन्ध में सरण करे ।

व्याख्या—हे **श्रीमन्**, हे **कमलामञ्जुमङ्गल**, लक्ष्म्या मञ्जुलमङ्गलकारक, **हे सोमाभमाध्यमालाभृत्सीतालताद्दताङ्ग** चन्द्रोज्ज्वलकुन्दमालाधारिण्या सीतालतया वेष्टिताङ्ग, **बहुबन्धुभिः साधं यतयः कीरा** शुकदेवादया, **गायन्ति**, **सेवन्ते**, च त्वामिति शेषः । हे **हीनदीनजनप्रिय, रामकामद्रुम** रामकल्पवृक्ष, **श्रियं** धनं **हयं जयं** च **देहि** ।

हे श्रीमन्, हे लक्ष्मी के मञ्जु-मङ्गल करने वाले, हे चन्द्र-सदृश उज्ज्वल कुन्द-माला धारण करने वाली सीता रूपी लता से वेष्टित अङ्गों वाले, बहुत से बन्धु जनों के साथ यति कीर (शुकदेव आदि) तुम्हें गान करते हैं और सेवा करते हैं, हे हीन-दीन जनों के प्रिय, हे रामरूप कल्पवृक्ष ! श्री, हय, जय दीजिए ।



४५. द्विचतुष्कबन्धः



कृष्णकान्ता लसन्माला राधा लोकैकसुन्दरी ।
कृतिकामलता माऽवेद् रामालोला कलोदया ॥

द्विचतुष्कचक्रबन्धलक्षणम्—

इह शिखरसन्धिमालां बिभृयादर्धं समाश्रितैर्वर्णैः।
द्विचतुष्कचक्रबन्धे नेमिविधौ चापरं भ्रमयेत्॥

(सर० कं०, चित्रप्र० पृ० ४३)

इस द्विचतुष्कबन्ध में शिखर-माला और सन्धि माला को पूर्वार्ध के वर्णों से भर दे तथा उत्तरार्ध को नेमि में घुमा दे।

व्याख्या—**कृष्णकान्ता** कृष्णप्रिया, **लसन्माला** लसन्ती माला यस्याः सा, **लोकैकसुन्दरी** त्रिभुवनैककमनीया, **कृतिकामलता** सुकृतिजनमनोरथदात्री सुरद्रुमवल्ली, **रामालोला** रामासु नारीषु लोला चञ्चला, **कलोदया** कलाभिः चतुःषष्टिकलाभिरुदयो यस्याः सा, **राधा, मा मां अवेद्** रक्षेत्।

श्रीकृष्ण की प्रिया, शोभित होती हुई माला वाली, संसार की एकमात्र सुन्दरी, सुकृती जनों के मनोरथ पूर्ण करने वाली कल्पवृक्ष की लता, नारियों में चञ्चला, चौंसठ कलाओं से युक्त राधा मेरी रक्षा करें।



.२४.

चित्रकाव्यमीमांसा

शर्मोपाह्वा प्रेमलता

1. चित्रस्यानेकार्थत्वम्

"विश्वं भूतं भव्यं भुवनं चित्रम्" (महानारायणोनिषद् १३/२)

'चित्र' पदं वैदिकवाङ्मये शताधिकवारं प्रयुक्तम्। तत्र कतिपयार्था यथा—

१. अद्‌भुतम्, आश्चर्यम्, विचित्रं वा—चित्रं सन्तं गुहाहितं सुवेदं क्वचिदर्थिनम्। (ऋ० सं० सातवलेकर सं० ४/७/६)
चित्रं ह यद् वां देवया उ अद्रिरूर्ध्वो विवक्ति सोमसुद् युवभ्याम्। (तत्रैव ७/६८/५)
अमूरा विश्वा वृषणाविमा वां न यासु चित्रं ददृशे न यक्षम्। (तत्रैव ७/६१/५)
चित्रं तद् वो मरुतो याम चेकिते। पृश्न्या यदूधरप्यापयो दुहुः॥ (तत्रैव २/३४/१०)
चित्रोऽसीति चित्य नाम कृत्वोपतिष्ठते ये अग्नय इति। (कात्यायन श्रौ० सू० अ० १८ चयनप्रकरणम्)
पुरुषे चित्रे साम गायति। (का० श्रौ० सू० १७/७६)
चित्रः प्रकेत उषसो महाँ अस्त्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव। (ऋ० सं० १/९४/५)
इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागाच्चित्रः प्रकेतो अजनिष्ट विभ्वा। (तत्रैव १/११३/१)
स चित्रचित्रं चितयन्तमस्मे चित्रक्षत्र चित्रतमं वयोधाम्। (तत्रैव ६/६/७)
रयिर्न चित्रा सूरो न सन्दृगायुर्न प्राणो नित्यो न सूनः। (ऋ० सं० १/६६/१)

२. नानाविधम्—चित्रामघा यस्य योगेऽधिजग्ये तं वां हुवे अतिरिक्तं पिबध्यै। (तत्रैव ८/५८/३)
वाजिनीवती सूर्यस्य योषा चित्रामघा राय ईशे वसूनाम्। (तत्रैव ७/७५/५)
उषा अदर्शि रश्मिभिर्व्यक्ता चित्रामघा विश्वमनुप्रभूता। (तत्रैव ७/७७/३)
चित्रं वयो बृहदस्मे दधातु यूयं पातु स्वस्तिभिः सदा नः। (तत्रैव ७/४५/४)
अग्ने विवस्वदुषसश्चित्रं राधो अमर्त्य। (तत्रैव १/४४/१)
त्वे इषः संदधुर्भूरिर्पिसश्चित्रोतयो वामजाताः। (तत्रैव १०/१४०/३)

३. अनेकम्—चित्रैरञ्जिभिर्वपुषे व्यञ्जते वक्षःसु रुक्माँ अधियेतिरे शुभे। (तत्रैव १/६४/४)

४. प्रभूतम्—चित्रं रयिं यशसं धेह्यस्मे देवि मर्त्येषु मानुषि श्रवस्युम्। (तत्रैव १/११३/१५)

५. उत्कृष्टम्—चित्रो वोऽस्तु यामश्चित्र ऊती सुदानवः। मरुतो अहि भानवः॥ (तत्रैव १/१७२/१)

६. दीप्तिमत्—स्वरुं न पेशो विदथेष्वञ्जञ्चित्रं दिवो दुहिता भानुमश्रेत्। (तत्रैव १/९२/५)

स्वसारः श्यावीमरुषीमजुषूञ् चित्रमुच्छन्तीमुषसं न गावः। (तत्रैव १/७१/१)

आयः स्वर्णभानुना चित्रो विभात्यर्चिषा। (तत्रैव २/८/४)

७. नानावर्णयुक्तम् (शबलम्)—सचन्तः यदुषसः सूर्येण चित्रामस्य केतवो रामविन्दन्। (तत्रैव १०/१११/७)

आवहन्ति पोष्याः वार्याणि चित्रं केतुं कृणुते चेकितानः। (तत्रैव १/११३/१५)

चित्रः शिशु परितमांस्यक्तून प्र मातृभ्यो अधि कनिक्रदद्गाः। (तत्रैव १०/१/२)

पवमानमहिश्रवश्चित्रेभिर्यांसि रश्मिभिः। (तत्रैव ९/१००/८)

चित्रेभिरभ्रैरुपतिष्ठथो रवं द्यां वर्षयथो असुरस्य मायया। (तत्रैव ५/६३/३)

८. दर्शनीयम्—एन्द्र याहि मत्स्व चित्रेण देव राधसा। (तत्रैव ८/१/२३)

वि तद् ययुररुणयुग्भिरश्वैश्चित्रं भान्त्युषसश्चन्द्ररथाः। (तत्रैव ६/६५/२)

अग्नौ चाधूमके यज्ज्योतिश्चित्रतरम् (मैत्रेय्युपनिषद् ६/१०)

९. आलेख्यम्—चित्रभित्तिरिव मिथ्यामनोरमम्! (मैत्रेय्युपनिषद् ४/२)

लौकिकवाङ्मये 'चित्र' पदाद् (१) विविधवर्णयुक्तं (शबलम्) (२) आलेख्यम् (३) अद्भुतं चमत्कारजनकं वा (४) उज्ज्वलं भास्वरं वा, (५) मधुरम्, (६) उद्वेगकरम् इत्यर्थाः प्रायेण गृह्यन्ते। तत्र क्रमश उदाहरणानि यथा—

(१) मृगः ······ चित्रो रजतबिन्दुभिः (वाल्मीकिरामायणे ३. ३६. १८)

(२) चित्रे निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगा० (माघकाव्ये २. ९) पुनरपि चित्रीकृता कान्ता (तत्रैव ६. २०)

(३) किमत्र चित्रं यदि कामसूर्भूः (रघुवंशे ५. ३३) वाक्यमप्रतिरूपं तु न चित्रं स्त्रीषु (वाल्मीकिरामायणे ३. ४५. २९)

(४) चित्रधातुविचित्राद्रीनिभभग्नभुजद्रुमान्।

जलाशयाञ्छिवजलान्नलिनीः सुरसेविताः॥ (श्रीमद्भागवते १. ६. १२)

(५) वक्ता ·········· चित्रकथः (शुक्रनीतिसारः ३. ५६)

चित्रस्वनैः पत्ररथैः (श्रीमद्भागवते १. ६. १३)

(५) चित्रैर्वधोपायैः (मनुस्मृतौ ९. २. ४८)

२. काव्येऽन्यकलासु च चित्रतत्त्वम्

काव्यशास्त्रे चित्रपदस्य प्रथमप्रयोक्तारो ध्वनिकाराः स्मृताः। पाठकानां सौकर्यार्थं काव्ये चित्रतत्त्वप्रतिपादको ग्रन्थांशो अविकलमुद्ध्रियतेऽत्र। यथा ध्वन्यालोके—

प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थिते।
काव्ये उभे ततोऽन्यद् यत्तच्चित्रमभिधीयते॥
चित्रं शब्दार्थभेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम्।
तत्र किञ्चिच्छब्दचित्रं वाच्यचित्रमतः परम्॥

''व्यङ्ग्यस्यार्थस्य प्राधान्ये ध्वनिसंहितकाव्यस्य प्रकारः, युगभावे तु गुणीभूतव्यङ्ग्यता। ततोऽन्यद् रसभावादितात्पर्यरहितं व्यङ्ग्यार्थविशेषप्रकाशनशक्तिशून्यं च काव्यं केवलवाच्यवाचकवैचित्र्यमात्राश्रयेणोपनिबद्धमालेख्यप्रख्यं यदाभासते तच्चित्रम्। न तन्मुख्यं

काव्यम्। काव्यानुकारो ह्यसौ। तत्र किञ्चिच्छब्दचित्रं यथा दुष्करयमकादि। वाच्यचित्रं ततः शब्दचित्रादन्यद् व्यङ्ग्यार्थसंस्पर्शरहितं प्राधान्येन वाक्यार्थतया स्थितं रसादितात्पर्यरहितमुत्प्रेक्षादि।

अथ किमिदं चित्रं नाम ? यत्र न प्रतीयमानार्थसंस्पर्शः। प्रतीयमानो ह्यर्थभेदः प्राक्प्रदर्शितः। तत्र यत्र वस्त्वलङ्कारान्तरं वा व्यङ्ग्यं नास्ति स नाम चित्रस्य कल्प्यतां विषयः। यत्र तु रसादीनामविषयत्वं स काव्यप्रकारो न सम्भवत्येव यस्मादवस्तुसंस्पर्शिता काव्यस्य नोपपद्यते। वस्तु च सर्वमेव जगद्गतमवश्यं कस्यचिद् रसस्य भावस्य वाङ्गत्वं प्रतिपद्यते अन्ततो विभावत्वेन। चित्तवृत्तिविशेषा हि रसादयः, न च तदस्ति वस्तु किञ्चिद् यन्न चित्रवृत्तिविशेषमुपजनयति तदनुत्पादने वा कविविषयतैव न स्यात् कविविषयश्च चित्रतया कश्चिन्निरूप्यते।

अत्रोच्यते—सत्यं न तादृक्काव्यप्रकारोऽस्ति यत्र रसादीनामप्रतीतिः। किन्तु यदा रसभावादिविवक्षाशून्यः कविः शब्दालङ्कारार्थालङ्कारौ वोपनिबध्नाति तदा तद्विवक्षापेक्षया रसादिशून्यताऽर्थस्य परिकल्प्यते। विवक्षोपारूढ एव हि काव्ये शब्दानामर्थः। वाच्यसामर्थ्यवशेन च कविविवक्षाविरहेऽपि तथाविधे विषये रसादिप्रतीतिर्भवन्ती परिदुर्बला भवतीत्यनेनापि प्रकारेण नीरसत्वं परिकल्प्य चित्रविषयो व्यवस्थाप्यते। तदिदमुक्तम्—

रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति।
अलङ्कारनिबन्धो यः स चित्रविषयो मतः॥
रसादिषु विवक्षा तु स्यात्तात्पर्यवती यदा।
तदा नास्त्येव तत्काव्यं ध्वनेर्यत्र न गोचरः॥

''एतच्च चित्रं कवीनां विशृङ्खलगिरां रसादितात्पर्यमनपेक्ष्यैव काव्यप्रवृत्तिदर्शनादस्माभिः परिकल्पितम्।''

तत्र लोचनव्याख्या—

''यमकचक्रबन्धादिचित्रतया प्रसिद्धमेव तत्तुल्यमेवार्थचित्रं मन्तव्यमिति भावः। आलेख्यप्रख्यमिति। रसादिजीवरहितं मुख्यप्रतिकृतिरूपं चेत्यर्थः।''

प्रस्तुतोद्धरणे चित्रपदादालेख्यप्रख्यत्वं मुख्यकाव्यस्य प्रतिकृतिरूपत्वं वा प्रमुखरूपेण गृहीतम्। यथाऽऽलेख्यं वस्तुनोऽनुकृतिपरं भवति, तथैव चित्रकाव्यं मुख्यकाव्यस्यानुकरणमेव रसादिजीवरहितम्। अनुकृतिस्तु निष्प्राणा एव भवतीति सुविदितमेव। दृश्यललितकलासु श्रव्यललितकलापेक्षयानुकृतितत्त्वं विशेषेण दृश्यते। तेनैवात्रालेख्यस्य सादृश्यं गृहीतम्। मम्मटाचार्येणापि काव्यस्य तृतीय—(अवर) कोटौ चित्रकाव्यस्य समावेशः प्रतिपादितः।

ननु चित्रपदेन वैचित्र्यं, कुतूहलजनकत्वं, विस्मयकरत्वं वाभिप्रेतं भवेत्। काव्येऽद्भुतरसस्य विस्मयतत्त्वस्य वा सर्वत्र व्यापकता स्वीकृता। सहृदयाह्लादजनने वैचित्र्यस्य महत्त्वमवगणयितुं न पारयति कोऽपि तत्त्वचिन्तकः। तर्हि किमिदं नाम चित्रकाव्यस्य मुख्यकाव्यपरिधेर्बहिष्कारः (ध्वनिकारेण यथा), अवरकोटौ स्वीकरणं वा (मम्मटेन यथा)। अत्रोच्यते, वैचित्र्ये नास्त्यरुचिः कस्यापि, किन्तु कवेर्विवक्षैव काव्यकोटिनिर्धारणे प्रमाणम्। यदि रसभावादिमनपेक्ष्य वैचित्र्यमात्रे विवक्षा स्यात् तर्हि रसभावादिव्यञ्जककाव्यापेक्षया हीनत्वं दुर्निवार्यमेव। रसभावानुग्राहकं वैचित्र्यं नास्त्यनभिमतं कस्यचिदपि। वैचित्र्यमात्रस्य स्वतन्त्रप्रयोगः रसभावध्वन्यनुगतप्रयोगश्च विवेक्तुं न शक्यतेऽतिसूक्ष्मदृष्टिं विना। तत्र कविविवक्षैव कविसंरम्भो वैकमात्रं प्रमाणमिति पुनरपि कथनीयम्।

चित्रकाव्ये चारुतायाः सद्भावं प्रति चित्रमीमांसाकारस्याप्पयदीक्षितस्य विशेषमिङ्गितमत्रोल्लेखनीयम् 'यदव्यङ्ग्यमपि चारु तच्चित्रम्' (चित्रमीमांसायां ग्रन्थारम्भप्रकरणे)। अव्यङ्ग्येऽपि चारुतायाः सर्वथा निषेधः सर्वत्र नो स्वीकरणीयः, इत्यभिप्रेतोऽर्थोऽत्र। चारुताया निषेधे काव्यलक्षणमेव चित्रेऽव्याप्तं भवेत्।

चित्रकाव्यस्य शब्दचित्र-अर्थचित्रेतिभेदद्वये किञ्चित्तारतम्यमस्तीति मत्वा जगन्नाथपण्डितराजेनार्थचित्रमधमकोटेरुद्धृतं, मध्यमकोटौ स्थापितञ्च। तदर्थं तेन काव्यस्य चतुष्कोटयः स्वीकृता यथा प्रथमा कोटिः—ध्वनिकाव्यं, द्वितीया कोटिर्गुणीभूतव्यंग्यं, तृतीया कोटिरर्थचित्रं,

चतुर्थाऽधमकोटिः शब्दचित्रम्। चित्रमीमांसाकारेणाप्यर्थचित्रस्य शब्दचित्राऽपेक्षया श्रेष्ठत्वमभिहितं यथा—'शब्दचित्रस्य प्रायो नीरसत्वान्नात्यन्तं तदाद्रियन्ते कवयः, न वा तत्र विचारणीयमतीवोपलभ्यत इति शब्दचित्रांशमपहायार्थचित्रमीमांसा प्रसन्नविस्तीर्णा प्रस्तूयते।' (चि० मी० १)

ध्वनिकाव्यस्य तुलनायामर्थचित्रस्य चापेक्षया शब्दचित्रस्यावरत्वमपरिहार्यं भवतु नाम, किन्तु तत्रापि चमत्कारविशेषस्य सद्भावोऽवगणनां नार्हति। ध्वनिकारानन्दवर्धनाचार्येणापि स्वीयदेवीशतके प्रभूतचित्रबन्धविन्यासः कृत इति विख्यातमेव। वर्णसाम्ये शब्दसाम्ये च संस्कृतमानवस्य स्वाभाविकी रुचिर्नोच्छेदनीया। शब्दचित्रस्याधमकोटिस्वीकरणेऽपि तत्राभिरुचिरद्यापि नो निराकृता। वर्णावृत्तित आकृतिकल्पना श्रव्यस्य दृश्ये परिणतिरेव। आकृत्यात्मकचित्रबन्धानां (खड्गचक्रादीनां) मूला प्रवृत्तिः श्रव्यस्य दृश्ये न्यासरूपैव वर्तते। श्रव्यस्य दृश्येऽभिव्यक्तेश्चूडान्तनिदर्शनमस्माकं संगीते राग-ध्यानपरम्परायां विद्यते। श्रव्यरागस्य दृश्यरूपध्यानं विवृतमस्माकं संगीतशास्त्रे। वेदपाठस्य ध्वज-जटा-माला-रथ-इत्याद्यष्ट-भेदेष्वाकृतिसूचकानि कतिपयनामाति सन्ति। अत्रापि श्रव्यवर्णविन्यासस्य क्रमभेदस्य दृश्यकल्पनैवोपजीव्या। तद्वत् सङ्गीतस्य स्वरसन्दर्भरूपिष्वलङ्कारेषु कतिपयनामान्याकृतिसूचकानि विद्यन्ते। यथा—वेणी-ऊर्मि-श्येन-आवर्त-आदीनि। संगीतप्रबन्धानां नामस्वपि चक्रवाल-क्रौञ्चपद-स्वस्तिक (रागकदम्बप्रबन्धभेदः)—इतीदृगाकृतिसूचकसंज्ञा उपलभ्यन्ते। तद्वदेवच्छन्छसामपि दृश्यसूचकनामानि प्राप्यन्ते यथा—कमल-काञ्ची-किरीट-क्रौञ्चपद-चक्र-चक्रपद-इत्यादीनि।

श्रव्ये दृश्यकल्पनायाः स्वल्पविवृत्यनन्तरं विविधकलासु चित्रकाव्यस्य सदृक्प्रवृत्तेर्यत्किञ्चिद्विवरणं क्रमप्राप्तमेव। चित्रकलायां (आलेख्ये) एकस्यामाकृत्यां गूढभावेनान्याकृतिनिवेशनं क्रियते। यथा—मेघपङ्क्तेश्चित्रे गजपङ्क्तेर्गूढचित्रणम्। तद्वन्मूर्तिकलायामप्येकस्यां मूर्त्यामेकाधिकाकृतीनां गूढसन्निवेश उपलभ्यते। उत्कलप्रदेशे भुवनेश्वरनगर्यां प्रख्यातकेदारगौरीमन्दिरस्य प्राङ्गणस्थ एकस्मिँल्लघुमन्दिरे प्राच्यां जटितैका मूतिर्मया दृष्टा यस्यामेकः शयानः पुरुषो भङ्गिविशेषेण दर्शनाद् वामदिशि न्यस्तशिरा दृश्यतेऽपरभङ्ग्या दर्शनेन च दक्षिणदिशि न्यस्तशिराः प्रतीयते, पुनरप्यपरभङ्ग्या निरीक्षणेन पुरुषद्वयं प्रतिभाति। तद्वत् वास्तुकलायां कोणार्काख्यसूर्यमन्दिरस्य रथाकृतिः प्रसिद्धैव। गीतप्रबन्धेष्वपि तत्सदृशी प्रवृत्तिः कतिपयप्रबन्धभेदानां जनयित्रीति ज्ञायते तज्ज्ञैः। उदाहरणार्थं—स्वरार्थप्रबन्धे स्वरसंज्ञानां संकेताक्षराणां स-रि-ग-म-पधनीनां तत्तन्नादात्मकस्वरूपसंश्लेषेणार्थकल्पना क्रियते। यथा—'गागरी सिर पर धरी'; 'सगरे गाम में, धाम धाम में'। कैवाडप्रबन्धे पाटाक्षरैः (वाद्यजनितध्वनिसूचकाक्षरैः) सार्थका निरर्थका च गीतरचना क्रियते, इयमेवाधुना 'त्रिवट'—इति नाम्ना ख्याता।

अत्रोपसंहारे वैदिकपरम्परायां यज्ञकर्मणि 'श्येनचिद्' इति संज्ञया ख्यातस्य क्रियाविशेषस्य स्मरणं प्रासङ्गिकम्। तत्र श्येनाकृतेर्निष्पत्त्यै विविधेष्टकानां चयनं भङ्गिविशेषेण क्रियते। तद्वत 'कङ्कचिद्' इति चयनयागसंज्ञाऽपि विद्यते।

आगमपरम्परागतायामुपासन-पद्धत्यां मन्त्रो ज्ञानात्मकः, तन्त्रं क्रियात्मकम्, यन्त्रञ्च भावनात्मकम्। यन्त्रमाकृतिमूलकमेव, तत्रापि चित्रबन्धानां मूलं भारतीयोपासनया सह संबद्धमिति प्रतीयते।

३. संस्कृतसाहित्ये लक्षण-लक्ष्य-ग्रन्थेषु चित्रबन्धकाव्यस्येतिहासः

(क) लक्षणग्रन्थाः

१. भरतमुनेर्नाट्यशास्त्रम्—नाट्यशास्त्रे 'यमकम्' इत्येक एव शब्दालङ्कारः प्रतिपादितः। यथा—

शब्दाभ्यासस्तु यमकं पादादिषु विकल्पितम्॥ (ना०शा० १६, ५९)

अत्राभिनवभारती यथा—

''एवमर्थविषयलक्षणप्रसङ्गेनार्थालङ्कारान् प्रदर्श्य शब्दालङ्कारस्वरूपमाह ……। तुरर्थालंकारेभ्यो व्यतिरेकमाह। शब्दशब्देन वर्णः, पदं, तदेकदेश इति सर्वं गृह्यते। तेनानुप्रासः, लाटीयादेरनेनैवोपसंग्रहः। यमौ द्वौ समजातावुच्येते तत्प्रकृतित्वाद्यमकम्। तेनैकस्याक्षरस्य पदस्य वा द्वितीयं सदृशं निरन्तरं सान्तरं वा शोभाजनकमलङ्कारः। यथा मुक्ताफलस्योचित-मुक्ताफलान्तर-पद्मरागादेर्वोपाश्रयविशेषः समुचितसहासीन-सत्पुरुषमध्यपतनं वा सत्पुरुषान्तरस्य।''

सुस्पष्टविवृतिरियं विवरणान्तरं नापेक्षते। यमकस्य भरतोक्ता दश भेदाः सलक्षणा यथा—

(१) **पादान्तयमकम्**—चतुर्णां यत्र पादानामन्ते स्यात् सममक्षरम्।

(२) **काञ्चीयमकम्**—पादस्यादौ तथान्ते च यत्र स्यातां पदे समे।

(३) **समुद्रयमकम्**—अर्धेनैकेन यद् वृत्तं सर्वमेव समाप्यते।

(४) **विक्रान्तयमकम्**—एकैकं पादमुत्क्रम्य द्वौ पादौ सदृशौ यदा॥

(५) **चक्रवालयमकम्**—पूर्वस्यान्तेन पादस्य परस्यादिर्यदा समः॥

(६) **सन्दष्टयमकम्**—आदौ द्वे यत्र पादे तु भवेतामक्षरे समे॥

(७) **पादादियमकम्**—आदौ पादे तु यत्र स्यात् समावेशः समाक्षरः।

(८) **आम्रेडितयमकम्**—पादस्यान्त्यं पदं यत्र द्विर्द्विरेकमिहोच्यते॥

(९) **चतुर्व्यवसितयमकम्**—सर्वे पादाः समा यत्र भवन्ति नियताक्षराः॥

(१०) **मालायमकम्**—नानारूपैः स्वरैर्युक्तं यत्रैकं व्यञ्जनं भवेत्॥ (ना०शा० १६. ५९-८६)

वर्णावृत्तिः पदैकदेशावृत्तिः पदावृत्तिरिति त्रिविधाऽऽवृत्तिरेव शब्दालङ्काराणां मूलरूपा। यमकस्यैव शिथिल-गाढ-बन्धैश्चित्रबन्धाः सम्भवन्ति। भरतोक्तयमकभेदेष्वपि चक्रवालकाञ्ची-मालेतिसंज्ञा आकृतिसूचकाः। चक्रवालयमकमेव चक्रबन्धस्य रूपे न्यस्तं परवर्तिकाले।

२. **अग्निपुराणम्**—अत्र यमकस्य षोडशभेदाः, चित्रबन्धानां चाष्टौ भेदा उक्ता यथा—गोमूत्रिका, अर्धभ्रमणम्, सर्वतोभद्रम्, अम्बुजम्, चक्रम्, चक्राब्जम्, दण्डः, मुरजश्चेति।

३. **भामहस्य काव्यालङ्कारः**—अस्मिन् ग्रन्थे यमकस्य पञ्चप्रकारा आदि-मध्यान्त-पादाभ्यास-आवली-समस्तपाद-इतिविशेषणयुक्ता एव स्वीकृताः। भरतोक्ता अन्य भेदा एष्वेवान्तर्भुक्ता इति प्रतिपादितम् (२. ९-१८)। प्रहेलिकाया लक्षणमुक्त्वा तस्य व्याख्या-गम्यत्वञ्च द्योतयित्वा तदुदाहरणं नोक्तवान् भामहः।

४. **दण्डिनः काव्यादर्शः**—यमकभेदाः सविस्तरमुक्ताः। कतिपयचित्रबन्धा अपि लक्षणोदाहरणसहिताः प्रतिपादिताः। यथा—गोमूत्रिका, अर्धभ्रमकम् सर्वतोभद्रम्। प्रहेलिकायाः साङ्गोपाङ्गनिरूपणमुपलभ्यतेऽस्मिन् ग्रन्थे।

५. **वामनस्य काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिः**—अत्र यमकस्यानेकभेदा उक्ताः। शृङ्खला-परिवर्तक-चूर्ण-इति-भङ्गविशेषा यमकस्योपकारकत्वेनोपन्यस्ताः।

६. **रुद्रटस्य काव्यालङ्कारः**—यमकश्लेषनिरूपणानन्तरं चित्रबन्धप्रतिपादनं स्वतन्त्रेऽध्याये (पञ्चमे) कृतम्। तत्र चित्रबन्धस्य लक्षणं यथा—

भङ्ग्यन्तरकृततत्क्रमवर्णनिमित्तानि वस्तुरूपाणि।
साङ्कानि विचित्राणि च रच्यन्ते यत्र तच्चित्रम्॥ (५.१)

तत्रोदाहृता बन्धा यथा—खड्ग-मुसल-धनुः-शर-शूल-शक्ति-हल-रथपद-तुरगपद-गजपद-प्रतिलोमानुलोम-अर्धभ्रम-मुरज-सर्वतोभद्र-पद्म-अनुलोम-विलोमविपर्यस्ताक्षरपाठाः। अष्टबन्धस्थपद्यानां महाचक्र एकत्र विन्यासो रुद्रटस्यापूर्व-कौशलव्यञ्चकः। अस्माकं चित्रकविरामरूपैरपि महाचक्रो निबद्धः।

७. **भोजराजस्य सरस्वतीकण्ठाभरणम्**—समस्तलक्षणग्रन्थानां मौलिरत्नभूतोऽयं ग्रन्थश्चित्रबन्धनिरूपणप्रसङ्गे। तत्र चित्रप्रकरणे वर्ण-स्थान-स्वर-आकार-गति-बन्ध-इतिषट्-प्रकारेण विशिष्टस्य चित्रकाव्यस्य साङ्गोपाङ्गानि लक्षणोदाहरणानि सन्ति। आकृतिमूलकेषु बन्धेषु बहुविधः पद्मबन्धः, चक्र-द्विशृङ्गाटक-शरयन्त्र-व्योम-मुरज-एकाक्षरमुरज-मुरजप्रस्तार-गोमूत्रिकादयो विशेषोल्लेखनीयाः।

८. **मम्मटस्य काव्यप्रकाशः**—यमकस्य 'अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः' (९.११७)—इति लक्षणमुक्त्वा मम्मटाचार्यः 'तदेतत्काव्यान्तर्गड्डुभूतमिति नास्य भेदलक्षणं कृतम्' इति गदित्वा यमकभेदानां साङ्गनिरूपणान्निवृत्तः। तत्र चित्रबन्धस्य लक्षणं यथा—

तच्चित्रं यत्र वर्णानां खड्गाद्याकृतिहेतुता॥ (९.१२१)

खड्ग-मुरज-पद्म-सर्वतोभद्र-इति-चत्वारो भेदा उदाहृताः।

९. **हेमचन्द्रस्य काव्यानुशासनम्**—''स्वर-व्यञ्जन-स्थान-गति-आकार-नियम-च्युत-गढादि-चित्रम्''—इति लक्षणं दत्वा प्रतिभेदमुदाहरणानि न्यस्तवान् हेमचन्द्रः। आकारबन्धे नास्ति विशेषः कोऽपि।

१०. **राजानकरुय्यकस्य अलङ्कारसर्वस्वम्**—''वर्णानां खड्गाद्याकृतिहेतुत्वे चित्रम्।'' (पृ० ३०) ''पौनरुक्त्यप्रस्तावे स्थानविशेषश्लिष्ट-पौनरुक्त्यात्मकं चित्रवचनम्। यद्यपि लिप्यक्षराणां खड्गादिसन्निवेशविशिष्टत्वं तथापि श्रोत्राकाशसमवेत-वर्णात्मशब्दाभेदेन तेषां लोक प्रतीतेर्वाचकशब्दालङ्कारोऽयम्।'' (तत्रैव)। तत्र जयरथस्य टीका यथा—''लिप्यक्षराणां श्रूयमाणता सतत्त्ववर्णशब्दाभेदप्रतिपत्त्या औपचारिकोऽयं शब्दालङ्कार इति तात्पर्यार्थः।''

११. **कविकर्णपूरस्य अलङ्कारकौस्तुभः**—

चित्रं नीरसमेवाहुर्भगवद्विषयं यदि। (७.२१४)
तदा किञ्चिच्च रसवद्यथेक्षोः पर्वचर्वणम्॥

इतिश्लोके चित्रस्य पृथङ्निर्देशं कृत्वा कतिपयबन्धानुदाहृतवान् कविकर्णपूरो यथा—प्रतिलोमानुलोमपाद-प्रतिलोमानुलोमश्लोक-सर्वतोभद्रच्छत्र-खड्ग-मुरज-पताका-गदा-पद्म-चक्र-शार्ङ्ग-बन्धाः।

१२. **विश्वनाथस्य साहित्यदर्पणः**—

पद्माद्याकारहेतुत्वे वर्णानां चित्रमुच्यते॥ (१०.१५)

''आदिशब्दात् खड्गमुरजचक्रगोमूत्रिकादयः। अस्य च तथाविधश्रोत्राकाशसमवाय-विशेषवशेन चमत्कारविधायिनामपि वर्णानां तथाविधश्रोत्राकाशसमवायविशेषवशेन चमत्कार-विधायिवर्णैरभेदेनोपचाराच्छब्दालङ्कारत्वम्। .... (अष्टदलपद्मबन्धस्योदाहरणानन्तरम्)—काव्यान्तर्गड्डुभूततया तु नेह प्रपञ्चयते।''

उद्भटेन तु काव्यालङ्कारसारसंग्रहेऽनुप्रासलाटानुप्रासादि-व्यतिरिक्तः कोऽपि शब्दालङ्कारो न निरूपित इति तस्य संग्रहो न कृतोऽत्र।

चित्रकाव्य-प्रतिपादक-प्रकीर्णलक्षणग्रन्थेषु धर्मदाससूरेर्विदग्धमुखमण्डनम् इति ग्रन्थः स्मरणीयोऽत्र। तथैवाधुनिकयुगे दामोदरमिश्रशास्त्रिप्रणीतं चित्रबन्धकाव्यमपि लक्षणोदाहरण-ग्रन्थरूपेणोल्लेखनीयम्।

उपसंहारे पाणिनीयाष्टाध्यायीत उद्धरणमेकमप्रासङ्गिकं न भवेत्। संज्ञायाम् (३।४।४२) 'बन्धे च विभाषा' (६।३।१३) इति सूत्रद्वयस्य व्याख्याने काशिकायां क्रौञ्च-मयूरिका-अट्टालिका-हस्त-चक्र-इति-बन्धभेदा उल्लिखिताः। तेनावधारयितुं शक्यते यत् पाणिनिमुनेः कालेऽपि काव्ये चित्रबन्धानां प्रचलनमासीत्।

(ख) लक्ष्यग्रन्थाः

वैदिकवाङ्मये शब्दचमत्कारस्य कूटत्वस्य च बीजरूपेण सद्भावोऽविरलरूपेणोपलभ्यते। कूट-प्रकारविशेष-प्रहेलिकाया उदाहरणरूपि-निम्नोद्धृतमन्त्रा विद्यन्ते।

कः स्विदेकाकी चरति क उ स्विज्जायते पुनः।
कि ᳪ स्विद्धिमस्य भेषजङ्किंवा वपनं महत्॥ ४५॥

सूर्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः।
अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमि वा वपनं महत्॥ ४६॥
कि ৺ स्वित् सूर्यसमञ्ज्योतिः कि ৺ समुद्रसमं सरः।
किं स्वित् पृथिव्यै वर्षीयः कस्य मात्रा न विद्यते॥ ४७॥
ब्रह्म सूर्यसमञ्ज्योतिर्द्यौः समुद्रसम ৺ सरः।
इन्द्रः पृथिव्यै वर्षीयान्गोस्तु मात्रा न विद्यते॥ ४८॥

० ० ० ०

केष्वन्तः पुरुष आविवेश कान्यन्तः पुरुषे अर्पितानि।
एतद् ब्रह्मन्नुपबल्हामसि त्वा कि ৺ स्विन्नः प्रतिवाचा स्यात्॥ ५१॥
पञ्चस्वन्तः पुरुष आविवेश तान्यन्तः पुरुषे अर्पितानि।
एतत्त्वात्र प्रतिमन्वानो अस्मिन् मायया भवस्युत्तरो मत्॥ ५२॥
का स्विदासीत् पूर्वचित्तिः कि ৺ स्विदासीद् बृहद् द्वयः।
का स्विदासीत् पिलिप्पिला का स्विदासीत् पशंगिला॥ ५३॥
द्यौरासीत् पूर्वचित्तिरश्व आसीद् बृहद् द्वयः।
अविरासीत् पलिप्पिला रात्रिरासीत् पशंगिला॥ ५४॥

(वाजसनेयिसंहिता २३।४५-४८, ५१-५४)

तद्वत्—
द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो‌ऽभिचाकशीति॥ (मुण्ड० ३।१।१)

इति मन्त्रेऽपि कूटत्वं स्पष्टमेव। अनुप्रासस्योदाहरणमपि दुर्लभं नास्ति। यथा—

सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका।
उदन्यजेव जेमना मदेरू ता मे जराय्वजरं मरायु॥ (ऋ० सं० १०/१०६/६)
ह ৺ सः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्॥ (कठो० २.२.२.)

'नमकाध्याय'—'चमकाध्याय'—(शुक्लयजुर्वेदसंहितायां यथाक्रमं-१६-१८ संख्यकौ) इति संज्ञाद्वयमप्यनुप्रासबोधकम्।

'वरुणस्योत्तम्भनमसि' (शुक्लयजुर्वेदसं० अ० ४/४०) इति मन्त्रस्य पद्मबन्धरूपे न्यासः सम्भवः।

आदिकविवाल्मीकिप्रणीते लौकिकवाङ्मयस्यादिमप्रबन्धे यमकानुप्रासयोर्बहुलप्रयोगो दृश्यते। तत्र सुन्दरकाण्डस्य पञ्चमसर्गे सर्वे श्लोकाः (सप्तविंशतिसंख्यकाः) प्रतिचरणमन्त्यानुप्रासयुक्ताः। तेन सर्वेषामेव पद्मबन्धे न्यासो निष्पद्यते। तत्र प्रथमश्लोकद्वयं यथा—

ततः स मध्यङ्गतमंशुमन्तं, ज्योत्स्नावितानं मुहुरुद्वहन्तम्।
ददर्श धीमान् दिवि भानुमन्तं, गोष्ठे वृषं मत्तमिव भ्रमन्तम्॥
लोकस्य पापानि विनाशयन्तं, महोदधिंञ्चापि समेधयन्तम्।
भूतानि सर्वाणि विराजयन्तं, ददर्श शीतांशुमथाभियान्तम्॥

कविकुलगुरुकालिदासै रघुवंशमहाकाव्ये यमकस्य भेदाः प्रस्तुताः। महाकाव्ये चित्रबन्धात्मकस्य सर्गविशेषस्य प्रयोक्ता सर्वप्रथमः कविर्भारविरेव वर्तते। तेन किरातार्जुनीयस्य पञ्चदशसर्गे गोमूत्रिकाबन्धः (द्वादशपद्येषु) सर्वतोभद्रं (पञ्चविंशति-पद्येषु) अर्धभ्रमकं (सप्तविंशतिपद्येषु) इति चित्रकाव्यभेदाः सन्निविष्टाः।

भट्टिकवे रावणवधकाव्ये निम्नोद्धताश्चित्रभेदा विशेषेणोपलभ्यन्ते।

१. एकान्तराख्यातम् (एकपदान्तरेणाख्यातनिवेशः)।

२. आख्यातमाला (एकस्मिन्नैव लकार आख्यातानां प्रयोगः—''भ्रेमुर्ववल्गुर्ननृतुर्जजक्षु'रित्यादि)

३. आद्यन्तयमकम्।

४. संस्कृतप्राकृतस्य सङ्कीर्णप्रयोगा भाषावैचित्र्यबोधकाः। (भट्टिकाव्यस्य प्रसन्न-काण्डे भाषासमावेशाख्ये चतुर्थपरिच्छेद एतादृग्भाषायमकप्रयोगा बाहुल्येन विद्यन्ते, परिच्छेदोऽयं गणनाभेदेन सेतुबन्धनाख्यत्रयोदशसर्गरूपेऽपि प्रत्यभिज्ञातः)।

महाकविमाघेन शिशुपालवधस्यैकोनविंशसर्गे निम्नोद्धृतचित्रप्रकारा निबद्धाः। तत्र कतिपयनवीनाश्चित्रबन्धा अपि सन्ति। १-**एकान्तरपादः**, २-**एकाक्षरबन्धः** ३-**द्व्यक्षरबन्धः** ४-सर्वतोभद्रम् ५-मुरजबन्धः ६-**प्रतिलोमानुलोमबन्धः** ७-गोमूत्रिकाबन्धः ८-**असंयोगवर्णबन्धः** ९-अर्धभ्रमकम् १०-**गतप्रत्यागतम्** ११-**गूढचतुर्थबन्धः** (यत्राद्यपादत्रयादेव चतुर्थपादो निष्पद्यते) १२-**अतालव्यबन्धः** १३-**अर्थत्रयवाचिबन्धः** १४-चक्रबन्धः।

राजानकरत्नाकरस्य **हरविजयमहाकाव्ये** विंशतिसर्गेषु युद्धवर्णनं निबद्धम् (३१-५० तमसर्गेषु), तत्र **अष्टचत्वारिंशत्संख्यकः** सर्गश्चित्रात्मकः। शिवस्वामिनः **कप्फिणाभ्युदय**-महाकाव्ये ६-१८ संख्यकसर्गाः प्रायेण चित्रात्मकाः। मङ्खकस्य **श्रीकण्ठ**चरितेऽपि श्लिष्टप्रयोगा बाहुल्येन दृश्यन्ते।

उपर्युदाहृतमहाकाव्येषु युद्धवर्णनप्रसङ्ग एव प्रायशश्चित्रबन्धाः प्रयुक्ताः। युद्धे सैनिकानां विविधसन्निवेशैर्व्यञ्जिता आकृतयस्तत्र वर्णनप्रसङ्गे चित्रबन्धकल्पनामुद्बोधयन्तीति कथयन्ति केचित्।

महाकाव्येषु वृत्तविशेषवर्णनस्य (विशेषेण युद्धवर्णनस्य) प्रसङ्गे सर्गविशेषे चित्रबन्धानां सन्निवेशः संस्कृतसाहित्ये प्रायशः सर्वत्र दृश्यते। तद्व्यतिरिक्तानि चित्रबन्धात्मकानि स्वतन्त्रकाव्यान्यपि बहूनि सन्ति। तत्र कतिपयनामानि यथा—चित्रकवेश्चित्ररत्नाकरः, वेङ्कटेश्वरस्य चित्रबन्धरामायणम्, कविराजसूरे राघवपाण्डवीयम्, विद्यामाधवस्य पार्वतीरुक्मिणीयम्, चिदम्बरसुमतेर् राघवपाण्डवयादवीयम् (श्लेषस्य चूडान्तनिदर्शनमस्मिन्नर्थत्रयस्यैकत्र सन्निवेशात्), कृष्णमूर्तेः कङ्कणरामायणम्, श्रीकृष्णपरब्रह्मपरतन्त्रकालस्वामिनोऽलङ्कारमणिहारः, विश्वेश्वरस्य कवीन्द्रकर्णाभरणम् (काव्यमालागुच्छकोऽष्टमः) नागराजस्य भावशतकम् (काव्यमालागुच्छश्चतुर्थः, अस्मिन् प्रहेलिका विशेषेण निबद्धाः)।

स्तोत्रसाहित्ये चित्रबन्धानां विशिष्टं स्थानं दृश्यते। उपासनायां यन्त्रस्य माहात्म्यं सुविदितमेव। चित्रबन्धव्यञ्जिता आकृतयो यन्त्रसादृश्यं बिभ्रति, तत्सादृश्यप्रभावेण हि स्तोत्रेषु चित्रबन्धान्प्रति विशेषाभिरुचिर्जातेति नास्त्यकल्पनीयम्। स्तोतव्यं प्रति स्तोतुः स्वाभाविकोऽनुरागः, तयोर्मध्ये सामाजिकस्य भावार्थबोधस्य व्यवधानराहित्यञ्च, इत्यपि तत्र कारणत्वेन संभावयितुं शक्यते। स्तोतव्ये सकलगुणसमुदायस्य संभावनोचिता वर्तत इति हेतोः स्तोतुरुद्भावनात्मिका शक्तिरबाधभावेन सञ्चरितुं प्रभवति तेन चित्रनिर्माणे सौकर्यं भवतीत्यपि कारणं तत्र भवितुमर्हति। चित्रबन्धात्मकेषु बहुषु स्तोत्रकाव्येषु—आनन्दवर्धनाचार्यस्य देवीशतकम्, अवतारकवेरीश्वरशतकम् (द्वेऽपिकाव्यमालागुच्छकेऽष्टमे) वेङ्कटाध्वरेर्लक्ष्मीसहस्रञ्च उदाहर्तुं शक्यन्ते।

जैनस्तोत्रसाहित्ये चित्रबन्धकाव्यस्य महानुत्कर्षो जातः। द्विदलकमलबन्धादारभ्य सहस्रदलकमलपर्यन्तं रचना जैनाचार्यैः कृता। तत्रापि श्वेताम्बरसंप्रदायमन्तर्भुक्ता आचार्याश्चित्रकाव्यस्य पूर्णरसिका आसन्। तत्र कतिपयस्तोत्रनामानि यथा—समन्तभद्रस्वामिनो जिनशतकस्तुतिविद्या, जयतिलकसूरेश्चतुरहारावलिचित्रस्तवः। चित्रबन्धानां नवीनभेदानामुद्भावनेन जैनाचार्याणां योगदानमत्यन्तमहत्त्वपूर्णं विद्यते।

आधुनिकयुगे संभूतानां चित्रकवीनां नामोल्लेख उपसंहारे प्रासङ्गिक इति प्रतीयते। तत्र काशीवासिश्रीदुःखभञ्जनकविः (वाग्वल्लभाख्यछन्दोग्रन्थरचयिता, तस्य चित्रबन्धा नो प्रकाशिताः) श्रीरघुवीरमिश्रः (श्रीलक्ष्मीश्वरोपायनकर्ता) मगधवासी श्रीदामोदरमिश्रशास्त्री (चित्रबन्धकाव्यरचयिता)—इति नामानि समादरेण स्मरणीयान्यस्मिन् प्रस्तावे।

४. अन्यभारतीयभाषासु चित्रबन्धपरम्परा

प्राकृत-अपभ्रंश-साहित्येऽपि चित्रबन्धरचना कियन्मात्रायामुपलभ्यते। किन्त्वत्राधुनाप्रचलितभारतीयभाषाणां चित्रबन्धात्मकसाहित्यस्य विहंगावलोकनमेव प्रयोजनम्। तत्र हिन्दीभाषाया विशिष्टस्थानं वर्तते।

हिन्दीसाहित्यैतिहासिककालविभाजने रीतिकालनाम्ना ख्याते काले चित्रबन्धरचनाया महानुत्कर्षो जातः। केशवदास-भिखारीदास-लालकवि-गोकुलनाथ-दीनदयालगिरि-इत्यादि-कविवर्या अत्र विशेषेणोल्लेखनीयाः। तत्रापि किञ्चिदुदाहरणार्थम् आचार्यकेशवदासो दीनदयालगिरिश्चेतिकविद्वयमलं भविष्यतीति मन्ये।

आचार्यकेशवदास :

(खिष्टीयषोडशशताब्द्यां वर्तमानः)—अनेन स्वीयग्रन्थकविप्रियायां विशिष्टालङ्कार-वर्णनाख्ये पञ्चदश-'प्रभावे' यमकस्यानेकभेदा उदाहृताः, यथा—आदिपद-द्वितीयतृतीयचतुर्थ-चरण-आद्यन्त-त्रिपदादि-द्विपदादि-पादानुपादादि-द्विपादान्त-उत्तरार्धचतुष्पादादि-आद्यन्तनिरन्तर-आद्यन्तरसान्तर-इत्यादियमकानि। तदनन्तरं षोडशप्रभावे चित्रककवित्वस्य अनेकभेदा उदाहृताः। यथा निरोष्ठकरचना (ओष्ठ्यवर्णवर्जिता) अकारमात्रयुक्तैर्वर्णै रचना एकाक्षर-द्वयक्षर-त्र्यक्षर-चतुरक्षरपदयुक्ता रचना (प्रतिपदं कियन्त्यक्षराणि प्रयुज्यन्त इति नियमसमाश्रिता), प्रतिपद्यं कियन्त्यक्षराणि गृह्यन्त इति नियमानुरोधेन एकाक्षरबन्धात् समारभ्य षड्विंशत्यक्षरबन्धपर्यन्तं भेदा उदाहृताः। चतुरक्षरपद्यबन्धो यथा—

बनमाली बन में मिले बनी नलिन बनमाल।
नयन मिली मन मन मिली बैन न मिली न बाल॥

पद्येऽस्मिन् ब-ल-म-न इति अक्षरचतुष्टयमेव प्रयुक्तम्। यत्र प्रतिपदं वर्णसंख्या नियता तत्र 'सीतानाथ-सेतुनाथ-सत्यनाथ-रघुनाथ-व्रजनाथ-दीनानाथ-देवगति'—इतिसदृशी पद-रचना नियताक्षरसंख्यया भवति।

पदे पद्ये वा अक्षरनियमनादुत्पादितभेदप्रभेदानन्तरं प्रश्नोत्तरस्यानेकभेदा वर्णिताः। यथा एकानेकोत्तरं, व्यस्तसमस्तोत्तरं, व्यस्तगतागतोत्तरं, बहिर्लापिका (यत्रोत्तरं पद्यस्य बहिर्भागे वर्तते) अन्तर्लापिका (यत्रोत्तरं पद्यस्यान्तर्भाग एव समाविष्टम्), गुप्तोत्तरमित्यादयः। बहिर्लापिकोदाहरणं यथा—

"अक्षर कौन विकल्प को, जुवति बसति किहि अंग।
बलिराजा कौने छले सुरपति के परसंग। वामन जानिबो॥"

अन्तर्लापिकोदाहरणम्—

"कौन जाति सीता सती, दई कौन कहँ तात।
कौन ग्रन्थ बरनी हरी, रामायन अवदात॥

प्रश्नोत्तरस्य भेदवर्णनानन्तरमनुलोमविलोमक्रमेणैकार्थस्य भिन्नार्थस्य च गतागतैकार्थगतागतभिन्नार्थ-इतिसंज्ञाभ्यां निरूपणं दृश्यते गतागतैकार्थो यथा—

"माल बनी बलि केशवदास सदा वश केलि बनी बलमा"

गतागतभिन्नार्थोदाहरणम्—

सैन न माधव को सर केशव रेख सुदेश सुवेश सबै।
नै नव की तचि जी तरुणी रुचि चीर सबै निमि काल फलै।
तै न सुनी जस भीर भरी, धर धीर' व रीति सु कौन कहै।
मैन मनी गुरु चाल चलै, शुभ सो बन में सर वीव लसै॥

विलोमक्रमेणास्यैव पद्यस्य निम्नोद्धृतं स्वरूपं भवति—

शैल बसी रस मे नव सोभ सुलय चल चारु गुनी मन मैं।
है वन कोसु तिरी बर धीर धरी भर भी सजनी सुन तै।

लय फल कामिनि वैस रची चिरु नीरु तजी चित की वन नै।
वैस सवेश सदेश खरे वस कै रस जो वध मान नसै॥

पद्यस्य चरणचतुष्टये गतागतैकार्थस्य सन्निवेशे सर्वतोभद्रबन्धो निष्पद्यते। आकृत्यात्मक-चित्रबन्धेषु केशवदासेन चक्र-कमल-पर्वत-सर्वतोमुख-हार-डमरु-बन्धाः सोदाहरणं निरूपिताः।

(प्रस्तुतविवरणं हिन्दुस्तानीएकेडेमी-इलाहाबादतः प्रकाशित-पण्डितविश्वनाथमिश्रसंपादितकेशवग्रन्थावाल्ल्याः प्रथमखण्डाश्रितम्)

दीनदयालगिरिः

वर्षशताधिककालात्पूर्वं वर्तमानः प्रभूतप्रतिभाशाली काशीवासी कविरयं शब्दचित्रेऽर्थचित्रे रसवत्काव्ये च सिद्धहस्त आसीत्। अनेन बहुविधानि चित्रकाव्यानि रचितानि। कतिपयोदाहरणान्यत्र सहृदयानुरञ्जकानि भविष्यन्तीतिमन्वाना प्रवृत्तास्मि तदुद्धरणप्रसङ्गे।

१—मध्याक्षरी—मूलरोलाछन्दसि मध्ये द्रुतविलम्बितनिष्पत्तिः—

गंगा जय जन जननि देवि संपद तन श्री तन।
हे मंजुलगति कलनि पुरातन शिव ता के गन।
कुसुम मलय तिल छिपा सुतट भावन जल पावन।
टरि भव भव भा करी सिवै तैं केते भुवि जन॥ १॥

परसे दिव्य विमान काम जित वपु ते पाये।
पाप ताप बिन जना सदा शिव लोकै छाये।
सनि तपनादि दिवेस शंभु श्री कुज गुरु सेवैं।
शंभु मुकुट उरु माल काल ससि दिवि के देवैं॥ २॥

संस्कृते द्रुतविलम्बितम्—

जननि संतत मंगलराशिके, कुमतिपाटनपाटवभासिके।
विपदि मामव पापविनाशिके, सपदि शं कुरु शं कुरु काशिके॥

२—मध्यान्तरी अन्तर्लापिका—(पद्यस्यान्तर्भाग एव प्रश्ननामुत्तरसमावेशः—विस्तर-भयेन पद्यं नोदाह्रियते)।

३—अनेकानेकोत्तरम्—(अनेकप्रश्ननामेकोत्तरम्) यथा—

वासर को कहैं कहा? कौन वाची औसर को?
कहा करैं बलि? कौन अली को सिंगार है?
वृन्द पर जाये कहा? कौन निन्द्यभाजन है?
पार के समान कौन प्रानिन को प्यार है?
कौन तरु नाम? कौन चाम पै रचे हैं स्याम?
केते रवि रूप? भूप का पै हितकार है?
कौन दीनद्याल देव? कौन की न कीजै सेव?
प्रश्न ये अनेक ज्वाब दीनों एक बार है।

अत्र द्वादशप्रश्ननामेकोत्तरं वारपदेन न्यस्तम्। कोशे यथा—

''वारः सूर्यादिदिवसे द्वारेऽवसरवृन्दयोः।
कुल वृक्षे हरे वारो वरं मद्यस्य भाजने।''

४.—अर्धगतागतं सर्वगतागतञ्च, ५—षोडशदलकमलबन्धः, ६—डमरुबन्धः, ७—कपाटबन्धः, ८—द्वादशदलकमलबन्धः (निरोष्ठः), ९—चक्रबन्धः, १०—फणिबन्धः, ११. प्रश्नोत्तराणामनेकप्रकाराः, १२—सिंहावलोकनं (पद्यस्य प्रत्येकचरणान्त्यस्य पदस्य पदान्तस्य वा परचरणादौ सन्निवेशः), १३—काकावलोकनम् (अन्त्यानुप्रासविशेषः), १४—बहुविधयमकम्, १५—एकस्वरबन्धः, १६—लघ्वक्षरबन्धः, १७—मुद्रालङ्कारः (नामविशेषमुद्रया शिलष्टार्थसाधनम्। रामपरिकराणां, विशिष्टग्रन्थानां, छन्दसां, पुष्पाणां, सप्तवासराणां मुद्रया रचितं पद्यपञ्चकम्)। तत्र सिंहावलोकनस्य विशिष्टग्रन्थमुद्रायाश्चोदाहरणं यथा—

सिंहावलोकनम्—

धाई है कुमति तव विषै विष काँटनि में,
हरि की न छन भर चरचा चलाई है।
लाई है न प्रीति कहूँ सन्तन के संग जाय,
कबहुँ न काहू संग करो तू निकाई है।
काई है मलीन मन छाई अति दीनद्याल,
ताकी नहीं करे कूर रंचक उपाई है।
पाई है न कछू सब उमर गंवाई अजौ,
आई नहीं लाज सुने जम की बधाई है॥

मुद्रालङ्कारः—

ध्याय रघुवंश के कुमार को विहंग मन,
कामादिक हैं किरात ताहि जाल क्यों फँसै।
ऐसी विस्वमोहिनी प्रभा लखी न मेदिनी मैं,
देखत अमर जाहि प्रेमरस में रसैं।
जासु मुखचन्द की सुकौमुदी मनोरमा में,
चित्त चन्दसेखर हूँ को चकोर सो बसैं।
तासु अब दीनद्याल नाम लै शिरोमणि कै,
यही तत्त्वसार माँहि मुकतावली लसै॥

(नागरीप्रचारिणीसभातः १९८९तमे ख्रिष्टाब्दे प्रकाशित-श्यामसुन्दरदाससंपादितदीनदयालगिरिग्रन्थावलीतः संगृहीतं विवरणमिदम्।)

भक्तप्रवरतुलसीदासाः—

एभिश्चित्रबन्धनिर्माणे अभिनिवेशपूर्वकं संरम्भो न कृतः किन्तु सिद्धकवीनामेषां गिरोऽनायासमेव नानाविधैश्चित्रैश्चित्रिता दृश्यन्ते। शहडोलनिवासिपण्डितचन्द्रभूषणतिवारिमहोदयै रामचरितमानसे छत्र-खड्ग-नाल-सनालपद्म-त्रिशूल-नाग-मयूर-किरीट-अश्वगतिबन्धा अन्वेषणपूर्वकं प्रकटीकृताः। उदाहरणार्थं—'नमामि भक्तवत्सलं कृपालुशीलकोमलं, भजामि ते पदाम्बुजं, अकामिनां स्वधामदं'—इतिपद्यमश्वगतिबन्धे सुष्टु न्यस्तं यथा—

न[१]	पा[१०]	मि[३]	शी[१२]	व[५]	को[१४]	स[७]	लं[१६]
भ[१७]	का[२६]	मि[१९]	ना[२८]	प[२१]	धा[३०]	बु[२३]	दं[३२]
कृ[९]	मा[२]	लु[११]	भ[४]	ल[१३]	व[६]	म[१५]	लं[८]
अ[२५]	जा[१८]	मि[२७]	ते[२०]	स्व[२९]	दां[२२]	म[३१]	जं[२४]

छत्रबन्धे 'आगे चले बहुरि रघुराया रिष्यमूकपर्वत नियराया' इति पद्यांशो न्यस्तो यथा—

या

या रा या

या रा घु रा या

या रा घु र घु रा या

या रा घु र रि र घु रा या

या रा घु र रि हु रि र घु रा या

या रा घु र रि हु ब हु रि र घु रा या

या रा घु र रि हु ब ले ब हु रि र घु रा या

या रा घु र रि हु ब ले च ले ब हु रि र घु रा या

या रा घु र रि हु ब ले च गे च ले ब हु रि र घु रा या

या रा घु र रि हु ब ले च गे आ गे च ले ब हु रि र घु रा या

रि

ष्य

मू

क

प

र्व

त

नि

य

रा

या

उदाहरणद्वयेऽस्मिन् न्यास-वैशिष्ट्यमेव, न तु वर्णावृत्तिवैशिष्ट्यम्।

हिन्दीभाषायां चित्रबन्धनिर्माणस्याल्पपरिचयानन्तरमन्यभारतीयभाषासु तथाविधसाहित्यसद्भावस्योल्लेखमात्रं प्रयोजनसाधकं भविष्यति।

गुर्जरभाषा—श्रीदलपति-मनसुखभाई-खबरदार-प्रभृतयः कतिपयजैनाचार्याश्च चित्रकाव्यनिर्मातारस्तत्साहित्ये प्रमुखरूपेणोल्लेखनीयाः।

महाराष्ट्रभाषा—अस्यां चित्रकाव्यारम्भो रुक्मिणीस्वयंवराख्यकाव्यस्य निर्मातुः श्रीविट्ठलकवितो मन्यते। कविमोरोपन्तः (मयूरपन्तः) अम्लानमालाबन्ध-मन्त्ररामायण-किन्तुरामायण-परन्तुरामायणादि काव्यानि निर्मितवान्। श्रीपालन्देमहाशयेन सैरन्ध्रीनाटके कतिपया आकृतिबन्धा दत्ताः। 'षण्मासींचा वायदा' संज्ञकपुस्तके कूटपद्यानां प्रहेलिकानां च निरूपणं वर्तते।

उत्कलभाषा—परमसमृद्धिमत्साहित्येऽस्मिन् उपेन्द्रभञ्जः तत्पिता च चित्रकविवरौ जातौ। एकदेवस्तुतौ विविधगतिपाठेनानेक-देवस्तुतिपरकता तयोः काव्यस्य वैशिष्ट्यम्।

कर्णाटभाषा—सिरीभूवलसंज्ञके ग्रन्थे समान-चक्र-चतुष्कोण-त्रिकोण-विपरीतादि-गतिभिः पठनेनानेकभाषाणामनेकविषयाणां च सद्भाव उपलभ्यते। ग्रन्थोऽयं सर्वज्ञग्रन्थ इति नाम्ना ख्यातः।

बङ्गभाषा—बङ्ग-नयपाली-आदिभाषास्वपि समृद्धिमती चित्रकाव्यपरम्परा प्राप्यते।

(विवरणमिदं यत्किञ्चिदुदाहरणसङ्केतात्मकमेव, तत्र पूर्णताया लेशमात्रं नास्तीतिज्ञापनाद् विज्ञपाठकैश्छिद्राणि क्षन्तव्यानि। प्रचलितभारतीयभाषासु चित्रकाव्यस्य सद् भावस्य दिग्दर्शनमेवात्र प्रयोजनम्।)

५. प्रस्तुतग्रन्थस्य वैशिष्ट्यम्

प्रस्तुतग्रन्थे चित्रकाव्यस्याकृतिमूलका भेदा एव निबद्धाः। तत्र सर्वविलक्षणवैशिष्ट्यमिदमेव यत् प्रायेण सर्वेषु बन्धेषु आकृतेर्नाम्नोऽर्थस्य तद्बन्धात्मकपद्ये सम्यङ् निवेशः कृतः। यथा पद्मबन्धे पद्मस्य समानार्थपदानां, गजबन्धे गजाननस्य, वृषबन्धे नन्दिनः, शिविकाबन्धे शिविकायाः, कूपबन्धे कूपस्य, गदाबन्धे गदायाः, मालाबन्धे मालायाः, वृक्षबन्धे वृक्षस्य, दर्पणबन्धे दर्पणस्य, धनुर्बन्धे धनुषः, एवमेवान्येष्वनेकेषु बन्धेषु बन्धनाम्नोऽर्थतादात्म्यं बन्धपद्ये दृश्यते। अत्र चित्रकविपण्डितरामरूपाणामपूर्वकौशलं सुज्ञजनैः श्लाघनीयम्। चित्रबन्धानां प्रायिकी क्लिष्टताऽस्माकं चित्रकवेः प्रसादगुणवैभवे निष्प्रभा संवृत्ता। तथा च चित्रबन्धेषु लौकिकविषयान् वर्जयित्वाऽलौकिकदेवदेवीसंबद्धविषयानेव गृहीतवान् पण्डितरामरूपपाठकः।

आधुनिकयुगे जातस्य चित्रकविश्रीदामोदरशास्त्रिणश्चित्रबन्धकाव्यमित्याख्यो ग्रन्थः पंडितरामरूपस्य मुख्योपजीव्यः। तेन द्वित्रा नवीना बन्धभेदा अप्युद्भाविता यथा तिलकबन्धः, पद्मबन्धस्य प्रकारविशेषः।

बन्धनाम्नः पद्यार्थे ग्रहणम्, प्रसादगुणोपेतत्वेन क्लिष्टतापेतत्वम्, अलौकिकविषयेषु स्वारस्यम्, नवीनबन्धनिर्माणपाटवञ्च इति गुणचतुष्टयं पण्डितरामरूपपाठकस्य ग्रन्थमिमं संस्कृतसाहित्यस्य चित्रकाव्यभागे विशिष्टस्थानभाजनं करिष्यतीत्यलमतिविस्तरेण।

संस्कृतसाहित्यस्य सर्जनात्मिका प्रतिभाऽद्यापि सम्पूर्णभास्वरा विराजत इति सत्यस्य निदर्शनरूपोऽयं ग्रन्थः।



द्वितीय खण्ड

सङ्गीत-नाट्य-काव्यात्मक विविध कृतियाँ

द्वितीय खण्ड
(१८३-४०७)

सङ्गीत-नाट्य-काव्यात्मक विविध कृतियाँ

·१.

''सङ्गीतोपयोगि-संस्कृत''-ग्रन्थस्य परिशिष्टम्*

(क) संवाद-वैभवम्
(ख) गीतावली (सङ्गीतलिपिसंवलिता)
(ग) वृत्तगानपद्धतिनिर्देशः (सङ्गीतलिपिसमेतः)
(घ) अध्यक्षीय भाषणम्—डॉ० पद्मा-मिश्र
(ङ) ग्रन्थोपरि आशीर्वचनम्—महेशानन्द-गिरि-स्वामिनः

विवृत-विषयानुक्रमणी

(क) संवादाः

(१) सङ्गीतशास्त्राध्ययने संस्कृतज्ञानस्योपकारकत्वम्
(२) राग-स्वरूप-विचारः
(३) गवेषण-गोष्ठी
(४) अनुसन्धान-कार्य-परिचयः
(५) नैराश्य-परिहारः
(६) पारिभाषिक-शब्द-विमर्शः

(ख) गीतावली

(१) 'सुरभारती जयति'—हमीर-केदार-रागः, चौताल-तालः
(२) 'वन्दे नादतनुम्'—देश-तिलककामोद-रागः, चौताल-तालः
(३) 'नन्दसुतेन वादिता वंशी' भीमपलासी-रागः, त्रिताल-तालः

(ग) वृत्तगानपद्धतिः

(१) विषयावतारणम्
(२) अनुष्टुप्-शार्दूलविक्रीडित-स्रग्धरा-वृत्तेषु रचितानां कालिदासीय-मङ्गलपद्यानां गानात्मकरूपम्
(३) वसन्ततिलकावृत्ते निबद्धस्य श्रीमद्भागवतान्तर्गत-वेणुगीतस्य गानमयरूपम्
(४) प्रमाणिका-पञ्चचामर-भुजङ्गप्रयात-त्रोटकवृत्तानां गानपद्धतिः
(५) उपसंहारः

(घ)—(ङ)—यथोपरि सङ्केतितम्

* श्रीमती विमला मुसलगाँवकर-रचित ''सङ्गीतोपयोगी संस्कृत'' के द्वितीय भाग में बहिनजी की अनेक संस्कृत-रचनायें 'परिशिष्ट' में दी गयी थीं—वे सब यहाँ संगृहीत हैं। अपने सङ्गीतशास्त्र-विभाग में वे कितने प्रकार से शिक्षण दिया करती थीं, उसका यह कुछ उदाहरण है। —ऊर्मिला

(क) संवाद-वैभवम् *

(१) सङ्गीतशास्त्राध्ययने संस्कृतज्ञानस्योपकारकत्वम्

१. संस्कृतदिवसमुपलक्ष्य आयोज्यमाने अस्मिन् उत्सवे संगीतशास्त्राध्ययने संस्कृतस्य उपयोगितामधिकृत्य किञ्चित् पुनरवधारणं, कोऽपि पुनर्विचारः स्वचित्तस्य दृढप्रत्ययार्थम् अस्माकं कृते परमोपकारको भवितुमर्हतीति मे मतिः। अत्रोपस्थितानां सर्वेषामनुज्ञाम् अभ्यर्थये।

२. सर्वथा श्लाघनीयोऽयं प्रस्तावः।

३. अत्र श्रोतॄणामपि हितकरः प्रीतिकरश्चायं भविष्यतीति प्रतिभाति मे।

४. भारतस्य पूर्व-दक्षिण-पश्चिम-उत्तर-प्रदेशानां प्रतीकस्वरूपा वयमत्र तिष्ठामः। अतोऽस्माकं विचारगोष्ठीयं सार्वभारतिकी भवितुमर्हति।

१. बाढम्, भारतस्य विश्वविद्यालयानां हृदयस्वरूपं काशी-हिन्दू-विश्व-विद्यालयस्थिता वयमिति खलु, सुमहदस्माकं दायित्वम्।

२. 'हिन्दु' शब्दस्य रक्षार्थे कृतसंरम्भा वयं, किन्तु हिन्दू-शब्द-संश्लिष्ट-नामधारिणि विश्वविद्यालयेऽस्मिन् हिन्दू-शास्त्राणामध्ययनस्य, तत्र श्रद्धाया उदभावनस्य च या महती दायित्वभावना अत्रस्थानां सर्वेषां जनानां हृदि जाज्वल्यमाना भवितुमर्हति, सा तु सुदूरपराहतैव दृश्यते।

३. नहि परचर्चाया अयमवसरः। अद्य तु स्वकीयदायित्वपालनाय चित्तस्य सर्वथा निश्चलत्वसाधनमेव अस्माकमिष्टम्।

४. अतिलघुकायेऽस्मिन् विभागे अङ्गुल्यग्रगण्या ये केचिद् वयं स्थिताः, तेषां तासां वा स्वकर्तव्यावधारणमेवं अस्या गोष्ठ्याः प्रयोजनम्। आकारलाघवात् यदि अत्रस्थानां केषामपि चित्ते किमपि शैथिल्यं, कापि दीनता गन्धमात्रेणपि स्थिता स्यात्, तर्हि तस्या उन्मूलनमपि स्वत एव भविष्यतीति मत्वा स्वसंकल्पस्य दृढता एव साधनीया।

१. **अन्धकारस्य तिरस्कारोपेक्षया आलोकस्य वरणमेव वरेण्यम्।** भावात्मक-साधनेन अभावस्तु स्वत एव विलीयते, विधेः पालनेन निषेधस्य अपेक्षाऽपि दूरीभवति।

२. नाम-मात्र-स्मृति-शेषाणां भरत-मतङ्ग-अभिनव-शार्ङ्गदेव-प्रभृति-मनीषिणां विषय-प्रतिपादनं प्रत्यक्षं तेषामेव वाण्यामधीत्य तेषां हार्दस्य अवधारणमस्माभिः सर्वप्रथमं कर्तव्यम्।

३. तत्तु भवतु नाम, किन्तु अद्यतनीयलक्ष्यम् उररीकृत्य प्राचीन-मध्ययुगीन-शास्त्राणां प्रतिपाद्यविषयस्य अर्थनिर्णयो व्याख्या वा कर्तव्या, न तु लक्ष्यम् उपेक्ष्यैव।

४. सत्यम्, किन्तु तत्र महद्भयस्थानमेकं वर्तते।

१. किं तत् ?

४. प्राचीनानां हृद्गताभिप्राये प्रवेशोऽस्माकम् अवरुद्धोऽपि भवितुमर्हति यदि तेषां सम-कालिकं लक्ष्यम् अद्यतनं लक्ष्यं च अभिन्नं मत्वा तत्र प्रयत्नः क्रियेत।

४. सर्वथा सत्यम्। दृष्टेर्निर्मलीकरणं तु अत्यावश्यकम्। परन्तु तत्र दिव्याञ्जनं कुत्र लभेमहि ?

२. प्राचीनानां हृदि प्रवेशं लब्धुकामैः सर्वप्रथमं, तेषामेव शब्दानामाश्रयणं कर्तव्यम्। स्वकीय-पूर्वनिश्चितधारणाभ्यो मनो मुक्त्वा

---

* अपने सङ्गीतशास्त्रविभाग में राष्ट्रीय संस्कृतदिवस का समारोह पू० बहिनजी करती थीं, जिसमें विद्यार्थियों के लिए संवाद, छोटे भाषण तथा विविध प्रकार के 'गेय' पद्य ध्रुपद आदि संस्कृत में स्वयं बना देती थीं। उन्हीं में से कुछ रचनायें यहाँ संगृहीत हैं। —ऊर्मिला

तेषां वचसामालोके एव अर्थस्यान्वेषणम् उचितम्।

३. अहो महिमा संस्कृतशब्दानाम्। तत्र व्युत्पत्तिनिमित्तं प्रवृत्तिनिमित्तं चेत्युभयमपेक्ष्य अर्थनिर्धारणं सुफलदायकम्।

४. सत्यमेव संस्कृतशब्दानाम् अपूर्वा कापि माधुरी, सुमहत् किञ्चिदर्थ-गाम्भीर्यम्, निर्मलदृष्टया आविष्करणीयं किमपि सारगर्भत्वं, बुधजनैक-गोचरः कोऽपि चमत्कारः। एते सर्वे गुणाः संगीतशास्त्रेऽपि भृशम् उपलभ्यन्ते।

१. शब्देष्वेव सङ्गीतस्य दर्शनं, इतिहासः वैचित्र्यं च निहितम् अस्माकं मनीषिभिः। एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः कामधुग् भवतीति पतञ्जलिमुनेरुक्तिः अस्माकं सङ्गीतशास्त्रे सर्वथा समीचीनेति अनुभूयते अस्माभिः।

२. शब्दानामर्थ-विवेचनं यदि सुष्ठु साधितं स्यादस्माभिस्तर्हि शास्त्रगत-रहस्यानां कुञ्जिका सुलभा भविष्यतीति नास्त्यत्र सन्देहस्यावसरः।

३. सङ्गीतशास्त्रगतशब्दभाण्डारस्य त्रिविधा गतिः दृश्यते। केऽपि शब्दा अर्थपरिवर्तनं विना अधुनाऽपि प्रचलन्ति। यथाहि, स्वर राग-ताल प्रभृतयः। केऽपि शब्दा भिन्नार्थे प्रचलन्ति। यथा हि, वादि-संवादि-विवादि-अनुवादि-ग्रह-अंशप्रभृतयः। केऽपि सर्वथा लुप्ताः। यथा हि स्थाय-गीति-धातु-करण-प्रभृतयः।

४. यथार्थेयम् उक्तिः। तत्र येषु शब्देषु अर्थपरिवर्तनं बाह्यदृष्टया न दृश्यते तत्रापि व्युत्पत्तिनिमित्तस्य प्रवृत्तिनिमित्तस्य च बोधेन नवीनम् अर्थज्ञानं भवितुमर्हति। 'वादन' शब्दो वाद्यशब्दो वा प्राचीनाभिन्नार्थे प्रचलति। किन्तु तत्र 'वद' धातोर्णिजन्त-प्रयोगेण स्वयं वदनं न कृत्वा वाद्ययन्त्रद्वारा वादनमभिप्रेतम्।

१. अहो कियान् अस्माकं कार्यभारः। प्रचलित-संस्कृत-शब्दानां व्युत्पत्ति-प्रवृत्तिनिमित्तापेक्षया अर्थान्वेषणं, तत्र अर्थपरिवर्तनस्य स्वरूप-निर्धारणं, लुप्तशब्दानामुद्धारः, प्रचलितदेशजशब्दानामुचितस्थान-निर्धारणं च।

२. किं बहुना, अस्मिन् गुरुतरे कार्ये संस्कृत-भाषाज्ञानमनिवार्यरूपेणावश्यक- मिति एव अद्यतनः प्रकृतो विषयः, इयमेव प्रस्तुता वार्ता।

३. अर्थसंकोच-अर्थविस्तार-अर्थविपर्यय-अर्थलोपप्रभृतिभिः दुरवगाह-कान्तारभूते शब्द समूहे नवीनपथनिर्माणं सुदुष्करमेव।

४. किन्तु नहि तत्र नैराश्यस्य पराभवस्य वा औचित्यम्।

१. उत्साहं धारयन्तः,

२. श्रद्दधानाः सन्तः,

३. तप आचरन्तः,

४. सत्यान्वेषणपथि चरिष्यामः। तत्रैकोऽपि चरणक्रमः संतोषावहो भविष्यति। इति शम्।

(२) रागस्वरूपविचारः

१. रागो हि नाम उज्ज्वलतमं रत्नं भारतीयसङ्गीतपद्धतेः। तदद्य रागमधिकृत्य काऽपि शास्त्रीय-चर्चा प्रवर्तताम् अस्यां गोष्ठ्याम्।

२. रागशब्दस्य अर्थद्वयं सुविदितं रञ्जकता, स्वरसन्निवेशश्च। प्रथमार्थे—शब्दस्यास्य प्रयोगो नाट्यशास्त्राद् उदाहरामि—'यस्मिन् वसति रागस्तु यस्माच्चैव प्रवर्तते'।

स्वरसन्निवेशरूप-रागशब्दस्य साङ्गोपाङ्ग-प्रयोगो मतङ्गस्य बृहद्देश्यां सर्वप्रथमं दृश्यते।

३. उक्तं च मतङ्गेन—

''रागमार्गस्य यद्रूपं यन्नोक्तं भरतादिभिः।''

रागस्य सामान्यलक्षणमपि तत्रैव सर्वप्रथममुपलभ्यते। यथा—

"योऽयं ध्वनिविशेषस्तु स्वरवर्णविभूषितः।
रञ्जको जनचित्तानां स रागः कथितो बुधैः"॥

४. रागद्वेषस्य द्वन्द्वं तु सुविदितमेव। यः स्वरसन्निवेशः चित्तं रञ्जयितुं समर्थः, यो वा श्रोतृचित्तं भावविशेषे निमज्जयितुं प्रभवति स एव रागशब्दवाच्यः। रागद्वेषस्य द्वन्द्वात् चित्तस्य मोचको हि सः।

१. बाढम्, सत्यमुक्तं भवद्भिः। राग-शब्दस्य प्रेमार्थम् अधिकृत्य बहु शोभनमुक्तं नृपतिकुम्भेन। तस्य श्रावणे लुब्धं मे मनः।

भवानीपादपद्मानुरागरञ्जितचेतसा।
क्रियते राजराजेन विशुद्धा रागपद्धतिः॥
यो विरागी स्मृतः कामविकामीकरणे बुधः।
तं रागिणं गिरिसुतावदने नौमि शंकरम्॥
रागो रामाश्रयत्वेन, वर्धते प्रायशो यतः।
ततो मे वर्धतामेष, रागो रामाश्रयः सदा॥

२. अहो कियात् चमत्कारो यमकस्य। साधु, साधु। स्वरसन्निवेशस्य विशिष्टत्व-व्यञ्जनाय प्रेम-वर्ण-प्रभृति-विभिन्नार्थ-समन्वितो रागशब्दः प्रयुक्तो मनीषिभिः चिरन्तनैः।

३. स्वरसन्निवेशे वैशिष्ट्यस्य आधानं भवति ग्रह-अंश प्रभृतिभिर्दशलक्षणैः त्रयोदशलक्षणैर्वा।

४. रागस्य नादमयं देवतामयं चेति रूपद्वयं कल्पितमस्माकं शास्त्रेषु। तत्र देवतामयरूपस्य निरूपणे तन्त्रस्य प्रभावः सुस्पष्टं परिलक्ष्यते।

१. स तु परिलक्ष्यते एव। षाश-खड्ग-अंकुशप्रभृत्यायुधानां यान-वाहन-वर्ण-प्रभृतीनां च तत्र ग्रहणेन तान्त्रिकपद्धत्यनुसारिणी उपासना एव सूचिता।

२. अहो भवद्भ्यां तु रागध्यानस्य महान् विषयोऽस्माकं स्मृतिपथम् आनीतः। यथा तान्त्रिकपद्धत्यनुसारीणि रागध्यानानि सुविपुलानि उपलभ्यन्ते तथैव नायक-नायिका-भेदानुसारीणि अपि बहुलानि दृश्यन्ते। सुविस्तरोऽयं रागध्यानस्य विषयः।

३. अहो, रागध्यानस्य नामश्रवणमात्रेण भैरवरागस्य ध्यानमारोहति मम स्मृतिपथम्।

गङ्गाधरः शशिकलातिलकस्त्रिनेत्रः
सर्पैर्विभूषिततनुर्गजकृत्तिवासः।
भास्वत्त्रिशूलकर एष नृमुण्डधारी,
शुभ्राम्बरो जयति भैरव आदिरागः।

किन्तु समयसाङ्कर्येण बिभेति मे मनः। विपुलकार्यभरावनता अत्रत्याः सभासदः।

४. सत्यम्। अपरं कमप्यवसरमवलम्ब्य रागध्यानमधिकृत्यैव एका गोष्ठी योजनीया। अद्य तु रामरक्षा-स्तोत्रस्य उपान्त्यपद्यस्य आदर्शानुसारेण निर्मितं रागस्तुतिपरं पद्यमेकं श्रावयितुमिच्छामि। तदनन्तरं गोष्ठ्या विसर्जनं भवतु इति सुष्ठु प्रतिभाति मे।

१. तदेव भवतु नाम।

४. रागो रञ्जनकृन्मुदा विजयते, रागं हि याचे सदा
रागेणैव कृतं मनः सुविमलं, रागाय तस्मै नमः।
रागान्नास्ति सुगायनं परतरं, रागस्य सेवी त्वहं
रागे चित्तलयः सदा भवतु मे, भो राग! मां रञ्जय॥

(३) गवेषण-गोष्ठी

१. अद्य खलु महानन्दस्य अवसरः समुपस्थितः। अनेके संस्कृतानुरागिणः सङ्गीतानुरागिणश्च सामाजिकाः अत्र समवेताः अस्मिन् सहृदय-समाजे अस्माकम् अनुसन्धानकार्यस्य किञ्चिद् विवरणं यदि प्रस्तूयेत तर्हि संस्कृतदिवसस्य अनुष्ठानम् इदं सुष्ठुतरं भवितुमर्हतीति मन्ये किं तत्र भवतां भवतीनां च अनुज्ञा वर्तते वा न वा?

२. कोऽत्र सन्देहः। अस्माकम् अनुसन्धानकार्ये संस्कृतभाषाज्ञानस्य कियदुपयोगित्वं तत्तु अनेनैव विवरणेन प्रकटीकृतं स्यात्।

३. बहु शोभनम्। अत्रास्माकं कार्यविवरणस्य अवतारणेऽत्र प्रस्तोता कः भविष्यति?

४. अत्रभवती (इन्द्राणीदेवीं प्रति निर्देशयन्ती) एव प्रस्तोत्री स्यादिति मम मतम्।

५. बाढम्।

१. तदेव भवतु नाम। 'आज्ञा गुरूणामनुल्लङ्घनीया'। अत्रभवत्याः अनुसन्धान-कार्यस्य विषयनिर्देशाय एव सर्वप्रथमम् अनुज्ञां याचे।

४. तथास्तु।

१. अत्रभवती **मुसलगाँवकरोपाधिधारिणी विमलादेवी** अस्मिन् विभागे संस्कृताध्यापिकारूपेण नियुक्ता। संगीतशास्त्रे विभिन्नदर्शनशास्त्राणां योगदानमिति विषयमधिकृत्य अत्रभवती अनुसन्धानकार्ये संलग्ना।

२. अहो महान् गम्भीरोऽयं विषयः। अत्र किञ्चित् श्रोतुं समुत्सुका इयं सभा इति प्रतिभाति मे।

४. सङ्गीतशास्त्रे योगस्य तन्त्रस्य च विपुलः प्रभावो दृश्यते। तत्र नाद-महिमा, आहतानाहतनादभेदौ, पिण्डे आहतनादस्य उत्पत्तिक्रमः, षट्-चक्र-वर्णनम्, स्वराणां वर्ण-द्वीप-बीजाक्षरेत्यादि-निरूपणम्, राग-रागिणीनां देवतामयरूपस्य ध्यानण्द्धतिः इत्यादिरूपेण हठयोगस्य तान्त्रिकोपासनायाश्च समावेशो भूरितरमुपलभ्यते।

३. तत्र वैदिकविचारधाराया; कोऽपि अवशेषो वर्तते वा न वेति ज्ञातुं कुतूहलाविष्टं मे मनः।

४. स तु वर्तते एव। स्वराणामृषिदैवतच्छन्दसां निर्देशः, मूर्च्छना-तानानां यज्ञनामानि, सृष्टिक्रमनिरूपणम्, वाक्-प्राण-मन-इतिकरणत्रयस्य स्वीकारः इत्यादिरूपेण वैदिक-सरणेः अनुसरणं सुस्पष्टमेव।

५. आम्।

१. साङ्ख्य-पूर्वमीमांसा-उत्तरमीमांसादिदर्शनानां सङ्गीतशास्त्रे किमपि स्थानं दृश्यते वा न वा इति श्रोतुं समुत्सुका वयम्।

४. त्रिगुणसिद्धान्तः, सर्वविषयेषु बहुशो भेदोपभेदगणनं च सांङ्ख्य-दर्शनस्यैव प्रभावं द्योतयतः; पूर्वमीमांसातो दृष्टादृष्टफलस्य विचारः, उत्तरमीमांसातो जीवब्रह्म-निरूपणम् इत्यादिरूपेण एतेषां दर्शनानां योगदानं भृशम् उपलभ्यते।

५. एवम्।

१. अत्रभवती **कालविण्टोपाधिधारिणी विद्यादेवी** सुस्वरा संस्कृतज्ञा च। भरत-नाट्यशास्त्रे गान्धर्वनिरूपणपरस्य अध्यायषट्कस्य विश्लेषणं व्याख्यां च अधिकृत्य अनुसन्धाने व्यापृता अत्रभवती।

२. अहो। अतिदुरूहमिदम् अनुसन्धानकर्म।

३. सत्यं भणितं भवता। नाट्यशास्त्रस्य सूत्रात्मिकया रीत्या, तद्व्याख्यातृणामभिनव-गुप्त-पादानां च व्याख्यायाः पाठभ्रंशेन कान्तारभूते ग्रन्थे अर्थावबोधाय पथनिर्माणं अतिशयदुष्करमिति स्वानुभवेन जाने।

४. तत्तु दुरूहत्वं ममापि अनुभवपथम् आगतम्।

१. दुरवगाहस्य ग्रन्थस्यास्य अध्ययने यावत्परिश्रमः अपेक्षितः, तस्य तुल्य-परिमाणेन साफल्यं भवितुमर्हति वा न वेति प्रश्नेन आकुलितं मे मनः।

२. सर्वथा अयुक्तोऽयं प्रश्नः।

३. नहि प्रश्नः कोऽपि दोषावहः।

४. प्रश्नविमर्शेन तु स्वचित्तस्या दृढतैव साधनीया। ततो हेतोः प्रश्नानां सदैव स्वागतं विधेयम्।

५. एवमेव।

३. भरतनाट्यशास्त्रस्याध्ययनं तु सङ्गीतशास्त्रस्य गम्भीरालोचने भित्ति-स्वरूपम्; भित्तिं विना न कोऽपि प्रासादो निर्मितो अद्यावधि केनापि।

४. केवलं महिमख्यापनेन न हि किमपि सिद्ध्यति।

३. महिमख्यापनाय नास्ति कोऽपि संरम्भोऽत्र। किन्तु स्वर-श्रुति-ग्राम-मूर्च्छना-रागजननी-जाति-गीतक-ध्रुवा-वाद्यभेद-इत्यादिविषये मौलिक-चिन्तनस्य यो निर्यासो नाट्यशास्त्रे उपलभ्यते तस्यावगमार्थं कृतपरिश्रमाः न कदापि नैराश्यं वैकल्यं वानुभवितुमर्हन्ति।

५. सत्यम्।

३. नाट्यशास्त्रे प्रवेशद्वारमुद्घाटयन्ती अभिनवभारती पाठभ्रंशदोषेण यद्यपि अंशमात्रेणैव अवगम्यते तथापि तदर्थं कृतः परिश्रमः महते लाभाय एव भवितुमर्हति।

१. सुष्ठु। भवत्याः कठोर-परिश्रमेण सङ्गीतशास्त्रे अन्वेषणक्रमः समृद्धिमवाप्स्यति इति अस्माकं दृढा आशा। अत्रभवान् **रामनाथन्** महोदयः तिरुपति-स्थितात् वेङ्कटेश्वर-विश्वविद्यालयात् स्नातको भूत्वाऽत्र आगतः साम्प्रतं सङ्गीतरत्नाकरे गीतनिरूपणस्य संशोधने व्यापृतोऽत्र-भवान्।

३. सर्वथोपयोगी ह्ययं विषयः।

२. सङ्गीतरत्नाकरस्तु रत्नानामाकर एव।

४. गीतशब्देन कोऽर्थः अवबुध्यते भवता?

२. सामान्यरूपेण गीतशब्देन कण्ठे गायन-व्यापारः तद्व्यापारस्य विषयो वा गृह्यते, किन्तु शास्त्रीयरूपेण गीतशब्दः स्वर-ताल-पदात्मके गान्धर्वे स्वरांशस्य मुख्यतया बोधकः। गौणरूपेण पदांशोऽप्यस्मिन् समाविष्टः।

३. एवम्। तर्हि गीतनिरूपणं सङ्गीतरत्नाकरस्य स्वराध्याये, रागाध्याये, प्रकीर्णकाध्याये, प्रबन्धाध्याये च उपलभ्यते।

२. सत्यम्। इदम् अध्याय-चतुष्टयमेव ममाध्ययनस्य गोचरम्।

४. सङ्गीतरत्नाकरस्य स्वराध्यायस्य द्वितीये प्रकरणे पिण्डोत्पत्तेर्यन्निरूपणं दृश्यते तत्तु सर्वथैव विलक्षणम्।

२. बाढम्। तत्र तु वेदान्तानुसारेण ब्रह्म-जीव-सृष्टिनिरूपणम्, आयुर्वेदानुसारेण च मनुष्यदेहस्य गर्भाधानादारभ्य विकासक्रमवर्णनं तस्याङ्गोपाङ्गनिरूपणं च सङ्गीतरत्नाकरस्य अनन्यवैशिष्ट्यम्।

५. अतिशयरोचकोऽयं विषयः।

१. **शीतलो**पाधिधारिणी श्रीमती **भूपेन्द्रम**होदया सुशारीरी सुगायनी च। अत्रत्ये महिला-महाविद्यालये सङ्गीतप्राध्यापिकापदे नियुक्ता सती भारतीयसङ्गीते भातखण्डेमहोदयस्य अवदानस्य मूल्याङ्कनमधिकृत्य गवेषणकर्मणि संलग्ना अत्रभवती।

२. सर्वथा आधुनिकोऽयं विषयः।

४. आधुनिके सत्यप्यस्मिन् विषये गवेषणसौष्ठवाय अत्रापि संस्कृतज्ञानमपेक्ष्यते एव।

५. सत्यम्।

३. वर्तमानयुगे भारतीयसङ्गीतस्य शिक्षणक्रमे शास्त्रीयाध्ययनक्रमे च भातखण्डेमहोदयानां अवदानं तु सुविदितमेव।

५. किन्तु भातखण्डेमहोदयस्य कृतित्वं निन्दायाः प्रशंसाया वा पात्रं जातम् अद्यावधि। निष्पक्षरूपेण तस्याध्ययनमेव मम प्रयोजनम्।

४. आम्, सम्यग् ज्ञातमधुना। (इन्द्राणीमवलोक्य) भवत्याः कार्यं-विवरणमेव साम्प्रतम् आकाङ्क्षितम् अस्माकम्।

३. (इन्द्राणीमवलोक्य) अत्रभवत्याः परिचयस्तु (विमलादेवीं निर्देश्य) भवत्या एव कथनीयः।

४. **चक्रवर्तीत्युपाधिधारिणी इन्द्राणी** महोदया सितारवादने कुशला, वादन-विषये स्नात्तकोत्तरोपाधिनाऽलंकृता च। भारतीयसंगीतपद्धत्यां स्वरस्य रागस्य च शास्त्रीयप्रतिपादनस्य विकासक्रमे वाद्यानां योगदानस्याविष्करणमेव भवत्या साध्यम्।

२. अतीवगरिष्ठोऽयं विषयः।

१. सत्यम्। सारिकायुक्तेषु, सारिकाविहीनेषु च ततवाद्येषु, एवमेव सुषिर-वाद्येष्वपि ग्राम-मूर्च्छनापद्धतिः कथं व्यवहृता आसीत्, तत्पद्धतेरुच्छेदकाले च वाद्येषु किं किं परिवर्तनं जातं, रागाणां मार्गदेशीरूपेण विभाजनं वाद्यैः सह कथं सम्बद्धम् इति प्रश्नत्रयमेव मुख्यरूपेण मम गवेषणगोचरम्।

३. किन्त्वत्र निर्भ्रान्तोत्तर-लाभस्तु सुदुष्कर एव।

१. सुदुष्करत्वं हि नैवात्र पराभवस्य कारणम्।

२. बाढम्। प्रभूतेन तपसाऽत्र सत्योपलब्धिः स्यादेव।

४. वाद्यानामितिहासस्तु वैदिककालात् प्रारभ्य सुदीर्घकालव्यापकः।

१. एवमेव। अध्ययनक्षेत्रस्य मम विपुलविस्तरस्तु कालेन देशेन च सिद्धः।

३. भवत्याः प्रयाससाफल्य-कामा वयम्।

१. अनुगृहीताऽस्मि। किन्तु अस्माकं गम्भीर-वार्तालापेन सभा इयं श्रान्ता इव प्रतिभाति।

२. एवमेव। तर्हिं श्रमापनोदनाय अपरं किमपि गानादिकं भवतु नाम।

सर्वे—तदेव भवतु, तदेव भवतु।

(४) अनुसन्धान-कार्य-परिचयः

१. अहो! धन्योऽयं कालः। एकवर्षानन्तरं पुनरेकवारम् अस्मिन् रङ्गे सम्मिलिता वयम्।

२. किन्त्वत्रान्तरे बहूनि परिवर्तनानि घटितानि अस्माकं शोधकक्षे।

४. तानि तु घटितान्येव। **स्वामिनिजबोधम**हाभागाः सेवातः अवकाशं लब्ध्वा साधनारताः; **शृङ्गिमहोदया**स्तु विश्वविद्यालयानुदानायोगस्य विशिष्टयोजनायां संलग्नाः, तत्पदं च **गिरिम**होदया अलंकुर्वन्ति।

३. एवमेव।

१. सत्यम्। किन्तु एता घटनाः अस्यै सभायै कथं रुचिकरा भवेयुः?

३. युक्तमुक्तं भवद्भिः।

४. तर्हि सदोरञ्जनाय किं कर्तव्यम्?

१. सदसो रञ्जनं स्याद् वा न वा, किन्तु शोधकक्षेऽस्मिन् किं किं कार्यं सम्पद्यते, तस्य स्वल्पोऽपि परिचयः अत्रोपस्थितानां समेषां कुतूहल-निवारणाय प्रभविष्यति।

२. तदेव भवतु, नाम।

१. अत्रभवानेव शुभारम्भं विदधातु।

२. बाढम्। अप्रकाशित-संगीत-ग्रन्थानां मूलप्रतीनां प्रतिलिपीनां वा संग्रहः, तेषा विषयवस्तुविश्लेषणं च इति प्रथमम् अङ्गम् अत्रत्यस्य कार्यसमूहस्य।

१. एवमेव। तत्र विषयवस्तुविश्लेषणे प्रकाशितग्रन्थाः अपि समाविष्टाः। विश्लेषणस्य मुख्यप्रकारस्तु शब्दसूचीनिर्माणम्।

४. भरत-नाट्यशास्त्रस्य समग्रा शब्द-सूची निर्मिताऽस्माभिः।

२. अत्राधुनिकग्रन्था अपि न अनाद्रियन्ते। भातखण्डे-महोदयस्य हिन्दुस्तानीसंगीतपद्धतेरपि शब्दसूची प्रस्तुता।

३. अत्रभवान् विश्वविद्यालयानुदानायोगस्य योजनायां कस्मिन् कर्मणि रताः? (श्रृंगिमहोदयं निर्दिश्य) इति श्रोतुं लालायितं मे मनः।

१. अहो अन्यत्कार्यविवरणस्य पूर्णतायाम् असम्पन्नायामेव अयं प्रश्नः उपस्थापितो भवद्भिः।

४. किं तत्रानौचित्यम्?

३. विश्वविद्यालयानुदानायोगस्य योजनान्तर्गतं कार्यं तु शोधकक्षस्यास्य गरिमवर्धनायैव प्रभवितुमर्हति।

२. सुष्ठु! तर्हि कथयामि संक्षेपेण। संगीतरत्नाकरस्य आंग्लभाषायामनुवादपरमिदं कार्यम्।

३. एवम्।

१. केवलम् अनुवादमात्रमांग्लभाषाविदां बोधाय अलंभविष्यति वा न वेत्यत्र शङ्कितं मे चित्तम्।

२. अर्थावबोधाय तु सुविपुलाः टिप्पण्यः, व्याख्यापरा टीका च आंग्लभाषायामेव निवेश्यन्ते।

३. आम्।

४. (भट्टमहोदयम् प्रति अवलोक्य) संगीतविषयाणां प्रकाशिताऽप्रकाशित-संस्कृतग्रन्थानां या बृहती सूची भवद्भिर्निर्मिता सा तु विस्मृतैव।

१. न ह्यत्रैकैकस्य कार्यस्य वर्णनं प्रतिज्ञातम्। द्वित्राणि उदाहरणानि एव बुधजनानां दिक् सूचने समर्थानि।

२. सत्यम्। किन्तु अत्र सम्पन्नस्य, सम्पद्यमानस्य, सम्पत्स्यमानस्य च कार्यकलापस्य का उपयोगिता इति विषये किञ्चिदवश्यं वक्तव्यम्।

३. इदं हि अति सुन्दरं प्रतिभाति मे।

१. भारतीयसंगीतशास्त्रे अनुसन्धानकर्मणः प्रस्तावनस्वरूपमिदं सर्वम्। गम्भीरानुसन्धानार्थं सहायिका सामग्री प्रस्तूयते अनेन।

२. सा च प्रस्तूयते एव। अत्रत्यविभागस्थाः शोधच्छात्राः, देशान्तरादागता अनुसन्धित्सवश्च अनया सामग्र्या उपक्रियन्ते इति स्वानुभवेन जानीमहे।

४. सुष्ठु भणितं भवद्भिः। किन्तु अधुना भाविकार्यक्रमाय अवकाशो देय इति मन्ये, यतो हि विपुलकार्यभरावनतः अस्माकं श्रोतृसमाजः।

५. सर्वे—अवश्यं देयः अवकाशः।

(५) नैराश्य-परिहारः

१. हा धिक्! किं करोमि? क्व यामि? का मे गतिः? .... खण्डितः पाठोऽध्येयग्रन्थानां, दुरूहं तात्पर्यम्, लुप्तप्राया च लक्ष्येण सह सङ्गतिः। एतेषामध्ययने मस्तकभञ्जनं विहाय यदि गानस्याभ्यासमात्रम् अकरिष्यम्, अद्य प्रभृत्यपि कुर्यां वा, तर्हि प्रमोदावहं साफल्यं, लोकरञ्जनं, कीर्त्तिः, अर्थलाभः—सर्वमेव अञ्जसा करतलगतं स्यात्। किन्तु .... प्रारब्धयोगेन निपतिताऽस्मि घोरेऽस्मिन् दुस्तरसागरे। 'इतो नष्टस्ततो भ्रष्टः'—इत्येव मे शोचनीया दशा। कं पृच्छामि? कं वा शरणं गच्छामि? को वा ममावस्थाम् अवगमिष्यति?

(प्रविशन्तं कमपि महापुरुषं साश्चर्यं पश्यति)

२. वत्से! उद्विग्नाऽसि?

१. (ससम्भ्रमम्) आर्य! को भवान् ऋषिकल्पः। वात्सल्यं स्रवन्निव, ज्ञानगौरवं व्यञ्जयन्निव, सौम्यत्वालोकं विकीर्णयन्निव, सुधावर्षिण्या गिरा कर्णकुहरमापूरयन्निव, गाम्भीर्यस्य सीमेव, आचार्य-पदस्य महिमेव, दर्शनमात्रेण हृदयम् आह्लादयन्निव, ममाकुलताहरणाय अवतीर्णो देवतात्मा इव प्रतिभाति? आत्मपरिचयज्ञापनाय प्रसीदतु मयि भवान्।

२. बालिके! येषां नाम-जन्म-कर्म-देशादिपरिचयः आकलनयोग्यतामीत्य स्थितः, येषां च कुलादिगतविशेषम् आगमसम्प्रदायधारायामेव विलीनं, तेषामेव विगलिताशेष-विशेषाणां, प्रज्ञामात्रशरीरिणां, प्रतिभामात्रोपजीविनाम् अन्यतमोऽहम् एतावन्मात्रमलं ममात्मपरिचयख्यापनाय।

१. प्रणताऽस्मि आर्य! प्रथमदर्शने सम्भ्रमवशेन मूढमतेर्मम प्रणतिनिवेदने त्रुटिर्जाता। तत् क्षम्यताम्।

२. वत्से! बालानामपराधे दृष्टिनिक्षेपाद् विरता एव गुरुजनाः। आचार-दोषस्य ग्लानिं विहाय तव क्लेशस्य कारणमेव कथय सद्यः।

१. हा कष्टम्! आर्य! घोरे कर्मणि नियोजिताऽस्मि दैवदुर्विपाकेन।

२. किं तत्?

१. भरतमुनेर्गान्धर्व-प्रतिपादनमधिकृत्य पीएच० डी० त्युपाधिकृते शोध-प्रबन्धलेखने प्रवृत्ताऽहम्।

२. तत्तु परमसन्तोषावहम्। तत्र कष्टस्य का कथा?

१. आर्य! अभिनवगुप्तपादानां विवृतिं विना भरतनाट्यशास्त्रमतीव दुर्बोधम्। विवृतिश्च पाठभ्रंशेन दुरूहा।

२. एवम्? यदि सम्यक्पाठोद्धारार्थम् अप्राप्या सामग्री, तर्हि यावानेव पाठ उपलभ्यते तावतैव कार्यनिर्वाहः साधयितव्यः। 'सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पण्डितः' इति न्यायेन।

१. किन्तु, तत्र गुरुतरः परिश्रमोऽपेक्षितः। तस्माच्च बिभेमि।

२. अयि मुग्धे! कृतपरिश्रमाणामेव शास्त्रमर्मावबोधो जायते, इति कथं विस्मृतं त्वया!

१. परिश्रमे कृतेऽपि तेन किं सेत्स्यते, सिद्धेऽपि यत्किञ्चिदर्थे को वा तस्य महिमानं ज्ञास्यति इत्यत्र भ्रान्ता मे मतिः।

२. 'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति' इति गीतावचनं स्मारं स्मारं व्यवसायात्मिका बुद्धिरेव साधनीयाऽऽदौ।

१. तां तु कुत्र लभेय आर्य! न हि सा आपणे विक्रीयते।

२. बाढम्। स्वधर्मप्रत्यय एव तस्या जन्मस्थानम्। युक्तायुक्तविवेक एव तत्र क्रययोग्यता, अध्यवसाय एव तत्र मूल्यम्।

१. सत्यं कथयत्यार्यः। स्वधर्मस्य निर्णये जाते तु बुद्धिनाशस्य आशङ्काऽपि सुदूरपराहता स्यात्। किन्तु को मे स्वधर्मः?

२. संस्कृतभाषा यया अधीता, गान-कौशलमपि ययाऽर्जितं तस्याः स्वधर्मस्तु हस्तामलकवत् सुस्पष्ट एव।

१. एवमार्य ?

२. अथ किम् ? शास्त्रगतार्थानां सम्यगवबोध एव साधनमृष्यृणान्मुक्तेः । तत्रार्जिताधिकाराणां स्वधर्मस्तन्मुक्तिसाधनमेव।

१. सुदुष्करेऽस्मिन् कर्मणि कथमुत्सहे आर्य! उपयुक्तं सम्बलं विना ?

२. किं ते गुरवो नो समर्था सम्यगावलम्बनप्रदाने ?

१. सामर्थ्ये तु नहि संशयावकाशः, किन्तु कर्मबाहुल्येन अस्माकमाचार्या स्वल्पकालपर्यन्तमेव प्रतिदिनमध्यापनार्थमवकाशं लभते। विपुलो हि शास्त्रवारिधिः, मितो हि आचार्यसकाशाद् अध्ययनस्य कालः । कथं पारं गमिष्यामीति विचिन्त्य आकुलमतिरहम्।

२. आचार्यस्य कर्म तु चक्षुरुन्मीलनमेव। नहि करं गृहींत्वा नयनानयनम्। उन्मीलितदृष्टिना जिज्ञासुना स्वयमेव पुष्पफलाहरणार्थं शास्त्रोपवने सञ्चरितव्यम्।

१. सम्यग्भणितमार्येण। परावलम्बनं विहाय स्वावलम्बनसाधने प्रवृत्ता भविष्यामि। किन्तु .... सङ्गीतशास्त्रविभागाद् बहिः सामान्यलोके नहि कोऽपि गवेषणकर्मण्यस्मिन् प्रेरयति अस्मान्। उत्साहवैरल्येन मन्दोद्यमाऽहमार्य!

२. लोकात् प्रोत्साहनस्याशैव त्याज्या। किं न जानासि यन्महर्षिर्व्यासोऽपि लोकगतिं दृष्टा अन्वशोचत्—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष नहि कश्चिच्छृणोति मे।

लोकस्य गतिस्तु सत्कर्मण्यध्यवसायवतां कदाऽपि अनुकूलाऽऽसीत्, भविष्यति वा इति वक्तुं न शक्यते। तस्मात् हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वा स्वधर्मपालनमेव श्रेयः ।

१. अर्जुनमनुसृत्य "नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा" इति वचने प्रवृत्ताऽपि स्वकीय-गानकौशलस्य रक्षार्थमार्यस्यानुज्ञां विना पश्चात्पदामेव अनुभवाम्यात्मानम्।

२. अनुज्ञा तु स्वतःसिद्धा। शास्त्राध्ययनं हि गानकौशलस्य साधकमेव, नहि बाधकम्।

१. यद्येवमाश्वासयत्यार्यः तर्हि नितरां धन्याऽस्मि भवतो दर्शनलाभेन।

२. वास्तविको जिज्ञासुर्नहि मार्गभ्रंशमर्हतीति भगवतः प्रतिज्ञैवात्र कारणं तव नैराश्यपरिहारे। अर्जुनविषादयोगस्यापि स्वधर्मपरिनिष्ठयैवोपसंहारो विश्वविश्रुतः। उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान्निबोधत।

१. करिष्ये वचनं तवार्य! (प्रणमति) (महापुरुषं निर्गच्छन्तं सानन्दास्रं विलोकयति)

(६) पारिभाषिक-शब्द-विमर्शः

१. अहो! नितरां सुभगा इयं गोष्ठी। धन्या ह्यस्माकं भगिनी इन्द्राणी देवी तिष्ठत्यत्र।

२. किं भो! धन्यतायाः किमत्र कारणम् ?

१. किं न जानासि अङ्ग! यद् भगिनीयं स्वकीयं शोधप्रबन्धं सुष्ठु समाप्य प्रस्तुतवती मासचतुष्टयपूर्वम्। सुभद्रादेव्याः पथानुसारिणीयम्।

३. ओम्। ज्ञातम्! शोधसागरे निमग्नानाम् उन्मज्जननिमज्जनवशात्कण्ठागतप्राणानां तु शोधप्रबन्धसमापनमेव सौभाग्यस्य परमोत्कर्ष इव प्रतीयते।

४. हले! भुक्तभोगिन एवात्र प्रमाणम्। त्वं तु Diploma in-Music Appreciation—पाठयक्रमे संगीतश्रवणकौशलसम्पादन एव कृत-कृत्यताम् अनुभवन्ती कथं ज्ञास्यसि शोधरतानां दुर्भरोद्वेगम् ?

५. अलमत्र विवादेन। कश्चित् चेतःश्रवणमङ्गलः संवाद एव प्रचलतु। नो चेत् समवेताः सामाजिका अत्र किं भावयिष्यन्ति?

१. सत्यं कथयति भगिनी। मिथोऽस्माकं संवादोऽस्तु, गम्भीरशास्त्रवचनानामनुवादोऽस्तु नः सम्भाषणे।

२. संवादार्थं तु प्रथमं वादोऽपेक्षितः।

३. भवानेवात्र वादी भवतु नाम।

४. आः, त्वमपि प्रगल्भेव जल्पसि?

५. इयमवहेलापात्रमिति कथं मन्यते त्वया? डिप्लोमा-पाठयक्रमेऽपि संगीतशास्त्रस्य मूलभूतविषयाणां परिचयस्तु जायत एव।

१. नूनमियं लघुभगिन्यपि संवादेऽस्मिन् भागधेयस्याधिकारिणी भवितुमर्हति।

२. अलमतिप्रसङ्गेन। अधुना इन्द्राणीदेव्याः समक्षं कतिपयप्रश्ना निवेदनीया अस्माभिः।

३. ''तद् विद्धि प्रणिपातेन, परिप्रश्नेन, सेवया।'' तदत्र प्रणिपातं, सेवां च विहाय, परिप्रश्न एव श्रेयान् अस्माकं कृते।

४. चपलाऽसि खलु मुग्धे।

५. दुग्धमुग्धाननेयं क्षन्तव्या।

१. एकः प्रश्नस्तु मम चेतः समुद्वेलयति। तन्निवेदने भवत्या अनुज्ञा वर्तते वा न वा।

५. बाढम्। कथय निर्भयम्।

१. सम्पन्नशोधप्रबन्धा भवती कृतार्थमात्मानं मन्यते वा न वा।

५. साधु पृष्टम्। कृतार्थतायास्तु नास्ति काऽपि कथा। जीवनव्यापि हि अनुसन्धानकर्म। शोधप्रबन्धलेखनं तु तत्र दीक्षास्थानीयमेव। वास्तविकं शोधकर्म तु तदनन्तरमेव प्रारभ्यते।

२. अहो! अनुसरणीया भवत्या ज्ञाननिष्ठा।

४. कुत्र लब्धेयं भवत्या?

५. पीएच० डीत्युपाधिं प्रति लौल्यं विहाय सत्यानुसन्धाने दृढमतिरनायासमेव उद्भूता अस्मिन् संगीतशास्त्र-विभागे कार्यारम्भानन्तरम्। सत्यस्यानन्तविस्तरः क्षितिज इव यदा दृष्टिपथम् आक्रामति तदा शोध-प्रबन्धलेखनस्य लघुताया बोधः सहजां विनम्रतां जनयति।

४. बहु शोभनम्! अस्माकं कृते भवत्याः कोऽपि निर्देशो यदि स्यात् तर्हि तस्य ख्यापनरूपोऽनुग्रहो विधातव्यः।

५. साधु उक्तम्। नितरां तुष्टाऽस्मि युष्माकं जिज्ञासां दृष्ट्वा। एक एव निर्देशो यदि अपेक्षितः तर्हि पारिभाषिकशब्दानाम् अर्थविकासस्ये-तिहासं प्रति ध्रुवा दृष्टिः अनुसन्धित्सुभिः आधेया इत्येव वक्तुमिच्छामि।

२. कतिपयैरुदाहरणैर्यदि स्वीयमभिप्रायं स्पष्टीकरोतु भवती, तर्हि उपकृताः स्याम।

५. बाढम्। अधिकारि-श्रोतृसमुदाये स्वीयाभिप्रायनिवेदनं तु परमसुखावहम्।

३. अरसिकेषु कवित्वनिवेदनं शिरसि मा लिख, मा लिख मा लिखेति प्रसिद्धा सूक्तिः।

५. एवमेव। त्रीण्युदाहरणान्यत्र सद्यो मनसि आगच्छन्ति।

१. श्रवणोत्सुका वयम्।

५. स्वरशब्दस्तानशब्दः श्रुतिशब्दश्च। प्रथमं स्वरशब्दमधिकृत्य किञ्चित् कथयामि।

3. सर्वपरिचितोऽयं शब्दः।

५. आम्। किन्तु सुपरिचितोऽप्ययं शब्दो गम्भीरविचारसापेक्षः।·············· व्याकरणशास्त्रे ''स्वयं राजन्ते इति स्वराः''—इति निरुक्तिः प्रसिद्धा। अनेन स्वराणामन्यनिरपेक्षत्वं सूच्यते।

४. मतङ्गेनापि इयमेव निरुक्तिः स्वीकृता—

राजृ दीप्ताविति धातोः स्वशब्दपूर्वकस्य च।
स्वयं यो राजते यस्मात् तस्मादेष स्वरः स्मृतः॥

५. आम् ! किञ्चिद् विरम्य श्रूयताम्। वैदिकलौकिकव्यवहारे उच्चारण-गतोच्चत्वनीचत्वधर्मयोरपि स्वरशब्देनैवाभिधानं दृश्यते।

१. आम्! स्मरामि किञ्चित्।

'उच्चैरुदात्तः, नीचैरनुदात्तः' इति सूत्रयोर्भाष्ये पतञ्जलेरुक्तिम्, यत् उच्चत्वनीचत्वधर्मो स्वरस्यैव नहि व्यञ्जनस्य।

५. सुष्ठु। अतो हेतोः स्वरशब्देन वै वैदिकपाठस्य लौकिकव्यवहारस्य वा उच्चत्वनीचत्वम् उक्तं चिरन्तनैः। तथाहि—स्वयंराजत्वस्य, उच्चत्वनीचत्व-धर्मस्य च समावेशः स्वरशब्दे सिद्धः।

४. किन्तु शार्ङ्गदेवेन संगीतरत्नाकरे 'स्वतो रञ्जयति इति स्वरः' इति नवीना निरुक्तिः प्रस्तुता। यथा—

श्रुत्यनन्तरभावी यः स्निग्धोऽनुरणनात्मकः।
स्वतो रञ्जयति श्रोतृचित्तं स स्वर उच्यते॥

५. सत्यम्। स्वरस्य लक्षणेऽस्मिन् लक्षणचतुष्टयमन्वितम्।

प्रथमतः—श्रुतीतिनियतस्थानोद्भूतत्वम्।

द्वितीयतः—श्रुतीतिप्रथमाघातजस्य अनुरणनहीनस्य ध्वनेरनन्तरत्वम्।

तृतीयतः—अनुरणनात्मकतया स्निग्धत्वम्।

चतुर्थतः—स्वतो अन्यनिरपेक्षरूपेण रञ्जकत्वम्, नहि स्वयंराजत्वमात्रम्।
स्वरशब्दस्यार्थविकासस्यास्य इतिहासे अभिनवगुप्तस्य योगदानं स्मरणीयम्।

४. किं तत्?

५. उच्चत्वनीचत्वधर्मयुक्ते स्वयंराजध्वनौ निहितं श्रोतृचित्तरञ्जकत्वं यदा गभीरविचारस्य विषयीभूतं तदा तस्य आघातजः अनुरणनात्मकश्चेति क्रमिकावस्थाद्वयं विश्लेषणात् स्फुटमभवत्। तत्राभिनवभारत्याः पङ्क्तिः स्मर्तव्या—

श्रुतिस्थानाभिघात-प्रभवशब्द-प्रभावितोऽनुरणनात्मा स्निग्धमधुरः शब्द एव स्वरः।

१. नितान्तं मनोहारीदं विवरणम्।

५. तानशब्दस्यापि विचारः प्रासङ्गिकोऽत्र। सङ्गीतरत्नाकरस्य वाद्याध्याये वांशिकातां गुणनिरूपणेन 'गातृणां तानप्रदायिता' इत्यत्र तानशब्दस्य निवेशो विचार्यः।

४. कालिदासेनापि कुमारसम्भवमहाकाव्ये 'तानप्रदायित्व' मिति उक्तं हिमालय-वर्णनप्रसङ्गे।

१. सम्पूर्णपद्यश्रवणे लालायितं मे मनः।

४. श्रूयतां तर्हि।

यः पूरयन् कीचकरन्ध्रभागान्
दरीमुखोत्थेन समीरणेन।

उद्गास्यतामिच्छति किन्नराणां
तानप्रदायित्वमिवोपगन्तुम्॥

५. सुषिरवाद्यानां प्रसङ्गे तानशब्दस्य प्रयोगोऽयमवधानमर्हति।

१. एवम्। मूर्च्छनातानः शुद्धतानो वा कूटतानश्चेति सविशेषतानशब्दं जानीमो वयम्। कोऽयं निर्विशेषतानशब्दः ?

५. तदेव विचारणीयम्। तानशब्दो वैदिकसाहित्ये एकस्वरपाठस्य पर्यायरूपेण व्यवहृतः।

४. आम्। एकश्रुतिरित्यपि तानशब्दस्य पर्यायः उक्तो बैदिकसाहित्ये।

१. पाणिनिनाऽपि 'एकश्रुति दूरात् सम्बुद्धौ' इति सूत्रे एकश्रुतीति विशेषणम् उदात्तानुदात्तस्वरितेति त्रैस्वर्यभेदविहीनस्य वाक्यस्य प्रसङ्गे निवेशितम्।

५. एतद्वचनसङ्ग्रहस्य समालोचनेन को निष्कर्षः समासाद्यते, इत्येवावधेयम्।

४. भवत्येवात्र मार्गदर्शिका भवतु नाम।

५. उच्चत्वनीचत्वभेद-विहीनमेकस्वरप्रदानमेव तानप्रदायित्वमिति प्रतीयते। आधारस्वर एव निर्विशेषतानशब्दस्वार्थः। अद्यापि 'शहनाई' वादने 'यों' धारी वादकः तानप्रदायित्वमेव साधयति। सुषिरवाद्यानां तानप्रदायित्वे विशिष्टोपयोगित्वमासीत् प्राचीनकाले। इति निष्कर्षः।

१. नितान्तमुपकृताः स्मः।

३. श्रुतिशब्दोऽपि विचारयोग्य इति श्रुतं मया संवादारम्भे।

५. आम्। श्रुतिशब्दे श्रवणयोग्यता, संवादसिद्धस्थानं चेति अर्थद्वयं समन्वितम्। तथाहि—स्वरसप्तके द्वाविंशतिस्थानानि श्रुतिसंज्ञकानि, ध्वनेः प्राकट्यप्रसङ्गे श्रवण-व्यापारस्यारम्भ-स्थानीयाघातज-ध्वनिश्चेति श्रुतिशब्दस्य अर्थौ। अत्र द्वितीयोऽर्थः स्वरस्य अनुरणनात्मकत्वस्य अनुगामी।

४. अत्यन्तं कृतज्ञाः स्मः। भवत्या समन्वयात्यिका दृष्टिरुन्मीलिताऽस्माकम्।

१. नूनं खण्डितदृष्ट्या ईदृक् समप्रदर्शनं नैव सम्भवति।

३. सत्यम्। अखण्डदर्शनमेव साध्यमस्माकम्।

५. गभीरचर्चायामस्मिन् इयं रसिकसभा तु विस्मृताऽस्माभिः। तस्या रञ्जनार्थमन्ये प्रयोगाः कल्पिताः। तेषां कृते विरन्तव्यमधुनाऽस्माभिः।

सर्वे—एवमेव।

★★★

(ख) गीतावली

(१) राग-हमीर-केदार, ध्रुवपद, ताल, चौताल

सुरभारती जयति भुवि।

सकलनिगमागमनिधाना निखिलशास्त्रादिकृतविधाना।

सुरभारती, जयति भुवि, जयति दिवि।

सुनादिका परार्थिका सुकल्पिता पुमर्थदा हितावहा गुणावहा। प्रियंवदा ऋतम्भरा शुभङ्करी। सुरभारती.............

प्रज्ञा-प्रतिभा-पूर्णा अर्थगभीरा, कोमल-सूद्भट-ललित-शरीरा।

नाद-वर्ण-पदव्याकृतरूपा, क्रान्तदर्शना, रागरङ्गविविधभङ्गिशालिनी विहारिणी प्रसादिनी। सुरभारती—

समास-विग्रह

सुरभारती—सुराणां भारती इति—षष्ठी तत्पुरुष

सकलनिगमागमनिधाना—सकलाश्च ते निगमागमाश्च इति
सकल-निगमागमाः (कर्मधारय) तेषाम्।
सकल-निगमागमानां निधाना इति (षष्ठी तत्पुरुष)

निखिल-शास्त्रादि कृतविधाना—निखिलानि यानि शास्त्रादीनि तेषु कृतं विधानं यया सा-बहुव्रीहि समास

सुनादिका—सुष्ठु नादः यस्याः सा इति " "

परार्थिका—परः अर्थः यस्याः सा इति " "

सुकल्पिता—सुष्ठु कल्पिता इति (प्रादि तत्पुरुष)

पुमर्थदा—पुमर्थं ददाति इति उपपद तत्पुरुष समास

हितावहा—हितं वहति इति " " "

गुणावहा—गुणान् वहति इति " " "

ऋतम्भरा—ऋतं बिभर्ति इति " " "

प्रियंवदा—प्रियं वदति इति " " "

शुभंकरी—शुभं करोति इति " " "

प्रज्ञाप्रतिभापूर्णा-प्रज्ञा च प्रतिभा च इति प्रज्ञाप्रतिभे (इतरेतरद्वन्द्व)
ताभ्यां पूर्णा— पञ्चमी तत्पुरुष

अर्थगभीरा—अर्थेण गभीरा इति तृतीया तत्पुरुष

कोमल-सूद्भट-ललितशरीरा—कोमलं च सुष्ठु उद्भटञ्च ललितञ्च,
एषां समाहार इति कोमलसूद्भट-ललितं शरीरं
यस्याः सा—बहुव्रीहि

नाद-वर्ण-पद-व्याकृत-रूपा—नादाश्च वर्णाश्च पदानि च (द्वन्द्व) नाद-वर्ण-पदानि,
तैः व्याकृतं रूपं यस्याः सा—बहुव्रीहि

रागरङ्ग-विविध-भङ्गि-शालिनी—रागश्च रङ्गश्च इति रागरङ्गौ तन्मुखाभिः विविधाभिः भङ्गिभिः
शालते या सा—बहुव्रीहि

राग-हमीर-केदार

स्थायी

×		०		२		०		३		४	
							म॑	प	ग	—	म
							सु	र	भा	ऽ	र
ध	—	धनि	सं	(नि)ध	म॑	प	(ध)म॑	प	ग	—	म
ती	ऽ	ज॰	य	ति	भु	वि	सु	र	भा	ऽ	र
(सं)ध	—	ग	म	रि	ग	म	धम॑	प	ग	म	रि
ती	ऽ	स	क	ल	नि	ग	मा॰	॰	ग	म	नि
स	रि	स	—	म॑	प	ध	म॑	प	ग	—	म
धा	॰	ना	ऽ	नि	खि	ल	शा	॰	स्त्रा	ऽ	दि
(नि)ध	नि	संरिं	संनि	धप	म॑	प	म॑	प	ग	—	म
कृ	त	वि॰	धा॰	॰॰	ना	॰	सु	र	भा	ऽ	र
(सं)ध	—	धनि	सं	(नि)ध	म॑	प	ग	म	रि	सरि	स
ती	ऽ	ज॰ .	य	ति	भु	वि	ज	य	ति	दि॰	वि

अन्तरा

×		०		२		०		३		४	
प	प	—	प	ध	—	नि	सं	—	सं	सं	—
सु	ना	ऽ	दि	का	ऽ	प	रा	ऽ	र्थि	का	ऽ
सं	घ	—	नि	सं	—	रिं	नि	सं	घ	प	—
सु	क	ऽ	ल्पि	ता	ऽ	पु	म	ऽ	र्थ	दा	ऽ
सं	गं	मं	रिं	सं	—	रिं	नि	सं	ध	प	—
हि	ता	॰	व	हा	ऽ	गु	णा	ऽ	व	हा	ऽ

प	ग	म	रि	ग	मध	प	ग	म	रि	स	—
प्रि	यं	•	व	दा	••	ऋ	तं	•	भ	रा	ऽ
रिं	ग	म	ध	म॑	प	ध	म॑	प	ग	—	म
शु	भं	•	क	री	•	•	सु	र	भा	ऽ	र

सञ्चारी

×		०		२		०		३		४	
स	रि	स	—	म	म	प	—	म॑प	धप	म	—
प्र	•	ज्ञा	ऽ	प्र	ति	भा	ऽ	पू•	••	र्णा	ऽ
(म)स	रि	स	स	ध़	—	प़	—	(प)स	—	स़	स
अ	•	र्थ	गं	भी	ऽ	रा	ऽ	को	ऽ	म	ल
म	—	(म)प	प	म॑	म॑	प	प	म॑प	धप	म	—
सू	ऽ	द्ध	ट	ल	लि	त	श	री•	••	रा	ऽ
प	ध	प	सं	—	सं	सं	सांनि	ध	नि	सं	रिं
ना	•	द	व	ऽ	र्ण	प	द•	व्या	•	कृ	त
सं	नि	ध	प	(स)म	—	म	रि	—	रि	स	—
रू	•	पा	•	क्रा	ऽ	न्त	द	ऽ	र्श	ना	ऽ

आभोग

×		०		२		०		३		४	
सं	—	सं	मं	—	मं	म	म	म	प	—	प
रा	ऽ	ग	रं	ऽ	ग	वि	वि	ध	भं	ऽ	गि
सं	—	सं	ध	—	प	म	—	म	रि	—	स
शा	ऽ	लि	नी	ऽ	वि	हा	ऽ	रि	णी	ऽ	•
रि	ग	म	ध	म॑	प	ध	म॑	प	ग	—	म
प्र	सा	•	दि	नी	•	•	सु	र	भा	ऽ	र

(२) राग देश-तिलककामोद ध्रुपद—चौताल ताल

स्थायी— ॐ वन्दे नादतनुम्
ढक्का-निनाद-सुव्याकृतवर्णं पदततिकलनं वाक्यविधानम्॥

अन्तरा— सद्योजातं जन्मातीतं, वामदेवं दक्षिणभावं, तत्पुरुषम् अर्द्धीकृतवपुषम्
ईशानं दिक्कालविहीनम्, अघोरम् अतिघोर-रवधरम्
पञ्चवदन-साधित-शुचिरागं शम् ओम्॥

संचारी— आङ्गिक-चेष्टा-राजितभुवनं वाचिक-व्यवहृति-व्यक्तवाङ्मयम्।
आहार्यार्थ कृतरविशशिनं सात्त्विकभावाराधितचरणं पूर्णसुनटनम्॥

आभोग—

रेप-म	गरेगसा	रेमपनि	सं--प	धम-ग	रिप-म
गरिसारि	मग-सां	रिगसानि	प़निस़-	रिमप-	पनिसां-
सप्तस्वरभावितमुनिहृदयं		सुविमलगानं	ऋ. दुं.	जगतिय	वलितक
दिगिनिगि	तितिझल	कुचझल	तितिचाऽ	इतिवाक्करणालंकृत-	
संस्तुतिपदं	टनगिन	गिननगि	ननगिड	गिडदगि	गिडगिड
किटतक	नखुनखु	खुं खुं	थों.गिन	थों.गिन	थों.थों.
गों.गों.	तकिधिकि	त.त्ता.	झें.गिरि	गिडदा.	झें••द्रा

झें••द्रा इति-पाटप्रकटनं कपाल-कम्बल-गान-तेषितं हा हा हू हू प्रभृति-सुशोभितसदसम्
आश्रितजनहृतविहिताविहित-कर्मविपाकजजनुम् ॐ वन्दे॥

समास—विग्रह

नादतनुम् = नाद एव तनुः यस्य तम्	बहुव्रीहि
ढक्का-निनाद-सुव्याकृतवर्णम् = ढक्का-निनादैः सुव्याकृताः वर्णाः येन तम्	बहुव्रीहि
पदततिकलनं—पदततीनां कलनं कृतं येन तम्	बहुव्रीहि
वाक्यविधानम्—वाक्यैः विधानम् यस्य तम्।	बहुव्रीहि
सद्योजातं—सद्यः जातम्	कर्मधारय
जन्मातीतं—जन्मना अतीतम्	तृतीया तत्पुरुष
दक्षिणभावं—दक्षिणः भावः यस्य तम्	बहुव्रीहि
तत्पुरुष—स च पुरुषश्च तम् इति	कर्मधारय समास
अर्द्धीकृतवपुषम्—अर्द्धीकृतं वपुः येन तम्	बहुव्रीहि
दिक्कालविहीनम्—दिक्कालाभ्याम् विहीनम् इति	तृतीया तत्पुरुष
अतिघोररवधरं—अत्यन्तं घोरश्चासौ रवः अतिघोररेवः तं धरति यः तम्	बहुव्रीहि

पञ्चवदन-साधित शुचिरागम्—पञ्चवदनैः साधिताः शुचिरागाः येन तम् बहुव्रीहि

आङ्गिक-चेष्टा-राजित-भुवनम्—आङ्गिकचेष्टाभिः राजितं भुवनं येन तम् बहुव्रीहि

वाचिक व्यवहृति-व्यक्तवाङ्मयम्—वाचिकी असौ व्यवहृतिः वाचिक-व्यवहृतिः कर्मधारय समास

तया व्यक्तं वाङ्मयं येन तम् इति बहुव्रीहि

आहार्यार्थं—आहार्याभिनयस्य अर्थं प्रयोजनमधिकृत्य तत्पुरुष

कृतरविशशिनम्—कृतौ रविशशिनौ येन तम् बहुव्रीहि

सात्त्विक-भावाराधित-चरणम्—सात्त्विकभावैः आराधितौ चरणौ यस्य तम् बहुव्रीहि

स्थायी

×		०		२		०		३		४	
		म									
		रि	मप	पनि	संरि	नि̱	धप	म	गरि	नि़	स
		ॐ	••	वं•	••	दे	••	ना	••	द	त
			रि							प़	
म	गरि	रिग	निसा	प़	नि़	स	रि	नि̱	नि̱	ध़	प़
नुं	••	•	••	ढ	•	क्का	•	नि	ना	•	द
रि											
नि़	स	रि	म	प	ध	म	ग	रि	—	म	प
सु	•	व्या	•	कृ	त	व	•	र्णं	ऽ	प	द
				प		प					
नि	सं	रिं	नि̱	ध	प	म	—	प	प	मप	ध
त	ति	क	लं	नं	•	वा	ऽ	क्य	वि	धा•	•
		म									
म	गरि	रि	मप	पनि	संरिं	नि̱	धप	म	गरि	नि़	स
नं	••	ॐ	••	वं•	••	दे	••	ना	••	द	त
		म									
म	गरि	रि	मप	पनि	संरिं	नि̱	धप	रिम	पध	म	गरि
नुं	••	ॐ	••	वं•	••	दे	••	वं•	••	दे	••

अन्तरा

×		०		२		०		३		४	
म	—	प	—	नि	—	नि	—	सं	—	सं	—
स	ऽ	द्यो	ऽ	जा	ऽ	तं	ऽ	ज	ऽ	न्मा	ऽ
रिं	नि	सं	—	(मं)रिं	मं	गं	रिं	(मं)रिंनि	—	सं	—
ती	•	तं	ऽ	वा	•	•	म	दे•	ऽ	वं	ऽ
प	नि	सं	रिं	नि̱	(प)ध	प	—	(रि)म	—	म	मग
द	•	क्षि	ण	भा	•	वं	ऽ	त	ऽ	तु	रु•
रि	—	(म)रि	—	(रिं)मं	—	गं	रिं	गं	नि	सं	—
षं	ऽ	अ	ऽ	ध	ऽ	कृ	त	व	पु	षं	ऽ
(रिं)नि	—	नि	—	सं	—	सं	—	प	नि	सं	रिं
ई	•	शा	ऽ	नं	ऽ	दि	ऽ	क्का	•	ल	वि
नि̱	ध	प	—	(रि)म	(रि)म	—	म	ग	रि	रि	रि
ही	•	नं	ऽ	अ	घो	ऽ	•	रं	•	अ	ति
रिं	रिं	रिं	रिंनि	नि	नि	सं	—	(रिं)नि	—	नि	नि
घो	•	र	र•	व	ध	रं	ऽ	पं	ऽ	च	व
सं	सं	सं	—	प	नि	सं	रिं	नि̱	ध	प	ध
द	न	सा	ऽ	धि	त	शु	चि	रा	•	गं	•
म	गरि	(म)रि	मप								
शं	••	ॐ	••								

सञ्चारी

×		०		२		०		३		४	
पऩि	सरि	ग	ऩिस	रिप	म-गरि	रिग	ऩिस	मप	निनि	संसं	संसं
आं•	गिक	चे	ष्टा•	रा•	जिऽत•	भुव	नं•	वा•	चिक	व्यव	हृति
पध	म-गरि	रिग	रि ऩिस	म रि	रि म	प	प	मप	निनि	संरिं	रिं
व्य	क्तऽवा•	ङ्म	यं•	आ	हा	र्या	थं	कृत	रवि	शशि	नं
रिं नि	निनि	सं	संपं	पध	म गरि	रिग	ऩिस	पऩि	सरि	गग	नि स
सा	त्त्विक	भा	वा•	रा•	धिऽत•	चर	णं•	पू•	र्णसु	नट	नं

आभोग

×		०		२	
रिप—म	गरिगस	रिमपनि	सं——प	धम—ग	रिप—म
०		३		४	
गरिसरि	मग—स	रिगसऩि	पऩिस—	रिमप—	पनिसं—
×		०		२	
म—म—	पपनि—	संसंसंसं	रिंनिसं—	रिंपंमंगं	रें गं निसं
स ऽ प्त ऽ	स्वरभा ऽ	वितमुनि	हृदयंऽ	सुविमल	गा • नं •
०		३		४	
म — म —	पपनिनि	संसंसंसं	रिंनिसंसं	निनिनिनि	संसंसं —
ऋ ऽ दुं ऽ	जगतिय	वलितक	दिगिनिगि	तितिझल	कुचझल
×		०		२	
रिंनिसं ––	संसंसंप	पधमग	रिपमग	रिग—ग	ऩि ऩि सस
तितिचा ऽ	इतिवा •	क्करणा.	लं•कृत	सं•ऽस्तु	ति प दं •
०		३		४	
ममपप	निनिनिनि	संसंसंसं	रिं रिं रिं रिं	रिं पं मंगं	रिं गनिसं
टनगिन	गिननगि	ननगिड	गिडदगि	गिडगिड	किटतक

×		०		२	
निसंनिसं	रिंनिसं—	सांपंपप	पधमग	रिपमग	रिगनि़स
नखुनखु	खुं • खुं •	थों • गिन	थों • गिन	थों • थों •	गों • गों •
०		३		४	
पनि़ सरि	ग — स —	म रि — मप	निनिसं—	सं प — ध	मगरिग
तकिधिकि	त ऽ त्ता ऽ	झें ऽ गिरि	गि ड दाऽ	झें • ऽ द्रा	झें • •द्रा

×		०		२		०		३		४	
पनि़	स	रिम	पध	मग	रि	मम	—प	नि	निनि	सं	संसं
इति	पा	ट•	•प्र	कट	नं	कपा	ऽल	कं	बल	गा	नतो
रिं नि	सं	रिंमं	गंरिं	पनि	धप	रिम	गरि	पनि़	धप़	नि़नि़	स
•षि	तं	हा•	हा•	हू•	हू•	प्रभृ	तिसु	शो•	भित	सद	सं
म	प	नि	नि	सं	सं	सं	सं	प	नि	सं	रिं
आ	•	श्रि	त	ज	न	ह	तं	वि	हि	ता	•
नि	ध	प	प	रिं	रिं	रिं	नि	(प)ध	प	(ध)प	(प)ध
वि	हि	त	क	•	मं	वि	पा	•	क	ज	ज
म	गरि	ॐ	••	वं	ऽ	दे	ऽ	ना	ऽ	द	त
नुं	••										

(३) राग-भीमपलासी ताल-त्रिताल

स्थायी— नन्दसुतेन वादिता वंशी।
घनश्यामेन, चपलाम्बरेण, चललोचनाञ्चलेन,
शुकनारदसनकादिस्तुतेन............नन्दसुतेन वादिता वंशी

अन्तरा— गोगोपगोपीजनमोहिनी स्थावरजङ्गमधर्महारिणी,
चिदाकाशनिर्बाधचारिणी मुनिजनसुविमलमानसहंसी,.........वादिता वंशी।

सञ्चारी— घोषापूरितयामुनकूला, हृतगोपीगणह्री-दुकूला,
मग्रामर्षभ-साधारणकृत-मूर्च्छनाऽऽलापिका
राधिकाप्रेमसाधिका, भयबाधिका।

आभोग— सागमनिगमगायनी, नादज्योति:प्रकाशिनी, भक्तचित्ततमोहरा, समाहितश्रवणगोचरा, करोपलालिता सुधाप्यायिता, वादिता वंशी।

समास-विग्रह

नन्दसुतेन—नन्दस्य सुतः इति नन्दसुतः तेन	षष्ठी तत्पुरुष
घनश्यामेन—घन इव श्यामः तेन	कर्मधारय
चपलाम्बरेण—चपलाया इव अम्बरं यस्य तेन	बहुव्रीहि
चललोचनाञ्चलेन—चले लोचनयोः अञ्चले यस्य तेन	बहुव्रीहि
शुकनारदसनकादिस्तुतेन—शुकश्च नारदश्च सनकादयश्च=शुकनारदसनकादयः(इतरेतर द्वन्द्व)	
—तैः स्तुतः यस्तेन	बहुव्रीहि
गोगोपगोपीजनमोहिनी—गावश्च गोपाश्च गोपीजनश्च=गोगोपगोपीजनाः (इतरेतर द्वन्द्व)	
—तान् मोहयति या सा	बहुव्रीहि
स्थावरजङ्गमधर्मचारिणी—स्थावरजङ्गमानां धर्मान् हरति या सा	"
चिदाकाशनिर्बाधचारिणी—चिदाकाशे निर्बाधं चरति इति	
मुनिजनसुविमलमानसहंसी—मुनिजनानां सुविमलं मानसं तत्र हंसी इव इति	रूपककर्मधारय
घोषापूरितयामुनकूला—घोषेण आपूरितं यामुनं कूलं यया सा	बहुव्रीहि
हृतगोपीगणह्रीदुकूला—हृतं गोपीगणस्य ह्रीरूपं दुकूलं यया सा (ह्री एव दुकूलम् इति)	बहुव्रीहि
म-ग्रामर्षभ-साधारणकृता-मूर्च्छनाऽऽलापिका—	
म-ग्रामस्य ऋषभस्य साधारणकृताया मूर्च्छनाया आलापिका इति	बहुव्रीहि
राधिका-प्रेमसाधिका=राधिकायाः प्रेम्णः साधिका इति	षष्ठी तत्पुरुष
भयबाधिका=भयस्य बाधिका	"
सागमनिगम-गायनी=आगमसहितस्य निगमस्य गायनी	"
नादज्योतिःप्रकाशिनी—नादस्य ज्योतिः इति नादज्योतिः नादज्योतिषम् प्रकाशयति या सा इति	बहुव्रीहि
भक्तचित्ततमोहरा—भक्तस्य चित्तस्य तमो हरति या सा इति	बहुव्रीहि
समाहितश्रवणगोचरा—समाहितानां श्रवणस्य गोचरा	"
करोपलालिता—कराभ्याम् उपलालिता	तृतीया तत्पुरुष
सुधाप्यायिता—सुधया आप्यायिता	तृतीया तत्पुरुष

स्थायी

×	२	०	३
			पसं प ध नि ध पम प नं • द• सु
म प म ग म प ग ते • न वा	ग म ग — स ग म ऽ दि ता •	स ग रि स — वं • शी ऽ	ग म प — • • • ऽ
×	२	०	३
ध म प — ग घ न ऽ श्या	म प — प • मे ऽ न	म ग स ग — च प लां ऽ	स म ग रि स ब रे • ण
रि ग म प नि स ग म च ल लो •	म प सं प नि — नि च लां ऽ च	प ध — प म ले ऽ न शु	ध प प म प ग म प क ना • र
ध प म प ग द स न का	ग म — स ग — ऽ • दि ऽ	स म ग रि स स्तु ते • न	पसं प ध नि ध पम प नं • द• सु

अन्तरा

×	२	०	३
			ध प पम प ग गो •• • गो
प — म प — ऽ प गो ऽ	प नि नि नि पी • ज न	प सं — — सं मो ऽ ऽ हि	रिं सं — नि सं नी ऽ • •
नि सं गं मं स्था • व र	सं गं रिं सं सं जं • ग म	सं नि सं रिं नि ध • र्म हा	सं नि ध प • रि णी •

×	२	०	३
म प	प ध		प
प सं — नि	ध प म प	ग म प नि	— नि ध प
चि दा ऽ का	• श नि •	र्बा • ध चा	ऽ रि णी •
स स	प प	रि ग म प	ध प
म ग रि स	स नि ध प	नि स ग म	प नि नि —
मु नि ज न	सु वि म ल	मा • न स	हं • सी •
प	म	स	पसं प ध
सं — — ग	— स ग म	ग रि स —	नि ध (पम) प
• ऽ ऽ वा	ऽ दि ता •	वं • शी ऽ	नं • द• सु

सञ्चारी

×	२	०	३
			नि नि स प
			घो • षा •
प प	म म म	स	
नि नि स स	ग ग ग ग	रि — स —	नि स ग म
पू • रि त	या • मु न	कू ऽ ला ऽ	हृ त गो •
	स	स	
प — प प	— म — ग	रि — स —	म — म ग
पी ऽ ग ण	ऽ ह्री ऽ दु	कू ऽ ला ऽ	म ऽ ग्रा •
स		ग	स
म ग रि रि	नि स ग म	प म प प	म ग ग रि
म • र्ष भ	सा • धा •	र ण कृ त	मू • र्च्छ ना
	पसं	प	ध
स नि स ग	म प नि —	नि ध प —	म प प ग
• ला • पि	का • रा ऽ	धि का • ऽ	प्रे • म सा
स	प		
म ग रि स	नि नि ध प	प स — —	
• धि का •	भ य बा •	धि का ऽ ऽ	

आभोग

×	२	०	३
			स सं गं मं
			सा • ग म
	सं		सं
निसं गं मं गं	रिं रिं नि सं	गं मं पं —	मं गं रिं —
नि• ग म गा	• य नी ऽ	ना — द ऽ	ज्यो • तिः ऽ
		रिंनि प	ध
सं रिं नि पनि	सं — सं —	सं नि ध पम	प ग — म
प्र का — शि•	नी ऽ भ ऽ	क्त चि • त्त•	त मो ऽ ह
स			ग
प — म ग	— रि स ऽ	नि स ग म	प म प —
रा ऽ स मा	ऽ हि त ऽ	श्र व ण गो	• च रा ऽ
नि स — स	म — ग म	— म प —	प सं नि सं
क रो ऽ प	ला ऽ लि ता	ऽ सु धा ऽ	प्या • यि ता
प	ग म ग	स	
— सं — ग	— स ग म	ग रि स —	
ऽ • ऽ वा	ऽ दि ता •	वं • शी ऽ	

ग. वृत्तगानपद्धति-निर्देश

(१) विषयावतारण

छन्द के प्रमुख दो भेद हैं—मात्रिक और वार्णिक। मात्रिक छन्दों में मात्रा-संख्या के आधार पर अक्षरों का नियमन होता है और वार्णिक छन्दों (वृत्तों) में लघु-गुरु अक्षरों के क्रम के आधार पर। संस्कृत भाषा में वार्णिक वृत्तों का ही अधिकतर प्रयोग हुआ है और मात्रिक छन्द प्राकृत, अपभ्रंश से हिन्दी आदि में आए हैं। इन दो के अतिरिक्त एक अन्य कोटि भी है जो वार्णिक होते हुए भी कुछ नियम-मुक्त है, जिसे अक्षर-मुक्तक संज्ञा दी गई है। संस्कृत का अनुष्टप् छन्द इसी कोटि में आता है। अनुष्टुप् के प्रत्येक चरण में आठ अक्षर रखने का नियम है और लघु-गुरु-क्रम में बहुत कुछ स्वतन्त्रता है। नियम केवल इतना ही है कि चारों चरणों में पाँचवाँ वर्ण लघु और छठा वर्ण गुरु होना चाहिए और द्वितीय-चतुर्थ चरणों में सातवाँ वर्ण भी लघु होना चाहिए।

किसी छन्दोबद्ध रचना को तालबद्ध करने के लिए सर्वप्रथम छन्द के प्रत्येक चरण की मात्रा-संख्या पर ध्यान देना आवश्यक है। छन्द मात्रिक हो या वार्णिक, आज की ताल-रचना मात्राधारित होने के कारण छन्द का मान मात्रा की इकाई के अनुसार जानना आवश्यक है। छन्द का एक चरण और ताल का एक आवर्तन बिल्कुल बराबर मान का हो, ऐसा न तो प्रत्येक स्थिति में सम्भव है और न ही अनिवार्य। छन्द का एक चरण ताल के कई आवर्तनों में भी बाँधा जा सकता है। इस प्रसङ्ग में चार बातों का विशेष ध्यान रखना आवश्यक है।

1—छन्दोगत मान का ताल के साथ साम्य साधने के लिए वर्णों का कर्षण तो किया जा सकता है, किन्तु वर्णों के मूल मान को घटाना कदापि उचित नहीं। जैसे, 13 मात्रा के छन्द के वर्णों का कर्षण कर के 16 मात्रा के त्रिताल के साथ उसका साम्य लाया जा सकता है, किन्तु 13 मात्रा को घटा कर 12 मात्रा में बैठाना किसी प्रकार उचित नहीं है।

२-छन्द की यति या विराम पर पूरा ध्यान रहना चाहिए, और उसका साम्य तात के आवर्तन या विभाग के साथ अवश्य बैठाना चाहिए।

३-कर्षण गुरु वर्णों का ही होना चाहिए, लघु का नहीं।

४-ताल के आवर्तन में किस स्थान से छन्दोबद्ध पद का ग्रह [उठान] बैठाया जाए, इसका निर्णय इस आधार पर करना चाहिए कि ताल के सम पर छन्द के किस वर्ण का पड़ना उचित है। यथासम्भव सम पर गुरु वर्ण रहे तो अच्छा होगा। नीचे के कुछ उदाहरणों से ये बातें स्पष्ट हो जाएँगी।

(२) कालिदास के मङ्गल पद्यों का गानात्मक रूप

[क] रघुवंश महाकाव्य का मङ्गलाचरणात्मक श्लोक [अनुष्टुप्] उदाहरणार्थ नीचे स्वर-लिपि में प्रस्तुत है। आठ वर्णों के प्रत्येक चरण के वर्णों का यथोचित कर्षण कर के 16 मात्रा के त्रिताल में बाँधा गया है।

श्लोक— वागर्थाविव सम्पृक्तौ, वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे, पार्वतीपरमेश्वरौ ॥

---

१. कर्षण का शब्दार्थ है खींचना। गान-क्रिया में पद के किसी वर्ण [अक्षर] को स्वरों में लम्बाना कर्षण है।

राग भूपाली-ताल त्रिताल

×				१				०				३			
								स	सं	ध	प	ग	रि	स	रि
								वा	•	ग	•	र्था	•	वि	व
				रि		प									
प	ग	ग	रि	ग	—	रि	स	स	ध़	स	रि	ग	रि	ग	ग
सं	•	पृ	•	क्तौ	ऽ	•	•	वा	•	ग	•	र्थ	•	प्र	ति
						रि									
प	ग	प	ध	प	ग	ग	—	प	ग	प	—	सं	ध	सं	सं
प	•	•	त्त	ये	•	•	ऽ	वा	•	ग	ऽ	र्थ	•	प्र	ति
						प									
सं	रिं	सं	ध	प	ध	ध	—	सं	—	गं	रिं	गं	रिं	सं	ध
प	•	•	त्त	ये	•	•	ऽ	वा	ऽ	ग	•	र्थ	•	प्र	ति
प	ध	सं	रिं	ध	सं	सं	—	गं	रिं	गं	—	—	रिं	स	ध
प	•	•	त्त	ये	•	•	ऽ	ज	ग	तः	ऽ	ऽ	•	पि	त
सं	—	—	ध	सं	रिं	सं	ध	—	प	प	ध	प	ग	—	—
रौ	ऽ	ऽ	•	वं	•	दे	•	ऽ	ऽ	वं	•	दे	•	ऽ	ऽ
		प													
प	ध	रि	—	—	—	ध़	स	स	रि	ग	प	ध	सं	रिं	गं
वं	•	दे	ऽ	ऽ	ऽ	•	•	पा	•	•	र्व	ती	•	प	र
पं												पं			
रिं	सं	ध	पध	सं	रिं	—	—	सं	रिं	गं	पं	रिं	—	सं	ध
मे	•	•	श्व	रौ	•	ऽ	ऽ	पा	•	•	र्व	ती	—	प	र
सं	रिं	सं	ध	प	ग	—	—	ग	रि	प	ग	ध	प	सं	पध
मे	•	•	श्व	रौ	•	ऽ	ऽ	पा	•	•	र्व	ती	•	प	र•
प	ग	—	प	रि	—	स	स								
मे	•	ऽ	श्व	रौ	ऽ	•	•								

[ख] 'विक्रमोर्वशीय' का नान्दी पद्य शार्दूलविक्रीडित वृत्त में है। ऽ ऽ ऽ । । ऽ । ऽ । । । ऽ, ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ—इस प्रकार १२ + ७ = १९ वर्णों का एक चरण है और प्रथम विदारी में १८ तथा द्वितीय विदारी में १२, इस प्रकार कुल ३० मात्रा हैं। चौताल के ढाई आवर्तनों में यह एक चरण नीचे देखें।

पद्य— **वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी**
यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाक्षरः।
अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते
स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निश्श्रेयसायास्तु वः॥

राग-शंकरा ताल-चौताल

×		०		२		०		३		४		×		०		२		०		३		४	
नि	ध	सं	नि	प	—	ग	म	प	—	प	प	नि	ध	नि	सं	नि	—	नि	—	प	—	प	ग
वे	•	दां	•	ते	ऽ	षु	य	मा	ऽ	हु	रे	•	क	पु	रु	षं	ऽ	व्या	ऽ	प्य	ऽ	स्थि	तं
प	ग	—	रि	स	—	स	—	(प)ग	—	प	—	प	प	प	नि	ध	सं	—	सं	गं	रिं	सं	—
•	रो	ऽ	द	सी	ऽ	य	ऽ	स्मि	ऽ	न्री	ऽ	श्व	र	इ	•	त्य	नं	ऽ	न्य	वि	ष	यः	ऽ
नि	ध	सं	नि	प	ग	प	प	निध	सं	नि	—	सं	—	गं	पं	गं	रिं	सं	स	नि	ध	सं	नि
श	•	ब्दो	•	य	था	•	र्था	••	क्ष	रः	ऽ	अं	ऽ	त	•	र्य	•	श्च	मु	मु	•	क्षु	भि
—	प	निध	स	नि	—	प	—	ग	—	रि	ग	प	ग	—	रि	स	—	सं	—	गं	रिं	गं	—
ऽ	निं	य•	मि	त	ऽ	प्रा	ऽ	णा	ऽ	दि	भि	•	र्मृ	ऽ	ग्य	ते	ऽ	स	ऽ	स्था	•	णुः	ऽ
गं	पं	गं	पं	पं	गं	—	पं	गं	रिं	सं	—	नि	ध	सं	नि	नि	प	ग	प	निध	सं	नि	—
स्थि	र	भ	•	क्ति	यो	ऽ	ग	सु	ल	भो	ऽ	निः	•	श्रे	•	य	सा	•	या	•	स्तु	वः	ऽ
प	ग	ग	—	रि	ग	प	गं	—	रिं	स	—	स	—	(प)ग	—	ग	प	नि	सं	गं	रिं	सं	—
निः	•	श्रे	ऽ	य	सा	•	या	ऽ	स्तु	वः	ऽ	निः	•	श्रे	•	य	सा	•	या	•	स्तु	वः	ऽ

(ग) 'मालविकाग्निमित्र' का नान्दी पद्य स्रग्धरा वृत्त में है, जिसका स्वरूप है—
ऽ ऽ ऽ ऽ । ऽ ऽ, । । । । । । ऽ, ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ—

एक चरण में कुल २१ वर्ण हैं, यति ७, ७, ७ पर है। तीन विदारियों की मात्रा संख्या क्रमशः १३ + ८ + १२ = ३३ है। त्रिताल के दो आवर्तनों में एक चरण को बाँधने के बाद एक मात्रा शेष रहती है। अतः तीसरे आवर्तन को पूरा करने के लिए प्रत्येक चरण के अन्त में १५ मात्रा की तान रखी गई है।

पद्य— एकैश्वर्ये स्थितोऽपि प्रणतबहुफले यः स्वयं कृत्तिवासाः
कान्तासंमिश्रदेहोऽप्यविषयमनसां यः परस्ताद् यतीनाम्।
अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपि तनुभिर्बिभ्रतो नाभिमानः
सन्मार्गालोकनाय व्यपनयतु स वस्तामसीं वृत्तिमीशः॥

राग-हमीर ताल-त्रिताल

×				२				०				३			
				—	—	—	धनि	संनि	नि	ध	म॑	प	ग	—	म
				ऽ	ऽ	ऽ	ए•	••	कै	•	श्व	•	र्यै	ऽ	स्थि
(नि)ध	—	ध	—	ग	म	रि	स	स	रि	स	—	म॑	प	ध	म॑
तो	ऽ	पि	ऽ	प्र	ण	त	ब	हु	फ	ले	ऽ	यः	ऽ	स्व	यं
प	ग	—	म	(नि)ध	—	(नि)ध	—	धनि	संरिं	संनि	धप	म॑प	गम	रिस	-रि
•	कृ	ऽ	त्ति	वा	ऽ	साः	ऽ	••	••	••	••	••	••	••	••
स	म॑प	धम॑	—प	गम	ध	—	प	—	(नि)ध	—	नि	सं	सं	—	संनि
•	••	••	ऽ•	••	•	ऽ	कां	ऽ	ता	ऽ	सं	•	मि	ऽ	श्र०
संनि	रिं	सं	—	गं	मं	रिं	स	सं	रिं	सं	—	धनि	संनि	धनि	म॑
दे•	•	हो	ऽ	प्य	वि	ष	य	म	न	सां	ऽ	यः•	••	प•	र
प	ग	—	म	रि	—	स	—	धनि	सं	गंमं	रिंसं	—रिं	संनि	धनि	धप
०	स्ता	ऽ	द्य	ती	ऽ	नां	ऽ	••	•	••	••	ऽ•	••	••	••
म॑प	गम	ध	गम	ध	गम	ध	प	—	ध	नि	सं	—	गं	मं	रिं
••	••	•	••	•	••	•	अ	ऽ	ष्टा	•	भि	ऽ	र्य	•	स्य
सं	रिं	सं	—	ध	नि	सं	रिं	सं	नि	ध	प	म॑	प	ध	म॑
कृ	•	त्स्नं	ऽ	ज	ग	द	पि	त	नु	भि	•	र्बि	•	भ्र	तो

×				२				०				३			
प	ग	—	म	ध	—	ध	—	गंमं	रिंसं	—रिं	निसं	गम	रिस	-रि	निस
•	ना	ऽ	भि	मा	ऽ	नः	ऽ	••	••	••	••	••	••	••	••
											नि		नि		
रिग	मरि	—ग	मंध	मंप	गम	रिस	रि	ग	म	ध	ध	—	ध	नि	सं
••	••	ऽ•	••	••	••	••	स	•	न्मा	•	र्गा	ऽ	लो	•	क
ध														नि	
नि	-ध	मं	प	ग	म	रि	स	स	रि	स	—	मं	प	ध	नि
ना	ऽ•	य	•	व्य	प	न	य	तु	स	व	ऽ	स्ता	•	म	सीं
सं	गं	मं	रिं	सं	रिं	सं	—	संनि	धप	मंप	गम	ध	गम	ध	गम
•	वृ	•	त्ति	मी	•	शः	ऽ	••	••	••	••	•	••	•	••
ध	—	—	—												
•	ऽ	ऽ	ऽ												

[घ] 'अभिज्ञानशाकुन्तल' का नान्दी पद्य भी स्रग्धरा वृत्त में है। नीचे उसे कुछ भिन्न रूप से त्रिताल में निबद्ध देखें। यहाँ समग्र पद्य को एक इकाई माना गया है, प्रत्येक चरण को त्रिताल के तीन आवर्तनों में बैठाने का आग्रह नहीं रखा गया है।

पद्य— या सृष्टिः स्त्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः॥

राग-केदार ताल-त्रिताल

×				२				०				३			
							स	—	म	—	म	—	म	—	मग
							या	ऽ	सृ	ऽ	ष्टिः	ऽ	स्र	ऽ	ष्टु•
								"	"	"	"	"	"	"	"
प	—	प	—	ध	प	म	स								
रा	ऽ	द्या	ऽ	•	•	•	या								

×				२				०				३			
प	—	प	—	संध	-नि	म॑-	—	प	ध	प	म	—	म	रि	स
रा	ऽ	द्या	ऽ	••	ऽ•	•ऽ	ऽ	•	•	•	•	ऽ	•	•	स
ध	नि	सं	रिं	सं	नि	ध	प	प	सं	सं	ध	प	म॑	प	धप
व	ह	ति	वि	धि	हु	तं	•	या	•	ह	वि	•	र्या	•	च•
म	—	म	—	म	रि	स	स	प	ध	प	सं	सं	—	सं	—
हो	ऽ	त्री	ऽ	•	•	•	•	ये	•	द्वे	•	का	ऽ	लं	ऽ
ध	सं	रिं	सं	—	संनि	धप	म	स	स	म	म	प	म॑	ध	प
वि	ध	•	तः	ऽ	••	••	•	श्रु	ति	वि	ष	य	गु	णा	•
सं	—	सं	ध	—	प	—	प	ध	प	म	—	(स)म	—	प	—
या	ऽ	स्थि	ता	ऽ	व्या	ऽ	प्य	वि	•	श्वं	ऽ	•	ऽ	•	ऽ
सं	—	मं	—	मं	—	म	—	म	(ग)प	—	प	—	प	ध	प
या	ऽ	मा	ऽ	हुः	ऽ	स	ऽ	र्व	बी	ऽ	ज	ऽ	प्र	कृ	ति
म॑	प	धप	म	—	म	रि	स	प	सं	सं	मं	—	म	—	मग
रि	ति	य•	या	ऽ	•	•	•	प्रा	•	णि	नः	ऽ	प्रा	ऽ	ण•
प	—	—	—	म॑	—	प	—	ध	नि	सं	सं	सं	रिं	—	सं
वं	•	तः	ऽ	प्र	ऽ	त्य	ऽ	क्षा	•	भिः	ऽ	प्र	प	ऽ	न्नः
—	संनि	धप	म	स	मग	प	प	म॑	ध	म॑	प	सं	—	ध	म॑
ऽ	••	••	•	त	नु•	भि	र	व	तु	वः	•	ता	ऽ	भि	र

×				२				०				३			
								म			स				
प	म	—	रि	स	रि	स	—	स	—	स	म	—	म	—	मग
•	ष्टा	ऽ	भि	री	•	शः	ऽ	ता	ऽ	भि	र	ऽ	ष्टा	ऽ	भि•
प	—	प	प	प	—	प	सं	—	सं	सं	संनि	रिं	—	—	—
री	ऽ	शः	•	ता	ऽ	भि	र	ऽ	ष्टा	•	भि•	री	ऽ	ऽ	ऽ
सं	—	—	—												
शः	ऽ	ऽ	ऽ												

(३) श्रीमद्भागवत का वेणुगीत

श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के २१ वें अध्याय का नाम है 'वेणुगीत'। इसमें गोपियों द्वारा श्रीकृष्ण के वेणुवादन के लोकोत्तर प्रभाव का अन्यन्त सुन्दर वर्णन है। भूमिकात्मक कुछ श्लोकों [अनुष्टुप्] को छोड़कर गोपियों की पूरी उक्ति वसन्ततिलका वृत्त में निबद्ध है। ऽ ऽ। ऽ। । । ऽ, । । ऽ। ऽ ऽ—इस प्रकार प्रत्येक चरण में ८ + ६ = १४ वर्ण हैं। मात्रा संख्या १२ + ९ = २१ है। दूसरी बिदारी के अन्त में तीन मात्रा का कर्षण करके २४ मात्रा को चौताल के दो आवर्तनों में निबद्ध करने की विधि नीचे उदाहरणात्मक स्वरलिपि में देखें। विस्तार-भय से केवल प्रथम दो पद्य ही दिए गए हैं।

पद्य— अक्षण्वतां फलमिदं, न परं विदामः सख्यः पशूननुविवेशयतोर्वयस्यैः।
वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणु जुष्टं यैर्वा निपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम्॥
चूतप्रवालबर्हस्तबकोत्पलाब्ज-मालानुपृक्त-परिधानविचित्रवेषौ।
मध्ये विरेजतुरलं पशुपालगोष्ठ्यां रङ्गे यथा नटवरौ क्व च गायमानौ॥

राग-भीमपलासी ताल-चौताल

×		०		२		०		३		४	
नि̱	स	ग̱	—	म	प	—	प	म	प	ग̱	म
अ	•	क्ष	ऽ	ण्व	तां	ऽ	फ	ल	मि	दं	•
प	प	ग̱	—	म	ग̱	रि	स	—	नि़	नि̱	स
न	प	रं	ऽ	वि	दा	•	मः	ऽ	•	•	•
							प				
ग̱	म	प	—	नि	नि̱	ध	ध	प	म	प	—
स	•	ख्यः	ऽ	प	शू	•	न	नु	वि	वे	ऽ

×		०		२		०		३		४	
पध	मप	ग	—	म	ग	रि	स	—	ग	म	प
श•	य•	तो	ऽ	व	य	•	स्यै	ऽ	•	•	•
म	प	नि	सं	नि	ध	प	प	म	प	ग	म
व	•	क्त्रं	•	त्र	जे	•	श	सु	त	यो	•
म	प	प	—	म	प	—	प	—	नि	ध	प
र		वे	ऽ	णु	जु	ऽ	ष्टं	ऽ	•	•	•
ग	म	पनि	सं	नि	ध	—	प	म	प	ग	—
यै	•	र्वा•	•	नि	पी	ऽ	त	म	नु	र	ऽ
म	प	ग	—	म	ग	रि	स	—	निस	गम	प
क्त	क	टा	ऽ	क्ष	मो	•	क्षं	ऽ	••	••	•
प	—	प	—	प	म	—	प	ग	—	म	—
चू	ऽ	त	ऽ	प्र	वा	ऽ	ल	ब	ऽ	र्ह	ऽ
प	नि	नि	—	पनि	सं	—	सं	—	नि	नि	सं
स्त	ब	को	ऽ	त्प•	ला	ऽ	ब्ज	ऽ	•	•	•
नि	सं	गं	—	मं	मं	रिं	पं	पं	पं	गं	—
मा	•	ला	ऽ	नु	पृ	•	क्त	प	रि	धा	ऽ
गं	सं	गं	—	मं	गं	रिं	सं	—	रिं	नि	सं
न	वि	चि	ऽ	त्र	वे	•	षौ	ऽ	•	•	•
सं	—	नि	ध	प	म	प	ग	म	म	प	—
म	ऽ	ध्ये	•	वि	रे	•	ज	तु	र	लं	ऽ
प	नि	सं	—	नि	नि	ध	प	—	गम	पनि	स
प	शु	पा	ऽ	ल	गो	•	ष्ठ्यां	ऽ	••	••	•

×		०		२		०		३		४	
सं	—	नि॒	—	ध	प	—	प	म	प	ग॒	—
रं	ऽ	गे	ऽ	य	था	ऽ	न	ट	ब	रो	ऽ
म	प	ग॒	—	म	ग	रि	स	—	नि॒	नि॒	स
क्व	च	गा	ऽ	य	मा	•	नौ	ऽ	•	•	•

(४) कुछ ताल-वृत्त

कुछ वृत्त ऐसे होते हैं, जिनमें लघु-गुरु के क्रम-विशेष की पुनरावृत्ति हुआ करती है। इन्हें ताल-वृत्त कहने की परिपाटी है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं।

(क) प्रमाणिका— । ऽ । ऽ । ऽ । ऽ—यहाँ लघु-गुरु यह क्रम पुनरावृत्त है, । ऽ की मात्रा-संख्या तीन है। प्रथम लघु को छोड़ दें तो ऽ। यह क्रम बन जाता है। इस प्रकार गुरु पर सम रख कर दादरा ताल में इसे निबद्ध कर सकते हैं जैसे—

भजे व्रजैकमण्डनं, समस्तपापखण्डनम्।
स्वभक्तचित्तरञ्जनं, सदैव नन्दनन्दनम्॥
सुपिच्छगुच्छमस्तकं, सुनादवेणुहस्तकम्।
अनङ्गरङ्गसागरं, नमामि कृष्णनागरम्॥ [श्रीकृष्णाष्टक]

×			०			×			०		
					स	स	—	ध़	स	—	रि
					भ	जे	ऽ	व्र	जै	ऽ	क
ग	—	रि	ग	—	रि	म	—	म	म	—	म
मं	ऽ	ड	नं	ऽ	स	म	ऽ	स्त	पा	ऽ	प
प	—	म	ग	—	स	ग	—	ग	ग	—	म
खं	ऽ	ड	नं	ऽ	स्व	भ	ऽ	क्त	चि	ऽ	त्त
ग	—	रि	रि	—	ग	नि़	—	नि़	रि	—	ग
रं	ऽ	ज	नं	ऽ	स	दै	ऽ	व	नं	ऽ	द
स	—	स	स	—	स	प	—	प	प	—	प
नं	ऽ	द	नं	ऽ	सु	पि	ऽ	च्छ	गु	ऽ	च्छ
प	ध	प	म	—	रि	म	—	म	म	—	म
म	•	स्त	कं	ऽ	सु	ना	ऽ	द	वे	ऽ	णु

×			०			×			०		
प	—	म	ग	—	स	ग	—	ग	ग	—	म
ह	ऽ	स्त	कं	ऽ	अ	नं	ऽ	ग	रं	ऽ	ग
ग	—	रि	रि	—	ग	नि	—	नि	रि	—	ग
सा	ऽ	ग	रं	ऽ	न	मा	ऽ	मि	कृ	ऽ	ष्ण
स	—	स	स	—							
ना	ऽ	ग	रं	ऽ							

(ख) पञ्चचामर—प्रमाणिका की ही दुगनी लम्बाई में पञ्चचामर वृत्त बनता है। सुप्रसिद्ध (रावणकृत) शिवताण्डवस्तोत्र इसी वृत्त में है। उसे भी दादरा ताल में इसी प्रकार निबद्ध किया जा सकता है। उसे द्रुत लय में गाना चाहिये।

(ग) भुजङ्गप्रयात—इसके प्रत्येक चरण में। ऽ ऽ—यह पञ्चमात्रिक गण चार बार पुनरावृत्त होता है। प्रथम लघु को छोड़कर गुरु पर सम देने से यह झपताल में बैठ जायगा। शङ्कराचार्य के नाम से प्रसिद्ध भवान्यष्टक तथा सत्यव्रत-कृत दामोदर स्तोत्र भी इसी वृत्त में है। पाठक इसे यथेच्छ स्वरावली में निबद्ध कर लें। ताल इस प्रकार रहेगा।

×		२			०		३		
							—	—	न
मा	ऽ	मी	ऽ	श्व	रं	ऽ	स	ऽ	च्चि
दा	ऽ	नं	ऽ	द	रू	ऽ	पं	ऽ	ल

(ग) त्रोटक—इस वृत्त के प्रत्येक चरण में। । ऽ यह चातुर्मात्रिक गण चार बार आता है। गुरु पर सम रख कर इसे कहरवा ताल में गाया जा सकता है। वल्लभाचार्य-कृत सुप्रसिद्ध मधुराष्टक इस वृत्त में है। स्वर-योजना छोड़कर इसका ताल-समन्वित रूप हम नीचे दे रहे हैं।

—	—	अ	ध	रं	ऽ	म	धु	रं	ऽ	व	द	नं	ऽ	म	धु
रं	ऽ	न	य	नं	ऽ	म	धु	रं	ऽ	ह	सि	तं	ऽ	म	धु
रं	ऽ	ह	द	यं	ऽ	म	धु	रं	ऽ	ग	म	नं	ऽ	म	धु
रं	ऽ	म	धु	रा	ऽ	धि	प	ते	ऽ	र	खि	लं	ऽ	म	धु
रं	ऽ														

(५) उपसंहार

वृत्तों के गानमय रूप के कुछ उदाहरण विद्यार्थियों ने ऊपर देखे हैं। इनका प्रचलित बन्दिशों के साथ क्या साम्य है और क्या भिन्नता है, इसका संगीत की दृष्टि से विश्लेषण उपयोगी होगा। प्रबुद्ध विद्यार्थी इस दिशा में अवश्य प्रयास करें। तुलना के लिए गीतावली में दिये गये तीन ध्रुवपद गीत उपलब्ध हैं, जिनकी रचना प्रचलित बन्दिशों के अनुरूप हुई है।

(घ) संगीतशास्त्रविभागीय-संस्कृतदिवस-समारोहे

डॉ० (कु०) प्रो० पद्मामिश्रमहोदयानाम् अध्यक्षीयभाषणस्य सारांशः

माननीया विद्वांसः, विदुष्यश्च !

सहृदयहृदयाह्लादिकायाः मधुरादपिमधुरायाः सरसादपिसरसायाः संस्कृतभाषाया अनल्पान् गुणान् किमु वच्मि। अर्थगाम्भीर्यवती चारुसंनिवेशोपेता संस्कृतभाषेयं माधुर्यं, नादसौन्दर्यं गूढानुगूढभावाभिव्यञ्जकत्वं च प्रकाशयति। प्राचीनत्वमस्या अपरं वैशिष्ट्यम्। ऋकसंहितायां देवानां स्तुतयः, एकं सदित्युद्घोषः जगतः सदसदितिविश्लेषणञ्चेत्यादीनि यस्यां भाषायां निबद्धानि सैव भारती अद्यापि यत्किञ्चित्परिवर्तनमन्तरेण प्रयुज्यत इत्यपि स्वगौरवाग्रहिणामितिहासकोविदानाञ्च चेतःसु सविशेषमानन्दं वितनुते। गीरियं प्राचीनतमेत्यत्र संशयः काममवकाशं लभेत परं नास्ति सन्देहस्य लेशोऽपि यदियमेव गैर्वाणी वाणी प्रथमतो निरन्तरं निरवच्छिन्नं प्रवहन्ती, सहृदयाणां चेतांसि रञ्जयन्ती अद्यावधि वरीवर्ति। नैतच्चित्रम्, यतो भाषेयं ब्राह्मी गीर्वाणवाणी चाभिधीयते। देवार्चनोद्यतो गृहीतासन उपासकः संस्कृतमेव ब्रूयादिति विधिरेव नैनां गीर्वाणवाणीपदे प्रायच्छत्। अत्रानुसन्धेया ऋग्वेदीया ऋगियम्—

''यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन् ऋषिषु तां प्रविष्टाम्।''

वाचः पन्थानं यज्ञेनासाद्य धीराणां मानसेषु निगूढां तां कवयोऽविन्दन्, एवमुपलब्धा वाग् ऋषिभिः परिशोधिता प्रसाधिता च। एतदेवानूदितमपरस्मिन् मन्त्रे—

''सक्तुमिव तितउना पुनन्तो धीरा मनसा वाचमक्रत।''

एवं क्रान्तदर्शिभिः सुसंस्कृता वाग् गीर्वाणवाणीव्याख्यामभजत। ब्राह्मीत्यभिधेयस्य रहस्यमुद्घाटयति प्रतिपादयति चास्याः गिरो महत्त्वमस्यवामस्येति सूक्ते पठितो मन्त्रोऽम्।

''ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।''

एतादृशी वाणी यदि वर्षाणां चतुःसहस्रं यावदन्यासां वाचां समकालमेव न तु ता अभिभूय अद्यावधि विलसन्ती चारुतामधिकतरां चापादयन्ती वरीवर्तीत्यनेनैव प्रतिपादिता अस्या उपयोगिता संजीवनीशक्तिश्च।

परं विज्ञापनप्रधानेऽस्मिन् युगे प्रतिपाद्यवस्तुन उपादेयताऽवश्यमेव साधनीया। संस्कृतभाषाया उपादेयता तु भारतीयानां कृते सविशेषैव। देशान्तरदर्शनातिशायीनि नास्तिकास्तिकदर्शनानि प्रथितान्येवाखिले विश्वे। व्याकरणशास्त्रस्य सूक्ष्मातिसूक्ष्मविश्लेषणमपि विस्मयावहम्। आयुर्वेदादीनां महत्त्वमानुकूल्यञ्च प्रतिदिनमनुभूयत एव। साहित्यमपि लोकातीतां ख्यातिमलभत, न केवलं कविकर्मणा, अपि तु रसध्वन्याद्यनुपमसिद्धान्तानां गहनातिगहनालोचनेन। शालानिर्माणमूर्तिविरचनाद्याः कला अपि संस्कृते उत्कर्षमभजन्। अलं विस्तरेण, किमस्ति कोऽपि विषयो विश्वेऽस्मिन् यन्न ग्रन्थितोऽस्यां भाषायाम्। नातिशययुतं प्रतिभात्येतद्वचनम्—'धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ। यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्'।

संस्कृतभाषां विना वयमात्मानमपि ज्ञातुं न शक्नुमः किं पुनरग्रे सर्तुम्। अतोऽस्या भाषायाः प्रसारे यत्नो विधेय इति न विवादास्पदम्। कथं तत्साधयितव्यम्। इत्युद्दिश्य प्रतिवर्षं संस्कृतदिवसोपलक्षणेन विद्वांस एकचित्तीभूय संस्कृतस्य महिमानमुपादेयताञ्चोपदिशन्ति तद्रक्षणोपायाँश्च विचिन्तयन्ति। तदनन्तरञ्च पुनः संवत्सरपर्यन्तं भाषामिमां विस्मृत्य उपेक्षमाणा चैनां व्यवहरन्ति। उपेक्षितायाः क्षीणक्षीणायाश्च संस्कृतभाषाया एकशोऽप्यनुस्मरणं रसायनं सञ्जायत इति सत्यम्। संस्कृतदिवसीयमायोजनं कथमधिकतरं साफल्यं भजेदिति संस्कृतानुरागिभिर्विचारणीयम्। यदि द्वैविध्यं प्राप्नुयात् संस्कृतदिवसमारोहस्तर्हि साफल्यातिशयभागेव स्यादिति तर्कयामि। इदानीन्तनमायोजनन्तु संस्कृतज्ञानामेवोद्बोधनम्। ये संस्कृताध्ययनवञ्चिताः संस्कृतसाहित्यानभिज्ञास्तद्गौरवं प्रति तटस्थाश्च तेभ्यः संस्कृतेतिवृत्तोपदेशाय जीवने च तदुपादेयताप्रख्यापनाय भारतीयतायाश्च संरक्षणाय संस्कृतेतरभाषास्वपि समारोहाः संयोजनीयाः।

सरला: सूक्तय: सुभाषितादयश्च अनुवादसहकृता लोके वितरणीया:। संस्कृतनाटकेभ्यश्चोद्धृता: विनोदसाधका: प्रसङ्गा: सुबोधभाषानिबद्धा अभिनेया:।

संस्कृताध्ययनस्येदमपि वैशिष्ट्यं यत् सम्यगधिगता अध्यापिता चासौ भाषा स्वार्थपरित्यागे शिष्टाचारेण च नियोजयति; शास्त्रज्ञानञ्च सांसारिकीं लिप्सां न्यूनीकरोति। साहित्येन संस्कृतेन संस्कृत्या च समग्रं भारतं वर्षमेकसूत्रनिबद्धं नानारत्नमयं हारमिव परस्परं सम्बद्धमासीत्, अधुनाऽप्यस्ति च इत्यपि दर्शयति संस्कृता गी:।

इदानीं संस्कृतभाषाया: प्रचारस्य प्रसारस्य च समधिकाऽऽवश्यकता वर्तते। धर्मलोलुपताऽधर्मभीतिश्च सत्कार्येषु नियोजयत: परं कुरीतिभि: धर्मविरोधिनीभिश्च धर्माग्रहोऽधर्मपरिहारेच्छा चोभावपि रसातलं प्रेषितौ। न मातापितृभिर्न वा शिक्षकै:शिष्टाचरितं शिक्ष्यते। सदाचरणस्य शिष्टसंलापस्य च निदर्शनस्वरूपाभिर्विधानादिसभाभिर्यदा शिष्टव्यवहाराय तिलाञ्जलिर्दत्तस्तर्हि का कथा अभावमहार्घतादिप्रपीडितस्य लोकस्य।

संस्कृताध्येतृभिर्न परित्याज्यं शिष्टाचरणमिति सततमुपदिशद्भि: यदि शिक्ष्यते गीरियं तर्हि भ्रष्टाचारोन्मूलनायान्दोलनं शरण्यं न स्यात्। छात्रान् सर्वतो मथ्नन्तीवाशान्तिस्तज्जन्या मनसोऽस्थिरता च, तन्निमित्ताश्च विध्वंसका: कार्यकलापा उपशमं गच्छेयु:। संस्कृतस्यैतन्माहात्म्यं कपोलकल्पितं मनोमोदकं वेति पूर्वाग्रह: परित्याज्य:। पूर्वोक्ता उपाया: प्रयोगसापेक्षा: अत: परीक्षणमपेक्षन्ते।

संस्कृतभाषा दुर्बोधा दुरधिगमा वेति लोकापवादोऽपसारयितव्य: सारल्यविधायिभिर्विद्वद्भि:। ग्रीकलैटिनादिषु प्राचीनासु भारोपीयभाषासु फ्रेंच-जर्मन-इतालियादिषु आधुनिकभाषास्वपि संस्कृतवच्छब्दानां धातूनाञ्च रूपाणि विद्यन्ते, परं तत्रास्ति विभक्तीनां न्यूनता। चतस्र एव विभक्तय: समस्तकारकप्रयोजनानि साधयन्ति। लकारा अपि नाधिका: एतासु भाषासु। निर्विचारानुसरणमत्रानपेक्षितम्। संस्कृतभाषया सरणिरेषानुसरणीया न वेति विचारानन्तरं यद्यभिमतं स्यात्तर्हि नामाख्यातरूपाणि न्यूनतां प्रापणीयानि। सन्धयोऽपि शनै: शनै: शिक्षणीया:। संस्कृतभाषाया: प्रचारकामै: पण्डितै: सम्यग् विचार्य सुसरला व्यवहारयोग्यैव भाषा प्रचारयितव्या। एतदपि विचारणीयं यत् संस्कृताध्येतारो न बाला एव अपि तु व्युत्पन्ना: युवका: वृद्धाश्चापि संस्कृतमध्येतुं मनो दधति। तेषां कृते व्यपेतकाठिन्यानि चिन्तनपराणि पद्यानि गद्यांशानि च रचयितव्यानि यथा प्रबुद्धा: परं संस्कृतानभिज्ञा: विद्यार्थिनो नीरस इति मत्वा पाठान्मा विरमेयु:।

विदुषां समक्षं न किमपि कथनीयं तथापि संस्कृतानुरागस्तत्पक्षपातश्च मामेवं वाचालयति यत् संस्कृतभाषाया: सारल्यापादनमकार्यं दुष्करं वेति पूर्वपक्षतां परित्यज्य भवद्भि: विचारसरणिं प्रापणीया एते उपाया:।

अवहितै: भवद्भि: प्रजल्पितं मे श्रुतमिति भवतामौदार्यमेव। अनवधानतया संघटितं स्खलनं समाधेयं विद्वद्वरैरिति निवेद्य विरमामि।

(ङ) दक्षिणामूर्ति-पीठाधीश्वर महामण्डलेश्वर परमहंस परिव्राजकाचार्य

१०८ स्वामीश्रीमहेशानन्द गिरि का आशीर्वचन

भारत का यह दुर्भाग्य रहा है कि गत कुछ शताब्दियों से मूल परम्पराओं का ज्ञान भी अनुवादों के सहारे करके लोग विशेषज्ञ बन जाते हैं। हमारे माने हुए सम्मानित दार्शनिक, धर्माचार्य, चिकित्सक, स्थपति, साहित्यिक आदियों की तरह संगीत-विशारद भी प्रायः असंस्कृतज्ञ होते हैं। फलतः प्राचीन ग्रन्थों को न समझ कर उनके विषय में एक भ्रान्त धारणा बना लेते हैं एवं दूसरों के सामने साधिकार घोषणायें करते रहते हैं—कर्णाटक एवं हिन्दुस्तान-संगीत के वे प्रचारक, प्रसारक, शिक्षक प्रायः संस्कृत-अनभिज्ञ होते हैं तथा **भरत नाट्यशास्त्र को जिन्होंने एक बार भी भली प्रकार नहीं समझा है, वे भरतनाट्यम् का प्रचार करते फिरते हैं। संस्कृत जाने बिना न अपनी प्राचीन परम्पराओं का ज्ञान हो पाता है एवं न उन कड़ियों के खुले बिना केवल प्रयोगात्मक कला के आधार पर कोई ठोस उन्नति ही हो पाती है।** इस कमी को दूर करने के लिए अब कुछ जागृति आने लगी है एवं इसमें **डॉ० प्रेमलता शर्मा का एक बहुत बड़ा योगदान है। जब भारत के संगीत प्रकरण के इतिहास का प्रसङ्ग आएगा तब इस विषय में उनका उपकार सभी को स्मरण रहेगा। आप अनेक वर्षों से संगीत-शिक्षकों एवं विद्यार्थियों को तैयार करते हुए उनमें संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन का प्रचार करती रही हैं एवं संगीत के विद्यार्थियों के लिये संस्कृत को एक अनिवार्य विषय बनाने का आप ने स्तुत्य प्रयास किया है।**

इस हेतु ऐसी किताबों की आवश्यकता होना स्वाभाविक है जो संस्कृत को इस प्रकार पढ़ावें कि संगीत क्षेत्र के लोगों को रुचिकर हो। संगीत वालों को इस प्रकार संस्कृत पढ़ाने वाला प्रथम ग्रन्थ सौ० विमला मुसलगांवकर ने निर्माण करके इस ओर कदम उठाया है। कहीं-कहीं तो उन्होंने कुछ आधारभूत तत्त्वों की मीमांसा भी की है जो अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। उदाहरण के लिए 'अच्' के बाद सर्वप्रथम हलों में 'ह' को ही ग्रहण क्यों किया गया है? इसका पाणिनिशिक्षा के आधार पर बड़ा ही सुन्दर उतर बन गया है। इसी प्रकार वर्णों के उच्चारणों के स्थान इत्यादि का विचार भी काफी अच्छे ढंग से किया गया है। प्रारम्भ में ही यौगिक, योगरूढ़, यौगिक-रूढ़ आदि शब्दभेद करके विद्याथियों को पहले से ही सोचने की प्रवृत्ति कराने का प्रयत्न है तथा उपसर्गों के अर्थ का विचार भी इसी कोटि का है।

सौ० विमला परिश्रमी, सुशील तथा विद्यारसिक हैं। आप भारत में संस्कृत का संगीतज्ञों में प्रचार करने का प्रयत्न सफल बनाकर संगीतज्ञों को नवीन दिशा प्रदान करें, यह हमारी भगवान् उमारमण से प्रार्थना है। आप दीर्घजीवी एवं स्वस्थजीवी बनी रहें, यह आशीर्वाद है।

[श्रावणी पूर्णिमा—२०३१]



.२.

कविभारत्यां 'समस्या'-पूर्त्तयः*

श्रव्ये मनोज्ञरचना न कलाविलासः
दृश्ये च रम्यतरता न कलाविलासः।
संवादभाक् सहृदयेषु सुभावितेषु
हृत्-तन्त्रिकाऽनुरणनं हि कलाविलासः॥

अर्थाभिलाषवशगो न कलाविलासः
लोकैषणाऽभिलुलितो न कलाविलासः।
ध्याता समस्तविषया न कदापि यैस्तैः
स्वान्तःसुखाय विततो हि कलाविलासः॥

प्रावृट्कालसुनीलनीरदघने विद्युद् यथा द्योतते,
नैराश्येऽपि घनान्धकारविहिते दृष्टो यथाऽऽशाकणः।
मोहाक्रान्त-सुदीनचित्तपटले कस्यापि लीलायितं
कारुण्याधिकदीपितं मम तथा नीले सुवर्णायते॥

प्रावृट्पङ्किलतोयवाहितटिनीस्पर्शो न मे रोचते,
नीरे निर्मलतां गते सपदि सा तृष्णाशमे सुक्षमा।
नैवास्त्यत्र हि काऽपि विस्मयकथा शुष्का पुनः सोज्झिता
दोषं मा गणयात्र कस्यचिदहो कालस्य लीलायितम्॥ १॥

बीजेभ्यस्तरवः पुनस्तरुगणाद् बीजोद्भवो दृश्यते
ह्येतस्मात् क्रमतो न निष्कृतिरहो कुत्रापि दृष्टिं गता।
जायन्ते कुत आद्यबीजनिवहाः केयं नु पृच्छा मृषा-
ऽनादित्वे यदिहादिमत्त्वकलनं कालस्य लीलायितम्॥ २॥

उत्पन्नस्य विवर्धनं पुनरहो वृद्धस्य चापक्षयः
क्षीणस्यापि मृतिर्ध्रुवा यदि भवेन्नो तत्र कष्टं क्वचित्।
किन्त्वत्रैव विपर्ययोऽपि घटते वृद्धिं विना क्षीणता
रे रे मूढ! किमत्र दोषकलनं कालस्य लीलायितम्॥ ३॥

* १९६२-६७—पर्यन्त पू० बहिनजी ने ''कविभारती'' की गोष्ठियों में जो पद्य 'समस्यापूर्त्ति'—विधा के अन्तर्गत रचे-पढ़े थे, उनमें से कुछ यहाँ प्रस्तुत हैं।

कः कालो ? यदनादिचित्रफलके पूर्वापराभासनं
का लीला ? न हि यत्र हेतुकलनं सर्वत्र याऽबाधिता।
दृष्टादृष्टफलेषु का नु गणना ? हेतोश्च का कल्पना ?
यच्चाचिन्त्यमिहास्ति तद् वद सखे! कालस्य लीलायितम्॥ ४॥

यातं यत्पुनरैति नो यदपि चेच्चक्रस्य चाक्षं महद्
यच्चाप्यस्ति चरिष्णु सन्ततमहो यच्चैव चेत् सुध्रुवम्।
पौर्वापर्यविधान-कामरचनं नित्यत्वबोधक्षमं
द्वन्द्वानां रचनं पुनश्च हरणं कालस्य लीलायितम्॥ ५॥

नवीनं छायापद्यम्*

रागस्त्वप्रतिमोऽस्ति नादकलनं रागं मुदे साधये,
रागेणैव वशीकृता वसुमती रागाय यत्नो वरः।
रागान्नाप्तरसस्तु धन्यमहिमा रागस्य भावो ध्रुवो
रागे राग उदेतु नः सुविमलो भो राग! मां पालय॥



* श्रीरामरक्षास्तोत्र के अन्तिम पद्य में 'राम' शब्द का सातों विभक्तियों में प्रयोग है। उसी की छाया लेकर बहिनजी ने 'राग' शब्द का सातों विभक्तियों में प्रयोग करते हुए वृत्त बनाया और इसे स्वर-ताल-बद्ध करके गाया-गवाया था। —ऊर्मिला

.३.

कुछ प्रकीर्ण पद्य*

(१)

गोघाते निरता वयं प्रतिदिनं, गङ्गाऽपि हा! दूषिता,
गीता विस्मृतिगर्तगाऽनुदिवसं, गोविन्दचर्चा कुतः।
गायत्री नहि गीयते बत कथं त्रायेत घोरात् कलेः ?
लोपं हन्त गता गकारविततिः, पुण्या विनोबाऽऽहृता॥

गोवंश की तो हत्या करने में हम दिन-पर दिन लगे हुए हैं। भीषण प्राणि-संहारक एवं अशुचि गन्दगी **गङ्गा** (एवं उनके सदृश अन्य भी लोकमाता नदियों—) में डाल-डाल कर हमने परम पावन गङ्गाजल को दूषित कर डाला है। श्रीमद्भगवद्**गीता** (में कहे गये विश्वहितकारी चिन्तन एवं शिक्षण) को विस्मृति के गर्त में धकेल दिया है, और प्रतिदिन उससे मुँह मोड़ते जा रहे हैं। जीवन का रहस्य समझाने वाले जीवनतत्त्व के समग्र-रसमय प्रतीकरूप '**गोविन्द**' की तो चर्चा ही कहाँ? 'गायन्तं त्रायते इति गायत्री' [गाने वाले का रक्षण (अहित से बचाना) करने वाली] कही गयी **गायत्री** (परब्रह्म का सविता रूप में ध्यान व प्रार्थना—**ॐ भूर्भुवः स्वः, तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि, धियो यो नः प्रचोदयात्॥**) का गान (अर्थचिन्तन व भावन सहित सस्वर उच्चारण) किया नहीं जाता, तो वह मन्त्र इस घोर कलिकाल के दुष्ट प्रभाव से बचाये कैसे?— इस प्रकार विनोबाजी द्वारा एक साथ कहे गये **ये पाँचों 'ग'** जो स्मरण व सेवन से पावन करते हैं— हाय! आज वे लुप्त हो गये हैं।

(२)

महात्मा गाँधीजी ने भारतीय संस्कृति की रक्षा के लिये लघु-उद्योग, ग्रामोद्योग तथा कुटीरोद्योगों के संरक्षण की आवश्यकता बताई थी, और बहुत बड़े पैमाने पर चलने वाले बृहत्काय यन्त्राधारित उद्योगों को बढ़ावा न दिया जाय—इसी में भारत की भलाई कही थी। इसके साथ ही उन्होंने गो-सेवा और कृषि-कर्म का संयोग बनाये रखने का हितकारी सुझाव व निर्देश दिया था। किन्तु उस सब के सर्वथा विपरीत ही आज भारत में बड़े उद्योगों की विपुलता है, गो-सेवा को छोड़कर (गोवंश की हत्या) और— रासायनिक खाद के लिये बड़ा भारी आयोजन जोर-शोर से किया जा रहा है, फिर कीट-नाशक-रसायनों के विष से मनुष्यजीवन का विपुल संहार (कीड़ों के साथ मनुष्यों का भी नाश) घटित हो रहा है। फिर कहो तो गाँधीजी की आत्मा हमारे इस भारत में कैसे दिखाई दे?—यही इस पद्य में कहा गया है।

औद्योगीकरणं न याति विरतिं, खादी विकारं गता;
गोसेवा नहि रोचतेऽद्य, विहिता रासायनीयौर्वराः।
कीटानां शमने मनुष्यमरणं, 'कार्बाइडे' नाहितम्,
आत्मा गांधिमहात्मनां वद कुतो दृश्येत नो भारते?॥

---

* आकाशवाणी, वाराणसी से २९ दिसं०, १९८९ को प्रसारित संस्कृत-कविगोष्ठी में प्रेमलता शर्मा जी द्वारा ये स्वरचित पद्य पढ़े गये थे। —सम्पा०

(३)

भारत-सरकार ने 'शिक्षाविभाग' और 'संस्कृतिविभाग' ऐसे दो अलग विभाग बना कर शिक्षा और संस्कृति का वियोग करा दिया है। इस वियोग का दुष्परिणाम क्या सामने आया है, और कोरा अक्षरज्ञान ही 'शिक्षा' नहीं है—इस तथ्य को या दृष्टि को भुला देना अनर्थकारी है—यह इस पद्य में वर्णित हुआ है :—

शिक्षासंस्कृतयोर्वियोग इति या नीतिः समासादिता
नो तत्रास्ति सुशिक्षणं तनुमनोवाचो न संस्कारिताः।
शिक्षा नाक्षरबोध इत्यपि न हा सूक्ष्मो विवेकः श्रितः
नो शिक्षा, न हि संस्कृतिर्न विमला बुद्धिर्नवोदीयते॥

[शिक्षा और संस्कृति का वियोग कराने वाली जो नीति अपनायी गयी है, इसमें न तो अच्छा शिक्षण हो पाता है, न शरीर-मन-वाणी को सम्यक् एवं हितकर संस्कार ही मिल पाते हैं। केवल कोरा अक्षरज्ञान ही 'शिक्षा' नहीं है—इतना सा सूक्ष्म विवेक भी नहीं रखा गया। इसलिये न शिक्षण हो पाता है, न संस्कृति की रक्षा हो रही है, न विमल बुद्धि और उसके नये उन्मेषों का उदय होने की आशा रह गयी है।]

(४)

एक बार मैं 'रथयात्रा' के दिन दर्शन के लिये श्रीजगन्नाथपुरी गयी थी। वहाँ देखा कि ध्वनिविस्तारक यन्त्रों द्वारा कान फोड़ता हुआ सा विकट नाद (शोर) फैलाया जा रहा था, उसमें श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा महान् भक्तिभाव से सब श्रोताओं-दर्शकों के हृदयों को रस-विभोर करने वाले शुद्ध-रमणीय-श्रुतिमधुर सङ्गीतमय श्रीहरिनाम-सङ्कीर्तन के बदले चाहे जो—चाहे जैसा शोर-गुल ही हो रहा था। और पूरी यात्रा (जुलूस) के अन्त में पीछे धीमे-धीमे चलते हुए कुछ थोड़े से वृद्ध लोग क्षीण स्वर में हरिकीर्तन गाते आ रहे थे। तब मेरे मन में एक प्रश्न उठा, वही इस पद्य में व्यक्त है—

आसीद् यात्रा परमविकटा कर्णविस्फारियन्त्रैः
मन्दं मन्दं हरिगुणगणः कीर्त्यते स्मातिवृद्धैः।
क्वासि त्वं भो! सरलसुभगे संस्कृते भारतीये?
घोराद्घोरेऽतितुमुलरवे? क्षीणकाये स्वने वा॥

(अरे! हमारी सरल सुभग भारतीय संस्कृति! तुम कहाँ हो भला? यह जो कान फोड़ने वाली अति तुमुल कोलाहल जैसी घोर से भी घोर ध्वनि (आवाज-शोर) है—वहाँ हो क्या तुम? या इससे दबे हुए अतिशय क्षीण उस हरिकीर्तन-स्वर में तुम हो?)

(५)

स्वातन्त्र्य-प्राप्ति के पश्चात् भारत-शासन ने विविध प्रकारों से भारतीय कलाओं के रक्षण-पोषण-प्रसारण के लिये (अपनी बुद्धि से) यत्न करने की नीति अपनायी। किन्तु वे यत्न वस्तुतः समुचित एवं सही दिशा वाले हैं या नहीं?—बड़ा विचारणीय प्रश्न है। उसी की बात यहाँ कही गयी है—

लोको जीवति वा न वोत्सवगणे भूयोऽपि संयोजिते।
भ्रष्टा वा महिता कला सुविहितैः सम्मानदानक्रमैः।
शिल्पानां विनयेऽपि कुत्रचिदहो शङ्का समुद्भूयते
क्वास्ति क्वास्ति कला विकारशमनी सत्त्वातिरेकं गता॥

(तरह-तरह के (कला-प्रदर्शक—) 'उत्सवों' का जो बड़े घटाटोप से आयोजन-संयोजन हो रहा है, उनके द्वारा वास्तव में 'लोक' जी रहा है या नहीं? (या समाप्त ही हो रहा है?) कलाओं को प्रोत्साहन देने के नाम पर जो 'सम्मान' दिये जा रहे

हैं, उनके द्वारा वस्तुतः कला की महिमा बढ़ाई जा रही है या कि उन्हें भ्रष्ट किया जा रहा है ? (कला में समर्पित जीवन जीने वाले कलाकारों के चित्त में पैसे और तदाधारित प्रतिष्ठा का लोभ व स्पर्धा जगाकर और आधुनिक समाज के दूषणों का सङ्ग करवा कर कलाकारों का मूल अहित ही सम्भावित है)। इसी प्रकार अत्याधुनिक परिवेश में जो शिल्पों की शिक्षा दी जाती है— उसमें भी शिल्पशिक्षा होना शङ्कास्पद ही है। अहो! सत्त्वातिरेक में ले जाने वाली एवं समस्त विकारों का शमन करने वाली वह भारतीय कला कहाँ है ? कहाँ है वह अब ?)

(६)

केन्द्रीय शासन का नवीन गठन होने से जनसमुदाय बहुत आशान्वित हुआ है। मेरे मन में एक ही आशा सब से ऊपर झाँक रही है कि जिस बात पर स्वराज्यभावना के उद्‌गाता (एवं स्वराज्य पाते ही पहला कार्य गोरक्षा, गोवधबन्दी करना चाहने वाले) लोकमान्य तिलक, राष्ट्रपिता महात्मा गाँधीजी एवं जिसके लिये जीवन की आहुति चढ़ाने वाले सन्त बिनोवाजी एकमत थे—एकस्वर से जो (गोवधबन्दी तुरन्त करने की बात) कहते थे—उन महानुभावों की घोर विडम्बना (जो ४२ वर्ष तक होती आयी—वह) क्या अब समाप्त हो पायेगी ? इस नवीन शासनतन्त्र में क्या शीघ्र से शीघ्र गोरक्षा सिद्ध हो सकेगी ?—

गाँधी-विनोबा-तिलकोऽपि यत्र ह्यो कस्वरास्तत्र विडम्बनं किम्।
नाशं व्रजेद् भो! नवशस्ततन्त्रे गोरक्षणं स्यात् त्वरितं सुसिद्धम् ??

★★★

[***गोरक्षा*** एवं उस पर आधारित ***भारतीय संस्कृति, सूक्ष्म वैज्ञानिक दर्शन, प्रत्यक्ष लाभ-कारी तथ्यों*** तथा ***गोवंश के प्रति*** हो रहे ***अत्याचार, अनाचार से होती हुई प्रकट आर्थिक हानि, पर्यावरण-प्रदूषण*** आदि पर ***मार्मिक चिन्तन*** हिन्दी में ***७८ पद्यों में*** पू० बहिनजी ने व्यक्त किया था—

''गोकुल का आशीर्वाद''

—शीर्षक से। वह काव्य इस ग्रन्थ के परिशिष्ट (क) में गोसेवा—प्रसङ्ग में उन्हीं के द्वारा लिखी गई अपने गोवंश की पञ्जिका के साथ प्रस्तुत किया गया है।

—ऊर्मिला]



(डॉ० (कुमारी) प्रेमलता शर्मा द्वारा सम्पादित)

[भारत के इतिहास-प्रसिद्ध महान् सङ्गीतकार के जीवन की एक ऐतिहासिक घटना के आधार पर यह रूपक प्रस्तुत किया गया है। 'मिराते सिकन्दरी' नामक फ़ारसी इतिहास-ग्रन्थ में इस घटना का उल्लेख मिलता है। इस रूपक का मूल गुजराती के सिद्धहस्त लेखक स्व० श्रीरमणलाल वसन्तलाल देसाई ने गुजराती में लिखा था। उसी का हिन्दी रूपान्तर **मैं ने श्री बा० वें० कारंत** के सहयोग से किया है। रूपक की कथावस्तु को इतिहास के अधिक निकट लाने के लिए पूज्यपाद गुरुदेव पं० ओंकारनाथ ठाकुर के निर्देशानुसार मूल गुजराती रूपक में किञ्चित् परिवर्तन करके हिन्दी रूपांतर प्रस्तुत किया गया है। इस रूपक में समाविष्ट गीतों में जहाँ-जहाँ 'बैजू' का 'भणित' मिलता है, उन सब गीतों का 'पाठ्यरूप' (शब्दमय रूप) 'रागकल्पद्रुम' में से लिया गया है। जिन गीतों में 'भणित' नहीं है, उनकी शब्द-रचना प्रसङ्गानुकूल, भावानुरूप स्वयं बना ली गई है। सभी गीतों का चयन तथा उन्हें 'स्वर-ताल-देह' देने का विशिष्ट कार्य स्वर-सम्राट् पूज्यपाद गुरुदेव पं० ओंकारनाथजी ने किया है। रूपक में यथास्थान वे सभी गीत पूर्ण स्वरलिपि सहित दिये गये हैं।]

(३१ जनवरी १९६० को श्री कला सङ्गीत भारती, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के वार्षिकोत्सव के अवसर पर यह रूपक रङ्गमञ्च पर बड़ी सफलता से प्रस्तुत किया गया था। इसमें सभी गीतों को 'पार्श्व-सङ्गीत' के रूप में श्रीकला-सङ्गीत-भारती के प्राध्यापक **पं० पण्डित बलवन्त राय भट्ट** ने प्रस्तुत किया था तथा अभिनय, रङ्गमञ्च-व्यवस्थादि का निर्देशन तथा 'बैजू' का अभिनय भी **श्री बा० वें० कारन्त*** (भूतपूर्व विद्यार्थी) ने किया था—सम्पादिका)

प्रथम दृश्य

[रात को गया बैजू अभी लौटा नहीं, पास के टीले पर अपने संगीत की धुन में मस्त है.....................इधर दुपहरी बीत चुकी है—बैजू की बहन किन्नरी भाई की राह देखते-देखते हार गयी है। वह झोंपड़ी के बाहर बैठी, सामने से गुजरने वाले पथिकों से अपने भाई का समाचार पूछ रही है।]

कि०—भैया! बैजू को कहीं देखा है?

प० १—बैजू? उसका भी कोई ठिकाना है? कभी किसी टीले पर चढ़ा तो कभी किसी खोह में खो गया, उसे अपना भी होश कहाँ?

कि०—हाँ, गाने में जब रम जाता है तो वह अपना भी होश भूल जाता है।

प० २—तुम नहीं जानतीं; कल तो रात भर गाता रहा।

कि०—हाँ, उसे गाते सुनती हूँ तो समझ लेती हूँ कि वह जीता है, नहीं तो न जाने कब कहाँ भटका-भटका फिरा करता है।

---

* **श्री बा० वें० कारन्त** का०हि०वि० सङ्गीतमहाविद्यालय के छात्र रूप में पू० बहिनजी के सम्पर्क में आये, और घनिष्ठता बढ़ती ही गई; बहिनजी के प्रति अन्त तक माँ जैसा सम्मान-श्रद्धाभाव बनाये रखा। उन पहले दिनों की स्मृति पू० बहिनजी के स्मारक इस ग्रन्थ में संरक्षित रखने के लिये यह कृति ज्यों की त्यों यहाँ दी जा रही है। —ऊर्मिला

प० १—सच, उसे तो भगवान् ही बचावें, कल की ही बात—पहली रात थी—खापरा चौधरी के महल की छत पर उसे बैठे देखा था। मैंने देखा—सामने बाघ-बघिन बैठे हैं—उधर बैजू तो अपनी ही बीन बजाने में मस्त—और वे दोनों खूँखार टुकुर-टुकुर उसकी ओर ही देख रहे हैं! राम-राम। अपने तो जैसे प्राण ही सूख गये थे।

प० २—फिर उस दिन भोर बेला में कैसा मस्त हाथी था वह! केले का सारा वन तहस-नहस किये जा रहा था—अपनी ही मस्ती में। मगर बैजू को गाते सुना नहीं कि मतवाला हाथी भी एकदम अटक गया—फिर उसने उस ठिकाने को भी ढूँढ़ निकाला जहाँ बैजू बैठा था। इतना ही नहीं वह भारी भरकम हाथी बैजू के सामने थन-थन नाचने भी लगा।

प० १—हाँ, हाँ, मेरी आँख की ही तो साख है, अच्छे खासे सिपाहियों ने उस पर बाणों की वर्षा सी कर दी थी—मगर वह हाथी काबू आया तो बैजू के।......................खैर......................अब कब तक बातें किया करेंगे? आफ़त तो दरवाजे पर ही आ धमकी है—एक दो दिन मे..................

[बीन की ध्वनि दूर से सुनाई पड़ती है]

वही आता लगता है......................किन्नरी उसे सम्भाल कर रखो..................अब थोड़े ही दिनों में सारा चाँपानेर नगर धूल में मिल जायगा..................हम तो जा रहे हैं।

कि०—[अर्ध स्वगत] पावागढ़ की माटी ही अपने लाल की सम्भाल रखेगी।

[दूर से क्रमशः पास आता हुआ बैजू का संगीत सुनाई पड़ता है]

राग देशी—ताल धमार

स्थायी— आज सपने में साँवरी सूरत सलोनी देखी।
सैनन सों करी मो सों बात, तब ते मैं बहुत सुख पायो, एरी॥ आज..................

अन्तरा— मधुर बचन बोल बोल, मदन मन्त्र डारी,
उन बिन पल छिन कछु न सुहात, एरी॥ आज..................

सञ्चारी-आभोग— 'बैजू' के प्रभु ब्रिज नारी, मन्त्र जन्त्र लिख डारी,
कल न परत गात सब दिन रात, एरी॥ आज..................

स्थायी

×			०		६		०			११		०	
									ध	प		सा	
							रि	म	प	रि	ग	रि	सा
							आ	ऽ	ज	स	प	ने	ऽ
रि	नि	स	रि	म	प	ध	म	प	—	नि	सां	सां	—
में	ऽ	ऽ	सां	ऽ	ब	री	सू	ऽ	ऽ	र	ऽ	त	ऽ
सां	नि	सां	प	ध	म	प	रि	ग	—	सा	रि	नि	सा
स	लो	ऽ	नी	ऽ	ऽ	ऽ	दे	ऽ	ऽ	खी	ऽ	ऽ	ऽ

म	स						स	स				स	
ग	रि	सा	रि	नि	ध	प	प	नि	स	रि	ग	रि	स
सै	ऽ	ऽ	न	न	सों	ऽ	क	री	ऽ	मो	ऽ	सों	ऽ

म	प	ध	सं										
रि	म	प	नि	सं	सं	—	संनि	संनि	सं	संनि	संप	धम	प
बा	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	त	ऽ	तऽ	बऽ	ऽ	तेऽ	ऽऽ	मैंऽ	ऽ

		ध	प										
रि	म	प	रि	ग्र	स	रि	नि	स	—	स	सं	रिंनि	सं
ब	हु	त	सु	ख	पा	ऽ	यो	ऽ	ऽ	जा	ऽ	गऽ	त
सं	प	ध	म	प	रि	ग्	स	रि	—	नि	स	स	ऽ
भ	ई	ऽ	ऽ	ऽ	प	र	भा	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	त	ऽ

स	स		स	प					ध	प		स	
प	नि	स	प	रि	ग	स	रि	म	प	रि	ग	रि	स
ए	ऽ	ऽ	री	ऽ	ऽ	ऽ	आ	ऽ	ज	स	प	ने	ऽ

अन्तरा

×			०		६		०			११		०	
			सं					मं			रि		
म	प	प	नि	सं	—	सं	रिं	गं	रिंसं	रिं	नि	सं	सं
म	धु	र	ब	च	ऽ	न	बो	ऽ	लऽ	वो	ऽ	ऽ	ल

								सं		सं			
पं	रिंगं्	रिंसं	रिं	नि	सं	सं	सं	नि	सं	प	ध	म	प
म	दऽ	नऽ	मं	ऽ	ऽ	त्र	डा	ऽ	ऽ	री	ऽ	ऽ	ऽ

	म		रि				म	प					
रि	ग	—	स	रि	नि	स	रि	म	प	प	ध	पम	प
उ	न	ऽ	बि	ऽ	न	ऽ	प	ल	ऽ	छि	ऽ	नऽ	ऽ

						ध							
सरें	संनि	संप	धप	धम	—	प	ग	रि	ग	स	रि	नि	स
कऽ	छुऽ	ऽऽ	नाऽ	ऽऽ	ऽ	सु	हा	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	त	ऽ

(स)प̲	(स)नि̲	सा	(स)प	रि	ग्	स	रि	म	(ध)प	रि	ग्	(स)रि	स
ए	ऽ	ऽ	री	ऽ	ऽ	ऽ	आ	ऽ	ज	स	प	ने	ऽ

सञ्चारी-आभोग

स	(स)प	प	ध	(ध)म	(ध)प	प	(प)रि	म	(ध)प	रि	ग्	(स)रि	स
बै	ऽ	जू	के	ऽ	प्र	भु	ब्रि	ज	ऽ	ना	ऽ	री	ऽ
(म)रि	(प)म	प	(सं)नि̲	सं	—	सं	(प)रि	ग̲	—	स	रि	नि̲	स
मं	ऽ	त्र	जं	ऽ	ऽ	त्र	लि	ख	ऽ	डा	ऽ	री	ऽ
(म)स	रि	(स)रि	म	(म)रि	म	प	म	प	—	(सं)नि̲	सं	सं	—
क	ल	ना	ऽ	प	र	त	गा	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	त	ऽ
संनि̲	संनि̲	सं	धप	ध	म	(ध)प	(प)रि	ग̲	—	स	रि	नि̲	स
सऽ	बऽ	ऽ	ऽऽ	ऽ	दि	न	रा	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	त	ऽ
(स)प	(स)नि̲	स	(स)प	(प)रि	ग̲	स	रि	म	(ध)प	(प)रि	ग̲	(स)रि	स
ए	ऽ	ऽ	री	ऽ	ऽ	ऽ	आ	ऽ	ज	स	प	ने	ऽ

कि०—अरे! पहले अपने तन की तो सुध लो, फिर ब्रिज नारियों की दशा का बखान करना।

बै०—बहन, मुझे देर हो गई है न? क्या करूँ? मैं भी इस पावागढ़ के पत्थर सा जड़ हो चुका हूँ। मेरे जैसे भाई की बहन तू क्यों बनी................अच्छा, आगे से कभी देरी न करूँगा।

कि०—हूँ, यों हज़ार बार वचन दिया होगा तूने तो—

बै०—क्या करूँ बहन, तेरा भाई तो ऐसा बेढंगा है कि स्वयं पर ही उसका अंकुश नहीं चल पाता—उसका संसार तो..................बस सुर, ताल, लय। इनके सिवाय और कुछ नहीं। सुर के आवर्तन ही बैजू के श्वासोच्छ्वास हो गये हैं।

कि०—लेकिन भैया! सुर, ताल, लय में भी शरीर को तो जिलाये रखना है न?

बै०—अरे हाँ! तू तो भूखी है, मेरे बिना तू खाती कहाँ? यही तो एक बड़ी भूल है तेरी..................मेरा क्या, जहाँ चाहे तहाँ खा लेता हूँ ....जैसे आज।

कि०—आज! आज कहाँ खाया?

बै०—हाँ, कहाँ? आज मैंने कहाँ खाया? बता दूँ? ···

कि०—झूठा?

बै०—न, न मैं तो भूल गया, वह रही दूसरी बात, लेकिन आज मैं एक ऐसी वस्तु लाया हूँ कि आगे से तुझे मेरे बारे में कोई चिन्ता ही न रहे।

कि०—ऐसा भी क्या है? कहीं भूख न लगे ऐसा कोई राग तो नहीं खोजा है तू ने?

बै०—सुन तो सही—भद्रकाली की झाड़ी में वह जोगी अघोरनाथ जो रहता है न, उसको मैंने आज सबेरे ओंकार की स्वरावलि सुनाई। ले तुझे भी सुना दूँ। (किन्नरी स्वीकृति में सिर हिलाती है)

राग आसावरी—ताल चौताल

स्थायी— प्रथम ओंकार टेरो ब्रह्म चतुरानन,
जाको अक्षर सब रंग भरपूर रह्यो,
बानी तारन तरन॥ प्रथम ओं.....................

अन्तरा— अलख अपार, अगम निगम रहत,
करत राग रंग, धारन धरन॥ प्रथम ओं....................

संचारी-आभोग— गुणगण रहित सगुण निरगुण, सब जग आधारन,
'बैजू' प्रभु आदि जोत, निरंजन निराकार,
सूक्ष्म विराट रूप, घट घट व्यापि रह्यो,
नारी नरन॥ प्रथम ओं..........................

×		०		५		०		९		११	
						*	सा	(म)रि	म	(ध्)प	सां
							प्र	थ	म	ओं	ऽ
(नि)ध्	—	प	ध्	म	प	—	ध्प	ध्	म	(ध्)प	ध्
का	ऽ	र	टे	ऽ	रो	ऽ	ब्रऽ	ऽ	ह्य	च	तु
ग्	—	रि	सा	(म)ग्	—	(स)रि	सा	रि	नि्	ध्	प
रा	ऽ	न	न	जा	ऽ	को	ऽ	अ	ऽ	क्ष	र
(ध्)म	(ध्)प	सा	रि	म	प	म	प	सां	नि्	सां	रिं
स	ब	ऽ	रं	ऽ	ग	भ	ऽ	र	पू	ऽ	र

* इस पुस्तिका में उस समय के प्रेस की मर्यादाओं के अनुसार जैसी स्वरलिपि संभव थी वैसी को ही ऐतिहासिक दृष्टि से बनाए रखने के लिए हमने यहाँ से वह स्वरलिपि ज्यों की त्यों रखी है।
—ऊर्मिला

रिं	नि॒	ध॒	प	सां	नि॒	सां	प	रि	म	[रि]म	प
र	ह्यो	ऽ	ऽ	बा	ऽ	नी	ऽ	ता	ऽ	ऽ	ऽ
[म]प	ध॒	म	[म]ग॒	[सा]रि	सा	—	सा	[म]रि	म	[ध]प	सां
र	न	ऽ	त	र	न	ऽ	प्र	थ	म	ओं	ऽ

अन्तरा

म	प	—	ध॒	—	[म]प	सां	—	—	नि॒	सां	सां
अ	ल	ऽ	ख	ऽ	अ	पा	ऽ	ऽ	र	ऽ	ऽ
ध॒	ध॒	—	सां	—	रिं	सांरिं	गं॒	—	रिंसां	रिं	सां
अ	ग	ऽ	म	ऽ	नि	गऽ	म	ऽ	रऽ	ह	त
गं॒	रिं	नि॒	ध॒	म	प	रि	म	प	सांनि॒	सां	—
क	र	त	रा	ऽ	ग	रं	ऽ	ऽ	ऽऽ	ग	ऽ
ध॒	म	पध॒	ग॒	रिसा	रि	सा	सा	रि	म	[ध]प	सां
धा	ऽ	रऽ	ऩ	धऽ	र	न	प्र	थ	म	ओं	—

सञ्चारी तथा आभोग

सा	सां	सां	सां	[रिं]नि॒	सां	सां	ग॒	ग॒	रिसा	रि	रि
गु	ण	ग	ण	र	हि	त	स	गु	णऽ	नि	र
सा	सा	रि	म	प	प	ध॒	म	प	सां	ध॒	प
गु	ण	स	ब	ज	ग	आ	ऽ	धा	ऽ	र	न
ध॒	म	प	सां	सां	सां	सां	ऽ	सां	सां	—	सां
बै	ऽ	जू	ऽ	प्र	भु	आ	ऽ	दि	जो	ऽ	त

सां	रिं	$^{रि}$मं	मं	पं	धं्	धं्	गं्	—	$^{सां}$रिं	—	सां
नि	रं	ऽ	ज	न	ऽ	नि	रा	ऽ	का	ऽ	र
ध्	म	ग्	$^{सा}$रि	ग्	सा	सा	सां	—	सां	नि्	सां
सू	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	क्ष्म	वि	रा	ऽ	ट	रू	ऽ
सां	प	गं्	$^{सां}$रिं	सां	रिं	नि्	सां	रिं	नि्	ध्	प
प	घ	ट	घ	ट	व्या	ऽ	प	र	ह्यो	ऽ	ऽ
म	प	^{म}प	ध्	^{म}ग्	$^{सा}$रि	सा	सा	रि	म	धप	सां
ना	ऽ	री	ऽ	न	र	न	प्र	थ	म	ओं	ऽ

फिर प्रसन्न होकर बाबा ने कहा—बच्चा! माँग, माँग, जो माँगे सो मिले.............और मैंने ऐसा सुन्दर माँगा.............

कि०—क्या, क्या माँगा भैया?

बै०—मुझे तू याद आ गई, मेरे लिये तेरी रोज़ की चिन्ता याद आई।

कि०—आखिर तू ने माँगा क्या?

बै०—वही तो बता रहा हूँ...........मैंने माँगा..................यही कि देख न...........मेरे कारण तुझे भूखी रहना पड़ता है, कई बार..............इसीलिये मैंने माँगा जोगी से कि 'बाबा कुछ ऐसा कर दो कि जिन्दगी भर भूख न लगे।'

कि०—क्या? सच! क्या ये वेषधारी जोगड़े भी खुद भूखे मरने को इधर उधर भटका करते हैं?

बै०—पहले तो बाबा अघोरनाथ हँस पड़े—और मुझे मना कर दिया, फिर बोले...............ये ले थोड़े बीज और कंद...............ले जा अपने घर, छः महीने तक तुझे भूख नहीं लगेगी।

कि०—बस, बस, मैं मर जाऊँ तब इन्हें बरतना।

बै०—अरी बहन, पूरी बात तो कहने दे—देते-देते बाबा बोले—'बच्चा, तेरी बहन इसकी सारी बनावट जानती है—उसे दे देना, और वह जैसे कहे, वैसे बरतना। ले देख, ये रहे बीज और कंद।'

[थैली में से निकाल कर देता है]

कि०—ला, कहाँ है? कन्द मूल में कहीं कोई सुरावट तो नहीं भरी है न?

बै०—सुरावट बिना तो कोई सृजन ही नहीं है बहन! वनस्पति की सुरावलि भी जब हम सुनेंगे तब इसका भी भक्षण हम छोड़ देंगे..............अरे-अरे-रे, यह क्या कर रही है तू?

कि०—देख ले—क्या कर रही हूँ—ले तेरे बीज यों बिखेर डालूँ और यह कन्द, ले इस टीले के पिछवाड़े यों फेंक दूँ ....(फेंक देती है) तुमसे तो बाबा अघोरनाथ ज़्यादा समझदार हैं, वह जानता है कि माता-पिता ने जाते समय तेरी

संभाल मेरे हाथ सौंप दी है।..................हूँ, क्या अद्भुत वस्तु लाया है..................छः महीने तक खाना नहीं है..................बात तो देखो।

बै०—अच्छा बहन, तू करे सो ठीक, पर तुझे नहीं लगता कि संसार में भोजन जैसा निरर्थक कार्य दूसरा नहीं है?

कि०—हाँ हाँ! सुर ही में से—शरीर को भी पोसने की वस्तु अगर खोजकर निकाल सके तो सारे संसार की रसोई बन्द करवा देना। अब तो कृपा करके यहीं बैठा रह—पेड़ की छाया में..........................अब बोल तेरे लिये क्या लाऊँ, हाँ, फिर टीले पर दौड़ मत जाना।

[किन्नरी दो-तीन कदम आगे बढ़ती है, ...फिर घोड़े की टाप सुनकर थोड़ी देर स्तब्ध रह जाती है]

बै०—(स्वगत) बहन समझती है कि मैं नन्हा बालक हूँ..................लेकिन यह मेरा मन कैसे परख गयी?..............सुरावलि हृदय को तो जिलाये रखती है, तो क्या वह शरीर को भी न जिलाये रख सकेगी? तो मैं ऐसी ही सुरावलि की खोज क्यों न करूँ?...................... (टाप सुनकर) यह घोड़े पर से कौन उतर रहा है? इधर मेरे पास ही आ रहा है..................(प्रकट) ओह! सुलेमान शाह! फ़ौज छोड़कर यहाँ झोंपड़ी में कैसे?

[सुलेमान शाह नाम का पराजित सुलतान बहादुर शाह का सरदार आता है]

सुले०—सुलतान बहादुर शाह ने मुझे खास भेजा है।

बै०—क्या फ़रमान है सुलतान का?

सुले०—यही कि बैजू इसी वक्त चाँपानेर छोड़कर चला जाय।

कि०—कहाँ? बैजू मेरे बिना, अकेला कहाँ जायेगा?

सुले०—तुम दोनों चले जाओ सवारी तैयार है।

बै०—अरे सरदार साहब! ऐसी जल्दी किसलिए? बैजू ने शाह सुलतान का कोई गुनाह किया है क्या?

सुले०—बरबादी आ जाय उससे पहले चाँपानेर की भूमि छोड़ दो।

बै०—चाँपानेर की भूमि और मैं छोड़ दूँ? जिस भूमि ने मुझे सिरजा, पावागढ़ की सीमाकोर के कगूँरे सरीखे जिन सुन्दर पहाड़ों ने मुझे पोसा, वह भूमि मैं कैसे छोड़ सकता हूँ? यहाँ का कंकड़-कंकड़, पत्ता-पत्ता, यहाँ के पशु-पक्षी, नर-नारी सबका मेरे शरीर में, मेरे सुर में अपना-अपना दायभाग है—तो फिर मैं इन सबसे मुँह मोड़कर भाग जाऊँ? इस पर मेरी भूमि आहें न भरेगी?

सुले०—बैजू! सोच लो..............अपने....................सुलतान बहादुर शाह की फ़ौज देखते-देखते हार गयी। हुमायूँ चाँपानेर की ओर बढ़ा आ रहा है। अब यहाँ जो रहेगा उसको कत्ल किया जायेगा। अगर कहीं तुम, खुदा न करें..................तुम इस कत्ले आम में आ गये तो......इसी अंदेशे से सुलतान ने खुद भागते-भागते भी.....मुझे तुम्हारे पास भेजा है कि जल्दी से जल्दी तुम दोनों को यहाँ से सरका दिया जाय। सुलतान शाह को जितनी अपनी फ़िकर है उतनी ही तुम्हारी भी।

बै०—मैं सुलतान शाह का आभारी हूँ। किन्तु सुलेमान, जो राज्य चाहे, सत्ता चाहे, धन चाहे, वह आक्रमण भी करे या भागे भी..........लेकिन मैं ठहरा संगीत का साधक। ये युद्ध, फिर हार, फिर भगदड़—यह सारा काण्ड तो राज्य ने, सत्ता ने, सम्पत्ति ने खड़ा किया है। संगीत को तो न राज्य, न सत्ता, न सम्पत्ति ही चाहिये। फ़कीर, योगी, साधु या फिर गायक, इनको कभी भागते सुना है? और ये भागेंगे भी किससे?

सुले०—तलवार के मुकाबले संगीत नहीं टिक सकता संग्रीतकार!

बै०—तब तो ऐसे संगीत और संगीतकार को टिकाने से क्या लाभ? तलवार से जो मिट जाय ऐसे संगीत को मिटने ही दो।

सुले०—किन्नरी! तुम इसकी बहन हो, कुछ समझा दो इसे।

कि०—सुलतान शाह के शुभचिन्तन की मैं बलिहारी जाती हूँ। लेकिन········अगर संगीत के देवता को बैजू की रक्षा करनी होगी तो वही करेगा।·········हाँ! मैं कोशिश करती हूँ—आप पधारिये।

सुले०—ठीक है, मैं दो घोड़े छोड़ जाता हूँ। [जाते-जाते अर्धस्वगत] हुमायूँ देखते-देखते टूट पड़ेगा······और कत्लेआम में किसी को पता भी नहीं चलेगा कि संगीत का एक अनमोल सितारा कब कहाँ छिप गया। लेकिन कलाकार को अक़्ल कहाँ? (चला जाता है)

कि०—भैया! मुग़ल बादशाह बढ़ा आ रहा है, अब हम कहाँ निकल भागेंगे?

बै०—संगीत को भी कहाँ भागना होता है बहन! संवाद का जनक संगीत, संहार का जनक संग्राम दोनों में से कौन जिये? संहार को तो कभी जीवन नहीं दिया जा सकता!

कि०—लेकिन संहार तो सामने आ बैठा है भैया!

बै०—आने दो······संहार के सामने मैं अपना संगीत खड़ा कर दूँ········

राग अडाणा—ताल सूलफाक

स्थायी— जग के आँगन में समरांगण कैसे,
मानव शोणित के मानव क्यों प्यासे। जग के·················

अन्तरा १— विद्युत सी चमकें, तलवारें दमकें,
सनन सनन बान चलत, काल केरि साँसें। जग के···········

अन्तरा २— मानव बन दानव, घूमत चहुँ ओर,
रक्त रङ्ग राते। जग के··············

स्थायी

×		०		५		७		०	
(नि्)ध्	(नि्)ध्	नि्	सा̍	रि्̍ नि्	सा̍	ध्	नि्	प	—
ज	ग	के	०	आँ ०	०	ग	न	में	ऽ
नि्नि्	पम	पनि्	सा̍	रि̍ नि्	सा̍	ध्	नि्	प	—
ज०	ग०	के०	०	आँ ०	०	ग	न	में	ऽ
ग्	ग्	ग्	म	नि्	प	ग्	म	रि	सा
स	म	रां	०	ग	ण	कै	०	से	०

नि्	सा	रि	म	पनि्	पम	पनि्	सांरिं	सांनि्	सां
मा	०	न	व	शोऽ	ऽऽ	णिऽ	तऽ	केऽ	ऽ
निसां	रिंमं	रिं	सां	रिंनि्	सां	नि्नि्	पम	ग्म	रिसा
मा०	००	न	व	क्यों०	०	प्या ०	००	से०	००

अन्तरा-१

×		०		५		७		०	
म	—	प	प	(नि्)ध्	(नि्)ध्	नि्	सां	सां	—
वि	ऽ	द्यु	त	सी	०	च	म	कें	ऽ
ध्	नि्	रिंरिं	—	सां	—	निसां	रिंसां	नि्ध्	नि्प
त	ल	वा०	ऽ	रें	ऽ	द०	म०	कें०	००
गं	गं	मं	रि	रिं	सां	रिं	नि्	सां	सां
स	न	न	न	न	न	स	न	न	न
रिम	पनि्	पम	पनि्	सांरिं	निसां	रिंसां	रिंसां	रिंनि्	सां
बा०	००	००	न०	००	००	च०	ल०	त०	०
ग्	ग्	म	म	नि्	प	ग्	म	रि	सा
का	०	ल	के	०	रि	साँ	०	सें	०

अन्तरा—२

म	—	म	म	प	प	ध्	नि्	प	प
मा	ऽ	न	व	ब	न	दा	०	न	व
सा	सां	सां	सां	रिं	नि्	सां	ध्	नि्	प
घू	०	म	त	च	हूँ	०	ओ	०	र

नि॒प	नि॒म	प	नि॒	सां	सां	ग॒	म	रि	सा
र०	००	क्त	रं	०	ग	रा	०	ते	०

कि०—भैया! भोजन की पत्तल तो कबसे बाट देख रही है।

बै०—नहीं बहन, जिस जगत् में मनुष्य मनुष्य की हत्या करे, वहाँ किसी का पोषण नहीं हो सकता। ....शस्त्र को, संहार को मात करने वाली स्वरावलि मुझे खोजने दे।

[धीरे-धीरे बीन बजाने लगता है—जैसे स्वरावलि की खोज में लगा हो]

कि०—बस हो गया, धुन आ गई कि बस, आठ पहर बीत जायेंगे।

[तभी पद-चाप सुनाई पड़ती है। गौरी आती है]

कि०—आओ गौरी तुम कहाँ से?

गौ०—टीले पर दर्शन करने गयी थी सवेरे....................हाँ, किन्नरी तू और बैजू यहाँ से भाग जाओ, रातो रात................भारी विपत्ति आ रही है।

कि०—कैसी विपत्ति?

गौ०—सुना नहीं? दिल्ली के बादशाह की फ़ौज चाँपानेर की ओर बढ़ी आ रही है।

कि०—हाँ, अभी सुलेमान कह तो गये।

गौ०—कह क्या गये? हम तो आँखों देख आये माताजी के टीले पर से, हजारों सिपाही टिड्डी दल जैसे चले आ रहे हैं।

कि०—अब बहन....................माता जी ही सबकी रक्षा करें।

गौ०— माता जी ने ही तो मुसलमानों को आने दिया पावागढ़ में।

कि०—आखिर माता जी भी क्या करें? हिन्दू राजाओं की ही आँखों में पाप आ जाय तो?

गौ०—अपना बचाव तो करना ही है बहन, बैजू को कहाँ रखोगी?

कि०—बैजू तो पावागढ़ को छोड़कर खिसकेगा भी नहीं। देख न, कब से बैठा बीन में सुर ढूँढ़ रहा है।

[धीमी सुनाई पड़ने वाली ध्वनि और तेज़ हो जाती है]

कि०—बैजू, देख कौन आया है?

बै०—अरे, गौरी..............जैसे वेद मन्त्र से गायत्री सीधे उतर आयी। मैं कहूँ, पावागढ़ के एक शिखर पर कालिका, दूसरे शिखर पर भद्रकाली और तीसरे शिखर पर जो मैंने देख रखा है, वहाँ स्वयं इस चाँपानेर की गरबा-रानी गौरी की स्थापना करा दें।

गौ०—फिर चौथे शिखर पर किन्नरी को थापना, यानी संगीत के चारों धाम पावागढ़ में ही प्रकट हो जायँ। लेकिन अब तो शिखर नहीं पहाड़ी की गुफा में छिप जाना होगा। नहीं तो चाँपानेर छोड़कर भागना होगा। तुम भी तैयार हो जाओ।

बै०—क्या तुम भी गौरी भागने की ही बात करती हो? जाओ, चाँपानेर के ब्राह्मण-वणिक् पुरुषों से कह दो कि संकट का सामना करने के लिए शस्त्रधारण करके रणांगण में आ जायँ।

गौ०—जब गुजरात की सारी सेना ही भाग गयी, तब चाँपानेर के थोड़े से पुरुष सामने होकर भी क्या करेंगे—कूद मरने के सिवाय?

कि०—सेनाओं को आजकल यही सिखाया गया है कि अट्ठारह से लेकर चालीस वर्ष तक के सब पुरुषों को क़त्ल कर दिया जाय—चाहे वह सैनिक हों या ग़ैरसैनिक।

बै०—तो फिर शस्त्र-धारण करना क्या बुरा है? गुजरात का शौर्य क्या इतना निर्वीर्य हो गया?

गौ०—तब फिर तुमने ही शस्त्र क्यों छोड़ दिया? पहले तो बड़े तीरंदाज़ थे।

कि०—और भला तलवार चलाने में तो इसका जोड़ नहीं था। यह सब कुछ इसने संगीत के पीछे छोड़ दिया। शस्त्र सम्भाले रहा होता तो आज बैजू दिल्ली, दक्खन, मालवा या गुजरात का सेनापति होता।

गौ०—और चाँपानेर से यों भागने का प्रसंग न आता।

बै०—भागने का प्रसंग? गौरी..................भागे सैनिक, भागे शस्त्रधारी, संगीतकार नहीं। लौह शस्त्र से स्वरास्त्र कहीं अधिक समर्थ है।

गौ०—तुम भी क्या कहते हो! शस्त्र के आगे भी किसी की चलती है?

बै०—ज़रूर, भाला तलवार के सामने मैं ज़रूर खड़ा रहूँगा, मेरी यह तैयारी है।

गौ०—वाह! सिर्फ़ अपना तुम्बा लेकर। भाला, तलवार जब शरीर में भोंके जायेंगे और सैनिक किन्नरी को या मुझे उठा ले जायेंगे..................तब!

बै०—क्या कहा? गौरी—मेरा यह प्रण है कि चाँपानेर की एक भी युवती की ओर कोइ सैनिक अगर उँगली भी उठाये तो उसी क्षण मैं वीणाा को निरा तुम्बा समझकर फोड़ डालूँगा और शस्त्र धारण करके अकेला सेना के सामने खड़ा हो जाऊँगा। कोई पावागढ़ से न भागे; यदि मेरे बाबरेपन में विश्वास हो तो ....

कि०—गौरी! रात बढ़ रही है, किला बंद हो गया है, बैजू तो यहाँ बैठा गाया करेगा।

बै०—लेकिन मेरी एक ही उलझन है ... न जाने क्यों ... जैसा चाहता हूँ वैसा राग कण्ठ में उतर ही नहीं रहा। युद्ध प्रेरक स्वरावली जाग रही है, ताण्डव का ताल बज रहा है, आँसुओं की बाढ़ लाने वाली सुर निर्झरी बह रही है। लेकिन युद्ध को, संहार को रोकने वाला संवाद-कोई-संवाद-आज जैसे हाथ में आते-आते चला जाता है, किन्नरी! गौरी! कुछ ऐसा गाओ जिसे सुनकर मैं जैसा चाहता हूँ वैस कंठ खुले।

गौ०—क्या? हम गायें? इस वक्त? क्या तुम्हें विनोद सूझ रहा है?

बै०—क्यों? हम तीनों तो एक गुरु के शिष्य हैं न?

कि०—यह तेरी सरगम, और 'नोम् तोम्' हमसे तो नहीं बनने की। अधिक से अधिक हम कोई गीत सुना सकेंगी।

बै०—वही सही, महामाया अनेक रूप धारण करती है। चमकीले वस्त्र पहने नव सिंगार कर लेती है। फिर एक लय, एक ताल, एक आवर्त में रास गरबा उतारती हैं। उसी में परम सृजन के कण मुझे दिखाई देंगे। एक ऐसी गुर्जरी-मूर्छना स्वरित कर दो जिसमें से ऐसा संवाद पकड़ लूँ कि संहार पावागढ़ की तलहटी में ही अटक जाय।

कि०—तो सुन, तेरा ही उस दिन बनाया हुआ गीत..................

[दोनों मिलकर गाती हैं]

राग तिलककामोद—ताल चौताल

स्थायी— कुंजन मध रच्यो रास, अद्भुत गत लिये गोपाल।
कुण्डल की झलक देखी, कोटि काम ठठक्यो॥ कुंजन......................

अन्तरा १— अधर तो सुरंग रंग, बाँसुरी सुहाय सङ्ग।
टेढ़ी छवि निरख निरख, मेरो मन अटक्यो॥ कुंजन.........................

अन्तरा २— एरी अब देखो जाय, ऐसे सों कहा बसाय।
अलकन की गत निहार, शेष नाग सटक्यो। । कुंजन.........................

अन्तरा ३— निरतत संगीत रीत, तत थै तत थै थै।
ललित बंक चाल देखि, इन्द्र धनुष पटक्यो॥ कुंजन.........................

संगीतिका

अन्तरा ४— रुनक झुनक ठुनक ठुनक, नूपुर रुन झनन झन।
मधुर मधुर बंसी बाजे, मंद मुख सों मटक्यो॥ कुंजन.........................

अन्तरा ५— रास लास्य सुख की रासि, भनत 'बैजू' बावरो।
रावरो स्वरूप हेरि, बृन्दावन भटक्यो॥ कुंजन.........................

स्थायी

×		०		५		०		६		११	
गरि	गसा	(ग)रि	प	म	ग	(ग)सा	गरि	ग	(ग)नि̱	—	सा
कुं०	००	ज	न	म	ध	र	च्यो०	०	रा	ऽ	स
सां	प	ध	म	गरि	ग	गसा	गरि	पम	प	—	प
अ	०	द्धु	त	ग०	त	लि०	ये०	गो०	पा	ऽ	ल
प	ध	म	प	नि	सां	प	नि	सां	रिं	गं	सां
कुं	०	ड	ल	की	०	झ	ल	क	दे	०	ख
सां	—	प	धप	ध	म	गरि	गरि	गसा	गरि	पम	धप
को	ऽ	टि	काऽ	०	म	ठ०	ठ०	क्यो०	००	००	००

अन्तरा—१

म	म	प	(नि)सां	—	नि	सां	—	सां	(रिं)नि	सां	सां
अ	ध	र	तो	ऽ	सु	रं	ऽ	ग	रं	ऽ	ग
नि	—	प	निसां	(ग)रि	(ग)रि	गरि	ग	रिं	नि	सां	सां
बाँ	ऽ	सु	री०	०	सु	हा०	०	य	सं	०	ग

पनि सानि	निसा गरि	गरि गसा	सां गरिप	मग गरि	ग--रि निसा
टे० ००	ढ़ी० ००	छ ० बि०	नि र०	ख० नि०	रऽऽ० ख
सा प	धप ध	म ग	गरि गरि	गसा गरि	पम धप
मे —	रो० ०	म न	अ० ट०	क्यो० ००	०० ००

अन्तरा—२

धम धप	निसा रि	रि रि	साप धम	धप नि	सा सा
ए ०	री० ०	अ ब	दे० ००	खो जा	०० य
गरि गसा	गरि प	म ग	गसा गरि	रिग गनि	सा सा
ऐ० ००	से० ०	सों ०	क हा०	ब सा	० य
सानि सानि	रिसा रिनि	सा —	सानि साप	ध म	गरि ग
अ० ल०	क० न०	की ऽ	ग० त०	नि हा	०० र
गरि ग	सा गरि	पम धप	सानि रिसा	धप धम	गरि गसा
शे० ०	ष न०	०० ग०	अ० ट०	क्यो० ००	०० ००

अन्तरा—३

सा रि	म प	म प	नि सा	नि सा	— सा
नि र	त त	सं ०	गी ०	त री	ऽ त
नि प	नि सा	गरि —	गरि पम	गरि ग——रि	रिनि सा
त त	थै ०	थै ऽ	त त	थै ० ०ऽ	ऽ० थै० ०

सां			ग	ग							
प	नि	सां	रिं	नि	सां	धप	ध	म	गरि	ग	सा
ल	लि	त	बं	०	क	चा०	०	ल	दे०	०	ख
ग	म	ध	ध								
सा	रि	म	प	नि	सां	सांनि	सांप	धप	धम	गरि	गसा
इं	०	द्र	ध	नु	ष	प०	ट०	क्यो०	००	००	००

अन्तरा—४

ग	रि	प				नि	सां				
रि	प	मग	गरि	ग	सा	प	नि	सां	रिं	गं	सां
रु	न	क०	झु०	न	क	ठु	न	क	ठु	न	क
ग		ग	ग								
रिं	ग	सां	रिं	मं गं	गं रिं	रिं सां	सांनि्	नि्ध	धप	पम	मग
नू	०	पु	र	रु ०	न ०	न ०	झ०	न०	न०	झ०	नं०
									ग		
गारि	ग	सा	सारि	प	मग	गरि	ग	रि	नि	सा	सा
म०	धु	र	म०	धु	र०	बं०	०	सी	बा	०	जे
सा	रि	म	प	नि	सां	सांनि	रिं	सांनि	सां	धप	मग
मं	०	द	मु	ख	सों	म०	ट	क्यो०	०	००	००

अन्तरा—५

नि	—	प	नि	सा	सा	सारि	रिप	मग	गरि	ग	सा
रा	ऽ	स	ला	०	स्य	सु०	ख०	की०	रा०	०	स
										ग	ग
सा	रि	म	प	सां	नि	सां	—	प	निसां	रिं	रिं
भ	न	त	बै	०	जू	बा	ऽ	व	रो०	०	०
			ग				ग		ग		
गं रिं	गं	सां	रिं	पं	मं गं	गं रिं	मं	रिं	नि	सां	सां
रा०	०	व	रो	०	स्व०	रू०	०	प	हे	०	रि

सांनि सांप   धप धम   गरि गसा   सांसां निसां   पध मग   गरि गसा

वृं० ०८   दा० ००   व० न०   भ० ट०   क्यो० ००   ०० ०—

बै०—[उल्लसित होकर] यही मेरा हृदय मानो तुम्हारे कण्ठ में उतर आ रहा है, यही, मिल गया [धीरे-धीरे गुनगुनाता है] हाँ यही है यही सूत्र है, मिल गया। जाग रही है कोई झनकार,.........फूट रहा है कोई नया स्वर.........सज रही है कोई नयी लय.........आकाश में से, पाताल में से, चन्द्रमा से, तारावली से, प्रकाश में से..........अंधकार में से उमग-उमग कर कोई महागीत मेरे कण्ठ में आकार ले रहा है...आकार ले रहा है। [हुलास के साथ एक स्वरावली गा देता है]

[राग रागेश्री के मुक्त आलाप]

(दृश्यान्तर)

[बैजू की उसी गम्भीर स्वरावली को चीरते हुए नगाड़ों की ध्वनि सुनाई पड़ती है—'अल्ला हो अकबर' के नारे बुलन्द हो जाते हैं]

दृश्य पर

[हुमायूँ का पड़ाव..........बादशाह कत्लेआम प्रारम्भ करके उन्माद में है.........वह अपने खेमे के सामने खड़ा है और नेपथ्य की ओर देखकर सम्बोधित करता है। भीतर से सिपाहियों के बढ़ने की, घोड़ों की टाप की अविरल ध्वनि सुनाई पड़ती है]

हुमा०—बढ़ो बढ़ो! चारों ओर से हमला बोल दो। एक कीड़ा भी घेरे के बाहर न निकलने पाये। जो भी जवान सामने आवे फ़ौरन वहीं क़त्ल कर दो। घरों में घुस-घुसकर दुश्मनों को मौत के घाट उतार दो.........याद रखो.........चित्तौड़ की राजमाता करमदेवी की राखी की लाज रखनी है। चाँपानेर के ज़र्रे ज़र्रे से राजमाता की पाक राखी का बदला चुकाना है। टूट पड़ो! बढ़ो! अल्ला हो अकबर!

[भीतर से उसी के प्रत्युत्तर में 'अल्ला हो अकबर' के नारे सुनाई पड़ते हैं, साथ ही 'मारो, काटो! पकड़ो! भागो भागो! बचाओ! उड़ा दो! हाय हाय, हे राम' आदि विचित्र ध्वनि की चीख-पुकार के साथ मार-काट की आवाज़ सुनाई पड़ती है। हुँमायूँ अट्टहास करता है।]

हु०—हा हा हा..........बड़ी तसल्ली मिल रही है, यह चीख पुकार, कराह-ए-मौत सुन-सुनकर.......... मरहूम राजमाता दुआ भेजें हम खुद अपनी आँखों देखें कि मौत के सामने यह इन्सान कैसा लाचार हो जाता है..........मौत के साये भर से कैसे घिघियाने लगता है।

[दूरबीन उठाकर देखता है]

[सामने रंगमंच पर अँधेरा छा जाता है..........और खेमे वाले परदे पर दूरबीन की गोलाई के बराबर से रोशनी फैलती जाती है........पूरे पर्दे पर मारकाट के दृश्य की छाया अंकित होने लगती है.........वही हो हल्ला..........वही हाय पुकार और उसी हो-हल्ले को भेदती हुई बैजू की ध्वनि सुनाई पड़ती है। लोगों को गिरते हुए और सिपाहियों का उनका पीछा करते हुए दिखाता हुआ छाया-दृश्य..........इसी समय पर्दे के एक पार्श्व से कोई गिर रहा है—गिरते २ म्रियमाण ग्रामवासी—'उसे मत मारो.........मत मारो..........वह बैजू है बाबरा है, भगवान् के लिये मत मारो..........पावागढ़ के संगीतकार को.........सुर के हीरे को' कहते-कहते गिर जाता है]

हु०—[पर्दे के सामने पूर्ववत्] बरहम! ले आओ उस अभागे को हम अपने हाथों उसे क़त्ल करेंगे। ले आओ!

[वही हो हल्ला। पीछेवाले पर्दे पर दो सिपाही बैजू को मय बीन खींचते हुए ला रहे हैं ऐसी छाया अंकित हो जाती है।]

हु०—ग़जब की है इस गवैये की जुर्रत भी। चारों ओर मारकाट मची है, मौत की नौबत बज रही है और यह वेपरवाह अपनी बीन लेकर गीत अलाप रहा है। वाह! कमाल है!

[दूरबीन आँखों पर से उतार लेता है। तभी पीछे से 'भैया भैया' 'बैजू, बैजू', 'अरे छोड़ दो, कहती हुई किन्नरी की छाया एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व की ओर आती हुई दिखती है।]

हु०—(अपने आसन पर बैठते हुए) ले आओ उस बदनसीब गवैये को [बरहम और दूसरा सरदार बैजू को खींच ले आते हैं, बैजू अभी भी अपनी धुन में मस्त है।]

हु०—पागल लगता है, बैठा दो उस चट्टान पर। क्या माजरा है?

बरहम—जहाँपनाह, यह आदमी उस टीले के पास वाली झोंपड़ी के सामने गाये ही जा रहा था, हमने इसे हुजूर बादशाह का फ़रमान सुनाया............मगर इसकी बेअदबी की हद है आलमपनाह। हमारी बात क्या तलवार की ठनक को भी कान नहीं दिया इस गुस्ताख ने। फिर खुद हुजूर ने तलब की तो ख़िदमत में हाज़िर किया है। अब खुदाबन्द जायज़ सज़ा बख्शें।

हु०—ठीक है, अगर खुदा की मर्ज़ी है कि यह नाचीज़ गवैया हम जंगेबहादुर का वार हो तो हमें भी मंजूर है। मरहूम राजमाता गवाह हो..............गायक! (कटार उठाता है, उसी समय भीतर से किन्नरी चिल्लाती है बैजू! भैया!)

(हुमायूँ प्रश्नार्थक भाव से बरहम को देखता है)

बरहम—गुस्ताखी माफ़ हो शहंशाह, शायद इसी बाबरे की बहन मालूम होती है.........हुकम हो तो..........

हु०—नहीं, औरत पर कोई हाथ न उठाये। उसे बाइज्ज़त उसके घर पहुँचा दो।

(दूसरा सिपाही बाहर चला जाता है)

हु०—एकदम पागल है.....मौत के सामने भी अपनी ही धुन में मस्त है। गायक............

(फिर उसी तरह किन्नरी ज़ोर से पुकारती है—'भैया!'........)

बै०—कौन? क्यों पुकारा? (ऊपर देखकर) ओह! यह तो कटार है.........मुझे लगा जैसे शंकर के मस्तक से दूज का चन्द्रमा उतर आया हो।

हु०—चुप, मरने के लिये तैयार हो जा।

बै०—मरना-मारना तुम्हारे हाथ नहीं।

हु०—यह बात!

बर०—कटार के एक ही वार से काम तमाम होगा।

हु०—लेकिन तू है कौन? इस वक्त खुले में बीन लेकर बैठने वाला!

बै०—मैं! मैं एक संगीत का साधक हूँ, मानव की शान्ति के लिये मन्थन कर रहा हूँ।

हु०—उसकी हमें ज़रूरत नहीं, चाँपानेर के किले में फ़ौज कितनी है?

बै०—उसकी तो मुझे ज़रूरत नहीं ....मरने मारने के लिये खड़े किये गये इन पुतलो में मेरी कोई रुचि नहीं। सुर, ताल, राग, रागिनी—इन सबको जानना हो तो आओ, बैठो सामने........

हु०—पागल तो है ही, या फिर कहीं जासूस तो नहीं? किसका आदमी है तू?

बै०—जासूस? शाहसुल्तान, राजा, महाराजा, कोई मुझे खरीद सकेगा? और आदमी·········आप कहें तो आप का भी हूँ।

हु०—तो बता चाँपानेर अभी भरा हुआ है?

बै०—हाँ। वह तो हमेशा भरा ही रहेगा, चाँपानेर की धरती बाँझ नहीं है।

हु०—ओह! ·········यह ग़रूर! देखता रह, शाम होते-होते सारा चाँपानेर किस तरह से वीरान हो जायेगा। बरहम! जाओ, क़त्लेआम जारी रखो·········शाम होने तक चाँपानेर का एक भी मर्द ज़िन्दा न रहने पाये।

बर०—बसरोचश्म नामवर।

बै०—क़त्ल? नहीं अब मेरे जीते जी यह राक्षसी लीला नहीं चल सकती।

हु०—गुस्ताख जवान! क़त्ल का फ़रमान हमारा है।

बै०—तो आप हुमायूँ हैं?

बर०—ज़रा अदब से बातें करो·········वरना·········

हु०—(बरहम को रोककर) हुमायूँ कौन है, तू जानता है?

बै०—होगा कोई, आप कहिये हुमायूँ मनुष्य है या राक्षस!

बर०—चुप! गुजरात के फ़तेहमंद दिल्लीशाह को······

बै०—गुजरात का फ़तेहमंद बादशाह हुमायूँ। उसने फ़तह पायी। वही क़त्ल करते-करते। तब तो वह राक्षस ही होगा!

बर०—कम्बख्त! तेरी आ बनी है। एक ही वार (तलवार खींचता है तभी भीतर से············)

कि०—मुझे छोड़ दो, छोड़ दो.......(किन्नरी बड़ी तेज़ी से आती है, और बरहम तथा हुमायूं के बीच खड़ी हो जाती है)

कि०—नामवर। एक बहन भाई का जीवन-दान माँगती है। जीवनदान माँगती है।

हु०—बहन! हम भी एक बहन के पाक हुकम पर ही यहाँ आए हैं।

कि०—तो एक सौगन्ध लो, किसी भी बहन के भाई का क़त्ल मत करना। और बैजू को तो होश भी नहीं है कि उसकी गर्दन पर तलवार खिंची हुई है।

हु०—बरहम! तुम जाओ और अपने सिपाहियों से कह दो कि वे थोड़ी देर आराम लें। तब तक हम इस से निपट लेंगे। तुम आध घड़ी के बाद आना और हुकम की तामील करना।

बर०—जो हुकम जहाँपनाह।

[हुमायूँ और सरदार एक साथ तलवारें म्यान में रख लेते हैं]

बै०—वाह! शस्त्र की खनखनाहट में भी कैसी सुन्दर सुरावट भरी है। वीणा में भी झंकार है।

[साथ ही बीन का तार छेड़ देता है।]

(हुमायूँ तन्मय होकर सुनने लगता है।)

राग रागेश्री—ताल चौताल

स्थायी— झनन झनन बाजे तार,
तार माँझ गूँज रह्यो सत शिव सुन्दर प्रसार।

अन्तरा— तार केरि झंकार, बरसत रस अमिय धार।
मानव हिय सींच सींच, सरसत अमरत्व सार॥

स्थायी

सा	सां	ध	नि्	ध	म	ग	(सा)ग	म	रि	—	सा
झ	न	न	झ	न	न	बा	०	जे	ता	०	र
सा	(सा)ध्	नि्	सा	म	ग	धग	—	म	म	धनि	सां
ता	०	र	माँ	०	झ	गूँ	ऽ	ज	र	ह्यो०	०
सां	ध	नि्	ध	म	—	ग	(सा)ग	म	रि	—	सा
स	त	शि	व	सुं	ऽ	द	र	प्र	सा	ऽ	र

अन्तरा

म	ग	म	(नि)ध	—	म	धनि	सां	—	सां	—	सां
ता	०	र	के	ऽ	रि	झं०	०	ऽ	का	ऽ	र
सांम	गंमं	रिं	सां	(रिं)नि	सां	(नि)ध	नि	सां	ध	—	म
ब०	र०	स	त	र	स	अ	मि	य	धा	ऽ	र
सां	—	ध	नि्	ध	म	ग	(सा)ग	म	रि	—	सा
सा	ऽ	न	व	हि	य	सीं	०	च	सीं	ऽ	च
रि	सारि	नि्	सा	ध्	नि्	सा	म	गम	धनि	सां	ध
स	र०	स	त	अ	म	र	०	त्व०	सा०	०	र

हु०—वाह! गायक! तेरे सुरों से बड़ी राहत मिलती है। कुछ और सुनाओगे?

बै०—जरूर सरदार। जो संगीत का सच्चा आनन्द ले सके उसके लिए तो मेरी वीणा और कण्ठ सदैव प्रस्तुत हैं।

राग गुणक्री—ताल चौताल

झंकृत हो डोले शैल।
पिघल्यो हिय काल हू को,
गगन गंग उमड़ चली, घोले चन्द्र अश्रुधार॥
झनन झनन बाजे तार।

×		०		५		०		८		११	
ध्	म	रि्	रि्	सा	—	रि्	—	सा	नि॒	सा	सा
झं	०	कृ	त	हो	ऽ	डो	ऽ	ले	शै	ऽ	ल
रि्	म	परि्	रि्	सा	—	रि्	—	सा	सा	—	सा
झं	०	कृ	त	हो	ऽ	डो	ऽ	ले	शै	ऽ	ल
सा	रि्	म	प	ध्	म	धप	रिं	सां	ध्	—	प
पि	घ	ल्यो	०	हि	य	का०	०	ल	हू	ऽ	को
रिं	सां	रिं	मं	—	रिं	सां	सां	ध्	सां	रिं	—
ग	ग	न	गं	ऽ	ग	उ	म	ड़	च	ली	ऽ
सां	रिं	सां	ध्	—	प	धप	ध्	म	परि्	—	सा
घो	०	ले	चं	ऽ	द्र	अ०	०	श्रु	धा	ऽ	र
सां	सां	सां	ध्	ध्	म	परि्	—	रि्	सा	—	सा
झ	न	न	झ	न	न	बा	ऽ	जे	ता	ऽ	र

हु०—ओह! तेरी सुरावट में तो जादू भरा है............आसमान, पहाड़ सबको पिघला दे............ऐसी कुव्वत है। मगर जवान गायक! तू क्या इन्सान को रुलाना ही पसन्द करता है?

बै०—नहीं बहादुर! आप जैसा चाहें वैसा सुर मुझे साध्य है। सुरावलि में मैं ऐसी ताकत भी ला सकता हूँ कि एक बार मुर्दा भी खड़ा होकर जूझ पड़े। लेकिन वीर सूरमा के नाम से पूजे जाने वाले राक्षसों को मैं नही चाहता, मैं नहीं चाहता प्रेम की हाय पुकारने वालों को, मैं नहीं चाहता ग़रीबी पर लगातार आहें भरने वाले को, मैं नहीं चाहता मौत से डरकर दुःख के मारे आँसू बहाने वालों को.........ऐसे निर्माल्यों को, मैं चाहता हूँ अमन के पैग़म्बरों को। खुदा के इस चमन के मालियों को.....सुनोगे सरदार!........यह धरती क्या कभी किसी की हुई है?

(क) पूरिया धनाश्री— पतझड़ बन तुम इस बाग को वीराना मत बनाओ, वीराना मत बनावो,

(ख) बहार— तुम बनकर बहार आवो, बहार आवो।
कलियों से हँसों हँसावो, हँसो हँसावो॥

(ग) बहार— यह चमन यों ही रहेगा, और ये पंछी सभी।
अपनी-अपनी बोलियाँ, सब बोल कर उड़ जाएँगे॥

(घ) नायकी कान्हड़ा— खुदा के इस चमन के बाग़बाँ बन कर के आवो।
औ' इसे सींचो बसावो, भूल कर भी मत नसावो॥

(क) पूरिया धनाश्री

सा	रि्	नि॒	सा	ग	रि्	म्	ग	ध्	म्	ध्	नि	रि्॑	नि	ध्	प
प	त	झ	ड़	ब	न	तु	म	इ	स	बा	•	०	ग	को	•
प	ध्	प	म्	प	म्	(म)ग,	म्	ग	म्	ग	म्	रि्	ग	—,	
इ	स	बा	०	०	ग	को,	इ	स	बा	०	०	ग	को	ऽ,	
ध्	प	ध्	म्	प	—	म्	—	ग	म्	रि्	ग	—	—	—	—
वी	०	रा	०	ना	ऽ	म	त	ब	ना	०	वो	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
ग	रि्	म्	ग	म्	—	म्	—	ग	रि्	—	सा				
वी	०	रा	०	ना	ऽ	म	त	ब	ना	ऽ	वो				

(ख) बहार

सा	रि	नि॒	सा	म	म	म	प	—	—	नि्	म	प	ग्	म	
तु	म	ब	न	क	र	ब	हा	ऽ	ऽ	र	आ	०	वो	०	
म	नि्	—	ध	नि	—	सा॑	—								
ब	हा	ऽ	र	आ	ऽ	वो	ऽ								

नि	सा॑	रि॑	ग्॑	रि॑	सा॑	नि्	सा॑	—	रि॑	नि्	सा॑	नि्	ध	म	नि्	—	ध	सा॑	नि	सा॑
क	लि	यों	०	से	०	हँ	सो	ऽ	हँ	सा	०	वो	०	हँ	सो	ऽ	हँ	सा	०	वो
रि॑	सा॑	सा॑	नि्	सा॑	नि्	नि	प	—	नि्	म	प	ग्	—							
तु	म	ब	न	क	र	ब	हा	ऽ	र	आ	ऽ	वो	ऽ							

ग् म — प प — रि — सा सा — नि॒ रि — सा
ब हा ऽ र आ ऽ वो ऽ ब हा ऽ र आ ऽ वो

(ग) बहार

रि नि॒ सा म म म — प — नि॒ म प ग॒ — ग॒ म नि॒ — ध नि — सां
य ह च म न यों ऽ ही ऽ र हे ऽ गा ऽ यों ऽ ही ऽ र हे ऽ गा

सां नि सां रिं ग॒ रिं सां नि सां रिं नि॒ ध नि॒ प नि॒ म प सां नि सां
औ ० र ये ० पं ० छी ० स भी ० ० ० अ प नी अ प नी

नि॒ — प ग॒ — ग॒ ग॒ प म प रि रि नि॒ सा रि प ग॒
बो ऽ लि याँ ऽ स ब बो ऽ ल क र उ ड़ जा एँ गे

म — प रि रि रि सा रि — नि॒ सा
बो ऽ ल क र उ ड़ जा ऽ एँ गे

(घ) नायकी कान्हड़ा

प नि॒ म प नि॒ म प सां नि॒ सां — नि॒ — प प म नि॒ प ग॒ — म नि॒ — प
खु दा ० के इ ० सु्च म न के ऽ बा ऽ ग़ बाँ ऽ ब न क र के आ ऽ वो

नि॒ म — प सां नि॒ सां — नि॒ प प नि॒ — ग॒ ग॒ म प रि रि नि॒ सा (म)
औ ऽ इ से ० सीं ऽ चो ० ब सा ऽ वो भू ० ल क र मी ऽ

रि सा रि प — ग॒ ग॒ — म प — रि सा — नि॒ रि — सा
म त न सा ऽ वो म ऽ तन सा ऽ वो म ऽ तन सा ऽ वो

(गाने के बाद वीणा का तूम्बा पत्थर में धँसता है)

हु०—अरे गायक, तूने तो ग़ज़ब कर दिया, तेरी वीणा के दोनों तूम्बे पत्थर में उतर चले। तेरा संगीत तो पत्थर को भी दिल देता है। वाह कलाकार! आफ़रीं।..........लेकिन नादान गायक, इस पहाड़ की तलहटी में झोंपड़ी में बैठा तू क्या करता है। आयेगा तू दिल्लीशाह हुमायूँ के दरबार में।

बै०—मैं तो निसर्ग के ही दरबार में रहता हूँ, सरदार, फिर भी अगर आप बतायें, कोई ऐसा बादशाह जो बिना किसी हथियार के, बिना सेना के राज्य चलाता हो तो मैं खुशी से उसके दरबार में हाज़िर हो जाऊँगा।

हु०—मगर—मगर यहाँ तेरी सँभाल कौन रखेगा? तेरी कद्र ही यहाँ कौन समझेगा?

बै०—पावागढ़ की आत्मा सरीखी मेरी बहन मेरी सँभाल रखती है सरदार! फिर कलाकार की कद्र कैसी! फूल खिलते हैं, सौरभ फैलता है और शून्य में खो जाता है बस। 'झड़ जाये फुलवा रह जाये बास.......'

हु०—बादशाह हुमायूं फौज़ लेकर यहाँ क्यों आया, तू जानता है?

बै०—गुजरात राज्य की विजय का उसे लोभ हुआ होगा। लेकिन संगीत राज्य नहीं सरदार। ....वह पराजेय नहीं। वह राज्य से दीर्घायु है।

हु०—नहीं, गायक, हुमायूँ भी अपनी एक हिन्दू बहन की राखी की लाज रखने चला था, मगर अफ़सोस वह मेवाड़ी बहन नादिम भाई के पहुँचने के पहले ही राख हो गयी। तभी उसने हलफ़ उठाया था। मेवाड़ की राजमाता की पाक राख पर चाँपानेर के बाशिंदों का खून चढ़ाने के मक़सद से हुमायूँ यहाँ आया।

बै०—तो आप खुद ही बादशाह हुमायूँ हैं!

हु०—तूने कैसे जाना?

बै०—एक झोंपड़ीवासी गायक के साथ बातें करने जो बैठे वह या तो सच्चा फकीर होगा या सच्चा बादशाह।

हु०—मान ले हम ही हुमायूँ हैं—मगर तू ही बता, मुझे राखी भेजने वाली क्षत्राणी करम देवी के साथ जिसने पूरे चित्तौड़ को जला डाला उस बहादुरशाह के चाँपानेर को उजड़ जाना चाहिये या नहीं?

बै०—नहीं नामवर, सच्चा बादशाह तो वह है जो वाटिका लगावे, जो बुलबुल बसाये, गुलाबजल की फुहारें छोड़े और भस्म के शौकीन भस्मासुरों को यह सीख दे कि जलाकर नहीं, जिलाकर जीता जाता है।

हु०—तेरी फ़िलसुफ़ी समझ में नहीं आती।

बै०—आप तो विजेता, फ़तेहमंद बनने आये हैं, प्रजा के पिता बनने आये हैं, और संतान को पालना क्या मुग़ल बादशाह को सीखना पड़ेगा?

हु०—यानी?

बै०—याद करें अपने महान् पिता बाबर को। जिस महात्मा ने आपकी बीमारी में आपको ज़िन्दगी देकर अपने लिये मौत माँग ली थी। प्रजा को जिलाने के लिये भी राजा को अपनी मौत माँगनी पड़ती है नामवर! प्रजा का सच्चा पिता बने रहेंगे—तभी मुग़लाई अमर रहेगी। नहीं तो न जाने किनते राजा सुल्तान शाहंशाह इस ज़िन्दगी और मौत के हिंडोले में झूलते-झूलते चल बसे।

[एकाएक फिर नौबत बज उठती है, नगाड़े बज उठते हैं—'अल्ला हो अक़बर' की ध्वनि सुन पड़ती है। बरहम आता है]

बर०—हज़ूर फौज आराम ले चुकी है—आगे क़त्लेआम के लिये तैयार है—हुकम हो।

हुमा०—ज़रा ठहरो, कलाकार! तेरे संगीत ने मेरे दिल को हिला डाला है, अब तू कुछ माँग ले इस दिल्ली के मुग़ले आज़म से—क़त्ले आम फिर से जारी होने से पहले।

बै०—मैं माँगू? संगीतकार हाथ नहीं पसारता, दिल्लीशाह! जो हक़ से मिले उतना ही लेता है।

हु०—अच्छा ऐसा ही सही, तो अपने संगीत की ही हक़शाही माँग ले, जिसने मेरे दिल को हिला दिया उसका मेरे ऊपर पूरा हक़ हो चुका है।

बै०—दिल्लीश्वर! मेरे लिए तो यह पावागढ़ के पहाड़, चाँपानेर के जंगल ही सब कुछ दे देते हैं फिर भी चाँपानेर के लिये एक वरदान माँगता हूँ।

हु०—हाँ, हाँ। जो चाहे सो माँग ले……बता......

बै०—चाँपानेर का क़त्ल बन्द करा दो।

हु०—अरे। मेरे पाक इरादे को तू मिटाना चाहता है·····मगर इससे तुझे क्या मिलेगा?

बै०—मुझे! मुझे एक भव्य वरदान की प्राप्ति होगी। मैं संसार को जता सकूँगा कि संगीत शस्त्र पर क़ाबू पा सकता है, स्वरास्त्र शरास्त्र पर, लौहास्र पर विजय पा सकता है।

बर०—बेअदबी माफ़ हो नामवर·······मगर एक गवैये की खातिर आप की फ़तह फीकी न पड़ जाय। बढ़ाये कदम को पीछे हटाने पर दुनिया क्या कहेगी? इसको बेशुमार दौलत बख्शें, पर क़त्ल बन्द न हो, एक पागल की इल्तिज़ा पर। इस का तो नाम ही है 'बैजू बावरा'।

हु०—हम जानते हैं—दिल्ली, बग़दाद, बसरा और समरकंद तक जिसके संगीत की खुशबू फैली है, उस कलाकार को हमने अपने कानों सुना, इसने गुजरात की क्या, दिल्ली की गद्दी तक माँगी होती तो वह भी हमने दे दी होती। बरहम खाँ—फौज दिल्ली की तरफ़ कूच करें—क़त्ल बन्द हो —जाओ चाँपानेर के हर बाशिंदे को दिल्लीशाह का अमन का पैग़ाम सुना दो और कह दो कि यह बैजू की अहम कला का अदना तोहफ़ा है, और ठहरो—मगर बैजू। अमन क़ायम करना यह तो तलवार के बूते की बात नहीं, इस में तो संगीत ही कामयाब हो सकता है और यह हम दिल से क़बूल रहे हैं। अब तुम ही एक ऐसा संगीत सुना दो कि अमन की परी चाँपानेर में तशरीफ़ ले आये। टूटे दिल को जिससे ढाँढ़स मिले! मायूसी की जगह ख़ुशी बिखर उठे, मौत की जगह, ज़िन्दगी बसर करे········अल्ला हो अकबर।

बै०—देख रहे हो दिल्लीशाह! आकाश से वह पूर्णचन्द्र शान्ति का कैसा शीतल सन्देश भेज रहा है! (पिछले पर्दे पर पूर्णचन्द्र का छाया दृश्य अंकित हो जाता है।) वायु में, शान्ति का सौरभ आकाश में शान्ति की वंशी, धरती में सुख, शान्ति के अंकुर, इन सबका हमें अनुभव प्राप्त हो, इसके लिए, आओ, प्रार्थना करें।

राग शिवरञ्जनी

सरस शान्ति सागर लहराए।
सुख सौरभ मारुत फैलाए॥
स्वराकाश अमृत बरसाए, धरती मधु अंकुर सरसाए॥ सरस··············
चिर दीप्त नाद का अनल रहे, प्रतिपल विकसित सुख कमल रहे।
चिर शान्त शस्त्र का समर रहे स्वर की जय-गाथा अमर रहे॥
जय हे, जय हे, जय हे, जय हे, जय जय हे, जय जय हे॥

रि	ग्	सा	रि	ग्	—	ग्	सा	रि	ग्	प	—	ध	प	रि	ग्	रि	—
स	र	स	शां	०	ऽ	ति	सा	०	ग	र	ऽ	ल	ह	रा	०	ये	ऽ

सा	रि	ग्	प	ध	सा̍	सा̍	—	ध	सा̍	ध	प	रि	ग्	रि
सु	ख	सौ	०	र	भ	मा	ऽ	रु	त	फै	०	ला	०	ए

सा̍	ध	सा̍	रि̍	ग्̍	रि̍	ग्̍	—	रि̍	ग्̍	रि̍	सा̍	—	ध	सा̍	सा̍रि̍ग्̍
स्व	रा	०	का	०	श	अ	ऽ	मृ	त	ब	र	—	सा	०	ये००

ग् रिं ग् सां रिं ध सां — ध सां ध प रि ग् रि
ध र ती ० म धु अं ऽ कु र स र सा ० ये

(आगे का अंश कुछ द्रुत लय में लें)

सा रि ग् — रि ग् प ग् प, प ध सां ध सां, ध सां रिं रिं
चि र दी ऽ प्त ना ० द का, अ न ल र हे, प्र ति प ल

रिं सां रिं ग् ग् रिं ग् सां रिं ध सां —, रिं सां ध — प
वि क सि त सु ख क म ल र हे ऽ, चि र शां ऽ त

ग् — रि ग् — सा रि ग् रि ग् —, सा रि ग् प ध सां ध सां ध प
श ऽ स्त्र का ऽ स म र र हे ऽ, स्व र की ० ज य गा ० था ०

ध सां रिं ग् रिं — ग् रिं ग् सां रिं — रिं सां रिं ध सां,
अ म र र हे ऽ अ म र र हे ऽ अ म र र हे,

सां ग् रिं — ध रिं सां — प सां ध —
ज य हे ऽ ज य हे ऽ ज य हे ऽ

ग् रि ग् — सा रि ग् ^ग्^प प —, ध प ग् ^ग्^रि सा —
ज य हे ऽ ज य ज य हे ऽ, ज य ज य हे ऽ

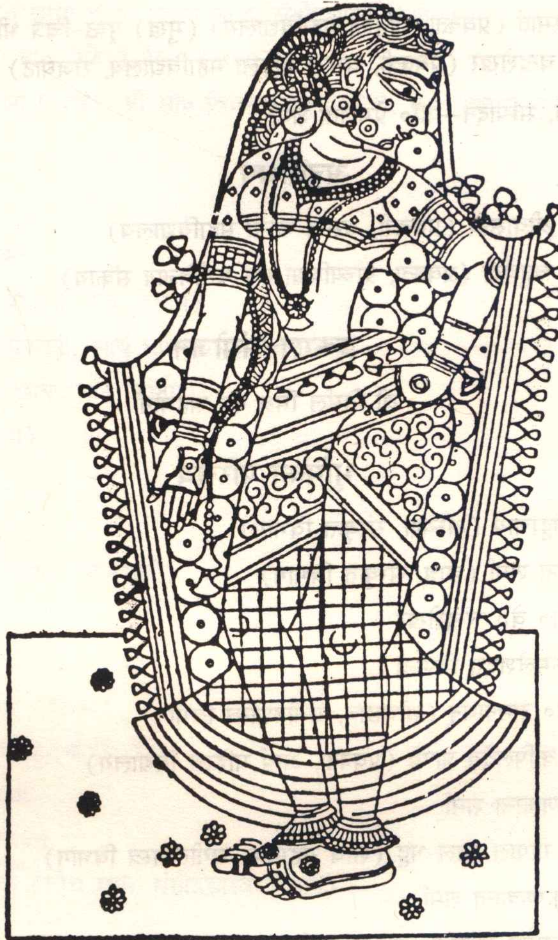
[गीत के मध्य में रंगमंच पर अंधेरा छा जाता है। पीछे पर्दे पर लौटती हुई फ़ौज का दृश्य अंकित हो जाता है और अन्त में गीत की समाप्ति होते-होते पर्दा गिर जाता है]

★★★

.५.

मालविकाग्निमित्रम्

(क) प्रस्तुतिपुस्तिका



काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के दल द्वारा उपस्थापन

अष्टादश कालिदास समारोह, उज्जैन

प्रबोधिनी एकादशी, १४ नवम्बर, १९७५

संरक्षक

श्री ल० ओ० जोशी : कुलपति के सलाहकार

निर्देशन

सामान्य : डॉ० प्रेमलता शर्मा (अध्यक्षा, संगीतशास्त्र विभाग)
डॉ० कमलेश दत्त त्रिपाठी (प्रवक्ता, प्राच्यविद्या एवं धर्मविज्ञान संकाय)

संगीत : डॉ० प्रेमलता शर्मा

नृत्य : श्री को० वें० चन्द्रशेखर (प्रवक्ता, महिला महाविद्यालय)

आहार्य : श्री वासुदेव स्मार्त (प्रवक्ता, महिला महाविद्यालय) (मुख) पृष्ठ-चित्र भी इन्हीं का बनाया हुआ है।
श्रीमती जया चन्द्रशेखर (प्रवक्त्री, वसन्त महिला महाविद्यालय, राजघाट)

प्रस्तुति-पुस्तिकाः—लेखन, सम्पादन—डॉ० प्रेमलता शर्मा

अनुबोधन

डॉ० सावित्री श्रीवास्तव (प्रवक्त्री, वसन्त कन्या महाविद्यालय)

डॉ० शिवदत्त चतुर्वेदी (प्रवक्ता, प्राच्यविद्या एवं धर्मविज्ञान संकाय)

प्रकाश-संयोजन

श्री निर्मल मिश्र एवं सहयोगी

भूमिका परिचय

१. **सूत्रधार** : डॉ० विश्वनाथ भट्टाचार्य (अध्यक्ष, संस्कृत विभाग)
२. **परिपार्श्विक** : श्री कृष्णकान्त शर्मा (छात्र, संस्कृत विभाग)
३. **अग्निमित्र** (राजा) : श्री को० वें० चन्द्रशेखर
४. **गौतम** (विदूषक) : डॉ० कमलेशदत्त त्रिपाठी
५. **वाहतक** (अमात्य) : श्री न० रामनाथन् (शोधछात्र, संगीतशास्त्र विभाग)
६. **गणदास** (आचार्य) : डॉ० कपिलदेव पाण्डे (प्रवक्ता, आर्य महिला विद्यालय)
७. **हरदत्त** (आचार्य) : श्री कृष्णकान्त शर्मा
८. **मौद्गल्य** (कञ्चुकी) : श्री गोपाल लाल भट्ट (शोध सहायक, संगीतशास्त्र विभाग)
९. **सारसिक** (अनुचर) : श्री कृष्णकान्त शर्मा
१०. **वैतालिक** : डॉ० भालचन्द्र वामन पाटेकर (प्रवक्ता, महिला महाविद्यालय)
११. **धारिणी देवी** (पट्टमहिषी) : श्रीमती जया चन्द्रशेखर
१२. **मालविका** : कु० मधुच्छन्दा पाटेकर (छात्रा)
१३. **इरावती** (अन्य महिषी) : डॉ० इन्द्राणी चक्रवर्त्ती (प्रवक्त्री)

१४. पण्डिता कौशिकी (परिव्राजिका) : डॉ० ऊर्मिला शर्मा (प्रवक्त्री, वसन्त कन्या महाविद्यालय)

१५. बकुलावलिका (परिचारिका) : कु० लयलीना भट्ट (छात्रा)

१६. कौमुदिका (,,) : कु० हेमा कृष्णन् (छात्रा)

१७. मधुकरिका (उद्यानपालिका) : कु० मधूलिका गुप्ता (शोध छात्रा, संस्कृत विभाग)

१८. समाहितिका (परिचारिका) : कु० सिद्धि अग्रवाल (छात्रा)

१९. निपुणिका (,,) : कु० शाश्वती चक्रवर्त्ती (छात्रा)

२०. ज्योत्स्निका (शिल्पकारिका) : कु० हेमा कृष्णन् (छात्रा)

२१. मदनिका (,,) : कु० शीला ज्योतिषी (छात्रा)

२२. जयसेना (प्रतीहारी) : कु० छाया बहल (शोध छात्रा, संगीतशास्त्र विभाग)

२३. नागरिका (परिचारिका) : कु० रोहिणी तैलंग (छात्रा)

२४. परिजन : श्री रामप्रभा ओझा (छात्र), श्री सो० विजयकुमार (छात्र), कु० अलका गुप्त (भू० पू० छात्रा)

संगीत

गीत

१. डॉ० भालचन्द्र वामन पाटेकर

२. डॉ० चित्तरञ्जन ज्योतिषी (प्रवक्ता, गान विभाग)

३. डॉ० वनमाला पर्वतकर (प्रवक्त्री, आर्य महिला महाविद्यालय)

४. कु० ज्योत्स्नामयी मुखर्जी (छात्रा, गान विभाग)

५. श्रीमती न० सरोजिनी (छात्रा)

६. श्री न० रामनाथन्

वाद्य

१. **वंशी** : श्री राधेश्याम जायसवाल (कर्मचारी)

२. **सितार** : कु० एलेन माइनर (छात्रा)

३. **वीणा** : श्री सुरेन्द्र कुमार त्रिपाठी (छात्र)

४. **वायलिन** : श्री वें० बालाजी (छात्र)

५. **मृदंगम्** : श्री के० वें० कृष्णन् (कर्मचारी)

६. **पखावज** : श्री गोविन्दरामजी

७. **कांस्यताल** : श्री न० रामनाथन्

८. **तालधर** : श्री तेजसिंह टाक (शोध छात्र, संगीतशास्त्र विभाग)

नृत्य

१. कु० सिद्धि अग्रवाल (छात्रा)

२. कु० अलका गुप्त (भू० पू० छात्रा)

३. कु० मधूलिका गुप्त (छात्रा)

४. कु० रोहिणी तैलंग (छात्रा)

प्रस्तुत प्रयोग की विशेषताएँ

१. भरत-पद्धति से पूर्वरङ्ग का प्रयोग किया गया है। आधुनिक प्रेक्षक की समय-मर्यादा के अनुसार भरतोक्त विधान का संक्षेप करना पड़ा है। यथा बहिर्गीत के छः प्रकारों में से केवल दो का ग्रहण, 'परिवर्तन' संक्षिप्त प्रयोग, जर्जर-स्थापन के पूर्व अवकृष्टा ध्रुवा का त्याग इत्यादि।

२. संगीत में भरत-पद्धति के निर्वाह के दो प्रमुख अङ्ग हैं—एक तो भरतोक्त मूर्च्छनाओं से सम्बद्ध रागों का ग्रहण एवं दूसरे हाथ से ताल देते समय भरतोक्त सशब्द-निःशब्द क्रियाओं का प्रयोग। गृहीत वाद्यों में केवल 'वायलिन' को आधुनिक कहा जा सकता है, किन्तु वह भी 'रावणहस्तक' का ही रूपान्तर है।

३. यवनिका का केवल आरम्भ और अन्त में उपयोग हुआ है। विशिष्ट 'प्रवेश' के समय तिरस्करिणी का उपयोग किया गया है।

४. संस्कृत दृश्यकाव्य में वर्णन-बहुल पद्यों का प्रचुर समावेश प्रेक्षकों की 'कल्पना' को जागृत करने के लिए होता है। अतः 'पुस्त' (सेट्स, स्टेज प्रॉपर्टी) का न्यून उपयोग संस्कृत-नाट्य परम्परा में विहित माना गया है। किन्तु 'पुस्त' का प्रयोग निषिद्ध भी नहीं है। इस परम्परा के सन्तुलित पालन का पूरा यत्न किया गया है।

५. 'नाट्यधर्मी' के अनुसार स्वगत, जनान्तिक का प्रयोग हुआ है। केवल अभिनय द्वारा, स्थूल वस्तुओं के उपयोग के बिना, अनेक अवस्थाओं का निर्वाह किया गया है। यथा बकुलावलिका द्वारा मालविका के 'चरणालंकार' में न आलक्तक (आलता) है और न नूपुर। यथास्थान 'लोकधर्मी' का भी ग्रहण हुआ है। यथा 'सन्देश'-पाठ के समय अमात्य और राजा के हाथ में पत्र है। अतः यह प्रयोग 'नाट्यधर्मी' प्रधान है, किन्तु 'लोकधर्मी' से सर्वथा शून्य हो ऐसा नहीं कहा जा सकता। केवल एक 'धर्मी' से कोई प्रयोग हो सकता हो, ऐसा हमें नहीं लगता। 'नाट्य' का आधार 'लोक' ही है, फिर भी नाट्य की अपनी विशिष्ट पद्धति है। अतः दोनों 'धर्मी' परस्पर पूरक हैं, विरोधी नहीं।

६. पाठ-संक्षेप मुख्य रूप से वर्णनात्मक श्लोकों तक सीमित है। केवल पञ्चम अङ्क के अन्त में 'गति' की रक्षा के लिए कुछ संवाद छोड़े गए हैं। अपनी ओर से एक भी 'वर्ण' कहीं जोड़ा नहीं गया है। प्राकृत के स्थान पर संस्कृतच्छाया का ही प्रयोग किया गया है। सम्प्रेषणीयता की दृष्टि से ही ऐसा किया गया है। हाँ, गीत में प्राकृत को ही रखा गया है, क्योंकि प्राकृत की गेयता का अपना वैशिष्ट्य है।

७. रूपक-स्थित पद्यों के गान का कहीं स्पष्ट सङ्केत प्राप्त न होने से उनका पाठ्य रूप ही प्रस्तुत किया गया है। आधुनिक प्रेक्षक की समय-मर्यादा के भी यही अनुकूल है।

८. नाटक का नायक अग्निमित्र 'धीरललित' है। उसका 'कामतन्त्रसचिव' विदूषक 'राजतन्त्रसचिव' की अपेक्षा उसके कहीं अधिक निकट है। प्रणय-व्यापार में उचित-अनुचित, सत्य-असत्य के विवेक का त्याग कालिदास को चुभता है। 'जागती हुई' देवी धारिणी को 'सुप्त' बनाया जा रहा है। इरावती 'कुपित होकर भी क्या कर लेगी'। ये कालिदास की समवेदना के उद्‌गार हैं। किन्तु नायक के गौरव की रक्षा अन्त में हो ही जाती है, क्योंकि मालविका उसी के लिये 'प्रथम-संकल्पिता' थी। देवी धारिणी की 'अनुकूलता', इरावती का रोष-त्याग सब कुछ कलुष-रहित हो जाता है। शुङ्ग-कालीन राज-जीवन के अन्तरङ्ग की यह झाँकी षड्यन्त्र, मिथ्याचरण आदि के मध्य किस प्रकार कालिदास की मङ्गलमयी वाणी में, अपनी निष्प्रयोजनता खो कर सार्थक हो उठी है, उसे उभारने का हमारा यत्न है।

९. 'नेपथ्य'-रचना (वेशभूषा) में यथासम्भव प्राचीनता की झलक लाने का यत्न किया गया है। फिर भी वर्तमान युग की मर्यादाओं को भुलाना असम्भव था।

पूर्वरङ्ग-प्रयोग का क्रम

अन्तर्यवनिका (यवनिका उठने के पूर्व)

१. **प्रत्याहार** : कुतप का यथास्थान सन्निवेश

२. **अवतरण** : गायिकाओं (गायक भी) का निवेशन

३. **आरम्भ** : वाद्य-प्रयोग-रहित शुष्काक्षरों का गान

४. **बहिर्गीत** अथवा **निर्गीत** : (वाद्य प्रधान, केवल एक कण्ठ द्वारा शुष्काक्षर गान)
(क) आश्रावणा (ख) वक्त्रपाणि

बहिर्यवनिका (यवनिका उठने के बाद)

१. **मद्रक** : नामक गीतक का गान

२. **वर्धमान** : गीतक के साथ नृत्य

३. **उत्थापन** : सूत्रधार के द्वारा भूमि-वन्दना एवं आकाश-वन्दना के साथ प्रयोग का उत्थापन

४. **परिवर्तन** : सूत्रधार के द्वारा रङ्ग की चारों दिशाओं में परिक्रमण करते हुए लोकपालों का वन्दन

५. **नान्दी** : सूत्रधार द्वारा आशीर्वचन एवं प्रोक्षण

६. **जर्जर-स्थापन** एवं जर्जर - वन्दन

७. **रङ्गद्वार** : वाचिक, आङ्गिक अभिनय का अवतरण

८. **चारी** : शृङ्गार-प्रचरण

९. **त्रिगत** : विदूषक, सूत्रधार और पारिपार्श्विक—तीनों का संजल्प

१०. **प्ररोचना** : रूपक का संक्षिप्त परिचय एवं दर्शकों का आमन्त्रण

प्रस्तावना

इसमें कवि द्वारा सूत्रधार और पारिपार्श्विक के माध्यम से रूपक का एवं स्वयं का 'परिचय' प्रस्तुत है।

कथा-संक्षेप

प्रथम अङ्क

प्रस्तावना के अनन्तर बकुलावलिका तथा कौमुदिका का प्रवेश होता है। इनके वार्तालाप से विदित होता है कि मालविका आचार्य गणदास से नृत्य सीख रही है और अग्निमित्र की दृष्टि में आ गई है। अग्निमित्र ने उसे चित्र में देखकर बार-बार उसके बारे में जानना चाहा, किन्तु शङ्कित देवी धारिणी बताना नहीं चाहती थीं। पर इसी बीच बालिका वसुलक्ष्मी ने कह दिया—'यह तो मालविका है।' देवी धारिणी मालविका को अग्निमित्र के सामने पड़ने से बचा रही है। आचार्य गणदास और बकुलावलिका के वार्तालाप से यह भी विदित हो जाता है कि मालविका नृत्य-शिक्षा ग्रहण करने में अत्यन्त कुशल है, और इरावती से भी आगे बढ़ती नजर आ रही है। इरावती के शिक्षक आचार्य हरदत्त हैं। मालविका के शिक्षक आचार्य गणदास देवी धारिणी के कृपा-पात्र हैं। हरदत्त राजा के कृपा-पात्र हैं—यह आगे के सङ्केत से विदित हो जाता है। यहाँ मिश्रविष्कम्भक समाप्त हो जाता है।

अग्निमित्र और अमात्य वाहतक का प्रवेश होता है। अमात्य वाहतक वैदर्भ नरेश का पत्र पढ़ते हैं, जिसमें कहा गया है कि आप (अग्निमित्र) हमारे चचेरे भाई माधवसेन को जिसका आपसे सम्बन्ध प्रतिश्रुत है, और जिसे मैंने बन्धक के रूप में बन्दी कर रखा है—छोड़ने को कहते हैं, तो मैं सूचित करता हूँ कि उसे मैंने पकड़ रखा है, उसे पकड़ने की हड़बड़ी में उसकी बहन कहीं खो गयी है। माधवसेन की बहन को खोजने का मैं प्रयास करूँगा, किन्तु माधवसेन तभी छोड़ा जा सकेगा, जब आप मेरे साले मौर्यसचिव को छोड़ेंगे।

स्वभावतः रुष्ट अग्निमित्र वैदर्भ के समुन्मूलन की आज्ञा देते हैं।

तदनन्तर कार्यान्तर का सचिव गौतम-विदूषक आता है। इसे मालविका को अग्निमित्र से मिलाने का उपाय करना है। इसने उपाय कर भी दिया है। आचार्य गणदास और हरदत्त में संघर्ष पैदा कर दिया है।

परस्पर झगड़ते हुए आचार्य आते हैं। अपनी-अपनी योग्यता की परीक्षा राजा के सम्मुख कराना चाहते हैं—अपनी शिष्याओं के नृत्य-प्रयोग की श्रेष्ठता के आधार पर। राजा परिव्राजिका पण्डिता कौशिकी को मध्यस्थ बनाने का प्रस्ताव करते हैं। देवी धारिणी इन चालों को समझती हैं, किन्तु विवश सब कुछ स्वीकार करती है।

द्वितीय अङ्क

राजा, देवी धारिणी, पण्डिता कौशिकी के सम्मुख मालविका का 'छलिक' नृत्य प्रस्तुत होता है। उसका रूप और शिल्प—दोनों ही राजा के सम्मुख आ जाता है। हरदत्त की शिष्या का प्रयोग होने का अवसर नहीं आ पाता। अग्निमित्र का अभीष्ट भी तो उतना ही था।

तृतीय अङ्क

प्रवेशक में समाहितिका और मधुकरिका के संवाद से यह पता चल जाता है कि अग्निमित्र मालविका के प्रति साभिलाष हैं। किन्तु देवी धारिणी के गौरववश प्रकट नहीं कर पा रहे हैं और मालविका भी मालतीमाला की तरह म्लान हो रही है।

अग्निमित्र और विदूषक का प्रवेश होता है। अग्निमित्र विरहाकुल है। विदूषक बताता है कि उसने बकुलावलिका से कहा है कि वह मालविका को अग्निमित्र से मिलाने का प्रयास करे—उसने कठिनाई बतायी, किन्तु फिर भी उद्योग करेगी।

अग्निमित्र मन बहलाने को प्रमदवन जाता है—यहाँ इरावती ने 'दोलाधिरोहण' के लिये आने की प्रार्थना भी निपुणिका के मुख से की थी।

किन्तु यहाँ तो मालविका उपस्थित है। देवी धारिणी ने उसे स्वयंधरित नूपुर देकर कहा है कि वही अशोकदोहद को पूरा करे, क्योंकि गौतम की चपलता के कारण देवी के चरणों में चोट आ गयी है।

इसी बीच निपुणिका के साथ इरावती वहाँ पहुँच जाती है। वह आशङ्कित होती है और छिप कर देखती है।

मालविका अशोकवृक्ष पर चरणप्रहार करती है। विदूषक और राजा बहाने से वहाँ पहुँच जाते हैं। राजा चरणों पर गिरी मालविका को हाथ पकड़ कर उठाता है। तब तक इरावती वहाँ पहुँच जाती है। वह सब कुछ समझ जाती है। अग्निमित्र रुष्ट इरावती को मनाने के लिये चरणों पर गिरता है, पर वह ठुकरा कर चल देती है।

चतुर्थ अङ्क

विदूषक अग्निमित्र को बताता है कि मालविका और बकुलावलिका सारभाण्ड-भूगृह में बन्दिनी हैं। इरावती देवी धारिणी के पास उनका हाल चाल लेने गयी थी। और प्रमदवन वाली घटना बता आई थी। देवी धारिणी ने रक्षिका माधविका को आदेश दिया है कि उसकी अंगुलीयकमुद्रा देखे विना मालविका और बकुलावलिका को छोड़ा न जाय।

अग्निमित्र गौतम से कोई उपाय करने को कहता है और गौतम के उर्वर मस्तिष्क में कोई योजना आ भी गयी है।

अग्निमित्र देवी धारिणी के पास मिलने जाते हैं। वहाँ बेहाल गौतम पहुँचता है—सांप ने उसे काट लिया है। देवी की उपासना के लिये पुष्प लेने वह प्रमदवन गया था—वहीं उसे सर्प ने काट लिया।

देवी व्याकुल हो उठती है। गौतम अपनी पुत्रहीना हो जाने वाली माँ का ख्याल रखने की प्रार्थना अग्निमित्र से करता है, देवी धारिणी से क्षमा याचना करता है और ध्रुवसिद्धि के पास चिकित्सा के लिये भेज दिया जाता है।

प्रतीहारी जयसेना लौटती है और ध्रुवसिद्धि के द्वारा मंगायी गयी 'किसी सर्पमुद्रित वस्तु' के रूप में देवी धारिणी से सर्पमुद्राङ्कित अङ्गुलीयक ले कर जाती है। गौतम की चिकित्सा में इसका उपयोग होना है। अग्निमित्र भी वाहतक का सन्देश पाकर राजकार्य के लिये चल पड़ते हैं।

प्रसन्नवदन गौतम का प्रवेश होता है। वह बताता है कि कैसे उसने बकुलावलिका और मालविका को छुड़ा लिया है और अब मालविका समुद्रगृह में प्रतीक्षा कर रही है। समुद्रगृह में अग्निमित्र और मालविका मिलते हैं। बकुलावलिका तथा गौतम रखवाली कर रहे होते हैं।

इसी बीच इरावती निपुणिका के साथ वहाँ पहुँचती है। निपुणिका समुद्रगृह के अलिन्द में गौतम को देखती है—वह बैठा-बैठा सो रहा है। स्वप्न की बड़-बड़ाहट में ही वह मालविका को पुकारता है और इरावती से आगे बढ़ जाने का आशीर्वाद भी देता है। निपुणिका उसे कुटिल दण्डकाष्ठ से डराती है। विदूषक की पुकार को सुनकर अग्निमित्र आ जाता है और दूसरे भी।

इरावती प्रणयी युगल के सङ्केतस्थल पर प्रणयलीला को समझ जाती है। रंगे हाथों पकड़ती है। घोर संकट है। किन्तु तब तक जयसेना आकर बताती है कि कुमारी वसुलक्ष्मी वानर से डर गई है—काँप रही है, किसी तरह आश्वस्त ही नहीं हो रही है। स्वभावतः अग्निमित्र, इरावती सभी उधर दौड़ते हैं। गौतम जानता है कि इस संकट में पिङ्गलवानर काम आया है। नेपथ्य से सूचना मिलती है कि तपनोयाशोक फूल गया है।

पञ्चम अङ्क

प्रवेशक में देवी धारिणी के सेवक सारसिक और उद्यानपालिका की बातचीत से पता चलता है कि कुमार वसुमित्र को पुष्यमित्र के यज्ञीय अश्व की रक्षा में नियुक्त किया गया है। इधर देवी के भाई सेनापति वीरसेन का पत्र विदर्भ से आया है। माधवसेन को छुड़ा लिया गया है। वैदर्भ पराजित हुआ है। उपहार के रूप में बहुत-सा सुवर्णरत्नादि तथा दो शिल्पकारिकाएँ प्रेषित हैं।

अग्निमित्र के पास ये शिल्पकारिकाएँ आती हैं। वहाँ मालविका को देखकर पहचानती हैं कि यह तो वही माधवसेन की भगिनी है, जिसका सम्बन्ध अग्निमित्र के साथ स्थिर था। पण्डित कौशिकी माधवसेन के सचिव सुमति की बहन है और चुपचाप यहाँ रह रही है। तब पण्डितकौशिकी मालविका के यहाँ आने का वृत्तान्त तथा अपने चुप रहने का कारण बताती है।

तभी सेनापति पुष्यमित्र का पत्र मिलता है कि कुमार वसुमित्र के रक्षित यज्ञाश्व को सिन्धु के दक्षिण तट पर यवनों ने पकड़ना चाहा। घोर युद्ध हुआ और वसुमित्र विजयी रहा है। अब रोष छोड़कर आपको वधूजन के साथ यज्ञ में आना है।

यह सुखद समाचार इरावती आदि के पास भी भेजा जाता है। सभी हर्षित हो उठते हैं। तब देवी धारिणी इरावती को भी विश्वास में लेकर पहले से ही प्रतिज्ञात-सम्बन्ध मालविका को अग्निमित्र को समर्पित करती हैं।

भरतवाक्य के साथ नाटक पूर्ण होता है।

(ख) 'मालविकाग्निमित्रम्' की चतुष्पदी

(जिस पर 'मालविका' ने 'छलिक' नृत्य किया था)

वर्धमान गीतक

अपनी 'अभिनय भारती' द्वारा इस नाटक का मञ्चन कराने के लिये बहिनजी ने सम्पूर्ण प्रस्तुति के लिये जो सङ्गीत-रचना की थी, उसमें से इस अंश की सङ्गीतलिपि तथा इसके पूर्वरङ्ग के लिये — नाट्यशास्त्रोक्त पद्धति से बहिनजी द्वारा बनाये गये वर्धमान गीतक एवं उनकी स्वरलिपि भी स्वयं उनके हाथ से लिखी हुई प्राप्त हो गई, वही क्रमशः यहाँ प्रस्तुति की जा रही है।

—ऊर्मिला

मालविका की चतुष्पदी

दुल्लहो पिओ मे, तस्सिं भव हिअअ णिरासं।

(दुर्लभः प्रियो मे, तस्मिन् भव हृदय निराशम्)।

अम्मो अवांगो मे, परिप्फुरइ किं वि, वामओ॥

(अहो अपाङ्गो मे, परिस्फुरति किमपि वामकः॥)

एसो चिरदिट्ठो, कहं उवणइदव्वो॥

(एष चिरदृष्टः कथं उपनेतव्यः)

णाह मां पराहीणं, तुइ गणअ सतिण्हम्॥

(नाथ! मां पराधीनां, त्वयि गणय सतृष्णाम्॥)

बागेश्री

×				२				०				३			
												रिं			
								—	—	सं	नि॒	सं	नि॒	धनि॒	पध
										दु	•	ल्ल	हो	••	पि•
सं															
नि॒	—	ध	म	मग॒	रिस	निस	गम	धनि॒	सं	—	—	—		—	
ओ	ऽ	मे	•	••	••	••	••	••	•	"	"	"		"	
								स	रि	नि॒	ध॒	नि॒		स	
"		"		म	ग॒	रि	स	नि॒	स	ध॒	नि॒	स	स	म	म
				•	•	•	•	त	•	स्सिं	•	भ	व	हि	अ
								"	"	"	"	"	"	"	"
ग॒	म	ध	नि॒	ध	म	मग॒	रिस								
अ	णि	रा	•	सं	•	••	••								
"	"	"	"	"	"	"	"	मध	निसं	दु	••	ल्ल	हो	••	पि

भिन्नषड्ज

ओ	—	मे	•	•	•	•	•	म	—	ध	—	ध	निसं	धनि	सं
								अ	ऽ	म्मो	ऽ	•	••	••	•
ध	नि	सं	मं	गं	—	सं	—	धनि	धनि	संनि	धनि	धम	गम	ग	स
अ	वां	•	•	गो	ऽ	मे	ऽ	परि	•प्फु	रइ	किं	विवा	•म	ओ	•

×				२				०				३			
निस	गस	-ग	मध	गम	धम	-धु	निसं	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
..	..	..	..	..	..	..	..								
,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	धन	सं	दु	•	ल्ल	हो	•	पि
ओ	•	मे	•	•	•	•	•								

मालकौंस

								स	सं	ध	नि	ध	म	ग	म
								ए		सो	•	चि	र	दि	•
ग	(ग)स	नि	स	(नि)ध	(स)नि	(नि)स	म	,,		,,		,,		,,	
ट्ठो	•	•	•												
,,		,,		,,		,,		मध	गम	धनि	सं	संगं	निसं	ध	नि
								क•	हं•	••	••	उ•	व•	ण	इ
ध	—	म	—	(ध)ग	म	ग	स	म-		,,		,,		,,	
द	ऽ	व्वो	ऽ	•	•	•	•								
,,		,,		,,		,,		मध	निसं	दु	••	ल्ल	हो	•	पि
								ध	नि	सं	मं	•	गं	—	रि
								णा	•	•	ह	मां	ऽ	ऽ	प
(नि)य	-रि	नि	सं	रि	सं	(रि)निस	निध	ध	धनि	पध	धनि	नि	ध	म	मप
रा	ऽ•	ही	•	•	••	••	णं	तु	इ•	ग.	ण	अ	स	•	ति
ध	ग	ग	रि	स	गम	धनि	सं		,,			,,		,,	
•	ण्हं	••	•	•	••	••	•		,,			,,			
,,		,,		,,		,,		स	स	दु	•	ल्ल	ही	•	पि
								ध	नि	सं	मं	गं	—	—	रिं
								णा	•	•	ह	मां	ऽ	ऽ	प
सं	-रिं	नि	सं	रिं	संनि	(रिं)सं•	नि ध	ध	धनि	पध	नि	नि	ध	म	मप
रा	ऽ•	ही	•	•	••	••	णं•	तु	इ•	ग•	ण	य	स	•	ति

ध	ग॒	ग॒	रि	स	ग॒म	धनि॒	सं								
•	ण्हं	•	•	•	••	••	•								
,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	स	सं	दु	•	ल्ल	हो	•	प

सं प
सनि॒ धनि॒ स म ग॒म ध — नि॒ ध ध — म —,
दु • ल्ल हो • पि • ओ ऽ • ऽ •• ऽ मे ऽ

म ग॒ रि स रि स नि॒ स रिं स नि॒ — ध —
त • स्सिं • भ व हि अ अ णि रा ऽ सं ऽ

ध
ध़ नि॒ स म, ग॒ म ध —, सं नि॒ — ध — म —,
अ • म्मो ., अ • म्मो •, अ वां ऽ गो ऽ मे ऽ,

मध नि॒ध धम म ग॒ रि स ध़ नि॒ स म
परि •प्फु रइ किं • वि वा • म ओ ''

सं प
स सं नि॒ नि॒ध ध नि॒ पध नि॒ — ध म मग॒ रिस,
ए • सो •• चि र दि• ट्ठो ऽ • • •• ••

ध़ नि॒ स म, ग॒ म ध —, ध नि॒ सं —,
क • हं •, क • हं ऽ क • हं —,

रि
नि॒ सं रिं रिं नि सं नि॒ ध
उ व ण इ द • व्वो •

ग॒ं रिं सं रिं सं नि॒ सं नि॒ ध नि॒ ध म म ग॒ रि
णा • ह मं • प रा • • ही • • णं • •

रि स नि॒ स नि॒ ध़ ध़नि॒ स म धनि॒धम मग॒ रिस
तु इ ग ण अ स ति • ण्हं • • • • • • • • •

सं प
सनि॒ ध़नि॒ स म ग॒म ध — नि॒ — धध — म —,
दु• •ल्ल हो • पि• ओ ऽ • ऽ •• ऽ मे ऽ,

म ग रि स रि स नि स रि स नि — ध़ — |
त • स्सिं • भ व हि अ अ णि रा ऽ सं ऽ

ध
ध़ नि स म, ग म ध — सं नि — ध — म —,
अ . म्मो ., अ म्मो ऽ, अ वां ऽ गो ऽ मे ऽ,

मध निध धम म ग रि स ध़ नि स म — |
परि •फ्फु रइ किं • वि वा • म ओ • ऽ

सं प
स सं नि निध ध नि पध नि — ध म
ए • सो •• चि र दि• ट्ठो ऽ • ••

मग रिस धनि स म, गम ध —, धनि सं —
•• •• क• हं •, क• हं ऽ, क• हं ऽ

रिं
नि सं रिं रिं नि सं नि ध
उ व ण इ द • व्वो •

गं रिं सं रिं सं नि सं नि ध नि ध म म ग रि
णा • ह मं • प रा • • ही • • णं • •

रि स नि स नि ध़ ध़ नि स म ध नि ध म म ग रि स
तु इ ग ण अ स. ति • ण्हं • • • • • • • • •

(ग) वर्धमान-गीतक*

प्रथम कण्डिका—विशाला

उपोहन—झंटुं जगतिय वलितक दिगिनिगि तितिया॥ देवं वद्यं मदनाङ्गहरं, ललनार्धधरं, चन्द्रार्धधरं, शम्भुम्॥

द्वितीय कण्डिका—सङ्गता

उपोहन—झण्टुं जगतिय वलितक दिगिनिगि तितिझल तितिचा॥

घनघनसारसहोदर-सुन्दर-शशिकर-रुचिर-शरीरं, उत्फणफणिगणवलयशिरोमणि—किरण-विभिन्न-तमिस्त्रम्॥

* पू० प्रेमलता बहनजी द्वारा नाट्यशास्त्र के अनुसार यह गीतक रचा गया है। इसे मालविकाग्निमित्रम् के पूर्वरङ्ग में शास्त्रोक्त नृत्य के साथ प्रस्तुत किया गया था। —ऊर्मिला

तृतीय कण्डिका—सुनन्दा

उपोहन— झण्टुं जगतिय वलितक दिगिनिगि तितिझल कुचझल तितिचा ॥
गौरीनयनसुलोल-विलोकन-जीवितमदनं, कनक-पिशङ्गजटापरिसरगत-गङ्गाधौतकपोलं, चन्द्रापीडं, चन्द्रक-मण्डितचारुनिचोलं, विशदकपोलतलप्रतिबिम्बित-कर्णविभूषं, गजमुखषण्मुखबालक्रीडा-विकसितवदनम् ॥

चतुर्थ कण्डिका—सुमुखी

उपोहन—झण्टुं जगतिय वलितक दिगिनिगि तितिझल कुचझल तितिझल तितिचा ॥ सततं सनकादिकपरिगीतं गीतागम्यं, गीतगुणं, पारेसंसृतिनीरनिधिं, त्रितयातीतं, त्रिजगदधीशं, त्रितनुं त्रिगुणं, विगुणं विशदं, विमलं सकलं, कलनातीतं कलानिधिं समदमदन-मद-दमन-विधूनित-रतिवरदान-निदानं, गजवदनोदित-भुजवन-लीला-लालन हर्षित -वदनं, ध्यानागम्यं ध्येयं सततं कमलासदनं, परमानन्दं, व्योमकेशं निर्जितमदनं सुरनुतचरणं, भवभयहरणं, वन्दे शान्तं शुभदं नित्यम् ॥

१. विशाला (मात्रा) ५ + ९

स	सं	नि̲	धप	ग	म	ग	ग	म	नि̲	धनि̲	पध	नि	नि	सं	सं
झं	•	टुं	••	ज	ग	ति	य	व	लि	त•	क•	दि	गि	नि	गि
रिं	नि	सं	—												
ति	ति	चा	ऽ												

स	—	ग	—	मं	नि̲	ध	—	नि	सं	रिंनि	सं	नि̲	ध	ग	म
दे	ऽ	वं	ऽ	वं	ऽ	द्यं	ऽ	म	द	नाऽ	ऽ	ङ्ग	ह	रं	ऽ
म	ग	स	ग	म	म	ग	ग	नि̲	ध	म	ध	नि̲	नि̲	ध	ध
ल	ल	ना	.	र्ध	ध	रं	.	चं	.	द्रा	.	र्ध	ध	रं	.
(नि) ध	नि	सं	—												
शं	.	भुं	ऽ												

२. सङ्गता ६ + ८

गं	-रिं	नि	सं	गं	पं	मं	ग	ध	सं	नि̲	ध	ग	प	म	ग
झं	ऽ•	टुं	•	ज	ग	ति	य	व	लि	त	क	दि	गि	नि	गि
स	स	ग	ग	मनि̲	(प) ध	नि	सं								
ति	ति	झ	ल	ति•	ति	चा	•								

स स ग ग म- म म म प मग मनि धनि प ध निनि संनि संरिं निसं निध प धनि सं
घ न घ न साऽ र स हो • द र सुं • द र श शि क र रुचि र श री • रं • • • • •

संगं मंपं मंगं रिंनि निसंरिंसं धनि पध निसं निसं नि धप गमपध गम ग- रि-स-
उ • त्फ ण फणि ग ण व ल य शि रो • • • मणि किर ण वि • भि • न्न त मि • स्त्रं ऽ • ऽ • ऽ

३. ७ + १६

स स
सं — नि ध प प म ग स स ग ग म प म ग
झं ऽ टुं . ज ग ति य व लि त क दि गि नि गि
म म ध ध नि सं नि धनि प ध नि सं
ति ति झ ल कु च झ ल. ति ति चा .

नि- धप गम गग स- गग म- मम म- मप मम ग- मम धध ध- निध
गौ. री. नय नसु लोऽ लवि लोऽ कन जीऽ वित मद नंऽ कन कपि शंऽ गज

प- धप गम गग स- ग- मप मग मनि ध- - - - - गम पसं नि- धप
टाऽ परि सर गत गंऽ गाऽ धौ • तक पो • लंऽ ऽऽ ऽऽ चं • द्रा • पीऽ डं •

गम पसं नि- धप गम पध गम ग- गम पध निसं रिंसं धनि पध पध निसं
चं • द्रक मंऽ डित चा • रुनि चो • लंऽ, विश दक पो • लत ल • प्रति बिं • बित

सं- गंमं गंरिं निसं निनि निनि सं- संसं प- सं- नि- धप गम पध निनि सं
कऽ र्णवि भू • षं • गज मुख षऽ ण्मुख बाऽ लऽ क्रीऽ डा • विक सित वद नं

सुमुखी ८ + ३२

स — सां — रें नि सां सां ध नी प प म प ध नी
झं ऽ टुं ऽ ज ग ति य व लि त क दि गि नि गि

सां रें नि सां सांमं गंमं रें सां ध नि सां सां रें नि सां —
ति ति झ ल कु • च • झ ल ति ति झ ल ति ति चा ऽ

गंमं रेंसां रेंनि सां- धध निनि सां- सां- म प ध नि सां नि सां —
सत त. सन काऽ दिक परि गीऽ तंऽ गी • ता • ग • म्यं ऽ

सां
म प ग म रे सा सा सां सां — रें नि सां सां ध —
गी • त गु णं • पा • रे ऽ सं • सृ ति नी ऽ

नि नि सां — सां रें गं मं रें- सां- सा रे गम रे- सा- सारे ग- म प ध-
र नि धिं ऽ त्रि त या • तीऽ तंऽ त्रि ज ग द धीऽ शं ऽ त्रित नुं ऽ त्रिगु णं ऽ

सां रें गं- मंमं रेंसां सांध नीप पग मरे रेंरें सांरें निनि सां- धध निनि सां- - -
वि गु णंऽ वि श दं • वि म लं • स क लं • क ल ना • ती • तं ऽ क ला . नि धिंऽ ऽ ऽ

म म प प ध ध नि नि सां सां धनि सांसां सांसां रें रें रें रें रें रें सां रें गं - गं - - - - -
स म द, म द न, म द द म न वि धू • नि त र ति व र दा• न नि दा ऽ नं ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ

मं मं मं मं रें रें सांसां निसां रें सां धनि प प मप पनि ग ग ग म रे रे सा - - - - -
ग ज व द नो • दि त भु ज व न ली • ला • लाऽ लन ह • र्षित व द नं ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ

रें - नि - सां - सां - ध - नि - प प प - मप धनि सांनिसां - ग ग ग म रे - सा -
ध्याऽ ना ऽ ग ऽ म्यंऽ ध्येऽ यं ऽ स त तं ऽ, कम लाऽ स द नं ऽ प र मा ऽ नं ऽ दं ऽ

सां - - नि सां - सां - ध ध ध नि प प प - म प प नि ग ग ग - म म रे सा रे रे सा -
व्यो ऽ ऽ म के ऽ शं ऽ नि ऽ र्जि त म द नं ऽ सु र नु त च र णं ऽ भ व भ य ह र णं ऽ

रें
सां रें रें — रें सांरें गं — मं मं रें सां नि — सां —
वं ऽ दे ऽ शां • • तं ऽ शु भ दं • नि ऽ त्यं •

[प्रथम के गान सहित एक कन्या के नृत्य के बाद तत्काल साथ ही द्वितीय के लिए दो का प्रवेश, पहली एक ओर हट कर कुछ अङ्गहार करती है, दो के द्वारा द्वितीय कण्डिका पर नृत्य के बाद इन के साथ मिलकर प्रथम (अर्थात् तीनों) द्वारा प्रथम कण्डिका दोहराते हुए द्वितीय कण्डिका पर्यन्त पुनः नृत्य; यह पूरा होने पर इन तीनों का मञ्च पर ही पीछे जाकर अङ्गहार करते रहना, इधर नई तीन का प्रवेश—तृतीय कण्डिका के साथ नृत्य, पुनः पहले की भाँति क्रमशः द्वितीय एवं प्रथम वाली कण्डिकाओं वाले नृत्य सम्मिलित रूप से दोहराना एवं फिर इन सबका पीछे जाकर अङ्गहार करते रहना; चतुर्थ कण्डिका के लिये नई चार कन्याओं का प्रवेश एवं इसके गान-सहित नृत्य के बाद पहले की भाँति ही क्रमशः तृतीय-द्वितीय-प्रथम कण्डिकाओं के गायन-नृत्य-सहित चतुर्थ कण्डिका का सभी कन्याओं द्वारा एक साथ मिलकर नृत्य होता है।]

(घ) दूसरी बार प्रस्तुति

MALAVIKAGNIMITRAM OF KALIDASA*

(a drama of love and intrigue)

Production : Abhinaya Bharati, Varanasi

Direction

1. *General*
   (Dr.) Prem Lata Sharma
   (Dr.) Kamalesh Datt Tripathi
2. *Music*
   (Dr.) Prem Lata Sharma
3. *Dance*
   Sri Prem Chand Hombal
4. *Āhārya* (Costumes, make-up)
   Sri Vasudeva Smart
   Sri Prem Chand Hombal
   Sri Krishna Kant Sharma
   Kum. Layaleena Bhatt

Stage Structure

Sri Vasudeva Smart

Music

Vocal

1. Dr. Ritwik Sanyal
2. Km. Mamata Sen
3. Smt. Mangala Tiwari
4. Sri R. K. Govindarajan

Instrumental

1. Vamsa (flute)	Sri G. N. Das
2. Veena (Karnataka Rudraveena)	Sri M. V. B. Rao
3. Swaramaṇḍala and Shantoor	Mr. Annello Capuasso
4. Sarangi	Sri Vinod Kumar Misra
5. Mrindangam	Sri V. K. Chandrachoodamani
6. Pakhawaj	Sri Dinesh Kumar,
7. Kamsyatala	Sri Prem Chand Hombal
8. Chanda	Sri Neeraj Kumar

Dance

1. Km. Neelam Malhotra
2. Km. Varsha Malhotra
3. Km. Anjali Verma
4. Km. Neeru Vohra

Lighting

Sri Nirmal Mishra & Party.

Bhūmikā (Cast)

1. *Sūtradhāra*	Sri Krishna Kant Sharam
2. *Pāriprāśvika-s*	{Sri Prem Chand Hombal Sri Alok Chandra Pandey
3. Agnimitra (King)	Dr. Yugal Kishore Misra
4. Gautama (Vidūṣaka)	Dr. Kamlesh Datt Tripathi
5. Vāhataka (Amātya)	Sri Krishna Kant Sharma
6. Gāṇadasa (Ācārya)	Sri Prem Chand Hombal
7. Haradatta (Ācārya)	Sri Alok Chandra Pande
8. Maudgalya (Kañcuki)	Sri Gopal Lal Bhatt
9. Vaitālika-s	Sri Gopal Lal Bhatt Sri R.K. Govindarajan
10. Dhāriṇi Devī	Km. Rajani Mahendra
11. Mālavikā	Km. Layaleena Bhatt
12. Irāvatī	Km. Hema Krishanan
13. Paṇḍitakauśikī (Parivrājikā)	Km. Vratati Chakravarty
14. Sārasika (Parijana)	Sri Krishna Kant Sharma
15. Bakulāvalikā (")	Km. Geetasudha Bhatt
16. Kaumudikā (")	Km. S, Bhuvaneshwari
17. Mādhukarikā (Udyānapālikā)	Km. Maneesha Dixit
18. Samāhitikā (Ceṭī)	Km. Usha Pande
19. Nipunika (Ceṭī)	Km. Preeti Chaturvedi
20. Jyotsnikā (Śilpakārikā)	Km. Anjali Verma
21. Madanikā (")	Km. Neeru Vohra
22. Jayasenā (Pratihārī)	Km. V. Sreedevi
23. Nāgarikā (Ceti)	Km. Anita Dhar
24. Parijana	Sri S. G. Saundararajan Sri Ram Surat Sharma Km. Neelam Malhotra Km. Varsha Malhotra Km. Anjali Verma Km. Neeru Vohra

---

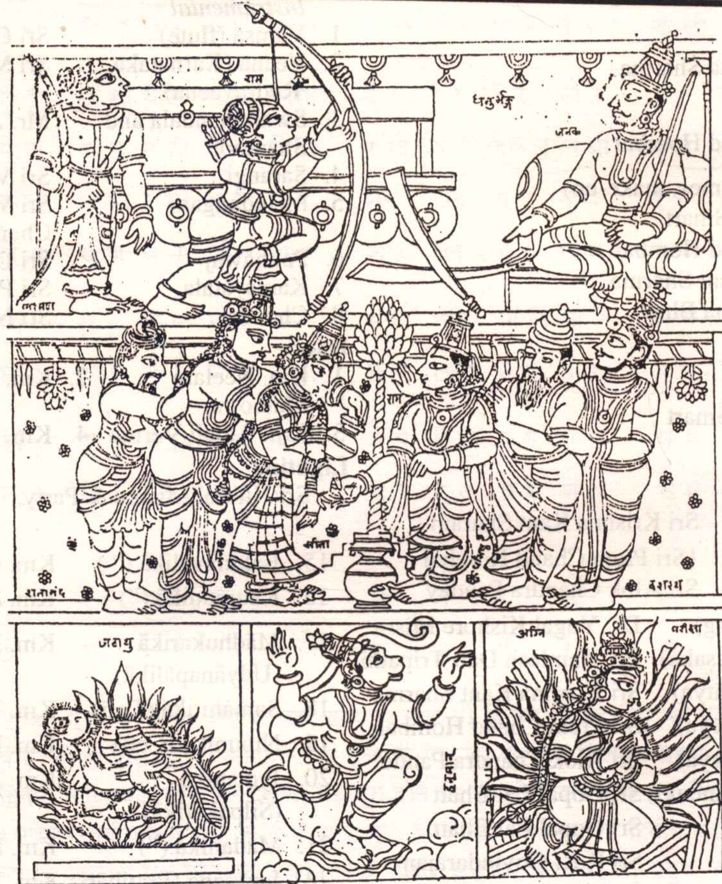
* विश्व-संस्कृत-सम्मेलन के अवसर पर अॅक्तूबर १९८१ में नागरी नाटकमण्डली प्रेक्षागृह में प्रस्तुत हुआ।

.६.

भवभूति-कृत

उत्तररामचरितम्

(प्रस्तुति-पुस्तिका)



उत्तर प्रदेश

संस्कृत अकादमी के नियोग से

अभिनय भारती

द्वारा प्रयोग

सोमवार ९ जनवरी १९७८

नागरी नाटक मण्डली प्रेक्षागृह, वाराणसी

निर्देशन

समग्र :—डॉ० प्रेमलता शर्मा (अध्यक्षा, संगीत शास्त्र विभाग का०हि०वि०)

सहनिर्देशन :—१. श्री को० वें० चन्द्रशेखर (प्राध्यापक, का०हि०वि०)
२. डॉ० कमलेशदत्त त्रिपाठी (प्राध्यापक, प्राच्यविद्या एवं धर्मविज्ञान संकाय)
३. डॉ० ऊर्मिला शर्मा (उच्चतर शोध-'फेलो', संस्कृत विभाग)

संगीत :—डॉ० प्रेमलता शर्मा

नृत्य :—श्री को०वें० चन्द्रशेखर

आहार्य :—१. श्रीमती जया चन्द्रशेखर (प्राध्यापिका, संगीत प्रविभाग)
२. श्री को०वें० चन्द्रशेखर
३. श्री वासुदेव स्मार्त (प्राध्यापक, का०हि०वि०)

रङ्गमण्डप-परिकल्पना एवं परियोजना :—श्री वासुदेव स्मार्त

सहायक चित्रकार :—१. श्री रवि पर्वतकर (छात्र, ललित कला प्रविभाग)
२. श्री नारायण (कला भवन)
३. कु० नीता वर्मा (छात्रा, महिला महाविद्यालय)

शिल्पी—श्री श्यामदास और साथी

अनुबोधन— १. डॉ० ऊर्मिला शर्मा
२. श्री कृष्णकान्त शर्मा (छात्र, संस्कृत विभाग)

रङ्गप्राश्निक—डॉ० विद्यानिवास मिश्र

कार्यक्रम-पुस्तिका : लेखन और सम्पादन :—प्रेमलता शर्मा, ऊर्मिला शर्मा

भूमिका-विन्यास

1. **सूत्रधार**—डॉ० कमलेशदत्त त्रिपाठी
2. **पारिपार्श्विक**—1. डॉ० युगल किशोर मिश्र (प्राध्यापक, सान्ध्य महाविद्यालय)
   2. श्री कृष्णकान्त शर्मा
3. **रामचन्द्र**—श्री को०वें० चन्द्रशेखर
4. **लक्ष्मण**—डॉ० कपिलदेव पाण्डेय (प्राध्यापक, आर्य महिला महाविद्यालय)
5. **जनक**—डॉ० कमलेशदत्त त्रिपाठी
6. **अष्टावक्र**—श्री सो० विजय कुमार (शोधछात्र, दर्शन विभाग)
7. **वाल्मीकि**—श्री विन्ध्येश्वरीप्रसाद मिश्र (छात्र, संस्कृत विभाग)
8. **सुमन्त्र**—श्री कृष्णकान्त शर्मा
9. **गृष्टि (कञ्चुकी)**—श्री गोपाल लाल भट्ट (शोध-सहायक, संगीतशास्त्र विभाग)

10. **दुर्मुख**—श्री विन्ध्येश्वरीप्रसाद मिश्र (छात्र, संस्कृत विभाग)
11. **शम्बूक (शूद्रतापस)**—श्रीरामप्रभा ओझा (छात्र, संस्कृत विभाग)
12. **कुश**—श्री प्रभास तिवारी (छात्र, ऐंग्लो बङ्गाली विद्यालय)
13. **लव**—श्री राहुल भट्ट (छात्र, सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल)
14. **चन्द्रकेतु (लक्ष्मणपुत्र)**—कु० चित्रा चन्द्रशेखर (छात्रा, वसन्त कन्या महाविद्यालय)
15. **दाण्डायन (मुनिकुमार)**—श्री विभास भट्ट (छात्र, सेण्ट्रल हिन्दू स्कूल)
16. **सौधातकि (मुनिकुमार)**—श्री पारिजात त्रिपाठी (छात्र, सेण्ट्रल हिनदू स्कूल)
17. **बटु (मुनिकुमार)**—श्री सो० विवेककुमार (छात्र, केन्द्रिय विद्यालय)
18. **सैनिक**—श्री रामप्रभा ओझा
19. **सीतादेवी**—श्रीमती जया चन्द्रशेखर
20. **अरुन्धती**—डॉ० ऊर्मिला शर्मा
21. **कौशल्या**—कु० हेमा कृष्णन् (छात्रा, संस्कृत विभाग)
22. **वासन्ती (वनदेवता)**—कु० लयलीना भट्ट (छात्रा, महिला महाविद्यालय)
23. **तमसा (नदी देवता)**—कु० स्वरवन्दना भट्ट (छात्रा, संस्कृत विभाग)
24. **आत्रेयी (तापसी)**—कु० नीला व्यास (छात्रा, गान विभाग)
25. **मुरला (नदी-देवता)**—कु० मनीषा दीक्षित (छात्रा, सेण्ट्रल हिन्दू बालिका विद्यालय)
26. **भागीरथी (गङ्गादेवी)**—कु० शीला ज्योतिषी (छात्रा, संस्कृत विभाग)
27. **वसुन्धरा (पृथ्वीदेवी)**—कु० नीला व्यास

28.,29. **पौरस्त्रियाँ**—कु० अलका गुप्त (प्राध्यापिका, सेन्ट्रल हिन्दू बालिका विद्यालय)
कु० श्यामली दास (छात्रा, वसन्त कन्या महाविद्यालय)

30. **अन्तर्नाटक की सीता**—कु० हेमा कृष्णन्
31. **अन्तर्नाटक का सूत्रधार**—डॉ० युगलकिशोर मिश्र

नेपथ्य-पाठ

डॉ० युगलकिशोर मिश्र

नेपथ्य-सङ्गीत

गीत— 1. डॉ० चित्तरञ्जन ज्योतिषी (प्राध्यापक, गान विभाग)
2. डॉ० वनमाला पर्वतकर (प्राध्यापिका, आर्यमहिला महाविद्यालय)
3. डॉ० ज्योत्स्नामयी मुखर्जी (प्राध्यापिका, महिला महाविद्यालय)
4. श्री ऋत्विक् सान्याल (शोध छात्र, संगीतशास्त्र विभाग)
5. श्रीमती मीनाक्षी दास

वाद्य— 1. वंशी—श्री राधेश्याम जायसवाल (केन्द्रिय कार्यालय, का०हि०वि०)
2. सारङ्गी—श्री नारायण मिश्र
3. वीणा—श्री मुरकल वीरभद्र राव (प्राध्यापक, वाद्य विभाग)
4. सितार—कु० एलेन माइनर (शोध छात्रा, संगीतशास्त्र विभाग)
5. मृदङ्गम्—श्री तंजावूर श० नटराजन्
6. पखावज—श्री कृष्णदास गुजराती
7. कांस्यताल—श्री को०वें० चन्द्रशेखर
8. तालधर—श्री तेजसिंह (शोघ छात्र, संगीतशास्त्र विभाग)

नृत्य— 1. कु० अलका गुप्त
2. कु० चित्रा चन्द्रशेखर
3. कु० लयलीना भट्ट
4. कु० श्यामली दास

कथासार

प्रस्तावना में सूत्रधार और नट के वार्तालाप से यह सूचना मिलती है कि रामचन्द्र के राज्याभिषेक का उत्सव पूरा हो चुका है, सब इष्ट-मित्र, बन्धुजन, ऋषि-मुनि अपने-अपने स्थानों को लौट गये हैं, कुलगुरु वसिष्ठ और मातायें दशरथ की कन्या शान्ता के पति ऋष्यशृङ्ग के यज्ञ में चले गये हैं। यह यज्ञ 12 वर्ष तक चलने वाला है। यद्यपि जानकी पूर्णगर्भा हैं, तथापि जामाता के आग्रह से उन्हें छोड़ कर सभी गुरुजनों को जाना पड़ा है।

राजा की स्तुति की उचित पद्धति के विषय में नट के प्रश्न के उत्तर में सूत्रधार कहता है कि कुछ भी करो, पूरी निर्दोषता कहाँ आ पाती है ? वाणी और स्त्री की शुद्धता के प्रति लोग शङ्किल ही रहते हैं। यह जन-सामान्य की दुर्जनता है। तब नट बताता है कि लोग तो दुर्जन ही नहीं, अतिदुर्जन हैं, क्योंकि वे देवी वैदेही के विषय में भी अपवाद फैला रहे हैं। सूत्रधार आशङ्का प्रकट करते हैं कि यदि कहीं यह लोकापवाद राम के .कानों तक पहुँच जाय तो बड़ा अनर्थ होगा। नट समाधान करता है कि ऋषिगण एवं देवगण ही सर्वथा मङ्गल करेंगे।

विदेहराज भी अभिषेकोत्सव में सम्मिलित हुए थे और आज ही मिथिला लौट गये हैं। अत: सीता उदास है और राम उन्हें सान्त्वना देने के लिये न्यायासन से उठकर अन्त:पुर में आये हैं—इस सूचना के साथ प्रस्तावना पूरी होती है।

प्रथम अङ्क (चित्रदर्शन)

रामचन्द्र सीता देवी को आश्वस्त कर रहे हैं, इतने में कञ्चुकी ऋष्यशृङ्ग के आश्रम से मुनि अष्टावक्र के आने की सूचना देता है। अष्टावक्र कुलगुरु वसिष्ठ का सीता के प्रति सन्देश कहते हैं कि विश्वम्भरा (पृथ्वी) और जनक की पुत्री और सूर्यकुल की वधू वीरप्रसवा हों, यही गुरुजनों की आशीर्मय अभिलाषा है। राम इस गुरुवाक्य की अमोघता के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हैं। माताओं ने और बहन शान्ता ने कहलाया है कि सीता को जो कुछ भी गर्भदोहद हो, वह अवश्य ही तत्काल पूरा किया जाय। मुनि ऋष्यशृङ्ग ने भी यह सन्देश भेजा है कि पूर्णगर्भा होने के कारण जानकी को यज्ञ में नहीं बुलाया है और रामभद्र को भी उन्हीं का मन बहलाने के लिये अयोध्या में रखा है। अब तो उन्हें पुत्रसहित ही देखेंगे। वसिष्ठ ने राम के प्रति सन्देश भेजा हैं कि राज्य नया है और वे बालक हैं। उन्हें प्रजाओं के अनुरञ्जन में तत्पर रहना चाहिये, जिससे कीर्ति हो और रघुकुल की प्रतिष्ठा

बनी रहे। राम उत्तर देते हैं कि लोक की आराधना के लिये स्नेह, दया, सौख्य, यहाँ तक कि जानकी को भी छोड़ने में उन्हें व्यथा नहीं होगी। सीता इस दृढ़ता की प्रशंसा करती हैं।

अष्टावक्र के जाते ही लक्ष्मण का प्रवेश होता है। वे अर्जुन नामक चित्रकार द्वारा रामचरित से चित्रित वीथी (गलियारा) देखने का अनुरोध करते हैं। राम पूछते हैं कि कहाँ तक का चरित चित्रित है ? लक्ष्मण उत्तर देते हैं कि सीता की अग्निपरिशुद्धि तक। अग्निशुद्धि की बात उठते ही राम उद्विग्न हो उठते हैं और कहते हैं कि जो जन्म से ही अत्यन्त पावन हैं उन्हें पवित्र बनाने वाला कौन हो सकता है ? तीर्थ के जल और अग्नि के सदृश सीता तो स्वयं ही शुद्ध हैं, उन्हें और कौन शुद्ध कर सकता है ? सीता को आश्वस्त करते हुए राम कहते हैं कि यह तो जन्म भर कि लिये प्रवाद हो ही गया। सीता स्वस्थचित्त होकर चित्रदर्शन को प्रस्तुत होती हैं।

सर्वप्रथम राम की स्तुति करते हुए जृम्भकास्त्रों पर सीता की दृष्टि पड़ती है। ये अस्त्र कृशाश्व से विश्वामित्र को और उन से राम को मिले हैं। राम कहते हैं कि ये दिव्यास्त्र अब सीता की सन्तति को प्राप्त होंगे।

मिथिला में जनक की सभा में राम द्वारा शिवधनुर्भङ्ग, चारों भाइयों का विवाह, अयोध्या में आगमन, वनवास के लिये जटा-संयमन, निषादराज से मिलन, भागीरथी दर्शन इत्यादि वृत्तान्तों के चित्र देखने के पश्चात् जब शूर्पणखा का चित्र सामने आता है, बत सीता रावण द्वारा हरण के पूर्व-वृत्तान्ता को साक्षात् जैसा अनुभव करती हुई कह उठती हैं 'हा! आर्यपुत्र! यहीं तक आपका दर्शन है।' राम सान्त्वना देते हैं कि यह तो चित्र है। इसके बाद, सीता के विरह में राम की व्यथा के कुछ चित्र है, जिनको देखकर वे दोनों विषाद से भर उठते हैं। सीता को थकी हुई देखकर लक्ष्मण चित्रदर्शन के क्रम को रोक देते हैं। तभी सीता यह इच्छा प्रकट करती है कि पुनः एक बार घने वन में विचरण करते हुए प्रसन्नपुण्यसलिला भागीरथी में अवगाहन करें। राम तत्काल लक्ष्मण को आज्ञा देते हैं कि अस्खलितगति वाला रथ शीघ्र ही प्रस्तुत किया जाय।

लक्ष्मण के निष्क्रमण के बाद थकी हुई सीता राम के बाहु का सहारा लिये हुए सो जाती हैं। राम अनिर्वचनीय सुख का अनुभव कर रहे हैं, इतने में प्रतिहारी दुर्मुख नामक गुप्तचर के आने की सूचना देती है। दुर्मुख प्रजाजनों की सीता के लङ्कावास के विषय में शङ्का सूचित करता है। यह वाग्वज्र राम को मर्माहत कर देता है। वे तत्काल कोई घोर निर्णय कर डालते हैं और तत्सम्बन्धी आदेश लक्ष्मण तक पहुँचाने के लिये दुर्मुख से कहते हैं। दुर्मुख के चले जाने पर राम के स्वगत विलाप से यह पता चलता है कि उन्होंने सीता को छल से मृत्यु के मुख में देने का कठोर निर्णय किया है। इन्हीं घोर उद्वेग के क्षणों में सूचना मिलती है कि मथुरा में लवणासुर का त्रास बढ़ गया है और ऋषि लोग त्राण की कामना करते हुए आये हैं लवणासुर के दमन के लिये राम शत्रुघ्न को भेजने का सङ्कल्प करते हैं। पुनः तत्काल उनका चित्त सीता की चिन्ता से व्यग्र हो उठता है। तब वे भगवती वसुन्धरा से प्रार्थना करते हैं कि वे अपनी बेटी की रक्षा करें। पहले चित्रदर्शन के समय वे भगवती भागीरथी से प्रार्थना कर चुके हैं कि वे सीता की मङ्गलकामना करें।

घोर मर्माहत दशा में राम का निष्क्रमण होता है। सीता चौंक कर जाग उठती हैं। राम को अपने पास न देखकर चकित होती हैं, इतने में दुर्मुख सूचना देता है कि लक्ष्मण ने कहलाया है कि रथ तैयार है। रघुकुल देवताओं को प्रणाम करके सीता रथ पर आरूढ़ होने जाती है।

द्वितीय अङ्क का विष्कम्भक

पञ्चवटी के तपोवन में आत्रेयी नाम की तापसी का प्रवेश होता है। वह वाल्मीकि आश्रम से आई है और अगस्त्य-आश्रम का पथ वनदेवता वासन्ती से पूछती है। वह बताती है कि वाल्मीकि के आश्रम में अत्यन्त प्रतिभाशाली दो बालक किसी देवता द्वारा लाये गये हैं। उनके नाम हैं कुश लव। वे स्तन्यपान त्याग की वयस् में आये। वाल्मीकि ने उन्हें दस वर्ष के होने तक त्रयी (वेद-वेदाङ्ग) को छोड़कर शेष तीनों विद्याओं* का अध्ययन कराया। दशम वर्ष में उपनयन करके उन्हें त्रयी विद्या में भी परिनिष्ठित

*** आन्वीक्षिकी (प्रधानतः न्याय-मीमांसा, किन्तु व्यापक रूप से समग्र दर्शन), वार्ता (इतिहास-पुराण साहित्य) और दण्डनीति—ये तीन विद्यायें हैं —ऊर्मिला।**

कर दिया गया है। ऐसे अतिदीप्त प्रज्ञा वाले बालकों के साथ सामान्य विद्यार्थियों का अध्ययन सम्भव नहीं, इसलिये आत्रेयी किसी अन्य गुरुकुल की खोज में है। उक्त बालकों को जृम्भकास्त्र भी जन्मसिद्ध हैं।

आत्रेयी से ही यह भी सूचना मिलती है कि व्याध द्वारा क्रौञ्च पक्षी के जोड़े में से एक के बध को वाल्मीकि ने देखा और अकस्मात् आविर्भूत अनुष्टुप् छन्द के रूप में परिणत वाणी का उद्गार उनके मुख से निकला।*

छन्द के इस नूतन अवतार को देखकर ब्रह्मा ने वाल्मीकि से कहा कि वे आदिकवि हैं। उन्हें आर्ष दृष्टि प्राप्त होगी। वे रामचरित का वर्णन करें। ब्रह्मा के इस आदेश के अनुसार वाल्मीकि ने आदि काव्य का प्रणयन किया है।

जब आत्रेयी को पता चलता है कि वह गोदावरी के निकट पञ्चवटी-प्रदेश में पहुँच चुकी है, तो वह शोक-विह्वल होकर जानकी का स्मरण करती है। इस विह्वलता से चौंक कर वासन्ती जो कुछ पूछती है, उसके उत्तर में आत्रेयी सूचित करती है कि जनापवाद के कारण राम ने जो आदेश दिया, तदनुसार लक्ष्मण सीता को गङ्गातीर पर अकेली छोड़ कर लौट गये। उसके बाद क्या हुआ, यह किसी को पता नहीं है। ऋष्यशृङ्गाश्रम में बारह वर्ष का यज्ञ पूरा होने पर वहाँ से जब गुरुजन विदा हुए तो अरुन्धती ने कहा कि वे सीताविहीन अयोध्या में नहीं जाएँगी। माताओं ने भी उन्हीं की बात का अनुमोदन किया। अब वसिष्ठ उन सबको लेकर वाल्मीकि के आश्रम में जा रहे हैं। उधर राम ने अश्वमेध-यज्ञ आरम्भ किया है और सीता की सोने की प्रतिमा को सहधर्मिणी मानकर धर्म का निर्वाह कर रहे हैं। यज्ञ के अश्व की रक्षा के लिए लक्ष्मण के पुत्र चन्द्रकेतु को सेनापति बनाकर भेजा गया है।

आत्रेयी यह भी बताती है कि किसी ब्राह्मण के बालक की अकाल मृत्यु हो गई और उसने राजद्वार पर मृत पुत्र को डाल कर हाहाकार किया। करुणामय राम को लगा कि राजा के दोष के बिना प्रजा में ऐसा अनर्थ नहीं हो सकता। उसी समय आकाशवाणी हुई कि शम्बूक नाम का शूद्र तप कर रहा है, उसका बध करके राम ब्राह्मण-पुत्र को जीवित करें। यह सुनते ही राम पुष्पक विमान पर आरूढ़ होकर सब ओर शूद्र तपस्वी की खोज में घूम रहे हैं। वासन्ती जानती है कि शम्बूक उसी प्रदेश में तप कर रहा है। राम पुनः वहाँ पधारेंगे इस आशा में हर्ष की एक तरङ्ग उस के शोक-विह्वल चित्त में उठती है।

द्वितीय अङ्क (पञ्चवटी-प्रवेश)

राम शम्बूक का बध करते हैं, वह तत्काल दिव्य शरीर में प्रकट होता है और ब्राह्मण-पुत्र के जीवित हो उठने की सूचना देता है। दण्डकारण्य, पञ्चवटी इन चिर-परिचित स्थानों को देखकर राम सीता की स्मृति में दुःखी होते हैं। दिव्य पुरुष (शम्बूक) अगस्त्य का निमन्त्रण लेकर पुनः आता है और तदनुसार राम पञ्चवटी से क्षमा माँगते हुए अगस्त्य-आश्रम की ओर प्रस्थान करते हैं।

तृतीय अङ्क का विष्कम्भक

तमसा और मुरला नाम की नदियों के वार्तालाप से पता चलता है कि लोपामुद्रा (अगस्त्य-पत्नी) आदि गुरुजनों को चिन्ता है कि सीता-विरह से अत्यन्त दुःखी राम जब पञ्चवटी आदि प्रदेशों में विचरण करेंगे और मधुर स्मृतियों का उद्दीपन होगा तो वे सर्वथा शोक-मग्न हो जाएँगे। अतः गोदावरी से कहा गया है कि वे सावधान रहें। यह भी सूचना मिलती है कि सीता को वाल्मीकि तपोवन के पास छोड़कर लक्ष्मण जब लौट गए तो प्रसव-वेदना और राम द्वारा परित्याग के दारुण दुःख-संवेग से मर्माहत सीता गङ्गा में कूद गईं। गङ्गा की धारा में ही दो पुत्रों का जन्म हुआ, गङ्गा और पृथ्वी दोनों देवियों ने उन्हें सम्हाला और रसातल में ले गई। स्तन्यत्याग होते ही बालकों को स्वयं गङ्गा देवी वाल्मीकि के आश्रम में पहुँचा आई। अब शम्बूक-वृत्तान्त को सरयू से सुनकर गङ्गा देवी ने लोपामुद्रा की भाँति ही राम के अनिष्ट से आशङ्कित होकर उनकी जीवनरक्षा का एक उपाय सोचा है। सीता से उन्होंने कहा है कि आज कुश-लव की बारहवीं वर्ष-गाँठ है, अतः वे रसातल से सूर्य-पूजा के लिये पृथ्वी पर आयें, गङ्गा के प्रभाव से उन्हें वनदेवता भी नहीं देख सकेंगी, मनुष्यों को तो कहना ही क्या? तमसा को भी गङ्गा ने आदेश दिया है कि वे जानकी के साथ-साथ रहें। निष्क्रमण के समय ये दोनों दूर से आती हुई सीता को देखती हैं और मूर्तिमती विरह-व्यथा के रूप में उसका वर्णन करती हैं।

---

* मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः। यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

तृतीय अङ्क (छाया)

नेपथ्य से वासन्ती का स्वर सुनाई देता है—'बेटे! बेटे!'। प्रवेश करती हुई सीता चौंक कर कहती हैं कि यह तो प्रिय सखी वासन्ती का कण्ठ है, पुनः नेपथ्य से वही स्वर यह कहता सुनाई देता है कि सीता देवी ने अपने हाथों जिस हाथी के बच्चे को पाला था उस पर किसी बड़े मतवाले हाथी ने आक्रमण किया है। सहज प्रतिक्रिया के रूप में सीता कह उठती हैं—'आर्यपुत्र! मेरे बेटे को बचाइये!' अगले ही क्षण अपनी स्थिति का भान होते ही वे शोकोद्वेग से मूर्च्छित हो जाती हैं। तमसा आकर उन्हें सान्त्वना देती है। इतने में नेपथ्य से राम का स्वर सुनाई देता है—'विमानराज! यहीं ठहरो।' ये शब्द कान में पड़ते ही सीता की मूर्छा टूटती है और वे निश्चित समझती हैं कि यह राम का ही स्वर है। तमसा बताती है कि शूद्रतपस्वी को दण्ड देने के लिये राजा राम दण्डकारण्य में आये हैं। पुनः नेपथ्य से राम के स्वर में गोदावरी-तीरवर्ती पर्वत-प्रदेश का सीता स्मृति से भींगा वर्णन सुनाई देता है। सीता दूर से उनके क्षीण तनु को देखकर अत्यन्त दुःखी होती हैं, इतने में 'हा जानकी!' कहते हुए राम प्रवेश करते ही मूर्च्छित हो जाते हैं। सीता की विह्वलता का पार नहीं रहता। तमसा उन्हें अपने कर-स्पर्श द्वारा राम को सञ्जीवित करने को प्रेरित करती हैं। सीता के स्पर्श से राम की मूर्छा टूटती है। सीता के अदृश्य होने के कारण वे वस्तुस्थिति को समझ नहीं पाते। राम के विभ्रम, उन्माद दशा तक पहुँचे हुए विरह को देख-सुन कर सीता अपने अकारण-परित्याग-शल्य को भूल कर पुलकित हो उठती हैं। इतने में वासन्ती पुनः उस हाथी की विपत्ति से घबराई हुई प्रवेश करती है एवं राम से उसकी रक्षा का अनुरोध करती है। राम का अनुसरण करते हुए सीता उस युवा हाथी को देखती हैं और उन्हें कुश-लव का स्मरण हो आता है कि इस दीर्घ काल में वे न जाने कितने बड़े हो गये होंगे, कैसे होंगे! केवल आर्यपुत्र का विरह नहीं, पुत्र-विरह भी उन्हें सालता है। तमसा सान्त्वना देती हुई कहती हैं कि देवता-प्रसाद से सब मङ्गल होगा।

वासन्ती राम को दिखाती है कि जिस मोर को सीता ने स्नेह से पाला था, वह कदम्ब पर बैठा बोल रहा है। राम उस मोर के प्रति पुत्र की भाँति वात्सल्य प्रकट करते हैं और कहते हैं कि अरे पशु-पक्षी भी परिचय का मान रखते हैं! सीता द्वारा पाले हुए कदम्ब वृक्ष को भी वे पहचानते हैं। वासन्ती अन्य पूर्व-परिचित स्थानों को दिखाती है। सीता राम के दुःख को सह नहीं पातीं। वासन्ती जब राम को 'महाराज' सम्बोधन कर के 'कुमार लक्ष्मण' का कुशल पूछती है, तब राम सोचते हैं कि शायद वासन्ती को सीता-वृत्तान्त मालूम हो चुका है। इसके बाद वासन्ती जब राम को उनके 'दारुण कर्म' के लिये उपालम्भ देती है तब सीता उसकी कठोरता का अनुमोदन नहीं कर पातीं। पुनः राम का हृदय-विदारक विलाप चलता है। और वे फिर एक बार मूर्च्छित होते हैं। तमसा के अनुरोध से सीता फिर एक बार राम को स्पर्श करती हैं। उस समय राम के सुखानुभव-सूचक उद्गारों को वासन्ती उन्माद समझती है क्योंकि सीता उसके लिये भी अदृश्य है। सीता का हाथ छूट जाने पर राम पुनः दारुण दशा में पहुँच जाते हैं। कुछ देर बाद वे वासन्ती से विदा लेकर चले जाते हैं, सीता विह्वल होकर 'दुर्लभ दर्शन' राम को जाते हुए देखती हैं। वासन्ती राम को देखते हुए और तमसा सीता को देखते हुए एक ही मङ्गल पद्य एक साथ पढ़ती हैं।

चतुर्थ अङ्क का विष्कम्भक

दाण्डायन और सौधातकि नाम के वाल्मीकि-तपोवन के वासी दो मुनि कुमारों के वार्तालाप से यह सूचना मिलती है कि ऋष्यशृङ्ग-आश्रम से अरुन्धती एवं महाराज दशरथ की पत्नियों को लेकर वसिष्ठ वाल्मीकि आश्रम में आये हैं। यह भी पता चलता है कि सीता के दैव-दुर्योग की बात सुनकर जनक तपस्वी हो गये हैं और वे भी वाल्मीकि से मिलने आज ही इस आश्रम में आये हैं। वसिष्ठ ने अरुन्धती को कौशल्या के पास भेजा है कि वे दोनों जाकर स्वयं ही जनक से मिलें।

चतुर्थ अङ्क (कौशल्या-जनक-योग)

जनक का अत्यन्त शोकाकुल अवस्था में प्रवेश होता है। उन्हें न जीवन सह्य है, न आत्महत्या का मार्ग प्रशस्त है। अनेक प्रकार की कठोर तपस्याओं से शरीर का शोषण होने पर भी प्राण छूट नहीं रहे हैं। देवयजन-सम्भवा सीता की ऐसी परिणति हुई है जिससे लज्जा के कारण खुल कर रोना भी कठिन है। पृथ्वी भी कितनी कठोर है कि उन्होंने अपनी चिर-पवित्र पुत्री के

परित्याग को सहन कर लिया। इस प्रकार के अतिदारुण परिताप के क्षणों में गृष्टि (कञ्चुकी) के साथ अरुन्धती और कौशल्या का प्रवेश होता है। जनक दूर से कौशल्या को देखकर कहते हैं कि कौन इन्हें पहचान सकता है? कौशल्या जनक के सामने जाने में अत्यन्त सङ्कोच कर रही हैं। अरुन्धती उन्हें वसिष्ठ के आदेश का स्मरण दिलाती हैं। वन में परित्यक्ता वधू जानकी के पिता के सामने कौशल्या क्या मुँह लेकर जायें! इन क्षणों में महाराज दशरथ के जीवनकाल के बीते दिनों की स्मृति कौशल्या के चित्त को मथ रही है। जनक अरुन्धती को प्रणाम करते हैं और 'प्रजापालक' की माता का कुशल, गृष्टि से पूछते हैं। गृष्टि इस उपालम्भ की निष्ठुरता को समझ कर जनक को उत्तर देते हैं कि इसी (सीता-परित्याग-जनित) कोप के कारण तो कौसल्या ने रामभद्र का आज तक मुँह तक नहीं देखा है, अतः इन अतिदुःखिता देवी को और अधिक दुःखी करना उचित नहीं। रामभद्र का भी कोई दैवदुर्योग ही था। चारों ओर पौरजनों की बीभत्स किंवदन्ती फैल रही थी, अग्निशुद्धि पर बहुतों को विश्वास नहीं था इसलिये राम ने यह दारुण कर्म कर डाला।

अग्निशुद्धि का नाम आते ही जनक भड़क उठते हैं और कहते हैं कि उनकी बेटी को शुद्ध करने वाला अग्नि कौन होता है? अरुन्धती उनका समर्थन करती है और सीता को जगद्वन्द्या बताती है। असह्य वेदना से कौशल्या मूर्च्छित हो जाती है। तब जनक को अपनी कठोरता का भान होता है और कौशल्या के प्रति करुण भाव का उदय। मूर्च्छा से उठकर पुनः कौशल्या सीता के स्निग्ध स्मरण में डूब जाती हैं, अरुन्धती यह कह कर सान्त्वना देती हैं कि कुलगुरु ने कहा ही है कि जो भवितव्यता थी वह हो गई, किन्तु परिणाम कल्याणमय ही होगा।

इतने में खेलते हुए बटुओं का कोलाहल सुनाई देता है। सबका ध्यान उधर जाता है और कौशल्या विशेष रूप से उनमें से एक के प्रति आकर्षित होती है क्योंकि उसमें उन्हें राम की बालमूर्ति का सादृश्य दिखाई देता है।

यहीं पर अरुन्धती का स्वगत-वचन है कि भगवती भागीरथी उन्हें यह रहस्य बता चुकी हैं कि कुश-लव वाल्मीकि के आश्रम में पल रहे हैं, किन्तु वे यह नहीं जानतीं कि यह बालक कुश है या लव। जनक गृष्टि को वाल्मीकि से इस बालक का परिचय पूछने के लिए भेजते हैं और उसे उन लोगों के पास बुला लाने को भी कहते हैं। वह बालक आकर 'लव' नाम से अपना परिचय देता हुआ प्रणाम करता है। कौशल्या को उसके प्रति सहज वात्सल्य उमड़ता है, उसके मुख में न केवल रामभद्र का, अपितु सीता का भी सादृश्य उन्हें दिखाई देता है। लव को अपने माता-पिता के बारे में कुछ भी पता नहीं है, रामायण की कथा भी उसे वहीं तक ज्ञात है, जहाँ लक्ष्मण सीता को वन में छोड़कर लौट गए हैं। इसके बाद की कथा वाल्मीकि ने लिखी तो है, किन्तु प्रकाशित नहीं की है। उसी कथा का कोई एक भाग अभिनेय (नाटक) के रूप में निबद्ध करके भरत मुनि के आश्रम में भेजा है। वे अप्सराओं के द्वारा उसका प्रयोग करायेंगे। जिन अन्तेवासियों के हाथ वाल्मीकि की यह स्वहस्त-लिखित पुस्तक भेजी गई है, उनकी रक्षा के लिये धनुर्धर कुश को भेजा गया है। प्रसवानुक्रम से ही वह लव का ज्येष्ठ भ्राता है। ये दोनों जुड़वाँ भाई हैं। ये सब बातें वार्ता-प्रसङ्ग से लव बताता है। इसी बीच नेपथ्य से कोई सैनिक कुमार चन्द्रकेतु की आज्ञा सुनाता है कि आश्रम के निकट की भूमि पर कोई आक्रमण न करे। लक्ष्मणात्मज चन्द्रकेतु के प्रसङ्ग से तीनों वृद्ध प्रसन्न होते हैं। सीता-परित्याग की बात पुनः उठते ही जनक पुनः क्रुद्ध हो उठते हैं और चाप अथवा शाप से राम एवं दुरात्मा पौरजनों का निग्रह करना चाहते हैं। कौशल सहम कर परित्राण की याचना करती है, तब जनक मृदु पड़ते हैं। तभी लव को पुकारते हुए कुछ मुनि-कुमारों का प्रवेश होता है। वे 'अश्व' नाम के किसी प्राणी को देखकर आये हैं। लव ने अश्व के बारे में पढ़ा तो सब कुछ है, किन्तु उसे देखा नहीं है। इसलिये बड़े कुतूहल से वह बटुओं से अश्व का वर्णन सुनता है। वे लोग उसे अश्व दिखाने के लिये ले ही जाते हैं। कौशल्या ठगी-सी रह जाती है।

इस समय गृष्टि आकर बताता है कि वाल्मीकि ने कहा है कि समय आने पर सब पता चलेगा। जनक इस कथन में किसी गूढ़ रहस्य का सङ्केत पाते हैं, और सबको साथ लेकर वाल्मीकि के पास जाने को निकलते हैं।

लव के साथ बटुओं का पुनः प्रवेश होता है! लव बताता है कि जो अश्व दिखाई दे रहा है वह अश्वमेध यज्ञ का है। नेपथ्य से अश्व के विषय में वीर घोषणा सुनाई देती है। लव का क्षात्र-तेज उद्दीप्त होता है। और वह बटुओं से कहता है कि ढेले मार कर उस अश्व को आश्रम में ले चलें। इतने में एक सैनिक आकर कहता है "दुर्दान्त चन्द्रकेतु के आने से पहले ही

तुम लोग यहाँ से भाग जाओ।'' लव अविचलित रहता है किन्तु बटुगण डर कर भाग जाते हैं। लव अपने अस्त्र सम्भालता हुआ सैनिकों की ओर जाता है।

पञ्चम अङ्क (कुमार-विक्रम)

सेना के साथ लव का घोर युद्ध चल रहा है, इतने में रथारूढ़ चन्द्रकेतु के आ जाने से सेना को सहारा मिलता है। ऐसी सूचना नेपथ्य से सुनाई देती है सुमन्त्र द्वारा चालित रथ पर आरूढ़ चन्द्रकेतु का प्रवेश होता है। चन्द्रकेतु और सुमन्त्र दोनों नेपथ्य में युद्धरत लव के शौर्य को देख कर आश्चर्य-चकित होते हैं। सुमन्त्र को विश्वामित्र के यज्ञ के विघ्नकारी राक्षसों का दमन करने वाले रघुनन्दन का स्मरण हो आता है। चन्द्रकेतु के आह्वान पर लव प्रवेश करता है। किन्तु जिन सैनिकों को वह हरा चुका है, वे लोग चन्द्रकेतु का बल पाकर पुन: घिर आते हैं। चन्द्रकेतु के साथ संवाद में विघ्न उपस्थित करने वाले इन सब सैनिकों को लव जृम्भकास्त्र द्वारा स्तम्भित कर देता है। तत्काल सब कोलाहल शान्त हो जाता है। जृम्भकास्त्र के प्रयोग से सुमन्त्र चौंकते हैं। क्योंकि उन्हें मालूम है कि ये अस्त्र सम्प्रदाय-विशेष से ही प्राप्त हो सकते हैं। परस्पर अभिमुखता होते ही लव और चन्द्रकेतु दोनों को सहज आकर्षण का अनुभव होता है। लव को देखते ही सुमन्त्र का चित्त कुछ सोच कर विह्वल हो उठता है, किन्तु वे सोचते हैं कि मनोरथ का बीज ही जब नष्ट हो चुका है, तब आशा को कहाँ स्थान है?

चन्द्रकेतु और लव के वार्तालाप-क्रम में लव द्वारा राम के शूर्पणखा-निग्रह, बालिवध इत्यादि कर्मों की प्रखर आलोचना होती है। चन्द्रकेतु क्रुद्ध हो उठता है और लव उसे युद्धभूमि में ले जाता है।

षष्ठ का विष्कम्भक

विद्याधर और विद्याधरी के संवाद में लव और चन्द्रकेतु के दिव्यास्त्र-सम्पन्न घोर युद्ध का वर्णन होता है। अन्त में यह सूचना मिलती है कि शम्बूक का वध करके लौटते हुए राम ने मधुर स्निग्ध वचनों से दोनों का युद्ध रोक दिया है और वे दोनों के बीच अपना विमान उतार रहे हैं।

षष्ठ अङ्क (कुमार-प्रत्यभिज्ञान)

राम, चन्द्रकेतु और लव का प्रवेश होता है। चन्द्रकेतु लव का परिचय प्रिय सखा कहते हुए देता है। और उसे भी अपने ही समान राम का स्नेहभाजन बनाना चाहता है। राम लव की आकृति देखते ही मुग्ध हो उठते हैं। लव चन्द्रकेतु से पूछता है कि ये 'तात' रामायण के चार कथा-पुरुषों में से कौन से हैं? वे रघुनाथ हैं—यह जान कर वह अत्यन्त विनय से प्रणाम करता है। राम उसके स्पर्श से अत्यन्त आनन्दित होते हैं। चन्द्रकेतु बताता है कि लव ने जृम्भकास्त्रों का प्रयोग किया था। राम उसे अस्त्र लौटा लेने को कहते हैं और चन्द्रकेतु को सेना की सान्त्वना के लिये भेज देते हैं। जृम्भकास्त्र लव को कहाँ से प्राप्त हुए, राम के इस प्रश्न के उत्तर में लव कहता है कि उसे और उसके भाई को ये अस्त्र स्वत: सिद्ध हैं। राम सोच में पड़ जाते हैं। दूसरा भाई कहाँ है? ऐसा राम के पूछते ही नेपथ्य से कुश का स्वर सुनाई पड़ता है। लव बताता है कि कुश भरताश्रम से लौट आया है। कुश वीरोचित दर्पयुक्त वचन बोलता हुआ प्रवेश करता है। राम उस पर भी मुग्ध हो उठते हैं।

लव से कुश को पता चलता है कि स्वयं रघुनन्दन यहाँ उपस्थित हैं। वह भी दर्प छोड़कर विनयपूर्वक प्रणाम करता है। राम को दोनों बालकों की आकृति में न केवल अपने वंश का 'संवाद' दिखाई देता है, अपितु जानकी के रूप की भी झलक मिलती है। सोचते हैं कि यही वह अरण्य भाग है जहाँ जानकी को छोड़ा गया था। उस घटना को जितना काल बीता है, उतनी ही इन बालकों की वयस् है। चित्रदर्शन के प्रसङ्ग में उन्होंने स्वयं सीता से कहा था कि जृम्भकास्त्र उनकी सन्तान को प्राप्त होंगे। बिना सम्प्रदाय के ये अस्त्र किसी को मिल नहीं सकते। सीता की गर्भिणी अवस्था में दो जीवों का चिह्न भी था। यह सब कुछ सोच कर वे विह्वल होते हैं और बालकों से कुछ पूछना चाहते हैं। इतने में लव उनके आँसुओं का कारण पूछता है। तब कुश कह उठता है—''सीता देवी के बिना राम को कौन सा दु:ख नहीं है? तुमने क्या रामायण नहीं पढ़ी है जो ऐसा पूछ रहे हो।''

इस तटस्थ वार्तालाप से राम को कुछ पूछने का उत्साह नहीं रह जाता। वे बालकों से रामायण का कोई अंश सुनना चाहते हैं। दोनों बालक राम और सीता के प्रगाढ़-प्रेम सम्बन्धी श्लोक गाते हैं। राम का विषाद और घना हो जाता है। ठीक उसी समय नेपथ्य से सूचना मिलती है कि वसिष्ठ, वाल्मीकि, मातायें, जनक और अरुन्धती—ये सब लोग दोनों बालकों (चन्द्रकेतु और लव) के युद्ध की बात सुन कर इधर ही चले आ रहे हैं। राम इन सबको क्या मुँह दिखायेंगे—यह सोच कर अत्यन्त दुःखी होते हैं। उधर मातायें भी उनके अतिक्षीण गात्र को देखकर मूर्छित हो रही हैं। किसी प्रकार वे अपने को इन गुरुजनों के सत्कार के लिये प्रस्तुत करते हैं और दोनों बालक उन्हें साथ ले जाते हैं।

सप्तम अङ्क (सम्मेलन)

वाल्मीकि आश्रम के निकट गङ्गातट पर विशाल जनसमूह कोई नाट्य-प्रयोग देखने के लिए सुव्यवस्थित रूप से आसीन हैं। प्रवेश करते हुए लक्ष्मण बताते हैं कि भगवान् वाल्मीकि ने अपने तपःप्रभाव से सभी प्रकार के प्रजावर्ग (मनुष्य) देवता, नाग-गन्धर्व यक्ष, असुर आदि सचराचर प्राणिसमूह को यहाँ बुला लिया है और उनका समुचित सन्निवेश करने का इन्हें (लक्ष्मण को) आदेश दिया है। तदनुसार सब हो चुका है। राम भी इसी ओर आ रहे है। राम प्रवेश करके लक्ष्मण से कहते हैं कि दोनों बालकों (लव-कुश) को चन्द्रकेतु के समान ही स्नेह-आदर मिले। लक्ष्मण कहते हैं कि वैसा ही किया गया है। आसन ग्रहण करके राम नाट्यप्रयोग प्रस्तुत करने का आदेश देते हैं।

इस अन्तर्नाटक का सूत्रधार प्रवेश करके वाल्मीकि का स्थावरजङ्गम जगत् के प्रति आदेश सुनाता है—''हमने आर्षचक्षु से देख कर जो करुणाद्भुत रसपूर्ण पवित्र वचनामृत निबद्ध किया है, उसके प्रति आप सब लोग काव्य (रूपक) की गरिमा समझते हुए अवधान दें।''

राम इसकी व्याख्या में कहते हैं कि महर्षियों की दृष्टि में धर्म (जीवन का स्वरूप) साक्षात् रहता है। उनकी ऋतम्भरा और शुद्ध प्रज्ञा का कहीं व्याघात नहीं होता। अतः उनके प्रति कहीं शङ्का नहीं होनी चाहिये।

इसी समय नेपथ्य से अभिनेय सीता का स्वर सुनाई देता है—''हा आर्यपुत्र! कुमार लक्ष्मण! मैं एकाकिनी, अशरणा, आसन्न-प्रसववेदना से पीड़ित, हताशा हूँ। ऐसे में हिस्र जन्तु मेरी ओर बढ़ रहे हैं! हा! अब मैं मन्दभागिनी अपने को गङ्गा में डाल रही हूँ।'' सूत्रधार घोषणा करता है कि विश्वम्भरा की बेटी सीता, राजा द्वारा वन में परित्यक्त होने पर प्रसव की स्थिति में अपने आपको गङ्गा में डाल रही हैं। यहाँ अन्तर्नाटक की प्रस्तावना पूरी हुई।

राम आवेग से बोल उठते हैं—''देवि! लक्ष्मण की ओर देखो।'' लक्ष्मण कहते हैं—''आर्य! यह तो नाटक है। आश्वस्त हो कर देखें। यह तो आर्ष प्रबन्ध है।'' राम कहते हैं—''मैं बज्रमय हो कर देखने को प्रस्तुत हूँ।'' इसी समय मूर्च्छितावस्था में सीता का प्रवेश होता है; उन्हें एक ओर से पृथ्वी देवी ने और दूसरी ओर से गङ्गा देवी ने सम्हाल रखा है। दोनों देवियों की गोद में एक-एक शिशु है। राम अपने को सम्हाल नहीं पाते हैं और लक्ष्मण का सहारा लेते हैं। दोनों देवियाँ सीता को बताती हैं कि उन्होंने जल में दो पुत्रों को जन्म दिया है। रघुवंश में मङ्गलमय अंकुर आया है, यह जान कर लक्ष्मण आनन्दित होते हैं, किन्तु राम तो मूर्च्छित-वत् हो गए हैं। सीता दोनों देवियों का परिचय पूछती हैं, श्वशुरकुल-देवता गङ्गा को प्रणाम करती हैं और माता पृथ्वी से लिपट कर मूर्च्छित होती हैं। दोनों देवियों का संरक्षण सीता को प्राप्त हो गया है, यह देख कर लक्ष्मण और राम किञ्चित् आश्वस्त होते हैं। पृथ्वी राम के सीता-परित्याग के प्रति आक्रोश व्यक्त करती हैं और अपने को अपराधी मानती हैं। गङ्गा पृथ्वी को शान्त करती हैं। दोनों देवियाँ सीता को आश्वस्त करते हुए कहती हैं कि सीता के सङ्ग से ही उन दोनों की भी पवित्रता का प्रकर्ष (वृद्धि) हो रहा है। लक्ष्मण राम से कहते हैं—''आर्य सुनिए।'' राम कहते हैं—''लोक सुने।'' इसी समय नेपथ्य से कलकल ध्वनि सुनाई देती है और आकाश प्रज्वलित दिखाई देता है। दोनों देवियाँ बताती हैं कि ये जृम्भकास्त्र प्रकट हुए हैं। लक्ष्मण राम को स्मरण दिलाते हैं कि चित्रदर्शन के समय उन्होंने कहा था कि ये अस्त्र सीता की सन्तान को प्राप्त होंगे। सीता को चिन्ता है कि बालकों की क्षत्रियोचित संस्कार-विधि कौन करेगा? राम मर्माहत हो उठते हैं। गङ्गा कहती हैं कि स्तन्यत्याग के बाद बालकों को महर्षि वाल्मीकि को सौंप दिया जाएगा। वही सब संस्कार करेंगे। लक्ष्मण को निश्चय हो जाता है कि यही

दो शिशु वाल्मीकि के आश्रम में पल कर लव-कुश के नाम से क्षत्रिय वीर बने हैं। पृथ्वी सीता को रसातल में ले जाने को उद्यत होती हैं। सीता के लोकान्तरगमन से व्याकुल होकर राम मूर्च्छित हो जाते हैं।

नेपथ्य से सूत्रधार का स्वर सुनाई देता—''वाद्य बन्द करो। हे जङ्गम-स्थावर प्राणियो! हे मर्त्य और अमर्त्य देहधारियो! अब आप लोग वाल्मीकि द्वारा अनुज्ञात पवित्र आश्चर्य देखें।'' लक्ष्मण बताते हैं कि उन्हें दिखाई दे रहा है कि गङ्गा का जल क्षुब्ध हो रहा है और आकाश देवर्षियों से भरा है। सीता दोनों देवियों के साथ जल से निकल रही हैं। नेपथ्य से दोनों देवियों का स्वर आता है—'हे अरुन्धती आप हम दोनों—गङ्गा और पृथ्वी को प्रसन्न करें। हम आप की पुण्य-व्रता वधू आप को सौंप रही हैं।' अरुन्धती सीता को लेकर प्रवेश करती हैं और सीता से अनुरोध करती हैं कि वे अपने स्पर्श से राम को जीवित करें। सीता सङ्कोच और घबराहट के साथ राम को स्पर्श करती हैं। राम उठकर क्रमश: सीता, अरुन्धती और ऋष्यशृङ्ग आदि गुरुओं को देखकर आश्चर्य, हर्ष और लज्जा का अनुभव करते हैं। नेपथ्य से दोनों देवियों के पृथक्-पृथक् वचन सुनाई देते हैं—'वत्स राम! तुम ने सीता के कल्याण एवं रक्षा का जो भार हमें सौंपा था, उसका निर्वाह हम कर चुकी हैं।' राम पृथ्वी के प्रति अपने अपराध को स्वीकार करते हुए प्रणाम करते हैं। अरुन्धती समस्त नगर और जनपद के वासियों को सम्बोधित करके कहती हैं कि गङ्गा और पृथ्वी द्वारा प्रशंसित, स्वयं अरुन्धती द्वारा समर्पित, ब्रह्मा सहित समस्त देवों द्वारा स्तुत एवं जिसके पुण्यचरित्र का साक्ष्य अग्नि भी दे चुका है, ऐसी जानकी को वे लोग ग्रहण करें। लक्ष्मण राम को बताते हैं कि इस प्रकार अरुन्धती द्वारा फटकारे गये सभी लोग सीता को प्रणाम कर रहे हैं। लोकपाल और सप्तर्षि पुष्पवृष्टि कर रहे हैं। अब अरुन्धती राम को आदेश देती हैं कि जिस सीता की स्वर्ण-प्रतिमा से यज्ञ में निर्वाह किया जा रहा था उस सीता को साक्षात् वे यथाधर्म यज्ञ में नियुक्त करें। राम इस आदेश को स्वीकार करते हैं। तब अरुन्धती वाल्मीकि को आदेश देती हैं कि वे कुश-लव को सामने लायें। कुश-लव का माता-पिता से मिलन होता है। उसी समय लवणासुर पर विजय पाकर शत्रुघ्न के लौटने की सूचना मिलती है।

राम इस सम्पूर्ण सुखद घटनाक्रम का अनुभव करते हुए भी मानो उस पर विश्वास नहीं कर पाते।

भरत वाक्य के साथ नाटक पूरा होता है—

उत्तररामचरितम् की रस-भित्ति *

भारतीय दृष्टि से करुणाबोध का स्वरूप केवल मनुष्य की असहायता या निरुपायता ही नहीं है, जैसा कि 'ग्रीक ट्रेजेडी' में देखने को मिलता है, जहाँ मनुष्य के विरोध में देवता हैं और मनुष्य की नियति है। यहाँ मनुष्य के विरोध में वह स्वयं और उसका लिया गया अपने ढंग से अविवेकपूर्ण, पर आत्मघाती निर्णय है। राम ने सीता-त्याग का निश्चय स्वयं लिया। उस समय वहाँ न वसिष्ठ थे, न कौशल्या और न अरुन्धती थीं। राम के ऊपर ही अकेले निर्णय का भार हो, इसीलिये नाटककार ने द्वादश वर्ष के सत्र की नयी उद्‌भावना की है ताकि वे सभी लोग जब चले जाएँ तब राम अपने विवेक से ऐसा कठोर निर्णय लें और उस निर्णय का अभिशाप स्वयं झेलें। निर्णय लेते समय 'राजा' हो जाँय पर निर्णय लेने के बाद दो भागों में विभक्त हो जाँय—राजा राम और व्यक्ति राम। राजा राम एक निर्णय लेने के बाद ऐसे ध्वस्त हो जाँय कि फिर उनके साथ व्यक्ति राम का कोई सम्बन्ध न रह जाय, दोनों एकदम विच्छिन्न हो जाँय। ज्यों ही राजा के परिवेश से बाहर आने का अवसर मिले, त्योंही व्यक्ति राम और उसकी व्यथा ऐसी मुखरित हो उठे, कि—'**अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।**'

इस नाटक में अङ्गी रस करुण का आदि से अन्त तक निर्वाह किस प्रकार हुआ है, और किस प्रकार घटनाक्रम, समस्त पात्र और अन्य रसों के परिपाक इसमें सहायक हैं, यह विचारणीय है। भारतीय नाट्य-सिद्धान्त तीन अन्वितियों (वस्तु, नेता, रस) पर आधारित नहीं है। वह रसनिष्पत्ति को केन्द्र में रखता है। वस्तु और नेता को उसके आगे गौण मानता है। यही कारण है कि

---

* 'उत्तररामचरितम्' के विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, द्वारा प्रकाशित संस्करण (1977) में डॉ० विद्यानिवास मिश्र की प्रस्तावना में से साभार संकलित।

पाश्चात्य दृष्टि से भारतीय नाटकों के पात्र 'टाइप' जैसे दिखते हैं, जिनमें कुछ गुण पूर्व-निश्चित लगते हैं। परम्परावादी टीकाकार भी करुण रस की अङ्गिता का दूसरा उदाहरण न देख पाने के कारण करुण रस की नाटक में निष्पत्ति का कोई निगमनात्मक सिद्धान्त नहीं बना पाये। इसीलिये उत्तररामचरितम् की व्याख्या करने में उन्होंने रस दृष्टि को ओझल कर के सीता से पुनर्मिलन रूपी प्राप्ति को ही ध्येय बनाते हुए नाटक की सभी सन्धियों (मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण) की व्याख्या प्रस्तुत की। ध्यान से देखने पर वह व्याख्या शुद्ध नहीं प्रमाणित होती, क्योंकि करुण रस का स्थायीभाव शोक, ऐसा शोक जो इष्ट-नाश से उत्पन्न हो। इष्ट-नाश का अर्थ है ईप्सित या प्रियवस्तु का नाश। यह प्रियवस्तु व्यक्ति भी हो सकती है, धारणा भी हो सकती है, धर्म भी हो सकती है, इस पर ध्यान नहीं दिया गया है।

पश्चिमी दृष्टि से 'ट्रेजडी' का मूल होता है आशाभङ्ग। उस दृष्टि से राम के मन में एक आशा थी कि सीता का परित्याग कर के हम 'लोक' प्रसन्न कर लेंगे, और इस कार्य का महत्त्व समझा जायेगा। पर होता यह है कि लोग यह भूल जाते हैं कि सीता का त्याग भी हुआ है, और उन्हें इसका भान ही नहीं होता कि राजा ने त्याग करके अपने को कितना तोड़ दिया है। जिसको प्रसन्न करने के लिये त्याग किया जाता है वह राजा के दुःख को दुःख नहीं मानता, यही 'ट्रेजेडी' का मूल बनता है। सीता के मिलने से भी यह 'ट्रेजेडी' दूर नहीं होती, क्योंकि तब भी लक्ष्मण से राम यही कहते हैं कि सीता की पवित्रता के बारे में भगवती भागीरथी एवं वसुन्धरा की बात मुझे क्यों सुनाते हो? लोगों से कहो, वे सुनें! उससे यही लगता है लोगों के प्रति अमर्ष नहीं जाता है, और अन्त में उनके मुख से कहलाया गया वाक्य और भी इसी दुःख को रेखाङ्कित करता है ''सर्वमिदमनुभवन्नपि न प्रत्येमि''। ''मैं यह सब कुछ घटित होते देख रहा हूँ कि सीता को लोग लज्जित भाव से प्रणाम करते हैं, स्वयं अरुन्धती उन्हें प्रतिष्ठित कर रही हैं, पर मुझे विश्वास नहीं होता।'' इस तरह भौतिक मिलन होता है, पर सीतात्याग से मन में जो गहरा विषाद घर कर गया है, वह किसी सुख पर विश्वास नहीं होने देता।

नाटक का प्रारम्भ सूने चौराहे से होता है और नाटक का अन्त दूसरे कथन से—'यद्वा प्रकृतिरियमभ्युदयानाम्'। अभ्युदय का यह स्वभाव ही होता है कि उस पर विश्वास न हो, उसके बारे में मन में खटका लगा रहे। इस प्रकार ऊपर से देखने में सुखान्त है पर भीतर से आदि से अन्त तक यह नाटक करुणबोध से भींगा हुआ है। वह करुणबोध इतना प्रखर है कि राम जैसे गम्भीर व्यक्ति को भी उन्मथित कर देता है। नदियों के, वन-पर्वतों के हृदय को झंकृत कर देता है। सब कुछ सहने वाली धरित्री को क्षुब्ध कर देता है, ब्रह्मज्ञानी जनक को निस्सङ्ग परमहंस भाव से विचलित कर देता है। राम की आत्मग्लानि, वासन्ती का कठोर उपालम्भ, जनक का उन्माद, एक ही घर के दो बच्चों में युद्ध, अपने ही पुत्रों द्वारा अपनी तटस्थ समीक्षा सुनने की विडम्बना, ये सारी बातें इस करुणबोध के परिपोष में सहायक होती हैं।

भवभूति ने सीता को पाताल लोक में भिजवा कर और पुत्रों का दूध छूटने के बाद उन्हें वाल्मीकि के आश्रम में पहुँचवा कर कथा में नया सन्निवेश इसी प्रयोजन से किया है कि सीता का दुःख राम के दुख की तरह ऐकान्तिक हो। अन्तर केवल इतना हो कि सीता को पता हो कि मेरे दो पुत्र पैदा हुए हैं, वे वाल्मीकि के आश्रम में पल रहे हैं, किन्तु राम को इसका भी पता न हो। बारह वर्ष का अन्तराल भी नाटक में आवश्यक है, क्योंकि उसके बिना न तो लव और कुश को इतने बड़े रूप में प्रस्तुत करके उनके कार्यों द्वारा कारुण्य का पोषण कराया जा सकता था, न राम की अन्तर्गूढ़ मनःस्थिति की परीक्षा ही की जा सकती थी। बारह वर्ष तक अनवरत राम भूसे की आग में जलते रहे। क्योंकि अपने विवेक से लिये गये निर्णय के परिणामस्वरूप इस जन्म में क्या जन्मान्तर में भी अपने 'द्वितीय हृदय' सीता से मिलने का विकल्प नष्ट हो गया है। मिलन होता भी है तो टूटे हुए हृदय का मिलन होता हैं, जो केवल कर्त्तव्य-पालन के लिये शरीर धारण किये हुए है। इसीलिए राम को उच्छ्वास नहीं होता है। वे अन्त तक भगवती वसुन्धरा के आगे लज्जित ही रहते हैं। इस प्रकार इस नाटक में करुणरस का बीज है राम का अपना निर्णय, उसका प्रस्फुटन है राजा राम और व्यक्ति राम के भीतर अन्तर्द्वन्द्व। जनक, कौशल्या और अरुन्धती का वाल्मीकि के आश्रम में समागम और एक ही कुल के बच्चों के लिए विडम्बनाकारी युद्ध, तथा अपने ही पुत्रों द्वारा राम की निर्गम तटस्थ आलोचना इसका उत्कर्ष बिन्दु है। देवताओं की सहायता से समाधान के अद्भुत 'संविधानक' में राम के चित्त की अप्रतीति में ही इसकी परिणति है।

भवभूति वाल्मीकि के क्रौञ्चवध वाले श्लोक से अभिभूत हैं। इसीलिये उन्होंने जो भी नई उद्भावनायें की उनके पीछे एक ही उद्देश्य था कि सीता-निर्वासन की जिम्मेदारी अकेले राम की हो, जिससे उसकी ग्लानि भी सबसे अधिक राम की हो। भवभूति के राम की अधीरता सामान्य पुरुष की अधीरता नहीं है। वह वज्रमय पुरुष की अधीरता है। राम को लगता है कि उनके दुःख के समभागी हैं—वन, पर्वत, नदी, और कुछ दूर तक वनदेवता। इन्हीं के बीच आकर राम अधीर होते हैं, और वहीं जाकर खुल कर रोने से वे फिर आत्मीयता पाते हैं।

इस नाटक में बीच-बीच में गहरा दार्शनिक पुट है। कहीं-कहीं वैदिक भाषा की छटा है। वह ज्ञान के प्रदर्शन के लिये नहीं, करुण की लोकोत्तर भूमि की स्थापना के लिये है, क्योंकि कवि की मान्यता है कि चैतन्य का जहाँ सबसे अधिक उद्रेक होगा, वहीं दुःख की संवेदना गहरी होगी। चैतन्य का यह अभिशाप है कि वह गहराई से दुःख की संवेदना दे—''दुःखसंवेदनायैव रामे चैतन्यमागतम्''। यह नाटक कृत्रिम नागर जीवन के दुरावभरे कुत्सितरूप के विरुद्ध तीव्र आक्रोश भी व्यक्त करता है और यह भी व्यक्त करता है कि ऐसे दुरावभरे लोक के लिये व्यक्ति की निष्ठा का कोई महत्त्व नहीं रहता। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के लिये कितनी गहराई में प्रीति पालता है, यह बात लोक के मन में घर नहीं कर सकती। वह तो केवल सहज जीवन बिताने वाले वनवासियों में ही घर कर सकती हैं। इसीलिये नाटक शुरू होता है उत्सवों के बाद के सूने चौराहों की चर्चा से, और बीच-बीच में बराबर वन के साक्षात्कार से मानों प्राण पाता हुआ आगे बढ़ता है।

भवभूति का वैशिष्ट्य इसमें है कि उन्होंने नाटक के लिये अपूर्व-चिन्तित रस को केन्द्र में प्रतिष्ठित किया है। वाल्मीकि के काव्य प्रयोजन—नृशंसता के विरुद्ध करुण आक्रोश—को उन्होंने उत्तररामचरितम् में घटित कराया। यह केवल राम के उत्तर जीवन का चरित नहीं, यह लोकोत्तर राम का चरित है, जिसमें राम राजा से ऊपर मानवीय मूल्यों के विचारक के रूप में उपस्थित होते हैं। उन मूल्यों में सबसे बड़ा मूल्य है विश्वास की रक्षा। जितने देव या ऋषि-पात्र हैं, वे सभी विश्वास की रक्षा करते हैं। राम रक्षा नहीं कर पाते तो उसके लिये अनुतापमय दीर्घ जीवन बिताते हैं।

तृतीय अङ्क के अन्त में तमसा के मुख से भवभूति ने अपना सिद्धान्त कहलाया है—

''एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्त्तान्।
आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान् विकारान्
अम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम्॥''

अन्तिम और चरम रस करुण है और इस सिद्धान्त के प्रणेता भवभूति सूक्ष्म परिहास, आक्षेप और सहज वर्णन की प्रस्तुति में संस्कृत के अन्य नाटककारों से बिल्कुल अलग हैं और बिना विदूषक का सहारा लिए भी निर्मल हास प्रस्तुत कर सके हैं। जितने भी अन्य भाव हैं, रस है, वे सभी करुणा की अभिव्यक्ति हैं, क्योंकि प्रीति, विस्मय, वात्सल्य, क्रोध, उत्साह, घृणा, भय सभी एक चरम करुणबोध की परिणति में उद्दीपक का काम करते हैं। सब अपने आप में व्यर्थ होकर करुण को अर्थवान् बनाते हैं। ठीक इसके बाद एक मङ्गलकामना होती है कि पृथ्वी, गङ्गा, वाल्मीकि और अरुन्धतीसहित वसिष्ठ मङ्गल करेंगे। अर्थात् 'ग्रीक ट्रेजडी' के ठीक विपरीत यहाँ देव-शक्तियाँ मनुष्य के मङ्गल में सहायक बनती हैं, पर स्वयं मनुष्य ऐसा है जो अपने आप अपनी निर्ममता का प्रतिकार नहीं करता। भारतीय दृष्टि से मानवीय जीवन की करुणा मनुष्य में सन्निहित है।

प्रथम अङ्क के आरम्भ में ही राम कहते हैं कि गृहस्थ आश्रम में स्वतन्त्रता नहीं है (१/८) और नाटककार इस ओर इङ्गित करता है कि सामाजिक संयुक्तता और व्यक्तिगत दृष्टि में यदि सन्तुलन चूक जाय तो मनुष्य के लिये कितना दारुण हो सकता है। इसीलिये वह सामाजिक सम्पृक्तता के अतिशय पर निरन्तर आघात करता रहता है। द्वितीय अङ्क के प्रारम्भ में ही वासन्ती कहती है—**''तदपि न पराधीनमिह वः''** (२/१)। वन में भौतिक सुख न भी मिले किन्तु वहाँ के जीवन में व्यक्ति की निष्ठा का मूल्य है, और पराधीनता नहीं है। राम और सीता दोनों ही वन में रमने वाले हैं। वन उन्हें बार-बार बुलाता है, क्योंकि वन ही इन दोनों के शुद्ध स्नेह का साक्षी है। वन ही भाग्यशाली है कि जगत् के 'आत्मा' और उनकी 'अमृता कला' के साहचर्य के असङ्ख्य क्षण एक-दूसरे में जुड़े हुए हैं।

वन में जाते ही 'वज्रादपि कठोर' राम 'कुसुमादपि मृदु' हो जाते हैं और उनके चिरविस्मृत, दबे हुए सख्य, प्रेम और वात्सल्य उभर आते हैं। राम और सीता के साहचर्य के क्षणों के साझीदारी वन, वन देवता, वन के प्राणी, नदी, पर्वत सभी हैं। इसलिये इन वस्तुओं का वर्णन निरा वस्तु-वर्णन नहीं है। वह पोरजानपद तटस्थ प्रजाजन की अपेक्षा अधिक संवेदनशील सजीव आत्मीयों के साक्षात्कार का वर्णन है। इसीलिए वह नाटक में अत्यन्त सार्थक है।

राम के दुःख को बाँटने के लिये प्रत्यक्ष रूप में गङ्गा, गोदावरी, तमसा, मुरला, वन देवता वासन्ती सभी ऐसे प्रस्तुत किये गये हैं, मानो वे अयोध्या-वासियों के अकरुण व्यवहार के विरोध में कवि द्वारा प्रस्तुत एक भिन्न स्तर की मानवीय संवेदनाओं के साकार प्रतिमान है। भारतीय दृष्टि विवेकशील प्राणी मनुष्य के विरोध में न देवताओं को पाती है न नियति को, पाती है विरोध में उसकी असन्तुलित सामाजिकता को, और नागरिक जीवन की कृत्रिम औपचारिकता को, जिसके दबाव में विवेकशील मनुष्य अपने विवेक का प्रतिकूल विनियोग कर बैठता है। इस नाटक में सारी लड़ाई इस बात को लेकर है कि प्रजा को प्रसन्न करने में राजा का नाम होता है, और यह कीर्त्ति का 'परमधन' या आज की शब्दावली में चरम जीवन मूल्य है या नहीं? नाटककार का स्पष्ट सङ्केत है कि यह चरम मूल्य नहीं है। 'यश' के लिये स्नेह, दया, सुख और इन सबके ऊपर जानकी को छोड़ने में कोई मूल्यवत्ता नहीं है, क्योंकि इनको छोड़ने का अर्थ अपने आत्मा से और उसकी अमृता कला से बिछुड़ना होता है। भवभूति न निराशावादी हैं, न दुःखवादी। किन्तु वे मनुष्य को मनुष्य बनाने वाली करुणा के पारखी हैं, और इसीलिये जब वे पूर्वानुभूत दुःख की बात करते हैं तो कालिदास की तरह यह नहीं कहते हैं कि उन दुःखों का स्मरण सुख रूप होता है—**स्मृतानि दुःखानि सुखान्यभूवन्** (रघुवंश, १४) चित्रदर्शन के समय राम कहते हैं कि यथार्थ में रावण द्वारा सीता के हरे जाने पर दुःख इसलिये सह लिया गया कि रावण के उस अपकर्म का प्रतिकार करना था, किन्तु जब वही दुःख मन में स्मृतिरूप से सुलगता है, तो हृदय के घाव की भाँति कष्ट पहुँचाने लगता है। राम के इस कथन में भवभूति अपना जीवन-दर्शन स्थापित करते हैं कि वस्तुतः दुःख से अधिक दुःख की भावना करुणा का मूल कहलाती है।

[**अपने ही जीवन की पूर्व-घटनाओं को कला के माध्यम से देखकर रसास्वादन तभी सम्भव है, जब उन घटनाओं के प्रति चित्त में अपेक्षित दूरी या तटस्थता आ गई हो। तभी दुःख की स्मृति (अर्थात् 'अनुदर्शन') सुख रूप हो सकती है।** भवभूति ने दिखाया है कि दुःख का अनुभव जब तक अपनी तीव्रता के साथ हृदय में दबा रहता है, तब तक 'चित्र' अथवा नाटक में उसका 'अनुकरण' देखकर दुःख की पुनर्भावना प्रखर करुणा का ही उद्रेक करती रहेगी। इसका स्पष्ट सङ्केत प्रथम अङ्क में सीता के प्रति राम के वचन—''अयि वियोगत्रस्ते। चित्रमिदम्'' में और सप्तमाङ्क में राम के प्रति लक्ष्मण के वचन—''आर्य! नाटकमिदम्''—तथा ''आर्य आश्वस्य दृश्यतां प्रबन्धस्त्वार्षः'' में मिलता है। राम 'वज्रमय' होकर नाटक देखनें को प्रस्तुत होते हैं, किन्तु करुणा की गहराई उन्हें 'असंविज्ञात-पद-निबन्धन तमस्' में प्रवेश का अनुभव कराती है।]

—सम्पादिका

उत्तररामचरितम् में वाक्-तत्व

इस नाटक की अधिष्ठात्री हैं वाग्देवता। सर्वप्रथम नान्दी में ही वाणी को आत्मा की 'अमृता कला' कह कर उसकी वन्दना की गई है।

इदं कविभ्यः पूर्वेभ्यो नमोवाकं प्रशास्महे।
विन्देम देवतां वाचममृतामात्मनः कलाम्॥

प्रस्तावना में कवि भवभूति की प्रशस्ति में भी यही कहा गया है कि वाक् उनकी वशवर्त्तिनी है।

लोक की दुर्जनता की अभिव्यक्ति दो के प्रति प्रायः हुआ करती है—स्त्री और वाणी। सीता के लोकापवाद का बीज और उसके प्रति अपना आक्रोश कवि ने एक साथ यहीं व्यक्त कर दिया है।

सर्वथा व्यवहर्तव्यं कुतो ह्यवचनीयता।
यथा स्त्रीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनो जनः॥ १/५॥

सीता के प्रति वसिष्ठ का आशीर्वचन जब अष्टावक्र सुनाते हैं, तब राम कहते हैं कि लौकिक सज्जनों की वाणी अर्थ का अनुसरण करती है, किन्तु आद्य ऋषियों की वाणी का अनुसरण अर्थ करता है।

लौकिकानां हि साधूनामर्थं वागनुवर्तते।
ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति॥ १/१०॥

आत्रेयी जब सज्जनों के चरित्र के वर्णन में **विनयमधुरो वाचि नियमः** (२/२) कहला कर कवि ने वाणी का महत्त्व उभारा है।

आत्रेयी जब वाल्मीकि के नूतन छन्द की बात बताती है, वहाँ भी वाग्देवता की ही प्रतिष्ठा है—''आकस्मिकप्रत्यवभासां देवीं वाचमानुष्टुभेन छन्दसा परिणतामभ्युदेरयत्।............—'ऋषे! प्रबुद्धोऽसि वागात्मनि ब्रह्मणि। तद् ब्रूहि रामचरितम्।' ......—अथ स भगवान् प्राचेतसः प्रथमं मनुष्येषु शब्दब्रह्मणस्तादृशं विवर्तमितिहासं रामायणं प्रणिनाय।'' (द्वितीय अंक का विष्कम्भक)

सीता के मन में राम के अकारण परित्याग का जो शल्य था, उसकी चुभन राम के शोकाकुल वचनों से कुछ कम हो रही है। वे राम के प्रिय वचनों से मोहित-सी हो रही है। तब तमसा राम की वाणी का वर्णन करती हैं—

नैताः प्रियतमा वाचः स्नेहार्द्राः शोकदारुणाः।
एतास्ता मधुनो धाराश्च्योतन्ति सविषास्त्वयि॥ (२/३४)

अरुन्धती कौशल्या को समझाती है कि जब कुलगुरु (वसिष्ठ) ने कह दिया है कि परिणाम में कल्याण ही होगा, तब संशय नहीं करना चाहिये। ब्रह्मसाक्षात्कार करने वाले 'ब्राह्मण' मिथ्या नहीं बोलते।

आविर्भूतज्योतिषां ब्राह्मणानां ये व्यवहारास्तेषु मा संशयोऽभूत्।
भद्रा ह्येषा वाचि लक्ष्मीर्निषक्ता नैते वाचं विप्लुतार्थां वदन्ति॥ (४/१८)

चन्द्रकेतु से वार्तालाप के प्रसङ्ग में लव कहता है कि दर्प से भरी वाणी राक्षसी कहलाती है और शुद्ध, शान्त वाणी सर्व मङ्गलों की माता होती है। ऐसा ऋषियों का मत है।

ऋषयो राक्षसीमाहुर्वाचन्मुत्तदृप्तयोः।
सा योनिः सर्ववैराणां सा हि लोकस्य निष्कृतिः॥
कामं दुग्धे विप्रकर्षत्यलक्ष्मीं, कीर्तिं सूते, दुर्हृदो निष्प्रलाति।
शुद्धां शान्तां मातरं मङ्गलानां, धेनुं धीराः सूनृतां वाचमाहुः॥ (५/२९,३०)

'वाचि वीर्यं द्विजानाम्' (५/३२) कह कर लव 'ब्राह्मणों' की वाणी की महत्ता का पुनः संकेत देता है।

राम का प्रथम दर्शन होते ही कुश कहता है कि रामायण-कवि ने उचित स्थान पर ही वाग्देवी को परिवर्धित किया है।

अहो प्रासादिकं रूपमनुभावश्च पावनः।
स्थाने रामायणकविर्देवीं वाचमवीवृधत्॥ (६/२०)

भरतवाक्य में रामकथा को जगत् की माता और गङ्गा के तुल्य कहा है। यह प्रज्ञासम्पन्न शब्दब्रह्मविद् कवि की वाणी है। लोग इस वाणी की बार-बार अभिनय द्वारा 'परिभावना' करें जिससे पाप से रक्षा हो और मङ्गल हो।

पाप्मभ्यश्च पुनातु वर्धयतु च श्रेयांसि सेयं कथा
माङ्गल्या च मनोहरा च जगतो मातेव गङ्गेव च।
तामेतां परिभावयन्त्वभिनयैर्विन्यस्तरूपां बुधाः।
शब्दब्रह्मविदः कवेः परिणतां प्राज्ञस्य वाणीमिमाम्॥

नाटक के आदि, मध्य, अवसान में सुप्रतिष्ठित वाग्देवता की स्तुति में हमने वर्धमान गीतक की रचना की है, जिसका नृत्य-सहित प्रयोग पूर्वरङ्ग में होगा।

वर्द्धमान गीतक

प्रथम कण्डिका—

देवीं वाचं पूर्णां ब्रह्म इव ततां स्वररसमयीं ज्योतीरूपाम्।

द्वितीय कण्डिका—

भगवतीं वाग्देवतां परां दशमूलां शताङ्कुरां, रौद्री भद्राम् उग्रां सौम्याम्, अन्तर्बहिर्वृत्तिकां मन्द्राम्।

तृतीय कण्डिका—

धेनूरूपां कामं दुहानाम्, सत्त्वं दधानाम् आत्मना संविदानाम्, अर्थ-निदानाम्, रञ्जन-व्यञ्जन-वचन-निधानाम्, प्राक् सृष्टेरपि संस्थितां समर्थाम्, सुस्वरवतीं श्रुतिमतीं छन्दस्वतीं सरस्वतीं भारतीं विद्याम्।

चतुर्थ कण्डिका—

नादात्मिकां वर्णात्मिकाम्, वीणावादननादवदनाम्, नानानामसुरूप-वचनाम् घण्टावादनसौम्यनादगुणतो विघ्नादिसंहारिणीम्, विष्णौ केवलसत्त्वके योगनिद्रामयीम्, पूर्णे ब्रह्मणि सामरस्यललिते मौनमुद्रामयीम्, रुद्रे पूर्णसमाधिसत्त्वनिरते चिद्योगनिद्रामयीम् ब्रह्मात्मप्रतिमां रसेन परमाम्, यन्त्रात्मिकां मन्त्रात्मिकां तन्त्रात्मिकाम्, बृहतीम्, चितिमयीं धृतिमयीं विद्युन्मयीम्, गौरीं वन्दे हंसीम्।

सूक्तियाँ

'उत्तररामचरितम्' के कई वाक्य आज सूक्तियों के रूप में प्रचलित हैं। उनका एकत्र संग्रह रोचक होगा।

१. **यथा स्त्रीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनो जनः।** (१.५)

२. **लौकिकानां हि साधूनामर्थं वागनुवर्तते।**
ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति॥ (१.१०)

३. **तीर्थोदकं च वह्निश्च नान्यतः शुद्धिमर्हतः॥** (१.१३)

४. **ते हि नो दिवसा गताः॥** (१.१९)

५. **सतां सद्भिः सङ्गः कथमपि हि पुण्येन भवति॥** (२.१)

६. वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति॥ (२.७)

७. सत्सङ्गजानि विधनान्यपि तारयन्ति॥ (२.११)

८. तत्तस्य किमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जनः॥ (२.१९)

९. अन्तःकरणतत्त्वस्य दम्पत्योः स्नेहसंश्रयात्।
आनन्दग्रन्थिरेकोऽयमपत्यमिति पठ्यते॥ (३.१७)

१०. एको रसः करुण एव................(३.४ ७)

११. सन्तानवाहीन्यपि मानुषाणां दुःखानि सम्बन्धिवियोगजानि।
दृष्टे जने प्रेयसि दुःसहानि स्रोतःसहस्रैरिव सम्प्लवन्ते॥ (४.८)

१२. गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः॥ (४.११)

१३. कामं दुग्धे विप्रकर्षत्यलक्ष्मीम्......................(५.३०)

१४. वाचि वीर्यं द्विजानाम् (५.३२)

१५. व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतुर्न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते। (६.१२)

१६. न तेजस्तेजस्वी प्रसृतमपरेषां विषहते। (६.१४)

१७. को नाम पाकाभिमुखस्य जन्तुर्द्वाराणि दैवस्य पिधातुमीष्टे। (७.४)

१८. सानुषङ्गाणि कल्याणानि। (७..)

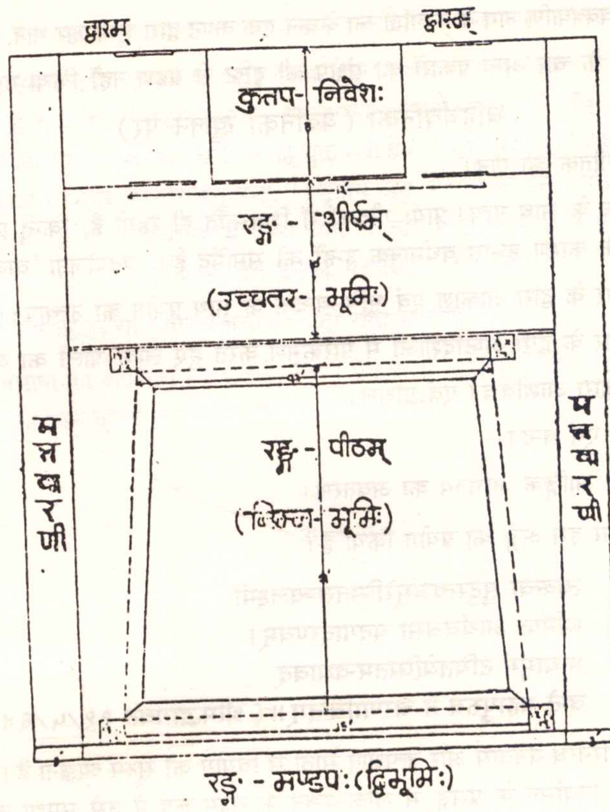
प्रस्तुत प्रयोग की विशेषताएँ

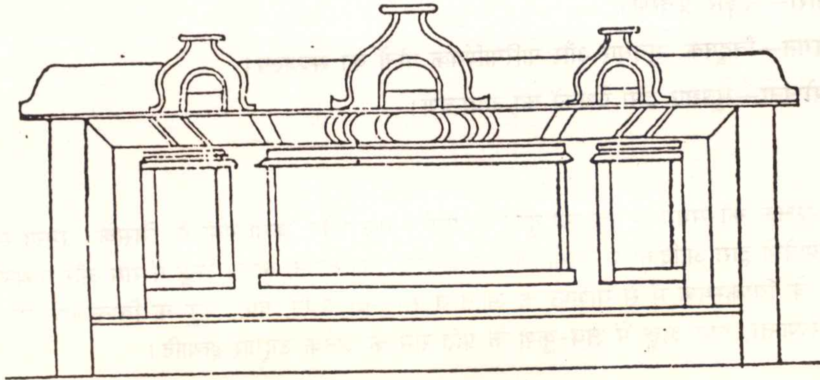
१. रङ्गमण्डप

भरतोक्त पद्धति का रङ्गमण्डप बनाने का यत्न किया गया है। द्विभूमि रङ्ग इस नाटक के लिए अनिवार्य है। अतः उसकी योजना की गई है। उच्च भूमि रङ्गशीर्ष और निम्नभूमि रङ्गपीठ कहलाती है। निम्नभूमि पर जो वितान दिया गया है, उसका चित्राङ्कन अजन्ता की शैली से हुआ है। कुतप के लिए रङ्गशीर्ष के पृष्ठभाग में स्थान रखा है और प्रवेश -निर्गम के द्वार भी वहीं पर हैं। दोनों पार्श्व के गलियारे मत्तवारणी है जिनका उपयोग रङ्गस्थित पात्रों के आंशिक निष्क्रमण अथवा आंशिक प्रवेश के लिए किया गया है। सर्वथा निष्क्रमण और प्रवेश तो द्वारों से ही होंगे किन्तु कुछ प्रवेश और निष्क्रमण आंशिक भी होते हैं। तृतीय अङ्क के सीता द्वारा पालित गज को देखने के बाद कुछ देर तक तमसा और सीता का ही वार्तालाप चलता है, उतने क्षण के लिये वासन्ती और राम मत्तवारिणी में चले जाते हैं। यह उनका आंशिक निष्क्रमण है। चतुर्थ अङ्क में बटुओं का कोलाहल जब जनक आदि को सुनाई देता है तब वे बटुओं की ओर देखते भी हैं। यह देखना द्वारों के बीच से सम्भव नहीं है। अतः मत्तवारिणी में उनका (बटुओं का) आंशिक प्रवेश कराया गया है।

२. पूर्वरङ्ग

भरत-पद्धति से पूर्वरङ्ग का प्रयोग किया गया है। आधुनिक प्रेक्षक की समय-मर्यादा के अनुसार भरतोक्त विधान का संक्षेप अवश्य करना पड़ा। पूर्वरङ्ग इस क्रम से हैं—





चित्र

अन्तर्यवनिका (यवनिका खुलने से पूर्व)

(१) प्रत्याहार—वादकों का समुचित सन्निवेश।

(२) अवतरण—गायिकाओं (गायक भी) का सन्निवेश।

(३) आरम्भ—इसमें परिगीत (आलाप-सदृश) क्रिया का आरम्भ कहा गया है। हमने आरम्भ नामक 'निर्गीत' के लक्षण के अनुसार यहाँ शुष्काक्षरों (निरर्थक वर्णों) की गेय रचना रखी है।

(४,५) आश्रावणा और वक्त्रपाणि नाम के निर्गीतों का केवल एक कण्ठ द्वारा शुष्काक्षर गान, और वाद्यों का प्रधान उपयोग।

(निर्गीत के चार अन्य प्रकारों का संक्षेप की दृष्टि से ग्रहण नहीं किया गया है।)

बहिर्यवनिका (यवनिका खुलने पर)

(१) **मद्रक**—नामक गीतक का गान।

(२) **वर्द्धमान**—गीतक के साथ नृत्य। प्रायः गीतकों में शिवस्तुति ही रहती है, किन्तु प्रस्तुत नाटक में वाग्देवता का अधिष्ठान होने के कारण हमारा वर्धमानक उन्हीं को समर्पित है। (पदयोजना 'वाक्तत्त्व' के अन्तर्गत द्रष्टव्य)

(३) **उत्थापन**—सूत्रधार के द्वारा आकाश एवं भूमि-वन्दना के साथ प्रयोग का उत्थापन।

(४) **परिवर्तन**—सूत्रधार के द्वारा अष्टदिशाओं में परिक्रमण करते हुए लोक-पालों का वन्दन।

(५) **नान्दी**—सूत्रधार द्वारा आशीर्वचन एवं प्रोक्षण।

(६) **जर्जर** का स्थापन एवं वन्दन—

(७) **रङ्गद्वार**—वाचिक, आङ्गिक अभिनय का अवतरण।

हमने निम्नलिखित पद्य पर इस अङ्ग का प्रयोग किया है।

त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं
धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम्।
मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद्
वन्दे महापुरुष ते चरणाविन्दम्॥ (श्रीमद्भागवत ११/५/६४)

इस पद्य में सीता के साथ स्निग्ध वनवास और तत्पश्चात् सीता से वियोग की सूक्ष्म व्यञ्जना है। मायामृग एक बार तो स्थूल रूप में था और दूसरी बार सीता निर्वासन के प्रसङ्ग में लोक-रञ्जन के सूक्ष्म रूप में उसे समझा जा सकता है।

(८) **चारी**—शृङ्गार-प्रचरण।

(९) **त्रिगत**—विदूषक, सूत्रधार और पारिपार्श्विक तीनों का सञ्जल्प।

(१०) **प्ररोचना**—सूत्रधार द्वारा प्रेक्षकों का आमन्त्रण।

३. पाठसंक्षेप

आधुनिक प्रेक्षक की समय-मर्यादा की दृष्टि से पर्याप्त पाठसंक्षेप किया गया है, जिसके प्रमुख स्थल हैं—चित्र-दर्शन के कुछ प्रसङ्ग, आत्रेयी द्वारा आदिकाव्य (रामायण) के अवतरण का वर्णन, तृतीय अङ्क में राम और वासन्ती के संवाद के कुछ अंश, चतुर्थ अङ्क के विष्कम्भक में से वशिष्ठ के आतिथ्य-सम्बन्धी वर्णन, षष्ठ अङ्क के विष्कम्भक का नेपथ्य-पाठ के रूप में अति संक्षिप्त रूपान्तर, षष्ठ अङ्क में लव-कुश के प्रति राम के अनेक उद्गार इत्यादि।

४. यवनिका

यवनिका का केवल आरम्भ एवं अन्त में उपयोग हुआ है। प्रथम एवं सप्तक अङ्क में तिरस्करिणी का उपयोग है।

५. सङ्गीत

सङ्गीत में भरतपद्धति के निर्वाह के दो प्रमुख अङ्ग हैं—(१) निर्गीत के प्रकारों मद्रक और वर्द्धमानक गीतकों का पुनरुद्धार; (२) हाथ से ताल देते समय भरतोक्त सशब्द-निःशब्द क्रियाओं का प्रयोग।

रूपक-स्थित पद्यों के गान का कहीं स्पष्ट उल्लेख प्राप्त न होने से उनका पाठ्यरूप ही प्रस्तुत किया गया है।

भरतोक्त ध्रुवा का भी अल्प प्रयोग किया गया है। प्रथम अङ्क में राम के घोर निर्णय के पश्चात् उनकी आत्मग्लानि को उभारने के लिये यह ध्रुवा रखी गयी है—"**वज्राहतकूटो, धातुझरस्त्रोता एष गिरिराजो भूमि पततीव।**" उसी अङ्क में राम के निष्क्रमण के समय उनकी म्लानता को सुव्यक्त करने के लिये यह ध्रुवा रखी है—"**जलधरवितानपिहिताङ्गो, रविकिरणजालहतशोभः, ग्रहमुखविनिर्गतविवर्णः, आशु विशति अस्तगिरिम् इन्दुः**"। तृतीय अङ्क में राम के पुनः मूर्च्छित होने पर सीता की व्याकुलता के उपरञ्जन के लिये यह ध्रुवा रखी है—"**मेघनिरुद्धं प्रेक्ष्य चन्द्रं शोचति तारा अश्रु-क्लिन्ना**"। सप्तम अङ्क में अरुन्धती के अनुरोध से जब सीता राम का स्पर्श करने जाती है, तब उनकी मनःस्थिति की सूक्ष्म व्यञ्जना इस ध्रुवा से मिलती है—

"**गजेन्द्रतोयक्षोभा प्रतीपत्रस्तहंसा भ्रमच्चक्रवाका नदी गता समुद्रम्**"।

ध्रुवा-प्रयोग में प्राकृतभाषा का औचित्य स्वीकृत है, किन्तु प्रेक्षक की सुविधा के लिये हमने संस्कृत रूपान्तर ही रखा है। स्मरण रहे कि इन ध्रुवाओं का गान कुतप में से होता है, पात्रों द्वारा नहीं।



.७.

विशाखदत्तविरचितम्

मुद्राराक्षसम्

कालिदासमहोत्सव के अवसर पर **अभिनयभारती** एवं प्राच्यविद्या-सङ्काय का० हि० वि० द्वारा प्रस्तुत*

दिनाङ्क २९ फवरी १९८० — स्थल—नागरी नाटक मण्डली प्रेक्षागृह वाराणसी

प्रयोग-दृष्टि

- संस्कृत नाटकों की मञ्च-प्रस्तुति कई अर्थों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अपनी समृद्ध साहित्यिक सांस्कृतिक परम्परा से सर्वाङ्गीण और साक्षात् परिचय तथा काव्य-रसास्वाद के लिए संस्कृत नाट्य प्रयोग से बढ़कर और क्या साधन हो सकता है ?
- आज सारे सजग रङ्गकर्मी अपने देश के जातीय रङ्गमञ्च की खोज के लिए प्रयत्नशील हैं। रङ्गमञ्च के नाम पर हमारे पास जो कुछ है, उसमें कितना हमारा है और वह कहाँ पर है यह कहना कठिन है।
- इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए भरतमुनि द्वारा प्रणीत नाट्यशास्त्र तथा नृत्य, नाट्य एवं संगीत से सम्बद्ध विपुल वाङ्मय के अनुशीलन-व्याख्यान, नाटकों के वास्तविक प्रयोग से सम्बद्ध विवरणों को नाटक की प्राचीन टीकाओं से खोजकर उनके संकलन, जीवित शास्त्रीय एवं लोक नृत्य-नाट्य की परम्पराओं के पर्यवेक्षण, उद्धार एवम् उपयोग द्वारा यथासम्भव पुनरुद्धृत प्राचीन भारतीय रङ्गमञ्च पर उसकी परम्पराओं के भीतर ही संस्कृत-नाट्य का प्रयोग अपना महत्व स्वयं कहता है।
- भरतमुनि के द्वारा निर्दिष्ट मञ्च पर प्रस्तुत यह प्रयोग इस दिशा में एक विनम्र प्रयास है। यदि यह प्रयत्न इस अभिरूपभूयिष्ठा परिषद् को थोड़ा परितोष भी दे सके, तो हम कृतार्थ होंगे।

कथावस्तु

'मुद्राराक्षसम्' विशाखदत्त रचित नाटक है। इसकी कथावस्तु ऐतिहासिक है। नन्दवंशीय सम्राट् से अपमानित होने पर चाणक्य नन्दवंश का समूल विनाश करने की प्रतिज्ञा करता है। नंदवंश के अन्तिम व्यक्ति सर्वार्थसिद्धि की हत्या हो चुकी है। चन्द्रगुप्त मौर्य का सिंहासनारोहण भी सम्पन्न हो चुका है। चाणक्य ने पर्वतेश्वर की सहायता लेकर नन्दों का उन्मूलन किया, किन्तु गुप्तरूप से विषकन्या का प्रयोग कर पर्वतेश्वर की भी हत्या करा दी और चारों ओर प्रवाद फैला दिया कि यह कार्य राक्षस अर्थात् नन्दों के अमात्य ने किया है। इधर पर्वतेश्वर के पुत्र कुमार मलयकेतु को अपने गुप्तचर भागुरायण के द्वारा यह समझा दिया कि चाणक्य ने ही हत्या करायी है। फलत: मलयकेतु भागुरायण को आत्मीय समझ कर उसके साथ भाग चुका है। राक्षस मलयकेतु का साथ पकड़ता है और चन्द्रगुप्त मौर्य के उन्मूलन के लिए प्रयत्नशील है। नाटक इस भूमिका में आरम्भ होता है।

पूर्वरङ्ग :—भरतमुनि रचित नाट्यशास्त्र के अनुसार संस्कृत नाटकों की प्रस्तुति के आरम्भ में 'पूर्वरङ्ग' का विधान आवश्यक है। पूर्वरङ्ग के दो भाग थे—'अन्तर्जवनिकासंस्थ' तथा 'बहिर्जवनिकासंस्थ' अर्थात् जवनिका के पीछे सम्पन्न और जवनिका के बाहर सम्पन्न। प्रत्याहार (कुतप का यथास्थान सन्निवेश), अवतरण (गायिकाओं और गायकों का निवेशन), आरम्भ (वाद्य प्रयोग से रहित शुष्काक्षरों का गान), बहिर्गीत अथवा निर्गीत (वाद्य-प्रधान एक-एक कण्ठ द्वारा शुष्काक्षर गान)—आश्रावणा तथा वक्त्रपाणि—यह अन्तर्जवनिकासंस्थ अङ्ग हैं।

पूर्वरङ्ग के बहिर्जवनिकासंस्थ अङ्ग है :—

मद्रक—इस नाम के गीत का गान।

वर्धमान—गीतक के साथ नृत्य।

उत्थापन—सूत्रधार द्वारा भूमिवन्दना एवम् आकाश वन्दना के साथ प्रयोग का उत्थापन।

परिवर्त—सूत्रधार द्वारा रङ्ग की चारों दिशाओं का परिक्रमण करते हुए लोकपालों का वन्दन।

नान्दी—सूत्रधार द्वारा आशीर्वचन और प्रेक्षण, जर्जरस्थापन और जर्जरवन्दन तथा तूर्यघोष।

रङ्गद्वार—वाचिक, आङ्गिक अभिनय का अवतरण।

चारी—प्रचरण।

त्रिगत—सूत्रधार पारिपार्श्विक का संजल्प।

प्ररोचना—रूपक का संक्षिप्त परिचय और दर्शकों का आमन्त्रण।

............भरत मुनि के विधान के अनुसार 'पूर्वरङ्ग' के कुछ अङ्गों की प्रस्तुति से नाटक आरम्भ होता है।

प्रस्तावना—'पूर्वरङ्ग' के अनन्तर कविकृत नाटक आरम्भ होता है और कविकृत प्रस्तावना उपस्थित की जाती है। प्रस्तावना में 'नान्दी' अर्थात् मङ्गलाचरण के बाद सूत्रधार कवि एवं रचना का परिचय देता है। उपस्थापनीय रचना की कथा का सूत्र नाटकीय ढंग से परिचित कराया जाता है। सूत्रधार के घर में चहल-पहल है। वह अपनी पत्नी से इसका कारण पूछता है। पत्नी बतलाती है कि चन्द्रग्रहण के अवसर पर उसने ब्राह्मणों को निमन्त्रित किया है। तब सूत्रधार उसे बताता है कि चन्द्रग्रहण नहीं है, क्योंकि क्रूरग्रह केतु चन्द्र को अभिभूत तो करना चाहता है, किन्तु बुध का योग उसकी रक्षा करता है। नेपथ्य से आते शब्दों से मालूम होता है कि चाणक्य ने इसका दूसरा अर्थ लिया है—कोई चन्द्रगुप्त को आक्रान्त करना चाहता है।

—प्रेमलता शर्मा

प्रथम अङ्कः—

(पाटलिपुत्र)

चाणक्य के प्रवेश से यह अङ्क आरम्भ होता है। चाणक्य अपने स्वगत कथन में राक्षस के प्रयत्नों के प्रति चिन्ता और रोष व्यक्त करता है। वह यह भी बतलाता है कि उसने किस प्रकार नन्दवंश का उन्मूलन तथा चन्द्रगुप्त का स्थापन किया है और राक्षस के प्रयत्नों का प्रतिविधान करने के लिए किस प्रकार गुप्तचरों को नियुक्त किया है।

चाणक्य का शिष्य शार्ङ्गरव साथ में हैं। चाणक्य का यमपटधारी गुप्तचर निपुणक आता है, जिसे शार्ङ्गरव पहचान नहीं पाता। उसे रोकता है। किन्तु चाणक्य उसके वार्तालाप को सुनकर पास बुलाता है। यह गुप्तचर सूचना लाया है कि राक्षस का मित्र क्षपणक जीवसिद्धि तथा शकटदास चन्द्रगुप्त के विरुद्ध सक्रिय हैं। इनमें क्षपणक वस्तुतः चाणक्य का मित्र और गुप्तचर है।

निपुणक श्रेष्ठी चन्दनदास के दरवाजे पर मिली राक्षस की मुद्रिका भी लाया है।

इन सूचनाओं के मिलने पर चाणक्य एक पत्र स्वयं लिखकर उसे सिद्धार्थक को भेज शकटदास के हाथों लिखवा लेता है। इस पत्र को राक्षस की मुद्रा से अंकित करा कर सिद्धार्थक के हाथों में देता है और मुद्रा भी देता है। पहले ही यह आदेश दे चुका होता है कि क्षपणक जीवसिद्धि को पर्वतेश्वर की हत्या के अपराध में निवासित कर दिया जाय और राक्षस के मित्र शकटदास को शूल पर चढ़ा दिया जाय तथा उसके परिवार को बन्दी बना लिया जाए। अब सिद्धार्थक को आदेश देता है कि घातक लोगों को इशारा कर शकटदास को वध्यस्थान से भगा ले जाकर राक्षस के यहाँ पहुँचाये और राक्षस का विश्वास अर्जित कर ले। वहीं पर रहे और समय आने पर मुद्राङ्कित पत्र का उपयोग करे। इसी के पास पर्वतेश्वर के आभूषण भी हैं।

अब चाणक्य श्रेष्ठी चन्दनदास को बुलाकर उससे राक्षस के परिवार को माँगता है, जिसे उसने छिपाकर रख छोड़ा है। किन्तु चन्दन दास पहले तो बात छिपाता है, पर अन्ततः राक्षस के परिवार को सौंपने से साफ इनकार करता है। इस पर चाणक्य उसको बन्दी बनवाता है और धमकी देता है कि वह चन्द्रगुप्त से उसे प्राणदण्ड देने के लिए कहेगा।

प्रथम अंक का समापन चाणक्य के कूट प्रयोगों से होता है, चाणक्य के निर्देश पर सिद्धार्थक, भागुरायण तथा भद्रभट, पुरुषदत्त, डिङ्गरात, बलगुप्त, रोहसेन, विजयवर्मा आदि शत्रुपक्ष में मिलने को जा चुके हैं।

द्वितीय अङ्कः— **पर्वतेश्वर की राजधानी**

राक्षस के गुप्तचर आहितुण्डिक (सँपेरे) के वेष में विराध गुप्त का प्रवेश होता है। इस बीच मलयकेतु द्वारा प्रेषित कञ्चुकी जाजलि राक्षस को पर्वतेश्वर के आभूषण पहनाता है। विराध राक्षस से मिलकर उन्हें पाटलिपुत्र में घटी घटनाओं तथा चाणक्य के प्रयत्नों से अवगत कराता है। इसी बीच सिद्धार्थक शकटदास को वध्यस्थान से छुड़ाकर वहाँ पहुँच जाता है और हर्षित राक्षस से पारितोषिक पाता है। योजनानुसार इस आभूषण को राक्षस की मुद्रा से अंकित करा के उनके पास रख वहीं ठहर जाता है। इधर विराध गुप्तचर कार्य के लिए पुनः वैतालिक स्तनकलश के पास भेजा जाता है।

तृतीय अङ्कः— **पाटलिपुत्र**

कंचुकी वैहीनरि का प्रवेश होता है। चन्द्रगुप्त ने शरद् में कौमुदी महोत्सव मनाने की घोषणा की है, किन्तु चाणक्य ने उसे रुकवा दिया है। वैहीनरि चन्द्रगुप्त के आदेश को पूरा करने को कह रहा है तभी चन्द्रगुप्त का प्रवेश होता है। चन्द्रगुप्त को चाणक्य का आदेश पता चलता है और चाणक्य को बुलवाया जाता है। इस बात को लेकर चन्द्रगुप्त और चाणक्य का कलह होता है। यद्यपि यह कलह दिखावटी है, किन्तु इसे वास्तविक प्रदर्शित कर प्रचारित कर दिया गया है।

चतुर्थ अङ्क :— **पर्वतेश्वर की राजधानी**

करभक—चाणक्य और चन्द्रगुप्त के कलह का समाचार राक्षस के पास लाया है। इस बीच मलयकेतु उससे मिलने आता है। उत्साहित राक्षस अभियान के लिए कहता है। क्षपणक जीवसिद्धि अभियान के लिए मुहूर्त्त बतलाता है, जो कि अशुभ समय है।

पञ्चम अङ्क :— **पाटलिपुत्रगामी मार्ग, भागुरायण शिविर**

सिद्धार्थक आभूषणों की मुद्रित पेटिका और पत्र जिसे वस्तुतः चाणक्य ने शकटदास से लिखवाकर दिया था—पाटलिपुत्र की ओर चल पड़ा है। सिद्धार्थक की भेंट क्षपणक से होती है, जो उसे बतलाता है कि इस समय बिना अनुमतिपत्र के बाहर निकलना सम्भव न होगा।

भागुरायण शिविर में अनुमति-पत्र दे रहा है। क्षपणक स्वयं भी अनुमति-पत्र लेने आया है और बतलाता है कि राक्षस ने विषकन्या के प्रयोग से पर्वतेश्वर की हत्या करायी थी। इधर मलयकेतु भागुरायण से मिलने आया था और कुसुमपुर (पाटलिपुत्र)

विषयक चर्चा होती देख सुनने लगता है। यह बात उसने भी सुन ली। भागुरायण उसे बैठाता है। इस बीच गुल्माधिकारी सिद्धार्थक को पत्र और पेटिका के साथ बिना अनुमति-पत्र के बाहर जाने के प्रयास में पकड़ते हैं और वह भागुरायण के पास लाया जाता है। वहाँ वह यह प्रकट करता है कि लेख शकटदास द्वारा लिखित (अतएव राक्षस का) है। पर्वतेश्वर के आभूषण की पेटिका तो राक्षस की मुद्रा से अंकित है ही। पत्र में मलयकेतु के विरुद्ध षड्यन्त्र का विवरण है। अत: शंकित और रुष्ट मलयकेतु राक्षस को बुलवाता है। राक्षस पत्र तथा आभरणों से अपनी अनभिज्ञता प्रकट करता है, किन्तु मलयकेतु के सन्देह को परिस्थितियाँ पुष्ट करती हैं। अन्तत: मलयकेतु राक्षस को अपमानित कर निकाल देता है। ....

षष्ठ अङ्क :— **पाटलिपुत्र**

सिद्धार्थक और समिद्धार्थक एक दूसरे से मिलने जा रहे हैं और मिलते हैं। दोनों की बातों से पता चलता है कि राक्षस पाटलिपुत्र आ गये हैं और चन्दनदास को उन्हें ही चाण्डाल बन कर शूली पर चढ़ाना है।

हाथ में रस्सी लेकर फाँसी लगाने को उद्यत पुरुष भी चाणक्य का ही चर है। वह चन्दनदास के शूल पर चढ़ने के पहले ही उसके मित्र के अग्नि-प्रवेश की खबर मिलने पर दु:खी है। चन्दनदास का वह मित्र पुरुष का अपना भी मित्र है। इसलिए वह खुद भी फाँसी लगाकर मर जाना चाहता है। ठीक इसी समय यहाँ राक्षस आते हैं। वह पुरुष को फाँसी से रोकते हैं और सारी घटना मालूम होने पर चन्दनदास के वध को रोकने के लिए उद्यत होते हैं। ....

सप्तम अङ्क :— **पाटलिपुत्र**

दो चाण्डाल चन्दनदास के साथ प्रवेश करते हैं। साथ में चन्दनदास का परिवार है। चन्दनदास शूल पर चढ़ाया ही जाने वाला है कि राक्षस का प्रवेश होता है। वह चाण्डालों को रोक चाणक्य को अपने आने की सूचना देने को कहते हैं। चाणक्य इन सारी पूर्व-नियोजित घटनाओं से अवगत है। चाणक्य और राक्षस का मिलन होता है। अन्तत: चन्दनदास के प्राणों की रक्षा के लिए राक्षस को चाणक्य से शस्त्रग्रहण करना पड़ता है। इसी बीच मलयकेतु वन्दी बनाकर प्रतीहार-भूमि में लाया जाता है। स्वभावत: राक्षस उसकी प्राणरक्षा की प्रार्थना करते हैं। मलयकेतु को उनके पिता का राज्य देकर छोड़ दिया जाता है। चन्दनदास को श्रेष्ठीमुख्य का पद दिया जाता है। ....

भरतवाक्य के साथ नाटक पूर्ण होता है।

*

विशाखदत्तरचितनाटक 'मुद्राराक्षसम्'

भूमिका-परिचय

सूत्रधार, शकटदास—	डॉ० कपिलदेव पाण्डेय, प्राध्यापक, आर्य-महिला-डिग्री-कॉलेज।
स्थापक—	डॉ० भालचन्द्र वामन पाटेकर, प्राध्यापक, महिला-महाविद्यालय।
चाणक्य—	डॉ० कमलेशदत्त त्रिपाठी, प्राध्यापक, प्राच्य-विद्या धर्म-विज्ञान-सङ्काय।
राक्षस—	श्री कृष्णकान्त शर्मा, शोधच्छात्र, संस्कृत-विभाग।
चन्द्रगुप्त—	श्री सुरेश पु० भृगुवार, प्राध्यापक, मराठी-विभाग।
मलयकेतु—	डॉ० युगल किशोर मिश्र, प्राध्यापक प्राच्यविद्या धर्मविज्ञान संकाय।
आहितुण्डिक (विराधगुप्त)—	श्री मनुदेव भट्टाचार्य, प्राध्यापक, गोयनका-संस्कृत-महाविद्यालय।

सिद्धार्थक, चाण्डाल—	श्री राम प्रभा ओझा, शोधच्छात्र, संस्कृत-विभाग।
भागुरायण—	श्री कौशलेन्द्र पाण्डेय, छात्र, संस्कृत-विभाग।
नटी, चन्दनदासपत्नी—	कु० स्वरवन्दना भट्ट, छात्रा, गायम विभाग।
शार्ङ्गरव (शिष्य) चाण्डाल—	श्री योगेन्द्र पाण्डेय, छात्र, सामाजिक-विज्ञान-संकाय।
शोणोत्तरा (प्रतिहारी)—	कु० के० नीला कृष्णन्, छात्रा, महिला-महाविद्यालय।
चन्दनदास—	श्री परमहंस मिश्र, छात्र, प्राच्यविद्या-धर्म-विज्ञान-संकाय।
निपुणक-यमपटधारी चर, भासुरक—	श्री कामेश्वर उपाध्याय, छात्र, प्राच्यविद्याधर्मविज्ञान संकाय।
पारिपार्श्विक प्रथम—	श्री सियाराम तिवारी, छात्र प्रा० वि० ध० वि० संकाय।
पारिपार्श्विक द्वितीय—	श्री रमेश कुमार पाण्डेय, छात्र, संस्कृत-विभाग।
पूर्वरङ्ग-नृत्य—	कुमारी लयलीना भट्ट, छात्रा, हिन्दी विभाग।
प्रियंवदक—	श्री विष्णुमणिधर दुबे, छात्र, प्राच्य-विद्याधर्म-विज्ञान-संकाय।
जाजलि (मलयकेतु के कञ्चुकी)—	श्री मियामोतो, शोधच्छात्र, दर्शन-विभाग।
वैहीनरि (चन्द्रगुप्त का कंचुकी)—	श्री उपेन्द्र पाण्डेय, छात्र, प्राच्य-विद्याधर्म-विज्ञान संकाय।
करभक—	श्री उमाकान्त चतुर्वेदी, छात्र, प्राच्यविद्या धर्मविज्ञान संकाय।
दौवारिक, रज्जुहस्त पुरुष—	श्री पलाश त्रिपाठी, छात्र, सेन्ट्रल-हिन्दू-स्कूल।
विजया (प्रतिहारी)—	कु० प्रीति चतुर्वेदी, छात्रा, महिला-महाविद्यालय।
क्षपणक, जीवसिद्धि—	श्री पारस नाथ ओझा, छात्र, प्राच्यविद्या धर्मविज्ञान संकाय।
चन्दनदासपुत्र—	चि० अजय नौटियाल, छात्र, सेन्ट-जान्स-स्कूल।
पुरुष—	श्री देवेन्द्र नाथ द्विवेदी, छात्र, प्रा० वि० धर्म वि० संकाय।
अनुबोधन—	श्री मनुदेव भट्टाचार्य, श्री रमेश कुमार पाण्डेय।
मंच-व्यवस्था—	श्री सियाराम तिवारी, श्रीदेवेन्द्रनाथ द्विवेदी, कुमारी चारु नौटियाल, छात्रा, सेन्ट जान्स, स्कूल, कुमारी अश्विनी भृगुवार, सेन्ट्रल हिन्दू गर्ल्स स्कूल।
प्रकाशसंयोजन—	श्री मिश्र बन्धु।
सङ्गीतनिर्देशन—	डॉ० कुमारी प्रेमलता शर्मा, प्रमुख, सङ्गीतनाट्य संकाय। डॉ० भालचन्द्र वामन पाटेकर, प्राध्यापक, महिला महाविद्यालय।

कलाकार :

गान—	डॉ० भा० वा० पाटेकर। कु० मङ्गला तिवारी, शोधच्छात्रा, सङ्गीतशास्त्र विभाग।
नान्दी (नगाड़ा)—	श्री नीरज कुमार।
काँस्यवाद्य—	आशु नौटियाल।
सारंगी—	श्री नारायण मिश्र।
वंशी—	श्री गोरखनाथ दास।

वीणा—	श्री वीरभद्र राव, प्राध्यापक, वाद्य विभाग, सं० ना० संकाय।
पखावज—	श्री श्रीकान्त मिश्र, शिष्य—श्री अमर नाथ मिश्र। श्री मानिक मुण्डे ,, ,,
ध्वन्यङ्कन—	उ ग स्वें (छात्र, संगीत-नाट्य-संकाय)
आहार्य्य एवं नृत्य निर्देशन—	श्रीमती जया चन्द्रशेखर, प्राध्यापिका, संगीत नाट्य संकाय।
आहार्य्य एवं मंच परिकल्पना—	श्री वासुदेव स्मार्त, प्राध्यापक. महिला महाविद्यालय।
मंचनिर्माण साहाय्यः—	कुमारी शशि मिश्रा, कुमारी पुष्पा पाण्डेय, श्रीमती प्रमिला स्मार्त।
प्रकाशन—	डॉ० गोकुल चन्द्र जैन, प्राध्यापक, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय श्रीकपिलदेव गिरि शोध सहायक, प्रा० वि० ध० विज्ञान संकाय।
प्रस्तुति साहाय्य—	श्री सुरेश पु० भृगुवार। डॉ० कपिलदेव पाण्डये। श्री मनुदेव भट्टाचार्य। डॉ० युगलकिशोर मिश्र। श्री कृष्णकान्त शर्मा। श्री राम प्रभा ओझा।
समग्र प्रस्तुति—	डॉ० रेवा प्रसाद द्विवेदी, प्रमुख, प्रा० वि० धर्म वि० संकाय एवम्, डॉ० कुमारी प्रेमलता शर्मा, निदेशिका, अभिनयभारती
निर्देशन—	डॉ० कमलेशदत्त त्रिपाठी, प्राध्यापक प्रा० वि० धर्मविज्ञान संकाय
रङ्ग-प्राश्निक—	ठा० जयदेव सिंह। डॉ० भानुशंकर मेहता, प्रोफेसर श्री निवास रथ, विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन। प्रोफेसर विद्या निवास मिश्र, निदेशक, कन्हैयालालमाणिकलाल मुंशी भाषाविज्ञान संस्थान, आगरा। डॉ० कपिला वात्स्यायन, शिक्षा-सलाहकार, भारत सरकार।

नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम्॥
न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यत्र दृश्यते॥ —नाट्यशास्त्र

आङ्गिकं भुवनं यस्य वाचिकं सर्ववाङ्मयम्।
आहार्यं चन्द्रतारादि तं नुमः सात्त्विकं शिवम्॥ —सङ्गीतरत्नाकर

★★★

.८.

भ्रमरगीत-सङ्गीत

(कथक शैली में एकल नृत्य प्रयोग)

प्रस्तुति	—	**भरतनिधि, 'आम्नाय', वाराणसी।**
प्रायोजक	—	**श्रीचैतन्य-प्रेम-संस्थान, वृन्दावन।**
तिथि	—	फाल्गुन शुक्ल-सप्तमी, वि० सं० २०५०, शनिवार, १९ मार्च, १९९४
समय	—	सायं सात बजे।
स्थान	—	गम्भीरा, जयसिंह घेरा, वृन्दावन. (जिला मथुरा)।
सन्निधि	—	जगद्‌गुरु श्रीचैतन्यसम्प्रदाचार्य, श्रीपुरुषोत्तम गोस्वामीजी महाराज।

****

मातु-(पद-) संयोजन, धातु-(गेय-) रचना एवं निर्देशन

— **प्रो० प्रेमलता शर्मा**

नृत्य (कथक-शैली)	—	डॉ० श्रीमती रञ्जना श्रीवास्तव
गायन	—	श्रीमती विद्या वि० कातगडे
	—	श्रीमती मङ्गला तिवारी
वाद्यवृन्द	—	तबला-श्री ईश्वरलाल मिश्र
		सारङ्गी-श्री सन्तोषकुमार मिश्र
		पखावज-श्री तोताराम शर्मा
		तानपूरा, मँजीरा-स्थानीय
प्रस्तुतिपुस्तिका	—	प्रो० प्रेमलता शर्मा

भूमिका

'भ्रमरगीत' की कथा हिन्दी-जगत् में सूरदास, नन्ददास, जगन्नाथप्रसाद 'रत्नाकर', आदि की रचनाओं के माध्यम से सुपरिचित है। इन सब का उपजीव्य श्रीमद्भागवत है। श्रीकृष्ण-द्वारा 'परित्याग' के प्रति गोपियों का उपालम्भ ही श्रीमद्भागवत के १०/४७/१२-२१ का मुख्य विषय है। 'भ्रमर' को श्रीकृष्ण का दूत या प्रतिनिधि मानकर एक गोपी जिसे टीकाकारों ने श्रीराधा माना है, दस श्लोकों में उपालम्भ प्रस्तुत करती है, यही भ्रमरगीत का मूल रूप है। श्रीकृष्ण द्वारा उद्धव को मथुरा से व्रज में भेजा जाना इसकी पृष्ठभूमि है और गोपियों के विशुद्ध प्रेम से द्रवीभूत होकर उद्धव का उनकी चरण-रेणु का याचक बनना और मथुरा लौट कर श्रीकृष्ण के समक्ष व्रज-सुन्दरियों, व्रजवासियों के प्रेमोद्रेक का वर्णन करना इसकी फलश्रुति है।

ऊपर उल्लिखित हिन्दी कवियों ने भक्ति की तुलना में ज्ञान की विडम्बना पर प्रायः ध्यान केन्द्रित किया है। इसलिए श्रीमद्भागवत का आधार लेने पर भी उनकी भावधारा कुछ पृथक् बन पड़ी है।

उद्धव को व्रज में भेजने का प्रयोजन श्रीमद्भागवत में प्रकट रूप से तो यही कहा गया है के वे वहाँ जाकर श्रीकृष्ण-बलराम के माता-पिता को और गोपियों को सान्त्वना दें, किन्तु रसिकजनों ने गूढ़ प्रयोजन यह समझा है कि श्रीकृष्ण की आन्तरिक इच्छा थी कि 'बुद्धिसत्तम' उद्धव को व्रजवासियों के विशुद्ध प्रेम का प्रत्यक्ष अनुभव हो जाय। इस गूढ़ प्रयोजन का प्रकट उल्लेख 'सूरसागर' में भलीभाँति है। व्रज में गये बिना किसी को भी व्रजवासियों के प्रेम का बोध नहीं हो सकता। उद्धव के व्रजगमन से यह प्रयोजन पूरा हुआ और वे गोपियों के अहैतुक प्रेम के प्रति भूरि-भूरि नतमस्तक हुए।

हमारी प्रस्तुति सीधे श्रीमद्भागवत (दशम स्कन्ध, अध्याय 46-47) पर आधारित है। उक्त दो अध्यायों में से चुने हुए 54 पद्यों से इसका वाङ्मय शरीर बना है। बीच-बीच में से श्रीमद्भागवत की छाया प्रस्तुत करने वाले, श्री सूरदास के, पद डाले गए हैं, जिनकी संख्या सात है। एक को छोड़कर सभी पद पूरे-पूरे लेना आवश्यक नहीं लगा। इसलिए छह पदों में 'छाप' नहीं है। पद्यावली में से दो पद्य, सत्यव्रत के दामोदर-स्तोत्र में से दो पद्य (जिन्हें एक ही गिना गया है,) श्रीलघुभागवतामृत का एक श्लोक, एक दोहा और जयदेव का एक पद्य—इस प्रकार पद की 67 इकाइयों का गुम्फित रूप यहाँ प्रस्तुत है।

पूरी प्रस्तुति में पात्र कुल तीन ही हैं-श्रीकृष्ण, उद्धव और गोपियाँ। बीच-बीच में कथा-सूत्र के प्रणेता शुकदेव इन पात्रों के वार्तालाप की भाव-भूमिका प्रस्तुत करते हैं। व्रज से उद्धव के प्रस्थान के समय नन्द आदि का भी एक वाक्य है।

कथा-सूत्र-परक पद्यों को अताल रखा गया है और पात्रों के वचनों को सताल। केवल तीन स्थलों पर इस 'नियम' का अतिक्रम हुआ है, एक तो गोपियों की, उद्धव को देखकर "है कोई वैसीई अनुहारि" इस उक्ति में, दूसरे श्रीकृष्ण का सन्देश सुनकर गोपियों द्वारा उत्तर देने के अन्त में "हे नाथ! हे रमानाथ!" इस श्लोक में और तीसरे, अन्त में श्रीकृष्ण के प्रति उद्धव के "कहँ लौं कहिए व्रज की बात" इस कथन में। इन तीनों प्रसङ्गों में अताल रूप ही उचित लगा। उसी प्रकार कथासूत्रपरक अंशों को भी तीन बार सताल रखा गया है। यथा—उलूखल-बन्धन-लीला में 'रुदन्तं...' पद्य, गोवर्धन-लीला का 'गगन मेघ....' पद और चीरहरण-लीला का 'बसन हरे....' पद।

गेय-रचना में पचास रागों और छह तालों का उपयोग हुआ है। रागों का चयन यथासम्भव घटना के काल के अनुसार हुआ है। जैसे कि उद्धव को गोपियों ने प्रातःकाल में देखा है इसलिए वहाँ विभास रखा गया है। चीरहरण भी प्रातःकालीन लीला है, उसे देशकार में प्रस्तुत किया गया है। किन्तु इस नियम का भी सर्वत्र निर्वाह नहीं हो पाया है। कन्हैया को ऊखल से बाँधने की लीला भी प्रातःकालीन है, किन्तु वहाँ राग शङ्करा रखने की दुर्निवार प्रेरणा हो आई और 'काल' पर 'क्रिया' हावी हो गई।

एक ही नर्तक/नर्तकी के द्वारा सभी पात्रों का अभिनय 'नृत्य' की परम्परागत पद्धति है। उसी के अनुसार यह प्रस्तुति है। नृत्य में 'पद' या 'वाक्य' का अभिनय ही प्रमुख है। 'नृत्त' का प्रयोग आरम्भ में ही 'वन्दना' के पश्चात् संक्षिप्त 'ठाठ' और 'आमद' के रूप में है। 'भ्रमरगीत' के दसों पद्यों के आरम्भ में पृथक् 'गतों' (गीतियों) का प्रयोग हुआ है।

श्रीमद्भागवत का कथा-प्रवाह तीन स्थलों पर रोका गया है। यथा—

१. उद्धव को देखकर गोपियों की उत्सुकता और उनसे प्रश्न के प्रसङ्ग में श्रीसूरदास के दो पद रखे गए हैं।

२. उद्धव को देखकर गोपियों को श्रीकृष्ण की बाल्यावस्था और किशोरावस्था की लीलाओं का स्मरण हो आने की बात जहाँ आती है, वहाँ उलूखल-बन्धन, गोवर्धन-धारण और चीरहरण लीलाओं का संक्षिप्त वर्णन जोड़ा गया है, जिसमें श्रीसूरदास के पद, पद्यावली का पद्य और दामोदर-स्तोत्र के पद्य हैं।

३. श्रीकृष्ण का सन्देश सुनकर गोपियों को रास-क्रीडा की रात्रियों का स्मरण हो आने पर रास का वर्णन-परक श्री सूरदास का पद प्रस्तुत किया गया है।

भ्रमरगीत की यह प्रथम प्रस्तुति श्रीवृन्दावन में 'श्यामभ्रमर' के अधुना (नवम्बर, ९२ में) प्राकट्य-स्थल भ्रमरघाट पर स्थित सभाकक्ष में परम रसिक वैष्णवों और कला-प्रेमियों के सान्निध्य में होने जा रही है, यह हम सभी के लिए आनन्द का विषय है। आराधना-परक इस प्रयोग में सभी समानधर्मा आमन्त्रित हैं।

निवेदिका

प्रेमलता शर्मा
ऊर्मिला शर्मा

वसन्तपञ्चमी, वि० सं० २०५०,
१५ फरवरी, १९९४

प्रस्तुति-क्रम

1. वन्दना, ठाठ, आमद।
2. श्रीकृष्ण का उद्धव को व्रज में भेजना।
3. उद्धव का व्रज में आगमन।
4. उद्धव की श्रीकृष्ण-सदृश वेशभूषा से गोपियों को उत्सुकता, गोपियों द्वारा प्रश्न।
5. उद्धव के उत्तर की अपेक्षा के बिना ही, श्रीकृष्णलीला का स्मरण हो आने से गोपियों की तन्मयावस्था।
6. उलूखल-बन्धन, गोवर्धन-धारण और चीरहरण लीलाओं का स्मरण।

मध्यान्तर

7. किसी एक गोपी (श्रीराधा) के द्वारा वहाँ मँडराते भँवर को देखकर, उसे श्रीकृष्ण का दूत मानते हुए, दस श्लोकों में, उत्कट उपालम्भ।
8. उद्धव-द्वारा गोपियों की धन्यता का स्वीकार और श्रीकृष्ण के संदेश का कथन।
9. गोपियों का प्रत्युत्तर; उसमें रास की रात्रियों का स्मरण आने पर रास-वर्णन-परक श्रीसूरदास का पद लिया गया है।
10. उद्धव का गोपियों को नमस्कार और उनके चरणरेणु से मण्डित तृण-गुल्म-लता आदि कुछ भी बन पाने की कामना की अभिव्यक्ति।
11. उद्धव का व्रज से प्रस्थान के लिए उद्यत होना।
12. नन्द-आदि का उद्धव के प्रति वचन।
13. मथुरा लौटकर उद्धव द्वारा श्रीकृष्ण के समक्ष व्रजवासियों के प्रेमोद्रेक का वर्णन।
14. श्रीकृष्ण की विह्वल दशा और प्रतिप्रश्न। (यहाँ पर कथा का चक्र पूरा हो जाता है, किन्तु श्रीकृष्ण को मथुरा में ही

छोड़ देने से व्रज के रसिकजनों के भाव को चोट पहुँचती, इसलिए अन्त में दो पद्यों के द्वारा व्रज में श्रीकृष्ण की नित्यलीला का दर्शन प्रस्तुत किया गया है।)

15. श्रीलघुभागवतामृत का वचन कि पूर्ण श्रीकृष्ण वृन्दावन छोड़कर पग-भर भी कहीं नहीं जाते॥

16. श्रीजयदेव के पद्य द्वारा वसन्त ऋतु में श्रीकृष्ण की गोपियों के साथ क्रीडा का वर्णन।

मङ्गलाचरण

राग यमन **अताल**

1. **फुल्लेन्दीवरकान्तिमिन्दुवदनं बर्हावतंसप्रियम्,**
श्रीवत्साङ्कमुदारकौस्तुभधरं पीताम्बरं सुन्दरम्।
गोपीनां नयनोत्पलार्चिततनुं गोगोपसङ्घावृतम्,
गोविन्दं कलवेणुवादनपरं दिव्याङ्गभूषं भजे॥ (पद्यावली)

[खिले हुए नीलकमल जैसी कान्तिवाले, चन्द्रतुल्य मुखवाले, मयूरपिच्छ जिन्हें प्रिय हैं ऐसे, जिनके वक्ष पर श्रीवत्सचिह्न अङ्कित है एवं जो विशद-उज्ज्वल कौस्तुभमणि वक्ष पर धारण किए हुए हैं, ऐसे, पीताम्बर पहने हुए, अतीव सुन्दर, गोपियों के नयन-रूपी श्वेत कमलों से पूजित विग्रह वाले, गायों एवं ग्वालों के समूह से घिरे हुए, मधुर ध्वनि से वेणु बजाते हुए, दिव्य अङ्गों एवं दिव्य ही आभूषण आदि से सुसज्जित श्रीगोविन्द को मैं भजता/भजती हूँ, उन्हें भक्तिमय प्रणाम निवेदित करता/करती हूँ।]

श्रीशुकदेव की उक्ति *(उद्धव-परिचय)*

राग केदार **अताल**

2. **वृष्णीनां प्रवरो मन्त्री कृष्णस्य दयितः सखा।**
शिष्यो बृहस्पतेः साक्षाद् उद्धवो बुद्धिसत्तमः॥ (भा० 10-46-1)

[यादवों का प्रमुख सलाहकार, श्रीकृष्ण का प्रिय सखा, बृहस्पति का साक्षात् शिष्य उद्धव बुद्धिमानों में श्रेष्ठ था॥]

3. **तमाह भगवान् प्रेष्ठं भक्तमेकान्तिनं क्वचित्।**
गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रपन्नार्तिहरो हरिः॥ (वही, 2)

[उस एकनिष्ठ प्रिय भक्त को कभी एक बार, शरणागतों का दुःख मिटाने वाले भगवान् श्रीकृष्ण ने हाथ में हाथ लेकर कहा॥]

भगवान् की उक्ति *(उद्धव को व्रज भेजना)*

राग छायानट **त्रिताल**

4. **गच्छोद्धव! व्रजं सौम्य! पित्रोर्नौ प्रीतिमावह।**
गोपीनां मद्वियोगाधिं मत्सन्देशैर्विमोचय॥ (वही, 3)

[हे सौम्य! प्रिय सखे उद्धव! तुम व्रज को जाओ, हम दोनों (बलराम-कृष्ण) के माता-पिता (नन्द-यशोदा) को प्रसन्न करो; तथा मेरे वियोग से उत्पन्न हुए गोपियों के दुःख को मेरे संदेशों के द्वारा दूर करो॥]

5. ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।
मामेव दयितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गताः।
ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहम्॥ (वही, 4)

[उनका मन मुझ में ही रहता है, मुझ में ही उनके प्राण बसते हैं, मैं ही उनके प्राण हूँ, मेरे लिए वे समस्त देहधर्म (निद्रा, भोजन, शृङ्गार आदि) त्याग चुकी हैं, मुझे ही अपना प्रियतम, प्रेमास्पद, अपना-आप तक मानती हुई वे मन से सदा मुझ में ही रहती हैं। इस प्रकार से जो मेरे लिए समस्त लोक-धर्म त्यागे हुए मुझे भजते हैं, उनका भरण-पोषण मैं स्वयं करता हूँ।]

राग कामोद **त्रिताल**

6. मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः।
स्मरन्त्योऽङ्ग! विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्यविह्वलाः॥ (वही, 5)

[प्रिय सखे! सभी प्रियों में प्रियतम मैं जो दूर चला आया हूँ, दूर रह रहा हूँ, उस मुझ को सतत स्मरण करती हुई, विरह एवम् उत्कण्ठा से विह्वल होती हुई ये गोकुल की स्त्रियाँ मूर्च्छित हुई जाती हैं, विशेष मोह से दुःखित हुई कष्ट पा रही हैं।]

7. धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चन।
प्रत्यागमनसन्देशैर्बल्लव्यो मे मदात्मिकाः॥ (वही, 6)

[चित्त द्वारा मुझ से अभिन्न रहती हुई वे गोपनारियाँ, मेरे पुनः लौट आने के वचनों के बल पर किसी प्रकार बहुत ही कष्ट से प्राण-धारण कर रही हैं।]

श्रीशुकदेव की उक्ति *(उद्धव का व्रज आना)*

राग भूपाली **अताल**

8. इत्युक्त उद्धवो राजन् सन्देशं भर्तुरादृतः।
आदाय रथमारुह्य प्रययौ नन्दगोकुलम्॥ (वही, 7)

[हे राजन्! ऐसा कहे जाने पर उद्धव ने अपने स्वामी (श्रीकृष्ण) का संदेश आदरपूर्वक लेकर रथ पर आरूढ़ होकर नन्द के गोकुल की ओर प्रस्थान किया।]

राग विभास **अताल**

9. भगवत्युदिते सूर्ये नन्दद्वारि व्रजौकसः।
दृष्ट्वा रथं शातकौम्भं कस्यायमिति चाब्रुवन्॥ (वही, 47)

[भगवान् सूर्य के उदित होने पर, नन्द के द्वार पर सोने का रथ देखकर व्रजवासियों ने ऐसा कहा कि यह रथ किसका है?]

10. अक्रूर आगतः किंवा यः कंसस्यार्थसाधकः।
येन नीतो मधुपुरीं कृष्णः कमललोचनः॥ (वही, 48)

[क्या यह अक्रूर आ गया है? जिसने कि कंस का प्रयोजन सिद्ध किया था? जो कि (हमारे) कमललोचन कृष्ण को मथुरा ले गया था?]

राग अल्हैया बिलावल अताल

11. तं वीक्ष्य कृष्णानुचरं व्रजस्त्रियः
प्रलम्बबाहुं नवकञ्जलोचनम्।
पीताम्बरं पुष्करमालिनं लसन्-
मुखारविन्दं मणिमृष्टकुण्डलम्॥ (भा० 10/47/1)

[उसे-लम्बी भुजाओं वाले, नव-विकसित-कमल-सदृश नयनों वाले, पीताम्बर पहने हुए, कमलों की माला धारण किए हुए, मणिमय कुण्डलों से सुशोभित-मुखकमल वाले-कृष्ण के अनुचर को देखकर—]

12. शुचिस्मिताः-"कोऽयमपीच्यदर्शनः
कुतश्च कस्याच्युतवेषभूषणः ?"-
इति स्म सर्वाः परिवव्रुरुत्सुकास्-
तमुत्तमश्लोकपदाम्बुजाश्रयम्॥ (वही, 2)

[पवित्र मुस्कान वाली (व्रजस्त्रियाँ) -"यह कौन सुन्दर रूप वाला है जो अच्युत (श्रीकृष्ण) जैसी ही वेश-भूषा धारण किए हुए है? यह कहाँ से आया है? किसका (भेजा हुआ) है?"-ऐसी उत्सुकता लिए हुए उत्तम यश वाले (श्रीकृष्ण) के चरणकमलों के आश्रित उस (उद्धव) को घेर कर खड़ी हो गयीं।]

गोपियों की परस्पर उक्ति

राग भैरव-बहार अताल

13. है कोई वैसीई अनुहारि।
मधुवन तें इत आवत सखि री!, चितौ तु नयन निहारि॥
माथे मुकुट, मनोहर कुण्डल, पीत वसन रुचिकारि।
रथ पर बैठि कहत सारथि सों, व्रज तन बाँह पसारि॥ (सूरसागर)

श्री शुकदेव की उक्ति *(गोपियों का उद्धव के पास आना)*

राग देसी अताल

14. तं प्रश्रयेणावनताः सुसत्कृतं
सव्रीडहासेक्षणसूनृतादिभिः।
रहस्यपृच्छन्नुपविष्टमासने विज्ञाय
सन्देशहरं रमापतेः॥ (वही, 3)

[उसे रमापति (श्रीकृष्ण) का सन्देशवाहक जानकर सलज्ज-हास-भरी दृष्टि एवं मधुरवाणी आदि के द्वारा उसका भलीभाँति सत्कार करके, एकान्त में आसन पर बैठाकर, सम्मान से नम्र गोपियों ने पूछा।]

गोपियों की उक्ति उद्धव के प्रति

राग आसावरी त्रिताल

15. कहो! कहाँ ते आये हो?
जानति हौं अनुमानि मनौ तुम, जादवनाथ पठाये हो॥

वैसोई बरन, बसन पुनि वैसेइ, तन-भूषन सजि ल्याये हो।
सर्बसु लै तब सङ्ग सिधारे, अब का पर पहिराए हो ? (सूरसागर)

राग मधमाद सारङ्ग **त्रिताल**

16. जानीमस्त्वां यदुपतेः पार्षदं समुपागतम्।
भर्त्रेह प्रेषितः पित्रोर्भवान् प्रियचिकीर्षया॥ (वही, 4)

[हम यह जान गयी हैं कि आप यदुपति (श्रीकृष्ण) के पार्षद (सहचर-अनुचर) हो कर आये हैं; स्वामी ने अपने माता-पिता का प्रिय करने की इच्छा से आप को यहाँ भेजा है।]

17. अन्यथा गोव्रजे तस्य स्मरणीयं न चक्ष्महे।
स्नेहानुबन्धो बन्धूनां मुनेरपि सुदुस्त्यजः॥

[अन्यथा इस गोकुल में ऐसा कोई हमें दिखाई नहीं देता जिसका वे स्मरण करें। हाँ, स्वजनों, सगे-सम्बन्धियों का स्नेहबन्धन तो मुनियों के लिए भी त्यागना कठिन है।] (वही, 5)

राग मुलतानी **त्रिताल**

18. अन्येष्वर्थकृता मैत्री यावदर्थविडम्बनम्।
पुम्भिः स्त्रीषु कृता यद्वत् सुमनःस्विव षट्पदैः। (वही, 6)

[किसी हेतु को लेकर दूसरों से की गयी मैत्री तो तभी तक चलती है, जब तक उनसे प्रयोजन रहता है। पुरुषों के द्वारा स्त्रियों के प्रति की गई मैत्री भी वैसी ही होती है जैसी कि भ्रमरों की पुष्पों के प्रति।]

श्रीशुकदेव की उक्ति *(स्मरण-विह्वल गोपियाँ)*

राग मुलतानी **अताल**

19. इति गोप्यो हि गोविन्दे गतवाक्कायमानसाः।
कृष्णदूते व्रजं याते उद्धवे त्यक्तलौकिकाः॥ (वही, 9)

[इस प्रकार गोपियाँ गोविन्द का स्मरण करती हुईं, वाणी, शरीर और मन से उन्हीं में लीन होती हुईं, व्रज में आए हुए कृष्णदूत उद्धव की उपस्थिति में लोकलाज छोड़ बैठीं।]

20. गायन्त्यः प्रियकर्माणि रुदन्त्यश्च गतह्रियः।
तस्य संस्मृत्य संस्मृत्य यानि कैशोरबाल्ययोः॥ (वही, 10)

[श्रीकृष्ण की किशोरावस्था और बाल्यावस्था की प्रिय लीलाओं को गाती हुई, उनका पुनः पुनः स्मरण करती हुई लज्जा भूल कर रोने लगीं; रोते हुए गाने लगीं।]

बाल्य तथा कैशोर अवस्था की लीलाओं का स्मरण

उलूखल-बन्धन

राग शंकरा **त्रिताल**

21. बाँधौं आजु कौन तोहिं छोरै!
बहुत लंगरई कीन्ही मोसों, भुज गहि रजु ऊखल सों जोरै।
जननी अति रिस जानि बंधायौ, चितै बदन, लोचन जल ढोरै।। (सूरसागर)

राग भैरवी झपताल

22. रुदन्तं मुहुर्नेत्रयुग्मं मृजन्तं कराम्भोजयुग्मेन सातङ्कनेत्रम्।
मुहुःश्वासकम्पत्रिरेखाङ्ककण्ठस्थितं नौमि दामोदरं भक्तिबद्धम्॥
नमामीश्वरं सच्चिदानन्दरूपं लसत्कुण्डलं गोकुले भ्राजमानम्।
यशोदाभियोलूखलाद् धावमानं परामृष्टमत्यन्ततो द्रुत्य गोप्या॥

(सत्यव्रतकृत दामोदर-स्तोत्र)

[रोते हुए, बार-बार दोनों करकमलों से दोनों नेत्र मलते हुए, आतङ्कभरी दृष्टि वाले, जल्दी-जल्दी काँपती श्वास लेते, हिचकी-हिटकोरे खाते हुए जिनके कण्ठ पर तीन रेखायें दिख रही हैं ऐसे, भक्तिवश पेट पर रस्सी बँधाये हुए दामोदर को नमस्कार है, जो ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप हैं।]

गोवर्धन-धारण

राग मियाँ मल्हार सूलताल

23. गगन मेघ घहरात थहरात गात।
चपला चमचमाति, चमकि नभ भहरात।
राखि ले क्यों न व्रज नन्दतात॥
सुनत करुणा बैन, उठे हरि, चले ऐन,
नैन की सैन गिरि तन निहार्‌यौ।
सबनि धीरज दियो, उचकि मन्दर लियो,
कह्यो गिरिराज तुम को उबार्‌यो॥
करज के अग्र, भुज बाम, गिरिवर धर्‌यो,
नाम गिरिधर पर्‌यो भक्त काजै।
'सूर' प्रभु कहत ब्रजबासिन सों,
राखि तुम लिए गिरिराज राजै॥ (सूरसागर)

रागमाला अताल
(मुलतानी, बिहाग, तिलंग, भीमपलासी, केदार)

24. सत्रासार्त्ति यशोदया, प्रियगुणप्रीतेक्षणं राधया,
नगनैर्बल्लवसूनुभिः सरभसं, सम्भावितात्मोर्जितैः।
भीतानन्दितविस्मितेन विषमं नन्देन चालोकितः
पायाद् वः करपद्मसुस्थितमहाशैलः सलीलो हरिः॥ (पद्यावली)

[नन्हे करकमल की उँगली के छोर पर महान् विराट् पर्वत (गोवर्धन) को भलीभाँति स्थिर स्थित किए हुए, खेल खेलते हुए-से हरि (सात वर्ष के बालकृष्ण) आप सब की रक्षा करें, जिन्हें माता यशोदा त्रास और आर्त्तिभरी दृष्टि से देख रही हैं, श्रीराधा अपने प्रियतम के गुण के कारण प्रसन्नता-भरी दृष्टि से देख रही हैं; नंग-धड़ंग गोपबालक बड़े आश्चर्य से, कुछ घबराहट से और अपने साथी द्वारा इतना बड़ा कार्य होते देख उसमें अपना भी बड़प्पन माने हुए-से ऊर्जाभरी दृष्टि से देख रहे हैं; और नन्दबाबा वात्सल्योचित भय, आनन्द तथा विस्मय से विषम बनी दृष्टि से देख रहे हैं॥]

चीरहरण

राग देशकार **त्रिताल**

25. बसन हरे सब कदम चढ़ाये।
सोरह सहस गोप-कन्यन के अङ्ग अभूषन सहित चुराये॥
अति विस्तार नीप-तरु ता में लै लै जहाँ तहाँ लपटाये।
मनि आभरन डार-डारन प्रति देखत छबि मन ही अटकाये॥ (सूरसागर)

मध्यान्तर

भ्रमरगीत

(भ्रमर को देखकर गोपी की उक्ति)

श्रीशुकदेव की उक्ति *(उक्त विषय में))*

राग खमाज **अताल**

26. काचिन्मधुकरं दृष्ट्वा ध्यायन्ती कृष्णसङ्गमम्।
प्रियप्रस्थापितं दूतं कल्पयित्वेदमब्रवीत्॥ (भा० 10/47/11)

[(उन में से) एक गोपी (वहाँ उपस्थित) एक भ्रमर को देख कर, श्रीकृष्ण से मिलन का ध्यान करती हुई, उस भ्रमर को प्रिय का भेजा हुआ दूत मान कर उससे इस प्रकार बोली। (भ्रमर के बहाने उद्धव को सुनाने लगी।)-]

गोपी की उक्ति *(भ्रमर/उद्धव-के प्रति)*

राग खमाज **त्रिताल**

27. मधुप कितवबन्धो! मा स्पृशाङ्घ्रिं सपत्न्याः-
कुचविलुलितमालाकुङ्कुमश्मश्रुभिर्नः।
वहतु मधुपतिस्तन्मानिनीनां प्रसादम्,
यदुसदसि विडम्ब्यं यस्य दूतस्त्वमीदृक्॥ (वही, 12)

[ओ भ्रमर! कपटी के बन्धु! सपत्नी के वक्ष पर लोटी हुई पुष्पमाला में लिपटे कुङ्कुम से सनी अपनी मूँछों द्वारा हमारे पैरों को मत छुओ! ऐसा मानिनियों का प्रसाद तो (वे तुम्हारे सखा या स्वामी-) मधुपति ही धारण करें, जो यादवों की सभा में विडम्बना के योग्य हैं, जिस (कपटी मधुपति) के दूत तुम इस प्रकार के (कपट-भरी विनती दिखाने वाले) हो।]

राग देस **त्रिताल**

28. सकृदधरसुधां स्वां मोहिनीं पाययित्वा,
सुमनस इव सद्यस्तत्यजेऽस्मान् भवादृक्।
परिचरति कथं तत्पादपद्मं तु पद्मा,
ह्यपि बत हतचेता उत्तमश्लोकजल्पैः॥ (वही, 13)

[एक बार मोहिनी अधरसुधा पिला कर उस तुम्हारे सरीखे (श्रीकृष्ण) ने हमें तत्काल उसी प्रकार छोड़ दिया जैसे कि तुम (भ्रष्ट) पुष्पों को (एक-आध बार छू कर) छोड़ देते हो। पद्मा (लक्ष्मी) न जाने कैसे उनके चरणकमल की सेवा किया

करती हैं। अवश्य ही उस उत्तम यश-वाले की मीठी बातों या कीर्ति से ही लक्ष्मी का मन हर लिया गया है या सुध हार बैठी हैं।]

त्रिताल

राग शुद्ध सारंग

29. किमिह बहु षडङ्घ्रे! गायसि त्वं यदूनाम्
अधिपतिमगृहाणामग्रतो नः पुराणम्।
विजयसखसखीनां गीयतां तत्प्रसङ्गः
क्षपितकुचरुजस्ते कल्पयन्तीष्टमिष्टाः॥ (वही, 14)

[हे छह पैर (तिरछी चाल) वाले (भौंरे)! तुम यदुओं के अधिपति (कृष्ण) की पुरानी बातें यहाँ हमारे सामने क्यों बार-बार गा (गुनगुना) रहे हो? हमारा तो घर-द्वार तक (उन्हीं की उन पुरानी बातों के कारण) छूट चुका है! हम बेघरों के सामने उन यादव राजा का पुराण क्यों बार-बार गा रहे हो! अच्छा हो कि तुम अर्जुन के सखा (कृष्ण) की उन सखियों के सामने यह सब गाओ जिनकी हृदय व तनु की व्याधि (कृष्ण-समागम से) दूर हो चुकी है; वे (कृष्ण की) चाही हुई नई प्रेयसियाँ अवश्य प्रसन्न होकर तुम्हारा अभीष्ट पूरा कर देंगी।]

त्रिताल

राग बागेश्री

30. दिवि भुवि च रसायां काः स्त्रियस्तद्दुरापाः
कपटरुचिरहास-भ्रूविजृम्भस्य याः स्युः।
चरणरज उपास्ते यस्य भूतिर्वयं का
अपि च कृपणपक्षे ह्युत्तमश्लोकशब्दः॥ (वही, 15)

[स्वर्ग, भूलोक और पाताल-रसातल में ऐसी कौन सी स्त्रियाँ हैं जो उनके लिए दुर्लभ हों। वे तो कपट-भरे सुन्दर हास और भ्रूविलास से मण्डित हैं। स्वयं विभूति (लक्ष्मी) उनकी चरणरज की उपासना करती हैं, हमारी क्या बिसात? किन्तु (इस प्रकार विश्व-भर या चौदहों भुवनों की स्त्रियों को जो मोहित करता है उसको जो-) उत्तमश्लोक (उत्तम कीर्ति वाला कहा जाता है, इससे यह) शब्द कृपण (अधम) के पक्ष में पड़ रहा है।]

त्रिताल

राग बिहाग

31. विसृज शिरसि पादं वेद्म्यहं चाटुकारैर्
अनुनयविदुषस्तेऽभ्येत्य दौत्यैर्मुकुन्दात्।
स्वकृत इह विसृष्टापत्यपत्यन्यलोका:
व्यसृजदकृतचेताः किं नु सन्धेयमस्मिन्॥ (वही, 16)

[मेरे पैरों पर सिर रगड़ना छोड़ दो। मैं खूब समझ रही हूँ कि तुमने मुकुन्द से ही चापलूसी और अनुनय की विद्या सीखी है, इसीलिए यह दूतकर्म तू कुशलता से कर रहा है। जिसके लिए हमने सन्तान, पति और अन्य स्वजन त्याग दिये, उस कृतघ्न ने हमें छोड़ दिया। अब हमें उससे क्या सन्धि या मेल-मिलाप करना है?]

त्रिताल

राग हमीर

32. मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधे लुब्धधर्मा
स्त्रियमकृत विरूपां स्त्रीजितः कामयानाम्।
बलिमपि बलिमत्त्वाऽऽवेष्टयद् ध्वाङ्क्षवद् यस्-
तदलमसितसख्यैर्दुस्त्यजस्तत्कथार्थः॥ (वही 17)

[रामावतार में जिसने व्याध की भाँति क्रूर होकर छिप कर कपिराज बाली को मार डाला; अपनी स्त्री के वश में होकर, अपने प्रति आसक्त हुई स्त्री (शूर्पणखा) को (नाक-कान काट कर) विरूप कर दिया; बलि की पूजा ग्रहण करके फिर चालाक कौए की भाँति उस दाता बलि को ही बन्धन में डाल दिया, उस कृष्ण का सख्य बहुत हो चुका (अब हमें उसके सख्य की बातें न सुनाओ!) किन्तु हाय! फिर भी उसकी कथा की चाह हमसे छूटती नहीं।]

राग जयजयवन्ती त्रिताल

33. यदनुचरितलीलाकर्णपीयूषविप्रुद्
सकृददनविधूतद्वन्द्वधर्मा विनष्टाः।
सपदि गृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीना
बहव इह विहङ्गा भिक्षुचर्यां चरन्ति॥ (वही, 18)

[(वे श्रीकृष्ण ऐसे हैं) जिनके चरित और लीला-रूपी अमृत के एक कण के एक बार भी आस्वादन से लोगों के द्वन्द्वधर्म (भूख-प्यास, राग-द्वेष आदि) दूर हो जाते हैं, और वे लोग दीन भिखारी बनकर तत्काल (उस सुख की तुलना में-) दीन-हीन घर-द्वार, कुटुम्ब सब छोड़ कर पक्षियों की भाँति भिक्षु बनकर विचरण करने लगते हैं। अर्थात् श्रीकृष्ण के लीलामृत की एक बूँद का भी आस्वादन देह-भान और घर-परिवार छुड़ा कर उसी रस का प्यासा दीन भिखारी बना देता है।]

राग दुर्गा त्रिताल

34. वयमृतमिव जिह्मव्याहृतं श्रद्दधानाः
कुलिकरुतमिवाज्ञाः कृष्णवध्वो हरिण्यः।
ददृशुरसकृदेतत् तन्नखस्पर्शतीव्र-
स्मररुज उपमन्त्रिन् ! भण्यतामन्यवार्ता॥ (वही, 19)

[हम लोगों ने उसकी कपटभरी बातों को श्रद्धापूर्वक सत्य माना, जैसे कि कृष्णमृग की वधुएँ (हरिणियाँ) व्याध के गीत को प्रेमपूर्वक सुनकर मोहित होती हैं, और फिर उसके बाणों से बिंध जाती हैं। उसी प्रकार हम भी उसके नखस्पर्श से होने वाले तीव्र कामरोग का अनेक बार अनुभव कर चुकी हैं। इसलिए हे दूत ! अब और कोई बात सुनाओ! (उसकी बातें तो दु:ख ही बढ़ाती हैं।)]

राग रागेश्री त्रिताल

35. प्रियसख पुनरागाः प्रेयसा प्रेषितः किम्?
वरय किमनुरुन्धे माननीयोऽसि मेऽङ्ग !
नयसि कथमिहास्मान् दुस्त्यजद्वन्द्वपार्श्वं
सततमुरसि सौम्य श्रीर्वधूः साकमास्ते॥ (वही, 20)

[हे प्रिय के सखा ! तुम फिर से आ गये हो? क्या तुम्हें प्रिय ने भेजा है? हे प्रिय! तुम (प्रियतम के भेजे हुए हो अत:) हमारे माननीय हो, कहो तो हम तुम्हारे लिए क्या करें? जो चाहो सो माँग लो! (यदि कहो कि हमें उसके पास ले जाने के लिए आये हो तो वह सम्भव नहीं) तुम हमें उसके पास कैसे ले जा सकते हो जिसकी जोड़ी (सङ्गिनी) दुस्त्यज (छोड़ी न जा सकने वाली) है। उनकी वधू लक्ष्मी तो (उनके वक्ष:स्थल में ही) नित्य साथ रहती हैं।]

राग दरबारी त्रिताल

36. अपि बत मधुपुर्यामार्यपुत्रोऽधुनाऽऽस्ते
स्मरति स पितृगेहान् सौम्य ! बन्धूँश्च गोपान्।

क्वचिदपि स कथा नः किङ्करीणां गृणीते
भुजमगुरुसुगन्धं मूर्ध्न्यधास्यत् कदा नु॥ (वही, 21)

[क्या आर्यपुत्र (स्वामी) इस समय (मथुरा, मधुपुरी) में हैं? हे सौम्य! क्या वे अपने पिता के घर का, बन्धुओं-गोपों का कभी स्मरण करते हैं? क्या वे कभी हम दासियों की भी बात करते हैं? अगर से सुगन्धित अपनी भुजा कब वे हमारे मस्तक पर रखेंगे?]

श्रीशुकदेव की उक्ति

राग सिन्धूरा **अताल**

37. अथोद्धवो निशम्यैवं कृष्णदर्शनलालसाः।
सान्त्वयन् प्रियसन्देशैर्गोपीरिदमभाषत॥ (वही, 22)

[तब कृष्ण के दर्शन की लालसा वाली उन गोपियों की ऐसी बातें सुन कर उद्धव उनके प्रियतम के सन्देशों से उन्हें सांत्वना देते हुए इस प्रकार बोले-]

श्री उद्धव की उक्ति-गोपियों के प्रति

राग मालकौंस **त्रिताल**

38. अहो यूयं स्म पूर्णार्था भवत्यो लोकपूजिताः।
वासुदेवे भगवति यासामित्यर्पितं मनः॥ (वही, 23)

[अहो आप लोग पूर्णकाम हैं, लोक द्वारा पूजित (सम्माननीय) हैं, जिनका कि मन भगवान् वासुदेव में इस प्रकार अर्पित है॥]

राग मालकौंस **त्रिताल**

39. श्रूयतां प्रियसन्देशो भवतीनां सुखावहः।
यमादायागतो भद्राः अहं भर्तृरहस्करः॥ (वही, 28)

[अब आप लोग उस प्रियसन्देश को सुनें जो कि आपके लिए परम सुखदायी है, जिसे लेकर मैं, स्वामी का रहस्यमन्त्री, यहाँ आया हूँ।]

श्रीभगवान् का सन्देश-गोपियों के प्रति

राग भिन्नषड्ज **त्रिताल**

40. भवतीनां वियोगो मे न हि सर्वात्मना क्वचित्।
यथा भूतानि भूतेषु खं वाय्वग्निर्जलं मही।
तथाऽहं च मनःप्राणभूतेन्द्रियगुणाश्रयः॥ (वही, 29)

[आप लोगों का मुझ से पूरी तरह वियोग कभी नहीं है। जैसे आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी-ये पाँचों महाभूत परस्पर कभी अलग नहीं होते, वैसे ही मैं मन, प्राण, भूत, इन्द्रिय और गुणों का आश्रय हूँ।]

राग हिन्दोल **त्रिताल**

41. यत् त्वहं भवतीनां वै दूरे वर्ते प्रियो दृशाम्।
मनसः सन्निकर्षार्थं मदनुध्यानकाम्यया॥ (वही, 34)

[आपके नयनों का तारा होते हुए भी मैं जो आप लोगों से दूर रह रहा हूँ वह केवल इसलिए कि आपका मन मेरे निकट बना रहे, और आप निरन्तर मेरा ध्यान करती रहें-यह मैं चाहता हूँ॥]

श्रीशुकदेव की उक्ति

राग मधमाद सारंग **अताल**

42. एवं प्रियतमादिष्टमाकर्ण्य व्रजयोषितः।
ता ऊचुरुद्धवं प्रीतास्तत्सन्देशागतस्मृतीः॥ (वही, 38)

[इस प्रकार प्रियतम के सन्देश को सुनकर व्रजगोपियाँ प्रसन्न हुईं और उस सन्देश से जिनकी स्मृति जाग उठी थी वे गोपियाँ उद्धव के प्रति बोलीं।]

गोपियों की उक्ति *(उद्धव के प्रति)*

राग काफ़ी **त्रिताल**

43. दिष्ट्याऽहितो हतः कंसो यदूनां सानुगोऽघकृत्।
दिष्ट्याऽऽप्तैर्लब्धसर्वार्थैः कुशल्यास्तेऽच्युतोऽधुना॥ (वही, 39)

[भाग्य से यादवों को दुःख देने वाला दुष्ट कंस अपने साथियों सहित मारा गया, और अब अच्युत (कृष्ण) सब प्रकार से धन-धान्य से पूर्ण अपने कुटुम्बियों के साथ कुशल से हैं-यह भी बड़े सौभाग्य की बात है॥]

44. कच्चिद् गदाग्रजः सौम्य करोति पुरयोषिताम्।
प्रीतिं नः स्निग्धसव्रीडहासोदारेक्षणार्चितः॥ (वही, 40)

[हे सौम्य ! यह तो बताओ कि श्रीकृष्ण हमारी स्नेहपूर्ण लजीली मुस्कान तथा मनोहर चितवन से पूजित होकर (हम से प्रीति करते थे, उसी प्रकार अब) मथुरापुरी की कामिनियों के प्रति (भी) प्रीति रखते हैं ? जिन्हें हम स्नेहपूर्ण लजीली मुस्कानभरी मनोहर चितवन से पूजती थीं वे श्रीकृष्ण अब पुर की सुन्दरियों को प्रसन्नता देते हैं न!]

45. अपि स्मरति नः साधो! गोविन्दः प्रस्तुते क्वचित् !
गोष्ठीमध्ये पुरस्त्रीणां माध्व्याः स्वैरकथान्तरे॥ (वही, 42)

[हे साधो ! पुरनारियों की गोष्ठी में कभी बात चलने पर स्वच्छन्द वार्तालाप में श्रीगोविन्द क्या कभी हम गँवार ग्वालिनियों का भी स्मरण करते हैं ?]

46. ताः किं निशाः स्मरति यासु तदा प्रियाभिर्
वृन्दावने कुमुदकुन्दशशाङ्करम्ये।
रेमे क्वणच्चरणनूपुररासगोष्ठ्याम्
(अस्माभिरीडितमनोज्ञकथः कदाचित्??) (वही, 43)

[क्या कभी गोविन्द उन (शरद् ऋतु की) रात्रियों का स्मरण करते हैं-जिनमें, उस समय की प्रियाओं के साथ, कुमुद-कुन्द एवं चन्द्रमा की मनोहरता से अतीव रमणीय बने हुए वृन्दावन में (यमुना-पुलिन पर) छमछमाते पायलों की झङ्कार-वाले रासमण्डल में खेले थे, नाचते थे। वे गोविन्द, जिनकी मनोहारिणी उन लीलाओं को हम पूजती रही हैं, वे गोविन्द क्या उन शरद्रात्रियों को कभी स्मरण भी करते हैं ?]

रास-लीला के स्मरण से तल्लीन गोपियाँ

राग केदार **चौताल**

47. जहाँ श्याम-घन रास उपायो।
कुमकुम जल सुख-वृष्टि रमायो।7
धरणी रज-कपूरमय भारी।
विविध सुमन छबि न्यारी-न्यारी॥
युवती जुरि मण्डली बिराजे,
बिच-बिच कान्ह तरुनि बिच भ्राजे।
अनुपम लीला प्रकट दिखायो,
गोपिन को कीयो मन-भायो॥ (सूरसागर)

गोपियों की उक्ति *(उद्धव के प्रति)*

राग पूरिया-धनाश्री **त्रिताल**

48. अप्येष्यतीह दाशार्हः तप्ताः स्वकृतया शुचा।
सञ्जीवयन् नु नो गात्रैर् यथेन्द्रो वनमम्बुदैः॥ (भा० 10/40/44)

[हे उद्धव ! श्रीकृष्ण क्या कभी (पुनः) यहाँ आवेंगे? इन्द्रदेव जैसे जल बरसा कर वन को हरा-भरा कर देते हैं, वैसे ही, स्वयं उन्हीं के दिए विरह के कारण दुःख से तपी हुई हम ग्वालिनों को अपने स्पर्श से जीवित करते हुए क्या वे कभी यहाँ आयेंगे??]

49. किमस्माभिर्वनौकोभिरन्याभिर्वा महात्मनः।
श्रीपतेराप्तकामस्य क्रियेतार्थः कृतात्मनः? (वही, 46)

[अब भला हम वनवासिनियों से अथवा अन्य किन्हीं से भी उन महात्मा (महान् व्यक्ति) को क्या प्रयोजन होगा? वे तो लक्ष्मीपति हैं, पूर्णकाम हैं, कृतकृत्य हैं! उन्हें भला हम जैसों से क्या लेना-देना?]

राग श्री **त्रिताल**

50. सरिच्छैलवनोद्देशा गावो वेणुरवा इमे।
सङ्कर्षणसहायेन कृष्णेनाचरिताः प्रभो॥ (वही, 49)

[हे प्रभो! ये नदियाँ, पर्वत, वनखण्ड, पुलिन, ये गायें, वह वेणुध्वनि सभी तो सङ्कर्षण (बलराम) के सहित श्रीकृष्ण के द्वारा किये हुए चरितों से जुड़े हुए हैं।]

राग पूरबी **त्रिताल**

51. पुनः पुनः स्मारयन्ति नन्दगोपसुतं बत।
श्रीनिकेतैस्तत्पदकैर्विस्मर्तुं नैव शक्नुमः॥ (वही, 50)

[ये सभी तो—इनमें अङ्कित श्रीगोविन्द के श्रीनिकेत चरणचिह्नों के द्वारा पुनः पुनः उन्हीं नन्दगोप के कुँवर का स्मरण दिलाते रहते हैं, हम किसी भी प्रकार उसे भूल नहीं पा रही हैं॥]

राग पूरिया-कल्याण **त्रिताल**

52. गत्या ललितयोदारहासलीलावलोकनैः
माध्व्या गिरा हृतधियः कथं तं विस्मरामहे॥ (वही, 51)

[उनकी ललित गति से, उन्मुक्त हँसी से, लीलामय चितवन से, मधुभरी वाणी से हमारे चित्त हरे गये हैं, हम कैसे उन्हें भूल पायेंगे?]

राग मारवा **अताल**

53. हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन।
मग्नमुद्धर गोविन्द गोकुलं वृजिनार्णवात्॥ (वही, 52)

[हे नाथ! हे रमानाथ! हे व्रजनाथ! हे दुःखनाशन ! हे गोविन्द! यह गोकुल डूबा जा रहा है, इसे दुःखसागर से उबारो!]

श्रीशुकदेव की उक्ति

राग यमन **अताल**

54. दृष्ट्वैवमादि गोपीनां कृष्णावेशात्मविक्लवम्।
उद्धवः परमप्रीतस्ता नमस्यन्निदं जगौ॥ (वही, 57)

[गोपियों के चित्त की इस प्रकार की, कृष्णावेशभरी व्याकुलता देख कर उद्धव परम प्रसन्न हुए एवं उन्हें प्रणाम करते हुए ऐसा बोले।]

श्रीउद्धव का उद्गार *(गोपियों के विषय में)*

राग गौडसारंग **त्रिताल**

55. एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो
गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावाः।
वाञ्छन्ति यद् भवभियो मुनयो वयं च
किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य॥ (वही, 58)

[ये गोपवधुएँ ही इस पृथ्वी पर शरीरधारियों में श्रेष्ठ हैं; क्योंकि इनका चित्त अखिलात्मा गोविन्द में अत्यन्त आसक्त हो गया है। संसार से भय मानने वाले मुनि लोग और हम भक्तजन भी उसी भाव की इच्छा करते हैं; जो श्रीअनन्त की कथाओं के रसिक हैं, उन्हें ब्राह्मण-कुल में जन्म की क्या आवश्यकता है? अथवा श्रीअनन्त की कथा में रस होने का द्विजकुल में जन्म होने या न होने से क्या सम्बन्ध?]

राग अडाना **द्रुत एकताल**

56. आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥ (वही, 61)

[क्या ही अच्छा हो कि मैं वृन्दावन में इन गोपियों की चरणरज का सेवन करने वाले गुल्म (झाड़ी), लता या ओषधियों

(जड़ी-बूटियों) में से कोई हो जाऊँ! इन गोपियों ने दुस्त्यज अपने स्वजनों और आर्यपथ (श्रेष्ठ मार्ग) को छोड़कर मुकुन्द की प्राप्ति का मार्ग स्वीकार किया, जिस की खोज वेदों को भी रहती है। जो कुछ इन लोगों ने छोड़ा है वह छोड़ना अतीव कठिन है।]

त्रिताल

राग नायकी कानड़ा

57. **वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः।**
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम्॥ (वही, 63)

[नन्द के व्रज की स्त्रियों की चरणरेणु को मैं बार-बार वन्दन करता हूँ, जिनके द्वारा किया गया हरिकथा का गान तीनों लोकों को पवित्र करता है।]

श्रीशुकदेव की उक्ति

अताल

राग तोड़ी

58. **अथ गोपीरनुज्ञाप्य यशोदां नन्दमेव च।**
गोपानामन्त्र्य दाशार्हो यास्यन् आरुरुहे रथम्॥ (वही, 64)

[इसके बाद गोपियों, यशोदा एवं नन्द से अनुज्ञा लेकर, गोपों से विदा लेकर उद्धव जाने की इच्छा से रथ पर चढ़े।]

59. **तं निर्गतं समासाद्य नानोपायनपाणयः।**
नन्दादयोऽनुरागेण प्रावोचन्नश्रुलोचनाः॥ (वही, 65)

[उद्धव के व्रज से निकल जाने पर नन्द आदि हाथों में अनेक उपायन (भेंट सामग्री) लेकर उनके पास आये, और अनुराग से आँखों में अश्रु भर बोले।]

व्रजवासी नन्द आदि की उक्ति

त्रिताल

राग ललित

60. **मनसो वृत्तयो नः स्युः कृष्णपादाम्बुजाश्रयाः।**
वाचोऽभिधायिनीर्नाम्नां कायस्तत्प्रह्वणादिषु॥ (वही, 66)

[हमारे मन की वृत्तियाँ श्रीकृष्ण-चरणकमल के आश्रित बनें, हमारी वाणी उनके नाम कहती रहे, और शरीर उन्हें प्रणाम आदि करने में लगा रहे।]

61. **कर्मभिर्भ्राम्यमाणानां यत्र क्वापीश्वरेच्छया।**
मङ्गलाचरितैर्दानैर् रतिर्नः कृष्ण ईश्वरे॥ (वही, 67)

[कर्मों के कारण घूमते हुए ईश्वरेच्छा से जहाँ कहीं हमारा जन्म हो, वहीं पर मङ्गलमय आचरण, दान आदि से भगवान् कृष्ण में हमारी रति बनी रहे।]

श्रीशुकदेव की उक्ति

अताल

राग अहीर-भैरव

62. **एवं सभाजितो गोपैः कृष्णभक्त्या नराधिप।**
उद्धवः पुनरागच्छन् मथुरां कृष्णपालिताम्॥ (वही, 68)

[हे राजन्! इस प्रकार कृष्णभक्ति के द्वारा गोपों से सम्मान पाकर उद्धव श्रीकृष्ण द्वारा सुरक्षित मथुरा में लौट आये।]

63. कृष्णाय प्रणिपत्याह भक्तयुद्रेकं व्रजौकसाम्।
वसुदेवाय रामाय राज्ञे चोपायनान्यदात्॥ (वही, 69)

[श्रीकृष्ण को प्रणाम करके उद्धव ने व्रजवासियों की भक्ति के उद्रेक (उछाल) की बात उनसे कही, और वसुदेव, बलराम एवं राजा (उग्रसेन) को भेंट सामग्री दी।]

श्रीउद्धव की उक्ति *(श्रीकृष्ण के प्रति)*

राग भैरवी **अताल**

64. कहँ लौं कहिये ब्रज की बात !
सुनहु स्याम तुम बिनु उन लोगन, जैसे दिवस बिहात।
गोपी ग्वाल गाय गोकुल सब, मलिन बदन कृस गात।
परम दीन जनु सिसिर-हेम-हत, अम्बुजगन बिनु पात।
जो कोउ आवत देखति हैं सब, मिलि बूझति कुसलात।
चलन न देत प्रेम आतुर उर, कर-चरनन लपटात।
पिक चातक बन बसन न पावहिं, बायस बलिहिं न खात।
सूर स्याम सन्देसन के डर, पथिक न वा मग जात॥ (सूरसागर)

उद्धव की बात सुनकर श्रीकृष्ण का प्रतिभाव

65. पुलक-गात, भरि नैन जल, सुमिरि-सुमिरि ब्रज भाय।
बूझत ऊधोहिं अङ्क भरि-'आये जोग सिखाय' ! !

पूर्ण श्रीकृष्ण का नित्य वृन्दावन-विहार

66. कृष्णोऽन्यो यदुसम्भूतो यः पूर्णः सोऽस्त्यतः परः।
वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति॥ (लघुभागवतामृत)

[यदुकुल में उत्पन्न कृष्ण अन्य है। जो पूर्ण श्रीकृष्ण है, वह उससे भिन्न है। वह वृन्दावन छोड़ कर एक पैर भी अन्यत्र नहीं जाता।]

पूर्णमङ्गल

राग-वसन्त, बहार, वसन्तबहार **ताल-धमार**

67. विश्वेषामनुरञ्जनेन जनयन्नानन्दमिन्दीवर-
श्रेणीश्यामलकोमलैरुपनयन्नङ्गैरनङ्गोत्सवम्।
स्वच्छन्दं व्रजसुन्दरीभिरभितः प्रत्यङ्गमालिङ्गितः
शृङ्गारः सखि मूर्तिमानिव मधौ मुग्धो हरिः क्रीडति॥ (श्रीगीतगोविन्द)

[हे सखि! (देखो-देखो!) सभी का अनुरञ्जन करके आनन्द उपजाते हुए, कमलों की पंक्ति के समान कोमल अङ्गों के द्वारा अनङ्ग यानि कामदेव का उत्सव सम्पन्न करते हुए, सब ओर से व्रजसुन्दरियों के द्वारा स्वच्छन्द रूप से प्रत्येक अङ्ग में आलिङ्गित, मूर्तिमान् शृङ्गार के सदृश ये मुग्ध हरि (श्रीकृष्ण) मधु (वसन्त ऋतु) में क्रीडा कर रहे हैं॥]

प्रयोक्तृ-परिचायिका

1. डॉ० श्रीमती रञ्जना श्रीवास्तव

रीडर, कथक नृत्य, संगीत-नाट्य-संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।

लखनऊ विश्वविद्यालय से अंग्रेजी में एम० ए०, कथक नृत्य में भारतखण्डे संगीत विद्यापीठ, लखनऊ से 'नृत्य-निपुण'।

''**कथक : उद्भव और विकास**'' विषय पर प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध पर का० हि० वि० वि० की पी-एच० डी० उपाधि 1994 में मिली।

श्री विक्रम सिंह, श्री मोहनराव कल्याणपुरकर, श्री बिरजू महाराज, श्री शम्भु महाराज एवं श्री सुन्दरप्रसाद जैसे श्रेष्ठ गुरुओं से कथक नृत्य में शिक्षण लिया।

अभिनय में विशेष रूप से निष्णात।
अभिनय-कौशल विशेषज्ञों द्वारा प्रशंसित।
अनेक सङ्गीत-समारोहों में नृत्य-प्रस्तुति।

पता— डी 57/49-डी-5, मौलवी बाग,
वाराणसी-221001
रीडर, सङ्गीत नाट्य संकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005

2. श्रीमती विद्या (कालविण्ट) कातगड़े

प्रसिद्ध सङ्गीत-गुरु पं० श्री मुकुन्द विष्णु कालविण्ट की सुपुत्री एवं शिष्या।

संस्कृत में का० हि० वि० वि० से एम० ए०। गायन में 'सङ्गीत-प्रवीण' (प्रयाग सङ्गीत समिति)

कण्ठ-माधुर्य, स्पष्ट पदोच्चार के लिए प्रशंसित एवं काकु-प्रयोग में विशेष कौशल। ख्याल के साथ-साथ ठुमरी में भी निष्णात।

आकाशवाणी में 'ए' श्रेणी गायिका। अनेक सङ्गीत-सम्मेलनों में सफल गायन प्रस्तुति।

पता — श्रीमती विद्या कातगड़े
बंगला नं० 2, टाइप 'बी',
लेबर वेल्फेयर सेण्टर, शास्त्री नगर,
कानपुर - 208 005

3. श्रीमती मङ्गला तिवारी

वसन्त महिला महाविद्यालय, राजघाट, वाराणसी में गायन में 'लेक्चरर'।

सुप्रसिद्ध ध्रुपद-गायक पं० शिवप्रसाद त्रिपाठी की दौहित्री एवं सङ्गीत-गुरु पं० मुकुन्द विष्णु कालविण्ट की शिष्या।

का० हि० वि० से हिन्दी में एम० ए० एवं बी० एड०।

सङ्गीत-प्रवीण (प्रयाग सङ्गीत समिति)।

भारत में अनेक स्थानों पर एवं डेनमार्क, जर्मनी, ग्रेट ब्रिटेन, इटली आदि विदेशों में सफल गायन-प्रस्तुति।

आकाशवाणी की नियमित गायिका। १९९७ में सुरसिंगार-संसद की 'सुरमणि' उपाधि प्राप्त।

मुक्त कण्ठ, स्पष्ट तानों और लालित्य के कारण प्रशंसित।

पता - वसन्त महिला महाविद्यालय, राजघाट, वाराणसी।

4. श्रीईश्वरलाल मिश्र

वाराणसी के एक विशिष्ट सङ्गीत-परिवार में जन्म। आपका घराना सङ्गीत से जुड़ा था। पिता स्व० दाऊजी मिश्र विशिष्ट गायक थे। पिता के देहान्त के बाद आपका पालन-पोषण दादा स्व० पं० वंशी महाराज (सारंगी-वादक) एवं माता स्व० श्रीमती रामादेवी द्वारा हुआ।

तबले का शिक्षण सुप्रसिद्ध तबला-वादक स्व० पं० अनोखेलाल मिश्र से सम्पन्न।

संगत का शिक्षण प्रसिद्ध गायक पं० महादेवजी मिश्र से मिला।

गायन, वादन एवं नृत्य-तीनों के साथ संगत में समान रूप से प्रवीण।

आकाशवाणी एवं दूरदर्शन के साथ वर्षों से सम्बद्ध।

देश के जाने-माने कलाकारों के साथ सफल संगत।

देश-विदेश में शिक्षण देने का और एकल वादन का दीर्घ अनुभव।

प्रायः तीस वर्ष से का० हि० वि० वि० के सङ्गीत संकाय में सेवारत।

पता — संगीत नाट्य संकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी - 221 005

5. श्री सन्तोषकुमार मिश्र

काशी के विशिष्ट सङ्गीत परिवार में जन्म। घरानेदार सारंगी-वादक।

सारंगी की शिक्षा पहले अपने पिता पं० श्री भगवान्दास मिश्र से मिली और बाद में ताऊ पं० श्रीनारायण मिश्र से, जो कि निरन्तर चल रही है।

आकाशवाणी एवं दूरदर्शन के नियमित कलाकार।

एकल वादन एवं संगत में समान रूप से दक्ष। भारत के युवा सारंगी-वादकों में विशिष्ट स्थान।

विदेशों में अनेक बार सफल प्रस्तुतियों की शृंखला।

कुछ वर्षों से का० हि० वि० के सङ्गीत संकाय में सेवारत।

पता — संगीत नाट्य संकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी-221 005

★★★

.९.

सङ्गीतमय

श्रीकृष्णलीलाप्रसङ्ग

प्रस्तुति	—	प्रो० प्रेमलता शर्मा भरतनिधि, 'आम्नाय', वाराणसी-५
प्रायोजक	—	श्री चैतन्य प्रेमसंस्थान, वृन्दावन शनिवार, ११ मार्च, १९९५
तिथि	—	फाल्गुन शुक्ल नवमी, वि०सं० २०५१ शनिवार, ११ मार्च, १९९५
समय	—	सायं सात बजे।
स्थान	—	गम्भीरा, जयसिंह घेरा, वृन्दावन
सन्निधि	—	जगद्गुरु श्रीचैतन्यसम्प्रदायाचार्य श्रीश्री पुरुषोत्तम गोस्वामीजी महाराज।
नृत्य- (कथक शैली)	—	डॉ० श्रीमती रञ्जना श्रीवास्तव, वाराणसी

मातु (-पद-) संयोजन, धातु (-गेय-) रचना (सम्पूर्ण सङ्गीत)

एवं निर्देशन	—	प्रो० प्रेमलता शर्मा, वाराणसी
गायन	—	श्रीमती मङ्गला तिवारी, एवं सुश्री रेवती साकलकर, वाराणसी

वाद्यवृन्द

बाँसुरी	—	श्री के० श्रीनिवासन्, वाराणसी
तबला	—	श्री किशोर कुमार मिश्र, वाराणसी
पखावज	—	पं० तोताराम शर्मा, वृन्दावन
तानपुरा, मँजीरा	—	स्थानीय

१

मङ्गलाचरण

कस्तूरीतिलकं ललाटपटले वक्षःस्थले कौस्तुभं
नासाग्रे वरमौक्तिकं करतले वेणुः करे कङ्कणम्।
सर्वाङ्गे हरिचन्दनं सुललितं कण्ठे च मुक्तावली
गोपस्त्रीपरिवेष्टितो विजयते गोपालचूडामणिः॥

२

पालना-लोरी

राग-शुद्ध सारंग तीनताल

जसोदा हरि पालनै झुलावै।
हलरावै, दुलराइ मल्हावै, जोइ-सोई कछु गावै॥
''मेरे लाल कौ आउ निदँरिया, काहे न आनि सुलावै।
तू काहे नहीं वेगिहि आवै, तो कौं कान्ह बुलावै''॥
कबहुँ पलक हरि मूँद लेत हैं, कबहुँ अधर फरकावै।
सोवत जानि मौन है के रहि, करि-करि सैन बतावै॥
इहि अन्तर अकुलाइ उठे हरि, जसुमति मधुरे गावै।
जो सुख 'सूर' अमर-मुनि-दुर्लभ, सो नँद-भामिनी पावै॥ (सूरसागर)

३

मिट्टी खाना-मुख में ब्रह्माण्ड-दर्शन

राग-अल्हैया बिलावल ताल-त्रिताल

माटी खाई, जसुमति तेरे ढोटा, अबहीं, मो देखत।
यह सुनि कै रिस भरि उठि धाई, बाँह पकरि लै लाई॥
इक कर सों भुज गहि गाढ़े करि, इक कर लीन्ही साँटी।
मारहुँ तोहिं अबहिं कन्हैया, वेगि न उगिलै माटी॥
''ब्रज लरिका सब तेरे आगैं, झूठी बात बनाई।
मेरे कहे नहीं तू मानति, दिखरावौं मुख बाई''॥
''नाहं भक्षितवान् अम्ब! एते मिथ्याभिशंसिनः।
यदि सत्यगिरस्तर्हि समक्षं पश्य मे मुखम्''॥ *(श्रीमद्भागवत १०/८१/३५)

अखिल ब्रह्माण्ड-खण्ड की महिमा दिखराई मुखमाँहि।
सिन्धु-सुमेर-नदी-बन-पर्वत, चकित, भई मन चाहि॥
करतें साँटि गिरत नहिं जानी, भुजा छाँड़ि अकुलानी।
सूर कहे जसुमति-''मुख मूँदौ, बलि गई सारँगपानी''॥ (सूरसागर)

*[''माँ! मैंने माटी नहीं खाई, ये सब झूठ बोल रहे हैं, यदि सच बोलते हों, तो सामने ही मेरा मुँह देख लो!'']

४

माखनचोरी

रागमालिका-नन्द, तिलककामोद, वृन्दावनी सारंग, शङ्करा-त्रिताल

गये स्याम तिहिं ग्वालिनि के घर।
देख्यो द्वार नहीं कोऊ, इत उत चितै चले तन भीतर॥

हरि आवत गोपी जब जान्यो, आपुन रही छपाइ।
सूने भवन मथनियाँ के ढिग, बैठि रहे अरगाइ॥
माखन भरी कमौरी देखत लै लै लागे खान।
चितै रहे मनि खम्भ छाँह तन, तासों करत सयान॥
''प्रथम आज मैं चोरी आयो, भलो बन्यो है संग''।
आप खात प्रतिबिम्ब खवावत, गिरत, कहत-''का रंग?॥
जो चाहो सब देऊँ कमौरी, अति मीठौ, कत डारत?।
तुमहिं देत मैं अतिसुख पायो, तुम जिय कहा विचारत?''॥
सम्मुष्णान् नवनीतमन्तिकमणिस्तम्भे स्वबिम्बोद्‌गमं
दृष्ट्वा मुग्धतया कुमारमपरं संचिन्तयन् शङ्कया।
''मन्मित्रं हि भवान्, मयाऽत्र भवतो भागः समः कल्पितो
मा मां सूचय सूचये'' त्यनुनयन् बालो हरिः पातु वः॥ *(पद्यावली)

सुनि-सुनि बात स्याम के मुख की उमँगि हँसी ब्रजनारि।
सूर स्याम तब निरखि ग्वारि मुख, पुनि भजि चले मुरारि॥ (सूरसागर)

*[माखन चुराते हुए बालकृष्ण सामने समीप ही मणिमय खम्भे में अपना प्रतिबिम्ब देखकर, उसे दूसरा बालक समझकर सोच में पड़े और उसे कहने लगे--''आप तो मेरे मित्र हैं, मैंने आपके लिए अपने जितना ही माखन रखा है--यह लो! हाँ, मेरी यह बात किसी को बताना नहीं, बताना नहीं!''--ऐसा अनुनय करते हुए हरि आप सब की रक्षा करें।]

५
कालिय-दमन

राग-मुलतानी, खमाज तीनताल

जमुना के तीर, आजु सबै ब्रज।
कालिनाग के फन पर निरतत सङ्कर्षन कौ बीर॥
लाग-मान थेइ-थेइ करि उघटत ताल मृदङ्ग गँभीर।
प्रेम-मगन गावत गन्धर्व-गन व्योम विमाननि भीर॥
उरग-नारि आगैं भईं ठाढ़ी नैननि ढारति नीर।
''हम कौं दान देइ पति छाँड़हु सुन्दर स्याम सरीर''॥
आए निकसि पहिरि मनि-भूषन, पीत-बसन कटि चीर।
सूर स्याम कौं भुज भरि भेंटत, अंकम देत अहीर॥ (सूरसागर)

६
वंशी को उलाहना

राग-काफ़ी, छन्द-सवैया अताल

हाथ चढ़ी हरिकें जब तें हरिबोइ करै, कछुवै न विचारै।
हाथ कियौ मन-सो धन हेलि, इतै पर हाथ कौं पाय पसारै।
लैहै कहा अब? सोच महा, परिये रहै गोहन साँझ सवारै।
मोहन की बिसवासिनि बाँसुरीताननि में बिसबाननि मारै॥ (घनानन्द)

७

वंशी का आकर्षण

राग-खमाज छन्द-कवित्त **अताल**

बाजी घर आईं, बाजी देखिबे कौ धाईं,
बाजी जिय अकुलाई, तान सुन गिरधर की।
बाजी नाहिं धरें धीर, बाजी न सँभारें चीर,
बाजिन के उठी पीर, दावानल धरकी॥
बाजी हँसि बोलैं, बाजी करत किलोलैं,
बाजी संग लगी डोलैं, सुधि नाहीं घर की।
बाजी कहैं ''बाजी-बाजी!'', बाजी कहैं ''कहा बाजी?''
बाजी कहैं ''बाजी बंसी साँवरे सुघर की''॥ (कोई रीतिकालीन कवि)

८

श्रीराधा द्वारा श्रीकृष्ण का चित्राङ्कन

राग-मालिका **त्रिताल**
यमन, हमीर, छायानट, शङ्करा, परज, भीमपलासी

चित्राय त्वयि चिन्तिते तनुभुवा चक्रे ततज्यं धनुः
वर्तिं धर्तुमुपागतेऽङ्गुलियुगे बाणो गुणे योजितः।
प्रारब्धे तव चित्रकर्मणि धनुर्मुक्ताऽस्त्रभिन्ना भृशं
भित्तिं द्रागवलम्ब्य केशव! चिरं सा तत्र चित्रायते॥ पद्यावली

[सखी श्रीकृष्ण को विरहिणी श्रीराधा की दशा बता रही हैं-हे केशव! चित्र बनाने के लिए तुम्हारा चिन्तन करते ही मानो कामदेव ने धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ा ली; जब अंगुलियाँ तूलिका पकड़ने चलीं तो मानो कामदेव ने धनुष की डोरी पर बाण रख लिया; तुम्हारा चित्र आँकना प्रारम्भ करते ही तो मानो उस धनुष से छूटे अस्त्र (बाण) से गहरी बिंधी हुई वह उस भित्ति (आधार) पर चित्र बनी-सी रह गई है।]

९

घट और लकुटी को लेकर गोपी-गोपाल में नोंक-झोंक

राग भैरवी **त्रिताल**

''घट भरि देहु, लकुट तब दैहौं।
हौं हूँ बड़े महर की बेटी, तुम सौं नाहिं डरैहौं॥''
''मेरी कनक-लकुटिया दै री, मैं भरि दैहौं नीर।
बिसरि गई सुधि वा दिन की तोहिं, हरे सबनि के चीर॥''
यह बानी सुनि ग्वारि बिबस भई, तन की सुधि बिसराई।
सूर लकुट कर गिरत न जानी, स्याम ठगौरी लाई॥ -(सूरसागर)

१०
मोहन द्वारा घट दिये जाने पर गोपी की तन्मयावस्था

राग बागेश्री **तीनताल**

घट भरि दियौ स्याम उठाई।
नैकु तनकी सुधि न ताकौं, चली ब्रज-समुहाइ॥
स्यामसुन्दर नैन-भीतर, रहे आनि समाइ।
जहाँ-जहँ भरि दृष्टि देखै, तहाँ-तहाँ कन्हाइ॥
उतहि तैं इक सखी आई, कहति ''कहा भुलाइ?''।
सूर, ''अबहीं हँसत आई, चली कहा गँवाइ?''॥ सूरसागर

११
होरी

राग-परज **ताल-धमार**

लाल गुलाल जिन डारो,
बरजोरी न करो *यदुनन्दन, छोड़ो जी हाथ हमारो।
झकझोरो न, मुरक जाय बैयाँ, छूट जाय कचवारो।
'श्याम सखे' तोरे पैयाँ परत, मेरो घूँघट पट न उघारो॥ (सङ्गीत की मौखिक परम्परा)

*[मौखिक परम्परा में 'रघुनन्दन' पाठ मिलता है।]

★★★

.१०.

नन्ददास-कृत

भँवरगीत

भरतनाट्यम् शैली में नृत्यनाटिका

—'नृत्यश्री', वडोदरा की प्रस्तुति—

तिथि : फाल्गुन शुक्ल अष्टमी, शुक्रवार वि० सं० 2051 (10 मार्च 1995)

स्थान : श्री चैतन्य, प्रेम-संस्थान, वृन्दावन

प्रेरणा+पदसंकलन+पुस्तिका+परिचय आदि-प्रो० प्रेमलता शर्मा

निर्देशिका—श्रीमती जया चन्द्रशेखर

संगीत—(गीत-वाद्य-नृत्य), रचना—श्री को० वें० चन्द्रशेखर

वेश-परिकल्पना	—सुश्री मञ्जरी चन्द्रशेखर		
परामर्शक	—डॉ० दयाशङ्कर शुक्ल		
नृत्य	—सुश्री मञ्जरी चन्द्रशेखर		**गोपियाँ**
''	'' अखिला स्वामी		**गोपियाँ**
''	'' अभिज्ञा मेहता		**गोपियाँ**
''	'' शैलजा शुक्ल		**गोपियाँ**
''	'' सुवर्णा चोलकर		**गोपियाँ**
''	श्री दर्शन पुरोहित	—	**उद्धव**
''	श्री शरद पण्ड्या	—	**कृष्ण**
''	श्री ऋत्विज मिस्त्री	—	**भँवर**
गायन	—श्री को० वें० चन्द्रशेखर		
	—श्रीमती सुमित्रा रायचौधरी		
वाद्यवृन्द			
वायलिन	—विभास रानाडे		
सितार	—नारायण भेंवरिया		
वंशी	—असित बुच		
मृदङ्गम्	—र० नटराजन्		

(अवधि—पौने दो घण्टे)

कथासार

आज हमें जितने भ्रमरगीत उपलब्ध हैं, उनमें नन्ददास की कृति का विशिष्ट स्थान है। वृन्दावन में गोपिकाओं की विरह-व्यथा का इसमें सजीव चित्रण है। उद्धव का वृन्दावन में पहुँचना, गोपियों को निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति के लिए ज्ञान-मार्ग का उपदेश देना, गोपियों द्वारा उद्धव को करारे उत्तर देना, सगुण ब्रह्म के प्रति गोपियों के प्रेम और भक्ति का उद्रेक, श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों के प्रेम से मन्त्रमुग्ध होकर उद्धव का सर्वथा परिवर्तित रूप में मथुरा लौटना, और अन्त में श्रीकृष्ण द्वारा अपने भीतर गोपियों की उपस्थिति का उद्धव को बोध कराना—यह कथासार है।

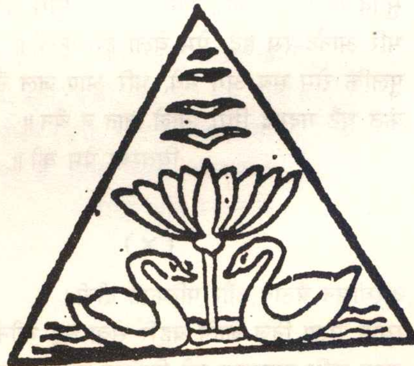
नृत्यनाटिका का प्रारम्भ उस दृश्य से होता है—जहाँ गोपियाँ श्रीकृष्ण के विरह में व्याकुल हैं और उनके लौटने की लालसा में विह्वल हैं। इसी समय उद्धव का प्रवेश होता है, और वे श्रीकृष्ण के कुशल-मङ्गल का सन्देश गोपियों को देते हैं। श्रीकृष्ण के नाम के श्रवण मात्र से गोपियों में उनके निकट सम्बन्ध की स्मृतियाँ जाग उठती हैं। कृष्ण का सखा जानकर गोपियाँ उद्धव का भावभरा स्वागत करती हैं और उद्धव उनका कुशलक्षेम पूछते हैं। उद्धव श्रीकृष्ण के रूप का जो दर्शनपरक व्याख्यान करते हैं उसके लिए गोपियाँ उन्हें उलाहना देने लगती हैं क्योंकि वे स्वयं मनुष्य के रूप में कृष्ण को देख-सुन कर उनके सामीप्य का अनुभव कर चुकी हैं। उद्धव फिर भी गोपियों को समझाने का प्रयत्न करते हैं कि जो कुछ उन्होंने देखा-सुना-अनुभव किया, वह सब भ्रम था। किन्तु गोपियाँ तनिक भी विचलित हुए बिना और उद्धव की उपस्थिति का ध्यान रखे बिना निरन्तर श्रीकृष्ण को सम्बोधित करती चलती है, और उनसे यह अनुरोध करती हैं कि वे प्रेमबन्धन को तोड़ें नहीं। उनकी दशा जल से बाहर पड़ी मीन जैसी है।

उद्धव इस पूरे वातावरण से इतने द्रवित हो जाते हैं कि वे उस भक्तिमयी भूमि के प्रति प्रणत होते हैं जिसमें गोपियाँ परम पूज्य हैं। तभी वहाँ एक भ्रमर, आ पहुँचता है मानों उद्धव का मन ही भ्रमर का रूप धारण करके गोपियों के प्रेमोद्रेक का निकटता से अनुभव करने के लिए उनके बीच मँडराने लगता है। गोपियाँ काले भँवर को सभी कालों का प्रतिनिधि मानकर उपालम्भ देने लगती हैं कि कृष्ण और उद्धव भी उसी विश्वासघाती जाति के हैं, और ऐसा कहते हुए वे भ्रमर को दूर भगा देती हैं।

उद्धव अब सर्वथा बदल चुके हैं। उन्हें ऐसा लगता है कि गोपियों के अश्रुओं के साथ वे भी ज्ञानमार्ग से दूर बह गए हैं। वे व्रजभूमि की धूलि बन जाना चाहते हैं जिस पर गोपियों के चरण पड़ते हैं।

ऐसी मनोदशा में उद्धव मथुरा लौटते हैं, एवं श्रीकृष्ण से अनुरोध करते हैं कि वे व्रज लौट चलें। श्रीकृष्ण यद्यपि अत्यन्त व्याकुल हो उठते हैं, फिर भी वे उद्धव को अपने स्वरूप में स्थित गोपियों का दर्शन कराते हैं और उसे स्तब्ध छोड़कर स्वयं अन्तर्धान हो जाते हैं।

नन्ददास धन्य हैं जिन्होंने यह कथा गाई।



राग तोडी

-नि सा रे। ग - सा। रे ग म -। - म ध नि। सां———।
-नि - ध। - म - ग। - रे - सा।
नि सा रे नि सा रे ग, सा रे ग सा रे ग म, रे ग म, रे ग म ध,
ग म ध, ग म ध, नि ध नि सां रे गं रें-
सां - सां - नि - ध - प - प -म - म - ग - ग - रे - रे - सा -

(१)

उद्धव का प्रवेश

राग भीमपलासी **१६ मात्रा**

ऊधौ कौ उपदेस, सुनौ ब्रजनागरी।
रूप सील लावन्य, सबै गुनआगरी॥
प्रेम धुजा रसरूपिनी, उपजावन सुख-पुंज।
सुन्दर स्याम-विलासिनी, नव वृन्दावन कुंज॥
सुनो ब्रजनागरी॥

(२)

कहन स्याम सँदेस, एक मैं तुमपैं आयो। **(वही)**
कहन समै संकेत, कहुँ अवसर नहीं पायौ॥
सोचत ही मन में रह्यौ, कब पाऊँ एक ठाऊँ।
कहि सँदेश नँदलाल कौ, बहुरि मधुपुरी जाऊँ॥
सुनो ब्रजनागरी॥

(३)

राग सोहनी **६ मात्रा**

सुनत स्याम को नाम, ग्राम गृह की सुधि भूली।
भरि आनँद रस हृदै, प्रेम बेली दृग फूली॥
पुलकि रोम सब अंग भये, भरि आए जल नैन। **८ मात्रा**
कंठ घुटै गदगद गिरा, बोले जात न बैन॥
विवस्था प्रेम की॥

(४)

अरघासन बैठाय और परिकर्मा दीनी। **६ मात्रा**
स्याम सखा निज जानि बहुरि सेवा बहु कीनी॥
बूझत सुधि नन्दलाल की विहँसत मुख ब्रजबाल। **८ मात्रा**

नीके हैं बलबीरजू बोलत बचन रसाल॥
सखा सुनि स्याम के॥

(५)

राग बिहाग ८ मात्रा

कुसल स्याम अरु राम, कुसल संगी सब उनके।
जदुकुल सगरे कुसल, परम आनन्द सबन के।।
बूझत ब्रज कुसलात कों, हौं आयो तुम तीर।
मिलिहैं थोरे दिवस में, जिनि जिय होहु अधीर॥
सुनौ ब्रजनागरी॥

(६)

अताल

वे तुमते नहिं दूर, ग्यान की आँखिन देखौ।
अखिल बिस्व भरपूर, ब्रह्म सब रूप बिसेखौ॥
लोह दारु पाषान में जल-थल माँहि अकास।
सचर अचर बरतत सबै जोति ब्रह्म परकास॥
सुनो ब्रजनागरी॥

(७)

राग भूपाली ८ मात्रा

कौन ब्रह्म को जोति ग्यान कासों कहैं ऊधो।
हमरे सुन्दर स्याम प्रेम कौ मारग सूधौ॥
नैन बैंन स्रुति नासिका मोहन रूप दिखाय।
सुधि बुधि सब मुरली हरी प्रेम ठगौरी लाय॥
सखा सुनि स्याम के॥

(८)

जो मुख नाहिन हुतौ, कहौ किन माखन खायौ।
पाँयन बिन गौ संग, कहौ, को बन बन धायौ॥
आँखिन में अंजन दियौ, गोवर्द्धन लियौ हाथ।
नंद जसोदा पूत हैं, कुँवर कान्ह ब्रजनाथ॥
सखा सुनि स्याम के।

(९)

राग देस ७ मात्रा

जाहि कहौ कान्ह नाहि कोउ पिता न माता।
अखिल खण्ड ब्रह्माण्ड बिस्व उनहीं तै जाता॥
लीला गुन अवतार कै, धरि धाए तन स्याम।

तराना

दीरना दीं - त दीरना दीं - त तन दीरना ....
तन दीर तन दीरना -
जोग जुगति ही पाइये, पारब्रह्म परधाम।
सुनौ ब्रजनागरी॥

(१०)

राग बागेश्री ७ मात्रा

ऐसे में नन्दलाल रूप नैनन के आगे।
ग म---सा ग। म---नि सा ग। म -- ग म ध नि॥
ऐसे में-।

सा ग म ध नि सां -। नि ध म ग रे सा-॥
सा ग म ध नि सां -। नि ध म ग रे सा -॥
मम मम मम मम गम गरे सा -। धध धध धध धनि धम गम -।
सांसां सांसां सांसां गरें सांनि धम धनि॥
ऐसे में -।

ऐसे में नन्दलाल रूप नैनन के आगे।
आय गयो छवि छाय बने पियरे उर बागे॥
ऊधौं सों मुख फरिके, तिनहीं सों कह बात।
प्रेम अमृत मुख तैं स्त्रवै, अंबुज नैन चुवात॥
तरक रस रीति को॥

(११)

राग भैरव अताल

अहो नाथ अहो रमानाथ जदुनाथ गुसाईं।
नँदनंदन विडरात फिरत तुम बिन बन गाई॥
काहे न फेरि कृपाल होउ, गो ग्वालन सुधि लेहु।
दुख जलनिधि हम बूड़हीं, कर अवलम्बन देहु॥
निठुर है कँह रहै॥

सरगम **८ मात्रा**

सां--रि। नि -- सां। ध - नि -। ध - प -।
ग म प ध। म प ग म। प - ग -। म रे - सा।
सा म - म। सा प - प। म ध - ध। प ध म प।
ग म प ध। म प ग म। प ग - म। रे - सा -॥

(१२)

राग मालकौंस **८ मात्रा**

कोऊ कहै अहो दरस देहु जो बेनु सुनावौ।
दुरि दुरि बन की ओट कहा हिये लौन लगावौ॥
हमकों तुम पिय एक हौ, तुमको हमसी कोरि।
बहुत भांति के रावरे, प्रीति न डारौ तौरि॥
एक ही बार में॥

(१३)

राग खमाज **८ मात्रा**

कोऊ कहै अहो दरस फिरि लेत दुराई।
यह छल विद्या कहौ कौन पिय तुमहिं सिखाई॥
हम सब दरस अधीन हैं, ताते बोलत दीन।
जल बिनु कहु कैसे जिये, पराधीन जे मीन॥
विचारौ रावरे॥

ग -- म ग --- नि सा ग म प ग म प ध नि सां नि ध प ध म ग रे म ग सा - नि सा
सा ग म प, ग म नि ध, प ध नि सा, ध नि सा - रें - सां - नि - ध - प - म ग रे सा।

(१४)

राग नट भैरव **५ मात्रा**

कोऊ कहै अहो स्याम चहत मारन जो ऐसे।
गिरि गोबर्द्धन धारि करी रक्षा तुम कैसे॥
ब्याल अनल विष ज्वाल तैं, राखि लिये सब ठौर।
बिरह अनल अब दाहिहौं, हँसि हँसि नंद किसोर॥
चोरि चित लै गये॥

(१५)

राग यमन **८ मात्रा**

देखत उनकौ प्रेम ज्ञान ऊधौ को भाज्यौ।
तिमिर भाव आवेस बहुत अपने मन लाज्यौ॥
मन में कहै रुचि पाई कै लै माथे रज धार।
परम कृतारथ ह्वै रह्यो त्रिभुवन आनँद वार॥
वंदना-जोग ये॥

(१६)

राग वसंत **८ मात्रा**

ताही छिन इक भँवर, कहूँ ते उड़ि तहँ आयो।
व्रजबनितन के पुंज, माझ गुंजत छबि छायो॥
बैठ्यो चाहत पाँय पर, अरुन कमल दल जानि।
मानौ मन ऊधो भयौ, प्रथमहि प्रगट्यौ आनि॥
मधुप को भेष धरि॥

(१७)

राग आभोगी **६ मात्रा**

ताहि भँवर सों कहैं, सबै प्रतिउत्तर बातैं।
तर्क वितर्कन युक्त प्रेम रस रूपी घातैं॥
जिन परसौ मम पाँव रे! कै तुम मदरस चोर।
तुमहीं सों कपटी हुते, मोहन नंद-किसोर॥
इहां तें दूरि हो॥

(१८)

राग हंसध्वनि **८ मात्रा**

कोउ कहै री बिस्व मांझ जेते हैं कारे।
कपटी कुटिल कठोर, परस मानस-मसिहारे॥
एक स्याम तन परसि के, जरत आजु लौ अंग।
ता पाछै फिरि मधुप यह, लायौ जोग भुजंग॥
कहा इनको दया॥

(१९)

राग काफी **८ मात्रा**

कोउ कहै रे मधुप, भेष उनही को धार्‌यो।
स्याम पीत गुंजार बेनु किंकिन झनकारयो॥

वा पुर गोरस चोरि के, फिरि आयो या देस।
इनकौ जिनि मानौ कह्यो, कपटी इनको भेष॥
चोरि जिनि जाय कछु॥

(२०)

कोउ कहै रे मधुप, श्याम जोगी तू चेला।
कुबजा तीरथ जाय, कियौ इन्द्रिन को मेला॥
मधुबन सिद्ध कहाय कै, आये गोकुलमाहिँ।
इहाँ सबै प्रेमी बसे, तुमरो गाहक नाहिँ।
पधारो रावरे॥

(२१)

राग वैरागी भैरव — ७ मात्रा

उमग्यौ दोउ नयन सलिल, अँसुवन की धारनि।
भीजत अंबुज नीर, कंचुकी बहुगुन हारनि॥
ताही प्रेम प्रवाह में, ऊधौ चले बहाय।
भली ग्यान की मेड़ हौं, ब्रज में दीनी आय॥
कूल को तन भयौ॥

(२२)

राग शिवरंजनी — ७ मात्रा

प्रेम प्रसंसा करत सुद्ध जो भक्ति प्रकासी।
दुविधा ग्यान ग्लानि मंदता सिगरी नासी॥
कहत भयौ निश्चै रहै, हरि रस की निज पात्र।
हौं तो कृतकृत ह्वै रह्यो, इनके दरशन मात्र॥
मेटि मल ग्यान को॥

(२३)

८ मात्रा

पुनि कहैं परसत पाँय, प्रथम हौं इनहि निवार्‌यो।
भृंग संग्या करि कहत, निंद सबहिन तै डार्‌यौ॥
अब ह्वै रहौं ब्रज भूमि के, मारग में की धूर।
विचरत पद मों पर परै, सब सुख जीवन मूर॥
मुनिन हूँ दुर्लभ जो॥

(२४)

कृष्ण का प्रवेश

राग पूरिया धनाश्री **८ मात्रा**

ऐसे मन अभिलाष, करत मथुरा फिरि आयौ।
गदगद पुलकित रोम, अंग आवेस जनायौ॥
गोपी-गुन गावन लग्यौ, मोहन-गुन गयौ भूल।
जीवन को लै कहा करौ, पायौ जीवन मूल॥
भक्ति को सार यह॥

(२५)

७ मात्रा

ऐसे सोचत जहाँ, स्याम तहाँ आयो धायौ।
परिकर्मा दंडौत, प्रेम सों अधिक जनायौ॥
कछु निरदयता स्याम की, करि क्रोधित दोऊ नैन।
कछु ब्रजबनिता प्रेम के, बोलत रस भरे बैन॥
सुनौ नँदलाडिले॥

(२६)

जयजयवन्ती **८ मात्रा**

पुनि पुनि कहै अहो स्याम, जाइ बृन्दावन रहिये।
परम प्रेम को पुंज, गोपिन संग लहिये॥
और क्रिया सब छाँड़ि कै, उन लोगन सुख देहु।
नातरु टूट्यौ जात है, अबही नेह सनेहु॥
करौगे तो कहा॥

(२७)

अहीर भैरव **८ मात्रा**

सुनत सखा के बैन नैन भरि आये दोऊ।
विवस प्रेम आवेस रही नाहीं सुधि कोऊ॥
रोम रोम प्रति गोपिका, ह्वै गये सांवरे गात।
कल्प तरोवर सांवरो, ब्रज-बनिता भई पात॥
उलटि अंग अंग तैं॥

(२८)

ललित **८ मात्रा**

ह्वै सुचित कहौ भले सखा पठये सुधि लावन।
औंगुन हमरे आनि तहां तै लगे दिखावन॥

मोमें उनमें अंतरा एकौ छिन भर नांहि।
ज्यों देखी मों मांझ वे त्यों मैं उनहीं मांहि॥
तरंगनि वारि ज्यों॥

(२९)

मधमाद सारंग

५ मात्रा

गोपिन रूप दिखाई, एक करिकै बनवारी।
ऊधौ भरम निवारि, डारि व्यामोह की जारी॥
अपनौ रूप दिखाइ कै, लीनौ बहुरि दुराय।
नंददास पावन भयौ जो यह लीला गाय॥
प्रेम रस पुंज की॥

सम्पादक, प्रकाशक—प्रेमलता शर्मा—भरत-निधि, वाराणसी

★★★

.११.

वेणुगीत

सङ्गीत

(कथक शैली में सामूहिक नृत्य-प्रयोग)

प्रायोजक— श्रीराधागोविन्द-आराधनमण्डप-मङ्गलमहोत्सव, जयपुर तथा श्री चैतन्यप्रेमसंस्थान, वृन्दावन

स्थान— जयपुर, दिनांक १४ नवंबर १९९५

प्रस्तुति— 'कदम्ब', अहमदाबाद

पद-चयन तथा गेय-रचना— प्रो० प्रेमलता शर्मा

गायन तथा सङ्गीत-विन्यास— श्री अतुल देसाई

नृत्य-रचना— श्रीमती कुमुदिनी लाखिया, श्रीमती सन्ध्या देसाई

नृत्य— वैशाली त्रिवेदी, माधवी झाला, ईशानी शाह, राजवी झवेरी, ऋचा आर्य, सलोनी भाटिया, तरल चुद्‌गर, माधवी शाह, निमिषा पटेल, श्री प्रशान्त शाह, श्री आकाश नायक,

वाद्यवृन्द— रमेश बपोदरा-तबला तथा पखावज
घनश्याम व्यास-बाँसुरी
हँसमुख चावड़ा-इसराज
गोपी पारिख-सितार
रुचिर दवे-गायन
विठ्ठल पवार-तबला

रङ्ग-सज्जा— श्रीमती मीरा लाखिया

प्रकाश योजना— मुकेश लिम्बचिया

भूमिका

मार्च' ९४ में भ्रमर-गीत (श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्ध के अध्याय ४६, ४७) की गेय-रचना और कथक-शैली में एकल प्रयोग का अवसर मिला था। श्रीचैतन्य-प्रेम-संस्थान, वृन्दावन की प्रेरणा और सहयोग से उक्त रचना और प्रस्तुति सम्भव हुई थी। तभी यह बात उठी थी कि श्रीमद्भागवत के अन्य चार गीतों को लेकर भी गेय-रचना और नृत्य-प्रस्तुति होनी चाहिए। इन गीतों में से वेणुगीत का स्थान मेरे चित्त में सर्वप्रथम था क्योंकि प्रायः बीस वर्ष पूर्व इस गीत को सामूहिक गान के रूप में प्रस्तुत किया था और तब से नृत्य-प्रस्तुति की बात मन में पड़ी हुई थी। मार्च' ९८ में श्रीचैतन्य-प्रेम-संस्थान, वृन्दावन में श्रीकृष्ण-लीला प्रसङ्ग की प्रस्तुति के समय डॉ० श्रीवत्स गोस्वामी ने यह अनुरोध किया कि जयपुर में श्रीराधागोविन्द-मण्डप में अक्तूबर-नवम्बर में जो मासव्यापी महोत्सव संकल्पित है उसके अन्तर्गत वेणुगीत की नृत्यमय प्रस्तुति होनी चाहिए। चर्चा होते-होते यह निर्णय हुआ कि गेय-रचना तो मैं करूँ, नृत्य की सामूहिक प्रस्तुति सुप्रसिद्ध नृत्ययोजिका ('कोरियोग्राफर') श्रीमती कुमुदिनी लाखिया को सौंपी जाय। बहन कुमुदिनीजी ने सहर्ष यह प्रस्ताव स्वीकार किया और उनके सङ्गीत-निर्देशक श्री अतुल देसाई अगस्त के अन्त में वाराणसी आकर पद और स्वर-ताल का ध्वन्यङ्कन तथा आवश्यकतानुसार स्वर-लिपि करके ले गये। इस गेय-रचना में वाद्यवृन्द की योजना एवं समग्र विन्यास का कार्य श्री अतुलभाई ने किया है। गायन का पूरा कार्य-भार भी उन्हें ही सँभालना पड़ा है क्योंकि स्वर, लय और संस्कृत उच्चारण तीनों में कुशलता एकत्र दुर्लभ है।

प्रायः बीस वर्ष पूर्व वेणुगीत की जो गेय-रचना मैंने की थी, उससे कुछ भिन्न ही रचना इस बार हुई है, क्योंकि नृत्य की दृष्टि से ताल का वैचित्र्य लाने का उद्देश्य ध्यान में था। उस बार तो गोपियों की उक्ति के सारे श्लोक, जो कि वसन्ततिलका वृत्त में हैं चौताल में बाँधे गए थे किन्तु इस बार एक ही छन्द को विभिन्न तालों में बाँधने का प्रयास किया है। फलस्वरूप मध्य एकताल या चौताल, त्रिताल, झपताल, आड़ा चौताल,-इन तालों में वसन्ततिलका के विभिन्न श्लोकों को रखा गया है।

प्रारम्भ के छह श्लोकों के वृत्त इस प्रकार हैं—

१. अनुष्टुप्, २. प्रथम व तृतीय चरण १२ अक्षर के (न न र य), द्वितीय तथा चतुर्थ चरण १३ अक्षर के (न ज ज र ग) हैं, इन द्वितीय-चतुर्थ चरणों की गण-योजना तो अतिजगती जाति के 'मृगेन्द्रमुख' नाम से मिली, किन्तु प्रथम-तृतीय चरणों की गणयोजना-वाला कोई वृत्तनाम नहीं मिल पाया।

३, ४-अनुष्टुप्, ५-मन्दाक्रान्ता, ६-अनुष्टुप्।

श्रीमद्भागवत के वर्ण्य-विषय के अनुरूप घनानन्द का एक, सूरदासजी के दो तथा वाचिक-परम्परा में प्रचलित एक— इस प्रकार चार व्रजभाषा के पद जोड़े गए हैं। श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध २१ वें अध्याय के २० श्लोक और चार पद -इस प्रकार 'पद' की चौबीस इकाइयाँ इस प्रस्तुति में हैं। जिनमें कुल २२ रागों एवं छह तालों का प्रयोग हुआ है, दो श्लोक अताल रखे गए हैं।

वेणुगीत नाम से ही यह सूचित होता है कि इसमें श्रीकृष्ण के वेणु का वर्णन है। विशेष बात यह है कि वेणु का गोपियों पर प्रभाव इसका वर्ण्य-विषय नहीं है। स्वयं गोपियाँ चराचर जगत् पर वेणु के प्रभाव का परस्पर वर्णन करती हैं। गाय, बछड़े, हरिणियाँ, पक्षी, पुलिन्दी (वन्य जाति की) स्त्रियाँ, नदियाँ, मेघ, वृक्ष गोवर्धन-पर्वत-इत्यादि पर श्रीकृष्ण के वेणुवादन का अलौकिक प्रभाव बड़ी मधुर रीति से वर्णित है, जिससे गतिशील स्पन्दनहीन हो गए हैं और अचल वृक्षों में पुलक का सञ्चार हो रहा है।

रसिक जनों के सम्मुख, श्री राधागोविन्द-मन्दिर के प्राङ्गण में यह प्रस्तुति लीला के आस्वादन का माध्यम बन सके-यही इसकी सफलता होगी।

निवेदिका

—प्रेमलता शर्मा

'आम्नाय'
209/1, करौंदी
दीपावली, 2052,
(सोमवार,) 23 अक्टूबर, 1995

वंशी-विषयक दो प्रसिद्ध छन्द

(क) वंशी का आकर्षण (कवित्त)

बाजी घर आईं, बाजी देखिबे कौ धाईं,
बाजी जिय अकुलाईं, तान सुन गिरधर की।
बाजी नहिं धरें धीर, बाजी न सँभारैं चीर,
बाजिन के उठी पीर, दावानल धरकी॥
बाजी हँसि बोलैं, बाजी करत किलोलैं,
बाजी संग लगी डोलैं, सुधि नाहीं घर की।
बाजी कहैं ''बाजी-बाजी!'' बाजी कहैं ''कहा बाजी ?''
बाजी कहैं ''बाजी बंसी साँवरे सुधर की''॥ (कोई रीतिकालीन कवि)

(ख) वंशी को उलाहना (सवैया)

हाथ चढ़ी हरिकें जब तें, हरिबोइ करै, कछुवै न विचारै।
हाथ कियौ मन-सो धन हेलि, इतै पर हाथ कौं पाय पसारै।
लैहै कहा अब ? सोच महा, परिये रहै गोहन साँझ सवारै।
मोहन की बिसवासिनि बाँसुरीताननि में बिसबाननि मारै॥ (घनानन्द)

शुकदेव की उक्ति

राग-अल्हैया बिलावल त्रिताल

इत्थं शरत्स्वच्छजलं पद्माकरसुगन्धिना।
न्यविशद् वायुना वातं सगोगोपालकोऽच्युतः॥ १॥
(श्री शुकदेव ने कहा)

इस प्रकार शरद् ऋतु के प्रभाव से जहाँ जलाशयों एवं यमुना का जल स्वच्छ हो गया था, जहाँ खिले कमलों के संस्पर्श से सुगन्धित वायु बह रहा था, ऐसे वृन्दावन में श्री अच्युत (कृष्ण) ने गायों एवं ग्वालबालों के सहित प्रवेश किया। गाय-बछड़े चराने के लिये ग्वालबालों के सहित गोपालकृष्ण वन में प्रविष्ट हुए।

राग-वही (अल्हैया बिलावल) धमार

कुसुमितवनराजिशुष्मिभृङ्ग—
द्विजकुलघुष्टसरःसरिन्महीध्रम्।
मधुपतिरवगाह्य चारयन् गाः
सहपशुपालबलश्चुकूज वेणुम्॥ २ ॥

फूले हुए वनों की पंक्तियों में मतवाले भौरों के गुञ्जन तथा अनेकों पक्षिजातियों के कलरव की ध्वनियों से जहाँ के सरोवर, नदी और पर्वत (गोवर्धन के फैले हुए भाग) गूँजते रहते हैं, ऐसे वृन्दावन में श्रीबलभद्र एवं ग्वाल-बालों के साथ प्रविष्ट हो कर गायें चराते हुए माधव श्रीकृष्ण ने वंशी बजायी।

आसावरी *त्रिताल*

कुसुमित वनराजि आज देखें ई बनि आवै री।
जमुना-तट सघन स्याम कैसी छबि पावै री।
पवन-बस पराग-पुंज कुंजनि पर छावै री।
मधुप-गुंज मञ्जु घोष आनन्द उपजावै री।
तरुवेली वलित ललित उमँग उर बढ़ावै री।
नूत-मुकल कलित मुदित कोकिल पुनि गावै री।
मुरली रस जु रली धुनि सुनियै अति भावै री॥ (घनानन्द-ग्रन्थावली)

राग अहीर-भैरव *त्रिताल*

तद् व्रजस्त्रिय आश्रुत्य वेणुगीतं स्मरोदयम्।
काश्चित् परोक्षं कृष्णस्य स्वसखीभ्योऽन्ववर्णयन्॥ ३ ॥

स्मर (कामदेव) को उदित करने वाले उस मधुर वेणुगीत को सुन कर कुछ गोपियाँ श्रीकृष्ण के परोक्ष में (वे सामने नहीं हैं तब) अपनी सखियों से उनके गुणों का एवं उनकी वेणुमाधुरी का वर्णन करने लगीं।

राग अहीर भैरव *त्रिताल*

तद् वर्णयितुमारब्धाः स्मरन्त्यः कृष्णचेष्टितम्।
नाशकन् स्मरवेगेन विक्षिप्तमनसो नृप॥ ४ ॥

हे राजन्! वह वर्णन प्रारम्भ करते ही श्रीकृष्ण की लीला-चेष्टाओं, चरितों का स्मरण हो आने से कामदेव का वेग बढ़ जाने के कारण उनका चित्त विक्षिप्त (चञ्चल, क्षुब्ध) हो उठा, इसलिए वर्णन कर न सकीं, असमर्थ हो गयीं।

खमाज *त्रिताल*

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद् वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दैर्
वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः॥ ५ ॥

(गोपियाँ सोचने लगीं—)

मयूरपिच्छ-वाला मुकुट धारण किये हुए, दोनों कानों में (बदल-बदलकर) एक कनेर का पुष्प खोंसे हुए, सुवर्ण के समान सुनहले पीले वर्ण का पीताम्बर पहने हुए, गले में वैजयन्ती माला पहने हुए, नटवर-तनु एवं वेश-वाले, वंशी के छिद्रों को अपने अधरामृत से भरते हुए, ग्वाल-बालों के समूह के साथ, उन ग्वालों के द्वारा जिनकी कीर्त्ति गायी जा रही है ऐसे श्रीकृष्ण, अपने चरणचिह्नों से रमणीय बने हुए वृन्दावन में प्रवेश कर गये हैं। वृन्दावन में गायों के पीछे घूमते हुए गोपाल वंशी बजा रहे हैं और ग्वाल-सखा सब उन गोपाल का सुयश परस्पर कह रहे होंगे।

राग वृन्दावनी सारङ्ग *अताल*

इति वेणुरवं राजन् सर्वभूतमनोहरम्।
श्रुत्वा व्रजस्त्रियः सर्वा वर्णयन्त्योऽभिरेभिरे॥ ६ ॥

सभी प्राणियों के ही नहीं, सचराचर सम्पूर्ण सृष्टि के मन का हरण करने वाले उस परम मनोहर वेणु-स्वर को सुनकर सभी व्रजरमणियाँ परस्पर उस वंशीध्वनि का एवं वंशीवादक कन्हैया का वर्णन करती हुई मन ही मन उस मधुर मूर्त्ति का आलिङ्गन करने लगीं, आनन्द से मुदित होने लगीं।

गोपियों की उक्ति

राग भीमपलासी *झपताल*

अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः
सख्यः पशूननुविवेशयतोर्वयस्यैः।
वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणुजुष्टं
यैर्वा निपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम्॥ ७ ॥

(वर्णन करती हुई गोपियाँ बोलीं—)

हे सखियो ! आँखों वाले प्राणियों का (दृष्टि होने का) इससे बड़ा लाभ और कोई नहीं जान पड़ता कि इन आँखों से व्रजेश (नन्दबाबा) के दोनों बेटों का यह सुन्दर मुखड़ा देखें जो अपने सखा ग्वालबालों के साथ गायों को वन में चराने ले जाते समय और लौट कर व्रज में प्रवेश कराते समय गायों के पीछे दिखता है जब वे चहुँ ओर प्रेमभरी चितवन डालते हुए, वंशी बजाते हुए चलते हैं। जिन्होंने वह मुख देखना रूपी अमृत-पान किया है वे धन्य हैं, उन्हीं को नयन होने का वास्तविक फल मिला है, इस से बढ़कर और कोई दृष्टि-सुख नहीं।

राग पटदीप *ताल मध्य-एकताल*

चूतप्रवालबर्हस्तबकोत्पलाब्ज-
मालानुपृक्तपरिधानविचित्रवेषौ।
मध्ये विरेजतुरलं पशुपालगोष्ठयां
रङ्गे यथा नटवरौ क्व च गायमानौ॥ ८ ॥

अरी सखियो ! वन में गोचारण करते समय (ग्वालबालों ने प्रेम से भर कर जिन्हें वन के फूलों-कोंपलों-आदि से और सजाया है—) नये आम्रपल्लव, मयूरपिच्छ, फूलों के गुच्छे, स्थल कमल और जलज नीले-लाल- कमलों की मालाओं से और अपने वर्ण के अनुरूप नीलवर्ण पर पीताम्बर तथा गौरवर्ण पर नीलाम्बर से रङ्ग-बिरङ्गे वेषों से सजे हुए ये व्रजेश-नन्दन कृष्ण-बलराम ग्वाल-बालों की गोष्ठी के बीच बहुत शोभायमान होते हैं, फिर बीच-बीच में कभी दोनों गाने भी लगते हैं, ऐसे ये उसी प्रकार सुशोभित होते हैं जैसे रङ्गभूमि में दो नटवर खेल कर रहे हों।

राग बिहाग *त्रिताल*

गोप्यः ! किमाचरदयं कुशलं स्म वेणुर्
दामोदराधरसुधामपि गोपिकानाम्।
भुङ्क्ते स्वयं यदवशिष्टरसं ह्रदिन्यो
हृष्यत्त्वचोऽश्रु मुमुचुस्तरवो यथाऽऽर्याः॥ ९ ॥

अरी गोपियो ! इस वेणु ने न जाने कौन से पुण्यकर्म किए हैं कि यह दामोदर के (उस) अधरामृत का पान करती है (जो गोपियों का भोग्य है) और बचा-खुचा दूसरों के लिए छोड देती है, जिसे पीकर नदियाँ आनन्दित हो रही हैं (वे नदियाँ इस बाँसुरी की माता के समान हैं जिनका रस पी-पी कर यह पुष्ट हुई है) अपने में खिले कमलों के रूप में आनन्द-पुलक प्रकट

कर रही हैं, तथा तट के वृक्ष भी आर्य (सम्भ्रान्त) कुलवृद्धों की भांति आनन्दाश्रु तथा पुलक प्रकट कर रहे हैं (वे भी इस बाँसुरी को अपने कुल का गौरव बढ़ाने वाला देख कर आनन्दातिरेक से अश्रु बहा रहे हैं।)

राग परज *तीन ताल*

बंसरी तू कवन गुमान भरी।
सोने की नाहीं, रूपे की नाहीं, नाहिन रतन जरी।
जात-सिफत तोरी सब कोउ जानत, मधुबन की लकरी।
का री भयो जो हरि-मुख लागी, बाजत बिरह-भरी। (सङ्गीताञ्जलि पञ्चम भाग)

राग गौड़मल्हार *त्रिताल*

वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्त्तिं
यद् देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मि।
गोविन्दवेणुमनुमत्तमयूरनृत्यं
प्रेक्ष्याद्रिसान्वपरतान्यसमस्तसत्त्वम्॥ १०॥

हे सखी ! वृन्दावन इस भूलोक की कीर्त्ति सर्वत्र फैला रहा है, क्योंकि देवकीसुत के चरणकमल से इसे शोभा-समृद्धि या श्री प्राप्त हुई है। जिस समय श्रीहरि बाँसुरी बजाते हैं, तब इस वृन्दावन में मत्तमयूर नृत्य करने लगते हैं क्योंकि वेणुध्वनि करते हुए श्रीकृष्ण को मयूर मन्द-गर्जन-युक्त नीलमेघ समझ बैठते हैं और मतवाले हो कर नाचने लगते हैं। उन का नृत्य देखकर पर्वत शिखर पर विचरने वाले प्राणी निश्चेष्ट हो कर चुपचाप खड़े रह जाते हैं। ऐसा यह वृन्दावन धरती का यश बढ़ा रहा है।

राग देश *ताल मध्य एकताल/चौताल*

धन्याः स्म मूढमतयोऽपि हरिण्य एता
या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेषम्।
आकर्ण्य वेणुरणितं सहकृष्णसाराः
पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः॥ ११॥

ये भोली-भाली हरिणियाँ धन्य हैं, जो वेणु का नाद सुनकर कृष्णसार-मृगों के साथ आकर प्रणयपूर्ण अवलोकन द्वारा उन नन्दनन्दन की पूजा करने लगती हैं जो विचित्र (विविध रंगों वाले वस्त्र तथा वन के फूल-कोंपलों-गुञ्जाओं आदि से सजा) वेष धारण किए हुए हैं।

राग बागेश्री *ताल त्रिताल*

कृष्णं निरीक्ष्य वनितोत्सवरूपशीलं
श्रुत्वा च तत्क्वणितवेणुविचित्रगीतम्।
देव्यो विमानगतयः स्मरनुन्नसारा
भ्रश्यत्प्रसूनकबरा मुमुहुर्विनीव्यः॥ १२॥

[अन्तरिक्ष में विमानों में विराजमान देवियों (सुरसुन्दरियों) पर प्रभाव]

जिनका रूप और शील सभी वनिताओं के लिए उत्सव के समान है, ऐसे श्रीकृष्ण को देखकर और उनके वेणु में बजते हुए अतीव सुन्दर गीत को सुनकर, आकाश में विमानों पर चढ़ी हुई देवसुन्दरियाँ धरती पर नन्दनन्दन के दर्शन-श्रवण से मोहित

होकर कामविह्वल हो जाती हैं, उनके केशबन्धों से पुष्प गिरने लगते हैं, कटिबन्ध ढीले होकर खिसकने लगते हैं, किन्तु मोहित होने के कारण उन्हें अपनी दशा की सुधि नहीं रहती।

राग जयजयवन्ती *ताल त्रिताल*

गावश्च कृष्णमुखनिर्गतवेणुगीत-
पीयूषमुत्तभितकर्णपुटैः पिबन्त्यः।
शावाः स्नुतस्तनपयःकवलाः स्म तस्थुर्
गोविन्दमात्मनि दृशाश्रुकलाः स्पृशन्त्यः॥13॥

(गायों-बछड़ों पर वेणु का प्रभाव)

श्रीकृष्ण के मुख से निकले वेणुगीत को गायें ऊँचे उठाये हुए श्रवणपुटों से (कान खड़े करके) मानों पीती रहती हैं, ऐसी गायें सजल-नयन होकर गोविन्द की मधुर मूर्त्ति को हृदय में लाकर उसका स्पर्श करती हुई निश्चेष्ट हो रही हैं, और बछड़े गायों के स्तनों से झरते दूध का घूँट मुख से टपकाते हुए निश्चेष्ट खड़े हैं।

राग काफी *ताल त्रिताल*

मुरली गति बिपरीत कराइ।
तिहूँ भुवन भरि नाद समान्यौ, राधा-रमन बजाइ।
बछरा थन नाहीं मुख परसत, चरति नहीं तृन धेनु।
जमुना उलटी धार चलीं बहि, पवन थकित सुनि बेनु।
बिह्वल भए नहीं सुधि काहूँ, सुर-गंधर्व नर-नारि।
सूरदास सब चकित जहाँ-तहँ ब्रज-जुवतिनि सुखकारि॥ (सूरसागर)

राग श्यामकल्याण *ताल मध्य एकताल*

प्रायो बताम्ब विहगा मुनयो वनेऽस्मिन्
कृष्णेक्षितं तदुदितं कलवेणुगीतम्।
आरुह्य ये द्रुमभुजान् रुचिरप्रबालान्
शृण्वन्त्यमीलितदृशो विगतान्यवाचः॥ १४॥

(मुरलीध्वनि का पक्षियों पर प्रभाव)

सखियो ! इस वन के सभी पक्षी शायद मुनिजन ही हैं। ये सब वृक्षों की नयी कोंपलों-वाली शाखाओं पर बैठ कर कृष्ण का दर्शन कर रहे हैं और उनका मनोहर वेणुगीत निर्निमेष नयनों से, अपना कलरव भी छोड़कर चुपचाप बैठे सुन रहे हैं।

राग अड़ाना *ताल आड़ाचौताल*

नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीतम्
आवर्तलक्षितमनोभवभग्नवेगाः।
आलिङ्गनस्थगितमूर्मिभुजैर्मुरारेर्
गृह्णन्ति पादयुगलं कमलोपहाराः॥ १५॥

(नदियों पर प्रभाव)

उस समय, वेणुगीत को सुनकर, नदियों में भँवरों के रूप में कामविकार लक्षित होने लगा, उनका वेग (प्रवाह) थम गया, तरङ्ग रूपी भुजाओं द्वारा कमलों का उपहार लिए हुए वे श्रीकृष्ण के चरणकमल को मानो आलिङ्गन द्वारा आच्छादित करने लगीं।

राग मियांमल्हार *मध्य एकताल*

दृष्टवाऽऽतपे व्रजपशून् सहरामगोपैः
सञ्चारयन्तमनुवेणुमुदीरयन्तम्।
प्रेमप्रवृद्ध उदितः कुसुमावलीभिः
सख्युर्व्यधात् स्ववपुषाऽम्बुद आतपत्रम्॥ १६॥

(मेघ पर प्रभाव)

बलराम और अन्य ग्वालबालों के साथ व्रज के पशुओं को चराते हुए, वेणु बजाते हुए श्रीकृष्ण को धूप में देख कर प्रेम के कारण उमड़ा हुआ मेघ अपने सखा पर कुसुमों की फुहारों सहित अपने शरीर से छतरी लगा देता है।

राग छायानट *झपताल*

पूर्णाः पुलिन्द्य उरुगायपदाब्जराग-
-श्रीकुङ्कुमेन दयितास्तनमण्डितेन।
तद्दर्शनस्मररुजस्तृणरूषितेन,
लिम्पन्त्य आननकुचेषु जहुस्तदाधिम्॥ १७॥

(वन की भीलनियाँ)

ये वन की भीलनियाँ धन्य हैं और अपना मनोरथ पूरा कर ले रही हैं, क्योंकि श्रीकृष्ण की प्रियतमा गोपियों के वक्षःस्थल पर लगा हुआ जो कुङ्कुम श्रीकृष्ण के चरणों में लग कर चरणों की ललाई से और श्रीमण्डित हो उठता है, वही कुङ्कुम गोविन्द के चरणों से जब पथ की घास पर लगा होता है तब उसे देखकर काम मोहित हुई ये भीलनियाँ उस कुङ्कुम को अपने वक्षःस्थल पर लगा कर अपनी कामव्याधि को दूर करती हैं।

राग दुर्गा *ताल मध्य एकताल/चौताल*

हन्तायमद्रिरबला हरिदासवर्यो
यद् रामकृष्णचरणस्पर्शप्रमोदः।
मानं तनोति सहगोगणयोस्तयोर्यत्
पानीयसूयवसकन्दरकन्दमूलैः॥ १८॥

(गोवर्धन पर्वत)

हे सखियो ! यह गोवर्धन पर्वत अवश्य हरि के दासों (भक्तों) में श्रेष्ठ है, क्योंकि यह बलराम और कृष्ण के चरणों के स्पर्श से आनन्दित हो कर गायों और ग्वालों सहित उन सब का पेय जल, हरी घास, छाया युक्त एवं विश्रामयोग्य सुन्दर कन्दरा और कन्दमूलों द्वारा सत्कार करता है।

राग सिन्धूरा *ताल मध्य एकताल/चौताल*

गा गोपकैरनुवनं नयतोरुदारवेणुस्वनैः
कलपदैस्तनुभृत्सु सख्यः।
अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरुणां
निर्योगपाशकृतलक्षणयोर्विचित्रम्॥ १९॥

श्रीकृष्ण-बलराम के कन्धों पर गायों को दुहते समय बाँधने की रस्सी सुशोभित है। वे दोनों वेणु बजाते हुए, ग्वालों के साथ गायों को घेर कर वन में ले जा रहे हैं। बड़े आश्चर्य की बात है कि इस वेणुनाद के प्रभाव से गतिशील प्राणी स्तब्ध-स्पन्दनहीन हो जाते हैं और स्थावर वृक्षों में पुलक उदित होता है।

राग भैरवी *ताल त्रिताल*

मुरली सुनत अचल चले।
थके चर, जल झरत पाहन, बिफल वृक्ष फले।
पय स्त्रवत गोधननि-थन तैं, प्रेम पुलकित गात।
झुरे द्रुम अङ्कुरित पल्लव, बिटप चञ्चल पात।
सुनत खग-मृग मौन साध्यौ, चित्र की अनुहारि।
धरनि उमँगि न माति उर मैं, जती जोग बिसारि। (सूरसागर)

श्री शुकदेव की उक्ति

राग भैरवी *ताल अताल*

एवंविधा भगवतो या वृन्दावनचारिणः।
वर्णयन्त्यो मिथो गोप्यः क्रीड़ास्तन्मयतां ययुः॥ २०॥

इस प्रकार वृन्दावन में विचरण करते हुए भगवान् की लीलाओं का परस्पर वर्णन करती हुई गोपियाँ तन्मय हो गयीं॥

★★★



.१२.

श्रीगोविन्दविरुदावली

सङ्गीत

श्रीराधागोविन्द-आराधन-मण्डप-मङ्गल-महोत्सव (जयपुर)

तथा

श्रीचैतन्य-प्रेम-संस्थान (वृन्दावन)

का सम्मिलित आयोजन

मार्गशीर्ष, कृष्ण नवमी, गुरुवार, 2052

16 नवम्बर, 1995

श्रीरूपगोस्वामि-प्रणीता श्रीगोविन्दविरुदावली

(भरतनाट्यम् शैली में सामूहिक नृत्य-प्रयोग)

प्रस्तुति-नृत्यश्री तथा Ellora centre for Performing Arts

निर्देशन—	प्रो० को० वें० चन्द्रशेखर
पद-चयन एवं गेय-रचना—	प्रो० प्रेमलता शर्मा
नृत्य-रचना—	रमा श्रीकान्त, मञ्जरी चन्द्रशेखर, जया चन्द्रशेखर
'तकनीक' विशेषज्ञ—	दर्शन पुरोहित
नृत्य—	परिमल फड़के, मीनाक्षी कल्याणरामन्, अर्चना अय्यंगार, माधवी, नित्यकल्याणी, सुजाता, अभिज्ञा मेहता, शैलजा शुक्ल, नित्या श्रीकान्त, अमृत अकोलकर, मञ्जरी चन्द्रशेखर, रमा श्रीकान्त
गायन—	श्रीमती सुमित्रा राय चौधरी प्रो० को० वें० चन्द्रशेखर
वाद्य-वृन्द—	
नट्टुवाङ्गम्—	जया चन्द्रशेखर
मृदङ्गम्—	आर० नटराजन्
वायलिन—	विभास रानाडे
सितार—	नारायण भँवरिया

भूमिका

'विरुद' या बिरुद शब्द यश के अर्थ में सुपरिचित है। सङ्गीतशास्त्र में मतङ्ग-कृत बृहद्देशी (छठीं शताब्दी के आसपास) में प्रबन्ध के निरूपण में 'बिरुद' का उल्लेख कई बार हुआ है। सङ्गीत-रत्नाकर (तेरहवीं शताब्दी का आरम्भ) में प्रबन्ध के छह 'अङ्गों' को 'प्रबन्ध पुरुष' के दो नेत्र ('पद' और 'तेन'), दो हाथ (पाट और बिरुद) और दो पैर (स्वर और ताल) कहा गया है। सङ्गीत-रत्नाकर 4/10-18 पर सिंह भूपाल की 'सुधाकर' टीका में बिरुद का निम्नलिखित लक्षण 'सङ्गीतसमयसार' से उद्धृत है—

''बिरुदशब्दो विरुद्धार्थो महाराष्ट्रे प्रसिद्धितः।
परेभ्यस्तत्प्रदानेन बिरुदं सूरिभिः स्मृतम्॥
तद्वीररससंयुक्तं द्विषामुद्वेगदायकम्।
रसान्तरेण संयुक्तं यत्परं बिरुदं तु तत्॥''

अर्थात् बिरुद शब्द विरुद्धार्थक है, ऐसी महाराष्ट्र में प्रसिद्धि है। श्रेष्ठ व्यक्तियों को बिरुद दिया जाता है अर्थात् उनका यशोगान होता है, इसलिए बुधजनों ने इसे विरुद कहा है। वह वीररस से युक्त होता है और स्तुत्य के शत्रुओं को उद्वेग देने वाला होता है। जो अन्य रस से युक्त हो वह भिन्न प्रकार का विरुद है।

इस लक्षण की व्यञ्जना यह है कि प्रबन्ध में विरुद के समावेश से प्रमुख रूप से नायक को उत्साह दिलाया जाता है।

नायक के गुणसूचक विशेषण का नाम है विरुद। नायक लौकिक (राजा या वीर पुरुष) भी हो सकता है और अलौकिक (देव आदि) भी। उत्साह दिलाने की बात लौकिक नायक में ही सार्थक होगी। यह कहना कठिन है कि विरुदावली की रचना का आरम्भ लौकिक नायक से हुआ या अलौकिक नायक से। साहित्यदर्पण में - ''गद्यपद्यमयी राजस्तुतिर्विरुदमुच्यते'' —ऐसा लक्षण दिया गया है।

विरुद शब्द की एक अन्य व्युत्पत्ति इस प्रकार दी जाती है—'वि' + रुद् रोदने + घ अर्थक क प्रत्यय = विरुद अर्थात् विलक्षण रोदन। प्राचीन काल में विजेता राजा का अनिच्छापूर्वक किया जाने वाला यशोगान ही यह 'विलक्षण रोदन' कहा जा सकता है। ''पठन्ति विरुदावलीमहितमन्दिरे बन्दिन:'' (रस गंगाधर)। परवर्तीकाल में इस 'विरुद' का अर्थ सामान्यरूप में उच्च घोषणा और स्तुतिमाला हो गया।

कुमारस्वामी-कृत 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' की टीका में कवि प्रौढोक्ति-सिद्ध क्षुद्र-प्रबन्ध-समूह को 'चाटु-प्रबन्ध' नाम दे कर स्तुतिकाव्य के अन्तर्गत विरुद काव्य की गणना की गयी है।

विरुदावली-सदृश काव्य का प्राचीन नाम खि्रस्तीय द्वितीय से द्वादश शताब्दी तक 'भोगावली' था इसी का एक अन्य नाम 'उत्साहकाव्य' हर्षचरित की कविशङ्कर-कृत टीका में मिलता है। अन्यत्र इसका 'विरुद्धकाव्य' नाम भी पाया जाता है। कहीं-कहीं इसे 'वृत्तगन्धि गद्य' भी कहा गया है।

भक्तिरसशास्त्र के प्रणयन एवं विविध काव्यों की रचना द्वारा जिन्होंने महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्य की परम्परा को समृद्ध किया एवं जो श्री गोविन्ददेवजू के इस युग में प्राकट्य में निमित्त बने उन श्रीरूपगोस्वामी ने सोलहवीं शताब्दी (ईस्वी) के पूर्वार्द्ध में श्रीगोविन्दविरुदावली की रचना की। यह देव-स्तुति का उत्तम उदाहरण है। इसी नमूने पर सत्रहवीं शती में श्री रघुनन्दन गोस्वामी ने श्रीगौराङ्ग-विरुदावली की रचना की।

वृन्दावन से जयपुर पधारे श्रीगोविन्ददेवजू के मन्दिर में नवनिर्मित दिव्यआराधन-मण्डप के शुभारम्भ के उपलक्ष्य में आयोजित होने वाले मङ्गलमहोत्सव के अवसर पर उक्त श्रीगोविन्दविरुदावली में से कुछ चुने हुए अंश ले कर सङ्गीतमय प्रस्तुति हो सके तो अच्छा हो, ऐसी इच्छा इसी वर्ष मार्च में पूज्यपाद जगद्गुरु श्री पुरुषोत्तम गोस्वामी जी की प्रेरणा से श्री श्रीवत्स गोस्वामी ने मुझ से प्रकट की। तदनुसार कुछ अंशों का चयन कर के उन्हें राग-ताल-बद्ध करके अगस्त प्रथम सप्ताह में भरतनाट्यम् के

सुख्यात आचार्य एवं 'कोरियोग्राफर' प्रो० को० वें० चन्द्रशेखरजी को नृत्ययोजना का कार्यभार सौंपा गया। अगस्त के आरम्भ में आपको संयुक्त राज्य अमेरिका के ढाई महीने के दौरे पर निकलना पड़ा। आप की अनुपस्थिति में आप की पत्नी श्रीमती जया चन्द्रशेखर, पुत्री सुश्री मञ्जरी एवं शिष्या श्रीमती रमा श्रीकान्त ने नृत्ययोजना तथा अभ्यास जारी रखा।

चुने हुए अंशों के क्रम में आप लोगों ने कुछ परिवर्तन किया है जिसके पीछे दृष्टि यही है कि प्रस्तुति में यथासम्भव कुछ क्रमबद्धता लाई जा सके। तदनुसार तीन दृष्टियों से तीन खण्ड रखे गए हैं।

जिनके आरम्भ में प्रस्तावना है, इसमें मङ्गलाचरण के दो श्लोक हैं जो केवल गाए जाएँगे। इनके बाद 'अक्षरमयी' नामक पद है, जिसमें वर्णमाला के क्रम से प्रत्येक अक्षर से आरम्भ होने वाले विशेषणों द्वारा विरुद कहा गया है।

इस प्रस्तावना के बाद प्रथम खण्ड (4-10 संख्यक पद) में प्रमुख रूप से बाल्य एवं पौगण्ड वयस् की लीलाओं का वर्णन है, जिनमें से कालियदमन का विस्तार है।

द्वितीय खण्ड (11-18 संख्यक पद) स्तुति से प्रारम्भ होता है इसमें रतिमय कृष्ण, रासलीला एवं गोपियों के साथ अन्य लीलायें वर्णित हैं। इसी खण्ड में सात विभक्तियों वाला पद लिया है जिसमें श्री कृष्ण को कर्ता मान कर अन्य विभक्तियों के साथ नृत्य, संख्या और छन्द की दृष्टि से जोड़ा है। इसके बाद श्रीकृष्ण का मथुरागमन, मल्लयुद्ध तथा कंसवध का वर्णन है।

तृतीय खण्ड (पदसंख्या 19-23) में श्रीकृष्ण के अलौकिक स्वरूप का वर्णन है कि वे स्थिति और गति से परे हैं तथा मित्र या शत्रु सभी को अमरत्व-प्रदान करते हैं। कवि कहते हैं कि ऐसे कृष्ण में सदैव हमारी रति रहे।

अन्त में (पद-24) भरतवाक्य के समान सब मिलकर श्रीकृष्ण से यह प्रार्थना करते हैं कि वे हमें इस भवसागर से पार करें। इसके पश्चात् कवि-कृत फलश्रुति (पद-25) से प्रस्तुति पूर्ण होती है।

इस विरुदावली को राग-ताल-बद्ध करने और उस पर नृत्ययोजना करने का काम चुनौतियों से भरा है। गेय की समस्या तो यह कि न तो इसमें पद का बन्ध (Form) है, न ही सामान्य छन्दों का बन्ध है। कथा का सूत्र सर्वथा अनुपस्थित होने के कारण नृत्यरचना की अपनी समस्यायें हैं। केवल विशेषणों की लड़ियों को लेकर गेय और नृत्य की रचना ऐसा कार्य है जिसके लिए कोई बनी-बनाई लीक नहीं है। इस विरुदावली की रचना के 400 से भी अधिक वर्षों के बाद सम्भवतः प्रथम बार इसका गीत-नृत्य-मय प्रयोग हो रहा है। इसके सस्वर पाठ की यदि कोई परम्परा रही भी हो तो आज उसके कोई अवशेष प्राप्त नहीं हैं। अब जो भी प्रयास किया गया है, उसका परीक्षण रसिक जनों के समक्ष प्रस्तुति के समय ही होगा।

इस विरुदावली की विभिन्न इकाइयों को जो नाम दिए गए हैं, वे भी सामान्य छन्दः शास्त्र से भिन्न हैं—तिलकम्, तुरङ्गः, मातङ्गखेलितम् आदि। कुछ पद्य अवश्य ही स्रग्धरा, मालिनी जैसे जाने-पहचाने वार्णिक वृत्तों एवं आर्या जैसे मात्रिक छन्दों में हैं।

सर्वत्र ताल-नाम देना सम्भव नहीं हुआ है। इसलिए मात्रा संख्या का निर्देश अधिकांश स्थलों पर कर दिया गया है। कहीं-कहीं अताल-योजना भी की गई है। पद की कुल 25 इकाइयाँ हैं जिनमें 23 रागों का प्रयोग हुआ है। केवल मङ्गलाचरण एवं भरतवाक्य तथा फलश्रुति में दो-दो श्लोक एक राग में ले लिए गए हैं।

देवोत्थान एकादशी, 2052
शुक्रवार, 3-11-1995

प्रेमलता शर्मा
आम्नाय
२०९/१, करौंदी
वाराणसी-५
२२१००५

श्रीरूपगोस्वामी - प्रणीता श्रीगोविन्दविरुदावली

(चुने हुए अंश)

(१)

मङ्गलाचरण

राग यमन　　　　*अताल*

(अनुष्टुप्)

इयं मङ्गलरूपा स्याद् गोविन्दविरुदावली।
यस्याः पठनमात्रेण श्रीगोविन्दः प्रसीदति॥

यह गोविन्दविरुदावली मङ्गलरूपा हो, जिसके पढ़ने मात्र से श्रीगोविन्द प्रसन्न होते हैं।

(२)

राग यमन　　　　*त्रिताल*

(स्रग्धरा)

ब्रह्मा ब्रह्माण्डभाण्डे सरसिजनयनः स्त्रष्टुमुत्क्रीडनानि
स्थाणुं भङ्क्तुं च खेलाखुरलितमतिना तानि येन न्ययोजि।
तादृक्ब्रह्माण्डकोटीवृतजलकुडवा यस्य वैकुण्ठकुल्या
कर्तव्या तस्य का ते स्तुतिरिह कृतिभिः प्रोज्झ्य लीलायितानि॥

(हे गोविन्द !) आपकी मति क्रीड़ा से चञ्चल है। आपने कमलनयन स्थविर ब्रह्मा को ब्रह्माण्डरूपी बर्तन में खिलौने बनाने और उन्हें तोड़ने में नियुक्त किया है। आपकी वैकुण्ठरूपी नदी उस प्रकार के करोड़ों ब्रह्माण्डरूपी खेलने के छोटे-छोटे कुल्हड़ों से भरी है। ऐसे आपकी लीलाओं (के गान) को छोड़कर भला कौन-सी स्तुति पुण्यशील जनों द्वारा की जा सकती है ?

राग खमाज　　　　*मात्रा-विभाग ४, ४*

अक्षरमयी

अच्युत जय जय आर्त-कृपामय। इन्द्रमखार्दन ईतिविशातन।
उज्वलविभ्रम ऊर्जितविक्रम। ऋद्धिधुरोद्धर ॠभुदयापर॥
लृदिवकृपेक्षित लॄवदलक्षित। एधितबल्लव ऐन्दवकुलभव।।
ओजःस्फूर्जित औग्र्यविवर्जित। अंसविशङ्कट अष्टापदपट॥
कङ्कणयुतकर खण्डितखलवर। गतिजितकुञ्जर घनघुसृणाम्बर।
ङूत्तमुरलिरत चलचिल्लीलत। छलितसतीशत जलजोद्भवनुत॥
झषवरकुण्डल ञोङूयितदल। टङ्कितभूधर ठनिभाननवर।।
डमरघटाहर ढक्कितकरतल। णखरधृताचल॥
तरलविलोचन थूत्कृतखञ्जन।।
धवलावर्धन दनुजविमर्दन। नन्दसुखास्पद पङ्कजसमपद।।
फणिनुतिमोदित बन्धुविनोदित। भङ्गुरितालक मञ्जुलमालक॥
यष्टिलसद्भुज रम्यमुखाम्बुज। ललितविशारद बल्लवरङ्गद।
शर्मदचेष्टित षट्पदवेष्टित। सरसीरुहधर हलधरसोदर॥
क्षणदगुणोत्कर॥ वीर !!

हे अच्युत ! आपकी जय हो। आप आर्तजनों पर कृपामय हैं। इन्द्र के यज्ञ का आपने ध्वंस किया है। सङ्कटों को आप काटते हैं। आपका विहार उज्ज्वल है। आपका विक्रम स्फूर्तिमान् है। ऋद्धि की धुरी को आप ऊपर उठाए हुए हैं। ऋभुगणों पर आप दयामय हैं। देवगण आपकी कृपादृष्टि चाहते हैं। लृ अक्षर की भाँति आप अलक्षित हैं। गोपों की आपने वृद्धि की है। आप चन्द्रवंश में उत्पन्न हुए हैं। ओजस् आप में स्फूर्तिमान् है। उग्रता से आप रहित हैं। आपके कन्धे विशाल हैं। आपके वस्त्र सुनहले हैं। आपके हाथों में कङ्कण हैं। दुष्टजनों का आपने खण्डन किया है। अपनी चाल से आपने हाथी को जीत लिया है। आपके वस्त्रों का रंग गहरा केसरिया है। आप मुरली-ध्वनि को गुँजाने में रत हैं। आपकी भृकुटी चञ्चल है। सैकड़ों सतियों को आपने छला है। कमल से उत्पन्न (ब्रह्मा) आपको प्रणाम करते हैं। श्रेष्ठ मछली के आकार के आपके कुण्डल हैं। आपने अपने दल को गाने-बजाने वाला बना दिया है। नाग को आपने (अपने चरण चिह्नों से) टङ्कित या चिह्नित किया है। आपका मुख 'ठ' अक्षर के सदृश गोलाकार है। कलह अथवा मद की घटा (समूह) का आप हरण करते हैं। आपके करतल (हथेली) ढक्का (दो मुँहवाला छोटा अवनद्ध वाद्य) बजाने में लगे हैं। नख पर आपने पर्वत को धारण किया था। आपके नयन चपल हैं। खञ्जन पक्षी को अपने नेत्रों के सौन्दर्य से थूत्कार ('थू' 'थू' करना) का पात्र बना दिया है। दानवों का आप मर्दन किया करते हैं। गायों की आप समृद्धि करते हैं। पिता नन्द के आप सुखास्पद अर्थात् आनन्दनिधि हैं। आपके चरण कमल के समान हैं। फणधर (नाग) द्वारा प्रणाम किया जाने पर आप आनन्दित हुए हैं। बन्धुओं को आपने आनन्द दिया है। आपकी अलकें घुँघराली हैं। आपकी माला सुन्दर है। आपके हाथ में लाठी सुशोभित है। आपका मुखकमल सुन्दर है। ललित कर्म में आप कुशल हैं। गोपों को आप आनन्द देते हैं। आपकी चेष्टाएँ आनन्द देने वाली हैं। भौरों से घिरे हैं। आप कमल को धारण किए हुए हैं। हलधर बलराम के आप भाई हैं। आपके गुणों का उत्कर्ष आनन्दप्रद है।

(४)

राग देश *मात्रा ७*

(तुरङ्ग)

सञ्चलविचकिल-कुण्डल, मण्डितवरतनुमण्डल।
कुण्डलिपतिकृतसङ्गर, खण्डित-भुवन-भयङ्कर॥
शङ्करकमलजवन्दित, किङ्करनुतिलवनन्दित।
गञ्जितसमदपुरन्दर, चञ्चलदमन धुरन्धर।
बन्धुर-गतिजित-सिन्धुर, चन्दनसुरभित-कन्धर॥
सुन्दरभुजलसदङ्गद, सङ्गदसखिगणरङ्गद।
झङ्कृतकरमणिकङ्कण, कुन्तललुठदुरुरङ्गण।
कुङ्कुमरुचिलसदम्बर, लङ्घिमपरिमलडम्बर॥
नन्दभवनवरमङ्गल मञ्जुलघुसृणसुपिङ्गल।
हिङ्गुलरुचिपदपङ्कज, सञ्चितयुवतिसदङ्गज॥
सन्ततमृगमदपङ्किल, सन्तनु मयि कुशलं किल।वीर॥

मुख हिलने के कारण आपके कुण्डल चलायमान हैं। आपने सुन्दरियों के मण्डल को अलङ्कृत किया है। नागराज के साथ आपने युद्ध किया था। भुवनों का खण्डन करने से आप भयङ्कर हैं। शिव और ब्रह्मा द्वारा आप वन्दित हैं। दासजनों के प्रणामलेश से भी आप आनन्दित होते हैं। मदयुक्त इन्द्र का आपने दमन किया। चञ्चलजनों का दमन करने में आप धुरन्धर हैं। अपनी सुन्दर गति से आपने हाथी को जीत लिया है। चन्दन से आप के कन्धे सुगन्धित हैं। आपकी सुन्दर भुजाओं में अङ्गद सुशोभित हैं। जो सखियाँ आपको सङ्ग देती हैं, उन्हें आप रङ्ग या आनन्द प्रदान करते हैं। आपके मणिकङ्कण झङ्कार करने वाले हैं। आपके हिलने-डुलने में घुँघराली अलकें डोलती रहती हैं। कुङ्कुम की कान्ति से आपके वस्त्र सुशोभित हैं। नन्द-भवन के आप श्रेष्ठ

मङ्गल हैं। सुन्दर केसर के लेप से आप पीत वर्ण हैं। आपके पदकमल पीत कान्ति वाले हैं। युवतियों के कामदेव को आपने सञ्चित किया है। कस्तूरी के पङ्क से आप सदा लिप्त हैं। आप निश्चित रूप से मेरा कुशल-सम्पादन करें। हे वीर!

(५)

राग काफी *मात्रा ४*

स्फुरदिन्दीवर-सुन्दर, सान्द्रतरानन्दकन्दलीकन्द
मां तव पदारविन्दे नन्दय गन्धेन गोविन्द।
कुन्ददशन बद्धरशन, रुक्मवसन रम्यहसन॥ देव॥

खिलते हुए कमल के समान आप सुन्दर हैं। गाढ़तर आनन्दरूपी कदली-वृक्ष के आप मूल कन्द हैं। हे गोविन्द! मुझे आपके पदारविन्द में गन्ध से आनन्द दीजिए। आपके दाँतों की पङ्क्ति कुन्द जैसी शुभ्र है। कटि में रस्सी से आप बँधे हुए हैं (माखन की मटकी फोड़ने से रुष्ट यशोदामैया ने बाँध दिया है।) देव! आप सुनहला वस्त्र पहने हैं और आपका हास रमणीय है।

(६)

राग तिलङ्ग *मात्रा 4 + 5 = 9*

(मातङ्गखेलितम्)

नाथ हे ! नन्दगेहिनीशन्द, पूतनापिण्डपातने चण्ड।
दानवेदण्डकारकाखण्ड, सार-पौगण्डलीलयोद्दण्ड॥
गोकुलालिन्द-गूढ गोविन्द, पूरितामन्दराधिकानन्द।
वेतसीकुञ्ज-माधवीपुञ्ज-लोकनारम्भ-जातसंरम्भ-
दीपितानङ्गकेलिभागङ्ग, गोपसारङ्गलोचनारङ्ग-
कारिमातङ्ग खेलितासङ्ग-सौहृदाशङ्कयोषितामङ्क-
पालिकालम्ब चारुरोलम्ब, मालिकाकण्ठ कौतुकाकुण्ठ।
पाटलीकुन्दमाधवीवृन्दसेवितोत्तुङ्ग-शेखरोत्सङ्ग॥
मां सदा हन्त पालयानन्त। वीर॥

हे नाथ! आप नन्द की गृहिणी (यशोदा) को सुख देने वाले हैं। पूतना का शरीर गिराने (मारने) में आप प्रचण्ड हैं। दानवों को दण्ड देने में अखण्ड, लोहे जैसे सुदृढ़ पौगण्ड की लीलाओं में उद्दण्ड हैं। गोकुल के ओसारे में छिपे हुए गोविन्द! राधिकाजी में आप अतिशय आनन्द भरते हैं। बेंत के कुञ्ज में माधवी (गोपियों) के समूह को देखना आरम्भ होते ही आप में संरम्भ (उत्साह) उत्पन्न हो जाता है और कामदेव उद्दीप्त हो जाते हैं, ऐसे अनङ्ग की केलि के भाजन आपके अङ्ग हैं। गोपकुल की मृगनयनियों को आनन्द देने वालों में आप उत्तम हैं। क्रीड़ा में आप असङ्ग हैं, स्त्रियाँ आपमें सौहृद (सुहृद-भाव) की आशङ्का कर लेती हैं, उनकी अङ्क-श्रेणी के झूले में आप झूलते हैं। आपके केश सुन्दर हैं। आपके कण्ठ में माला है और आपका कौतुक कुण्ठारहित है। पाटली (गुलाब), कुन्द, माधवी आदि पुष्पसमूहों से आपके मुकुट का ऊपर का भाग सजा हुआ है। हे वीर! आप सदा मेरा पालन करें।

(७)

राग हंसध्वनि *त्रिताल*

(तिलकम्)

अमलकमलरुचिखण्डनपटुपद,
नटनपटिमहृतकुण्डलिपतिमद।
नवकुवलयकुलसुन्दररुचिभर,
घनतडिदुपमितबन्धुरपटधर।
तरणिदुहितृतट-मञ्जुलनटवर,
नयननटनजितखञ्जनपरिकर।
भुजतटगतहरिचन्दनपरिमल,
पशुपयुवतिगण-नन्दनवरकल।
नवमदमधुरदृगञ्चलविलसित,
मुखपरिमलभरसञ्चलदलिवृत।
शरदुपचितशशिमण्डलवरमुख,
कनकमकरमयकुण्डलकृतसुख।
युवतिहृदयशुकपञ्जरनिजभुज,
परिहित-विचकिल-मञ्जुलशिरसिज।
सुतनुवदनविधुचुम्बनपटुतर,
दनुजनिविडमदडुम्बनरणखर॥ वीर॥

निर्मल कमल की कान्ति को खण्डित करने में आपके चरण कुशल हैं। नृत्य की चातुरी से आपने नागराज कालिय का मद हर लिया है। आप नव-विकसित नीलकमलों के समूह के सदृश सुन्दर कान्ति से पूर्ण हैं। मेघ पर विद्युत् के सदृश सुन्दर वसन आप धारण किए हुए हैं। सूर्यपुत्री यमुना के तट पर आप सुन्दर नटवर के रूप में विराजमान हैं। नेत्रों को नचाने में आपने खञ्जनों के समूह को जीत लिया है। आपकी भुजाओं पर हरिचन्दन का सुगन्धित लेप है। गोपयुवतियों को आपकी श्रेष्ठ कलाएँ आनन्द देने वाली हैं। नवीन मद से मधुर कटाक्षों के विलास से आप शोभित हैं। मुख के परिमल की समृद्धि पर मँडराने वाले भौंरों से आप घिरे हैं। शरत्काल के चन्द्रमा के मण्डल के समान आपका मुख सुन्दर है। सोने के मकराकृति कुण्डलों से आप सुख देते हैं। आपकी भुजाएँ युवतियों के हृदयरूपी तोते के लिए पिंजरे के समान हैं। सुन्दर घुँघराले केशों से आप मण्डित हैं। सुन्दरियों के मुखचन्द्र के चुम्बन में आप कुशल हैं। दानवों के समूह के मद को समाप्त करने वाले रण में आप तीक्ष्ण हैं। हे वीर!

(८)

राग बागेश्री *अताल*

(आर्या)

रणति हरे! तव वेणौ, नार्यो दनुजाश्च कम्पिताः खिन्नाः।
वनमनपेक्षितदयिताः, करवालान् प्रोज्झ्य धावन्ति॥

हे गोविन्द! जब आपका वेणु बज रहा होता है तब नारियाँ (प्रणय-वेग से) कम्पित एवं खिन्न होती हैं, एवं दानव (भय से) कम्पित तथा खिन्न होते हैं, (उस समय) नारियाँ अपने पति आदि की परवाह न करके, हाथ के शिशुओं को भी छोड़कर वन की ओर दौड़ पड़ती हैं।

(९)

राग पीलू *मात्रा ८*

(सर्वलघु)

चरणचलनहतजरठशकटक,
रजकदलन वशगतपरकटक।
नटनघटनलसदगवरकटक,
सकनकमरकतमय-नवकटक।
कपटरुदित-नटदकठिनपदतट-
विघटितदधिघट-निविडितसुशकट।
रुचितुलितपुरट- पटलरुचिरपट,
घटितविपुलकट-कुटिलचिकुरघट।
रविदुहितृनिकटलुठदजरठजट
विटपनिचितवट-तटपटुनरनट।
निजविलसितहठविचटितसुविकट-
चटुलदनुजघट ! जय युवतिषु शठ ॥वीर!

आपने अपने चरणकमलों से पुराने शकट (छकड़े) को समाप्त किया है। धोबी का आपने दलन किया है। शत्रुओं की छावनी को आपने वश में किया है। आप नृत्य करते हुए नागराज की सेना में सुशोभित हैं। आपके नवीन कड़े स्वर्ण और मरकत मणि के बने हैं। आपने कपटमय रुदन करते हुए अपने मृदु चरण नचाते हुए दही के घड़ों से भरे हुए बड़े सुन्दर शकट (के रूप में आए असुर) को तोड़ा (मारा) है। आपके सुन्दर वस्त्रों की चमक सुवर्ण-पटल के तुल्य है। आप नाना प्रकार की क्रीड़ा करते हैं। घुँघराले केशों की घटा से आप मण्डित हैं। सूर्यपुत्री (यमुना) के निकट आपका सुकोमल केशपाश आन्दोलित हो रहा है। वृक्षों के समूह में वट-वृक्ष के तले आप कुशल नट के रूप में शोभा पाते हैं। अपने विलास के हठ से आपने विकट और चपल दानवरूपी घट को खण्ड-खण्ड कर दिया है। युवतियों के प्रति आप शठ हैं। हे वीर! आपकी जय हो।

(१०)

राग आसावरी *मात्रा ७*

पुरुषोत्तम वीरव्रत यमुनाद्भुततीरस्थित,
मुरलीध्वनिपूरक्रिय सुरभिव्रजनादप्रिय॥ धीर॥

हे पुरुषोत्तम! आपने वीरों का व्रत धारण किया है। यमुना के अद्भुत तीर पर आप स्थिर हैं। मुरली-ध्वनि के पूरण (भराव) की क्रिया आप करते हैं। गायों के समूह का नाद आपको प्रिय हैं। हे धीर!

द्वितीय खण्ड

(रतिमय कृष्ण)

(११)

राग केदार

समग्रः

मात्रा ४ + ५ = ९

अरिष्टखण्डन स्वभक्तमण्डन
प्रयुक्तचन्दन प्रपन्ननन्दन॥
प्रसन्नचञ्चल स्फुरद्दृगञ्चल
श्रुतिप्रलम्बक भ्रमत्कदम्बक॥
प्रकृष्टकन्दरप्रविष्ट सुन्दर
स्थविष्ठसिन्धुरप्रसर्पबन्धुर।देव॥

आप विघ्नों, अनिष्टों का खण्डन करते हैं, अपने भक्तों को पुष्ट करते हैं। आपने चन्दन का प्रयोग किया है। शरणागतजनों को आप आनन्द देते हैं। आप प्रसन्न और चञ्चल हैं। आपके नेत्रों के कोने स्फुरणशील हैं। आपके कानों में लटकते हुए कदम्ब पुष्प झूमते हैं। हे सुन्दर! उत्तम कन्दरा में आपने प्रवेश किया। सुदृढ़ विशाल हाथी के सदृश चाल से आप सुन्दर हैं। हे देव!

(१२)

राग बिहाग

मात्रा ४ + ४

वृन्दारकतरुवीते वृन्दावनमण्डले वीर।
नन्दितबान्धववृन्द, सुन्दर! वृन्दारिका रमय॥
खलिनीडुम्बक मुरलीचुम्बक।
जननीवन्दक पशुपीनन्दक॥ वीर!।

सुरतरुओं अर्थात् कल्पतरुओं से घिरे हुए वृन्दावन मण्डल में, जिसमें आपने बान्धवों को आनन्द दिया है, हे सुन्दर! देवरमणियों को रमण कराओ। आप (पूतना जैसी) दुष्टाओं के संहारक हैं, मुरली को आप चूमते हैं, माता का आप वन्दन करते हैं, गोपियों को आप आनन्द देते हैं, हे वीर!

(१३)

राग हमीर

त्रिताल

(मालिनी वृत्त)

अनुदिनमनुरक्तः पद्मिनीचक्रवाले
नवपरिमलमाद्यच्चञ्चरीकानुकर्षी।
कलितमधुरपद्मः कोऽपि गम्भीरवेदी
जयति मिहिरकन्याकूलवन्याकरीन्द्रः॥

पद्मिनियों (पद्मिनी स्त्रियों) के चक्रवाल (समूह) में अनुदिन अनुरक्त रहने वाला कृष्ण-रूपी श्रेष्ठ हाथी जययुक्त है। वह नवीन परिमल पर मदमत्त होने वाले भ्रमरों को आकर्षित करता है, उसने मधुर कमलों को जुटा रखा है। वह मानो कोई गम्भीरवेत्ता (जल की गहराई अथवा चित्त की गहराई को जानने वाला) गजराज है जो सूर्यकन्या (यमुना) के तट की वनराजि में विहार करता है।

(१४)

राग मालकौंस *झपताल*

(गुच्छः)

जय जलदमण्डलीद्युतिनिवहसुन्दर,
स्फुरदमलकौमुदी-मृदुहसितबन्धुर।
व्रजहरिणलोचनावदनशशिचुम्बक,
प्रचुरतरखञ्जनद्युतिविलसदम्बक।
स्मरसमरचातुरीनिचयवरपण्डित,
प्रणययुतराधिकापटिमभरभण्डित।
क्वणदतुलवंशिकाहृतपशुपयौवत,
स्थिरसमरमाधुरीकुलरमित-दैवत।
ग्रथितशिखिचन्द्रकस्फुटकुटिलकुन्तल,
श्रवणतटसञ्चरन्मणिमकरकुण्डुल
ग्रथितनवताण्डवप्रकरगतिमण्डल,
द्विजकिरणधोरणीविजितसिततण्डल।
स्फुरितवरदाडिमीकुसुमयुतकर्णक,
छदनवरकाकलीहृतचटुलतर्णक ॥धीर॥

मेघ-मण्डली के द्युति-पुञ्ज के समान सुन्दर! आपकी जय हो। आप निर्मल चन्द्रिका के समान मन्द मुस्कान से रमणीय हैं। व्रज की मृगनयनियों के मुखचन्द्र के आप चुम्बक हैं। प्रचुरतर खञ्जनों की शोभा से आपके नेत्र मण्डित हैं। काम-युद्ध की अतिशय चातुरी में आप प्रवीण पण्डित हैं। प्रणययुक्त राधिका के अतिशय कौशल से आप मुदित हैं। गूँजती हुई अनुपम वंशी के द्वारा गोप-युवतियों के समूह का हरण करते हैं। युद्ध में स्थिरता की माधुरी से देवताओं को आपने प्रसन्न किया है। सुन्दर मोर-पंख का चन्द्रक आपके घुँघराले केशों में बंधा हुआ है और शोभा पा रहा है। दोनों कानों में मकराकृति मणि-मय कुण्डल हिल रहे हैं। आपके नित्य नवीन नृत्य से विविध गति-मण्डल प्रकट हो रहे हैं। आपके दाँतों की द्युति-किरणों की पङ्क्ति श्वेत तण्डुलों की पङ्क्ति को जीत रही है। खिले हुए श्रेष्ठ अनार के पुष्प से युक्त आपके कान हैं। सुन्दर ओंठों से विशिष्ट ध्वनि निकालते हुए आप चञ्चल बछड़ों को टेरते हैं।

(१५)

राग पूर्वी *मात्रा ५ + ४ = ९*

(कुन्दम्)

नन्दकुलचन्द्र लुप्तभवतन्द्र! कुन्दजयिदन्त दुष्टकुलहन्त।
रिष्टसुवसन्त मिष्टसदुदन्त! सन्दलितमल्लि-कन्दलितवल्लि॥
गुञ्जदलिपुञ्ज - मञ्जुतरकुञ्ज-लब्धरतिरङ्ग हृद्यजनसङ्ग!
शर्मलसदङ्ग हर्षकृदनङ्ग मत्तपरपुष्ट - रम्यकलघुष्ट!!
गन्धभरजुष्ट - पुष्पवनतुष्ट! कृत्तखलयक्ष युद्धनयदक्ष!
वल्गुकचपक्ष-बद्धशिखिपक्ष पिष्टनततृष्ण तिष्ठ हृदि कृष्ण॥ वीर॥

नन्द के कुल के चाँद! आपने संसार-रूपी तन्द्रा का लोप किया है। आपके दाँत कुन्द की शोभा को जीतने वाले हैं। आपने

दुष्टों के कुलों का संहार किया है। आप सौभाग्य के सुन्दर वसन्त हैं। आपका वर्णन मीठा और पवित्र है। मल्लिका पुष्पों के गुच्छे जिन लताओं पर लदे हुए हैं, उन पर भ्रमरों के समूह गूँजते हैं, ऐसे अत्यन्त सुन्दर कुञ्ज में आपने रतिरङ्ग प्राप्त किया है। मनोहर जन आपके साथ हैं, आपके अङ्ग आनन्द से चमकते हैं। कामदेव को आप हर्ष देने वाले हैं। मन कोकिल की रमणीय ध्वनि के सदृश आपका घोष है। गन्ध के भार से भरे हुए पुष्पों के वन से आप सन्तुष्ट हैं। दुष्ट यक्ष को आपने काटा है। युद्ध की नीति में आप दक्ष हैं। आपके सुन्दर केशों के काकपक्ष में मयूरपिच्छ बँधा हुआ है। शरणागत की तृष्णा का आप नाश करते हैं। हे कृष्ण! आप मेरे हृदय में निवास करें। हे वीर!

(१६)

राग भीमपलासी *मात्रा ८ + ८*

(साप्तविभक्तिकी कलिका)

यः स्थिरकरुणस्तर्जितवरुणस्
तर्पितजनकः संमदजनकः॥ प्र०॥
प्रणतविमायं जगुरनपायं
घनरुचिकायं सुकृतिजना यम्॥ द्वि०॥
सुजनकलितकथनेन प्रबलदनुजमथनेन
प्रणयिषु रतमभयेन प्रकटरतिषु किल येन॥ तृ०॥
यस्मै परिध्वस्तदुष्टाय चक्रुः स्पृहां माल्यजुष्टाय
दिव्याः स्त्रियः केलितुष्टाय कन्दर्परङ्गेण पुष्टाय॥ च०॥
धृतोत्साहपूराद् द्युतिक्षिप्तसूराद्
यतोऽरिर्विदूराद् भयं प्राय शूरात्॥ पं०॥
यस्योत्तमाङ्गस्य सञ्चार्यपाङ्गस्य
वेणुर्ललामस्य हस्तेऽभिरामस्य॥ ष०॥
स्मितविस्फुरितेऽजनि यत्र हिते
रतिरुल्लसिते सुदृशां ललिते॥ स०॥
स त्वं जय जय दुष्टप्रतिभय
भक्तस्थिरदय लुप्तव्रजभय॥ वीर॥

१. जो स्थिर करुणा से युक्त हैं, जिन्होंने वरुण का वर्जन किया है, जिन्होंने अपने पिता को तृप्त किया है जो सम्यक् मद को उत्पन्न करते हैं—

२. पुण्यशील जनों ने जिन्हें—प्रणतजनों की माया को दूर करने वाला, अव्यय, मेघ जैसी कान्ति से युक्त काया वाला कहा है—

३. जिन्होंने सुजनों के प्रति सुन्दर वचन कहे हैं, प्रबल दनुजों का मथन किया है, जो अभय हैं और जिन्होंने प्रकट रति वाले प्रेमीजनों में रमण किया है—

४. जिन्होंने दुष्टों को सर्वथा ध्वस्त किया है, जो माला से सुशोभित हैं, जो कामदेव के रङ्ग से पुष्ट हैं, जो केलि से तुष्ट हैं, ऐसे जिनके प्रति दिव्य स्त्रियों ने स्पृहा की थी—

५. जो उत्साह के पूर को धारण किए हुए हैं, अपनी द्युति से जिन्होंने सूर्य को भी तुच्छ बना दिया है, ऐसे जिन शूर से शत्रु दूर से ही भय को प्राप्त हुआ—

६. उत्तम अङ्गों वाले, सञ्चरणशील कटाक्षों वाले, जिन अभिराम, ललाम (श्री कृष्ण) के हाथ में वेणु है—

७. जिनमें स्मित का विकास हुआ है, जो हितकारी हैं, उल्लसित हैं, ऐसे जिनमें सुन्दरियों की रति उत्पन्न हुई—

सम्बोधन—ऐसे आप दुष्टों के प्रति भयकारी हैं, भक्तों के प्रति स्थिर दया वाले हैं, जिन्होंने व्रज का भय मिटाया है, ऐसे हे वीर! आपकी जय हो।

(१७)

राग शुद्धसारंग *मात्रा ४ + ४*

(आर्या)

मधुरेश! माधुरीमय माधव ! मुरलीमतल्लिकामुग्ध !
मम मदनमोहन ! मुदा, मर्दय मनसो महामोहम्॥

हे मधुरेश! माधुरीमय! माधव! आप श्रेष्ठ मुरली पर मुग्ध हैं। हे मदनमोहन! आप हर्षपूर्वक मेरे मन के महामोह को मिटाएँ।

(१८)

राग तिलककामोद *मात्रा १०*

(उपजातिवृत्त)

रङ्गस्थले ताण्डवमण्डलेन निरस्य मल्लोत्तमपुण्डरीकान्।
कंसद्विपं चण्डमखण्डयद् यो हृत्पुण्डरीके स हरिस्तवास्तु॥

रङ्गमण्डप में नृत्य-मण्डल के द्वारा जिसने उत्तम मल्लरूपी दिग्गजों या बाघों का निरास कर डाला था और कंस रूपी प्रचण्ड हाथी को खण्डित कर डाला था, वह हरि तुम्हारे हृदयकमल में वास करे। ('हरि' में यहाँ श्लेष है-कंसरूपी हाथी के प्रसङ्ग में सिंह और वैसे श्रीकृष्ण ये दोनों अर्थ हैं।)

तृतीय खण्ड

(श्रीकृष्ण के अलौकिक स्वरूप का वर्णन)

(१९)

राग शंकरा *मात्रा १६*

(अच्युत:)

जय जय वीर ! स्मर-रस-धीर ! द्विजजितहीर ! प्रतिभटवीर !
स्फुरदुरुहार-प्रियपरिवार ! च्छुरितविहार ! स्थिरमणिहार !
प्रकटितरास ! स्तबकितवास ! स्फुटपटवास ! स्फुरितविलास !
ध्वनदलिजाल-स्तुतवनमाल ! व्रजकुलपाल ! प्रणयविशाल !
प्रविलसदंस-भ्रमदवतंस ! क्वणदुरुवंश-स्वनहृतहंस,
स्तनघनराग-श्रितपरभाग।।वीर!!

हे वीर! आपकी जय हो, जय हो। आप कामदेव के रस में धीर हैं अर्थात् अधीर नहीं होते। आपने अपने दाँतों से हीरे को जीत लिया है। प्रतियोद्धाओं के प्रसङ्ग में आप वीर हैं। आपका श्रेष्ठ हार स्फुरित होता है। अपने प्रियजनों के परिवार के साथ विहार में आप संलग्न हैं। आप स्थिर-मणि का हार पहने हैं। आपने रास को प्रकट किया है। आपके वस्त्र घेरदार या झालरदार हैं। आपके रेशमी वस्त्र सुन्दर हैं। आपका विलास स्फुरित होता है। गूँजते हुए भ्रमरों के जाल के द्वारा आपकी वनमाला की स्तुति

होती है। व्रज के कुलों का आप पालन करते हैं। आपका प्रणय विशाल है। आपके कन्धों पर कानों के कुण्डल झूलते हैं। श्रेष्ठ वंशी की ध्वनि से आपने परमहंसों का हरण कर लिया है। (गोपियों के) स्तनों पर लिप्त कुङ्कुम पर आपका मस्तक टिका रहता है।

(२०)

राग दुर्गा *मात्रा ५+५+३+३+३+३=२२*

(मालिनी वृत्त)

स्थितिनियतिमतीते धीरताहारिगीते
प्रियजनपरिवीते कुङ्कुमालेपपीते।
कलितनवकुटीरे काञ्च्युदञ्चत्कटीरे
स्फुरतु रसगभीरे गोष्ठवीरे रतिर्नः॥

जो स्थिति और गति के अतीत हैं, जिनका गीत धैर्य का हरण कर लेता है, प्रियजनों से जो घिरे हुए हैं, कुङ्कुम के लेप से जो पीत वर्ण है, जिन्होंने नया कुटीर बनाया है, जिनकी कटि पर काञ्ची चमक रही है, जो रस की गहराई में उतरे हुए हैं, जो गोष्ठ (गोपों की बस्ती) में वीर हैं, उनमें हमारी रति स्फुरित हो।

(२१)

राग सिन्धूरा *मात्रा ५ + ५*

(उपजाति वृत्त)

चित्रं मुरारे ! सुरवैरिपक्षस्-त्वया समन्तादनुबद्धयुद्धः।
अमित्रमुच्चैरविभिद्य भेदं मित्रस्य कुर्वन्नमृतं प्रयाति॥

हे मुरारे! बड़े आश्चर्य की बात है, देवों के शत्रुओं अर्थात् दानवों ने सब ओर से तुम्हारे साथ युद्ध ठान लिया, अमित्र (शत्रु) का भेद न करते हुए मित्र (सूर्य) का भेदन करते हुए (पार जा कर) ऊपर अमृतलोक में पहुँच रहे हैं।

(२२)

राग गौड़सारंग *अताल*

चारुतट-रासनट गोपभट पीतपट
पद्मकर दैत्यहर कुञ्जचर वीरवर !
नर्ममय कृष्ण जय ! नाथ॥

(यमुना के) सुन्दर तट पर आप रास के नट हैं। गोपयोद्धा, पीतपटधारी, हाथ में कमल धारण किए हुए, दैत्यों का हरण करने वाले, कुञ्जविहारी, श्रेष्ठवीर, नर्म (रसिकता) से युक्त, कृष्ण! आपकी जय हो।

(२३)

राग अहीरभैरव *त्रिताल*

(आर्या)

दानवघटालवित्रे धातुविचित्रे जगच्चित्रे।
हृदयानन्दिचरित्रे रतिरास्तां बल्लवीमित्रे॥

दानवों की घटा को काटने वाले, धातुओं (खनिजों) से रंग बिरंगे, जगत् रूपी 'चित्र' से आप प्रकट होते हैं, आपका चरित्र हृदय को आनन्द देने वाला है, गोपियों के आप मित्र हैं आप में हमारी रति हो।

(२४)

(भरतवाक्य)

राग भैरवी *मात्रा ४*

(मालिनी वृत्त)

विवृतविविधबाधे भ्रान्तिवेगादगाधे
बलवति भवपूरे मज्जतो मेऽविदूरे !
अशरणगणबन्धो ! हे कृपाकौमुदीन्दो !
सकृदकृतविलम्बं देहि हस्तावलम्बम्॥

जिसमें विविध बाधाओं का विस्तार हुआ है, भँवरों के वेग से जो अगाध है, ऐसे बलवान् भवरूपी प्रवाह में मैं आपके समीप ही डूब रहा हूँ। हे अशरणजनों के बन्धु! हे कृपाचन्द्रिका के चन्द्र! एक बार बिना विलम्ब किए मुझे हाथ का सहारा दीजिए।

(२५)

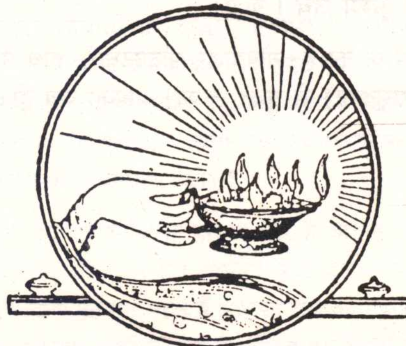
फलश्रुति

राग भैरवी *अताल*

(अनुष्टुप्)

रम्यया विरुदावल्या प्रोक्तलक्षणयुक्तया !
स्तूयमानः प्रमुदितो वासुदेवः प्रसीदति॥

रमणीय विरुदावली, जो कि कहे गए लक्षण से युक्त है, से जब वासुदेव की स्तुति है तो वे प्रसन्न होते हैं॥



·१३·

युग्मगीत-सङ्गीत

श्रीचैतन्य-प्रेम-संस्थान, वृन्दावन
फाल्गुन शुक्ल दशमी, बुधवार, 2052
28 फरवरी, 1996

युग्मगीत

(श्रीमद्भागवत 10/35)
(उड़ीसी शैली में एकल नृत्यप्रयोग)

प्रस्तुति— Centre For Indian Classical Dances, New Delhi
तथा भरत-निधि, वाराणसी

नृत्य-रचना एवं प्रयोग— श्रीमती सोनल मानसिंह

पदसञ्चय एवं गेय-रचना— प्रो० प्रेमलता शर्मा

गायन— श्रीमती मङ्गला तिवारी, वाराणसी
सुश्री रेवती साकलकर, वाराणसी
श्री बङ्किम सेठी, दिल्ली

वाद्यवृन्द—

रुद्रवीणा (तञ्जोर)— श्री एम० वीरभद्रराव, वाराणसी

वंशी — श्री रा० क० श्रीनिवासन्, वाराणसी

पखावज (उड़ीसा)— श्री प्रफुल्ल दास, दिल्ली

मञ्च-सज्जा,
प्रकाश एवं ध्वनि — श्री हरीश जैन, दिल्ली

भूमिका

श्रीमद्भागवत के पाँच 'गीत' प्रसिद्ध हैं—वेणुगीत, गोपीगीत, युग्मगीत, भ्रमरगीत और महिषीगीत। इन सब की रचना तो वार्णिक वृत्तों में ही हुई है अर्थात् 'गीत' संज्ञा के लिए रचनागत कोई संगति नहीं है। विशेष अभिनिवेश के साथ किसी अवस्था में जो कहा गया है वही गीत है। प्रथम तीन गीतों को गोपियों के समूह ने ही गाया है, भ्रमर-गीत की गायिका कोई एक गोपी है, जिसे रसिकजन श्रीराधा मानते हैं। महिषी-गीत की गायिका द्वारका की महिषीयाँ हैं।

श्री चैतन्य-प्रेम-संस्थान के अधिष्ठाता गौड़िय-सम्प्रदायाचार्य श्री 108 पुरुषोत्तम गोस्वामीजी महाराज की प्रेरणा से भ्रमर-गीत और वेणु-गीत की सङ्गीतमय (गीत-वाद्य-नृत्य-सहकृत) प्रस्तुति मार्च' 94 में वृन्दावन में और नवम्बर'95 में जयपुर में क्रमशः हो चुकी है। पहली प्रस्तुति कथक शैली के एकल प्रयोग में डॉ० रञ्जना श्रीवास्तव द्वारा हुई थी, दूसरी प्रस्तुति कथक शैली में ही सामूहिक नृत्य नाटिका के रूप में, श्रीमती कुमुदिनी लाखिया के निर्देशन में हुई। इस बार युग्म-गीत की वैसी ही प्रस्तुति सङ्कल्पित है। प्रख्यात नृत्याङ्गना श्रीमती सोनल मानसिंह ने ओडिसी शैली में एकल नृत्य द्वारा यह प्रस्तुति करने का दायित्व लिया है। गेय-रचना की सेवा का अवसर हर बार की तरह मुझे मिला है।

'युग्म-गीत' इस समास में पड़ा हुआ युग्म अथवा युगल शब्द इस प्रकार सार्थक है कि दो-दो श्लोकों का अन्वय एक साथ होता है। प्रथम भूमिकापरक एवं अन्तिम उपसंहारपरक श्लोकों को छोड़कर शेष 24 श्लोकों के 12 जोड़े बनते हैं। प्रत्येक जोड़े का हिन्दी अनुवाद हमने एक साथ दिया है। एक-एक जोड़े को सदृश यानी मिलते-जुलते रागों में निबद्ध किया है, जैसे कि—

1. अल्हैया बिलावल—देशकार, 2. आसावरी—देशी, 3. वृन्दावनीसारङ्ग-शुद्धसारङ्ग, 4. भीमपलासी—पटदीप, 5. मुल्तानी—मधुवन्ती, 6. पूरियाधनाश्री—पूरबी, 7. पूरियाकल्याण—यमन, 8. हमीर—केदार, 9. भूपाली—हंसध्वनि, 10. खमाज—तिलङ्ग, 11. देश—तिलककामोद, 12. भिन्नषड्ज—मालकौंस।

प्रत्येक जोड़ी का आरम्भ उसके प्रथम राग में तालबद्ध सरगम से किया गया है, और दूसरे राग से पहले केवल थोड़े से अताल आलाप दिए गए हैं। 7, 9, 10, 12 और 16 मात्राओं के तालों का उपयोग किया गया है। यद्यपि बारहों जोड़े स्वागता वृत्त में हैं, फिर भी नृत्य में विविधता लाने के लिए छन्द में परिवर्तन न होने पर भी तालों में परिवर्तन किया गया है।

इस गीत में भी गोपियों के द्वारा प्रमुख रूप से श्रीकृष्ण के वेणु के प्रभाव का वर्णन है। महारास-लीला के पश्चात् के दिनों में श्रीकृष्ण-बलराम के गोचारण के लिए जाने पर दिनभर उनका लीला स्मरण करती हुई व्रजाङ्गनाएँ परस्पर गोचारण के समय उनके वेणुवादन के दृश्यों की कल्पना करती हुई वर्णन करती हैं।

इस वर्णन में प्रत्येक युग्म में प्रथम श्लोक में श्रीकृष्ण की रूपमाधुरी का और दूसरे में विविध श्रोतागण पर उनके वेणु के प्रभाव का कीर्तन है। आरम्भ होता है आकाश-मार्ग में विमानों में सञ्चरण करती हुई सुर-सुन्दरियों को लेकर। फिर झुण्ड के झुण्ड खड़े हो कर सुनते हुए गाय-बैल-मृग आदि पशुओं की मोहितावस्था केन्द्र में आती है। तदनन्तर सरिताओं की गति टूटना और उनका स्तब्ध होना वर्णित है। फिर लताओं और तरुओं की प्रफुल्ल दशा की बात उठाई गई है। इसके पश्चात् विविध पक्षियों की बारी आती है जो कि आनन्दमग्न हुए आँख मीचे मौन हो रहे हैं। फिर मेघों का मन्दगर्जन, उनसे फुहार-रूपी फूलों की वर्षा और छायाप्रदान का स्मरण किया गया है।

इसके बाद इन्द्र, शिव, ब्रह्मा आदि देवों की मुग्धावस्था निरूपित है। फिर गोपियों की अपनी सम्मोहित अवस्था की बात उठती है, जिसके बाद हरिणियों की मुग्धता में गोपियों का सादृश्य देखा गया है।

इसके पश्चात् यमुनाकूल पर गायों और ग्वालों से घिरे गोपाल के विहार का वर्णन है जिन्हें उपदेवगण वाद्य-गीत-नृत्य का उपहार देते हुए रिझा रहे हैं।

इसके बाद सब गायों को बटोर कर गिरिधारी गोविन्द के वन से लौटने का वर्णन है जो चार श्लोकों में विस्तृत है।

आशा है युग्मगीत की यह सङ्गीतमय प्रस्तुति रसिक-जनों को आनन्दित कर सकेगी। श्रीमद्भागवत के मूल पाठ की सङ्गीतमय प्रस्तुति के प्रयास की यह तीसरी कड़ी है। पहले दो प्रयासों की सफलता ने हमें उत्साहित किया है।

माघपूर्णिमा, रविवार, 2052
4 फरवरी, 1996

प्रेमलता शर्मा
आम्नाय, करौंदी,
वाराणसी-5

श्रीयुग्मगीत

(श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्ध का पैंतीसवाँ अध्याय)

[श्रीकृष्ण-बलराम के गोचारण हेतु वन जाने पर, दिन में, गोपियों द्वारा उनकी लीलाओं का स्मरण करते हुए, दो-दो पद्यों के जोड़े में गान। उसमें विशेषतः विविध स्तरों पर वेणु के प्रभाव का वर्णन]

श्रीशुकदेव की उक्ति

राग अहीर-भैरव *अताल*

गोप्यः कृष्णे वनं याते
तमनुद्रुतचेतसः
कृष्णलीलाः प्रगायन्त्यो
निन्युर्दुःखेन वासरान्॥ १॥

श्रीकृष्ण जब गायें चराने वन में चले जाते थे, तब गोपियों का चित्त मानो उन्हीं के पीछे-पीछे भाग जाता था अथवा उन्हीं में लगा रहता हुआ द्रवित रहता था, ऐसे द्रवित चित्त और चेतना वाली वे गोपियाँ कृष्णलीलायें विविध भाँति से गाती हुई उसी के सहारे बड़ी कठिनाई से दिन बिताती थीं॥ १॥

गोपियों की परस्पर उक्ति

राग-अल्हैयाबिलावल *ताल-मध्यएकताल/चौताल*

वामबाहुकृतवामकपोलो
वल्गितभ्रुरधरार्पितवेणुम्।
कोमलाङ्गुलिभिराश्रितमार्गं
गोप्य ईरयति यत्र मुकुन्दः॥ २॥

राग-देशकार *ताल-त्रिताल*

व्योमयानवनिताः सह सिद्धै-
र्विस्मितास्तदुपधार्य सलज्जाः।
काममार्गणसमर्पितचित्ताः
कश्मलं ययुरपस्मृतनीव्यः॥ ३॥

सखियो! जिस समय, जहाँ पर, अपनी बाँयी भुजा पर बाँया कपोल रखकर, बाँकी भृकुटी नचाते हुए मुकुन्द (अपनी लीला के आनन्द से मोक्ष-सुख को भी तुच्छ बनाने वाले श्रीकृष्ण) अधर (निचले ओंठ) पर रखे हुए वेणु (वंश) के छिद्रों पर

अपनी सुकोमल अँगुलियाँ फेरते हुए, उसमें से मार्ग-आश्रित (दिव्य) मधुर स्वरावली निकालते हैं—(तब) वह सुमधुर दिव्य स्वर सुनकर, आकाश में विमानों पर चढ़ी हुई वनितायें (सुन्दरियाँ) सिद्धगणों के साथ-साथ, विस्मय से भरी हुई, ऐसी विह्वल हो जाती हैं कि उन्हें अपने वस्त्र-बन्धन शिथिल होने की सुध नही रहती॥ 2-3॥

राग-आसावरी *ताल-झपताल*

हन्त चित्रमबलाः शृणुतेदं
हारहास उरसि स्थिरविद्युत्।
नन्दसूनुरयमार्तजनानां
नर्मदो यर्हि कूजितवेणुः॥ ४॥

राग-देसी *ताल-त्रिताल*

वृन्दशो व्रजवृषा मृगगावो
वेणुवाद्यहृतचेतस आरात्।
दन्तदष्टकवला धृतकर्णा
निद्रिता लिखितचित्रमिवासन्॥ ५॥

अरी अबलाओ ! यह एक और विचित्र बात सुनो! जिनका हास्य जुही-बेला के गुँथे हार के सदृश शुभ्र-मधुर है और जिनके वक्षःस्थल पर विद्युत् के समान चञ्चला लक्ष्मी भी स्थिर होकर विराजमान है—वे, आर्त (दुःख या प्रीति से पिघले हृदयवाले) जनों को रसपूर्ण आह्लाद देने वाले नन्दकुमार जब वेणु बजाते हैं—

तब उस वेणुवादन को सुनकर तत्क्षण जिनका चित्त हर लिया गया है ऐसे मुग्ध हुए व्रज के बैल-गायें-मृग आदि के झुण्ड आकर दाँतों में अधचबाये कौर लिए हुए, कान ऊपर उठा कर स्थिर किए हुए, सोये हुए के समान आँखे मूँदे हुए, मानो चित्रलिखित जैसे चुपचाप निस्पन्द खड़े रह जाते हैं॥ 4-5॥

राग-वृन्दावनी सारङ्ग *ताल-रूपक*

बर्हिणस्तबकधातुपलाशै-
र्बद्धमल्लपरिबर्हविडम्बः।
कर्हिचित् सबल आलि स गोपैर्गाः
समाह्वयति यत्र मुकुन्दः॥ ६॥

राग-शुद्ध सारङ्ग *ताल-त्रिताल*

तर्हि भग्नगतयः सरितो वै
तत्पदाम्बुजरजोऽनिलनीतम्।
सपृहयतीर्वयमिवाबहुपुण्याः
प्रेमवेपितभुजाः स्तिमितापः॥ ७॥

ए आलि (सखी)! मयूरपिच्छ, पुष्पों के गुच्छ, (गोवर्धन पर्वत में मिली) गेरु आदि रंग की धातुओं और कोमल पल्लवों (बहुरंगी कोंपलों) से सजकर मल्लों जैसा वेष बनाए हुए बलराम-सहित मुकुन्द जब कभी अपने साथी अन्य ग्वालबालों के साथ गायों को पुकारते होंगे—

तब वायु द्वारा उड़ाकर लायी हुई उन श्रीकृष्ण-बलराम की चरण-रेणु की चाह से भरी सरिताओं (गोवर्धन पर्वत से निकल

कर बहती छोटी नदियों) की गति टूट जाती होगी, प्रवाह थम जाता होगा, हमारे समान ही मन्दभागिनी वे नदियाँ भी प्रेम से काँपती हुई-सी भुजाओं के सदृश तरङ्गें उछालकर फिर निश्चल हो जाती होंगी॥ ६-७॥

राग भीमपलासी *ताल-४ + ५ = मात्रा*

अनुचरैः समनुवर्णितवीर्य
आदिपूरुष इवाचलभूतिः।
वनचरो गिरितटेषु चरन्ती-
र्वेणुनाऽऽह्वयति गाः स यदा हि॥ ८॥

राग-पटदीप *ताल-त्रिताल*

वनलतास्तरव आत्मनि विष्णुं
व्यञ्जन्त्य इव पुष्पफलाढ्याः।
प्रणतभारविटपा मधुधाराः
प्रेमहृष्टतनवः ससृजुः स्म॥ ९॥

पीछे-पीछे चलने वाले ग्वाल-सखा (या भक्त या देवगण) जिनके पराक्रम और चरितों का भलीभाँति वर्णन करते हैं। ऐसे अविचल ऐश्वर्य से सम्पन्न आदिपुरुष नारायण के सदृश वे (श्रीकृष्ण) जब गोचारण के समय वन में विचरते हुए, गोवर्धन की तलहटी और छोटे शिखरों पर चरती हुई गायों को बाँसुरी बजा-बजा कर बुलाते हैं—

तब, पुष्पों और फलों से समृद्ध, उनके भार से झुके हुए वृक्ष और लतायें मानो अपने भीतर विराजमान विष्णु-भगवान् की सत्ता प्रकट करते हुए प्रेम से पुलकित हो कर मधु की धाराएँ बरसाने लगते हैं॥ ८-९॥

राग-मुलतानी *ताल-त्रिताल*

दर्शनीयतिलको वनमाला-
दिव्यगन्धतुलसीमधुमत्तैः।
अलिकुलैरलघुगीतमभीष्ट-
माद्रियन् यर्हि सन्धितवेणुः॥ १०॥

राग-मधुवन्ती *ताल-मध्य एकताल*

सरसि सारसहंसविहङ्गा-
श्चारुगीतहृतचेतस एत्य।
हरिमुपासत ते यतचित्ता
हन्त मीलितदृशो धृतमौनाः॥ ११॥

जिनके मस्तक पर सुन्दर तिलक सुशोभित हैं, वे नन्दनन्दन जिस समय अपने गले में धारण की हुई वनमाला की दिव्य सुगन्ध-भरी तुलसी के मधुर मधु से उन्मत्त मधुकरों के उच्च स्वर से गाये जाते हुए अनुकूल गान का आदर करके वंशी बजाते हैं—

उस समय उनके सुमधुर गीत से मुग्ध होकर सरोवर में रहने वाले सारस-हंस आदि अनेकों पक्षी श्रीहरि (मुकुन्द) के पास आ कर आँखें मूँदे मौन धारण कर एकाग्रचित्त से श्रीहरि की उपासना करते हैं॥ १०-११॥

राग-पूरिया धनाश्री *ताल-झपताल*

सहबलः स्त्रगवतंसविलासः
सानुषु क्षितिभृतो व्रजदेव्यः।
हर्षयन् यर्हि वेणुरवेण
जातहर्ष उपरम्भति विश्वम्॥ १२॥

राग-पूर्वी *ताल-त्रिताल*

महदतिक्रमणशङ्कितचेता
मन्दमन्दमनुगर्जति मेघः।
सुहृदमभ्यवर्षत् सुमनोभि-
श्छाययाच विदधत् प्रतपत्रम्॥ १३॥

हे व्रज-देवियो ! सुमनों के कर्णभूषणों से जिनकी अपूर्व शोभा हो रही है, वे श्यामसुन्दर बलराम के साथ पर्वत के शिखरों पर खड़े हो कर स्वयं आनन्दित हो कर हम सभी को आनन्दित करते हुए जब जगत् को वेणुनाद से पूरित करते हैं—

उस समय मानो, 'महान् पुरुष (श्रीकृष्ण) का अतिक्रमण न हो जाय'—आशङ्का से मेघ उनकी वंशीध्वनि के साथ-साथ धीमे-धीमे गर्जना करता है, और अपने सुहृद (वंशीध्वनि करने वाले हमारे घनश्याम) पर अपनी छाया से छत्र लगाकर धीमी फुहार-रूपी फूलों की वर्षा करता है॥ १२-१३॥

राग पूरिया कल्याण *ताल-रूपक*

विविधगोपचरणेषु विदग्धो
वेणुवाद्य उरुधा निजशिक्षाः।
तव सुतः सति यदाधरबिम्बे
दत्तवेणुरनयत् स्वरजातीः॥ १४॥

राग-यमन *ताल-त्रिताल*

सवनशस्तदुपधार्य सुरेशाः
शक्रशर्वपरमेष्ठिपुरोगाः।
कवय आनतकन्धरचित्ता
कश्मलं ययुरनिश्चिततत्त्वाः॥ १५॥

(गोपियाँ यशोदामैया को सम्बोधित करते हुए कहती हैं) हे सति नन्दरानी! ग्वालों की विविध क्रीड़ाओं में निपुण तुम्हारा पुत्र कन्हैया जिस समय अपने पके बिम्बफल जैसी कान्तिवाले अधर पर बाँसुरी रखकर उसमें स्वयं ही सीखे हुए विविध प्रकारों से स्वरजातियाँ बजाते हैं, प्रातः - मध्याह्न - सायं विभिन्न रीतियों से प्रकट होती हुई उस वेणुध्वनि को सुन कर इन्द्र, शङ्कर, ब्रह्मा आदि प्रमुख देवगण क्रान्तदर्शी कवि होते हुए भी उसका तत्त्व निश्चित करने में असमर्थ रहते हुए सिर झुका कर मोहित चित्त से बस सुनने में ही मग्न रहते हैं, विह्वल हो जाते हैं॥ १४-१५॥

राग-भूपाली *ताल-त्रिताल*

निजपदाब्जदलैर्ध्वजवज्र-
नीरजाङ्कुशविचित्रललामैः।
व्रजभुवः शमयन् खुरतोदं
वर्ष्मधुर्यगतिरीडितवेणुः॥ १६॥

राग-हंसध्वनि *ताल-त्रिताल*

व्रजति तेन वयं सविलास-
वीक्षणार्पितमनोभववेगाः।
कुजगतिं गमिता न विदामः
कश्मलेन कबरं वसनं वा॥ १७॥

जिस समय यह नन्दकुँवर नवीन कोंपलों के समान सुकोमल एवं अरुण, तथा ध्वजा-वज्र-कमल-अङ्कुश आदि विचित्र और सुन्दर चिह्नों से युक्त अपने चरणकमलदलों से व्रजभूमि की गौओं के खुरों से उत्पन्न व्यथा को मिटाते हुए गजराज की गति से, वेणु बजाते चलते हैं—

तब उनकी लीला-विलासमयी चितवन से उमगे कामवेग के कारण वृक्षों के समान जड़ जैसी हो जाने से, मोहवश हुई हमें अपना केशपाश खुलने एवं वस्त्रों के शिथिल हो खिसकने का भी पता नहीं चल पाता॥16-17॥

राग-हमीर *ताल-मध्य एकताल*

मणिधरः क्वचिदागणयन् गा
मालया दयितगन्धतुलस्याः।
प्रणयिनोऽनुचरस्य कदांसे
प्रक्षिपन् भुजमगायत यत्र॥ १८॥

राग-केदार *ताल-त्रिताल*

क्वणितवेणुरववञ्चितचित्ताः
कृष्णमन्वसत कृष्णगृहिण्यः।
गुणगणार्णमनुगत्य हरिण्यो
गोपिका इव विमुक्तगृहाशाः॥ १९॥

प्रिय-सुगन्धि-युक्त तुलसी की माला के साथ मणिजटित हार धारण किए हुए गोपाल कभी गायों की गणना करते हुए किसी समय समीपवर्ती अपने प्रिय सखा के कन्धे पर बाँह डाल कर जहाँ गाने लगते हैं—

वहाँ या तब उनकी बजती हुई वंशी के स्वर से मोहित, ठगे से चित्त वाली कृष्णसारमृगों की पत्नियाँ कस्तूरी-हरिणियाँ हम गोपियों के समान ही घर-परिवार की आशा (इच्छा व चिन्ता) छोड़कर, गुणसागर गोविन्द के ही समीप आकर उन्हें घेरे हुए खड़ी रह जाती हैं॥ १८-१९॥

राग-खमाज *ताल-रूपक*

कुन्ददामकृतकौतुकवेषो
गोपगोधनवृतो यमुनायाम्।
नन्दसूनुरनघे तव वत्सो
नर्मदः प्रणयिनां विजहार॥ २०॥

राग-तिलंग *ताल-त्रिताल*

मन्दवायुरुपवात्यनुकूलं
मानयन् मलयजस्पर्शेन।
वन्दिनस्तमुपदेवगणा ये
वाद्यगीतबलिभिः परिवव्रुः॥ २१॥

हे अनघे (निश्छल निष्पाप भली-भोली यशोदे)! तुम्हारा बेटा नन्दनन्दन जब कुन्दमालाओं से कौतुकमय वेश बनाए हुए, ग्वालों और गोधन (गायों के समूह) से घिरा हुआ, यमुना-तट पर अपने प्रेमियों को आनन्द देता हुआ विहार करता है, तब—

चन्दनतरुओं के स्पर्श से सुगन्धित एवं शीतल वायु मानो (सब के प्रेमी) गोपाल-कृष्ण का सम्मान करते हुए अनुकूल रूप से मन्द-मन्द बहने लगता है, और गन्धर्व-किन्नर-सिद्ध आदि उपदेव-गण नन्दनन्दन की स्तुति करते हुए अपने गायन-वादन तथा दिव्य उपहार अर्पण करते हुए उन्हें घेर लेते हैं॥ २०-२१॥

राग-देश *ताल-त्रिताल*

वत्सलो व्रजगवां यदगध्रो
वन्द्यमानचरणः पथि वृद्धैः।
कृत्स्नगोधनमुपोह्य दिनान्ते
गीतवेणुरनुगेडितकीर्तिः॥ २२॥

राग-तिलककामोद *ताल-त्रिताल*

उत्सवं श्रमरुचापि दृशीना-
मुन्नयन् खुररजश्छुरितस्त्रक्।
दित्सयैति सुहृदाशिष एष
देवकीजठरभूरुडुराजः॥ २३॥

अहा! देखो, अब दिन बीत जाने पर समस्त गोधन को समेट कर, एकत्रित करके, व्रज और गायों के प्रति वत्सल, स्नेही गिरिधारी अपने सखाओं द्वारा कीर्त्तित और ब्रह्मा, शङ्कर, नारद-सनकादि लोकगुरुओं द्वारा वन्दित होते हुए—(आ रहे हैं, सखा उनका यश गा रहे हैं एवं महान् दिव्य विभूतियाँ उनके चरणों की वन्दना कर रही हैं)

(दिन-भर के श्रम से क्लान्त होने पर भी, उस) श्रम की सूचक कान्ति से नयनों को उत्सव जैसा आनन्दित करते हुए, चलती हुई गायों के खुरों से उठी धूल से धूसरित वनमाला पहने हुए, अपने सुहृदों की कामनाओं को पूर्ण करने वाले ये देवकी के गर्भ से उत्पन्न चन्द्र, हमारे सौभाग्य से, अब आ रहे हैं॥ २२-२३॥

राग-भिन्नषड्ज *ताल-मध्य एकताल*

मदविघूर्णितलोचन ईषन्
मानदः स्वसुहृदां वनमाली।
बदरपाण्डुवदनो मृदुगण्डं
मण्डयन् कनककुण्डललक्ष्म्या॥ २४॥

राग-मालकौंस *ताल-त्रिताल*

यदुपतिर्द्विरदराजविहारो
यामिनीपतिरिवैष दिनान्ते।
मुदितवक्त्र उपयाति दुरन्तं
मोचयन् व्रजगवां दिनतापम्॥ २५॥

(नवीन किशोरावस्था के) मद से जिनके नयन मतवाले, कुछ अरुण-वर्ण हुए घूम से रहे हैं, कनकमय कुण्डलों की कान्ति से जो कोमल कपोलों की शोभा बढ़ा रहे हैं, उस स्वर्णिम आभा से जिनका वदन पके बेर के समान पाण्डु (ललाई लिये पीले) वर्ण वाला प्रतीत होता है, जो अपने सुहृदों (सखाओं, स्नेहियों) को सम्मान देते हैं, ऐसे ये वनमाला धारण किये हुए—

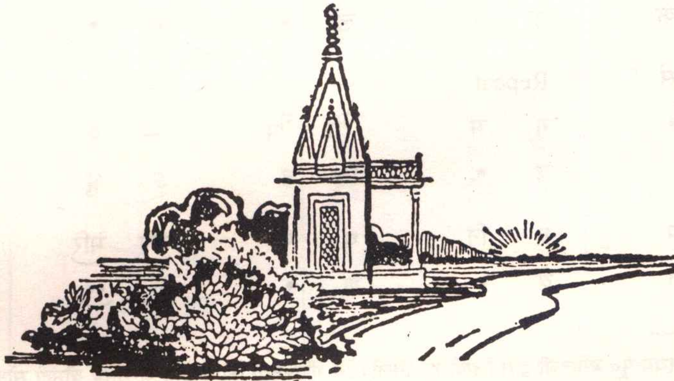
ये यदुपति (यादवकुल के स्वामी, रक्षक) प्रसन्नवदन, व्रजवासियों एवं गायों के दिनभर के कठिन ताप को दूर करते हुए सायंकाल के समय जैसे चन्द्रमा उदय होता है, उसी प्रकार गजराज की भाँति मन्द-मन्द गति से आ रहे हैं॥ २४-२५॥

श्री शुक की उक्ति

राग-भैरवी *ताल-अताल*

एवं व्रजस्त्रियो राजन् कृष्णलीला नु गायतीः।
रेमिरेऽहःसु तच्चित्तास्तन्मनस्का महोदयाः॥ २६॥

श्रीकृष्ण में जिनके मन लगे हुए हैं, वे बड़भागिनी गोपियाँ इस प्रकार उन्हीं का चिन्तन करती हुई और उन्हीं की लीलाओं का बारम्बार गान करती हुई दिन-भर उन्हीं में रमण किया करती थीं॥ २६॥



.१४.

युग्मगीत-स्वरलिपि *

१. गोप्यः कृष्णौ वनं याते ....राग अहीर भैरव—अताल

२. वामबाहुकृतवामकपोलो ....राग अल्हैया बिलावल—सरगम

ताल मध्य एकताल/चौताल

गम	रिग	पम	गरि	स	निसं	धनि	रिंसं	निध	प	गम	रिस
×		०		२			०	३		४	
ध	-नि	सं	सं	ध	-नि	ध	प	गम	रिस	-रि	स
गप	धनि	सं	-सं	गप	धनि	सं	-सं	गप	धनि	सं	-सं

२. श्लोक—५वीं मात्रा से

				ग	म	रि	ग	प	प	ध	नि
				वा	•	म	बा	•	हु	कृ	त
×		०		२		०		३		४	
सं	-	सं	सं	ध	नि	ध	प	ग	प	ध	नि
वा	ऽ	म	क	पो	•	लो	•	•	•	•	•
सं	-	सं	सं	Repeat		—		—		—	
•	ड	•	•	ग	म	(म)रि	(ग)प	—	प	गम	रि
				व	•	लि	त	ऽ	भ्रु	र•	ध
ग	प	प	प	ध	नि	ध	प	मग	मरि	सरि	स
रा	•	र्पि	त	वे	•	णु	•	••	••	••	•

* —युग्मगीत की स्वरलिपि स्वयं पू० बहिनजी द्वारा लिखी हुई मिली। इस गीत-नृत्य की प्रस्तुति के समय श्रीमती सोनल मानसिंह ने अनेक स्थानों पर कुछ परिवर्तन अपनी सुविधा के लिए कर लिये थे अतः ध्वनिरक्षण में वही रह गया। बहनजी की मूल सङ्गीत-रचना यहाँ दी जा रही है।

—ऊर्मिला

गम	रिग	प	–	Repeat									
••	••	•	ऽ										
सरगम				प	–	प	ध	–	ध	नि	नि		
				को	ऽ	म	ला	ऽ	ङ्गु	लि	भि		
सं	–	सं	सं	सं	रिं	सं	–	सं	–	सं	ध		
रा	ऽ	श्रि	त	मा	•	गं	ऽ	••	ऽ	•	•		
–	नि	ध	प	Repeat									
ऽ	•	•	•										
				सं	–	गंमं	रिं	सं	रिं	सं	सं		
				गो	ऽ	प्य•	ई	•	र	य	ति		
ध	नि	सं	रिं	सं	नि	ध	प	गप	धनि	सं	सं		
य	•	त्र	मु	कुं	•	दः	•	••	••	•	•		
धनि	धप	गम	रिस	Repeat									
••	••	••	••										
सरगम													

३. देशकार के थोड़े से अताल आलाप
श्लोक—व्योमयानवनिताः—त्रिताल

								सं	सं	सं	ध	–	^ध^सं	प	प
								व्यो	•	म	या	ऽ	न	व	नि
ग प ध			प	ग	–रि	स	—	Repeat							
ताः	•	स	ह	सि	ऽ•	द्धैः	ऽ								
								स	रि	ध़	स	–	स	प	प
								वि	•	स्मि	ता	ऽ	स्त	दु	प
ग	प	ध	प	ग	–रि	स	–	Repeat							
धा	•	र्य	स	ल	ऽ•	ज्जाः	ऽ								
								प	ध	प	सं	–	सं	सं	सं
								का	•	म	मा	ऽ	र्ग	ण	स
सं	–	सं	सं	रिं	ध	सं	–	Repeat							

		गं -रिं सं सं	- रिं सं धप
		क ऽ• श्म लं	ऽय यु र •
ग प ध प	ग -रि स -	Repeat	
प • स्मृ त	नी ऽ व्यः ऽ		

४. आसावरी—सरगम—झपताल

स -	रि - म	- -	प - सं	ध -	ध - -	प -	ध म प
×	२	०	३	×	२	०	३
प		स	ग	Repeat			
- पध	मप ग ग	रि -	स - -				
				म -	प ध -	सं -	रिं नि सं
	सं					स	ग
गं -	रिं - सं	नि -	सं ध प	मप धप	ग - ग	रि रि	स - -

श्लोक—हन्त चित्रमबलाः ....

							सं
रि -	- म प	ध -	- - प	नि ध	प - -	- गं	गं रिं -
हं ऽ	ऽ • त	चि ऽ	ऽ ऽ त्र	म ब	लाः ऽ ऽ	ऽ शृ	णु ते ऽ
×	२	०	३ Repeat				
• रिं			स				
सनि सं	ध - नि	ध प	ग रि स	रि -	- - म	प -	- - प
•• •	दं ऽ •	• •	• • •	हा ऽ	ऽ ऽ र	हा ऽ	ऽ ऽ स
म प	ध - -	- -	ध ध सं	- -	- सं -सं	मप निनि	धप मग रिस
उ र	सि ऽ -	ऽ ऽ	स्थि र वि	ऽ ऽ	ऽ द्यु •त्	Repeat	
					सं		
रि म	रि म प	ध प	ध सं सं	गं गं	रिं - सं	सं सं	रिं नि सं
नं •	• • द	सू •	• • नु	र य	मा ऽऽ •	• र्त	ज ना •
रिं नि	सं ध प	प -	ग रि स	Repeat			
• •	• नां •	• ऽ	• • •				

म	प	ध	–	ध	सं	–	ध	सं	सं	गं	–	गं	गं	गं	रिं	–	—	सं	सं
न	•	•	ऽ	र्म	दो	ऽ	•	•	•	य	ऽ	•	•	हिं	कू	ऽ	ऽ	जि	त
नि	सं	रिं	नि	सं	सं	ध	–	–प											
वे	•	•	•	•	•	णुः	ऽ	•											

५. राग देसी में थोड़े मुक्त आलाप

श्लोक—त्रिताल—वृन्दशो व्रजवृषा...

												–	स	रि	म	
												ऽ	वृं	•	द	
पध	मप	ग	–	–	रिग	सरि	नि	स	प	ध	मप	सं	–	प	ध	
शो	••	•	ऽ	ऽ	••	•	•	•	व्र	ज	वृ•	षा	ऽ	मृ	ग	
म	प	रि	ग	सरि	नि	निस	–	स	–	–	–	–	Repeat			
गा	•	•	•	•	•	•	ऽ	वो	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ				
													–	ध	म	प
													ऽ	वे	•	णु
नि	सं	सं	सं	सं	रिं	गं	रिं	सं	रिं	नि	सं	–				
वा	•	द्य	ह	त	चे	•	त	स	आ	•	रा	त्	Repeat			
												–	रिं	मं	पं	
												ऽ	दं	•	त	
गं	रिं	गं	रिं	सं	रिं	नि	सं	सं	प	ध	म	प	Repeat			
द	•	ष्ट	क	व	लाः	•	धृ	त	क	•	र्णाः	ऽ				
												–	सं	–	प	
												ऽ	नि	ऽ	द्रि	
प	ध	म	प	ग	रि	ग	रि	स	रि	नि	स	स	Repeat			
ता	•	लि	खि	त	चि	•	त्र	मि	वा	•	स	न्				

६. वृन्दावनी सारंग

सरगम-रूपक ताल

०			२		३		०			२		३	
रि	म	प	नि	म	प	म	रि	नि़	स	प़	नि़	नि़	स

रिम	रिम	-रि	पनि॒	पनि॒	-प	मरि	रिंमं	रिंमं	-मं	संरिं	संरिं	-रिं	निसं
पनि॒	पनि॒	-नि॒	मप	निसं	रिं	-	नि॒-	-म	-प	नि	-सं	रिं	-रिं
रि	-रि	म	-म	प	-प	नि	-गं	रिं	-रिं	सं	-सं	पनि	निसं
-सं	पनि	निसं	-सं	पनि	निसं	-सं							

श्लोक—बर्हिणस्तबकधातुपलाशैः—रूपक ताल

०			२		३		०			२		३	
रि	-	म	रि	-	-	-	प	नि॒	प	नि	सं	-	सं
ब	ऽ	र्हि	ण	ऽ	ऽ	ऽ	स्त	ब	क	धा	.	ऽ	तु
सं	रिं	नि	स	-	-	-	Repeat						
प	ला	.	शै:	ऽ	ऽ	ऽ							
							रिं	मं	रिं	नि	सं	-	सं
							ब	•	द्ध	म	•	ऽ	ल्ल
रिं	सं	नि॒	-	प	म	रि	नि़	स	-	रिम	-रि	सरि	नि़स
प	रि	ब	ऽ	ई	वि	डं	-	ब:	ऽ	स	र	ग	म
रि	-	म	प	नि	सं	सं	रिं	मं	रिं	नि	-	सं	सं
क	ऽ	र्हि	चि	•	•	त्	स	ब	ल	आ	ऽ	लि	स
नि॒	-	-	प	-	म	रि	Repeat						
गो	ऽ	ऽ	पै:	ऽ	•	•							
म	प	-	नि	सं	-	-	नि॒	नि॒	प	रि	म	प	नि
गा:	•	ऽ	स	मा	ऽ	ऽ	ह्व	य	ति	य	•	त्र	मु
प	म	रि	नि़	स	सं	-	Repeat						
कुं	•	•	द:	•	•	ऽ							

७. (शुद्धसारंग में अताल आलाप)

श्लोक—तर्हि भग्नगतयः सरितो वै—तीनताल

×				२				०				३			
								रिम	-	रि	नि़	-ध़	प़	स	रि
								त	ऽ	र्हि	भ	ऽ•	ग्न	ग	त

स - रि म॑ यः ऽ स रि	प - (रि)म रि तो ऽ वै •	Repeat	
		म॑ - प नि त ऽ त्प दां	सं निध म॑ म॑ • बु• ज र
प - (रि)म रिस जो ऽ नि ल•	नि़ध़ सनि़ रि स नी• •• तं •	Repeat	
		प ध म॑प सं स्पृ ह य• ती	- रिं नि सं ऽ र्व य मि
रिं मं रिं सं वा • ब हु	निसं रिंसं निध प प• •• ण्या• •	Repeat	
		नि सं नि प प्रे • म वे	(रि) म॑ प म रि • पि त भु
नि़ ध़ स नि़ जाः . स्ति मि	रि - स • ता ऽ पः ऽ	Repeat	

८. भीमपलासी—सरगम—४+५=९ मात्रा

नि॒ स ग॒ म	प नि॒ (प)ध - प	ग॒ म प -	ग॒ म ग॒ (स)रि स
प ग॒ - म	प नि॒ - प नि॒	सं - सं -	प नि॒ सं गं (सं)रिं
सं नि॒ सं नि॒	(प)ध - प ग॒ म	ग॒ - ग॒ म	ग॒ - (स)रि - स
नि॒ स ग॒ म	प - - नि॒ सं	ग॒ म प -	- नि॒ स ग॒ म
प - - म	प ग॒ - म ग॒	(स)रि - स -	नि॒ - नि॒ स -

श्लोक ८. अनुचरैः समनुवर्णितवीर्यः ४+५=९ मात्रा

प - नि॒ (प)ध ए ऽ अ नु	प ग॒ म प (ग॒)म च रैः • स म	प ग॒ ग॒ ग॒ नु व • •	म प ग॒ (स)रि स र्णि त वी • र्य Repeat
प म प प आ • • दि	ग॒ म प नि॒ नि॒ पू • रु ष इ	सं गं (सं)रिं सं वा • च ल	नि॒ - सं - - मू ऽ र्तिः ऽ ऽ Repeat

सं - नि (प)ध	ग म म प नि	सं सं - सं	सं नि (प)ध प -
ए ऽ व न	च रो • गि रि	त टे ऽ षु	च रं • तीः ऽ
			Repeat
सं - नि नि	ध - ध प प	ग स ग म	ग (स)रि - - स
वे ऽ • णु	ना ऽ ह्व य ति	गाः • स य	दा • ऽ ऽ हि
			Repeat

९. (पटदीप के थोड़े अताल आलाप)
श्लोक—वनलतास्तरव आत्मनि विष्णुं—तीनताल

		प	- (ध)प ग म
		ए	ऽ व न ल
प नि - -	- - धनि सं	(नि)ध प ग म	प (ध)प ग म
ता • ऽ ऽ	ऽ ऽ स्त• र	व • • •	• व न ल
×	२	०	३ Repeat
प नि धनि संनि	धप ग स ग	म ग (स)रि स	प (ध)प ग म
ता • स्त• र•	त• आ • त्म	नि वि • ष्णुं	• व न ल
प नि Repeat			- ग - म
ता •			ऽ व्यं ऽ ज
प - नि सं	सं प नि सं	गं (सं)रिं - सं	- Repeat
यं ऽ त्य इ	व पु • ष्प	फ ला ऽ ढ्याः	ऽ
			- नि नि नि
			ऽ प्र ण त
पनि सं (नि)सं ध	प ग स ग	म ग (स)रि स	- Repeat
भा• • र वि	ट पा• • म	धु धा • रा	ऽ
			- ग म प
			ऽ प्रे • म
नि सं सं सं	सं प नि सं	गं (सं)रिं - स	नि Repeat
हृ • ष्ट त	न वः • स	सृ जुः ऽ -	स्म

मुल्तानी—सरगम मध्य एकताल

				म॑	ग॒	रि॒	स	-	रि॒	नि़	स
ग॒	●	●	●	Repeat							
				ग॒	म॑	प	नि	सं	नि	ध॒	प
-	ध॒	म॑	व	म॑	ग॒	-	म॑	ग॒	रि॒	नि़	स
म॑ग॒	-	म	प	Repeat							
				प	-	प	प	प	ध॒	म॑	प
ग॒	म॑	प	नि	सं	गं॒	रिं॒	सं	नि	ध॒	प	म॑
प	-	म॑	ग॒	म॑	ग॒	रि॒	स	-	ग॒	-	म॑
प	-	प	ग॒	-	म॑	प	-	प	ग॒	-	म॑
प	-	प	-	Repeat							

१०. श्लोक—मुल्तानी

म॑	ग॒	म॑	ग॒	रि॒	स	नि़	स
द	●	र्श	नी	●	य	ति	ल
०				३			
म॑ग॒	-	म॑	प	म॑प	ध॒प	म॑	ग॒
को	ऽ	व	न	मा.	●●	ला	●
×				२			
म॑ग॒	-	म॑	प	नि	सं	नि	ध॒
दि	ऽ	व्य	गं	●	ध	तु	ल
०		३					
प	-	पध॒	म॑प	म॑ग॒	म॑ग॒	रि॒	स
सी	ऽ	म●	धु●	म●	●●	तैः	●
×				२	Repeat		
प	ष	प	म॑प	ध॒प	ग॒	ग॒	म॑
अ	लि	कु	लैः	●●	र	ल	घु
प	नि	नि	नि	सं	गं॒	रिं॒	सं
गी	●	त	म	भी	●	●	ष्ट
नि	-	ध॒	प	-	म॑ग॒	म॑ग॒	रि॒
मा	ऽ	द्रि	य	न्	य●	●●	र्हिं

नि़	स	मंग	म॑	प	–	प	–
सं	●	धि	त	वे	ऽ	णुः	ऽ
				Repeat			

११. श्लोक—मधुवन्ती

×				२				३		४	
								–	नि	सं	नि
								ऽ	स	र	सि
ध	–	ध	प	ग	म॑	प	म॑	ग	रि	–	–
सा	ऽ	र	स	हं	●	स	वि	हं	●	ऽ	ऽ
स	–	–	नि़	–	स	ग	–	म॑	प	प	नि
गाः	ऽ	ऽ	चा	ऽ	रु	गी	ऽ	●	त	ह्र	त
सं	–	सं	सं	नि	ध	प	गम॑	पनि	Repeat		
चे	ऽ	त	स	ए	●	त्य	●●	●●			
								–	प	प	प
									ह	रि	मु
म॑	प	ग	म॑	प	नि	सं	–	सं	सं	गं	रिं
पा	●	●	●	स	त	ते	ऽ	य	त	चि	●
सं	–	गम॑	पनि	संनि	धप	म॑प	गम॑	प	Repeat		
त्ताः	ऽ	●●	●●	●●	●●	●●	●●	●			
								प	मंगं	रिं	सं
									हं	●	त
नि	–	ध	प	ग	म॑	प	–	म॑	ग	ग	–
मी	ऽ	लि	त	दृ	शो	●	ऽ	धृ	त	मौ	●
रि	–	स	–	नि़स	गम॑	पनि	संनि	सं			
नाः	ऽ	..	●								

पूरियाधनाश्री—सरगम—झपताल

प	-म॑	गरि	ग	-म॑	रिग	रिस	-रि	नि़रि	गम॑
							Repeat		
प	-ध	म॑	प-म॑	गम॑	रिग	-म॑	गरि	नि़रि	स
							Repeat		

मं	-ग	मं	-ध	मंध	सं	-सं	निरिं	सं	-
गंरिं	निरिं	सं	-सं	निध	निरिं	निध	पमं	ध	प
मं	-ग	गं	रि	ग	-मं	गरि	निरि	स	स
							Repeat		

१२. श्लोक—झपताल

							नि	रि	गमं
							स	ह	ब●
प	-	प	ध	मंप	मंग	मं	रि	ग	मं
लः	ऽ	स्त्र	ग	व●	तं●	●	●	स	वि
ग	रिस	-	निरि	गमं	प	प	Repeat		
ला	●सः	ऽ	●●	●●	●	●			
							मं	-	ग
							सा	ऽ	नु
मं	-	ध	निरिं	निध	प	-ध	मं	ग	मं
षु	ऽ	क्षि	ति●	भृ●	तो	ऽ	व्र	ज	दे
रि	ग	-	-	निरि	गमं	प	Repeat		
●	व्यः	ऽ	ऽ	●●	●●	●			
							मं	-	ध
							ह	ऽ	र्ष
सं	-	सं	-	सं	सं	-	-	सं	सं
य	न्	य	ऽ	र्हिं	वे	ऽ	ऽ	णु	र
नि	रिं	सं	गं	-	रिं	सं	मं	-	ध
वे	●	ण	●	ऽ	●	●	ह	ऽ	र्ष
							Repeat		
							गं	मं	रिं
							जा	●	त
गं	-	गं	रिं	सं	नि	रिं	नि	ध	प
ह	ऽ	र्ष	उ	प	रं	●	●	भ	ति

म॑	रि॒	ग	-	नि़रि॒	गम॑	प	Repeat	
वि	●	श्वं	ऽ	●●	●●	●		

पूर्वी के कुछ मुक्त आलाप

१३. श्लोक—त्रिताल

×				२				०				३			
								नि़	रि॒	ग	रि॒	-	गम॑	पध॒	म॑
								म	ह	द	ति	ऽ	क्र●	म●	ण
								Repeat							
म॑	-	ग	ग	रि॒	म	ग	-								
शं	ऽ	कि	त	चे	●	ता	ऽ								
								म॑	-	ग	म॑	-	ध॒	म॑	ध॒
								मं	ऽ	द	मं	ऽ	द	म	नु
								Repeat							
नि़रि॒	नि	ध॒	प	ग	म	रि॒-ग	-								
ग●	●	र्ज	ति	मे	●	घः	ऽ								
								म॑	म॑	ग	म॑	-	ध॒	म॑	ध॒
								सु	हृ	द	म	ऽ	भ्य	व	●
								Repeat							
सं	सं	नि	रिं॒	गं	मं	रिं॒-गं	-								
र्ष	त्	सु	म	नो	●	भिः	ऽ								
								नि	रिं॒	नि	ध॒	प	प	प	ध॒
								छा	●	य	या	●	च	वि	द
म॑	ग	ग	म	रि॒	म	ग	-								
ध	त्	प्र	त	प	●	त्रं	ऽ								

पूरिया-कल्याण

रूपकताल—सरगम

०			२		३		०			२		३	
म॑ध	प	-म॑	गरि॒	गम॑	गरि॒	स	Repeat						
नि़रि॒	गम	धप	-म॑	गरि॒	ग	-	म॑	-	गरि॒	निरि॒	गम	ध	प
म॑ध	निध	पम॑	गरि॒	ग	म॑ग	रिस	Repeat						
म॑ध	निम॑	-ध	निरिं॒	सं	धनि	धप	Repeat						

गंरिं निरिं निध	पर्म गरि	गर्म गरि	स - निरि	गर्म पध	प निरि
गर्म पध प	निरि गर्म	पध प	Repeat		

१४. श्लोक—रूपक ताल

र्म ध नि	र्म नि	ध प	ग रि ग	- ग	र्म ग
वि वि ध	गो ●	● प	च र णे	ऽ षु	वि द
रे स -	निरि गर्म	ध प	Repeat		
ऽ ग्धो ऽ	●● ●●	● ●			
प - प	पर्म ध	प ग	रि ग -	- ग	र्म ग
वे ऽ णु	वा. ●	द्य उ	रु धा ऽ	ऽ नि	ज शि
रि स -	निरि गर्म	ध प	Repeat		
● क्षाः ऽ	●● ●●	● ●			
र्म र्म ग	र्म ध	म ध	सं सं -	सं सं	निरिं सं
त व सु	तः ●	स ति	य दा ऽ	ध र	बिं● ●
सं - -	नि ध	प -			
बे ऽ ऽ	● ●	● ऽ			
नि रिं गं	रिं सं	सं सं	निरिं नि ध	प ग	र्म ग
द ● त्त	वे ●	● णु	र● न य	त् स्व	र जा
रि स -	प -र्म	ध प	Repeat		
● तीः ऽ	● ऽ●	● ●			

यमन के मुक्त आलाप

१५. श्लोक—त्रिताल

	०
	निध पर्म गरि ग
	स● व● न● श
- ग नि रि	गम प मग रि
ऽ स्त दु प	धा● ● र्य सु

२				०			
नि॒	रि	स	–	नि॒	–	रि	म॑ग
रे	•	शाः	ऽ Repeat	श	ऽ	क्र	श
म॑	प	प	रि	ग	–	ग	रि
.	र्व	प	र	मे	ऽ	ष्ठि	पु
३				×			
सनि॒	रि	स	–	Repeat			
रो•	•	गाः	ऽ				
२				म॑	ग	ग	म॑
				क	व	य	आ
				०			
–	ध	म॑ध	सं	–	सं	सं	नि
ऽ	न	त•	कं	ऽ	ध	र	चि
३				×			
रिं	सं	–	–	Repeat			
•	त्राः	ऽ	ऽ				
२				नि	रिं	गंरिं	नि
				क	•	श्म•	लं
–	रिं	सं	सं	नि	–ध	प	प
ऽ	य	यु	र	नि	ऽ•	श्चि	त
ग	रि	स॒	–	Repeat			
त	•	त्वाः	ऽ				

राग भूपाली—सरगम मध्य एकताल

									प॒ध॒	सरि	गरि
ग,	पग	–	सध॒	–	ध॒स	रिग	सरि	पग	Repeat		
								पग	धप	ग.	पग
रि	गरि	स रि	संध॒	सध॒	प॒ध॒	सध॒	सरि	पग	Repeat		

									सगं	-रिं	गरि				
संध	पध	संरिं	गंरिं	गं	संध	-	पग	-	Repeat						
								-	धप	पग	गरि				
ग	संध	धप	पग	गरि	ग	रिंसं	संध	धप	पग	गरि	ग				
गंरिं	रिंसं	संध	धप	पग	गरि	-ग	प	पग	Repeat						

१६. श्लोक—भूपाली—त्रिताल

												-	सध	स	रि
													नि•	ज	प
पग	-	ग	गरि	ग	-	ध	प	ग	रि	ग	ध	सं	सं	ध	-
दा	ऽ	ब्ज	द•	लै	ऽ	र्ध्व	ज	व	•	ज्र	नी	•	र	जां	ऽ
प	ग	धप	ग	रि	ग	गरि	स	रि	स	-	संध	सं	Repeat		
कु	श	वि•	चि	•	त्र	ल.	ला	•	मैः	ऽ	••	•			
													सं	सं	सं
												-	ध	ध	ध
•													व्र	ज	भु
सं	-	सं	सं	सं	-	सं	सं	सं	रिं	गं	-	-	Repeat		
वः	ऽ	श	म	यन्	ऽ	खु	र	तो	•	दं	ऽ	ऽ			
												-	गं	रिं	गं
												ऽ	व	०	र्ष्म
सं	-	रिं	सं	ध	प	ग	गरि	स	स	रि	स	-	Repeat		
धु	ऽ	र्य	ग	ति	री	•	डि•	त	वे	•	णुः	ऽ			

हंसध्वनि में थोड़े आलाप
श्लोक—हंसध्वनि—त्रिताल

									ग	ग	प	रि	-	स	नि
									व्र	ज	ति	ते	ऽ	न	व
प	रि	रि	स	रि	ग	रि	पग	-	ग	प	-	प	नि	सं	नि
यं	•	स	वि	ला	•	स	वी	ऽ	क्ष	णा	ऽ	पिं	त	म	नो

नि	प	प	ग	ग	प	ग	रि	स	•	•					
•	भ	व	वे	•	•	गा:	•	•	Repeat						
								-	ग	ग	प	नि	-	सं	सं
								ऽ	कु	ज	ग	तिं	ऽ	ग	मि
गं	-	गं	पं	रिं	-	सं	-	-	Repeat						
ता	ऽ	न	वि	दा	ऽ	म:	ऽ	ऽ							
								-	नि	सं	नि	प	-	ग	ग
								ऽ	क	•	श्म	ले	ऽ	न	क
ग	प	-	ग	प	रि	-	स	-	Repeat						
व	रं	ऽ	व	स	नं	ऽ	वा	ऽ							

राग हमीर—सरगम—त्रिताल

												म॑प	धम॑	-प	गम
ध	-नि	संरिं	निसं	निध	म॑प	गम	रिग	-म	धप	गम	रिस	Repeat			
												-रि	स	रिग	मरि
-ग	मध	म॑प	गम	रिस	-	स	सं	स	सं	स	सं	Repeat			
												पध	मप	मं	मं
धनि	संरिं	संनि	धप	गंमं	रिंसं	-रिं	सं	गम	रिस	-रि	स	धनि	सं	गम	रिस
धनि	सं	गम	रिस	धनि	सं	गम	रिस	गम	ध	ध	ध	Repeat			

१८. श्लोक—मध्य एकताल

								-	प	ग	म
									म	णि	ध
								३		४	
ध	-	ध	नि	सं	रि	संनि	सं	^{नि}ध	ध	प	-
र:	ऽ	क्व	चि	दा	•	ग•	ण	य	न्	गा:	ऽ
×		०		२				३		४	

गम	रिस	गम	ध	-नि	सं	-रिं	सं	-	Repeat		
								-	ग	म	रि
								ऽ	मा	●	ल
ग	-	म	ध	प	ग	म	रि	स	स	रि	स
या	ऽ	द	यि	त	गं	●	ध	तु	ल	●	स्या:
-	गम	ध	-नि	संरि	निसं	निध	मंप	प	Repeat		
ऽ											
								-	प	ध	प
								ऽ	प्र	ण	यि
सं	-	सं	सं	सं	-	सं	सं	सं	रिं	सं	-
नो	ऽ	नु	च	र	ऽ	स्य	क	दां	●	से	ऽ
निध	मंप	गम	रिस	-रि	स	मंप	गम	ध	Repeat		
								-	गं	गं	रिं
								ऽ	प्र	●	क्षि
सं	सं	रिं	सं	सं	नि	-ध	मंप	ग	म	रि	स
प	न्	भु	ज	म	गा	ऽ●	यत	य	●	●	त्र
मंप	गम	ध	—	गम	ध	मंप	गम	ध			

राग केदार में कुछ मुक्त आलाप

१९. श्लोक—केदार—ताल त्रिताल

×				२				०				३			
								स	म	ग	मं	-	प	ध	प
								क्व	णि	त	वे	ऽ	णु	र	व
म	-	म	रि	स	रि	स	-	Repeat							
वं	ऽ	चि	त	चि	●	त्ता:	ऽ								
								मं	-	प	सं	-	सं	ध	प
								कृ	ऽ	ष्ण	म	ऽ	न्व	स	त

मं - प प	मंप धप म -		
कृ ऽ ष्ण गृ	हि• •• ण्य: ऽ	Repeat	
		प ध प सं	- सं सं सं
		गु ण ग णा	ऽ र्ण म नु
ध नि सं रिं	सं नि ध प	Repeat	
ग • त्य ह	रि • ण्यो ऽ		
		मं - रिं सं	- रिं सं सं
		गो ऽ पि का	ऽ इ व वि
ध नि̱ ध प	म म रि स	Repeat	
मु ऽ क्त गृ	हा • शा: •		

खमाज—सरगम—रूपकताल

गम पध निसं	-रि निसं	नि̱ध मग	रिस सग मनि̱	-ध निनि	सं - Repeat
नि̱ध नि̱प -ध	निसं नि̱ध	पम धप	मग रिस गम	पध नि	सं गम
पध नि सं	गम पध	नि सं	Repeat		
गनि̱ धनि̱ पध	निसं -नि̱	पध निसं	गंमं पंमं गंरि	संनि̱ संरिं	निसं नि̱ध
गम पध गम	ग पम	गरि स	सग मप गम	पध पध	निसं प
-ध निसं रिंसं	निसं नि̱ध	गम ग			

२०. श्लोक

प सं नि	सं -	नि̱ ध	म ग -	ग म	प ध
कुं • द	दा ऽ	• म	कृ त ऽ	कौ •	तु क
नि - -	सं -	धनि̱ पध	Repeat		
वे ऽ ऽ	षो ऽ	•• ••			
			सं गं सं	गमं गं	सं सं
			गो • प	गो• •	ध न

सं नि सं	रिं सं	नि रिंसं	नि̱ – ध	गम पध	नि सं
वृ तो ●	य मु	ना ●	यां ऽ ●	●● ●●	● –
					Repeat
म नि̱ ध	नि̱ प	ध नि	नि सं –	धनि̱ पध	नि –
नं ● द	सू ●	नु र	न घे ऽ	त● वऽ	व ऽ
सं – –	पध निसं	धनि सं	Repeat		
त्सो ऽ ऽ	●● ●●	●● ●			
			सं गंसं पंमं	गं –	नि सं
			न ●● र्म	दः ऽ	प्र ण
सं नि सं	रिं सं	नि सं	नि̱ – ध	गम पध	नि सं
यि नां ●	वि ज	हा ●	● ऽ र		

राग तिलंग में मुक्त आलाप

२१. श्लोक—त्रिताल (तिलंग)

		स – ग म	प प ग म
		मं ऽ द वा	● यु रु प
		Repeat	
पनि सं नि̱ प	ग म ग –		
वा. ● त्य नु	कू ● लं ऽ		
		प नि नि सं	– नि̱ प म
		मा ऽ न य	न् म ल य
		Repeat	
ग म प नि	सं – – स		
ज ● स्प ●	शें ऽ ऽ न		
		प नि̱ प ग	म प नि सं
		बं ● दि न	● स्त मु प
		Repeat	
– सं प नि	सं रिं – –		
दे ऽ व ग	णा ऽ ये ऽ		
		नि – सं गं	मं गं नि सं
		वा ऽ द्य गी	● त व लि
नि̱ प ग म	ग – स –	Repeat	
भि: ● प रि	व ऽ व्रु: ऽ		

राग देश—सरगम—झपताल

					-	म	रि	म	प
					०		३		
नि	-	सं	रिं	नि॒	ध	म	प	ध	म
×		२							
ग	रि	ग	नि़	स	-	Repeat			
×		२			०				
						म	प	नि	सं
रिं	नि	सं	-	प	नि	सं	रिं	मं	गं
रिं	-	नि	सं	रिं	-	नि॒	ध	म	प
रि	म	प	नि॒	-	ध	प	ध	म	ग
रि	म	ग	रि	नि़	स	Repeat			

२२. श्लोक—झपताल

रि	ग	ग	रि	-	स	रि	नि़	स	-
व	●	त्स	लो	ऽ	व्र	ज	ग	वां	ऽ
रि	म	प	नि॒	ध	प	-	ध	म	गरि
य	द	ग	●	ध्रो	●	ऽ	●	●	●●
								Repeat	
म	-	प	नि	सं	सं	सं	सं	प	नि
वं	ऽ	द्य	मा	●	न	च	र	णः	●
सं	रिं	नि॒	ध	-	प	-	ध	म	गरि
प	थि	वृ	●	ऽ	द्धैः	ऽ	●	●	●●
								Repeat	
म	-	प	नि	सं	नि	सं	सं	प	नि
कृ	ऽ	त्स्न	गो	●	ध	न	मु	पो	●
सं	सं	रिं	मं	गं	रिं	-	रिं	नि	सं
ह्य	दि	नां	●	ते	●		●	●	●
								Repeat	

प	नि	सं	रिं	नि़	ध	प	रि	म	प
गी	•	त	वे	•	णु	र	नु	गे	•
प	प	मप	ध	–	म	–	ग	रि	नि़स
डि	त	की.	•	ऽ	र्तिः	ऽ	•	•	••

तिलककामोद में थोड़े मुक्त आलाप

२३. श्लोक—ताल त्रिताल

								रि	म	पध	म	गरि	ग	प़	नि़
								उ	•	त्स•	वं	••	श्र	म	रु
स	रिग	नि़	स	रि	म	प	–	Repeat							
चा	ऽऽ	पि	दृ	शी	•	ना	म्								
								म	–	प	नि	सं	–	सं	सं
								उ	ऽ	न्न	य	न्	•	सु	र
प	पध	म	ग	ग	ग	ग	–	Repeat							
–	च्छु	रि	त	–	स्र	–	क्								
								म	–	प	नि	सं	सं	सं	सं
								दि	ऽ	त्स	यै	ऽ	ति	सु	ह्
प	नि	सं	सं		रिं	गं	सं	सं				Repeat			
दा	•	शि	ष		ए	•	•	ष							
								रिं	गंरिं	पंमं	गं	नि	सं	सं	सं
								दे	••	व	की	ज	ठ	र	भू
प	ध	म	ग	सरि	ग	नि़	स	Repeat							
•	•	रु	डु	रा•	•	जः	•								

राग भिन्नषड्ज

सरगम—मध्य एकताल

								ग	-म	ध	-नि
सं	-नि	ध	-नि	ध	-म	गम	गस	Repeat			
								ध़	-नि़	स	ग

म - म ग	- म ग स	Repeat म -ग म ध
सं - ध नि	सं गं मं -	Repeat मं गं - सं
धनि संनि धनि धम	ग -म ग स	

२४. श्लोक—ताल मध्य एकताल

		- म ग म ऽ म द वि
ध - म ध घू ऽ र्णि त ×	सं - सं धनि लो ऽ च न● २	स ध म म ● ई ऽ षत्
गस -ग मध धम ×	-ध निसं धनि सं २	सं Repeat
		- म ग म ऽ मा ● न ३ ४
ध - म ध दः ऽ ● स्व ×	सं सं सं - सु हृ दां ऽ	सं नि ध म व न मा -
ग म ग स ● ● ली ●	निस गम धनि सं ●● ●● ●● ●	सं Repeat ●
		- म ध मध ऽ ब द् र●
सं - सं ध पां ऽ डु व	नि सं - गं द नो ऽ मृ	मं गं - सं दु गं ऽ ●
सं - धनि संध डं ऽ ●● ●●	गम ध -नि धम ● ● ● ●●	सं Repeat ●

								–	सं	गंसं	मं
								–	मं	••	ऽ
गं	–	स	नि	सं	ध	म	ग	स	ग	म	ग
य	न्	क	न	क	कुं	•	ऽ	ल	ल	•	क्ष्या
स	निस	ग	–ग	मध	गम	धम	–ध	निसं	Repeat		
•	••	•	••	••	••	••	••	••			

राग मालकौंस में थोड़े मुक्त आलाप

२५. श्लोक—त्रिताल

								स	म	म	ग	–	म	ध	नि
								य	दु	प	ति	ऽ	ह्रि	र	द
ध	–	म	म	ग	म	ग	स	Repeat							
रा	ऽ	ज	वि	हा	•	रो	•								
								म	ग	म	ध	–	नि	सं	••
								या	•	मि	नी	ऽ	प	ति	रि
ध	म	ध	नि	ध	–	म	–	Repeat							
वे	•	ष	दि	नां	ऽ	ते	ऽ								
								ग	म	ध	नि	–	सं	ध	नि
								मु	दि	त	व	ऽ•	क्र	उ	प
सं	–	सं	सं	गं	नि	सं	–	Repeat							
या	ऽ	ति	दु	रं	•	तं	ऽ								
								सं	गं	मं	गं	सं	सं	नि	गंसं
								मो	•	च	य	न्	व्र	ज	ग
ध	म	ध	नि	ध	–	म	–	Repeat							
वां	•	दि	न	ता	ऽ	पं	ऽ								

★★★

·१५·

श्रीगोपीगीतम् सङ्गीतमयम्*

(१) जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः, श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि।
दयित दृश्यतां दिक्षु तावकाः, त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते॥ [भा० १०/३१/१]

[ते जन्मना व्रजः अधिकं जयति, अत्र हि इन्दिरा शश्वत् श्रयते।
दयित! दृश्यतां त्वयि धृतासवः तावकाः दिक्षु त्वां विचिन्वते॥]

(1) Vraja is all the more glorious, with your advent (birth). Indira or Laxmi always rests here (in Vraja). O dear one! look, those who belong to you, and who hold their life only for your sake, are searching for you in all directions.

(२) हे देव! हे दयित हे! भुवनैकबन्धो!
हे कृष्ण! हे चपल हे! करुणैकसिन्धो!
हे नाथ! हे रमण! हे नयनाभिराम!
हा हा! कदा नु भवितासि पदं दृशोर्मे॥ (श्रीकृष्णकर्णामृतम्)

(2) O Lord! O beloved, the only friend of the universe; O Kṛṣṇa! O fickle one! the only ocean of

* १९९७ प्रारम्भ में यह रचना वृन्दावन में प्रस्तुत होनी थी, किन्तु १९९६ में बहिनजी की अतिशय रुग्णता के कारण तैयारी न हो सकी थी; फिर वह संकट कुछ थमा तो १९९८ में पूरे मनोयोग से जुट कर यह आलेख बनाया, जिसमें श्रीमद्भागवत के 'गोपीगीत' के सब (१९) पद्य तथा वहीं उस प्रसङ्ग की पूर्ति वाले ३ पद्यों के साथ सूरसागर से ५ पद, श्रीगोविन्दविरुदावली से ३ पद्य, पद्यावली से २ पद्य, श्रीकृष्णकर्णामृतम् से २ पद्य, श्रीगीतगोविन्द से एक गीतांश, श्रीचैतन्याष्टक में से १ पद्य, इस प्रकार विविध १४ पद्य गोपियों द्वारा लीला-स्मरण को रूपायित करने एवं स्वयं उनकी दशा को उद्भासित करने के लिये यथास्थान जोड़े गये थे।

सुख्यात कलाकार श्रीकलाकृष्ण द्वारा 'आन्ध्रनाट्यम्' या 'कूचिपुड़ी', श्रीमती उमा माहेश्वरी द्वारा 'हरिकथाकालक्षेपम्' तथा डॉ० रञ्जना श्रीवास्तव द्वारा कथक—ऐसी त्रिविध शैलियों में अभिनय के साथ, मञ्च पर ही गोपी-गण रूप में बैठी हुई प्रसिद्ध मधुरकण्ठी गायिकाओं (श्रीमती मञ्जु सुन्दरम्, श्रीमती मङ्गला तिवारी, श्रीमती लयलीना भट, सुश्री रेवती साकलकर आदि) द्वारा ये पद्य गाये जायेंगे; जिनमें विविध वाद्यों का संयोग नेपथ्य से रहेगा। एक प्रकार से 'सहज-गीति-नाट्य'—का यह अभिनव प्रयोग होगा—ऐसी बहिनजी की योजना थी; सब कलाकारों का संयोजन भी हो गया था। (किस पद्य पर कौन अभिनय करेगा यह भी निश्चित कर दिया गया था जिसका संकेत 'K''U''R' द्वारा दिया जा चुका था।) बस बहिनजी इस पूरे नाट्य की सङ्गीत-रचना करके सबको सिखा दें और संयुक्त अभ्यास प्रारम्भ हो—इसी की प्रतीक्षा थी, स्वर-रचना प्रारम्भ भी हो गई थी—कि—बहिनजी को 'नित्य-वृन्दावन' में बुला लिया गया। हम वह स्वर-ताल-पदात्मक नाट्याभिनय-संयुक्त 'सम्पूर्ण सङ्गीत' सुनने-देखने से वञ्चित रह गये।

यह पद्य-सङ्कलन एवं तीनों अभिनय-कलाकारों के लिये किया गया अंग्रेजी अनुवाद—बहिनजी की पदात्मक अन्तिम कृति हो गया। इसीलिये इसे ज्यों का त्यों यहाँ सम्मिलित किया जा रहा है।
—ऊर्मिला

compassion! O Master! O sportive one! you are delightful to the eyes, Oh! Oh! when will you become visible to my eyes.

(३) **शरदुदाशये साधुजातसत्सरसिजोदरश्रीमुषा दृशा।**
सुरतनाथ तेऽशुल्कदासिका वरद निघ्नतो नेह किं वधः?॥ (भा० १०/३१/२)

[हे सुरतनाथ! हे वरद! शरदुदाशये साधुजातसत्सरसिजोदरश्रीमुषा दृशा ते अशुल्कदासिकाः नः निघ्नतः किम् इह वधः न??]

(3) O Lord of love! O bestower of boons! You are killing us, your unpaid slaves with your glance that steels the charm of the core of the beautiful lotus, that has grown well in the pond of the Sarat (autumn) season. Is this not an act of slaying?

(४) **विषजलाप्ययाद् व्यालराक्षसाद्, वर्षमारुताद् वैद्युतानलात्।**
वृषमयात्मजाद् विश्वतो भयाद्, ऋषभ ते वयं रक्षिता मुहुः॥ (भा० १०/३१/३)

[हे ऋषभ! विषजलाप्ययाद्, व्यालराक्षसाद्, वर्षमारुताद्, वैद्युतानलात्, वृषमयात्मजाद्, विश्वतोभयाद् ते (तव) वयं त्वया मुहुः रक्षिताः॥]

(4) O excellent one! you have saved us again and again from getting destroyed by the poison-water (of the deep lake within Yamunā occupied by Kāliya Nāga), from the demon in the form of python (Aghāsura), from storm, storm, rain and thunderbolt in the context of Indra's rage, from the fire born of friction in the forest (Dāvānala), from the bull and its progeny (Ariṣṭāsura Vyomāsura) and from all kinds of fear. (K.)

(५) 'विषजलाप्ययाद्' ....
तृषावन्त सुरभी बालक-गन, कालीदह अँचयौ जल जाइ।
निकसि आइ सब तट ठाढ़े भए, बैठि गये, जहँ-तहँ अकुलाई।
वन-वन ढूँढ़ि स्याम तहँ आए, गो-सुत ग्वाल रहे मुरझाई।
मन मैं ध्यान करत ही जान्यौ, काली उरग रह्यौ ह्याँ आई।
गरुड-त्रास करि आइ रह्यौ दुरि, अन्तरजामी सबके नाथ।
अमृत-दृष्टि भरि चितए सूर-प्रभु, बोलि उठे गावत हरि-गाथ॥ (सूरसागर १०/५०१)

(5) The thirsty cows and cowheard boys went and drank the water of kāliyadaha (the lake in Yamunā occupied by the serpant kāliya). When they came out of the water and stood on the bank of the river (Yamunā), they felt uneasy and just sat down here and there.

Kṛṣṇa, searching for them from forest to forest arrived there and saw that the cows and cowheard boys were all withering; with a little contemplation he realised that the Kāliya serpant had made a dwelling there, and that he had come and taken shelter there, consealing himself from Garuḍa, who had terrified him, Being the immanent Lord of all beings, he came to know all this immediately. The Lord of Sūrdās cast a glance full of nector and all of them got up singing his glories. (K.)

(६) 'व्यालराक्षसाद्'..................
आजु जसोदा जाइ कन्हैया, महा-दुष्ट इक मार्यौ।
पन्नग-रूप मिले सिसु गो-सुत, इहिँ सब साथ उबार्यौ।
गिरि-कन्दरा-समान भयानक, जब अघ बदन पसार्यौ।
निडर गोपाल पैठि मुख-भीतर खण्ड-खण्ड करि डार्यौ।
याकैं बल हम बदत न काहुहिँ, सकल भूमि तृन चार्यौ।
जीते सबै असुर हम आगैं, हरि कबहूँ नहिँ हार्यौ।
सूरदास-प्रभु की यह लीला, सब कौ काज सँवार्यौ॥ (सूरसागर, १०/४३३)

(6) (The cowheard boys are narrating their experience to Yaśodā:—) O Yaśodā! today Kanhaiyā (Krișna) killed a wicked being; The demon met the boys and calfs in the form of a python, and Krișna redeamed all of them together. When the demon named Agha streatched open his mouth, like the cave of a hill, the fearles Gopāla entered his mouth and broke it open into pieces. On his strength we are not afraid of anybody, and graze our cattle throughout the land. Hari has conqured all the demons in our presence and he has never been defeated. This is the līlā of the Lord of Sūradāsa that he always fulfilled the needs of Vraja. (R.)

(७) 'वर्षमारुताद्' ....
बादर बहु उमड़ि-घुमड़ि, बरषत ब्रज आए चढ़ि,
कारे धौरे धूमरे, धारे अति हीं जल।
चपला अति चमचमाति, ब्रज जन सब अति डरात,
टेरत सिसु पिता-मातु, ब्रज मैं भयौ ,खलबल।
गरजत धुनि प्रलयकाल, गोकुल भयौ अन्धजाल,
चकित भए ग्वाल-बाल, घहरत नभ हलचल।
पूजा मेटी गुपाल, इन्द्र करत यहै हाल, सूर-स्याम राखौ ब्रज,
हरबर अब गिरिवर-बल॥ (सूरसागर १०/८५७)

7. Many clouds gathered, pouring over Vraja, they were black, white, smoke-coloured and were loaded with water. Lightening is shining excessively, the people of Vraja are very frightened. The children are crying out for their parents, there is turmoil throughout Vraja. There is fierce sound resembling the time of pralaya (total destruction), and Gokula is thunder and tumult in the sky. Gopāla has stopped the pūjā of Indra, and the latter is bringing about this disaster; O Śyāma! of Sūradasa please protect Vraja from this calamity, taking recourse to the big hill (Govardhana). (R.)

(८) 'वैद्युतानलात्' ....
भहरात झहरात दवानल आयौ।
घेरि चहुँ ओर, करि सोर अन्दोर बन, धरनि आकास चहुँ पास छायौ।
बरत बन-बाँस, थरहरत कुस-काँस, जरि उड़त है भाँस, अति प्रबल धायौ।
झपटि झपटत लपट, फूल-फल चट-चटकि, फटत, लटलटकि द्रुम-द्रुम नवायौ।
अति अगिनि झार, भम्भार धुन्धार करि, उचटि अंगार झंझार छायौ।
बरत बन पात, भहरात झहरात अररात, तरु महा, धरनी गिरायौ।

भए बेहाल, सब ग्वाल, ब्रजबाल, तब 'सरन गोपाल' कहिकै पुकार्यौ।
"तृना, केसी, सकट, बकी, बक, अघासुर, बाम कर राखि गिरि ज्यौं उबार्यौ।"
"नैकु धीरज करौ, जियहिं कोउ जिनि डरौ, कहा इहिं सरौ" लोचन मुँदाए।
मुठी भरि लियौ, सब नाइ मुख हीं दियौ, सूर-प्रभु पियौ, ब्रज जन बचाए॥ (सूरसागर १०/५९६)

8. The forest fire is moving forward with fierce sounds. The fire surrounds the whole forest from all sides, and spreads from the earth to the sky. The bamboos are burning in the forest and so are the big varieties of grass, known as kuśa & kāśa, that are quivering while burning and their strong smell is spreading all-around. The flames are advancing, the flowers and fruits are cracking and trees are being bent down. The fire is getting stronger and stronger, and pieces of live coal are shooting out on all sides. The leaves in the forest are burning, the big trees are trembling and breaking down and falling on the earth with great noise. All cowheards and their families became distressed and then they cried out to Gopāla, seeking protection. "Just as you protected us from Tṛiṇāvarta (whirl wind), Kesī (the fierce horse) the cart (Śakatāsaura), pūtanā (Bakī), Baka (the demon in form of heron), the demon Agha (Python), and saved us from Indra's wrath by lifting the mountain (govardhana) on your left hand, kindly save us from this affliction." (Kṛiṣṇa replied) "please keep patience for a while, do not feel afraid, come this way". Saying so he made then close their eyes. Then rolled up the fire in his fist and put it in his mouth. The Lord of Sūradāsa drank the fire and saved the people of Vraja. (K.)

(९) 'वृषमयात्मजाद्' ....
इहि अन्तर वृषभासुर आयौ।
देखे नन्दसुवन बालक-सँग, यहै घात उहिँ पायौ।
गयौ समाइ धेनुपति ह्वै के, मन मैं दाउँ विचारै।
हरि तबहीं लखि लियौ दुष्ट कौं, डोलत धेनु बिडारै।
गइयाँ बिझुकि चलीं जित-तित कौं, सखा जहाँ-तहँ घेरैं।
वृषभ शृङ्ग-सौं धरनि उकासत, बल-मोहन-तन हेरै।
आवत चल्यौ स्याम कै सन्मुख, निदरि आपु अगुसारी।
कूदि पर्यौ हरि ऊपर आयौ, कियौ जुद्ध अति भारी।
धाइ परे सब सखा हाँक दै, वृषभ स्याम कौं मार्यौ।
पाउँ पकरि, भुज सौं गहि फेर्यौ, भूतल माँहि पछार्यौ।
पर्यौ असुर पर्वत समानं ह्वै, चकित भए सब ग्वाल।
वृषभ जानि कैं हम सब धाए, यह तो कोउ बिकराल।
देखि चरित्र जसोमति-सुत के, मन मैं करत बिचार।
सूरदास-प्रभु असुर-निकन्दन सन्तनि प्रान-अधार॥ (सूरसागर १०/१३८७)

9. And then came Vṛṣabhāsura (the demon in the form of bull). He saw the son of Nanda alongwith the sons of cowheards, and saw this as an opportunity for attacking. He entered the host of cows in the form of a bull, and was calculating in his mind the time and manner of attack. Hari spoted out the wicked one, who was wandering among the cows, frightening them. The cows were running helter-skelter and cowheard boys were trying to gather them together. The bull was digging the ground and was looking at Balarāma and Kṛṣṇa. He started to move ferociously towards Kṛṣṇa on his own initiative. He jumped on Hari and gave a big fight. All the friends of

Kṛṣṇa ran, shouting that Kṛṣṇa was being hit by the bull. Kṛṣṇa held him at his feet and made him gyrate (gave him a rotating movement) and knocked him down on the ground. The demon fell down in a big form like a hill. The cowheard boys were wonderstruck. They said that they had all run knowing him to be a bull, but this was a terrible monster.

Seeing the deeds of the son of Yaśodā, they all thought in their minds that the Lord of Sūradāsa was the destroyer of demons and the saviour of the devout. (K.)

(१०) **न खलु गोपिकानन्दनो भवान् अखिलदेहिनाम् अन्तरात्मदृक्।**
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान् सात्वतां कुले॥ (भा० १०/३१/४)

[हे सखे! भवान् न खलु गोपिकानन्दन (एव)! (अपितु) अखिलदेहिनाम् अन्तरात्मदृक्, विखनसा विश्वगुप्तये अर्थितः सात्वतां कुले उदेयिवान्।]

(10) You are not merely the son of Gopikā, (Yaśodā), rather, you are the beholder of the inner self of all beings. You have beseeched by Brahmā (Vikhanasa) for protecting the universe and you took birth in the lineage of the sāttvatas (a specific clan) popularly known as yādavas. (U.)

(११) **विरचिताभयं वृष्णिधुर्य ते चरणमीयुषां संसृतेर्भयात्।**
करसरोरुहं कान्त कामदं शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम्॥ (भा० १०/३१/५)

[हे वृष्णिधुर्य! हे कान्त! संसृतेः भयात् ते चरणम् ईयुषां विरचिताभयं कामदं श्रीकरग्रहं करसरोरुहं नः शिरसि धेहि॥] (U.)

11. O leader of the Vṛsnis (yādavas)! O beloved! kindly put on our head your lotus hand that is the bestower of desired objects, that gives fearlessness to those who approach your feet in order to get rid of the fear caused by saṅsṛti (cycle of birth and death) and that holds the hand of Lakṣmī.

(१२) *चरणचलनहतजरठशकटक! रजकदलन! वशगतपरकटक!
नटनघटनलसदगवरकटक! सकनकमरकतमय-नवकटक!
कपटरुदित-नटदकठिनपदतट-विघटितदधिघट-निबिडितसुशकट;
रुचि-तुलित-पुरट-पटल-रुचिरपट! घटित-विपुल-कट-कुटिल-चिकुर-घट!,
रवि-दुहितृ-निकट-लुठदजरजट! विटप-निचित-वट-तट-पटुतर-नट!
निज-विलसित-हठ-विचटित-सुविकट-चटुलदनुजघट!
जय युवतिषु शठ! वीर! (श्रीगोविन्दबिरुदावलिः ५६)

12. You destroyed the old śakaṭa (cart) with your moving feet;
You overpowered the washerman;
You took into your own commend the army of the enemies;
You look beautiful while dancing in the family of the great serpant (Kāliya);
Your bangles are made with beautiful gold, studded with emerald;

* इस पद्य में केवल 'लघु' अक्षरों के संयोजन से लीला-वर्णन है, इसलिये इसे 'सर्वलघु'—वृत्त नाम दिया गया है। (गो०वि०काव्य में) —सम्पा०

You broke the cart laden with pots full of curds which also got broken with your swiftly moving soft feet, while you were crying (as a baby) in a feigned way ;

Your attire has a brilliance that compares with gold;

You have indulged in various sports;

You have locks of curly hair;

Your soft locks of hair are swinging on the bank of Yamunā, the daughter of the sun;

You are beautiful as an expert dancer under the banian tree that is surrounded by other big trees;

You have destroyed a host of fierce and unrestrained demons with your determination (free will);

You are glorious as a śaṭhanāyaka among the young women. O Vira! (R.)

(१३) व्रजजनार्तिहन् वीर! योषितां निजजनस्मयध्वंसनस्मित।
भज सखे भवत्-किङ्करीः स्म नो जलरुहाननं चारु दर्शय॥ (भा० १०/३१/६)

[वीर! व्रजजनार्तिहन्! निजजनस्मयध्वंसनस्मित! सखे! भवत्-किङ्करीः स्म भज! नः योषितां (ते) चारु जलरुहाननं दर्शय।]

13. O valourous one! O destroyer of the suffering of the people of vraja! . Your smile eradicates the pride of your own people, please accept us, your servitors, please show your beautiful lotus face to us, the women (of Vraja). (U.)

(१४) अमून्यधन्यानि लवान्तराणि, हरे! तवालोकनमन्तरेण,
अनाथबन्धो! करुणैकसिन्धो!
हा हन्त! हा हन्त! कथं नयामि? (श्रीकृष्णकर्णामृतम्)

[हे अनाथबन्धो! हे करुणैकसिन्धो! हरे! हा हन्त! हा हन्त! तवालोकनमन्तरेण अमूनि अधन्यानि लवान्तराणि कथं नयामि?] (U.)

14. O! friend of the helpless and hapless ones! you are the only ocean of compassion! O Hari! alas! how shall I spend these unfortunate moments without seeing you!

(१५) प्रणतदेहिनां पापकर्शनं, तृणचरानुगं श्रीनिकेतनम्।
फणिफणार्पितं ते पदाम्बुजं, कृणु कुचेषु नः कृन्धि हृच्छयम्॥ (भा० १०/३१/७)

[प्रणतदेहिनां पापकर्शनम्, तृणचरानुगम्, श्रीनिकेतनम्, फणिफणार्पितं ते पदाम्बुजं नः कुचेषु कृणु, हृच्छयं कृन्धि।]

15. Your lotus feet make feeble the sins of those beings who bow down to you, they follow the cattle that graze, they are the abode of Lakṣmī, they have been set on the hoods of the Kāliya serpant, Kindly set these lotus feet on our breasts and thereby cut assunder our erotic desire (that rerides in the heart). (K.)

(१६) मधुरया गिरा वल्गुवाक्यया बुधमनोज्ञया पुष्करेक्षण!
विधिकरीरिमा वीर मुह्यतीरधरसीधुनाऽऽप्यायस्व नः॥ (भा० १०/३१/८)

[हे पुष्करेक्षण! वीर! वल्गुवाक्यया बुधमनोज्ञया मधुरया गिरा मुह्यतीः इमा विधिकरीः नः (तव) अधरसीधुना आप्याययस्व।] (K.)

16. O lotus eyed one! O valourous one! please satisfy us, your servitors, with the nectar of your lips; we are infatuated with your speech that is sweet, is composed of beautiful sentences and is charming to the wise.

(१७) जय जय वंशीवाद्यविशारद!*
शारदसरसीरुहपरि**भावक! भावक**लितलोचनस**ञ्चारण!**
चारणसिद्धवधूधृति**हारक! हारक**लापरुचाञ्चि**कुण्डल!**
कुण्डलसद्‌गोवर्धन**भूषित! भूषित**भूषणचिद्‌घन**विग्रह!**
विग्रहखण्डितखलवृष**भासुर! भासुर**कुटिलकचार्पित**चन्द्रक!**
चन्द्रकलापरुचाभ्यधि**कानन! कानन**कुञ्जगृहस्मर**सङ्गर!**
सङ्गरसोद्धुरबाहु**भुजङ्गम! जङ्गम**नवतापिच्छन**गोपम!**
गोपमनीषितसिद्धिषु **दक्षिण! दक्षिण**पाणिगदण्डस**भाजित!**
भाजितकोटिशशाङ्कवि**रोचन! रोचन**या कृतचारुवि**शेषक!**
शेषकमलभव-सनक-**सनन्दन-नन्दनगुण**! मां **नन्दय** सुन्दर! वीर! (श्रीगोविन्दबिरुदावलिः ३७)

17. Glory to him who is adept in playing on the flute;
You move your eyes that surpass the lotus of śarat (autumn) with their beauty ;
You rob the presence of mind of the wives of caranas and siddhas;
Your earrings are brilliant with the radiance emanating from the movement of your necklaces, you are adorned by the mountain Govardhana that is beautiful with lakes;
You are beautifying your ornaments with your body, made of condenced transcandental light;
You have destroyed the demon in the form of bull (Ariṣtāsura) in combat with him;
You have the peacock feather in your curly lustrous hair; the brilliance of your face excels a host of moons;
You indulge in amorous encounters in the Kunjagṛha ('house' made with bowers);
Your arms are like mighty serpants in sanga-rasa (amorous enjoyment);
You are like a moving tamala tree (which is known for it's darkness) that is huge;
You are an expert in accomplishing whatever the cowheards desire;
You are beautified by the staff (rod) in your right hand;
You are brilliant with the radiance of millions of moons;
You have a beautiful tilaka (on your forehead) made of Gorocana (a special yellow colour);
You have the qualities that delight śeṣa (the serpant who holds the earth), Brahmā who is born from the lotus, Sanaka and Sanandana (standing for the four little brothers, who are sons of Brahmā, who are most knowledgeable and are known as catuhsana.)
O beautiful one please delight me. O Vira! —(R.)

* श्रीरूप-गोस्वामी की अनुपम काव्यरचना श्रीगोविन्दबिरुदावलि के इस पद्य में प्रत्येक चरण के अन्त तथा नये के प्रारम्भ में समान अक्षरों की आवृत्ति यमक-अनुप्रास का अद्‌भुत उदाहरण है। —ऊर्मिला

(१८) तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः॥ (भा० १०/३१/९)

(18) The nector of your kathā (description of your deeds beauty and the like) infuses life in those who suffer, it is adored by the wise, it eradicates evil, hearing it is auspicious, it is glorious and expansive, those who sing it on the earth are the best givers. (K.)

(१९) प्रहसितं प्रिय! प्रेमवीक्षणं विहरणं च ते ध्यानमङ्गलम्।
रहसि संविदो या हृदिस्पृशः कुहक! नो मनः क्षोभयन्ति हि॥(भा० १०/३१/१०)

[हे प्रिय! ते प्रहसितं प्रेमवीक्षणं विहरणं च ध्यानमङ्गलम्। हे कुहक! रहसि या (ते) हृदिस्पृशः संविदः (ताः) हि नः मनः क्षोभयन्ति।]

(19) O darling! Your laughter, loving glance and sports are auspicious when they become the object of meditation. O juggler! Your delightful words uttered in privacy touch the heart and they stir or shake our mind. (K.)

(२०) सञ्चरदधरसुधामधुरध्वनिमुखरितमोहनवंशम्।
चलितदृगञ्चलचञ्चलमौलिकपोलविलोलवतंसम्॥
रासे हरिमिह विहितविलासम्।
स्मरति मनो मम कृतपरिहासम्॥
चन्द्रकचारुमयूरशिखण्डकमण्डलवलयितकेशम्।
प्रचुरपुरन्दरधनुरनुरञ्जितमेदुरमुदिरसुवेशम्॥ रासे०.......
विपुलपुलकभुजपल्लववलयितबल्लवयुवतिसहस्रम्।
करचरणोरसि मणिगणभूषणकिरणविभिन्नतमिस्रम्॥ रासे०..........

[श्रीगीतगोविन्द काव्य, २/१]

(20) (My mind remembers him—) who makes the charming flute produce sounds that are sweet with the nector of his moving lips, whose sidelong glances are flickering, whose head and cheeks are 'dancing' and whose earrings are moving.

His hair is bedecked with peacock feathers that bare the beautiful moon-like mark ;

Whose attire is multicoloured like a rainbow on a thick cloud (his body is like a thick cloud Ghanaśyāma and this attire is like a rainbow). He surrounds thousands of cowheard women with his arms that are full of horripilation (romānca). The bejewelled ornaments on his hands, feet and chest pierce through darkness with their rays. (R.)

(२१) चलसि यद् व्रजाच्चारयन् पशून्, नलिनसुन्दरं नाथ ते पदम्।
शिलतृणाङ्कुरैः सीदतीति नः कलिलतां मनः कान्त गच्छति॥ (भा० १०/३१/११)

[हे नाथ! हे कान्त! पशून् चारयन् यद् व्रजात् चलसि, (तदा) ते नलिनसुन्दरं पदं शिलतृणाङ्कुरैः सीदति इति नः मनः कलिलतां गच्छति॥]

(21) O beloved! when you move from Vraja (habitat of the cows) grazing the cattle, your feet that are beautiful like lotus, get hurt with stones, straws and hard sprouts, and this disturbs our mind. (U.)

(२२) दिनपरिक्षये नीलकुन्तलैर् वनरुहाननं बिभ्रदावृतम्।
घनरजस्वलं दर्शयन् मुहुर् मनसि नः स्मरं वीर यच्छसि॥ (भा० १०/३१/१२)
[हे वीर! दिनपरिक्षये नीलकुन्तलैः आवृतं बिभ्रद् घनरजस्वलं वनरुहाननं दर्शयन् नः मनसि मुहुः स्मरं यच्छसि।]

(22) O beloved! at the end of the day you infuse cupid in our minds again and again while showing your lotus-face covered with curly jet black hair, and bearing a thick layer of dust. (U.)

(२३) प्रणतकामदं पद्मजार्चितं, धरणिमण्डनं ध्येयमापदि।
चरणपङ्कजं शन्तमंचते, रमण! नः स्तनेष्वर्पयाधिहम्॥ (भा० १०/३१/१३)
[हे रमण! ते चरणपङ्कजम् प्रणतकामदम्, पद्मजार्चितम्, धरणिमण्डनम्, आपदि ध्येयम्, शन्तमं च। हे आधिहन्! (तत् चरणपङ्कजं) नः स्तनेषु अर्पय।]

(23) O playful one! kindly set on your breasts your lotus-feet, that fulfil the desires of those who bow down to you, that are adored by Lakṣmi, that adorn the earth, that are to be meditated upon during afflictions, that are the highest bene factors and that destory mental sufferings. (U.)

(२४) वृन्दारकतरुवीते वृन्दावनमण्डले वीर।
नन्दितबान्धववृन्द! सुन्दर! वृन्दारिका रमय॥ (श्रीगोविन्दविरुदावलि : ८)

(24) O Vira! O beautiful one! please make the beautiful women play in dalliance in the region of Vṛindāvana that is surrounded by devine trees. (R.)

(२५) सुरतवर्धनं शोकनाशनं स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम्।
इतररागविस्मारणं नृणां वितर वीर नस्तेऽधरामृतम्॥ (भा० १०/३१/१४)
[हे वीर! सुरतवर्धनम्, शोकनाशनम्, स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम्, नृणाम् इतर रागविस्मारणम्— ते अधरामृतम् नः वितर॥]

(25) O beloved! please give to us the nector of your lips that augments the desire for love, that destroys grief, that is properly kissed by the bamboo flute resounding with svaras and that makes people forget all other attachments. (K.)

(२६) अटति यद् भवानह्नि काननम्,त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्।
कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते, जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद् दृशाम्॥ (भा० १०/३१/१५)

26. When you walk around in the forest during the day, a wink of the eye appears to be like a **Yuga** (very long time) because we can not see you. The Creator. who has created lids on the eyes of those who behold your beautiful face having curly hair, is verily insensitive (because the lids obstruct the act of beholding). (K.)

(२७) युगायितं निमेषेण चक्षुषा प्रावृषायितम्।
शून्यायितं जगत् सर्वं गोविन्दविरहेण मे॥ (श्रीचैतन्यमहाप्रभुकृतम्)

27. The wink of my eyes has become long as a Yuga (and age), my eyes are raining, the whole world is a void for me, in seperation from Govinda. (R.)

(२८) पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवान् अतिविलङ्घ्य तेऽन्त्यच्युतागताः।
गतिविदस्तवोद्गीतमोहिताः कितव योषितः कस्त्यजेन्निशि॥ (भा० १०/३१/१६)

हे अच्युत! पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवान् अतिविलङ्घ्य तव उद्गीतमोहिताः गतिविदः (वयं) ते अन्ति आगताः। हे कितव! (एवं विधाः) योषितः निशि कः त्यजेत्?॥

(28) O Achyuta! O deceitful one! who will abondon in the night the women who have come near you, totally giving up their husbands, children, families, kith and kin, who have realised their destination, and who have been attracted by your music. (R.)

(२९) रहसि संविदं हृच्छयोदयं प्रहसिताननं प्रेमवीक्षणम्।
बृहदुरःश्रियो वीक्ष्य धाम ते मुहुरतिस्पृहा मुह्यते मनः॥ (भा० १०/३१/१७)

हे धाम! ते रहसि संविदं हृच्छयोदयम्, प्रहसिताननम्, प्रेमवीक्षणम्, बृहदुरःश्रियः वीक्ष्य अतिस्पृहा मनः मुहुः मुह्यते॥

(29) Your words, spoken in privacy, give rise to cupid (who resides in the heart). Seeing your smiling face, loving glance and the luster of the beauty of your wide chest, we are longing for you again and again, and our mind is getting infatuated. (K.)

(३०) व्रजवनौकसां व्यक्तिरङ्ग ते वृजिनहन्त्र्यलं विश्वमङ्गलम्।
त्यज मनाक् च नस्त्वत्स्पृहात्मनां स्वजनहृद्रुजां यन् निषूदनम्॥ (भा० १०/३१/१८)

[अङ्ग! व्रजवनौकसां ते व्यक्तिः अलं वृजिनहन्त्री, विश्वमङ्गलम्। त्वत्स्पृहात्मनां स्वजनहृद्रुजां यन् निषूदनम् च (तत्) नः मनाक् त्यज।]

(30) O dear one! Your manifestation among the dwellers of the forest of Vraja is the destroyer of sins and the bestower of welfare on the universe. Please grant the medicine that cures the disease of the heart of your own people, who are full of longing for you. (K.)

(३१) नायाति चेत् यदुपतिः सखि! नैतु कामम्, प्राणास्तदीयविरहाद् यदि यान्ति, यान्तु।
एकः परं हृदि महान् मम वज्रपातो भूयो यदिन्दुवदनं न विलोकितं तत्॥ (पद्यावली, ३३५, श्रीहरिभट्ट)

(31) O friend ! If the Lord of the yadus does not come, let him not come. If my life perishes in his seperation let it perish. But there is one very big shock (like a thunderboll) that my mind , and that is that I could not see his moon-like face again.

(३२) यत् ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु भीताः शनैः प्रियदधीमहि कर्कशेषु।
तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न किं स्वित् कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः॥ (भा० १०/३१/१९)

[प्रिय! ते यत् सुजातचरणाम्बुरुहं (वयं) भीताः कर्कशेषु स्तनेषु शनैः दधीमहि, तेन (त्वं) अटवीम् अटसि तत् किं स्वित्

(32) O dear one! We place gently your beautiful lotus feet on our harsh breasts; you walk around in the forest with those feet, do they not get hurt with small pointed stones and the like? Thinking of this our mind gets confused. We live only for your sake. (K.)

(३३) भाण्डीरेश! शिखण्डमण्डन! वर! श्रीखण्डलिप्ताङ्ग हे!
वृन्दारण्यपुरन्दर! स्फुरदमन्देन्दीवरश्यामल!
कालिन्दीप्रिय! नन्दनन्दन! परानन्दारविन्देक्षण!
श्रीगोविन्द! मुकुन्द! सुन्दरतनो! दीना न आनन्दय॥ (पद्यावली, ३८, श्रीगोपालभट्ट)

(33) O Lord of the Bhāndīra forest ! you are adorned with a peacock-feather, O excellent one ! your body is anointed with sandal, you are the Indra (Lord) of Vṛindāvana, you are dark like the blossomed, shining and beautiful blue lotus ; O beloved of Yamunā ; O son of Nanda ; You embody transcendental Bliss ; O lotus-eyed one ! O Śrī Govinda ; O Mukunda! You are the embodiment of beauty ; please give delight to us, who are sad (without you). (U.)

Śukadeva addresses Parīkṣit

(३४) इति गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च चित्रधा।
***रुरुदुः सुस्वरं राजन् कृष्णदर्शनलालसाः॥ भा० १०/३२/१**

34. The gopies, thus singing, talking incherently in many ways, wept in sweet tones, deeply longing for Kṛṣṇa's vision (darśana). (नेपथ्य से गायन, सबका समवेत अभिनय)

(३५) तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः॥ भा० १०/३२/२

(35) Kṛṣṇa appeared in their midst with a smiling Lotus-face. He was wearing yellow garment and a garland of flowers. He was personified cupid who allures cupid himself. (पूर्ववत्)

(३६) तं विलोक्यागतं प्रेष्ठं प्रीत्युत्फुल्लदृशोऽबलाः।
उत्तस्थुर्युगपत् सर्वाः तन्वः प्राणमिवागतम्॥ भा० १०/३२/३

(36) Seeing him, the beloved, the eyes of the women blossomed in joy. All of them got up simultaneously, as if life was infused in their bodies. (पूर्ववत्)



* इस श्लोक के लिये बहिनजी बड़े भाव भरे स्वर में मुझे कहती थीं—"इसे ऐसा सङ्गीत दूँगी, ऐसा गवाऊँगी, ऐसा गाऊँगी कि उस 'सुस्वर रुदन' को सुनकर पूरी सभा रो पड़ेगी।"—किन्तु वह सङ्गीत-रचना करने से पहले ही वे स्वयं हम सबको रुला कर चली गयीं! हमारा रुदन 'सुस्वर' कब होगा?—प्रभु ही जानें! —ऊर्मिला

.१६.

सङ्गीत-गङ्गा*

सूत्रधार-१

भारत का सङ्गीत जिस तरह अनेक धाराओं को अपने में समेट कर अपनी निजी पहचान बनाए हुए है, जिस प्रकार इसमें नूतनता और पुरातनता का एकत्र सङ्गम है, और जिस तरह भौतिक ध्वनि के रूप में प्रकट होने पर भी हमारी साधना की परम्परा में इसे नादब्रह्म के वितान या विस्तार के रूप में जाना-पहचाना गया है, उसका उत्तम उदाहरण है गङ्गा, जिसमें अलकनन्दा, मन्दाकिनी जैसी अनेक धाराएँ अपनी अलग पहचान खो कर उसके साथ एकरूप हो गई हैं, जो प्रतिक्षण नवीन होते हुए भी सनातन है, जो भौतिक जल के रूप में प्रत्यक्षगोचर होते हुए भी यानी दिखाई-सुनाई देते हुए भी भारतीय परम्परा से परिचितों के लिए द्रव-ब्रह्म या ब्रह्म का पिघला हुआ रूप है, जो ब्रह्मा के कमण्डलु से विष्णु के चरणों पर डाले जल से बनी है और जिसे शिव ने अपनी जटाओं में धारण किया है। वह परम पवित्रा है, लोकपावनी है। आपके सामने जो 'सीरियल' पेश होने जा रहा है, उसकी नींव है सङ्गीत और गङ्गा का यह सादृश्य या समानता। पहले दृश्य में इसी को उभारा गया है। हम इसी की डोर को पकड़कर क्रमशः भारतीय सङ्गीत के वर्तमान और अतीत का दर्शन आपको कराएँगे।

---

* १९९०-९५ में बम्बई के एक फ़िल्म-सम्बन्धी व्यक्ति 'कुमार गोगी'—अनेक बार पू० बहिनजी के पास आकर उनसे अतीव अनुरोध करते रहे कि भारतीय-सङ्गीत का सच्चा परिचय देने वाला एक 'सीरियल' बना दें। पहले तो बहनजी स्पष्ट मना करती रहीं, टालती रहीं—यही कहकर कि किसी भी प्रकार 'फ़िल्म-सम्बन्धी' कार्य में उन्हें रुचि नहीं, क्योंकि वहाँ अधिकतर 'अनर्थ' ही होता है और वही जनसामान्य की रुचि बन गया है; 'खरे सोने' को धारण करने वाले पाँच प्रतिशत ही होंगे, और शुद्धता-शुचिता की कीमत चुका कर जन सामान्य के लिये कुछ करने को वे समय नहीं दे सकतीं। जब कुमार जी ने उन्हें विश्वास दिलाया कि वे जैसा कहेंगी ठीक वही दृश्य, वेश, व्यक्ति, पार्श्व-सङ्गीत एवं ढंग आरम्भ से अन्त तक पूरी प्रस्तुति में रखा जायेगा—तब पू०बहिनजी ने सम्पूर्ण भारतीय सङ्गीत के इतिहास-विकास-ह्रास आदि का परिचय सरल-सुबोध भाषा-शैली में देने के लिये पटकथा एवं अपेक्षित सङ्गीत-रचना के लिये चित्त में योजना बना ली, मन ही मन पूरा प्रारूप भी आँक लिया (जिसकी बात वे मुझे बताती रहती थीं)—और उस क्रमिक-प्रस्तुति (सीरिअल) का नाम रखा 'सङ्गीतगङ्गा', गङ्गा के उद्‌गम स्थल से चलते हुए सागर में विलय होने तक के प्रवाह-दृश्यों के साथ-साथ सङ्गीत के आदि-मध्य-वर्तमान का कथा-वितान प्रसङ्ग-वश पूरे (बृहत्तर) भारत को पिरो लेगा ऐसी उनकी योजना थी।

इसके लिये केवल पहली अञ्जलि (एपिसोड्) उन्होंने लिखकर दी थी एवं पूरी 'क्रमकथा' में प्रारम्भ में गाया जाने वाला शीर्षक-गीत तथा सङ्गीत स्वयं बना कर अपने निर्देशन में उसे गवाकर 1997 में ध्वनिरक्षित करा दिया था, जिसमें पार्श्व-वाद्य-वृन्द-योजना श्री अतुल देसाई ने की थी एवं गायन में—श्री अतुल देसाई, डॉ० ऋत्विक् सान्याल, श्रीमती मञ्जु सुन्दरम्, श्रीमती मङ्गला तिवारी, सुश्री रेवती साकलकर के स्वर सम्मिलित थे।

वह सङ्गीत-रचना एवं श्लोक तथा गीत-रचना भी बहनजी के 'वाग्गयेकार' पक्ष की अन्तिम रचना हो गई। वह गीत भी स्वरलिपि-सहित इसके साथ दिया जा रहा है।

SYNOPSIS

(The first episode forming the core)

The incessant flow of Indian music, ever-changing, yet ever the same, has been identified with Ganga, the symbol of the forces of change and continuity operating simultaneously in Indian history.

Chetana, the central character of the serial personifies the spirit of enquiry into the elements of change and continuity in Indian music. The first episode starts with Chetana, walking around the pair of peepal and banyan trees on the bank of Ganga at Kankhal. This spot is very special because of the setting viz. motion in the form of Ganga and non-motion in the form of the pair of trees that also stand for time (peepal) and space (banyan). Moreover, the tree symbolises organic growth and water embodies vital energy (**prāṇa**). Thus this spot provides an excellent point for the beginning of this enquiry.

Chetana's spirit of enquiry has a background of an understanding of the basis of the Indian tradition, which she has imbibed consciously and unconsciously from her grandmother with whom she spent her childhood in a village. In the first step of her journey of enquiry she encounters a young girl of her own age, who personifies the uprooted urban youth of today, who harbours a sense of clash between the so-called scientific and traditional approach to life.

Chetana has resolved to undertake a journey in the various regions of India in order to discover for herself the rich diversity of Indian music in its various layers and dimensions. She is not happy with the categorisation of Indian music into folk, classical, tribal, etc; she knows that this classification has been imported from the west and does not match the Indian situation. She understands that a direct experience of diversity is a pre-requisite of the perception of unity.

The first episode merely marks the beginning of a great journey. In the course of this journey, Chetana will encounter musicians, scholars, researchers, gurus, ustads, listeners, common men, women and children from different walks of life and communities, where music forms a part of life. The sceptical element Sarala will make her appearance occasionally. Chetana's grandmother will be a perrenial source of inspiration, though she is no more alive.

The totality of the journey would present a panoramic view of Indian music in the setting of the concert platform centered around solo performance, the traditional music attached to theatre and dance, recitative, participative, narrative music, experimental music, the music of festivals, temples, the teaching and learning situation, etc. In this course, she will understand the problems of patronisation, transmission, promotion, presservation and dissemination of music arising out of the changed life-pattern, industrialisation, urbanisation and the like. She will also realise the varied importance of melody (**svara**), text (**pada**) and rhythm (**tala**) in the various layers and forms of Indian music. Glimpses of inner relationship of Indian music with the world-view will also find their way into her understanding. A direct view of this vast diversity will enable Chetana to realise the parameters of unity; she will come face to face with a realisation of the tremendous power of Indian music in withstanding vicissitudes and upheavals and yet retaining its identity. The journey could never come to an end, but the serial will complete itself by presenting the search for a legitimate viewpoint and approach.

सङ्गीतगङ्गा
पहली कड़ी

कनखल-हरिद्वार

कनखल के घाट पर चेतना नाम की युवती अश्वत्थ (पीपल) और वटवृक्ष की प्रदक्षिणा कर रही है और उसकी साथिन सरला गङ्गा की ओर मुँह करके खड़ी है। चेतना प्रदक्षिणा पूरी करके गङ्गा से कहती है—

हे गङ्गा माता! तुम इस देश के युग-युग की साक्षी रही हो। तुम स्वयं जैसे नित्य नूतन होते हुए भी चिर-पुरातन हो, वैसे ही इस देश का सङ्गीत भी अनेक परिवर्तनों में से गुजरता हुआ निरन्तरता की धारा को अपने में समेटे हुए हैं। परिवर्तन और सातत्य या निरन्तरता यानी Change और continuity की यह धूप-छाँह जितनी लुभावनी है, उतनी ही इसे समझने की राह रपटीली है।''

(पीपल की ओर देख कर)

हे वृक्षराज तुम्हें लोक में 'पीपल' कहते हैं और भगवद्गीता में तुम्हारा 'अश्वत्थ' नाम मैंने सुना है।

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥ (भगवद्गीता १५.१)

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम् .... (भगवद्गीता १०.२६)

अ + श्व + त् + थ = जो आज, आने वाले कल और बीते हुए कल में रहता है।

अ = आज, श्व = आने वाला कल, त् = बीता हुआ कल या अतीत, थ = रहने वाला। यह व्याख्या सातवलेकर जी ने की है।

शङ्कराचार्य ने व्याख्या की है—

अ + श्व + त्थ = जो कल तक रहेगा या नहीं, इसका निश्चय नहीं है इस प्रकार 'अश्वत्थ' कालबोध का प्रतीक है।

(वटवृक्ष की ओर देखकर)

हे वटवृक्ष! तुम लोक में 'बड़' या 'बरगद' के नाम से जाने जाते हो और तुम्हारा संस्कृत नाम वट के अलावा 'न्यग्रोध' भी है। विष्णुसहस्रनाम में यह नाम मैंने सुना है।

न्यग्रोधोदुम्बरो अश्वत्थः.... (विष्णुसहस्रनाम १०१)

(दोनों बाँहों को १८० कोण में फैलाकर)

फैले हुए दोनों हाथों के बीच की लम्बाई को भी 'न्यग्रोध' कहते है। इसलिए न्यग्रोध दिक् या देश के बोध का प्रतीक है।

तुम दोनों वृक्षराज सदियों तक स्थिर या स्तब्ध रह कर काल के प्रवाह को देखते रहते हो।

'अश्वत्थ' को काल यानी Time का और 'न्यग्रोध' को देश यानी Space का प्रतीक हमारे ऋषियों ने बनाया है। 'काल' और 'देश' ये दो ही तो मानव के अनुभव के बुनियादी या मौलिक आयाम यानी Dimensions हैं।

सरला — चेतना! तुम्हें हो क्या गया है?

चेतना — क्यों, क्या बात है?

सरला — अरे! लगता है पगला गई हो। नदी और वृक्षों से बातचीत कर रही हो। भला कोई बात हुई।

चेतना — आह! तुम समझती होगी कि गङ्गा केवल जल-प्रवाह है और पीपल या बड तो केवल पेड़ हैं और जड़ हैं।

सरला — और क्या?

चेतना — यही तो बात है। आज की शिक्षा-पद्धति में इस बात की पक्की व्यवस्था है कि हम अपनी संस्कृति को पूरे तौर पर भुला बैठें। इसलिए तुम्हें क्या दोष दूँ?

सरला — तुम आखिर कहना क्या चाहती हो?

चेतना — सरला! मैं कहना यह चाहती हूँ कि हमारी संस्कृति में पर्वत, नदी, वृक्ष, पवन, धरती, अग्नि, आकाश — सभी को 'देवतात्मा' माना गया है। यानी उन सबमें 'देवत्व' का निवास हम मानते हैं। तुम शहर में ही पली हो, इसलिए ये बातें तुम्हें नयी लगेंगी। मैंने भी यदि गाँव में दादी के पास बचपन न बिताया होता तो मेरी भी दशा तुम्हारे जैसी ही होती। (गङ्गा का जल पीते हुए कहती है।)

FLASH-BACK

(महाराष्ट्र के गाँव में दस ग्यारह साल की बालिका अपनी दादी के साथ पीपल को जल चढ़ा कर उसकी प्रदक्षिणा कर रही है। घर लौटते समय बालिका दादी से कहती है)—''दादी! कल मेरी सहेली सुशीला की मौसेरी बड़ी बहन बम्बई से आई है।''

दादी — अच्छा।

बालिका — वह कह रही थी कि गाँव के लोग बड़े दकियानूसी होते है। पेड़ों की भी पूजा करते हैं।

दादी — ठीक ही तो है। बम्बई की लड़की तो ऐसा कहेगी ही।

बालिका — और भी कह रही थी कि विज्ञान या Science की नजर से जो समझ में न आए, वह सब अन्धविश्वास है।

दादी — तुम्हारे बाबा कहा करते थे कि आज के लोग 'विज्ञान' या Science को संकुचित अर्थ में समझते हैं। असल में तो सूक्ष्म स्तर पर इन्द्रियों से परे के अनुभव को भी विज्ञान के घेरे में समझना चाहिए।

बालिका — दादी! बात कुछ समझ में नहीं आई।

दादी — देखो, तुलसी, बेल यानी बिल्व, गूलर यानी उदुम्बर, पीपल, बरगद जैसे पौधों या पेड़ों को अधिक पवित्र या पूजनीय क्यों माना गया है, इसके पीछे हमारे ऋषियों का सूक्ष्म अनुभव है। अभी तुम इतना सुनकर रखो, बड़ी होगी तो इस बात को ठीक से समझोगी।

(फ्लैश बैक समाप्त)

सरला — अच्छा, यह तो बताओ कि नदी या पेड़ किसी से बातचीत भी करते होंगे?

चेतना — वृक्षों में वाग्देवता का निवास है, ऐसा वेद में कहा है। यों भी वाग्देवता यानी वाणी की देवी तो नदी, पर्वत, वृक्ष किसी को भी माध्यम बना सकती है। फिर, यह भी तो है कि यह जरूरी नहीं कि शब्दों की भाषा से ही कोई बात समझायी जाय।

सरला — शब्दों की भाषा के अलावा और कौन-सी भाषा हो सकती है।

चेतना — मौन भी एक बहुत बड़ी भाषा है। शङ्कराचार्य ने दक्षिणामूर्ति स्तोत्र में कहा है न—

चित्रं वटतरोर्मूले वृद्धाः शिष्या गुरुर्युवा।
गुरोस्तु, मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः॥

अर्थात्—अरे! क्या आश्चर्य की बात है कि वटवृक्ष को जड़ के पास बूढ़े शिष्य और युवक गुरु बैठे हैं। गुरु का मौन व्याख्यान है और शिष्यों के संशय मिट गए हैं।

सरला — यह तो सचमुच विचित्र है।

चेतना — ध्यान देने की बात है कि गुरु और शिष्य वटवृक्ष के नीचे बैठे हैं।

सरला — अरे! याद आया कि महात्मा बुद्ध के लिए भी तो कहा जाता है कि उन्हें वटवृक्ष के नीचे बोध हुआ था, जिसके बाद वे बुद्ध कहलाए। और वह वृक्ष आज भी महाबोधिवृक्ष कहलाता है।

चेतना — बिल्कुल ठीक कह रही हो। वृक्ष को विस्तार या फैलाव और छाया यानी सब प्रकार के तापों से सुरक्षा का प्रतीक माना गया है।

सरला — यह तो बताओ कि तुम किस प्रयोजन या उद्देश्य से यहाँ आई हो।

चेतना — तुम जानती हो कि मैं संगीत की छात्रा हूँ। मेरे मन में भारतीय संगीत के इतिहास के बारे में बड़ी उलझनें है, कई सवाल उठते हैं। उनका कोई हल मिलता नहीं है। बहुत-सी बातों को तो कहावत की तरह दोहरा दिया जाता है। जैसे कि यह एक कहावत-सी बन गई है कि हमारा संगीत सामवेद से निकला है। इसका मर्म कोई नहीं समझ पाता। हमारे संगीत पर विदेशी प्रभाव कितना है, यह भी कोई समझा नहीं पाता। जो भी बात होती है, बड़े सतही स्तर की होती है। फिर यह भी है कि जो चर्चा आज होती है, वह महफिल के संगीत को लेकर ही होती है। किन्तु संगीत तो पूरे जीवन में व्याप्त है, महफिल तक ही सीमित थोड़े ही है ?

सरला — तुम्हारी उलझनें समझ में तो आ रही हैं। लेकिन यहाँ आने के साथ उनका क्या सम्बन्ध है, यह नहीं समझ पा रही हूँ।

चेतना — देखो, किसी भी बात को गहराई से समझने के लिए राग-द्वेष से रहित निर्मल चित्त चाहिये और सूक्ष्म संवेदनशीलता यानी Sensitivity चाहिये। मैंने निश्चय किया है कि अपनी उलझनों को सुलझाने के लिए भारत-यात्रा करूँगी। दादी मेरे नाम पर जो पैसा छोड़ गई थी, उसका उपयोग इस काम के लिए करने की अनुमति मैंने पिताजी से ले ली है।

सरला — यह तो बड़ी अच्छी बात है।

चेतना — यह यात्रा शुरू करने से पहले गङ्गा माता की अनुमति लेना जरूरी लगा। गङ्गा इस देश के वासियों की संस्कृति और सभ्यता की प्रतीक है, ऐसा जवाहरलाल नेहरू ने भी कहा है। नित्य गतिशीला, नित्य प्रवाहमयी, फिर भी वहीं की वहीं। गङ्गा एक साथ परिवर्तन और स्थिरता को मूर्तिमान करती है। भारतीय संगीत के इतिहास के प्रति साफ-सुथरी दृष्टि पाने के लिए मैं गंगा मैया की शरण में आई हूँ। आग्रह, पूर्वग्रह या Prejudice सबसे मैं मुक्त रहना चाहती हूँ और, कनखल का यह घाट खास तौर पर पवित्र तो माना ही गया है, साथ ही इसकी विशेषता पीपल और बड़ के इस जोड़े या युग्म के कारण भी बढ़ गई है। ये दोनों पेड़ बहुत लम्बी आयु वाले हैं। बरगद तो सृष्टि के चक्र या Cycle का प्रतीक है, क्योंकि जड़ से शाखा और शाखा से पुनः जड़ें बनना इसमें दिखाई देता है। उससे फिर तना बनाती हैं। फिर और शाखा-जड़ें बनती जाती हैं। और

पीपल का तना तो पुष्ट और दृढ़ है, किन्तु पत्ते बहुत पतले और हल्के हैं। वायु की सूक्ष्म गति से भी ये पत्ते स्पन्दित होते हैं। तुलसीदास जी ने इन्हें मन की गति का उपमान बनाया है—**''पीपर पात सरिस मन डोला''** (रा०च०मानस) इन दोनों पेड़ों से मैं देश और काल की सही पहचान माँगने आई हूँ, सृष्टि की मण्डलाकार या Cyclic गति की समझ माँगने आई हूँ और बुद्धि की स्थिरता माँगने आई हूँ।

सरला — हरिद्वार पहुँचने पर अपने साथियों से बिछुड़ जाने के कारण मैं तुम्हारे साथ हो ली थी। हम लोग तो सैलानी बन कर उत्तराखण्ड घूमने आए थे। जब तुम्हारे साथ कनखल आई, तब क्या जानती थी कि ऐसी गहरी बातों से मेरा परिचय होगा। .... अच्छा, यह तो बताओ कि तुमने अपनी इस संगीतमयी यात्रा की कोई योजना बनाई है?

चेतना — पक्की सिलसिलेवार योजना तो नहीं बनाई है, किन्तु इतना जरूर कह सकती हूँ कि आज आम तौर पर भारतीय संगीत की दो ही धाराएँ मानी जाती हैं—हिन्दुस्तानी और कर्णाटक। मैं इन धाराओं के मुख्य परम्परागत केन्द्रों, जैसे कि ग्वालियर, तंजौर आदि के साथ-साथ मणिपुर और उड़ीसा की यात्रा करके वहाँ की संगीत-परम्पराओं को भी समझना चाहती हूँ। साथ ही, संगीत के सभी प्रकारों को समझना चाहती हूँ, तथाकथित शास्त्रीय संगीत में बंधकर रहना नहीं चाहती।

सरला — यानी संकुचित या खण्डित दृष्टि को छोड़कर तुम व्यापक या अखण्ड दृष्टि अपनाना चाहती हो।

चेतना — बिल्कुल। मैं अपने देश के संगीत को परत-दर-परत समझना चाहती हूँ। हमारी संस्कृति एकमुखी तो है नहीं, इसलिए उसे समझने के लिए बहुमुखी दृष्टि चाहिए।

सरला — मतलब यह हुआ कि तुम Folk और Tribal यानी लोक संगीत, आदिवासी संगीत को भी देखना चाहोगी।

चेतना — **यह लोक-संगीत, आदिवासी संगीत आदि का विभाजन पश्चिम की देन है**। हमारी संस्कृति में तो इस प्रकार का विभाजन कभी रहा नहीं। मैं अपने संगीत को समझने के लिए अपनी संस्कृति के अनुरूप नजरिया विकसित करना चाहती हूँ।

सरला — यह तो बड़ा बुनियादी काम है।

चेतना — सो तो है ही। आज हमारी दृष्टि इतनी गड्ड-मड्ड हो चुकी है कि उसे साफ बनाने के लिए बहुत सावधान रहने की जरूरत है। पदे-पदे खतरे हैं।

सरला — कहाँ से मैं तुम्हारे साथ हो ली। विज्ञान की विद्यार्थिनी ठहरी मैं और अब संगीत के बारे में उलझनों का ब्यौरा सुन रही हूँ।

चेतना — भई। संगीत तो सब के लिए है। चाहे विज्ञान का विद्यार्थी हो या और कोई। मेरी यात्रा की उपलब्धियाँ सभी के लिए उपयोगी और रोचक होंगी, केवल संगीत के विद्यार्थियों के लिए नहीं।

सरला — चलो अच्छा है। तुम्हारे इस शुभसंकल्प की साक्षी बनने का मौका मुझे घटना-क्रम से मिल गया।

चेतना — देखें, फिर कब संयोग होता है, तुम्हारे साथ चर्चा करने का।

सरला — कभी न कभी नदी-नाव संयोग हो ही जायेगा। इस बार भी ते कहाँ तुम बम्बई से चली और मैं दिल्ली से, लेकिन यहाँ अचानक मिलना हो गया। अच्छा, अब मैं चलती हूँ। तुम्हें शायद एकान्त की जरूरत होगी। मैं तो हरिद्वार जाकर अपने साथियों को खोज ही लूँगी। तुम्हारी यात्रा मंगलमय हो।

चेतना — अच्छा, तुम्हारी शुभकामना मेरे लिए अनमोल है।

(सरला चली जाती है।)

चेतना — हे गङ्गा-माता! हे वृक्षयुगल! तुम मुझे सही प्रेरणा देते रहना। तुम्हारी मौन वाणी सुनने की संवेदनशीलता मुझे मिले। जब आवश्यक समझें, तब उचित माध्यम से शब्दमयी वाणी द्वारा मेरा मार्ग-दर्शन करते रहना। **मेरी जिज्ञासा कभी मलिन न हो, बात की तह में जाने की चाह कभी न मिटे और ज्ञान के प्रति असन्तोष की आग कभी ठण्डी न पड़े।**

गङ्गा के घाट पर एक फूल जल के प्रवाह से अन्तिम सीढ़ी पर आकर छूता है। चेतना उसे उठाकर माथे से लगा लेती है और कहती है—मुझे आर्शीवाद मिल गया। यही मेरा पाथेय है।

॥ ॐ ॥

सङ्गीत-गङ्गा-प्रारम्भक-गान

राग भूपाली

जय-जय गङ्गे तरल तरङ्गे! मातः गङ्गे तुङ्ग-तरङ्गे!
सुरसरि, भागीरथी, जाह्नवी, नाम अनेक धरे।
नील, अलकनन्दा, मन्दाकिनि, धार अनन्त समेट चले।
हिमगिरि उद्‌गम, सागर-सङ्गम, रूप उभय-बिच विविध धरे।
जय जय गङ्गे ....
सँकरी, चौड़ी, उथली, गहरी, चपला, मन्थर-
बहुविध गतिधर लम्बी यात्रा पार करे।
नित-नूतन पर सदा सनातन
परम पवित्रा, सतत पावनी,
तन-मन उज्ज्वल नित्य करे॥ जय जय गङ्गे ....

राग शङ्करा

भारतीयं नमस्कृत्य नमस्कृत्य च भारतीम्।
ॐकाररूपिणं नित्यं नादब्रह्म ह्युपास्महे॥

समापक-गान, राग सिन्धूरा

न नादेन विना गीतम्
न नादेन विना स्वराः।
न नादेन विना नृत्तम्
तस्मान्नादात्मकं जगत्॥

पहला गीत
राग-भूपाली, तीनताल

×				२				०				३			
								सं	सं	ध	प	ग	रि	स	रि
								ज	य	ज	य	गं	•	गे	•
$^{\text{प}}$ग	ग	ग	रि	ग	प	धसं	पध	सं	सं	ध	प	ग	रि	स	रि
त	र	ल	त	रं	•	गे.	••	मा	•	तः	•	गं	•	गे	•
$^{\text{प}}$ग	ग	ग	रि	ग	प	ध	—	ग	ग	ग	ग	प	—	सं	ध
तुं	•	ग	त	रं	•	गे	ऽ	सु	र	स	रि	भा	ऽ	गी	•
सं	सं	—	सं	—	रिं	सं	—	$^{\text{सं}}$ध	—	सं	सं	सं	रिं	गं	रिं
र	थी	ऽ	जा	ऽ	ह्व	वी	ऽ	ना	ऽ	म	अ	ने	•	क	ध
गं	—							ग	गग	पप	संध	सं	संसं	संरिं	संसं
रे	ऽ							नी	लअ	लक	नं•	दा	मं•	दा•	किनि
ध	धध	संरिं	गंरिं	संरिं	गंरिं	संध	पग	गं	रिं	गं	पं	रिं	—	सं	सं
धा	रअ	नं.	तस	मे.	टच	ले.	••	हि	म	गि	रि	उ	ऽ	द्ग	म
प	ग	ग	रि	ग	प	ध	ध	रिं	—	गं	रिं	सं	रिं	ध	सं
सा	•	ग	र	सं	•	ग	म	रू	ऽ	प	उ	भ	य	बि	च
प	ध	प	ग	ग	प	धसं	रिंगं								
वि	वि	ध	ध	रे	•	••	••	(जय जय गङ्गे—दुगुन में)							
								प	ग	ग	रि	स	सं	सं	
								सँ	क	री	•	चौ	•	ड़ी	ऽ
ग	रि	ग	—	स	ध़	स	—	गंरिं	गंरिं	सं	ध	सं	सं	संसं	धप
उ	थ	ली	ऽ	ग	ह	री	ऽ	चप	ला•	मं	•	थ	र	बहु	विध
गरि	गग	गं	रिं	गं	—	सं	ध	सं	पध	संरि	गं	स	सं	ध	प
गति	धर	लं	•	बी	ऽ	या	•	त्रा	••	••	•	पा	•	र	क
ग	प	ध	—	संध	संप	धग	रिग	पग	-रि	गरि	सस	पग	गरि	गप	ध
रे	•	•	ऽ	नित	नू.	तन	पर	सदा	•स	ना.	तन	पर	मप	वि•	त्रा

संध	धसं	-रिं	सं	संसं	धप	पध	पग	गप	धप	ध	—	—	—	—	संसं
सत	तपा	ऽव	नी	तन	मन	उ	ज़्ज्वल	नि.	त्यक	रे	ऽ	—	—	—	ज•
संप	-ध	सं	रिं	सं	—	संसं	संप	-ध	सं	रिं	सं	—	संसं	संप	-ध
यज	ऽय	गं	•	गे	ऽ	ज•	यज	ऽय	गं	•	गे	ऽ	ज•	यज	ऽय
सं	गंरिं	गं	—												
गं	••	गे	ऽ												

राग शङ्करा

								स	—	स	प	-ग	प	—	प
								भा	ऽ	र	ती	ऽ•	यं	ऽ	न
नि	-ध	संरिं	निसं	नि	-ध	प	—	प	नि	—	—	सं	—	सं	सं
म	ऽ•	स्कृ•	••	त्य	ऽ•	•	ऽ	न	म	ऽ	ऽ	स्कृ	ऽ	त्य	च
सं	गं	रिं	सं	—	निध	^रिंसं	नि	सं	—	—	गं	—	गं	गं	—
भा	•	र	ती	ऽ	••	••	म्	ओं	ऽ	ऽ	का	ऽ	र	रू	ऽ
पं	^रिंगं	—	रिं	संनि	रिं	सं	—	सं	—	नि	प	प	ग	ग	—
पि	णं	ऽ	•	नि.	•	त्यं	ऽ	ना	ऽ	द	•	ब्र	•	ह्म	ऽ
प	^रिग	—	—	रि	स	—	—								
ह्यु	पा	ऽ	ऽ	स्म	हे	ऽ	ऽ								

(3) समापक-गीत

राग सिन्धूरा

×				२				०				३			
								—	रि	म	—	प	—	धनि	पध
									न	ना	ऽ	दे	ऽ	न•	वि•
सं	—	—	सं	रिं	नि	^पध	सं	—	सं	ध	सं	रिं	गं	—	^संरि
ना	ऽ	ऽ	गी	•	तं	•	•	ऽ	आ	•	•	•	•	ऽ	•
मं	गं	—	रिं	—	^गंसं	—	निध	सं	ध	सं	—	रिं	—	रिं	रिं
•	•	ऽ	•	ऽ	•	ऽ	••	•	न	ना	ऽ	दे	ऽ	न	वि

रिं — मं गं — गंरिं — गंसं — संनि धप मग रिस रि मप -ध
ना ऽ स्व राः ऽ • ऽ • ऽ •• •• •• •• • •• ऽ•
सं रि मप -ध सं रि मप -ध सं सं सं रिं नि — नि नि
• • •• ऽ• • • •• ऽ• • न ना • दे ऽ न वि

१ २ ०
ध म प ध ग — सरि — गस रिरिमम पपपप धनिपध
ना • नृ • तं ऽ • ऽ • धिटधिट धागेतिट क्ड़धातिट

३ ×
संसंसंसं धसंरिंरिं रिंमंगग रिंरिंरिंरिं रिंगंसंसं निनिनिनि
धागेतिट क्ड़धातिट क्ड़धातिट क्ड़धातिट धागेतिट क्ड़धातिट

२
धमपध गगरिस रिरिरिरि रिममप-पध सं-सं-
धागेतिट गदिगन नागेतिट धकिटधा ऽनता धाऽताऽ

० ३
रिं-रिं- गं सं सं — संरिं रिं नि —
धाऽताऽ धा त ऽ स्मा • न्ना ऽ

× २ ० ३
नि — नि ध म पध ग -ग गस म -रि प -म ध -प सं
दा ऽ त्म कं • ज• ग ऽत् • मुद्रित गमक

-ध रिं -सं गं सं -रिं नि -ध सं -रिं नि -ध सं -रिं नि -ध
सं —

★★★

१९४५-५० के बीच मथुरा में श्रीगौडीय वैष्णव सत्सङ्ग में रहते समय महात्माओं के प्रवचन सुनकर बहिनजी (तब १८-१९ वर्ष की) उसे ज्यों का त्यों सुस्पष्ट रूप में लिख लिया करती थीं। उस समय के

हस्तलेख का नमूना

श्री भक्ति-सन्दर्भ व्याख्या।

असत् सविशेष

- (क) विष्णुव्यतीत अन्याकार ईश्वरज्ञान
- (ख) निराकार ईश्वरज्ञान
- (ग) अहंग्रहोपासना

अहंग्रहोपासना

- आश्रयविग्रहाभिमान (~~पौण्ड्रक वासुदेव~~) (ललिता सखी आदि मानना।)
- विषयविग्रहाभिमान (पौण्ड्रक वासुदेव।)

सत् सविशेष (योग)

- व्यष्टि अन्तर्यामी (महात्मा, अनिरुद्ध की उपासना।)
- समष्टि जीवान्तर्यामी गर्भोदकशायी की विराट् के अन्तर्यामी महापुरुष की उपासना प्रद्युम्न।

मुख्य व साक्षात् उपासना निर्विशेष और सविशेष दो प्रकारों से परतत्त्व के आविर्भावानुसार दो प्रकार की है। निर्विशेष ब्रह्म की उपासना को ज्ञान कहते हैं। इस में आरम्भ से ही ब्रह्म के साथ अभेद ज्ञान है। ब्रह्म में लय होना ही इस का प्रयोजन है। यह ज्ञान भी भक्ति के आश्रय व्यतीत फल नहीं करता। वह सिद्ध होने से भी नश्वर है। पतन का भय है और साधन का पथ भी बहुत क्लेशाकर है। ब्रह्मलय हो जाना शुद्ध अनुग्रह नहीं, अनुग्रह का जाता है। किसी भक्त-महत् की कृपा होने से ज्ञानी की सविशेष आविर्भाव में रुचि हो सकती है, नहीं तो ब्रह्म लय ही होगा। अभेद-भावना द्वारा पहिले चिन्मात्र जीव का अनुभव, फिर विभु-ब्रह्म का अनुभव। तत् पदार्थ से तद् पदार्थ की ओर अभियान

ज्ञानी भगवान् के चिद्विलास का अनुभव नहीं कर सकता। वह चिन्मात्र को ही बन्धन का कारण समझता है। वह भगवान् का ऐश्वर्यादि और गुणादि से भी अनुभव नहीं करता। ब्रह्म का ध्यान करते करते स्वयं भी ब्रह्म ही हो जाता है।

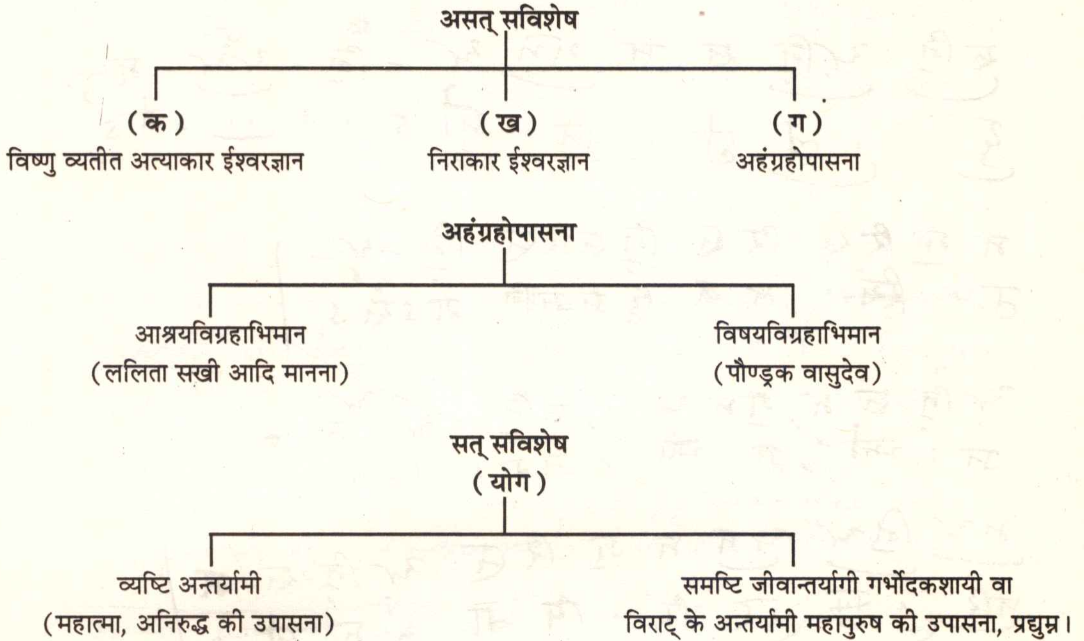
प्राप्त है। ज्ञान का साधन सत्त्वगुण द्वारा जनित अतः सगुण। इसलिए मन द्वारा ब्रह्म की धारणा करना भी सगुण है। इस पक्ष को बहुत मानते हैं। ज्ञान द्वारा सद्य-मुक्ति मिलती है। देह छोड़ने के समय उत्क्रान्त अवस्था में ब्रह्मलय हो जाता है।

भक्ति रहित ज्ञानी	भक्ति सहित ज्ञानी
1. साधक	1. मुमुक्षु
2. ब्रह्मलय	2. जीवन्मुक्त
3. प्राप्तब्रह्मलय	3. प्राप्तब्रह्मस्वरूप

सविशेष आविर्भाव भी दो प्रकार के हैं— परमात्मा एवं भगवान्। इन दोनों की उपासना योग और भक्ति द्वारा होती है। परमात्मा की उपासना का मार्ग है योग। इस में क्रममुक्ति होती है। योगी क्रमिक भाव से प्रकृति के सप्तावरण भेद करके और सात लोक पार करके क्रमशः धूममार्ग से ब्रह्मलोक तक पहुंचते हैं। भक्ति की सहायता लेने से वैकुण्ठ में चार प्रकार की मुक्तियां भी योगी को मिल जाती हैं। कोई 2 परमात्म सायुज्य इच्छा करते हैं। पर ज्ञानी के ब्रह्म-सायुज्य की अपेक्षा भी अत्यन्त घृणित है। क्योंकि ज्ञानी तो साधन अवस्था

* इस हस्तलिखित लेख की सामग्री आगामी पृष्ठ में मुद्रित कर दी गयी है। —सम्पा०

श्री भक्ति—सन्दर्भ व्याख्या



मुख्य व साक्षात् उपासना निर्विशेष और सविशेष दो प्रकार के परतत्त्व के, प्रति भावानुसार दो प्रकार की है। निर्विशेष ब्रह्म की उपासना को ज्ञान कहते हैं। इस में प्रारम्भ से ही ब्रह्म के साथ अभेद ज्ञान है। ब्रह्म में लय होना ही इस का प्रयोजन है। यह ज्ञान भी भक्ति के आश्रय-व्यतीत फल नहीं करता। वह सिद्ध होने से भी नश्वर है। पतन का भय है और साधन का पथ भी बहुत क्लेशकर है। ब्रह्मलय हो जाना शुद्ध अनुग्रह नहीं, अनुग्रह का आभास है। ज्ञानी भगवान् के चिद्विलास को अनुभव नहीं कर सकता, वह विलास मात्र को ही बन्धन का कारण समझता है। वह भगवान् का षडैश्वर्य्यादि प्रौढ़ गुणादि कुछ भी अनुभव नहीं करता, ब्रह्म का ध्यान करते-करते स्वयं भी ब्रह्म ही हो जाता है। किसी भक्त-महत् की कृपा होने से ज्ञानी की सविशेष आविर्भाव में रुचि हो सकती है, नहीं तो ब्रह्म-लय ही होगा। अभेद-भावना द्वारा पहले चिन्मात्र जीव का अनुभव, फिर विभु-ब्रह्म का अनुभव। त्वम् पदार्थ से तत् पदार्थ की ओर अभियान। ज्ञान का साधन सत्त्वगुण द्वारा जनित, अतः सगुण। इसलिए मन द्वारा ब्रह्म की धारणा करना भी सगुण है। इस पथ में बहुत ख़तरे हैं। ज्ञान द्वारा सद्यः-मुक्ति मिलती है। देह छोड़ने के समय उत्क्रान्त अवस्था में ब्रह्मलय हो जाता है।

भक्तिरहित ज्ञानी	**भक्तिसहित ज्ञानी**
1. साधक	1. मुमुक्षु
2. ब्रह्ममय	2. जीवन्मुक्त
3. प्राप्तब्रह्मलय	3. प्राप्त-ब्रह्मस्वरूप

सविशेष आविर्भाव भी दो प्रकार के हैं—परमात्मा एवं भगवान्। इन दोनों की उपासना योग और भक्ति द्वारा होती है। परमात्मा की उपासना का मार्ग है योग। इसमें **क्रममुक्ति** होती है। योगी क्रमिक भाव से प्रकृति के अष्टावरण भेद कर के और सात लोक पार कर के क्रमशः धूम्रमार्ग से ब्रह्मलोक तक पहुँचते हैं। भक्ति की सहायता लेने से वैकुण्ठ में चार प्रकार की मुक्तियाँ भी योगी को मिल जाती हैं। कोई-कोई परमात्म-सायुज्य की इच्छा करते हैं। यह ज्ञानी के ब्रह्म-सायुज्य की अपेक्षा भी अत्यन्त घृणित है। क्योंकि ज्ञानी तो .....

बहिनजी द्वारा सङ्गीतरचना के समय लिखी जाती हुई स्वरलिपि का नमूना

बहिनजी द्वारा स्वयं लिखे जाते अंग्रेजी लेख का नमूना

(3)

The 'Svatā' or Autonomy of 'Swara' According to Abhinavagupta

Prem Lata Sharma

The word swara stands both for vowel in language and ~~musical~~ note' or tone in music. In language, vowel 'shines forth' or manifests by itself (swayaṁ), whereas vyañjana (consonant) inevitably needs the support of vowel[1]. (vide Mahabhasya)

This word is split as 'swa' and 'ra'; 'swa' standing for self-sufficiency and 'ra' for rājate (shines forth or manifests) ~~and~~ in language and rañjayati ~~in to~~ (delights) in music.

In music also, Matanga gives the same etymology for musical note[2]. But really speaking, the self-sufficiency of musical note is discernible at a different level from that of vowel. Abhinavagupta is the first author who brings out this distinctive autonomy of the musical note as follows:—

तेन शब्द स्वभावां चिरावृत्तिं मध्य स्थता-

त्वम् - स्वात्मस्थ [illegible] -परिस्था [illegible] [illegible]-

तृतीय खण्ड

श्र० प्रेमलताजी के प्रति वार्षिक-श्रद्धाञ्जलि-सत्र

स्मारक व्याख्यानमाला

तथा

सङ्गीताञ्जलि

१९९९, २०००

तृतीय खण्ड
(४०९-४६१)

.१.

प्रो० प्रेमलता शर्मा के प्रति प्रथम-वार्षिक

श्रद्धाञ्जलि-सत्र

—दि. ३,४,५ दिसम्बर १९९९—

दि. ३.१२.९९—स्मारकव्याख्यानमाला-प्रारम्भ

प्रमुख व्याख्याता	—	पद्मभूषण पं. विद्यानिवास मिश्र
विषय	—	'भक्तिरस'
विशेष अभ्यागत	—	प्रो० राय आनन्दकृष्ण
अध्यक्ष	—	डॉ० भानुशङ्कर मेहता
स्थान	—	भारतीमहाविद्यालय, का०हि०वि०वि०

दि. ४.१२.९९—स्मारक व्याख्यान-द्वितीय

व्याख्याता	—	प्रो० डॉ० एन० रामनाथन्
विषय	—	"संगीतरत्नाकर के परवर्ती काल में संगीतशास्त्र का प्रवर्त्तन"
अध्यक्षा	—	प्रो० डॉ० सुभद्रा चौधरी
विशेष अभ्यागत	—	पं० श्री स० सोमास्कन्दन् पं० श्री गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर डॉ० नलिनी फ्राँस्वाज़ देलुआ
स्थान :	—	'आम्नाय'—करौंदी, (बहिनजी का आवास)

दि. ५.१२.९९—श्रद्धास्वराञ्जलि-सप्तक

श्र० बहिनजी के शिष्य एवं श्रद्धालु सङ्गीतकलाकार-परिवार (सङ्गीतसंकाय, का०हि०वि०वि० तथा अन्य भी) में से सात समूहों में सात कलाकारों द्वारा सात विधाओं में सङ्गीताञ्जलि-अर्पण।

स्थान : — नारद घाट (राजाघाट)
अहल्याबाई-अन्नक्षेत्र-भवन
श्री रायकृष्णदास-इन्टैक-वाराणसी न्यास का स्थान

तीनों दिन का श्रद्धाञ्जलि-सत्र आम्नाय, भरतनिधि एवं श्री रायकृष्णदास-इन्टैक-वाराणसी न्यास के संयुक्त आयोजन में सम्पन्न हुआ।

.२.

'भक्तिमयी' के प्रति श्रद्धाञ्जलि-रूप प्रथम स्मारक-व्याख्यान*

"भक्तिरस"

—पं० विद्यानिवास मिश्र

मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमैः
नक्तं भीरुरयं त्वमेव तमिमं राधे गृहं प्रापय।
इत्थं नन्दनिदेशतश्चलितयोः प्रत्यग्रकुञ्जद्रुमान्
राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहःकेलयः ॥

स्व० प्रेमलता बहनजी के प्रति आदर भाव रखने वाले तथा स्नेह-पूर्ण भाव रखने वाले जो लोग उपस्थित हैं इन सबको सम्बोधित करते हुए मन भर आता है कि बहन जी रहतीं तो उनको सुनाने में आनन्द आता।[१] यह विषय उन्हीं के अनुकूल था क्योंकि वे भक्ति में डूबी हुई थीं, पर बहन जी की उपस्थिति को आप सबों में बसा हुआ देखकर के मैं प्रसन्न भी होता हूँ कि बहन जी के प्रति श्रद्धाभाव रखने वाले लोग हैं, कृतज्ञता रखने वाले हैं।

भक्ति के विषय में बात करते समय आज के जमाने में भय लगता है। क्योंकि भक्ति को बहुत से लोग अकर्मण्यता का प्रतीक मान लेते हैं, कर्म से पलायन का एक रूप मान लेते हैं। ज्ञान का विरोधी मान लेते हैं और योग का भी विरोधी मान लेते हैं। जबकि भक्ति स्वयं में योग है और अन्य योगों की अपेक्षा अधिक कारगर योग है। दूसरे योगों में रास्ता बड़ा कठिन है और विघ्न बाधाएँ बहुत हैं। भक्ति में एक बार युक्त हो जाने पर, जुट जाने पर, जो वस्तुतः भक्त हैं उन्हें कोई बाधा नहीं है क्योंकि एक बार जो जुट गया, जुटने का जिसका संस्कार हो गया, वह कभी अलग नहीं हो सकता, अलग हो जाय भी तो फिर बुला लिया जायेगा। और उस पुकार पर उसे आना ही पड़ेगा। उससे गलती भी होगी तो गलती का पछतावा होगा कि भगवान् के समीप रहे, भगवान् की झलक लिये, भगवान् को हमने सामने देखा फिर यह मुझसे क्या हो गया? और फिर वह रास्ते पर लौटता है। किन्तु कुछ ऐसा दुष्प्रचार सा है और यह दुष्प्रचार आज का नहीं है, पुनर्जागरण के नाम पर इस देश में यह दुष्प्रचार हुआ। इसमें पुराण खारिज किये गये, केवल उपनिषद् रह गये। ज्ञान की सम्पूर्ण धारा जो भारत में थी उसको खारिज कर दिया गया और आज भी स्थिति यह है कि भक्ति को मान लिया जाता है कि यह तो साम्प्रदायिक है। "भक्ति में इतने सम्प्रदाय हैं!" 'साम्प्रदायिक' शब्द तो आज गाली का शब्द है। वास्तव में तो इस शब्द का अर्थ है "जो दिया गया", "अच्छी तरह से जो दिया गया और दिया जाता है वह सम्प्रदाय है।" उस देने को जो स्वीकार करने वाला मन है, वह सम्प्रदाय है। भली भाँति देने वाला मन सम्प्रदाय है, विनीत भाव से लेनेवाला मन सम्प्रदाय है और उसको अपने अनुभव से प्रत्यक्ष सिद्ध करने वाला मन भी सम्प्रदाय है।

---

* दि. ३.१२.१९९९—भारती महाविद्यालय (College of Indology) काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के व्याख्यान कक्ष में प्रस्तुत हुआ।

१. यह वाक्य कहते हुए पूज्य पण्डितजी वस्तुतः साश्रु-गद्गद भाव-विह्वल हो उठे।

यहाँ यह बोलने का साहस हो रहा है क्योंकि हमारे आजू-बाजू में जो लोग बैठे हैं,* वे इस व्यामोह से ग्रस्त नहीं हैं, क्योंकि जानते हैं कि भारतवर्ष की कला, भारतवर्ष का साहित्य, भारतवर्ष का संगीत, यदि भक्ति से विरहित हो जाय तो कुछ रह ही नहीं जायेगा। इन सब के केन्द्र में भक्ति है इसलिये इनसे जो जरा भी सम्बन्ध रखेगा, वह इस देश का हो या देश के बाहर का हो, वह अवश्य समझेगा कि आज विश्व-भर में लोग भारत के प्रति जो आकृष्ट होते हैं उसका सबसे बड़ा कारण यह है कि यहाँ की कला भगवद्भाव से भावित है। यहाँ की कला से भगवद्भाव हटाया नहीं जा सकता। यहाँ के लोकमन से भगवद्भाव हटाया नहीं जा सकता। इसकी स्थिति वही है जिसकी उपमा भक्ति शास्त्रों में बार-बार दी जाती है कि लाक्षा में आप कोई रंग डाल दीजिए, लाक्षा को आग में तपाइये और उसमें कोई-रंग डाल दीजिये, अब उस रंग को निकालना चाहें उस लाक्षा से तो लाक्षा नष्ट हो जाय, पर वह रंग नहीं निकलेगा। तो यदि कला में से भक्ति तत्त्व को हटाना चाहें, चाहे ध्रुवपद हो, धमार हो, चाहे और कोई गीत हो, अगर हटाना चाहेंगे तो वह हट नहीं सकेगा, वह एक दम इतना घुल मिल गया है। वह सङ्गीत में मिला है तो सङ्गीतमय हो गया है, साहित्य में मिला है तो साहित्यमय हो गया है, चित्रकला में मिला है तो चित्रकलामय हो गया है। यों कहें कि सब कलायें भक्तिमय हो गयी हैं।

अब अगर साधारण आँख से, साधारण कान से, साधारण हृदय से इन सब का ग्रहण करेंगे तो आप नहीं ग्रहण कर पायेंगे। यदि उसके अनुकूल ग्राहक चित्त आपके भीतर नहीं है तो आप ग्रहण नहीं कर पायेंगे। कांगड़ा, मेवाड़, बूँदी, कोटा की चित्रकला में आप राधाकृष्ण देखते हैं, अनेक भावभंगिमाओं में देखते हैं, अनेक भावदशाओं में देखते हैं, अगर आप साधारण दृष्टि से उन्हें देखेंगे तो आप के पल्ले कुछ पड़ेगा नहीं। कुछ कुंज पड़ेंगे, कुछ साड़ियाँ पड़ेंगी, कुछ वेश पड़ेंगे। आप के पल्ले उसका प्रेषणीय जो अर्थ है वह नहीं आयेगा। क्योंकि वह साधारण ऐन्द्रिय अर्थ है नहीं, ऐन्द्रिय अर्थ का इतना मन्थन हुआ है, इतना मन्थन हुआ है कि उस तत्त्व में इन्द्रियाँ इन्द्रियाँ रह नहीं गयी, इन्द्रियों ने कुछ रूपान्तर ग्रहण किया है। आपको ऐसा लगता है कि आप भी देर तक देखेंगे तो आप की आँख आँख नहीं रह जायेगी, आप उसमें समाने की कोशिश करेंगे तो आप में ही परिवर्तन आ जायेगा। उसी तरह से जो सङ्गीत सुनेंगे तो आप केवल कान नहीं रह जायेंगे, आपका रूपान्तरण होगा, यह रूपान्तरण ही भक्ति है।

मधुसूदन सरस्वती, जो इसी काशी के अप्रतिम विद्वान् भक्त, वेदान्तशिरोमणि, बल्कि वेदान्त की ज्ञान-परम्परा में सबसे अन्तिम नक्षत्र थे। उनके आगे उनसे बड़ा कोई वेदान्ती नहीं हुआ है। उनके 'अद्वैत-सिद्धि' के बाद कोई इतना ऊँचा ग्रन्थ हुआ नहीं, वे जब भक्ति की बात करते हैं तो कहते हैं ''क्या करें? मैं चाहता हूँ कि एकदम से विराट् शून्य के साथ एकाकार हो जाऊँ अनिर्वचनीय के साथ एकाकार हो जाऊँ, लेकिन कुछ कर नहीं सकते। विवशता है, लाचारी है। एक छोटा-सा बालक साँवला सा, वह अपनी ओर खींच लेता है, और फिर वही-वही दिखाई पड़ता है चारों ओर, और कुछ दिखाई ही नहीं पड़ता। उन्होंने 'भक्तिरसायन' नाम का एक ग्रन्थ लिखा है छोटा-सा और वह ग्रन्थ एक तरह से श्रीमद्भागवत की व्याख्या है। श्रीमद्भागवत को ध्यान में रखकर के लिखा गया भक्तिरस का 'लक्षण ग्रन्थ' है, उसका लक्ष्य श्रीमद्भागवत है। हरेक उदाहरण प्रायः श्रीमद्भागवत से ही उसमें दिये गये हैं। श्रीमद्भागवत में रसप्रतिपादन कैसे हुआ है इसी के लिए उन्होंने भक्तिरसायन ग्रन्थ लिखा। उसका पहला श्लोक भी ''पिबत भागवतम् रसमालयम्'' जैसा ही है और दूसरे श्लोक में जो उन्होंने व्याख्या की कि भगवद् धर्मों के कारण, उनके सन्निवेश के कारण जो द्रुति होती है चित्त की, वह भक्ति है। हमारा काम, क्रोध, द्वेष, मोह जो कुछ भी हो वह चित्त में रहता है, इसमें तो कोई सन्देह नहीं, लेकिन भगवान् की ओर-अभिमुख होने पर उनके ताप के कारण एक सम्प्लव होता है और वह धारा बन जाता है, चित्तद्रुति से मानो कोई तैल-धारा बनती है, तो तैल ही फैलता हुआ मिलेगा। तैल की स्निग्धता ही फैली हुयी मिलेगी। जल पर वही धारा बन जाती है, वह इस प्रकार की है कि ''सर्वेशे मनसो वृत्तिः''। मन की वृत्ति ही समस्त संसार के जो ईश्वर हैं या समस्त संसार जिनका विग्रह हैं उनमें लग जाती हैं, वही भक्ति है।

भक्ति का मूल अर्थ है बँटना और बाँटना। बाँटने का अवशिष्ट रहना, उच्छिष्ट होना। कितना बच के रहेगा कोई? कुछ बचेगा ही नहीं। तब भी कुछ बचा रहना, केवल भक्त होने के लिये बचा रहना, सब कुछ समर्पण के बाद भी कुछ और बचा

---

* मञ्च पर सहासीन डॉ॰ भानुशङ्कर मेहता, प्रो॰ राय आनन्दकृष्ण एवं सभा में बैठे सुधीजन।

रहना, जैसे माँ बच्चे को खिलाती है और तृप्त हो जाती है। कुछ भी अपने लिये नहीं रहता, शायद ओस चाटने जैसी चीज कोई रहती होगी। वह सन्तान में धुल जाती है लेकिन माँ के रूप में बची रहती है, बच्चे की स्नेहकर्त्री के रूप में, वात्सल्यकर्त्री के रूप में बची रहती है। वैसे ही भक्त की दशा होती है कि वह सब कुछ परमेश्वर को सौंपता है, समस्त वस्तुओं को भगवद्स्वरूप आत्मा में देखता है और आत्मा को समस्त भूतों में देखता है तो वह सब रूपों को आत्मा के सम्बन्ध में देखता है, तो फिर वह रहा कहाँ? उसकी निजता तो कोई रहती ही नहीं। उसकी निजता केवल चाह में, अभिलाष में रहती है। रसखान ने कहा ''हमें न वैकुण्ठ चाहिये न हरि चाहिये, हमें कोई भी चाह नहीं है, हमें केवल चाहिये यही कि हरि की चाह बनी रहे।'' हरि मिलें न मिलें, वैकुण्ठ मिले न मिले, हरि की चाह हमेशा बनी रहे। सब तरह से हरि की चाह ही हमारा अस्तित्व हो जाय, वही हमारी अस्मिता हो जाय, अभिलाषा के अलावा हम कुछ रह न जाँय। इसी को भगवद्भक्तों ने भक्तिशास्त्र के प्रतीकों में प्रेमाभक्ति कहा है। न रूप में आसक्ति हो, न काम में आसक्ति हो, प्रेम में केवल आसक्ति हो, कि हम प्रेम के विग्रह बने रहें। हमें कुछ अभिलाषा ही न रह जाय—यही भक्ति का सबसे उत्कृष्ट रूप है, सबसे उत्तमरूप है और इसी के लिये भक्त अपने को विभक्त किये रहता है। पूर्णरूप से तादात्म्य हो जाने पर भी भक्त जो अपने को विभक्त करता है तो उसकी महाभाव की स्थिति होती है।

बहन जी चैतन्य सम्प्रदाय के महाभाव के प्रति बहुत गहरायी से जुड़ी हुयी थीं। वस्तुतः उनका मूल सम्प्रदाय वही था भी। चैतन्य सम्प्रदाय में जो महाभाव की बात आती है और जिस महाभाव की प्राप्ति के समय आदमी अपने चित्त को दो भागों में विभक्त करता है फिर दोनों भाग स्थिर नहीं रहते, तब कभी मन श्रीकृष्ण रूप होता है, कभी मन गोपीरूप या राधारूप होता है, राधारूप होकर के श्रीकृष्ण के लिये व्याकुल होता है; श्रीकृष्ण होकर के राधा के लिये व्याकुल होता है।

''दुहुँ दिशि दारु दहन जिमि दगधई आकुल कीट परान''

दोनों दिशाओं में जैसे आग लगी हुई हो, एक लकड़ी चिरी हो बीच में से और दोनों तरफ आग लगी हुयी हो और बीच में कीड़ा फँसा हुआ है एक, प्रायः उसी तरह से इस आग का साक्षी होकर के जीव व्याकुल बना रहता है, उस प्रकार की स्थिति होती है। वह द्वैचित्य, वह दुचित्तापन बना रहना, तादात्म्य से बड़ी चीज है। तादात्म्य में हम डूब गये तो डूब गये। बिन्दु सिन्धु में समा गया, समा गया, उसमें बिन्दुता अपनी खो दी, खो दी; बिन्दु समुद्र से अलग होकर के समुद्र में समा भी जाय पर 'बिन्दुता' के लिये चाहे अदृश्य रूप में ही सही, कहीं बना रहे; सागर के भीतर ही कहीं बना रहे; अगर बना रहे तो वही उसकी विचित्रता है। तब स्थिति ऐसी आती है, रहीम का एक दोहा है सिन्धु में तो बिन्दु को समाते हुये देखा है लेकिन यह अब का सों कहें? ''बिन्दु में सिन्धु समाय'' बिन्दु में सिन्धु समा गया, यह आश्चर्य किससे कहें? आज बिन्दु में ही सिन्धु समा गया है। इस छोटे से घट में पूरा सागर लहरा गया है। इस छोटे से विग्रह में सर्वेश्वर अपनी समस्त शक्ति के साथ, सौन्दर्य समस्त गुणों के साथ समा गया है। श्रीकृष्ण ही राधामय हो गये हैं। यह जो भाव आता है यह भक्ति की चरम अवस्था है।

यह बँटकर के भी जुड़े रहना और उनके साथ जुड़कर के भी बँट जाना, कुछ न कुछ बना रहना सिर्फ इस आस्वाद के लिये कि उनको हम पाते रहें, उनको हम चाहते रहें। पाते भले न रहें बस उनको चाहते रहें, उनकी ओर आकृष्ट रहें उनको निरखते रहें, देखते रहें; सारा कार्य उन्हीं के लिये करें। लोग समझते हैं कि भक्ति से काम में कोई बाधा आती है। अगर काम में बाधा आती तो गोपियाँ चली जातीं पागल हो करके, वृन्दावन से मथुरा कितनी दूर है? किन्तु वे गई नहीं। अब प्रेम के अभिमान में कहिये या एक ऐसी अवस्था में पहुँच जाने पर श्रीकृष्ण की स्थिति को नित्य अनुभव करने का स्वीकरण कहिये, वे जाती नहीं मथुरा; पड़ी रहती हैं वहीं। और जो उद्धव ने उन्हें देखा है तो उनकी प्रशंसा करते हुये यही कहा कि—

''या दोहनेऽवहनने मुसलोपघात-प्रेङ्खेक्षणादिषु सदा तमु गायमानाः।
ध्यायन्ति चैनमनुरक्तधियो सुकण्ठ्यो धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥''

ये देश में, काल में, काम तो सब करती हैं, दही मथती हैं, नवनीत निकालती हैं, चावल कूटती हैं, बच्चे को उबटन लगाती हैं, बच्चे को नहलाती हैं, झूले में झुलाती हैं, गायों को दुहती हैं; सारे काम उनके पूर्ववत् चल रहे हैं, कोई व्यवधान नहीं। प्रातः

समय होता हैं वे दही मथने बैठ जाती हैं। किसी कार्य में कोई व्यवधान नहीं है। लेकिन सब कार्य करते हुए वे करती क्या हैं? "गायन्ति चैनमनुरक्तधियः" उन्हीं को गाती हैं उनके बारे में नहीं गाती, उनकी लीला नहीं गातीं, उनको गाती हैं। जो काम करती हैं, वह श्रीकृष्ण का गायन है। श्री कृष्ण को ही गाती है; यह कार्य नहीं है, यह श्रीकृष्ण का गायन है, अर्थात् सामान्य से सामान्य कार्य भी श्रीकृष्ण का गायन हो जाता है। और वह भी श्रीकृष्ण के लिये है भाव यही रहता है। यह चावल उनके लिये बनेगा, यह मक्खन उनके लिये बनेगा, यह जो झूला झूल रहे हैं, उनके आनन्द के लिये झूला झूल रहे हैं। यह बच्चा भी श्रीकृष्ण हैं, यह उबटन भी श्रीकृष्ण हैं। यह गाय भी श्रीकृष्ण है, यह बछड़ा भी श्रीकृष्ण हैं, यह वृन्दावन भी श्री कृष्ण हैं। सब कुछ श्रीकृष्ण हैं। इसलिये उनका प्रत्यक्षरूप जो होता है वह है "अनुरक्तधियः" उनकी बुद्धि में और कुछ है ही नहीं। रँगी गयी है बुद्धि। काले रंग से रंग दी गयी हैं बुद्धि। उसमें और कुछ भी नहीं रह गया है; और कोई रंग समाता ही नहीं। जितने रंग हैं उनकी कोई अलग पहचान रह नहीं गयी है। केवल एक रंग की पहचान रह गई है। ये इस स्थिति में पहुँच चुकी हैं कि भगवान् भी अगर कहीं जाना चाहें तो उनको गरुड़ यान नहीं चाहिये गोपियों का चित्त ही उनके लिये अनुकूल यान या सवारी होती है। भगवान् को गतिशील देखना हो तो गोपियों के चित्त में आरूढ़ होकर के देखिये, तो पता चलेगा कि भगवान् कहाँ हैं? नहीं तो भगवान् की कोई गति नहीं रह गयी है स्वयं उनके चित्त ही में उनकी गति समा गयी है, उनका चित्त ही उनके अनुकूल यान बन गया है।

ऐसी स्थिति जब आती है तो भक्त की बड़ी ऊँची पहचान हो जाती है। वहाँ फिर कर्म में कहीं बाधा नहीं। अब योग में बाधा कहाँ से आयेगी, जब किसी दूसरे से योग रह ही नहीं गया। श्रीकृष्ण के अतिरिक्त किसी से योग नहीं रहेगा तो वहाँ योग में बाधा क्या आयेगी? योग के लिये इतना प्रयत्न होता है, इतना प्रयत्न होता है कि अनेक जन्म भी कम पड़ते हैं। इधर भागवत में कहा 'दुस्त्यजः तत्कथार्थः' और लोग तो स्मरण करने के लिये प्रयत्न करते हैं, स्मरण में उनकी बात नहीं आती। भगवान् का स्मरण करने बैठते हैं, स्मरण छूट जाता है, कुछ और ही चिन्तन होने लगता है। और गोपियों की स्थिति यह है कि वह चाहती हैं भगवान् को भूलना! भगवान का विस्मरण हो जाय, भूल जाँय, ऐसे स्नेह को भूल जायँ, ऐसे सत्यानाशी स्नेह को भूल जायँ। पर एक क्षण के लिये भी विस्मरण नहीं हो पाता। ऐसा कठिन योग उनका है कि जिसमें कुछ छूट ही नहीं सकता, निकल ही नहीं सकता, तो उसकी स्थिति को तो योग से कहीं ऊपर समझेंगे। योग तो उनके आगे बहुत छोटा है इसलिये अगर कोई सोचे कि भक्ति कर्म का निषेध है, योग का निषेध है ज्ञान का निषेध है तो यह बात नहीं है। भागवत में आता है कि वह गोपियाँ उनके विरह में कहती हैं।

"न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान् सात्त्वतां कुले॥"

हम अच्छी तरह से जानती हैं कि ब्रह्मा ने प्रार्थना की थी तब प्रभु ने यहाँ अवतार लिया है, तुम गोपिकानन्दन नहीं हो। तुम्हारे बारे में यह सोचा जाय कि तुम यशोदा के पुत्र हो तो ऐसी बात नहीं है। ब्रह्मा ने प्रार्थना की है तब तुम आये हो यहाँ पर; और किसलिये आये हो तुम? आये क्यों हो? हमारे प्राणों की धरोहर अपने पास रखने के लिये आये हो। हमारे श्वास-प्रश्वास को अपनी मुट्ठी में लेने आये हो और इसीलिए जरा भी तुम आँखों से ओझल होते हो तो तुम्हें खोजने लगती हैं आँखें कि जिसमें हमारी धरोहर रहती है, वह कहाँ है? न्यासी कहाँ है? "त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते" तो व्याकुलता होती है, हमारे प्राण जिसके पास धरोहर रखे हुये हैं, वह कहाँ है? समस्त जीवन के व्यापार का केन्द्र जहाँ रखा हुआ है वह कहाँ है? तो इस व्याकुलता की जहाँ स्थिति होती है, वहाँ उसकी कोई परिभाषा करना चाहे, कोई लक्षण देना चाहे तो लक्षण ऐसा होगा कि जैसे किसी तरह से उसके पास पहुँचने की कोशिश कर रहे हैं। जैसे सुन्दरता का बखान करते समय आदमी तमाम उपमाएँ देता है कि चन्द्रमा की तरह सुन्दर मुख है, कमल की तरह सुन्दर मुख है, लेकिन सन्तुष्ट नहीं होता। कहता है "नहीं-नहीं, यह कहने से बात बनती नहीं, शायद चन्द्रमा ही उस रूप की तरह सुन्दर है, तब भी बात नहीं बनती। उस की तरह कोई मुख है ही नहीं। केवल वही मुख अपने मुख की तरह है।" तो सारी बातें कब कहता है? जब आदमी कुछ वर्णन नहीं कर पाता। ऐसे ही भक्ति के बारे में कोई 'इदमित्थम्' वर्णन नहीं कर पाता।

भक्तिसूत्र में कहा है ''परानुरक्तिरीश्वरे'' ईश्वर में ऐसी अनुरक्ति, ऐसी अनुरक्ति कि जिसकी कोई कोटि न बनाई जा सके। ज्ञान की और वैराग्य की कोटि निर्धारित की गयी है, पर भक्ति की कोई कोटि निर्धारित नहीं की जा सकती, अनुमानतः बतायी जा सकती है—''यथा गोपाङ्गनानाम्'', सादृश्य के आधार पर बतायी जा सकती है कि जैसे उनकी भक्ति। भक्ति की परिभाषा इसलिये नहीं हो सकती कि परिभाषा करने वाला जो चित्त है वह सब काम कर ही नहीं पाता। परिभाषा करेगा तो केवल एक ही परिभाषा करेगा कि एकबार लाक्षा का रङ्ग बनकर के देखो और जब लाक्षा का रङ्ग बन जाओगे तो तुम परिभाषा ही न कर पाओगे। इसमें जो अहङ्कार का क्षरण होता है वह दूसरे ही प्रकार का क्षरण होता है। अन्य जो मार्ग हैं उनमें अहङ्कार विगलित होता है। बहुत अच्छी तरह से विगलित होता है, यहाँ तक कि कार्य करते समय भी विगलित होता है, लेकिन विगलित होने के बाद भी अनुभविता का स्मरण रहता है, यहाँ भक्ति में अनुभविता का स्मरण नहीं रहता है, केवल अनुभवों का स्मरण रहता है। अनुभव का ही स्मरण रहता है कि हम अर्थात् क्या हैं? श्रीकृष्ण के प्यार के विग्रह हैं। प्यार के क्षण हैं, इस अनुभव का तो स्मरण रहता है। लेकिन ''मैंने उन्हें पाया था या वे ऐसे हैं'' ऐसा कुछ नहीं रहता। यानी न जाने वे कैसे हैं, न जाने मैं कैसी हूँ। बस इस स्थिति का अनुभव है जिसमें उन्होंने पहुँचा दिया है। अब इस स्थिति से पीछा नहीं छूटता, तो क्या वर्णन करेगा कोई?

मेरा निवेदन यही है कि भक्ति के बारे में आज जिस दृष्टि से विचार करने की आवश्यकता है, वह है कि भक्त तो वही है जो अपनी इयत्ता उनको सौंप चुका है और सौंपने के बाद भी वह उनकी ओर आकृष्ट है। सब कुछ दे दिया तब क्या? लुट गये तब क्या? नहीं, और लुटना है। शायद लुटने के लिये कुछ हमारे पास और चीजें बचीं हुई हैं। शायद लुटने का भाव ही बचा है तो यह भी देना है। देने का कोई अन्त नहीं है। अर्पण का कोई अन्त नहीं है। समर्पण की कोई सीमा नहीं होती। इसके लिये कुछ कथाएँ प्रसिद्ध हैं, लोग बताते हैं कि रुक्मिणी के मन में थोड़ी ईर्ष्या थी कि भगवान् एकान्त प्यार हमसे नहीं करते और उस गाँव की छोकरी से करते हैं। तो वैसी क्या बात है उसमें? आज भी स्वप्न में उसका नाम लेते रहते हैं। तो उन्होंने श्रीकृष्ण से पूछा तब वे बोले कि बताने की बात नहीं, तुम चलो हमारे साथ। वे ले जाते हैं यमुना के तटपर और अपना केश उखाड़ करके एक लरकी एक डोरी बनाते हैं। इस पार की खूँटी में बाँधते हैं, उस पार की खूँटी में बाँधते हैं और कहते हैं घड़ा भर के देता हूँ मैं; मेरे एक केश की लर पर जाओ उस पार पहुँचा दो। तुम्हारा प्रेम तो अथाह है ही इसमें सन्देह नहीं। पहले रुक्मिणी को देते हैं; वे उस पार पहुँच जाती हैं। घड़ा बीच में ही गिर जाता है। राधिका जी को देते हैं तो राधिका घड़ा लेकर चली जाती हैं और घड़ा लेकर फिर इस पार वापिस भी आ जाती हैं। तो रुक्मिणी कहती है कि हम तो हार मान गये सखी! तुम बताओ किया क्या तुमने? हुआ कैसे? उसका एक उत्तर था कि बहन मैं तो गई ही नहीं। प्रिय का दिया हुआ घड़ा ले गया। मैं नहीं गई। बस एक चीज बची रही सब कुछ चला गया। प्रिय का दिया हुआ घड़ा है। प्रिय के हाथ से भरा हुआ घड़ा है। वह घड़ा ही है कर्त्ता, मुझमें कर्तृत्व नहीं है। अनुभव है कि घड़ा भर के मुझे दिया गया बस वह घड़ा ही है, मैं नहीं हूँ, घड़े को ले जाना ही मैं हूँ। मैं यह क्रिया हूँ कि घड़ा जाय। और कैसे जाय! मैं यह नहीं जानती। घड़े को जाना है सारा मन चित्त, शरीर, इन्द्रिय उस घड़े को पहुँचाने के प्रयोजन में विलीन हो गया है। यह उत्तर है उसका जो हमारी-आपकी समझ में न आये। लेकिन रुक्मिणी को समझ में आ जाता है कि कहीं कुछ कमी रह गयी है। इतना बड़ा प्यार है लेकिन कहीं कुछ कमी रह गयी है।

अतः भक्ति का कोई सोपान ही नहीं होता है। कोई सोपान निर्धारित नहीं हो सकता है तो यह जो भाव है, यहाँ विसर्जन का कोई अन्त नहीं है, समर्पण का कोई अन्त नहीं है। समर्पण का कोई छोर या सीमा होती तो अपनी पगधूलि देने के लिये गोपी तत्पर नहीं होतीं। देवर्षि नारद को भी एक बार ऐसा लगा कि हम तो इन्हें इतना प्यार करते हैं सात्त्विक भाव से प्यार करते हैं और ये गँवार गोपियाँ कुछ पढ़ी लिखी नहीं और इतनी इनकी महिमा है, तो कहा भगवान् से। प्रसङ्ग छेड़ दिया कि हमने वेदान्त का अध्ययन किया, वेदों का अध्ययन किया कीर्तनगायन में सबसे निपुण हैं, फिर गोपियों की भक्ति क्यों श्रेष्ठ है? उनमें कुछ है नहीं। तब उन्होंने कहा 'कभी देख लेंगे' कभी तुमको बता देंगे। फिर उन्होंने शिरोव्यथा का नाटक किया और कहा कि

किसी से ठीक ही नहीं हो रही है। सब दवा लाये कुछ नहीं बना। दर्द कुछ नहीं घटा। अब यह लीला का नाटक, नटवर का नाटक, कहाँ से कोई पूरा कर सकता है? व्यथा नहीं घटी तो कहा कि क्या चाहिये? कैसे यह व्यथा दूर होगी? भगवान् ने कहा—यह मिट सकता है यदि कोई भक्त अपनी पगधूलि दे दे। तभी नारद सब भक्तों के यहाँ गये, रानियों के यहाँ भी गये। ''श्रीकृष्ण को शिरोव्यथा है, यह औषध है'' नारद ने कहा। तब सब ने कहा ''पगधूलि देकर के अपनी गति बिगाड़ूँगीं? मैं नहीं दूँगीं। पगधूलि मैं भगवान को दूँगीं? मैं अपनी गति नहीं बिगाड़ूँगीं'' किसी ने नहीं दिया। ब्रह्मा के पास गये, सनकादि आदि के पास गये, सबके पास गये, किसी ने नहीं दिया शिव के पास गये। शिव ने कहा भगवान को चरणरज देने का तो स्वप्न में भी कभी ख्याल नहीं किया। तो सबसे अन्त में हार मान करके गोपियों के पास गये। उन्होंने कहा ''कितनी ले जाओगे? एक मन, दो मन जितनी जरूरत है ले जाओ'' उनको नरक की चिन्ता नहीं है, उनको चिन्ता इस बात की है कि प्रिय की शिरोव्यथा दूर हो। उनके सुख में सुखी होना केवल इतना नहीं है और उनके दुख में दुखी होना इतना ही नहीं है ''तत्सुखे सुखित्वम्'' वे सुखी हो जाँय उसमें हमारा सुख है। हमारा सारा पुण्य, हमारी सारी साख, हमारा सब जो कुछ भी है जितना भी है सब उनके सुखी होने में है। उनके सुखी होने का साधन बनें तो हमारा जीना सार्थक है। तो इसलिये जिसमें उनको सुख मिले हम दे देंगे। इसलिये उनको 'भागवतोत्तम' कहा जाता है। उनको सबसे उत्कृष्ट भक्त कहा जाता है। उनको भक्ति का प्रतिमान कहा जाता है भक्त चाहे किसी के हों उस भक्ति को पराकाष्ठा माना जाता है।

वैसी भक्ति आज के लिये इसलिये सन्दर्भयुक्त है, कि आज तमाम विषमताएँ तमाम विष, कालिन्दी के कालिय के विष से अधिक विष घोलने वाले हमारे चारों ओर हैं। ग्यारहवीं बारहवीं शताब्दी के कवि का एक श्लोक याद आता है।

''मथुरापथिक! मुरारेर्वचनीयम् इदम् वचनम्।
पुनरपि यमुनासलिले कालियजलधौ गरो ज्वलति॥''

''हे पथिक! मथुरा जा रहे हो तो मुरारि को जरा संदेश दे देना। यह गोपियों का वचन सुना देना कि फिर से जमुना में कालिय का जहर खौल उठा है।'' आज जैसा कालिय का जहर खौल रहा है वैसा शायद उस समय भी नहीं खौला होगा। एक से एक विद्वेष, अविश्वास, शङ्कायें, अप्रीतिकर भाव है। कौन इस जहर को मथेगा? और खेल-खेल में कौन मथेगा? लीला के भाव से इसको कौन मथेगा कि कालिय नहीं मरेगा कालिय का जहर मर जायेगा।

जहर ही को मारने की आज जरूरत है। किसी को मारने की नहीं जरूरत है। वह जहर मर सकता है केवल ऐसे ही के साथ जुड़ने से, जिसके साथ जुड़ने पर आदमी की केवल महत्ता का बोध नहीं जाता आदमी की क्षुद्रता का भी बोध चला जाता है। आदमी अपने को छोटा भी नहीं समझता, बड़ा तो नहीं ही समझता, अपने को कुछ भी नहीं समझता, न छोटा समझता है न बड़ा समझता है, न बराबर का समझता है। आदमी को सिर्फ यही लगता है कि हम श्रीकृष्ण के हैं। हम तदीय हैं, यह 'तदीयता' जो आ जाय, परकीयता आ जाय। परकीयता कोई दूसरी चीज नहीं हैं कोई नैतिकता की दृष्टि से प्रश्न करते हैं कोई दूसरी दृष्टि से प्रश्न करते हैं, किन्तु परकीयता का अर्थ है कि हम, अपने रह न जायँ। हम उस पराये के हो जायँ जो परात्पर है। यह स्थिति आ जाय बस यही चाहते हैं। उससे क्षुद्रता का भी बोध नहीं रहता कि हम ब्रहुत छोटे हैं। भगवान् के साथ जो जुड़ा हो उसे क्षुद्रता का बोध होगा? फिर भगवान् के साथ जुड़ा होगा उसे बड़प्पन का बोध रह जायेगा? न बड़प्पन का भाव न छुटपन का भाव। न द्वेष करने का भाव, न द्वेष जिसको होता है ऐसा भाव। न रहे द्वेष और न द्वेष के पात्र का भाव, न ''यह मिल जाय, वह हो जाय''—ऐसी कामनायें रहें। यह आवश्यकता इस विश्व की है, और इसीलिए आज इतने आन्दोलन हो रहे हैं, इतने आन्दोलनों के नाटक भी हो रहे हैं। सबमें यही पुकार उठ रही है। एक आवेश है, एक चित्त की दशा है जिसमें जो कुछ अशुभ दीखता है वह पड़ जाय तो शुभ हो जाता है। कुछ भी अशुभ नहीं रह जाता। करपात्री जी महाराज कहते थे कि कोई आदमी अपना तमस् नहीं सौंपता, छिपाकर रखता है, अपना मोह छिपाकर रहता है। अपने भीतर अगर कोई कलुष हो तो उसे छिपाकर रखता है। लेकिन वह भी देय है, तामस अनुराग जो होता है सबसे प्रतिष्ठित अनुराग होता है। तम को भी न रहने दें अपने भीतर, सब कुछ तुम्हीं हो, तम भी तो तुम्हीं हो, अन्धकार भी तुम्हीं हो। हम यह कैसे कहें कि तुम अन्धकार सौंपने लायक नहीं। चित्त

का यह द्वेष, यह कलुष कि कहाँ इस काले से प्यार किया? यह भी सौंपने लायक है। अगर इसको सौंप दें, इसके लिये भी वहीं अपने भीतर उनको जगह दे दें, यह भी उन्हीं को समर्पण कर दें, तो फिर कुछ बचता ही नहीं। कुछ भी नहीं बचता, सब कुछ उनका रूप हो जाता है यह स्थिति एक आवश्यकता होती है। जब कि वही रह जाय, और कुछ रह न जाय। केवल कलुष ही रह गया हो तो उस कलुष को सौंपने के लिये उपयुक्त आश्रय कोई सोचना चाहिए। और जब सोचेंगे तो स्वभावत: श्रीकृष्ण से बढ़कर के किसी का ध्यान नहीं आयेगा।

डॉ० लोहिया जैसे आदमी भी यही कहते थे कि ऐसी दुर्निवारता है कि श्रीकृष्ण को प्यार न करें तो बनता ही नहीं है कुछ। उनको प्यार किये बिना सोचा ही नहीं जा सकता कि जीवन का कोई अर्थ है। काले हैं ? छलिया है ? हैं। फिर सारे संबन्धों का विनाश करने वाले हैं, किसी को भी अपने घर नहीं रहने देते हैं, जन्म से ही घर उजाड़ते ही रहे हैं। गाँव शहर न जाने कितना उजाड़ा है। उजाड़ने का ही काम करते रहे हैं, कोई ठौर किसी को देते ही नहीं रहने को। ऐसे ही आदमी की तलाश है। क्योंकि कोई ठौर रहने लायक रह नहीं गया है। कोई दूसरी ठौर रह नहीं गयी है रहने लायक। इसलिये ठौर की तलाश है। सम्बन्ध भी अब सम्बन्ध नहीं रह गये है। सारे सम्बन्ध इस प्रकार से लगते हैं, जैसे परायेपन के सम्बन्ध हो गये हैं। कोई अपना नहीं दीखता है, अपनेपन का भाव नहीं रह गया है, इसलिये इनकी आवश्यकता है। अपनेपन को पाने के लिये, अपनेपन का अर्थ समझने के लिये और अपने की तरह जो परायेपन का दंश है उसको भी उसको सौंपने के लिये एक आवश्यकता है। उस आवश्यकता के लिये, भक्ति की आवश्यकता है और भक्तितत्त्व को समझने से अधिक उस भक्ति के जो भी व्यञ्जित रूप हमें दीखते है भारतीय कला में, कविता में, संगीत में, उनको समझने की जरूरत है। इस समझ को उसी को सौंप देने की जरूरत है। जरूरत नहीं है कि इसमें अमुक रस है? इसमें अमुक विभाव है, इसमें अमुक राग है, इसमें अमुक ताल है, कुछ नहीं, बस उस समझ में, उस रस में डूब जाने की जरूरत है। 'वही' हो करके फिर एक छटपटाहट के अनुभव की जरूरत है, जो हममें कुछ है भी, नहीं भी है।



.३.

प्रथम स्मारक व्याख्यान माला में

दि० ३.१२.१९९९

प्रो० राय आनन्द कृष्ण

मैं आज अपने आपको बहुत छोटा महसूस कर रहा हूँ, विशेष रूप से पं० विद्यानिवास मिश्रजी का जो इतना सुन्दर प्रवचन था, वे जिस प्रकार विह्वल हो कर, अपने आपको समर्पित करके भाषण दे रहे थे उसके बाद कुछ कहना बड़ा कठिन है।

*यहाँ डेढ़ दो सौ व्यक्तियों को हम देख रहे हैं। ये सब एक बिन्दु पर आकर स्थिर हो जाते हैं और वह बिन्दु है बहन प्रेमलता जी का व्यापक क्षितिज। एक बहुत बड़ी व्यापक वात्सल्यमयी मूर्त्ति, एक सहज प्रेम की धारा, एक आदर्श व्यक्तित्व की छवि, ऐसा लगता है कि उनकी आवाज कहीं से आ रही है। बीच-बीच में सुनाई पड़ रही है। उनकी एक वैराग्यसहित स्नेहभरी हल्की सी मुस्कान किसी अच्छी बात को सुनने के बाद झलक जाती है आँखों में। बड़े नपे तुले शब्दों में अपने को अभिव्यक्त करने की शक्ति उनमें थी। और इस सबके साथ-साथ उन्होंने जीवन में भी एक कर्त्तव्यमयी निस्सङ्गता प्राप्त की थी, इसे जिया था दैनिक व्यवहार में। वे जुझारु थीं, लेकिन बिल्कुल निस्सङ्ग। किसी भी चीज से उनका ऐसा लगाव नहीं था कि जो उससे उनको बाँध सके। उनको बाँधने वाली कोई वस्तु या शक्ति नहीं थी। इसलिए वे उन्मुक्त थीं लेकिन साथ-साथ साङ्गोपाङ्ग अपने कर्त्तव्य में डूबी हुई थीं।

मुझे तो उनसे शिक्षा लेनी चाहिए, मेरे कम से कम एक दर्जन काम अधूरे पड़े हैं। लेकिन बहन जी ने जो काम उठाया— कहाँ से कहाँ तक विविध क्षेत्र थे उनके काम के—पर भरसक सब पूरे किए। रागकल्पद्रुम एक बहुत बड़ा ग्रन्थ है उसमें पुरानी बन्दिशों का बहुत बड़ा संग्रह है। भारतकलाभवन में उसकी प्राचीन प्रति संरक्षित है। इसके लिए वे मुझे भी वहाँ ले गई थीं आ० कपिलाजी ने बहन जी को कहा था कि उसे टिप्पणी सहित सम्पादित करिये। उनकी सूक्ष्म दृष्टि की बात कर रहा हूँ। कोने में बैठकर ग्रन्थ को उलटते-पुलटते हुए देख रही थीं, उसके हाशियों में मेरे पिताजी की लिखावट में पेन्सिल से लिखे हुए बड़े सूक्ष्म notes थे। वे कुछ पढ़ पाईं, कुछ मुझ से पढ़वाया, और कहा कि इस ग्रन्थ की कुंजी तो इसमें है। इसके बिना यह काम कैसे किया जा सकेगा। उन्होंने एक योजना भी बना कर कपिलाजी को दी थी। उसमें और भी सहयात्री उनके साथ होते। हर काम में वे नई पीढ़ी को दिशा निर्देशन करती चलती थीं कि शोध-धारा बहती रहे। पर राजनीतिक हलचल-हचकोलों में वह कार्यान्वित नहीं हो पाई।

कोई भी बड़ा काम उनके लिए दुर्गम नहीं था। और कोई शब्द या अर्थ उनकी राह को रोकने वाला नहीं था। कोई प्रश्न उठते ही हम जैसे अज्ञों से भी वे टेलीफोन पर तुरन्त सम्पर्क करके पूछतीं—''भई ऐसा लिखा है-इसका क्या अर्थ होना चाहिए?'' मैं कहता-''बहन जी! जब आप इसे हल नहीं कर पाईं तो मैं क्या अर्थ करूँगा?'' पर वे चर्चा करके कुछ न कुछ अर्थ निकलवा ही लेती थीं, कभी नहीं भी हो पाता था पर वे पूछने में कभी हिचकती नहीं थी।

पीढ़ियाँ गुजर गईं और गुजरती जायेंगी। भरतमुनि ने जो कहा वह कितना किसी को समझ में आया कितना नहीं आया, और भरतमुनि तथा अभिनव गुप्त में (जिन्होंने उनके नाट्यशास्त्र पर टीका-व्याख्या लिखी 'अभिनव भारती')—कितना बड़ा समय का अन्तर था। इम लोग तो इतिहास के विद्यार्थी हैं, कोई उन्हें (भरत को) पहली-दूसरी ईस्वी का मानते हैं, हमारे मन में तो छाप यही है कि वे पूर्वी छठी-ईसा पूर्व के थे, वह न मानें तो भरतमुनि के लेखन में जो सांस्कृतिक परिवेश है वह सिद्ध नहीं होता। जिस युग की बात कर रहे हैं वह बहुत पुराना है। यह हो सकता है कि बहुत से ग्रन्थों की तरह भरतनाट्यशास्त्र में भी बाद में कुछ जोड़ दिया गया हो, किन्तु उनका जो मूलस्वर है वह बहुत पहले का है। पिछले बारह-चौदह सौ वर्षों में जो सङ्गीत का प्रगति-विकास हुआ और फिर काश्मीर शैवागम की जो उस पर छाप लगी—उस सब को लेकर इतने बड़े समय की खाई को सम्हालते हुए यह बहन जी के ही बल-बूते की बात थी कि दोनों में सामञ्जस्य साध सकें, दोनों के व्यक्तित्व को पृथक् रखते हुए भी दोनों के कथ्य में एकरूपता को आँककर समझा सकें। और उन ग्रन्थों को पढ़ने-पढ़ाने की पद्धति चला दी। तभी तो 1994 में यहाँ सं० ना० अकादमी के सेमिनार की पूर्णाहुति में डॉ० मुकुन्द लाठ ने कहा था—कि **भारतीय सङ्गीतशास्त्र के 'बनारस-घराने' की उपज बहुत बड़ी है।**

मैं समझता हूँ कि बहिन जी से अधिक किसी ने भरतमुनि को और अभिनवगुप्त को नहीं समझा है कम से कम सङ्गीतशास्त्र की दृष्टि से। हम लोग वञ्चित हैं कि उनसे सीख-समझ नहीं सके। वे तो बराबर गङ्गाजल की तरह बहती जाती थीं। हमने उसमें अवगाहन नहीं किया, आचमन नहीं किया यह हमारी भूल है। लेकिन वे जो मार्ग प्रशस्त कर गई हैं वह तो पीढ़ियों तक लोगों को प्रोत्साहित करता रहेगा, मार्गदर्शन देता रहेगा। मेरा ऐसा मानना है कि इससे बढ़कर उनके प्रति श्रद्धाञ्जलि और कोई नहीं हो सकती कि उनका जो एक बहुत बड़ा परिवार है वह इस दिशा में सक्रिय रहे। बड़े आश्चर्य की बात है कि जिसने परिवार-संसार किया नहीं उसका इतना विशाल परिवार है—देश-विदेश में फैला हुआ। कितने ही लोग जो आज यहाँ* नहीं आ सके, वे अपने-अपने स्थान पर बैठे हुए उन्हें अपनी श्रद्धाञ्जलि दे रहे होंगे।

मैं इस दृष्टि से व्यक्ति को महत्त्व देता हूँ। कोई व्यक्ति स्वयं साधन-परिश्रम करके किसी अच्छे पद पर पहुँच जाता है, पर उससे अधिक मैं उस व्यक्ति महत्त्व देता हूँ जो केवल अपनी पद-प्रतिष्ठा के लिए श्रम न करके विद्या के प्रसार के लिए और अन्यों का मार्ग प्रशस्त करने के लिए परिश्रम करता चला जाता है। जो अपने अनुयायियों को रास्ता दिखाते हुए चलता है। जैसे कि हमारे लिए विद्यानिवास जी हैं—उनके पास मेरी सबसे अधिक शिकायत यह है कि उन्होंने इतना बड़ा मार्ग प्रशस्त किया किन्तु अनुयायी नगण्य से रहे। किसी को अनुयायी बनाते नहीं। इनके ज्ञान से 'विदग्ध' होकर कौन 'जलने' (ज्ञान को गुढ़ने) आए इनके पास? इनकी शैली में बोलने-लिखने-समझाने वाले कितने हैं सामने? बहिन जी का ऐसा नहीं था। उनका 'घराना' चलाने वाले बहुत हैं। पर इनकी शैली में तो अथाह सागर है। कुमारस्वामी उसमें हैं, रवीन्द्रनाथ उसमें हैं, हजारी प्रसाद जी उसमें हैं, अज्ञेय जी भी उसमें हैं, और स्वयं अपने में आप तो हैं ही। एक बार वे भाषण दे रहे थे कुमारस्वामी पर पटना में। फिर मुझ से पूछने लगे कि "कैसा भाषण हुआ?" कहना बड़ा कठिन था, मैंने कहा कहीं तो लगता था कुमारस्वामी बोल रहे हैं और कभी लगता था विद्यानिवास मिश्र बोल रहे हैं। अब वे प्रसन्न हुए या क्या मैं नहीं जानता लेकिन दूसरे दिन आकर कोप मुझ पर जरूर किया। और कहा क्या बोला यह तो मैं नहीं जानता लेकिन विद्यानिवास बोल रहे थे तो बहुत बड़ी बात थी।

यह है कि जो व्यक्ति किसी कार्य में लगता है, जो अनुसन्धान करता है, जो उसके अन्दर डूबता है, वह स्वयं नहीं बोलता, उसका शरीर बोलता दिखता है पर उसके भीतर का ज्ञान बोलता है।

---

* काशी हिन्दू वि० वि० के 'भारती महाविद्यालय'—College of Indology का व्याख्यान-कक्ष (गैलरी)। इसी नाम से तब यह जाना जाता था जब बहन जी संस्कृत एम० ए० तथा आगे के अध्ययन के लिए का० हि० वि० आई थीं। इसीलिए यह प्रथम स्मारक व्याख्यान भी मैंने यहीं आयोजित किया।—ऊर्मिला

ऐसी ही एक बात कहकर पूरा करूँगा—हमारे यहाँ एक कहावत है कि जब लड़की विदा होती है तब कहते हैं ''विदा हुईं रानी।'' पहले तो छोटे-छोटे बच्चों को गोद में लेकर उनका विवाह हो जाता था। ऐसे में एक बार वर पक्ष वालों में से किसी ने कह दिया—''वर ठाढ़ होय तो जानीं'' क्योंकि वह लंगड़ा था। सो एक बार बहन जी के साथ कहीं सभा में जाते समय 'कार' में मैंने कह दिया कि बहन जी! अब तो उठने-बैठने में यह हाल हो गया है (अवस्था के कारण) कि ''वर ठाढ़ होय तो जानीं''—सुनकर वे इतनी हँसीं कि लोट-पोट हो गईं, ऊर्मिला बहन भी साथ थीं, फिर कितनी ही बार यह पूरी बात दोहरा-दोहरा कर मुझ से सुनवाई—इतनी सरल थीं। उन सब स्मृतियों की थाती रह गई है बस॥

बहन जी जो कह गईं, लिख गईं, कर गईं उस सब को उनका शिष्य-परिवार सम्हाल कर संजोये और आगे बढ़ाता रहे—इसी आशा और शुभकामना के साथ बहन जी को श्रद्धाञ्जलि देता हूँ।

एक बात और मैं कहना चाहता हूँ इस सभा से कि आज से यह निश्चय करें कि बहन जी को हम **'अभिनव-भारती'** नाम से स्मरण करेंगे।



.४.

अध्यक्षीय भाषण

—डॉ० भानुशङ्कर मेहता—

पं० विद्यानिवास मिश्र जी! आनन्दकृष्ण जी! विद्वज्जनो! माताओ बहनो!

बड़ा ही उपयुक्त हुआ कि बहन जी की स्मृति में पं० विद्यानिवास जी ने हमें भक्तिगङ्गा में अवगाहन कराया। जिससे हमारे सबके मन अवश्य ही पवित्र हुए होंगे। बहन जी की स्मृति के लिए इससे अच्छा और कोई कार्य नहीं हो सकता था। भाई आनन्द कृष्ण ने स्मृतियाँ आन्दोलित कीं।

मैं बहन जी को कब से जानता हूँ, इसकी याद करता हूँ तो सङ्गीत परिषद द्वारा आयोजित उस आरम्भिक सङ्गीत-सम्मेलन की याद आती है जिसमें बहिन जी पहली बार आयी थीं—सङ्गीतमार्तण्ड पं० ओंकारनाथ जी की शिष्या। स्वयं पण्डित जी स्टेज के नीचे खड़े थे और बता रहे थे कि हमारे भारतीय सङ्गीत में बड़े ही कठिन ताल हैं, हमारी यह शिष्या आज आपको उन कठिन तालों में और भी कठिन लयकारियाँ दिखाएगी। ७/१०, १०, २/९, ३/४ २/५ १/४ ऐसी ही कई विचित्र आड़-कुआड़ गतियों की चर्चा की और बहन जी ने वह सब गाकर, ताल देकर दिखाया। शायद सबको तो वह बारीकियाँ समझ में नहीं आयीं, लेकिन एक बात समझ में अवश्य आई कि कुछ अत्यन्त ही कठिन काम किया जा रहा है। कठिन से कठिन तालों का कठिन से कठिन लयों में प्रदर्शन वे कर सकती हैं।

उसके बाद के बहुत से प्रसङ्ग हैं। मेरे अनुरोध पर कलकत्ता में, 'अनामिका' नामक संस्था में मैंने एक विचार गोष्ठी का आयोजन किया गया था भरत के नाट्यशास्त्र पर। उस समय भरत का नाट्यशास्त्र एक संग्रहालय की वस्तु माना जाता था। उसको पढ़ना क्या। उसे किसी म्युजियम में रख देना चाहिए—ऐसी धारणायें थीं।

इस गोष्ठी में दो बातें हुई—एक तो डॉ० प्रतिभा अग्रवाल ने कहा कि हम एक स्मारिका निकालेंगे, उसमें केवल भरतनाट्यशास्त्र-सम्बन्धी लेख होंगे, सबने मिलकर एक सूची बनाई। उसमें यह आया कि 'चारी' पर एक लेख बहन जी का होगा। मैंने उनसे अनुरोध किया कि ऐसी एक स्मारिका निकाल रहे हैं, उसमें आपको चलना ही होगा और उस स्मारिका में 'चारी' पर आपका एक लेख होगा। बोलीं ''ठीक है, मैं लिख दूँगी'' बाद में मुझे पता लगा कि उनको यह मुसीबत हुई कि वे चारी के विषय में प्रयोग सम्बन्धी बहुत कम जानती थीं। उन्होंने यहाँ के प्रख्यात नृत्यकार एवं भरतनाट्यम् के शिक्षक सी० वी० चन्द्रशेखर को बुलवाया। उनसे कहा कि ''ना० शा० में चारी के विषय में जो लिखा है—वे चारियाँ मुझे करके दिखाओ तब मैं लिखूँगी।'' मैं नहीं जानता कि कोई और दूसरा ऐसा विद्वान् होगा, जो किसी प्रतिपादित वस्तु को करके देख के पूरा समझ ले, तभी लिखे। संस्कृत में श्लोक थे नाट्यशास्त्र के, वे चाहतीं तो बड़ी आसानी से लिख सकती थीं, मगर नहीं। उन्होंने कहा मैं ऐसे नहीं कर सकती कि जिस विषय को जानती नहीं उस पर केवल शाब्दिक व्याख्या लिख डालूँ। यह नृत्य की बात है तो नृत्याचार्य से समझ-देखकर ही लिखा जायेगा। यह नहीं कि जो नृत्य जानता नहीं वह ना० शा० के चौथे अध्याय पर लेख लिखे।

कलकत्ते में जब वे गयीं, तब बनारस से जो टोली हमारे साथ गई थी उसमें कमलेशदत्त तो थे ही, ठाकुर जयदेव सिंह भी थे, प्रेमलता जी तो थीं ही। ऐसा एक समाँ बँधा कि नाट्यशास्त्र को जानने वाले केवल बनारस में ही हैं। पाँच दिन के सेमिनार में इन सबने इतनी अधिक प्रतिष्ठा पाई, इतना ज्ञान दिया कि उस समय सारे देश में फिर नाट्यशास्त्र की धूम मच गई। अभिनव-गुप्तपादाचार्य की वहाँ बार-बार चर्चा हुई। और, आपको मालूम होना चाहिए कि काशी में, उज्जैन में, और भी अनेक जगह नाट्यशास्त्र पर सेमिनार हों-यह बात तय हो गयी। एक ही व्यक्ति तो भरतनाट्यशास्त्र पर सब नहीं लिख सकता। और बहुत से कार्यक्रम देश में हुए, काशी में भी हुए। स्वयं बहन जी ने अपने सङ्गीतशास्त्र विभाग में अभिनव गुप्त पर आधारित विचार गोष्ठियाँ दो बार कीं। वे दिन थे जब बहन जी यहाँ थीं और ठाकुर जयदेव सिंह भी थे। तब हमें लगता था कि हमारे पास सब कुछ है।

केवल लिखने की बात नहीं। उन्होंने बहुत कुछ लिखा है, बहुत अध्ययन किया। 'भरत' और 'भारती' के अध्ययन के बाद संस्कृत नाटक को पुनः स्थापित पुनरुज्जीवित किया क्योंकि भरतमुनि की बातें स्थापित करने की बात उनकी बुद्धि में आई। बहन जी ने कुछ नाटक चुने कालिदास और भवभूति के, फिर ''अभिनव भारती'' नाम से एक विद्वानों एवं कलाकारों का संगठन खड़ा किया। ना० शा० की पद्धति से इन नाटकों के पूर्वरङ्ग के लिए सब कुछ स्वयं लिखा, प्राचीन कण्डिकायें, ध्रुवायें आदि लिखीं, सूत्रधार आदि नटों के लिए संस्कृत में संवाद लिखे, पूर्वरङ्ग की पूरी नाटिका स्वयं संस्कृत में लिखी।

बीच-बीच में मुझे बुला लेतीं कि ''नाटक का अभ्यास हो रहा है, देखिए, इसमें बताइए कहाँ क्या होना चाहिए।''

नाटक संस्कृत में होते थे, मैं संस्कृत का बिल्कुल भी जानकार नहीं हूँ। मगर बराबर तकनीकी सलाह लेतीं थीं।

एक बार पुनः इन बहन जी एवं उन सब बन्धुओं के प्रयास से हमें काशी में सक्रिय संस्कृत-रङ्गमञ्च (भरत-प्रतिपादित के अनुरूप) देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। अगर बहन जी रहतीं तो अब पुनः और प्रयास हुए होते; वे सङ्गीत नाटक अकादमी तथा श्री बी० वी० कारन्त के सहयोग से यहाँ बहुत-कुछ करने की योजना बना रही थीं।

बहन जी द्वारा संग्रथित अनेक कार्यक्रम उज्जैन में कालिदास समारोह में हुए। ''मालविकाग्निमित्रम्'' की सम्पूर्ण प्रस्तुति करायी; 'रघुवंश' के सीता-परित्याग प्रसङ्ग को बहिन जी ने सङ्गीत दे कर गीति-नाट्य की भाँति प्रस्तुत करवाया। कालिदास की सभी कृतियों के मङ्गलाचरणों को भी स्वयं सङ्गीतबद्ध करके एक साथ भव्य प्रस्तुति करायी थी। उतने वर्षों तक उज्जैन के कालिद्रास समारोह में का० हि० वि० को ही 'स्वर्णकलश' मिलता रहा।

कालिदास समारोह उज्जैन में एक और अद्भुत कार्यक्रम हुआ था—विक्रमोर्वशीयम् के चतुर्थ अङ्क का अभिनय। एक तो केरल के कलाकारों ने किया था, यह त्रिकोण मञ्च पर था। यहाँ विशेष बात थी; पहले कभी भी, और इधर भी त्रिकोण मञ्च का प्रयोग नहीं देखा गया था। एक समूह था रतन थियाम् जी का, उन्होंने मणिपुर की शैली में उसका अभिनय किया, और पणिक्कर जी ने केरल शैली में किया। फिर एक दिन कालिदास अकादमी ने बहिन जी के निर्देशन में उसी का अभिनय करवाया। मैं ने तीनों देखे थे। तीनों तीन भिन्न प्रयोग थे। कहीं भी किसी और की छाया नहीं थी। कालिदास की विशेषता भी मालूम हुई, उसकी चर्चा अलग है, लेकिन उसमें बहिन जी ने एक खास कमाल का काम किया था—उसका उल्लेख करना है। नाट्यशास्त्र में ध्रुवा-गायन की बात है, पर कहीं भी वे गायी नहीं जाती हैं। बहिन जी ने एक शोधकर्त्ता की तरह ध्रुवाओं के सङ्गीत का निर्माण किया और उन्हें वहाँ गवाया। आगमन और निष्क्रमण की ध्रुवायें तो गवाईं ही, और भी अनेक प्रकार की ध्रुवायें गवाईं। जापानी नाटकों में अभिनेता के आने और जाने के समय जो एक अलग तरह का सङ्गीत होता है उसमें आगम-निष्क्रमण की ध्रुवाओं का कुछ रूप है। किन्तु **चमत्कार तो तब हुआ जब रस में डूबे श्रोता को उसमें से उबारने के लिए ध्रुवा प्रस्तुत की गयी। बहिन जी ने वह ऐसी ध्रुवा गवाई कि सारा माहौल बिल्कुल बदल गया। पुराने रङ्गमञ्च में परदे नहीं होते। बस उस ध्रुवागान के माध्यम से बहिन जी ने सारा माहौल बदल दिया।** वह एक अद्‌भुत चमत्कार जैसी चीज थी। मैं साक्षी हूँ, मैंने उसे देखा, सुना। यह बात कहीं दोहरायी नहीं गयी। ध्रुपद-गायन पर तो बहुत शोध हुआ है लेकिन ध्रुवागान का शोध केवल बहिन जी तक सीमित रहा।

उनके कितने अवदानों की बात कही जाय! कहने लगें तो दिन पर दिन बीतते जायेंगे। वे जब सङ्गीत महाविद्यालय की प्रधान थीं तब बहुत से सेमिनार करवाती रहीं। उनमें से एक सेमिनार का विषय था—दर्शन और सङ्गीत। मुझे याद है इस सेमिनार में ठाकुर जयदेवसिंह जी ने जो व्याख्यान दिया था वह अभूतपूर्व था। ''दर्शन बिना सङ्गीत के और सङ्गीत बिना दर्शन के पूर्ण नहीं होता''—ऐसी प्रबल स्थापना उन्होंने की थी। और बहिन जी में इन दोनों का गाढ़ा समन्वय था।

बहन जी के अपने अध्ययन के साथ, बहुत सारे विद्यार्थियों को अनेक क्षेत्रों में मार्गनिर्देशन देने के साथ-साथ, नये-नये विषय उनके दिमाग में आते थे।

आखिरी सालों में 1995 से 'ज्ञान प्रवाह' नाम से बन रही संस्था के प्रति उनका अत्यधिक सहयोग रहा। सं० ना० अकादमी एवं अपने 'भरत-निधि'-न्यास द्वारा आयोजित सेमिनारों में आए विद्वानों तथा कलाकारों को 'ज्ञान-प्रवाह' ले जातीं, काशी के सभी परिचित विद्वान् व्यक्तियों को ज्ञानप्रवाह से परिचित करातीं, उनके व्याख्यान आयोजित करवातीं; सं० ना० अकादमी के सहयोग से दूर-दूर के विशिष्ट कलाकारों के कार्यक्रम ज्ञानप्रवाह को सुलभ करवाती रहीं। अन्तिम सेमिनार वहाँ उन्होंने आयोजित करवाया था 'ध्वनि' पर। शायद कोई कल्पना भी नहीं करता, मगर उन्होंने बहुत ही बारीकी और व्यापक दृष्टि से उस विचारगोष्ठी की रूपरेखा बनाई, उसके मूल-चिन्तन को पूरे देश के विशेषज्ञ व्यक्तियों के पास भेज कर उन्हें आमन्त्रित किया। वे स्वयं यही सब करके चली गयीं, पर फिर श्रीमती विमला पोद्दार (ज्ञानप्रवाह की संस्थापिका) ने वह गोष्ठी बहन जी की स्मृति में करवाई। महाप्रयाण से स्तब्ध अधिकांश वे विद्वान् तो उपस्थित हुए ही जिन्हें बहिन जी आमन्त्रित कर गई थीं पर बहन जी के और अनेक देशी-विदेशी विद्वान् भी इस अवसर पर बहन जी को श्रद्धाञ्जलि देने के उद्देश्य से सम्मिलित हो गए।

जिन लोगों ने उस गोष्ठी में श्रोतारूप से भी भाग लिया वे जानते हैं कि यह प्रेरणा जिसने दी थी उसने कितनी दूर तक सोचा था। वे हमारे बीच और रही होतीं तो न जाने कितनी और गोष्ठियाँ और सङ्गीत-नाट्य-प्रयोग हम देख-सुन पाते। उस ध्वनि-गोष्ठी का साहित्य जब कभी प्रकाशित होगा तब लोग समझेंगे कि किस प्रतिभा ने वह अवदान दिया था।

बहिन जी की सहजता-सरलता-विनम्रता का बखान कितना भी किया जाय कम ही रहेगा। आज पण्डितजी ने भक्ति की बात कही। वे अपने भीतर भक्तिमयी थीं। लोगों के सामने प्रदर्शित नहीं करती थी। किन्तु उनके सुझाव से और उनके सङ्गीत तथा वैष्णव भक्तिसाहित्य-चयन को लेकर चन्द्रशेखर जी ने, श्रीमती कुमुदिनी लाखिया की संस्था ने और स्वयं बहन जी द्वारा चुने गए कलाकारों ने इतने अच्छे कार्यक्रम प्रस्तुत किए जो अनूठे हैं। इस प्रकार के इस स्तर के सङ्गीत-नृत्य-नाट्य के समन्वित प्रयोग शायद भारत में और किसी ने नहीं किए होंगे।

सङ्गीतनाटक अकादमी के माध्यम से उन्होंने पूरे भारत में और यहाँ वाराणसी में भी कितने विशिष्ट कार्यक्रम करवाए, अनेकों बिखरे रत्नों-कलाकारों को आपस में जोड़ा, कितने ही अनदेखे कलारत्नों की ओर ध्यान दिलाया, उन्हें अनुदान दिलाए और दुनिया के सामने लाईं। अकादमी सोच भी नहीं सकती थी ऐसे-ऐसे विशेष कार्य कला तथा शास्त्र के क्षेत्र में बहन जी के माध्यम से हो पाए।

उनके हृदय में भक्ति थी, मस्तक में अपार ज्ञान था और जान लड़ाकर कर्मयोग में लगी रहती थीं। यह उन का सब से बड़ा मार्ग था भगवान् की भक्ति की अभिव्यक्ति का। तीनों पद्धतियों पर वे एक साथ चल रही थीं। वे अवश्य ही प्रभु के आसन के पास पहुँच गयी होंगी, क्योंकि एक-एक मार्ग पर चलते हुए भी अधिकतर लोग लड़खड़ाते हैं, वे तो तीनों मार्गों से बड़े प्रबल वेग और सामर्थ्य से प्रभु की ओर गईं। उन की विनयपत्रिका पर प्रभु ने अवश्य 'सही' की होगी, उन्हें पूरी तरह अपना लिया होगा—ऐसा मेरा पूरा विश्वास है।

बहिन जी के कोई कार्य अधूरे नहीं रहे ऐसा आनन्दकृष्ण जी ने कहा, वह एक हद तक ठीक भी है, पर बहुत कुछ रह भी गया, बहुत कुछ वे करना चाहती थीं, मन ही मन कर भी रही थीं जो कलम से कागज तक नहीं पहुँच पाया। बहुत सी योजनायें

मँझदार में रह गयीं।*[१] ऊर्मिलाजी के पास उसकी सूची है। अनेक क्लिष्ट संस्कृतग्रन्थों का सम्पादन और अनुवाद आदि वे कर रही थीं, जो अधूरे रह गए। उनके प्रति सच्ची श्रद्धाञ्जलि यही होगी कि उन्होंने जो मार्ग दिखाए हैं और जो कार्य वे कर रही थीं—उसको हम सब मिलकर जिन संस्थाओं से वे जुड़ी थीं उन संस्थाओं को—व्यक्तियों को प्रेरित करके उनके माध्यम से उन कामों को आगे बढ़ाना चाहिए। वे काम हम पूरे कर लेंगे—ऐसा दावा तो नहीं कर सकते हैं, पर प्रयास अवश्य करना चाहिए। विश्वविद्यालय भी उनके प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त कर सकता है। सङ्गीत नाटक अकादमी (दिल्ली) सङ्गीत-रिसर्च अकादमी (कलकत्ता) कालिदास अकादमी (उज्जैन) इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय कलाकेन्द्र (दिल्ली) और भी लोग इस यज्ञ में प्रवृत्त हो सकते हैं।

भाई आनन्दकृष्ण जी ने उन्हें **'अभिनव-भारती'** (सरस्वती) के विरुद से पुकारने की बात कही है।*[२] मैं उनके प्रस्ताव का हृदय से समर्थन करता हूँ और उनके चरणों में अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।



१* जैसे कि (1) 'भरतभाष्य' का सम्पादन, संशोधित पाठ लिखना प्रारम्भ कर चुकी थीं, पूरा संशोधित पाठ उनके चित्त में था, वह चला गया। (2) ''बृहद्देशी'' का तृतीय खण्ड—बहुत विशेष अध्ययन-सार लिखने वाली थीं, अनेक सारणियाँ, अनुक्रमणियाँ आदि परिशिष्ट बनाने वाली थीं, इनकी बहुत कुछ तैयारी भी कर ली थी, पर आँख में कष्ट बढ़ जाने से लिख नहीं पाईं। (3) गोपीगीत (श्रीमद्भागवत) की सङ्गीतरचना उनके मस्तिष्क-हृदय में हो चुकी थी-पर.......।—ऊर्मिला

२* इसी बात को पं० रतिनाथ झा जी ने **''प्रेमलताजीवितम्''** में **'नूतनभारती'** शब्द से कहा है।—ऊर्मिला

·५·

प्रो० प्रेमलता शर्मा-श्रद्धाञ्जलिसत्र का द्वितीय दिवस

दि० 4/12/99 को श्र० प्रेमलता बहन जी के निवास ('आम्नाय', करौंदी, वाराणसी-5) पर स्मृति-व्याख्यानमाला के द्वितीय प्रसून-रूप में उन्हीं के प्रमुख शिष्यों में से प्रो० डॉ० रामनाथन् (मद्रास वि० वि० के सङ्गीतसंकायाध्यक्ष) का चिन्तन- प्रेरक व्याख्यान **सङ्गीतरत्नाकर के परवर्ती काल में सङ्गीतशास्त्र का प्रवर्तन**-विषय पर हुआ। अध्यक्षा रहीं प्रो० डॉ० सुभद्रा चौधरी।

विषय की पूर्वपीठिका में रत्नाकर-पूर्व शास्त्र का विहंगावलोकन करते हुए वक्ता ने कहा कि भारत में सङ्गीत के प्रयोग के अनेक सम्प्रदाय बहुत प्राचीनकाल से विद्यमान थे। शास्त्रग्रन्थों के अध्ययन से ऐसी धारणा बनती है कि 'लक्ष्य' के उन सम्प्रदायों ने एक दूसरे को प्रभावित किया है। वक्ता ने कहा कि सामगान और भरत द्वारा प्रतिपादित 'गान्धर्व' परस्पर भिन्न हैं। 'अलङ्कार', 'जाति' आदि पारिभाषिक विषयों पर उदाहरणसहित यह स्पष्टता की कि 'गान्धर्व' या 'मार्ग' के प्रसङ्ग में ये शब्द जिस प्रयोग को सूचित करते हैं, उससे भिन्न ही संकेत देशी सम्प्रदायों में हैं।

रत्नाकर के परवर्तीकाल के ग्रन्थों की चर्चा करते हुए आपने स्पष्ट किया कि 'आलप्ति' 'स्थाय' 'गमक' आदि की जो धारणा हमें सं० रत्नाकर में मिलती है ठीक वही बाद के सब ग्रन्थों में नहीं है, विशेषतया चतुर्दण्डीप्रकाशिका, सङ्गीतसुधा, सङ्गीतसम्प्रदायप्रदर्शिनी आदि ग्रन्थों का उल्लेख किया। इसका कारण है प्रयोग में भेद आना।

सङ्गीतशास्त्र के क्षेत्र में प्राचीन से मध्यकाल तक एक तरह के सातत्य की जो मान्यता प्रायः स्वीकृत है उस पर पुनर्विचार के लिए वक्ता ने प्रेरित किया।

डॉ० सुभद्रा चौधरी ने अध्यक्षीय सम्बोधन में श्रद्धेया प्रेमलता जी के अभिप्राय का उल्लेख किया कि प्रयोग की ही तरह शास्त्र को भी जड़ नहीं रहना चाहिए, युगानुरूप चिन्तन का विकास स्वाभाविक है, वाञ्छनीय भी। प्रो० रामनाथन् का वक्तव्य पू० बहन जी के विचार को सार्थक करता है और सङ्गीतशास्त्र के अध्येताओं के लिए नई दिशा का प्रेरक है।

इस लघु संगोष्ठी में पू० प्रेमलता जी के भारतीय एवं विदेशी प्रायः 20 शिष्य सम्मिलित हुए थे एवं चर्चा में भाग लिया था, डॉ० नलिनी फ्रांस्वाज देलुआ विशेष रूप से इस त्रिदिवसीय श्रद्धा-सत्र में रहने के लिए ही सीधे-फ्रांस से भारत (वाराणसी) आई थीं और सुश्री सेलिना थीलमान इटली से। व्याख्यान से पूर्व प्रो० रामनाथन् ने सुश्री सेलिना की नवीन पुस्तक "दी म्युजिक ऑफ साउथ एशिया" (690 बड़े पृष्ठ) पू० बहन जी को समर्पित करते हुए लोकार्पित की एवं उसके महत्त्व पर प्रकाश डाला।

संगोष्ठी का समापन करते हुए अध्यक्षा सुभद्रा जी ने पू० प्रेमलता जी के प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए कहा कि उन्होंने भारतीय सङ्गीतशास्त्र के वास्तविक अध्ययन-अध्यापन की समाप्त हो चुकी हुई परम्परा को पुनरुज्जीवित किया, शास्त्र-सम्प्रदाय को विश्व में प्रतिष्ठित किया, एवं सङ्गीत के लक्ष्य (प्रयोग) तथा लक्षण (सिद्धान्त) को परस्पर सम्बद्ध करते हुए समझने की दृष्टि दी।

वयोवृद्ध विद्वान् श्री सोमास्कन्दन् जी (का० हि० वि० के भूतपूर्व उपकुलसचिव) ने प्रारम्भ में प्रदीप प्रज्वलित किया एवं पूर्णाहुति में श्र० प्रेमलता जी के 1950 में का० हि० वि० आगमन से लेकर 1998 अन्त तक की उनकी सतत तपस्याभरी जीवन यात्रा के प्रत्यक्ष अनुभूत संस्मरण सुनाते हुए कहा कि तपस्विनी **प्रेमलता जी ने न केवल सङ्गीतशास्त्र विभाग की स्थापना एवं विकास में बल्कि मूलतः सङ्गीत महाविद्यालय के गठन में भी बहुत महत्त्वपूर्ण योगदान किया था। सम्पूर्ण सङ्गीत, एवं विशुद्ध भारतीय मनीषा उनमें मूर्त्तिमती थी।** अपनी प्रज्ञा, विद्या, प्रतिभा को वे खुले हाथों जिज्ञासुओं को बाँटती रहीं, एवं गुरु, माँ, बड़ी बहन का स्नेह सभी पर लुटाती रहीं।*

---

* द्वितीय दिवस का व्याख्यान तथा विमर्श का सत्र प्रायः तीन घण्टे चला था, किन्तु 'रिकॉर्डिंग' कर्मकार की असावधानी के कारण वह ध्वनिरक्षित नहीं हो सका, इसीलिए यहाँ प्रस्तुत नहीं किया जा सका। इसका खेद है। —सम्पा०

★★★



एक उदीयमान कलाकार को आशीर्वाद देते हुए (अम्बेजोगाई, महाराष्ट्र, १९८१)

.६.

प्रो० प्रेमलता शर्मा के प्रति समर्पित श्रद्धास्वराञ्जलि सप्तक

(श्रद्धाञ्जलि-सत्र का तृतीय दिवस)

दि० 5.12.99 —श्र० बहन जी के ब्रह्मलीन होने की प्रथम वार्षिकी वेला में श्रीगङ्गातट (नारदघाट)-स्थित अन्नपूर्णाक्षेत्र-भवन में राय कृष्णदास इन्टैक न्यास एवं आम्नाय, भरतनिधि के सम्मिलित आयोजन में नादब्रह्म के सम्पूर्ण स्वरूप (स्वर-ताल-पदात्मक) की उपासिका साधिका को सङ्गीतमय श्रद्धाञ्जलि अर्पित हुई। इसमें बहनजी के प्रिय शिष्यादि के कुल सात समूहों द्वारा, प्रमुख सात कलाकारों द्वारा, सात विधाओं में सङ्गीत-परिवेशन हुआ।

१. **डॉ० ऋत्विक् सान्याल** का ध्रुपद गायन। सङ्गीत-पखावज पर श्री श्रीकान्त मिश्र, सारङ्गी पर श्री सन्तोष मिश्र, हारमोनियम पर श्री ध्रुव जी, दो तानपुरों पर शिष्य। इनके द्वारा प्रसङ्गानुकूल पदावली में, पू० बहिन जी को विशेष प्रिय ध्रुपद-धमार सादरा, सूलफाक आदि तालों की नौ बन्दिशें तथा कुछ श्लोक भी सुनाये; प्रायः 50 मिनट में सात रागों का प्रयोग किया। '7' '9' संख्या पू० बहिन जी को विशेष प्रिय थी।

२. सुश्री कमला शङ्कर ने गिटार पर बीन की भाँति शुद्ध-मधुर रागों में प्रायः 35 मिनट वादन प्रस्तुत किया।

३. सुश्री रेवती साकलकर ने 'निर्गुन'-भजन श्री कुमार गन्धर्व-शैली में, एक मीरा-भजन तथा कुछ बहिन जी की स्वर-रचना वाले श्लोक, पद गाए।

४. डॉ० श्रीमती अर्चना दीक्षित ने ख्याल, छोटा ख्याल, भजन गाए।

५. श्रीमती स्वरवन्दना शर्मा तथा श्रीमती लयलीना भट ने मिलकर पू० पिताश्री सिद्ध वाग्गेयकार पं० बलवन्तराय भट्ट 'भावरंग' (पू० भैयाजी) की विविध रचनायें (चौदह) गायीं जो पू० बहिन जी को अतिशय प्रिय थीं। अन्त में बहिन जी की रचना-'राम' के स्थान पर **'राग' का सप्तविभक्तिक श्लोक** भी गाया।

६. श्रीमती मङ्गला तिवारी—ने ख्याल, भजन, दादरा, आदि तथा पू० बहिन जी की स्वर-रचना वाले अनेक पद सुनाये।

७. श्रीमती मञ्जु सुन्दरम् ने ठुमरी-शैली में अनेक निर्गुन पद गाये, (उसमें पू० बहन जी की याद जीवन्त कर दी, वे भी ठुमरी शैली में भजन गाया करती थीं।) तथा बीच-बीच में दोहे इतने प्रासङ्गिक एवं उपदेश-प्रद शब्दों में तथा भाव के अनुरूप रागों में गाए कि सबकी आँखें भीनी हो गईं।

तबला-सङ्गति में श्री किशोर मिश्र, श्री विनोद लेले, बारी-बारी से, सारङ्गी में बीन जैसा स्वरानन्द देते हुए श्री सन्तोष मिश्र सबको लीन किए रहे; हारमोनियम पर ध्रुवजी 'ध्रुव' रहते ही हैं। सभी कलाकारों को मञ्च पर आमन्त्रित करना आदि सभासञ्चालन डॉ० प्रदीप दीक्षित जी ने अपनी स्वाभाविक दक्षता से किया।

यह स्वराञ्जलि-सप्तक सुबह 10 से प्रारम्भ होकर शाम 5 बजे तक (सात घण्टे) प्रायः अनवरत चला। आज के अध्यक्ष श्री डॉ० भानुशङ्कर मेहता जी ने पूरे समय उपस्थित रह कर एवं कलाकारों का सम्मान-आदि करते हुए गायक-वादक-श्रोतृ-मण्डली सभी का उत्साहवर्धन किया, अन्त में आशीर्वचन भी कहे।

★★★

७.

सङ्गीतशास्त्रप्रवीणा एवं ध्रुपद-प्रयोग विशेषज्ञा प्रो० प्रेमलता शर्मा 'बहिनजी' की स्मृति में सङ्कल्पित

सप्रयोग परिचर्चा*

"ध्रुपद में शास्त्र और प्रयोग"

(दिनांक 4 एवं 5 मार्च, 2000)

में आप सादर आमन्त्रित हैं।

सविनय निवेदक

कल्याणकृष्ण

(राय कृष्णदास इन्टैक न्यास, वाराणसी)

★

ऊर्मिला शर्मा

(आम्नाय, भरतनिधि, वाराणसी)

★

डॉ० फ्रांस्वाज देल्वॉ 'नलिनी'

तथा

डॉ० ऋत्विक सान्याल

(सबका सम्मिलित समायोजन)

---

* उल्लिखित गोष्ठी के लिये बनाये गये निमन्त्रण-पत्रक उसकी जानकारी के लिये यहाँ प्रस्तुत किये गये हैं।—सम्पा०

शनिवार, 4 मार्च 2000

(शास्त्र-प्रधान)

स्थान : आम्रानाय, 209/1 करौंदी, धर्मजित् नगर

'बहिनजी' का निवास

समय : प्रातः 10.30 बजे



रविवार, 5 मार्च 2000

(प्रयोग-प्रधान)

स्थान : अन्नपूर्णा क्षेत्र, नारदघाट (राजाघाट)

(राय कृष्णदास इन्टैक न्यास का कार्यस्थल)

समय : प्रातः 10.30 बजे



उक्त परिचर्चा में सम्मिलित होने वाले

प्रमुख विचारक तथा प्रयोक्ता

1. प्रो० राय आनन्दकृष्ण
2. प्रो० कमलेशदत्त त्रिपाठी
3. उस्ताद जिया फरीदुद्दीन डागर
4. पं० लक्ष्मण शास्त्री भट्ट तैलंग
5. पं० श्री विदुर मलिक
6. श्री फाल्गुनी मित्र
7. श्री बहाउद्दीन डागर
8. प्रो० सुभद्रा चौधरी
9. डॉ० नलिनी फ्रांस्वाज देल्वाॅ
10. डॉ० ऋत्विक् सान्याल
11. डॉ० सुधाकर भट
12. डॉ० सेलिना थील्मान
13. श्री प्रेमकुमार मलिक
14. श्री निर्माल्य डे
15. सुश्री रोजान ट्रॉटर
16. डॉ० श्रीमती मधु भट तैलंग

एवं

काशी-ध्रुपद मेले में अभ्यागत

अन्य विशिष्ट कलाकार-गण

VANDE NĀDATANUM

A Symposium with Illustrations on

ŚĀSTRA AND PRAYOGA

in

DHRUPAD

is being
organised on 4-5 March 2000.
You are cordially invited to attend the event

Kalyāṇa Kṛṣṇa

(Rai Krishna Das Intach Varanasi Trust)



Ūrmilā Śarmā

(Āmnāya, Bharatanidhi Varanasi)



Dr. Nalini Françoise Delvoye

and

Dr. Ritwik Sanyal

Saturday, 4th March 2000

(Śāstra-oriented)

Venue : Āmnāya, 209/1, Karondi, Dharmajit Nagar, Varanasi–5

(Bahinjee's Residence)

Time : 10.30 A.M.



Sunday, 5th March 2000

(Performance-oriented)

Venue : Annapūrnākṣetra, Nārada Ghāṭa (Rājā Ghāṭa)

(Raikrishna Das Intach, Varanasi Trust Premises)

Time : 10.30 A.M.



The Scholars and Dhrupad-Artists

participating in the symposium are

1. Prof. Rai Anand Krishna
2. Prof. K.D. Tripathi
3. Ustad Zia Fariduddin Dagar
4. Pt. Laxman Shastri Bhatt Tailang
5. Pt. Shri Vidur Malik
6. Shri Falguni Mitra
7. Shri Bahauddin Dagar
8. Prof. Subhadra Choudhari
9. Dr. Nalini Francoise Delvoye
10. Dr. Ritwik Sanyal
11. Dr. Sudhakar Bhat
12. Dr. Selina Thielemann
13. Shri Prem Kumar Malik
14. Shri Nirmalya De
15. Ms. Rosanne Trotter
16. Dr. Smt. Madhu Bhatt Tailang





''नाद''-लीन उस्ताद् ज़िया मोहिउद्दीन डागर सिद्ध 'बीन'-योगी

.८.

श्रद्धाञ्जलि-सत्र द्वितीय वर्ष

दि० 3,4,5 दिसम्बर, 2000—

सङ्गीताञ्जलि

१. दि० 3.12.2000 — पूर्वाह्न 10 से 9 बजे मध्याह्न तक

प्रमुख अतिथि कलाकार — कानपुर से

(गायन) श्रीमती विद्या (कालविन्द) कातगडे

तबला सङ्गति — श्री किशोर मिश्र

सारङ्गी सङ्गति — श्री सन्तोष मिश्र

हारमोनियम — श्री चान्दोरकर

तानपुरा — स्वयं डॉ विद्युत् कातगडे तथा एक विद्यार्थिनी

2 दि० 4.12.2000 — रात्रि 7 से 10 बजे तक

प्रमुख अतिथि कलाकार — अहमदाबाद से

(गायन) श्री अतुल देसाई

तबला सङ्गति — श्री ईश्वर लाल मिश्र

सारङ्गी सङ्गति — श्री सन्तोष मिश्र

हारमोनियम — श्री चान्दोरकर

तानपुरे — दो विद्यार्थी-गण

दोनों दिन स्थान : श्री अन्नपूर्णा क्षेत्र श्री राय कृष्णदास इन्टैक वाराणसी न्यास-भवन नारदघाट, (राजाघाट)
आम्नाय, भरतनिधि तथा उक्त न्यास का सम्मिलित आयोजन।
विशेष सान्निध्य—डॉ० श्रीमती कपिला वात्स्यायन एवं आचार्यश्री श्रीवत्स गोस्वामी जी

प्रो० कु० प्रेमलता शर्मा-स्मृति-व्याख्यान-माला—द्वितीय वर्ष, ४-५ दिसम्बर २०००

(४.१२.२००० अपराह्ण)

डॉ० श्रीमती कपिला वात्स्यायन द्वारा ग्रन्थ-लोकार्पण

1. Indian Asthetics and Musicology

The Art and Science of Indian Music

(प्रो० प्रेमलता शर्मा का लेख-सङ्कलन एवं संस्मरण)

2. Musical Traditions of Vaiṣṇava Temples in Vraja

(डॉ० सेलिना थीलमान द्वारा लिखित, निर्देशिका प्रेमलताजी को समर्पित)

प्रथम-ग्रन्थ-सम्बन्धी व्याख्यान : डॉ० कपिला वात्स्यायन

अध्यक्ष—आचार्यश्री श्रीवत्स गोस्वामी

मङ्गलाचरण : श्रीमती विद्या कातगडे

(५.१२.२००० पूर्वाह्ण)—

"भारतीय संस्कृति में कलात्मक रसाभिव्यक्ति"

व्याख्यान—डॉ० कपिला वात्स्यायन

अध्यक्ष—प्रो० राय आनन्दकृष्ण

मङ्गलाचरण : डॉ० ऋत्विक् सान्याल

दोनों दिन स्थान—भारत कलाभवन, का०हि०वि० वाराणसी।

★★★

.९.

स्मारक-व्याख्यान

दि० ४.१२.२००० अपराह्न

ग्रन्थलोकार्पण के बाद 'आचार्यश्री' श्रीवत्स गोस्वामीजी द्वारा प्रारम्भिक वक्तव्य

यह स्मृति-महोत्सव है जिसमें दिवंगता डॉ० प्रेमलता शर्मा हमारी—प्यारी बहनजी—के नित्य चिन्मय स्वरूप में प्रवेश का स्मरण करने हम सब एकत्र हुए हैं।

उनका स्मरण आज भी कितना प्रगाढ़ है यह इस कमरे में कम पड़ती हुई कुर्सियाँ बता रही हैं। स्मरण की कथा आगे बढ़ेगी। उत्सव में हमारी उपस्थिति रहेगी। सम्मान्या (कपिला-) बहनजी ने विमोचन किया दो कृतियों का, जिनमें प्रथम स्वयं (प्रेम-) बहनजी के यत्र-तत्र प्रस्फुटित प्रसूनों का संकलन है। इन प्रसूनों को मालाकार रूप में डॉ० ऊर्मिला शर्मा ने गूँथा और आज यह प्रथम भाग सामने आया है। बहनजी ने जीवन में बहुत से फूल खिलाये, जिनकी पूरी गिनती भी कर पाना सम्भव नहीं हुआ है; उनमें से कुछ थोड़े से अंग्रेजी लेख इस प्रथम भाग में आये हैं। क्रमशः वे फूल शृङ्खला-माला के रूप में ग्रथित हों में। यह प्रथम माला है, क्रम चलता रहेगा।

आगे स्मरण बढ़ेगा हमारी कपिलाबहनजी के वक्तव्य से, उनके विचारों से। वह प्रवाह जो बहने के लिये उत्सुक है। किन्तु प्रवाह होगा यदि दर्शन भी हो। वह नहीं तो व्याख्यान भी नहीं होता। "दृष्टस्य अनुव्याख्यानं भवति" और ऐसा कुछ अद्भुत दर्शन करके बहनजी आ रही हैं—एकदम ताजा-ताजा दर्शन करके आ रही हैं। यद्यपि इनकी निरन्तर दर्शन की यात्रा है, किन्तु ऐसा कुछ नवीन दर्शन किया है जहाँ कि एक ही खिड़की से "त्रिशूल" से लेकर 'नन्दादेवी' और 'नीलकण्ठ' से 'बद्री-केदार' तक एक ही दृष्टि में दर्शन हो पाते हैं। जहाँ पर इतनी बड़ी शृङ्खला दृष्टिगोचर होती हो, और वह आस्वादन कोई समर्थ ही कर सकता है। और वह दृष्टि इनके पास है। हमें भी उत्सुकता है, बड़ी आतुरता से प्रतीक्षा कर रहे हैं कि उसी दर्शन का आस्वादन कर सकें जो इनके भीतर समाया हुआ है।

मैं प्रार्थना करता हूँ डॉ० कपिला वात्स्यायनजी से कि उस रस के प्रवाह में हम को भी साथ ले चलें।

श्र० कपिलाजी : व्याख्यान* (श्र० बहिनजी के विषय में)

प्रो० आनन्दकृष्णजी! बहन बेत्तीना जी, आ० विद्वद्-वृन्द मित्रगण, सहपाठी-गण, और हमारी प्रेमलता बहनजी की यह कड़ी—प्यारी ऊर्मिला, जिसे मैं प्यार से कभी पगली ऊर्मिला भी कहती हूँ। और 'भोली' तो उसका नाम है ही। बहनजी की इस दूसरी पुण्यतिथि पर, जैसा कि भाई श्रीवत्सजी ने कहा, कि प्रत्यक्ष है कि उनका पार्थिव शरीर यहाँ नहीं है लेकिन उनकी आत्मा, उनका सत्त्व यहाँ है और केवल इस स्थान में नहीं, केवल इस बनारस के परिवेश में नहीं जहाँ वह पली-पोषीं, जहाँ उन्होंने विद्या ग्रहण की थी, लेकिन इस देश में और विदेशों में भी वे अक्षय काया से विद्यमान हैं।

---

* ये सभी व्याख्यान ज्यों के त्यों ध्वनि से लिपिबद्ध किये गये हैं—इनकी स्वाभाविकता का प्रवाह बनाये रखने के लिये। —सम्पा०

कलातत्त्वकोश के प्रथम भाग में बहिनजी ने एक लेख लिखा है, दो शब्दों को लेकर 'शरीर' और 'आत्मा'। बहिनजी ने भारतीय संस्कृति के मूल ग्रन्थों से अनेक विधाओं से स्थान निकाला और सार निकाला कि भारतीय संस्कृति के मूल सिद्धान्त के स्तर पर (जिससे कि अगर उस सिद्धान्त को हम सचमुच देखें, स्वीकार करें और तब चिन्तन के स्तर पर, बौद्धिक स्तर पर, मानसिक स्तर पर और व्यवहार के स्तर पर) अगर उसको सार्थक करें तो हमारी दृष्टि वह दृष्टि हो जो कि सचमुच भारतीय दृष्टि और भारतीय संस्कृति की दृष्टि है। जिसके अनुसार हम केवल सोचें ही नहीं लेकिन जिसके अनुसार हम अपने जीवन को सार्थक बनायें। बहनजी ने इस बारीकी के साथ उस एक लेख में इन दो शब्दों को लेकर कहा है और केवल पारिभाषिक रूप से उसकी व्याख्या नहीं की है लेकिन उसके जो सूक्ष्म पक्ष हैं कि शरीर आत्मा है और आत्मा शरीर है और यह जो केवल स्थूल और सूक्ष्म का सम्बन्ध है उसी की व्याख्या नहीं की है लेकिन उन्होंने एक उस सत्त्व सत्य को पकड़ा है स्थापित किया है। और उसकी व्याख्या वे जिस प्रकार से करती हैं। तो सबसे पहली अञ्जलि जो मैं देना चाहती हूँ बहिनजी को, और बहिनजी की उस दृष्टि को और वह अञ्जलि है जिसकी बात भाई श्रीवत्सजी ने अभी की कि बहिनजी के पास उस सबका सार जीवन में रचा था। जो भी उनका शिक्षण था, जो उन्होंने शिक्षा पाई, जो उन्होंने विद्या ग्रहण की शास्त्र में, प्रयोग में और अभ्यास और स्वाध्याय में, उसमें से जो उन्होंने तत्त्व पाया वह रत्न थे जिसकी बात ऊर्मिलाजी ने की। और Scholarship का मतलब यह होता है कि, मैं इसको अंग्रेज़ी में ही कहती हूँ—Scholarship क्योंकि कठोपनिषद् में भी यह आया है और जगह भी कि बुद्धि, अगर बुद्धि से अतीत हो जाए और बुद्धि की जो माया है आदमी उसको भी पार कर पाए, और वह वाहन है, उस वाहन के ऊपर जाकर उसके बाद एक अनुभव की के स्तर पर आदमी नहीं पहुँचे तो तब यह केवल शब्द हैं और शब्दों का तो हमारे पास बहुत भण्डार है।

इसलिए जो दूसरी अञ्जलि है वह यह है कि उस बुद्धि को ग्रहण करने के बाद, उसके पश्चात् जो बहनजी ने अपने आप को एक दूसरे स्तर पर समर्पित किया, उसको मेरी अञ्जलि है। और वही सबसे महत्त्वपूर्ण अञ्जलि हैं। तीसरा कि बुद्धि भी हो, अनुभव भी हो लेकिन अभिव्यक्ति और व्यवहार नहीं हो तो तीसरा स्तर नहीं बनता है, मेरी समझ में यही है। तो बहनजी **ने अपने जीवन काल में उस अनुभव को, उस समर्पण को, और उस बुद्धि के ऊपर जो उनकी कुशलता थी, उन तीनों का एक मिश्रण करके अपने व्यवहार में एक अपना दूसरा रूप प्रकट किया** जो कि हमने यहाँ पर या दिल्ली में या विदेश में देखा, यानि administrator का रूप, organizer का रूप था। **यह जो तीन स्तरों के ऊपर जीवन जीना होता है और तीन स्तरों पर जीवन जी कर उसमें एक तारतम्य जो लाना होता है,** मैं यह समझती हूँ कि वह मेरे लिए **इसलिए बहिनजी 'बहिनजी' थीं,** हम दोनों का एक स्नेह सम्बन्ध भी था लेकिन आज मैं कहती हूँ कि एक ऐसा अपार आदर मेरे मन में था क्योंकि विद्वान् भी मैंने देखें, अनुभवी भी मैंने देखे, organizers भी मैंने देखे लेकिन यह तीनों स्तरों को एकदम एक समन्वय में और एक सम्पूर्ण ढंग में अपने जीवन में जीने का जो उनका रस देखा, उसके प्रति मैं नतमस्तक हूँ और उस उनके व्यक्तित्व के अपार रूप से जो मैं जानती रही हूँ उनका वर्णन करना यहाँ आवश्यक नहीं है। क्योंकि यह घर में घर की बहन की बात है। आप लोग उनसे परिचित हैं, कहीं और मैं उनकी, उनके जीवन की chronology देती, कहती कि कहाँ वह जन्मीं, कहाँ वह पलीं और कहाँ पढ़ीं ...। लेकिन मैं उस जीवन में नहीं गई। यह जो उनके जीवन का सार मिला, मुझे जो उसमें से एक प्रसाद मिला और इसलिए मैं यह कहती हूँ कि वे इस पीढ़ी की एक आदर्श महिला थीं जिन्होंने अपने जीवन को हर रूप में जीकर दिखाया। वे जीवन के प्रति समर्पित भी हुईं और उससे कुछ विरक्त भी रहीं। और यह जो एक समर्पितता और एक दूरी या उससे एक विरक्ति या आसक्ति उस अपने कार्य से उन्हें थी वह उनको हमेशा-हमेशा दृढ़ता प्रदान करती थी। क्योंकि यह जो अहं का लोभ होता है वह बहुत विद्वानों को ले मरता है। वह बहिनजी को कहीं छुआ नहीं था। उसकी जगह प्रेम, स्नेह को एक ग्रन्थि थी। जो कि मैं धीरे-धीरे पहचान पाई, जान पाई और इसीलिए यह बिल्कुल उपयुक्त था कि आज की सभा के अध्यक्ष श्रीवत्स गोस्वामी हों। क्योंकि जैसे-जैसे मैंने बहिनजी को जाना, उन्होंने कभी मुझसे कुछ कहा नहीं, कोई बात नहीं हुई, लेकिन हुई भी, तो यह समझ में आया उनके संस्कार में उनके पिताश्री से जो उन्होंने गौड़ीय वैष्णवों का संस्कार पाया था, वह उनके पूरे व्यक्तित्व का बीज था। वह प्रस्फुटित होता रहा। वह जहाँ से उन्होंने अपने वृन्दावन में पिताश्री के साथ शायद यात्रा आरम्भ की और उन्होंने जो बौद्धिक और भावानात्मक स्तर पर यात्रा समाप्त की यानि उनके जो दो ग्रन्थ थे उनमें से एक प्रकाशित, उसके एक खण्ड, दो खण्ड प्रकाशित हुए हैं, तीसरा भी होना है। रूप गोस्वामी के दोनों ही ग्रन्थ भक्तिरसामृतसिन्धु और उज्ज्वलनीलमणि को जिस

तरह से और जहाँ से उन्होंने शायद अपनी भावनात्मक और समर्पण का जीवन आरम्भ किया था वहीं उनकी देह की बौद्धिक और भावात्मक यात्रा समाप्त होती है, इसमें शायद कोई अर्थ है।

आपने मुझसे कहा और यह ऊर्मिला का आग्रह था कि मैं आऊँ, मैंने उससे बहुत बहस की। मैंने कहा कि बहनजी का जो क्षेत्र था, उसमें संगीत के इतने बड़े-बड़े विद्वान् हैं, इतने बड़े संगीतज्ञ हैं और मैं कौन हूँ? लेकिन ऊर्मिला का यह आग्रह रहा कि मैं आऊँ और मुझे, यह कहिए कि स्नेह, लोभ, प्रलोभन और इस कक्ष में जहाँ कि इतनी आत्माएँ बोलती हैं और मेरा मन स्मृतियों से भर आता है, तो मैं 'ना' न कह सकी। मैं इसकी केवल विशुद्ध अपात्र हूँ और एक उससे भी अधिक संकोच है कि चाहे आदमी और जगह बोलता रहे, बोलती रहती हूँ, घर में बोलना, परिवार के सामने बोलना, अपनों के लिये बोलना बहुत कठिन होता है। और बनारस आकर, वाराणसी आकर, ('बनारस' और 'वाराणसी' में कुछ थोड़ा सा अन्तर है) यहाँ पर आकर और औपचारिक ढंग से व्याख्यान देना मेरे बस का तो है नहीं। यहाँ का स्नेह मिला और उस स्नेह से भरी हुई मैं केवल इतना ही कह सकती हूँ कि जितनी आत्माएँ इस कक्ष में हैं, जिनका यहाँ गुंजन होता है, वह आकर के आर्शीवाद दें और मैं हमेशा उनके प्रति समर्पित रहूँ।

आज मैं कोई व्याख्यान नहीं दूँगी। मैंने यह ऊर्मिला से स्पष्ट कह दिया था। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि मैं यहाँ और कुछ देर यूँ ही खड़ी रहूँगी। इसलिए क्योंकि हम बहनजी की जो बात कर रहे हैं और जिस पुस्तक का मैंने अभी विमोचन किया, मैंने सोचा कि उपयुक्त यह होगा कि जिस भाषा में बहनजी ने यह लेख लिखें हैं और जिस भाषा के द्वारा बहनजी अपने आप को एक जो उनका पक्ष था उसको अभिव्यक्त करती रहीं और जो proofs मुझे ऊर्मिला ने भेजे, मैं उसके ऊपर कुछ आपके सामने बहनजी के ही विचार रखूँ, अपने विचार नहीं रखूँ क्योंकि यही उनके लिए उपयुक्त होगा, वही श्रद्धाञ्जलि होगी और बहनजी के जो विचार थे और उनका जो बौद्धिक पक्ष था उसको सामने रखते हुए, उसका और यह जो सेलिना की पुस्तक है जो कि मैंने नहीं पढ़ी है अभी, उसका क्या सम्बन्ध है और अगर आप लोगों की अनुमति हो तो ऐसे ही किया जाय और इसलिए अंग्रेज़ी भाषा में बात हो?

I am speaking in English as a dedication to Dr. Prem Lata Sharma, because the English language, by its very nature, and specially spoken by those who are not all native speakers of the English language, gives a certain distance in evaluating people. The moment I speak in Hindi, my language is a language of emotions, my language is a language of feeling, my language is a language of what we say in Sanskrit or in Hindi, 'रागात्मक सम्बन्ध' with all of you. The moment I speak in English I have distanced myself and I think that, wanted to be aware of this very nature of communication through the language that we make because in our writing also when we are speaking about one culture, the moment we do that transference of the essence of that culture into another language, another language specially in the Indian tradition when we think that we are familiar with both languages, what is it that happens? I thought that it was a very pertinent question and so when Dr. Prem Lata Sharma, herself, decides to write in the English language, there is a change, there is a difference in the manner in which she approaches her subject of, not that she is making any fundamental changes, but it is the analytical. It is the distance. It is that the seer as opposed to the participator, and I want to make this differnce critical and I have something to say about, though the person I am speaking is the heart of the Indian tradition, they whole of the Indian tradition and I want to make this because most of us deal with the English language and yet we may be distanced from the English language or we may be familar with the Indian language buth this peocess in our own analytical thought at the moment we deal with this language and write about भारतीय संस्कृति in that languagé what us it that happens with is and whether it is the same thing or not the same thing. You will say Kapilaji, you are making a very big thing or there has always been writing in foreign languages or open cultures etc. I would asent that I want to say this after dealing with this myself as a student of and Dr. Vasudev Sharan Agrawal and having read his own writing both in English and in Hindi, I feel the qualitative difference that comes

out and that qualitative difference is in one, is the participator insider-outsider and in the other, it is outsider- insider who is looking at his material. I think that process. then what happens quite often and I want to make these general remarks, because it is not pertinent so much to Behanji's writings and I will come to that in a minute' but it is pertinent that the very nature of this enterprise as it is called in English discourse, the nature of this enterprise becomes an enterprise of explaining sometimes the obvious and sometimes taking the obvious for granted and not becoming communicative. I think all of our writers have faced this and I am addressing myself to Banaras. I am addressing myself to the heart of the traditional learning because what is it that you get from a community of scholars as very quiet writing, full of Sanskrit words, can't understand a word. Very good writing, too technical, can't understand anything. Very good writing, just descriptive, can't understand anything. Very good writing but taking a debate of something or the other, this must have happend at some point or the other, there is no conceptual modest framework in terms of that .... And I think that I want to say this in front of you that we have to be very careful about this because at a time when India is generally being studied and being studied with both a needle and a telescope, the articulators of India on account of the wielding of a particular language, their voice is not being heard in the manner in which it should it be heard. Please forgive me for saying this. But I am foolhardy enough and I am wedded to the truth of the teachers that I have had to say this. This is not pertinent in paying a tribute to Bahenji but I want to say this because I have, I have my treat in two words and I read that, and I what is written on those who write from within the tradition, by those who are not within the tradition and writing in the English language in terms of analysing the tradition. And there are benefits in both and no situation is objectively defined. But I think it is our need at this time to be awane of this, a self-awareness because that period in which over the years the great riches were being brought out and that everything covered up minds in which everything was being brought out, chronologies were being established, the names of shastras were being given, we were very anxious from the days of P.V.Kane and so on to establish and really make ourselves as legitimate in terms of underquote, we were anxious that dotings should be given, we were iconographaic and antonography (stastric) should be given, we were anxious that the shastra in terms of its authenticity, and the word "authenticity" I want to hold on to. I will dwell on it tomorrow because what constitutes an authentic text in the Indian tradition is a very different exercise than what constitutes a text of Shakespeare or some one. But I will hold on to that and speak much more about the different attitudes towards the different worlds and knowledge systems and that is what I will speak about rather than the lovely title that Urmila gave me; but in the light of this, Bahenji's contribution is unique in a way because in that sphere, as a person who combines in herself as I said in Hindi a little while ago, combines in herself a scholarship, a scholarship which comes first and foremost, in terms of the command on the language in which she is going to deal, her teachers in grammar, her teachers in Sanskrit Poetics, her teachers in terms of philosophy or the unparallel vision. Some of us have had the great fortune of sitting at the feet of Gopinath Kaviraj, and the combination of the prayoga tradition and this is where she was the teacher and guiding so much research.

How will we look at her work? We look at her work at first as someone who has seen this and began with her article on Śarīra and Ātmā. She moves through it very gradually, but I begin to see as a reader of her work, as a close reader of everything that Bahenji wrote and now that I see it together in this, and Urmila has very appropriately classified this into different heads, but **as I see her work, her work is first and foremost, and it is grounded in a philosophic vitsion. It is grounded in acceptance of another world view from which the whole aesthetic tradition emerges. And I think that it is very important for us to recognise this and to know this that she is not trying to justify the tradition in terms of what in other aesthetic tradition but is evaluating this tradition on its own terms.** And that therefore, I want to draw attention to why sereval articles in this whole series which I got proofs from many that are marked

are from the printed work and I want to just read this because today I want to just concentrate on her work in different ways. **"Aesthetics of music"**, and I quote, **"is that branch of musicology which is concerned fundamentally with problems of values in music."** Now this is a seminal statement because we have talked about aesthetic at the level of experience, we have talked about aesthetics in terms of the whole business of the skill of expression and aesthetic in terms of communication and the normal words of our discourse which we know, "anubhava" and "abhivyakti" and "sampreṣaṇa" but she's just jumping and writing on this problem of value and she just jumps in and goes and comes out as someone who must have read this and talked about aesthetics and then she goes on **"As a science responsible for the organisation of knowledge within this area, aesthetics depends upon many related areas of enquiry and draws upon** them freely as the occasion demands." It is just these six lines that I will be able to elaborate tomorrow. But today let's restrict ourselves to the ocean or let's watch the ocean of Prem Lata Bahenji's mind.

Exactly what she has said of the relationship of śarīra and ātmā and their being increasible categories more or less, she says "Indian philosophy of existence accepts a consciousness of double aspect of the material world and of the human being. In one aspect there is the force of knowledge (occult), and in the other that of Ignorance." We know these two Sanskrit words of it and unless we know the two Sanskrit words that she is talking about, the moment we put it in English language, knowledge, occult वह अविद्या और विद्या, परा और अपरा की बात कर रही हैं—सीधी-जहाँ तक हम लोग समझते हैं।

There are the examples I want to put before you. **"Consequently, Indian culture, including literature and arts"**, she says, **"accepts a double standared of values, one esoteric and the other exoteric."** Now, again a reader who is outside the tradition will read this, the two terms—esoteric and exoteric in a very different way than those of us who will read this in a very simple sense in terms of the "āntara" and the "bāhya". And I wanted to say that, then she makes up her case of the "aesthetic" itself and goes on "To talk about the different method," and I think this is one of the very clean enunciations, of the mythic in terms of from where the Indian musical theory and much more, the Indian aesthetic theory have come and from where the European theory becomes once again, what is the source from which she is getting all this. The source is "Uijjvala Nīla maṇi". Reading through this, I find that her whole exposition, put in very objective terms, is coming out of the text that I should know, she says so, of course, explicitly, when you find aesthetics, she is not going into Bharata's Nāṭya, she is not going into in terms of an explicit statement, she makes a clean distinction between the psychology of music and therefore the unitary principle of western or European thing and in India. So she says in India the existence of time immemorial not only universally accepted ideal of absolute and surpass beauty, you comtemplate on of all kinds of attitudes, but many Indians have actually realised this ideal at the level of transcendence, where ṣubjective and the objective corelate into a unique experience of identity with a difference or semblance of difference, a state theosophically described in the Indian tradition as "bhedābheda."

Now she turns it out, from that and it requires someone a reader, to know the whole discourse, to know from what this objective-subjective coming together she is talking about, and then she expounds her views on the rasa theory as also the distinction. In this again in the exposition, and as I said the bīja-mantra of Bahenji, even though she travelled through Bharata and Mataṅga and the Saṅgīta-Ratnākara and Rasa-kuamudī and everything about the bīja as I see it is all from the text and especially of the Goswamis. Because then she goes on to expound this and when she expounds her of aesthetic theory in the Indian tradition, all her examples come from these sources because she is describing aestetics as the saundarya of Kṛṣṇa, Bhaktirasāmṛtasindhu. She is describing the aṅga, and the upāṅga and the pratyaṅga. She is decribing even rūpa, she goes on to expound on that, she does not go into Ṛgveda or the Kaṭhopaniṣad, "Rūpaṅ rūpam......." but her source is Ujjvala-nīlamaṇi. And then naturally she expounds on *mādhuryam*

and other qualities. It is from all this that she then culls her theory that the philosophy of the Indian saṅgīta-śāstra offers possibilities of a culmination of the subjective musical and derived values from all aesthetic values. Now this is an argument which I think is a unique argument which we need to look at very carefully, because **she had moved now from feeling, from attributes of beauty to value which is ethical.** And I think that **it is a fascinating journey,** as far as I can make out—and **very few people, I would say, have made this journey in the exposition of a theory of aesthetics of moving not from function and significance which is found in Sgzanne anore and so an she moves in a very different way and therefore she takes us in to two very important words of the Indian tradition** which we can deal with and—Bettinaji is sitting here, she has written on it, Stella has written, Alice has written, even I have written something on it. Then she comes to which we have from a very different route of talking of the Puruṣa as the Saṅgīta-puruṣa, vāstu-puruṣa, āyurveda-puruṣa, etc. In short she is making statement of aesthetic tradition and doing this with great eaṣe. But makes the contrast alright because then she goes on to say that **the agent of aesthetic experience in Indian literature is the ordinary human personality of self of modern psychology, supraphysical or supramental entity is known as the Puruṣa.** I leave these supra words because we can feel what she means by that, because these are loaded words in English language supramental etc. **"having a feel of experience as a plane of eternal and ever increasing attitude gratitude beyond the physical."** What is she talking about **is the source of the 'darśana' which is so beautifully stated about by Srivatsaji is that we come from only that source.** There is a recognition in every minute every moment that it is not you but in source it is through you, and that source is which is undifferentiated aesthetic experience—that makes all the difference to the Indian aesthetics and theory putting in methodical terms of what Bharata says or what any of others, that **it is the source of that transcendental experience, call it by the name of anonymity or call it by any name,** but that is the source." **Unless you are in touch of that source there will be no creativity at all.**

On the other hand **there is another view, which cannot be generalised as the whole of the European tradition,** because in the European tradition there is all that of the series of Truth etc. **But Bahinjee recognises the other stream, which is contrary to their agents of aesthetic experience, unless one can not generalise all that.** As the human being is looking for ordinarily physical and cultural experience of temporary, though profound base. All I want to say that it is from this philosophical base and the understanding of the tradition, on its own terms and in the aesthetic sense.

Then Bahinjee proceeds further in her essay on the levels of aesthetic experience. She has put the whole theory and the experience of all the levels in what she speaks about is something which is common language to us, Bahinjee has put it in such clear and lucid terms the whole theory of communication and what is it that you can as the creator get, and what you as the medium get, to a receiver, and I would call it that as Bahenji's exposition of the modern reception theory.

All points of Bahinji's exposition relate to solid textual tradition grounded as she was in the śāstra as grounded she was in Saṅgīta and the Sāhityaśāstra of Indian Sanskrit tradition, grounded she was in terms of the grammar of that tradition. **I would say that here is one of our finest textual scholars of our century. In this field no one has gone into the nature of that textual tradition specially in the texts of Music in Saṅgīta Śāstra** as we call it, I would say, **as Bahenji went into them.** Whether it was an early work as Rasakaumudi of Srikanṭha and with great delight she is not going into it in a blind way. She pulls up Srikantha in more ways than one. She looks at this work in relation to the contemporary writings, and therefore she looks into the history of Saṅgītaśāstra, and this chronologically earlier work Rasakaumudi. She takes great pains analysing the details. I want to give you just one example of the method of her analysis. I can't go elaborately but this is my homage to her scholarship.

(Reads quotations from the book.)

Capacity to penetrate in other people's heart as other people and the way she has been able to identify with the requirements of the reader who looks into the whole nature of saṅgīta, is just brilliant.

And it is in that article of Aesthetic experience—where she takes up the last point.... Then she comes out with the textual tradition where she is able to identify the requirements of the person who looks into the whole saṅgīta and its śāstra.

I will have to say something more before we come to the conclusion, on the question of what is necessary to contextualize any of these in reason, in spirit and in time, tomorrow. And the only thing which I would like to take out tomorrow is the questions of the knowledge system on this, what we are talking about today.

She has great command in, where only she and very few others mention to other people over the textual and technical questions in the Art, naturally with the master command she goes into the classification of the Ragas, the relationship of the Ragas to Karnatak system of the Melas and the Thāṭs of other system, and she does this with a masterly brilliant manner. Because she could have gone lost in all kinds of other descriptions, but there is a capacity of control.

Ultimately here is her exposition which I highly not only enjoy, there would be students of Aesthetics, and Saṅgītaśāstra sitting here, so I dare not speak on the subject; we take it for granted that this whole business of Ṛtuvarṇana, and the whole description of the Ragas and Ragini's and something which belongs to the tradition for ever and ever, but **she analyses the beginnings of the whole question of Ṣaḍṛtuvarṇana and how it walks into Music, and gives us a very firm and fine description in both spheres—historical and analytical things.**

I am someone, who has been very closely associated with her, as I have this occasion, but I will not speak about her other textual works, but would like to mention Bharata Bhāṣya of Nānyadeva which she did earlier; but I will have something to say not about her textual studies which she related to Saṅgīta Ratnākara which she guided and wrote along with another collague, but would like to mention her works on Mataṅga and Bṛhaddeśī because when Bahinjee was doing this work, I think, we had several hours thinking about it, debates and disagreements on certain points, but we were joining in the queries, because Mataṅga comes after Bharata. It is true that he is talking about the Rāga system the first time, but more that he is the one who begins the investigatory system, a classificatoy system, which is the basis of the discussions of all debates in not only Music but also in other Arts —because as the title of the book itself is Brihad Deshi-on that, and in normal kind of categorisation when we wrote in English language, we simply come through with this Margī and Deśī and classical and folk, and the two problematic and the most common terms in Indian classical system are these Margi and Deshi.... and we come to that other problomatic term Loka, on which also Bahinji has writen brilliantly in Kalātattvakośā—because this has caused such confusion in critical writing in English language by talking about Mārga as equal to classical and Deśī as equal to folk and **it is my friend who does this exposition of the classification in which we are back in the relation of Śarīra and Ātmā, Ātmā can be Śarīra and Śarīra as Ātmā on some other level, and there are the levels where Mārga and Deśī can be marked.**

In fact there are some points on which Bahinjee and me have discussed. मैंने कहा यह समझ में नहीं आ रहा—यह कह रहा है कि देशी प्राथमिक श्रेणी है और मार्ग उसके अन्तर्गत आता है—यह कैसे बात बनी ? और उसके बाद 'देश' का मतलब क्या हुआ ? तब हमने बार-बार उन स्थलों को पढ़ा, दोहराया और मिलकर समझ पाये कि **He is talking about this classificatory system, but he is also telling you that in this classificatory system the catagories are reversable, they are not fixed categories, they are not categories in terms of hierarchial sense, so that really reverses the whole view of thinking, it reverses the view of thinking about them in hierarchial**

cultures and one ascending to the top paramedical structures. This is the only dicussion I have to make. That is one of the great big falls of critical scholarship because we have tried to adopt these categories in terms of explaining this. **Bahinji is looking at Mataṅga in this context, because there is no other text which explains this. Bahinji could do that, because she had command on the nature of this tradition, and she could relate her own experience in going into a text like Mataṅgas Bṛhaddeshi. This is very very important and I would say extremely important textual study that I think bahinji has left behind as her work on Brihaddeshi, and the seminars which the orgnaised.** She only could reconstruct the text from its fragments we had, and she established it in the flow of whole tradition in its dynamics of continuity and change, and in its placement of the nature of the tradition and position of classification of knowledge and also expression of it, she made a great contribution. I would like to pay my pranams to her on this account.

Now I want to go on to the other aspect of Bahenjee. **She was not just a dry scholar, she was undoubtedly the student of the great Pandits of both the oriental traditional system and the modern system of Varanasi, but she had also sat at the feet of Pt. Omkarnath Thakur, she had learnt Music in its course and many of her insights came in the textual tradition, because here was a lesson who was at first a foremost lesson who knew her Svara, because no textual tradition and śāstra could take place without your skill and cautious conscience over Prayoga. Bahinjee was wholly a Prayogaśāstrī, in that capacity.**

In this volume **what more comes out is her great capacity into the historical tradition of the Indian Musical Systems. Now from that Aesthetics and textual criticism and classificatory system we are into her work as a person who can accomplish in prayoga as well.** There is an interview with Bahinjee in the A.I.R. where she demolishes all the definition of Gāndhāra Music, and then analyses what the word Gāndhāra implies. There is a most brilliant and stimulating discussion,which could only happen in these great scholars–Acarya Brihaspati and Bahinjee. Who else could go into that and this is only a transcript of a radio talk. She says Upasvara of the harmonic is the 'gandha' of svara.

(Reads quotation from the book.)

She goes on an elaboration of the topic and then comes on the deduction of that comes out of it that the Gāndhāra has to be a different Music because it is on the other level on the one hand because it is Śāśvata, can give you a fragrance but which you could not be able to hold. It is very meaningful and beautiful.

She goes into a structure in her another brilliant essay on Prabandhas. These prabandhas, **once again she relates here the theory, history and practice and reminds us that these prabandhas are not to be equated with the prabandhas of Sāhitya.**

She reminds us that the prabandhas of music are not only what we call today the bandish of Hindustani music, that the prabandhas are intermediatery construction and are of structural catogery. We have to look at that, as her concern is with categories. Going through this thing she obviously demonstrates here and explains the distinction what we understand by the destination what we understand by the English word composition as offered to word prolonged as a musical structure in movements totally in Indian tradition, But most interesting is the common misconceptions which she removes by skill in her article on Thumari, because Prof. Ananda Krishna ji and Shrivatsaji are here, Rasika of Rasikas, I could read out many passages from here, but I would read here three lines, the crust of her argument. (reads.)

This is a very major theoretical statement. Here she traces the History of a Music which may be equated to, which takes the view of Thumari in later period. Then **with her excellent absolute results she**

goes to pūrvaraṅga paścimaraṅga and talks about the languages and all but in terms of origins she places it back to the earlier texts, traces it to the Gītikāvyas the Muktaka and then arrives at her own conclusion in terms of Thumari. I will not take you into her another brilliant essay on the Gamaka. There **she again has related not only theory and practice but also goes into the technicalities wholly, the use and employment of gamaka in Hindustani music and Karnataka music with giving examples.** That is the skill part of Bahinji is evident in her through the theory or I would say the presentation of it. **But Bahina ji was not just theorist or just a performer, she could very well be inside both of. But Behen ji was above all a creative person and she used her creativity, or gave manifestation अभिव्यक्ति to her creatinty in a very close related field, and in that was the field of drama, because she was living and receiving her knowledge of Nāṭyaśāstra, specially the chapters of Music,** on which we had many, many discussions and **I hope those chapters will get published one day which is lying in the history of Ujjain project.** But there I was a participant of the presentation and now in modern term reconstruction or recreation of the last prayoga tradition from the śāstra, that is her presentation and direction of the Pūrvaraṅga of Nāṭyaśāstra. There most critically she goes into all those ten phases which are lost in the practice tradition, lost even in the present Sanskrit dramatic tradition and in the creative tradition and almost by the time of Kālidasa some of the traditions of Pūrvaraṅga had been undergone then. But she recreates them and then she begins with many presentations of Kālidāsa and Bhavabhūti. I can very well remember recreating the whole performing tradition of the Nāṭyśāstra, specially in the pûrvaranga and the presentation of the plays of Kālidāsa.

But as I have said the Bhāva of Bahenji's life is still there and it lies in Vrindavana. Therefore the creative Bahenji has to go back Vrindavan to create the Bhramara-Gīta, Veṇugīta, Yugma-Gita, Govinda Birudāvali, Krishna Prasanga etc. What she did in Vrindavan and Bhai Srivatsa knows much more about it, But I know that **her भावनात्मक 'emotional' entity came out when she composed these gitas etc.**

Here is a person where grammar, poetics, Music and whole drama, theory and practical skills, performer, director, creater, all lie in harmony. This is enough but Bahenji was much more than that she was an administrator also , she was an organisor. Early in her life she was a lecturer in Music College then reader in Musicology department. But from there she rose and as one knows her association with Daniel because I happen to belong to the same generation and can recount many events. Then the Dean of the faculties of music and fine Arts., Laltita Kala etc. Further the Vice Chancellor of IKSV-- Khairagarh university and the culmination of her organising and administrating abilities and capacities was in her work as being the Vice Chairmen of Sangeet Natak Akademi, and **what she did to assert the confidence and what she did to ignite people's curiosity to feature lost conditions and traditions—all that brought together. This person was the ideal teacher producing not only extraordinary PhD, but produced a group of profound scholars and people, who are now great professors and the vice-chancellors** in **universities, also many foreign scholars as Harold Powers, Lewis Rowell, Francoise Delvoye Nalini, Allyn Miner etc. and at last this Selina Theilemann** to whom she could give the least attention but through whom are being published these two huge volumes as the PhD. theses under PLS guidance.

Bahinji's own research work began with works of shri Rupa and Jiva Goswamis and at last as her own work the Bhaktirasāmrita Sindhu editions and her last pupil's work is on the music traditions of Vaiṣṇava temples of Vraja. These two volumes are dedicated to her guide- Bahinji. The contents of these volumes are all about the work with which Bahinji was related. She was promoter of Dhrupad Samaja Gayana. It is, to that Behanji and to her pupils I pay my respect today.

★★★

व्याख्यान का समाहार

अध्यक्षश्री—श्रीवत्स गोस्वामीजी

वास्तव में विधि से इस उत्सव का कल प्रारम्भ हुआ स्वरमय, रागमय। विद्याजी ने पद गाया—वे शब्द ही मेरे शब्द हैं आज के—''अब मैं आप को कैसे रिझाऊँ!''—जिस रसधारा में, जिस विचारों की अर्थ-गम्भीरता में हमने गोता लगाया अब तक-उसके बाद ''कछु न सूझे, कल न परे, का से कहूँ यह मोरी बिथा!'' .... आप से ही कहूँ। ''यह भेद न पाये गुनीदास बिना।''

काशी की प्रतिभा है कि जिसको जहाँ नहीं होना चाहिये—वह उस आसन पर हैं; जिसमें योग्यता नहीं है, उसको इस गम्भीर विचार-चर्चा के समाहार का दायित्व सौंपा गया है। यह जो प्रक्रिया हो रही है यह inauthentic है। क्योंकि authenticity की बात कल होगी, जब आपको वास्तव में प्रामाणिक अध्यक्ष मिलेंगे। तब तक आपको प्रतीक्षा करनी होगी। मेरा वक्तव्य केवल इतना ही है कि मैं धन्य हुआ, व्यक्तिगत रूप से मैं धन्य हुआ। आदरणीया कपिला बहिनजी की कृपा है कि समीप का आसन मुझे दिया। इस उपासना में मैंने उन शब्दों को देखने की चेष्टा की, जो आपके मुख से झरे, उनकी सुगन्धों को सूँघने की चेष्टा की, उन शब्दों को छूना चाहा, स्पर्श नहीं कर पाया। किन्तु जितना भी श्रवण हुआ, अपनी परम्परा से गुरु-स्मरण करते हुए उसका कीर्तन करना चाहूँगा। बहुत अद्भुत था वह। कीर्तन इतना ही है—क ख ग घ ......। जो वर्णमाला है, जितने स्वर हैं वे आपकी सेवा में है—रचना आप बनायेंगे, अपनी रुचि के अनुरूप।

एक कथा का स्मरण कराता हूँ। काशी की घटना है। १५१० ईस्वी की बात है, यहीं एक चर्चा हुई थी दो संन्यासियों के बीच में। काशी के उस समय के सूर्य-श्री प्रकाशानन्द सरस्वती विचार-सभा के अध्यक्ष थे और एक मतवाले कृष्णान्वेषी संन्यासी वृन्दावन की खोज में जाते हुए काशी रुक गये थे श्रीकृष्ण चैतन्य। चर्चा यही थी कि यह जो महद् अनुभव है, उसके लिए महती दृष्टि क्या होगी? जिसके दोनों छोर-आद० कपिला बहिनजी ने आज आपको इङ्गित कराये हैं— मार्गी-देशी, लोक-शास्त्र, अन्दर-बाहर इत्यादि इत्यादि। क्या हम इनको काटकर अलग-अलग देखते रहेंगे? क्या हम आश्रय-विषय दोनों को अलग ही करके देखते रहेंगे? या एक को नकार देंगे? और एक से दूसरे का सम्बन्ध भी नकार देंगे?—चर्चा आगे बढ़ी, चर्चा बड़ी गहरी थी, ईमानदारी की थी, इसमें आत्मा, मन, बुद्धि और सब प्रक्रियायें एक साथ सन्निविष्ट थीं। वहाँ 'प्रकाशानन्द' की यात्रा 'प्रबोधानन्द' तक पहुँच गयी। विचार यह बना कि इस समग्रता को देखने के लिये, देखने की तर्क प्रणाली तो चाहिये, उसके बिना नहीं देख पायेंगे। बात बनेगी भेदाभेद से। यद्यपि बहुतों के लिये यह भेदाभेद एक 'अचिन्त्य' प्रत्यय हो सकता है। इस शर्त तक वे गये। वह सत्य की आधारभूमि की बात थी—'अचिन्त्य' की स्थापना। इस प्रत्यय पर आचार्य के०सी० भट्टाचार्य जी ने जब दृष्टिपात किया तो कुछ विलक्षण घटित हुआ। सत्य-ज्ञान की तर्कपूर्ण मीमांसा की भाषा में वे 'रस' की बात करते हैं। उस बात को आगे बढ़ाते हैं हमारे प्रातःस्मरणीय आचार्य टी०आर०वी० मूर्त्ति जी। वे कहते हैं कि यह प्रस्थानभेद की बात है, लड़ाई-झगड़े की बात नहीं है। ''रुचीनां वैचित्र्यात् ऋजु-कुटिल-नानापथजुषां'' वहाँ की बात है। पर अपनी दृढ़ तटस्थता रखते-रखते भी कहीं वे बोल Áatöâ "But even then, **Rasa is a thicker concept.**" क्योंकि उस रस में न हम आश्रय को निकाल सकते हैं, न विषय को निकाल सकते हैं। यदि हम 'परम अहन्ता' हो जायेंगे तो विषय को छोड़ देंगे। और यदि 'वस्तुतन्त्री' हो जायेंगे तो आश्रय को छोड़ देंगे। अस्तु।

धन्य है वह परम्परा, वह भारतीय दृष्टि, जिसको शब्दावली प्रदान की हमारे आचार्यों की परम्परा ने। उसका दर्शन कराया हमारे राय साहब ने, आचार्य वासुदेवशरण अग्रवाल ने, आनन्द कुमार स्वामी ने। वह break through था वह epippany थी भारतीय चिन्तनधारा की; यहाँ पर वे सेवायें हुईं उस समृद्ध परम्परा की। वे शब्द शब्दावलि बनकर रह जाते, किन्तु नहीं। यह भारत की एक सशक्त धारा है, बहती रहेगी सार्थक।

आज जिन (प्रेम) बहनजी का हम स्मरण कर रहे हैं, और जिन (कपिला) बहनजी ने उनका स्मरण जीवन्त किया है,

उन्होंने वह करके दिखाया है; उस भारतीय अनुभूति को तथा उसकी अभिव्यक्ति को जीवन्तता प्रदान की है। ऐसी विभूतियों के कारण इस देश में परम्परा बनी रही है।

श्र० प्रेमलता-बहनजी की परम्परा की एक बात कहनी है। बार-बार आपने इङ्गित किया उनकी परम्परा के बारे में, विलक्षण थी वह परम्परा। वही अचिन्त्य भेदाभेदवाद का चिन्तन कराने वाले वे मतवाले चैतन्य प्रभु जब वृन्दावन आए, तब यहाँ वृन्दावन नहीं था। भौगोलिक वृन्दावन नहीं था। अर्थात् सोलहवीं सदी के प्रारम्भ तक वृन्दावन का सही भूगोल किसी को ज्ञात नहीं था। श्री चैतन्य ने इस भूमि पर अपनी अंगुली रखी कि यह वृन्दावन है, तब इसकी पुनः सृष्टि हुई, पुनः प्रकट हुआ वृन्दावन। उस वृन्दावन को प्रकट करने के लिये, यहाँ की सेवा प्रकट करने के लिये, धाम और धामी को प्रकट करने के लिये उनको सेवकों की आवश्यकता थी। तब छह वर्ष उस मतवाले ने देश में घूम-घूमकर विद्वत्प्रतिभाओं को चुना। इनमें तीन यवन थे। छह गोस्वामियों में से तीन यवन थे (यवन हो चुके थे); पर उन्हें चुना। किसी भी चीज को आड़े नहीं आने दिया। सत्याग्रह में कोई बाधा नहीं पड़ने दी।

'गोविन्द' का विग्रह प्रकट हुआ, जमींदोस्त विग्रह जमीन के भीतर से प्रकट हुआ। श्री चैतन्य का एक पत्र आता है पुरी से वृन्दावन में—गोस्वामियों के पास—"गोविन्द देवेर सुवर्ण सदन तैयारी करो" Oneline dictum—"Create a house of gold, a glittering house of gold!" इन छह भिखारियों के पास यह पत्र आता है जिनके पास दो लंगोटियों के सिवा कुछ भी नहीं है। किन्तु गुरु की बात को शिष्य ही समझता है, इसीलिये परम्परा की महत्ता है। १५२० से लेकर १५७५ तक ये छह गोस्वामी उस मकान को बनाते हैं किन्तु पहले कोई मन्दिर नहीं बनाया। वे उस प्रासाद को बनाते हैं जिस प्रासाद का शरीर है ६८ ग्रन्थ। गुरु का आदेश था—स्वर्णमन्दिर बनाओ। इन्होंने बनाये अड़सठ ग्रन्थ। श्रीमद्भागवत की टीकायें लिखीं, नाटक लिखे, काव्य लिखे, पद्य लिखे, चम्पू काव्य लिखे, बिरुदावली लिखी। व्याकरण लिखे। क्योंकि व्याकरण तो मरुस्थल है जिसमें जो घुस गया उसे जो मिल गया-मिल गया, नहीं तो उसी में वह समाप्त हो जाता है। तो उस व्याकरण में हरिनामामृत डाल दिया; सरस बना दिया उसे। कुछ लक्षण-ग्रन्थ लिखे, और वह वस्तु दी जिसके कारण से वह भूमि 'धाम' बनी। 'सूर' को दर्शन कराया, जैसा था वैसा दर्शन करा दिया। वह वस्तु क्या है? जो अनावृत है,—"ज्ञानकर्माद्यनावृतम्"। किसी भी आग्रह से जो अनावृत है वही वह अद्वय वस्तु है। तभी सूर कह सके—

"आज देखे हरि नंगम नंगा" "वे जैसे हैं वैसे मैंने देख लिये।"

यदि यह (ग्रन्थ) त्रयी नहीं होती—श्रीरूपगोस्वामीपाद की—१. भक्तिरसामृतसिन्धु, २. श्री उज्ज्वलनीलमणि और ३. नाटकचन्द्रिका—सिन्धु में डूब कर उन्होंने उज्ज्वलनीलमणि को न निकाला होता, तो आज बात व्रज की बनती नहीं। "कहँ लौं कहिये व्रज की बात।"

यह उज्ज्वल वाङ्मय स्वर्णमन्दिर बनने के बाद १६७५ से ९० तक फिर मन्दिर बनते हैं। वृन्दावन में ऐसा प्रासाद बना जिसकी टक्कर का भारत में प्रासाद नहीं (श्री गोविन्द देव-मन्दिर) भारत का संभवतः सबसे बड़ा एक छत के नीचे बना हुआ एक स्थापत्य वाला मन्दिर बना जो १५९० में पूर्ण हुआ। और भी मन्दिर बने। फिर वहाँ पर विशेषतया मन्दिरों में उन शास्त्रों को प्रकट करने के लिये सेवायें प्रकट हुईं। रासलीलायें हुईं, साँझी बनीं, फूलबंगले बने, शृंगार की परम्परायें बनीं, भोग-राग-समाज आदि-आदि एकदम विस्फोट उस साहित्य का दैहिक रूप में वहाँ होता है। और वह अद्भुत परम्परा आज भी जीवन्त बनी हुई है। वह परम्परा है रस की अनुभूति की, रासानुकरण की, रस को दृश्य-आस्वाद्य बनाने की—जो श्री रूप गोस्वामी की नाटकचन्द्रिका के आधार पर चलती है।

मैं धन्य हूँ, पुनः पुनः धन्य हूँ कि आज बहनजी के उस विपुल विशाल सिन्धु में अवगाहन करने का हमको, हम सबको जो एक सुअवसर प्रदान किया है श्री कपिलाजी ने, वह अद्भुत है। इसलिये भारत की एक दिव्य परम्परा है—गौमाता में निष्ठा। आज हम सब का ऐसा सौभाग्य है कि नाम-स्वनाम-धन्य यह गौ हमारे बीच हैं। जिसने हमें अमृत दिया। हमारी स्थिति क्या थी? "ऊपर हिम था" एकदम सघन ऊँचाइयाँ विचारों की, किन्तु ज़मी हुई। उसका हम क्या करते? उससे हमें क्या मिलता?

किन्तु अपनी वैचारिक ऊर्जा से उसे जिस सरलता से आप पिघला कर लाईं और उस धारा को गङ्गा के रूप में हमें पिलाया है—उसके लिये 'धन्य'-वाद के अतिरिक्त और कोई शब्द नहीं है।

आद० प्रेमलता-बहनजी की एक दूसरी सेवा का आपने उल्लेख किया है, गोविन्ददेव की वाङ्मयी मूर्त्ति की सेवा, मूल में वह आपही का सेवा-सङ्कल्प था कि वह त्रयी-भक्तिरसामृतसिन्धु, उज्ज्वलनीलमणि और नाटकचन्द्रिका—I.G.N.C.A. के द्वारा प्रकाशित हों—हिन्दी में और अंग्रेजी में—सामान्य पाठको के लिए सरल अनुवाद सहित, विशेषज्ञों के लिये विशेष विमर्श के सहित पूरे उपकरणों सहित प्रकाशित हो; पहला खण्ड प्रकाशित हुआ, उसके बाद दूसरे की अधिकांश तैयारी करवाकर बहनजी ने अपना वह पार्थिव शरीर छोड़ दिया, किन्तु परम्परा को बनाये रखकर आशीर्वाद देकर गयी हैं। सौभाग्य से उनका पूरा कार्य डॉ० ऊर्मिला शर्मा ने संभाला हुआ था, उज्ज्वलनीलमणि का भी बहुत कुछ प्रारम्भ वे स्वयं कर चुकी थीं। इधर चर्चा हुई I.G.N.C.A. के वर्तमान संचालकों से तो यह जानकर सुखद आश्चर्य हुआ कि अभी भी रूप गोस्वामी की इस प्रस्थानत्रयी—तीनों ग्रन्थों का प्रकाशन—हिन्दी और अंग्रेजी-दोनों का-उनकी कार्यसूची की प्राथमिकता में है। बहुत मजेदार इतिहास था कि जब भक्तिरसामृतसिन्धु प्रकाशित होने जा रहा था तो प्रश्न हुआ कि इसके तो दस-बारह अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं! किन्तु जैसा कि ऊर्मिलाजी ने कहा कि 'भारतरत्न' वही है जो भारत के रत्नों को पहचानता है; इन्होंने कहा किन्तु इनमें से कोई भी प्रेमलता शर्मा का किया हुआ अनुवाद नहीं है। जो सब अनुवाद प्रकाशित हैं, उपलब्ध हैं उन्हें आप देखिये तब इस अनुवाद तथा विमर्शादि सहित सम्पादन का महत्त्व समझ में आयेगा। अस्तु।

आद० प्रेमलता बहिनजी की सारस्वत साधना के एक और बिन्दु का आस्वादन करना-कराना चाहूँगा। माँ सरस्वती की विद्यात्मक कृपा जिस तरह बहिनजी की शास्त्र-सेवा में स्पष्टतया स्थापित हुई, उसी तरह भगवती की कलात्मक कृपा प्रस्फुटित हुई बहिनजी की गेय-सृष्टि में। भरत-नाट्यशास्त्र के अध्ययन के विविध प्रयोगों, कालिदास-भवभूति के वाङ्मय की मञ्च पर प्रस्तुतियों आदि में तो अनेक प्रकार से गेय-सृष्टि हुई ही थी, पर उनकी शास्त्र एवं कला—इन दोनों ही धाराओं का उत्स भक्तिशास्त्र (भक्तिरसामृतसिन्धु, उज्ज्वलनीलमणि—नाटकचन्द्रिका पर Ph.D.) एवं श्रीमद्भागवत के हृदय-स्थानीय गीतों (भ्रमरगीत, वेणुगीत, युग्मगीत) तथा श्रीरूपगोस्वामी की ही सरस-विकट रचना गोविन्द-बिरुदावली के कुछ अंशों को सङ्गीत देकर बना।

सर्वथाभाव से बहिनजी का सम्बन्ध जिस तत्त्व से रहा वह है श्रीमद्भागवत में प्रतिपादित सम्बन्धितत्त्व श्रीकृष्ण ही। उस अद्वयतत्त्व की प्राप्तिहेतु अभिधेयतत्त्व का सम्यक्ज्ञान नितान्त आवश्यक था, और यहीं से बहिनजी की शास्त्रसाधना प्रारम्भ हुई और पूर्ण भी। श्रीरूपगोस्वामी के भक्तिरसामृतसिन्धु में श्रीकृष्णभक्ति ही अभिधेय तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित है। वर्तमान विद्वज्जगत् को इस प्रौढ़ शास्त्र का ज्ञान कराने हेतु ही बहिनजी ने इस पर शोध प्रबन्ध लिखा था और अन्त में इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद भी सबको सुलभ करा गईं।

मूलतया व्रज के भाव और भूगोल में पलीं-गढ़ीं प्रेमलता बहिनजी की साधना का प्रयोजन श्रीकृष्ण-प्राप्ति ही रहा। शास्त्र के प्रतिपाद्य का मूर्त्तरूप मिलता है कलात्मक अभिव्यक्ति से—जिसे हम 'गेय'/सङ्गीत आराधना कहते हैं।

१९९३ में आद० प्रेमबहिनजी श्रीधाम वृन्दावन पधारी थीं। वहाँ भ्रमरघाट पर इन्होंने पूज्य जगद्गुरु श्री चैतन्यसम्प्रदायाचार्य श्री पुरुषोत्तम गोस्वामी जी महाराज से श्रीमद्भागवतपुराण की दिव्य कथा का सप्ताहविधि से श्रवण किया। इस यात्रा में बहिनजी की सर्जनात्मकता का एक नया आयाम प्रकट हुआ। भ्रमरघाट पर स्थित गम्भीरा आश्रम उनकी परिचित कार्यस्थली थी ही। १९८० में यहीं पर केन्द्रिय संगीतनाटक अकादमी तथा श्रीचैतन्य-प्रेम संस्थान के सहयोग से बहिनजी के निर्देशन-सञ्चालन में ध्रुपद-समारोह का विराट् आयोजन हुआ था, जो फिर १९९० तक प्रतिवर्ष संस्थान द्वारा अनुष्ठित होता रहा। किन्तु पू० महाराज जी की प्रेरणा से १९९३ में बहिनजी ने श्रीमद्भागवत के पञ्चगीतों की सङ्गीतमय प्रस्तुति का जो सङ्कल्प लिया, उससे दिव्य रस की अभिव्यक्ति की नवीन किन्तु विलक्षण शृङ्खला का प्रारम्भ हुआ।

श्री चैतन्य प्रेम संस्थान तथा भरतनिधि के घनिष्ठ सहयोग से—१९९४ में भ्रमरगीत-सङ्गीत (गेय, वाद्य के साथ कथक शैली में एकल अभिनय-प्रधान नृत्य) १९९५ में नन्ददासजी-कृत भँवरगीत का भरतनाट्यम् शैली से गीति-नाट्य-नृत्य एवं

''श्रीकृष्ण-लीला-प्रसङ्ग'' शीर्षक से विविध लीलाओं सम्बन्धी पद-पद्यावलि-सङ्गीत के साथ कथक में ही एक अभिनय-नृत्य, १९९५ में ही फिर वेणुगीत का कथक में सामूहिक नृत्य प्रयोग तथा श्री रूपगोस्वामी की सरस-दुरूह रचना श्री गोविन्दबिरुदावली के अंशों पर भरतनाट्यम् में सामूहिक नृत्य-प्रयोग, और १९९६ प्रारम्भ में युग्मगीत पर ओडिसी शैली में एकल नृत्य प्रयोग— सभी बहनजी की ही अद्भुत सङ्गीत-रचनायें थीं।

यह दिव्य सङ्गीत-सृष्टि आगे बढ़ रही थी। श्रीगोपीगीत (श्रीमद्भागवत-रास प्रकरण) की रचना मूर्तरूप लेने लगी थी। उसी के अन्तिम श्लोक ''रुरुदुः सुस्वरं राजन्'' पर बहनजी कहती थीं—''देखना, इस गीत की ऐसी रचना करूँगी कि पद-पद पर रुलाऊँगी, और सबको खूब रुलाऊँगी!'' .... वह अव्यक्त ही रहा। बहनजी स्वयं अव्यक्त हो गईं हम सबको रुलाने के लिए।

जिस समय उनकी यात्रा व्यक्त से अव्यक्त हुई, वे अपने प्रेमास्पद-प्रयोजनतत्त्व प्रतिपादक शास्त्र उज्ज्वलनीलमणि का अन्वय पूरा कर रहो थीं। वह अवदान सुरक्षित कर गईं हमारी 'छोटी बहनजी'—ऊर्मिला शर्मा के पास, जो सदैव उनकी सहयात्री-सहकर्मिणी रही हैं। उज्ज्वलनीलमणि एवं नाटकचन्द्रिका का प्रसाद हमें अवश्य प्राप्त होगा।

बहिनजी के संगीत और विद्याजी के गायन की पंक्ति से ही बात पूरी करता हूँ—''कहँ लौं कहिए ब्रज की बात!'' कहँ लौं कहिए ब्रजरस-कृष्णरसभाविता-नित्यवृन्दावनवासिनी बहिनजी प्रेमलता शर्मा जी की बात! उनकी प्रारस्वत साधना श्री रूप गोस्वामी के तीनों प्रमुख ग्रन्थों के शोध-अध्ययन-अंग्रेजी संक्षिप्त अनुवाद से प्रारम्भ हुई और इन्हीं के हिन्दी-अुनवाद-विमर्शादि के साथ पूरी होती है। मध्य में है गेय-आराधना की एक लम्बी शृङ्खला, जो इस शास्त्र में प्राण डालती है।

इस साधिका-आराधिका को शत-शत नमन। राधे! राधे!

★★★

.१०.

प्रो० प्रेमलता शर्मा-स्मारक-व्याख्यानमाला का द्वितीय दिवस ५.१२.२०००

"भारतीय संस्कृति में कलात्मक रसाभिव्यक्ति"

व्याख्यान : डॉ० श्रीमती कपिला वात्स्यायन

अध्यक्ष : प्रो० राय आनन्दकृष्ण

मङ्गलाचरण : डॉ० ऋत्विक् सान्याल

अध्यक्षीय प्रारम्भिक : श्री गुरुजी, एवं अन्य सभी विशिष्ट देवियो और सज्जनों! मैं समझ नहीं पा रहा था कि गुरुजी* को किस प्रकार सम्बोधित करूँ।

एक गुप्तकालीन शिलालेख है, उस का शब्द लेता हूँ, उस में हैं—"अन्वयप्राप्तसायुज्यम्"—उसी के आधार पर मैं कह सकता हूँ—"अन्वयप्राप्तशिष्यत्व" मुझ में है, और इसका मुझे बड़ा गर्व है। आज उन्होंने बलात् मुझ को यहाँ बैठा दिया उनकी आज्ञा शिरोधार्य है, अन्यथा इस के लिये बहुत छोटा समझता हूँ अपने आप को। सोच नहीं पा रहा था क्या बोलूँ; इस के योग्य भी नहीं हूँ और सङ्कोच है कि इतने सुन्दर व्याख्यान के बाद क्या बोलूँ? पर आज के प्रथम मंगलाचरण ने मुझे उबार लिया—उस में पहले ही था "मूकं करोति वाचालम्" इसलिये मैं थोड़ा वाचाल हो गया हूँ, वस्तुतः मूक ही हूँ।

सर्वप्रथम तो दो शब्द श्र० प्रेमलता बहिनजी के सम्बन्ध में कहना है। उनके भव्य व्यक्तित्व का भौतिक स्वरूप तो अब हमारे सामने नहीं, लेकिन जो चित्र मन में आता है, तो जैसे गङ्गा में (पहले गङ्गातर पर ही रहा हूँ अनेक वर्ष) एक छोटी धारा कभी दिखती है, एकदम उज्ज्वल, उसको हम मानते हैं कि सरस्वती की धारा है, वह गङ्गा में लुकाछिपी करती रहती है, कभी प्रकट होती है, कभी लुप्त, लीन हो जाती है, वैसा ही बहिनजी का चित्र आता है। रात पड़ा-पड़ा सोच रहा था, मैं किसी जमाने में ६-६ घण्टे सूत कातता था, तब खादी का जो सूत एकसार निकलता है एकदम श्वेत, स्वच्छ, उसके पीछे गुंजन चलता है चरखे का, और वह निरन्तर चलता रहता है, वैसे ही जब बहनजी बैठती थीं तब कैसा सरस्वती का प्रवाह बहता था! क्या वे हम लोगों के बीच का प्राणी थी? या वे ऐसी दिव्य छाया थीं जिन को हम पकड़ नहीं पाये। मैंने जो इस जीवन में बहिनजी को देखा, ऐसी अनुभूतियाँ हुई ऐसा स्वच्छ चित्र और मैंने नहीं देखा। यह संस्मरण के रूप में आप से कहना चाहता हूँ, पहले दिन जब वे का० हि० वि० आई थीं—एम० ए० की परीक्षा देने, उस दिन कॉलेज of Indology में कुछ समारोह था, जिसमें 'वन्दे मातरम्' गाने के लिये उन्हें ले आया गया था, उन्हें देखा, उनका सधा और मधुर सुस्पष्ट कण्ठस्वर सुना, उसी दिन लगा कि हम सगे बहन-भाई हैं। वह सम्बन्ध निरन्तर दृढ़तर होता गया, व्यापक होता गया। बहुत प्रेरणायें उन से पाई। मैं बहुत बार धोखे में रह गया, कपिलाजी को मैं बड़ी बहन समझता था, इन्होंने एक दिन कह दिया कि मैं तो आप से छोटी हूँ। इस तथ्य को मैं कैसे गले उतारूँ? इसी तरह बहनजी को भी बड़ा ही मानता था, पर वे कई वर्ष छोटी थीं मुझ से। लेकिन यह कभी समझ में नहीं आया कि वे छोटी हैं या बड़ी है, प्रेरणा देने वाली थीं। ऐसी शक्तियां तो दीपक की तरह उपस्थित होती हैं। जैसे

* आचार्य श्री श्रीवत्स गोस्वामी जी

मैं मौलसिरी के पेड़ के नीचे बैठा होता हूँ और आशीर्वाद की तरह धीरे-धीरे ऊपर से फूल झरते रहते हैं, फिर वह क्रम बन्द भी हो जाता है, उसकी सुगन्ध रह जाती है उसी प्रकार बहनजी हमारे बीच आई, प्रेरणा, प्रकाश और सुगन्ध बिखेरती रहीं।

आज के व्याख्यान के विषय में मैं कुछ भी कहने के योग्य नहीं हूँ। यह मैं स्पष्ट रूप से कह सकता हूँ। लेकिन कल जो व्याख्यान सुना उसके विषय में जो मेरे मन में भाव उदित हुए वह कहता हूँ। जो कहा आचार्य जी ने और कपिलाजीं ने, मैं समझ नहीं पा रहा था कि कौन से बिन्दु पकडूँ क्या न लूँ? कोरे कागज ले कर बैठा था पर लिख न सका। एक हवा का झोंका आता था सुगन्ध भरा, लगता था कौन बोल रहा है? कुमारस्वामी बोल रहे हैं? वासुदेव शरण अग्रवाल बोल रहे हैं? फिर चौंक कर देखता था कि नहीं, कपिलाजी बोल रही हैं। यह चीज? व्यक्तित्व को व्यक्तित्व से बांधता भी है और उससे ऊपर भी ले जाता है। वह है मेरी समझ में भारत का शाश्वत स्वर। वह जो शाश्वत वीणा बजती रहती है भीतर—कबीरदास कहते हैं—सबै साज रवाब हैं विरह बजावै गीत! वह शाश्वत वीणा कुमारस्वामी के हृदय में भी बजती थी, वही कपिलाजी के हृदय में बजती है, बहनजी में बजती थी, और हम यह नहीं मानकर चलते कि वह फिर नहीं बजेगी। कभी कभी वह अध्यात्मवीणा में मिल जाती है। कबीरदास दूसरी एक पंक्ति में कहते हैं कि वह बीन या तो मैं सुनता हूँ या सांई सुनाता है। यह बड़ी भारी बात है।

मुझे काम दिया गया एक बार कि कुमारस्वामी की किसी एक पुस्तक पर एक लेख लिखो। तब उनकी एक प्रचलित पुस्तक पर लम्बा लेख लिखा था, The history of music on National Art —तो पाया कि उसमें तो उन्होंने सब कुछ कह दिया! कौन सी बात बाकी रह गयी कहने की! बी० ए० की कक्षा में पढ़ने पर लगा था कि यह तो TextBook हैं आज मैं समझता हूँ कि वह तो गूढ़तम पुस्तक है। उसमें भी यही पाया मैंने कि जो एकात्मकता है भारतीय कला की, और वह जो भौगोलिक सीमाओं को लाँघकर, अतिक्रान्त करके मध्य एशिया से पूर्वी द्वीप समूह तक बराबर चली आई है। जिसको कि हम अपने बचपन में सुनते थे—बृहत्तर भारत Greater India और जो देशकाल से परे हैं, जो कुमारस्वामी कहते थे। तो बहिनजी का जो स्वर था और जो कपिलाजी का स्वर है— वह यह है कि ये जो हम अपनी परिधियाँ बना लेते हैं—छोटी-छोटी, देश में बांध देते हैं, काल में, परिस्थितियों में विधाओं, में बांध देते हैं—यह संगीत है, यह कला है, यह काव्य है—इनको अतिक्रान्त करके जो स्वर निकलता है वह बहिनजी के शब्दों में नादब्रह्म था, हमारे शब्दों में वह चित्र है, किसी के शब्दों में वह कवित्व है। और वे भावनायें कहाँ से कहाँ तक चलती है, किसने लिखा? कि जो कबीर ने लिखा वही प्रकारान्तर से रवीन्द्रनाथ ने लिखा, वही अज्ञेय ने लिखा। और आगे का भी हमारा कवि लिखेगा। और कैसे उसमें हमारी अनुभूतियाँ ताने बाने जैसी चलती रहती है। मैं तो उससे यही समझ सका, और यही समझने की चेष्टा करूँगा कि जो तार स्वर से ऊपर उठा हुआ सङ्गीत है, सब में व्याप्त है, आपको यह मैं कह सकता हूँ कि अभी मैं अपने को विद्यार्थी ही समझता हूँ, प्रति दूसरे दिन एक उन्मेष होता है कि देखो इस मूर्त्तिकार ने यह कहा था, क्यों नहीं तुमने समझा, तो छिपी हुई वाणी है जो अपने आप व्यक्त होने के लिये हमें प्रेरित करती है, छट पटाती है तो मैं यह कह सकता हूँ कि उसे बहिनजी ने देखा, सुना, कपिलाजी ने देखा, सुना, और आज मुझे पूरी आशा है कि हम और भी अधिक सन्देश लेकर जायेंगे, क्योंकि इतने गहन रूप में इन्होंने उसको प्रस्तुत किया। सच्ची बात है कि इतनी इतनी उत्कट गहनता मैं एक साथ नहीं सँभाल पाता, मैं तो नहीं सँभाल सकता। मैं नहीं जानता कि और श्रोताओं का क्या हाल है। तो इस आशा से मैं स्वागत भी करता हूँ, यही मेरा अन्तव्य भी है। अब मैं अनुरोध करता हूँ कपिलाजी से कि अपना वक्तव्य प्रारम्भ करें।

व्याख्यान : कपिला वात्स्यायन

नमन आदरणीय अध्यक्ष महोदय डॉ० आनन्द कृष्ण उर्फ राजा भैया, श्रीवत्सजी, विद्वद्जन! कल श्री अतुल भाई ने जो सङ्गीत प्रस्तुत किया था उनके द्वारा जो स्वर मुखरित हुआ उसके पश्चात् और आज, जैसे कि अध्यक्ष महोदय ने कहा, इस एक मङ्गलाचरण के पश्चात् या तीन मङ्गलाचरण के पश्चात् और जो डॉ आनन्द कृष्ण जी ने कहा उसके बाद मुझे कुछ कहना है नहीं कल बहनजी के उस रूप या यूँ कहूँ विराट रूप को देखने की मैंने चेष्टा की और सम्भवत: कुछ उस व्यक्तित्व के पक्ष शायद आज मैं आप तक पहुँचा सकूँ। आप में से बहुत लोग उनको मुझसे कहीं अधिक जानते थे, पहचानते थे, आदर करते थे, उनके प्रिय थे। और आज जब मैंने कहा कि कल के संगीत के बाद और आज इस मङ्गलाचरण के बाद ऐसी यथार्थ गद्य की भाषा में कुछ कहना बिल्कुल व्यर्थ है। मैं केवल दो-तीन शब्दों की ओर आप का ध्यान दिलाना चाहती हूँ क्योंकि अगर बनारस के बाहर बोल रही होती तो एक दूसरा मेरा लहज़ा होता। बनारस में जहाँ हमारी रोज़ की भाषा में दिनचर्या में, ये शब्द हमारे चिन्तन और चित्त के भाग हैं, लेकिन शायद इतने आन्तरिक भाग हैं कि उनको हम बार-बार हो सकता है कि भूल भी जाते हैं क्योंकि वो हमारे अन्दर हैं और हम यह सोचते हैं कि जैसे धरती तो है ही है, हम कभी यह नहीं सोचते कि धरती शायद फिसल भी जाए तो उसी प्रकार यहाँ पर आप यह कहेंगे कि यह क्या कहना! हम सब जानते हैं इसके बारे में आप कहेंगे क्या? लेकिन ज़रा देखिए, जरा सोचिए कि वह अभिनवगुप्त, विशेषकर उन श्लोकों में क्या-क्या शब्द हमारे सामने आए। पहले वाले मंगलाचरण में ओंकार। और ओंकार तो रोज ही हम लोग बोलते हैं, रोज ही बात होती है उस पर इसमें कौन सी बड़ी बात है? बड़ी बात तो वही है न। बड़ी बात और शाश्वत बात वहीं है। आम्नाय की बात हुई, निश्चल की बात हुई, लीन होने की बात हुई, शून्य की बात हुई, किस तरह से एक मणि में सारे सिद्धान्त और दर्शन को समेटा गया है चार पंक्तियों में। स्थिरता की बात हुई, स्पन्दन की बात हुई, अनन्तर की बात हुई, ज्योति की बात हुई, तत्त्व की बात हुई, शब्द और मन्त्र की बात हुई, प्राण और प्रवहण की बात हुई और प्रणव की बात हुई। इन शब्दों को हम साधारण बोल-चाल की में भाषा कैसे लें? लेकिन जिस Value की बात कल कही गई बहिनजी के लेखन में से मैंने जो अंश सुनाये वे मूल्य यहाँ हैं। और वह क्या मूल्य हैं जिसको मैंने कल ध्यान दिलाया था। चार बातों की तरफ यह कहा था कि आज मैं उनकी बात करूँगी, शायद करूँ या नहीं यह तो सरस्वती जाने या जो भी वाणी है जब आएगी तो आएगी लेकिन Authenticity की बात। इस बात की मूल्यों की बात मैंने अभी की, परम्परा के प्रवाह की बात जिसमें कि शास्त्र और प्रयोग की बात हुई और कला के सम्बन्ध में संगीत का साहित्य से क्या सम्बन्ध है इसकी बात बहनजी के और अनुभव के स्तर की बात हुई और उन स्तरों में जो आज अभी आनन्द कृष्णजी ने कहा। शब्द और स्वर और साहित्य से परे वह क्या है जो शाश्वत है।

एक और एक, और नहीं; वही बात दूसरी तरह से एक और बात नहीं, वहीं बात मुझे कल भाई श्रीवत्सजी, मैं तो नहीं उनको अभी गुरु मान रही हूँ, उनके पिताश्री को मानती हूँ, तो इसलिए भाई कहने का अधिकार शायद है मुझे, उन्होंने यह कहा था कि कपिलाजी अभी हिमालय से लौट कर आई हैं। हाँ ,यथार्थ में यह बिल्कुल सही है। लेकिन यह जो शब्द है अभी जिनकी बात हमने की, ॐकार, निश्चल वह अनुभव से अतीत, उसकी बात अगर हम इन्हीं हिमालय की चोटियों से सुनें और भारतीय संस्कृति को उस तरह से देखें, और इससे पहले कि मैं उस दृश्य का वर्णन करने की चेष्टा करूँ, मैं एक और बात आपके सामने रखना चाहती हूँ स्मरण के रूप में क्योंकि यहाँ एक और गुरु बैठे हैं, गुरुभाई, मैंने यहाँ पर भी इसी विश्वविद्यालय में महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज के जो memorial lectures दिए थे। उस सन्दर्भ में मैंने सात बिम्ब भारतीय संस्कृति के आप के सामने रखे थे, शायद आपको स्मरण होगा और उन प्रतीकों का, बिम्बों का, सिद्धान्तों का, जैसे भी आप उनको समझें, शायद यहाँ पर एक बार पुन: उनका स्मरण करना आवश्यक होगा क्योंकि उस पर मैं विस्तार से और slides के साथ बात कर चुकी हूँ। वे क्या थे? सर्वप्रथम बीज, जो कि अगर अंग्रेजी भाषा में कहें तो biological world agamicity जो जिससे कि फिर वृक्ष की कल्पना या जो उपनिषदों के ऊर्ध्व-मूल वृक्ष की बात हुई है और interconnected botany से जो आता है। वनस्पति से जो आता है, दूसरा जो कि biological agamicity से आता है और वह है गर्भ। और उससे वो जो अंग्रेज़ी में फिर उसकी कहूँ क्योंकि वह जो latency है जो अग्नि से potency बन कर जन्म देती है और गर्भ का जो विस्तार है जैसे कि जो बीज का विस्तार है, हर

विधा में, हर discipline में, कहीं आप जाएँ चाहे, आप उपनिषद ले लें, चाहे अप गीता ले लें, चाहे आप कोई भी शास्त्र ले लें, आयुर्वेद से लेकर नाट्यशास्त्र तक, बीज और वृक्ष और उसके organic बिम्ब का विस्तार होता है। उसी प्रकार जब भी यह बात किसी प्रसङ्ग में यह जड़ और चेतन की बात आती है तो गर्भ का प्रयोग होता है। और इसीलिए मन्दिरों में गर्भ स्थान होता है। क्योंकि तब वह structure की term शब्दावलि बन जाती है। वह केवल womb-like closeness की बात नहीं है, जन्म और उनके विस्तार का एक प्रतीक है उसी गर्भ में, और इस biological स्तर से फिर हम analonical या obractuons में जाते हैं जिसकी बात कल बहिनजी की लेखनी से हुई थी, और जहाँ जब मैंने कहा कि बेट्टिना बहन से लेकर और हमारे जो गुरुतुल्य Stella Kranisrich और Alice Boner और Coomaraswamy ने और सबने उस पर व्याख्या की है यानि पुरुष का जो प्रतीक बनता है। अब पुरुष का प्रतीक मैं यहाँ कह रही हूँ या अभिप्राय कह रही हूँ और जिसको, जिसके बारे में इतनी व्याख्या की गई है उन विशेषकर ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त को लेकर जितनी हुई है उसको पुनः हमें देखना होगा क्योंकि यह जो पुरुष का वर्गीकरण है वो interconnetedness का है। और वह structure का term है और वह hierarchy का नहीं है। और इसीलिए जितनी भ्रान्तियाँ पैदा हुई हैं इस एक शब्द को और एक प्रतीक या अभिप्राय या शब्द को लेकर उसको शायद ठीक करना होगा और जब बहनजी ने यह कहा और मैंने अपनी पुस्तक "Square and Circle" में विस्तार से कुछ व्याख्या की है, उससे आगे जाएँ तो यह तो सब यथार्थ या physicality में से निकलता है लेकिन इसमें structure है और organicity है, इसमें एक में से दूसरा जीव और जो गर्भ का स्वभाव है। वहाँ से जाएँ तो तब और इसको हम यह भी कह सकते हैं कि वो अमूर्त हैं एक तरह concretization से अब हम abstraction की ओर जाते हैं और तब हमारे पास पहला concept आता है जिसके ऊपर इन खण्डों में व्याख्या की गई है और जो लिखने वाले हैं वो बनारस के हैं लेकिन उसका जो व्यापक विस्तार है इस संस्कृति में बिन्दु का क्योंकि तब उस बिन्दु से हमें उसका विस्तार मिलता है और जो बिन्दु की, एक परिभाषा अनेक परिभाषा में से निकलती है, वह यह कि जब तेल एक absorbant surfcace पर गिरता है तो उसका क्या विस्तार होता है। यानि वह स्थिर नहीं है, वह उसका फैलाव है, उसका और उसके जो रूप फिर बनते हैं और उस बिन्दु के जो दो उसके भाग हैं उसमें स्थिर भी है, निश्चलता भी है और चलित भी है। उसमें से जितना दूसरे disciplnes की भाषा में कहें तो उसमें से जितने shape और form और रूप का जो विस्तार है, वह निकलता है। और एक दूसरे स्तर पर कहें तो हमारी जितनी geometry की arithmatical geometry की या structure strical की जो भाषा है इस संस्कृति में, वह एक इस बिम्ब से बिन्दु से निकलती है। अब उसके बाद आएँ तो अगर आप अपने शरीर को देखते जाएँ ते यह भी स्पष्ट होगा और उस व्याख्यान में मैंने उसको फिर महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज के चिन्तन से जोड़ा था, उसकी बात यहाँ नहीं करूँगी लेकिन उसके बाद हम जब शून्य में आते हैं तब शून्य की और परिभाषायें और जो दक्षिण में उसका विस्तार है वह एक है लेकिन प्राथमिक उसका जो स्तर है, वह फिर measure का है कि measure और mesureline और यह जो भारतीय संस्कृति का एक सिद्धान्त है कि उसको हमें देखना है, पहचानना है कि एक ऐसा स्तर है जो कि measure के beyond है लेकिन measure की धुरी उसमें है। ठीक उसी प्रकार कि गर्भ दिखाई नहीं देता है लेकिन गर्भ में से जीवन निकलता है और शून्य और decimal point है, उसमें फिर बात निकलती है, वह जो अन्तर-सम्बन्ध है, उसको फिर अंग्रेजी भाषा में कहें जो infinity और finite का सम्बन्ध है। Measurelenoren और measure का जो सम्बन्ध है। और उसमें से arithmetic नहीं निकलता। उसमें से disciplne में geometry ओर algebra निकलता है। Proportion निकलता है, उसमें से aggregation नहीं निकलता है। और इसलिये मैंने एक ही equation तब की थी कि 1 + 0 ÷ 3 =what? .333 infinite और यह हम जो वन्दे मातरम् में तैंतीस करोड़ की बात करते हैं वह क्या है? कहीं और मैंने ज्यादा विस्तार से लिखा है उसके बारे में और one and many का जो है और infinite और finiteness शून्य से और जैसे-जैसे फिर हम हृदय से ऊपर पहुँचते हैं तो उससे फिर उस शून्यता से वर्गीकरण भी होता है और समावेश भी होता है। और इसीलिए पूर्ण की और फिर अखण्डित और खण्डित की, अखण्ड की जो कल्पना है और सम्पूर्ण की जो कल्पना है और अन्ततः उस सूर्य या अग्नि-बीज की बात, जिससे आरम्भ होता है और जिसमें सब विलीन हो जाता है, यह यात्रा थी ये सात बिम्ब मेरे लिए। मैं यह समझती हूँ कि भारतीय संस्कृति की यात्रा करने के लिए यह पड़ाव हैं जिसको कि एक-एक, एक-एक को अगर हम देखें, देखते जाएँ और हमारे हर discipline में, हर क्षेत्र में और उसकी वर्गीकरण की जो विधि है और जो गति है, इन सब सिद्धान्तों से उसके

नियम बनते हैं। इन नियमों में से क्या निकला? उन नियमों में से निकला कि कोई चीज उस ढंग से fixed स्थिर नहीं है। क्योंकि सब चलित है। अंग्रेजी में कहें तो यह सब बिम्ब process के indicator हैं। Entities के indicator नहीं हैं। और इससे जो दृष्टिकोण हमारा बिल्कुल अलग या विशिष्ट है, उसको पहचानना और उसके द्वारा भारतीय संस्कृति की पहचान या उसका विवरण या उसका analysis करने की अभी भी अपेक्षा है।

यह कहने के बाद अब मैं फिर चलती हूँ वापस हिमालय की ओर तो क्या दृश्य देखा मैंने, जो कि पहले भी देखा है लेकिन हर बार देखती हूँ तो हर बार वह नया होता है। हर बार वह नूतन होता है। हर बार वह उतना ही पुरातन होता है। हर बार उसकी जो अनुभूति है, वह अनुभूति मुझको यह बताती है कि वह है, तुम नहीं हो। वह अनुभूति और ठीक उसी प्रकार जैसे कि मैंने उन प्रतीकों के बारे में बात की कि सूर्य और उस आकाश के अग्नि-बीज से जब प्रकाश आया, प्रकाश in the philosophic sense तो क्या बना, क्या दृश्य? बद्री, गंगोत्री, जमुनोत्री, नीलकण्ठ, केदार, चौखम्बा, त्रिशूल, छोटा त्रिशूल, नन्दाकोट, पंचोली, धवलगिरि, रत्नगिरि और सब सूर्य का प्रकाश, एक-एक करके, एक-एक किरण से और जिस ब्राह्म-मुहूर्त की बात ऊर्मिला बहन ने की, उस ब्राह्म-मुहूर्त में जो, वो जो किरणें वहाँ पर पहले त्रिशूल प्रकाशित होता है, उसके बाद क्योंकि एक depression है एकदम नन्दा देवी उठती है और उसके बाद बिल्कुल जैसे नाटक में से सीधे बद्रीनाथ प्रकाशित होते हैं गंगोत्री और फिर वापस उसी एक क्रम में धीरे-धीरे नन्दाकोट, पंचोली, धवलगिरि; रत्नगिरि*। भौगोलिक यात्रा? हाँ, भौगोलिक यात्रा। हिमालय के geographical geological significance पर बहुत कुछ कहा गया है लेकिन उसका एक वहीं अंग्रेजी भाषा में ecological significance और mythical significance के बारे में अभी इतनी बात नहीं की गई है। क्योंकि यह जो तारतम्य और जिस सूत की बात आपने की अपने चर्खे में से, वह एक हिमालय का पार्थिव रूप कहिए और उसका आध्यात्मिक रूप कहिए, यह भारतीय संस्कृति की नींव यह unique है। यह हमें दृष्टि चाहिए कि कब-कब, कैसे-कैसे, किस चोटी पर कब प्रकाश पड़े लेकिन यह चोटियां एक हिमालय की चोटियां हैं और Himalayas नहीं है वो, हिमालय है। और कहीं शायद geographical ढंग से भी इस तरह की गिरि शृंखला दुर्लभ होगी, या नहीं ही है। और उसको अब मैं दूसरी भाषा में कहूँ कि यह जो हिमाच्छादित चोटियां हैं इनको क्या मापा जा सकता है? ठीक है, मेरी बुद्धि और मेरे मान और मेरे जो मानदण्ड हैं वह मुझे बताते हैं कि त्रिशूल, नन्दादेवी 25000, त्रिशूल—इतने हजार, नन्दाकोट 23000, बद्री—लेकिन क्या उसका मूल्य मेरे लिए उसका माप है? मूल्य जो उसका है वह यह है कि यह वह स्तर है जो कि measureless है। यह वो स्तर है जो कि एक आत्मा की बात है, यह वह स्तर है जिसमें अंग्रेजी में कहें it is the level of non-differentiation, undifferentiation at the source. और उसकी जो पहचान और recognition है जिसकी बात मैंने कल भी कहीं, वह चाहे आपके एक व्यक्ति के चिन्तन में हो या कि अनुभव में हो या अनुभूति में हो, यह जब तक उस हिमालय की अनुभूति जिसमें कि आपके पास कोई measure नहीं है और आप उसके प्रति समर्पित हैं, तब तक इस भारतीय संस्कृति की कोई पहचान नहीं हो सकती। और हम उसको खण्डित-खण्डित करके देखें तो पुरुष के विकृत रूप उसके अंग-प्रत्यंग को अलग-अलग करके उसको मापा जा सकता है, लेकिन उसका जो सत्त्व है उसकी पहचान क्या हमारे पास है? कोई तरीका नहीं है।

एक और स्तर पर यह जो कड़ी है जो कि उत्तर-पश्चिम से लेकर और पूर्व-दक्षिण तक जाती है। हमें इतिहास के पुस्तकों में यह बताया गया है कि उत्तर-दक्षिण ही एक गति है। लेकिन अगर हिमालय का दृश्य देखें और उसके दर्शन करें और यह भी जानें कि वह जो एक एकात्मकता है, वह उत्तर-पश्चिम से लेकर और पूर्व-दक्षिण तक जाती है। और उसके फलस्वरूप कितनी ही गतिविधियों का और हमारे linguistic map का और हमारा जिसको कि racial map कहते हैं, उसमें परिवर्तन आ जाएगा। और यह क्या movement थे उस इतिहास में मैं नहीं जाऊँगी। एक दूसरा भी क्रम है 'क्रम' नहीं, लय है। वह जब हिमाच्छादित हिम पिघलती है या गंगोत्री बनती है, और उसमें से जब नदियाँ बहती है तो क्या वह नदियाँ अपना नाम और रूप लेकर विशिष्टता लेकर चलती हैं? नहीं। न जमुना, न गंगा। वह अलकनन्दा, वह मन्दाकिनी, वह भागीरथी और उनका जब प्रयाग बनता है तब हम उसको गङ्गा पहचानते हैं। तो जो चिन्तन का स्तर है, उसमें भी वही है। कि उस undifferentiation

---

* यह कहते समय श्र० कपिलाजी ने स्वयं अभिनय-मुद्राओं द्वारा वे दृश्य साकार कर दिखाये। —ऊर्मिला

से अलग-अलग धाराएँ जिसको कि कभी हम दक्षिण पुकारते हैं, कभी हम उसको आयुर्वेद पुकारते हैं, कभी हम उसको mathematics पुकारते हैं, कभी हम उसको और तरह कहते हैं, लेकिन जब वह एक उसका एक विशिष्ट रूप बन जाता है और वह प्रयाग, देव-प्रयाग या रुद्र-प्रयाग बनता है। तो यह जो लय है कि जो धाराएँ निकलें उसमें से, उनका एक मिश्रण का स्वभाव है और लेकिन वह मिश्रित होने में, अब मैं chemistry की भाषा में जाऊँ, कि वह mixture नहीं है। वह लीन होना है। वह विलीन होना है और उसके बाद फिर से धाराएँ बहती हैं। और अलग से धाराएँ बहती हैं। उसका मैं, उसकी व्याख्या बिल्कुल historical terms में भी कर सकती हूँ। इतिहास के terms में भी कर सकती हूँ। कि किस तरह से हमारे चिन्तन के जो मूल स्वर हैं वह कहाँ से निकलकर विशिष्टता लाते हैं हर discipline के साथ एक मिश्रण, एक देश-काल में होता है जैसे प्रयाग में होता है। उसके बाद धाराएँ फिर से बहती हैं, उसी तरह संगीत में, नृत्य में, शैलियों में अलग-अलग धाराएँ बनती हैं, वह मिलती हैं, फिर अलग होती हैं, फिर मिलती हैं और उसके बाद एक बड़ा गंगा का वेग बनता है, तब वह हरिद्वार की गंगा, बनारस की गंगा नहीं है। लेकिन गंगा है। वह दूषित भी होती रहती है और शुद्ध भी होती रहती है। क्यों? अब वह गतिशील है तो इसलिए उसकी यह सब भावना है और उसका यह स्वभाव है कि अन्दर से एक पवित्र होने की उसके अन्दर सामर्थ्य रहे। और जहाँ तक ecology में यह यथार्थ है, संस्कृति में वही यथार्थ है।

आज हमारे सामने जो चुनौती है, जिस प्रकार से इस गंगा में उस microbes को हमें देखना है कि वह उनकी purifying quantity रहे, वहीं वैसे हमें देखना है कि यह परम्परा और जिस भारतीय संस्कृति की हम बात करते हैं, वह एक धरोहर, एक treasure एक locker में पड़ी हुई चीज नहीं हैं, वह प्रवाह है वह गति है, उसमें दूषित होने की भी सम्भावना है और उसमें पवित्र होने की भी सम्भावना उतनी ही है। सिद्धान्त हमारे पास हैं, बिम्ब हमारे पास है, और इसलिए इन धाराओं की पहचान कि कौन सी धारा कब इतिहास में उभरी या आज जिसका कि हम साधारण भाषा में हमेशा प्रयोग करते हैं वहाँ उस किस धारा को और किस तरह से अपने अन्दर जो समाहित किया है, जहाँ से मैंने शुरुआत की कि यह हमारे रोज की भाषा है लेकिन रोज की भाषा ऐसी भाषा हो गई है कि जिसमें हम उसके मूल्य जो उसमें निहित भी हैं और स्पष्ट भी हैं और प्रत्यक्ष भी हैं, उसको कभी हम पहचानते नहीं हैं, हम जैसे धरती को रौंद देते हैं, इन सिद्धान्तों को भी हम रौंदते चले जा रहे हैं। तो इसलिए जब authenticity की बात आए तो authenticity किसकी, कहाँ पर? कब? क्योंकि authenticity तो उसके process में है। Authenticity तो उसकी गतिशीलता में है, authenticity तो उसके यहाँ 'अब' इसी लोक और मूल्य में हैं।

इस चीज़ को उस authenticity को मैं अब एकदम एक दूसरे स्तर पर ले जाना चाहती हूँ, वह authenticity क्या है? शास्त्र क्या? यह बहनजी की लेखनी में कल देखा, शास्त्र और प्रयोग और ताल के सन्दर्भ में उनका बहुत सुन्दर लेख है जिसकी बात मैंने कल नहीं की लेकिन यह शास्त्र क्या चीज है। जिसको कि हमने एक बिल्कुल हौआ बनाकर रख रखा है। और एक discipline बनाकर रख रखा है कि इसकी यह विधि है और उसकी यह है? क्योंकि कोई शास्त्र ऐसा नहीं है जो कि अनुभव और अनुभूति से नहीं निकला, और जिसको कि अंग्रेजी में मैं फिर कहूँ कि deductive नहीं हो और जिसका कि empirical से सम्बन्ध नहीं हो। और जब हम अंग्रेजी भाषा में बात करते हैं तो theory शब्द, उसका Greek और Latin etymology इससे हो, या जिस तरह से प्रयोग शब्द है, वह एक theoretical principle का enunciation है। वह inductive है। और उसको फिर हम यह देखते हैं कि उसकी applicability है या नहीं। यहाँ पर जो क्रम है वह दूसरा है क्योंकि यह अनुभव से पैदा होकर और उसके बाद कुछ सिद्धान्त या structure सा बन जाता है और उसके बाद आप अपने देश-काल में अपने अनुसार उसमें परिवर्तन भी आ सकते हैं और उसके अन्दर किसी भी तरह से उसका आप पुरुष का structure तो देख सकते हैं लेकिन उसकी interconnections आप देखें और उसमें आप अपने ढंग से उसमें possibilities of individuality within the theoretical precept निकलती है।

यह बात सबसे अधिक नाट्यशास्त्र में प्रत्यक्ष हो जाती है क्योंकि अध्याय के पूरे वर्णन के बाद वह क्या कहता है कि यह मैंने कहा लेकिन आप देश और काल के अनुसार इसमें परिवर्तन ला सकते हैं। दर्शन में अन्ततः प्रमाण किस चीज़ का है? लोक का। किसी दर्शन में आपने देखा कि उन्होंने यह कहा है कि यह प्रामाणिक है और यह शाश्वत है जो हमने कहा है, एक

तीसरा अंश आता है हमेशा कि यह एक पक्ष है और अनेक भी हो सकते हैं। और उसको अगर हम theoretical basis में देखें western terms में तो तब उसमें तो सम्भावना है ही नहीं क्योंकि जब एक theory दूसरी theory का बिल्कुल खण्डन नहीं करेगी तब वह दूसरी theory स्थापित ही नहीं हो सकती है। तो यानि जो क्रम की बात है जो कि भाई श्रीवत्स से बहुत बार हो चुकी है, यह जो linear progressive order है उसको हम मानते ही नहीं। जिस शास्त्र से मेरा कुछ परिचय है वह एक सागर है, एक समुद्र है, चाहे तीस साल में दो ही पुस्तकें मैंने पढ़ी है अपनी जिन्दगी में, एक नाटयशास्त्र और एक गीत-गोविन्द और कुछ समझ में नहीं आया, तीस साल से उनके पीछे पड़ी हुई हूँ। दो ही पुस्तकें पढ़ी है और तीसरी नहीं पढ़ी है। और हर बार देखती हूँ तो सोचती हूँ कि कितनी अज्ञान कितनी मूर्ख हूँ, और मेरे गुरु मुझे महामूर्खा बुलाया करते थे वासुदेवजी, तो अब अपने आप ही यह अनुभव होता है कि कितनी महामूर्खा हूँ क्योंकि जितना-जितना उसमें जाते जाओ यह मालूम होता है कि यह जो शास्त्र है, वह खुलता ही जाता है, खुलता ही जाता है, उसके स्तर ही स्तर हैं। उसको मैं कैसे, मैंने पहले एक कोट तोड़ा यानि कि यह जो मिथक की भाषा जो वह कहते हैं कि वैष्णव स्थान, यह शैव स्थान और वह किस स्थान का है, और देवों के स्थान से उनका क्या सम्बन्ध है, भला पूछो? और यह तो normal superstitious Indian psychology है कि हरेक चीज़ के साथ कुछ न कुछ जोड़ दो जी। और वहाँ शिव तो वैसे नहीं आए लेकिन ताण्डव की बात हुई है लेकिन यह सब क्या है? अब इसमें हमारे जो शास्त्री हैं वे समझेंगे। और यह जो एक ग्रन्थि खुली थी, एक दिन यहीं पर। उधर मैं गई सुबह वासुदेवजी के पास, राजा भैया जानते हैं, ये लोग सब मेरी खूब हँसी उड़ाया करते थे कि इसको तो बुद्धि आयेगी सूरज से और तो कोई तरीका ही नहीं है क्योंकि गुरुजी तो द्वार खोलते नहीं थे। पर गुरुजी ने द्वार खोला एक दिन और कहा कि कपिला आज तो मैं विभोर हो गया। मैंने कहा कि क्या हुआ? उन्होंने कहा इधर आओ आओ देखो! कि आज तो मुझे बहुत-बहुत एकदम नई दृष्टि आई है और वह वेदों के ज्ञानी, पाणिनि व्याकरण के गुरु और उस जमाने में मत्स्य-पुराण का अध्ययन कर रहे थे, वे बोले यह जो पुराण है न, इनमें बहुत तत्त्व है, मुझे तो पहले ऐसा मालूम ही नहीं था। तो वह जो abstraction के सिद्धान्त थे वे सब पौराणिक मिथकों में प्रकट थे।

(tape transfer)

और तब उन्होंने मेरे सामने गरुड़ और विष्णु की जो व्याख्या दी वह आज तक मेरे लिए गुरु का प्रसाद है। उन्होंने कहा कि देखो हमने तो कभी यह सोचा ही नहीं था और यह तो सांख्य और मीमांसा का संवाद है। और विस्तार होता गया, होता गया तो उस एक कुंजी को लेकर जब मैंने नाट्यशास्त्र को देखना शुरू किया तो यह समझ में आया कि वैष्णव स्थान की या कि वैष्णव स्वर की जो बात की जाती है या उसका वह शब्द आता है, तो वह हमेशा त्रयी के लिए है, और उसको फिर गुणों में लिया जाता है आदि आदि। यानि जो मिथक की जो भाषा है वह भाषा दर्शन की भाषा है। और हमारे critical discourse में हमने मिथ को एक तरफ छोड़ दिया और हमने सोचा कि philosophy अंग्रेजी की philosophy, दर्शन नहीं यह अलग-अलग विधाएँ हैं और इन धाराओं का आपस में कोई सम्बन्ध नहीं; लेकिन इनका भी प्रयाग बनता है, इनके स्तर भी बनते हैं। तो इसलिए शास्त्र की मान्यता, शास्त्र का प्रमाण, उसकी प्रामाणिकता, उसकी दृष्टि में है। शास्त्र की प्रामाणिकता एक दूसरे स्तर पर, केवल भाषा के स्तर पर, उसकी पाठ की शुद्धि में है लेकिन पाठ की शुद्धि एक बात है और उसकी आत्मा की, उसके structure की बीज की, उसकी बिन्दु की प्रामाणिकता हमें पहचाननी है इन शास्त्रों में इसीलिए शास्त्र और प्रयोग का जो सम्बन्ध है, वह मिथुन का सम्बन्ध है। वह सम्बन्ध dichotomy का सम्बन्ध नहीं है। वह opposrition का सम्बन्ध नहीं है जो कि theory और empiricism का है। और चलती हुई भाषा में कहूँ तो वह ३६ का सम्बन्ध नहीं है, वह ६३ का सम्बन्ध है। तो इसीलिए दो और शब्द जिनका कि मैंने कल प्रयोग किया था, मार्गी और देशी का भी जो सम्बन्ध है, वह सम्बन्ध hierarchy का सम्बन्ध नहीं है, वह धाराओं का सम्बन्ध है। और जैसे कि Coomaraswamy ने अपने एक मार्गी-देशी वाले लेख में कहा है, कि क्योंकि मार्ग मृग से बना है, मृग की जो direction है it is the directional path और वह केवल direction दिशा को बताता है और वैसे दिश् जो है देश को बताता है, तो यह मार्ग जो है, वह केवल उस लय की बात कर रहा है और यह नहीं है कि वह एक परिष्कृत जगह पर बैठा हुआ है और देश जो है जिसको कि हम anthropological terms में कहें कि folk है। मैंने जो कल बात कही, मतंग ने जब देश की बात कही, चाहे वह chapter बहुत छोटा सा है पर जब वह देश की बात करता है और

आगे जा कर शार्ङ्गदेव जब देशी-करणों की बात और देशी-रागों की बात करता है तो हमें यह देखना है कि वह उन प्रयोगों की बात कर रहे हैं, वह प्रयोग जो हो सकता है कि क्षेत्रीय प्रयोग हों लेकिन वह स्तरों की बात नहीं कर रहे हैं। वह movement की बात कर रहे हैं, वह qualitative hierarchical categories की बात नहीं कर रहे हैं। मैं इसका अन्तर करना चाहती हूँ इसीलिए बहनजी ने इन पुस्तकों में लिखा है जब 'लोक' शब्द आता है। क्योंकि आज लोक-नृत्य, लोक-संगीत ऐसी संज्ञा प्रचार में है। और भी हमने एक संज्ञा दे दी है 'शास्त्रीय संगीत'। ऋत्विक भाई मेरा साथ देंगे क्योंकि ये "राग-सङ्गीत" का प्रयोग करते हैं पर AIR में उसका एक इतिहास है। आपने इतने शास्त्र पढ़े हैं ऋत्विक भाई बताइये कहीं लिखा हुआ है "शास्त्रीय संगीत"? किसी शास्त्र में आपने पायी है यह संज्ञा? कोई मुझे बता दे आज कि किसी हमारे शास्त्र में यह लिखा है "शास्त्रीय संगीत"? कोई बता सकता है यहाँ पर? किसी शास्त्र में बता दीजिए। हम उसका प्रयोग कर रहे हैं। और मुझे रोज़ यह कहा जा रहा है कि कपिलाजी, आप बिल्कुल बेवजह controversies खड़ी करती रहती हैं। बेवजह मैंने एक controvery खड़ी कर दी है कि शास्त्रीय नृत्य, शास्त्रीय संगीत, शास्त्रीय चित्रकला नाम की चीज़ शास्त्र में तो नहीं है। आपने कहीं पढ़ा है विष्णुधर्मोत्तर में शास्त्रीय चित्रकला? बताइये अच्छा, देखिए। आप सब लोग ढूँढ़ने जाइये। हम इसका रोज़ प्रयोग कर रहे हैं। The classical arts of India! भई, यह classical arts of India क्या चीज़ है? कहीं आपने शिल्प में शास्त्रों में यह पढ़ा है कि यह शास्त्रीय है और यह देशी मूर्तियाँ हैं यहाँ सब जो रखी हुई है यहाँ पर आपके गुप्तकालीन और बुन्देलखण्ड की, पढ़ा है आपने? देखा है आपने कहीं? मैं किसकी तरफ संकेत दे रही हूँ कि हमने जो वर्गीकरण स्वीकार किए हैं, वह वर्गीकरण किसी और दृष्टि से स्वीकार किये हैं। उसका क्रम दूसरा है और उसके कारण हमारी जो दृष्टि है और जो हमारी भाषा है, जिससे हम भारतीय संस्कृति को पहचानते हैं, जानते हैं, उसके विश्लेषण करते हैं, उसमें बहुत भारी विरोध है। और मैं बहुत छोटी हूँ और मूर्खा तो हूँ ही लेकिन छोटी मुँह बड़ी बात कह सकती हूँ कि जब तक हम उसमें सुधार नहीं करेंगे, तब तक भारतीय चिन्तन, भारतीय विश्लेषण भारतीय संस्कृति का नहीं हो सकता। और अगर मैं फिर अपनी एक पुस्तक में वापस जाऊँ तो नाट्यशास्त्र में मेरा एक लेख है जिसमें कि मैंने नाट्यशास्त्र का जो आलोचनात्मक इतिहास है, उसके ऊपर एक-एक करके 1794 से दृष्टि डाली है। तो इससे क्या होता है? William Jones को तो जो मिला, सो मिला, पण्डितजी ने उनको शाकुन्तल की एक प्रति दे दी थी लेकिन हुआ क्या? कि नाट्यशास्त्र का जो हिस्सा French authors को मिला German किया, पूरे नाट्यशास्त्र को एक ढंग से देखने की किसी की दृष्टि ही नहीं थी। तो इसीलिए जो पाँचवां-छठा अध्याय था, उससे उस glacier level की तो बात की नहीं गई, धारा की बात की गई और कहा कि यह तो रस-सिद्धान्त की पुस्तक है। और रस-सिद्धान्त कैसा, उस रस-सिद्धान्त को हमने या तो उन दोनों अध्यायों को अलग से निकाल कर उस में से एक बड़ी भारी धारा निकाल ली, और यह नहीं देखा कि वह पाँचवाँ और छठा chapter जो है, वो उसके मध्य में है और जब तक हम पहले चार chapter को नहीं देख लेंगे तब तक वह पाँचवे-छठे chapter का सन्दर्भ नहीं समझ पायेंगे।

वहाँ पर वह प्रयाग बनाता है और मेरी यह जो छोटी सी पुस्तक है Nāṭyaśāstra उसमें मैंने इसकी बात की है कि किस तरह से उसके structure में वह एक-एक चीज़ को पहले बिल्कुल यथार्थ को लेता है, physical भूमि को लेता है अैर उसके बाद वह अपनी एक पूरी इमारत बनाता है। जिससे कि बाद में जाकर commentaries ने universalisation, साधारणीकरण की बात की और भट्टनायक आदि ने बात की। उसमें से वह निकाला गया। पहले तो इसलिए poetics की पुस्तक उसको माना गया और जितने poetics के ग्रन्थकार हैं मम्मट, लोल्लट उनकी बात उधर हो गई और जिसको कि हमने अलंकार-शास्त्र देखा। उसके बाद लोग आये और उन्होंने कहा कि इसमें तो और भी बहुत कुछ है। अब हम रामकृष्ण कवि तक ही पहुँचते हैं, बीच के लोगों को छोड़ देती हूँ तो वहाँ सुवा स्वराव आये और कहा कि इसमें तो बड़ी-बड़ी गम्भीर बातें हैं architecture पर क्योंकि उन्होंने केवल stage लिया। और पहले दो chapters लिये। और उसके बाद archeology क्योकि उधर से आई तो उन्होंने चिदम्बरम् देखा तो उन्होंने कहा अहा! यह तो वर्णन चौथे chapter का है! ताण्डव-लक्षण के ऊपर दो-तीन किताबें निकल आई। तो चौथा chapter यहाँ से निकाल कर इधर अलग से रख दिया गया। भई चौथा chapter तो नौवें और दसवें chapter के बिना जीवित ही नहीं रह सकता। क्योंकि आङ्गिक का सारा विस्तार तो वहाँ पर है उसके बाद Sylvan Levg ने जो बात की, उन्होंने कहा कि यह सब तो ठीक है लेकिन यह तो शास्त्र बिल्कुल dry-dry है, इसका कालिदास से तो सम्बन्ध है नहीं

क्योंकि नाटक तो अलग से था और यह शास्त्र अलग से था। तो जितनी dramaturgy की पुस्तकें निकलीं और मैं सारा mental discourse आपके सामने रख सकती हूँ उसमें सब ने यही कहा कि कालिदास बेचारे कवि तो बहुत अच्छे थे लेकिन नाटक-वाटक के बारे में कुछ नहीं जानते थे। प्रस्तुतिकरण से वह बिल्कुल अनभिज्ञ थे। Culminational Great poetry, bad drama, क्योंकि वहां तो हमारी दृष्टि थी यवनिका पर, climax की, denouncement की बातें हैं, शाकुन्तलम् में यह सब होता ही नहीं है। तो कैसे हमने एक शास्त्र की पंक्ति-अंक्ति अलग करके, उसकी अलग-अलग शाखायें करके उसे खण्डित किया। संगीत के ऊपर तो बहनजी ने कुछ देखना शुरु किया, उन chapters को तो किसी ने हाथ नहीं लगाया, वह तो आग था। यह २७, २८ और उधर ३५,३६ chapter ना बाबा, इसमें कौन जाय। अब ये जो भरतमुनि थे, यह तो अब, बिल्कुल techincal आदमी हो गए, पता नहीं क्या कर रहे हैं।

इस सारे आलोचनात्मक इतिहास को हम लेकर चलते हैं। अब जब हम बात करते हैं किसी भी शास्त्र की और इसी तरह का उदाहरण मैं दे सकती हूँ विष्णुधर्मोत्तर के तीसरे खण्ड के विषय में जो हुआ। कि एक-एक अध्याय को हमने अलग से लिया और हमने यह कहा कि यह तो सब compendiums हैं और जब मैंने यह कहा और थोड़ा सा काणे ने बात की कि अग्नि-पुराण और नाट्यशास्त्र का सम्बन्ध पूर्व और उत्तर को देखना चाहिए, पर पुराणों को कौन देखता है इस सब में? तो इसलिए मेरा निवेदन यह है कि इसको पुन: देखने की आवश्यकता है। कहाँ? पाठ-भेद के स्तर पर नहीं, उसकी पूर्ण सम्पूर्ण की दृष्टि के स्तर पर। वास्तु को आप संगीत के बिना नहीं समझ सकते हैं, संगीत को वास्तु के बिना नहीं समझ सकते हैं, चित्रकला को संगीत के बिना नहीं समझ सकते, संगीत को चित्रकला बिना। आङ्गिक की तो मैं बात ही नहीं करूँगी।

दूसरा जो मेरा निवेदन था, जिसकी बात मैंने कल कही और रस-कौमुदी के सन्दर्भ में जो बहनजी ने बात उठाई थी, वह knowledge systems की थी, ज्ञान की विधाओं की। क्योंकि यह अगर अनुभव और शास्त्र के स्तर पर है तो यह कौन सी विधि है और किस तरह का भेद है जब हम undifferentiation से differentiation पर आते हैं और वर्गीकरण पर आते हैं तो ये दो मूल बिल्कुल विशिष्ट दृष्टियाँ हैं। मैं यह नहीं कह रही हूँ कि एक अच्छी है और दूसरी बुरी है। मैं केवल यह कह रही हूँ कि जैसे मेरा नाक और आपकी नाक अलग-अलग है, यह अलग-अलग चीजें हैं और उसकी पहचान और उसका आदर, उस पूरे structure में करना चाहिए सबसे पहले तो यही जो जड़-चेतन का जो सम्बन्ध है। जड़-चेतन के सम्बन्ध में, अचेतन जड़ हो सकता है और जड़-चेतन हो सकता है, इसी में सारा mutation का सिद्धान्त आ जाता है। उसका पूरा logic मैं यहाँ नहीं दूँगी, उससे जो मनुष्य और प्रकृति का सम्बन्ध है जिसको हम आज प्रकृति मान रहे हैं और प्रकृति और मनुष्य का जो सम्बन्ध है वो उसका बिल्कुल दूसरा एक दृष्टिकोण है। एक दूसरे स्तर पर जीवन के स्तर पर, यहाँ मृत्यु final है ही नहीं। अन्त ही नहीं है उसका। फिर बनारस में मैं क्या बात करूँ, यहाँ पर लोग मोक्ष लेने आते हैं और जिस देह और पार्थिव शरीर और सूक्ष्म शरीर की हम रोज़ बात करते हैं, लेकिन उसको अगर हम दर्शन के और बौद्धिक स्तर पर देखें तो देखे कि किसी भी विद्या से हम जब उसकी खोज करने जा रहे हैं तो तब हम यह देखें कि यहाँ पर तो वह finality का सवाल ही पैदा नहीं होता है। और उसको हमें अब जोड़ना होगा उस Infinite और finite के connection से। क्योंकि आप की जो यात्रा है, व्यक्ति विशेष की जो यात्रा है, वह एक इतने बड़े प्रवाह में एक छोटे से जीव की यात्रा है। तो उसमें फिर यहाँ रस की बात आती है तो वह कोई individualism की बात ही नहीं हो सकती। जिसको कि हम यह कहते हैं कि भारतवर्ष में individual expression ही नहीं है। और यह तो collective है यह तो patron बता रहा था, या तो कोई और बता रहा था यही कहते हैं और इसमें तो individual बात ही नहीं, individual तो भाई तब हो जब आप यह माने कि वह जो glacier जो हिमालय हैं वह नहीं हैं और आप ही आप हैं। जब आपका अनुभव और अनुभूति यह है कि वह जो दृश्य आपने देखा था, उसको उसकी अभिव्यक्ति आप करें अपने ढंग से और आपकी जो अभिव्यक्ति हो वह केवल उस शाश्वतता का एक प्रतीक बने जो कि राग में उन्होंने कल किया। चाहे वह मालकौंस हो या चाहे कोई भी उस राग रूप का विस्तार कर रहे हैं, उसका चित्रण कर रहे हैं, वह अपनी बात नहीं कर रहे हैं, वह अपने को उसमें समर्पण कर रहे हैं। तो इससे बिना कर्तृत्व के जो विधि है, वह तो दूसरी विधि है। वह तो दूसरा ही दृष्टिकोण है। एक दृष्टिकोण में जो मैंने पहले बात की उसमें एक अलगाव जिसको कि अंग्रेजी में हम यह कहते हैं कि dichotomy, binary opposites का सारा structure बनता है। इसमें binary opposites का structure

ही नहीं बनता इसमें तो मिथुन ही मिथुन बनते हैं। सुख-दुख, या तो उसमें आप तटस्थ होकर देखते रहिए या वह दोनों ही द्रष्टा-भोक्ता या और जो भी जिसको कि हम अब binary opposites कहते हैं, वह सब complementarities हैं। उसमें से जो principle निकलता है, वह एक तरफ confliet का principle निकलता है, दूसरी तरफ complementarity का principle निकलता है। एक का structure बनता है संघर्ष से, thesis-antithesis आप सब जानते हैं। दूसरे का जो बनता है वह हर समय complementarities का बनता है, यह पाँच उंगलियां कैसे मिलेंगी और कैसे इसकी विशिष्टता भी रहेगी। तब जो वर्गीकरण आगे चलते हैं कोई तीन का, पाँच का और यह हमारी रोज़ की भाषा है, इसमें कौन सी बड़ी बात कपिलाजी ने कह दी, और कपिलाजी ऐसे ही दोहराती रहती है, पंचमहाभूत,पंचइन्द्रिय, पंचकोष, पंचअवस्था, यह सब भी, यह सब क्या हो रहा है? ये सब पाँचों का खेल क्या है यह? तो यह फिर आप कहेंगे कि पिण्ड और ब्रह्माण्ड की बात आप बार-बार करेंगी, क्या फायदा है।

जिस संस्कृति में आप को बार-बार यह बताया गया है कि इनका आपस का जो सम्बन्ध है वह आपस का mutation है, mutation की बात, चाहे वह तीन का हो, चाहे वह विद्या के क्षेत्र में हो, चाहे वह गुरु के क्षेत्र में हो, चाहे वह आधिदैविक, आधिभौतिक, आध्यात्मिक के क्षेत्र में हो। एक दूसरा बन सकता है स्थूल-सूक्ष्म-परा के क्षेत्र में हो। यह एक क्रम है, अब क्रम दूसरी तरह से आता है यहाँ पर, यह जो क्रम है यह reversibitity का क्रम है जिसमें तमस् और राजसिक और सत् की बात है। सत् तमस् हो सकता है और तमस् सत् हो सकता है। तो पाँच से सात यानि ये जितनी vertical directions हैं, वह odd numbers की बनती हैं इस knowledge system में। और सात चाहे स्वर हों चाहे द्वीप हों चाहे समुद्र है और चाहे नौ आपके द्वार हों या नौ-ग्रह हैं, और जितना horizontal line का क्षेत्र है, वह even number में जाता है। क्योंकि चार आप की दिशाएँ हैं, चार आपके वेद हैं, आपके आश्रम हैं, पुरुषार्थ है और ६ का क्रम फिर आठ का आदि आदि। तो इतना simple, सरल है आप यह कहेंगे कि यह तो रोज़ की भाषा है आप क्या कह रहीं हैं हमसे। लेकिन क्या इस रोज़ की भाषा से हमने अपनी संस्कृति को देखा है, पहचाना है किसी discipline को? बात हम जरूर कहते रहते हैं लेकिन क्या हमने देखा है कि हर discipline में, हर विद्यार्थी में हर विद्या के क्षेत्र में यह जो सिद्धान्त हैं और इस knowledge system को? और उसके वह जो पहले मैंने सात बिम्ब बनाए थे, वह सात और यह जो arithmetical या algebrical progression है, जिसमें कि फिर वापस आये प्रमाण या मान की बात और प्रामाणिकता में। क्योंकि प्रामाणिकता जो है, वह proportion में है, प्रामाणिकता standardization में नहीं है। इसलिए चाहे वह यज्ञ हो, चाहे वह मूर्त्तिकला हो, चाहे वह चित्रकला हो, चाहे वह संगीत हो जो कलाकार है, वह अपना षड्ज निर्धारित करता है और उसका फिर वह विस्तार करता है। उसका measure जो है, वह अपना individual measure है। उंगली है, चाहे चेहरा या path है। तो इसलिए हम लोग यह कहते हैं कि we don't know anything about tāla-māna, You know, if we look at it like this, it doesn't work out, there is inconsistency here. भई, inconsistency तो होगी ही। रोज़ ही हम बात करते हैं music के क्षेत्र में सारा जो श्रुति और स्वर का मामला है वह pitches का है। कभी हमने यह नहीं सोचा कि वह आप को इतनी स्वतन्त्रता दे रहा है एक शब्द से। यह स्वतन्त्रता वह है कि अपने स्वभाव से आप इस धारा का माप लीजिए और उसमें समर्पित हो जाइये और उसमें अखण्ड जो खण्डित है, उसको सम्पूर्ण बनाइये और उस सम्पूर्णता से फिर से सूर्य के दर्शन कीजिए।

यह जो स्वभाव है उसमें फिर हमें तीन ही शब्द मिलते हैं। एक भाव का क्योंकि कला का जो स्तर है वह भावना का है, वह बुद्धि का नहीं है। इसीलिए रस की theory, theory नहीं। रस की अवधारणा उसी संस्कृति में हो सकती थी जिसमें तरलता उसका पहला स्वभाव हो। जिसमें liquidity उसका पहला स्वभाव हो, जिसमें सूर्य की किरणें या सूर्य का spectrum उसका पहला स्वभाव हो और वह फिर श्वेत में बह जाए, बहना उसका स्वभाव हो। कहीं और उस तरह की कल्पना ही नहीं हो सकती थी क्योंकि यह सब process है। रस कोई चीज़ नहीं है, और यह जो हम संगीत और नृत्य में और चित्रकला में कहते हैं कि इस रंग का मतलब इस रस का, इस रंग का मतलब ये वो correspondence, वो सब correspondence एक दूसरे से vertically, horizontally आप एक में ला सकते हैं। और यह श्रुतियों के सन्दर्भ में आलोचना हुई है, स्वरों के सन्दर्भ में हुई है, नृत्य के सन्दर्भ में, शिल्प में हुई है, architecture में हुई है। हम लेकिन उसको देखें कि वह आपको यह स्वतन्त्रता

देता है कि अपने स्वभाव से आप विस्तार करें। और जिस शब्द का मंगलाचरण में प्रयोग हुआ कि अन्ततः वह अनुभूति हो जो अद्भुत की हो। वह विशिष्ट हो लेकिन वह शाश्वत हो। अद्भुत की अनुभूति तो केवल त्रिशूल, नन्दादेवी को देख कर ही हो सकती है। अद्भुत की अनुभूति हमारे यहाँ कुर्सियों पर बैठे हुए तो नहीं हो सकती। तो अपने को भूलने में ही, समर्पण में ही एक स्वातन्त्र्य है। और वह स्वभाव फिर स्वतन्त्रता का है और उस रस की अनुभूति से कलाकार आरम्भ करता है और फिर रस, भाव, व्यभिचारीभाव, इस सब का वह विस्तार, निर्माण करता है, मंदिरों का निर्माण, वहाँ शिखर निर्माण सब जो उसके अंग हैं और प्रत्यंग हैं, बनते हैं लेकिन अन्ततः जब आपको उस सम्पूर्णता की अनुभूति नहीं होती है तब इसका कोई सवाल नहीं है।

तो यह है मेरी भोली ऊर्मिला! मेरा छोटा सा निवेदन रस और अनुभूति का। लेकिन इससे पहले कि मैं जो थोड़ा कुछ कहना था समाप्त करूँ, मैं एक इससे सम्बन्धित एक दूसरे स्तर पर बात करना चाहती हूँ। आप यह सोच रहे होंगे कि मैं ये चारों खण्ड क्यों लाई थी? मैं कलातत्त्वकोष की बात करना चाहती हूँ। क्योंकि जब लक्ष्मण शास्त्री जोशी के साथ यह बात हुई क्योंकि यह मेरे मन में घुल रही थी, और जिसकी बात राजा भैया ने कहीं कि Coomarawamy, Vasudev Sharan Agrawal, Hazari Prasad Dwivedi—ये मेरे सारे गुरु हैं जिनके प्रति मैं बार-बार नमन करती हूँ और जिनके प्रति मैं ऋणी इतनी अधिक हूँ और भी मेरा जो अपना अध्ययन था वह उस binary opposition के discipline से आया था और जैसे-जैसे द्वार खुलते गये और राय साहब जिन्होंने मुझे आँख दी चित्र देखने के लिए तो मुझे समझ में आया कि भई यह तो एक दूसरी ही भाषा है। और मैं उन उपकरणों से इसको नहीं समझ सकती हूँ। उससे मैं परिचित हूँ, उसको मैं बोल सकती हूँ। उसे मैं जानती हूँ, उसका प्रयोग भी किया है, जैसे नृत्य के लिए मैंने ballet dance भी किया है, modern dance भी किया है, भरतनाट्यम् भी किया है, Odissi भी—यह दोनों बिल्कुल शरीर से लेकर और आत्मा तक अलग विधियाँ है। विशिष्ट हैं, उनका दोनों का आदर है लेकिन यह बिल्कुल अलग हैं। और एक मापदण्ड से दूसरा नहीं देखा जा सकता। और इसीलिए मेरे मन में यह बात उठी कि यह जो हमारे पारिभाषिक शब्द हैं जो कि बहुत अर्थों में आये हैं, चाहे मैं आयुर्वेद पढ़ूँ, चाहे मैं गणित पढ़ूँ, चाहे दर्शन पढ़ूँ, बार-बार जब इन शब्दों का प्रयोग होता है तब यह कैसे होता है और क्यों इनके अलग-अलग तरह के interpretations हैं जिनको कि हम विरोधाभास के रूप में जानते हैं, उसकी जो आलोचना है हम यह कहते हैं कि शास्त्र के अनुसार, यह मीमांसा के अनुसार, यह न्याय वैशेषिक के अनुसार, यह फिर यह हो गया क्योंकि हम उसमें एक linear progressire order, एक simultaneity, consequentiality, concurrency देखते हैं, तो यह कोई वहाँ पर अलग नहीं रहते हैं। तो तब मैं लक्ष्मण शास्त्री जोशी के पास गई, लक्ष्मण शास्त्री जोशी क्योंकि प्रकाण्ड पण्डित थे उनको मैंने निमन्त्रण दिया और उनके साथ बैठी और तब यह 250 शब्दों का चयन हुआ और इस यज्ञ में बहिनजी का सबसे बड़ा योगदान रहा। लेकिन इस यज्ञ में यह जो दृष्टि थी, मैं इसके बारे में आज सार्वजानिक रूप से कहना चाहती हूँ यह जो दृष्टि थी वह दृष्टि इसीलिए थी कि भारतीय संस्कृति की जो दृष्टि है और जो परस्पर उनका सम्बन्ध है, यह बहुत जोखिम का काम है, सबसे अधिक क्योंकि दो सौ वर्ष से या उससे अधिक यह जो खण्डित हमारी दृष्टि थी उसको समग्रता फिर से प्रदान करने की एक चेष्टा थी, एक प्रयास था। और इसलिए जो कि मैंने fourth volume की भूमिका में कहा है कि उस सब पर मैंने कुछ दृष्टि डाली है। इसी बात पर fixed और categories पर। Reversible और irreversible categories पर और disciplinary cross-cultural और interdisciplinary implications of these categories पर, क्योंकि हमारी जो शिक्षा हुई है वह specialization की हुई है डेढ़ सौ वर्ष, दो सौ वर्ष से। हम लोग तो सब अभिनवगुप्त नहीं हैं न, न ही आनन्दवर्द्धन है जिनका कि हर क्षेत्र में अधिकार था, और न ही आज के वासुदेव शरण अग्रवाल हैं। तो इसलिए यह बिल्कुल आवश्यक हो गया कि अलग-अलग विद्वानों को, विभिन्न शास्त्रों के सन्दर्भ के लिये Reference Cards भेजे जायें, और उसकी विधि बनाई गई। यह नहीं है कि वह विधि बिल्कुल सफल रही लेकिन यह पहला प्रयास है और अब मेरी यह चेष्टा थी या होगी as a scholar कि इन सब को सँजो के फिर इसमें से जो तारतम्य निकलता है वह सामने लाया जाय। और वही जो बीज, गर्भ, बिन्दु, शून्य और सम्पूर्ण के बिम्ब हैं वह सब इनमें से समझे जा सकें। और इसमें बहिनजी, प्रेमलताजी मेरी सहयात्री रहीं और उनको मैं यह कहना चाहती हूँ, धन्यवाद देना चाहती हूँ कि यह यात्रा सफल रही, बड़ी लम्बी यात्रा है, इसके बड़े पड़ाव आयेंगे, चोटियाँ भी आयेगी, घाटियाँ भी आयेंगी, नदियाँ भी आयेंगी लेकिन चाहे अकेले चाहे दुकेले यह प्रयास जारी रहेगा। धन्यवाद।

अध्यक्षीय वक्तव्य

अध्यक्ष (प्रो० आनन्दकृष्ण)—मुझे यह समझ में नहीं आता कि कपिलाजी को अपना आभार हम कैसे प्रकट करें। ये भूल गई होगी, हमारे पिताजी के जो शब्द थे उसमें यह था कि उनके साथ-साथ ये ही इस भारतकलाभवन की आजीवन डायरेक्टर होंगी। उसके लिये उन्होंने इनको इतना मनाया इतना मनाया, लेकिन ये नहीं मानीं। आज हमारी सम्पत्ति तो दिल्ली चली गई। उसके बाद पिताजी ने कहा था—देखो कपिला यह विश्वविद्यालय तो मालवीयजी की देन हैं, मैं यह तो नहीं कर सकता कि यहाँ स्थायी कुलपति के रूप में तुमको ला सकूँ, लेकिन उपकुलपति या डायरेक्टर के रूप में ही तुम यहाँ आ रहो।............पर वह भी न हुआ। बड़ी-बडी स्मृतियाँ हैं, अब सब स्मृतियाँ ही रह गयीं। जिनका हम स्वागत करने जाते हैं वे तो हमारा स्वागत करती हैं। लेकिन ऐसा समय का खेल होता है, पर हमने अभी उनको खोया नहीं है कोई दूरी नहीं है। उनसे बहुत कुछ सीखना है हमें। आज कुछ-कुछ सीखा, समझा।

मै सबसे पहले तो आम्नाय-भरतनिधि का आभारी हूँ, जिस ने ऐसा अवसर हमें प्रदान किया। जीवन में ऐसे अवसर बहुत कम क्षण आते हैं। इधर श्रीवत्सजी बैठे हैं, उधर कपिलाजी बैठी हैं, कितने ही बड़े-बड़े विद्वान् सामने बैठे हैं। ऐसे और भी क्षण आयेंगे ऐसा भरोसा है।

कपिलाजी! हमारा तो उठता बाजार है। इस उठते बाजार में क्या हाथ लगेगा, क्या खोयेंगे—पता नहीं, आप लोगों ने इतना सम्बल दिया। कभी कभी बड़ों से भी भूल हो जाती है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि मैं यहाँ पर बैठा हूँ। फिर भी इस आनन्द के लिये आप सब का आभारी हूँ।

'राष्ट्रीय सहारा' लखनऊ, मंगलवार, 5 दिसम्बर, 2000 में प्रकाशित अभिमत

'सौन्दर्यशास्त्रीय चेतना की आत्यन्तिक अभिव्यक्ति थीं प्रेमलता शर्मा'

सहारा समाचार

वाराणसी, 4 दिसम्बर। आम्नाय, भरत निधि एवं राय कृष्णदास इँटैक वाराणसी न्यास द्वारा आयोजित प्रो० प्रेमलता शर्मा श्रद्धाञ्जलि सत्र के दूसरे दिन सोमवार को सुप्रसिद्ध कलाविद् डॉ० कपिला वात्स्यायन ने कहा कि बहिन जी (प्रेमलता शर्मा) सौन्दर्यशास्त्रीय चेतना की आत्यन्तिक अभिव्यक्ति और उपलब्धि थीं। भारत कला भवन में अपराह्न तीन बजे दो महत्त्वपूर्ण पुस्तकों के लोकार्पण के बाद 'भारतीय संस्कृति में कलात्मक रसाभिव्यक्ति' विषय पर बोलते हुए उन्होंने कहा कि बहिनजी भारतीय संगीत के विज्ञान, मनोविज्ञान और आध्यात्मिक गहराई से गहरे जुड़ी थीं।

जिन दो पुस्तकों का उन्होंने लोकार्पण किया उनमें एक है 'इण्डियन एस्थेटिक्स एण्ड म्युजिकोलॉजी'। यह पुस्तक प्रो० प्रेमलता शर्मा के महत्वपूर्ण लेखो का संकलन है। दूसरी पुस्तक हैं 'म्युजिकल ट्रेडिशन्स ऑफ वैष्णव टेम्पल्स इन व्रज', यह पुस्तक डॉ० सेलिना थीलमान द्वारा लिखित एवं प्रेमलता जी को समर्पित है। पहली पुस्तक के सन्दर्भ और उद्धरणों के बहाने प्रेमलता जी के समग्र कार्य की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि उन्हें भारतीय सौन्दर्य शास्त्र में निहित भारतीय दर्शन, आत्मा और शरीर, एरोटरिक और एक्सोटरिक, शुद्ध चेतना आदि का पारस्रोत (ट्रान्सेंडेन्टल सोर्स) ज्ञात था। वे महज एक सैद्धान्तिक अनुभववादी या अभ्यासी भर नहीं थीं। संगीतशास्त्र के शुद्ध व्याकरण और मूलनाद तक की अनुभूति और कलाभिव्यक्ति उनके व्यक्तित्व का सौन्दर्य है।

डॉ० वात्स्यायन ने कहा कि प्रेमलता जी भारतीय दर्शन के दोनों पहलुओं, आवृत ज्ञान (ऑकल्ट नॉलेज) व अज्ञान, को लेकर चलती थीं और इन्हें उन्होंने संगीत के सारे प्रत्ययों के बहाने से प्रस्तुत भी करना चाहा। रागों के वर्गीकरण और सम्बन्ध, वर्ण तथा भारतीय संगीत की अन्तर-आनुशासनिक प्रकृति उनका प्रिय और अर्थगर्भ विषय था। देशी और मार्गी इन दोनों धाराओं पर चलना उनका अभ्यास था।

प्रेमलता जी की एक रेडियोवार्ता जिसका विषय था गान्धार, की चर्चा करते हुए डॉ० वात्स्यायन ने कहा कि स्वर की गन्ध और गान तथा इसका अनुरणन ही उनके लिए गान्धार था जिसका उल्लेख उन्होंने इस पुस्तक में किया है। उनके लिए अनुरणन (रेजोनेन्स) ही स्वयंभू गान्धार या श्रुति षड्ज था। उन्होंने प्रबन्ध और कम्पोजिशन में भी भेद दिखाया तथा ठुमरी के कारणिक सिद्धान्त (कॉलज थ्योरी) को भी चिन्हित किया और पुन:सर्जित किया। पूर्वरंग को पुनरुज्जीवित कर उन्होंने कालिदास के तीन नाटकों की एक प्रकार से पुनर्रचना की। वे शरीर और आत्मा की रिवर्सेविल प्रक्रिया को मानती थी और भारतीय परम्परा की प्रकृति में अन्तर्निहित परिवर्तन के गत्यात्मक सुनैरन्तर्य की पुन:स्थापना करती दिखती हैं अपने इन लेखों में, जो इस पुस्तक में संकलित है। कार्यक्रम के अन्त में अध्यक्षता कर रहे श्री चैतन्य प्रेम संस्थान वृन्दावन के आचार्य श्रीवत्स गोस्वामी ने कहा कि भेद अभेद में न जाकर यदि हम एकान्विति से देख सकें तो यह दिखेगा कि ये महज प्रस्थानभेद हैं, और प्रेमलता जी एक प्रस्थान बिन्दु।

प्रख्यात कलाविद् डॉ० कपिला वात्स्यायन ने कहा

'अहंकार के विगलन में ही रसानुभूति है'

सहारा समाचार

वाराणसी, 5 दिसम्बर। प्रो० प्रेमलता शर्मा श्रद्धाञ्जलि सत्र में स्मारक-व्याख्यानमाला के अन्तिम दिन भारतीय संस्कृति में कलात्मक रसाभिव्यक्ति विषय पर अपने विचार रखते हुए कलाविद् डॉ० कपिला वात्स्यायन ने कहा कि इस विराट् लीला में 'व्यक्तिगत' का होना अत्यन्त नगण्य और अप्रासंगिक है क्योंकि अहंकार के विगलन में ही रसानुभूति है।

भारत कला भवन में मंगलवार की सुबह बोलते हुए उन्होंने कहा कि द्वैत युग्मों (बाइनरी अपोजिट्स) में अन्तत: विरोध नहीं बल्कि एकान्वित का सम्बन्ध है। यह मन की ऊर्ध्व गति की स्थिति में ही दिखता है तब सत, रज, तम के बीच धाराप्रवाह रूप परिवर्तन होता रहता है। जब हम किसी कलाकृति को देखते हैं या जैसे राग के रूप का विस्तार करते हैं तो इसमें न सिर्फ अपने अहंकार का विगलन होता है बल्कि रूप के विस्तार में या अभिव्यक्ति के विस्तार में अपने आत्मा का ही लय और विस्तार होता जाता है।

उन्होंने कहा कि स्वर और श्रुति दरअसल हमें यह स्वतंत्रता देते हैं कि हम अपने स्वभाव में जा सकें। हम उस सम्पूर्णता को प्राप्त कर सकें जो शून्य तक ले जाती है। नाट्य शास्त्र में भाव या रस इसीलिए है कि अपने स्वभाव से हम अपनी धारा का पता लगा सकें और कलाकार की कला में अपनी वैयक्तिकता न रह जाय। इसीलिए अपने को भूलने की स्वतंत्रता ही रसानुभूति है। यह हमें क्षैतिज नहीं बल्कि ऊर्ध्व और अद्भुत की अनुभूति में बराबर मिलता रहता है। भाव का अर्थ है जहाँ बुद्धि नहीं, जहाँ पहला स्वभाव हो तरलता और गरिमा (डिग्निटी)। उन्होंने कहा कि मैं आनन्द कुमार स्वामी, वासुदेव शरण अग्रवाल और हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे गुरुओं की ऋणी हूँ जिन्होंने मुझे देखना सिखाया। उन्होंने बताया कि कला, भाव या रस की प्रामाणिकता प्रपोर्शन में हैं, मानवीकरण में नहीं। इसीलिए प्रेमलता जी या अन्य कला सञ्चिन्तकों ने फिक्स्ड और फ्लुइड, अन्तर आनुशासनिक और बहुवाचिक, अनुगामी और प्रतिगामी जैसी श्रेणियाँ बनायीं ता कला की नाभि, बीज या बिन्दु तक पहुँचने की कोशिश की ताकि जीवन के बिन्दु तक पहुँचा जा सके। कार्यक्रम की अध्यक्षता राय आनन्दकृष्ण ने की।

★★★

चतुर्थ खण्ड

—जीवनकाव्य : संस्मरण : उद्‌गार—

चतुर्थ खण्ड

(४६३-५७९)

(श्र० प्रेमलता जी के वरिष्ठ, समवयस्क एवं निकट अनुवर्ती मित्रों के संस्मरणात्मक उद्‌गार तथा इस ग्रन्थ के लिये दिये गये लेख आदि।)

.१.

प्रेमलताजीवितम् *

—पं० रतिनाथ झा

वर्षन् कृष्णघनोऽमृतं सुमधुरं तप्तात्मनां दुस्सहम्
क्लेशावेशमशेषमाशु शमयन् सर्वैः सदाऽभ्यर्च्यते।
सन्तप्तां वसुधां निरावृततमामाच्छादयन् सत्-तृणैर्-
लोकेऽलौकिकरीतिनीति-निपुणः पुण्यात्मभिः स्तूयते॥ १॥

एतस्मिन् जगतीतले वसुमती-सौभाग्य-सम्भावितं
भव्यं भारतमुन्नतं विजयते सत्कर्म-शर्मोल्लसत्।
अस्मिन् पञ्चनदः प्रदेशतिलको जन्मस्थली संस्कृतेर्-
जीवातुस्तपसो विभाति सुकृतोत्कर्षैः सुतीर्थव्रजैः॥ २॥

अस्मिन्नेव यशोविभूषिततमे प्रान्ते प्रतिष्ठास्पदे
जागर्त्त्येव नकोदरो बहुविधैर्विद्याकलाद्यैः स्तुतः।
एतस्यापि महत्त्वमेधयति यज्जालन्धरो विश्रुतः
तत्र प्रेमलता द्विजोत्तमकुले लेभे जनिं कांक्षिताम्॥ ३॥

[1]मायासतीरतिसमर्चितलालचन्द्रौ[2]
जायापती समुदितौ मुदितावभूताम्।
अन्योन्यसत्प्रणयसत्फलकल्पसिद्धिः
कन्यैव केवलमियं जनिमाप तुष्ट्यै॥ ४॥

आद्यः सुतश्चरमसन्ततिरप्यपूर्वः
पुत्रस्तयोर्मिलितयोरथ चान्तराले।
मध्ये स्वसा परमनिर्मलरागरूपा
जाता बभौ प्रणयमूर्तिरियं प्रसन्ना॥ ५॥

---

* पूज्या 'बहिनजी' के गुरुवत् सहयोगी, "**अभिनवकालिदासोपम**" सहजकवि, का०हि०वि०वि० में प्राच्य-विद्या-धर्मविज्ञान-सङ्काय के भू०पू० दर्शनशास्त्रविभागाध्यक्ष **पं०श्री रतिनाथ झा** द्वारा लिखित उनका जन्म-कर्म-वृत्तान्त। —सम्पा०

१- माँ का नाम श्रीमती मायादेवी शर्मा;

२- पिता का नाम श्री लालचन्द्र शर्मा

पुत्रावुभौ कवलितौ विकरालकाल-
व्यालेन शैशववयस्यभिरामरूपौ।
जाता चिराय मुदिता तनयाऽत्युदारा
विद्याकलोल्लसितप्रेमलताभिधाना[१] ॥ ६ ॥

कारुण्यप्रतिमूर्त्ति-मातृजठराज्जाता द्विजेन्द्रान्वये
वात्सल्यप्रतिमः पिता प्रतिदिनं स्नेहामृतं वर्षति।
पित्रोः प्रीतिमुपेयुषी मधुमयीं वाचं वदन्ती मुदा
[२]सुस्पष्टां निजशैशवीं व्यपनयत् प्रीतामवस्थां स्थिराम् ॥ ७ ॥

जालन्धरान्तर्गतस्य नकोदरस्य
भूमिर्यदीयजनुषा भृशमुल्ललास।
बाल्ये वयस्यनुबभूव महानगर्यां
रूपं नवीनतममानवसभ्यतायाः ॥ ८ ॥

दिल्ल्यामथ मुम्बय्यां कलिकातायां महानगर्याञ्च।
बाल्यं ह्यस्या विगतं विज्ञातञ्चाधुनातनं वृत्तम् ॥ ९ ॥

सा चैकादशवार्षिके वयसि सद्बुद्ध्याः प्रकर्षात् परम्—
आद्यां 'मैट्रिक'-नामिकामुदतरत् क्लिष्टां परीक्षां मुदा।
इन्द्रप्रस्थ-यशस्यशस्य-सुमहा-विद्यालयेऽधीतिनी
कक्षां स्नातक-नामिकामपि समुत्तीर्णाऽल्पकालेन सा[३] ॥ १० ॥

दिल्यामेव वसन् पिता स्वतनयानैसर्गिकीमर्हतां
पश्यन् गायन-वाद्य-नृत्य-विषयेऽप्युत्साहयन् बोधने।
चित्राणामथ निर्मितौ नवनवां श्लाघ्यां कलां शिक्षितुम्
अर्हान् योग्यतमान् सुशिक्षकवरान् संयोजितुं द्राक् क्षमः ॥ ११ ॥

शर्मा श्रीलालचन्द्रः शुचिरुचिरुचिरो देशभक्तो जितात्मा
कर्मण्यः 'मोहनस्य' प्रगुणितमहिमोत्कर्षभाज्यङ्घ्रिपद्मे।
सत्याहिंसानुरागे निरततममतिव्यापृते नेतृमान्ये
श्रद्धालुस्तत्प्रबोधे निरतिशयसुखं मन्यमानोऽनुमेने ॥ १२ ॥

यद्यद् गाँधिमहात्मना निजमनःशुद्ध्यै व्रतं स्वीकृतं
तद् तद् पालितवानयं नयविदां नीत्यां मुदा दीक्षितः।
सत्यं सद्ब्रह्मचर्यं सकलजनमनोमोदनं चाप्यहिंसा—
दीक्षायां रक्तचित्तं सततमभिमतं स्वं मतं व्याजहार ॥ १३ ॥

१- दो भाई उत्पन्न हुए थे—एक पहले, एक बाद में, मध्य में यह कन्या थी, किन्तु दोनों शैशव (डेढ़ वर्ष, दस मास) में ही न रहे।
२- यह कन्या नौ मास की होते ही बोलने लगी थी और तब से ही कभी तुतलाई नहीं—आरम्भ से ही स्पष्ट शुद्ध उच्चारण रहा।
३- ग्यारहवें वर्ष में दसवीं उत्तीर्ण की, तेरहवें में इण्टर, तथा पन्द्रहवें में बी०ए० उत्तीर्ण हो गयी।

योऽभूद् राष्ट्रपिता स एव नितरां क्रूरात्मना घातितः
तस्मिन् हन्त दिवंगतेऽथ तनयाचारं चिरं पालयन्।
शश्वद् भूशयनं चकार जगृहे यः कम्बलं स्वासनं
नैवात्मीयगृहे, पुनर्न कृतवान्नत्युत्सवायोजनम्॥ १४॥

यश्चाध्यापितवान् सुतां प्रतिदिनं प्रेम्णाऽऽङ्ग्लभाषां भृशं
कौशल्यं सुदृढीचकार विदुषां सङ्गेऽपि सम्भाषितुम्।
शुद्धां लेखननैपुणीं निहितवाँश्चित्ते तदीयेऽद्भुतां
गेहे किन्तु सदा स्वमातृवचसो व्याहारमाकारयत्[१]॥ १५॥

नेतॄणामभिभाषणेषु विदुषां शास्त्रीयचर्चास्वपि
प्रायः सम्मिलितुं सुतां सहचरीं नेतुं सदोत्साहवान्।
शिक्षायाः परिपूर्त्तये समुचिताचार्यान् गृहैवानयत्
विद्यायां विलसत्कलासु च सदा योगं व्यवस्थापयत्॥ १६॥

विद्याकलापरिणतिं परिभाव्य चित्ते,
माता-पिता च तनया मथुरामुपेताः।
गौडीयवैष्णवसनातननीतिरीतिं
सम्यग्-विबोद्धुमिव तत्र मुदं प्रपन्नाः॥ १७॥

''चैतन्य''-सम्मत-मतप्रतिपादकानि
सत्पुस्तकानि विधिवत् प्रतिपत्तुकामाः।
सत्सङ्ग-सम्भृत-हरिस्मरणे प्रभूतं
पीयूषपूरमनिशं मधुरं धयन्ति॥ १८॥

अस्मिन् क्रमे विविधतीर्थवरेषु गत्वा
पूजाविधौ निरुपमाशनसुप्रसादम्।
सुस्वादुवस्तुपरिपाककलासु दीक्षां
लब्ध्वा भृशं मुमुदिरे परितोषवन्तः॥ १९॥

सुस्वादुभोजनविनिर्मितिदक्षतायां
प्राथम्यमापदतितीव्रमतिप्रकर्षात्।
रत्याऽऽकलय्य गृहकर्मणि कौशलस्य
सन्धानसौरभसमृद्धिमुररीचकार[२]॥ २०॥

१- पू० पिताजी स्वयं अनेक भाषायें जानते थे, अंग्रेजी पर अद्भुत प्रभुत्व था, वह पूरी तरह बहिनजी में आया था, और अभिव्यक्ति की विशदता-सम्प्रेषणीयता हिन्दी-अङ्ग्रेजी में समान स्तर पर थी, बङ्गाली-गुजराती-मराठी-ओड़िया-असमी-व्रजभाषा-उर्दू-भोजपुरी-सब में निपुणता थी, फिर भी पिताजी का आग्रह रहता था कि घर में परस्पर अपनी मातृभाषा पंजाबी ही बोली जाय, ताकि वह पीछे न छूट जाय। पंजाबी के भी अनेकों **प्राचीन परम्परागत गीत** वे गाया करती थीं जो उनके साथ ही लुप्त हो गये, अब पंजाब में भी उपलब्ध नहीं हैं।—सम्पा०

२- श्री गौड़ीयमठ की सेवा में रहते समय भगवान् के नैवेद्य के लिए विविध प्रकार के सुस्वादु पकवान, अचार, मुरब्बे, शर्बत, पापड़ वड़ी आदि सभी प्रकार की भोज्य वस्तुयें और श्री विग्रहों के परिधान सीने, पिरोने-बुनाई-क्रोशिया आदि में भी बहिनजी सिद्धहस्त हो गईं, जो निपुणता आजीवन बनी रही, यहाँ तक कि अपनी विदेशयात्राओं में भी इससे सबको आनन्द देती रही। —सम्पा०

एतेषु भक्तजनमानसपावनेषु
सञ्जातजीवितसुधारसलाभलुब्ध्या।
सप्ताब्दिकोऽवधिरगात् क्षणमात्रकल्पः
कालः पुनर्गतिमधात् परिवर्तनीयाम्॥ २१॥

एवंविधेऽपि विषये निजतीक्ष्णबुद्धेः
सिद्धिं प्रदर्श्य चकिताँश्च गुरून् विधाय।
भक्तिप्रवाहपतितान् निजमातृ-पितृ—
वाञ्छां प्रपत्तिरसिकामकरोत् प्रकृत्या॥ २२॥

एवं क्रमे प्रचलिते मनसो निरोधं
कृत्वा सुचिन्तनमयी जननी सुतायाः।
कल्याणमाप्तुमवशिष्ट-विशिष्ट-
—विद्या-सम्पूर्त्तये स्वदयितं भृशमैरयत् सा॥ २३॥

तत्प्रेरणा-परवशो जनकः निसर्गात्
कन्याहिताय सततं हृदि जागरूकः।
नीत्वा सुतां पिपठिषापरिपूर्तिकामः
काश्यां समागमदनुग्रहमूर्त्तिरेषः॥ २४॥

मध्ये विरामवशतोऽध्ययनक्रमस्य
कुण्ठां समापयितुमुद्यमशालिनीयम्।
स्वल्पश्रमैः कतिपयैर्दिवसैश्च भूयः
सुप्तामिव स्वप्रतिभां विदधे प्रबुद्धाम्॥ २५॥

काश्यामत्र यदोच्चशिक्षणविधेर्निर्वर्तने व्यापृता,
चित्तेनास तदैव दैववशतः सङ्गीतशाला नवा।
सञ्जाता त्वविगीतगीतमहितान् ओङ्कारनाथाभिधान्
प्राचार्यान् प्रतिपद्य विज्ञपरिषत्स्वामन्त्रयत् तान् गुरून्॥ २६॥

सा हिन्दीं सुरभारतीं च युगपत् संसेव्यामानाऽऽदरात्
आचार्यान् उपलभ्य[1] वैद्यविबुधाधीशान् प्रशस्याशयान्।
श्रीमन्तं च यशस्विनं सुमनसं ख्यातं द्विवेदिद्विजम्[2]
सम्प्राप्यार्चनतत्पराऽर्जितवती पूर्णार्हतामुत्तमाम्॥ २७॥

साहित्ये विषये प्रविश्य विधिवत् शिक्षा-परीक्षाक्रमैर्
भूयो ज्ञातुमियेष काव्यनिगमाम्भोधेस्तु गम्भीरताम्।
वैदुष्येऽप्रतिमान् सुधीन्द्रतिलकैरभ्यर्हितान् विश्रुतान्
पूज्यान् सद्गुरुदेववन्द्यसुकवीन्[3] भक्त्या सिषेवे गुरून्॥ २८॥

१- परमविद्वदग्रणी डॉ० **परशुराम लक्ष्मण वैद्य**, इनसे ही संस्कृत-ग्रन्थों के पाठ-संशोधन-सम्पादनादि की शिक्षा-दीक्षा पाई।

२- **आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी** (हिन्दी-संस्कृत वाङ्मय-रस के समन्वयाचार्य)

३- महामहोपाध्याय सर्वतन्त्रस्वतन्त्र पण्डित **श्री महादेव शास्त्री**, ये ही फिर संन्यस्त हो कर काशीस्थ सुमेरुपीठ के शङ्कराचार्य महेश्वरानन्द सरस्वती हुए।

यो दर्शनेषु सकलेषु समानमानस्-
तन्त्रे स्वतन्त्रधिषणोऽखिलपाणिनीये।
काव्यागमे च कविकर्मणि लब्धसिद्धिः
प्राध्यापने प्रथितकीर्तिरभूत् प्रधानः॥ २९॥

तस्मिन् दृढे परिवृढे सति विद्यमाने
प्रौढिं गतेऽत्र विषयाध्ययनावबोधे।
साहित्यसौरभमितः प्रसृतं जगत्याः
सर्वासु दिक्षु मलयाञ्चलमारुतेऽस्मिन्॥ ३०॥

साहित्यशास्त्रविषये वितताववबोधो
निर्दोषशोधविषयेऽपि कृताधिकारः।
प्राध्यापने सुरुचिरे रचनाप्रपञ्चे
चिन्तामणिः प्रपठतामिह राममूर्त्तिः[१]॥ ३१॥

एभ्यो गुरुभ्य उपलभ्य विशिष्टबोधं
साहित्यिकं परममङ्गलमूलमूल्यम्।
विद्याऽनवद्यगुणदोषविचारचारून्
ग्रन्थानतीव जटिलानपि चाध्यगीष्ट॥ ३२॥

बाल्ये या गृह एव शिक्षितवती सङ्गीतमारम्भकं
लोके नूतनवस्तुबोधविषये जागर्ति यस्या रुचिः।
पूर्वाभ्यासवशाद् सदा श्रुतियुतं गीतं प्रियं गायति
सैवाऽनल्पकलासु सिद्धिमयते निर्बाधबोधेच्छया॥ ३३॥

भूयो ज्ञातुमियेष काव्यनिगमाम्भोधेरगाधात्मतां
साहित्ये विषये प्रविश्य विधिवत् कक्षा-परीक्षाक्रमे।
वैदुष्येऽप्रतिमान् सुधीन्द्रतिलकैरभ्यर्हितान् विश्रुतान्
पूज्याचार्यपरम्परासु महितान् सद्देशिकानाश्रयत्॥ ३४॥

नानाशास्त्रकलादिषून्नततमां शिक्षां परीक्षां तथा
साफल्यातिशयात् प्रपूर्य विधिवत् प्राप प्रतिष्ठां पराम्।
सम्यग् भूरिपरिश्रमेण नितरामन्वेषणोपाधिना
धन्यौचित्यसमर्चिता समभवद् विद्वद्भिरप्यादृता॥ ३५॥

स्वाध्यायेन सदार्चिताः स्वगुरवः, प्रीताः सतीर्थ्याः कृताः,
सामोदाः सुहृदस्तथा सहचरा निर्मत्सरा बान्धवाः।
चारित्र्येण सुचारुणा सुमनसः, स्नेहेन सम्भाविताः
सौम्याः शीलसमन्विताः स्वरुचिराचारेण शुद्धाशयाः॥ ३६॥

१- **पं० राममूर्ति त्रिपाठी** ने साहित्याचार्य करते समय बहिनजी को रसगङ्गाधर एवं अन्य कुछ काव्यशास्त्रग्रन्थ पढ़ाये, सतत सम्पर्क बना रहा।

याऽवेदीत् सुरभारतीमसुलभां व्युत्पत्तिसम्पद्वृतां
पूर्णामाङ्गलगिरं करे कृतवती सम्भाषणे लेखने।
प्रान्तीयाभिरनल्पभूतिविलसद्भाषाभिरभ्यर्हितां
हिन्दीं राष्ट्रगिरं बुबोध युगपद् व्याहर्त्तुमीष्टेऽनिशम्॥ ३७॥

स्तनेनैकेनैव स्फुरति सुषमा यन्न युवतेस्-
तथैकं साहित्यं प्रथयति मुदं नो रसवताम्।
अथ स्यात् साहित्यं सरसमिह सङ्गीतमिलितं*
विदग्धानां स्वान्तं प्रमदयति लोके सुमनसाम्॥ ३८॥

यथा प्रख्यातेभ्यः प्रथमगुरुदेवेभ्य उदितं
विशुद्धं सज्ज्ञानं सपदि हृदयेनाप मुदिता।
तथा सङ्गीतेऽपि प्रथितयशसष् ठाकुरगुरोर्
अधीतं निर्दोषं हृदि विनिहितं शास्त्रहृदयम्॥ ३९॥

आम्नायाध्ययने यथा निपुणतां प्राप्तुं गुरोरन्तिके
छायेवानुवसन् वटुः पटुतमः सञ्जायतेऽभ्यासतः।
सङ्गीतेऽपि तथैव सन्निधिवशाज् ज्ञानं प्रभाभासुरं
सम्प्राप्तुं प्रथते श्रयन् गुरुवरं शस्योऽथ शिष्यो भवेत्॥ ४०॥

अस्मिन्नेव चिरन्तनक्रमविधौ मेधावि-विद्यार्थिभिः
साकं शास्त्ररहस्यबोधमनिशं सम्बोधयन् यत्नतः।
आचार्योऽधिकरोति शास्त्रजटिलग्रन्थिश्लथीकारिणीं
रीतिं तत्त्वविदां पुरः प्रकटयँस्तत्त्वं परं दुर्गमम्॥ ४१॥

बाल्यादेव सरस्वतीमनुपदं सञ्चिन्तयन्ती हृदा
प्रीताऽऽचार्यपदाम्बुजस्य रजसा स्नान्ती मतिप्रीतये।
ध्यायन्ती गुरुदेवतां स्वमनसो निःशेषयन्ती रुजं
हेम्नः कान्तिमवाप साऽनलगता दोषानपाकुर्वती॥ ४२॥

या पित्रोः परिचर्यया सुमनसां सम्मानदानव्रतैर्
आचार्यार्चनदीक्षया समुचिताचारैः पवित्राशया।
मित्राणामपि निर्व्यलीकविधिना कल्याणमातन्वती
श्रेयांसि प्रथयन्त्युदारहृदया कामं चिरं नन्दिता॥ ४३॥

सङ्गीतेऽर्जितकीर्त्तयोऽपि रसिकैः कामं समभ्यर्चिताः
लोकानां विमले बृहत्परिसरे सर्वत्र सम्भाविताः।
येऽभिज्ञाः कलकण्ठकण्ठकुहरान्निःष्यन्दमानध्वनिं
कण्ठेनैव जयन्ति कुण्ठिततमास्ते शास्त्रतत्त्वोद्गमे॥ ४४॥

---

* "सङ्गीतमथ साहित्यं सरस्वत्याः स्तनद्वयम्। एकमापातमधुरं द्वितीयं लोचनामृतम्॥"—प्रसिद्ध उक्ति।

साहित्ये सुरवाचि विस्तृततमे नाट्येऽथ सङ्गीतके
सम्प्राप्तप्रतिपत्तिरर्जितयशोराशिर्भृशं श्लाघिता।
विश्वस्मिन् विबुधादृता मतिमतां साहित्यसङ्गीतयोः
सामानाधिकरण्यमद्भुततमं प्राप्य प्रशंसार्जिता ॥ ४५ ॥

या विद्यार्थिगणेऽग्रगण्यधिषणा शास्त्रान्तरेऽप्यर्हताम्
आसाद्यातितरां सदैव गुरवे साहाय्यमापादयत्।
आचार्यैर्भरतैर्विनिर्मिततमे नाट्येऽथ तत्राद्भुते
प्रख्यातेऽभिनवप्रणीतजटिलव्याख्यानके सङ्गता॥ ४६ ॥

यः सङ्गीतकलासु पूजितपदो यो विश्वविद्यालये
सङ्गीताध्ययनाय पाठ्यरचनाऽऽरम्भेण निष्णाततताम्।
आनेतुं पठतां कुलं क्रमवशाद् ग्रन्थाँस्तथैवोत्तमान्
प्राचार्यो रचयाञ्चकार विविधान् ओङ्कारनाथो गुरुः॥ ४७॥

एतस्मिन्नतिनूतनेऽपि विषये नाट्यागमाध्यापन-
व्यापारे गुरुकार्यपूर्तिकरणं साह्यं सदाऽऽपादयत्।
याऽनेकासु च भारतीषु विधिवत् सद्ग्रन्थसम्पादने
साहाय्यं ददती प्रणम्यगुरवे प्रादान्नवां दक्षिणाम्॥ ४८॥

पाठ्यग्रन्थविनिर्मितौ नवनवाध्यायस्य संयोजने,
पौर्वापर्यविनिर्णयेऽथ कृतिनां सन्तोषसम्पादने।
शश्वत्तत्त्वविचारणे, सुमनसामाह्लादने, कर्मणा
शर्माणि प्रथयन्त्यनर्घमहिमा प्राप्तो यया मेधया॥ ४९॥

या विद्यार्थिगणेऽग्रगण्यधिषणा शास्त्रान्तरेऽप्यर्हताम्
आसाद्यातितरां सदैव गुरवे साहाय्यमापादयत्।
आचार्यैर्भरतैर्विनिर्मिततमे नाट्यागमेऽप्यद्वयां
प्रख्याताभिनवप्रणीतजटिलव्याख्या-समाख्याऽतुला॥ ५०॥

नित्यं दुष्करकर्ममर्म विधिना विज्ञाय विद्यावतां
साहित्येन सुचर्चयाऽनुदिवसं वादेन बोधेन च।
अक्षुण्णेन पथा चलन्नपि गुरुर्मेधावि-विद्यार्थिभिः
साकं प्राप्यमनुत्तमं पदमनायासेन प्रापन् मुदा॥ ५१॥

सङ्गीतेऽभिनवप्रयोगनिपुणां तीव्रां मनीषां वहन्-
त्यह्नायाधिजगाम तत्त्वविशदं संविद्विलासं धिया
सेयं प्राप्तवती पदं मतिमतां प्राप्यं पठन्ती गुरो-
श्छात्राणां परितोषपूर्तिकरणे प्राध्यापिकाऽभून्नवा॥ ५२॥

दृप्तं नैव मनो न बुद्धिविभवे कुण्ठा समासादिता,
नैवानर्थपरम्परामुपगतोऽस्त्यर्थागमो जीविते।
क्लेशावेशवशान्न जातु हृदयं तत्याज निष्कम्पतां
धैर्येणात्मतपस्यया च विकृतिस्तस्थौ क्षणं नायुषि॥ ५३॥

चित्रं काव्यमनादृतं सुकविभिर्भूयोऽपि सम्भावयन्
नानाचित्रमयं व्यधान्नवनवं श्रीरामरूपः कविः।*
सा साश्चर्यमवेक्ष्य तद् बहुविधैश्चित्रैर्नवीनक्रमं
काव्यं मुद्राप्य यत्नादवसरमनयत् सत्पुरस्कारमामुम्॥ ५४॥
(काव्यं मुद्रणतः परं ननु पुरस्कर्तुं व्यधात् प्रक्रमः॥)

काश्यां संस्कृतसत्कवेर्भवति नो यावत् स्वमञ्चः स्थिरस्-
तावन्नूतननिर्मितावुदयते नैव प्रवृत्तिः कवेः।
इत्यालोच्य तया व्यधायि मिलितैर्मित्रैः कवीनां नवा
संस्था सा 'कविभारती'-ति विशदख्यातिं गता भारते॥ ५५॥

सप्राणा कविभारती सहृदयान् निर्मत्सरान् पण्डितान्
नव्यान् भव्यतमान् कवीन्द्रतिलकाँश्चाविश्चकारोत्तमान्।
संस्थोत्थापनलग्नविज्ञसमितौ साप्यद्वितीयां स्थितिं
बिभ्राणा कविकर्मसु प्रतिदिनं प्रायो बभौ दीपिता॥ ५६॥

श्लाघ्या सा प्रकृतिर्यया शुभतमाचारैर्विचारैः प्रियैः
सर्वेषामपि सन्दधाति मधुरं श्रेयः प्रकर्षं श्रियः।
निर्व्याजव्यवहारतोऽपि मनसि प्रीतिं परेषां सतां
तन्वानाऽनुदिनं बिभर्ति हृदये क्षेमं च योगं तथा॥ ५७॥

श्रीचैतन्यमहाप्रभोरनुचरी या भक्तिभावैर्वृता
या लीलाचरितैर्हरेरनुदिनं श्रद्धालुतां बिभ्रती।
सा कर्माण्यखिलानि केशवपदाम्भोजेऽर्पयन्ती मुदा
सुप्रीता व्यदधादनन्यमनसा विष्णोः समाराधनम्॥ ५८॥

सा निष्कामधियाऽतिदुर्घटतमं कर्म प्रियं कुर्वती
श्रान्तिं नानुबभूव नापि विपुलायासाद् विरामं दधौ।
शास्त्रीयाणि विशालकायजटिलान्यापूरयन्ती नवैर्-
व्याख्यानैरथ पुस्तकानि विदुषां प्रीत्यै सदैवालिखत्॥ ५९॥

---

* गत शताब्दी के अप्रतिम चित्रकवि पं० रामरूप पाठक अतिवृद्ध एवं निरीह अवस्था में स्वान्तः सुखाय ही अद्भुत चित्रकाव्य लिखा करते थे, जब ''बहनजी'' ने उनकी कुटिया में जा कर उनकी वे रचनायें देखीं तब उनकी विद्या से चमत्कृत एवं श्रद्धावनत भाव से स्वयं उन छोटे-छोटे कागज़ों पर लिखी हुई सब रचनायें लेकर अच्छे कलाकारों द्वारा उन्हें कलात्मक रूप में लिखवाकर 'ब्लॉक' बनवाकर सुव्यवस्थित रूप में सम्पादित, प्रकाशित किया, फिर उस पर राष्ट्रीय पुरस्कार भी पण्डितजी को प्राप्त हुआ (इसके लिए अपेक्षित यत्न किया)। —सम्पा०

शिक्षोत्थापनकौशलेन नितरां देशे विदेशे तथा
प्रज्ञानां परिषत्सु गौरवमयीं प्रापत् सपर्यां पराम्।
अस्मिन्नेव विधावधीतिविषये संस्कारमातन्वती
भेजे पूज्यतमं पदं कुलपतेः खैरागढ़े प्रौढिदम्॥ ६०॥

आद्ये प्राचार्यवर्ये विधिवदधिगते पूर्णविश्रान्तिलाभं
या संस्थाया व्यवस्थामधिकतमदिनं यावदङ्गीचकार।
तत्राध्यापननीतिरीतिमनघामापूरयन्ती भृशं
कार्यं सन्धेयमात्रं चिरतरमतुलं व्याकरोत् सावधाना॥ ६१॥

साङ्गे सङ्गीतशास्त्रे विहितबहुविधायाससाध्यं दधाना
संस्थानस्य प्रकर्षं सविधि विदधती शासने लब्धकीर्तिः।
नानारूपान् प्रभूतान् निरुपममहिमोत्साहपूर्णान् प्रबन्धान्
प्रीत्या सम्पादयन्ती जगति धवलितां कीर्त्तिमेषाऽऽससाद॥ ६२॥

खैरागढ़े विततनिर्मलकीर्तिविश्व-
-विद्यालयः कलकलाललितानुबन्धः।
सङ्गीतशास्त्रपरिशीलनकेन्द्रबिन्दुः
सिन्धुर्जयत्यनुपमः श्रवणामृतस्य॥ ६३॥

तत्राभवत् कुलपतिर्निजकर्मयोग-
-सिद्धेऽर्थशोधवलिता महितार्यवृत्तिः।
शर्माऽर्हताऽऽदृततमा विदुषी वरेण्यैर्
नीराजिता बुधवरैर्भुवि भासते स्म॥ ६४॥

या भारताद् बहिरुदारतरे विदेशे
सङ्गीतशास्त्ररसिकैरसकृत् समानम्-
आमन्त्रिता गतवती सहगीतविद्यैः
प्राप्तादरा व्यलसदुच्चतरार्हणाभिः॥ ६५॥

यस्याः सद्मनि साधवः, सुमनसो, विद्यार्थिनो, लेखकाः
भक्ताः, सच्चरिताः, सुचारुरचनाशिल्पे नदीष्णा जनाः।
अस्तोभं प्रविशन्ति शान्तमतयः सङ्गीतविद्याव्रताः
काव्यालापकथासु विश्रुततमाः सम्भाविता भान्ति ते ॥ ६६॥

उद्याने रमणीयतैकनिलये सारस्वतेयेऽद्भुते
काचित् प्रेमलता तदीयगरिमोद्गारार्थमत्रोद्गता।
तस्याः कोमलपल्लवैः परिमलोत्कृष्टैः प्रसूनैर्नवैः
सर्वाशाः परिपूरिता मधुकरा वाचालिताश्च द्विजाः॥ ६७॥

यस्या आत्मनि नाप्रतीतिरभवन्-नो संशयं गाहते
बुद्धिर्न प्रतिभा विमुञ्चति निजच्छायां मनोहारिणीम्।
सङ्कल्पोऽतितरां दृढत्वमयते, दृष्टिर्न च म्लायति
सर्वत्रोत्सहमान-मानसमलङ्कृत्य प्रभा मेधते॥ ६८॥

या जानाति न दुर्वचांसि वदितुं नो वा वृथा विग्रहं
चित्ते स्वच्छतमेऽनुरक्षति चिरं नैवापकर्तुं स्पृहाम्।
या सर्वानतिथीन् विभावयति सत्कारैरुदारैर्भृशं
या भृत्यानपि दुर्लभोपकरणैरानन्दयत्यन्वहम्॥ ६९॥

या निद्राति कदापि नापसमये, नालस्यवश्यं मनो
गम्भीरार्थविचारणप्रकरणे मुह्यत्यसम्भावितम्।
नो शैथिल्यमुरीकरोति मनसः प्राप्तोपकारक्षणे
नो कौमार्यमहाव्रताय कुरुते जातु प्रतीपक्रियाम्॥ ७०॥

यस्या मानसमूर्मिलं भवति यद् भक्त्या हरेः पादयोः
सर्वप्राणवतामशेषविपदस्त्रातुं प्रभुः प्रार्थितः।
दीनानामनुकम्पयाऽर्पितसमीचीनैः क्षमैर्वस्तुभिः
सन्तोषं लभते विपन्नजनताक्लेशान् हरन्ती पुरा॥ ७१॥

विद्याया व्यसने नवीनरचनाऽऽरम्भस्य संरम्भणे
ग्रन्थानां परिपूरणे समुचिताचारव्रतस्यावने।
शिक्षापल्लवनक्रमे स्थितिगतीं सीमन्तिनीं भूमिकां
प्रेम्णोत्साहयति प्रसन्नमधुरालापैर्गृहस्थोचितैः॥ ७२॥

वीणा पाणितलेऽथ कण्ठकुहरे पीयूषवर्षी ध्वनिः
पार्श्वे पुस्तकराशिरङ्घ्रि-निकटे हंसो द्विजोत्तंसकः।
श्रोतारो विबुधा वसन्ति सविधे प्रीतिश्च नाट्यागमे
सेयं नूतनभारती विजयते लोकेऽपि लोकोत्तरा॥ ७३॥

सद्वृत्तं सुविभूषणं गुणगणैः पूजास्पदं सत्पदं
निर्दोषं शुभलक्षणं सुमनसामाह्लादनं मादनम्।
हृद्यं पद्यमिवोत्तमं सुरुचिरं रूपं सुवर्णार्चितं
देवि! त्वं त्वमिवावभासि भुवने सर्वार्हणाऽभ्यर्हितम्॥ ७४॥

सेहे नानवधानतां निजजनस्यापि क्षणं कुत्रचित्
नैव व्यक्तिनियोजने प्रमुखता त्यक्तार्हताया अपि।
शास्त्रग्रन्थयथार्थसाधनविधौ प्राध्यापने गायने
छात्राणां परितोषणे च महतीं प्रापोन्नतां भूमिकाम्॥ ७५॥

दीपो यद्यपि हन्ति घोरतिमिरं सूते परं कज्जलं
पीयूषं सरधा मधूद्गिरति चेद् दंशैस्तनोति व्यथाम्।
अज्ञानं पठतां हरन्नपि गुरुः स्वच्छन्दतां वारयत्-(त्ये)
-येवं कोऽपि न केवलं जनयति प्रायः सुखं शाश्वतम्॥ ७६॥

सा शीलस्य शिखामणिर्मधुमती योगस्य या भूमिका
सिद्धिर्मूर्तिमती तपस्विजनिता प्रीतिः समाधेः स्थिरा।
कीर्तिः संयमशेवधेरनुपमा रीतिः प्रतीतेर्गिरो
जीयात् प्रेमलताऽवदातहृदया श्लाघ्या सतां संसृतेः॥ ७७॥

सङ्गीते प्रथमानकीर्त्तिलसितैर्वर्गैः सगर्वार्चितैः
प्रख्याता रसिकव्रजे 'बहिनजी'-त्याख्यां दधाना नवाम्।
अत्यन्तादरभाजनं सुमनसामामोदसंवर्धनम्
कार्यैरर्जितवैभवं विजयते प्राणात्ययान्तं भुवि॥ ७८॥

दाक्षिण्यं गुरुदेवपूजनविधौ निर्व्याजभव्यं मनो
लग्नं विज्ञजने, सुचारुचरिते सेवाव्रतं बिभ्रती।
विद्यादानमहाव्रते रसवती प्रीतार्थदानोत्सवे
स्पर्धायुक्ततमा प्रसीदतितरां हर्षप्रकर्षार्चिता॥ ७९॥

या नैरुज्यमपि स्वकीयवपुषो बुद्धेः श्रमाधिक्यतो
नो संरक्षितुमाचकांक्ष सततं सद्ग्रन्थसम्पूर्त्तये।
नाल्पीभावमुरीचकार विशदव्यापारतो दैहिकात्
इत्येवं मधुमेहदुर्गदवशाज्जाता भृशं दुर्बला॥ ८०॥

बुद्धिः संशयचण्डमारुतमहावेगेन नान्दोलिता
न भ्रान्त्या विपरीतमर्थनिचयं जग्राह शास्त्रेक्षणे।
नैवानर्थपरम्परां प्रथयितुं सा कुत्रचिद् दुर्ग्रहं
धार्ष्ट्येनाप्युररीचकार रचनाक्षेत्रे क्षणं जातुचित्॥ ८१॥

शृङ्गारो वाग्मितायाः सुरुचिररचनाशिल्पलक्ष्म्या विलासः
प्राणाः कर्मण्यतायाः सकलसुमनसां चन्दनाद्रेः समीरः।
या हेतुर्ग्रन्थरत्नैः शबलितकिरणैर्भूरिभाषासमृद्धेः
सत्कीर्त्तेर्मन्दहासो जयति निरुपमासंविदः स्फूर्तिमूर्तिः॥ ८२॥

या सौशील्यकलानिधिः शुभतमा या शेवधिः संविदां
या भूषा बहुमूल्यरत्नरचिता या श्रीरुदारा गिराम्।
या कीर्तिर्धवला सतां सुमनसामुत्फुल्लतासाधनं
या प्रीतिः शुचिनीतिरीतिलसिता सा श्रेयसे स्यात् सदा॥ ८३॥

मर्यादायाः सपर्या जयति सुविमलप्रीतिनिष्ठाऽर्हताया
अत्यन्तोत्कृष्टभूमिः सकलसुमनसामार्यताया विभूतिः।
कल्याणी कल्पनायाः प्रतिकृतिरनघा साधुता बन्धुताया
दीनानां कल्पवल्ली विलसतु मुदिता मोदमग्ना समाधौ॥ ८४॥

या नो दर्पमहाज्वरोग्रजनितं तापं विसेहे क्षणं
क्रोधावेशवशात् परापकरणे यस्या न लग्नं मनः।
क्षुत्तृष्णातरलेन हन्त मनसा दैन्यव्यथां नान्वभूत्
सा काचिद् भुवि देवतेव मुदिता पूर्णं व्यनैषीद् वयः॥ ८५॥

यस्या जीवनपद्धतिर्न विकृतिं लेभे कदाप्यायुषि
नैवात्मीयजनेषु या विषमताबुद्धिं समासादयत्।
पूर्णं सद्विनयं बभार हृदये लोकेषु लोकोत्तरं
सर्वत्रैव विशिष्टतां स्वजनुषः प्रास्तौत् सतां प्रीतये॥ ८६॥

ध्यायन्ती विषमेक्षणं न विषमां दृष्टिं बभार क्षणं
साऽर्चन्ती च विषादमाप जनने नो वा विषादं हृदि।
विद्वेषं दधती कदापि न दधौ विद्वेषमेषाऽऽत्मनि
कृष्णं निर्गदमाश्रयन्त्यपि न सा भेजे वपुर्निर्गदम्॥ ८७॥

या लौल्येन विनैव बाल्यमनयत् प्रीतात्मना जीविते
तारुण्ये न मनो मनागपि दधे नैसर्गिकीं विक्रियाम्।
प्रौढत्वे निजकार्यभारवहनासक्त्या प्रसक्तिं तनोर्
नो दध्यौ सुखभोगमीप्सिततमं भक्त्या विरक्तं मनः॥ ८८॥

कीर्तिर्यस्या भ्रमति भुवनाभोगभव्यान्तराले
प्रीतिर्नन्दति सख्यसौख्यसुभगोद्यानोल्लसत्सौरभे।
रीतिः काचन निर्व्यलीकविधया निर्व्याजशुभ्राशया
लोकेऽलौकिकतामुपेत्य जगति ज्योतिः परं ध्यायति॥ ८९॥

ग्रन्थग्रन्थिमतीव तत्परतया या विश्लथं कुर्वती
साहाय्यं व्यदधादभारतमलं शास्त्रार्थनिर्धारणे।
आचार्यस्य मनस्यधारयदियं शास्त्रानुकूलां स्थितिम्
आत्मानं प्रति सत्प्रतीतिविधया विश्वास एवार्जितः॥ ९०॥

अस्या जीवनसङ्गरेषु विजयः सत्कर्मसन्निष्ठया
लोकेऽलौकिकलाभहेतुकमभूदानन्दसंवर्धनम्।
सम्मानोऽत्र बहुश्रुतेषु, ललितं सख्यं पवित्राशये-
ष्वौदार्यं शुचिमानसेषु लसितं विद्वत्सु पूर्णादरः॥ ९१॥

यस्या जीवनमुत्तमोत्तमगुणैरश्लिष्टमालोक्यते
शस्या सङ्गतिरत्युदारविबुधैः सन्दृश्यते सूरिभिः।
अस्या मानवतानुरक्तिरखिलं कालुष्यमक्षालयत्
लब्ध्वा सा गुणसन्मणीन् धनवतामग्रेसरत्वं गता॥ ९२॥

या चैषणात्रितयमप्यपसार्य चित्तान्-
निष्कामकर्मविषये रुचिमाबबन्ध।
योगीन्द्रदुर्लभतमं फलमाप्य कृष्ण-
पादारविन्दमकरन्दकणं सिषेवे॥ ९३॥

वैराग्यमेव जगतः पितुराससाद*[१]
लोकोपकारकरणे रसमाप मातुः।
शश्वत् कृतेन तपसा परिशुद्धभावा
लोकोत्तरत्वमभजज्जगति स्थिताऽपि॥ ९४॥

स्निग्धं सहोदरमिव प्रथितस्वभावम्
*आनन्दकृष्णम*निशं हृदयेन मेने।*[२]
निर्व्याजभव्य-शुचि-सद्व्यवहारजातैर्
अन्योऽन्यमुल्लसति पावनरागवृत्तिः॥ ९५॥

*वात्स्यायन*नोल्लसितवंशसुमौक्तिकाभां
विद्यासुकीर्त्तिनिलयां कपिलां*[३] स्वसारम्।
शश्वत् परस्परमुदित्वररागबन्धैर्
भिन्नेऽप्यभिन्नहृदये दृढमन्वभूताम्॥ ९६॥

खैरागढात् प्रतिनिवृत्य निवासयोग्यम्
अन्विष्य सद्म सुखदं बत काशिकायाम्।
अक्रेष्ट भव्यभवनं तु पराधिलक्ष्य-
मूल्याधिकैरपि धनैर्मुदमापदेषा*[४]॥ ९७॥

आम्नायेति तदीयनामकरणे यस्याः प्रसन्नं मनः
सर्वं चारुतरं सुशैक्षिकमथाकार्षीत् सुकर्मानिशम्।
अस्मिन्नुत्तमसद्मनि व्यवहृतौ विद्याकलाचर्चया
प्रज्ञानां निवहं प्रसादयति सा नित्यं नवैः प्रक्रमैः॥ ९८॥

छात्रो गुरुप्रतिकृतिर्भवति क्रियासु,
विद्यासु, पाठनविधासु, विचारणासु।
अन्वर्थतामुपगता रुचिरोल्लसन्ती
शर्मोत्तरा जगति प्रेमलताऽभिधाना॥ ९९॥

१- पूज्य पिताजी ने बचपन में भरपूर एवं एम०ए० पर्यन्त आंशिक रूप से पोषण तथा शिक्षणादि का आर्थिक भार वहन किया, फिर तो स्वयं बहिनजी अपनी छात्रवृति-आदि अर्जन से ही अत्यन्त संक्षेप में अपना निर्वाह करते हुए पू० पिता-माताजी को भी सम्हालने लगीं। इसीलिये कहा गया कि पिताजी से जगत् से वैराग्य पाया (क्योंकि वे वैष्णव-संन्यासी हो गये थे) और माँ से लोकोपकार की वृत्ति तथा रस (रसोई तथा विविध व्यञ्जन बनाने की निपुणता सहित उदार अभिरुचि) पाये।

२- स्वनामधन्य **श्री वासुदेवशरण अग्रवाल** जी एवं **श्री राय कृष्णदास** जी से स्निग्धगुरुतुल्य समुदात्त स्नेह एवं शिक्षण पाया था तथा उनके (क्रमशः—) सुशिष्य व सुपुत्र प्रो०राय आनन्दकृष्ण जी से सतत बड़े भाई जैसा सहयोग-स्नेह-समादर-पूर्ण सम्बन्ध बना रहा था, जो आजीवन रहा ही अब तक उस स्मृति का वैसा ही संरक्षण भी चल रहा है। —ऊर्मिला

३- **डॉ० श्रीमती कपिला वात्स्यायनजी** से प्रेमलता-बहिनजी का हार्दिक सम्बन्ध, चिन्तन एवं वृत्ति की घनिष्ठता आदि प्रायः जुड़वाँ बहन-जैसे अथवा उस से कहीं अधिक बढ़कर रहे; कर्मयोग की दिशा में तो वे इन्हें अपने आदर्श-वत् मानती रहीं।

४- अपने बहुमूल्य-अमूल्य-दुर्लभ ग्रन्थसङ्ग्रह को भलीभाँति रखने एवं समय-समय पर आते रहने वाले जिज्ञासु-अतिथि आदि की सुविधा के लिये अच्छे भवन की आवश्यकता थी किन्तु **आजीवन सहृदय-दानशील वृत्ति एवं प्रखर सत्यनिष्ठामय जीवनशैली** के कारण १९५७ से 'रीडर'-१९८१ से 'प्रोफेसर', १९८५-८८ 'वाइसचांसलर' पदों पर रहते हुए भी १९८९ में बहनजी के पास अपने निवास के लिये भी एक भवन लेने के लिये पर्याप्त राशि नहीं थी, अतः अपनी कुल जमा पूँजी व्यय करके एवं मित्रों से ऋण लेकर यह निवास '**आम्नाय**' खरीदा गया था, फिर दैनिक खर्च में सङ्कोच करके वह ऋण चुकाया गया। —सम्पा०

पित्रोस्तपः फलरसामृतदुग्धसिन्धुः
सङ्गीतशास्त्रहृदयस्य यशः पताका।
विद्यार्थिनामभिमतावनिकल्पवल्ली
सामश्रुतिर्धृततनुर्जयतीह काऽपि॥ १००॥

सौभाग्यशेवधिरनुत्तरदेशिकानां
सद्ग्रन्थलेखनकलासु सदाग्रगण्या।
देशे विदेशविबुधे च समानमाना
जागर्ति काऽपि विदुषी विदुषां समाजे॥१०१॥

विद्योत्तमोपचितसत्कविकीर्तिरेखा
लेखैः समर्चिततरैर्यशसाऽर्चिताऽपि।
विद्यावतां सदसि नृत्यति वैजयन्ती
कण्ठे विराजतितरां मणिमालिका सा॥ १०२॥

'सोमास्कन्द'-महानुभावतिलकं तातोपमं श्रद्धया
या मेनेऽनुदिनं तदीयवचनं शश्वन्निजश्रेयसे।
सोऽप्यस्यां स्वजनोचितं सुरुचिरं निर्देशनं व्याहरन्
वात्सल्येन तदीयगौरवमयं भावं सदाऽपालयत्*॥ १०३॥

धीराणामपि धीरता गलति यद्धैर्यं विलोक्य स्थिरं
गाम्भीर्यं मनसो निरीक्ष्य नितरां वारां निधिर्वेपते।
त्रस्तानामुपकारकर्मणि सतां विघ्नानशेषान् हरन्
दाक्षिण्यं प्रकटीकरोति करुणाकन्दः सुमन्त्राक्षरैः॥ १०४॥

यः सम्पत्सु विपत्सु तुल्यहृदयो यो धीरवीराग्रणीर्
यो नैवाचरति स्म किञ्चिदपि दुष्कर्माधिकारीच्छया।
यो नैवोन्नतिमाचकांक्ष महतां चाटूक्तिभिः, सेवया
योग्याद् योग्यतमोऽपि नापकुरुते कस्यापि यो गर्वतः॥ १०५॥

मन्त्रो यस्य दुरन्तसम्भ्रमसमुद्भ्रान्तो समस्यामये
कार्ये विघ्नभरैर्विकुण्ठिततमे सद्यः प्रसूते फलम्।
प्रज्ञायाः समुपासनेऽतिनिरतो यो निर्मलज्योतिषा
दूरीकृत्य तमांसि दर्शयति नः कल्याणकृत् प्रक्रियाम्॥ १०६॥

---

* **पं० श्री सोमास्कन्द्** (का०हि०वि० के सहायक रजिस्ट्रार पद पर रहते हुए भी जो) अपनी विद्वता, विचक्षण प्रतिभा एवं कानून-सम्बन्धी भी कार्यकुशलता के नाते प्राचीन सभी महामहिम कुलपतियों के दाहिने हाथ जैसे घनिष्ठ सहयोगी रहे एवं व्यक्तिगत जीवन-शुद्धि तथा शैली में महामना मालवीय जी के आदर्श का सतत आचरण करते हुए आप 'स्थितप्रज्ञ'—लक्षणों के सजीव प्रतिमान हैं। १०३ से १०६ पर्यन्त श्लोकों में इन्हीं का वर्णन है। प्रस्तुत खण्ड में ''प्रेममयी तपस्विनी'' शीर्षक—से संस्मरण इन्हीं के द्वारा लिखित हैं।

आर्षग्रन्थसहस्त्रबोधविषये यः प्रेरयत्यञ्जसा
यो वर्षत्रितयेन पाणिनिनयं सम्पूर्णमाध्यापयत्।[१]
तं '*जिज्ञासु*'-महर्षिणं बुधवरं विद्वद्भिरत्यादृतं
शिष्या प्रेमलता समादरभरैः सस्मार श्रद्धान्विता॥ १०७॥

यस्याध्यापनकौशलेन विदुषी *प्रज्ञा* च *मेधा* तथा
चान्या धन्यतमाऽभवन् वसुमती-क्रोडेस्थिताः कन्यकाः।
सद्वृत्तेन, गुणेन, शीलनिलयेनात्यन्तनम्रात्मना
कर्मण्येन सदार्यसंस्कृतिधनेनासीत् स सर्वादृतः॥ १०८॥

यो वाग्मिता-निटिल-कुङ्कुमशोणबिन्दुर् वैदुष्यशेवधिरनर्घ्यगुणाभिरामः।
विद्या-कला-ललित-कल्पनया समृद्धो *विद्यानिवास* इति विश्रुतनामधेयः॥ १०९॥

योऽनेकभाषाऽध्ययनादुपात्तविज्ञानवैदुष्यविभूष्यकीर्तिः
विद्वज्जनाऽभ्यर्चितवाग्मिताया अभ्रङ्कषोऽभ्यर्हितनीतिराशिः।
यं राष्ट्रभाषाऽमरदेवभाषा विश्वस्य भाषा त्रितयी समृद्धा
त्रिवेणिकेवाश्रयतेऽनुरक्ता तं तीर्थराजस्य बिभर्त्ति लक्ष्मीः॥ ११०॥

सोऽस्यां सदैवानुजयानुरूपां
दिव्याशिषं यच्छति सुप्रसादात्।
पूज्याग्रजं तं सततं सुलभ्यं
संवन्दते स्म प्रतिवासरं सा[२]॥ १११॥

आद्यां पंक्तिमलङ्करोति विदुषां सौजन्यवारां निधिर्
दुर्बोधान् विषयानतीव सरलीकर्त्तुं गृहीतव्रतः।
वाग्मित्वेऽनुपमः प्रसन्नवदनो गम्भीरतत्त्वस्फुटी-
कारे स्फारयतिर्वचोऽमृतरसं वर्षंश्चिरं नन्दतु॥ ११२॥

१- **ब्रह्मर्षि पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु**—जिन्होंने पाणिनीय-व्याकरण-अध्ययनाध्यापन की अतिप्राचीन पद्धति—(अष्टाध्यायी-मूलक्रम से अध्ययनादि) को पुनरुज्जीवित किया एवं चालीस पाठों या छह महीनों में संस्कृतव्याकरण की इतनी पकड़ करा देने वाली सुगम प्रक्रिया बनाई जिससे जिज्ञासु की संस्कृत भाषा में विश्वासपूर्ण गति हो सके। उनकी प्रमुख शिष्या आचार्या डा० प्रज्ञादेवी एवं आचार्या मेधादेवी द्वारा स्थापित '**पं० ब्रह्मदत्तजिज्ञासु-स्मारक पाणिनिकन्या-महाविद्यालय**'—वाराणसी में संस्कृत-संस्कृति-शिक्षण का अखिलभारतीय एक अद्वितीय संस्थान है, इस की बीजाङ्कुर दशा से लेकर पल्लवित-फलित होने तक 'बहनजी' का सतत सहयोग रहा; इसके अभ्युदय में वे पूज्य ''गुरुजी'' का ही स्नेहाशिष साक्षात् अनुभव करती रहीं। —सम्पा०

२- पद्मविभूषण **पं० श्री विद्यानिवास मिश्र** जी का स्नेहार्द्र बडे भाई जैसा सम्बन्ध 'बहिनजी' के प्रति रहा 'बहिनजी' द्वारा आयोजित विचारगोष्ठियों में वे सदैव सक्रिय रूप से सम्मिलित होकर गोष्ठी की शोभा एवं उपयोगिता बढ़ाते रहे, इसके लिये 'बहिनजी' का अनुरोध कभी नहीं टाला। अन्य भी अनेक प्रसङ्गों में वैचारिक-सैद्धान्तिक सत्परामर्श सुलभ रहा 'बहिनजी' के निवास का नामकरण 'आम्नाय' भी इन्हीं का चुना हुआ है।

नाट्ये कलासु ललितासु च सानुरागो
बद्धस्पृहः सकललोकविशोककार्ये।
सङ्गीतके परमपावनसंस्कृतौ च
*श्रीभानुशङ्करसुधीर्मेहता*ऽग्रजोऽस्याः[1] ॥ ११३ ॥

यो निःस्पृहोऽपि भागिनीमनुजास्वरूपाम्
एनां सदा परमवत्सलभावपूर्णः।
प्रोत्साहयत् सकलशिक्षणकर्मसक्तां
भक्तां सतां सुमनसामयमन्वयुङ्क्त॥ ११४॥

यस्या आसीदभिमतवरः वासुदेवः[2] सुधीन्द्रः
श्रीमान् *स्मार्तो* रचयतितरां नाट्यशास्त्रानुरूपम्।
सज्जीकारे परमकुशलो रङ्गमञ्चं व्यधायि
प्रख्यातोऽसौ भुवि नवनवश्चित्रकारोऽद्वितीयः॥ ११५॥

श्री चन्द्रशेखर[3] इहोन्नतनृत्यशिल्पे
दक्षः सदा प्रियजयासहितः प्रसन्नः।
नाट्याभिनेय-बहु साधयितुं समर्थस्
तस्या निरन्तरसहायकरूप आसीत्॥ ११६॥

श्रीषड्गोपन्[4] बालकोचितरुचिं प्रोत्साहयन् गीतकैः
शास्त्रीयाद्भुतकौशलेन ललितं कण्ठस्वरैः पूरयन्।
अस्याः शस्यमनोऽनुकूलरचनाचारुत्वमुदबोधयन्
धन्यो गायकशेखरश्चिरमिमामुल्लासयन् नन्दति॥ ११७॥

अस्याः सन्निकटे वसन्नभिमतं सौविध्यमुद्भावयन्
सङ्गीतेन सदा प्रसादयति यो सद्विद्यया सत्क्रियः।
साहाय्यं वितरन् नवेन विधिना तस्यै प्रसादोन्मुखो
मेधावी निपुणो विदग्धविनुतोऽस्याऽग्रजः सर्वथा॥ ११८॥

पुण्*योपाध्याय*वंशे समजनि कुशलो *वैद्यराज*स्तपस्वी[5]
आयुर्वेदे वरेण्यादिह जगति सदा विश्रुताचार्यवर्यात्।
सम्प्राप्तज्ञानराशिर्विशदमतिमतामग्रणीः शुद्धबुद्धी
रोगार्तानाश्वगाधादुदधिजलतलादेष सूद्धर्तुमीष्टे॥ ११९॥

प्राप्य प्रेमलतां पितेव मुदितो वात्सल्यपूर्णात्मना
गीतं श्रावयितुं प्रभोर्गुणगणोद्गीतं मुदैवादिशत्।
सा च स्नेहवशादुदात्तविधिना भक्त्या स्तुतिं कुर्वती
हर्षाश्रूणि दृशा विमुञ्चतितरां शृण्वन् स गीतध्वनिम्॥ १२०॥

१- स्वयं चिकित्साक्षेत्रीय होते हुए भी काशी की विविध कला-सङ्गीत-नाट्य-संस्कृति के **रसिक प्रेक्षक, पोषक, संरक्षक. विशेषज्ञ, विद्वान् डॉ० भानुशङ्कर मेहता का भी** स्नेह-सौहार्द-मय बड़े भाई जैसा सहयोग एवं परामर्श 'बहिनजी' को सदैव सुलभ रहा।

२-३- **बहिनजी द्वारा प्रवर्त्तित 'अभिनय-भारती'** के१९७३-८४ तक के सभी प्रयोगों (नाट्यशास्त्रानुरूप नृत्य-गीत-वाद्य-युक्त पूर्वरङ्ग-सहित सर्वाङ्ग नाट्याभिनय-प्रस्तुतियों) में तथा अन्य भी जीवन-व्यापी विविध कार्यों में **श्री वासुदेव स्मार्त** (बड़े भाई जैसे) एवं **श्रीमती जया सहित प्रो०सी०वी० चन्द्रशेखर** छोटे भाई जैसे सर्वदा सर्वथा सहयोगी रहे। —ऊर्मिला

४- **श्री०वी० षड्गोपन्**—जिन्हें बहिनजी 'अण्णा' (तमिल में बड़ा भाई) कहती थीं।

५- **पं० श्री यदुनन्दन उपाध्याय 'पीयूषपाणि'**—चिकित्सक, हमारे लिये पितृतुल्य स्नेहवर्षक रहे।

अत्यन्तस्थविरः स तामुपगतः प्रीत्योल्लसन्मानसः
हृद्यं चादिशतीव गातुमुचितं सङ्कल्पसिद्धं शिवम्[1]।
साऽपि प्रेमपरिप्लुता तदुदितामिच्छां शिरस्याभृतां
धृत्वा गायति शुद्धबुद्धहृदया सत्प्रीतये सर्वदा॥ १२१॥

विद्वन्मौलिमणिर्गजानन इति ख्यातो विदामग्रणीर्-[2]
यस्याभूद् विमला प्रिया गुणवती विद्याकलोद्भासिता।
तौ जाया च पतिश्च पूजिततमौ यस्याः सदास्तां प्रियौ
सर्वस्मिन् समये हृदा समुचिताचारैरुदारौ स्मृतौ॥ १२२॥

तथा च '*गँगराडे*' संज्ञको वै
कैलासचन्द्रो भ्राता वरीयः।
स्वान्तःसुखायैव चिकित्सको यः
सङ्गीतविद्यामुररीचकार॥ १२३॥

अस्याः सन्ति परः सहस्रसुहृदो मान्या वदान्याः प्रियाः
विद्यायामनवद्यकर्मणि रताः स्निग्धा बुधा बन्धवः।
नामग्राहमशेषबान्धवजनस्मृत्या न सच्चर्चया
स्तुत्या चापि न सम्भवेम नमने, *नाम्ना विना तान् नुमः*॥ १२४॥

यावत्प्रापि फलं यया गुरुपदद्वन्द्वस्य संसेवया
यावच्चिन्तितरत्नमप्यधिगतं प्रायः समाधिस्थया।
पात्रापात्र-विचारणेन निभृतं सर्वं तदेकान्ततः
प्रीता सा सकलं धनं स्वमनसा स्वस्रेऽनुजायै ददौ॥ १२५॥

शीलं यस्याः समानं, सदृशतममुदाहार्यमध्यात्मतत्त्वम्
औदार्यं तुल्यमास्था भगवति परमा भक्तिरूपाप्यभिन्ना।
छाया कर्मण्यतायाः, प्रकृतिरनुकृतिर्भासते चाद्वितीया
सेयं चैकत्वमाप्ता विलसति नितरा*मूर्मिलाख्या स्वसा* ते॥ १२६॥

सौजन्येन, नितान्तदुर्लभतमज्ञानेन, स्वाभाविकौ-
दार्येणाथ तितिक्षया, करुणया, भक्त्या हरेरद्वया।
प्रह्वीभाव-समादरादिविधिना प्रज्ञावतां मण्डलं
साह्लादं विदधाति मुग्धवचनैः सत्कर्मभिः शर्मभिः॥ १२७॥

गायत्रीं सुरभिं वृन्दां मञ्जरीं च सुमङ्गलाम्।*
पुपोष तनयासदृशं स्नेहार्द्रहृदयेन वै॥ १२८॥

अष्टादशवर्षमिता गोसेवाऽनुष्ठिता तया।
गोवंशरक्षणायापि सत्याग्रहः सुसेवितः॥ १२९॥

गोसंवर्धनहेतोश्च भृशं दानमदात् सदा।
गोरसो बहुमानेन ह्यर्पितः स्वादितो मुदा॥ १३०॥

१- पं० ओङ्कारनाथ रचित स्वरावलि में यजुर्वेद के 'शिवसङ्कल्प'—मन्त्रों का गायन तथा भजन बहिनजी से सुनना श्री० उपाध्याय जी को अतीव प्रिय था, उतना ही उन्हें सुनाना बहनजी को।

२- भारत सरकार तथा महाराष्ट्र विद्वन्मण्डली द्वारा भूरिशः सम्मानित **पं० गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर** तथा श्रीमती डॉ० विमला मुसलगाँकर

* गोसेवा—बहिनजी के निजी जीवन का महत्त्वपूर्ण अङ्ग रहा। इस सम्बन्ध में अन्य लेख परिशिष्ट में द्रष्टव्य।

सद्‌भावः स्निग्धसम्बन्धो मधुरा वचनावलिः।
निश्छलो व्यवहारश्च सर्वे मैत्रीकरा गुणाः॥ १३१॥

सज्जनागमनं गेहे लोककल्याणचिन्तनम्।
विद्या-कला-समुत्कर्ष-चर्चयाऽस्या महोत्सवः॥ १३२॥

विद्यां कलां श्रियं प्रीतिं वितरन्ती निरन्तरम्।
ध्यायन्ती चाक्षरं तत्त्वं सदा सा मुदिताऽभवत्॥ १३३॥

सतां सपर्या व्यसनं व्यसनं शास्त्रचिन्तनम्।
व्यसनं ग्रन्थनिर्माणं व्यसनं भ्रमणं भुवः॥ १३४॥

औदार्यमार्जवं शीलं त्रिरत्नं यत्र संस्थितम्।
ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्नं तदध्यात्ममुपास्महे॥ १३५॥

वैदुष्यमथ सौजन्यं युगपद् यत्र राजते।
तदद्‌भुततमं धाम ध्यायामस्त्वात्मशुद्धये॥ १३६॥

*मनसा शिवसङ्कल्पो वचसाऽमृतवर्षणम्।**
वपुषाऽऽर्यक्रियाकल्पो यत्रैकत्र विराजते॥ १३७॥

मदोऽसूयाऽथ मात्सर्यमात्मश्लाघा प्रवञ्चनम्।
अवलेपो दृढाक्षेपस्तस्याश्छायां न चास्पृशत्॥ १३८॥

परस्परं स्पर्धमाना दुर्लभा सद्‌गुणावलिः।
यस्यां वसतिमेवाप्तुमाचकांक्ष निरन्तरम्॥ १३९॥

यस्याः शश्वदुदाहार्या स्वच्छा जीवनपद्धतिः।
निर्व्याजं चारुचरितं प्रशस्यं वचनामृतम्॥ १४०॥

कल्याणी प्रकृतिः सदा विलसतु, प्रीणातु कर्मण्यता,
मिथ्याचार-विवर्जने रुचि सदाऽऽहार्या वचो माधुरी।
आसक्तिः सुकृते, परोपकरणे प्रीतिः, प्रतीतिः स्थिरा
विद्याया ग्रहणे, श्रियो वितरणे तुल्या रतिर्जायताम्॥ १४१॥

कला-सङ्गीत-भारत्या अङ्के प्रेमलतोद्‌गता।
दिव्यां कल्पलतां नीचैरवतार्य दिवं गता॥ १४२॥

जीवनं मरणं यस्याः स्पृहणीयतमं सताम्।
आद्यमभ्युदयेनाढ्यम् अन्त्यं निःश्रेयसात्मकम्॥ १४३॥

यस्याश्चरित्रविषयेऽर्जितचारुताया
उच्चस्तरीयमहिमोपचयो विभाति।
प्रज्ञा च नित्यनवदुर्लभकल्पनायाः
क्रोडे स्थिता सहृदयान् प्रमदीकरोति॥ १४४॥

---

* सदा ही उत्तम एवं सबके कल्याण-चिन्तन-युक्त ही सङ्कल्प वे करती रहती थीं, कभी स्वार्थचिन्तन नहीं किया, और कृष्णयजुर्वेद के प्रसिद्ध ६ शिवसङ्कल्प-मन्त्रों ("तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु") का पूज्य पं० ओंकारनाथ ठाकुर द्वारा निबद्ध स्वरावलि में गान बहुधा किया करती थीं, वह उन्हें तथा सभी वरिष्ठ स्नेहियों को बहुत प्रिय था। —सम्पा०

प्राणेषु सत्सु यदभूदभिरामतायाः
पुण्यास्पदं सकलमङ्गलमूलकायम्।
सम्प्रस्थितेषु खलु तेषु गृहं वपुश्च
सर्वं क्षणेन विपरीतमिदं बिभर्त्ति॥ १४५॥

यस्मिन् निशीथसमये वसुदेवसूनुः
प्रादुर्बभूव जनदुःखनिवारणाय।
मध्येनिशं गतवती सहसा शिवत्वम्
आप्तुं कठोरहृदयामयदोषदग्धा॥ १४६॥

एतज्जीवननाटकस्य चरमं दृश्यं यदाऽऽकस्मिकं
सत्यं किन्तु सुदुःसहं भवति यत् संसारमञ्चे स्थितम्।
आरम्भाङ्कगतं नितान्तघटनाचक्रं प्रपञ्चाञ्चितं
तत्सर्वं प्रसृतं क्षणेन भवति क्षारं श्मशानानले॥ १४७॥

यन्न पुत्रेण सम्भाव्यं न प्रियेण न बन्धुना।
तत्सर्वमन्तिमं कृत्यं श्रद्धयैवोर्मिला व्यधात्॥ १४८॥

अहोरात्रं परिश्रान्ता तत्कृतारम्भसम्भवाम्
क्रियां सर्वां करोत्येषा परिपूर्णां यथामति॥ १४९॥

अपूर्णपूरणे यत्नं तत्समारब्धकर्मणाम्।
देहगेहादिविस्मृत्या करोत्येषाऽनुरागतः॥ १५०॥

तया चिन्तितमप्येषा व्यवधानं विनाऽन्वहम्।
यथापूर्वं कर्तुकामा विघ्नानामपसारणात्॥ १५१॥

अनुकम्पा हरेर्भूयादकम्पा शक्तिवर्धने।
भूयादनामया सैषा कार्यसिद्धिश्च शाश्वती॥ १५२॥

प्रेमवल्ल्याः जीवितस्य ह्यमृताब्दे समागते।
तत्स्मृतेः स्थायिता-सिद्ध्यै वाङ्मयी क्रियतेऽर्चना॥ १५३॥

अस्या एवानुरोधेन व्यक्ता काव्यविनिर्मितिः।
रतिनाथो व्यधादेतद् व्यथायाः कथयोद्गतम्॥ १५४॥

कौटिल्यं लयमेतु छद्मविवृतिर्दूरीभवत्वञ्जसा,
* *मैत्रीं* विध्यतु नाप्रतीतिरुदिता, कूटक्रिया नश्यतु।
वक्रत्वं सहजार्जवेन मिलितं न स्यान् न वा वञ्चना
सौहार्दं शकलीकरोतु, न मिथो विश्वासघातो भवेत्॥ १५५॥

—पं० श्री रतिनाथ झा



* यहाँ '**मैत्री**' शब्द में श्लेष है; हमारे बड़े भाई ''अण्णा''—श्री० वी०वी० षड्गोपन् जी (सुप्रख्यात कलाकार, सन्ततुल्य '**त्यागभारती**' के प्रवर्त्तक, एवं ''दिव्यप्रबन्धम्''-आळ्विार-सङ्गीत को पुनरुज्जीवित करने वाले) ने बहिनजी को यह उपनाम दिया था। —सम्पा०

.२.

सङ्गीत-साहित्य-कलानिधये साधना-शील-सौजन्यमूर्तये व्यक्तये नमः

—पं० वासुदेव द्विवेदी*

संस्कृतभाषाया विविधे विशाले च वाङ्मये सङ्गीतशास्त्रस्य नितान्तं महत्त्वमयं स्थानं सुज्ञातम्। शास्त्रेषु कानिचित् इहलोकोपयोगीनि, कानिचित् परलोकोपयोगीनि, कानिचिद् उभयलोकोपयोगीनी, कानिचिच्च केवलं मुक्तिसाधनोपयोगीनि—इति सर्वविदितमेव। परन्तु सङ्गीतशास्त्रं लोकद्वय-साधकं सन् मुक्तिसाधकमपि भवतीति न केवलं सर्वेषां सङ्गीत-नाट्य-शास्त्राचार्याणां मतमपि तु धर्मशास्त्रकारैरप्ययमेवार्थः समर्थितः। यथा याज्ञवल्क्यस्मृतौ—

वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं निगच्छति॥
गीतज्ञो यदि योगेन नाप्नोति परमं पदम्।
रुद्रस्यानुचरो भूत्वा तेनैव सह मोदते॥

(या०प्रा०११५-१६)

अन्यथाऽपि—

जीवातुर्गदिनां प्रियाविरहिणां, ध्येयं परं योगिनां
दीनानामतिदु:खिनामपि नृणां विश्रान्तिभूमिः परा।
नि:स्वानां परशेवधिर्नवनवो भोगोत्करो भोगिनां
गीतं किञ्चिदमेयरूपमहिमप्राग्भारमुज्जृम्भते॥

(सङ्गीतराज—३/३)

अपरमपि वैशिष्ट्यं सङ्गीतशास्त्रस्य यद् अन्यानि शास्त्राणि देश-काल-वर्ण-जाति-लिङ्ग-अवस्था-आश्रम-पद-प्रतिष्ठानुसारं मानवकर्तव्यसूचकानि तत्र-तत्रोपयोगीनि वा भवन्ति परन्तु सङ्गीतशास्त्रं सकलानपि इमान् भेदान् परिहाय सर्वेभ्य उपयोगिताम् उपकारितां मनोरञ्जकतां शान्ति-माधुर्यास्वादोद्बोधकतां च भजते। सर्वं हि जीवजगत् प्रसादयति, आनन्दयति, मधुरयति, परिपूर्णतां नयति नादात्मसङ्गीतम्। योगिराजेन भर्तृहरिणा मानवजन्मनोऽपरिहार्यलक्षणरूपमेव घोषितं सङ्गीतम्—

''साहित्यसङ्गीतकलाविहीनः
साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः॥' —इति

इतिहास-प्रख्यात-बुक्क-हरिहरादीनां विजयनगर-अधीशानां मन्त्रिपदे विराजमानाः वेदभाष्यकाराः सायणाचार्याः न केवलं स्वयं सङ्गीतज्ञा आसन्नपितु स्वतनयं कम्पणमपि सङ्गीतशिक्षणे प्रेरितवन्तः। यथा—

* **''सार्वभौम-संस्कृत-प्रचार''**—कार्य के प्रवर्त्तक-सञ्चालक, उसी में अपने सम्पूर्ण जीवन की आहुति दिये हुए तपस्वी वरिष्ठ विद्वान्। —सम्पा०

अलङ्कारसुधानिधौ—

''तत् संव्यञ्जय कम्पण! व्यसनिनः सङ्गीतशास्त्रे पुनः
प्रौढिं, मायण! गद्य-पद्य-रचनापाण्डित्यमुन्मुद्रय।
शिक्षां दर्शय शिङ्गण! क्रमजटाचर्यासु वेदेष्विति
स्वान् पुत्राननुलालयन् गृहगतः सम्मोदते सायणः॥''

अस्य सकलदेवमुनिमहर्षिसेव्यतया परमभूतस्य सर्वोत्कृष्टकलारूपेण प्रतिष्ठितस्य **सङ्गीतशास्त्रस्य प्रयोगोपेतस्य** साधिका, आराधिका, प्राध्यापिका,पर्यालोचिका, गवेषणा-प्रवर्त्तिका, विश्वविद्यालयेषु **प्रतिष्ठापिका** चासीत् परमविदुषी **प्रेमलताशर्माभिधाना व्यक्तिः।**

सा न केवलं विविधक्षेत्रीयवैदुष्याय सम्मानार्हा अपितु सन्मानवोचितैः गुणैः समृद्धा इति सर्वैरपि सुष्ठु-अनुभूतम्। यथा योगवासिष्ठे ब्रह्मर्षिणा श्रीरामं प्रति सूक्तम्—

''सर्वेषामपि धर्माणां शर्मणां कर्मणामपि।
पण्डितः पुण्डरीकाणां मार्तण्ड इव मण्डनम्॥''

नीति-सुभाषित-ग्रन्थेषु च तादृशानि बहूनि वचनानि दृश्यन्ते येषु मानवीयगुणानां सम्पत्त्या मनुष्यस्य वन्दनीयता महत्ता च वर्णिता।''तेभ्यो नरेभ्यो नमः''—इति नाम्ना मयैकः सङ्ग्रहःसङ्कल्पितः तादृशानां कतिपयपद्यानाम्। ते गुणाः समन्वितरूपेण अनुभूता मया प्रेमलतादेव्याम्—परोपकारप्रवणता-प्रीतिः-स्नेहः-सहृदयता-सद्भावना-समता-व्यापिनी ममता-करुणा-सहानुभूतिः समादर इत्यादयः। समानेषु कनिष्ठेषु वरिष्ठेषु च सर्वस्तरीयपरिचितेषु तस्याः व्यवहारस्तथा स्वाभाविकः स्नेहानुबन्धी चासीद् यथा सर्वेपि विद्वांसः भारतीया विदेशस्था च तां 'बहिनजी' इत्यभिधानेनैव सम्बोधयन्ति प्रतिजानन्ति व्यवहरन्ति स्म।

परोपकारस्य तु सा प्रतिमूर्त्तिरेवासीत्। अहमपि तदनुभवस्य साक्षाद् उदाहरणम्। विंशत्यधिकवर्षपूर्वम् एकदा यदा मम संस्थायाः कृते केन्द्रियशासनादुपलभ्यमानं नवसहस्ररूप्यकाणां साहाय्यम् अकस्माद् अवरुद्धम्। 'मार्च'-मासोऽपि व्यतीतः परं साहाय्यं नैव लब्धम्। तदा संस्थानस्य दैनिको व्ययः कथं वहनीय इति महती चिन्ता मां दुनोति स्म। एतत्सङ्कटनिवारणाय किं करोमि? क्व यामि? कं वा निवेदयामि? इति बहुधा चिन्तयतो मम अन्ततः 'बहिनजी' एव दृष्टिपथमागता। ततो मया सर्वमिदं वृत्तं तस्यै निवेदितम्। अनन्तरञ्च तत्कालमेव सा सहयोगप्रदानाय मामाश्वास्य द्वितीयदिनादेव मम पुस्तकानि परिचितेषु मित्रेषु विक्रीय अन्यतश्चेतस्ततो द्रव्यं संगृह्य स्वकीय-वैदेशिक-शिष्याभ्यश्च द्रव्यमादाय संस्थानस्य दैनिकव्ययसञ्चालने साहाय्यं कर्तुं प्रारब्धवती। पञ्चमासपर्यन्तमयं क्रमः आसीत्। मम तु विश्वास एव नासीद् यत् कोऽपि मम एतादृशं साहाय्यं करिष्यति। परन्तु 'बहिनजी' स्वनाम (प्रेमलतेति) सार्थीकृतवती। तस्या स उपकारः कदापि विस्मर्तुं न शक्यते।

पुनश्च, मामेकाकिनं सुखसौविध्यसाधनविहीने संस्थाने कथञ्चिन्निवसन्तं निरीक्ष्य काले काले द्रव्यदानेन, वस्त्रादि-दानेन, पुस्तकदानेन, स्वनिर्मित-विविध-सुमधुर-भक्ष्य-भोज्यादि-प्रदानेन च यन्मां भ्रातृवत् लालयति-पालयति स्म, तत्सर्वं स्मृत्वा अद्यापि नेत्रे अश्रुपरिप्लुते भवतः।

आचार्यबदरीनाथशुक्लमहोदयेषु दिवङ्गतेषु मम संस्थानस्य अध्यक्षपदमपि कतिचिद् वर्षाणि सा निर्व्यूढवती— एतदपि तस्या सुमहत् साहाय्यं प्राप्तमस्माभिः।

दिवङ्गतायां प्रेमलतादेव्यां 'बहिनजी'-महोदयायामहं कति-कतिभ्यो लाभेभ्यो वञ्चितो जात इति मम हृदयमेव जानाति। तथापि महतः सन्तोषस्य आलम्बो वर्तते यत् तदीया कनिष्ठा भगिनी ऊर्मिला शर्मा—या 'बहिनजी'-महोदयाया अवशिष्टानां कार्याणां सम्पादने तस्याः स्मृतिसंरक्षणे च व्यापृता वर्तते सा—ममापि कार्येषु मयि चापि तथैव श्रद्धावती सहायिका सती स्नेहभावं च बिभर्ति। अथेदानीम् अस्या एवानुरोधादस्य स्मारकग्रन्थस्य कृते कानिचिद् भावकुसुमानि समर्पयन् 'बहिनजी'-महोदयायै नतेन शिरसा श्रद्धया स्नेहेन च शतशतमभिवन्दनानि निवेदयन् विरमामि।

—वासुदेव द्विवेदी

सार्वभौमसंस्कृतप्रचारसंस्थानम् वाराणसी

.३.

प्रेमलताम्बा*

१३-३-९९ तारिकायां 'ज्ञानप्रवाह'-सभायां **ने०च० कृष्णमाचार्येण** सद्यो विरच्य पठिताः श्लोकाः—

यशःकायेन सञ्जाता वर्धमाना स्मृतीरणैः।
पूता प्रेमलतामाता कुर्यात् संसदि सन्निधिम्॥

नश्वरीं तनुमुत्सृज्य धृत्वा नादमयीं तनुम्।
विराजमानायै प्रेमलताम्बायै नमो नमः॥

मामाहूतवती प्रभाषितुमिह श्रीप्रेमवल्ली सती,
तस्मात् तां मनसा स्मरामि विदुषीं नो चेत् कृतं हन्यते।
ये चाप्यत्र समागतास्सुमिलिता गोष्ठ्यां सभायामपि,
विद्वांसो मम वन्दनं विरचितं गृह्णन्तु शृण्वन्तु च॥

क्वासौ वरुणासी बुधप्रवरभूः क्वाहं वराकाग्रणीः,
आहूतस्समुपागतोऽत्र भवतामग्रे मनाग् भाषितुम्।
सम्मानं समुपेत्य यद्यहमितो गच्छामि धन्योऽस्म्यहम्,
प्रत्याख्यानमुपेत्य यद्यहमितो लाभो न कोऽप्यस्ति वः॥

ज्ञानप्रवाहे त्वभिषिच्यमानः
विद्वत्समालोकनचन्दनाप्तः।
मनोलगं पङ्कमपोह्य सम्यक्
शुद्धिं गतोऽहं विसृजामि दाहम्॥

★★★

* आन्ध्र की **'हरिकथाकालक्षेपम्'** विद्या (शुद्ध शास्त्रीय सङ्गीतमय-अभिनयुक्त व्याख्यान-पद्धति) की अप्रतिम कलाकार श्रीमती **उमा माहेश्वरी** के गुरु एवं गायन तथा वायलिन वादन के सुप्रतिष्ठित सङ्गीतकोविद् श्रीकृष्णमाचार्युलु जी के द्वारा सद्योरचित श्लोक।

.४.

प्रियबान्धवी

—डॉ० रामसिंह तोमर

पूर्वपल्ली, शान्तिनिकेतन, बोलपुर, प० बंगाल वनखण्डेश्वर विद्यापीठ, धन्सुला, पो० तरेनी, मुरैना, म०प्र० २८,
चिरञ्जीवा ऊर्मिला, दिनांक ४/८/९९

प्रेमलता और **कणिका*** अपनी तपस्या समाप्त करके ब्रह्मलीन हो गईं। कणिका ने ही अपनी प्रिय सखी प्रेमलताजी से मेरा परिचय कराया। वे मेरी बहिन के रूप में ही सब की परिचित हो गईं। मैं उनके अगाध पाण्डित्य, व्यवहार-कुशलता और सहज भोलेपन से उन्हें श्रद्धा करने लगा। B.H.U. के उनके घर में असंख्य बार ठहरा। वे अधिकतर खादी पहनती थीं, भोजन स्वयं बनाती थीं, गोभक्त थीं, उस घर में उन्होंने अठारह वर्ष तक गोपालन आदर्श रीति से किया। अपनी सन्तान जैसा व्यवहार एवं सम्बन्ध उन गायों से रखती थीं, घर में गोबर-गैस-संयंत्र भी लगा रखा था। हरियाणा एवं साहिवाल जाति की दो गायों को उनके बचपन से पाला फिर इनकी सन्तानों को भी पाला, चार-पाँच गायें और उनके बच्चों से घर समृद्ध रहता था। उनका दूध-मठा-आदि गोरस तथा उसके व्यञ्जनों का प्रसाद बहिनजी के कार्य विभाग के सदस्यों-छात्रों, अन्य मित्र परिवारों को ही नहीं आस-पास काम करने वाले मज़दूरों-सब्जी बेचने वालों तक को मिलता रहता था। वे गोवंश भी अद्भुत संस्कारशील और मानवीय संवेदनाओं से भरे थे।

विख्यात सङ्गीताचार्य पं० ओङ्कारनाथ ठाकुर की पट्टशिष्या थीं बहिन प्रेमलताजी। महामहोपाध्याय सिद्ध योगी मनीषी पं० **गोपीनाथजी कविराज, माता आनन्दमयी,** प्रज्ञाचक्षु वेदवित् महात्मा **स्वामी गङ्गेश्वरानन्दजी** (जिन्होंने वेदत्रयी का भाष्यादि सहित प्रकाशन कराया) इस युग में वेदद्रष्टा **ब्रह्मर्षि दैवरात** (गोकर्ण, कर्णाटक), वेद-तन्त्र-गणित-रसायनशास्त्र-साहित्य-काव्यरचना तथा देशभक्ति के अप्रतिम सङ्गम **स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती** एवं अन्य भी अनेकों महात्म विभूतियों से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। प्रेमलता-बहिन के माध्यम से मुझे भी इनमें से अधिकांश महापुरुषों के सान्निध्य का सौभाग्य मिला।

प्रेमलताबहिन के साधुचरित पिताश्री-माताजी के प्रति मेरा श्रद्धाभाव था। पिताजी अंग्रेजी के धुरन्धर थे ही, फ़ारसी-उर्दू के भी अच्छे ज्ञाता थे, पंजाबी थे, हिन्दी-व्रजभाषा तथा बंगाली भलीभाँति जानते थे। बहिन की प्रेरणा से मैं ने लन्दन के ब्रिटिश म्यूज़ियम से 'सहसरस' की माइक्रोफिल्म मँगाई थी, मैं फारसी लिपि अच्छी तरह नहीं जानता अत: काम आगे नहीं बढ़ाया। प्रेमलताजी ने पिताजी की सहायता लेकर सहसरस का देवनागरी में लिप्यन्तरण करके उसे भलीभाँति सम्पादित किया और (सङ्गीत

* पू० बहिनजी की बहुत प्यारी (आयु में ७-८ वर्ष छोटी) सखी (श्रीमती-तोमर)। इन्हीं के नाते हिन्दीजगत् के सुप्रख्यात धुरन्धर विद्वान् एवं प्रकृति से नितान्त सन्तसेवी निगूढ़ भक्त प्रो० **श्रीरामसिंह तोमर** जी से घनिष्ठ सम्पर्क हुआ, हेमारे अत्यन्त हितैषी वरिष्ठ बन्धु की भाँति रहे; उनके पत्रों में ''प्रिय बान्धवी'' एवं कणिकाजी का लाड़भरा ''सखी'' सम्बोधन आजीवन बना रहा। मेरे लिये तो वे स्निग्ध अभिभावक-वत् रहे; १९९९ मई में श्र० कणिकाजी एवं २००१ मई में ही श्र० तोमरजी भी प्रभुधाम में जा मिले। पू० बहिनजी के संस्मरण रूप में यह पत्र ९९ में ही वे मुझे भेज चुके थे। २००१ मार्च तक उनसे पत्राशीष मुझे मिलते रहे। —ऊर्मिला

एवं साहित्य दोनों शास्त्रों में प्रवीण होने से) विद्वत्तापूर्ण भूमिका लिखकर उसे प्रकाशित कराया। ग्वालियर के पं० हरिहरनिवास द्विवेदी ने उनके इस कार्य की बड़ी प्रशंसा की और उन्हें ग्वालियर अपने घर आमन्त्रित किया। फिर तो आजीवन उनसे स्नेह-आदर-पूर्ण घनिष्ठ सम्पर्क बना रहा।

इससे पहले बहिन ने महाराणा-कुम्भा द्वारा रचित बृहत्काय 'सङ्गीतराजः' नामक सङ्गीतशास्त्रीय ग्रन्थ का सम्पादन किया, जिस पर मेवाड़ के महाराणा (श्री भगवत्-सिंहजी) द्वारा उन्हें विशेष सम्मानित किया गया था, चित्तौड़गढ़-दुर्ग में स्थित (महाराणा-कुम्भा द्वारा बनवाये गये) कीर्तिस्तम्भ या विजयस्तम्भ की चाँदी में प्रतिकृति बनवा कर पुरस्कार स्वरूप प्रेमलताजी को भेंट की गई थी।

काशीहिन्दूविश्वविद्यालय में सङ्गीतशास्त्रविभाग की प्रतिष्ठा उनकी सूझबूझ का ही परिणाम है। इस विभाग से विभिन्न स्तरों से निकले एवं सम्बद्ध रहे विद्यार्थी विश्वभर में प्रतिष्ठित हुए एवं इस विभाग में **बहिनजी द्वारा चलाई जाती हुई बहु-आयामी शोधपूर्ण प्रवृत्तियों से देश-विदेश में काशीहिन्दू-विश्वविद्यालय का सुनाम हुआ। यहाँ रहते हुए सबके हित के लिये ही कार्य करने में भी उन्हें अनावश्यक बहुत परिश्रम करना और बहुत-कुछ असह्य सहना भी पड़ा। क्योंकि जो लोग स्वयं निःस्वार्थ सत्कार्य कर नहीं पाते वे अन्य किसी के द्वारा किये जाते अच्छे कार्यों को सह भी नहीं पाते—इसीलिये प्रायः विश्वविद्यालय के विभाग व्यर्थ-राजनीति के दुर्ग बने रहते हैं, ईर्ष्या-द्वेष से पीड़ित हैं। प्रेमलताजी ने इस अग्नि-परीक्षा में से गुज़रते हुए विविध विद्याविषयक बहु-आयामी कार्यकलाप चालू करने एवं बनाये रखने में अपूर्व धैर्य का परिचय दिया।**

अपने इस गुण का, विद्वता का और प्रशासन-विषयक दक्षता का परिचय उन्होंने मध्यप्रदेश के इन्दिरा-कला-सङ्गीत-विश्वविद्यालय के—वाइसचांसलर के रूप में भी भलीभाँति दिया। उस संस्था की आवश्यकताओं को लेकर वे विश्वविद्यालय-अनुदान आयोग के पास गईं, राज्यपाल आदि से भी समय-समय पर बात करती रहीं और समुचित अनुदान-राशियाँ संस्था के लिये प्राप्त करवाईं। अपने सेवाकाल में उस संस्था का बहुत हितसाधन किया। किन्तु फिर सङ्गीत-कला-जगत् की और वहाँ की स्थानीय राजनीति के कारण ही वह विश्वविद्यालय पनप नहीं सका।

भारत की सङ्गीत ही नहीं, नाटक से सम्बन्धित क्षेत्र की भी विशिष्ट हस्तियों तथा संस्थाओं से उनका गहरा सम्बन्ध रहा। वे संगीत-नाटक-अकादमी (केन्द्रिय) की कार्यकारिणी की महत्त्वपूर्ण सदस्या, समर्थ समायोजिका फिर रत्नसदस्या, उपाध्यक्षा आदि रहीं। का०हि०वि० के अपने कार्यकाल में उन्होंने 'अभिनयभारती' नाम से एक उत्साहभरा संस्था-परिवार गठित किया जिसमें विश्वविद्यालय के—महिला महावि०, प्राच्य धर्मविज्ञान संकाय, कलासंकाय के अनेक विभाग (संस्कृत, दर्शन, संस्कृति, हिन्दी, कला-इतिहास आदि) विज्ञान-संकायों के भी कुछ व्यक्ति, वाराणसेय संस्कृतविश्वविद्यालय, कमच्छा और राजघाट के हिन्दू-विद्यालय महाविद्यालयों के अध्यापक एवं छात्र-छात्रायें तथा वाराणसी के परिनिष्ठित रङ्गकर्मी एवं कला-पोषक विशिष्ट व्यक्ति—इत्यादि बहुत व्यापकक्षेत्र के व्यक्ति बहिनजी का अपना परिवार ही बन गये थे। इन सबके सम्मिलित उपक्रम से अभिनय भारती के किसी न किसी नाट्य-प्रयोग का मञ्चन वे उज्जैन के वार्षिक कालिदाससमारोहों में तथा लखनऊ, वाराणसी, विश्वसंस्कृतसम्मेलन आदि में कराती थीं।

विश्वभारती (शान्तिनिकेतन) ने भी उन्हें अनेक बार आमन्त्रित किया था। एक बार उन्होंने बहुत ही सारगर्भित तीन व्याख्यान दिये थे—**'राग और छन्द का सम्बन्ध'**—विषय पर। यहाँ जब भी आईं तब अपनी सखी कणिका के साथ ही रहतीं-ठहरतीं थीं। हमारे घर की सदस्या ही थीं वे। हमारे सुख-दुःख में हमेशा साथ रहीं। हमारी बेटी के विवाह में आईं तो भी अनेक असुविधायें रहते हुए भी वे घर पर ही रहीं।

का०हि०विश्वविद्यालय से सेवानिवृत्ति के बाद परिसर के घर को छोड़ा तो उन्होंने करौंदी (का०हि०वि० की दीवाल के बाहर बनी कॉलोनी) में एक बहुत अच्छा घर खरीद लिया अपनी सब जमा पूँजी व्यय करके, क्योंकि उन्हें अपना समृद्ध ग्रन्थ-

संग्रह सुरक्षित रखना था एवं सदा की भाँति अतिथियों के सुखद निवासादि सेवा का क्रम बनाये रखना था। इस घर का सार्थक नाम रखा गया—**'आम्नाय'**, यहाँ विद्या का ही सतत प्रवाह जो बना रहना था। आम्नाय में भी हमलोग सपरिवार कई दिन बड़े आराम से ठहरे। घर की सब देखभाल और व्यवस्था वे स्वयं करती थीं। हम पाँच सदस्य थे। उन्होंने सेवकों का, पानी-बिजली का, यातायात का, भोजनादि का किसी प्रकार का कष्ट हमें नहीं होने दिया। उनकी व्यवस्था इतनी पक्की थी कि वाराणसी स्टेशन पर उतरते ही उनका सहेजा हुआ वाहन और चालक हमारी अगवानी तथा घर ले जाने के लिये तत्पर उपस्थित था।

देश-विदेश के अनेकों जिज्ञासुओं, छात्र-छात्राओं से वे घिरी रहती थीं; **विद्यादान के बदले किसी से कुछ भी नहीं लेती थीं, केवल 'पेंशन' ही निर्वाह-साधन था,** फिर भी खुले दिल से सब को यथावसर खिलाना-पिलाना और पढ़ाना चलता रहता था। उस समय एक विदेशी युवती उनसे संगीत सीखती थी। गुरु-शिष्या ने युगल स्वर से हमें कबीर के कई भजन सुनाए, संस्कृत के स्तोत्र भी।

इन्दिरागांधी-राष्ट्रीय कला केन्द्र की सञ्चालिका-प्रवर्त्तिका डॉ० (श्रीमती) **कपिला वात्स्यायन** से उनका बहुत अच्छा परिचय एवं सम्बन्ध था। संस्था के अनेक कार्यों की मूलभूत गोष्ठियों में वे परामर्श के लिये आमन्त्रित रहती थीं, कलातत्त्वकोश के लिये प्रस्तावित बहुशास्त्रीय समान शब्दों के चयन में भी वे साथ रही थीं। संस्था की अनेक शोधयोजनाओं तथा अनुवाद-सम्पादनादि प्रकल्पों का भार उन्हें सौंपा गया था, जिन्हें प्रेमलताजी ने जीवन के अन्तिम दिन तक सुचारु रूप से बहुत कुछ सम्पन्न किया। **कलातत्त्वकोश-शृङ्खला इस संस्था की एक श्रेष्ठ कृति है। कलामूल-शास्त्र के अन्तर्गत भी बहिनजी ने अमूल्य सम्पादन** प्रकाशन किये।

श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' जी की मेरे ऊपर बड़ी कृपा थी। सन् १९४८ के आसपास वे नेहरू-अभिनन्दन-ग्रन्थ का सम्पादन कर रहे थे, उस समय कुछ लेखों के अनुवाद के प्रसङ्ग में उन्होंने मेरा सहयोग लिया और उनकी कार्य शैली से मेरा परिचय हुआ। महान् व्यक्तित्व था उनका; बड़े ही शिष्ट और सुरुचि-सम्पन्न थे। मैं उनके निवास ('वसुधा', नया कटरा) पर जाता, स्वयं चाय बना कर पिलाते। वे बहुत कम बोलते थे, मैं और भी कम। कभी-कभी हमारा काम बिना बात किए ही सम्पन्न हो जाता। वे भी कभी-कभी मेरे यहाँ 'एलेन-गंज' आते, अपना लेख देकर लौट जाते, बात करने की जरूरत ही नहीं पड़ती। टगोर टाउन, इलाहाबाद में "कपिला-वात्स्यायन" विवाह का निमन्त्रण उन्होंने स्वयं कृपा करके मेरे पास भेजा था और उस शुभ अवसर पर मैं उपस्थित रहा था। दोनों की जोड़ी अपूर्व थी। प्रेमलता जी के साथ कपिलाजी की वैचारिक घनिष्ठता और फिर 'अज्ञेय' जी से भी स्नेहादर-सम्पर्क के स्मरण के कारण ही उनकी वे सब यादें ताजी हो आईं। प्रेमलताजी ने अज्ञेय जी द्वारा आयोजित 'वत्सलनिधि' हीरानन्द शास्त्री-स्मारक-व्याख्यानमाला में 'रस' विषयक चार व्याख्यान दिये थे, जिन्हें अज्ञेय जी ने बहुत भाव-सहित सुना था और उसी के कुछ ही महीनों बाद वे हमारे बीच नहीं रहे।

लिख रहा हूँ प्रेमलताजी के संस्मरण, इसी में उठ आ रही हैं और अनेक यादें। इस युग के अद्वितीय संगीताचार्य एवं सङ्गीत को समाज में सम्मान्य स्थान दिलाने में अग्रणी पं० विष्णु-दिगम्बर पलुस्कर के प्रमुख शिष्य थे पं० ओंकारनाथ ठाकुर (बहिनजी के गुरु), नारायण राव व्यास; वी० एन० ठकार। ये सभी बड़े-बड़े सङ्गीत सम्मेलनों में गाते थे। पं० ओंकारनाथ जी अपने मधुर कण्ठ और रचनाओं से श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध कर देते थे। यू०जी०सी० की अध्यक्षा स्व० माधुरी शाह ने पं० ओंकारनाथ जी के विषय में अपने बचपन का एक संस्मरण सुनाया था— ये छोटी बालिका थीं तब एक बार पं० जी इनके घर ठहरे थे; रात में अभ्यास में गा रहे थे—"चलो माई जमुना के तीर!" ....एक घण्टे से ऊपर हो गया तो बालिका ने पूछा "पण्डित जी! जमुना के तीर पहुँचने में और कितनी देर लगेगी?" उत्तर मिला "एक घण्टा और लगेगा।" बालिका जाकर सो गई; सुबह उठकर प्रगति पूछी तो पाया कि अभी तक पहुँच नहीं पाये।

प्रेमलताजी ने अपने गुरुजी को सच्ची गुरुदक्षिणा दी कि उनके रचना-कौशल, भावानुरूप राग-ताल-योजना आदि से समृद्ध सम्पूर्ण सङ्गीत तो अपनाया ही पर सबसे अधिक अपने संस्कृतज्ञान का उपयोग सङ्गीतशास्त्र के साथ जोड़कर

पण्डितजी के ग्रन्थों को लिखने में पूरा-पूरा सहयोग दिया और भारतीय सङ्गीत को पूरे विश्व के सामने लाईं।

शास्त्र की उन्हें गहरी लगन थी। इसी नाते वे **आचार्य कैलासचन्द्र '*बृहस्पति*'** के सम्पर्क में भी आईं जो आकाशवाणी भवन में 'व्रजभाषा विभाग' में थे। सहृदय व्यक्ति थे, संगीतशास्त्र और प्रयोग दोनों के ज्ञाता और अच्छे शिक्षक भी थे।

प्रेमलताजी ने उनसे भी सीखने योग्य बहुत कुछ ग्रहण किया, और अपनी साधना में खोई रहीं।

समग्र जीवन-साधना के पथ पर वे निरन्तर अग्रसर होती रहीं और फिर वहीं चली गईं जहाँ प्रत्येक को अपना-अपना कार्य करके जाना ही है। वह सहृदय मूर्ति प्रत्यक्ष हमारे सामने न रही, पर उनकी यशः काया को जरा-मरण का कोई भय नहीं है।

—रामसिंह तोमर

★★★

.५.

स्मृतिशेष डॉ० कु० प्रेमलता जी शर्मा : संस्मरण

—डॉ० पं० राममूर्ति त्रिपाठी

१

पुण्यश्लोक कु० प्रेमलता जी शर्मा आज हमारे बीच नहीं है—यह एक दुःखद प्रसंग है—एक अपूरणीय रिक्तता है। अब वे स्मृतिशेष रह गई हैं—यशःशरीर हो चुकी हैं। ऐसी तपोरत सारस्वत उपासिकाएँ प्रविरल होती जा रही हैं। साहित्य और संगीत का ऐसा गंगाजमुनी संगम दुर्लभ होता जा रहा है। गौड़ीय भक्ति धारा में उनका रोम-रोम निष्णात था। यह कदाचित् उनका आनुवंशिक रिक्थ था—पर ऐसी रिक्थ-सरिता को सँभालना शाङ्करी अदा के सङ्कल्प, साहस और धारणीय योग्यता से ही सम्भव था। इसे स्वर्धुनी कहें कि स्वर-धुनी कहें—उनके सन्दर्भ में दोनों सहज संभाव्य हैं।

यह **उनकी जन्मान्तरार्जित तपस्या की वासन्तिक परिणति थी कि उन्हें वृन्दावन में उज्वल रस के आचार्य पहले श्रीपुरीदास जी फिर श्री पुरुषोत्तम गोस्वामी जी मिले और काशी में एक तरफ सर्वतन्त्र स्वतन्त्र कविता के केन्द्र चक्रवर्ती पं० महादेव पाण्डेय,** (जो बाद में काशीस्थ ऊर्ध्वाम्नायपीठ के शंकराचार्य पद पर स्वामी श्री करपात्री जी द्वारा अभिषिक्त किए गए)—**साहित्यपाथोनिधि मिले और दूसरी ओर विश्वविख्यात संगीतमार्तण्ड पं० ओङ्कारनाथ जी ठाकुर संगीत के आचार्य सुलभ हुए। इन विभूतियों से प्रवाहित त्रिवेणी को धारण करना उन्हीं के बूते की बात थी।** अध्ययन का प्रथम सोपान ग्रहण है—दूसरा सोपान धारण और तीसरा उद्भावन है। बहनजी ने **अध्ययन के इन तीनों सोपानों पर आरोहण किया—अध्ययन बोध में पर्यवसित हुआ। बोध आचरण में उतरा और आचरण श्रीहर्ष के शब्दों में प्रचारण तक बढ़ता गया। अध्येता के इन चारों सोपानों—अधीति, बोध, आचरण और प्रचारण पर वे आरूढ़ हो चुकी थीं।** इस प्रकार वे अधिगम्य को अधिगत और करणीय को कृत बनाती हुई अपने जीवन की ऊर्ध्वगामी सम्भावनाओं को एक तरह से चरितार्थ कर रही थीं। ऐसा जीवन क्रम कितना विलोभनीय हो जाता है।

कुमारी प्रेमलताजी शर्मा का मेरा सम्पर्क लगभग १९ ५०-५१ से ही रहा है। वे साहित्यशास्त्र आचार्यश्री से पढ़ने आती थीं—पर अपेक्षित पर्याप्त समय का अभाव होने से उन्होंने यह कार्य भार मेरे सिर डाल दिया। कु० शर्मा जी तब मुझे छोटे गुरु जी कहा करती थीं। उन्हें साहित्याचार्य में रसगङ्गाधर का उत्तरार्द्ध लगभग तीन वर्षों में मैंने पढ़ाया। पढ़ने-पढ़ाने का यह सारस्वत सम्पर्क टूटा नहीं—बराबर किसी न किसी रूप में चलता रहा। दर्शन के क्षेत्र में भी जब कभी अपेक्षा हुई तो उन्हें मेरी याद आ जाती और वे उस ज्ञान का लाभ दूसरों को भी मुझसे दिलवा लेतीं।

उनका मेरा यह सम्पर्क पारिवारिक स्तर तक बढ़ गया। कभी-कभार अनायास परिवर्तन का भी सन्दर्भ आता—भोजन पानी की भी सामयिक अपेक्षा होती तो वे मेरे घर पर निःसंकोच भाव से आ जातीं। इस सम्पर्क के कारण बहन प्रेमलता जी के माध्यम से पं० ओंकारनाथ जी ठाकुर के पास तक पहुँचने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उन दिनों वे 'प्रणवभारती' का प्रणयन कर रहे थे। उसके लिए कुछ संस्कृत वाक्यों का हिन्दी में रूपान्तर करना था। पं० ठाकुर जी ने उनके कारण यह भार-मुझे सौंपा और मैंने

अपेक्षित पूरा रूपान्तरण किया। रूपान्तरण का बहुत-सा भाग उनके संगीत महाविद्यालय में सम्पन्न हुआ। उस दौरान मैं देखता था कि पण्डित जी अपने सान्निध्य और साक्षित्व में कु० शर्मा से संगीत का शास्त्रपक्ष छात्रों के बीच प्रसारित करवाते थे। उन्होंने कु० शर्मा को गायन का प्रायोगिक और सैद्धान्तिक-दोनों का भरपूर ज्ञान सङ्क्रान्त किया।

इस संपर्क का एक बड़ा ही मधुमय प्रसंग स्मरणीय है। साहित्य विभाग में पद पर नियुक्ति होनी थी। मैं ज्वरग्रस्त था—उठने-बैठने में चक्कर आता था। आचार्य प्रवर गुरुदेव पाण्डेय जी की चिन्ता दुर्निवार थी। उन्हें कु० प्रेमलताजी का स्मरण आया। उन्हें बुलवाया और कहा कि वे संगीतमार्तण्डजी से प्रार्थना कर उनकी गाड़ी में भिजवाने का प्रयत्न करें। उन्होंने तत्काल सारी व्यवस्था की। यह प्रयास नितान्त सार्थक रहा। गाड़ी में बैठकर ज्यों ही बाहर निकला—हवा के एक दयामय झोंके ने तबीयत में स्फूर्ति ला दी। प्रमाणित विशेषज्ञों के प्रश्नों का सटीक उत्तर बन पड़ा और उन सबकी सहानुभूति भी मिली। मेरी नियुक्ति हो गई। यह सब बहिनजी का सौहार्द-सद्भाव और गुरुजनों का शुभ आशीर्वाद था जो समय पर फलीभूत हुआ।

प्रारब्ध और समय कितना बलवान् और प्रभावी होता है—इसका प्रत्यक्ष अनुभव सागर प्रस्थान के सन्दर्भ में मिला। का०हि० विश्वविद्यालय में नियुक्ति हो चुकी थी—अपना निजी घर भी बना लिया था—सारस्वत वंश भी फलफूल रहा था—पर ईर्ष्यालुओं की ईर्ष्या भी कहीं धधक रही थी। प्रारब्ध ने केवल अपने बल पर सागर के हिंदी विभाग में मेरे न चाहने पर भी नियुक्ति करा दी। समस्या काशी छोड़ने की दुःखमाधेय थी। दुःखमाधेय इसलिए थी कि स्वर्गीय गुरुवर्य अपने सान्निध्य से मुझे मुक्त करना कभी भी नहीं चाहते थे। उधर पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पं० नंददुलारे बाजपेयी तथा सागर के कुलपति पं० द्वारका प्रसाद मिश्र का आग्रह पर आग्रह दबाता जा रहा था। इस कसमकस में फिर कु० प्रेमलताजी माध्यम बनी। लोगों ने उन्हें गुरुवर्य के पास भेजा। उन्होंने गुरुजी से प्रार्थना की कि अभी राममूर्ति जी की अवस्था ही क्या है? दो-चार वर्ष घूम आने दें फिर आप और वे जब भी चाहेंगे नियुक्ति हो ही जायेगी। श्री गुरुजी पर भी प्रारब्ध ने प्रभाव डाला और असंभव संभव हो गया—उनकी स्वीकृति मिल गई—मैं सागर चला गया।

सागर जाकर भी बहनजी का और मेरा पारिवारिक तथा व्यक्तिगत रिश्ता बना रहा। दूसरी और तीसरी दोनों पत्नियों से प्रेम बहन का सम्बन्ध था—दोनों को काशी और सागर में उनके आतिथ्य का अवसर मिला। मैं भी काशी आता तो उनके घर आता—सपरिवार। उस समय उनकी माताजी भी थीं। परिवार के सदस्य सा व्यवहार चलते रहने से मेरा और उनका कभी कहीं भी जाना निरवरोध चलता था। दूसरी पत्नी और बच्चों से सहज स्नेह होने के कारण उन्होंने भी मुझे तीसरे विवाह से मुक्त रहने का परामर्श दिया था—पर प्रारब्ध को कौन रोक सकता है?

काशी के बाद बहनजी खैरागढ़ में कुलपति बनकर गईं। उज्जैन में कालिदास समारोह के सन्दर्भ में आप पं० कमलेश दत्त जी के यहाँ आतीं और चली जातीं। इसका मुझे क्लेश होता। 'आम्नाय' (करौंदी) में पं० कमलेश दत्त जी नीचे रहते थे—एकाधबार मैं भी वहाँ गया और नीचे से ही उनसे मिलकर लौट आया। जब इसका पता बहन को लगा तो उन्हें काफी क्लेश हुआ। इस क्लेश का पता मुझे तब चला जब मेरी उनकी भेंट पं० विद्यानिवास मिश्र (कुलपति संस्कृत वि०वि०) के घर पर हुई। मैं भी खिंचा बैठा था—समय पाकर वे उठीं और मेरे पास आईं—बोली कि मैं 'आम्नाय' में उनसे मिले बिना क्यों लौट गया? आगे ऐसा नहीं होना चाहिए। फिर दोनों की संवेदना का ध्यान दोनों ने बराबर रखा।

डॉ० कु० शर्मा प्रायः विचार-संगोष्ठियाँ आयोजित किया करती थीं। प्रत्येक संगोष्ठी में वे मुझे ससम्मान बुलातीं और गम्भीर विषयों पर प्रस्तुति का अवसर देतीं। ऐसी अनेक संगोष्ठियाँ संगीत महाविद्यालय और कलाभवन में आयोजित हुईं—जहाँ विचार-विमर्श को स्वर्ण अवसर मिलता।

डॉ० कु० शर्मा का सम्पादन, भावानुवादन, मौलिक लेखन—का कार्य निरन्तर चलता ही रहता था वे खैरागढ़ में रहकर भी शोधपरक लेख मँगवाती और वहाँ से लौटने पर काशी में इस सन्दर्भ में स्मरण करतीं। अपनी पुस्तकें प्रायः भेंट करतीं और छोटी बहन ऊर्मिला से भी उसकी लिखीं पुस्तकें भिजवातीं।

एक सन्दर्भ म० म० पं० गोपीनाथ कविराजजी का भी स्मरण आ रहा है। मैं सागर जा चुका था प्रसङ्गात् काशी आया था। काशी आने पर म०म०कविराज जी का दर्शन दुर्निवार था—होना ही होना होता था। मैं जब वहाँ गया तो वहाँ डॉ० कु० शर्मा पहले से विद्यमान थीं। उन्होंने मेरा नाम लेकर कविराज जी का ध्यान खींचा। कविराज जी ने कहा 'वे तो सागर में हैं'। डॉ० कु० शर्मा ने कहा—'ये सामने बैठे हैं'। कविराज जी की मौन मंगलकामना मिली।

ऐसे डॉ० कु० शर्मा के अनेक संस्मरण हैं जो मुझसे उन्हें जोड़ते हैं। पिछली बार जब मैं 'आम्नाय' आया था—तो वे बिस्तर पर थीं—रोग पीड़ित—पर क्या साहस था—बोली —'अभी हम लोगों की अवस्था ही क्या है!' खूब काम करतीं और सरस्वती का भाण्डार भरतीं।

अकस्मात् एक दिन 'नई दुनिया' में यह हृदय विदारक समाचार पढ़ा कि डॉ० प्रेमलताजी नहीं रहीं। तमाम स्मृतियाँ उभर आईं और आलम्बन के अभाव में पछाड़ खा-खाकर करुणा सागर के तट पर सिर पटकती रहीं। समय बड़ा बलवान् होता है—उसका प्रतिरोध कौन कर सकता है। उसके समक्ष मनुष्य को सब कुछ भीतर दबाकर जीना पड़ता है।

'भगवान् उन्हें जहाँ भी हो अपनी अभय-वरद-हस्त-छाया में रखें।

'आम्नाय'—काशी
२७.३.९३

★★★

.६.

करुणामयी स्नेहमूर्ति प्रेमबहन

*—विमला ठकार**

चि० ऊर्मिला की इच्छा है—मैं कुछ प्रेमबहन के बारे में लिखूँ। मैंने सहज स्वीकार भी किया। किन्तु काम है बहुत कठिन! सन् १९५५ से हमारे बीच प्रगाढ सख्य रहा। एक-दूसरे के पास जाना, रहना, होता रहा। साथ में प्रवास भी हुआ। भारत में एवं भारत से बाहर! परस्पर संगति में साहित्य, संगीत, कला का आनन्द हम दोनों ने खूब लूटा। जंगल में भी मंगल करने की 'अद्‌भुत' क्षमता थी उनमें। मैं उन्हें ''शरत्-चन्द्र का पात्र'' कहा करती थी।

प्रेमबहन का व्यक्तित्व लगभग सर्वङ्कष रहा। वे भाषाविद् थीं। उत्तम आचार्या थीं। Musicology में उनका अधिकार स्पृहणीय था। गायन, लेखन तथा वक्तृत्त्व तीनों में समान निपुणता उपलब्ध थी। धर्मशीला, सन्तसेवी प्रेमबहन आतिथ्यकुशला थी। उनकी गो-भक्ति, गो-सेवा शब्दातीत रही। मैंने उनको गोसेवा करते देखा। रसोई बनाने का उन्हें सविशेष प्रेम था। मित्रों के लिये, छात्रों के लिये अपना तन-मन-धन लुटाने में सन्तृप्ति अनुभव करती थीं। उस गरिमामयी कृतार्था नारी के बारे में कितना ही लिखें—अपर्याप्त साबित होगा।

प्रेमबहन के बारे में लिखने बैठी हूँ। किन्तु कलम ठिठकती गई है। स्मृतियों के कोलाहल में शब्द बिखर गये हैं। उनका पूरा जीवन आँख के सामने चित्रपट सा घूम रहा है।

सुयोग्य पात्र न दिखने से लग्नजीवन (वैवाहिक) की अभिलाषा अतृप्त रही। वह वेग कर्मयोग बन गया। कार्यक्षेत्र में सफलता पर दूसरों की ईर्ष्या के कारण सबके हितकारी सत्कार्यों के लिये भी व्यर्थ अतिशय जूझने का परिश्रम, अन्ततः जन प्रतिष्ठा भी, किन्तु व्यक्तिगत जीवन में उदासीनता, हताशा की गुप्त गङ्गा! कितनी धाराओं का सङ्गम रहा वहाँ! N.P हॉलेण्ड, नॉर्वे, इंग्लैन्ड में प्रेमबहन मेरे साथ रही कुछ दिन। वह सब याद आये। यहाँ (भारत में) उनके कारण श्र० श्री गोपीनाथ कविराज, ब्रह्मर्षि दैवरात जी, स्वामी अनिर्वाणानन्द जी के साक्षात्कार आँखों के सामने तैर गये। प्रेमबहन के ही कारण वैद्यराज श्री यदुनन्दन उपाध्याय जी से भी सम्पर्क हुआ था, उनके उपचार के अन्तर्गत और प्रेमबहन की लाडली गायों के शुद्ध दूध से 'दुग्धकल्प' भी हो पाया था। सब याद आता है।

बहन की जीवनधारा शिक्षण-साहित्य-संगीत-नाट्यादि-के क्षेत्र में बहती रही। मेरी जीवनधारा अध्यात्मनिष्ठ समाज-परिवर्तन के क्षेत्र में संचार करती रही। उस विदुषी के व्यक्तित्व के कितने ही पहलू मुझे अज्ञात रहे होंगे। किन्तु परस्पर स्नेह-समादर नित्य बढता रहा।

---

* १९५५ से ही हमारे जीवन में घुलीं—**जीवनयोगिनी अध्यात्म-विभूति, जो १९५१-६३ तक सन्तविनोबा भावे के भूदान यज्ञ की एक प्रमुख ऋत्विक् रहीं दादा-धर्माधिकारी की 'आत्मजा' एवं सन्त ज्ञानेश्वर से लेकर श्री जे० कृष्णमूर्त्ति पर्यन्त प्रायः सभी सन्तों की चेतना एवं मानव धर्म का समन्वित परिचय इस संसार को दे रहीं समाजोत्थान में समर्पित सहजयोगिनी।** मैंने भी इनका सान्निध्य-विशेष १२ वर्ष पाया।
—ऊर्मिला

कुछ समय हुआ—हम दिल्ली में मिले। शायद हृदयरोग के हमले के बाद वे दिल्ली गईं थीं। उनका सब तरह से गिरा स्वास्थ्य, शिथिल शरीर; क्लान्त मुखमुद्रा आदि देखकर मैं दहल उठी। समझ गई कि वह हमारा अन्तिम मिलन हो रहा था। उस हालत में भी मुस्कुराते हुये प्रेमबहन ने कहा ''जीजी आपको कुछ सुनाने का मन है!''और बहन गाने लगी। ''श्रीमद्‌भागवत'' के कुछ अंश। आज भी कानों में वह गान गूँजता है।

हम गले मिलीं। दोनों के आँसू थमते नहीं थे। और पाँच दिसम्बर १९९८ को तो प्रेमबहन धरती से भी कूच कर गई।

उस करुणामयी को स्नेहभरे विमल वन्दन।

★★★

.१७.

Behanji

*—Usha Malik**

Behanji was truly an elder sister—wise, compassionate, understanding, loving. Even-tempered and cool, she was never the 'boss' in the institution [Sangeet Natak Akademi] she headed as the Vice-Chairman for four years from 1994 to 1998. Eminently approachable, she gave of herself, and her time, with a quiet dignity. And it was the same quality with which she carried herself and that she brought to her office. The respect she accorded to others whoever they may have been in status, rank or position was transparent. Deeply democratic in spirit she communicated at the level of her interlocutors without ever giving the impression that she was talking down to them. Her ability to switch levels from the profoundest to the most simple was extraordinary. I was amazed at as to how lightly she carried her scholarship, her knowledge of languages, original texts, complex musical theories as if this was the very air she breathed without any sense of strain. I never once saw her using her learning and scholarship for effect or for a vain display. Simple and natural as she was, her learning was so much a part of her being that it flowed naturally from her. She could, of course, be severe and critical, standing no nonsense, but so always without rancour. It was a moving experience for me to see the devotion of her former students to her, now leading scholars and senior academics in their own right. She accepted this as a given, natural, without any fuss, and much as she had rendered to her guru, in the hoary tradition of the Guru-Śiṣya-Paramparā.

To me, **she exemplified an authentic Indian woman strongly rooted in herself and in her traditions—of great inner resources and strength and with the instinctive ability to create an ambience of warmth, caring and love around her. Her humility and her deep confidence in herself made her one of the most innately secure persons** I have come across. Her home in Varanasi was open and you were a part of the household as soon as you entered it. She always had people staying as house guests with families, all participating in the ordinary chores of the house—the children running around while she herself worked on her books at the desk of her first floor verandah. How can one forget the affection with which one was persuaded to eat delicacies cooked in the house by her and her sister Urmilaji. This was as natural as listening to the music recitals or scholarly discussions in the room downstairs. These were seamless wholes flowing from one to the other, providing an opportunity to savour Rasa in its various aspects.

From the beautiful little girls whom Behanji had adopted to educate them, to the Mali and his grandson, a bright little boy in the backyard, she had a relationship and a way of communication with them all her own. Often during the course of our travels together on work in different parts of the country, she would remember these children and take notes of people and places of interest with a view to relating the stories of her travels to them back home. The children awaited her return impatiently, came back as she did

* Mrs. Usha Malik—Secretary, Sangeet Natak Akādemi, October 1991-December 1997.

with little gifts and a fund of magical stories of her travels to distant lands. I had met Behanji in 1979 at the time of Dhrupad Mela in Vrindavan. Her contribution to the revival of Dhrupad is well known. As a member of the Executive Board of the Sangeet Natak Akademi then, she had undertaken this responsibility on behalf of the Akademi. Dhrupad Melas followed ending the one at Ambejogai in Maharashtra in 1983 when the term of the Board ended. The Dhrupad annuals brought out by her for ten years painstakingly with practically no funds is a saga of her single-mindedness of purpose in spite of all odds. There was a brief encounter in Hyderabad in February 1993 when she came to receive the 1992 Akademi Fellowship awarded to her. It was only in March 1993, when she participated in **a seminar on The Text and Context of Nātya Shastra** organized by the Akademi that **I saw her at close quarters, her outstanding intellectual ability, her thorough mastery of the material she was dealing with, her incisive critical acumen and her knowledge of original texts.**

While we were awaiting the nomination of the new Chairman and the formation of the new General Council in the later part of 1993, I requested Behanji to conceptualize a seminar focusing on an original text in her field since I was sharply aware that over the years the **Akademi had lost touch with the academic base of the disciplines concerned, busy as it had been with organization of festivals and performances. A balance had to be found and she was the right person to bridge the gap between the academic disciplines and presentations of performance arts.** This had been one of the recommendations of the Haksar Committee Report of July 1990 for reviewing the work of the three National Akademies and the National School of Drama, of which she had been a member. The Haksar Committee had reiterated that the Akademi should not overdo its impresario role but ought to present the very best of performances, setting standards of excellence, as it were. The need for intensive and qualitatively superior work in the areas of documentation and research and academic work were stressed by the Committee. Behanji, associated as she had been with the Akademi earlier and with the Review Committee, completely understood the situation.

During the course of the planning and organization of the seminar on Śārṅgadeva and his Saṅgīta Ratnākara as conceptualized by her, that is when we were in touch constantly, the new General Council was formed and she was unanimously elected as the Vice-Chairman of the Akademi in January 1994 to the immense delight of us all. The seminar was held from 22-26 February 1994 at Varanasi with leading scholars and performers participating because of her close associations with them in the field. A festival of music and dance was also organized in the evening relevant to the theme of the seminar. Dr. Mukund Lath, thanking the Akademi after the Seminar, spoke about the distinct Banaras Gharānā of Musicology which had grown over the years and the debt he owed to the Grand Lady of the Gharānā for the whole effort. He said that feasts of Prayoga had been many but a feast of Shastra was a rare thing where one could go back from it both with insights and questions.

Her next seminar for the Akademi was focused on Mataṅga and his unique work : Bṛhaddeśī in July 1996 at Hampi. She always thought of organizing seminars at places which were in some way connected to it. We had thought of having the Śārṅgadeva seminar at the Devagiri or Daulatabad fort connected as it was with Śārṅgadeva. Unfortunately, due to reasons of logistics, and it being a protected monument, this could not come about.

However we were both equally excited about Hampi and went to work out the arrangements almost a year before the Mataṅga seminar and a festival was organized combining it with some other work in Karnataka. We found a willing collaborator in the Kannada University in Hampi. We walked all over exploring rocks and temples and sharing meals and jokes. I remember visiting the Hazararama temple at Hampi, when almost at sundown, the electric lights of the temple went out. Disappointed at having come

all the way and not being able to see the inner sanctum, we suddenly saw the last beam of the sunset shoot across and fall on the main image lighting up the entire place in one joyous dramatic stroke. The Mataṅga seminar complemented the IGNCA project on Bṛhaddeśī which she was working on.

The last seminar she conceived for the Akademi to organize was on Rasa and the Performing Arts at Varanasi for the reason she was not well enough to travel outside. **Prof Harold Powers had suggested** the title earlier at the Śārṅgadeva seminar **being struck by Behanji's various contributions to how the notion of Rasa is to be treated in music.**

Behanji took an active interest in the programme of the Akademi publications. Since the IGNCA had a programme of publishing the earlier texts on the arts, it was felt the Akademi should focus on publication of texts of dance and music which would go back to about 150 to 200 years or so. These were to give the context and an adequate idea of the direction and developments in traditional forms during this period, so vital to an understanding of contemporary practice. She named the series as Saṅgīta Punarnavā and identified four texts to begin with.

I recall our visits to Trivendrum, Trichur and Irinjalkuda in Kerala for the selection of trainees for scholarships under the Kuttiyattam Project of the Akademi and the meetings with scholars and gurus for the organization of the Kuttiyattam Mahotsavam in March 1995, with her breaking into Sanskrit to converse with Prof. Narayan Pisharody, the great Sanskrit savant. She took keen interest in the special publication issue of the Sangeet Natak journal on Kuttiyattam. She continued her interest in Kuttiyattam by inviting artists to Varanasi, putting them up at her place and presenting their performances. During 1996-97 she edited Nāṭya Kalpadruma written by the great Kutt. Maestro Mani Madhav Chakiyar translated in Hindi by his son, published by S.N.A.

There were several other visits together to various places like Udupi for the string puppets festival, Dharmasthala for the shadow puppets festival and many other dance and music festivals organized by the Akademi. Her encouragement and support meant a great deal to the artists who respected her for her knowledge and insights as also to the staff of the Akademi whom she treated with love and much affection.

Recalling her childhood, she fondly spoke of the encouragement given by her parents in implanting the seeds for what she was to do later in life. Her father who had been in the Railways had voluntarily left service because of some unjust decisions on fellow colleagues. Attracted to Gandhiji, his interest influenced the family and who then took to his writings as well as to other Gandhians like Kaka Kalelkar, Vinoba Bhave and others. Her mother and father both wore only khadi. Her father who had been deeply influenced by Tagore's views on education did not send her to school at all and had several teachers to coach her in different subjects at home including Sanskrit and music. She passed her Matriculation privately at the age of eleven and graduated from Indraprastha College in Delhi at the age of fifteen! Later her father entered the Gaudiya Sampradya and the family moved to Mathura. Behanji did not continue her studies in any college but fruitfully utilized her time in studying Śrimadbhāgawata, Harināṃa japa, Kīrtana and the Bangla language for six years. She would also help her mother cook varieties of food to be daily taken to the temple. However her mother's dream was to see her daughter highly educated, knowing languages and being independent. After six years Behanji felt like taking up studies again, but it took her a year to decide as to what she would do. While in Mathura, she passed various examinations in music and did her Masters in Hindi from B.H.U. privately. She liked Varanasi and wished to do another Masters in Sanskrit from there. Her father encouraged her and engaged several teachers to teach her Sanskrit literature and śāstras at home to prepare her prior to her joining the University. After two Masters, an Acharya degree in Sanskrit and a Ph. D. also in Sanskrit and learning Music from Pt. Omkarnath Thakur, as side study, she gradually turned to research work in the ancient Sanskrit texts on Music, and most of all the Sāttvikā atmosphere of her parental home laid the foundation for a lifetime of work.

Behanji was very happy composing music as it gave her a great creative joy as she felt the graceful presence of her Gurus (in Music as well as spiritual spheres) in this. Sometimes, as a relief from the monotonous administrative chores in which both of us were involved in the office, I would request her to sing a few lines from her songs and she would sportingly and willingly oblige. **Besides her friends and disciples in the academic community she had several friends and admirers among the dancers, musicians and theatre workers, for whom she sometimes composed music and also great artists in painting and sculpture.** She also spoke warmly about her work in directing Sanskrit plays which she presented at the Kalidas Academy at Ujjain and at Varanasi, Lucknow etc.

We took the opportunity of her visits to Delhi to record her interview of Dr. Sumati Mutatkar in July 1996, who in turn along with Dr. Mukand Lath interviewed her on her contribution to Musicology in September 1996. Venugeet, her own composition in which she and her disciples participated, was recorded in September 1996. Her interviews with Dr. Kapila Vatsyayan were also recorded in May 1997 and March 1998.

With the passing away of Behanji, a benign presence has been removed but **the fragrance of her being remains intact in the hearts and minds of those who knew and loved her for what she was, and stood for.**



८.

In Memory of Premlata Sharma

—Prof. Anna Radicchi

Today I am making an attempt to evaluate what having met and been helped by Premlata Sharma has meant in terms of my personal life and my scientific career. This takes me far back in time and leads me to closely examine a considerable portion of my life.

Hearing of Premlata's death (and I got the news very late) was extremely painful, and I immediately realized how much the scientific world had lost with her passing. Evaluating my own personal loss is even more painful.

But let us go back to 1964, to the 26th International Congress of Orientalists in New Delhi. That is where I first met Premlata Sharma. K.Vatsyayan and V. Raghavan were also attending the Congress. Having been in India for more than a year, I wanted to meet scholars who could help me to place the song sung by Mālavikā in the II act of Mālavikāgnimitra in its proper cultural and historical perspective within the history of music and dance, in short, within the history of Indian theatre.

Premlata was friendly from the start, not only as a teacher able to help but as an elder sister trying to understand my needs. My choice had already been made. I would go first to Madras to study Mālavikā's dance with V.Raghavan and then I would tackle, with Premlata Sharma's help, Sanskrit texts on music. V. Raghavan, with whom I spent the first part of 1965, approved of my decision. **"There is one university in India,"** he told me, **"where texts on music are studied seriously,** and **that is the Banaras Hindu University, with Premlata Sharma."** I was welcomed there from September 1965 to January, at the department of Musicology, Research Section, of the College of Music and Fine Arts, and I began to work under the guidance of Premlata Sharma.

Her way of working suited my own methods and lifestyle. I had brought along my sitar, which I used to strum and which I wanted to materially keep by my side. In fact during all that period the approach to music was direct and vital, not only due to the Vocal and Instrumental Music at the Collage and the concerts attended in Benares. **It was above all Premlata's house, whose doors were generousy opened to me, that resounded with the voices and instruments of the musicians that gathered there seeking guidance, submitting themselves to criticism, offering there devoted; affectionate tribute. It was in Premlata's house that lessons on the texts took place : the Nāṭyaśāstra with the Abhinavabhāratī, the Bṛhaddeśī, the Saṅgītaratnākara.** They were private lessons : I asked Premlata questions to clarify my doubts and she let the texts speak for themselves. In 65, the master's Degree course in Musicology had not yet been inaugurated, nor was there yet that flowering of Ph. D research characterizing the scientific activity centred around Premlata in the 70s. I was the object of totally private, individual attention.

That was the first period in which I got to know Premlata and her house on the BHU campus : a period overflowing with interests, enriching responses, expectations and plans.

I was not able to stay in India long. The grant from the Indian government had terminated. I published the four essays on Mālavikāgnimitra II.4 Florence in 1996-97 : an introduction, an essay on the metrics, one on the dance, one on the music.

No other contributions of mine to that field of research were immediately forthcoming. Shortly thereafter called to occupy the Chair of Sanskrit at the University of Cagliari, I also became the Director of the Institute of Linguistics, and I started to dedicate more time to linguistic studies and play more attention to Indian grammer.

Then, there were further reasons to reinforce my vital ties to Premlata's house. Dr. Urmila Sharma, Premlata's sister, was and still is, not only a specialist in Indian philosophy, religion, etc., but also a formidable expert on Pāninian grammar. In the 70s, as Premlata's and Urmila's frequent guest, I began to read Pānini according to the orthodox Indian tradition. Coming from a school of historical Indo-European linguistics, I was steered towards different linguistic ideas and principles, towards a different morphological analysis, in short towards the great Indian grammatical tradition, which had independently developed over two or three milleniums.

I have never written that Sanskrit grammar book, planned during those years, where western scientific methods would meet Indian tradition. In the end that project no longer interested me, and it was only in the light of the great Indian tradition that I started to study grammatical forms and ideas like the Sanskrit **samāsas,** the **vivakṣā,** etc., contributions which are still springing from that fertile period of study in Benares in the 70s.

However, the 70s were also the years of Premlata's connexion with the Kalidasa Academy in Ujjain. I recall the thrill of attending rehearsals for the Kālidāsa Saṅgītam in the summer of 1973; Premlata later staged the entire Mālavikāgnimitram.

I like to think that in some way the help she gave me in reconstructing the music of the song sung by Mālavikā was a forerunner; perhaps the fact that she had read with me the Naṭyaśāstra and the Abhinavabhāratī on the **pūrvaraṅga** and on dramatic songs also somehow captured and focused her attention.

But there was this profound difference between Premlata and me : **I was attempting to reconstruct, while Premlata was recreating. She more than anyone else understood the evolution of the dramatic songs and the prabandha in the history of Indian musical theory. But she did not stop at the theory; she herself rewrote and sang the songs. She was a living link in the chain handing down the great Indian musical tradition. That is why she was loved and esteemed by singers and artists : because she was one of them.** She in turn sought and needed appreciation of the music she composed, which is the norm for musicians in India. Premlata even sought my appreciation in the period when she was staging Kālidāsa, perhaps with special regard for my opinions as that of one who had studied and was particularly interested in Kālidāsa's texts.

One thing is certain : nothing has ever flattered me more than Premlata's solicitation of my criticism.

In the 80s, life took me far from Varanasi. I never completely lost contact and we exchanged letters and even met, but there were no other long vitalizing periods together. I never visited Premlata at Khairagarh.

I finally met her, along with Urmila, in Hampi in 1995, at the Seminar on Mataṅga and His Unique work Bṛhaddeśī. Premlata had become the Vice-Chairman of the Sangeet Natak Akademi, and as Academic Adviser for the Seminar invited me to participate.

In Hampi, our scientific ties and bonds of affection were strengthened. There I met old acquaintances and friends from BHU, while Urmila, my Pāṇinian grammar teacher wrote down and passed me quick notes in Sanskrit on the various possible explanations of the difficult text Bṛhaddeśī.

When I got back to Italy, I wrote a review of Premlata's edition of the Bṛhaddeśī for the 'Rivista degli Studi Orientali'; the second volume of that edition had been the welcome gift at the Seminar. Since then I have done further scientific research in that field I had neglected for so long.

I also took part in the following Seminar on Rasa in the Arts, held in Varanasi in January 1997, and was able to see the **new centre for "fundamental research in performing arts", located off the BHU campus, in Premlata and Urmila's new residence, "Āmnāya" in Karaundi.**

Premlata was clearly failing; her physical decline was evident and made **even more painful by the fact that her mind was totally lucid and efficient, her scientific commitments numerous, she herself highly respected by all.**

I saw her for the last time in a wheelchair at Bombay Airport on January 1, 1998. She was returning to Varanasi after a meeting, I believe at the Sangeet Research Academy, Mumbai Branch. I had the distinct sensation that I would never see her again.

She told me : "This time you can't wait so long for your next visit to us at Varanasi."

On the contrary, I waited a long time, too long.

I returned only three years later to talk to Urmila about her.

I have one great regret : that of having taken only a tiny part of what her mind and her heart were capable of offering me.

Cagliar'i Italia, April 2001

A Letter after hearing the sad news

Prof. Anna Radicchi
resid. Via Sonnino 67, 09125 Cagliari. Tel. 070 663452
Viale Avignone 19, 53100 Siena. Tel. 0577 44854

Feburary 21, 2000

My dearest Madhulih*;

I received here in Siena your letter dated 15.2.2000 a few days ago. I have read and re-read it, and I also had a look at my passport. Yes, I arrived at Bombay Airport by December 26, 1998 and I was in India upto 22 January 1999. It means, reached India some twenty days after dearest Premlata passed away and for one month in India I did not come to know the sad news while having all the time in my mind that I should pay a visit to you both in Varanasi. Then, in ltaly for the whole 1999 I did not open the Motilal Banarasidas newsletter which must have given the obituary.

The fact is that since I saw dearest Premlata sitting on a wheel-chair at the Bombay Airport and that was exactly the first of January 1998 I could not get rid of the feeling that it was the last time I was seeing her. Then, I was taken by a sort of cowardice : remained as if waiting for the worst, not wanting really to know it when it would happen. My weakness. I understand your deep sorrow.

* This affectionate name was given by Prof. Anna Radicchi to me. and she (Anna R.) was named as "Murali" by PLS for her sweet loving nature and voice. —Urmila.

It is good that you had much useful work to do. I have seen amongst the other very interesting things that you are publishing, the papers and discussions of Mataṅga seminar held at Hampi 1995. I had handed over a note at that time, which might have been included in the volume. In this case I would like to see the proofs if possible. Let me know about.

For what concerns the two volumes in PLS memony that you are planning, surely I consider a great honour to be present together with the other numerous students/scholars who have worked with her. Recently I have taken up again, for an article, the Nāṭyrśāstra (VI & VII adhyayass). *Well, it was Premlata, in the sixties* who initiated me to the Nāṭyaśastra read with the Abhinavabhāratī. I can try and contribute an article to vol. II of the planned memorial volumes the one having research articles containing as you say the gists of works done by the scholars with PLS. *More difficult is—it is impossible indeed—to contribute to vol. I, having this short time left. And then, there were sides and fields of Premlata's human and scientific personality which were partly beyond my understanding and capacities. I must humbly admit that I loved her although unable at times go to the depth of her heart and her mind. I do not feel adequate to speak about her personality.*

Now, Madhulih, I give you some information about my life, which will make easy for you to contact me....... Have my love for time being. And forgive for my shorcomings.

Your

Anna (alias Muralī)

★★★

.१.

*प्रिय सखी!

तुम्हारे पास आने को कोई राह नहीं,
पाताल आसमान जमीं पे कोई रास्ता नहीं,
गये, पता चला, कभी वापस न आने को,
ऐसा भी क्या था, क्यों चले, क्या पावोगे?

तुम्हारी तेजस्वी छापें भूल कैसे पाएँगे?
तुम्हारी दिव्य चेतना कहाँ हम पाएँगे?
कहाँ सुनना कहना होगा इस गगन में?
मीठी बातों की माधुरी मिली अनन्त में ....

कर्मयोगिनी, सेवाभाविनी मृधुभाषिणी!
ज्ञानदीप लिए सर्वत्र उज्ज्वलाकारकारिणी!
प्रेम बिन ज्ञान अधूरा है प्रेमवाहिनी!
प्रेमलता जी प्रेमकी लता थीं मृदुभाषिणी.........

आप कुछ तो कहकर जाते!
    जाना ही था तो मिलकर जाते.........
रह गई कितनी अधूरी बातें
    तय हुई थीं जो मुलाकातें.........

बहुत कष्ट से बहुत कुछ पाया
    इस दिनने सभी गँवाया।
दिन को न आई कतई दया?
    क्या करे कोई जब देने वाला ले गया?

---

* 'बहिनजी' की अभिन्न सखी १९५१-५३ में का०हि०वि० के महिला छात्रावास में एक ही कक्ष में साथ एवं हृदय से सदा ही साथ रही हुई ''तिलू'' बहन—**डॉ० तिलोत्तमा (देसाई) जानी**। १९९८ मार्च में बहिनजी ने घर में 'वसन्तपूजा' (२५ वैदिक पण्डितों द्वारा विधिवत् सस्वर चतुर्वेद-पाठ आदि का आयोजन किया था, तब इन्हें भी बुलाया था। तभी कहा था ''**तिलू सन् २००० में जरूर आना। हम अपनी मैत्री तथा मेरे सम्पादन-कार्य की स्वर्णजयन्ती मनायेंगे।** पर वह अवसर न आया, कहने वाला सरक गया''।—उन्हीं तिलूबहन ने सखी को यह पत्र भेजा—१९९९ में।

—ऊर्मिला

स्मृति उपवन में सौरभ महके
प्रेम की लता के फूल महके,
असीम तेज से बिखरे रत्न चमके
शीतल हैं, तेजस्वी हैं, क्या कामके ?

उसे प्यार मिला न मिला, उसने सभी को प्यार दिया,
अपने स्नेह-सरोवर में सबको स्नेह-सिक्त किया।
ज्ञानगंगा बहती थी सदा सबको आप्लावित किया,
कष्ट से ज्ञान-प्राप्ति की, सरलता से बाँट दिया।

वैभव की अपेक्षा कहाँ ? जो था, उसे भी बाँट दिया,
सरलता की मूर्ति थी सादगी को गले लगाया,
अन्त समय तक सीखा, सबका सुकार्य किया,
अमर हो रस-जगत् में भरतमुनि को जगाया,
उस आत्मा को शान्ति मिले ईशने यह वर दिया।

—"तिलू"

३: १:९९

★★★

.१०.

सम्पूर्ण-सङ्गीतमयी "बहिनजी"

*—पं० गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर**

प्रत्येक युग में कतिपय महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावशाली व्यक्ति भगवदिच्छा से उत्पन्न हुआ करते हैं। इस नियम के अनुसार निःसङ्कोच यह कहा जा सकता है कि डॉ० प्रेमलता शर्मा 'बहिनजी' भी इसी श्रेणी में आती हैं, जो काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय के सङ्गीत-शास्त्र-विभाग के अध्यक्ष-पद को विभूषित करती रहीं, फिर इन्दिरा कला सङ्गीत विश्वविद्यालय की 'वाइसचांसलर' भी हुईं, फिर केन्द्रिय-सङ्गीत-नाटक-अकादमी की उपाध्यक्षा हुईं। पहले भी अकादमी को अनेक प्रकार से—परामर्श-सहयोग देती रहीं।

सङ्गीतकला के कलाकारों की भारत में न्यूनता नहीं है, तथापि इस कला की प्रामाणिकता बताने में केवल गाने-बजाने वाले कलाकार असमर्थ ही रहते हैं, क्योंकि प्रमाणभूत शास्त्रों से उनका परिचय नहीं है। उनके पास केवल इतना ही प्रमाण रहता है कि "हमारे 'उस्ताद' ने हमें ऐसा बताया है," "अमुक उस्ताद के हम शार्गिद हैं"—इत्यादि।

अधिकतर कलाकारों का उस कला के शास्त्र से परिचय नहीं होता क्योंकि उन्हें संस्कृत भाषा का ज्ञान नहीं, जिस भाषा में सभी शास्त्र परम्परा से चले आये हैं।

प्रेमलता बहिनजी सङ्गीतकला में तो निष्णात थीं ही, हमेशा 'सुर' में रहने वाले मधुर-कण्ठ की भी धनी थीं, कठिन से कठिन तालों में पक्की थीं, स्वर और ताल-लय आदि के लिये किसी सहायक वाद्य पर निर्भर नहीं थीं, चाहे जब, चाहे जहाँ कैसा भी कठिन गेय-दृष्टान्त तत्काल प्रस्तुत करने में समर्थ थीं जो करने में प्रायः 'कलाकार' कहलाने वाले अच्छे गायक-वादक भी 'चूक' जाते हैं या 'गला ठीक नहीं'—'बाजा ठीक नहीं' "सुरपेटी नहीं है—कैसे गायें"—जैसे बहाने करते हैं—पर बहिनजी ऐसे किसी बाहरी उपकरण पर निर्भर नहीं रहती थीं। उनकी यह "दृढ़ स्वर-ताल-सिद्धि"—"पूज्य गुरुजी का आशीष है"—यही विनम्रता से कहती थीं। और सच ही पं० ओङ्कारनाथ ठाकुर की स्वरसिद्धि की प्रतिछबि उनमें थी—इसको पहचाना था वृन्दावन में १९८० में पूज्यपाद श्री रासबिहारी गोस्वामी जी (महाप्रतिभाशाली श्रीमद्भागवत-व्याख्याता एवं सङ्गीतमर्मज्ञ) ने; जब एक बार वहाँ आयोजित एक वैष्णव सभा में उन्होंने बहिनजी को मङ्गलाचरण करने को कहा, बहिनजी ने अनायास श्लोक गाये, फिर सभा समाप्ति के समय गोस्वामी जी ने पुनः उन्हें ही पूर्णाहुति का पद गाने को कहा, वह भी बहनजी ने वैसे ही अनायास गा दिया, साथ में कोई भी बाजा या तानपुरा आदि नहीं था। सभा पूरी होने पर गोस्वामी जी ने भाव-विभोर स्वर में बहनजी को कहा—"जीजी! यह स्वरसिद्धि कैसे पाई? आरम्भ और अन्त में एक ही स्थान का स्वर था और वह भी इस पत्थर के भवन का मूल स्वर था। आप गा रही थीं और यह पूरा भवन संवाद में स्पन्दित होकर झनझना रहा था। ऐसा तो अब तक केवल पण्डित ओङ्कारनाथ जी को ही देखा था, वे भवन का मूल स्वर पहचान लेते थे। ठीक वही आपने किया।"*

---

* राष्ट्र-सम्मानित महामहोपाध्याय पण्डित श्री गजानन-शास्त्री मुसलगाँवकर—सुप्रसिद्ध मीमांसक एवं अन्य अनेकों शास्त्रों में सिद्धप्रज्ञ विद्वान्,—जिनका स्नेह-सहयोग-आशीष १९६५ से आजीवन बहिनजी को मिलता रहा, ये स्वयं भी उन्हें अतीव समादर देते रहे हैं। नब्बे वर्ष के नवयुवा पं० मुसलगाँवकर जी अब तक सतत शास्त्र सेवा लेखन-अध्यापन स्वाध्याय आदि नित्य-'प्रज्ञा'अग्निहोत्र कर ही रहे हैं।

* यह घटना पू० बहिनजी ने बड़ी प्रसन्नता से मुझे भी सुनाई थी। —ऊर्मिला

बहनजी ने कहा ''मैं तो कुछ नहीं जानती; सहज ही गा रही थी। यदि कोई विशेषता है तो वह पू० गुरुजी का आशीर्वाद है।''

केवल कलाकारों का संस्कृत भाषा से परिचय न होने से और विद्या में रुचि भी न होने से उनकी प्रतिभा एकाङ्गी रह जाती है और अनेक व्यसन लग जाते हैं जो बुद्धि को मन्द बना देते हैं। इसी कारण भारतीय शास्त्रों में पहले सङ्गीत का ऊँचा स्थान होने पर भी क्रमश: उसकी प्रतिष्ठा कम होते-होते ''गवैये-बजवैये-नाचने वाले'' कहलाने लगे अर्थात् संगीत को आजीविका बनाने वालों को समाज में नीची कोटि का माने जाना लगा था। **बहिनजी का यह बहुत बड़ा योगदान एवं श्रेय है कि उनके प्रयास से सङ्गीत-कार आज समाज में प्रतिष्ठित स्थान पर आ गये, विश्वविद्यालय में सङ्गीत अन्य विषयों के समान स्थान पा सका और संङ्गीत शास्त्र के ग्रन्थों का कम से कम नाम तो कलाकार भी लेने लग गये।** जो प्रबुद्ध विद्यार्थी इस क्षेत्र में आये वे उन ग्रन्थों को पढ़ने में लगे, क्योंकि बहिनजी ने पाठ्यक्रम में संस्कृत भाषा पढ़ाना भी जोड़ दिया। अपनी देख-रेख में सङ्गीतोपयोगी संस्कृत-व्याकरण की पुस्तकें बनवाईं। और संगीत के कला-प्रधान पाठ्यक्रमों में भी सङ्गीत के शास्त्रीय सिद्धान्तों का कुछ परिचय जोड़ दिया।

बहिनजी स्वयं संस्कृत की विदुषी थीं, साहित्यशास्त्र की आचार्या थीं, सर्वतन्त्र स्वतन्त्र सार्वभौम कवितार्किकचक्रवर्ती प्रकाण्ड पण्डित महादेवशास्त्री जी की छात्रा थीं, इधर सङ्गीतमार्तण्ड स्वरसम्राट् पं० ओंकार नाथ जी की शिष्या थीं जिन्होंने उन्हें सङ्गीतशास्त्रोद्धार में प्रेरित किया था। **बहिनजी की 'व्युत्पत्ति' दोनों क्षेत्रों में परिपुष्ट थी। यही कारण था कि वे कलाकारों की भी न्यूनता को दूर करने में सर्वदा तत्पर रहती थीं।**

बहिनजी ने सङ्गीतशास्त्र के मूल ग्रन्थों का अनुशीलन बहुत ही परिश्रम से शास्त्रीय पद्धति से किया एवं अनेकानेक छात्रों को इसी प्रकार ग्रन्थों को पढ़ाया, उनमें पढ़ने और शोध की वृत्ति जगाई। ऐसे उनके प्राय: सभी छात्र आज विभिन्न विश्वविद्यालयों में प्राध्यापक, विभागाध्यक्ष, शोध-निर्देशक, 'वाइसचांसलर' तक के पदों पर प्रतिष्ठित एवं बड़ी निष्ठा से कार्य-रत हैं। अनेकों विदेशी विद्वान् भी उनसे अध्ययन के लिये आते रहे; वे सभी बड़े आदर से उन्हें अपनी 'गुरु' मानते हैं।

ऐसी विदुषी बहिनजी जीवन में बहुत ही स्नेहमयी कर्मयोगिनी तपस्विनी थीं। उनके इतने शीघ्र दिवङ्गत हो जाने से केवल सङ्गीतजगत् की ही नहीं संस्कृत-साहित्य-जगत् की भी अपूरणीय क्षति हुई है। विधि का विधान अकाट्य है, यही समझकर सन्तोष करना पड़ता है।

—गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर

★★★

.११.

गुरुबहन प्रेमलता शर्मा

—पं बलवन्तराय भट्ट

वीणा-पुस्तक-धारिणी माता सरस्वती की सुमधुर प्रसादस्वरूपा मेरी प्रिय गुरुबहन विदुषी डॉ० प्रेमलता शर्मा का स्मरण अनायास ही लगभग पिछली अर्धशताब्दी की कालावधि की स्मृतियों को जगा देने वाला है। मैं अपने आप को अत्यन्त गौरवान्वित समझता हूँ कि अपने गुरुजी सङ्गीतमार्तण्ड पं० ओम्कारनाथजी ठाकुर की शिष्य-परम्परा में बहन सुश्री प्रेमलताजी को उनकी सर्वाधिक योग्यता के साथ सम्मिलित कर सका, सुप्रतिष्ठित कर सका जिसके कारण पण्डितजी के शिष्य परिवार में संगीत सम्बन्धी संस्कृत ग्रन्थों के अध्ययन की परम्परा सुनिश्चित हुई।

बहन प्रेमलता जी से मेरी सर्वप्रथम भेंट सन् १९५१ में हुई। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के रुइया हॉस्टल के ऊपरी कक्ष में मैं श्री कला संगीत भारती की कक्षाएँ ले रहा था। वहीं प्रेमलताजी आईं, 'मास्टर साहब नमस्ते' कह कर बैठ गईं। मैंने कहा—'मुझे यहाँ सब भैयाजी कह कर बुलाते हैं, आप भी वही कहिये।' उस दिन से हमारा भाई-बहन का सम्बन्ध उनके जीवन-पर्यन्त बना रहा।

प्रारम्भ में बहन मेरी कक्षा में रुइया हॉस्टल में ही सङ्गीत सीखती थीं, साथ ही संस्कृत-विभाग में शोधकार्य कर रहीं थीं। एक दिन एक छात्र को कुछ प्रार्थनापत्र देना था। प्रेमलताजी ने तुरन्त बड़ी सधी भाषा में लिखकर मुझे सुनाया। उसी दिन मैंने भाषा पर उनकी पकड़ को पहचान लिया और गुरुजी से इस नयी छात्रा के बारे में बताया, जो संगीत के साथ संस्कृत और हिन्दी की अच्छी जानकार थीं। साथ ही सुझाव दिया कि आपके ग्रन्थलेखन के कार्य में यह अवश्य सहायक होंगी। फिर मैंने बहन से कहा कि आप महिला महाविद्यालय में—जहाँ गुरुजी छात्राओं की कक्षा लेते हैं—सीखें, तो अपने कण्ठ स्वर से गा सकेंगी, और इसके साथ अपने पढ़ने-लिखने का समय देखकर कुछ समय गुरुजी के लेखन-कार्य में देने की बात कही। इस तरह गुरुजी के साथ लेखन-कार्य प्रारम्भ हुआ और सङ्गीताञ्जलि के दूसरे से छठवें भाग (शास्त्र व क्रियात्मक) तथा 'प्रणवभारती' (शास्त्रग्रन्थ) का प्रणयन हुआ। सङ्गीताञ्जलि का पहला भाग गुरुजी के काशी आगमन के पूर्व बम्बई में प्रकाशित हो चुका था।

हमारे दादागुरु संगीतोद्धारक पं० विष्णु दिगंबरजी ने अपने विद्यालय में विद्यार्थियों को संस्कृत सिखाने के लिये पं० भिडे शास्त्री को रखा था। उन्हीं से हमारे गुरुजी ने संस्कृत पढ़ी थी। वही परम्परा प्रेमलताजी के यहाँ आने से पल्लवित पुष्पित हुई।

'श्री-कला-संगीत-भारती' आगे चलकर 'संगीत एवं ललितकला महाविद्यालय' फिर 'संगीत एवं ललितकला संकाय' तथा बाद में दो स्वतन्त्र संकायों 'संगीत एवं मंचकला संकाय' तथा 'दृश्यकला संकाय' के रूप में विकसित हुई, प्रतिष्ठित हुई। संगीत महाविद्यालय में गायन और वादन विभाग के अतिरिक्त **संगीतशास्त्र विभाग की स्थापना भारतीय-संगीत-जगत् के लिये ऐतिहासिक महत्त्व की घटना थी।** का०हि०वि०वि० के तत्कालीन कुलपति न्यायमूर्ति श्री नटवरलाल हीरालाल भगवतीजी ने इस विभाग की स्थापना कर अत्यन्त प्रशंसनीय और अभूतपूर्व उदाहरण सामने रखा। मेरे लिये अत्यन्त आत्मीय गौरव का विषय है कि जिन प्रेमलताबहन को मैंने कुछ सङ्गीत सिखाया, तबला-सङ्गत कर अभ्यास करवाया इतना ही नहीं—संगीतशास्त्र विभाग की प्राध्यापिका पद के लिये उनके प्रथम साक्षात्कार में भी तबला बजाया, वही आगे चल कर विभागाध्यक्ष बनीं, प्रोफेसर और

संकायप्रमुख बनीं। इससे भी आगे इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय-खैरागढ़ की कुलपति और केन्द्रीय सङ्गीत नाटक अकादमी की उपाध्यक्षा जैसे देश के अत्यन्त प्रतिष्ठित तथा उत्तरदायित्वपूर्ण पदों का सम्मान बढ़ाया। **बड़े भाई के रूप में, छोटी बहन का यह उत्कर्ष तथा मान-सम्मान देख पाना मेरे लिये अत्यधिक आनन्दकारी रहा।**

मेरी अपनी सांगीतिक रचनाओं का प्रारम्भ एक विद्यार्थी की आवश्यकता से हुआ। उसे अपने परिजनों के बीच गाना था, परन्तु वह जो गाना चाहता था उसके शब्द पिताजी को पसन्द नहीं थे। अतः थोडी झिझक के साथ प्रयत्न करने पर एक बंदिश बन गई। बाद में उसे कई गुणीजनों ने सराहा। यह वाराणसी-आगमन के पहले सूरत शहर की घटना है। उसी प्रकार वाराणसी में श्री कला संगीत भारती की स्थापना के साथ यहीं निवास हो जाने के बाद किसी न किसी कारण से रचनाएँ बनतीं गई और यह क्रम चलता रहा। किसी को परीक्षा के लिये, कभी प्रतियोगिता के लिये, तो किसी खास राग की चुनौती के लिये या कभी खास ताल की बन्दिश के लिये। इस प्रकार जब कुछ संख्या में रचनाएँ बन गईं तो उन्हें छपवाने का विचार हुआ। उसकी तैयारी के बाद लेखकीय निवेदन लिखकर सोचा कि एक बार बहनजी को दिखा दिया जाए। वह स्वयं अच्छा लिखती हैं, अवश्य कुछ उपयोगी सुझाव देंगी। पर मेरा लिखवाया हुआ निवेदन पढ़कर वे बड़ी प्रसन्न हो कर बोलीं कि यह इतना सुगठित और सुव्यवस्थित है कि दसमें एक 'कॉमा' भी बदलने की जरूरत नहीं। इतना ही नहीं अपितु पुस्तक (भावरंग-लहरी भाग-१) की प्रकृति (रचनाओं का संग्रह) के सर्वथा अनुरूप अपना सारगर्भित लेख 'प्रबन्ध : एक शास्त्रीय अध्ययन' भी साथ में छापने के लिये दिया तथा आगे चलकर भावरंग-लहरी द्वितीय भाग के लिये भी 'सङ्गीत में निबद्ध और अनिबद्ध' लेख लिखा।

वर्ष १८७८ में वृन्दावन धाम में प्रथम 'ध्रुपदमेला' के आयोजन के अवसर पर बहनजी ने उद्घाटन समारोह में मुझे मंगलाचरण करने का आग्रह किया। वृन्दावन धाम के माहात्म्य को ध्यान में रखकर मैंने 'श्रीराधा' की स्तुति में 'रासरमणी राधिका, मधुर स्नेह साधिका' यह पद बनाया। रागेश्री और चौताल में निबद्ध यह ध्रुपद प्राचीन परम्परा के अनुसार स्थायी अन्तरा-सञ्चारी और आभोग सहित बनाया और मेरे नेतृत्व में ही सङ्गीत संकाय के छात्र-छात्राओं ने गाया। बहनजी समेत सभी माननीय विद्वान् अतिथियों और संगीतज्ञों ने उसकी प्रसंशा की थी।

सङ्गीत महाविद्यालय में साथ-साथ काम करते हुए और उसके अतिरिक्त भी मेरे और प्रेमबहन के बीच वार्तालाप का विषय प्रायः सङ्गीत-साहित्य-भाषा-दर्शन आदि से सम्बन्धित होता था। रुचि की समानता के कारण आपस में एक-दूसरे के घर आना-जाना भी होता था। हमारे परिवारजनों तथा अन्य परिचितों ने भी उन्हें मेरी तरह ही अपना लिया था। मेरी स्कूली शिक्षा के समय से मेरे अभिभावक स्वरूप हितैषी रहे ज्ञाति स्वजन श्री जयकृष्ण हरिलाल भट्ट उर्फ नकुभाई के घर मुंबई में बहन प्रेमलताजी एक बार गईं थीं, पर वे आजीवन अपने प्रत्येक पत्र में—चाहे लिफाफे के भीतर विस्तृत पत्र हो, चाहे अन्तर्देशीय हो या छोटा सा पोस्टकार्ड ही हो, 'सुज्ञश्री प्रेमीबहन' (नकुभाई उन्हें इसी नाम से सम्बोधित करते थे) को आशीर्वाद लिखना नहीं भूले थे। व्यक्ति के आसपास के लोगों से ही व्यक्ति की पहचान बनती है—यह कहते हुए नकुभाई प्रायः प्रेमबहन को याद करते थे कि 'प्रेमीबहन' जैसी विदुषी का आपके साथ होना ही इस बात का प्रमाण है कि आपकी रुचियाँ और कार्य उच्चकोटि के हैं।

इतना ही नहीं, मेरे पूज्य पिताश्री श्री गुलाबराय भट्ट, जब मई १९६६ में मेरे छोटे भाई श्री ललितकुमार के विवाह के बाद उनकी नयी गृहस्थी देखने गुजरात से धनबाद जाते समय तीन दिन मेरे पास वाराणसी में ठहरे थे, तब घर पहुँचकर बोले-काशी में मुझे केवल प्रेमबहन से मिलना है। बहनजी के घर जाकर, उनसे मिलकर वे अत्यन्त प्रसन्न और सन्तुष्ट हुए। संयोग कहें या दुर्योग-उनकी वह यात्रा ही काशी का अन्तिम प्रवास बन गई, जून १९६६ में अवसान के बाद स्वर्गीय पिताजी का पार्थिव देह ही धनबाद से काशी आया। मुझे इतना ही सन्तोष हुआ कि मेरे बापूजी अन्त-अन्त में सही प्रेमबहन के घर जाकर मिल आये और बहनजी को भी अपने 'भैयाजी' के पिताजी से परिचय का, बातचीत का अवसर मिला।

भरत-नाट्यशास्त्र में वर्णित सङ्गीत-सम्बन्धी अंशों पर गहन मनन-चिन्तन के उपरान्त बहनजी उनका प्रत्यक्ष प्रयोग करना चाहती थीं। इसका अत्यन्त उपयुक्त अवसर तब आया जब उज्जैन के कालिदास समारोह में काशी हिन्दूविश्वविद्यालय की ओर से कालिदास-रचित 'मालविकाग्निमित्रम्' को संस्कृत में ही मञ्चित करने का संयोग आ पहुँचा। विशेषतः 'पूर्वरङ्ग' के सङ्गीत को जानने-समझने और तदनुसार गायन-वादन-नर्तन को संयोजित करने का उनका सत्प्रयास अत्यन्त प्रेरक और उत्साहवर्धक

रहा; उज्जैन और बाद में वाराणसी में पूरी नाट्य -प्रस्तुति बहुत प्रशंसित हुई। इसी प्रसंग में संस्कृत-नाट्य-मञ्चन के लिए एक संस्था बनाने का विचार आया तो संस्था के नामकरण के लिये बहनजी मुझसे सलाह लेने आईं। मैंने कहा कि आप जो भी नाम रखें उसमें 'भारती' शब्द अवश्य रखिये, सो संस्था का नाम **'अभिनय-भारती'** रखा गया। कुछ वर्षों बाद 'अभिनय-भारती' की ओर से भवभूति के संस्कृत नाटक 'उत्तररामचरितम्' का लखनऊ में मंचन होने वाला था, उस नाटक में हमारी सभी सन्तानं भाग ले रहीं थीं अतः हम माता-पिता भी वहाँ गये थे। 'रवीन्द्रालय' में मुझे जब पहली पंक्ति में बैठा रहे थे तो मैंने कहा कि आपके कोई विशेष सम्मानित अतिथि आएंगे तो उनके लिये आगे स्थान सुरक्षित रखिये, हम लोग पीछे बैठ जाएंगे। यह सुनकर प्रेमबहन फौरन बोलीं कि भैयाजी! आपसे बड़ा यहाँ कौन आएगा और आग्रहपूर्वक हम दोनों को अग्रपंक्ति में बैठाया। जब कभी एक साथ प्रवास का अवसर हुआ तो यात्रा के दौरान पुस्तकें पढ़कर सुनाती थीं। अलग से कभी यात्रा अथवा सेमिनार में जाते समय पहले उसकी योजना बतातीं और लौट कर उसका वर्णन भी जरूर सुनातीं।

अपने अन्तरंग सहयोगी महादेवभाई देसाई की मृत्यु के समाचार सुनकर गांधीजी बोल पड़े थे 'मुझसे पूछता तो मैं जाने न देता।' उस दिन मेरी अत्यन्त प्रिय गुरुबहन के पार्थिव शरीर के पास पहुँचते ही **अनायास मेरे मुँह से यही निकल पड़ा— 'बहन! मुझसे पूछे बिना, मुझे बताये बिना इतनी लम्बी यात्रा पर कैसे चली गईं? मुझसे पहले क्यों चली गई?' पर काल से बड़ा डकैत कौन है?** वह कभी किसी के पूछने-बताने की राह नहीं देखता यही परम सत्य है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

—बलवन्तराय भट्ट

★★★

.१२.

डॉ० प्रेमलता शर्मा—''बहनजी''

—श्रीमती वसुन्धरा भट्ट

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में १८५० की १८ अगस्त-शनिवार के दिन 'श्री कला-संगीत भारती' के नाम से स्वतंत्र संगीत विद्यालय की स्थापना हुई। विद्यालय का अपना भवन न होने से तात्कालिक रूप से छात्रों के लिये रुइया हॉस्टल की छत पर कुछ कमरों में व्यवस्था की गई थी। छात्राओं के लिये विमेन्स कॉलेज (अब महिला महाविद्यालय) के माकनजी खटाऊ हॉस्टल के कॉमन रूम में कक्षाएँ चलती थीं। स्वयं प्रिंसिपल, सङ्गीत-सम्राट् पं० ओम्कानाथजी ठाकुर क्लास लेते थे। मालती अग्रवाल, सौ० विभा मालवीय शर्मा, सत्या मालवीय (दोनों तत्कालीन कुलपति पं० गोविन्द मालवीय की पुत्रियाँ), सौ० शारदामणि गुप्ता की कक्षा में मथुरा से एक नयी छात्रा आईं—प्रेमलता शर्मा। हिन्दी तथा संस्कृत में एम०ए० करके, संस्कृत शोधछात्रा के रूप में आई थीं। कुछ संगीत सीखा था और उसे आगे बढ़ाने की इच्छा थी।

श्री कला संगीत भारती के दूसरे अध्यापक श्री बलवन्तराय भट्ट थे। एक बार कुछ छात्राओं ने उन्हें 'गुरुजी' कहकर पुकारा, तो उन्होंने विनय से कहा कि हम सब एक गुरु के शिष्य हैं। अत: परस्पर भाई-बहन हो सकते हैं। हमारे यहाँ गुजरात में लोग नाम के साथ भाई कहते हैं। छात्राओं ने कहा ''हम बड़ों का नाम नहीं लेते और बड़ों को भैया कहा जाता है। हम आपको भैयाजी कहेंगे।'' तब से पं० ओम्कारनाथजी 'गुरुजी' और भट्टजी 'भैयाजी' हो गये। जब प्रेमलताजी का कॉलेज में आना हुआ, वे भी भैयाजी की बहन बन गई, और उस समय की विद्यार्थिनियों में उम्र में बड़ी होने से 'बहनजी'। 'भैयाजी' और 'बहनजी' का यह नाता अन्त तक बना रहा।

यह वह समय था जब छात्राओं को तीन की संख्या में इकट्ठे हुए बिना युनिवर्सिटी के बाहर पास के 'लंका बाजार' में भी जाना मना था। केवल शोध-छात्राएँ बड़ी होने के कारण अकेले जा सकती थीं। **प्रेमलताजी बहुत मेहनती थीं। बड़ी सुबह उठकर, शहर के महमूरगंज स्थित 'पाणिनि विद्यालय' में पं० जिज्ञासु जी के पास सायकिल से आतीं-जातीं। दोपहर को संस्कृत कॉलेज और शाम को संगीत विद्यालय। इस दौड़-धूप के उपरान्त भी लोगों की मदद में तत्पर रहतीं।** एक बार एक नेत्रहीन भाई को कुछ प्रार्थनापत्र लिखवाना था, इन्होंने तुरन्त लिख दिया और भैयाजी को सुनाया। इस व्यवहार और उनकी लिखित भाषा से भैयाजी बड़े प्रभावित हुए। उन्होंने गुरुजी से कहा कि अगर ये बहन कुछ समय निकाल सकें तो 'संगीताञ्जलि' का काम आगे बढ़ सकता है। गुरुजी 'संगीताञ्जलि' नाम से पुस्तकमालिका बनाना चाह रहे थे, और उसका एक भाग पहले प्रकाशित हो चुका था। बहनजी ने धीरे-धीरे समय देकर शिष्यत्व के साथ पुस्तक-लेखन में सहयोग देना प्रारम्भ किया। संगीतांजलि के क्रमश: दो से लेकर छ: तक भाग प्रकाशित हुए। उसमें रागों के सुर-ताल के अतिरिक्त शास्त्रीय जानकारी का भी समावेश हुआ। गुरुजी ने बचपन में गुरुगृह में थोड़ी संस्कृत सीखी थी और अपनी लगन से कुछ शास्त्र ग्रन्थ भी पढ़े थे। अब बहनजी के रूप में शुद्ध संस्कृत की विदुषी और साथ में सङ्गीत की भी जानकार सहयोगी मिल जाने से सङ्गीत-शास्त्र के अधिकाधिक अध्ययन और अन्वेषण की रुचि बढ़ चली। अध्ययन-मनन-चिन्तन के परिणाम-स्वरूप 'प्रणवभारती' प्रथम भाग का प्रणयन हुआ। खेद है कि पुन:-पुन: चर्चा विचारणा के कारण समय का अभाव होने लगा और गुरुजी के भरुच चले जाने, फिर लंबी बीमारी और देहावसान के कारण अगले दो भाग जनता के सामने न आ सके।

मेरा और बहनजी का हॉस्टल का साथ करीब एक वर्ष रहा। दुबारा जब मैं बनारस आई तब हमारा सम्बन्ध ननद-भौजाई का हो गया था। हमारे परस्पर सम्बोधन 'बहनजी' और 'भाभी' हो गए। कालप्रवाह में हमारे बच्चे हुए, उन्होंने बहनजी को 'बुआजी' कहना शुरु किया। मेरे मन में एक शब्द था—'मौसीबुआ', क्योंकि हॉस्टल में हम आपस में बहनें थीं। इसलिये उन्हें 'मौसी' भी कह सकते थे और बाद के नाते से 'बुआ'। खैर प्रचार 'बुआजी' का हुआ और हमारे बच्चों के चलते बाद के अनेक विद्यार्थियों में भी वे बुआजी हो गईं।

बहनजी ने गायन में एम०म्यूज० के लिये ध्रुपद विद्या में क्लिष्ट लयकारी का जो अभ्यास किया था, उसके साक्षी भैयाजी हैं। क्योंकि अभ्यास व परीक्षा में भी उन्होंने तबला संगत की थी। 'समानशीलव्यसनेषु सख्यम्'। कस्तूरबा हॉस्टल के बगलवाली लेडीज़ कॉलनी में पास-पास घर मिलने के कारण वह संभव भी था। इसके बाद वह शास्त्र-ज्ञान की ओर बढ़ती गईं, कॉलेज में 'शास्त्र-विभाग' खुला, बहनजी अध्यक्षा बनीं, आगे-आगे बढ़ती गईं। सङ्गीत शास्त्री के रूप में उनका नाम बढ़ चला, देश-विदेश के दौरे भी बढ़ चले। उनके विद्यार्थियों में डॉ० सुभद्रा चौधरी, डॉ० एन० रामनाथन्, डॉ० इन्द्राणी चक्रवर्ती, डॉ० तेजसिंह टाक, डॉ० अनिल ब्योहार डॉ० सुधाकर भट आदि के नाम मैं जानती हूँ क्योंकि यदा-कदा ये लोग हमारे यहाँ आते थे। और भी अनेकों देशी-विदेशी शिष्य-शिष्याओं से उनका परिवार बढ़ता रहा।

सन् १८५७ में गुरुजी की हीरक जयन्ती मनाई गई। उन दिनों पेंटिंग और मूर्तिकला भी कॉलेज के विभाग थे और कॉलेज का नाम 'कॉलेज ऑफ म्यूज़िक एन्ड फाइन आर्ट्स' अंग्रेजी में और 'सङ्गीत एवं ललितकला महाविद्यालय' हिन्दी में था। कला विभाग में पं० जगन्नाथ अहिवासी, गायन-वादन विभाग से श्री बलवन्तराय भट्ट और शास्त्रविभाग से डॉ० प्रेमलता शर्मा ने बीड़ा उठाया था। तीन दिन का भव्य कार्यक्रम का०हि०वि०वि० की व्यायामशाला 'शिवाजी हॉल' में हुआ था। गुरुजी को बड़ा सा ताम्रपत्र दिया गया, जिसका लेखन प्रेमलताजी ने किया था और साथ ही गुरुजी की जीवनी, मान-सम्मान आदि पर लिखी स्मारिका भी निकाली थी। निवृत्त होकर गुरुजी कुछ दिन लंका स्थित एक मकान किराये पर लेकर रहे। १९६५ में वे अपने मूलस्थान भरुच गये और फिर वापस वाराणसी नहीं आ सके।

हमारे बच्चों से बहनजी को बहुत प्यार था। जब भी कभी बाहर जातीं, कुछ न कुछ ले आतीं। एक के अंदर एक चार गुड़ियाओं का सेट रशिया से तो छोटी ट्रक व फुदकने वाली चिड़िया अमेरिका से तो मुंडु-वेष्टि वस्त्र केरल से लाई थीं। संस्कृत श्लोक, स्तोत्र या अन्यान्य गाने सुनाने पर गीताप्रेस वाली चित्र-पुस्तिका तो अनेक बार दी थी। खाने-पीने की जितनी शौकीन, बनाने में भी उतनी ही सिद्धहस्त और उत्साही। एक बार बढ़िया हलुआ बनाया और कढ़ाही के कानों में (हैंडिल में) बड़ा झरा फँसा कर, उसी को हैंडिल की तरह पकड़ कर पूरी कड़ाही हमारे घर। मैं तो झारे के हैंडल की कल्पना पर ही खुश हो गई। एक बार दो फुट ब्यास का तरबूज ले आईं और फिर बच्चों की वो पार्टी हुई कि न पूछें बात!

प्रेमबहन बहुभाषाज्ञानी थीं। पंजाबी तो मातृभाषा थी। देशभाषा हिन्दी, शिक्षाभाषा संस्कृत, विश्वभाषा अंग्रेजी के अलावा मथुरा और बंगालवास के कारण ब्रजभाषा और बंगाली भी बहुत अच्छी आती थी। संगीत में पं० भातखंडे जी की क्रमिक पुस्तक-मानिका पढ़कर समझने भर की मराठी भी आती थी। गुरुजी और भैयाजी के सम्पर्क से गुजराती से भी परिचय हो गया था। अपने पिताजी के संस्कारों से उन्हें अरबी-फारसी का ज्ञान भी कुछ था ही क्योंकि पू० पिताजी इन भाषाओं के अच्छे जानकार थे।

बहनजी ने अपने माँ-पिताजी तथा संस्कृत और सङ्गीत के गुरुओं की स्मृति में न्यास '**भरतनिधि**' की स्थापना की थी, ताकि उन विषयों से सम्बन्धित काम कर सकें। इसके पहले '**अभिनय भारती**' के नाम से जो संस्था खोली थी, उसके द्वारा मित्रों और विद्यार्थियों की मदद से मालविकाग्निमित्रम्, उत्तररामचरितम् और मुद्राराक्षसम् इन संस्कृत नाटकों का भरत-नाट्यशास्त्रोक्त विधि से मंचन कराया। प्रो० सी०वी० चन्द्रशेखर, श्रीमती जया चन्द्रशेखर, प्रो० कमलेशदत्त त्रिपाठी, प्रो० विश्वनाथ भट्टाचार्य, डॉ० कपिलदेव पाण्डेय, श्री बी०वी० पाटेकर, डॉ० युगलकिशोर मिश्र, डॉ० सुरेश भृगुवार, श्री कृष्णकान्त शर्मा, श्री मनुदेव भट्टाचार्य एवं छोटी बहन ऊर्मिला शर्मा आदि ने प्रत्यक्ष मंच पर सहयोग दिया था। हमारे सभी बच्चे भी अपनी 'बुआजी' के इस आयोजन में सहभागी थे। उत्तररामचरितम् में तो सभी बच्चे एक साथ ही मंच पर थे। मंचसज्जा का जिम्मा श्री वासुदेव स्मार्त ने चि० रविकुमार

पर्वतकर को साथ लेकर निभाया। नाट्याभ्यास के समय सबके नाश्ते-पानी की व्यवस्था बहन उर्मिला और सौ० विमला मुसलगाँवकर के जिम्मे थी, जिन्हें सब स्नेह से 'अन्नपूर्णा' कहते थे। इतना ही नहीं **बहनजी के संङ्गीतशास्त्र विभाग के सभी लोग किसी न किसी काम में जुटे हुए थे। 'अभिनय भारती' का यह 'संयुक्त परिवार' बड़ा अनोखा और विशिष्ट था।**

बहनजी के दिवंगत होने के बाद गतवर्ष उनकी स्मृति में 'ऊरुभंगम्' संस्कृत नाटक का नृत्य मंचन किया गया, उस समय दिग्दर्शक श्री प्रेमचन्द होम्बल ने भी बहनजी की सिखाई विद्या का पूरा अनुसरण किया था। और इसी वर्ष ज्ञानप्रवाह में 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' का नाटक-मञ्चन बहनजी के ही प्रशिक्षित पथ पर उनके वर्तमान उत्तराधिकारियों ने मिलकर उनके दिव्य आशीर्वाद का अनुभव करते हुए किया।

तीन वर्ष खैरागढ़ युनिवर्सिटी में वाइसचांसलर का पद सुशोभित करके, निवृत्त होते ही बहनजी ने का०हि०वि०वि० के बाहर, पास ही करौंदी ग्राम में अपना मकान खरीद लिया-संगीत और शास्त्र की सेवा चालू रही। कई मान-सम्मानों से विभूषित हुई। अनेक उच्च पदों को अलंकृत करने वाली बहनजी निरंतर काम के कारण धीरे-धीरे शिथिल होने लगीं पर काम न छोड़ा। बहन ऊर्मिला भी १९८९ से पुनः उनके पास आ गयी थी, सहयोग में जुटी थी। लेकिन अंत में प्रबल काल का जाल 'बहनजी' को हमसे दूर ले ही गया।

इन सारी यादों को चुभलाते हुए दिन व्यतीत करना, बस यही अपने बस में है। हरि इच्छा।

—श्रीमती वसुन्धरा भट्ट

(पूज्या स्नेहमयी ''भाभीजी'')



.१३.

आदरणीया बहिन प्रेमलताजी के प्रति

*—डॉ० कैलाशचन्द्र गंगराडे**

१९६३ में का०हि०वि०वि० के इन्स्टिट्यूट ऑफ मेडिकल सायन्सेस के शरीर-शास्त्र विभाग में रीडर नियुक्त होकर मैं बनारस आया। सितार-वादन में बचपन से ही रुचि थी। अत: उसमें और आगे प्रगति की इच्छा से संङ्गीत महाविद्यालय में M. Mus. की कक्षा में प्रवेश प्राप्त कर लिया। आ० बहिनजी हमें शास्त्र (Theory) पढ़ाती थीं, तभी से उनके निकट-सम्पर्क में आया और यह सामीप्य अन्त तक बना रहा।

बहिनजी का कार्यक्षेत्र एवं सम्पर्कक्षेत्र विशाल था। सङ्गीतशास्त्र, शास्त्रीय गायन, लोक-कलायें अंग्रेजी, संस्कृत, हिन्दी व अन्य भारतीय भाषाओं पर अधिकार, अध्यात्म, दर्शन शास्त्र इत्यादि विषयों का गहन अध्ययन और उनमें दूर तक गति होने के कारण वे केवल एक विषय की शिक्षिका नहीं अपितु स्वयं एक गरिमामय संस्था (Institution) थीं। उनके सम्पर्क में आने वाले सभी लोग उनके बहु-आयामी ज्ञान व उनके सौहार्द्र से प्रभावित थे।

१९७० में संगीत महाविद्यालय में ही वाद्य संगीत विभाग के रीडर के पद पर मेरी नियुक्ति हो गई। एक ही संस्था में संलग्न होने से साथ-साथ काम करने का डौल बन गया। यद्यपि उम्र में वे मुझसे लगभग छ: वर्ष बड़ी थीं परन्तु ज्ञान में इतनी आगे थीं कि मैं हमेशा उनका 'शिष्य' ही बना रहा। इसके सिवा किसी भी कठिनाई में, चाहे संस्थागत हो, चाहे व्यक्तिगत या परिवार की, वे उचित सलाह व सहायता के लिए सदा तत्पर थीं।

उनके निर्देशन में मैंने कुछ शोध-कार्य प्रारम्भ किए लेकिन अपनी कमियों के कारण उन्हें पूर्ण नहीं कर पाया।

सर्वप्रथम नाट्य शास्त्र का अध्ययन प्रारम्भ किया। लगभग डेढ़-दो घंटे प्रतिदिन वे मूल नाट्य शास्त्र ग्रन्थ अक्षरश: समझाती व व्याख्या करती थीं। यह क्रम कई महीने चला। संस्कृत व्याकरण के लिए मैं अलग से उनकी छोटी बहिन डॉ ऊर्मिला शर्मा के पास भी लगभग घंटा भर रोज अध्ययन करता था। इसके सिवाय उन्हीं की सलाह से पं० रतिनाथजी झा से संस्कृत साहित्य भी पढ़ता था। इस सब व्यवस्था से मेरा ज्ञान-वर्धन अवश्य हुआ, परन्तु सचमुच का शोधकार्य मुझसे नहीं बन पाया। मैं केवल अपनी जमीन बनाता ही रह गया।

कुछ समय बाद उन्हीं के मार्गदर्शन में सितार वादन में 'बैठक' व वादन क्रिया के विभिन्न movements यथा अंगुली चालन, वाम एवं दक्षिण हस्त व कंधों, कलाइयों इत्यादि के चलन-चालन में भिन्न-भिन्न मांसपेशियों व उनके समूहों के योगदान पर शोध Electromyography द्वारा करना प्रारम्भ किया, लेकिन कुछ महीनों बाद ही प्रयोगशालाओं में कार्य की कठिनाई के कारण बन्द कर देना पड़ा। ....और भी बाद में वर्तमान रागों का मूल भूतकाल में कहाँ तक खोजा जा सकता है—इसे देखने

---

* मूलत: चिकित्साशास्त्र-क्षेत्रीय होते हुए भी स्वान्त: सुखाय संगीतकला को अपनाने वाले, प्रकृति से अतीव सरल एवं परोपकार-परायण, "**डॉक्टर साहब**" इसी नाम से अपने निजी कुटुम्ब, मित्र एवं शिष्यादि सब से सम्बोधित हमारे प्रति तो बड़े सगे भाई जैसे ही सदा सम्बद्ध रहे प्रत्येक दु:ख-सुख में सहयोगी रहे; स्वान्त: सुखाय ही कला-साधना (सितार-वादन में श्री बलराम पाठक एवं श्रीमती अन्नपूर्णा-शंङ्कर के शिष्य-वत्) सतत बनाये रखी गुण-विकास आदर्श स्तर तक हुआ, किन्तु घनिष्ठ मित्रों के सिवा, मञ्च पर प्रदर्शन में प्रवृत्त नहीं हुए। —ऊर्मिला

के लिए मध्यकाल में प्रणीत लगभग २५ संस्कृत ग्रन्थ बहिनजी की सहायता से पढ़े लेकिन बनारस छोड़ कर बम्बई चले आने से वह कार्य भी अधूरा रह गया। बहिनजी के 'पढ़ाने' से शास्त्रों की समझ बहुत कुछ बढ़ी इसी का मुझे सन्तोष है।

समय-समय पर मंचकला संकाय के लिए बहिनजी द्वारा आयोजित गोष्ठियों में अखिल भारतीय स्तर के विद्वान् भाग लेते रहे। उनके विषय-निर्धारण में वे सलाह-मशविरा लेती अवश्य थीं, परन्तु ऐसा लगता था कि शास्त्र सम्बन्धी कोई भी ऐसी ग्रन्थि नहीं थी जिसपर उन्होंने विस्तार से विचार न किया हो और न बाद में ऐसा लगा कि किसी ने उससे आगे कुछ कहा।

भाषा पर तो उनका अधिकार था ही—चाहे हिन्दी में चाहे अंग्रेजी में—जब भी किसी विषय की विवेचना करती थीं तो उनकी वाग्धारा एवं उनका प्रकाण्ड पाण्डित्य मन मष्तिष्क पर छा जाता था।

बहिनजी के निधन से लगा कि भारतीय संगीत-शास्त्र के ज्ञान की मूर्धन्य ज्योति विलीन हो गई।

—कैलाश गंगराडे

★★★



.१४.

"बहनजी"

—डॉ० भानुशंकर मेहता

डॉ० प्रेमलता शर्मा जिन्हें हम बहनजी के नाम से जानते थे, का पहला दर्शन मैंने सङ्गीत कक्षा की प्रसिद्ध संस्था सङ्गीत परिषद् के तृतीय वसंतोत्सव में किया। काशी के टाऊनहाल मैदान में यह संगीत सम्मेलन सन् १९६० में ३ से ७ फरवरी तक हुआ था और पहली संध्या का पहला कार्यक्रम था डॉ० प्रेमलता शर्मा का गायन। संगीत मार्तण्ड पं० ओंकारनाथ ठाकुर वहाँ उपस्थित थे और शायद उन्हीं के कहने से यह कार्यक्रम आयोजित किया गया था। उस कार्यक्रम में बहनजी ने भारतीय सङ्गीत के कुछ जटिलतम तालों का प्रदर्शन किया। ठुमरी सुनने और नृत्य देखने, सम पर वाहवाह करने वाले श्रोताओं ने इस कार्यक्रम में विशेष रुचि नहीं ली पर **संगीत के गुणी श्रोताओं को सुखद आश्चर्य हुआ कि इन्हें गायिका कहा जाय या विदुषी!** उस कार्यक्रम में **तबले पर संगति पं० किशनमहाराज और उस्ताद अल्लारक्खा खां कर रहे थे** और इसी से कार्यक्रम का महत्त्व समझा जा सकता है।

फिर तो क्रमशः परिचय बढ़ता गया। काशी हिन्दू वि० विद्यालय में विदेशी छात्रावास के पास गुजरात भवन है। वहाँ पहले 'कर्नाटक संङ्गीत' विभाग था पर वहीं संगीतशास्त्र विभाग भी बन गया। बहनजी वहाँ शास्त्र के गंभीर अध्ययन संगीत शास्त्र में शोध का कार्य संपादित कर रही थीं, वहीं संस्कृत में लिखे दुर्लभ संगीत के ग्रन्थों का पाठ भी होता था। संगीत महाविद्यालय में एक मजाक चलता था कि हमलोग सङ्गीत गाते हैं, वे सङ्गीत पढ़ाती हैं।

पंडित ओंकारनाथजी ने मुझे बताया था कि प्रेमलता संस्कृत की विद्वान है, पंजाब से आयी हैं और कई भाषाएं ब्रज, मैथिली, अवधी, अरबी फारसी, उर्दू, बांग्ला, मराठी, गुजराती के साथ ही ओड़िया, असमी और तेलगु भाषा से अल्प परिचय है। **पंजाबी तो उनकी मातृभाषा ही थी और हिंदी अंग्रेजी तथा संस्कृत की वे पंडिता थीं।**

सन् १९५१ में वे संस्कृत की शोध छात्रा बनी और 'रसशास्त्र तथा गौड़ीय वैष्णव दर्शन का विशेष अध्ययन' करके डाक्टरेट प्राप्त की। उनका अपना पारिवारिक सम्प्रदाय 'गौड़ीय वैष्णव' था। काशी में पं० ओंकारनाथ ठाकुर ने संगीत विद्यालय स्थापित किया तो वे उसकी पहली छात्रा बनी (१९५०)। संङ्गीत के साथ ही संस्कृत का भी विशेष अध्ययन करने लगी। काशी में उन्हें महान विद्वानों और संतों तथा पं० गोपीनाथ कविराज का आशीर्वाद मिला। सन् १९५५ में वे संस्कृत के साथ संगीत शास्त्र में रुचि लेने लगीं। वे अच्छा गाती थीं जैसा आरंभ में कहा कि संगीत परिषद् में कार्यक्रम दिए, सन् १९६१ में कलकत्ता की सदारंग म्यूजिक कान्फरेंस में भी कार्यक्रम दिया। यह ध्रुपद गायन था जिसकी भूरि-भूरि प्रशंसा हुई।

उनके प्रयास से संगीतशास्त्र-विभाग बना। फिर इसी भवन में भरत मुनि के नाट्यशास्त्र से प्रेरित होकर उन्होंने संस्कृत नाटकों के मंचन का काम हाथ में लिया, **'अभिनय-भारती'** की स्थापना हुई और मालविकाग्निमित्रम्, विक्रमोर्वशीयम् तथा **उत्तररामचरित और मुद्राराक्षस** के मंचन हुए। इन नाटकों के पूर्वाभ्यास में उपस्थित रहने का मुझे सौभाग्य मिला। उज्जैन में बहन जी ने एक नया काम किया और वह था 'कालिदास संगीतम्' की प्रस्तुति और कालिदास समारोह में विक्रमोर्वशीयम् नाटक में **ध्रुवा गायन का अभिनव प्रयोग**। भरत के नाट्यशास्त्र और अभिनवगुप्त की टीका में उनकी विशेष रुचि थी। कलकत्ता में

१९७४ में 'भरतनाट्यशास्त्र-परिसंवाद' हुआ और उसकी स्मारिका में मैंने उनसे 'चारी' पर लेख लिखने का अनुरोध किया। वे बहुत हँसी और बोली 'मैं क्या जानूँ चारी' लेकिन उसे चैलेंज मानकर उन्होंने स्वीकार कर लिया। मुझे ज्ञात है कि इस अध्याय के श्लोकों का उन्होंने डॉ० सी०वी० चंद्रशेखर द्वारा प्रदर्शन कराकर समझा और तब लिखा। उस परिसंवाद में बहनजी का अविस्मरणीय योगदान था। काशी में भी उन्होंने नाट्यशास्त्र पर परिसंवाद कराया था। वे अपनी प्रतिभा के बल पर खैरागढ़ विश्वविद्यालय की कुलपति बनी, केन्द्रिय नाट्य विद्यालय (N.S.D), उ०प्र० संगीत नाटक अकादमी, केंद्रीय ललितकला साहित्य और संगीत नाटक अकादमियों से जुड़ीं। विदेश में भी उनकी विद्वत्ता की धाक जमी। उनके देशी-विदेशी नामी गिरामी शिष्यों की लंबी सूची है।

पर जब भी उनसे बात करने का अवसर मिला तो मुझे लगा कि इन्हें भारत के कला वैभव के संरक्षण की भारी चिन्ता है। वे ग्रन्थोद्धार तो कर ही रही थी साथ ही बड़े पैमाने पर हिंदी अंग्रेजी भाषा में अनुवाद कार्य भी कर रही थीं। उन्होंने संगीत और साहित्य जगत् को रसविलास, संगीतराज, चित्रकाव्यकौतुकम्, स्तोत्रभारतीकण्ठहार, सहसरस, एकलिंगमाहात्म्य प्रदान किया। मैंने उन्हें बृहद्देशी का अंग्रेजी अनुवाद पूरा होने पर संतोष की साँस लेते देखा मानो एक दुर्गम यात्रा आज पूरी हुई हो। उनके अनुवादों में जपसूत्रम् बहतु विशिष्ट है, नादरूप, ध्रुपदवार्षिकी आदि शोधपत्र निकाले फिर ''भक्तिरसामृतसिन्धु'' प्रस्तुत कर उस जीवन के अमृत का पान कर लिया।

वे संगीत और नाटक के माध्यम से भारतीय कला और सौंदर्य शास्त्र के माध्यम से देश सेवा करना चाहती थीं। उन्होंने श्रीमद्भागवत का गहन अध्ययन किया और संगीतनृत्य कार्यक्रमों द्वारा उसे प्रस्तुत किया—**ये अनूठे कार्यक्रम थे—भ्रमर गीत, श्रीकृष्णं-प्रसङ्ग, गोविन्द विरुदावली, वेणुगीत और युग्मगीत। सारा वैष्णव सम्प्रदाय इन कार्यक्रमों के लिये बहनजी का सदा ऋणी रहेगा।**

जीवन के अन्तिम वर्षों में वे नवोदित संस्था 'ज्ञान-प्रवाह' से जुड़ीं और बड़े मनोयोग से उन्होंने वाराणसी के विशिष्ट विद्वानों तथा कलाकार व्यक्तियों को इस संस्था से जोड़ा। इतना ही नहीं सङ्गीत नाटक अकादमी की उपाध्यक्षा होने के नाते वाराणसी में आयोजित गोष्ठियों तथा सङ्गीत-उत्सवों में आमन्त्रित देश-विदेश के मूर्धन्य विद्वानों-कलाकारों को संस्था भवन में लाईं, अनेक कलाकारों की कला-प्रस्तुतियाँ भी वहाँ कराईं। स्वयं सङ्गीत-आस्वादन तथा परिचय का पाठ्यक्रम बनाकर यहाँ छह महीने तक पढ़ाया भी। फिर उन्होंने १९९८ में 'संस्कार' पर सेमिनार कराया। सन् १९९९ के लिए उन्होंने ध्वनि पर एक बृहद सेमिनार की योजना बनायी पर असामयिक निधन के कारण वे उसे प्रतिफलित नहीं कर सकीं। 'ध्वनि' पर वह गोष्ठी हुई अवश्य, जो उनकी स्मृति में अर्पित थी। मुझे सौभाग्य मिला उन्हें जानने का, ज्ञानालोक से स्पर्श करने का अतः धन्यता अनुभव करते हुए उनकी स्मृति को प्रणाम करता हूँ।

—भानुशङ्कर मेहता



१५.

सहृदय, हृदय-संवाद और रसनिष्पत्ति*

—पं० हरिहरनिवास द्विवेदी

इदं कविभ्यः पूर्वेभ्यो .... नमो वाकं प्रशास्महे।
विन्देम देवतां वाचममृतामात्मनः कलाम्॥

विश्वभारती परिषद के कुलपति, आचार्य और अन्य सुधी सहृदय बन्धु! आपने मुझे सहृदय हृदय स्व० पं० हज़ारी प्रसाद द्विवेदी की स्मृति में आयोजित व्याख्यान के लिए निमंत्रित किया, इसके लिए हृदय से आभारी हूँ। मैं स्व० द्विवेदी जी की स्मृति के अनुरूप श्रद्धारूप साहित्यक विवेचना प्रयुक्त कर सकूँगा भी कि नहीं, इसमें मुझे स्वयं संशय है, परन्तु यह अवसर मुझे मिला, यह स्व० पं० जी के अहैतुक स्नेह का परिणाम है। मैं अपने पूर्व आचार्यों की अमृता कला की वन्दना करता हूँ और उनके स्मरण के पुण्य प्रताप से कुछ ऐसे विषय के सम्बन्ध में निवेदन करना चाहता हूँ, जिसके बारे में व्यवस्थित रूप से विशेष कहा नहीं गया है, उलटे कुछ भ्रम ज़रूर पैदा कर दिये गये हैं, जिससे प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र की व्यापकता को प्रश्नास्पद बनाने का प्रयास हो रहा है। और उससे भिन्न परम्परा की तलाश की जा रही है। मेरा प्रस्तावित चर्चा-विषय है सहृदय की अवधारणा, इसी से स्वतः दो और विषय जुड़ जाते हैं, हृदय-संवाद और रस-निष्पत्ति में सहृदय और हृदय-संवाद का योगदान।

सहृदय को समझने के लिए सबसे पहले भारतीय भावधारा में वाक् का स्वरूप तथा वह क्या लीला करती है, यह जानना चाहिए। ऋग्वेद के बृहस्पतिसूक्त (१०/७१) में अन्तःस्फूर्त्त वाक् की परिशुद्धता, धीर अर्थात् ध्यानमुक्त मन से इसकी रचना, सख्य भाव की पहचान तथा कल्याणलक्ष्मी के उदय में ही इसकी सार्थकता की पहचान लक्षित हैं—

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि।

जो मन्त्र उच्चरित होना है, उसके उच्चारण की पुनरावृत्ति में नवीनता आती है, क्योंकि अर्पणभाव नया होता है, पूरा कर्मकाण्ड पूर्व ज्ञात रहता है, पूर्व चिन्तित रहता है, पर प्रक्रिया की अपूर्वता के कारण अपूर्व तृप्ति मिलती है, क्योंकि यज्ञसंस्था समुदायसंस्था रही है, यज्ञ व्यक्तिरूप में यजमान कराता था और होता अध्वर्यु उद्गाता कोटि के ऋत्विक् व्यक्ति रूप में अपनी अपनी भूमिका से यज्ञानुष्ठान करते थे, पर जब अन्तिम आहुति दी जाती थी, तब कहा जाता था 'ये वयं यजामहे' जो ये सब हम जो यहाँ है, जो यहाँ नहीं है, जिनके लिए हैं जो यज्ञ में सम्मिलित है, जो नहीं है वे भी, जो भी यज्ञ का द्रव्य है, जो भी यज्ञ के यजनीय देवता है, वे सब मिलकर हम अपने लिए, अपनी समग्रता के लिए अपनी समष्टि चेतना के लिए यज्ञ कर रहे हैं, इसका आशय यही था कि यज्ञ की प्रक्रिया में यह सर्वमयता के रूप में अपनी व्यक्ति के रूपान्तर का भाव ही अपूर्व की सिद्धि

* पं० श्री हरिहरनिवास द्विवेदी का 'बहिनजी' पर अतीव स्नेह रहा। बहिनजी के स्मृति-संचय में उनका नाम आना अनिवार्य है, अतः 'बहिनजी' की उपस्थिति में ही शान्तिनिकेतन में आयोजित पं० ह०प्र० द्विवेदी—स्मारक व्याख्यान रूप में प्रस्तुत यह भाषण यहाँ सम्मिलित किया जा रहा है, जिसकी हस्तलिखित प्रति स्वयं द्विवेदी जी ने बहिनजी को भेजी थी, संरक्षित थी। यह विषय बहिनजी को बहुत प्रिय था। इसी के द्वारा आचार्य हजारीप्रसाद जी का भी पुण्य-स्मरण हो रहा है जिनका अतुल स्नेह बहिनजी ने पाया था। —सम्पा०

करना है। वाग्यज्ञ भी ऐसा ही होता है, कोई एक रचना है कोई एक सुनाता है, एक अलग लोग सुनते हैं, किसी एक की कथा है, जानी हुई कथा है, जाना हुआ पात्र है, न भी जाना हुआ हो, बार-बार उसका पाठ करने पर ज्ञात होता रहता है, तो भी रचने और ग्रहण करने, इन दोनों अनुभवों में यह सन्निहित रहता है कि रचना पर के लिए और ग्रहण करना भी अपने भीतर की समग्रता के लिए है, व्यक्ति के लिए नहीं है।

कालिदास ने ग्रहण के इस भाव को रघुवंश के पन्द्रहवें सर्ग में बड़ी अछूती उपमा से समझाया है। अयोध्या की सभा में लवकुश ने सीता के परित्याग तक की रामकथा सुनायी, वहीं तक उन्हें कथा याद करायी गयी थी और सभा मूक हो गयी। इसी सूक्त के एक दूसरे मन्त्र में इस बात पर बल दिया गया है कि यज्ञ में उपयुज्यमान होने के कारण वाक् की एक राह बनी, जिससे फिर अनेक राहें बनीं। यज्ञ में वही मन्त्र बार-बार उच्चरित होकर अपूर्व की सिद्धि करता है, उसी प्रकार ध्यानयोग से सिरजी वाणी भी बार-बार उच्चरित होकर नया अर्थ देती है। एक अन्य मन्त्र में इस वाक् की उस रमणीयता का वर्णन मनोरम उपमा के द्वारा किया गया है, उसे देखते हुए भी हम देख नहीं पाते, सुनते हुए भी सुन नहीं पाते, वह सुवासिनी वाक् सर्जन के लिए उद्यत स्त्रीतत्त्व की तरह जिसे वरण करती है, उसी के प्रति उन्मीलित होती है।

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम्
उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥

इन सभी मन्त्रों की गहराई में जायें तो वाक् तत्त्व के बारे में तीन बातें सामने आती हैं—

१. वाक् का अर्थ ही है साझेदारी, और साझेदारी की पहचान। परिशुद्ध और ध्यानकल्पित वाणी के द्वारा ही साथ-साथ रह कर कल्याण-यात्रा का भाव जगता है, पर यह भाव उन्हीं के मन में जगता है जो सखा हैं, जो सख्य के लिए उत्सुक हैं, जो सचन के लिए उन्मुख हैं। सच् धातु से ही **सखि** शब्द व्युत्पन्न है, सचिव शब्द व्युत्पन्न है, सक्त, सक्ति शब्द भी इसी से व्युत्पन्न हैं। जो एक दूसरे की आकांक्षा के लिए पर्युत्सुक हैं। यही तो **सहृदय** होने की पहली शर्त्त है, सबके साथ साझेदारी की उमंग जिसके भीतर न हो वह क्या सखा होगा, क्या होगा सहृदय?

२. अन्तः स्फूर्त्त वाक् से यज्ञ-प्रयोग में अपूर्व की सिद्धि होती है, इसका अर्थ यह है कि आहुति के भाव से निजत्व के परत्व के लिए अर्पण के भाव से एकाग्र भाव से एकतान चित्त से सुनती रही, कान कहीं अन्यत्र नहीं गये, सारी इन्द्रियाँ कानों में ही समा गयीं, पता नहीं कब आंसू तिप् तिप् झरने लगे, जैसे प्रातः की आभा में शिशिर में जंगल की ज़मीन हवा थम जाने पर ओस से झलमलाने लगती है। काव्य का ग्रहण पूरी समष्टि चेतना को झलमला देने वाला अनुभव है, विजड़ित और संवेदन शून्य चित्तभूमि को सिहरा देने वाला, आविद्ध कर देने वाला, भिगो देने वाला, चिदंश को उद्भासित कर देने वाला अनुभव है। इस प्रकार वाग् की समष्टिमयता संसार के अन्य ऐन्द्रिय अनुभवों से कुछ अलग अनुभव कराती है, जो ऐन्द्रिय संसार या दूसरे शब्दों में लोक के अनुभव से अनासक्त नहीं है, असम्पृक्त नहीं है, उल्टे गहराई में संसक्त है, व्यापक रूप से संसक्त है, बस इतना ही है कि अनुभव के प्रारम्भ में व्यक्ति है पर अनुभव की परिपाकावस्था में अनुभव करने वाला, अनुभव, और अनुभव कराने वाला सब एक हो जाते हैं, उस समय व्यक्ति के लिए अवकाश नहीं रहता।

३. वैदिक वाग् अवधारणा में तीसरा उल्लेखनीय बिन्दु यह है कि सर्जनात्मक वाणी अपने ग्राहक अपने चाहक की खोज में सुवाचों में आधी ढँकी, आधी उघरी, आधी श्रवणों में आती, आधी नहीं आ पाती, आधी परिचित और आधी अपरिचित रूप में संचरणशील होती है, सम्प्रेषित होती है मर्म सब पर प्रकट नहीं होता, हृदय सबसे नहीं मिलता, बस उससे मिलता है जो प्रतीक्षा करता रहता है, जो पंक्तियों को गुनगुनाता रहता है, अब अर्थ रूप में रचना अवतरे, तब अवतरे। वह ग्राहक वही होगा, जिसके चित्त में छनी हुई वाणी जैसी परिष्कृति है, जो अन्य आस्वाद्य विषयों के अनुभवों को छान कर शब्दार्थ-अनुभव को अलग कर चुका है, जो शब्दों की प्राणवत्ता पहचान चुका है, क्योंकि जो जीवन की विविध छटाओं में से गुज़रने वाले शब्दों का स्पन्दन सुन कर ग्रहण कर चुका है, वही सहृदय है।

इस अवधारणा से जुड़ी हुई एक दूसरी वैदिक अवधारणा है, सामञ्जस्य की। सामञ्जस्य सूक्त में कहा गया है (अथर्ववेद

६/६४) कि अच्छी तरह मिल जावो, अच्छी तरह एक-दूसरे में पृक्त हो, एक-दूसरे से मिलो, एक-दूसरे के मन को समझने वालों के मन मिलें, जैसे—पूर्व में देवता अपना-अपना हिस्सा अच्छी तरह पहचानते हुए साथ रहते थे, वैसे रहो। देवता कहते है कि इन मनुष्यों का मन्त्र समान हो, सबमें एक तरह व्याप्त हो, तुम्हारा साथ-साथ मिलना-जुलना, बैठना समान हो, सर्वमय हो, इनका व्रत समान हो, इनका चित्त समान हो। समानता में आबद्ध मनुष्य देवता से कहते है कि समान हवि से हम तुम्हें आहुति देते हैं, हमारे भीतर समान चेतना का अभिसंवेश करो। हमारा सोचना समान हो, हमारे हृदय समान हो, मन समान हो जिससे हम तुम्हारे साथ भली तरह समञ्जस हों।

सं जानीध्वं सं पृच्यध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं व्रतं सह चित्तमेषाम्।
समानेन वो हविषा जुहोमि समानं चेतो अभिसंविशध्वम्॥

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥

यह **समान** क्या है, इस पर विचार करें। **समान** शब्द अस् (= होना) धातु का वर्त्तमानकालिक आत्मनेपदी कृदन्त रूप है, इसका अर्थ है अपने लिए अस्तित्ववान्। इसी अस् से **सम** शब्द भी बना है, इसी से सह भी बना है, **साकं** भी कदाचित् बना है, सत् और असत् तो है ही। यह भी उल्लेखनीय है कि संस्कृत में समं, समानं, सह, साकं इन सबका अर्थ **सहित** है। अपने लिए अस्तित्ववान् और सहित ये दोनों विरोधी भाव जरूर ऊपर से लगते हैं, पर जब अस्तित्व की बात अपनी अन्तरात्मा की ओर से की जाती है, तब अपने आप उस अन्तरात्मा में प्रतिबिम्बित विश्वात्मा का साहचर्य उद्‌बोधित हो जाता है, शुद्ध अस्तित्व तो अपने आप समग्र अस्तित्व होगा, इसलिए कोई विरोध नहीं है। अभी-अभी उद्धृत दूसरे मन्त्र में **समानं** के जोड़ में सह आया है, इसलिए **समानता का अर्थ बराबरी नहीं है, अलग-अलग हिस्से का बँटवारा नहीं है, उसका अर्थ सबका मिल कर सहभागी होना है, दूसरे के द्वारा उपभोग को और उसकी परितृप्ति को अपना उपभोग और अपनी परितृप्ति मानना है।** इस **समानता** का आधार है मन का मन से मिलना, चित्त का चित्त से मिलना, हृदय का स्वेच्छा से विवश हो जाना। अथर्ववेद के एक-दूसरे सूक्त (६/९४) में सरस्वती ने यह घोषणा की है कि मैं मन से मनों को गहती हूँ, जिससे मेरे चाहको मेरे चित्त के अनुसार अपने अलग-अलग चित्तों के साथ चल सको, मैं तुम लोगों के हृदय सींच कर वशीभूत करती हूँ, जिससे मेरे चले हुए रास्तों पर तुम चल सको।

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्रेभिरेत।
मम वशेव हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनु वर्त्मनि एत॥

यह सरस्वती जातीय संवेदना है, जातीय स्मृति है, जातीय प्रज्ञा है, जातीय चिति है, जातीय जीवन-निष्ठा है, जातीय श्रद्धा है। इस श्रद्धा का हो जाना ही सहृदयता है। **श्रद्** और **हृद्** एक ही शब्द के दो रूप है और इसका स्थान मन चित्त दोनों से ऊपर है, मन में जो राग द्वेष रहते हैं, पहले उनका साधारणीकरण होता है, चित्त में जो समझदारी रहती है फिर उसका साधारणीकरण होता है। इसके अनन्तर अपने आप एक ऐसे विगलन की तैयारी हो जाती है कि कुछ आयास नहीं करना पड़ता, द्रुति में अपने आप प्रवाह होता है। हृदय का व्यापार तो यह द्रुति ही मुख्य रूप से है, पर द्रुति तभी होती है जब अभितप्त अवस्था पहले आ जाय। मानस व्यापार और चैतस व्यापार से क्रमशः स्मृति की सघनता और ध्यान की तीव्र दाहकता और प्रकाशकता से हृदय के द्रवण की भूमिका बनती है। **जो सहृदय होता है, उसके भीतर सघन स्मृति होती है और उसमें ध्यान-योग होता है, धी होती है, रचयित्री और भावयित्री प्रतिभा का तीक्ष्ण प्रकाश होता है,** उस प्रकाश में सृष्टि धुल कर नवोन्मीलित हो जाती है। कहने में बात बड़ी असम्भव और अवास्तविक लगती है, यही ध्यानयोग होता है। प्रत्येक रचनाकार में कहाँ स्मृति की सघनता होती है और कहाँ प्रत्येक रचना हृदय में झंकृत होती है, शब्दार्थ ग्रहण करके कुछ अच्छा लगता है, बस इससे अधिक क्या चाहिए,

परन्तु कुछ गहराई में सोचें तो रचना-मात्र में ये तीनों सोपान होते ही होते हैं। भले ही इनकी आनुपूर्वी रचना के आस्वाद के समय पकड़ में न आये।

सहृदयता एक सामाजिक तैयारी है, लोक के बीच रहते हुए लोक का सुख-दुःख झेलते हुए, पर उस समस्त झेलने में लोकमात्र को सामाजिक करते हुए एक ऐसे लोक के नागरिक होने के लिए, जिसमें किसी भी लौकिक विषय की विस्मृति नहीं होती, किसी से संसर्ग नहीं छूटता, उल्टे संसर्ग कुछ अधिक गहरा हो जाता है, जो अपना मित्र नहीं, बन्धु नहीं, सम्बन्धी नहीं, अपना समकालीन नहीं, अपना कुटुम्बी नहीं, जो इतिहास क्रम में अपना कोई पूर्वपुरुष नहीं, उसके सुख-दुःख के साथ संसर्ग ऐसा गहरा हो जाता है कि अपना सुख-दुख बिसर जाता है, छोटा पड़ जाता है, कालिदास का जब सीतानिर्वासन प्रसंग पढ़ते हैं और वह श्लोक पढ़ते हैं जिसमें कहा गया है कि

नृत्यं मयूराः कुसुमानि वृक्षा दर्भानुपात्तान् विजहुर्हरिण्यः।
तस्याः प्रपन्ने समदुःखभावमत्यन्तमासीद् रुदितं वनेपि॥

मोरों ने नाचना छोड़ दिया, वृक्षों ने कुसुमों को झहरा दिया, हरिणी ने मुँह में ली घास गिरा दी। सीता के दुःख में दुःखी होकर सारा जंगल फूट-फूट कर रो पड़ा। तो क्षण भर के लिए यही लगता है कि हाय यह दुःख! इतना दुःख! और सीता को इतना दुःख!, यह क्या किया कवि तुमने? मानों कवि ने दुःख रचा हो। यह भाव कैसे आता है; क्या कविता के शोक से आता है, क्या ज़िन्दगी में तमाशबीन बनने से आता है, क्या नैतिकता के प्रति सजगता से आता है, अथवा भीतर से भीगने से आता है?

स्पष्ट है कि कविता जिनके लिए विलास की वस्तु है, उन्हें समदुःख भाव की विराट् अनुभूति नहीं होगी, न उन्हें होगी जो पीड़ा के दृश्य को चाव से देखते हैं, न नैतिकता की डौंडी पीटने वाले को होगी, क्योंकि वहाँ निर्णय लेकर किसी को दोषी ठहरा दिया, बस उसका कार्य सम्पन्न हो जायेगा। समदुःखभाव की अनुभूति होगी उसे जिसका हृदय सीता की करुण स्थिति से आविद्ध कवि के हृदय के साथ है, जिसका हृदय लौकिक प्रत्यक्ष में अनुपस्थित पर काव्य-पारायण से उद्भूत कल्पना में जीते जागते रूप में उपस्थित सीता के हृदय के साथ है।

सहृदयता कालिदास के शब्दों में **पर्युत्युकीभवन** है, रमणीय पदार्थ को देखकर आँखें सेंकना नहीं है, न मधुर संगीत की धुन पर भोजन के कौर उठाना है, वह एक बेचैनी है जो चैन में रहने वाले व्यक्ति को भी उसकी मौजमस्ती से, उसकी अपनी पीड़ा से विस्थापित कर देती है और एक क्षण के लिए दूर से आते हुए एक खिंचाव के लिए उदग्र कर देती है, कहीं कोई बिछुड़ा हुआ भारतीय बुला रहा है, हम जो हैं, वह रह नहीं पायेंगे, वह चैतस आत्मीयता दुर्निवार है, बुद्धि कुछ सोच नहीं पायेगी, एक सौहार्द, एक उत्तम कोटि की हृदय-सम्पन्नता जाने कबकी सोयी हुई जगेगी, उसकी ओर खिंचाव बड़ा ही प्रबल है, पर भय भी कम नहीं, जाने क्या घटित हो जाय। यही परि उपसर्ग का अर्थ है, उत्सुकता में तो बालसुलभ कुतूहल रहता है, पर उत्सुकता ऐसी हो कि सभी अन्य भावों का परिप्राणन कर दे, तब उस उमहाव में क्षुद्र अस्तित्व के भहराने की सम्भावना रहती ही रहती है।

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तर-सौहृदानि॥

जो जननान्तर न भी स्वीकार करें, वे भी इतना तो स्वीकार करेंगे ही कि प्रत्येक समर्थ रचना के सार्थक अनुभव में कुछ नया संस्कार हो जाता है, नया जन्म हो जाता है। ऐसे पुनर्जन्म के पूर्व एक क्षण के लिए ही सही, मृत्यु होती है कुछ क्षुद्रताओं, कुछ संकीर्णताओं की, कुछ छोटे चिपकाओं की, और पुनर्जन्म होता है तो आदमी कुछ और बड़ा हो जाता है, इस मृत्यु के पूर्व मृत्यु की यातना भी होती है, कोई चीज़ छोड़ी नहीं जाती, जितना मृत्यु से भय लगता है, उससे अधिक भय लगता है मृत्यु के कारण अपनी कही जाने वाली चीज़ों के खोने से, कहीं यह न छूट जाय, कहीं वह न छूट जाय, हाय अब यह नहीं मिलेगा, वह नहीं मिलेगा। जो सहृदय नहीं होगा, उसे न यह यातना होगी, न कोई खिंचाव होगा, न उसके भीतर कोई ऐसा

अन्तर्द्वन्द्व होगा कि मेरा सच्चा स्व क्या है, यह घरौंदा मेरा स्व है या यह विशाल जगत् मेरा स्व है, क्या घरौंदे से अलग रहा जा सकेगा, क्या यह विशाल जगत् अलग होकर भी अपना हो सकेगा। सहृदयता बड़ी कड़ी परीक्षा है। भवभूति के शब्दों में सहृदयता वह चैतन्य है जो दु:ख-संवेदन के लिए दिया जाता है मन के राम को।

दु:खसंवेदनायैव रामे चैतन्यमागतम्।

इसी के साथ **राग,** रम्य, रमणीय, रमने और रति का अर्थ भी समझ लेना प्रासंगिक होगा, **रमना** और **रमाना** ये दोनों व्यापार उत्सर्ग-बोधक हैं, भोग-बोधक नहीं, रमने में सन्निहित है अपने को खोना, अपने को अपने से विस्थापित करना, रमने का अर्थ पाना या हथियाना नहीं, न किसी के ऊपर हावी होना है, जो आक्रामक अर्थ **लव मेकिंग** में है, वह रमण में नहीं है, **लव** धातु की समकक्ष धातु हमारी भाषा में लुभ् है जिससे लोभ बना है, रम में लोभ नहीं है रम में तादात्म्य है। श्रीमद्भागवत में रासपञ्चाध्यायी में एक श्लोकार्ध आता है।

रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः॥

रमा अर्थात् रमने की वृत्ति के अधिष्ठाता श्रीकृष्ण व्रजसुन्दरियों के साथ ऐसे रमे जैसे बच्चा दर्पण में या जल में पड़े अपने प्रतिबिम्ब के साथ रमता है। भागवत में ही इसी प्रसंग में एक दूसरी उक्ति है— **'आत्मारामोप्यरीरमत्',** जो आत्माराम है, जिसने आत्मज्ञान में विश्राम पा लिया है, वह भी रमा और रमने की तरह रमा, इसका तात्पर्य यही तो है कि **रमना दूसरे के लिए होता है, और इस दूसरे की प्रतीति अद्वैत में अधिष्ठित को भी करने की विवशता होती है। बिना पराया हुए आत्म की पहचान ही नहीं** होगी। अथर्ववेद के एक-दूसरे सूक्त (७/१३) में **समा,** साथ भासित होने वाली इकाई का यही प्रकार है कि यदि तुम्हारा मन अब फिर दूर जाकर लौट रहा हो, यदि यहीं फिर बँधना चाहता हो तो आओ तुम्हें बुला रही हूँ, तुम्हारा मन मुझमें रमे, रमता रहे—

यद् वो मनः परागतं यद् बद्धमिह वेह वा
तद् व आवर्त्तयामसि मयि वो रमतां मनः॥

यह सभा क्या है, क्या कुछ चुने हुए लोगों की मण्डली है, क्या प्रबुद्ध और सभ्य लोगों का गुट है, अथवा हर कार्य में शिरकत करने वाले भागीदारी करने वाले लोगों के मिलने की जगह है। भारतीय विश्वदृष्टि में चुने हुए लोगों की कहीं स्थिति नहीं है, वहाँ कुछ ही गिने लोग चुने नहीं होते वहाँ हर प्राणी हर अप्राणी किसी न किसी विशेष प्रयोजन के लिए चुना हुआ है, किसी न किसी अद्वितीय व्यापार का प्रवर्त्तक है, हर एक अद्वितीय पर सबकी विशिष्टता एक दूसरे की पूरक है, सृष्टि मात्र में कालिदास से शब्द उधार लें **भूषणभूष्य भाव** है या 'परस्परेण स्पृहणीयशोभत्व' है। अतः सभा या समिति की अवधारणा प्रबुद्धता की कोटि से बिल्कुल अलग है, यह समान आभा है सभा है, समाना इति है अर्थात् गति है समञ्जस आभा है समिति है, समञ्जस गति है, दूसरे शब्दों में एक-दूसरे की कान्ति को बढ़ाते हुए चमकना ही सभा का धर्म है, एक-दूसरे की गति से समताल रहना ही समिति है। **सहृदयता की अवधारणा भारतीय विश्वदृष्टि की एक नाभिक अवधारणा है, जिसके भीतर से अभिव्यक्ति होने की इच्छा कमल बनकर फूटती है और उस इच्छा से स्रष्टा निकल पड़ते हैं। सहृदयता सृष्टि का बीज है और सहृदयता सृष्टि को ग्रहण करने वाला आधान भी है।** ध्वन्यालोककार ने प्रथम आलोक की बारहवीं कारिका की वृत्ति में सहृदय के लिए सचेतस् पर्याय की व्याख्या करते हुए कहा है **'जिसकी आत्मा परितुष्ट नहीं होती है सतही अर्थ से', वे ही सचेता या सहृदय हैं, यह अपरितोष, यह मर्मभूत अर्थ के लिए बेचैनी ही सहृदयता है।** वक्रोक्तिजीवितकार ने सहृदय का अर्थ किया है काव्यार्थविद् (काव्य का अर्थ समझने वाला)। पर काव्यार्थ समझने का भाव क्या है, इसे समझाते हुए उन्होंने काव्यार्थ को **स्वस्पन्दसुकर** कहा है। यह चिन्ह क्या है ? हम काश्मीर शैव दर्शन की परिभाषाओं में न भी जाये तो इतना तो स्पष्ट प्रतीत होगा ही कि काव्यार्थ में अपनी कोई गतिमत्ता होती है, अपना कोई परिस्फुरण होता हैं, अपनी कोई झंकृति होती है, कोई अनुगूँज होती है, एक साथ कई तार छिड़ जाते हैं तब सबके संवाद से ही अर्थ परिस्फुरित होता है। कुन्तक की इन दोनों बातों को जोड़कर देखें तो यही निष्कर्ष निकलेगा कि काव्यार्थवेत्ता सहृदय शब्दों में समर्पित बाह्य संसार की वे सारी धड़कनें सुनता है, उनकी अलग-

अलग गति पहचानता है, जिनके साथ मनुष्य की प्राणनाड़ी का योग अपने आप हो जाता है। काव्य का अर्थ जानना एक अलग योग है, एक अलग साधना है, सबसे नहीं सधता, योगियों से भी नहीं सधता, प्रेमियों से भी नहीं सधता, यह उनसे सधता है जो प्रेम और योग दोनों में चित्तवृत्तियों का जो अलग-अलग संस्करण होता है, उन संस्कारों को जोड़ कर एक अलग धारा बहाने का प्रयत्न करता है। कठिन साधना है।

योगी की अतिशय असंलग्नता और प्रेमी की अतिशय संलग्नता दोनों को एक साथ साधे तभी तो सहृदय होगा। यह सहृदय कामशास्त्र का **नागर** नहीं है, न कलाशास्त्र का **विचक्षण** जिसकी दृष्टि केवल वर्त्तनी पर जाती है, जो **रेखा** की सूक्ष्मता को नहीं पहचान पाता या उसे पहचानने में कोई विशेष रस नहीं पाता, वह कलाशास्त्र का आचार्य तो है, पर आचार्य के साथ-साथ वह विदग्ध भी है। **आचार्यता और विदग्धता भी दो भूमियाँ है, आचार्य में एक तटस्थता अपेक्षित होती है और विदग्धता तो अपने को अनुभव के ताप में झोंकने से आती है,** वहाँ कहाँ तटस्थता। ऐसा सहृदय सब जगह मिलेगा, पर कहीं उसका विशेष वर्ग नहीं मिलेगा। सहृदयता की पाठशाला कहीं नहीं मिलेगी, वह कहीं हाट-बाट में नहीं मिलेगी, वह अपने को सामान्यीभूत करने वाले काव्यावगाही व्यक्ति में धीरे-धीरे उभरती है, जैसे सामान्य से पत्थर के टुकड़े का रूप धारा में बदलता चला जाता है और धीरे-धीरे वह पत्थर एकदम एक जर्रा बन कर धारा का अविभाज्य अणु बन जाता है। सहृदय का अर्थ हो जाता है सहृदय परम्परा जिसको मैंने अपने वक्तव्य के आरम्भ में ही प्रणाम निवेदित किया है।

शेष बात करें हृदय-संवाद की, क्योंकि काव्यार्थ सहृदय-हृदय-संवादी होता है। **संवाद का अर्थ है एक दूसरे की ओर अभिमुख होकर बातचीत, पर समञ्जस भाव से साकांक्ष भाव से बातचीत,** कुछ सुनने का मन है, कुछ सुनाने का मन है सुन सुनाकर एक होने का मन है ऐसे मन से बातचीत। **संवाद का अर्थ है द्वैत में अद्वैत की पहचान** या कहै **अपनी पूरी पहचान के लिए द्वैत की स्थिति की कल्पना। दो का एक दिखना और एक-दूसरे से दिखना सादृश्य है,** जिसके लिए आनन्द कुमार स्वामी ने Com-visibility शब्द गढ़ा है, एक साथ दिखना ही सदृश होना है, कमल भी सामने हो, मुखभी हो, कमल और मुख का साधर्म्य सामने हो, पर साधर्म्य एक रूप में कमल में दिखे, मुख में भी। न मुख में कमल है, न कमल में मुख है, रूपकातिशयोक्ति की भाषा का प्रयोग करें तो भी कमल और मुख दो प्रतीतियाँ रहती ही रहती हैं, बस इन दोनों में साधर्म्य गहराता जाता है, अन्त में ऐसी स्थिति आती है कि साधर्म्य मात्र रह जाता है, न दिया न बाती बस असह्य बिछोह की धूमायितता, घुमेठने का भाव रह जाता है, **न काम रहता है, न रति, बस बिछोह की धूमवती आभा रह जाती है**। सादृश्य या संवाद में बराबरी या समानान्तरता समान दूरी पर साथ-साथ चलना भी नहीं है, जब कौशल्या उत्तर रामचरित में लव के चेहरे को निरखती हैं तो कभी उन्हें लगता है, **अरे यह तो बहू के चेहरे से मिलता है, ''सैवोष्ठमुद्रा स च कर्णपाशः''** वैसी ही ओठों की बनावट, वैसे ही कान, और कभी लगता है **यह तो मेरे रघुनन्दन के चेहरे से मिलता है,** यह मिलना ही संवाद है, **अत्यन्त एक दिखना और फिर न दिखना, बार-बार देखने और एकत्व के अनुसन्धान की आकांक्षा बनी रहे, यही संवाद है**। आनन्दवर्धन ने ठीक ही परिभाषा दी है संवाद शब्द की जरा दूसरे प्रसंग में, कि संवाद का अर्थ है अन्य से सादृश्य, कभी प्रतिबिम्ब की तरह, कभी चित्त की तरह कभी आकृति की समानता की तरह। परन्तु प्रतिबिम्ब की तरह का सादृश्य त्याज्य है। और बिम्ब की तरह भी सादृश्य त्याज्य है क्योंकि इसमें एक बोध आ जाता है, हूबहूपन का, जिससे भ्रम होता है और भ्रम से फिर आकांक्षा की निरन्तरता टूटती है। केवल दो सदृश दिखने वाली आकृतियों का संवाद मात्र ग्राह्य है।

संवादो ह्यन्यसादृश्यं तत्पुनः प्रतिबिम्बवत्।
आलोकव्याख्यवत्तुल्यं देहिवच्च शरीरिणाम्॥

तत्पूर्वमनन्तात्म तुच्छात्म तदनन्तरम्।
तृतीयं तु प्रसिद्धात्म नान्यत्सात्व्यं त्यजेत् कविः॥

संगीत में संवाद का भी लक्षण कुछ मिलता जुलता हुआ है, संवादी एक नहीं होता छाया नहीं होता, पर उससे मिलकर एक समग्र रचता है। साहित्य में भी संवाद से ही अन्विति आती है, रचनाकार अलग भावक अलग अलग, पर इन दोनों के साज

मिलते हैं तो रचना पूरी होती है, रचना सम्प्रेषण के बिना और ठीक सम्प्रेषण बिना पूरा नहीं होती, इसलिए सहृदय के साथ संवाद होना रचना की पूर्णता की अपरिहार्य शर्त है। यह पूर्णता ध्यान की एकाग्रता से ही रचनाकार में आती है, वह एकाग्रता कोई सम्प्रज्ञात समाधि नहीं है, यह एकाग्रता असम्प्रज्ञात समाधि नहीं है, यह एकाग्रता घुले रूप से जितना भी जीवन दिखा और अच्छी तरह दिखा है और जितनी भी गूँज उस जीवन की मनोवृत्ति के पहले शब्दों में सुनायी पड़ी है, उन सबके साथ ऐकात्म्य ही भर प्राप्त है। इसी से उचित शब्द अपने आप दौड़े चले आते हैं। एक तरह से कवि ग्राहक अनन्तचित्तों की भावभूमि, शब्दबोध-भूमि और राग-भूमि सबमें अपने को स्थापित करता है, फिर इन सबसे विस्थापित करके अपने को एक ऐसी हृदय भूमि में स्थापित करता है, जहाँ संवादी स्वर छिड़े हों और एक अखण्ड राग जन्म ले रहा हो। **यही तो कवि की पेराई है सम्प्रेषण की लाचारी के कोल्हू में, कितनी स्मृतियाँ खली बनकर बाहर निकल जाती है,** कितना रंग-रूप, कितनी ध्वनि रचनायें छँट जाती हैं, सार सार भाग बचता है, हर कवि को अपने निजी अनुभव का बहुत बड़ा हिस्सा छाँट कर निर्ममता से छाँट कर अलग करना पड़ता है तब वह प्रेषणीय होता है। **हृदय संवाद एक बहुत कड़ी परीक्षा है, एक पुटपाक है, निर्धूम आग में पकना है, क्षार हो जाना है रस बनने के लिए** क्षार हो जाना है। मनोरम संवाद होता है तो अनन्त विषयों में से कितने कुछ इने गिने पर अपूर्व चिन्तित विषय रहते हैं परस्पर असंलग्न से दिख पाते विषय रहते हैं पर ऐसे रहते हैं कि एक विषय दूसरे विषय को उद्बोधित कर देता है, यही स्थिति तो साहित्य के मर्मग्रहण के समय हृदय-संवाद में होती है। हृदय-संवाद होता है तो मृच्छकटिक प्रकरण में रोहसेन जब अपनी धाय रदनिका के यह बतलाने पर कि वसन्तसेना तुम्हारी माँ होती है प्रश्न करता है कि "जइ मे जणणी कहं अलंकिदा", यदि मेरी माँ है तो इतने आभूषणों से लदी क्यों हैं, तो केवल वसन्तसेना के शरीर के गहने इस मासूम पर मर्मवेधी बात पर न्यौछावर नहीं होते, समूची समृद्धि का खोखलापन मिट्टी की गाड़ी पर न्यौछावर हो जाता है। एक छोटा सा बचकाना प्रश्न पूरे प्रकरण पर छा जाता है। अपने **भीतर की** वसन्तसेना का सजने का भाव रो पड़ता है। अनलंकृत पर गरिमामय मातृभाव को प्राप्त करने के लिए। बार-बार वही पंक्ति पढ़ता हूँ और बार-बार नयी नयी-विह्वलता होती है। बार बार अभिज्ञान शकुन्तल की पंक्ति पढ़ता हूँ "अयि चक्रवाकवधुके आमन्त्रयस्व सहचरमियमागता रजनी", चकई अपने संगी को भी आमंत्रित कर ले, लो यह रात आ गयी! लगता है यह रात कम्बख्त ऐसे ही विह्वल क्षण में आती है, हर आमंत्रण को व्यर्थ करती हुई आती है, पर आने के अव्यवहित पूर्व क्षण तक साध है प्रिय साथ हैं, रात नहीं आती। बार बार और असंख्य अर्थ तारों की तरह झिलमिलाते हैं और रात आकर नहीं आती, नहीं आती।

तमिस्रा विभावरी हो जाती है। यह सामान्य अनुभव का भास्वर रूपान्तर ही हृदय संवाद के द्वारा सम्पन्न होता है। **हृदय संवाद और कुछ नहीं सहज होकर सुख-दुःख पहचानना है, न नितान्त आकुल होकर न नितान्त निराकुल होकर बस जो है, केवल वह होकर पहचानना है,** यह पहचानते हुए भी पहचानना है कि कवि नहीं, कवि के पात्र नहीं, हम उनकी रचना में उनके पात्र में कुछेक क्षण डूब कर तिरने वाले तीर्थयात्री हैं। सहृदय की अवधारणा **से कठिनतर है हृदय संवाद की अवधारणा, क्योंकि सहज होना ही सबसे कठिन है। यह सहजता तीव्र कम्पन योग से आती है,** सहृदय कवि को भी, सहृदय भावकथा-पाठक या प्रेक्षक को भी। जब एक-एक शब्द या उक्ति के माध्यम से सौ सौ जीवनचित्र उभरने लगें और उन सबको उद्भासित करने वाली एक आभा अलग दिखने लगे किसी स्थायी भाव की या किसी संचारी भाव की जो सबमें हो, सबका हो, पर स्फुरित कहीं एक जगह ही एक बार होता हो तो समझना चाहिए हृदय संवाद की तैयारी हो गयी, इसके बाद सब कुछ अपने आप होगा, कवि की रचना होगी, भावक की रचना के साथ एकात्मता होगी कि वाह यह तो मेरी अपनी रचना हुई न! और होगी रसनिष्पत्ति।

यह रसनिष्पत्ति भी एक पहेली बन गयी है, मम्मट ने चार मत क्या दे दिये, पूरा दर्शन शास्त्र उलझ पड़ा निष्पत्ति के अर्थ को लेकर, निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति है निष्पत्ति का अर्थ अनुमिति है, निष्पत्ति का अर्थ मुक्ति है, निष्पत्ति का अर्थ व्यक्ति है और किसी ने रस को लौकिक कहा, किसी ने अलौकिक, किसी ने रस का अधिकरण नाटक के अभिनेता में माना, या नाटक के पात्र में माना, किसी ने प्रेक्षक या पाठक में। पर किसी ने नहीं सोचा कि **रस तो व्यक्त होने का दुर्निवार संकल्प है,** जैसे—पहाड़ के हिमनद का संकल्प होता है बहने का, आकार ग्रहण करके बहने का, **रस तो सृष्टि की आकांक्षा है। इस रस को बाँधा नहीं जा सकता, न इसे नहरों में रोका जा सकता है, यह तो अखण्डता की पहचान के लिए भिन्न-भिन्न रूप ग्रहण करता है, पर अन्ततः होता है अखण्ड समुद्र ही।** भवभूति ने ठीक ही कहा—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नं भिन्नं पृथगाश्रयते विवर्त्तान्।
आवर्त्तबुद्बुदतरङ्गमयान् हि रूपान्
अम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समग्रम्॥

कभी भँवर बने, कभी बुलबुला, कभी लहर, कभी नदी, कभी झरना, है तो सब एक जल, जल, जल का अछोर अथाह विस्तार। अभिव्यक्ति की छटपटाहट ही रस है, अनभिव्यक्त जल है, पर दूसरे तक उछलकर पहुँचना ही रस है, अर्पणीय होना ही रस है, रस नहीं अमृत ज्योति रस है जैसा कि इस मन्त्र में ध्वनित है

अन्तश्चरसि भूतेषु गुहायां विश्वतोमुखः।
त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कार आपो ज्योती रसोमृतम्॥

हे वाग्देवी, तुम्ही समस्त प्राणियों के भीतर संचरण करती रहती हो, कहीं भीतर गुहा में छिपी रहती हो, पर सब ओर तुम झाँकती रहती हो, बाहर निकलने के लिए उतावली रहती हो, तुम्हीं यज्ञ हो, समर्पण हो, तुम्हीं वषट्कार हो, ममत्व की विसर्जना हो, ममत्व की परत्व के रूप में विशेष सर्जना हो, तुम्हीं अव्यक्त भावों की प्रकाश रूप रसवत्ता हो, तुम्हीं पिघली हुई आग हो, तुम्हीं अमृत हो क्योंकि जड़पिण्ड के रूप में मर कर भी तुम मरती नहीं, प्रवाह के रूप में जीवन्त हो जाती हो।

इस प्रकाश के रस रूप में विवर्त्त की तलाश प्रत्येक सचेता, प्रत्येक सहृदय को होती है, चाहे वह रचनाकार हो, चाहे स्वयं रचना न करते हुए भी रचना की सम्भावना अपने में देखने का सामर्थ्य रखने वाला भावक या ग्राहक हो, यह तलाश न हो तो जीना दूभर हो जाय, निरर्थक हो जाय। साहित्य कुछ और करने का दावा नहीं करता बस इतना ही दावा करता है कि ''किमन्यथा रोदिति ग्रावा'', सोमलता को कूँचने वाला पत्थर एक न एक दिन सोमरस तैयार करते-करते स्वयं सोमरस बन कर निचुड़ पड़ेगा, बस उसके हृदय के साथ भी संवाद स्थापित करने का उदार और विशाल हृदय मिल जाय, जिसे मिल जाय, सब मिल जाय।

बात तो और बढ़ायी जा सकती है पर सहृदय श्रोता संकेतग्राही होते हैं, अधिक कुछ बतराना उनकी सहृदयता का असम्मान करना होगा। इसलिए यहीं विराम लेता हूँ और अपने पूज्य अग्रज और 'पथिकृद्' रचनाकार और मर्मज्ञ आलोचक स्व० हजारी प्रसाद द्विवेदी जी की पुण्य स्मृति को यह श्रद्धाञ्जलि, अर्पित करते हुए कुछ अतीव सी कातरता का अनुभव करता हूँ।

अभिभूत हूँ आपके आदर भाव से, आपके धैर्य से और आपकी उदारता से कि आपने मुझ अकिञ्चन को ऐसे पवित्र कार्य के लिए पात्र समझा, इस छोटे से भाजन में कितना कुछ भर दिया, कैसे इसे सँभालूँ?

★★★

.१६.

प्रेममयी तपस्विनी बहनजी

—पं० श्री स्वा० सोमास्कन्दन्

ईसवी सन् १९५० जुलाई का महीना था। मैं विश्वविद्यालय के सेन्ट्रल हिन्दू कालेज भवन (जिसे आजकल कला संकाय भवन कहते हैं) गया था। मुझे दर्शन विभाग में कुछ कार्य था। दर्शन विभाग और संस्कृत विभाग उस भवन के उत्तरी भाग में स्थित थे, वहाँ कक्षाएँ दिन में पौने ग्यारह बजे प्रारम्भ होती थीं। दूसरा घंटा समाप्त होने ही वाला था। घंटा बजते ही एम०ए० संस्कृत कक्षा के छात्र-छात्राएँ एक कमरे से निकल कर दूसरे कमरे में प्रवेश कर रहे थे। दस-ग्यारह छात्राएँ थीं। उनमें एक छात्रा आकार और वेशभूषा दोनों दृष्टियों से पृथक् दीख रही थी। पूरा स्वरूप एक तपस्विनी छात्रा का था।

उसी वर्ष मई के महीने में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में श्री कला संगीत भारती (College of Music & Fine Arts) की स्थापना हो चुकी थी। पण्डित ओंकारनाथ ठाकुर इस महा-विद्यालय के प्राचार्य (प्रिंसिपल) थे। इस महाविद्यालय के संगीत विभाग का कार्य रूइया छात्रावास में चलता था। संगीत की कक्षाएं सायंकाल में चलती थीं। संगीत के अन्य कार्यक्रम भी समय-समय पर होते थे। संगीत में रुचि होने के कारण मैं वहाँ जाया करता था। 'तपस्विनी' वहाँ भी दीखती थीं। जानना कठिन नहीं था कि वे संगीत महाविद्यालय की भी छात्रा थीं।

विश्वविद्यालय का ३३वाँ दीक्षान्त-समारोह २६ नवम्बर १९५० को था। 'तपस्विनी' एम०ए० (हिन्दी) की उपाधि प्राप्त कर रही थीं। अगले वर्ष के दीक्षान्त- समारोह में उन्हें एम्०ए० (संस्कृत) की उपाधि से अलंकृत किया गया। तभी मैं उनके नाम से अवगत हुआ। दिसम्बर १९५४ में पी०एच०डी० (संस्कृत), दिसम्बर १९५५ में प्राच्य विद्या संकाय से संस्कृत साहित्य में शास्त्राचार्य और संगीत संकाय से कंठ संगीत में संगीतालङ्कार की उपाधियों से भी 'तपस्विनी' विभूषित हो गयी। इस प्रकार पाँच वर्षों में जो ज्ञान उन्होंने अर्जित किया वह साधारण नहीं था।

अगस्त १९५५ में 'तपस्विनी' प्रेमलता शर्मा की नियुक्ति संगीत महाविद्यालय में लेक्चरर के पद पर हो गयी। उस समय श्री कला संगीत भारती में संगीत से सम्बद्ध तीन विभाग (Sections) थे—कंठ-संगीत, वाद्य-संगीत और अनुसन्धान विभाग। श्री शिवशरण (Professor Alain Danielou) अनुसन्धान विभाग के अध्यक्ष (In-charge) थे। वे सम्मानार्थ उस कार्य को कर रहे थे। दो-तीन वर्षों के पश्चात् वे विदेश चले गये। प्रेमलता शर्मा जी नियुक्ति कंठ-संगीत एवं वाद्य-संगीत विभागों में स्नातक और स्नातकोत्तर कक्षाओं के विद्यार्थियों को संगीत शास्त्र का सैद्धान्तिक पक्ष पढ़ाने के लिए हुई थी। साथ ही अनुसन्धान-विभाग के अध्यक्ष का कार्यभार भी उन्हें सौंपा गया क्योंकि तत्कालीन कुलपति महोदय डा०सी०पी० रामस्वामि अय्यर ने उन्हें इस कार्य के लिए पूर्णतः सक्षम पाया। इस नियुक्ति के पश्चात् तपस्विनी बहन प्रेमलताजी का विश्वविद्यालय के केन्द्रीय कार्यालय में आवागमन होने लगा। तभी मेरा उनसे व्यक्तिगत परिचय हुआ।

डा० सी०पी० रामस्वामि अय्यर ने पहली जुलाई १९५४ को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति के पद का भार संभाला था। वे एक कुशल प्रशासक ही नहीं अपितु एक उच्च कोटि के विद्वान, नीतिज्ञ और वक्ता भी थे। वे संगीत विभाग की उस समय की स्थिति से सन्तुष्ट नहीं थे। उनकी इच्छा थी कि यह विभाग और उन्नति करे, और समृद्ध हो। इस उद्देश्य से उन्होंने

पण्डित ओंकारनाथ ठाकुर को संयोजक बनाकर एक पुनर्गठन समिति बनायी। इस समिति के अन्य सदस्य थे—१. प्रोफेसर साम्बमूर्ति, २. श्रीकृष्ण नारायण रतनजनकर, ३. पण्डित विनय चन्द्र मौद्गल्य। पण्डित ओंकारनाथजी की बीमारी के कारण, बहन प्रेमलताजी को ही इस समिति के सचिव के रूप में कार्य करना पड़ा। संयोजक एवं सदस्यों से परामर्श करते हुए प्रायः दो वर्ष तक बहनजी को अथक परिश्रम करना पड़ा। तदनन्तर पुनर्गठन समिति की जो रिपोर्ट आयी वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी। इस रिपोर्ट से, प्रशासन के क्षेत्र में भी बहन प्रेमलताजी की कार्य कुशलता का परिचय मिला। पुनर्गठन समिति की संस्तुतियों से संगीत विभाग के पाठ्यक्रम में परिर्वतन हुए; शिक्षकों के अधिक पदों का सृजन हुआ, विभाग के अनुदान में वृद्धि हुई, शिक्षकों का वेतन-मान बढ़ा और विद्यालय का सर्वाङ्गीण विकास हुआ। अनुसन्धान-विभाग के लिए भी एक रीडर का पद स्वीकृत हुआ और उस पद पर बहन प्रेमलताजी की नियुक्ति पहली अगस्त १९५७ से हो गयी। साथ ही अनुसन्धान विभाग के अध्यक्ष के पद पर भी उन्हें आसीन किया गया। संगीतशास्त्र-विभाग की नींव पड़ गयी।

सन् १९६० में श्रीकला संगीत भारती का प्रथम दशक पूर्त्ति समारोह मनाया गया उस अवसर पर एक विशेषांक 'नाद-रूप' के शीर्षक से प्रकाशित हुआ। 'नाद-रूप' की प्रधान संपादिका एवं व्यवस्थापिका बहन प्रेमलताजी ही थीं। संपादकीय में बहनजी ने लिखा :—

"वीणा-पुस्तक-धारिणी भारती की केवल पुस्तकधारिणी अपूर्ण मूर्त्ति की वीणा को झंकार द्वारा पूर्ण बनाने की, इस महान् विश्वविद्यालय के स्थापक महामना पं० मदनमोहन मालवीय की उत्कट अभिलाषा अगस्त १९५० में उन्हीं के वचनबद्ध पूज्यपाद गुरुदेव पं० ओंकारनाथजी ठाकुर की अध्यक्षता में श्री कला संगीत भारती की स्थापना से पूर्ण हुई। फिर भी इस संस्था के जीवन के प्रारम्भिक प्रायः ५ वर्ष संघर्ष के झकझोरों से डाँवाडोल, अनिष्ट की आशंका से अस्थिर तथा निराशा के आवरण से आच्छादित रहे। किन्तु स्थापक के रूप में इसे जिस महान् विभूति की प्राप्ति हुई थी, उसके शक्तिशाली व्यक्तित्व, अदम्य विश्वास और अखण्ड उत्साह के बल पर इसका अस्तित्व टिका रहा, क्रमशः विघ्न बाधायें दूर होती गयीं और तत्कालीन कुलपति महोदय डा० सर सी०पी० रामस्वामि अय्यर की प्रेरणा से इसके पुनर्गठन की जो योजना बनी उसके कार्यान्वित होने पर इसका वर्तमान रूप निखरा। आज यह अपने कष्ट-संकुल शैशव को व्यतीत करके कैशोरावस्था में पदार्पण कर चुकी है, और अपने सर्वतोमुखी विकास की आशा से दैदीप्यमान है। इस संस्था की प्रमुख विशेषताओं यथा वैज्ञानिक आधार पर निर्मित पाठ्यक्रम, सुदृढ़ तथा सुचारु शिक्षण प्रणाली, उच्च शिक्षणस्तर तथा विलक्षण परीक्षा-पद्धति आदि के सम्बन्ध में इस अङ्क के परिशिष्ट में कुछ विस्तार से विवरण दिया गया है। यहाँ तो इसके उज्ज्वल भविष्य के लिए मङ्गलाकांक्षा व्यक्त करना ही प्रासङ्गिक है।"

"श्रीकला संगीत भारती के प्रथम दशक पूर्त्ति समारोह के शुभ अवसर पर 'नाद रूप' का यह प्रथम तथा विशेष अङ्क अपनी नाद-तरङ्गों तथा रूप-रश्मियों द्वारा संगीताकाश को गुञ्जित, कला-भूमि को आलोकित करने के लिए अवतरित हो रहा है।

निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिए 'नाद-रूप' की अवतारणा की गयी है :—

१. भरत-प्रतिपादित सनातन सत्य-सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण, उनकी पुनः स्थापना तथा अन्य ग्रन्थकारों के लेखन में निहित भरतानुकूल तथा भरत प्रतिकूल मतों की विवेचना।
२. आधुनिक सङ्गीत के लक्ष्य के कलापक्ष तथा भावपक्ष की भरतसिद्धान्त के साथ संगति स्थापित करना।
३. विशुद्ध अनुसन्धान से प्राप्त सामग्री का प्रकाशन।
४. साम गान, गान्धर्व वेद आदि प्राचीन लुप्तप्राय विषयों पर अनुसन्धान का प्रोत्साहन तथा प्रेरण।
५. संगीत तथा कला सम्बन्धी बिखरी हुई सामग्री का संकलन तथा प्रकाशन।
६. संगीत तथा ललित कलाओं की शिक्षा सम्बन्धी समस्याओं की विवेचना एवं एक वैज्ञानिक शिक्षण पद्धति को प्रतिष्ठित करने का प्रयास।
७. संगीत तथा कला के क्षेत्र में समुचित स्तरीकरण का प्रयास।

८. मौलिक कला-कृतियों का प्रकाशन।

वास्तव में बहन प्रेमलताजी ने अगस्त १९५७ में ही इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए दृढ़सङ्कल्प कर लिया था और वे तन्मय होकर उस दिशा में कार्य करने लगी थीं। फलस्वरूप सन् १९६६ के अन्त में संगीत शास्त्र विभाग की स्थापना सविधि हो गयी। उस समय इस विभाग में एक रीडर और एक शिक्षक, दो शोध सहायक, एक प्रतिलिपिक और एक टंकक, इतने ही पद थे। (लगभग पंद्रह वर्ष के पश्चात् एक प्रोफेसर का पद स्वीकृत हुआ और उस पर बहन प्रेमलताजी की नियुक्ति ८ अप्रैल १९८१ से हुई।) परन्तु अपने गुरुकुल (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) के प्रति समर्पित बहनजी के लिए यह थोड़ी भी कठिन समस्या नहीं थी। मात्र पाँच सहायकों के साथ अथक परिश्रम करते हुए उन्होंने संगीत शास्त्र विभाग को सुदृढ़ बनाने में कुछ उठा नहीं रखा। उनके अदम्य साहस और उत्साह ही के कारण यह विभाग भारत में एक अतुलनीय स्थान प्राप्त कर सका।[1]

पण्डित ओंकारनाथ ठाकुर ६० वर्ष की अवस्था पूर्ण करते ही विश्वविद्यालय के नियमानुसार जून १९५७ के अन्त में सेवा निवृत्त हो गये थे। परन्तु उसके बाद भी वे काशी में ही रहते थे और बीच-बीच में विद्यालय आकर विद्यार्थियों और अध्यापकों का उत्साह बढ़ाते रहे। उनके अर्थानुकूल्य से ही 'नादरूप' का प्रकाशन सम्भव हो सका। विश्वविद्यालय ने अपने ४६वें दीक्षान्त समारोह में २६ दिसम्बर १९६२ को उन्हें डी० लिट्० की मानद उपाधि से अलंकृत कर सम्मानित किया।

विद्यार्थी जीवन में बहन प्रेमलताजी महिला महाविद्यालय के छात्रावास में रहती थीं। विश्वविद्यालय की सेवा में आने के बाद उसका निवास-स्थान संकटमोचन मन्दिर के समीप श्रीमती लीला शर्मा (वसन्त कन्या महाविद्यालय, कमच्छा, की प्रधानाचार्या) के मकान में रहा। सन् १९५७ में उन्हें महिला महाविद्यालय से सटे महिला अध्यापिका आवास क्षेत्र में एक मकान आवंटित हो गया और वे उस मकान में आ गयीं। उनके माता-पिता मथुरा में रहते थे। बहनजी की अनुजा भोली (ऊर्मिला)[2] वहाँ पढ़ती थी। अत: उनका वहाँ रहना आवश्यक था। यदा-कदा वे काशी आ जाते थे और प्रेमलताजी के साथ रहते थे। सन् १९५८ में भोली हाई स्कूल परीक्षा पास हो गयी। तदनन्तर वे मथुरा के मकान को खाली कर भोली के साथ काशी आ गये।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में सन् १९५८ तक इण्टरमीडियट का पाठ्यक्रम दो वर्ष और बी०ए० का पाठ्यक्रम दो वर्ष का होता था। सन् १९५८ में विश्वविद्यालय ने तीन वर्ष का डिग्री पाठ्यक्रम, प्रारम्भ करने का निश्चय किया। मैट्रिक के बाद एक वर्ष का पी० यू०सी० पाठ्यक्रम, तदनन्तर तीन वर्ष बी०ए०, बी०एस०सी०, बी०काम० का पाठ्यक्रम तैयार किया गया। सन् १९५९ जुलाई में इण्टर कक्षा के बदले पी०यू०सी० के लिए विद्यार्थियों को प्रविष्ट किया गया। सन् १९६० जुलाई से तीन वर्ष का डिग्री पाठ्यक्रम आरम्भ हुआ।

विश्वविद्यालय के महिला महाविद्यालय में प्रथम पी०यू०सी० (आर्टस्) कक्षा में ऊर्मिला शर्मा का प्रवेश जुलाई १९५९ में हुआ। मेरी पुत्री रमा का प्रवेश भी उसी वर्ष पी०यू०सी० (आर्टस्) में हुआ। दोनों ने संस्कृत को एक वैकल्पिक विषय चुना था। दोनों सहपाठी हो गये। महिला महाविद्यालय में उस समय संस्कृत की प्राध्यापिका डा० भक्तिसुधा मुखोपाध्याय थीं। ऊर्मिला और रमा दोनों उनकी प्रिय शिष्या बन गयीं और दोनों में घनिष्ठता बढ़ती गयी। ऊर्मिला रमा से डेढ़ साल बड़ी थी पर कद में रमा ऊर्मिला से ४ इंच लम्बी थी। एक बार महिला महाविद्यालय के वार्षिकोत्सव के अवसर पर अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक का अभिनय हुआ। ऊर्मिला शकुन्तला बनी और रमा दुष्यन्त। चार वर्ष महिलामहाविद्यालय में पढ़ने के बाद बी०ए० परीक्षा में उत्तीर्ण होकर जुलाई १९६३ में दोनों ने इण्डॉलॉजी कालेज के संस्कृत विभाग में एम०ए० (संस्कृत) कक्षा में प्रवेश प्राप्त किया।

जब ऊर्मिला एम०ए० प्रथम वर्ष में थी अर्थात् सन् १९६३ के अन्त में बहन प्रेमलताजी को विश्वविद्यालय-पोस्ट आफिस के समीप जोधपुर कॉलोनी में आवास न० न्यू ई/५ आवंटित हो गया और बहन प्रेमलताजी का परिवार उस मकान में आ गया।

---

1 संगीत-शास्त्र-विभाग—स्थापना सम्बन्धी इतिहास इस ग्रन्थ के परिशिष्ट (क) में द्रष्टव्य। —सम्पा०

2 जन्म से सबसे छोटी मौसी की बेटी, जिसे ६ वर्ष की वयस् से ही प्रेमलताजी के माता (भोली की सबसे बड़ी मौसी) पिता ने अपनी सन्तान की तरह अपना लिया था, क्योंकि उसमें बहुत-विद्यार्जन की सम्भावना ज्योतिष् से आँकी गई थी, उसकी पूर्ति उसके माँ-पिता-परिवार में सम्भव नहीं थी। उसके ये दोनों नाम भी यहीं रखे गये थे।

हम लोग भी जोधपुर कॉलोनी में रहते थे। अतः दोनों परिवार सन्निकट आ गये। अप्रैल १९६४ में हम लोग जोधपुर कॉलोनी से प्रिंसिपल्स कॉलोनी आ गये। लगभग आधा किलोमीटर दूरी बढ़ गयी, परन्तु इससे कोई फर्क नहीं पड़ा। हमारे घर से पैदल चलकर बहनजी के आवास तक पहुँचने में पहले से पांच छः मिनट अधिक लग जाते थे। ज्यों-ज्यों दोनों परिवारों में घनिष्टता बढ़ती गयी, बहनजी के प्रारम्भिक जीवन के सम्बन्ध में अधिक जानकारी मिलती गयी।

बहन प्रेमलताजी का जन्म विक्रमी सम्वत् १९८४ वैशाख शुक्ल पक्ष नवमी भौमवार पूर्वाफाल्गुनि नक्षत्र युक्त शुभदिन, तदनुसार १० मई १९२७ को सांयकाल ५ बजे (सूर्योदयादि घटी २८ पल २३) कन्या लग्न में जालंधर जिला (पंजाब) के नकोदर ग्राम में एक प्रतिष्ठित सारस्वत ब्राह्मण वत्स-गोत्रीय परिवार में हुआ। वे अपने माता-पिता की एकमात्र जीवित संतान थीं। उनके पिता पं० लालचन्द शर्मा बी०काम० भारतीय रेलवे में आडिटर के पद पर कार्य कर रहे थे। उनको दिल्ली, कलकत्ता और बम्बई तीनों जगह आडिट करना पड़ता था परन्तु अधिकांश वे दिल्ली में ही रहते थे। वे अपनी परम्परा और शास्त्रों से सुपरिचित थे। ज्योतिष शास्त्र का भी उन्हें अच्छा ज्ञान था। बहनजी की माता श्रीमती माया देवी सुशिक्षित थीं। प्राथमिकशाला के बाद घर में ही उनकी शिक्षा हुई थी और उन्हें भी हमारे शास्त्रों एवं पुराणों का अच्छा ज्ञान था। वे एक अत्यन्त नियमनिष्ठ और अनुशासित महिला थीं। अन्यों से भी वे यही अपेक्षा करती थीं। सबसे मुख्य बात यह थी कि दोनो—लालचन्द्र शर्मा और माया देवी—कृष्णप्रेमी गौड़ीय वैष्णव थे। अतः उनके घर का वातावरण शुद्ध एवं पवित्र था। इसी वातावरण में बहन प्रेमलता का पालन-पोषण हुआ। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही हुई। साथ ही साथ संगीत की शिक्षा भी उन्हें दी गयी। ग्यारह वर्ष की अवस्था में बहनजी ने पंजाब विश्वविद्यालय की हाई स्कूल परीक्षा पास कर ली। तदुपरान्त एक ट्युटोरियल कालेज में दो वर्ष पढ़कर सन् १९४० में वे दिल्ली विश्वविद्यालय की इण्टर परीक्षा में उत्तीर्ण हो गयीं। इसके बाद उन्होंने दिल्ली के इन्द्रप्रस्थ गर्ल्स कालेज में बी०ए० कक्षा में प्रवेश लिया। सन् १९४२ में पंद्रह वर्ष की अवस्था में दिल्ली विश्वविद्यालय की बी०ए० परीक्षा में सफल होकर उन्होंने बी०ए० की डिग्री प्राप्त कर ली।

सन् १९४२ में कांग्रेस ने 'भारत छोड़ो आन्दोलन' आरंभ कर दिया। देश की स्थिति गम्भीर थी। पण्डित लालचन्द शर्मा देशभक्त गांधीवादी थे। उन्होंने अपनी नौकरी छोड़ दी और स्वतन्त्र रूप से दिल्ली में ही कुछ कारबार करना प्रारम्भ किया। परन्तु उनका अधिक आकर्षण गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के प्रति था। बहन प्रेमलताजी की प्रवृत्ति भी उसी ओर थी। परिवार में गौड़ीय वैष्णव ग्रन्थों का अध्ययन आरम्भ हो गया। उस निमित्त बहन जी ने ब्रजभाषा, अवधी, मैथिली और बंगला भाषा का समुचित ज्ञान प्राप्त किया। साथ ही साथ संस्कृत और हिन्दी साहित्य का अध्ययन चलता रहा। संगीत की शिक्षा भी होती रही।

सन् १९४६ में लालचन्द्र शर्माजी के विचार में यह बात आयी कि गौड़ीय वैष्णव ग्रन्थों के अध्ययन के लिए ब्रज भूमि ही उपयुक्त जगह होगी। अतः सपरिवार वे दिल्ली से मथुरा आ गये। लगभग तीन वर्ष बहनजी ने मथुरा और वृन्दावन में गौड़ीय वैष्णव ग्रन्थों का गहन अध्ययन किया। बंगाली-वैष्णव सत्सङ्ग में श्रीमद्भागवत एवं श्री चैतन्य-मत के ग्रन्थों का अध्ययन भी चलता रहा। उस समय गौड़ीय मठ श्री श्रीमद् प्रभुपाद भक्ति सिद्धान्त सरस्वती एवं आचार्य देव श्री पुरीदास जी के प्रवचनों का रसास्वाद करते हुए बहनजी भक्तिरस में डूब गयीं।

भक्ति के साथ सङ्गीत का घनिष्ठ सम्बन्ध है क्योंकि भगवान् गानप्रिय हैं। संत त्यागराज कहते हैं—''संगीतज्ञानमु भक्ति विना सन्मार्गमु गलदे ?'' अर्थात् सङ्गीत ज्ञान भक्ति के बिना निरर्थक है, सन्मार्ग में ले जाकर मोक्ष प्राप्ति नहीं करा सकता है। बहन जी को तो बचपन ही से भगवद्भक्ति के साथ संगीत की शिक्षा दी जा रही थी। मथुरा आने के बाद भक्ति में दृढ़ता आ गयी। संगीत में भी प्रगति हो गयी। सन् १९४९ में भातखण्डे संङ्गीत-विश्वविद्यालय द्वारा संचालित संगीत परीक्षा में भी उत्तीर्ण हो गयीं।

तदुपरान्त उनको इच्छा हुई कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में संगीत एवं संस्कृत की उच्चतम शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए। उस समय उनकी अवस्था २२ वर्ष की थी परन्तु वैवाहिक जीवन में उनकी रुचि नहीं थी। केवल विद्योपार्जन में ही चित्त लगा

रहा। पण्डित लालचन्द्र शर्मा तो ज्योतिष शास्त्र के अच्छे ज्ञाता थे ही। उन्होंने देखा कि उनकी बेटी की जन्मकुण्डली में विवाह का योग नहीं था। विद्या का ही प्रबल योग था। अतः उन्होंने अपनी बेटी के प्रस्ताव का अनुमोदन कर दिया।

सन् १९०५ में महामना मालवीय जी द्वारा प्रस्तावित हिन्दू विश्वविद्यालय की योजना में एक महाविद्यालय गांधर्व वेद तथा ललित कलाओं के शिक्षण के लिए भी था। सन् १९११ में उनके द्वारा प्रकाशित संशोधित योजना में इस महाविद्यालय का नाम सङ्गीत एवं कला महाविद्यालय कर दिया गया था। परन्तु धनाभाव के कारण इस महाविद्यालय की स्थापना नहीं हो सकी थी। गायन सीखने के लिए कुछ व्यवस्था अवश्य थी। सायंकाल में रुइया छात्रावास में गायन कक्षा चलती थी। वहाँ गायनाचार्य पण्डित शिवप्रसाद त्रिपाठी गायन सिखाते थे। श्री मन्नुजी मृदंगाचार्य थे। इच्छुक विद्यार्थी वहीं गाना सीखते थे। विद्यार्थियों से फीस नहीं ली जाती थी।

सन् १९४९ में जब पण्डित गोविन्द मालवीय जी ने कुलपति का कार्यभार सँभाला तब सङ्गीत महाविद्यालय की स्थापना का विषय कुछ आगे बढ़ा। मार्च १९४९ में विश्वविद्यालय की विद्वत्परिषद ने इस विषय पर विचार करने के लिए एक समिति का गठन किया। इस समिति की संस्तुति थी कि सङ्गीत महाविद्यालय स्थापित करना तो संभव नहीं होगा परन्तु एक सङ्गीत एवं कला विद्यालय आरम्भ कर उसमें तीन वर्ष का डिप्लोमा कोर्स चलाया जा सकता है और उसके लिए आवश्यक प्रबन्ध करना संभव है। विद्वत्परिषद ने इस संस्तुति को स्वीकार कर लिया। सारी व्यवस्थाएँ शीघ्रता से की गयीं और संङ्गीत एवं कला विद्यालय का शुभारम्भ १८ अगस्त १९४९ को हो गया। विद्यालय का विधिवत् उद्घाटन पण्डित ओंकारनाथ ठाकुर के करकमलों से नवम्बर १९४९ में हुआ।

इस बीच अक्टूबर १९४९ में काशी नरेश महाराज विभूतिनारायण सिंह से विश्वविद्यालय के लिए बारह लाख रुपये का विशेष दान प्राप्त हुआ। इसमें दो लाख रुपये संगीत एवं कला महाविद्यालय की स्थायी निधि के लिए थे। इसके बाद इस विद्यालय की स्थापना में किसी प्रकार की बाधा नहीं रही। मई १९५० में संगीत एवं कला विद्यालय (School of Music & Fine Arts) संगीत एवं कला महाविद्यालय (College of Music & Fine Arts) बन गया। पण्डित ओंकारनाथ ठाकुर से प्रार्थना की गयी कि वे प्रोफेसर और प्रथम प्रिंसिपल के रूप में इस महाविद्यालय का कार्यभार संभालें। उन्होंने स्वीकृति दे दी।

मथुरा में बहन प्रेमलताजी संङ्गीत की 'विशारद' परीक्षा में उत्तीर्ण होने के बाद काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के एम०ए०(हिन्दी) की परीक्षा में बैठने के लिए तैयारियाँ करने लगीं। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के अधिनियम (Act) में महिलाओं को शिक्षा प्रदान करने के उद्देश्य से कुछ विशेष व्यवस्थाएँ की गयी हैं। कुछ विषयों में विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रमानुसार घर में ही अध्ययन कर महिलाएँ विश्वविद्यालय की परीक्षा में प्राइवेट परीक्षार्थी के रूप में बैठ सकती हैं। पण्डित लालचन्द्र शर्माजी ने विश्वविद्यालय से एम०ए० (हिन्दी) का पाठ्यक्रम मँगा लिया। तदनुसार बहनजी ने सन् १९५० की परीक्षा में बैठने के लिए सारी तैयारियाँ कर लीं। मार्च १९५० में बहनजी अपने पिता के साथ काशी आयीं और प्रथम बार विश्वविद्यालय प्राङ्गण में प्रवेश करते ही यह अनुभव करने लगीं कि वे एक महान् गुरुकुल में प्रवेश कर रही हैं। उन्होंने निश्चय कर लिया कि यहीं अंतेवासी होकर अध्ययन करना चाहिए। एम०ए० (हिन्दी) की परीक्षा समाप्त होते ही पिता-पुत्री दोनों मथुरा वापस चले गये। संस्कृत में एम०ए० करने के लिए तैयारियाँ होने लगीं।

जुलाई १९५० के प्रारम्भ में पिता-पुत्री दोनों पुनः काशी आ गये। पण्डित ओंकारनाथ जी ने ७ जुलाई १९५० को अपना कार्यभार संभाल लिया था। महाविद्यालय का नाम उन्होंने 'श्री कला संगीत भारती' रखा। श्रीकला संगीत भारती में विद्यार्थियों के प्रथम दल का प्रवेश जुलाई के महीने में नियमानुसार हुआ। बहनजी इसी दल में थीं। महिला छात्रावास में भी उनका प्रवेश हो गया। संगीत की कक्षाएं सायंकाल में चलती थीं। अतः बहनजी ने सेंट्रल हिन्दू कालेज में भी एम०ए० संस्कृत की कक्षा में (casual) नैमित्तिक विद्यार्थी के रूप में प्रवेश प्राप्त कर लिया। पण्डित लालचन्द शर्माजी के अनुरोध पर पण्डित ओंकारनाथ जी ठाकुर ने स्वीकार कर लिया कि वे उनकी पुत्री के स्थानीय अभिभावक रहेंगे। निश्चिन्त होकर शर्माजी मथुरा लौट गये।

बहन प्रेमलता जी दिन में सेन्ट्रल हिन्दू कालेज में एम्०ए० संस्कृत की कक्षा में उपस्थित होती रहीं। सायंकाल रुइया छात्रावास में संगीत सीखती रहीं। बाकी समय में स्वयं अध्ययन तथा भगवान् का ध्यान। पूरी तरह तप-स्वाध्याय-निरत जीवन बिताते हुए बहनजी अपने एकमात्र उद्देश्य की पूर्ति में लगी रहीं। सन् १९५१ में एम्०ए० (संस्कृत) की परीक्षा में भी उत्तीर्ण हो गयीं। तदनन्तर पी-एच०डी० के लिए उन्होंने पंजीकरण कराया। शोध का विषय था—Studies in Bhakti-Rasa. (Supervisor) निर्देशक थे संस्कृत विभागाध्यक्ष डॉ० परशुराम लक्ष्मण वैद्य। शोध के विषय पर समुचित ज्ञान प्राप्त करने के लिए बहन प्रेमलताजी ने दिग्गज विद्वान् महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराज के चरणों में बैठकर अध्ययन किया, संस्कृत महाविद्यालय के साहित्य विभागाध्यक्ष पण्डित महादेव शास्त्री पाण्डेय एवं दर्शन विभागाध्यक्ष पण्डित टी०वी० रामचन्द्र दीक्षितजी के सान्निध्य में काव्यशास्त्र, छन्दःशास्त्र, दर्शन इत्यादि पढ़ा, पण्डित ब्रह्मदत्त जिज्ञासु जी से संस्कृत व्याकरण की जटिल समस्याओं को सीखा। संक्षेप में कहा जाय तो सन् १९५० से १९५५ तक बहनजी ने विद्योपार्जन के लिए कठोर तप किया। उनके सब गुरुजनों का परिपूर्ण आशीर्वाद भी उन्हें प्राप्त था।

मार्च १९५४ में बहनजी ने अपना शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत कर दिया। शोध-प्रबन्ध उन्होंने अंग्रेज़ी में लिखा। शोध-प्रबन्ध का शीर्षक था—Studies in Bhakti Rasa—(Based on Sri Rupa Goswami)। इसी शोध-प्रबन्ध पर उन्हें दिसम्बर १९५४ में पी-एच०डी० (संस्कृत) की उपाधि प्राप्त हुई। सन् १९५५ में शास्त्राचार्य और संगीतालङ्कार भी हो गयीं।

विद्यार्थी जीवन समाप्त होते ही भगवान् की कृपा से बहन जी को अपने गुरुकुल की सेवा करने का अवसर भी मिल गया। कालक्रम में विश्वविद्यालय परिसर में डाकखाने के समीप जोधपुर कालनि में एक बड़ा आवास भी प्राप्त हो गया। सङ्गीत शास्त्र विभाग रुइया छात्रावास के पास गुजरात भवन में स्थित था। आवास से विभाग जाने में पंद्रह मिनट से अधिक नहीं लगते थे। दिन भर विभाग में अध्ययन, अध्यापन चलता रहा और बाकी समय में वही कार्य आवास में भी। अध्यापन के साथ-साथ बहनजी का विशेष अनुसन्धान कार्य भी होता रहा। आवास स्थान विस्तृत होने के कारण अन्य कार्यक्रमों के लिए सुविधा थी। समय-समय पर विशिष्ट कार्यक्रम होते रहे। पहला विशेष उल्लेखनीय कार्यक्रम का आयोजन अक्टूबर या नवम्बर १९६५ में एक कवि सम्मेलन के रूप में हुआ था। अवसर था चित्रकवि पण्डित रामरूप पाठक प्रणीत 'चित्रकाव्यकौतुकम्' ग्रन्थ का लोकार्पण। पण्डित रामरूप पाठक बिहार प्रान्त के रहने वाले थे परन्तु काशीवास करने के लिए काशी आ गये थे। काशी में नगवा के रुइया संस्कृत पाठशाला में अवैतनिक रूप से अध्यापन करते हुए संस्कृतविद्याव्यसनी छात्रों को काव्य निर्माण में प्रवृत्त कर रहे थे। सन् १९५१ में जब बहनजी अपने शोध-प्रबन्ध के सम्बन्ध में पण्डित महादेवशास्त्री जी के पास जाती थीं तब वहीं उनका परिचय चित्रकविजी से हुआ। पण्डित रामरूप पाठक का जन्म सन् १८९१ ई० में हुआ था। बहनजी से परिचय होते समय वे ६० वर्ष के थे। अत्यन्त सरल विद्या-विनय सम्पन्न पण्डित रामरूप पाठक जी की पण्डित महादेव शास्त्री जी मुक्तकंठ से प्रशंसा करते थे। सन् १९५१ के बाद भी बहनजी की उनसे अनेक बार भेंट हुई। सन् १९६३ के ग्रीष्मावकाश में भगवत्प्रेरणा से बहनजी के मन में चित्रकवि की रचनाओं को देखने की इच्छा हुई और बहनजी ने उन्हें अपने घर आने के लिए आमन्त्रित किया। एक दिन वे अपनी कृतियों के साथ बहनजी के आवास पर आ गये। बहनजी ने चित्रों को ध्यान पूर्वक देखा और पण्डितजी से उनके बारे में बातचीत भी की। बहनजी ने उनसे पूछा कि आपने इनके प्रकाशनार्थ यत्न किया कि नहीं। अत्यन्त सरल भाव से उन्होंने कहा—अब आप ही इसका प्रकाशन कीजिए। ब्राह्मण के मुख से निकले वचन को भगवान् का आदेश मानकर बहनजी ने पुस्तक का संपादन अपने हाथ में ले लिया। अपने व्यय से व्यवस्थित चित्र बनवाये तथा चार महीनों के अन्दर चित्रों के ब्लाक भी बनवा लिये। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय प्रेस में मुद्रण का प्रबन्ध हो गया और प्रकाशन का भार मोतीलाल बनारसीदास के मालिक श्री सुन्दरलाल जैन ने ले लिया। यह सब बहनजी के प्रयास के कारण ही संभव हुआ। पुस्तक का मुद्रण कार्य प्रारम्भ होने के पूर्व बहनजी ने अपने गुरु पण्डित महादेव शास्त्री पाण्डेय का आशीर्वाद प्राप्त करना चाहा।

पण्डित महादेव शास्त्रीजी जुलाई सन् १९२९ से काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की सेवा में थे। १६ मई १९५४ को उन्हें संस्कृत महाविद्यालय के प्रिंसिपल के पद पर नियुक्त किया गया। उस पर भी चार वर्ष सेवा करने के पश्चात् ६० वर्ष की अवस्था पूर्ण होते ही वे **१० मई १९५७** को सेवा निवृत्त हो गये। कुछ समय के पश्चात् उन्होंने संन्यासाश्रम ग्रहण कर लिया और स्वामी करपात्री जी के अनुरोध पर काशी सुमेरु पीठ शङ्कराचार्य बनना स्वीकार कर लिया।

अनन्त श्री विभूषित जगद्गुरु शङ्कराचार्य-काशी सुमेरु पीठाधीश्वर-स्वामि महेश्वरानन्दसरस्वती जी (पूर्वाश्रमकवितार्किक चक्रवर्ति पण्डित महादेव शास्त्री) के सम्मुख साष्टांग प्रणाम कर बहनजी ने अपना विचार प्रस्तुत किया। स्वामीजी अत्यन्त प्रसन्न हुए और बहनजी को आशीर्वाद प्रदान किया। बाद में उन्होंने 'आशीर्वचनम्' के शीर्षक से चित्रकाव्य के सम्बन्ध में ३० श्लोक लिखकर बहनजी को कृतार्थ किया।[1]

संवत् २०२१ शिवरात्रि (मार्च १, १९६५) को बहन जी ने अपना सम्पादकीय लिखकर संपादन का कार्य पूरा कर दिया परन्तु पुस्तक छपकर तैयार होने में छः माह और लग गये। बहनजी ने निश्चय किया कि पुस्तक का लोकार्पण एक कवि सम्मेलन में ही होना चाहिए। कविसम्मेलन का आयोजन हुआ। बहनजी के आवास न्यू ई/५ के छत पर शामियाना डाला गया। बहनजी के परम सौभाग्य की बात थी कि सुमेरुपीठाधीश्वर शङ्कराचार्य स्वामिमहेश्वरानन्द सरस्वती जी के सान्निध्य में यह कविसम्मेलन हुआ। छत्र चामरादि सजधज के साथ पधारकर उन्होंने बहनजी के आवास को पवित्र किया। वे स्वयं सर्वमान्य उत्कृष्ट कवि थे। कवि सम्मेलन की अध्यक्षता उन्होंने ही की। सम्मेलन में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत महाविद्यालय एवं संस्कृत विभाग के सभी विद्वान् उपस्थित थे। संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रतिष्ठित विद्वान् भी उपस्थित थे। उपस्थित विद्वानों में अनेक लब्ध प्रतिष्ठ कवि थे जिनमें पं० प्रियव्रत शर्मा, पं० रामकुबेर मालवीय, पं० रतिनाथ झा और पं० बटुकशास्त्री खिस्ते प्रमुख थे।

ईशप्रार्थना के साथ अपराह्न ठीक चार बजे कवि-सम्मेलन प्रारम्भ हुआ। चित्रकवि पण्डित रामरूप पाठक का सम्मान हुआ। सुमेरुपीठाधीश्वर शङ्कराचार्य जी के करकमलों से चित्रकाव्य-कौतुकम् पुस्तक का लोकार्पण हुआ। ७४ वर्ष के चित्रकवि आनन्दमग्न थे। पूरा वातावरण ही आनन्दमय था। चार घंटे तक अमृत वर्षा होती रही। मधुर मिष्टान्न के साथ समारोह सम्पन्न हुआ। बहनजी की भूरि-भूरि प्रशंसा हुई। बहनजी जो भी कार्य हाथ में लेती थीं उस कार्य को उत्तम ढंग से सम्पन्न करके ही दम लेती थीं। यह उनकी एक विशेषता थी। चित्रकाव्यकौतुकम् का प्रकाशन इसका एक उदाहरण था।[2]

महामना मालवीय जी धर्म को चरित्र-निर्माण का सीधा मार्ग और सांसारिक सुख का सच्चा द्वार समझते थे। वे देशभक्ति को सर्वोत्तम शक्ति मानते थे और उनका विश्वास था कि देशभक्ति मनुष्य को उच्चकोटि की निस्वार्थ सेवा करने की ओर प्रवृत्त करती है। इसीलिए काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना के समय विश्वविद्यालय का एक ध्येय "धर्म और नीति की शिक्षा को अनिवार्य अङ्ग मानकर युवकों में चरित्र-निर्माण का विकास करना" सूत्रबद्ध किया गया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एकादशी कथा तथा रविवासरीय गीता व्याख्यान का प्रबन्ध किया गया। सन् १९५० में जब बहन प्रेमलताजी ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में प्रवेश किया तब एकादशी कथा की प्रथा प्रायः समाप्त हो गयी थी। गीता व्याख्यान नियमित रूप से चलते रहे। इसका आयोजन गीता समिति द्वारा किया जाता रहा। प्रति रविवार को गीता व्याख्यान के अतिरिक्त विशेष व्याख्यानों का आयोजन भी होता रहा। बहन प्रेमलताजी गीता व्याख्यानों में विशेष रुचि लेती रहीं। उन्हें तो श्रीमद्भगवगीता के अठारहों अध्याय कण्ठस्थ थे। एक विशेष अवसर पर उन्होंने, अपनी बहन ऊर्मिला और कुछ और विद्यार्थियों को साथ लेकर मालवीय भवन में बिना पुस्तक देखे गीता पाठ किया था।

बहन प्रेमलताजी के प्रयत्न से फरवरी १९७० में गीता समिति के तत्त्वावधान में सुश्री विमला ठकार के तीन प्रवचन आयोजित हुए। सुश्री विमला ठकार का जन्म सन् १९२१ में विदर्भ में मध्यम वर्ग के एक महाराष्ट्र ब्राह्मण परिवार में हुआ। नागपुर विश्वविद्यालय से उन्होंने दर्शन शास्त्र में एम०ए० की उपाधि प्राप्त की। विद्यार्थी जीवन में अद्भुत स्वावलम्बन, प्रखरबुद्धि, भाषण-कौशल, खेल-कूद में निपुणता आदि का विलक्षण मेल था। विश्वविद्यालय छोड़ने के बाद उन्होंने आठ वर्ष तक विनोबाजी के भू-दान आन्दोलन में देशव्यापी काम किया। उसी सिलसिले में देश भर में उन्होंने पदयात्रा और भ्रमण किया। सन् १९६२

---

१. यह आशीर्वचन 'चित्रकाव्यकौतुकम्' पुस्तक के प्रारम्भ में छपा है। महर्षि दैवरात जी ने भी 'चित्रप्रशंसा' शीर्षक से ३२ श्लोक लिखकर बहनजी पर अनुग्रह किया था। आशीर्वचन के तुरन्त बाद 'चित्रप्रशंसा' भी छपी है।

२. बहनजी के जीवन के प्रायः अन्तिम विशिष्ट कार्य—२४ जून १९९७ में पं० ओंकारनाथ जी की शताब्दी पूर्ति पर भारत कला भवन में स्वयं आयोजित (भारत सरकार द्वारा जारी) पं० जी के चित्र वाले डाक टिकट के लोकार्पण समारोह में मुख्य अतिथि **काशीनरेश श्री विभूतिनारायण सिंह जी—ने बड़े रस और आनन्द भरे स्वर में ठीक यही कहा था—"बहनजी जो भी कार्य करती हैं वह उत्तम 'A-one' होता है।"** —सम्पा०

में उनके जीवन में एक मोड़ आया और भूदान का कार्य छूट गया। तब से वे मानव की चेतना में उपस्थित भारी चुनौती की बात अनन्त प्रकार से कहती आ रही हैं। प्रारम्भ में वे इस विषय पर यूरोप-अमेरिका के विभिन्न देश-प्रदेशों में भाषण देती रहीं। सन् १९६६ से भारत में भी बोलना आरम्भ किया। सन् १९६३ से भारत में आपका निवास-स्थान माउण्ट आबू (राजस्थान) में है।

सुश्री विमला ठकार से बहन प्रेमलता का परिचय १९५५ में हुआ और कालक्रम में दोनों में आत्मीयता बढ़ गयी। काशी विश्वविद्यालय में विमला बहनजी ने प्रथम दो प्रवचन १४, १५ फरवरी १९७० को हिन्दी में किये, १७ फरवरी को तृतीय प्रवचन अंग्रेज़ी में हुआ। सभी प्रवचन बड़े ही मार्मिक थे। इन प्रवचनों में उपस्थित कुछ श्रोताओं ने इच्छा व्यक्त की कि विश्वविद्यालय में 'ध्यान शिविर' शिविर का आयोजन हो जिसमें जिज्ञासुओं के बीच सुश्री विमला ठकार के प्रवचन और प्रश्नोत्तर हों। भगवान् की कृपा से सन् १९७१ में फरवरी १७ से २१ तक प्रस्तावित ध्यान शिविर सम्पन्न हुआ। विमला बहनजी को जोधपुर कालनी में नए रीडर फ्लैट नं० १० में ठहराया गया था और उसी की खुली छत पर शामियाना लगाकर शिविर की सभाओं की व्यवस्था की गयी थी। ध्यान शिविर का उद्घाटन १७-२—७१ सायंकाल हुआ। १८ फरवरी से २० फरवरी तक प्रातः ९ से १०½ बजे तक भजन, विमलाजी के प्रवचन और मौन का कार्यक्रम हुए; सायं ५ से ६½ बजे तक भजन, प्रश्नोत्तर और ६½ से ७½ बजे तक संगीत। २१ फरवरी को प्रातः ८½ बजे मालवीय भवन में सार्वजनिक प्रवचन और सायंकाल ४ से ६½ बजे तक समापन सभा हुई। अपने समापन संवाद में विमला जी ने कहा कि शिविर का अर्थ है कुछ जिज्ञासुओं के साथ रहना। उस दृष्टि से यहाँ शिविर का आयोजन नहीं हो सका। उन्होंने इच्छा प्रकट की कि भविष्य में कभी विशेष रूप से छात्रों के लिए एक शिविर का आयोजन होना चाहिए जिसमें सहजीवन भी हो। निश्चय हुआ कि उसी वर्ष दुर्गा पूजा अवकाश में २८ सितम्बर से ३ अक्टूबर तक छात्रों के लिए सहजीवन शिविर आयोजित किया जाय। परन्तु कुछ उपद्रव के कारण विश्वविद्यालय अचानक बन्द हो गया और प्रस्तावित योजना सफल नहीं हो पायी। अन्त में १७ से २३ मार्च १९७२ तक आवासीय शिविर के स्थान पर एक परिसंवाद (Seminar) का आयोजन हुआ।

बहन प्रेमलताजी ने सुश्री विमला ठकार द्वारा सन् १९७० में गीता समिति के तत्त्वावधान में किये गये प्रवचन, सन् १९७१ के ध्यान शिविर में किये गये प्रवचन एवं प्रश्नोत्तर और सन् १९७२ में हुए परिसंवाद का पूरा कार्य विवरण ध्वन्यंकित करा लिये थे। उन्हें ठीक से सम्पादन कर प्रकाशन के लिए तैयार किया और छपवाया। प्रकाशन का भार काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने उठाया। प्रथम प्रकाशन मार्च १९७१ में ''सख्य-संवाद'' के शीर्षक से हुआ। दूसरा प्रकाशन मई १९७२ में ''युग की माँग'' (A challange for the yonth) के शीर्षक से निकला। ये दोनों पुस्तकें विद्यार्थियों को मार्गदर्शन कराने की दिशा में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं और इसका सारा श्रेय बहन प्रेमलताजी को ही जाता है। उन्होंने ही फिर ''पावक स्फुलिङ्ग'' नाम से एक सुन्दर पुस्तक विमला ठकार जी के प्रवचनों और पत्राचार में से विशेष चुने हुए वाक्यों के वर्गीकृत सङ्कलन के रूप में स्वयं प्रकाशित की १९७३ में। सदा सत्कार्यों के बारे में चिन्तन करते रहना बहनजी का स्वभाव था। विश्वविद्यालय के प्रति अपने कर्त्तव्यों का भी उन्हें हमेशा ध्यान रहता था।

महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराज जी बहन प्रेमलताजी के विशिष्ट गुरुजनों में प्रमुख थे। उनके चरणों में बैठकर बहनजी ने समग्र दर्शन का अध्ययन किया था। विश्वविद्यालय की सेवा में आने के बाद भी बहनजी उनसे पढ़ने जाती थीं। वे युग-पावन आध्यात्मिक दार्शनिक एवं सिद्ध मनीषी थे। सन् १९६५ के आरम्भ में उन्होंने बहनजी से अपनी इच्छा व्यक्त की कि 'जपसूत्रम्' ग्रन्थ का हिन्दी में अनुवाद होना चाहिए। 'जपसूत्रम्' के रचयिता स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती (पूर्वाश्रम के प्रोफेसर श्री प्रमथनाथ मुखोपाध्याय) थे। वे सम्पूर्ण शास्त्रज्ञान-सम्पन्न, तपोबल-निष्ठ और पाश्चात्य विज्ञान (विशेषतया गणित तथा भौतिकी) के भी रहस्यविद् महायोगी थे। उनका ग्रन्थ 'जपसूत्रम्' मूलरूप से संस्कृत और बंगला में सन् १९३१-३२ के लगभग प्रकाशित हुआ था। महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराज ने उसकी भूमिका लिखी थी। उन्होंने इस ग्रन्थ को अध्यात्म-साधना को हृदयङ्गम करने एवं लोक-शिक्षा के लिए उपयोगी एवं विज्ञानवाद की मार्जित भाषा व परिभाषा से संवलित एक अपूर्व ग्रन्थ बताया। कविराज जी ने यह भी स्वीकार किया था कि ''जपसूत्रम्'' स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती की महत्तम साधना का पीयूष-प्रवाह, स्वानुभूति, सद्युक्ति और वर्तमान वैज्ञानिक सिद्धान्त के साथ शास्त्रीय-सिद्धान्त का अपूर्व समन्वय है।

इस अपूर्व ग्रन्थ का हिन्दी में अनुवाद वही व्यक्ति कर सकता था जो स्वयं उसमें निष्णात और निपुण हो और अध्यात्म-पथ का पथिक तथा साधना-राज्य का अधिकारी हो। बहन प्रेमलता जी में ये सभी गुण विद्यमान थे। संस्कृत एवं बंगला भाषा में वे प्रवीण थीं, दर्शन-शास्त्र में सुविज्ञ थीं और बचपन से ही उनकी प्रवृत्ति अध्यात्म की ओर ही थी। म०म०गोपीनाथ कविराज स्वयं योगी थे और वे बहन प्रेमलताजी की योग्यताओं एवं गुणों से पूर्णतः परिचित थे। अतः उनकी इच्छा थी कि 'जपसूत्रम्' का हिन्दी में अनुवाद बहन प्रेमलताजी के द्वारा ही होना चाहिए। उनकी इच्छा को आदेश मानकर बहनजी ने ग्रन्थ के प्रथम खण्ड का अनुवाद अतिशीघ्र कर दिया और सन् १९६६ में उसका प्रकाशन भी हो गया। उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा हुई।

प्रथम खण्ड के प्रकाशन के बाद बहनजी ने द्वितीय खण्ड का अनुवाद करते समय सूत्रों एवं कारिकाओं के शब्दार्थ तथा अन्वय आदि के अभिनव संयोजन सहित पुस्तक का सम्पादन कर दो वर्ष के भीतर ही पाण्डुलिपि बना ली थी, परन्तु एक न एक व्यवधान आता गया। पूरे २६ वर्ष के व्यवधान के बाद सन् १९९२ में द्वितीय खण्ड का प्रकाशन हो सका। बहनजी को इस बात की कसक जी में रह ही गयी कि पूज्यपाद स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती जी की इहलोक में अवस्थिति रहते द्वितीय खण्ड प्रकाशित नहीं हो सका। स्वामी जी का तिरोभाव सन् १९७३ में छियानबे वर्ष की अवस्था में हो गया था।

'जपसूत्रम्' दर्शन एवं मन्त्रशास्त्र के विद्यार्थियों को ही नहीं, संङ्गीत शास्त्र के विद्यार्थियों को भी उपयोगी है। बहनजी ने साहित्य-सङ्गीत के क्षेत्र में भी 'रस-विलासः', 'सङ्गीतराजः', 'एकलिङ्गमाहात्म्यम्', 'स्तोत्रभारती-कण्ठहारः', 'बृहद्देशी', आदि संस्कृत ग्रन्थों का पाठ संशोधन सहित प्रकाशन किया; 'संगीतरत्नाकर' एवं बृहद्देशी' का संस्कृत से अंग्रेज़ी में टिप्पणी सहित अनुवाद किया और अनेक लेख लिखे। ये सब आने वाली पीढ़ियों को अत्यन्त उपयोगी होंगे।

पर संगीत के क्षेत्र में उनका सबसे बड़ा योगदान संगीतशास्त्र के अध्ययन-अध्यापन के सम्बन्ध में था। सङ्गीत शास्त्र के आदिम ग्रन्थों के प्रत्यक्ष अध्ययन का सूत्रपात उन्होंने ही किया था। लगातार तीस वर्ष तक विद्यार्थियों को संगीतशास्त्र के मूल संस्कृत ग्रन्थों को पढ़ाया। उनके निर्देशन में अनेक विद्यार्थियों ने शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत कर पी-एच्०डी० की उपाधि प्राप्त की। उनमें कुछ विदेशी छात्र भी थे।

हीरानन्द शास्त्री स्मारक-व्याख्यान माला की सातवीं लड़ी के रूप में रस-सिद्धान्त पर चार व्याख्यान बहनजी ने दिये थे। संङ्गीत शास्त्र के अध्यापन में रस एक अनिवार्य तत्त्व रहता है और बहिनजी बहुत वर्षों से संगीत शास्त्र का अध्यापन करती रही थीं। अतः उन्होंने रस-सिद्धान्त के चार पक्ष—मूल, शाखा, पल्लव और पतझड़—अपने व्याख्यान के लिए चुने। चारों व्याख्यान अत्यन्त सारगर्भित थे और इन व्याख्यानों को पुस्तक के रूप में 'वत्सल-निधि' की ओर से नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली ने सन् १९८८ में प्रकाशित किया।

गीत, वाद्य और नृत्य इन तीनों को संगीत का अंग माना जाता है। बहनजी ने नृत्य सम्बन्धी संस्कृत साहित्य का विशेष रूप से अध्ययन किया था। उसके सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्ष दोनों में उनकी अभिरुचि थी। भारत में प्रचलित परम्परागत लोकगीतों को भी वे प्रोत्साहन देना चाहती थीं। श्री कला संगीत भारती के तत्त्वावधान में उन्होंने भरतनाट्यम्, कत्थक, ओड़िसी इत्यादि नृत्य तथा केरल की कूटियाट्टम्, रास लीला, पंडवाणी लोकगीत, कथा संकीर्तन इत्यादि का समय-समय पर आयोजन करवाया। अनेक कलाकारों को वे प्रकाश में लाई।

बहन प्रेमलताजी ने भरतमुनि के नाट्यशास्त्र का गहन अध्ययन किया था और वे इसका पुनर्जीवन करना चाहती थीं। इस निमित्त उन्होंने सन् १९७१-७२ में 'अभिनय-भारती' के नाम से एक मंच बनाया। श्री कला संङ्गीत भारती के अध्यापक एवं विद्यार्थियों के साथ उन्होंने संस्कृत महाविद्यालय, कला संकाय के संस्कृत विभाग, महिला महाविद्यालय, वसन्त कन्या महाविद्यालय आदि के विद्यार्थी एवं अध्यापकों का सहयोग भी प्राप्त कर 'अभिनय-भारती' को संगठित किया। भरत-नाट्यशास्त्रानुसार 'अभिनय भारती' ने कालिदास के 'विक्रमोर्वशीयम्' और 'मालविकाग्निमित्रम्' तथा भवभूति के 'उत्तरामचरितम्' का अभिनय प्रस्तुत कर यह सिद्ध कर दिया कि आज भी संस्कृत में लिखे गये प्राचीन नाटकों को सफलता पूर्वक मंच पर प्रस्तुत किया जा सकता है। 'अभिनय-भारती' ने उज्जैन के कालिदास समारोह में भी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की ओर से तीन वर्ष भाग लिया और पुरस्कार प्राप्त किया। बाद में विशाखदत्त के मुद्राराक्षस नाटक का भी सफलतापूर्वक अभिनय वाराणसी में किया गया।

सङ्गीतशास्त्र विभाग के लिए एक प्रोफेसर का पद स्वीकृत होते ही अप्रैल १९८१ में बहन प्रेमलताजी को उस पद पर नियुक्त किया गया। परन्तु यह तो मात्र एक औपचारिक कार्य था। वे तो आरम्भ से ही विभागाध्यक्षा थीं। श्रीकला संगीत भारती के प्रिंसिपल के रूप में १९५७ से १९६१ तक उन्होंने पूरे महाविद्यालय का संचालन किया था। १९५७ से १९६३ के बीच चार बार सङ्गीत एवं ललित कला संकाय का कार्यभार भी संकायाध्यक्ष (डीन) के रूप में संभाला। उनका एक मात्र उद्देश्य था अपने गुरुकुल की सेवा पूरीं तत्परता से करते हुए विश्वविद्यालय का मान बढ़ाना। उसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने अपना जीवन समर्पित कर दिया था। भगवान् में दृढ़ विश्वास और महापुरुषों के अनुग्रह से युक्त होकर वे अपने कार्य में उत्तरोत्तर आगे बढ़ती रहीं।

बहनजी के सौभाग्य से उन्हें महापुरुषों का संश्रय बराबर प्राप्त होता रहा। समय मिलने पर वे सत्सङ्गों में भी जाती रहती थी। विद्यालय और धार्मिक संस्थाओं को सदा दान देती थीं। गोसेवा और गोरक्षा के प्रति उनका विशेष झुकाव था। गोशालाओं के लिए बहनजी प्रचुर मात्रा में दान करती थीं। जोधपुर कालोनी आवास न० न्यू ई/५ में गौ रखने के लिए पर्याप्त स्थान था। सन् १९६५ में उन्होंने संस्कृत महाविद्यालय के वरिष्ठ अध्यापक पण्डित गया प्रसाद ज्योतिषी जी से हरियाणा नस्ल की एक बछिया प्राप्त कर ली। बछिया का नाम 'गायत्री' रखा गया। दो वर्ष बाद सन् १९६७ में ताराप्रेस के अधिपति श्री पण्ड्याजी ने उन्हें अपने घर की साहिवाल नस्ल की एक बछिया दी, जिसका नाम 'वृन्दा' रखा गया। गोवंश की वृद्धि कें साथ ही बहनजी की रुचि गो सम्बन्धी साहित्यों को पढ़ने में हुई। गो-सेवा संघ, वर्धा की सदस्या बनीं। गोसेवा, गोरक्षा, भारत की संस्कृति और कृषि-गो की अनिवार्यता इत्यादि विषयों पर पुस्तकें मँगायी। सर्वसेवा संघ एवं अखिल भारतीय कृषि गो-सेवा संघ से पत्राचार होता रहा। 'गोग्रास' पत्रिका से गो सम्बन्धी विषयों की पूरी जानकारी मिलती रही। गोग्रास के सम्पादक श्री राधाकृष्ण बजाज से बहनजी की घनिष्ठता हो गयी। सन् १९८० में बहनजी ने अपने आवास में गोबर-गैस-संयंत्र भी बैठा लिया। गोमाता की सेवा में स्वयं प्रतिदिन एक दो घंटा लगी रहती थीं। घर में दूध, दही, मक्खन, घी, मट्ठा की यथेष्टता थी। बहनजी स्वयं दही मथकर मक्खन निकालती थीं। भाँति-भाँति के पकवान भी बनाती थीं। विद्यार्थियों तथा नौकरों को नित्य दूध और घर की बनी शुद्ध मिठाइयाँ मिलती थीं। परिवार के तो तीन ही सदस्य थे—माताजी, बहनजी और ऊर्मिला। सन् १९७८के प्रारम्भ में ऊर्मिला भी माउण्ट आबू (राजस्थान) चली गई। अधिकांश दूध बाँटा ही जाता था।

बहनजी के पिताजी पं० लालचन्द्र शर्मा सन् १९६७ में घर त्यागकर संन्यासी हो गये थे। वे ब्रजमण्डल के राधाकुण्ड में एक आश्रम में रहते थे। ५ सितम्बर १९८३ को ८२ वर्ष की अवस्था में उन्होंने वहीं शरीर त्याग दिया और वे गोलोक वासी हो गये। सूचना मिलते ही बहनजी ने मुझसे पूछा कि क्या करना चाहिए। मैंने कहा कि वे तो संन्यासी थे। यतियों के ब्रह्मलीन होने पर दसवें दिन महापूजा, ग्यारहवें दिन नान्दी श्राद्धवत् पार्वणश्राद्ध और बारहवें दिन नारायण बलि होती है। बहनजी की इच्छा हुई कि इन सब पूजा पाठों को विधिवत् सम्पन्न किया जाय। मैंने संस्कृत महाविद्यालय में वेद के प्राध्यापक पं० विश्वनाथ वामन देवजी से परामर्श किया और उन्होंने सब कार्यों को शास्त्रविधि के अनुसार सम्पादित करने का भार अपने ऊपर ले लिया। भक्ति श्रद्धा के साथ बहनजी ने इन पूजा पाठों को उत्तम ढंग से किया। तदनन्तर एक दिन तैत्तिरीयोपनिषद् पाठ की भी व्यवस्था हुई। दस बारह वेदपण्डित जिनको तैत्तिरीयोपनिषद् कंठस्थ था और उसमें अच्छी तैयारी भी थी, मुझे उपलब्ध हो गये। बहनजी के आवास में बारामदा में एक चित्र सजाकर रखा गया था। पण्डित लोग दो कतार में चित्र के दोनों तरफ पूरब पश्चिम देखकर बैठे। आँगन श्रोताओं से भर गया था। पूर्ण नीरवता के बीच लगभग एक घंटा उपनिषद् की अमृत वर्षा हुई। सभी लोगों ने इस कार्यक्रम को सराहा। मैं बारामदा के एक कोने में बैठा था। बहनजी ने जो चित्र सजाकर रखा था उसे मैंने बार-बार देखा। मैंने उसे भगवान् कृष्ण का चित्र ही समझा। वेद पाठ के पश्चात् ब्राह्मणों को आदर-सत्कार के साथ विदा किया गया। तदनन्तर मैंने चित्र के समीप जाकर उसे ध्यान से देखा तभी जाना की वह पं० लालचन्द शर्माजी का चित्र था। दूर से वे श्रीकृष्ण ही दीख रहे थे। उस दिन का तैत्तिरीयोपनिषद् पाठ अत्यन्त सुन्दर था, श्रीकृष्ण स्वयं सुन रहे होंगे।

सन् १९८५ में इन्दिरा कला सङ्गीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ के वाइस चांसलर पद पर बहनजी की नियुक्ति हुई और उनके पास आमन्त्रण पत्र आ गया। बहनजी अपने गुरुकुल को छोड़ कर कहीं जाना नहीं चाहती थीं। काशी विश्वविद्यालय से उनकी सेवा निवृत्ति ३१ मई १९८७ को होने वाली थी। खैरागढ़ में एक ही आकर्षण था वहाँ का संगीत-शास्त्र विभाग। डा० सुभद्रा

चौधरी विभागाध्यक्षा थीं। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने बहनजी को डेप्युटेशन पर खैरागढ़ जाने के लिए अनुमति दे दी। तब अगस्त १९८५ के अन्त में बहनजी ने खैरागढ़ में इन्दिरा कला संङ्गीत विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर के पद का भार संभाल लिया। वहाँ उनकी नियुक्ति तीन साल के लिए हुई थी परन्तु उन्हें एक महीना अधिक अर्थात् ३०-९-१९८८ तक वहाँ रहना पड़ा। बीच-बीच में कार्यवश काशी आ जाती थीं। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में उनके विभाग के कार्य को डॉ० रंगनायकी अय्यंगार और डॉ० विमला मुसलगाँवकर चला रही थीं। उनके आवास में आकर रहने के लिए डॉ० विमला मुसलगाँवकर और प्रोफेसर पं० गजानन सदाशिव मुसलगाँवकर सहमत हो गये थे। इसलिए गौओं की देखभाल करने में असुविधा नहीं हुई। वैसे तब तक दोनों बड़ी गायों को सुयोग्य स्थानों पर दे दिया गया था।

बहनजी को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से ३१ मई १९८७ को सेवा निवृत्त होना था। ग्रीष्मावकाश था और बहनजी खैरागढ़ से काशी आ गयी थीं। विश्वविद्यालय परिसर के बाहर एक छोटा मकान किराये पर लेकर उन्होंने विश्वविद्यालय के आवास न० न्यू ई/५ को खाली कर दिया। प्रोफेसर मुसलगाँवकर और डॉ० विमला मुसलगाँवकर अपने मकान में चले गये। शेष गौओं को गौभक्त मित्रों को तथा धर्मसंघ-गोशाला को दे दिया गया।

इन्दिरा कला संगीत विद्यालय से अक्टूबर १९८८ के अन्त में भारमुक्त होकर बहनजी काशी आ गयीं। उसके पूर्व ही उनके लिए एक अच्छा मकान देखकर रख लिया गया था और उसमें बहनजी अपनी माताजी के साथ निवास करने लगीं। माता जी काशीवास ही करना चाहती थीं परन्तु उनकी प्रबल इच्छा थी उनकी पुत्री की कमाई से निर्मित एक निजी मकान में निवास करने की। विचार किया गया कि एक अच्छे स्थान में जमीन लेकर मकान बनवा लिया जाय। ईश्वर की कृपा से विश्व विद्यालय-परिसर के बाहर करौंदी में ही एक बना बनाया मकान बिकाऊ था। बहनजी की योजना 'भरत निधि' नामक एक संस्था स्थापित करने की थी। उसके लिए यह मकान उपयुक्त था। बहनजी के उद्देश्य को जानकर मकान मालिक ने कह दिया कि आप तुरन्त गृह प्रवेश कीजिए, रजिस्ट्रेशन बाद में हो जायेगा। निजी मकान में बहनजी ने माताजी के साथ १८ फरवरी १९८९ को गृह प्रवेश किया। दो महीने पश्चात् २४ अप्रैल को ऊर्मिला भी माऊण्ट आबू से आकर परिवार में सम्मिलित हो गयी। माताजी की इच्छा पूरी हो गयी। अपनी पुत्री के निजी मकान में ८४ वर्ष की अवस्था में २५ जून १९८९ को अन्तिम साँस लेकर माताजी गोलोक सिधार गयीं।

शीघ्र ही 'भरतनिधि' न्यास की स्थापना के लिए आवश्यक प्रबन्ध हुए। मकान का रजिस्ट्रेशन भी हो गया। मकान का नाम 'आम्नाय' रखा गया और १० अक्टूबर १९८९ को विजयादशमी के शुभ दिन 'भरतनिधि' के कार्य का शुभारम्भ हो गया। अध्ययन, अध्यापन, लेखन व्याख्यान, प्रवचन, वेदपाठ, संगीत नृत्य इत्यादि जो कार्य बहन जी संगीत शास्त्र विभाग में करती रहीं, वे कार्य 'आम्नाय' में प्रारम्भ हो गये। सन् १९९३ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने बहनजी को प्रतिष्ठित आचार्य (Emeritus Professor) नियुक्त कर दिया। अत: 'आम्नाय' में विश्वविद्यालय के पी०एच०डी० विद्यार्थियों के शोध कार्यों का निर्देशन भी होने लगा। संक्षेप में 'आम्नाय' एक लघु संगीत शास्त्र विभाग हो गया। विदेशों से भी अनेक छात्र-छात्रायें, जिज्ञासु विद्वान् आते-रहते थे।

अप्रैल १९९४ में बहनजी संगीत नाटक अकादमी, दिल्ली की उपाध्यक्षा निर्वाचित हुईं। इस कारण बहनजी का कार्य बोझ बहुत अधिक बढ़ गया। बारंबार यात्रा भी करनी पड़ती थीं। उनका स्वास्थ्य गिरने लगा परन्तु मनोबल पूर्ववत् ही रहा। देश की सेवा समझकर अपना कर्तव्य निभाती थीं। संगीत नाटक अकादमी की उपाध्यक्षा के रूप में उनका एक उल्लेखनीय कार्य था 'नाट्यकल्पद्रुम' (केरल की कूटियाट्टम् नाट्यकला की रूप रेखा) का संपादन और प्रकाशन। प्राचीनतम भारतीय नृत्य-परम्परा की केरलीय नाटकाभिनय-शैली कूटियाट्टम् पर लिखा गया आधिकारिक ग्रन्थ है 'नाट्यकल्पद्रुम'। इस ग्रन्थ के रचयिता हैं नाट्याचार्य विदूषक-रत्नम् पद्मश्री मणि माधव चाक्यार। मलयालम भाषा में रचित इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद उनके पुत्र पी०के० गोविन्दन् नम्बियार ने किया। जिसे बहनजी ने संपादित कर काशी में ही छपवाया। प्रकाशन संगीत नाटक अकादमी, दिल्ली द्वारा फरवरी १९९६ में हुआ। कूटियाट्टम् सम्बन्धी यह हिन्दी ग्रन्थ उत्तर-भारत में कूटियाट्टम् के प्रति जागृति लाने का उज्ज्वल साधन बनेगा, ऐसा बहन प्रेमलताजी का विश्वास था।

बहनजी सात्त्विक प्रकृति की थीं। उनकी जीवन-चर्य्या भी संयमित थी। अतः उनका स्वास्थ्य सामान्यतः ठीक ही रहता रहा। कभी कदाचित् कुछ अस्वस्थ हो जाय तो विष्णु सहस्रनाम स्तोत्र का पाठ कर लेतीं और कुछ घरेलू दवा लेकर स्वस्थ हो जातीं। उन्हें विष्णुसहस्रनाम स्तोत्र, ललितासहस्रनाम स्तोत्र, श्रीमद्भागवत के अनेक श्लोक, गीतगोविन्द, श्री रूपगोस्वामीजी की रचनाएँ, शिवमहिम्न स्तोत्र इत्यादि अनेक संस्कृत श्लोक कंठस्थ थे। श्री रामचरित मानस के कतिपय अंश भी कण्ठस्थ थे। चित्त की स्वस्थता के लिए वे अनेक बार 'मानस' का एकाह या नवाह्न परायण किया करती थीं। भगवन्नामस्तोत्रों को कहते हुए घरेलू कार्य करना उन्हें आनन्द देता था।

बहनजी सदा आयुर्वेदिक औषध ही लेती थी। उनकी आस्था उसी में थी। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आयुर्वेदिक विद्यालय में काय-चिकित्सा विभाग के अध्यक्ष प्रोफेसर वैद्य यदुनन्दन उपाध्याय जी उस समय जोधपुर कालनि में ही रहते थे। हम लोगों के परिवार के लिए वे ही धन्वन्तरि थे। ज्वरादि से पीड़ित होने पर बहनजी की चिकित्सा वे ही करते थे और उनकी दवा से बहनजी तीन चार दिनों में पूर्णतया स्वस्थ हो जातीं थी। उपाध्यायजी सन् १९७४ में सेवा निवृत होने के बाद अपने निवास दुर्गाकुण्ड चले गये। उसके पश्चात् भी हम लोगों की चिकित्सा वे ही करते रहे। सन् १९९६ के प्रारम्भ से उपाध्याय जी अस्वस्थ हो गये। रोगियों को देखना उनके लिए संभव नहीं था। उस समय बहनजी और ऊर्मिला मुझे भी साथ लेकर उपाध्याय जी के घर जाकर उन्हें गजेन्द्रमोक्ष स्तोत्र, शिवमहिम्नस्तोत्र, शिवसङ्कल्प-मन्त्र का गान और भजन इत्यादि सुनाती थीं। बहनजी और ऊर्मिला दोनों को सभी स्तोत्र कंठस्थ थे। बिस्तर पर लेटे लेटे आँख बन्द कर ध्यानमग्न होकर उपाध्याय जी स्तोत्रों का श्रवण करते थे। मैं उनके बगल में बैठकर उन्हीं को देखता रहता था। उपाध्यायजी का मुखमण्डल धीरे-धीरे प्रफुल्लित हो जाता था। इससे स्पष्ट था कि इन स्तोत्रों के श्रवण से उन्हें शान्ति मिलती थी। उपाध्याय जी संस्कृत के विद्वान् थे, शान्त प्रकृति के थे और परोपकारी सत्पुरुष थे। उनकी इच्छानुसार उन्हें ३० मई १९९६ को काशी में 'मुक्ति' प्राप्त हो गयी। उस समय वे ८३ वर्ष के थे।

सन् १९९४ में ही बहनजी के नेत्रों में मोतियाबिंद प्रारम्भ हो गया था। कुछ दवा डालकर काम चला लेती थीं। सन् १९९६ में एक आँख का मोतियाबिंद आपरेशन लायक हो गया था। अतः नवम्बर १९९६ के प्रारम्भ में उस आँख का आपरेशन हुआ। उसके एक महीने बाद ही बहिनजी को अचानक गम्भीर श्वासकष्ट हो गया और उन्हें काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के सर सुन्दरलाल अस्पताल में भरती होना पड़ा। उस समय, इच्छा न होते हुए भी उन्हें एलोपैथी दवादयाँ लेनी पड़ीं। अस्पताल में सब परीक्षण हो गये और दस दिन अस्पतालवास के बाद बहनजी को वहाँ से छुट्टी मिली। २० दिसम्बर से वे पुनः अपने कार्य में लग गयीं। तब सबसे मुख्य कार्य था—सङ्गीत-मार्तण्ड पण्डित ओंकारनाथ ठाकुर जन्म शताब्दी-समारोह।

पण्डित ओंकारनाथ जी का जन्म २४ जून सन् १८९७ को हुआ था। २४ जून १९९७ को एक सौ वर्ष पूरे हो रहे थे। बहनजी के निश्चय किया था कि उनके गुरुजी का जन्मशताब्दी महोत्सव उत्तम ढंग से मनाना चाहिए। इसके लिए एक समिति का गठन हुआ जिसकी संयोजिका वे स्वयं थी। उन्होंने संस्कृति विभाग, भारत सरकार, 'निनाद' एवं रायकृष्णदास 'इंटैक' वाराणसी न्यास के सहयोग से भरतनिधि के तत्त्वावधान में एक सम्मिलित आयोजन का प्रबन्ध किया। सोमवार, २७ जनवरी से बुधवार २९ जनवरी १९९७ तक तीन दिन का कार्यक्रम बना। समारोह का उद्घाटन पं० जसराज ने २७ जनवरी को प्रातः १०-३० बजे भारत-कला-भवन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में किया। त्रिदिवसीय समारोह में प्रतिदिन प्रातः १०-३० बजे से सायंकाल ५-३० बजे तक पं० "ओङ्कारनाथ ठाकुर का व्यक्तित्व और कृतित्व" पर एक विचार-गोष्ठी हुई। विचार के विषय थे—

१. पंडितजी का आचार्यत्व	२. पंडितजी का शास्त्रकार पक्ष	३. पंडितजी की अभिनय दृष्टि
४. पंडित जी का रसदर्शन	५. कलाकार पंडितजी	६. शिक्षाविद् पंडितजी
७. रचनाकार पंडितजी	८. पंडितजी का वक्तृत्व पक्ष	९. पंडितजी : मैंने जैसा देखा सुना।

बीस से अधिक वक्ताओं ने इस विचार-गोष्ठी में भाग लिया। कार्यक्रम अत्यन्त सुन्दर था।

२७ जनवरी से २९ जनवरी तक तीनों दिन सायंकाल ७ बजे से गायन का कार्यक्रम था। प्रथम दिन श्री अतुल देसाई (अहमदाबाद) का गायन हुआ। इसका आयोजन 'निनाद' के सौजन्य से ए०बी०सी० गैलरी में हुआ था। दूसरे दिन पं० जसराज

(मुंबई) का गायन हुआ जिसका आयोजन रायकृष्णदास इन्टैक वाराणसी न्याय के सौजन्य से हनुमान प्रसाद पोद्दार अंध विद्यालय के सभागृह में हुआ था। तीसरे दिन डॉ० विद्याधर व्यास (मुंबई) का गायन भरत-निधि की ओर से हनुमान प्रसाद पोद्दार अंध विद्यालय में आयोजित था।

इस प्रकार जनवरी १९९७ में पंडित ओंकारनाथ जी का जन्म-शताब्दी समारोह का प्रथम चरण उत्तम ढंग से सम्पन्न हुआ। इस समारोह के द्वितीय चरण में भारत सरकार के डाक विभाग द्वारा जारी किया गया पं० ओंकारनाथ ठाकुर स्मारक डाक टिकट का लोकार्पण २४ जून १९९७ को भारत-कला-भवन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हुआ। इसके लिए आयोजित समारोह में मुख्य अतिथि विश्वविद्यालय के कुलाधिपति काशी नरेश डॉ० विभूति नारायण सिंह थे। विश्वविद्यालय के कुलपति डा० हरि गौतम ने समारोह की अध्यक्षता की। उत्तर प्रदेश के मुख्य पोस्ट मास्टर जनरल श्री शारदा प्रसाद ओझा द्वारा स्मारक डाक टिकट का लोकार्पण हुआ। स्मारक डाक टिकट बहुरंगी दो रुपये का टिकट था। अपने गुरूजी के प्रति अपने कर्त्तव्य को निभाकर बहनजी उस दिन अत्यन्त प्रसन्न थीं। कहने की आवश्यकता नहीं कि पं० ओंकारनाथ जी के जन्म-शताब्दी समारोह का सारा श्रेय बहनजी को ही जाता है। बड़े सोच विचार से उन्होंने इस समारोह का कार्यक्रम बनाया था।

१० मई १९९७ को बहन प्रेमलताजी की ७१ वीं वर्षगाँठ थी। अपने जीवन के सत्तर वर्षों को पार कर वे इकहत्तरवें वर्ष में प्रवेश कर रही थीं। इस अवसर पर 'भीमरथशान्ति' की जाती है। 'भीमरथ शान्ति' का अनुष्ठान १२ जून १९९७ गुरुवार पूर्वाफाल्गुनि नक्षत्र युक्त दिन में करने का निश्चय हुआ। बहनजी का जन्म नक्षत्र पूर्वाफाल्गुनि था। १२ जून को वैदिक पद्धति से पूजा, पाठ, हवन, दान, वसन्त पूजा इत्यादि सम्पन्न किये गये। पण्डित दत्तात्रेय केलकर जी के नेतृत्व में छः ब्राह्मणों ने इस वैदिक कार्य को विधिवत् उत्तम ढंग से किया।

बहन प्रेमलताजी का एक सिद्धान्त था कि कहीं भी कोई सत्कार्य होता हो तो उसमें यथाशक्ति सहयोग अवश्य करना चाहिए। इस सिद्धान्त का पालन वे सच्चाई से करती थीं ओर इसी कारण उन्हें सत्कार्यों में भाग लेने का अवसर भी प्रायः मिल जाता था। सन् १९९६ में काशी में रामनगर किले के सामने गङ्गा किनारे सामने घाट के दक्षिण 'ज्ञान प्रवाह' नामक सांस्कृतिक अध्ययन का एक केन्द्र स्थापित हुआ। इस संस्था की प्रबन्ध न्यासी श्रीमती विमला पोद्दार हैं। सनातन धर्म, भारतीय दर्शन, साहित्य, कला, संगीत एवं संस्कृति के उन्नयन और प्रसार हेतु स्थापित संस्था 'ज्ञानप्रवाह' सभी को आकर्षित करती है। श्रीमती विमला पोद्दार जी से प्रेमलता बहनजी का परिचय पहले ही से था। ज्ञान प्रवाह की स्थापना होते समय ही श्रीमती विमला पोद्दार जी बहनजी से 'आम्नाय' आकर मिली थीं। तभी बहनजी ने ज्ञान-प्रवाह के कार्यक्रमों में सक्रिय भाग लेने का निश्चय कर लिया। शारीरिक अवस्था ठीक नहीं होने पर भी बहन जी ज्ञान-प्रवाह के प्रत्येक कार्यक्रमों में भाग लेती रहीं। सन् १९९७-९८ में वे वहाँ के प्रबंध-परिषद् में भी सम्मिलित हो गयीं। बहनजी के प्रयास से अक्टूबर १९९८ ज्ञान प्रवाह में आन्ध्रप्रदेश के श्री कलाकृष्ण का नृत्य और (उनकी पत्नी) श्रीमती उमा महेश्वरी का हरिकथा-कालक्षेपम् आयोजित हुआ।

बहनजी ने ज्ञान प्रवाह में एक परिसंवाद (सेमिनार) 'ध्वनि' विषय पर कराने के लिए भी आवश्यक उपक्रम अक्टूबर १९९८ में ही प्रारम्भ कर दिया था। यह सेमिनार मार्च १९९९ में होने वाला था। इस कार्य में अत्यन्त व्यस्त होने के कारण वे कहीं भी जा नहीं पा रही थीं।* उस समय नवम्बर के प्रथम सप्ताह में श्रीराधाकृष्ण बजाज बहनजी से मिलने के लिए 'आम्नाय' आ गये। २८ अक्टूबर को गोपाष्टमी के अवसर पर वे काशी आये थे। बहनजी के अस्वस्थ होने का समाचार सुनकर वे उनसे मिलने आये। उस अवसर पर बहनजी ने दस हजार रुपये का एक चेक लिखकर श्री बजाज जी को गो सेवा के निमित्त दिया। गोसेवा के लिए यह उनका अन्तिम दान था। गो माता के प्रति बहनजी की कितनी श्रद्धा थी यह इसी से जाना जा सकता है।

बहनजी ने सङ्गीत नाटक अकादमी द्वारा भुवनेश्वर में २२ से २७ नवम्बर तक 'ओडिसी संङ्गीत एवं उसके प्रयोग' विषय पर एक विशेष सेमिनार का आयोजन किया था। सेमिनार में उनकी उपस्थिति आवश्यक थी। अतः २२ नवम्बर को काशी से

---

* 'ध्वनि' विषयक वह राष्ट्रीय सेमिनार निर्धारित तिथियों (११-१४ मार्च १९९९) में ही सम्पन्न हुआ किन्तु बहनजी की स्मृति में उन्हीं को समर्पित किया गया। इस 'ध्वनि' सेमिनार में बहनजी के नाम की ही ध्वनि गूँज रही थी।

चलकर दिल्ली होते हुए के भुवनेश्वर पहुँचीं और ३० नवम्बर को काशी वापस आ गयीं। जब मैं उनसे १ दिसम्बर को मिला तो मैंने उन्हें बहुत ही उदास देखा। कारण था दिल्ली में २७ नवम्बर को पी० एन हक्सर का निधन। मार्च १९८८ में जब बहनजी खैरागढ़ के इन्दिरा कला सङ्गीत विश्वविद्यालय की कुलपति थीं, भारत सरकार ने ललित कला अकादमी, संगीत नाटक अकादमी, साहित्य अकादमी इत्यादि राष्ट्रीय संस्थाओं के कार्यों का सर्वेक्षण करने के लिए एक उच्चस्तरीय समिति बनायी। श्री हक्सर इसके अध्यक्ष थे। बहन प्रेमलताजी को लेकर सात सदस्य थे। इस समिति ने अप्रैल १९८९ से मार्च १९९० के बीच भारत के अठारह प्रमुख शहरों में जाकर एक सहस्र से अधिक लोगों का साक्षात्कार किया और जुलाई १९९० में अपना रिपोर्ट सरकार को प्रस्तुत कर दिया। इस रिपोर्ट के लेखन में बहन प्रेमलताजी का प्रमुख महत्त्वपूर्ण योगदान था। अतः श्री हक्सर बहनजी को बहुत मानते थे। श्री हक्सर विद्वान् थे और बहन जी भी उनका आदर करती थीं। भुवनेश्वर जाते समय २२ नवम्बर को बहन जी उनसे दिल्ली में मिली थीं। भुवनेश्वर में सेमिनार का कार्य समाप्त कर जब दिल्ली आयीं तो उनके निर्जीव शरीर पर ही श्रद्धा-सुमन चढ़ा सकीं। इस घटना से बहनजी व्यथित थीं परन्तु ७ दिसम्बर से दिल्ली, मद्रास, त्रिचूर इत्यादि स्थानों की यात्रा पर निकलना था, उसकी तैयारी भी कर रहीं थी। बहुत समझाने पर उन्होंने केवल त्रिचूर का कार्यक्रम रद्द किया और कहा कि—

''हवाई जहाज़ से ही तो जाना है, यहाँ से दिल्ली, फिर मद्रास। मद्रास में रामनाथन के घर में रहूँगी, वह अपना बेटा ही है न, उसके घर में मुझे कोई असुविधा नहीं होगी।'' प्रो० रामनाथन बहनजी के मुख्य शिष्य हैं। और संप्रति मद्रास विश्वविद्यालय के संगीत विभाग में अध्यक्ष हैं। मैंने देखा कि बहनजी के चेहरे से रामनाथन के प्रति वात्सल्य टपक रहा था।

दिल्ली और मद्रास जाने के लिए सब तैयारियाँ हो गयी थीं। शुक्रवार, ४ दिसम्बर १९९८ रात आठ बजे तक बहनजी अपना कार्य सामान्य ढंग से ही कर रही थीं। दिल्ली में एक घनिष्ठ मित्रपरिवार की नववधू को देने के लिए कुछ साड़ियाँ भी उन्होंने मँगायी थीं। साड़ियाँ लेकर एक आदमी रात ७ बजे के बाद ही आया। बहनजी ने साड़ियों का चयन स्वयं किया। सब कुछ ठीक था पर अचानक भगवान् का बुलावा आ गया और अर्धरात्रि के कुछ क्षणों के बाद उन्होंने गोलोक के लिए प्रस्थान कर दिया।

जिस लक्ष्य* को प्राप्त करने के लिए बहन प्रेमलताजी सन् १९५० से ही तपस्या कर रही थीं, उस लक्ष्य को तो उन्होंने सन् १९८५ में खैरागढ़ जाने के पूर्व ही प्राप्त कर लिया था। उसके बाद के उनके कार्य लोकसंग्रह के क्षेत्र में ही थे। जो भी हो उनका सारा जीवन तपोमय, सार्थक, परोपकारी और निःस्वार्थ रहा। उनकी कृति और कीर्ति अमर रहेगी।

मैंने सर्वप्रथम उनको एक तपस्विनी के रूप में देखा, तदनन्तर प्रेममयी भगिनी के रूप में। अवस्था में बड़े होने के कारण उन्होंने मुझे बड़े भाई का स्थान और गौरव दे रखा था। मैं तो आज भी उन्हें प्रेममयी तपस्विनी बहनजी के रूप में ही स्मरण करता रहता हूँ।

राधाकुञ्ज करौंदी
वाराणसी

—सोमास्कन्दन।
(५-१२-२००१)

★★★

* इस लेख के प्रारम्भ में उद्धृत 'नादरूप के उद्देश्यों' के रूप में मानो बहिनजी ने अपने ही लक्ष्य शब्दाङ्कित किये थे।

.१७.

The Eloquent Smile in Dhvani*

—Prof. I Pandurang Rao

ॐ

आङ्गिकं भुवनं यस्य वाचिकं सर्ववाङ्मयम्।
आहार्यं चन्द्रतारादि तं नुमः सात्त्विकं शिवम्॥

सर्वज्ञं तदहं वन्दे परंज्योतिस्तमोऽपहम्।
प्रवृत्ता यन्मुखादेवी सर्वभाषा सरस्वती॥

ध्वनिर्वर्णाः पदं वाक्यं इत्यास्पदचतुष्टयम्।
यस्याः सूक्ष्मादिभेदेन वाग्देवीं तामुपास्महे॥

The four days we have spent in Jñāna-Pravāha, the Eternal Stream and the perennial flow of absolute knowledge as distinct from the conditioned one, have given us a thrilling experience of the four fascinating foot steps of Vāgdevī starting from Sound (Dhvani), passing through syllables (Varṇa) and words (Pada) and ultimately leading us to Vākya, the secular and sophisticated form of all sound that makes real sense to all those who are sensible and sensitive.

This seminar on DHVANI has very appropriately been dedicated to the memory of Prof. Prem Lata Sharma, the innovative spirit behind the whole exercise of enquiring into the various facets of sound explored in Indian culture. Her dream has come true but she chose to transcend this dream even before it is realized and stepped into the eternal abode of absolute bliss. Every one of us must have felt during the last four days that she has been with us guiding us with silent but eloquent smile. We pray for her peace and seek her blissful blessings.

This Seminar organized by Jñāna-Pravāha in ten sessions has had the benefit of the participation of twenty-five eminent scholars drawn from different parts, both in India and abroad, who have presented papers on various subjects. Those who have not been able to attend have sent their papers which were duly read out and discussed in the respective sessions.

The Seminar was inaugurated by Dr.Kapila Vatsyayan, an ardent admirer and an accomplished authority on art and culture at the international level. The inaugural session was presided over by Padmavibhushan Dr.Vidya Niwas Mishra, an authority on Indian literature, culture and philosophy. He also released a book 'The Universe That is God' written by Dr. I. PANDURANGA RAO which incidentally happens to be the first publication of Jñāna—Pravāha. Thus the inaugural session has inaugurated the publication programme of the Centre.

There were eight sessions in all excluding the inaugural and the valedictory. The subjects discussed in these sessions were Vedic Sounds, Vyāhṛti, Nāda, Grammar and Literature, Theatre, Music. Visual Arts

* The Valedictory address delivered by the author on 14.3.1999, at Varanasi.

and Kīrtanas. Thus the deliberations on 'Sound' the central theme of the 'Sadas' (Seminar) covered the eight directions and dimensions of the subject contemplated while the inaugural and the valedictory sessions served as guiding and guarding forces of the whole exercise. There were also some demonstrations and display of visuals to bring home to the audience the marvellous and the multi-dimensional effect of Sound, the gift of the vast space—inner and outer on the being and becoming of the whole creation on earth and in heaven.

The subject covered in the various sessions included an intense and in-depth study of Vedic vibrations, theory of creation based on Vyāhṛti, Vedic cosmology, the role of Sabda in Āyurveda. Nāda in spiritual culture, phonetics and grammar, Sphota, the theory of meaning, metrical composition in literature, Śabda and Artha in various systems of philosophy, the visible and the invisible effects of Sound in Rāga, Kāku the perception of Indian musical instruments in view of their pitch, loudness and timbre. Some learned speakers demonstrated with audiovisual aids how Dhvani plays a marvellous role in making the rocks and pictures speak to us with all sentiment and emotions that a human being is proud of and thinks that it is all his own field of monopoly.

The conclusion one could easily draw on seeing these demonstrations and discussions was that Sound is basically universal, eternal and blissful in its multidimensional form.

The deliberations in the Seminar which occupied about 24 hours of our time in the wide span of four days will be meaningful if we can visualize and realize this cosmic form of Sound and try to mobilise all human resources to utilise this enormous treasure the endless space has in store for us for the benefit of the whole creation in general and all living beings in particular. If we can transform this basic potential of Sound into Vāk or Vākya, the whole universe will become an inexhaustible treasure house of Rasa, the essence of existence. This is the best we can aspire for in order to convert the entire dusk into the delightful dawn—the dawn of real civilization, the composite culture and unpolluted philosophy of life. If we can achieve this through such deliberations, we have really made a march from Sound to Sense. If we can get this—the best of all being and becoming—we can forget the rest.

Let us hope that this Seminar which has given us a start in this march, will give us the strength to achieve the end as well.

Let us pray in tune with the sages and seers of this blissful land :

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम॥

आकाश, तुम्हारी भाषा क्या है?
शब्द, रूप, रस, स्पर्श या सुगन्ध? या फिर प्रणव-नाद स्वर-सङ्ग?
या केवल श्रीकार रसोज्ज्वल? या फिर महती मही महोज्ज्वल??
समझ नहीं पाते हम 'कस्मै' आराधें 'कस्यै' या कि 'परस्मै'
हम तो ध्वनि के कुछ वर्णों की पद-विधियों में फँसे हुए हैं,
शेषनाग के सहस्र फण के अट्टहास से डसे हुए हैं।
ऐसी भाषा हमें सिखाओ जिससे दिल का मधुवन हुलसे।
अट्टहास को आत्महास कर पुष्पहास जन-मन में विलसे॥
मङ्गलमय नव वर्ष हर्ष की कल्याणी धारा घन बरसे॥*

★★★

* प्रो० इ० पाण्डुरङ्ग राव द्वारा पुनः इसी अवसर पर पठित निजरचना।

१८.

प्रो० प्रेमलता शर्मा : एक समर्पित व्यक्तित्व

(आचार्य प्रियव्रत शर्मा, वाराणसी)

प्रो० प्रेमलता शर्मा 'बहन जी' के रूप में प्रसिद्ध थीं। उनके लिए यह अभिधा सार्थक थी क्योंकि वह अपने स्निग्ध, सात्त्विक एवं आकर्षक व्यक्तित्व के कारण सुधी-समाज को एक पारिवारिक सूत्र में पिरोये हुई थी। किसी भी गोष्ठी में इनके आमन्त्रण पर महान् मनीषी भी सम्मिलित होने में आनन्द का अनुभव करते थे।

प्रो० प्रेमलता जी सङ्गीतज्ञ थी, साथ-साथ संस्कृत-विदुषी होने के कारण संबद्ध शास्त्रों का गहन अध्ययन भी उन्होंने किया था। उनके इस अप्रतिम वैदुष्य की भूमिका ने सङ्गीत को दृढ़ शास्त्रीय पीठ पर स्थापित किया जिसमें 'सङ्गीत-शास्त्र' की नवीन शाखा का प्रादुर्भाव हुआ। वह इसके विकास में अहर्निशि संलग्न रहीं और इस क्रम में संगीत शाखा के अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाश में आये। अनेक ग्रन्थों के अंग्रेजी अनुवाद हुये और अनेक की विशद व्याख्या का प्रकाशन हुआ।

अतीत में जाता हूँ तो छोर पकड़ में नहीं आता कि प्रो० शर्मा से मेरा प्रथम परिचय कब हुआ। १९४० में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का छात्रजीवन समाप्त कर मैं बाहर चला गया और फिर १९५३ में यहाँ अध्यापक बन कर आया, तब सम्भवतः वह निर्माणावस्था में साधना-लीन थीं अतः सम्पर्क न हो सका। थोड़े दिनों बाद मैं पुनः बाहर चला गया और १९६३ में वापस आया। इसी अवधि में उनसे मेरा परिचय हुआ। संयोग से मेरे विभाग के निकट ही इनका सङ्गीतशास्त्र विभाग था, अतः आते-जाते प्रायः उनसे साक्षात्कार हो जाता।

उस समय काशी के सस्कृतज्ञों ने 'कवि-भारती' नामक संस्था की स्थापना की थी। इसके अन्तर्गत कवि-गोष्ठी समय-समय पर आयोजित होती थी जिसमें संस्कृत के कवि अपनी-अपनी रचनायें प्रस्तुत करते थे। मैं बचपन से ही संस्कृत के वातावरण में पला था और अपने कविवर अग्रज की छाया में कुछ कविता भी कर लेता था। अतः मैं भी कवि-भारती की गोष्ठियों में भाग लेता था। प्रो० प्रेमलता जी वहाँ भी मिलती थीं। इनकी कवितायें हृदयस्पर्शी होती थीं अतः लोग बड़े चाव से सुनते थे।

बाद में ये कवितायें इन्हीं के द्वारा सम्पादित-प्रकाशित भी हुईं।

बहन जी से मेरा जो परिचय था उसे घनिष्ठता में परिणत करने का कार्य किया आयुर्वेद ने। आयुर्वेद में उनकी श्रद्धा प्रारम्भ से ही थी। आवश्यकता पड़ने पर वह प्रायः आयुर्वेद की ही औषधियाँ लेती थीं। इसके अतिरिक्त, सङ्गीतशास्त्र के ग्रन्थों में आयुर्वेद के अनेक सन्दर्भ आते थे। विशेषतः पिण्डोत्पत्ति का प्रकरण आयुर्वेद पर ही आधारित था। ऐसे प्रसङ्गों में वह मुझसे परामर्श करती थीं। श्री रवीन्द्रकुमार श्रृङ्गी जब संगीतरत्नाकर का अंग्रेजी अनुवाद कर रहे थे तब उन्हें परामर्श के लिए मेरे पास भेजती थीं।

प्रो० शर्मा अपनी विशेषज्ञता, साधना एवं बहुमूल्य अवदानों के कारण देश-विदेश में विख्यात हो गई। उनका यश काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की परिधि से बाहर फैलने लगा और वह अनेक संस्थाओं से सम्मानित हुई। खैरागढ़ इन्दिरा गाँधी संगीत विश्वविद्यालय की वह कुलपति नियुक्त हुई। संगीत-नाटक के क्षेत्र में प्रतिष्ठित केन्द्रिय संस्था संगीत नाटक अकादमी की उपाध्यक्षा

भी बनीं। इस काल में इन्होंने अकादमी के कार्यों का बड़ा विस्तार एवं उन्नयन किया। यहाँ सम्पूर्ण विषयों पर देश के अनेक भागों में गोष्ठियों का आयोजन होता था। ऐसे अवसरों पर बहन जी मेरा स्मरण अवश्य करती थी और प्रायः गोष्ठी का प्रारम्भ मेरे ही वक्तव्य से होता था। यहाँ भी आयुर्वेद में उनकी हर आस्था ही कारण थी। उनकी मान्यता थी कि संगीत का बोध बिना आयुर्वेद के संभव नहीं है।

प्रो० शर्मा गायन में भी प्रवीण थीं और शास्त्रीय पक्ष की भी विलक्षण विदुषी थी। वास्तव में उनके जीवन में प्रयोग और शास्त्र का समीचीन समन्वय था। इसी सरणि पर वह कला के विविध पक्षों को विकसित करना चाहती थीं। इस ध्येय की पूर्ति में वह आजीवन संलग्न रहीं, इसके प्रति उनका संपूर्ण व्यक्तित्व समर्पित जो था। मैंने देखा था, रुग्णावस्था में भी वह किस हृदय और उत्साह से काम में जुटी रहती थी। उनके चले जाने के बाद मेरा भी गोष्ठियों में आना-जाना प्रायः बन्द हो गया। वह तो मुझे खींचकर ले जाया करती थी। उनके सील और सौजन्य का स्मरण कर अभिभूत हो उठता हूँ। वृन्दावन-विहारी उनकी स्मृति को अक्षुण्ण रक्खें।



११.

आयुर्वेद में शब्द*

(आचार्य प्रियव्रत शर्मा, वाराणसी)

पतञ्जलि ने महाभाष्य में शब्द-प्रयोग के सन्दर्भ में वैद्यक का उल्लेख किया है। इससे संकेत मिलता है कि उन्हें अवश्य ही आयुर्वेद की संहिताओं में शब्द-प्रयोग की विशेषता परिलक्षित हुई होगी। एक परम्परा के अनुसार तो महाभाष्यकार पतञ्जलि ही चरकसंहिता के भी प्रणेता थे।

आयुर्वेद में षड्धात्वात्मक पुरुष चिकित्सा का अधिकरण कहा गया है। पञ्चमहाभूत और चेतना के संयोग से यह पुरुष निष्पन्न होता है। शरीर पाञ्चभौतिक है जिससे प्राकृत कर्म सम्पादित होते हैं और यह विकारों का भी अधिष्ठान है। अतएव आयुर्वेद में पञ्चमहाभूत का विचार सर्वोपरि है। इन महाभूतों में आकाश सर्वप्रथम है जिसका गुण शब्द है। अत: जिस प्रकार महाभूतों में आकाश का प्रथम स्थान है उसी प्रकार इन्द्रियों में श्रोत्र और इन्द्रियार्थों में शब्द अग्रगण्य हैं। चरक ने इन्द्रियाधिकार में पञ्चपञ्चक का वर्णन किया है जिसके अन्तर्गत पञ्चेन्द्रियाँ, पञ्चेन्द्रिय द्रव्य, पञ्चेन्द्रियाधिष्ठान पञ्चेन्द्रियार्थ और पञ्चेन्द्रियबुद्धि का समावेश है। शब्द के संदर्भ में—श्रोत्र इन्द्रिय, आकाश इन्द्रियद्रव्य, कर्ण इन्द्रियाधिष्ठान, शब्द इन्द्रियार्थ, और श्रोत्रबुद्धि इन्द्रियबुद्धि है।

प्रमाणों के प्रसङ्ग में यद्यपि एक स्थल पर मुक्ति का भी उल्लेख चरकसंहिता में हुआ है, तथापि आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष और अनुमान ये त्रिविध प्रमाण ही व्यवहार में स्वीकृत हैं। आप्तोपदेश शब्द प्रमाण है—'तथाप्तोपदेशो नामाप्तवचनम्' (च०वि० ४.४) अर्थात् आप्त पुरुषों का शब्द प्रमाणभूत है अन्य का नहीं। आप्त का लक्षण चरक ने अन्यत्र (च०सू० ११.१८-१९) विस्तार से दिया है। टीकाकारों ने आप्तोपदेश शब्द को दो भागों में विभक्त किया है—परमाप्तब्रह्मादिप्रणीत तथा लौकिकाप्तप्रणीत। प्रथम ऐतिह्य के अन्तर्गत आता है और द्वितीय वर्णसमाम्नायभूत शब्द से सम्बद्ध है। चरक ने लिखा है—

> 'शब्दो नाम वर्णसमाम्नाय:, स चतुर्विध:-
> दृष्टार्थश्च, अदृष्टार्थश्च, सत्यश्च, अनृतश्चेति।'
>
> (च०वि० ८.३८)

इसके अनुसार शब्द चार प्रकार का है—दृष्टार्थ, अदृष्टार्थ, सत्य और अनृत। दृष्टार्थ वह है जिसका फल प्रत्यक्ष देखने में आता है यथा तीन कारणों से दोष प्रकुपित होते हैं और छ: उपक्रमों से उनका शमन होता है। अदृष्टार्थ प्रत्यक्षगम्य नहीं है यथा परलोक है, मोक्ष है इत्यादि। यथार्थभूत सत्य है, यथासाध्य रोगों के निवारण का उपाय है, इसके विपरीत अनृत है।

रोग एवं रोगी की परीक्षा में त्रिविध प्रमाण—आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष और अनुमान का प्रयोग होता है। पहले आप्तोपदेश के द्वारा रोग के स्वरूप तथा कारणों का ज्ञान होता है उसके बाद प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा रोगी की परीक्षा की जाती है—

> 'पूर्वमाप्तोदेशाज्ज्ञानं, तत: प्रत्यक्षानुमानाभ्यां परीक्षोपपद्यते' -च०वि०४.५

* श्री० बहिनजी के ही अनुरोध से यह लेख लिखा गया था, अत: उन्हीं के स्मरण में इसे अर्पित किया गया। —सम्पा०

चरक ने रोगी की परीक्षा दर्शन, स्पर्शन और प्रश्न इन तीनों साधनों से करने का विधान किया है किन्तु सुश्रुत ने इससे असहमति व्यक्त करते हुए षड्विध परीक्षा का निर्देश किया है— 'षड्विधो हि रोगाणां विज्ञानोपायः, तद्यथा-पञ्चभिः श्रोत्रादिभिः प्रश्नेन चेति।' (सु०सू० १०.४) अर्थात् रोगी की परीक्षा छः प्रकार से की जाती है—श्रोत्र आदि पाँच इन्द्रियों के द्वारा और प्रश्न से। इससे स्पष्ट है कि सुश्रुत ने श्रोत्र के द्वारा शब्द-परीक्षा को यथोचित महत्त्व दिया। आगे चल कर अष्टस्थान परीक्षा का निर्धारण हुआ तब उसमें भी शब्द को स्थान दिया गया।

श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा विभिन्न अंगों में होने वाले प्राकृत एवं वैकृत शब्दों की परीक्षा की जाती है। सामान्यतः इस प्रसङ्ग में सन्धिस्फुटन और अन्नकूजन का उल्लेख किया गया है किन्तु अन्य आभ्यन्तर अङ्गों में जो ध्वनियाँ होती हैं उनकी परीक्षा भी महत्त्वपूर्ण है। इस सन्दर्भ में हृदय का स्थान सर्वोपरि है। हृदय सम्पूर्ण शरीर में रक्त सञ्चालन के लिए निरन्तर गतिशील रहता है और इस क्रम में उससे एक लय युक्त ध्वनि उत्पन्न होती है। यद्यपि यह केवल श्रोत्र द्वारा ग्राह्य नहीं है, श्रवणयन्त्र की सहायता से इसे सुना जा सकता है और उससे हृदय की प्रकृति एवं विकृति का ज्ञान होता है। इसी प्रकार कास और श्वास रोगों में फफ्फुस और कण्ठनलिका में ध्वनि की परीक्षा कर विकृति का निर्धारण किया जाता है।

रोगों के सामान्य हेतु असात्म्येन्द्रियार्थ-संयोग, प्रज्ञापराध और परिणाम ये तीन कहे गये हैं। असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग का अर्थ है—इन्द्रिय के साथ उसके विषय का अहितकर संयोग (अयोग, अतियोग और मिथ्यायोग)। तदनुसार शब्द का बिलकुल न सुनना (अयोग,) अत्यधिक सुनना (अतियोग) और अतितीक्ष्ण, कठोर शब्दों का सुनना (मिथ्यायोग) रोग का कारण है। यह सब ध्वनि-प्रदूषण है। स्वास्थ्य के लिए इनका प्रयोग न होना अपेक्षित है। भगवान् बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट मध्यम मार्ग यही है।

वागिन्द्रिय द्वारा अभिव्यक्त शब्द 'स्वर' है। चरक ने इन्द्रियस्थान के वर्णस्वराधिकार में प्राकृत एवं वैकृत स्वरों का वर्णन किया है। स्वर के विकारों में मूक, मिम्मिन, गद्गद आदि अनेक हैं किन्तु सामान्यतः स्वर के विकार 'स्वरभेद' के अन्तर्गत आते हैं।

मनोदैहिक रोगों की चिकित्सा में संगीत, वादित्र के मधुर शब्दों का श्रवण निर्दिष्ट है। संज्ञा-प्रबोधन तथा उसके बाद मन के अनुकूलन के लिए मूर्च्छा और संन्यास में गीत वादित्र का प्रयोग है। सुश्रुत ने वमन के अतियोग के कारण संज्ञानाश होने पर वेणु, वीणा और संगीत के श्रवण का विधान किया है—

'विसंज्ञे वेणुवीणागीतस्वनं श्रावयेत्' (सु०च० ३४.१२)

चरक ने आतुरालय में परिचारकों के अतिरिक्त रोगी के मनोविनोद के लिए गीत, वादित्र, श्लोक, गाथा, आख्यायिका, इतिहास और पुराण में कुशल व्यक्तियों को रखने का विधान किया है (च०सू०अ० १५)।

लोलिम्बराज ने दाह के शमन के लिए वीणा वाद्य और संगीत का उपक्रम दिया है अन्य संभारों के साथ-

शय्या पल्लवपद्मपत्ररचिता वासो वयस्यैः समं
कान्तारे कुसुमस्फुरत्तरुवरे गानन्तु वीणान्वितम्।
आलापाश्च शुकालिकोकिलकृताः कान्ताश्च कान्ताः कथा
वाताश्चामलतालकव्यजनजा दाघं निराकुर्वते॥

★★★

.२०.

डॉ० प्रेमलता शर्मा : सर्वप्रिय बहनजी*

(राय आनन्दकृष्ण)

बहन जी, और मेरे बीच सचमुच बहन-भाई वाला स्नेह सम्बन्ध था। इस उक्ति का मैं अकेले दावेदार होने का दंभ नहीं भर सकता। उनके स्नेहभाजनों की बहुत बड़ी संख्या हो सकती है, मैं उनमें से एक हूँ। खादी के सूत का एक धागा है, वह श्वेत तन्तु जो सीधे चरखे से अभी-अभी निकल रहा हो। वैसी ही पवित्रता मुझे 'बहनजी' के दर्शन में बराबर मिलती रही। यही वह निष्पाप सूत्र है जिसका गुणगान कबीर से लेकर गाँधी तक करते रहे। इसी सूत से वह श्वेत धवल चादर बनी जिसको कबीर और गाँधी ने पहना और ज्यों की त्यों उतार कर धर दिया। अवश्य ही 'बहनजी' ने भी उस श्वेत धवल चदरिया को खूब ओढ़ा और ज्यों की त्यों उतार दिया।

बहन प्रेमलता जी के गोलोकवास की सूचना वाले कार्ड पर कुछ पंक्तियाँ लिखने का दायित्व मुझे दिया गया। मेरे सामने कोई और विशेषण न था, बस केवल मात्र 'सर्वप्रिय' था। सचमुच वे सर्वप्रिय थीं, अजातशत्रु थीं, वे सिद्धान्त पर अडिग रहते हुए भी अत्यन्त कोमल हृदया थीं। इन दोनों विरोधाभासों के बीच में मंदिर की दीपशिखा सी वे नीरव प्रकाशित होती रहीं। कुछ परिवर्तन के साथ महादेवी जी की अमर पंक्ति—"मैं मंदिर की दीपशिखा, नीरव जलने दो" के समान।

बहनजी की मुझे पहली झलक आज से कोई पैंतालिस पचास वर्ष पूर्व एक उत्सव में मिली। जहाँ तक स्मरण आता है, उन दिनों वे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में संस्कृत एम०ए० की प्राइवेट छात्रा के रूप में परीक्षा देने आयी थीं और यहाँ के महिला छात्रावास में टिकी थीं। उन दिनों में विश्वविद्यालय में कॉलेज ऑफ इंडोलोजी था अपने मूल भारतीय रूप में भारती महाविद्यालय। अब वह कागजों पर ही रह गया है, अथवा स्मृतियों में। सम्भवत: उसके मुख्य द्वार पर अभी उसका शिलापट्ट मौजूद है। विश्वविद्यालय ने काशी नरेश के दान की शर्तों का उल्लङ्घन कर उसे दफ्तर की फाइलों में बंद कर दिया, इसकी पीड़ा स्वयं काशी नरेश के भाषणों में बार-बार सुनने को मिलती हैं। उन दिनों भारती महाविद्यालय में एक से एक उद्‌भट विद्वान्, अध्यापक वर्ग में थे। एक अद्‌भुत वातावरण था।

मैं जिस दिन की बात कर रहा हूँ, महाविद्यालय में कोई उत्सव था। उसके प्रारम्भ होने में विलंब सा हो रहा था, ज्ञात हुआ कि मंगलाचरण प्रस्तुत करने के लिए किसी की खोज हो रही थी। इतने में सुनसुनी हुई कि महिला छात्रावास की एक छात्रा वंदेमातरम् की प्रस्तुति करेंगी। ये बहनजी ही थीं। उसी दिन अपने सुमधुर कंठ से उन्होंने पूरी सभा को भाव विभोर कर दिया। जिस समय वे मेरे पिताजी, को अभिवादन कर रही थीं, मेरा भी नमस्कार उन्होंने स्वीकार किया। उसी क्षण से मानो मेरे उनके बीच भाई बहन का सहज स्नेह स्थापित हो गया। इस घटना की चर्चा हम लोगों के बीच अक्सर होती, एक न भूलने वाली याद की तरह।

उन दिनों पू० गुरुजी (पंडित ओंकारनाथ जी ठाकुर) अपने संगीत महाविद्यालय को इस विश्वविद्यालय में स्थापित कर

---

* (बहिनजी के दिवंगत होने के बाद उनके प्रथम जन्मदिन पर) १० मई १९९९, 'राष्ट्रीय सहारा' पत्र में प्रकाशित **प्रो० आनन्द कृष्ण** जी का यह लेख विशिष्ट पत्रकार डॉ० गौतम चटर्जी के सौजन्य से उपलब्ध हुआ। —सम्पा०

रहे थे। उसमें मेरे पूज्य पिताजी का भी पूरा सहयोग था। भारत कलाभवन भी साथ-साथ आया था। विश्वविद्यालय में राज्य परिवर्तन की ये दोनों संस्थाएँ शिकार थीं केवल उपेक्षा की नहीं, बल्कि उत्पीड़न की भी, साथ-साथ उनमें सम्बद्ध व्यक्ति तक। इस प्रकार इनमें एक भाईचारे का वातावरण भी बन चला। उक्त संगीत महाविद्यालय के अन्तर्गत एक विभाग चित्रकला मूर्तिकला का भी था, वह भी जोड़ने वाली एक कड़ी बनी।

उन्हीं दिनों काशी में फ्रांसीसी मूल के एक सज्जन रहते थे; आलेन दोनयेलू। उन्होंने हिन्दू धर्म भी अपना लिया था और काशी नगरी के एक बीनकार (वीणावादक) से भारतीय संगीत की शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। कोई बीस-पच्चीस वर्ष बाद उन्होंने संगीत जगत् को एकाएक चौंका दिया कि मैंने तो काशी में संगीत के क्षेत्र में कुछ भी प्राप्त नहीं किया। अस्तु उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय को यह प्रस्तावित किया कि संगीत-कला महाविद्यालय में एक संगीत शास्त्र विभाग की भी स्थापना हो। संगीत मार्तंड पं० ओंकारनाथ जी ठाकुर ने स्वयं संगीत शास्त्र के क्षेत्र में बहुत शोध एवं चिंतन किया था। उन्हें परम्परा से भी इस विषय में बहुत-सी जानकारियां प्राप्त थीं। अतः पंडित जी ने इस प्रकार के कार्यक्रम को अपना समर्थन ही नहीं आशीर्वाद भी प्रदान किया। उन दिनों के सीमित साधनों के अन्तर्गत संगीत शास्त्र विषय में अध्ययन शोध और अनुसन्धान चल पड़ा। निश्चय ही **भारतीय परिप्रेक्ष्य में यह सर्वप्रथम संगीतशास्त्र विभाग** था और अभी भी तकनीकी ढंग से मौजूद है, विश्वविद्यालय की उपेक्षा का शिकार बना हुआ।

हमारी 'बहनजी' उससे प्रारम्भ से जुडीं। आलेन दोनयेलू तो थोड़े ही समय में उसे छोड़कर चले गये पर एक प्रकार से **'बहनजी' ने ही उस विभाग का अकेले निर्माण किया, उसे खड़ा किया और उन्नत किया। एकमात्र रिसर्च सेंटर के स्तर से।** आज देश-विदेश में 'बहनजी' के नेतृत्व में और शिष्यत्व में उपजे, पनपे और बढ़े कितने ही संगीतशास्त्री उनकी और उस विभाग की कीर्ति बढ़ा रहे हैं। इसमें संदेह नहीं कि शास्त्रीय दृष्टि से यह संगीतशास्त्र का पहला और सर्वांगपूर्ण विभाग था (अब प्रायः नाम शेष है)। अत्यन्त उच्चस्तरीय। इसका पाठ्यक्रम भी थोड़ा अधिक ही अनुशासनबद्ध और दुष्कर था। इसके संचालन में पग-पग पर कठिनाइयों को झेलते हुए प्रायः एकाकी बहनजी ने इसे अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर पहुँचाया। साथ-साथ उन्हें संगीत-कला महाविद्यालय के आचार्य पद की जिम्मेदारियां भी निभानी पड़ती थीं। पर यह पता ही न चला कि सब कार्य अध्यापन, शोध निर्देशन आदि के साथ-साथ वे प्रशासनीय चुनौतियों को कैसे सहज भाव से झेलती चली गयीं। उस महाविद्यालय का कार्यकाल अपराह्न से शुरू होता था। 'बहनजी' प्रायः डेढ़ बजे पहुँचकर सात-आठ बजे रात तक यहाँ रहतीं। इसके पूर्व वे प्रातः काल से अपना नियमित पूजा पाठ सम्पन्न कर गायों-बछड़ों की सेवा कर, घर पर ही लेखन, अध्ययन-अध्यापन कर चुकी होतीं। इतना ही नहीं स्वयं-पाकी होने के नाते अपना भोजन भी बना लेतीं, सहज भाव से। घर में दूध अधिक हो जाता तो विभाग में बाँटने के लिए मट्ठा भी लेती जातीं। कभी-कभी प्रातःकाल शोध छात्र-छात्राओं को बुला लेतीं, उनके निर्देशन का काम भी कर लेतीं। उनके विशिष्ट छात्र-छात्राओं की लंबी सूची है।

संगीत मार्तण्ड गुरुजी के आश्रय में **वे कंठ संगीत में पारंगत हो गयीं। उनका कंठ सुमधुर था, उन्हें बहुत बंदिशें ज्ञात थीं, राग और ताल की खूब परख थी।** गुरु जी उन्हें प्रायोगिक कलाकार (परफार्मिंग आर्टिस्ट) के रूप में सामने लाना चाहते थे पर इस ओर उनकी रुचि न हुई। मैंने उनके गायन के अंश सुने हैं, वे आज तक मेरे कानों में गूंजते हैं। मैं 'बड़े भाई' के रूप में उन्हें उलाहना दिया करता था कि अपने गायन से हमें क्यों वंचित रखा तो सकुचा जातीं। मैंने 'कामना' के कुछ अंश उनसे सुने थे, शायद मेरे आग्रह पर वे उसे टेप करा देतीं। पर यह स्वप्न-अधूरा ही रह गया। 'कामना' की संगीतमय प्रस्तुति 'गुरुजी' ने ही करायी थी।

स्वयं 'बहनजी' ने अनेक ध्रुपद-ख्याल-भजन आदि की अनेक बंदिशें तैयार की थीं, जिन्हें उनके शिष्य वृंद द्वारा प्रस्तुत होने पर मुझे भी सुनने का अवसर मिला, रिहर्सल के समय से ही। न जाने क्यों मुझसे भी राय माँगती थीं। उनकी एक विशिष्ट प्रस्तुति श्रीमद्‌भागवत के 'भ्रमर गीत' की है वृन्दावन में प्रथम प्रस्तुति के बाद वाराणसी में उसे प्रस्तुत करने में रायकृष्णदास ट्रस्ट की भी भागीदारियाँ थीं। इस ट्रस्ट के ट्रस्टी रूप में 'बहनजी' का योगदान अत्यंत महत्त्वपूर्ण था। कई कार्यक्रम संयुक्त प्रयास से हुए यथा शार्ङ्गदेवसेमिनार के अवसर पर मंचन, श्रीमती सोनल मानसिंह द्वारा बौद्धगान पर तथा बहिनजी से सङ्गीत युक्त

'युग्मगीत' पर नृत्य का मंचन आदि। सर्वोपरि पिछले वर्ष ट्रस्ट ने लोकगान और नृत्य का जो सफल कार्यक्रम गंगातट पर किया उसकी परिकल्पना 'बहनजी' की ही थी, उसमें रायकृष्णदास ट्रस्ट को उन्होंने संगीत नाटक अकादमी, नयी दिल्ली से आर्थिक अनुदान भी दिलवाया था। उनके नेतृत्व में हमें (ट्रस्ट को) बड़ी आशाएं थीं। इस बार हिन्दी की प्रादेशिक बोलियों के संगीत और नाट्य कार्यक्रम का हमने एक प्रस्ताव रखा था। 'बहिनजी' ने उसे बहुत सराहा था और आशा थी कि इस बार भी संगीत नाटक अकादमी, दिल्ली से हमें पुनः आर्थिक अनुदान प्राप्त होगा। ऐसा भी सुनने में आया था कि इस बार वे ही इस अकादमी की अध्यक्षा मनोनीत हो चुकी थीं, पर उसका पदभार ग्रहण करने से पूर्व ही चल बसीं।

यहाँ यह भी जोड़ना आवश्यक है कि 'बहनजी' शास्त्रीय संगीत धारा की होती हुई भी लोककला संगीत में उतनी ही रुचि रखती थीं। कम ही लोगों को ज्ञात होगा **कि सुप्रसिद्ध लोककलाकार तीजन बाई 'बहनजी' की खोज थीं।**

'बहनजी' ने स्थान-स्थान पर उनका कार्यक्रम कराया जिनमें एक अविस्मरणीय मंचन काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के 'मालवीय भवन' में भी हुआ था। उसमें तीजन बाई में 'खाँटी' परम्परा दीखती थी, वह बात और ही थी। 'बहनजी' की अन्य खोजों में मध्यप्रदेश के भूतपूर्व ओरछा राज्य की दरबारी गायिका **असगरी बाई** थीं। असगरी बाई नितांत उपेक्षित दशा में एक अज्ञात कोने में पड़ी थी फिर उनकी भी प्रसिद्धि हुई, उनकी परम्परा में कितनी ही दुर्लभ बंदिशे थीं। **'बहनजी' के सद्प्रयत्नों से असगरी बाई पुनः राष्ट्रीय मंच पर आ गयी** इतना ही नहीं 'बहनजी' ने उनके लिए मासिक वृत्ति का आजीवन प्रबंध करा दिया। इस प्रकार के कितने ही और उदाहरण होंगे। असगरी बाई के प्रति समाज की उदासीनता का कारण ध्रुपद शैली के प्रति श्रोतावर्ग के आकर्षण का अभाव भी है। 'बहनजी' की प्रेरणा से काशी में ध्रुपंद सम्मेलन का वार्षिक कार्यक्रम प्रारंभ हुआ जिसे स्थानीय संकटमोचन जी के महंत जी ने अपने कुशल नेतृत्व में और भी अधिक व्यापक बनाया। इसमें कितनी ही अपेक्षाकृत अज्ञात प्रतिभाएं, अनजाने घराने आदि प्रकट हुए। आज इस उत्सव में 'श्रोतावर्ग' उत्साह से भाग लेता है, बाहर से आकर भी। इसी प्रकार वृन्दावन में स्वामी हरिदास ध्रुपद सम्मेलन पुनर्जीवित हुआ, आचार्य श्रीश्रीवत्सजी के हाथों से। 'बहनजी' ने काशी नरेश महोदय के प्रोत्साहन पर 'ध्रुपद' नामक एक वार्षिकी का भी संपादन किया। वह भी अपने ढंग का अनोखा प्रकाशन था।

इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय के सुदूर एकांत केन्द्र में उप-कुलपति रूप में 'बहनजी' से संगीत के अध्ययन-अध्यापन की एक नयी परम्परा स्थापित की और वहाँ अध्यापकों का एक अच्छा वर्ग संग्रह किया। दो बार मुझे भी उन्होंने वहाँ की चयन समिति में आमंत्रित किया। इस प्रकार मुझे वहाँ जाने का ही नहीं वरन् 'बहनजी' के सुमधुर आतिथ्य के स्वाद लेने का भी अवसर प्राप्त हुआ। एक बार मैं पहुँचा तो पाया कि वहाँ बड़े धूमधाम से संस्कृत दिवस मनाया जा रहा है। मुझे भी बोलने को कहा गया। संस्कृत से मेरा परिचय मात्र ही है। पर 'बहनजी' जैसे कृपालु इस तथ्य को स्वीकार ही नहीं करते और मेरी अशुद्धियों की ओर से आंखें मूंद लेते, कान बंद कर लेते हैं। अस्तु, मैं धुआंधार बोलता ही गया, बिना कुछ सोचे-समझे। अंत में सोचा कि आज तो बेड़ा डूबा। पर उलटे 'बहनजी' ने प्रशंसा की, अपनी सहज उदारता से कि बिना तैयारी के इतना बोले। दूसरी यात्रा में उन्होंने मुझे एक निकटवर्ती मंदिर का दर्शन कराया, कोई आठ-नौ सौ साल पुराना। मैंने उसके मूर्ति शिल्प के विषय में निवेदन किया। बहुत प्रसन्न हुई, फिर उसी उदारता से बोलीं, मैं पहले भी आई पर यों ही देखकर चली गयी अब आपके द्वारा कितनी ही नयी चीजें देखीं। सामने एक सुन्दर पुष्कर था जो आज तक मन पर छाप छोड़ गया है। 'बहन जी' आज हमारे बीच साकार रूप में वर्तमान नहीं हैं, पर इसी पुष्कर के बीच पुष्पित कमल के समान उनकी पावन स्मृति हमारे मन में उगती है, अस्तमित होती है। कवि के शब्दों में :

जय देव-मंदिर देहली
सम भाव से जिस पर चढ़ी
नृप-हेममुद्रा और रङ्क वराटिका॥

मैं इन शब्दों के साथ अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ। —राय आनन्द कृष्ण

★★★

·२१·

'प्रेमबहनजी'—मैंने क्या देखा? क्या समझा? क्या पाया?

—(सुभद्रा चौधरी)

कहाँ से आरम्भ करूँ और कहाँ अन्त करूँ? मेरा और 'प्रेमबहनजी' (मैं उन्हें शुरू से इसी नाम से पुकारती थी)—डॉ० प्रेमलता शर्मा—का सम्बन्ध लगभग साढ़े पैंतालीस साल का उनके जीवनकाल तक और उसके बाद मेरे जीवन काल तक का है, क्योंकि सशरीर न रह कर भी वे मेरे मानस में आजीवन रहेंगी।

मेरा उनसे परिचय जुलाई १९५३ में हुआ जब वे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में संस्कृत में पी०एँच्०डी० करने के साथ-साथ संगीत महाविद्यालय में 'संगीतालंकार' पाठ्यक्रम में 'गुरुजी'—पं० ओङ्कारनाथ जी ठाकुर-से संगीत सीख भी रही थीं और उनके मार्गदर्शन में सङ्गीत के शास्त्रग्रन्थों का अध्ययन भी कर रही थीं। मैंने उस वर्ष काशी विश्वविद्यालय में बी०ए० में प्रवेश लिया और साथ ही 'सङ्गीत मध्यमा' में प्रवेश लेकर गुरुजी से सङ्गीत सीखना शुरू किया। प्रवेश देने से पहले गुरुजी ने संगीत सीखने के लिये मेरा पात्रता-परीक्षण किया और उनके निर्देश पर उस समय प्रेमबहनजी ने मेरे साथ तबले पर 'ठेका' दिया। यह उनसे मेरा प्रथम परिचय था। इस परीक्षा में अपेक्षित स्तर से ज्यादा लयकारी करने और कुछ मुख्य शास्त्रग्रन्थों के बारे में कुछ ज्यादा जानकारी होने के कारण मुझे मेरी पात्रता से एक साल आगे के पाठ्यक्रम में प्रवेश दे दिया गया और प्रेमबहनजी के चित्त में मैं अप्रत्यक्ष रूप से 'स्थान' पा गई। धीरे-धीरे इस स्थान ने आत्मीयता का रूप लिया और क्रमशः प्रगाढ़ मित्रता में परिणत हो गया, हालाँकि आयु में मैं उनसे ९ साल छोटी थी। इस सम्बन्ध को उन्होंने मुझे लिखे एक पत्र में 'एक आत्मा दो शरीर' का नाम दिया था।

लगभग दो साल बाद जब उन्हें संगीत महाविद्यालय की प्राध्यापिका के रूप में विश्वविद्यालय परिसर में रहने के लिये क्वार्टर मिला तो उनके साथ रहने का उन्होंने मुझसे स्नेहपूर्वक आग्रह किया और मैं छात्रावास छोड़ कर उनके पास रहने लगी और कई वर्ष तक केवल मैं, ऐकान्तिक रूप में उनके साथ रही। उस समय उन्होंने मुझे बड़ी बहन का स्नेह भी दिया। इस अर्से में मैंने उन्हें बहुत निकट से, अन्तरंग रूप में देखा, समझा और उनके गुणों और दुर्बलताओं का अनुभव किया। आगे चलकर उन्होंने हमें 'थियरी' पढ़ाना शुरू किया और मैं उनकी विद्यार्थी बनी और यह सम्बन्ध आजीवन रहा। इस प्रकार मित्र, बहन और छात्रा—इन तीन भिन्न सम्बन्धों की मर्यादा में रहकर और उनमें एकसूत्रता रखते हुए उनसे मैंने बहुत सीखा, पाया, बहुत काम किया और कुछ खोया भी।

सङ्गीतशास्त्र विभाग में उनके द्वारा नवगठित एँम्०म्यूजिकॉलोजी पाठ्यक्रम में उन्होंने १९६७ में मेरी अनिच्छा के बावजूद मुझे प्रवेश दे दिया। सन् ६७-६९ के दो सालों में म्यूजिकॉलोजी जैसे नये, कठिन, विस्तृत, अत्यन्त परिश्रमसाध्य, क्रिया और सिद्धान्त दोनों को समान महत्त्व देने वाले और ज्ञान की विविध भारतीय और पाश्चात्य शाखाओं से संबद्ध—'इण्टरडिसिप्लिनरी'—विषय की प्रथम छात्रा को बड़ी कठिन स्थिति से गुज़रना पड़ा। पाठ्य सामग्री की अनुपलब्धता, विषय के विस्तृत ढाँचे और निश्चित स्तर के अभाव, पाश्चात्य संगीत-सम्बन्धी विषयों के अध्यापन की सुविधा की कमी और दूसरे कारणों से अध्ययन की निश्चित दिशा या दायरा नहीं बन पाता था। कई अंशों के अध्ययन की शुरुआत प्रेम बहनजी ने भी उसी समय की थी। इसलिये

बार-बार ऐसा लगता था कि मुझे 'जबरदस्ती' प्रवेश दिया गया। लेकिन सारी कठिनाइयों के बावजूद प्रेमबहनजी के धैर्य, उत्साह और समस्याओं को दूर करने में रुचि इस पाठ्यक्रम को सफलतापूर्वक सम्पन्न करने के लिए मुझे प्रेरित करते रहे। रोज लगभग १२ घंटे पूरी एकाग्रता के साथ मेरे अध्ययन और अभ्यास के फलस्वरूप इस पाठ्यक्रम की परीक्षा के हर पक्ष में प्राप्त अंकों का एक कीर्तिमान स्थापित हुआ। इस दौरान प्रेमबहनजी के मार्गदर्शन में कई नये विषयों के अध्ययन का अवसर मिला, कई पाश्चात्य धारणाओं से परिचय हुआ और शास्त्रग्रन्थों के गम्भीर अध्ययन की रुचि बढ़ी। इस तरह इण्टरमीजिएट में शास्त्रग्रन्थों और ग्रन्थकारों से परिचय की जो शुरुआत मैंने की थी, गुरुजी के द्वारा शास्त्र के अध्ययन का जो बीज डाला गया और संङ्गीत की क्रिया तथा सिद्धान्त में समन्वय स्थापित करने की जो परोक्ष प्रेरणा और शास्त्र के क्षेत्र में अपनी शक्ति लगाने की जो सलाह मिली उसे एम्० म्यूजिकॉलोजी के समय सही दिशा मिली।

इस पाठ्यक्रम के विभिन्न सत्रों (semesters) में 'सॅशनल्स' के रूप में 'संगीतरत्नाकर' जैसे प्रमुख ग्रन्थ के तीन अध्यायों का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत करने का सुझाव और मार्गदर्शन देकर उन्होंने सम्पूर्ण संगीतरत्नाकर के हिन्दी अनुवाद का मेरे लिये द्वार खोल दिया। बाद के ३० साल के अन्तराल में व्याख्या और टिप्पणियों के द्वारा उसे शिक्षकों और छात्रों की आवश्यकता के अनुरूप बनाकर अब उसके प्रकाशन का सिलसिला शुरू हो गया है।

सन् ६९ में ऍम्० म्यूजिकॉलोजी उत्तीर्ण करने के बाद, अपनी जन्मभूमि राजस्थान के अत्यन्त समृद्ध लोकसंगीत से सम्बन्धित एक विषय पर पी०ऍच्०डी० करने की मैंने प्रेमबहनजी से स्वीकृति माँगी तो उन्होंने उसे एकदम अस्वीकार करके एक ऐसा अछूता और विस्तृत विषय दे दिया जिसे ३ साल की अवधि में पूरा करना मुझे संभव नहीं लगता था। विषय था—भारतीय संगीत में ताल, छन्द और प्रबन्ध का ऐतिहासिक और विश्लेषणात्मक अध्ययन। उन्होंने गीतक और ध्रुवा को भी इसकी परिधि में शामिल कर दिया। विषय को सीमित करने के लिए कहते रहने के बावजूद वे टालती रहीं और विषय में परिवर्तन करने की समयसीमा बीत जाने दी। कारण, उनकी दृष्टि से, यह था कि ये सारे पक्ष एक दूसरे से संबद्ध होने से इन पर एक साथ काम करने से ही सही काम हो सकता था। इतने पक्षों पर एकसाथ मेहनत करने के लिये कोई दूसरा छात्र तैयार न होता और मेरी मेहनत करने की प्रवृत्ति पर उन्हें विश्वास था। इस आशय की उनकी टिप्पणी (comment या compliment?) ने मुझे विषय को ज्यों का त्यों स्वीकार करने के लिये मजबूर कर दिया। इस काम पर उन्होंने सचमुच मुझसे बहुत मेहनत कराई और अगले ३ सालों में, व्यक्ति की क्षमता का पूरा उपयोग करके काम करवा लेने का उनका तरीका समझ में आने लगा। लेकिन दुर्भाग्य से वे उतना समय नहीं दे सकीं जितना इस कठिन काम के लिये अपेक्षित था और मुझे लगा कि मैं विषय के साथ अपनी अपेक्षा के अनुरूप पूरा न्याय नहीं कर सकी हालाँकि दोनों परीक्षकों, भारतीय संगीत के दिग्गज विद्वानों—ठाकुर जयदेव सिंह और आचार्य कैलाशचन्द्र देव बृहस्पति—ने अपनी रिपोर्ट में शोधप्रबन्ध की बड़ी सराहना की। बाद में शोधप्रबन्ध को पहले हिन्दी में और कुछ साल बाद उसका अंग्रेजी संस्करण प्रकाशित करते समय उसमें संशोधन करके कमी को किसी हद तक पूरा किया।

इन ५ वर्षों में वे हर सॅमिनार से वापस लौटने पर एक या दो लम्बे 'सॅशन' उन सॅमिनारों की चर्चा करके वक्ताओं और उनके दृष्टिकोणों से अवगत कराते हुए संगीत के विभिन्न पक्षों की विचारसरणी (trends) का परिचय जरूर देती थीं। इस तरह विद्वानों और विचारकों का तथा संगीत और सम्बद्ध विषयों पर विचार करने की क्या दिशाएँ हो सकती हैं इसका, परोक्ष परिचय होता रहा और विचारगोष्ठियों में मेरी भागीदारी की पृष्ठभूमि बनने लगी। आगे चलकर विचारगोष्ठियों में प्रपत्र प्रस्तुत करने का मेरा जो सिलसिला शुरू हुआ उनमें से कई प्रमुख राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की गोष्ठियों के लिये उन्होंने स्वयं ऐसे विषय दिये जिन पर अच्छा काम हो सका। इनमें से संगीत रिसर्च ऍकेडमी, कलकत्ता; एम्० एस्० यूनिवर्सिटी, बड़ौदा; हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला; संगीत नाटक अकादमी, दिल्ली द्वारा वाराणसी में शार्ङ्गदेव पर और हम्पी (कर्णाटक) में मतङ्ग पर आयोजित विचारगोष्ठियों का उल्लेख किया जा सकता है।

इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ में १९८६ में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अनुदान से संङ्गीतशास्त्र विभाग की अध्यक्षा के रूप में मैंने एक सॅमिनार आयोजित किया। 'संगीत में अनुसन्धान की समस्याएँ और क्षेत्र' विषय पर अपने ढंग का यह पहला सॅमिनार था। इसे अपने उद्देश्य में सफल बनाने के लिये प्रेमबहनजी ने विश्वविद्यालय की वाइसचांसलर के रूप में अपना दायित्व मानकर हमें पूरा सहयोग और मार्गदर्शन दिया। सॅमिनार अत्यन्त सफल रहा।

पं० ओङ्कारनाथजी ठाकुर के जन्म शताब्दी आयोजन के अवसर पर उनकी प्रणवभारती और 'संगीताञ्जलि' के पाँचवें भाग के शास्त्रखण्ड के संशोधन और सम्पादन का भार प्रेमबहनजी के सुझाव पर आयोजन समिति ने मुझे सौंपा। गुरु-शिष्य की मर्यादा में रह कर संपादन के कर्तव्य को निभाना कठिन काम था। लेकिन मेरी इस सीमा को प्रेम बहनजी से न केवल स्वीकृति और पुष्टि मिली बल्कि आवश्यक सहयोग भी सतत मिला। अपनी मर्यादा में रहते हुए और गुरुजी की इच्छा का सम्मान करते हुए इन दोनों पुस्तकों में पहले छूट गये पक्षों को पूरा करने और कमियों तथा विसंगतियों को दूर करने का दायित्व पूरा करने की मैंने कोशिश की जिसकी प्रेमबहनजी ने प्रशंसा की।

उनमें कुछ विरोधाभास भी थे और मैंने उनसे भी बहुत कुछ सीखा। अध्ययन और अनुसन्धान में मार्गदर्शन के लिये वे सदा तत्पर रहती थीं। लेकिन किसी के लिये प्रतिकूल धारणा (Prejudice) बन जाने पर ऐसा करने में वे अनुदार हो जाती थीं। व्यक्ति के आलोचनात्मक मूल्यांकन की वे पक्षधर थीं इसीलिये अपने गुरुजी पर एक लेख में उन्होंने आलोचनात्मक दृष्टि रखी। लेकिन अपने सहयोगियों, मित्रों और छात्रों के द्वारा अपनी आलोचना की आशंका भी उन्हें परेशान कर देती थी। व्यक्ति के गुणों की वे भरपूर प्रशंसा करती थीं। लेकिन व्यक्ति के चित्त से 'उतर' जाने पर उसके गुण उपेक्षित हो जाते थे और सम्बद्ध व्यक्ति उचित श्रेय से भी वंचित हो जाता था। अपने छात्रों की समस्याओं के प्रति वे बड़ी जागरूक रहती थीं और उनकी व्यक्तिगत कठिनाइयों को भी दूर करने की यथासंभव कोशिश करती थीं। लेकिन अनेक अवसरों पर छात्रों पर उन्हें अकारण उबलते हुए भी देखा गया। इन विरोधाभासों का एक कारण सम्भवत: यह था कि काफ़ी अंश में उनकी शिक्षा स्कूल, कॉलेज में न होकर घर में शिक्षकों के द्वारा हुई, इसलिये संस्था के वातावरण में या व्यक्तियों के साथ अपने व्यवहार में अनुकूलता पैदा करने (adjustment) का या स्वयं को दूसरे की स्थिति में रख कर विचार करने का सहज रूप से अवसर नहीं आया। दूसरे, अपने कार्यक्षेत्र में वे इतनी ऊपर उठ गई थीं और दूसरों से इतनी भिन्न थीं कि उनके प्रति भयमिश्रित श्रद्धा के कारण लोगों को प्रतिरोध करने या असहमति व्यक्त करने का प्राय: साहस नहीं होता था। लेकिन उक्त हर अवसर ने मुझे अपने व्यवहार में सावधान रहने के प्रति जागरूक रखा।

वे अनेक चिन्तकों, विचारकों और विद्वानों के सम्पर्क में आई। उनमें से अनेकों से वे किसी न किसी रूप में प्रभावित हुईं, कुछ के सहयोग से काम किया, कुछ के साथ मतभेद हुए और सम्बन्ध भी टूटे। लेकिन उन्होंने मधुमक्खी की तरह बहुत संचित किया और फिर अपने स्वतन्त्र चिन्तन के द्वारा उसका नया निर्वचन किया, नई व्याख्या की। प्रो० वी०वी० षडगोपन्, ठाकुर जयदेव सिंह, आचार्य बृहस्पति, डॉ० हैरल्ड पवर्स, श्री० आर सत्यनारायण, डॉ० रंगनायिकी अय्यंगार, डॉ० कपिला वात्स्यायन, आचार्य हरिहरनिवास द्विवेदी, डॉ० मुकुन्द लाठ, पं० विद्यानिवास मिश्र, डॉ० कमलेशदत्त त्रिपाठी, डॉ० फ्रेंस्वाज देल्वोआ नलिनी आदि कुछ नाम हैं। लेकिन उन पर सबसे ज्यादा प्रभाव पं० ओंकारनाथजी का था जिन्होंने उन्हें संगीतशास्त्र के गम्भीर अध्ययन की प्रेरणा देकर उनके 'कैरियर' को दिशा दी। मुझमें भी शास्त्र के अध्ययन के बीज का वपन तो गुरुजी ने ही किया लेकिन उसे अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित और फलित होने का अवसर प्रेमबहनजी के सान्निध्य में ही मिला और मैंने भी उनकी 'मुधमक्खी वृत्ति' का बहुत लाभ लिया। मेरी अनिच्छा के बावजूद उनके द्वारा मुझे एॅम्० म्यूजिकॉलोजी में दिया गया प्रवेश मेरे जीवन की धारा को मोड़ देने का निमित्त बना।

उनके साथ अपने लगभग आधी शताब्दी के सम्पर्क में अध्ययन और अनुसन्धान के उनके लम्बे अनुभव से, उनके आचरण और सामाजिक व्यवहार से, उनके गुणों और कमियों से मुझे कभी प्रेरणा मिली, कभी मैंने प्रत्यक्ष रूप से सीखा, कभी मेरी अपनी प्रवृत्तियों को पुष्टि मिली और कभी मैंने अपनी दिशा और दृष्टि को व्यापक बनाया। मैंने उनसे स्नेह भी पाया और उपेक्षा भी सही और कभी उनके विरोधाभासों का शिकार भी बनना पड़ा। लेकिन गांधीजी और मेरे माता-पिता के बाद मुझे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में किसी एक अकेले व्यक्ति ने सबसे ज्यादा प्रभावित किया तो वह 'प्रेमबहनजी' थीं।

★★★

.२२.

हम सब की "बहनजी"

*—श्रीमती विद्या कातगडे**

पूज्या बहिनजी के व्यक्तित्व का जो शब्द चित्र उनके सङ्गीत-अग्रज पं० बलवंतराय भट्टजी के द्वारा आँका गया उसी के उद्धरण से मैं अपनी बात शुरू करती हूँ।—

"विद्यार्थियों के हितार्थ, विद्वानों के उत्साह-वर्धनार्थ एवं साधु-सन्तों-महात्माओं की निःस्वार्थ सेवा हेतु ही इनका जीवन समर्पित रहा है। इनकी वाणी में, लेखन में भी, स्वाभाविक नम्रता, शीतलता, गतिशीलता एवं प्रसाद का बोध होता है।"

इन्हीं पूजनीया प्रो० प्रेमलता शर्मा जी को विगत पचीस वर्षों तक मैं और सभी साथी बहनजी पुकारते रहे। ४-५ दिसम्बर १९९८ की मध्यरात्रि में प्रायः १.३० पर उनके महान् आत्मा ने हम सब का पूजनीय वह देह छोड़ दिया। सभी के लिये दुःखद वह सूचना फ़ोन पर देते हुए ऊर्मिलाजी ने भरे गले से बताया कि पहले दिन अस्वास्थ्य में भी वे मुझे याद कर रही थीं क्योंकि श्रीमद्भागवत के 'गोपीगीत' की जो सङ्गीतरचना उनके चित्त में चल रही थी वह मेरे कण्ठ के विशेष अनुरूप है ऐसा कहती थीं। स्वस्थ होते ही वे इस के लिये मुझे पत्र भेजने वाली थीं कि १९९९ में फाल्गुन-उत्सव में वृन्दावन में इस बार मुझे अवश्य सहभागी होना है, १९९४ के भ्रमरगीत की भांति। अन्तिम दिनों में भी वे मुझ जैसी अक्षम शिष्या को याद कर रही थीं—सोच कर मेरा मन श्रद्धा से और गर्व से भी भर आता है। अपनी पारिवारिक समस्याओं के कारण मैंने जब बहनजी के आग्रह को अस्वीकार किया तब उन्होंने लिखा था—"विद्या, तुम्हें मेरी आवश्यकता हो, न हो, पर मुझे तो तुम्हारी आवश्यकता है और रहेगी। मेरी स्वर-रचनाओं का अनुशासन तुम्हें सध गया है।"

वे अपने लक्ष्य के प्रति समर्पित थीं और समस्याओं से कभी विचलित नहीं होती थीं। इधर निकट का ही एक उदाहरण है, जब सितम्बर १९९६ में सङ्गीत-नाटक-अकादमी, नई दिल्ली में बहिनजी के सोदाहरण व्याख्यानात्मक साक्षात्कार (Documentation) के लिये छायाङ्कन सहित ध्वनिमुद्रण के प्रसङ्ग में उनके निर्देशानुसार उदाहरण प्रस्तुत करने के लिये कानपुर से मैं, वाराणसी से मेरी गुरुबहन श्रीमती मंगला तिवारी तथा लखनऊ से डॉ० तेजसिंह टाक (बहनजी के ही एक प्रज्ञाचक्षु शिष्य) एकत्र हुए थे। 'इण्डिया इन्टरनेशनल सेन्टर' में बहन जी के साथ ही निवास था। तेजसिंह जी को विशेष रूप से प्राचीन शास्त्रीय पद्धति के 'तालधर' द्वारा हाथ से 'सशब्द-निः शब्द क्रियायें' प्रदर्शित करने के लिये बहनजी ने बुलाया था जो लखनऊ भारतखण्डे सङ्गीत संस्थान में प्राध्यापक हैं। वहाँ से निकलने की अनुमति विलम्ब से मिलने के कारण वे हड़बड़ी में आये थे, इसी में वे 'सङ्गीत रत्नाकर' ग्रन्थ के स्थान पर उसी आकार का अपनी पुत्री के विवाह का एलबम उठा लाये थे। पूर्वाभ्यास के समय जब यह रहस्य खुला तब पहले तो बहनजी खूब "बरसीं" लेकिन फिर तुरन्त फोन द्वारा डॉ० सुमति मुटाटकार जी से सम्पर्क किया, और स्वयं उठकर चलीं, टैक्सी से 'एशियाड विलेज' जाकर उन से सही ग्रन्थ लेकर आयीं। तब तक उनके आदेशानुसार हम लोग अपने-अपने अभ्यास में लगे रहे।

---

* विचक्षण साङ्गीतिक-प्रतिभा-सम्पन्न एवं आदर्श सङ्गीत-गुरु आचार्य श्री मुकुन्द विष्णु कालविन्ट जी की सुपुत्री, स्वयं विलक्षण मधुर एवं कसकभरे चमकीले कण्ठ की धनी श्रेष्ठ गायिका। बहिनजी के सङ्गीतशास्त्रविभाग में उनकी शिष्या रही हुई, बहनजी की विशेष साङ्गीतिक रचनाओं की प्रस्तुति में सहयोगिनी।

मैं अपने को बहुत धन्यभागी समझती हूँ कि ऐसी गुरुजी का सान्निध्य एवं मातृतुल्य प्यार मुझे और मेरे परिवार को मिला। जब भी हम उनके पास आते तब अपने हाथ से ताजे फल सँवार कर देतीं, अपनी बनाई हुई तरह-तरह की मिठाई-नमकीन हलुआ आदि खिलातीं, थोड़ा डाँटते हुए भरपूर दूध का गिलास स्वयं पकड़ा कर पीने और खाने का आग्रह करतीं। ऊपर से कहती थीं— ''विद्या! तुम्हारे तो काशी में दो-दो घर (मायके) हैं—एक मौलवीबाग में (मेरे माता-पिता) और एक यहाँ। ऐसे ही मेरे दोनों बेटे—चि० ध्वनि एवं चि० श्रुतीन्द्र भी उन्हें अतिशय दुलारे रहे। जिस शान से वे रहती थीं अपने (शिष्य-परिवार) को भी उसी ठाट से रखती थी। शिष्य-परिवार आ कर रहें, अध्ययन करें, खायें-पियें मस्त रहें—यह उन्हें अच्छा लगता था। फल-दूध-दही-घी-छाछ-मिष्ठान आदि सबकी विपुलता घर में रहती थी—जैसे वृन्दावन यहीं बस गया हो। क्यों न हो? आम्नाय के अधिष्ठाता श्रीगिरिधारी (पूजा-विग्रह) जहाँ गृहस्वामी रूप से विराज रहे हों और दिन-रात श्रीमद्भागवत एवं भक्ति-वाणी स्वयं बहनजी तथा छोटी बहनजी (ऊर्मिलाजी) के चित्त में गूँजती रहती हो वहाँ गोकुल-वृन्दावन और काशी का समन्वय होगा ही।

अनेकों देशी-विदेशी जिज्ञासु अतिथि एवं शिष्य-गण बहिनजी के पास आते ही रहते और वे सबका सब प्रकार का समाधान करती रहतीं। गुरुकुल की भाँति निरन्तर गुरु-शिष्य-परम्परा का निर्वाह होते उनके घर पर प्रत्यक्ष देखने को मिलता, साथ ही अनुशासन भी उतना ही कड़ा। जहाँ शिष्य रूप में उनका अपने गुरुओं के प्रति आत्यन्तिक आदर दिखायी देता, वहीं किसी अन्य घराने व गुरु-तुल्य व्यक्ति के प्रति कटुता, आलोचना या हँसी-मजाक को कोई स्थान न था। पं० विष्णु दिगम्बर पलुस्कर जी के सम्प्रदाय की वे ''वंशधर'' थीं, उस परम्परा के अनुरूप शास्त्राध्ययन-अध्यापन के प्रचार-प्रसार में जीवन अर्पित किए हुए थीं पर साथ ही पं० भातखण्डे जी पर शोधकार्य करवाया, उनके गुणों का भली-भांति विवेचन किया एवं पं० रतनजनकर के वैदुष्य का हमेशा सम्मान किया। अपने विद्यार्थियों से भी वह ऐसी निष्ठा चाहती थीं।

उनका जन्म पंजाब (नकोदर, जि० जालंधर) का था, अतः मातृ-पितृ-भाषा पंजाबी थी। कर्मभूमि अधिकतर काशी ही रही। भाषायें तो वे भारत के १०-१२ प्रदेशों की जानती थीं। मातृभाषा पंजाबी के प्राचीन गीत—'जोगी' के गीत, 'लम्बे' गीत, 'गिद्धे', विवाह-प्रसङ्ग के अनेक मार्मिक गीत जो उन्होंने बचपन में अपने नाना की बहनों से और उस पीढ़ी की अन्य परिचित महिलाओं से सुने होंगे—वे प्रायः १५ दुर्लभ गीत अब तक उन्हें कण्ठस्थ थे उन्हीं प्राचीन धुनों में—और जब-तब अवसर पाते ही सुनाया करती थीं पर वे सब उनके साथ ही चले गये; इतने विशेष महत्त्वपूर्ण गीतों को बहिनजी की भावभरी मधुर कण्ठध्वनि में संरक्षित नहीं रखा जा सका—इसका असीम पश्चात्ताप ऊर्मिला जी को है जो उन गीतों की साक्षी हैं। अन्य भी विविध भाषाओं (विशेष—हिन्दी, ब्रज, अवधी, बंगाली, गुजराती, राजस्थानी-मेवाड़ी-मारवाड़ी, पहाड़ी) के लोक-प्रचलित तथा साहित्यिक अनेक गीत, कवितायें शास्त्रीय संगीत की बन्दिशें आदि उन्हें इतने याद थे कि प्रायः चलते-फिरते-खाते-सोते समय किसी भी बात के प्रसङ्ग में वे कोई न कोई पंक्ति उसी अभिव्यक्ति वाली गा कर सुनाती रहती थीं, सब कुछ उन्हें हमेशा उपस्थित रहता था। उनके साथ जीने का आनन्द अद्भुत था। सजीव रसाचार्या थीं वे।



.२३.

मतङ्गकृत बृहद्देशी में योग और तन्त्र का स्वरूप तथा परवर्ती सङ्गीतशास्त्रियों पर मतङ्ग का प्रभाव

*—डॉ० श्रीमती विमला मुसलगाँवकर**

सातवीं शताब्दी के लगभग का देशी संगीत पर एक महत्त्वपूर्ण, क्रान्तिकारी और मौलिक उद्‌भावनाओं से भरा हुआ ग्रन्थ है मतङ्ग मुनिकृत 'बृहद्देशी'। इससे पूर्व का लगभग एक सहस्र (१०००) वर्ष का दीर्घ काल संगीत के इतिहास की दृष्टि से मौन है। मतङ्ग में सङ्गीत-साधना और योगसाधना एक अपूर्व मणि-काञ्चन संयोग है, जिसके फलस्वरूप योगी की लोकोत्तर दृष्टि ने संगीत के कलेवर को सनातन, नवीन और मौलिक कल्पनाओं से भर दिया है। इसके अतिरिक्त योग और तन्त्र के प्रभाव से ही 'बृहद्देशी' ग्रन्थ के द्वारा संगीत में वाक् या शब्द के स्थान पर 'नाद' प्रतिष्ठित हुआ और आहत या द्यातज नादरूपी श्रुति से जन्य अभिव्यक्ति अथवा परिणाम के रूप में स्वर को स्वीकृति मिली। 'देशी' की धारणा स्पष्ट रूप में स्वीकृत और सर्वप्रथम प्रतिष्ठित हुई। संगीत के पदार्थ निरूपण की शैली और उनके लक्षण अथवा परिभाषा देने के ढंग में भी अन्तर आया। सच तो यह है कि देखने का दृष्टिकोण की बदल गया। इनके सम्बन्ध में और कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं पर प्रस्तुत 'पत्र' में चर्चा की जाएगी।

बृहद्देशी में ऐसे पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं, जिनके आधार पर योग और तन्त्र का उस पर प्रभाव है, ऐसा स्पष्टतया कहा जा सकता है। बृहद्देशी के आरम्भ में ही ध्वनि, ध्वनि से बिन्दु, बिन्दु से नाद, नाद से स्वर-व्यञ्जन-रूप द्विविध मातृकाएँ कही गयी हैं, जो ज्योतीरूप हैं। इस क्रम में वर्णरूप नाद की उत्पत्ति बताई गई है। परायोनि, बिन्दु, नाद, मात्रा आदि सभी संज्ञाएँ योगदर्शन से ली गईं है, जिन्हें सम्यक् प्रकार से योगदर्शन के द्वारा समझा जा सकता है।

बृहद्देशी में योग-तन्त्र के स्वरूप पर विचार करने की पृष्ठभूमि के रूप में योग और तन्त्र के प्रमुख पक्षों पर संक्षेप में विचार कर लेना उपादेय होगा। भारतीय संस्कृति के अन्तःस्थल में प्रवाहित होने वाली ज्ञानसलिला के अपरिमेय दो स्रोत हैं—'आगम' अथवा योग और 'निगम'। निगमात्मक ज्ञान-'सृष्टि विज्ञान' है। वस्तुतः 'निगम' की अध्यात्म विद्या को विज्ञान बनाने का श्रेय 'आगम' को ही है। 'आगम' वह शास्त्र है, जिसके द्वारा योग और मोक्ष के उपाय बुद्धि में आते रहते हैं।[1] साधना की निगमधारा त्रैवर्णिकों के लिए प्रकट रूप से सिद्धान्तों का प्रतिपादन करती है, और आगमधारा चुने हुए-अधिकारियों के लिए गुप्तसाधना का उपदेश देती है। एक ज्ञानप्रधान है, दूसरी क्रियाप्रधान। आगमशास्त्र के आदिकर्ता, उपदेष्टा एवं व्याख्याता या तो आदिशंकर हैं अथवा नारायण हैं।[1]

'तन्त्र' शब्द विस्तार का बोधक है और तन्त्र का मार्ग विस्तृत जगत् के प्राङ्गण में आत्मदर्शन कराता है। कला और कलाशास्त्र पर योग और तन्त्र की अमिट छाप है। विश्व की किसी भी दूसरी संस्कृति अथवा कला में उस कोटि का कलाशास्त्र उपलब्ध

* डॉ० श्रीमती विमला मुसलगाँवकर पू० बहिनजी की अभिन्नहृदया सहयोगिनी थीं, केवल संगीतशास्त्र-विभाग में नहीं, जीवन और सभी कार्यकलापों में। पू० बहिनजी के दिवंगत होने से ६ मास पूर्व ही वे मोक्ष पा गईं। उनके स्मरणार्थ उनका यह लेख यहाँ सम्मिलित है।

१. निं० सा० पृ० १३२

नहीं है, जिसमें सृष्टि-विज्ञान और आत्मविज्ञान का समन्वय हो। यों तो संगीत साधकों तथा योगियों की मार्मिक गहन अनुभूतियों में शब्द का स्वरूप उसके विभिन्न अंग तथा शब्द प्रक्रिया का सर्वाङ्गीण यथातथ्य दर्शन प्रतिबिम्बित है ही, किन्तु शब्द की ऊर्जा का प्रयोग, योग के माध्यम से जितना हुआ, उतना अन्य किसी भी मार्ग में नहीं हुआ है।

मूलतः योग का अर्थ जोड़ है, किन्तु पारिभाषिक भाषा में 'योग' शब्द उस दर्शनशास्त्र के लिए रूढ़ हो गया जिसका ध्येय व्यष्टि चेतना का समष्टि चेतना के साथ सम्बन्ध स्थापित करना है। 'योग' वह शक्ति है, जिसके प्रभाव से यह जीवात्मा उस परमात्मा के साथ युक्त होता है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि स्फोट, शब्द, ध्वनि आदि संज्ञाओं के स्थान पर नवीन 'नाद' संज्ञा का ग्रहण योगियों ने क्यों किया? नादकारिका में रामकण्ठभट्ट ने इस विषय पर जो तथ्यपूर्ण चर्चा की है, उसी का सारांश इस प्रसंग में समझ लेना उपयुक्त होगा। प्रतिपाद्य विषय निम्नाङ्कित है—

सकल (कला के सहित) बिन्दु—'अक्षर बिन्दु रूप' है, और नाद—'स्थूलध्वनिरूप' है। 'बिन्दु और नाद'—ये 'सदाशिवतत्त्व' के अन्तर्गत हैं। 'नाद'—अर्थज्ञान में कारण होता है। अभिधेय बुद्धि (अर्थज्ञान) जो 'बिन्दु' का प्रथम प्रसरस्वरूप है, और स्थूलध्वनिरूप—'नाद' 'ध्वनि' का प्रथम प्रसर (प्रवाह) है। चिन्तारहित होने से 'सूक्ष्मनाद' को 'श्रीमत्कालोत्तर'—कहा है, जो अनाहत बिन्दु का कारण है।

बुद्धि, अस्मिता, मन, विद्या, राग और कला से युक्त शुद्धध्वा और शब्द का उपादान कारण 'बिन्दु' है। रामकृष्णभट्ट[1] ने 'नाद' को स्वीकार किया है, और कहा है कि चक्षुरादि इन्द्रियों के विषय न होने वाले पदार्थों का ज्ञान बुद्धि नहीं कराती। इसलिए वक्ता की बुद्धि के द्वारा परामर्श किये हुए रूप रस आदि पदार्थ ही, जिसको परामर्शित होते हैं वही 'नाद' है। योगियों ने उसी को 'परमव्योम', 'कुण्डलिनी', 'अनाहतनाद', 'विद्या', आदि-नामों का कहा है। योगियों के मत में क्षुब्ध बिन्दु से नाद और ज्योति प्रादुर्भूत होते हैं। बिन्दु-शक्ति को 'महामाया' के नाम से भी कहा गया है।[2] बिन्दु चाहे शुद्ध हो या अशुद्ध, वह परिणामी है और सृष्टिप्रपञ्च का कारण भी है। 'बिन्दु'-शिव की परिग्रह शक्ति है।[3]

मन को नियन्त्रित करने की शक्ति 'नाद' में ही है। नाद में आसक्त हुआ 'चित्त' चञ्चल न होकर अपने में स्थित हो जाता है। नाद में लोकोत्तर शक्ति होती है। 'मूलाधार' में स्थित 'नाद' की आधारभूत अव्यक्त शक्ति, 'बिन्दुरूप' है, उसी से 'नाद' उत्पन्न होता है। योगी लोग उसी का 'पश्यन्ती' के रूप में अनुभव और दर्शन करते हैं। उष्णता का दृश्यरूप 'प्रकाश' है। अतः 'नाद' को अपने श्रव्यरूप के साथ 'गति' का दृश्यरूप भी माना जाता है। ''ज्योतिर्मयः शिवोनादः''—इस उपनिषद् वचन से उक्त तथ्य की पुष्टि होती है। इस श्लोक में मतङ्ग ने इसी तथ्य के दर्शन कराये हैं जो योग सम्मत है—

अबलाबालगोपालैः क्षितिपालैर्निजेच्छया।
गीयते यानुरागेण स्वदेशे देशिरुच्यते॥ १४॥

देशीलक्षण

बृहद्देशी के आरम्भ में 'देशी' की उत्पत्ति के सन्दर्भ में परायुक्त 'परायोनि'—शब्द आगमशास्त्र में 'वाणी' की प्रथम अक्षुब्धावस्था का सूचक है, जिसके क्षुब्ध होने पर क्रमशः 'पश्यन्ती', 'मध्यमा' और 'वैखरी' वाणियाँ प्रकट होती हैं। समष्टिरूप में 'देश' संज्ञा जगत् की धरती या आधार के लिए है, और 'शरीर' में वाणी की अभिव्यक्ति हेतु जो आठ स्थान बताएँ हैं, उनकी ओर संकेत करती है। 'वर्ण' ही चराचर जगत् का विविक्तरूप से वर्णन करते हैं, क्योंकि 'वर्ण' ही भाषा की प्रथम इकाई है। 'वर्ण' शब्द का एक अन्य अर्थ—'रङ्ग' भी होता है। बहुरंगी जगत् का वर्णन 'वर्ण' ही कर सकते हैं।

---

१. आगतं शिववक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजाश्रुतौ। तदागम इति प्रोक्तं शास्त्रं परमपावनम्॥ —नि० सा० (श्रा० ति०)—पृ० १३३
२. नादकारिका—११-२५
३. नादकारिका—२६
४. अनुभवसूत्र—२/२६

आगम परम्परा में 'देशी' शब्द का अभिप्राय आँचलिक या 'देश-देश में' भी है। इस प्रकार जो संगीत एक विशिष्ट अँचल से उत्पन्न होने के पश्चात् धीरे-धीरे एक पुष्ट संगीत-परम्परा के रूप में स्थापित हो जाय, उसे ही—'देशी सङ्गीत' (नाद-वाद्य-नृत्त) कहते हैं। इस सङ्गीत में मार्ग संङ्गीत की अपेक्षा विविधता, विस्तार तथा लोच बहुत होता है।

देशी को मतङ्ग ने 'ध्वनि'-विशेषण के रूप में भी निरूपित किया है और संगीत के एक विशिष्ट प्रकार के रूप में भी 'बृहद्देशी' का आरम्भ करते हुए मुनि ने विभिन्न देशों के विभिन्न वर्गों के, मनुष्यों और प्राणियों से प्रवृत्त हुई 'ध्वनि' को 'देशी' कहा है और इस प्रकार से 'ध्वनि' और 'देशी' को समानार्थक माना है। यों तो 'ध्वनि' अमूर्त है और 'देशी' का सम्बन्ध 'देश' अर्थात् स्थानविशेष अथवा 'दिशा' से है, जो-मूर्त है। इस प्रकार का 'ध्वनि' का 'देशित्व' स्वीकार करने पर उसमें उपर्युक्त विप्रतिपत्ति है किन्तु मतङ्ग ने आगम परम्परा के आधार पर उसका निराकरण इस प्रकार किया कि 'ध्वनि' की अनुभूति, देश और स्थान के आधार पर होती है, इसलिए वह मूर्त है अमूर्त नहीं। शरीर में 'ध्वनि' की उत्पत्ति, 'कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त, ओष्ठ' आदि स्थानों से होने के कारण तथा अनुभूत दिशा विशेष की ओर से आने वाली ध्वनि के रूप में होने के कारण भी ध्वनि 'देशी' के रूप में मूर्त है। संगीत के परिप्रेक्ष्य में 'देशी' का उपर्युक्त लक्षण योग से प्रभावित है।

बृहद्देशी का नाद प्रकरण और उस पर योग का प्रभाव

'नाद' का लक्षण-मतङ्ग ने नाद प्रकरण में 'नाद' का लक्षण उसका महत्त्व आदि बताने के बाद उसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में अन्य दो दृष्टिकोण—'इति केचित्' और 'इत्यन्ये वदन्ति' के द्वारा दो श्लोकों में दिये हैं—

''यदुक्तं ब्रह्मणः स्थानं ब्रह्मग्रन्थिश्च यः स्मृतः।
तन्मध्ये संस्थितः प्राणः प्राणाद् वह्निसमुद्गमः॥
वह्निमारुतसंयोगान्नादः समुपजायते॥ इति केचित्[1]

निगमपरम्परा में 'प्राण' की स्थिति 'हृद्' देश[2] में बताई गई है, किन्तु योगियों ने 'प्राण' की स्थिति को 'ब्रह्मग्रन्थि' में स्वीकार किया है, जो उनकी प्रत्यक्ष अनुभूति का परिणाम है।

योगसम्मत एक अन्य दृष्टिकोण भी मतङ्ग ने दिया है—

''कन्दस्थानसमुत्थो हि समीरः सञ्चरन्नधः।
ऊर्ध्वं च कुरुते सर्वां नादपद्धतिमुद्धताम्॥'' इत्यन्ये वदन्ति[3]।

उक्त श्लोक के उत्तरार्ध 'ऊर्ध्वं च कुरुते सर्वां नादपद्धतिमुद्धताम्' में विचारणीय बात यह है कि योगी इस कथन से किस तथ्य को उद्घाटित कर रहा है? उक्त प्रथम श्लोक के द्वारा 'प्राण' के स्थान-भेद की ओर संकेत किया गया है, और द्वितीय श्लोक से यह बताया गया है कि 'नादतत्त्व' के उत्पादक पदार्थ—'प्राण' और 'अग्नि'—ये दोनों उस 'नाद' को (अग्निशिखा के समान) ऊर्ध्व और उन्नत मार्ग प्रदान करते हैं। योगियों ने 'वाक्' का कारण 'उदान' वायु को स्वीकार किया है।

योगपरम्परा के अनुयायी होने के कारण शब्दार्थविचार की दो पद्धतियों—व्युत्पत्ति और निरुक्ति में से मतङ्गमुनि ने 'नाद' के सम्बन्ध में अपना मत 'निरुक्ति' रूप में दिया है—

''नकारः प्राण इत्याहुर्दकारश्चानलो मतः।
नादस्य द्विपदार्थोऽयं समीचीनो मयोदितः॥[4]''

---

१. बृहद्देशी, श्लोक १९ के बाद उद्धृत।
२. तै० ब्रा० ३/१०/८/५ ''प्राणो हृदये''।
३. बृहद्देशी, श्लोक १९ के बाद उद्धृत।
४. तथैव।

यहाँ नादोत्पादक दो पदार्थों को—'नकार' और 'दकार'—इन दो अक्षरों के द्वारा निरूपित किया गया है। ''नादोऽयं नदतेर्धातोः'' कहकर मतङ्ग ने वैयाकरणों की 'व्युत्पत्तिपद्धति' से भी 'नाद' के स्वरूप को स्वीकार किया है। नादोत्पत्ति के सम्बन्ध में यहाँ 'योग की निरुपति और व्युत्पत्ति'—ये तीन पद्धतियाँ दिखाई देती हैं। प्रथम से 'नाद' के दृश्य स्वरूप का प्रतिपादन किया है, द्वितीय से 'नाद' की प्रकृति या संरचना का बोध होता है, तृतीय से 'नाद' का 'श्रव्यरूप' व्यक्त होता है, जो सम्पूर्ण संगीत जगत् से जुड़ा है, क्योंकि 'शब्दात्मकनाद' की संगीत को आवश्यकता है। 'वाद्यों' में 'प्राण और अग्नि' का संयोग नहीं, 'आकाश' और 'वायु' का संयोग कहा गया है।[१] उन वाद्यों में 'अग्नितत्त्व' का संयोग तो वादक के प्रहार या स्पर्श आदि से होता है। इन तीनों की स्वीकृति में 'योग' का प्रभाव स्पष्टरूप से दृष्टिगत होता है।

मतङ्ग के द्वारा देह में पाँच प्रकार के 'नादों' की उत्पत्ति कही गयी है—'सूक्ष्मनाद' का निवास 'गुहा' में है, 'हृदय' में 'अतिसूक्ष्म' है, 'कण्ठ' के मध्य में व्यक्त है, 'तालु' में 'अव्यक्त' है और 'मुख' में 'कृत्रिम' है—इस प्रकार योग के अनुसार पाँच पकार के नादों की उत्पत्ति कही गई है।[२]

इस विषय में ध्यान देने योग्य बात यह है कि 'घातज नाद' किसी भूमि पर उस भूमि के गुण-धर्मों को लेकर ही उत्पन्न होता है। इसलिए देह में 'नादों' के पाँच स्थानों से 'नाद' के विशिष्ट गुण, गति और 'दिशा' तथा 'मार्ग' की ओर संकेत किया गया है। 'घातज श्रुति' ही 'संगीतिक स्वर' को अभिव्यक्त करती है। देह में घातज (शब्द की) भूमियाँ 'सृष्टि विज्ञान' से जुड़ी हैं। 'प्राण' के प्रहार से 'नाद' के 'तीव्र' गुण को तो घटाया-बढ़ाया जा सकता है, किन्तु उस-उस देश के भूमिगत नाद के विशिष्ट गुणों के कारणों को समूल दूर नहीं किया जा सकता, वे तो जल लवणवत् हैं। उसके अतिरिक्त 'घातजनाद' के 'तारता' गुण को उन-उन स्थानों में 'आकाश' के द्वारा बताया गया है। जैसे-निर्जन आवास तथा कन्दराओं में ध्वनित शब्द, ज्यों का त्यों प्रति-ध्वनित होकर अभिव्यक्त होता है। नाद भेद की उक्त पाँचों संज्ञाओं में आध्यात्मिक तथ्य निहित है। यहाँ पर 'कृत्रिम' संज्ञा 'नाद' के बिम्ब की न होकर 'प्रतिबिम्ब' की द्योतक है।

नादतत्त्व का महत्त्व

'नाद' के बिना 'गति, स्वर, नृत्त'—कुछ भी नहीं है।[३] अतः सम्पूर्ण जगत्-नादात्मक ही है। ब्रह्मा-विष्णु-महेश और स्वयं पराशक्ति भी-नादरूप ही है। यहाँ 'विष्णु' को नादरूप कहकर 'शब्द' की 'तरङ्गाकार'-गतिका बोध कराया गया है, 'महेश्वर' को नादरूप कहकर 'नाद' की ऊर्ध्व और अधोगमन शक्ति (सामर्थ्य) की ओर संकेत किया है, और ब्रह्मा को नादरूप कहकर 'काल प्रधान नाद' की निरन्तर परिवर्तनशीलता की ओर ध्यान दिलाया गया है। 'काल' से समाविष्ट होने से वे 'चक्रिक गति' में आते हैं। अभिप्राय यह है कि 'काल प्रधान नाद' की दृष्टि से 'ब्रह्मा-विष्णु-महेश'—इन तीन देवताओं के द्वारा 'काल' की तीन गतियाँ यथाक्रम 'चक्राकार' 'तरङ्गाकार' और कुडमलाकार (कलीवत्) बताना ही तात्पर्य है, किन्तु 'पराशक्ति' का 'नाद' के रूप में उल्लेख करके मतङ्ग ने 'देश' अर्थात् 'रूप प्रधान नाद' को बताया है। यही 'देश प्रधान नाद' संगीत में श्रुति, स्वर, वर्ण आदि से अभिव्यक्त होता है। 'पराशक्ति' के 'नादात्मकस्वरूप' के द्वारा 'कुण्डलाकार गति' को प्रदर्शित किया है। कुण्डलाकृति ऊर्ध्व गति के रूप को चित्रित करती है, यही 'पश्यन्ती' है।

श्रुति प्रकरण

'नाद' की अपर संज्ञा जो पारिभाषिक रूप में सङ्गीत में ग्रहण की गई है, वह 'श्रुति' है। मतङ्ग ने श्रुति की संख्या के सम्बन्ध में वह एक है या अनेक? यह प्रश्न उपस्थित करके, उत्तर में अपना मत दिया है कि 'श्रुति' एक ही है— 'तत्रैकैव श्रुतिरीति'। तद्यथा—'तत्रादौ' तावद् देहाग्निपवनसंयोगात् पुरुषप्रयत्न-प्रेरित ध्वनिर्नाभेरूर्ध्वमाकाशदेशमाक्रामन् धूमवत् सोपानपदक्रमेण

---

१. सं० पारि० वा० अ०
२. बृहद्देशी २१-२३
३. बृहद्देशी—१८-१९

पवनेच्छयाऽनेकधाऽऽरोहन्नन्तर्भूतपूरणप्रत्ययार्थतया [चतुः]-'श्रुत्यादिभेद-भिन्नः प्रतिभासते इति मामकीनं मतम्'।[1]

इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में यद्यपि चतुःश्रुतिक आदि भिन्न-भिन्न श्रुतियों का आभास होता है, किन्तु वास्तव में प्रत्यय एक ही होता है। इसलिए 'एक ही श्रुति' होती है—इसे मतङ्ग ने योगसम्मत 'सोपानन्याय'[2] के आधार पर व्यक्त किया है। इसके अतिरिक्त मतङ्ग ने ऊपर 'पुरुषप्रयत्नप्रेरित' के रूप में योग के ईश्वर तत्त्व को स्वीकार किया है। योगोक्त ईश्वरतत्त्व-प्रेरक, संयोजक आदि रूपों में स्वीकृत किया है। देह में 'आत्मा' बोलने का इच्छुक होता है तभी 'वाक्' की उत्पत्ति होती है। भरतमुनि ने शरीर को 'वीणा' शब्द से जो कहा, उसमें भी इसी तथ्य के दर्शन होते हैं, क्योंकि 'वीणा' को अन्य कोई प्रेरक शक्ति बजवाती है। प्रेरक 'चैतन्य' ही होता है। कहा भी है—"प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च कारकाणां च ईश्वरः। अप्रवृत्तः प्रवृत्तौ वा स कर्त्ता स हि कारकः॥[3]" इससे ज्ञात होता है कि 'घातज-श्रुतिरूप' क्रिया किसी अन्य की प्रेरणा का परिणाम है।

दो, तीन, चार, नौ, बाईस, छियासठ आदि श्रुतिसंख्याओं का ग्रन्थ में कारण सहित उल्लेख है। श्रुति की बाईस संख्या के सम्बन्ध में केवल "तत्र केचित्-मीमांसा-मांसलितधियो धीरा द्वाविंशति-श्रुतिर्मन्यन्ते"[4]—कहकर मतङ्ग मौन हो गये हैं। श्रुति की २२ संख्या अध्यात्म के प्रभावस्वरूप ही स्वीकार की गई होगी। अन्तः प्रेरणा के आधार पर मतङ्ग बृहद्देशी में—'मण्डलप्रस्तार' के द्वारा एक सप्तक में श्रुतियों की २२ संख्या को सिद्ध करते दृष्टिगोचर होते हैं। मतङ्ग ने पाँच तिर्यक् और छह ऊर्ध्व (खड़ी) रेखाएँ खींचकर मण्डलप्रस्तार का निर्माण करने के लिए कहा है। इस रीति से उक्त 'मण्डलप्रस्तार' में भीतर 'बीस कोष्ठ' और बाहर २२ खुले खाने उपलब्ध होते हैं। इस तरह इस प्रस्तार में बन्द आकृति नहीं बताई गयी है क्योंकि इन रेखाओं के सिरे, दोनों ओर खुले हैं। इसलिए इन रेखाओं से बन्द आयताकार चित्र नहीं बनता।

योग की दृष्टि से विचार करने पर यह २२ श्रुति संख्या, तीन प्रकार के आधिभौतिक संघातों से उपलब्ध होती है। प्रथम संघात में—५ ज्ञानेन्द्रियाँ, + ५ कर्मेन्द्रियाँ मिलाकर समष्टिरूप में देवताओं के दश शरीर हैं, उनके देवता भी दश ही हैं, तदनन्तर माया तथा काल को मिलाकर कुल २२ हुए। द्वितीय संघात में—५ कर्मेन्द्रियाँ, ५ ज्ञानेन्द्रियाँ और १ अन्तःकरण तथा इनके ११ देवता—कुल २२ हुए। तीसरे संघात में—मण्डलप्रस्तार-की पाँच तिर्यक् रेखाएँ, पञ्चभूतों से सम्बन्धित हैं, और छह ऊर्ध्व रेखाएँ, छह इन्द्रियों (पांच ज्ञानेन्द्रियाँ + एक मन) से सम्बन्धित हैं। मण्डल-प्रस्तार-रचना की उक्त व्याख्या में 'अधिभूतों का आधार' प्रधान है।

मतङ्ग के मण्डलप्रस्तार की विशिष्टता को अधिभूत के साथ-साथ अध्यात्मपरक दृष्टि से भी समझा जा सकता है। पाँच ऊर्ध्व रेखाएँ, पाँचभूतों से और छह तिर्यक् रेखाएँ, छह ज्ञानेन्द्रियों से सम्बद्ध होकर इनसे बनने वाले सात खाने, सर्वत्र व्याप्त चैतन्यरूप अग्नि की सात जिह्वाओं के प्रतीक समझे जा सकते हैं। 'मध्यम' को लेकर 'स्वर' भी सात ही हैं। सृष्टि के मूलभूत तीन तत्त्व—'चैतन्य, माया और काल' की 'अभिमुख-प्रतिमुख-भाव' से, कुल छह अवस्थाओं को छह ऊर्ध्व रेखाओं से प्रकट किया है। देह के बिना 'नादाभिव्यंक्ति' न हो सकने से पाँच-तिर्यक् रेखाओं के माध्यम से देह की पञ्चभूतात्मकता को बताया गया है। (७+३+६+६=२२)

२२ श्रुतियों के अतिरिक्त श्रुतियों की अनन्तता पर मतङ्ग ने "अन्ये पुनरानन्त्यं वर्णयन्ति श्रुतीनाम्"[4] "आनन्त्यन्तु श्रुतीनाञ्च दर्शयन्ति विपश्चितः" कहा है। इससे स्पष्ट है कि श्रुतियों की अनन्तता को भी विद्वानों ने स्वीकार किया है।

स्वर प्रकरण

वैयाकरणों ने यद्यपि भ्वादिगण के 'स्वृ-शब्दोपतायः' तथा चुरादिगण के 'स्वर' धातु से 'स्वर' शब्द की निरूक्ति की है,[5]

---

१. बृह० १, अनु० १
२. म० पार०—पृ० ३४ 'सोपानान्तराधिरोहणन्यायेन'।
३. तथैव, पृ०३४
४. बृह० १, अनु० ११
५. स्वृशब्दोपतापयोः—स्वरति शब्दयते इति स्वरः।

किन्तु मतङ्ग ने 'स्वर' शब्द की निष्पत्ति ''राजृ दीप्तौ'' धातु से बताकर 'स्वर' यो राजते यस्मात् तस्मादेष स्वरः स्मृतः[1]। इस प्रकार उसकी निरुक्ति की है। वैयाकरणों के कथनानुसार केवल शब्द करने मात्र से वह 'स्वर' नहीं है, किन्तु वह स्वयं, सूर्य के समान शब्द सृष्टि में प्रकाशित होता है। अर्थात् चमकती है, इसलिए उसे 'स्वर' संज्ञा प्राप्त हुई है। उसे प्रकाशित होने में सूर्य के समान ही किसी अन्य की अपेक्षा नहीं हुआ करती। इस तथ्य की स्पष्टता उसकी निरुक्ति से ही हो जाती है। मतङ्ग का कहना है कि—'राजते इति'—'रिः' बना लीजिए, जैसे 'गच्छतीति' 'गः' बनाते हैं—तदनन्तर उसके सूर्य पूर्व 'स्व' को उपपद के रूप में रख दीजिए तो 'स्वर' शब्द, निष्पन्न हो जाता है। 'स्वर' की मूलभूत उपादान सामग्री 'नाद' ही है, जो ज्योतिः स्वरूप है, और वही कर्ता के रूप में है, जो स्वतन्त्र[2] हुआ करता है। अतः 'नाद' या 'स्वर' स्वयं प्रकाश है[3]। उसकी 'स्वयम्प्रकाशता' का साक्षात्कार, योगियों के आत्मसाक्षात्कार के समान मतङ्ग को हुआ था। संगीत शास्त्र में 'नाद' का विशिष्ट रूप है।[4] अतः नाद का प्रकाशकत्त्व धर्म 'श्रुति' में सङ्क्रान्त हो गया है। 'अभिनवभारती'[5] में 'श्रुति' की रक्तता धर्म को ही 'स्वर' कहा गया है। मतङ्ग ने 'राग' का लक्षण बताने के पूर्व, भं ज्योतिस्तद् रतो हंसः—तस्मात् तं भरतं विदुः। तद्भवं भरतज्ञानं तद्भवा भारती शुभा॥'[6] इस श्लोक को उद्धृत करके दीप्त्यर्थक 'भा' धातु से ही 'भारती' अर्थात् 'वाक्' का ग्रहण किया है। यहाँ पर भी 'वाक्' के तीन रूपों में से 'इला' और 'सरस्वती' ग्रहण न कर 'भारती' को ही प्रमुख रूप से ग्रहण किया है। पूर्वोक्त 'भं ज्योतिस्तद्रतो हंसः'— का अर्थ इस प्रकार है—'भातीति भं' अतः 'भं' का अर्थ हुआ—**'ज्योति' उस में 'रत' अर्थात् निमग्न रहने वाला जो 'हंस' है वह—मैं ही हूँ**, उस 'हंस' को 'भरत' कहा करते हैं क्योंकि वह अपने (स्वात्म) प्रकाश में 'रत' रहता है, उससे उत्पन्न होने वाले ज्ञान को 'भरतज्ञान' कहते हैं। उस ज्ञान से उत्पन्न होने वाली कल्याणमयी 'भारती' है। 'वाक' (वीणा) की उत्पत्ति के लिए आधार की आवश्यकता होती है। अतः स्वीकार करना होगा कि आधारभूत पृथ्वी पर, आधेयभूत 'ज्योति' के होने पर ही 'वाक्' प्रकाश में आती है।

'वाक्' के तीन रूपों का वर्णन भी ऋग्वेद में प्राप्त होता है, जिनका प्रयोग, संगीतकला में प्रसंगानुसार किया जा रहा है। 'भारती' 'इला' और 'सरस्वती'—ये तीनों शब्द 'वाक्' के ही पर्याय हैं। संगीत के प्रसंग में 'भारती वाक्'—दीपन (चमक) देने वाली है 'इला' को 'रासन' (अन्नमयी) कहा है, और 'सरस्वती' ही 'रसवती' है, जो 'मापन' का कार्य करती है। संगीतकला में रसानुकूल 'सरस्वती' का प्रयोग होता है। विस्मय, अलौकिक एवं अद्भुत भाव के प्रसंग में 'भारती वाक्' का और संगीतकला की पृष्ठभूमि के रूप में (मातु रूप में) 'इला' वाक् का प्रयोग होता है। मतङ्गोद्धृत उपर्युक्त श्लोक से भी यही सिद्ध होता है कि उसने ज्योतीरूप नाद और ज्योतिः स्वरूपिणी वाक् (भारती) को ग्रहण कर 'वाक्' निहित-अग्नितत्त्व को ही विशेष रूप से स्वीकार किया है।

स्वर सम्बन्धी संख्या आदि के विषय में किये गये प्रश्नों का उत्तर मुनि ने योगशास्त्रानुकूल दिया है। यथा—'स्वर'—एक है या अनेक? तथा वह व्यापक है या अव्यापक (व्याप्य) है, एवं वह नित्य हैं या अनित्य? इन प्रश्नों का उत्तर मुनि ने दिया कि 'स्वर'—निष्कल रूप से एक भी और षड्जादिरूपों से अनेक भी है। वह व्यापक और नित्य भी है। 'निष्कल' आदि शब्दों का अर्थ समझने के लिए 'योगशास्त्र[8]' का ज्ञान होना आवश्यक है। अपने दिये हुए उत्तर के समर्थन में कोहल के कथन का भी उल्लेख किया है—

---

१. राजृदीप्तावितिधातोः स्वशब्दपूर्वकस्य च। स्वयं यो राजते यस्मात् तस्मादेष स्वरः स्मृतः॥ बृह० ५४

२. 'स्वतन्त्रः कर्ताः'—पाणिनी—१/४/५४

३. 'सूरीणामनुरञ्जकः श्रुतिपदं योऽयं स्वयं राजते' सं० र० १/१/

४. 'अधराधरतीव्रास्तास्तज्जो नादः श्रुतिर्मतः'॥१३॥ सं० र० १/१/३

५. 'तद्गतश्च रक्तताख्यो धर्मः स्वरः इति'—भ० ना०—अभि० भा० ४/२८/२१

६. बृह०, पृ० ८१, श्लोक० सं० २७७

७. आभारती भारतीभिः सजोषा इला देवैर्मनुष्येभिरग्निः।
सरस्वती सारस्वतेभिर्वाक् तिस्रो देवीर्बर्हिरिदं सदन्तु॥ ऋग्वेद ३/४/८

८. बृह० अनु० १६, IV स्वर प्रक०

जातिभाषादि-संयोगादनन्तः कीर्तितः स्वरः। पदैर्युक्तस्त्वलमितिकृतौ योज्यो रसेष्वपि।[१]

'नित्य स्वर'—अविनाशी है, 'व्यापक स्वर'—सर्वत्र प्राप्त होता है। इस तथ्य को पुनः कोहल का उद्धरण देकर पुष्ट किया है—

ऊर्ध्वनाडीप्रयत्नेन सर्वभित्तिनिवाहनात्। मूर्च्छितोध्वनिरामूर्धः स्वरोऽसौ-व्यापकः परः।[२]

आर्थत् 'सुषुम्ना नाडी' के प्रयत्न से सभी भित्तियों पर रगड़ खाकर मूर्धा तक मूर्छित हुआ 'ध्वनि' ही व्यापक स्वर कहा जाता है।

तान्त्रिक मन्त्रों को 'बीज' से सम्पुटित या पल्लवित करने की पद्धति के समान ही संगीत स्वरों का सम्बन्ध भी 'बीजों' से मतङ्ग ने जोड़ दिया है। मन्त्रों में किस देवता की उपासना है? यह बताने के लिए 'वर्णों' (स्वर तथा व्यञ्जन) के आठ वर्ग बताए गये हैं—१. अवर्ग, २. कवर्ग ३. चवर्ग ४. टवर्ग ५. तवर्ग ६. पवर्ग ७. यवर्ग और ८. शवर्ग।[३] इस प्रकार वर्णों का विभाजन करके प्रत्येक का सम्बन्ध भिन्न-भिन्न देवताओं के साथ स्थापित करके उन-उन बीजाक्षरों के नाम भी दिये गये हैं। अर्थात् मन्त्र या देवता कहने के स्थान पर केवल 'बीज' का उल्लेख मात्र कर दिया गया है। जैसे 'अ'—यह 'हरिबीज' है, उसे अनुस्वार युक्त करके 'अं' बीज मन्त्र कहलाता है। 'विष्णु' की उपासना में इस बीज मन्त्र का उपयोग किया जाता है। सबसे पहले मतङ्ग ने इनका सम्बन्ध, संगीत के स्वरों में स्थापित किया है। यथा—

''वर्गाष्टकं तु सम्प्राप्य अकारादि यशान्तकम्।
वर्णमात्रासमायुक्तमुद्धरेत् स्वरसप्तकम्॥६२॥

अष्टमस्य तृतीयं तु हरिबीजसमन्वितम्।
आद्यं स्वरं स्वरज्ञस्तूद्धरेत् सर्वप्रयत्नतः॥६३॥
सप्तमस्य द्वितीयं तु कामबीजसमन्वितम्।
द्वितीयं तु स्वरं विद्धि ब्रह्मस्थानसमुद्भवात्॥६४॥
द्वितीयस्यापि वर्गस्य तृतीयं विष्णुसंयुतम्।
उद्धरेच्च स्वरं नित्यं स्वरभेदमनोहरम्॥६५॥
षष्ठस्यापि हि वर्गस्य अन्तिमं चादिसंयुतम्।
अविनष्टं विजानीयात् मध्यमं स्वरसत्तमम्॥६६॥
तदादि प्रथमोपेतं स्वरं संविद्धि शोभनम्।
व्योमसंख्यासमायुक्तमोष्ठस्थानसमुद्भवम्॥६७॥
पञ्चमस्यापि वर्गस्य चतुर्थं चादिसंयुतम्।
कोदण्डद्वयसम्भूतमुद्धरेत् स्वरमुत्तमम्॥६८॥
अकारान्तान्तसम्भिन्नं पञ्चमान्तं समुद्धरेत्।
ब्रह्मस्थान-समुद्भूतं सुतारध्वनि-संयुतम्॥६९॥
आगमस्थः स्वरो द्वार इति तावत् प्रदर्शितः।[४]

इनमें क्रम से स रि ग म प ध और नि— इन स्वर संज्ञाओं के बीज बताएं हैं। 'स ग म प' और 'ध' अकारान्त होने

---

१. बृह०
२. बृह०
३. बृह०—६२-६९
४. वहीं
५. बृह० १०४-११५

से बीज मंत्रयुक्त हैं, यानी विष्णु से—सम्बन्धित हैं, तथा 'रि नि'- इकारान्त होने से कामबीज से युक्त हैं, अर्थात् शक्ति से सम्बन्धित हैं।

मतङ्ग ने दत्तिल का अनुगमन करते हुए तानों को यज्ञों के नामों से जोड़कर अपनी आगम परम्परा के समान ही निगम परम्परा को भी स्पष्ट बता दिया है। उन्हें दृढ़ विश्वास है कि यज्ञीय तानों वाली मूर्छनाओं से भी यज्ञीय फल की प्राप्ति होती है।[५] इन्हीं का यथावत् अनुकरण परवर्ती ग्रन्थकारों ने भी किया है।

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण विवेचन के योग्य स्थल इस पत्र की सीमा के कारण अत्यन्त संक्षेप में उभारे जा रहे हैं—षड्जादि (सरिग आदि) को स्वर संज्ञा कैसे दी? मतङ्ग ने योगानुसार उत्तर दिया है कि षड्जादिकों में आप्तोक्त असाधारणता को ध्यान में रखकर उन्हें स्वर की संज्ञा दी गयी है।[१] ऐसे ही एक अन्य स्थल पर "ननु कथं सप्तस्वराः इति नियमः ?"[२] कहकर स्वरों की इयत्ता को आयुर्वेद के द्वारा और सप्तमहाद्वीपों के द्वारा पुष्ट किया है। सप्त स्वर संज्ञाओं की निरुक्ति तथा उनकी ध्वनियों के ऊर्ध्वगामी होने का कारण उनकी असाधारणता और आप्तोपदेश को बताया है।

राग

मतङ्ग ने 'राग' का लक्षण देते हुए स्वर-वर्ण से विभूषित उस ध्वनिविशेष को 'राग' कहा है, जो चित्त को 'रञ्जित' करे। राग के द्वारा रञ्जन की प्रक्रिया में 'चित्त' अपना मूलरूप छोड़कर रागविशेष के स्वरूप का ही हो जाता है। बृहद्देशी प्रथम ग्रन्थ है जिसमें 'राग' का सर्वाङ्गीण निरूपण मिलता है। इसके बाद राग शब्द संगीतशास्त्र का केन्द्र-बिन्दु बन गया। ध्यान देने की बात है कि यह शब्द तन्त्र में भी विशिष्ट स्थान का अधिकारी है।

रागध्यान

बृहद्देशी के आज उपलब्ध पाठ में रागध्यान का कोई उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु रागध्यानों का सूत्रपात्र मतङ्ग ने किया होगा ऐसा प्रबल अनुमान करने के तीन आधार हैं—

१. बृहद्देशी के देशी-राग प्रकरण के आरम्भ से ठीक पूर्व देवी का निम्नलिखित ध्यान श्लोक मिलता है—

बन्धूकाभां त्रिनेत्राममृतकरकलाशेखरां रक्तवस्त्राम्
पीनोत्तुङ्गप्रवृत्तस्तनभरनमितां यौवनारम्भरूढाम्।
सर्वालङ्कारभूषां सरसिजनिलयां बीजसङ्क्रान्तमूर्त्तिम्
देवीं पाशाङ्कुशाभ्यामभयवरकरां विश्वयोनिं नमामि॥

इस पद्य से यह अनुमान हो सकता है कि मतङ्ग ने देशी रागों के ध्यान भी संभवतः दिये होंगे। स्मरणीय है कि देशीराग—प्रकरण आज सर्वथा खण्डित है।

२. चौदहवीं शताब्दी के ग्रन्थ संगीतोपनिषत्सारोद्धार में आज सर्वप्रथम रागध्यान उपलब्ध होते हैं। राग-रागिणी-पद्धति का भी यह सर्वप्रथम ग्रन्थ है। उल्लेखनीय है कि इसमें प्रमुख छह रागों में से प्रत्येक की छह भाषा कही गयी हैं, रागिणी नहीं। ग्राम-रागों की भाषायें और विभाषायें सर्वप्रथम मतङ्ग ने ही कही हैं। इसलिए 'रागिणी' संज्ञा आने के पूर्व 'भाषा'-संज्ञा का प्रयोग मतङ्ग के साथ सम्बन्ध के सूत्र का द्योतक माना जा सकता है।

---

१. बृह० अनु० १७ "ननु षड्जादीनां कथं स्वरत्वम्? व्यञ्जनत्वात्"।
२. वहीं अनु० २९ "स्वराणां सप्तसंख्या-नियमः"।

३. कुम्भा के 'संगीतराज' (१५वीं शताब्दी) में देशी रागों के ध्यान मिलते हैं और उनके प्रसंग में मतङ्ग का नाम दो-तीन बार उल्लिखित हुआ है, (तुल० सं० रा० २/१/२/६२—नट्टनारायण के प्रसंग में—'मन्यते कैश्चिदेवायम् अमतङ्गमतस्थितैः ॥') इस से यह अनुमान हो ही सकता है कि रागध्यान मतङ्ग के बृहद्देशी में रहे होंगे।

यहाँ पर भी स्मरणीय है कि संगीतोपनिषत्सारोद्धार में प्राप्त सभी रागध्यान तान्त्रिक पद्धति के हैं, अर्थात् देवता के ध्यान की भाँति राग के अपने वर्ण (रंग), उसके वस्त्रों के वर्ण, आयुध (२, ३, ६, ८, १०, आदि हाथों में धारण किये गये पाश, खड्ग, गदा, कमल, वीणा, पुस्तक, फल आदि उपकरण) तथा वाहन आदि का निरूपण किया गया है। संगीतराज में प्राप्त रागध्यानों के साथ उनका बहुत साम्य है जिसे संगीतराज प्रथम खण्ड के परिशिष्ट में दिखाया गया है।

ऊपर लिखे तीनों आधारों को मिलाकर यह माना ही जा सकता है कि मतङ्ग ने देशी रागों में रागध्यानों की पद्धति का प्रवर्तन किया था।

रागों में निहित विशेष शक्तियों को रागध्यान के द्वारा जो सगुणरूप (मूर्तरूप) मतङ्ग ने दिया वह रागरूप प्रयोग के क्षेत्र में मतङ्ग पर तन्त्र के प्रभाव का सूचक है। भारतीय कला के चिन्तन को मतङ्ग की यह एक विशिष्ट देन है। उपासना की पद्धति में ध्यान अर्थात् देवता पर चित्र को एकाग्र करने की एक विशेष प्रक्रिया है, जिसमें जप के तीन रूप होते हैं—अजपा, उपाँशु और वाचिक। अजपा में साधक, देवता पर चित्त को केवल समाहित करता है, उपाँशु में भीतर-भीतर अव्यक्त रूप से देवता का आवाहन करता है और वाचिक में व्यक्त रूप से उच्चारण करते हुए आवाहन करता है। रागध्यान के द्वारा राग के रसरूपी देवता का आवाहन करने की प्रक्रिया में भी इनके तीन चरण अवश्य रहते हैं। जब आरम्भ में गायक, राग के माध्यम से सामाजिक में जिस रस-भाव की अनुभूति कराना चाहता है, उस पर पहले अपने चित्त को एकाग्र करता है। तदनन्तर उस रस-भाव के वाहक संचारों को अपने भीतर गुनगुनाता है, तदनन्तर 'राग' को गाकर उस रस रूप देवता का प्रकट रूप से आवाहन करता है। राग के द्वारा उस शक्ति को श्रोता तक पहुँचाने के लिए आगमिक परम्परा के अनुसार गायक का आधार रागध्यान ही हो सकता है। मतङ्ग ने ध्यान की इस आगमिक पद्धति को संगीत में डालकर नाट्य से स्वतंत्र देशी सङ्गीत को रसभावपूर्ण बनाए रखने के लिए एक आध्यात्मिक भित्ति-प्रदान की है।

परवर्ती संगीतशास्त्रीय ग्रन्थों पर मतङ्ग का प्रभाव

परवर्ती ग्रन्थों पर मतङ्ग का प्रभाव प्रमुख रूप से पाँच क्षेत्रों में देखा जा सकता है—

१. नाद-सम्बन्धी चिन्तन,

२. मानव-शरीर में नादोत्पत्ति की प्रक्रिया को लेकर हठयोग का ग्रहण,

३. रागध्यान-पद्धति,

४. भाषा-विभाषा-निरूपण,

५. मार्ग-देशी-निरूपण।

नाद के सम्बन्ध में तो इतना ही कहना पर्याप्त है कि संगीतरत्नाकार से लेकर प्रायः सभी परवर्ती संगीतशास्त्र ग्रन्थों के आरम्भ में नाद की थोड़ी-बहुत चर्चा पायी ही जाती है। केवल एक बात यहाँ उल्लेखनीय है कि मतङ्ग ने नाद के पाँच भेद कहे हैं—सूक्ष्म, अतिसूक्ष्म, व्यक्त, अव्यक्त, कृत्रिम (बृह० २१-२२) शार्ङ्गदेव ने उनमें से पहले दो का क्रम उलट दिया है, तीसरे और चौथे भेद का नाम पुष्ट और अपुष्ट कर दिया है। परवर्ती ग्रन्थों ने शार्ङ्गदेव का ही अनुसरण किया है।

मानवशरीर में नादोत्पत्ति की प्रक्रिया का संक्षिप्त वर्णन मतङ्ग ने नाद-प्रकरण में और स्वर-प्रकरण में भी किया है। उसी का वितान करते हुए शार्ङ्गदेव ने हठयोग के अनुसार कुण्डलिनी और चक्रों का निरूपण किया है।

रागध्यान की चर्चा हम ऊपर ही कर चुके हैं।

भाषा-विभाषा-अन्तर्भाषा के प्रसंग में परवर्ती ग्रन्थकारों के उपजीव्य मतङ्ग और कश्यप ही रहे हैं। अभिनवभारती के २९वें अध्याय में कश्यप के नाम से भाषा सम्बन्धी एक लम्बा उद्धरण है। अन्य ग्रन्थकारों को कश्यप का कितना पाठ उपलब्ध था यह कहना कठिन है, किन्तु कुम्भा को मतङ्ग का भाषा-विभाषा सम्बन्धी और देशी राग-सम्बन्धी पाठ उपलब्ध रहा होगा, ऐसा प्रबल अनुमान किया जा सकता है।

मार्ग और देशी का विभाजन परवर्ती ग्रन्थों ने मतङ्ग से अवश्य ग्रहण किया, किन्तु आयाम किस प्रकार बदलते गये इसका निरूपण प्रो० प्रेमलता शर्मा के पत्र में होगा*।

उपसंहार

इस पत्र में हम आगम या तन्त्र तथा योग का मतङ्ग के द्वारा संगीतशास्त्र में किया गया समन्वय देख चुके हैं और परवर्ती ग्रन्थों पर उनके प्रभाव का भी संक्षिप्त अवलोकन हमने किया। तन्त्र की बात करें तो औमापतम् नाम का समूचा ग्रन्थ ही तान्त्रिक शैली में निबद्ध है और मतङ्ग के प्रभाव का चरमोत्कर्ष कहा जा सकता है। बृहद्देशी का पाठ खण्डित रूप में उपलब्ध होने पर भी यह स्पष्ट है कि सङ्गीतशास्त्र में हठयोग के प्रवेश का बीज मतङ्ग ने ही दिया है। आयुर्वेद के प्रवेश के बीज की बात भी बृहद्देशी में उठी है—इसकी विशेष चर्चा प्रो० प्रियव्रत शर्मा के पत्र में है।



* अगस्त १९९५ में हम्पी, कर्णाटक में 'मतङ्ग और बृहद्देशी'—सेमिनार में यह निबन्ध भी प्रस्तुत किया गया था। 'बहनजी'—द्वारा ग्रथित उस गोष्ठी का सम्पूर्ण विवरण केन्द्रिय संङ्गीत नाटक अकादमी द्वारा शीघ्र ही प्रकाशित होगा।

.२४.

वह अनहद स्वर—जो अब शान्त है!

—भारतेन्द्र भट्ट, शिवालिक नगर, हरिद्वार

स्मृति-लेख
शास्त्रीय संगीत की उपासिका—डा० प्रेमलता शर्मा

नाद ब्रह्म की परम उपासिका रहीं डा० प्रेमलता शर्मा। शास्त्रीय संगीत एवं साहित्य को सदैव समर्पित रहने वाली इस विदुषी महिला ने अपनी जीवन-यात्रा विगत ५ दिसम्बर १९९८ को स्थगित करते हुए अनन्त की लम्बी यात्रा पर प्रयाण किया।

देश के संगीत-प्रेमियों ने अनेक स्थानों पर इनके शान्त स्वर को अपने स्वर के रूप में भजन-संध्या करते हुए अपनी भावभीनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित की। जिसमें डा० प्रेमलता शर्मा के निवास क्षेत्र बनारस, इलाहाबाद, खैरागढ़ (म०प्र०) दिल्ली, द्वारिका, मुंबई, नासिक, मद्रास, हरिद्वार, उज्जैन, जगन्नाथपुरी, वृन्दावन आदि प्रमुख स्थान हैं।

स्व० डा० प्रेमलता शर्मा का जन्म १० मई १९२७ को नकोदर, जिला जालन्धर, पंजाब में हुआ। माता-पिता के स्नेहिल वातावरण में निरन्तर अध्ययनरत रहते हुए सन् १९५० में हिन्दी से एम०ए० तदुपरान्त क्रमश: एम०ए० संस्कृत, पी०एच०डी संस्कृत, शास्त्राचार्य साहित्य एवं संगीतालंकार गायन आदि में दक्षता प्राप्त कर, संगीत एवं संगीत शास्त्र में काशी हि०वि० विद्यालय वाराणसी में लेक्चरर रीडर एवं प्रोफेसर (१९५५-८५) पद पर रहीं। विश्वविद्यालय खैरागढ़ म०प्र० में वाइस चांसलर (१९८५-८८) रहीं। आप उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी की अध्यक्षा भी रहीं। सन् १९९४ से जीवनान्त तक संगीत नाटक अकादमी नई दिल्ली की उपाध्यक्षा बनी रहीं। इसी के साथ-साथ सतत गोसेवा-संस्थाओं से सक्रिय जुड़ी रहीं।

आपके अध्ययन काल के विशिष्ट गुरुजनों में सर्वश्री राष्ट्रपति पुरस्कार प्राप्त डा० परशुराम लक्ष्मण वैद्य, महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज, पं० महादेव शास्त्री, पं० रामचन्द्र दीक्षित, पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु एवं संगीत मार्तण्ड पं० ओमकार नाथ ठाकुर आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। आपके प्रियजनों में श्री बलवंतराय भट्ट, डॉ० कैलासचन्द्र गंगराडे, प्रो० राय आनन्दकृष्ण, डॉ० कपिला वात्स्यायन, पं० विद्यानिवास मिश्र, पं० वासुदेव द्विवेदी, डॉ० रामसिंह तोमर, डॉ० भानुशङ्कर मेहता, उस्ताद मोहिउद्दीन डागर, बिजनवाला घोष दस्तिदार, श्री जी०एन० कपूर, जैसे अनेको महानुभाव रहे हैं।

डा० प्रेमलता जी को हिन्दी संस्कृत, बंगला, गुजराती, मराठी, पंजाबी, उर्दू एवं अंग्रेजी का वृहद् ज्ञान था। आप अनेक प्रकाशनों संपादनों एवं अनुवादों में संलग्न हो ध्रुपद वार्षिकी पत्रिका संपादित करती रहीं। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में आपके विशिष्ट मौलिक लेखों का प्रकाशन होता रहा है। संगीत, साहित्य एवं प्रशासन तथा गोसेवा सम्बन्धी क्षेत्र के विभिन्न पदों पर आरूढ़ रहते हुए आप अनेक व्याख्यानों, समारोहों एवं गोष्ठियों के माध्यम से देश-विदेश के भ्रमण पर भी रहीं। जिनमें रूस, अमेरिका, हालैंड, मारीशस आदि स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण एवं स्मरण-योग्य हैं।

डा० प्रेमलता शर्मा समभाव से भारतीय आध्यात्मिकता से जुड़ी रहीं। आध्यात्मिक संगठनों से जुड़े रहने के साथ-साथ गौरक्षा में संलग्न रहते हुए कृषि गौ सेवा संघ की अध्यक्षा एवं सार्वभौम संस्कृत प्रचार कार्यालय की कार्यकारिणी में सम्मानित

सदस्या रही हैं। संगीत एवं साहित्य को अपना जीवन साथी चुनने वाली डा० प्रेमलताजी आजीवन अविवाहित रहते हुए माँ सरस्वती की परम उपासिका बन गयीं। इस सरस्वती उपासना में आपके अनेक संगीत प्रेमी, साहित्यकार सहभागी एवं सहयोगी रहे। सन् १९५१ से आपके एक सहयोगी श्री जी०एन० कपूर लगभग एक दशक पूर्व वाराणसी से आकर हरिद्वार के सी-४५, शिवालिक नगर में रहते हुए संगीत-विज्ञों में एक सम्माननीय व्यक्ति बने हुए है।,

डा० प्रेमलता शर्मा की अनन्त यात्रा से आपको अत्यधिक वेदना हुई। अपने निवास पर एक भजन-संध्या का आयोजन डा० प्रेमलता शर्मा की स्मृति में उनके शिष्यों एवं परिचितों द्वारा श्रद्धांजलि स्वरूप किया गया। १६ दिसम्बर १९९८ की यह संध्या एक महत्त्वपूर्ण संध्या थी। जिसमें अश्रुपूरित भावों की भी कहीं-कहीं अभिव्यक्ति हुई। श्री कपूर द्वारा डा० प्रेमलता के चित्र पर माल्यार्पण के साथ संध्या प्रारम्भ हुई। जिसमें बनारस की कई प्रतिभाओं ने भाग लिया। डा० विजया गोडबोले ने राग विहाग में गीता के श्लोकों का भावानुवाद भावपूर्ण स्वरों के साथ प्रस्तुत कर रस से सराबोर किया। तबले पर दून स्कूल देहरादून के अभिजित् चटर्जी एवं हारमोनियम पर श्रीमती चटर्जी की संगत सराहनीय रही। नजीबाबाद रेडियो कलाकार रॉबिन कर्माकर ने सितार पर राग रागेश्वरी एवं धुन बजाकर स्वर को स्वर से जोड़ते हुए नाद ब्रह्म के दर्शन कराये। संचालन की उत्कृष्टता के लिए महादेवी कन्या पाठशाला देहरादून की श्रीमती सीमा रस्तोगी ने डा० प्रेमलता शर्मा की परिचयात्मक झलकियों के उल्लेख के साथ सफल संचालन किया। इस आयोजन में सर्वश्री राजीवलोचन भट्ट, काकोली घोषाल, ए० घोपाल, डा० मालशे, सुनील मुखर्जी आदि संगीतज्ञ विद्यमान थे।

अन्त में श्रीमती विद्या कपूर ने तथा डा० कपूर ने डा० प्रेमलता की स्मृति को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए अनुरोध के साथ दो मिनट का मौन धारण कर श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए भजन संध्या का समापन किया।

संगीत साहित्य की जो सेवा एवं साधना डा० प्रेमलता शर्मा ने की है उसका लाभ आने वाले समय में जन-जन तक पहुँचायें यही उनको सच्ची श्रद्धाञ्जलि होगी।

—भारतेन्द्र भट्ट (शिवालिक नगर)



·२५·

श्रद्धेया प्रेमलता शर्मा जी की याद में

—(श्रीमती विद्या कपूर)

सङ्गीत-मार्तण्ड पं० ओङ्कारनाथ ठाकुर की शिष्या एवं शास्त्र-लेखन-सहयोगिनी नाद की मर्मज्ञ उपासिका प्रेमलता-बहनजी मानो ''परित्राणाय शास्त्रस्य'' ही सङ्गीतजगत् में अवतरित हुई थीं जिन्होंने अपनी अनेकों क्षमताओं से भरे जीवन को सङ्गीत-शास्त्र और शास्त्रीय प्रयोगों के पुनरुज्जीवन या जीर्णोद्धार के लिये होम दिया था। वे सन् १९५० में का०हि०वि० में प्रवेश लेकर वे संस्कृत तथा सङ्गीत की विद्यार्थिनी बनी थीं। अन्त तक सङ्गीत के संस्कृत ग्रन्थों के अध्ययन-अध्यापन तथा सम्पादन-प्रकाशन के कार्यों में लगी रहीं। उनका अहर्निश चलता हुआ अथक प्रयास चिरस्मरणीय रहेगा।

स्मृति पटल पर चलचित्र-सी घूमती हैं उनकी यादें। संगीतगोष्ठियों में उनसे सहज ही हुआ प्रथम परिचय, उनकी सादगी, विनम्रता, मन्द हास्य से युक्त चेहरा, सौभ्यता-भरा व्यक्तित्व, कर्णकुहरों को सुखद ''बहनजी'' सम्बोधन वह सब साकार-जैसा कर देता है। यथानाम तथा गुण वाली प्रेमलता बहनजी की मधुर वाणी, स्निग्ध निश्छल व्यवहार हमें भाव-विभोर कर देता था। हम सम-वयसी थे। हास-परिहास, प्रेममय वार्तालाप के बीच-बीच में प्रसङ्ग वश कविता या गीतों की पंक्तियाँ गा देना उनकी निजी सम्पत्ति थी जिस की बौछार खुले दिल से होती रहती थी। जब कभी जहाँ भी हमने उन्हें आमन्त्रित किया उन्होंने सहर्ष स्वीकारा। इस युग के साक्षात् ब्रह्मर्षि वेदद्रष्टा दैवरात जी को भी हमारे यहाँ एक ही बार प्रार्थना पर ले आयी थीं।

उनसे अन्तिम वार्तालाप हरिद्वार से वाराणसी दूरभाष पर सम्भव हुआ था। हम लोग उनके स्नेह के भाजन आजीवन बने रहे। १९९५ में उन्होंने 'सङ्गीत-गङ्गा' 'सीरिअल' के बारे में श्री कुमार गोगी को हमारे पास हरिद्वार भेजा था इस आशा से कि यथोचित मदद मिल सकेगी। उस 'सीरियल' का पहला दृश्य कनखल के एक घाट का था। फिर बहनजी की अस्वस्थता और व्यस्तता दोनों बढ़ जाने से वह 'सीरियल' बन नहीं पाया।

बहनजी ने ही हमारा परिचय सार्वभौम-संस्कृत प्रचार-संस्थान के प्रवर्त्तक पं० वासुदेव द्विवेदी जी से कराया था। उससे कुछ तो संस्कृत हमने सीखी साथ ही संस्कृत-प्रचारक भी हों गये। वहाँ की कुछ पुस्तकें भी छपवाईं। बहनजी शुभकार्य करना और करवाना खूब जानती थीं। वे अपने घर (विश्वविद्यालय वाले आवास) में बड़े भाव से गो सेवा करती थीं; उनकी गौसेवा देखकर और भी अनेक प्रोफेसर अपने-अपने घरों में गौसेवा करने लगे थे। वह प्रेरणा लाभ हमें भी मिला। हमने गौ पाली भी और 'गोग्रास'-पत्रिका के सदस्य स्वयं बने, औरों को भी बनाया।

सन्त विनोबा के भूदान यज्ञ में सहयोगिनी एवं फिर आध्यात्मिक-प्रवक्ता-साधिका रूप में विश्व-परिचित सुश्री विमला ठकार जी से भी हमारा परिचय बहनजी ने ही कराया था; उनके शिविरों और व्याख्यानों का आयोजन का०हि०वि० में करवाया था जिससे बहुत सारे विद्यार्थी नेक राह पर चल पड़े थे।

'सादा जीवन उच्च विचार' की मूर्त्ति थीं बहनजी। उनकी अनुशासन प्रियता, सुसंयोजित व्यवस्था समय की पाबन्दी शास्त्रनिष्ठा और कला का सम्मान, सभी समझदार व्यक्तियों को उनके प्रति समादर-भाव से नतमस्तक कर देता था। उन्हें भावभीनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करती हूँ।

★★★

.२६.

संस्कृतेऽनूदितं साहित्यम्

भारतीयभाषाभ्यो वैदेशिकभाषाभ्यश्च

*पं० श्री सातकडिमुखोपाध्यायः***

मङ्गलाचरणम्

(श्रीसरस्वतीस्तुतिः)

या देवी सितपङ्कजासनवरासीनाऽक्षमालाकरा।
वीणाझंकृतिनष्टसर्वजडता स्मेरप्रफुल्लानना।
या शश्वत् समुपास्यते बुधगणैर्देवैश्च सर्वैस्तथा
सा नो ज्योतिरनन्तमेव नयतात् संनोदयन्ती धियम्॥१॥

(गीर्वाणवाणीमहिमा)

या श्रुत्यादिसमस्तशास्त्रजननी या ज्ञानजन्मावनि
र्या धर्मादिपुमर्थसार्थभरणी याऽज्ञानविद्राविणी।
या वन्द्या भुवि विश्वगीःप्रसविनी या धीसमुन्मेषिणी
सा वाक् शिष्टजनोदिता विजयते ब्राह्मी सुधास्यन्दिनी॥२॥

१. प्रस्तूयमानस्य निबन्धस्य प्रसङ्गे 'अनुवाद'-शब्दस्य इदं तात्पर्यम्—कस्यांचित् भाषायां निबद्धानां रचनानां भाषान्तरेषु अक्षरशः अन्यूनानतिरिक्ततया विपरिणामो नामानुवादः।

२. संस्कृतनिबद्धवेदादिशास्त्राणां तत्रनिबद्धकाव्यनाटकादीनां च परःशतेषु भाषान्तरेषु अनुवादाः सन्ति अविच्छिन्नपरम्परया क्रियन्ते चेति न परोक्षं विदुषाम्। अतस्तथैव भाषान्तरेभ्यः कृतयो गीर्वाणवाण्यामपि अनूदिता भवन्ति वा न वेति जिज्ञासा स्वाभाविकी। तस्या एव जिज्ञासायाः समाधानार्थमेष निबन्धः प्रारभ्यते।

३. सर्वत्रैव आधुनिकसाहित्यस्य विविधेषु प्रकारेषु अनुवादसाहित्याख्यः प्रकारः किमपि विशिष्टं स्थानं बिभर्ति। क्रैस्तवैकोनविंशविंशशताब्द्योः संस्कृतेऽनुवादसाहित्यमपि सुतरां समृद्धिं प्रापेत्यत्र न किमपि चित्रम्। अतएव स्थाने खलु अस्यां विद्वज्जनसंगोष्ठ्यां तादृशस्यानुवादसाहित्यस्य पर्यालोचनम्।

---

* नवदेहलीस्थ इन्दिरागान्धीराष्ट्रीयकलाकेन्द्रे कलाकोशसमन्वायकः। अधुना स्वान्तः सुखाय विद्यासेवनरतः।

* पूज्या बहिनजी आप (पं० सा० मुखोपाध्याय, जिन्हें हम पं० 'सत्कारी' नाम से परस्पर उल्लिखित करते थे) के मानवीय चिन्तन-व्यवहार एवं सघन पाण्डित्य का हृदय से सम्मान करती थीं एवं विद्या-सम्बन्धी कार्यों में परामर्श लेती रहती थीं। इसलिए इस ग्रन्थ में आपका यह लेख सम्मिलित किया जा रहा है। —ऊर्मिला

४. यद्यपि क्रैस्तवैकोनविंशविंशशताब्द्योः प्राकाश्यं गता अनुवादा एव निबन्धरस्यास्य मुख्यतया उपजीव्यास्तथापि प्रसङ्गवशात् तत्पूर्वकालीनानामनुवादानामपि समासत उल्लेखः करिष्यते।

५. यन्नाम अनुवादलक्षणमद्यत्वे प्रत्यभिज्ञायते सर्वैरङ्गीक्रियते च, प्राचीनसमये न तद् विदितमासीदिति तर्कयामः। तदानीन्तु भिन्ना उपाया अवलम्ब्यन्ते स्म। या नाम भाषाः संस्कृतभाषिभिः संस्कृतग्रन्थरचयितृभिश्च विदिता आसन् तासु प्राकृतेति-सामान्यव्यपदेशेन प्रत्यभिज्ञाता लोकभाषा एव प्रधानाः। प्राकृते निबद्धाः कृतयो यथा संस्कृतज्ञानां विदिता स्युस्तदर्थमुपायद्वयमाश्रियते स्म। तत्र प्रथमस्तु संस्कृतच्छायानिर्माणम्। प्राकृते निबद्धानां पङ्क्तीनां ध्वनिपरिवर्तनेन संस्कृतरूपान्तरमेव छायाशब्देन व्यपदिश्यते। गाथासप्तशती-सेतुबन्ध-गउडवह-प्रभृतीनां समेषां प्राकृत-काव्यानां छायाः प्रसिद्धाः। द्वितीयस्तावदुपायोऽयमासीत्—प्राकृतग्रन्थस्थवर्ण्य-विषयाणां संस्कृते भावानुवादरूपेणोपस्थापनम्। गुणाढ्यकृत-पैशाचीप्राकृत-भाषामय्या बृहत्कथायास्त्रीणि संस्कृतरूपान्तराण्युपलभ्यन्ते—बुधस्वामिकृतो बृहत्कथाश्लोकसंग्रहः, क्षेमेन्द्रकृता बृहत्कथामञ्जरी, सोमदेवकृतः कथासरित्सागरश्च।

६. क्रिस्तुपूर्व-तृतीयशताब्द्या आरभ्य भारतीयानां यवनैः सह प्रत्यक्षं सम्पर्को जातः। गणितशास्त्रे ज्योतिषशास्त्रे च उभयेषां परस्परमौत्तमर्ण्यमाधमर्ण्यं चास्तामिति विद्वांसो मन्यन्ते। तस्मिन्नतिप्राचीने समये तदुभयोः शास्त्रयोः संस्कृतग्रन्था यवनवाचि यवनग्रन्थाश्च सुरभारत्यामवतार्यन्ते स्मेत्यनुमातुं शक्यते। यद्यपि तादृशा अनुवादग्रन्था नाद्यत्वे उपलभ्यन्ते तथापि संस्कृतज्योतिषग्रन्थेषु प्रयुक्ता हेलिलियतावुरिहद्रोगप्रभृतयः शब्दा एव तादृशानुमाने हेतुः। मीनाचार्यविरचितो यवनजातकनामा संस्कृतमयो ज्योतिषग्रन्थोऽद्यापि उपलभ्यते॥ मीनाचार्येति 'मिनोस्' नाम्नो यवनज्योतिषाचार्यस्य नामान्तरम्; स संस्कृतमधीत्य ग्रन्थमिमं संस्कृते रचयामासेति केचन विद्वांसो मन्वते। अन्ये त्वेवमाहुः-मिनोस्निर्मितस्य यवनभाषामयस्य ग्रन्थस्याज्ञातकर्तृकोऽनुवादोऽयम्।

७. आधुनिकलक्षणाक्रान्तसंस्कृतानुवादप्रवर्तने भारतप्रवासिनां जरथुश्त्रीय-धर्मानुयायिनां पारसिकानां प्रयास उल्लेखमर्हति। तेषां कृतयोऽग्रे पर्यालोचयिष्यन्ते।

८. भारतीयभाषाभ्यः संस्कृतानुवादस्य प्रसङ्गे तमिळनाम्ना प्रसिद्धाया द्रविडभाषाया नामैव प्रथमं स्मरणीयम्। वस्तुतस्तु संस्कृतं विहाय सर्वासु भारतीयभाषासु द्रविडभाषैव प्राचीनतमा, तन्निबद्धं वाङ्मयमपि समतिप्राचीनम्। तस्य वाङ्मयस्य गुणतः परिमाणतश्च उत्कर्षे न कोऽपि विप्रतिपद्येत। सा तु द्रविडभाषा अनन्यसाधारण-वैशिष्ट्यहेतोः द्रविडदेशाद् बहिः विशेषेण आर्यावर्ते सुपरिचिता नासीत्। अतः अखिलभारतप्रचलितायां सुरभारत्यां द्रविडग्रन्थानामनुवादः सुतरामपेक्ष्यते स्म। तादृशः प्रयत्नो भगवच्छ्रीरामानुजाचार्यपादानुयायिभिः श्रीवैष्णवाचार्यैरेवेदंप्रथमतया आहित इति यथाज्ञानं निवेदयामः। द्रविडदेशे आळवाराख्या भक्ताः कवयः प्रादुरभूवन्। ते स्वस्वानुभूतिप्रकटनपरं भक्तिरसाढ्यं काव्यकदम्बं रचयन्त आसन्। ते भक्तशिरोमणयः श्रीवैष्णवैः पूज्यत्वेनाङ्गीकृताः, तत्कृतयः शास्त्रवदुररीकृताश्च। ताः खलु भक्तिभावयूयिष्ठाः सूक्तयो 'नालियार्दिव्यप्रबन्ध'-नामके चत्वारिंशत्सहस्रपद्यात्मके संग्रहे, संकलिता वर्तन्ते। अस्य संग्रहस्य 'द्रविडोपनिषत्', 'द्रमिडोपनिषत्' वा नामधेयं प्रसिद्धिमगात्।

८.१ द्रविडोपनिषन्निबद्धपद्यानां संस्कृतानुवादः सुगृहीतनामधेयैर्विद्वन्मूर्धन्यैः श्रीवैष्णव-संप्रदायाचार्यैः श्रीमद्वेङ्कटनाथवेदान्तदेशिकैः प्रारब्धः। आळवारशठकोपाचार्य-विरचित-तिरुवाय्मोळिप्रबन्धस्य पद्यान्येव तत्रभवद्भिः संस्कृतेऽनूदितानि, तानि द्रमिडोपनिषत्तात्पर्यरत्नावल्यां द्रविडोपनिषत्सारे चावलोक्यन्ते। अस्या वेदान्तदेशिकाचार्यविरचिताया रत्नावलेः श्लोकबन्धाः भक्तानां सहृदयानां च हृदयानि सम्यगावर्जयन्ति। तत्रेदं प्रथमं पद्यम्—

निस्सीमोद्यद्गुणत्वादमितरसतयाऽनन्तलीलास्पदत्वात्
स्वायत्ताशेषसत्तास्थितियतनभिदा वैभवाद्विश्वरूप्यात्।
त्र्यक्षब्रह्मात्मभावात्सदसदवगतेः सर्वतत्त्वेषु पूर्तेः
पश्यन् योगी परं तत्पदकमलनतावन्वशादात्मचित्तम्॥

८.२ काञ्चीपूर्यां श्रीकाञ्चीप्रतिवादिभयङ्कर-अण्णङ्गराचार्यनामानोऽशेषशास्त्रपारावारपारीणाः कवितार्किकशिरोमणयो विद्वांस आसन्। वस्तुतः श्रीवैष्णवसम्प्रदाये प्रसिद्धस्य तेङ्गळै-समाख्य-दक्षिणाम्नायस्य ते धुरन्धरा एवाभूवन्। कतिपयेभ्यो वर्षेभ्यः प्राक्

तत्रभवन्तो वैकुण्ठधाम प्रविष्टाः अनेकेषां दिव्यप्रबन्धग्रन्थानां संस्कृतरूपान्तर-विधानेन संस्कृते टीकानिबन्धनेन च अविदितद्रविडभाषाणां सहृदयानां महती उपकृतिस्तत्रभवद्भिः संसाधिता। इमास्तावत् तेषां कृतयः—

क. श्रीभट्टनाथापरनामविष्णुचित्तसूरेः तिरुप्पल्लाण्डु-(श्रीमङ्गलशासन)-प्रबन्धस्य संस्कृत-श्लोकानुवादः तट्टीका च

ख. श्रीगोदाम्बापरनाम्न्याः आण्डालदेव्याः तिरुप्पवै-(श्रीव्रत)-प्रबन्धस्य संस्कृतपद्यानुवादः, तट्टीका च

ग. तस्या एव नाच्चियार तिरुमोळि-(गोदासूक्त)-प्रबन्धस्य संस्कृतश्लोकबद्धः सारः, तट्टीका च

घ. श्रीकुलशेखरसूरेः सूक्तीनां श्लोकबद्धः सारः, तट्टीका च

ङ. श्रीतिरुमलिशैयळवार-(भक्तिसारमुनि)-विनिर्मितदिव्यप्रबन्धस्य गद्यविवर्तः।

च. श्रीतोण्डरडिप्पोडियाळवार-(भक्ताङ्घ्रिरेणु)-सूरेः तिरुमालै-(श्रीमाल)-प्रबन्धस्य श्लोकानुवादः, तट्टीका च

छ. तस्यैव दिव्यसूरेः तिरुप्पळ्ळियेळुच्चि-(सुप्रभात)-प्रबन्धस्य संस्कृतपद्यानुवादः, तट्टीका च

ज. श्रीपाण-(मुनिवाहन)-विरचितस्य अमलनादिदिव्यप्रबन्धस्य संस्कृतपद्यानुवादः, तट्टीका च

समयाभावात् निबन्धातिविस्तरभिया च मूलद्रविडपाठेन संवाद्य भूयसः श्रीमदणङ्गराचार्य-विरचितश्लोकान् श्रावयितुं न शक्नोमीति दूये। तथाऽपि प्रागुक्तप्रथम-द्वितीय-प्रबन्धयोः श्लोकद्वयं विद्वज्जनानां प्रीत्यै उदाहरामि—

श्रीमङ्गलशासनप्रबन्धात्—

स्वामिन् दासजनैः सह स्थितिरियं जेजेतु ते शाश्वती
वक्षःपीठविभूषिणी विजयतां पद्मा च ते प्रेयसी।
जीयाद् दक्षिणपाणिमण्डनमणिर्ज्योतिर्मयश्चक्रराड्
जीयाद् युद्धमहीविसृत्वररवस्ते पाञ्चजन्योऽपि सः॥

श्रीव्रतप्रबन्धात्—

दुग्धाब्धीशस्य विष्णोः पदकमलयुगं कीर्तयध्वं कुरुध्वं
कुल्ये स्नानं च गव्याशनरतिरुचिता नैव पुष्पाञ्जनादि।
नो सेव्यं त्याज्यकृत्यं त्यजत कटुवचो नैव वाच्यं यथाश-
क्त्यास्थेयं पात्रदानं तवनियतय इत्यूचुषी पातु गोदा॥

८.३ गोदाम्बाकृतस्य तिरुप्पवैप्रबन्धस्य श्रीरङ्गदेशिकस्वामिकृतः संस्कृतगद्यानुवादः, श्री वागीशाचार्यकृतश्लोकानुवादोऽपि प्राकाश्यं नीतौ।

८.४ द्रविडकवि-तिरुवल्लुवर्कृतः तिरुकुरळ्-नामा नीतिग्रन्थो द्रविडेषु सुप्रसिद्धः तमिळ-वेदनाम्नाऽभिधीयते। सोऽयं ग्रन्थोऽसकृत् संस्कृतेऽनूदितः। तद् यथा-अप्पा-वाजपेयिकृतः सूक्तिरत्नाकरः, शंकरसुब्रह्मण्यशास्त्रिकृतः सुनीतिरत्नाकरः श्रीरामदेशिक-कृतः श्लोकबद्धः संस्कृततिरुकुरळ् च प्रसिद्धिं गताः।

८.५ चेन्नपुरीवास्तव्याः पण्डितश्री एस० एन् श्रीरामदेशिकमहाभागाः अनेकभाषाचुञ्चवो द्रविडभाषातः संस्कृतानुवादकर्मणि परं प्रावीण्यं प्रकट्यकुर्वन् तत्कृता इमेऽनुवादाः प्रसिद्धिमवाप्नुवन्—

क. कम्बरामायणम् सुललितप्राञ्जलश्लोकबद्धम्

ख. संघकालीन-दशग्रन्थ-पत्तुप्पाट्टु-संस्कृतानुवादो गद्यमयः

ग. विभिन्नद्रविडकविविरचित-नालडियर्-नाम्नः संग्रहस्य श्लोकानुवादः

घ. आधुनिकद्रविडकवि-भारतीयर्-कृतानां केषांचन काव्यानां गद्येन श्लोकैश्च अनुवादः।

८.६ इलङ्गोआडिगल्नाम्रः कवेः शिलप्पादिकाराख्यं करुणरसात्मकं काव्यं द्रविडेषु सुप्रथितम्। तस्य द्रविडभाषायां बह्व्यः टीकाः भाषान्तरेषु अनेकेऽनुवादा अपि प्रसिद्धिं गताः। तत् काव्यं सी० नारायणनायर्विदुषा कन्नगिकोवलनाम्ना श्रीरामदेशिकेन च नूपुरकाव्याभिधया संस्कृतेऽनूदितम्। नायरविदुषोऽनुवादः पद्यात्मकः श्रीदेशिकस्य तु गद्यनिबद्धः।

८.७ आळवाराख्यभक्तकवीनां चरित्रवर्णनपरा भूयांसो ग्रन्था द्रविडभाषायां गीर्वाणवाण्यां तदुभयसंमिश्रणभूतमणिप्रवाळशैल्यां च विरचिता राराजन्ते। तेषु क्रैस्तवत्रयोदशशताब्द्यां श्रीमत्पश्चात्सुन्दरमुनिविनिर्मितो मणिप्रवाळशैल्या निबद्धो गुरुपरंपराप्रभावनामा ग्रन्थः श्रीवैष्णवसंप्रदाये प्रमाणत्वेनाङ्गीक्रियते। तस्य संक्षिप्तः संस्कृतानुवादो विद्वन्मूर्धन्येन बालधन्विजगुवेङ्कटाचार्येण सहृदयभक्तानां करकमलसान्निध्यं प्रापितः।

९. आन्ध्रदेशप्रचलिता वाणी इदानीं तेलुगु-नाम्रा परिचीयते। अतीव सुललितेयं वाणी काव्यसम्पत्त्या सुतरां समृद्धा च। अल्लासानिपेद्दन-सुमति-वेमन-दाशरथिप्रभृतयः परःशताः कवयः स्वस्वकाव्यसुमनोभिः आन्ध्रसरस्वतीमर्चयामासुः।

९.१ आन्ध्रभाषायां शतकवाङ्मयमनितरसाधारणीमभिवृद्धिमवाप। अनेके काव्यरसिकाः संस्कृतज्ञाः तादृशः भूयसीः कविकृतीः गीर्वाणभारत्यामनूद्य अस्मान् अधमर्णीचक्रुः। तत्र इमे उल्लेखनीयाः-के. शेषर्मणा कृतः अल्लासानिपेद्दनस्य मनुसंभवानुवादः। सन्निधानसूर्यनारायणशास्त्रिणोऽनुवादकर्मणि श्लोकरचनायां परं पाटवं प्रकटीकृतवन्तः। तत्कृतौ आन्ध्रभागवत-कलापूर्णोदयानुवादौ विदुषामभिमतौ अभूताम्। आन्ध्रशतक-काव्यानामनेकेषां संस्कृतानुवादाः प्रादुरभवन्।

९.२ आन्ध्रदेशान्तर्गतचिट्टीगूडूररवास्तव्याः श्रीमन्तः ति०गु० वरदाचार्या अस्मिन् प्रसङ्गे स्मृति-पथमागच्छन्ति। तत्रभवद्भिः वक्ष्यमाणानि शतककाव्यानि संस्कृतेऽनूदितानि—

क. कासुलपुरुषोत्तमकविविरचितं निन्दाव्याजगर्भितस्तुतिपरं श्रीमदान्ध्रनायक-शतकम्

ख. अज्ञातकर्तृकं भास्करशतकम्

ग. परममाहेश्वरधूर्जटिकविकृतं श्रीकालहस्तीश्वरशतकम्

घ. सुमति-वेमन-दाशरथिरचितानि त्रीणि शतकानि

ङ. शेषप्पकविप्रणीतं स्त्रोत्रमयं श्रीनरसिंहशतकम्

च. नृसिंहकविकृतं कृष्णशतकम्

छ. अद्देपल्लि-लक्ष्मणस्वामिकृता गायत्रीनीतिगीतावलिः

संस्कृतानुवादं कुर्वद्भिर्वरदाचार्यैः श्लोकरचनायां यादृशी नैपुणी दर्शिता सा त्वद्यत्वे विरलविरला एव। विदुषां प्रमोदाय स्यादिति विचिन्त्य तत्कृतं श्लोकद्वयमत्रोदाह्रियते—

श्रीनरसिंहशतकात्—

अनन्तकल्याणगुणांस्त्वदीयानुन्मत्त एवास्मि कदाऽप्यश्रृण्वन्।
दोषान् मदीयान् प्रशमय्य गाढान् त्रायस्व मां दुर्गतमार्तपाल॥

श्रीकालहस्तीश्वरशतकात्—

वाणीवल्लभदुर्लभे तव शुभद्वारे स्थितस्सन्नहं
मोक्षश्रीग्रहणोत्सुकोऽस्मि यदि स द्रोहो नु किं स्यात् त्वयि।
नो चेदुज्झितनित्यमङ्गलमिमं प्राप्तापदं किं जनं
राजद्वारसमाश्रितं च तनुषे श्रीकालहस्तीश्वर॥

वेमनशतकस्यात्यन्तलोकप्रियत्वात् त्रिचतुरा अनुवादाः प्रकाशमागताः। तत्र श्रीरामदेशिककृत एकः, रांपल्लिश्रीरामचन्द्रमूर्तिकृतोऽपरः। द्वितीयस्यानुवादस्यैकः श्लोकः—

समीपवर्ती कृपणो वदान्यं करोति दाने विमुखं नितान्तम्।
अधःस्थितात् कण्टफलावनीजाद् दुराश्रयः कल्पमहामहीजः॥

९.३ लब्धज्ञानपीठसंमानो विश्वनाथसत्यनाराणनामा महाकविरुपन्यासकारश्च तेलुगुसाहित्य-संसारे परां प्रसिद्धिं प्राप्तः। तस्य एकवीराख्य उपन्यासो वासासुब्रह्मण्यशास्त्रिणा संस्कृतेऽनूदितः। अनुवादोऽयं मूलरचनावत् साहित्यसौष्ठवमादधाति।

१०. कर्णाटकेषु प्रचरन्ती वाणी अद्यत्वे कन्नडनाम्ना परिज्ञायते। साऽपि भाषा प्राचीना सकलभावप्रकटने समर्था। काव्येऽलंकारे शैववैष्णवादिसिद्धान्तग्रन्थेषु भक्तिगीतिषु च अस्या भाषायाः सुमहती समृद्धिर्वरीवर्ति। कर्णाटकभाषातः संस्कृतेऽनुवादस्य परंपराऽपि प्राचीना। तत्र पूर्वमप्यनेके समर्था अनुवादका आसन्, अद्याप्यनेके सन्ति।

१०.१ इदानीन्तने समये कर्णाटकप्रान्तान्तर्गते केरलपुरे सी०जी०पुरुषोत्तमनामानः सस्कृतविद्वांसो निवसन्ति। ते चेदानीं निष्कारणसुरभारतीसपर्याबुद्ध्या कन्नडभाषातः संस्कृतानुवाद-कर्मणि संस्कृतकाव्यरचनायां च दत्तचित्ता वर्तन्ते। तैरनेकेषां प्रसिद्धकर्णाटककवीनां सत्काव्यानि संस्कृतेऽनूद्य काव्यतरङ्गिणीनाम्नि संग्रहे प्रकाशितानि। तस्मिन् संग्रहे कु०वें० पुट्टप्पा (कुवेंपु)-श्रीकन्तैय्य-डी०आर्० बेन्द्रे-मङ्गेशराव-डी०वी०गुण्डप्पा- गोविन्दपै-प्रभृतीनामतिप्रसिद्धकवीनां काव्यकृतयः शुद्धया प्रसादगुणभूयिष्ठया सुरगिराऽनूदिता अवलोक्यन्ते। श्रीमन्तः पुरुषोत्तममहाभागा नैकासां कन्नडलोक-गीतिनामपि संस्कृतानुवादमकार्षुः। कुवेंपुविरचितस्य 'कुमारव्यास'-काव्यात्मक- नाट्यस्य तत्कृतोऽनुवादो विशेषेणोल्लेखमर्हति यस्मिन् कन्नडच्छन्दोव्यवस्था यथावत् संस्कृतेऽवतारिता। कुवेंपुकृतं 'ममगोपाल'-नाटकमपि श्रीपुरुषोत्तममहोदयैरनूदितम्।

१०.२ कर्णाटकेषु क्रैस्तवसप्तदशशताब्द्यां सर्वज्ञनामा कविरजायत। तत्कृतानि त्रिपदीछन्दो-बद्धानि स्फुटपद्यानि सर्वज्ञवचनेतिसामान्यनाम्ना सर्वत्र प्रसिद्धानि। सर्वज्ञकवेः शिवे भक्त्यतिरेक आसीत्। अद्यापि कर्णाटकेषु सर्वज्ञवचनानि आपामरप्रेक्षावज्जननिर्विशेषं पठ्यन्ते गीयन्ते च। तेषु पद्येषु कानिचन भक्तिपराणि नीतिगर्भितानि। श्रीपुरुषोत्तममहाभागेन अष्टात्रिंशदधिक-पञ्चशतसंख्याकानां सर्वज्ञवचनानां संस्कृत-रूपान्तरं पुस्तकरूपेण प्रस्तुतम्। तत्रानुवादे मूलस्थ-त्रिपदीच्छन्द एवावलम्बितम्।

१०.३ आधुनिककर्णाटकसाहित्ये श्री हा०मा० नायको विशिष्टं स्थानं बिभर्ति। तत्कृताः काञ्चन कथाः परमविदुषा एच्० वि० नागराजरावमहोदयेन सरलया शिष्टप्रयोगजुष्टया गीर्वाणवाण्या अनूदिताः, 'अस्माकं गृहस्य दीपः' इत्याख्यायां पुस्तिकायां मुद्रिताश्च।

११ केरलदेशप्रसिद्धा मलयाळमित्याख्या केरळभाषा द्रविडभाषासमुद्भवाऽपि संस्कृत-शब्दभूयिष्ठत्वात् किमपि विशिष्टं स्वरूपं बिभर्ति। अस्या भाषायाः लालित्यं गाम्भीर्यं सकलभावप्रकटनसामर्थ्यं च भारतीयभाषासु अनन्यसाधारणानि। नैतदाश्चर्यं यत् प्रायः सर्वे कृतात्मानः केरळाभिजनाः संस्कृतानुरागिणः स्वल्पाधिकभावेन संस्कृतज्ञा भवन्ति। मलयाळकाव्यपरम्परा तत्रसंस्कृतकाव्यपरम्परा च अद्य यावद् निरवच्छेदेन प्रचलतः। तत्र केरलेषु संस्कृतमलयाळसंमिश्रणरूपा मणिप्रवाळनाम्नी विशिष्टा शैली समुद्भाविता यस्यां भूयांसि उत्कृष्टानि काव्यानि निर्ममिरे। मलयाळभाषातः संस्कृतेऽनेके काव्यादिग्रन्थाः अनूदिताः, अद्यापि अनूद्यन्ते।

११.१ आधुनिक काले उल्लूरपरमेश्वरअय्यर्-वल्लथोल्नारायणमेनोन्-कुमारनाथन्-इति कवित्रयी समुज्ज्वलज्योतिष्कवत् देदीप्यते। सर्वेषामेवैतेषां कवीनां कतिचित् कृतयः संस्कृतेऽनूदिताः। गोपालपिळ्ळै—ई०वी० रामन् नम्बुदिरी-नामानौ अनुवादकौ प्रसिद्धिं गतौ। तत्र गोपालपिळ्ळैविरचिता कुमारनाथन्कृतस्य काव्यस्य संस्कृतानुवादरूपा सीताविलापलहरी विशेषेण उल्लेखनीया।

११.२ क्रैस्तवसप्तदशशताब्द्यां कुञ्चन्नम्बियार्नामा केरलकविरभूत्। तेन हास्यकलाकोविदेन कविना मणिप्रवाळशैल्यां श्रीकृष्णचरिताख्यं द्वादशसर्गात्मकं काव्यं संदृब्धं यदद्यापि सहृदयैराद्रियते। तेन काव्यारम्भे इत्थं प्रतिज्ञातमासीत्—

मधुरिपुचरितं मनोऽभिरामं
मधुरपदाकलितं मणिप्रवाळम्।
मतिकमलविकासहेतुभूतं

कतिपयसर्गमिदं करोमि काव्यम्॥

एतत् श्रीकृष्णचरितकाव्यं त्रिशिवपुरी-(त्रिश्शूर)-निवासिनाऽनेकशास्त्रप्रवीणेन सहृदयधुरीणेन पण्डितरत्नश्रीनारायणपिषारोटि-विदुषा संस्कृतेऽनूदितं यन्नाम साहित्य- अकादमीपारितोषिकेण सभाजितम्। तत्रभावता श्रीपिषारोटिमहोदयेन केशव-पिळ्ळैकविरचितं केशवीयकाव्यमपि संस्कृतेऽनूदितम्।

१२. महाराष्ट्रेषु गीर्वाणवाणीपरिशीलनपरम्परा समग्रायां भारतभूमौ आदर्शभूताऽऽसीत्। महाराष्ट्रभाषायाः साहित्यवैभवमपि सुप्रथितम्।

१०.१ महाराष्ट्रवाङ्मये श्रीज्ञानेश्वरकृता श्रीमद्भगवद्गीताव्याख्यानभूता ज्ञानेश्वरी रचनागुणेन दार्शनिकसिद्धान्तगौरवेण च विद्वत्संसदि परां प्रतिष्ठां गता। सखारामशास्त्रिभागवत-एम०पी०ओक्-ए०वी० खासनीस-इति विद्वत्त्रयेण गीर्वाणज्ञानेश्वरीनाम्ना ज्ञानेश्वर्याः संस्कृतपद्यानुवादः प्रसिद्धिं नीतः।

१२.२ श्रीशिवाजीमहाराजस्य गुरोः श्रीसमर्थरामदासस्वामिनो दासबोधो महाराष्ट्रवाङ्मये शिरोरत्नायते। अस्मिन् ग्रन्थे नीति-धर्माध्यात्मादयोऽनेके विषयाः पर्यालोचिताः। सांप्रतिके समये तस्य महाग्रन्थस्य संस्कृतानुवादं विधाय डोम्बिवलीवास्तव्यः श्रीरामवेळापुरेमहाभागः गीर्वाणभारतीं समर्चितवान्। तेनैव समर्थस्वामिनिर्मित आत्मरामग्रन्थोऽपि अनूदितः।

१२.३ सुप्रसिद्धस्य महाकवेः मोरोपन्तस्य केकावलीकाव्यस्य डी०टी० सकुरीकरकृतः संस्कृतानुवादः गीर्वाणकेकावलीनाम्ना प्रसिद्धिं गतः।

१२.४ सी० केलकरविरचितो महाराष्ट्रवाङ्मयमर्मज्ञानामभिमतो वलिदानाख्य उपन्यासो लटकरशास्त्रिणा सुललितायां गीर्वाणवाण्यामनूदितः।

१३. गुजरातीभाषातः संस्कृतानुवादेषु एक एव अत्रोल्लिख्यते। भारतीयवाङ्मये रत्नभूतो महात्मनां मोहनदासगान्धिचरणानां स्वचरितवर्णनात्मकः 'सत्य ना प्रयोग'-ग्रन्थः। स तु महाग्रन्थः होसकेरेनागप्पशास्त्रिणा सत्यशोधननाम्नाऽनूदितः। सुतरां मनोज्ञेयम-नुवादकृतिः शिष्टप्रयोगानुकूलत्वात् प्रसादगुणभूयिष्ठत्वाच्च।

१४.१ नैके हिन्दीभाषामया ग्रन्थाः संस्कृतेऽनूदिताः। तेषु श्रीगोस्वामितुलसीदासकृतं श्रीरामचरितमानसं प्रमुखमुल्लेखमर्हति। श्रीरामचरितमानसस्य संस्कृतानुवाद-त्रयमस्माभिः परिदृष्टम्। प्रथमस्तावद् अनुवादः तिरुवेङ्कटाचार्यकृतः। द्वितीयो वाराणसेयजनार्दनगङ्गाधररटाटेविदुषा निर्मितः। रटाटेकृतोऽनुवादोऽनेकैः काव्य-गुणैर्मण्डितः स्वतन्त्रकाव्यकोटिमाटीकते। तृतीयस्तावत् सागरनगरवास्तव्येनाशु-कविना अनेकग्रन्थरचयित्रा डॉ० श्रीप्रेमनारायणद्विवेदिना निबद्धः। अनेनैव कविवरेण श्रीगोस्वामितुलसीदासकृतीनां दोहावली-कवितावलीप्रभृतीनामपि अनुवादा अक्रियन्त। येषु केचन प्रकाशिताः, अन्ये प्रकाशनं प्रतीक्षन्ते।

१४.२ न तिरोहितं विदुषां यत् क्रैस्तवसप्तदशशताब्दीजन्मना विहारिकविना व्रजभाषामयः 'सतसई'-नामा शृङ्गाररसप्रधानो मुक्तककाव्यसंग्रहः प्राणायि। प्रागुक्तेन डॉ० प्रेमनारायणद्विवेदिमहाशयेन तस्य सतसईग्रन्थस्य श्लोकबद्धः संस्कृतानुवादः सौन्दर्यसप्तशतीनाम्ना प्रसिद्धिं नीतः। श्लोकरचनायां विविधच्छन्दोगुम्फने चानल्पं पाटवमनेन प्रादर्शि। तस्मादनुवादग्रन्थात् पद्यद्वयमिहोदाह्रियते—

अये मुक्ताहार त्वमसि खलु जातोऽब्धिसलिले
विशुद्धा ते कान्तिर्विकसति हि सर्वत्र रुचिरा।
त्वया लब्धो मानो निखिलभुवने भूपतिवरै-
र्गुणागारो भूत्वा किमसि च गले न्यस्य पतितः॥ (३७६)

अयं मुक्ताहारः स्वकररचितो योऽस्त्यनुपमः
स्वयं नीतः स्नेहान्मम तु दयितेनाद्य नितराम्।
सपत्न्याः कण्ठेऽसौ विलसति सुरम्यः सखि तथा
यथा शम्भोर्हारो विषमविषयुक्तो विषधरः॥ (३८०)

१४.३ भक्तशिरोमणेः साधोः कबीरमहात्मनः बीजक-साखीप्रभृतयः अध्यात्मकृतयः हिन्दीवाङ्मये प्रसिद्धाः। कबीरदासः स्वयं संस्कृतानुरागी नासीदिति तत्कृतिमर्मज्ञा आमनन्ति 'संस्कृत कूपजल है भाषा बहता नीर'—इतितदीयवचनप्रामाण्यात्। किन्तु वर्तमानशताब्द्यां तन्मतानुयायिभिः प्रायः सर्वे एवं तदीयरचनाः संस्कृतेऽनूदिताः। बीजकग्रन्थस्य द्वौ संस्कृतानुवादौ। प्रथमो गुजरातस्थस्वसंवेदकार्यालयेन प्राकाश्यं नीतः द्वितीयस्तु श्रीहनुमान्दासशास्त्रिणा कृतः, वाराणसीतः प्रकटीकृतः। डॉ० परड्डीमल्लिकार्जुन-पण्डितप्रकाण्डेन कबीरमहात्मनां शतसंख्याकानि वचनानि संकलय्य सुरगिरि टीकासहितैः श्लोकैरनूदितानि।

१४.४ जयशंकरप्रसादविरचितस्य कामायनीकाव्यस्य पण्डितभगवद्दत्तशास्त्रिणा कृतः काव्यगुणभूयिष्ठः संस्कृतश्लोकानुवादः कलिकातानगर्यां प्रकाशितोऽभूत्।

१५. भारतीयभाषासु सर्वाधिकसंख्यया संस्कृतानुवादो वङ्गभाषाया एव समुत्पादित इति वक्तुं शक्यते। तत्रापि श्रीरवीन्द्रनाथठाकुरकृतीनामेव भूयस्त्वम्।

१५.१ वङ्गभाषायामुपन्यासरचयितारौ द्वौ चट्टोपाध्यायौ प्रसिद्धौ-वङ्किमचन्द्रः शरच्चन्द्रश्च वङ्किमचन्द्रस्य भूयस्यो रचनाः संस्कृतेऽवतारिताः। ता यथा—

क. पण्डितहरिचरणकृता लावण्यमयी, इन्दिरा, तत्कृतं कृष्णकान्तेरउइल इति च

ख. रेणुदेवीकृता रोहिणी

ग. वङ्किमचन्द्रस्य अन्ये त्रय उपन्यासा राधा, दुर्गेशनन्दिनी, राधाराणी चेति संस्कृते—ऽनूदिता विभिन्नैरनुवादकैः। प्रायः सर्वेष्वेतेषु अनुवादकर्मसु सुमहती कवि-प्रतिभा भाषाप्रावीण्यं च दर्शिते अनुवादकैः।

घ. शरच्चन्द्रकृतो 'दत्ता'—नामा उपन्यासोऽपि संस्कृतेऽनूदितः केनचिद् विदुषा।

१५.२ विश्वकवे रवीन्द्रनाथठाकुरस्यानेकाः कृतयः संस्कृतरूपान्तरं प्रापिताः प्रतिभाजुष्टैरनुवादकैः। स्थानाभावात् सर्वासां विवरणं नात्र प्रस्तोतुं शक्यते, दिङ्मात्रमेव दर्श्यते। नोवेलसम्मानविजयिनो गीताञ्जलेः पञ्च संस्कृतानुवादा अस्माभिरवलोकिताः। तेषामनुवादकाः इमे—

क. अमरेन्द्रमोहनतर्कतीर्थः

ख. पुल्लेनश्रीरामचन्द्रः

ग. कामिनीकुमाराधिकारी

घ. म०म० कालीपदतर्काचार्यः

ङ. गोपालपिळ्ळश्च

तेषु पुल्लेलश्रीरामचन्द्र-गोपालपिळ्ळकृतौ अनुवादौ आङ्गलरूपाधारेण, शेषास्त्रयो मूलवङ्गरूपादिति वेदितव्यम्। पुल्लेलरामचन्द्रकृतादनुवादात् श्लोकमेकमाकर्णयन्तु सहृदयाः—

त्वत्पादैकप्रमतिविधये देव सर्वेन्द्रियाणि
व्याप्तानि स्युश्चरणसविधे ते जगत् संस्पृशेयुः।
मेघो वर्षाजलगुरुभरैर्लम्बमानो यथाऽयं
बुद्धिद्वारि तव नमतु मे कर्तुमेकं प्रणामम्॥

सर्वेषु गीताञ्जलेरनुवादेषु म०म० कालीपदतर्काचार्यकृतमनुवादमेव प्रशस्यतममाकलयामः। अतस्ततः काश्चन पङ्क्तीरुद्धर्तुमिच्छामः—

हे मम मानस पावनतीर्थे
मन्दं जागृहि रे
एतद्भारतमहिमसमन्वित-
मानवसागरतीरे।

अत्र स्थित्वा प्रसार्य बाहू
नरदैवतमभिवन्दे।
समहाच्छन्दः परमानन्दं
तद्वन्दनमनुविन्दे॥

काव्यनाटकनिबन्धप्रभृतीनां यासां रवीन्द्रकृतीनां संस्कृतेऽनुवादाः प्राकाश्यं गताः तासां सर्वासां नामत उल्लेखोऽपि अनल्पसमयापेक्षः। अतः स्वल्पसंख्याकानां विशिष्टरचनानामेव उल्लेखः क्रियते—

क. गान्धारीर् आवेदन (गान्धार्यावेदनम्)-

काश्यपकविः फटिकलालदासश्च

ख. मुक्तधारा, डाकघर (वार्तागृहम्)-ध्यानेशनारायणचक्रवर्ती

ग. भारततीर्थः—चन्द्रकुमारः दुर्गादासगोस्वामी च

घ. पुरस्कारः—कालीपदतर्काचार्यः

साहित्य अकादेम्या 'संस्कृतरवीन्द्रम्'—नाम्रा संस्कृतप्रतिभापत्रिकायाः कश्चिद्विशेषाङ्कः प्रकाशितः। तत्र प्रातःस्मरणीयैः डॉ०वे०राघवमहोदयैः संकलिता संस्कृतानुवादानां विस्तृता सूची द्रष्टुं शक्यते। कलिकाताविश्वविद्यालये वेदान्तसाहित्यव्याकरणादि-शास्त्राण्यध्यापयन्त्या परमविदुष्या श्रीमत्या डॉ० रत्नवसुदेव्या वङ्गभाषामयः 'संस्कृत-अनुवादे रवीन्द्र-साहित्यम्' इतिशीर्षकेण वैदुष्यजुष्टः कश्चिन्निबन्धो निर्मितोऽभूत्। स तु कोरकपत्रिकायां प्रकाशितः। अनेन निबन्धकारेणापि तदीयमार्गनिर्देशमनुसृत्य आङ्गलवाचि *'Tagore in Sanskrit Translation'* इतिशीर्षकेण कश्चिन्निबन्धो विरचितः। विस्तरस्तु तत्रतत्रैव द्रष्टव्यः।

१६. वैदेशिकभाषाभ्यः संस्कृतेऽनुवादः पारसिकैरेव प्रारब्ध इति प्रागेवोक्तमस्माभिः।

१६.१ क्रैस्तवसप्तमशताब्द्यामरबदेशागतैः मुसलमानैः पारस्यभूमिर्विजिता, तत्रत्या निवासिनो बलात् स्वधर्मं नीताः अङ्गुलिमेया जरथुश्त्रीयधर्मावलम्बिनः पारसिका स्वधर्मरक्षार्थं भारतवर्षमेव शरणं प्रपन्नाः पहलवीनाम्री तेषां मातृभाषाऽऽसीत्। अवेस्ताशास्त्रमपि तैः पहलव्यामनूदितम्। भारतीयविद्वांसः संस्कृतमाध्यमेन तेषां धर्मं साहित्यं च जानीयुरित्यभिलाषेण पारसिकपण्डिताः संस्कृतमधीत्य अवेस्ताशास्त्रभागान् तदितर-पहलवीग्रन्थांश्च संस्कृतेऽनूदितवन्तः। संस्कृतानुवादकेषु मोबेद् नेर्योसंगधवलः प्रमुखतया स्मर्यते।

१६.२ पारसिकैः संस्कृतऽनूदितानां ग्रन्थानां संग्रहः 'भरूचा' इत्युपनामधारिणा एर्वद इति धर्मपदयुतेन दादाभाईसुतेन शहिरिआरजिना प्रकटितः।' स तु संग्रहः *'Collected Sanskrit Writings of the Parsees'* नाम्रा सप्तभिर्भागैर्विभक्तः मुम्बापुरी-स्थपार्शीपञ्चायत-समित्या प्राकाश्यं नीतः।

१६.३ तत्र प्रकाशितेषु ग्रन्थेषु मर्दान्-फारुखकृतः शिकान्द्-गुमानीक्-विजार्-नामा स्वपक्ष-मण्डनपरपक्षखण्डनात्मकः दर्शनविचारग्रन्थः विशिष्टं स्थानं बिभर्ति। सोऽयं ग्रन्थः नेर्योसंगधवलेनानूदितः। अनुवादः स्कन्द-गुमानी-गुजरनाम्रा प्रसिद्धः।

१६.४ शास्त्रीयः खुर्दा-अवेस्ताग्रन्थोऽनूदितेषु ग्रन्थेषु द्वितीयः। सोऽपि धवलेनैवानूदितः। अनुवादस्य भाषा प्राञ्जलाऽपि न सर्वत्र शिष्टप्रयोगसम्मता, पहलवीशब्दबहुला तद्भाषाशैलीप्रभावाक्रान्ता च। तस्मादनुवादग्रन्थात् स्तोकादुद्धरणमवलोक्यताम्—

''नाम्रा सर्वाङ्गशक्त्या च साहाय्येन च स्वामिनः अहुरमज्दस्य महाज्ञानिनः सिद्धिः शुभा भूयात्, प्रवृत्तिः प्रसिद्धिश्च उत्तमदीनेर्मज्झईस्न्या वपुषि च पाटवं दीर्घं जीवनं च सर्वेषाम् उत्तममनसाम्। इदं पेरामईअस्तिनाम पुस्तकं मया नइरिओसंघेन धवलसुतेन पहलवीजंदात् संस्कृतभाषायामवातारितं विषमपारसीकाक्षरेभ्यश्च अविस्ताक्षरैर्लिखितं सुखप्रबोधाय उत्तमानां शिक्षाश्रोतृणां सत्यचेतसां। .....अवस्ता इति अवेजस्ता अवेज इति निर्मल [स्ता?] इति श्रुति [र्] निर्मलश्रुति [र्] इत्यर्थः। ..... समस्तेभ्यः पापेभ्यः पश्चात्तप्तो व्यावृत्तोऽहम्। समस्तेभ्यो दुर्मतेभ्यो दुरुक्तेभ्यो दुष्कृतेभ्यो यानि मया पृथिव्यां विचिन्तितानि मया उक्तानि मया कृतानि मया प्राप्तानि मम मूलात् संभूतानि तेभ्यः पापेभ्यः मनसा वचसा कर्मणा च तनुना आत्मना इहलोकतया परलोकतया च स्वामिन् व्यावृत्तः पश्चात्तापेन तिसृभिर्वाग्भिः पश्चात्तापेन अस्मि॥''

अन्येषामनुवादकानां नामानि न परिज्ञायन्ते।

१७. आधुनिके काले वैदेशिकभाषाभ्यः संस्कृतेऽनुवादः क्रैस्तवधर्मप्रचारकैरेव प्रारब्धः। वङ्गेषु श्रीरामपुरनगरे वैप्टिस्टसम्प्रदायानुयायी अनेकभाषाविद् विलियमकेरी न्युवास। तेन नूतनपुरातननियमेतिभागद्वयात्मकं बाईवेलामकं याहूदीक्रैस्तवधर्मशास्त्रं यथाक्रमं हिब्रूयवनभाषाभ्यां संस्कृतेऽनूदितम्। स चानुवादः एकोनविंशशताब्द्याः प्रथमदशकमध्य एव प्राकाश्यं नीतः। साधुयोहनसंकलितात् उपदेशादेका पङ्क्ति रुद्ध्रियते—

आदौ वाद आसीत्, स च वाद ईश्वराभिमुख आसीत्,
स च वाद ईश्वर आसीत्। इति।

१८.१ वैदेशिकभाषाभ्यः संस्कृतानुवादस्य परंपरयायां शार्मण्यदेशाभिजनस्य कार्लकापेलर्-महोदयस्य नामधेयं सश्रद्धं स्मर्तव्यम्। स तु अन्यूनद्वादशभाषापारंगता आसन् संस्कृते स इत्थं निष्णात आसीत् यत् सुललितश्लोकानां रचनायां परं नैपुण्यमभजत। तेन विदुषा ग्योटे-शिलर्-प्रभृतीनां शार्मण्यकवीनां काव्येभ्यः विंशत्यधिकशतसंख्यकानि पद्यानि संकलय्य संस्कृतश्लोकैरनूदितानि। तानि सुभाषितमालिकेति-संग्रहनाम्रा इन्डियन् एन्टीक्वारीपत्रिकायां प्रकाशितानि। तस्मात् संग्रहादिदमुदाहरणमेकम्—

शान्तिं मन्ये धनमनुपमं जीविते मानुषाणां
नाशे तस्याः सकलभुवने शिष्यते नो किमन्यत्।
पुष्पं वातैरभिहतमिव म्लायमानं वसन्ते
यो द्वेषस्थः स सुखविकलः किं पुनर्यः सकामः॥

१८.२ कापेलर महोदयेन ततोऽपि दुष्करतरमध्यवसितम्। तत्कर्म अनुवादविषयेऽद्वितीयं मन्यामहे। स होमेर्-एस्खुलुस्-ईउरिपिदेस्-प्रभृतीनां प्राचीनयवनकवीनां काव्य-नाटकेभ्यः शतस्य पद्यानां संकलनं संस्कृतेऽनूदितम्। तदनुवादसग्रहोऽपि तस्यामेव पत्रिकायां यवनशतकशीर्षकेण प्रकाशितः। तस्मादुदाहरणमिदं श्रूयताम्—

ध्रुवं न किंचिन्न यशो न सौष्ठवं
न कामवस्थां प्रतिपत्स्यसे स्वयम्।
एवं हि देवा विदधुःप्रियाप्रियै-
रस्माकमायूंषि हविर्बुभुक्षया॥

अतीव मनोज्ञा खलु तस्य श्लोकरचना शैली। न विज्ञायते अनुवादमात्रमेतत्, न मूलरचनेति।

१९.१ आङ्गलभाषामया अनेके ग्रन्थाः संस्कृतेऽनूदिताः। तेषु शेक्सपियर्कृतानि नाटकानि उल्लेखनीयानि। तदनुवादकेषु उत्कलाान्तर्गतब्रह्मपुरनिवासी श्रीमदनन्तकुमार-त्रिपाठी, कलिकातवास्तव्यौ सुखमयमुखोपाध्याय-वीरन्द्रकुमारभट्टाचार्यौ प्रमुखाः।

१९.२ वर्ड्स्वर्थ-शैली-कीट्स्-प्रभृतीनाम् आङ्गलकवीनां भूयांसि काव्यानि संस्कृतश्लोकैरनूदितानि बहुभिर्विद्वद्भिः। तेष्वनुवादकेशु डॉ० गोविन्दचन्द्रपाण्डेय-महोदयानां नाम विशेषेण स्मर्तव्यम्। तत्रभवद्भिः पाण्डेयमहोदयैः द्वादशसंख्याकानामाङ्गलकवीनां सप्तपञ्चाशत्

पद्यानि संस्कृतश्लोकैरनूद्य अस्ताचलीयनाम्नि संग्रह प्राकाश्यं नीतानि। पाण्डेयमहोदयानां मद्यपद्येत्युभयविधसंस्कृतरचनायां नैपुण्यं कविप्रतिभा च न वाचा वर्णनमपेक्षेत। तत्प्रणीतं श्लोकद्वयमत्रोदाहर्तुमभिलषामः।

शेक्सपीयरकृतस्य *'Lo in the orient when the gracious light'* इत्याद्यस्य सप्तम-सनेट्-काव्यस्य अनुवादश्लोक एषः—

प्राच्यां भानुरुदेति रम्यसुभगो ज्योतिःकिरीटी यदा
सम्राडेव यथा नवः शुचिरुचिर्लोकाभिवन्द्यो ऽञ्जसा।
तारुण्योपगतं प्रतापशिखरारूढं सुवर्णप्रभं
लोको नन्दति हन्त पश्चिमतटे मन्दे तु मन्दादरः॥

तथैव आङ्गलमहाकवि-जॉन् कीट्स्-कृतस्य *'Ode to a Nightingale'* काव्यस्य पाण्डेयमहोदयकृतः शिखरिणीच्छन्दसा निबद्धः संस्कृतानुवादः परमरमणीयः।

तस्यायमाद्यः श्लोकः—

विकारश्चित्तं मे व्यथयति तथा चेन्द्रियगणं
विमोहं तन्द्रालुं गमयति यथा जाङ्गुलरसः।
मदाद् वा मज्जामि स्मृतिहरणपातालसरिति
न हीर्ष्या मे तुभ्यं सुखिनि तव सौख्येन सुखिनः॥

१९.३ A.A Macdonell कृतं *India's Past* पुस्तकं वी०एव० वेंकटराघवाचार्येण संस्कृतेऽनूदितं तिरुपतिस्थकेन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठेन प्रकाशितम्।

१९.४ वङ्गप्रान्तराज्यपालानां परमविदुषां रोनाल्डसेमहोदयानां भारतीयभाषासंस्कृतीतिहास- वर्णनात्मकः *The Heart of Aryavarta*-ग्रन्थः भट्टपल्लीवास्तव्येन श्रीविष्णु-पदशर्मणा 'आर्यावर्तहृदय'-शीर्षनाम्ना संस्कृतेऽनूदितः।

१९.५ भारतराष्ट्रप्रथमप्रधानमन्त्रिणां सुगृहीतनामधेयानां श्रीजवाहरलालनेहरुमहाभागानां स्वचरितवर्णनात्मकः *My Autobiography*-ग्रन्थः अनेककाव्यनिर्माणेन लब्धकवियशसा पण्डितश्रीमदमीरचन्दशास्त्रिणा नेहरुचरितनाम्नि संस्कृतकाव्ये संदृब्धः। अयमनुवादग्रन्थो द्विसप्तत्या सग्रैः श्लोकानां च दशभिः सहस्रैर्निबद्धः। तत्र छन्दःकुशलेन कविना द्वात्रिंशच्छन्दांसि उपयुक्तानि। श्लोकाः प्रसादमाधुर्यादि-गुणभूयिष्ठाः। क्वचित् क्वचित् लघीयान् च्युतसंस्कृतिदोषो यद्यपि अवलोक्यते तथापि विशालकलेवरस्याङ्गल-ग्रन्थस्यानुवादं विधाय अतिदुष्करं कर्म समपादयन् कविर्निश्छलां प्रशस्तिमेवार्हति संस्कृतानुरागिणाम्।

१९.६ क्रैस्तवशास्त्रान्तर्गतः शैलोपदेशाख्यो भागः (St. Mathew ch.6) संप्रदायनिर्विशेषं सचेतसां हृदयान्यावर्जयति। तस्य भागस्य अनन्तशयन-निवासिनाऽध्यापकेन के०पी० उर्मीस्नामधेयेन अनुष्टुप्छन्दोबद्धोऽनुवादो वारद्वयं प्राकट्यं नीतः। अयमनुवाद आङ्गलरूपादेव विहितः न साक्षाद् यवनभाषामयात् मूलादिति वेदितव्यम्।

तस्यायमाद्यः श्लोकः—

आत्मन्यकिञ्चनाः सर्वे मानवा भाग्यशालिनः।
नित्यं निःश्रेयसं तेषां धन्यानामेव निश्चितम्॥

एतदनुवादविषये पूज्यैः वे० राघवमहोदयैरित्थमभाणि—'गिरिगीता अथ वा येशुगीता इति कृतनामधेया अनुष्टुप्छन्दसा सरलया शैल्या बद्धा इयम् असंख्यगीतमालायां नूतनं किमपि रत्नं भविष्यिति।'' इति।

२०.१ न भूयांसो ग्रन्था अरबीभाषातः संस्कृतेऽनूदिताः। मध्ययुगे केचन ज्योतिषविषयका ग्रन्था अरबीभाषायाः संस्कृतेऽनूदिता आसन्। तत्र 'हयत'-'उकरा' इतीमौ उल्लेखमर्हतः। क्रैस्तवाष्टादशशताब्द्यां जयपुरनृपतिना सवाईजयसिंहेन प्रोत्साहितो लब्धप्रतिष्ठो

ज्योतिर्वित् सम्राट् जगन्नाथनामा यवनज्योतिषि-प्तोलेमेः *Syntaxis*-ग्रन्थं सम्राट्सिद्धान्तनाम्नाऽनूदितवान्। स एव 'इउक्लिड'-इतिनाम्नो यवन-गणित-शास्त्रिणः *Elements*-ग्रन्थमपि रेखागणितशीर्षकेण संस्कृतेऽन्ववदत्। सम्राड् जगन्नाथो यवनवाचि निपुणो नासीत्। अत एनयोर्ग्रन्थयोः अरबीरूपान्तरादेव संस्कृतानुवादमकार्षीत्।

२०.२ इदानीन्तने काले उभयभाषाकोविदेन सत्यदेववर्मणा 'कुरान्शरीफ' इत्याख्यः इस्लामीयधर्मग्रन्थः संस्कृतश्लोकैरुपनिबद्धः।

२१.१ पारस्यभाषामयाणि काव्यानि नैकेभ्यः संस्कृतविद्वद्भ्यः सुतरां रोचन्त इति प्रति-भाति। क्रैस्तवपञ्चदशशताब्दीजन्मना मुल्ला-नूर-उद्दीन्-अब्दुर्रहमान-जामीनाम्ना पारस्यकविना विरचितं यूसूफ-जुलेखा-प्रेमोपाख्यानं काव्यरसिकेषु नितरां प्रसिद्धम्। तस्यामेव शताब्द्यां काश्मीरकेण तृतीयराजतरङ्गिणीरचयित्रा श्रीवरपण्डितेन तत् कथानकं पारस्यभाषातः संस्कृतानुष्टुप्छन्दसाऽनूद्य कथाकौतुकनाम्ना प्रसिद्धिं नीतम्।

२१.२ शेखसादीनाम्नः पारस्यकवेःगुलिस्तांनामा नीत्युपदेशपरं गद्यपद्यमयं काव्यं लोके प्रसिद्धम्। तस्य काव्यस्य त्रयः संस्कृतानुवादा अस्माभिः पर्यालोचिताः। तत्र श्रीरामस्वामिकृतःप्रसूनवाटिकाख्यः प्रथमः (१९२३-२४)। आर्०बी० गोखलेकृतः पुष्पोद्यानाभिधो द्वितीयः (१९३४)। तृतीयस्तु आयार्यधर्मेन्द्रनाथनिर्मितः 'सादिनः पुष्पलोकः' इतिनामकः (१९७१)। उभयभाषापारंगतस्य धर्मेन्द्रनाथस्य कृतिस्तु सर्वाङ्गपूर्णाऽव-लोक्यते। तत्प्रकाशिते ग्रन्थे पारसिक-देवनागरीलिप्योः पारसिक-मूलपाठः श्लोकबद्धः संस्कृतानुवादः, हिन्दीभाषानुवादश्च संकलिताः। ग्रन्थान्ते प्रार्थनापद्यं धर्मेन्द्रनाथेन अरबीभाषाया इत्थमनूदितम्—

अध्येतस्त्वमधीष्व पुस्तकमिदं सम्प्रार्थयस्व प्रभुं
क्षम्यात् सोऽस्य निबन्धकस्य निखिलं दोषं च तत्स्वामिनः।
अन्विष्यस्त्वममुत्र सर्वमनिशं निःश्रेयसं चात्मन—
स्तत्पश्चात् प्रतिकामयस्व करुणां विश्वात्मनो लेखकम्॥

२१.३ सुगृहीतनामधेय-उमरखैयाम्-कविकृतः 'रुबाई'-इत्याख्यो मुक्तककाव्यसंग्रहो मर्मज्ञेभ्यः सहृदयेभ्यः सुतरां रोचते। अस्य संग्रहस्य पाश्चात्त्यभाषासु, प्रायः सर्वासु भारतीयभाषासु च परःशता अनुवादा अवलोक्यन्ते। नैतच्चित्रं यदस्य काव्यसंग्रस्य संस्कृतेऽपि नैके अनुवादाः स्युः। तादृशा अष्टौ अनुवादाः प्रसिद्धाः, अनुवादकास्तावदिमे—हरिचरणशर्मा, आदिभट्ट-नारायणदासः, गिरिधरशर्मा, एम०आर्० राजगोपाल अय्यंगरः, पी०वी० कृष्णन् नायरः, सदाशिवडांगे, वीरेन्द्रकुमारभट्टाचार्यश्च। एषु अष्टस्वनुवादेषु कतिचन फिट्जेराल्डकृतमाङ्गलरूपान्तरमाश्रित्य कृता इति तर्कयामः।

२२. कृत्स्नं संस्कृतानुवादसाहित्यं नात्र वर्णितं तस्य विपुलत्वान्निबन्धकृतोऽज्ञानाच्च। वस्तुतः दिङ्मात्रमत्र दर्शितम्। अपि च ये नाम अनुवादाः स्वतन्त्रपुस्तकरूपेण प्रकाशिताः प्राधान्येन त एवात्रालोचिताः। संस्कृतसाहित्यपरिषत्पत्रिका-मञ्जूषा-मित्रगोष्ठी-संस्कृतरत्नाकर-सहृदय-संस्कृतप्रतिभादिषु पत्रिकासु प्रकाशिता अनुवादाः नात्र पर्यालोचिता इति वेदितव्यम्।

यावद् भारतवर्षं स्याद् यावद् विन्ध्यहिमाचलौ।
यावद् गङ्गा च गोदा च तावदेव हि संस्कृतम्॥

संक्षिप्ता ग्रन्थपञ्जी

अणणङ्गराचार्य, श्री काञ्ची-प्रतिवादिभयङ्कर, द्रविडाम्नायदिव्यप्रबन्धविवर्ते......मुम्बयी : खेमराज श्रीकृष्णदासः, १९५८.

उर्मिस् के०पी० गिरिगीता *Sermon on the Mount : in Sanskrit verse with the original. 2d. ed. Trivandrum : Author, 1978.*

कापेलर् कार्ल (Cappeller, C.). "Yavanasatakam : a hundrd stanzas translated form Greek poets" *in Indian antiquary* (Dec. 1904, Feb.1905).

.... "Subhasitamalika : translated from german poets" in *Indian antiquary* (July, Oct.-Dec.1903).

गोवर्धनरङ्गाचार्यसूरि. सहस्रगीतिः : श्रीशठकोपस्वामिविरचिततिरुवाय्मोळिनिबन्धस्य संस्कृतगद्यानुवादरूपा; तिरुपल्लाण्डु-कण्णिनुण्तिरुत्ताम्बु-तिरुप्पावै-रामानुजनूत्तन्दादि-संस्कृतपद्यानुवादसहिता. मुम्बय्यां : खेमराज श्रीकृष्णदास श्रेष्ठिना, विः सं ११७० [१९१३] [अस्मिन् ग्रन्थे श्रीसुन्दरजामातृमुनिकृत-द्रमिडोपनिषत्संगतिः, श्रीवेदान्तदेशिककृत-द्रमिडोपनिषत्तात्पर्यरत्नावलिश्च अन्तर्भाविते स्तः]

तर्काचार्य, कालिपद. गीताञ्जलि : रवीन्द्रनाथकृत 'गीताञ्जलि' काव्यस्य संस्कृतानुवादः, कलिकाता विश्वभारती ग्रन्थनविभाग, १९६९.

त्रिपाठी शर्मा, अनन्त. द्वादशी रात्रिः = *Twelfth Night/William Shakespeare.* ब्रह्मपुरम्: शिरोमणि मुद्राशाला, १९६९.

.... बह्वारम्भो लघुः क्रिया = *Much Ado about Northing/William Shakespeare.* ब्रह्मपुरम् : शिरोमणि मुद्राशाला १९६९.

.... यथा ते रोचते = *As You Like It/William Shakespeare* ब्रह्मपुरम् : शिरोमणि मुद्राशाला १९६९.

.... वेणीश-सार्थवाहः = *Merchant of Venice/William Shakespeare.* ब्रह्मापुरम् : शिरोमणि मुद्राशाला १९६९.

द्विवेदी, प्रेमनारायण. सौन्दर्य-सप्तशती : विहारी कविकृत-सप्तशत्याः संस्कृतपद्यानुवादः, सागरः अनुवादकः, १९७०.

धर्मेन्द्रनाथ, आचार्य. गुलिस्ताने सादी = सादिनः पुष्पलोकः :फारसी मूलपाठ, देवनागरी लिपिकरण, हिन्दी एवं संस्कृत अनुवाद सहित. जयपुर : निखिल भारतीय भाषापीठ,१९७१.

धर्म्मपुस्तकस्य शेषांशः, अर्थतः, प्रभुणा यीशुखीष्टेन निरूपितस्य नूतनधर्मनियमस्य ग्रन्थसङ्गहः. बंगालोरः भारतस्थः सिंहलस्थश्च बाइवेल सोसाइटी, १९६२.

नागराजराव्, एच०वि० अस्माकं गृहस्थदीपः/ कन्नड़मूललेखकः हा०मा० नायकः. मैसूरु : प्रतिभासंसत्, १९९६.

पांडुरंगि-कृत-रवीन्द्ररूपकाणिः रवीन्द्रनाथ ठाकूर विरचितस्य सन्यासी-मालिनी-नृपः महिषी च-कर्णः कुन्ती च इति रूपकचतुष्टयस्य संस्कृतानुवादः. Bangalore : Susheela K. Pandurangi, 1990.

पाण्डेय, गोविन्द्रचन्द्र. अस्ताचलीयम्, वाराणसी : सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयः, १९९१. (लघु ग्रन्थमाला, ४८)

पिळळ, एन्० गोपाल० गीताञ्जलिः : Sanskrit translation of Rabindranath Tagore's Gitanjali. Trivandrum: Pillai, 1969.

पिषारोटि, के० पि० नारायण० श्रीकृष्णचरितं महाकाव्यम्/महाकविकुञ्जपाणिवादकृतम्. तृदशूर : केरळ साहित्य अकादमि, १९९३.

पुरुषोत्तम, सि० जि० कन्नड काव्यतरङ्गिणी० मैसूरः जयमारुती पब्लिषर्स, १९५९-१९६७. २ भागौ.

.... मम गोपालः/मूलकन्नडनाटककर्ता कु०वें० पुट्टप्पा० मैसूरु : श्री जयमारुती प्रकाशनम् १९९४.

.... सर्वज्ञवचनानि० मैसुरु : श्री जय मारुति प्रकाशनम्, १९९३

भट्टाचार्य, विष्णुपद, आर्यावर्त-हृदयम् : साम्प्रतं मारकुइस् अब् जेट्लाण्डनाम्ना प्रथितानां...रोनोल्डशे-महोदयानां "दि हार्ट् ऑफ़ आर्यावर्त" ग्रन्थस्य संस्कृत-भाषाकृतानुवादात्मकम्० कलिकाता : भट्टाचार्यः, शकाब्दः १८५८ [१९३६].

भरुचा, दादाभाई शहिरि आरजि (सं०). पारसीकधर्मादिविषयकसंस्कृतपुस्तक-संग्रहः [=ðCollected Sanskrit Writings of the Parsis]. Bombay: Parsee Panchayet, १९०६-१९१३(?) ७ भागाः.

मुखोपाध्याय, सातकड़ि. (Mukhopadhyaya, Satkari). "Tagore in Sanskrit translation in

Bhāratavidyā-saurabham : Dr. Biswanarayan Shastri Felicitation V olume. Guwahati: Monorama Prakashan, 1997,. 292-297pp.

मुखोपाध्यायः, सुखमयः. दीनार्कराजकुमारहेमलेखम्/महाकविश्रीसेक्षपीवरविरचित्तं/Hamlet नाटकस्यानुवादः दिल्लीः मोतीलाल बनारीदास, १९७१

रंगदेशिका स्वामी. गोदा गीतावली/संस्कृतगद्यानुवादक रंगदेशिक स्वामी; संस्कृतश्लोकानुवाद एवं हिन्दी-व्याख्याकार वागीशाचार्यशास्त्री. पटना : विहार राष्ट्रभाषा-परिषद्, १९६७.

राघव वे० (Raghavan, V) संस्कृत-रवीन्द्रम्ः संस्कृतप्रतिभा, षष्ठ उन्मेषः. नवदेहलीः साहित्य अकादेमी, १९६६.

वरदाचार्यः, ति०गु० श्रीकालहस्तीश्वरशतकम्/[धूर्जटिना परममहेश्वरेण प्रणीतम्].चिट्टिगूडुरुः ग्रन्थकर्ता, १९५६.

.... श्रीमदान्ध्रनायकशतकम् : कासुल-पुरुषोत्तमकविना आन्ध्रभाषायां रचितस्य स्तोत्रमयशतक-काव्यस्य संस्कृतानुवादः. चिट्टिगूडूरु : ग्रन्थकर्ता, १९६८.

वेङ्कटराघवाचार्य, वे०श्री० भारतीयं वृत्तम् : ए०ए० मेक्डोनल्कृतस्य 'इण्डियास् पास्ट्' इत्यस्य संस्कृतानुवादः. तिरुपति : केन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठम्, ए१९६८.

वेङ्कटराघवाचार्यास्वामी इलैयविल्लि जग्गु. श्रीमद्द्रमिडोपनिषत्सारसङ्ग्रहः; इलैयविल्लजग्गु सुदर्शनाचार्येण... सम्पादितः. मेल्कोटे : सुदर्शनाचार्यः, १९६१.

वेङ्कटराघवार्चास्वामी, बालधन्वि जग्गु. दिव्यसूरि (आळवार्) चरितानि/सम्पादकः बालधन्वि जग्गु सुदर्शनाचार्यः. Mysore : सम्पादकः, १९६९.

वेळापुरे, श्री० राम० श्रीमद्दासबोधः :आत्मारामसमेतः/श्रीसमर्थरामदासस्वामि-विरचितः. डोम्बिवली : संस्कृतदासबोधप्रकाशनसमितिः १९९७.

शास्त्री, अमीरचन्द्र. नेहरूचरितमहाकाव्यम् : श्रीनेहरूमहोदयानाम् आत्मकथायाः संस्कृतपद्यानुवादः. नई दिल्ली : श्रीलाल बहादुरशास्त्री राष्ट्रियसंस्कृत-विद्यापीठम्, १९९०.

शास्त्री, होसकेरे नागप्प. सत्यशोधनम्/गान्धीमहात्मभिः विरचितम्. मुम्बई : भारतीय विद्या भवन १९६५. श्रीरामचन्द्र, पुल्लेल. गीताञ्जलिः. वरंगल : श्रीरामचन्द्रुडु, १९६२.

श्रीरामचन्द्रमूर्ति, रांपल्लि. वेमन शतकम् : गीर्वाण-भाषायां श्लोकात्मना परिवर्तितम्. श्रीभटनविल्लि : शारदमुद्रणालय, १९७३.

श्रीरामदेशिकन्, एस्०एन्०कम्बरामायण-संस्कृतानुवादः [Balakandam] Madras: Author, 1064

.... *Tirukkural in Sanskrit: with Tamil and English translations. Madras : Author, 1978-1979.*

.... *Naladiyar Sanskrit translation : with Tamil and English expositions. Madras : Author, 1981.*

.... नूपुरकाव्यम् : शिलप्पाधिकारसंस्कृतानुवादः पुकार्काण्डम्. Madras : Author, 1968.

.... पत्तुप्पाट्टुसंस्कृतानुवादः : सङ्घकालीन दश ग्रन्थाः [प्रथमो भागः]. Madras. Author. 1972.

.... *Bharatiyar's works in Sanskrit : with Enlgish translation.* Madras : Author, 1982.

★★★

पञ्चम खण्ड

श्र० प्रेमलता बहनजी के अनुवर्ती, उनसे घनिष्ठ सम्बद्ध रहे मित्रों एवं छात्र-छात्राओं के कार्य-सम्बन्धी तथा संस्मरण-भरे लेख

पञ्चम खण्ड

(५८१-७३६)

(प्रेमलताजी के अनुवर्ती उनसे घनिष्ठ सम्बद्ध विद्वान् मित्रों तथा छात्र-छात्राओं के कार्य-सम्बन्धी एवं संस्मरण भरे लेख)

.1.
Reading Saṅgītaśāstra at Banaras Hindu University : A Personal Memoir

*—Lewis Rowell**

Between September and April 1975-76, I was granted the rare opportunity to observe and take part in the rich musical and intellectual life of the small community of scholars in the Department of Musicology at Banaras Hindu University. At the center of this community was Professor (Dr.) Prem Lata Sharma, at the top of her form as a productive scholar and teacher and with an established reputation for transforming Indian musicological scholarship from an uncoordinated series of individual projects to an institutionalized program of teaching, learning, and publication. And it is to her treasured memory that these reflections are dedicated.

In the years prior to my arrival, the trickle of foreign visitors had begun to increase, ranging from hapless American college dropouts from the counterculture of the 1960s, who wandered about India in a haze, to serious students of Indian music such as Harold Powers and the late Jon Higgins. While the Indian musical establishment looked with suspicion on the attitudes, methods, and approaches of Western ethnomusicology as it existed at that time, it welcomed individual students and researchers who were willing to encounter India on its own terms and make the necessary investment of time and talent. Allyn Miner (now teaching at the University of Pennsylvania) and Stephen Slawek (at the University of Texas—Austin), both among the leaders in American ethnomusicology, were studying sitar at the B.H.U. music department when I arrived, and, in previous years, a number of foreign visitors had been admitted to Bahinji's introductory class in Indian music. She was well acquainted with the aims and needs of foreign students, perhaps more so than most Indian scholars.

My case must have been somewhat different. I was already in my 40s, trained at the Eastman School of Music as a music theorist, having briefly explored a career in music administration, and (in the early 1970s) was in the process of making a mid-career adjustment. I was teaching at the University of Hawaii—a sleepy, provincial university that provided unique opportunities for students of Asian and Pacific cultures. Since my days in graduate school I had been interested in early music-theoretical treatises and what they could tell us about music in ancient civilizations, and Hawaii offered an opportunity to acquire some of the linguistic skills that I lacked. After several years studying Attic Greek, I was then attracted to the study of Sanskrit—chiefly because of the presence of Walter Maurer, a distinguished Vedic scholar and a former student of Norman O. Brown (Pennsylvania) and Carl Thieme (Gottingen). At the same time, I had the opportunity to study South Indian singing with Gayathri Rajapur Kassebaum. It was, however, the special qualities of the Indian mind and the elegance of the Sanskrit language that first attracted me to India, not the sensuous properties of her fine and performing arts. That came later.

* Dr. Lewis Rowell, Professor of Musicology, Indiana University, U.S.A.

A research fellowship from the American Institute of Indian Studies made it possible for me to spend the better part of an academic year in India. I came with a fairly well-defined project in mind, which, quite beyond my expectations, would lead eventually to my book on Music and Musical Thought in Early India (Chicago, 1992; New Delhi, 1998) and a number of other studies. I was convinced that what I was able to find out about the music of ancient and medieval India had much in common with the music and musical systems described by ancient Greek authors and their successors. At least such was the hypothesis I set out to test.

In some ways I must have been an unlikely candidate : I was fairly set in my ways; I was well aware that my time in India was finite, and, consequently, was impatient with the pace of learning and the inevitable delays of daily life; I had my own questions, which must at times have seemed irrelevant to the material at hand; and worst of all, I had violated the first rule of ethnomusicology by staying in a hotel, on the far side of Varanasi in the cantonment area. This proved eventually to be an advantage, as I am sure I saw more of India on my 45-minute rickshaw rides across town than I would ever have seen from the relative serenity of the university area.

I had only the briefest of correspondence with Dr. Sharma before I arrived. I had expected to spend most of my time in the library with periodic meetings with her; her idea was that I should join her research seminar, for which the year's project was a close reading of the tāla chapter of the *Nāṭyaśāstra*, focussing on Abhinavagupta's commentary. This turned out be a better idea than what I had in mind, for reasons that I could not have anticipated at the time. So the routine began : seven or eight of us met with her daily in her office in the early afternoon, from about 1:00 until 2:30, at which time the departmental tea was served. The rest of her time was spent in individual meetings and disposing the business of the department.

What we did in the seminar clearly reflected what was on her mind at the time. She had just finished reading the tāla chapter of Śārṅgadeva's *Saṅgītaratnākara* with a previous seminar, in preparation for the final phase of her massive *Saṅgītaratnākara* translation project (of which, as I write more than twenty-five years later, the third and final volume has yet to appear—a delay which is emblematic of the uphill battle Bahinji was waging in her campaign to make available the texts of India's major music treatises). Her mind was also on an important performance project—a performance of Kālidāsa's play *Mālavikā* and *Agnimitra,* undertaken in connection with many other scholars and performers on the B.H.U. faculty. The plan was to prepare the performance entirely in accord with the instructions in Bharata's *Nāṭyāśastra*—the music, dancing, acting, and all other aspects—and this led inevitably to *Abhinavabhāratī,* Abhinavagupta's brilliant and formidable commentary on the *Nāṭyāśastra.* As a third contributing stream of ideas, Mukund Lath's dissertation on *Dattilam* was under examination that year, and our discussions were both stimulated and informed by that magnificent piece of scholarship, and its deep insights into a text which both confirms and illuminates Bharata's precepts.

This rich mixture of ideas and practical applications provided the context for the next several months. The rehearsals for *Mālavikā* were open, and the producers and directors wrestled daily with the same problems we were discussing in the seminar. Bahinji was responsible for arranging and rehearsing the music, and she was insistent on finding practical solutions that were supported by textual authority. **I had not realized that she was also an excellent singer, gifted with a rich and beautiful voice.** (Western musicologists are as a rule not noted for their performance skills.)

As the seminar proceeded, at what to me seemed like a glacial pace (I have 19 pages of notes on the commentary to the opening verse of Bharata's tāla chapter!), it became clear that deciphering the mangled text and revealing the explosive insights of Abhinavagupta were the primary goal of our meetings. Indian scholars have always held that *śāstra* is barren without *prayoga,* and I saw daily proof

of that contention. As a relative newcomer to Sanskrit textual scholarship, I was not qualified to pass judgment on her background and linguistic expertise—I could only marvel. But I had read enough of her work to know that I was in good hands, and confirmation for me came in the nuggets of musical meaning that she managed to extract from Abhinavagupta's often garbled text. This was what I had come to India to find. And at the same time, I must admit, I was struck by the utter improbability of the intellectual adventure I was experiencing.

Dr. Sharma was not content to recite or translate a passage of text : she attacked it with gusto, high humor, and with the sort of panache one occasionally finds in the works of really great scholars. She was a worthy antagonist for Abhinavagupta—a mind fully capable of appreciating his subtlety and savoring the razor-sharp distinctions he drew. She was not afraid to go out on a limb, and, unlike some other scholars, she was not afraid to say "I don't know." She had an extraordinarily open mind and was willing to consider any suggestion, although in the end she submitted to the authority of the established text, as well all must do. That experience was for me an extraordinary demonstration of musicological scholarship at its best, and it is an example that I have tried to keep in mind.

It was a good time to be at Banaras Hindu University. Indira Gandhi had proclaimed a state of emergency and things were peaceful. The trains ran on time, there seemed to be little unrest, and the truckloads of soldiers parked outside the university gates were not getting their anticipated exercise. The campus was serene as usual, the sunset ceremony at the nearby music department was a good way to end the day, and there was time to chat with some of the talented staff and students. I enjoyed many helpful conversations with the late R.K.Shringy. N.Ramanathan and Ritwik Sanyal were nearing the end of their studies, and Bahinji had asked Ramanathan to keep an eye on me and help me with any problem. This was the beginning of a long and enduring friendship. In the spring semester she asked me to teach a course in Western music, in which the reactions of Indian students to European classical music taught me almost as much about their music as I had hoped to teach them about mine. Bahinji had assembled a small but useful collection of Western sound recordings, and I remember a visit to a local church with an electronic organ, where I was allowed to demonstrate the properties of Western harmony.

In March I reluctantly left Banaras to move on to the second phase of my project, which would take me to various European universities and research facilities. I needed time to digest what I had learned in India, work on my Sanskrit and Greek translations, and prepare for an international conference in July (of the International Society for the Study of Time). My paper was entitled "Time in the Musical Consciousness of Old High Civilizations—East and West"; it was to become the first in a series of studies on rhythm and meter in Indian and other ancient musical cultures. The seminar was not making as much progress as Bahinji had hoped : we had covered fewer than 100 verses since September, and she decided to jump to the concluding verses of chapter 31 in order to provide some closure. Abhinavagupta had proved such a formidable antagonist that she was already thinking about the international conference she was to organize five years later. The performance of *Mālavikā and Agnimitra* was a success, and plans were under way to take it to the Kālidāsa festival in Ujjain that summer.

I came away from my stay in Banaras with more questions than answers, notebooks and photocopies of material that would take me years to digest, a deeper appreciation of the workings of the Indian mind and the complexities of the early history of *Saṅgītaśastra,* an entirely new perspective on textual study, and a recognition of the obstacles that continue to impede our understanding of early Indian musical practice. Best of all, I had been exposed on a daily basis to an exemplary model of Indian musical scholarship—a model which, whatever its shortcomings, has in the long run done more to advance the cause of Indian musicology than any of the efforts of individual scholars. Mine is not necessarily the best perspective from which to assess the impact of Prem Lata Sharma's achievement,

but it seems to me that her most enduring accomplishment was to oversee the transformation of Indian musicology into a coordinated team effort that continues to mine the musical gems of which Śārṅgadeva wrote, in search of new insights into India's radiant musical past.

I never got to know Bahinji as well as many of her other foreign students, I regret to say, but she could always be depended on for quick answers to problems and help in locating research material. I saw her on three subsequent occasions : the conference on Abhinavagupta that she organized at B.H.U. in 1981; the World Sanskrit Conference in Leiden in 1987, which brought together for the first time many of the most prominent scholars of early Indain music; and Kapila Vatsyayan's 1990 international conference on *kāla* (time) at the Indira Gandhi National Centre for the Arts (New Delhi). Bahinji was invariably generous in providing advance copies of her own work : when she learned that I was interested in the prabandhas, she brought proofs of her translation of Śārṅgadeva's prabandha chapter to Leiden to give to me.

Of her many publications, what I most treasure are, of course, the monumental *Saṅgītāratnākara* and *Bṛhaddeśī* series; and, among her shorter studies, her 1992 paper on "Śāstra and Prayoga : śāstric tradition and contemporary tāla practice, with special reference to Hindustani music" and her illuminating articles on various musical topics in IGNCA's *Kalātattvakośa* series. She invariably wrote with grace and rare clarity. Her rich background in Sanskrit literature enabled her to expound the technical treatises with a profound and humane understanding of their ideological context. Pearhaps most important of all, she understood the limits of translation. She was not interested in preparing slick, prepackaged translations, preferring instead to provide the background, the issues, the concepts, and the texts themselves, thus enabling others to gain access to the monuments of *Saṅgītaśastra* and draw upon their wisdom.

Bahinji left an indelible stamp on Indian scholarship, and the imprint of her warm personality and generous spirit lingers with all who knew her. Comparisons to other scholars are utterly inappropriate : she was in a class by herself.



.2.

Bahinji: Teacher, Collaborator, friend

*—Bettina Baumer**

My relationship with Bahinji, Dr. Prem Lata Sharma, was on so many levels that this tribute to her will inevitably be a mixture of personal memories and scholarly insights. Since life, art and scholarship were inseparable with her, not to mention spirituality, they cannot be artificially separated for the sake of a purely academic article. In fact, my deep association with Varanasi since the end of 1967 would be unthinkable without the association with Bahinji.

I can never forget our first meeting. It was at the Post Office of B.H.U., at the beginning of 1968. My friend Caterina Conio, who was then doing Ph.D. in Indian Philosophy with Prof. T.R.V. Murthy, introduced me to Dr. Prem Lata Sharma and her sister Urmila. Bahinji impressed me immediately by her warmth. My Hindi was rather rudimentary at that time, but my few words in Hindi won her appreciation. The contact did not continue immediately, but after a few months I asked Bahinji to teach me the recitation of Sanskrit Stotras. I became her student in the Diploma course in Music Appreciation which I had the pleasure of attending for three years, and most of the time I was the only student. It gave me the opportunity to ask for any topic of my interest—ranging from the study of Rāgas and Tālas to Nāṭyaśāstra and Abhinavagupta's aesthetics, from Sanskrit metres to Stotra recitation. Not only that I enjoyed her teaching tremendously, but Bahinji looked after me with motherly care. Whenever the class was held at her house, and I reached on my cycle often in the extreme heat, she would welcome me with a big glass of buttermilk from her own cows, and with some homemade sweets. Even if, thanks to the inefficiency of the B.H.U. offices, I never obtained any certificate, this course was a unique experience of learning and getting into Indian culture from the musical and aesthetic angle. That time we both did not know that later on we would collaborate, no longer in a *guru-śiṣya* relationship, but in an interdisciplinary venture.

It was clear that we had many common interests, or better loves, because she was totally dedicated to the values she was teaching: Sanskrit, music, aesthetics, all embedded in the philosophy and spirituality of an Abhinavagupta.

As I went deeper into the study of Kashmir Śaivism on the one hand and Śilpa Śāstra on the other, the topics of common interest went on increasing. Bahinji was ever ready to discuss any question or issue arising from the texts I was studying, and these discussions were always enriching. She did not treat me as her student but as an equal and she never showed any signs of superiority, in spite of her vast knowledge. Meeting her was always a pleasure and a real exchange, accompanied by the warmth and kindness of her hospitality. Not only that, there was no academic or musical event which she organised where she would not invite me and involve me. There were those interesting seminars at the Department of Musicology, on Abhinavagupta, on Sāmaveda Music, and many other memorable events.

---

* **Dr. Bettina Baumer,** Director of Alice Boner Foundation Varanasi, a profound scholar and Sādhika. —Ed.

On the personal level she would share with me her anxieties, such as the concern for Mataji whom she served lovingly till her end, apart from the academic joys and sorrows. She also shared my life to a great extent. I cannot forget that she took part in the *śrāddha* for late Alice Boner, and in the immersion of her ashes in the Ganga. Similarly, when her mother passed away, I took part in the last rites.

When she left B.H.U. and was appointed Vice-Chancellor at Khairagarh University, she even invited me there for a seminar on the culture of Chattisgarh, which exposed me to an unknown cultural area. But fortunately for the culture of Varanasi Bahinji came back and settled here. In fact, her presence in Varanasi made a lot of difference to the cultural and academic atmosphere of this multifaceted city. Bahinji was an institution in herself, and though she served Universities, the Sangeet Natak Akademi and Indira Gandhi National Centre for the Arts, all her work was imprinted by her own stamp of originality.

How to describe this stamp? Bahinji was traditional, her approach was based on the Sanskrit tradition, and yet modern because she was exposed to critical Western scholarship, and teaching in the U.S.A. gave her a wider perspective. But her interest was much larger, and she not only knew and appreciated the variety of so-called folk or deśī traditions in music, dance, drama, from Kerala to Manipur, from Orissa to Gujarat, she also discovered hidden talents and survivers of age-old artistic traditions whom she encouraged and supported. Her gift of discovering authentic art-forms in the remotest corners of India, and of establishing a relationship with their representatives, was astonishing. I would have never learnt about these art-forms were it not thanks to her. Her enthusiasm was infectious. In a way she was a core around which all these cultural forms could crystallize. Dancers, musicians and Pandits from all corners of India would equally feel at home with her.

Bahinji was deeply religious without being bigoted or fanatic. She was rooted in her own tradition and yet open to others.

Our collaboration became most intense when we both got involved in the Indira Gandhi National Centre for the Arts since the very beginning in 1986. The initiator and imaginative leader of this institution, Dr. Kapila Vatsyayan, inspired both of us to work for this institution. The interdisciplinary exchanges and discussion which we had earlier, between music and temple architecture, drama, dance and sculpture, philosophy and aesthetics, Sanskrit texts and oral traditions were to bear fruit in this new venture. The broad and deep view of Indian culture which was Bahinji's was further enlarged by the essentially interdisciplinary approach of the programmes of IGNCA. For hours together we would work on lists of fundamental texts in the Indian arts which become the series *Kalāmūlaśāstra* (the name was my invention). The beginning of the project of a Lexicon of Fundamental Concepts of the Indian Arts (named by me *Kalātattvakośa*) was also made possible by long discussions on the terms to be selected, the disciplines to be consulted and the texts to be scanned. I cannot forget that after a meeting in Delhi we were travel back to Varanasi together. Our plane was 5 hours late. But Bahinji never wasted time, one of her great qualities. We sat in the Delhi Airport with our lists and worked out almost the entire scheme, which was later approved with minor changes. It was a very fruitful waiting time, thanks to Indian Airlines!

The collaboration on these two projects would last till the end of her life, with her hard work on these texts and articles, and her readiness to fill all the gaps by her vast knowledge of Saṅgītaśāstra and Nāṭyaśāstra.

The international and interdisciplinary seminars of IGNCA provided us with yet another opportunity to share our ideas and to collaborate. The great topics chosen by Kapilā Vātsyayan - *Space, Time, the Elements, Akṣara* were as many opportunities to reflect on the aspects of Indian culture and art in a vast

prespective. Mostly we would discover that our contributions were complementary, and leading to a deeper understanding of aesthetics. This was not only theoretical. At the opening ceremony of the exhibition on calligraphy-*Akṣara*-five languages and traditions were represented by the respective recitations. Bahinji composed and sang verses from the Saṅgītaratnākara and I sang Gregorian chant in Latin.

When Bahinji organised a Seminar in B.H.U. to commemorate Thakur Jaideva Singh. my paper on aesthetics of mysticism or mysticism of aesthetics, based on Kashmir Śaivism, expressed what had been our share concern, as she felt it.

Later, in her function as Vice- Chairperson of the Sangeet Natak Akademi, she organised two seminars on central concepts of Indian aesthetics: *Rasa* and *dhvani.* Unfortunately she left us before the second seminar could take place, and it was held in her memory.

Those years of our collaboration were most fruitful. When I worked as coordinator of the Varanasi Branch of IGNCA I requested Bahinji to take classes in Nāṭyaśāstra with Abhinavabhāratī, for the benefit of the research staff, and also for my own benefit. I thoroughly enjoyed those classes and the great insights that Abhinavagupta provides us in the metaphysical as well as technical bases of all aspects of Indian art, starting from nāṭya.

Our approach to the study of the fundamentals of Indian art was so close that we did not waste time on discussing what was obvious for us. We could straightaway go to the deeper and subtler aspects and to the correspondences between the apparently distant arts like music and temple architecture.

Bahinji always seemed to be dedicated to a cause, and therefore she would not waste time on side issues, on gossip or academic rivalries, which is so common in academic circles. Her concern was the recognition, survival and study of the authentic cultural traditions of India, which she pursued both as a scholar, administrator and actively through personal contacts. In fact, this conern deserves all our energy and dedication, if we want to be true to her vocation.

Unending memories come to mind thinking of Bahinji. Before coming to the insights I have gained from my association with her for 30 years . I have to mention the symbolism of her end. In October 1998 I had gone on a pilgrimage to Kailash Manasarovar and after my return I told her something of my experience. A few days before she passed away I talked to her on phone and asked about her health. To this she replied in her almost child-like voice: "Bettinaji, *main bilkul ṭhīk hum."* Unfortunately I believed her and did not go to see her just before it happened. All the more shocking was the news, early morning of December 5, 1998 that she had suffered another heart-attack and passed away peacefully to "the further shore of darkness" (*tamasah pāram...*). I rushed to Harishchandra Ghat where the procession with her body just arrived, followed by her friends, admirers, students, artists and scholars from Varanasi. I had brought a bottle of holy water from Manasarovar which I poured over her feet when I offered my last *praṇāma* to her. The last rites were too moving to be recounted.

X X X

To summarize the most important insights I have learnt from Bahinji:

1. I shared her concern that Indian art and culture has to be interpreted in its own terms and categories, and not from an external perspective. For this the critical edition, translation and study of the fundamental Śāstras is necessary, which she did in the field of Saṅgītaśāstra and I in the field of Śilpa/Vāstuśāstra.

It was through her that I came to understand the crucial importance of the Naṭyaśāstra and its

commentary by Abhinavagupta. Her help was invaluable as far as the interpretation of this difficult text was concerned. It is a matter of regret that her translation of the Saṅgīta chapters is so far lying unpublished because it would it would facilitate a lot of research on Indian music.

2. The combination of text and practice, of *Śāstra* and *Prayoga,* was another gift of Bahinji's. She had a unique understanding of the interconnection of the two, of the light they threw on each other, and she put it in practice in various ways by composing songs, by her active contribution to the performance of Sanskrit dramas, based on the Nāṭyaśāstra, and other activities.

3. Bahinji's realisation that the so-called classical and folk or regional traditions *mārga* and *deśī,* have to be seen together and that they are qually interrelated also helped me to a more complete understanding and appreciation of Indian culture. The various regional traditions which I got to know through her have enriched my understanding to a great degree.

4. Another complementarity which we shared was that of philosophy and art. Since she was a student of Pandit Gopinath Kaviraj, the combination of the philosophy of Tantra and the various art-forms, especially music was natural for her. In this area too we had a lot of exchange and I learnt from her especially the application of the philosophical concepts in the field of musicology.

5. As mentioned earlier, the interdisciplinary discoveries were essential in our collaboration. Thus we could establish correspondences and parallels in the fields of music and śilpa, among others. She encouraged me and confirmed my interpretation when I was working on the enigmatic text *Vāstusútra Upaniṣad.*

6. Even though Bahinji was a critical scholar well aware of western methods of textual criticism, her approach was religious and she could contextualize Indian art correctly in its ritual and spiritual setting. This was and still is equally my concern. After all, if all the Śāstras of the arts proclaim their purpose to be *mokṣa,* one cannot ignore such a fundamental approach.

7. Finally I learnt from Bahinji and shared with her the insight that any sacred text lives in its recitation, which means sound and music-from the Vedas to the Stotras and Bhajanas. My love for musical recitations of Sanskrit Stotras was greatly supported by her teaching and compositions. The practice of Stotra recitation, with the help of Smt. Manju Sundaram, whose compositions are a full expression of the meaning of the text, is still one of the most safisfying practical applications which owe to Bahinji's inspiration.

Bahinji work has to be carried on, but above all her spirit of dedication to the rich and multifaceted Indian culture and art should inspire her students and younger generation. I can only express my gratitude to her by passing on what I have learnt from her.



.3.

Dhrupad Song-texts as a Source for the History of Indian Music

—*F. 'Nalini' DELVOYE

I first came in contact with Professor Prem Lata Sharma, usually referred to as 'Bahenji', in the early eighties when, as a post-doctoral scholar, I was writing a thesis on the Dhrupad songs attributes to the Tānsen for a D.Litt.[1] From 1984, I stayed in Banaras for three and a half years, attached to the Musicology Department of Banaras Hindu University where I was working with Bahenji. In tribute to her refreshing inspiration and to her innovative approach to the study of lyrics, I would like to recall some of the work I did with her and the issues we opened up as committed scholars of the Dhrupad genre of music.[2]

Later, my research has focused on the song-texts composed and used in the Dhrupad genre of Hindustani music and the context of its emergence, as well as its patronage in the Sultanate of Gujarat and at the Mughal Court.[3] In the field of vocal music - and in Dhrupad in particular - text and context have an intricate and intriguing relationship that reveals more about cultural values and artistic taste than what they are usually understood to convey. Bahenji's wide interest in lyrics from a literary point of view opened up a whole field for further study and I would like to illustrate this with some examples that we worked on together.

Dhrupad song-texts and their study by historians of literature and musicologists

Song-texts in regional languages have for long been neglected by historians of literature as well as musicologists. Pioneering work has been done in this field related to Dhrupad by Suniti Kumar Chatterji (from 1932 onwards), Sarayu Prasad Agarval (1950), Narmadeshwar Caturvedi (1955), Prabhu Dayal Mital (1960) and later, Hariharnivas Dvivedi (1986). Monographs on Dhrupad by Kailash Chandra Brihaspati (1976), Indurama Srivastava (1980) and on anthologies of lyrics such as *Saṅgīt Rāg Kalpadrum*

---

* I am most grateful to Dr. Promodini Varma for revising my English.

1. I acknowledge with gratitude the financial assistance of the University Grants Commission (UGC) and of the Ministry of foregin Affairs, Government of France (1984-1987). See Francoise Delvoye, *Tānsen et la tradition des chants dhrupad en langue braj, du XVI ie siècle à nos jours,* D. Litt. Thesis, Paris, Sorbonne Nouvelle Univ., 1990 (Unpublished). See the summary in English, "Tānsen and the Tradition of Dhrupad Songs in the Braj Language, from the 16th Century to the Present Day", *Dhrupad Annual 1993,* vol. VIII, pp. 37-44.
2. See Francoise 'Nalini' Delvoye's articles on Dhrupad song-texts in *Dhupad Annual 1987-1995* and also "Les chants *dhrupad* en langue braj des poetes-musicians de l'Inde Moghole", in F. Mallison, ed., *Littèratures mèdièvales de l'Inde du nord. Contributions de Charlotte Vaudeville et de ses èlèves,* Paris: Ecole francaise d'Extrême-Orient, 1991, pp. 139-85. See also Delvoye, "The Thematic Range of *Dhrupad* Songs Attributed to Tānsen, Foremost Court-Musician of the mughal Emperor Akbar", in Alan W. Entwistle and Francoise Mallison, eds., *Studies in South Asian Devotional Literature: Research Papers 1988-1991,* New Delhi: Manohar and Paris: Ecole Francaise d'Extrême-Orient, 1994, pp. 406-29.
3. On music patronage in Gujarat, see Delvoye, F.'N'. "Indo-Persian Accounts on Music Patronage in the Sultanate of Gujarat", in Muzaffar Alam, F.'N'. Delvoye and Marc Gaborieau, eds,, *The Making of Indo- Persian Culture: Indian and French Studies,* New Delhi: Manohar, 2000, pp. 253-80.

by Chittaranjan Jyotishi (1984), where Indian scholars have emphasized the literary quality of the lyrics, especially in the Dhrupad genre of Hindustani music.[4] In an inspiring review-article published in the first issue of the *Dhrupad Annual* edited by Bahenji, Subhadra Chaudhuri has discussed the studies on Dhrupad song-texts published by scholars of literature, and later by musicologists.[5] The young artist and ethnomusicologist Selina Thielemann (1997), the last Ph. D. student to work under Bahenji, who is a prolific writer on the Darbhanga and Vaishnava traditions of Dhrupad, has edited many song-texts collected from musicians in the Devanagari script, as well as made transliterations and English translations.[6]

Continuing the early trend of literary studies of lyrics, I have attempted to highlight some neglected aspects of the compositions found in manuscript anthologies from the seventeenth century onwards. I have tried to emphasize those specific features which could contribute to our understanding of their original context and their relevance today. The corpus of song-texts presumed to have been written by the poet-composer Tānsen which I collected was also used by Bahenji to study some fascinating textual and musicological aspects of Dhrupad songs.[7] Her edition of *Sahasras* (1972), the seventeenth century collection of 1004 Dhrupad songs attributed to Nāyak Bakhshu, from two manuscripts at the India Office Library, London, written in the Persian script, is a major landmark in the study of Dhrupad song-texts.[8]

4. In the text of the paper, names of authors are given as per the usual English transliteration; in footnotes they are given according to the language of the publication. See Suniti Kumar Chatterji, "Tānsen As A Poet (An Account of the Life and Poetry of Tānsen, Minstrel at the Court of Akbar, with Ten of his Poems printed in Roman script with English translations)", *Acharya Sri P.C Ray Commemoration Volume,* Calcutta, 1932, pp. 45-65; rpt. as "Tānsen as a Poet" *The National Flag,* Calcutta; Mitra and Ghosh Publishers, 1944, pp. 77-100; idem, "Kavivar Tānsen", *Ṛtambharā,* Allahabad, rpt., *Sammelan Patrikā,* Vol. XXXIII, No. 89, jyeṣṭha-āsādh, *saṁvat* 2003 /1946. pp. 123-48; idem, "Kavi Tānsen", Bhāratīya Saṁskṛti, Calcutta, 2nd edn, Bengali era 1370/ 1964, pp. 143-62; Sarayu prasad Agarval, *Akbarī darbār ke hindī kavi,* Lucknow: lakhnaū Viśvavidyālaya, saṁvat 2007 / 1950 (Weth Bholārām Seksariyā Smārak Graṁthamālā, No.2); Narmadeshwar Caturvedi, *Saṁgītajña kaviyoṁ kī hindī racnāeṁ,* Allahabad: Sāhitya Bhavan Limited, 1955; idem, *Kavi Tānsen aur unkā kāvya,* Allahabad, Sāhitya Bhavan, 1966; Prabhu Dayāl Mītal, *Saṁgīt-Samrāṭ Tānsen, jīvanī aur rachāeṁ,* Mathura: Sāhitya Bhavan, 1960; Hariharnivās Dvivedī, *Tānsen, jīvanī, vyaktitva tathā kṛtitva,* Gwalior: Vidyā Mandir Prakāśan, 1986; Kailaś Candra Bṛhaspati, *Dhruvapada aur uskā vikās,* Patna: Bihār Raṣṭrabhāṣā Pariṣad, 1976; idem, "Tānsen", *Composers,* New-Delhi: Publications Division, 1979, pp. 75-88. (Cultural Leaders of India Series, ed. Raghavan V); Indurama Srivastava, *Dhrupada; A Study of its Origin, Historical Development, Stuctrure and Present State,* Delhi: Motilal Banarsidass, 1980; Chittarañjhan Jotiṣi, *Rāg-kalpa-drum kā viśleṣaṇātmak adhyayan,* Varanasi: Bimān Group of Publications, 1984.
5. Cf. Subhadrā Chaudhurī, "Dhrupad ke 'pad'-pakṣa kā adyatan adhyayan: cune hue kāryoṁ kī samīkṣā", *Dhrupad Annual 1996* (Varanasi), vol. I, pp. 20-33; summary in English by the editor, "Contemporary Studies in the Textual Aspect of Dhrupad Songs: A Summary of Selected Works", pp. 34-5.
6. Selina Thielemann, *The Darbhangā Tradition: Dhrupada in the School of Pandit Vidur Mallik,* Varanasi: Indica Books 1997; idem, *Rāsalīnā: A musical Study of Religious Drama in Vraja,* New Delhi: APH, 1998.
7. See for instance P.L. Sharma, "The Indian Musicological Perpective on Text and Music", in Bonnie C. Wade, ed., *Text, Tone, and Tune: Parameters of Music in Multicultural Perspective,* New Delhi: American Institute of Indian Studies, (Archives and Research Center of Ethnomusicology) and Oxford & IBH Publishing Co.Pvt. Ltd, 1993, pp. 177-83; idem "Dhrupad ke padoṁ meṁ 'chāp' aur us-se udbhūt samasyāeṁ", *Dhrupad Annual 1987,* vol. II, pp.84-98 and the summary in English, "signature in Dhrupad Song-Texts and the Problems Arising Therfrom", pp. 99-101; idem, "Dhrupad ke padoṁ meṁ saṁgīt kī pāribhāṣik śabdāvalī, *Dhrupad Annual 1998,* vol. II, pp. 15-47 and the summary in English, "Musical Terms in Dhrupad texts", pp. 48-51; idem, "Dhrupad ke tāloṁ meṁ cār-tāl yā cautāl kā itihās", ibid, pp. 83-96 and the summary in English, "The History of Chāratāl or Chautāl in Dhrupad Texts", p. 97. See a complete bibliography of P.L. Sharma's work related to Dhrupad in the special issue of *Dhrupad Annual* dedicated to her, forthcoming.
8. P.L. Śarmā, *Sahasarasa, Nāual Bakhśū ke dhrupadoṁ kā saṅgrah,* New Delhi: Saṁgīt Nāṭak Akāḍemī 1972 and Sharma, "Sahasarasa (A Compilation of Dhrupad Texts Ascribed to Bakshoo), Synopsis of a Treatise", *Indian Music journal,* 1972-73-74, vols. VIII-IX-X, Nos. 15-20, pp. 41-8; see also Delvoye, "The Verbal Content of Dhrupad songs from the Earliest Collections: I. The *Hazār Dhurpad* or *Sahasras,* a collection of 1004 *dhrupads* attributed to Nāyak Bakhsū", *Dhrupad Annual 1990,* vol. V, pp. 93-109.

Her introduction in Hindi was one of her first contributions on the subject and raised interesting issues. Her focus on the subject and a wider corpus of lyrics becoming available from contemporary or later manuscript sources, in turn, led to deepening our understanding. Her translation into Hindi of the anonymous preface in Persian introducing the *Sahasras* also proved to be very useful for scholars not familiar with that language.[9]

Together with collecting the song-texts, I studied the conditions of their creation by poet-composer-interpreters (*vāggeyakāra*) who had to cater to various from diverse cultural backgrounds with a variety of tastes, skills and interests. I also used some Indo-Persian chronicles and other musicological and literary works in Persian, as a rich and not so well exploited source of documentation that provided historical, cultural and technical information on little known aspects of Dhrupad. My work also benefited from the late Shahab Sarmadee's lifelong interest in collecting sources related to Indian music in Arabic, Persian, Sanskrit and the Indian languages. The first volume of his bibliographical survey, appropriately named *Nūr Ratnākar,* or "The Light of the Ocean of Gems", is in the process of being published by the Sangeet Research Academy.[10] Banenji has been instrumental in editing and bringing out the volume.

In the beginning, my commuting between Banaras and Aligarh (and indeed, between Bahenji and Shahab Sarmadee) was resented by both, but eventually my attempts at learning from both resulted in raising further issues for research. This lasted for more than two decades and I benefited from their common and complementary knowledge and their generosity in sharing it with me. Ultimately both Shahab Sarmadee and Bahenji came to appreciate each other's contribution to a cause of mutual interest for which they had worked with enthusiasm and dedication. I learned from them that invaluable combination which still sustains my own *kautūhal* and intellectual pursuit.

The study of lyrics in *Dhrupad Annual* and other publications

It is rather ironical to note that singers, in whichever genre of Indian vocal music they have been trained and perform, are very particular about their inherited repertoire, but at the same time how little they know about the lyrics as compared to the importance they give to their musical rendition. The deeper meaning of song-texts often eludes the artists who sing them, a fact which is clearly attested to when they realised this if I asked to comment upon it. I noticed the difficulty many singers faced while explaining song-texts to their students, for they could not go beyond a superficial paraphrase. The impoverishment of lyrics in performance is also due to a less cultured audience, that does not care much for the poetical aspect of music, though lyric and music were, at one time, conceived as one aesthetic unit by traditional poet-composer-interpreters (*vāggeyakāra*), and not as "poems set to music", which has become a common pratice today, when even Kabir's verses are being sung in Dhrupad!

By publishing thought provoking articles and enlightening editorial notes in most of the *Dhrupad Annul,* which she edited for ten years and through articles in other publications, Bahenji gave a new

9. See the preface in Persian edited by Sharīf Ḥusain Qāsemī 'Muqaddima-i *Sahasras*', *Qand-i Fārsī* (New Delhi: Cultural Counsellor, Embassy of the I.R. of Iran), No. 8, AH 1373 / Sept.-Dec. 1994, pp. 171-92. See also the Devanāgarī transliteration and Hindi translation of the same by P.L. Śarmā, *Sahasarasa*, Part II, pp. 3-13. Richard Widdess has quoted and analysed some passages translated into English in "The Emergence of Dhrupad", in J. Bor, F.'N' Delvoye, J. Harevy and E. te Nijenhuis, eds., *Essays on the history of North Indian music: Thirteenth to Twentith Centuries,* New Delhi: Manohar, forthcoming.

10. See Shahab Sarmadee, *Nūr Ratnākar: A Bio-Bibliographical Survey; A bio-bibliographical survey of facts, musical together with socio-cultural, pertaining to medieval India, as ascertained from so far available important writings on the subject of history, literature and art, especially those exclusively dealing with Gita, Sangita and Theatrics,* Calcutta: Sangeet Research Academy, vol. I, forthcoming.

impetus to research on collections of lyrics and Dhrupad song-texts which hopefully will be continued by well-trained students.[11]

Research-work on Dhrupad in *Dhrupad Annual*

Over the years, besides Bahenji's own contribution to important issues in the study of lyrics, such as her research on *dhruva, chanda* and *tāla*, in which she had emphasised the musicological approach, as well as her articles on textual aspects of Dhrupad, such as the problem of authorship and the use of musical vocabulary in song-texts, valuable work has been published on Dhrupad in its complementary aspects of musical genre and poetical text by her students as well as other scholars.

The combined research of Ritwik Sanyal and Richard Widdess is a good example of a fruitful collaboration between scholars with complementary skills and approaches. The *Dhrupad Annual* provided a forum to much of the ungoing work on Dhrupad. Through its regular "Bibliography on Dhrupad", it also provided ready references to publications in English and Indian languages, that could cater to the interest of senior scholars as well as new-comers in this field of research. Unfortunately, in spite of obstinate attempts on my part, the distribution of the journal could not be taken on by any well-known indological publisher. This, in turn, made some among the regular contributors hesitant to contribute new research to a journal which had such a limited readership. Though many copies of the journal are lying in the Ramnagar fort across the Ganges, they are inaccessible to buyers, unless a trip to the palace is undertaken on an auspicious day and hour.

That is one of the main reason for Bahenji's sad but wise decision to interrupt the publication after the tenth issue, in spite of her desire to continue with Dhrupad studies. We had plans to bring out three bilingual volumes dealing with musicological studies, histrorical and literary aspects, and contributions on various styles by musicians, that would have included extant articles from the *Dhrupad Annual* as well as fresh contributions on aspects which had been neglected so far. This did not happen and I personally feel sad about the unfortunate disruption. I appreciate the efforts of Bahenji's cousin sister, Dr. Urmila Sharma to bring out a special issue of Bahenji's papers and editorial notes published in the *Dhrupad Annual* along with bibliographical references to her work in this field published elsewhere.

Dhrupad songs attributed to Tānsen: Some examples

As examples of the issues which we discussed over the years, I present some Dhrupad songs attributed to Tānsen that Bahenji admired for their beauty or for the rarity of their themes, and also for intriguing variant readings found in one or more recensions whenever available, while we deciphered them and discussed their interest and value from the literary and cultural points of view. Apart from their poetic value, some of them present editorial conundrums which are worth presenting here.[12]

1

nain maṁgoṁ iṁdra peṁ jaiseṁ hari darisanu dekhoṁ aghāy aghāy

This song of Puranic inspiration shows how Dhrupad songs may also belong to the literary tradition of Sanskrit poetry. Bahenji found it beautiful and pointed out that the reference to the Lord with thousand arms (i.e. either Shiva or Vishnu) was rare. To my knowledge, his song is found only in the late seventeenth century *Anūpa Saṁgīta Ratnākara of Bhāvabhaṭṭa,* in Rāg Darbārī Kānarā, one of

11. See note 7.
12. Most of the songs I have selected in my D.Litt. thesis were found in multiple recensions raising interesting editorial issues; here my criteria of selection is guided by Bahenji;s interest and liking.

the most important modes sung at the court of Akbar, the invention of which is ascribed to Tānsen in musician's tradition:[13]

I will ask for eyes from Indra, so that I can have Hari's vision (*darisanu for darśan*) to my utter satiation.

I will ask for a tongue from the thousand-hooded king of snakes, so that I can recite the good qualities of Govinda.

I will ask for a head from the Lord of Lanka [i.e. Ravana], so that I can bow and pay homage to Bhagavān.

I will ask for arms from the thousand-armed One [Shiva or Vishnu], so that I can hold the feet of the Lord of Tānsen.

2

hoṁ gunahagāru tero, tūṁ rahīma karīma kahiyatu hai, kitoṁ kadhoṁ gunaha merau

This song is found only in the *Anūpa Saṁgīta Ratnākara* of Bhāvabhaṭṭa, also in Rāg Darbārī kānarā. The poet-composer addresses God and enumerates his attributes in highly sanskritized as well as Indo-Persian terms. This song is a representative example of the vocabulary used in Braj lyrics patronized by Mughal emperors.[14]

I have offended you, you are known as the Merciful One, the Compassionate One, and I don't know how much offence I have committed?

You are a Veiler over sin, the Omnipotent, the Provider, the Creator and my body and mind are tied up in unique bondage.[15]

Your mercy is like a boundless ocean, redeem me and wipe out my sins; so many of which have made their abode in me.

The Lord of Tānsen is above all masters of the upper, medium and lowest types. I am a servant at your door wherever you are.[16]

3

ghar ghar gheru mathanu suniyatu he rī māī, kaun maṁtru paḍhi ḍāyauṁ kanhāī

Two versions of this song have been found: one in the *Anūpa Saṁgīta Ratnākara* of Bhāvabhaṭṭa, in Rāg Kalyān and the other in a manuscript dated *saṁgīta* 1805 (AD 1748), belonging to Agar Cand Nāhṭā's collection, in Rāg Īmankalyān. Here Tānsen is asking the Brajvāsī, the inhabitants of the Braj

13. On the works of Bhāvabhaṭṭa, see Ādināth Upādhyāya, 'Bhāvabhaṭṭa ke granth aur un-meṁ dhruvapada' (in Hindi), *Dhrupad Annual 1986;* vol. I, pp. 69-92 and the summary in English, 'The Works of Bhāvabhaṭṭa and the Treatment of Dhrupad Therein', pp. 93-4; the song-text is found in Bhāvabhaṭṭa, *Anūpa Saṁgīta Ratnākara, Rāgādhyāya,* Anup Sanskrit Library, Bikaner, MS. No. 3356, fol. 58a, lines 5-7.

14. Bhāvabhaṭṭa, *Anūpa Saṁgīta Ratnākara, Rāgādhyāya,* MS. 3356, fol. 61a, lines 8 to end - fol. 61b, line 1. Commas added to the transliterated text were suggested by Bahenji to facilitate the understanding.

15. *i.e.* "I am not free". Bahenji noted the reference to the philosophical parable of the anchor: when it has not been removed, in spite of rowing all night, the boat remains at the same place.

16. The word *nagar* is difficult to consture in this line, lit. "I am a servant at your door", *i.e.* "I am your follower"; "in every city" is not a very good reading.

country, about the magical effects of the presence of Krishna on them.[17]

Oh my friend, in every house, the churning of restless minds can be heard. What a magic spell Krishna has cast on everyone!

Whoever sees his face, withers like a flower! Are they enchanted by his *tilak* made of musk, or by the curves of his eyebrows?

Or is it the line of his eyes or his gentle enchanting smile? Or is it the beauty of his body that makes them forget their body and mind?

Who can tell this untellable story? On my life, this is due to the wonder of the *tāns* of the Lord of Tānsen!

4

dhani dhani kāmarī rī mohan śyām kī

The next song, playful and erotic in tone, is found only in the *Anūpa Saṁgīta Ratnākara* of Bhāvabhaṭṭa, in Rāg Bailāvalī. It is interesting for its rare reference to Krishna's blanket, a late motif not found in the *Bhāgavata Purāṇa* and which is not so common in Braj Poetry either. A female companion (*sakhī*) is addressing her friend:[18]

Blessed, blessed the blanket of the Charming Dark Lord, Oh my friend!

The one which he wears in the forest, the one from which he makes his couch, the same one that shelters him from the raindrops and which provides him shade in the sun.

Blessed be the blanket that covers him well and protects him from the cold! Or again, which spread on the floor, ravishes the modesty of myriads of women!

It is that [blanket] which has attacked social divisions and conventions (*jāti-pāṁti-paripāṭī*).

The humble Tānsen too, weary of his burdens, would like its comfort.

5

anamate nainā kyauṁ kari deṣauṁ tere, jāy kahiyo pathik gobiṁd soṁ

Bahenji found this song very beautiful. It is found only in the *Anūpa Saṁgīta Ratnākara* of Bhāvabhaṭṭa, in Rāg Kalyān. Here Tānsen, as a *gopī*, is sending a message to Krishna-Gobind, through a traveller. Bahenji and I also noticed the inversion of the *caraṇa* in the first line of *sthāyī,* with the rhyme being shifted to the middle of the verse. Besides this song, there are other examples too that clearly indicate that the songs quoted by Bhāvabhaṭṭa were collected from the oral tradition by his father, Janardhanabhaṭṭa, who was a musician at the Mughal court. It shows that in performance, the stress on thef content of one of the *caraṇa* could be put by repetition, which is a common device in Indian music. It also shows that Bhāvabhaṭṭa copied the lyric as it was sung, without restoring the original text.[19]

---

17. Bhāvabhaṭṭa, *Anūpa Saṁgīta Ratnākark Rāgādhyāya,* MS. 3356, fol. 94b, lines 8 to end - fol. 95a, lines 1-3; cf. Agar Cand Nāhṭā who published it in "Saṁgīt-Samrāṭ Tānsen ke kuch aprakāśit dhrupad", *Saṁgīt,* "Dhrupad-Dhamār Aṅk", (Hathras), Jan.-Feb. 1964, pp. 192-4, p. 193, No. 221 in the MS.; See also Delvoye, "The Verbal Content of Dhrupad Songs from the Earliest Collections: III. Dhrupad Songs attributed to Tānsen in Courtmusicians' Repertoires", *Dhrupad Annual 1994, vol. IX, pp. 1-12, English translations, p. 4; text, no. 2, p. 16 and idem,* "The Thematic Range of Dhrupad *Songs*...", p. 418.
18. Bhāvabhaṭṭa, *Anūpa Saṁgīta Ratnākara Rāgādhyāya,* ASL, Sanskrit MS. No. 3356, fol. 129a, lines 6-9; See also Delvoye, "The Verbal Content of Dhrupad Songs...", *Dhrupad Annual 1994,* English translation, p. 4; text, No. 3, p. 16 and idem, "The Thematic Range of *Dhrupad* Songs....", p. 419.
19. Bhāvabhaṭṭa, *Amūpa Saṁgīta Ratnākara Ratnādhyāya,* ASL, Sanskrit MS. No. 3356, fol. 97a, lines 2-5.

Oh traveller, go and tell Govinda: "How can I look at your intoxicated[20] eyes?

The glance of your eyes even entices the lotus petal, since it has become manifested. It has even stolen my sleep, I don't understand anything: how can you be called a follower of the Creator?

Ever since I have glanced at your eyes, I like nothing, neither inside the house, nor in the courtyard, Oh Śyām Sundar, you know it for sure!

Oh Lord of Tānsen, you deceived me, you, the Protector of the poor, how can my eyes survive when there is such delay and anxiety about the date you told me of your return?"

6

kāhū tereṁ hauṁ binu deṣeṁgai yāṁ kājar piyarīṁ dhauī dhūarīṁ dūbarī

Amoung the hundreds of Dhrupad songs attributed to Tānsen, I found three songs about cows. Two are from the *Anūpa Saṁgīta Ratnākara* of Bhāvabhaṭṭa and one is in the two collections of songs from nineteenth century Bengal. All mention cows of different colours. I selected a song found in the *Anūpa Saṁgīta Ratnākara*, with another recension in the *Rānoyr Rāg Mālā*, late nineteenth century manuscript repertoire of musicians from the court of Rampur, now preserved at the Uttar Pradesh Sangeet Natak Academy, Lucknow, thanks to the efforts of Bahenji in making this institution purchase this valuable manuscript. It is in Rāg Jait in both manuscripts. In this song, a *gopī* addresses Krishna after he has left Braj for mathura.[21]

Without you, who will look after the black one, the yellow one, the white one, and the grey one, who have become emaciated.

They don't recognize any other cowherd; they simply hold the straw in their teeth [as a sign of surrender][22], they don't graze. That sinful hunchbacked woman has committed such a great sin. Some have already relinquished their life, others [people] are saying that they will do so too. So far, there was some hope.[23]

Oh Lord of Tānsen, come back and settle here quickly, till you do so, how can we, as women, comfort the cows?[24]

7

bhaleī mere āye ho piy, ṭhīk dupahar kī biriyān

The following song is an interesting example from the oral Vaishnava tradition, in two different recensions, including one which was sung by Champaklāl Chabīldās Nāyak from Gujarat, in Rāg Gauḍa-Sāraṅg and Tāl Cautāl, and by L.P. Caturvedī, recorded in Mathura, in Rāg Nūr-Sāraṅg and Tāl Āditāl, madhyalaya. Here the time at which the Rāg is scheduled to be performed matches the poetic content.

20. Actually the text gives *anamate*, "depressed", "dejected" and not *unmate* "intoxicated" which makes more sense in this context.
21. Bhāvabhaṭṭa, *Anūpa Saṁgīta Ratnākara, Rāgādhyāya,* ALS, Sanskrit MS. No. 3356, fol. 138a, lines 6-9 and *Rāmpur Rāg Mālā* MS, Sangeet Natak Academy, Lucknow, fol. 159a, edited by K.C. Bṛhaspati in *Dhrupad aur uskā vikās,* No. 47, p. 374, in Rāg Jait and Tāl Capak.
22. About a similar expression see P.K. Gode, "Antiquity of the Custom of holding grass in the mouth as a sign of surrender in the light of a reference to it in the Mahābhārata", rpt. in P.K. Gode, *Studies in Indian Literary History,* Vol. VI, pt. II, Poona; Bhandarkar Oriental Research Institute, 1969, pp. 79-81.
23. This is Bahenji's conjecture for *ūvarī;* cf. also *ubarnā,* 1. "to be saved, delivered", 2. "to be left over; to exceed; to be kept in reserve, to be put by", according to R.S. McGregor, *The Oxford Hindi-English Dictionary,* Delhi: Oxford Univ. Prss, 1993, p. 130.
24. The last word of the song is also problematic, *dūmarī* or *hūmarī* preceded by *rī* had to be dropped.

Bahenji remembered listening to it sung by Vacchu Bhāī in Moṭha Mandir in Bombay. Again the inversion of the two parts of the first line is worth noticing. In this song by a woman, Krishna is not explicitly mentioned.[25]

It is good you have come to me, my beloved, even if exactly at noon.

Today is an auspicious day, auspicious is the location of the stars, auspicious the moment, auspi cious the instant and hours are auspicious.

I am so happy, my sorrows of separation have all vanished. I will rub and smear sandal on your body and will bow to you.

The Lord of Tānsen has been very kind to me and he has made lush once again the dry branches.

8

tumhārai desi masi kāgad kī suṭī

This song is found in a manuscript in the *Rājasthānī Catalogue* of the Anup Sanskrit Library in Bikaner where it is placed at the beginning of a *Dholāmārū Dūhā*, in Rāg Dhanyāsī. It describes the pathetic state of a young woman of Braj after Krishna left for Mathura and sarcastically refers to Kubjā, the hunchbacked woman who sells perfumes there and who had sent a message to Krishna, called Hari in this song. Interestingbly it is also found in a song attributed to Sūrdās, in Rāg Dhanāśrī. In that recension, Rādhā is mentioned instead of Kubjā, as the one who sent a message to Krishna, called Śyām in the text. The language has some oriental features and is closer to Kharī Bolī. There are also some Braj rendering of Persian terms, like kāgad for *kāghaz.*[26]

Is there a shortage of paper and ink in you country?

Without Hari, I feel neither hunger, nor thirst and my sleep has gone, since the pain of separation took possession of my body.

Frogs, peacocks and cuckoos continue to sing and the date you gave for your return is totally wrong.

And if you ever come back, what will you do when I am dead (lit. I would have left my body)?

Kubjā had a message sent to Hari: why is your past love so full of flaws?

The Lord of Tānsen knows so much about it: he has ravished all the young women.

---

25. Cf. Champaklāl Chabīdās Nāyak, *Aṣṭachāpīya Bhakti Saṁgīt (Havelī Saṁgīt) Udbhav aur Vikās,* 3 vols, Ahmadabad: Aṣṭachāp Saṁgīt Kalākendra, vol. II, pt. 3, pp. 197-9; the recording of L.P. Caturvedī belongs to the ISTAR Collection, No. OC2; it was recorded on 21.06.83; I copied the text by hand from the hand-written transcription kept with the recording, on 06.11.85, courtesy Shri Shrivatsa Gosvame, Shri Chaitanya Prem Sansthan in Vrindaban. It is found in Rāg Sāraṅg, in P.D. Mītal, *Saṁgīt-Samrāṭ Tānsen...,* No. 201, p. 117. I am grateful to Shri Jagdish Arora from Banaras for his suggestions for an English translation.

26. *Rājasthānī Catalogue,* MS. No. 38, Anup Sanskrit Library, Bikaner, *Ḍholāmārū Dūhā, Pṛthvīrāj veli ādi kuch racnāeṁ, saṁvat* 1669,*/AD 1612,* fol 1, quoted by A.C. Nāhaṭā, "Saṁgīt-Samrāt Tānsen....", p. 193; Cf. Sūrdās, *Sūr-sāgar,* ed. Nand Dulāre Vājapeyī, Varanasi: Nāgarī Pracāriṇī Sanbhā, 2nd edn, *daśam skandha,* No. 4248 / 4866 in vol. II, p. 1695, in Rāg Dhanāśrī. Note in the thirrd line, *Rādhā* for *Kūṁbajā, Śyām* for *Hari, bhaī* for *pihalī, kuṭi* for *trūṭī,* and in the last verse, besides the different *chāp, tumhare milana binu* for *sabhahi jānat hai* and the last word *kuṭi* for *luṭī,* in the Rājasthānī MS.

9

umce tairī, nīce kat citavati, tūm hārati, lājani, sotini jitavati

This dhrupad song which Bahenji found beautiful, is given in two court musicians' repertoires: in Rāg Belāvalī in the *Anūpa Saṁgīta Ratnākara* of Bhāvabhaṭṭa and in Rāg Īmanī Birāuri and Tāl Cautāl, in the *Rāmpur Rāga mālā* manuscript, with many variant readings. Here the *sakhī* gives advice to her friend, the heroine or *nāyikā, of the mugdhā* or "immature" type. This is an interesting example of the similarities that exist between the Krishnaite theme and the vernacular treatment of the *nāyak-nāyikā bhed* or the classical categories of lovers, as heroes and heroines in love in various situations that have been classified by Sanskrit poets.[27]

Oh my friend, look up, why are you looking down? You are always defeated because of your modesty and your rivals become victorious!

Your eyes were soothed by a vision of him, the Lord of your life, who is the God of Love! Without bodily union without approaching him, and even without attachment to him, oh my friend, how can your body find contentment even as you pass your days?

If you do not accept your beloved in your mind, my dear friend, you will not find love growing in your heart!

Fools and wise men both agree, if you accept the ways of the Lord of Tānsen, why should you waste your youth like this?

10

kon kon jatanani lāī hoṁ lālan, tum soṁhī

This song which Bahenji found very good, is given only in the *Anūpa Saṁgīta Ratnākara* of Bhāvabhaṭṭa in Rāg Darbārī Kānarā. Here the friend of the *nāyikā* is adderssing the *nāyak*, after she persuaded the *nāyikā* to accompany her with great difficulty.

I cannot tell you, oh dear one, with what effort I have brought her to you, I swear by you.

How her mind came around with great difficulty, she was very stubborn.

I have also been watching things for so many days; except her, when did any other woman appear so beautiful in your presence?

Oh Lord of Tānsen, you know very well, her vow is attached to you.

11

nād nagar basāyau surapati mehaiṁl chāyau

The following song is a good example of a composition about the technical aspects of music and in which the elements of music are used to build up an interesting metaphor around Dhrupad, that is

27. Bhāvabhaṭṭa, *Anūpa Saṁgīta Ratnākara, Rāgādhyāya,* Anup Sanskrit Liabrary, Bikaner, Sanskrit MS. No. 3356), fol. 127b, lines 3-7; *Rāmpur Rāga mālā* MS., fol. 38a, edited by K.C. Bṛhaspati in *Dhrupad aur uskā vikās,* No. 48, p. 374. The text and my English translation of the Bikaner MS. have been published in Delvoye, "The Verbal Content of Dhrupad Songs...", *Dhrupad Annual 1994,* English translation, p. 5; text, No. 4, p. 16-17 and idem, "The Thematic Range of *Dhrupad* Songs...",p. 419.

hidden in the treasure house of the City of Sound. It is also typical of a number of lyrics in which the producer of music and the listener are depicted in a kind of business relationship. There are other song-texts which reflect perfectly the process of patronage between Tānsen and Emperor Akbar as in this song here, or other patrons, such as Rājā Rāmacandra Baghelā as in the next composition.

The English rendering of such compositions - even when music is referred to metaphorically - requires an apparatus of explanatory foot notes for technical terms which can rarely be translated accurately; hence, I use the original Braj terms in the English translation.

This song-text is found in the *Rāmpur Rāgamālā* manuscript in Rāgiṇī Ṭoḍī and Tā l Cautālā; in the *Saṁgīt Rāg Kalpadrum* in the same Rāg and Tāl, as well as in one of the anthologies collected from court musicians in nineteenth century Bengal, the *Saṁgīta Candrikā* of Gopeshwar Banerjee, under the patronge of the Maharaja of Burdwan, in Rāg Gujarī and Tāl Cautāl, with some interesting variant readings.[28]

The city of Sound has been founded where the lord of tones has set up his palace, in which the forty-nine *tān* rest.[29]

The various musical forms *gīt, chand, tat, vitat* and *dhārū* are like gold; the prelude (*alāp*) is like a diamond within the doors of the rhythm cycle locked with the chain and the key of *trevaṭ* in which is concealed the precious gem of Dhrupad.

The ascending patterns, the first and second sections are like jewels; the hexatonic and pentatonic scales and the various curves of melodic patterns are like rubies.

Mīyān Tānsen is the jeweller, Jalāladīn [Akbar] is the customer who knows its worth and can strike a bargain of millions and through his friendship has endeared himself [to the singer] as a connoisseur.

12

dharma karma kī ālāp hāṭ samhārī gun pūrau karivai kauṁ vaiṭho haṭvārī

The second composition of musical inspiration which I have selected is found in the *Rāmpur Rāgamālā* manuscript in Rāgiṇī Chāyā and Tāl Dhīmā and in the *Saṁgīt sāgar* manuscript in the same Rāgiṇī and Tāl Titāl, with some interesting variants.[30] Here Tānsen is visualized as a shopkeeper in a market and the customer is Rājā Rāmachandra (Baghelā) (r. 1555-1592), his patron before he joined Akbar's court in 1562.[31] Bahenji preferred the lyric as recorded in the *Rāmpur Rāgamālā* except for the first two words, i.e. *dharma karma*, which do not make sense in this context. The anonymous nineteenth

---

28. *Rāmpur Rāga mālā* MS., fol, 63a, edited by K.C. Brahaspati in *Dhrupad aur uskā vikās,* No. 67, p. 377; also Kṛṣṇānad Vyās, *Saṁgīt Rāg Kalpadrum,* lithography dated 1842 (preserved at the Library of the Bharat Kala Bhavan, Varanasi); ed. N. Basu, Calcutta: Vaṅgīya Sāhitya Pariṣad, 3 vols., vol. I, 1914, p. 109a; see also Gopeshwar Banerjee (sic), *Saṁgīt Candrikā or A Treatise on Hindu Music* (1917), vol. I, published by Sri Vijaya Chand Mahtab Bahadur, Maharaja of Burdwan, 2nd edn, 1925, p. 172-6.
29. For technicl terms, see P.L. Śarmā, "Dhrupad ke padoṁ meṁ saṁgīt kī paribhāṣik śabdāvalī", *Dhrupad Annual 1998,* vol. II, pp. 15-47 and the summary in English, "Musical Terms in Dhrupad texts", pp. 48-51; idem, "Musical Element in Sûadāsa's Poetry", in Dr. Nagendra, ed., *Suradasa: A Revaluation,* New Delhi: National Publishing House, 1979, pp. 174-9 and Ritwik Sanyal, "The Pada in the Dagar Tradition", *Dhrupad Annual 1995,* vol. X, pp. 113-6.
30. *Rāmpur Rāgamālā* MS., fol. 145a, edited by K.C. Bṛhaspati in *Dhrupad aur uskā vikās,* No. 69, p. 377; see also the anonymous nineteenth century *Saṁgīt Sāgar* MS (private collection), fol. 113a, No. 411.
31. On Indo-Persian accounts of Tānsen's arrival to the court of Akbar, see Delvoye, "The Image of Akbar as a Patron of Music", in I. Habib, ed., *Akbar and his India,* Delhi: Oxford University Press, 1997, pp.188-214.

century manuscript of the *Saṁgīt Sāgar has grām-grām instead, which is a śleṣa* type of comparison, containing double meanings, one of which refers to the village (*grāma*) where the shopkeeper lives and the other to the technical term *grāma*, which was "a basic scale" in ancient Indian music.[32]

Such compositions often embody concepts that belong to the oral tradition passed on from the teacher to the student (*sampradāy*) and not to the written tradition of music theory (*śāstra*) and thus add to the documentary value of song-texts on musical practice.

Here the stress is on the balance which a good poet-composer has to keep between the lyric and its musical rendering, so as to be able to cater to the good taste of a connoisseur.[33]

Sitting in his market shop, the shopkeeper is careful to maintain the standard of the prelude (*alāp*) of Righteouness and Action [or] of the basic scale [even if he does not make a profit]. He makes his vocal improvisation (*ākār*) the beam, establishing the yokes [of tonic and dominant notes]; takes the scales as strings, the resonance as trays, the brillance of tones as weights, to comprehend it fully.

He considers the poem as his capital and knows how substantial the four rhyming lines of a fine dhrupad song are for weighing.

The buyer of such excellence is Rājā Rāmacandra who gives away crores to the merchant Tānsen who sells it to him.

13

guṇ samudra kalapataru akabar karatār ho bajāve

Another composition found in both the anthologies of Bhāvabhaṭṭa, the *Anūpa Saṁgīta Ratnākara* and the *Anūpa Saṁgīta Vilāsa*, in Rāga Bhairava in Tāl Ekatālī, and in some Hindi lyric collections, highlights the perfect grasp Akbar had of the intricate Indian system of rhythm, and Tānsen's helplessness before such a knowledgeable patron. We had to drop one difficult line, which we could not understand, in spite of consulting expert scholars.[34]

Like an Ocean of Excellence, like the Wishing-tree, Akbar plays the cymbals.

He makes compex and multiple rhythmic figures.

Immersed in tonal variations like ever-changing waves, his rhythmic cadence is never repeated.

The earth, inhabited by enemies, trembles and rumbles, and all at once he makes it dance!

He initiates accomplished musicians to all the variants of rhythmic cycles. [One line is unclear]

Shāh Jalāl is an ocean of *rasas*, the limits of which cannot be reached!

---

32. See P.L. Sharma, "The Ancient Grāma System and its Distortion in the medieval Times", in Urmila Sharma, ed., *Indian Aesthetics and Musicology (the Art and Science of India Music),* Varanasi: Āmnāya-Prakāśana, Bharata-Nidhi, 2000, pp. 111-25.

33. For a literary account of Rājā Rāmacandra Beghelā as a patron of Tānsen, see Mādhava, *Vīrabhānūdaya Kāvyam* (c. 1555), ed. K.K. Lele and H.S. Upādhyāya, with text and translation into English together with a critical analysis by Hiranand Shastri, Rewa Darbar, 1938 and P.K. Gode, "A contemporary Sanskrit tribute to the musical talents of Tānasena, the greatest musician of Akbar's court, and its historical perspective" (1947), *Studies in Indian Literary History,* vol. III, Poona: Bhandarkar Oriental Research Institute, 1956, pp. 188-95.

34. Bhāvabhaṭṭa, *Anūpa Saṁgīta Ratnākara, Rāgādhyāya,* Anup Sanskrit Library, Bikaner, Sanskrit MS. No. 3356, fol. 40b and *Amūpa Saṁgīta Vilāsa, Rāgādhyāya,* Anup Sanskrit Liabrary, Bikaner, Sanskrit MS. No. 3367, fols. 28b-29a, and the Hindi MS. No. 176 in the same library, with some reading-variants, fol. 1b. This MS. is not dated but is estimated 1643-1668 by A.C. Nāhaṭā, "Saṁgīt-Samrāṭ Tānsen...", p. 193.

How could Tānsen ever captivate such a royal Guru?"

14

saghan van chāyau drum velī madh pavan ati pragās varan varan pahup ramg lāyau

This interesting song of musical inspirations associated with a colorful depiction of spring was found in six printed versions and one audio-recorded one; in six recensions, it is atributed to Tānsen and in one to the devotional poet Sughararāy; in five recensions it is addressed to Akbar, in one to Gopāl Lāl and in one to an attractive woman (*sughar nārī*). I am giving the English translation from the Rāmpur *Rāgamālā manuscript*, published by K.C. Brahaspati and edited by Bahenji who analysed this song in her article in *Dhrupad Annual 1988*, "Musical Terms in Dhrupad Texts".[35]

The whole nature around is full of life and foliage.

The wind blows and flowers of different colours blossom fourth gorgeously.

All the birds - cuckoo, parrot, dove, the thirsty *chātak* - burst forth with joy anew and new life and colour rain all over.

Music bursts forth from *kinar, raisal, bīn* and *mridang*, as a boon from Sarasvatī.

Mīyāṇ Tānsen says that at this hour one begins with an *ālāp* in Rāg Bhairav.

Conclusion

The selection of Dhrupad songs noted by Bahenji for their particular interest is representative of a poetical and musical genre which was liked and patronized by Hindu and Muslim rulers from the time of Mān Singh Tomār of Gwalior (r. 1480-1516) onwards, even if the existence of Dhrupad is attested to earlier.[36] Later collections of song-texts in Devanagari as well as in Gujarati and Bengali script and the repertoires of court musicians record the unbroken aristocratic patronage of dhrupad, a genre which, as Abu'l Fazl, the chronicler and personal friend of Akbar said in the *Ā'īn-i Akbarī*, ".....a form [of singing] liked by the common man and favoured by the elite.....It deals with the magic of love and the wondrous affairs of the heart."[37]

Besides manuscript, lithographed and printed collections, oral transmission by musicians kept lyrics alive, even if the text got corrupted over time. As Bahenji noticed, songs are a valuable source of information on the history of Indian music, and they should be studied as documents as important as musicological treatises, Sanskrit, Indo-Persian and regional literature with references to music, and iconography.[38]

I benefited greatly from Behenji's analytical and penetrating mind and from her immense knowledge of related areas of research, which she was always ready to share, over long working sessions in

35. *Rāmpur Rāgamālā* MS., fol. 2b, edited by K.C. Bṛhaspati in *Dhrupad aur uskā vikā,* No. 72, p. 378; see also P.L. Śarmā, "Musical Terms in Dhrupad Texts", *Dhrupad Annual 1988*, pp. 48-51.
36. Sudhākalaśa, *Saṅgītopaniṣat-sāroddhāraḥ*, edited and translated by Allyn Miner, Delhi: Indira Gandhi National Centre for the Arts,1998 (Kalāmūlaśāstra Series 23).
37. See Abu'l Fazl, *Ā'īn-i Akbarī,* Persian edn. by H. Blochmann, Two vols, Calcutta: Asiatic Society of Bengal, 1877, Persian text, vol. II, p. 138. My translation.
38. For a recent liteary study of another genre of lyrics, see Lalita du Perron, "The Lyrics of *ṭhumrī*. Hindi Poetry in a Musical Genre", in Winand M. Callewaert and Dieter Taillieu, eds., *Devotional Literature in South Asia: Current Research 1997-2000,* New Delhi: Manohar, 2002, p. 57-67.

Varanasi, Khairagarh, Bikaner, Gwalior and even on the long journeys we undertook by train. It was not an easy relationship and often we were as combative as congenial. By the time I met Bahenji I was not quite young enough, and she too was set in her ways to change for an 'outsider' with a different perspective, but even so it was a fruitful and creative relationship and when I took back on it today, I cherish my association with her.

In fact, our ideological differences and diverse literary appreciation and musical tastes also contributed to our discussions and debates and thus fed into our research. In effect, our cultural divergence exemplified what may have happened with patrons of Dhrupad belonging to different social and aesthetic backgrounds, an experience which contributed in no small measure to my understanding and study of taste and patronage in a multicultural medieval society.

While continuing my work on Dhrupad and its patronage in the pre-Mughal Sultanate of Gujarat, as well as in the Ādil Shāhī Sultanate of Bijapur, I continue to think of Bahenji as I gather precious information which confirms the importance given by her to a less conventional source of Indian medieval cultural history.



.4.
The Origin of the Sitar

*—Allyn Miner**

The Theories

Ideas on the origin of the sitar fall into about four groups, but the view predominating by far in popular accounts involves Amir Khusrau in the court of early 14th century Delhi. Amir Khusrau, it is said, created an instrument, probably on the model of a vīṇā, and gave it a Persian name "three-stringed," *seh-tār.* The sehtār (also spelled setar) is a prominent instrument in Persian music, but does not figure in this theory.[1] Popular books on music reiterate the story. The story of Amir Khusrau's role in the creation of the sitar in India is now discredited, but the idea is still held with such tenacity that a challenge to it is often met with real displeasure. Undoubtedly it will continue to be a popular belief for generations to come. The persistence and predominance of the theory warrants an examination of it here.

In defense of popular belief, the Amir Khusrau connection has a clear source. It is now fairly clear that 19th century error led to the mistaken identification of Amir Khusrau with another personality, probably named Khusrau Khan, an 18th century figure. Written sources confirm oral tradition accounts that speak of this character at the court of Muhammad Shah who ruled 1719-1748 in late Mughal Delhi. Reinterpreted in an 18th century context, the Amir Khusrau theory takes on a new significance, and is explained to some degree.

One of India's great modern sitarists, Ravi Shankar, brings up a second related view on the origin of the sitar:

> Many scholars believe that the sitar was in existence long before Amir Khusru's time, in diverse shapes in different regions of India. It was varioulsy called *tritantri veena....*, *chitra veena...* or *parivadini.* But it is an undeniable fact that Amir Khusru did make certain alterations and give the instrument a new name, *"seh tar"....*[2]

Without mentioning Amir Khusrau, a number of writers have argued that the sitar was a modification of or a later name for a vīṇā already existing in India and listed in the Sanskrit music texts. The *tritantrī,*

---

* Dr. Allyn Miner (now back in U.S.A) was a very beloved student of Bahinjī in Musicoloy; as a serious researchschollar (was guided by P.L.S., for her Ph. D. on sitar) she was very closely related with Bahenji's adventures in "Prayoga" of ancient Śāstra. Somehow it could not be possible to contact her for this Memorial Volume, so this old article of hers is representing her here —Ed.

1. The Persian setār is a long lute related to the Turkish and Persian tambūr. It has existed in Persia (according to G.H. Farmer) from the 13th century, and was one of a series of instruments for which the Persian term tār, "string" with a prefix denoting number was used. Henry George Farmer, *Studies in Oriental Musical Instruments*. (London , Glasgow: 1939), 7-8. See also Jean During and Alastair Dick, "Setar," *The New Grove Dictionary of Musical Instruments*, 3 (London: Macmillan Press Ltd., 1984) 354.
2. Ravi Shankar, *My Music, My Life* (New York: Simon and Schuster, 1968), 46.

"three-stringed," vīṇā is found in the 13th century *Saṅgītaratnākara*, and the *citrā* vīṇā is described in the earlier *Nāṭyaśāstra* of Bharata. This set of theories deserves consideration first for bringing up the issue of continuity in Indian musical history, and second for representing a particular type of thinking found in the 19th and early 20th centuries. According to this thinking, many of India's so-called modern cultural innovations are direct products of pre-Muslim Sanskritic traditions.

A third idea on the origin of the sitar refers to the appearance of the long-necked lute in 9th and 10th century Indian temple sculpture, and suggests that the sitar was in existence from this early time in India. No specific author or vīṇā name is mentioned. The appearance of long-necked lutes in medieval temple reliefs and the question of their relation to the sitar are indeed valid topics in the study of Indian musical instruments and will receive some attention here.

Finally, most current musicologists are convinced of a Central or West Asian influence in the origin of the sitar. One writer thought that the sitar developed from the Persian instrument of that name but that the Persian setar had earlier evolved from the Indian citrā vīṇā.[3] Most, however, trace the sitar directly to some instrument of Persia, Turkey or Central Asia that existed in Northwestern India or the Mughal court. The Persian *setār, the tambūr* and in one case the Úzbek *dutār,* have been suggested as the sitar's immediate ancestors.[4] Pictorial and written evidence indicate that the early sitar was closely related to some of these instruments both in structure and in context and locality. The court tambūr, its modification the drone tambūrā, and the Indain sitar clearly appear to share aspects of structural development. Influences on the early sitar aside from that of the tambūr are also indicated however. The evidence and the possibilities will be explored here.

A more detailed look at each of the theories follows. The cultural complexity of North India at the time of the earliest record of the sitar and the lack of specific source material prevents many details on the origin of the instrument from coming to light. But while some points will remain speculative, a generally satisfactory picture does emerge from the available oral, written and iconographical material.

Amir Khusrau and the Sitar

An outstanding figure in medieval Indian cultural history, Hazrat Amir Khusrau was born in 1253 in Patiali, a *Braj* Hindi speaking area in what is now Uttar Pradesh, to a Turkic Central Asian father and an Indian mother. Based in Delhi, he served in a string of courts, one of which was that of Alauddin Khilji, powerful ruler of the Delhi Sultanate (1296-1316). Of Alauddin Khilji's rule, a contemporary writer said:

> 'The most wonderful thing.....which people beheld in his reign was the throng of great men of all nationalities, masters of every science and experts in every art. The capital of Delhi, by the presence of these peerless men of extraordinary talents, had become the envy of Baghdad, the rival of Cairo and the equal of Constantinople.'[5]

Amir Khusrau, among Delhi's prized artists, was especially enamoured of the art and culture of India, and travelled the width and breadth of the country recording in his prose and poetry events and

3. Birendra Kishore Roy Choudhury, "The Veena Paddhati of Hindustani Music," *Journal of the Music Academy* 28, Part 1-4 (Madras: 1957) 72.
4. Tambūr: B.C. Deva, *Musical Instruments of India* (Calcutta: 1978), 163; Kashmiri setar: S. Krishnaswami, *Musical Instruments of India* (Boston: Crescendo Publishing Company, 1971), 99; Uzbek dutār: Alastair Dick, "Sitar", *The New Grove Dictionary of Musical Instruments,* 3:393. See this and other entries for an overview of Indian instruments representing recent scholarship.
5. Mohammad Wahid Mirza, *The Life and Works of Amir Khusru* (Panjab University Oriental Publications, Lahore: The University of the Panjab, 1962), 107.

observations on the culture of the time. His works provide one of the most important sources of information on his period. Khusrau died in 1325, a few months after the death of his mentor Khwaja Nizamuddin Auliya.[6]

Besides his numerous *gbazals, mathnavis,* prose and Hindi (*Hindavī*) poetry. Amir Khusrau is famous for his activity in the field of music. His writings indicate an impressive degree of competence and sensitivity in both Persian and Indian music theory and in vocal and instrument practice. His strong expressed interest in Indian music led later writers to credit him for introducing into Indian music a number of melodic forms and instruments synthesized from Persian sources. While he may have had an influence on the music of the time, the extent of his innovations is often clearly exaggerated.

The *Tuḥfāt-al Hind* and the *Rāg Darpan,* seventeenth century Persian works on music list a number of composite rāgas said to be introduced by Amir Khusrau, including the famous rāga Yaman, but most of these rāgas are not mentioned in his own works.[7] These texts and popular tradition also credit him with the invention of *qavvālī,* a vocal form strongly associated with Indian Sufism. Khusrau was certainly a Sufi devotee and an important composer of qavvalis, many of which are still sung today[8] but his role in introducing it is unclear. His claimed invention of *tarānā* is also questionable.[9] As for *khyāl,* the dominating vocal form of modern Hindustani music for which he is widely credited, his writings show that he used the term to express a figure of speech, but there is no indication that it was used in his time as the name of a song form.[10]

Khusrau's works give a significant amount of information on the musical instruments of his time. The *chang,* a sixteen-stringed harp, appears as one of the most prominent instruments of the time. Khusrau has high praise for its leading player, Muhammad Shah. He frequently mentions the *rubāb* which he describes as having two strings, *bamm* and *zīr,* and he speaks of the *barbat,* also referred to as *rud,* which had four strings over a hollow body and was played with a plectrum called a *zakhma.* He describes the tambūr, which will be discussed presently in some detail, as having four strings, two silk and two metal. He also, interestingly, mentions two Indian vīṇās, the four stringed *alāwan* (*alābu,* Sanskrit "gourd" ; a vīṇā called *alābu* or *alāvanī* is mentioned in Sanskrit texts) and the *kingra,* which he mentions as a folk instrument (Sanskrit, *kinnarī*). Among drums he speaks of the *daff,* a Persian frame drum, and the *duhl* (Sanskrit *dhaula,* Hindi *dhol,* a barrel drum).[11] Although the invention of both sitar and *tablā* are popularly credited to him, there is no mention of either in his writings. But we can still look to other sources to provide additional information on the instruments and forms of Amir Khusrau's period.

---

6. See *Life, Times and Works of Amīr Khusrau Dehlavi* (Delhi: National Amir Khusrau Society , n.d.); Mirza, *The Life and Works of Amīr Khusrau..*
7. The rāgas attributed to Amir Khusrau in the *Tuḥfāt-al Hind Rāg Darpan* (from Ahmad and Mirza): muhaiyar or mujir, sazgiri, yaman, ushaq, muafiq, ghanam or ghazan, zilaf, farghan, sarparda, bakharz, farodast, sanam or mu'nam. Najma Perveen Ahmad, *Hindustani Music* (Manohar Publications, New Delhi 1984), 53; Mirza, *The Life and Works of Amir Khusru* , 238. These attributions are not confirmed in Khusrsu's writings according to S.H. Askari, "Music in Early Indo-Persian Litersture," *Malik Ram Felicitation Volume* (New Delhi: Malik Ram Felicitation Committee, 1972), 113-15.
8. See Regula Burckhardt Oureshi, *Sufi Music of India and Pakistan* (Studies in Ethnomusicology, Cambridge: Cambridge University Press, 1986).
9. *Rāg darpan, Ma'dan-ul Mūsīqī, Naghmāt-ul Hind and Ma'arif-un naghmāt* give him credit for the tarānā according to Ahmad, *Hindustani Music,* 125-26. The term was used at his time for a Persian song form. Shahab believes that he did make changes to earlier forms and introduce the new qavvali and tarānā: "Amīr Khusrau's own writings about music," *Life, Times and Works of Amir Khusrau Dehlavi* , 263; Mirza also says "there is no doubt that the popular melodies, qual and ghazal were first introduced in Indian music by Khusrau...," *The Life and Works of Amir Khusrau,* 238.
10. Sarmadee, "Amir Khusrau's Own Writings about Music"
11. Ibid, 255-58.

A few Sanskrit treatises and two Persian sources are informative for the field of music in the 13th and 14th centuries. Among the Sanskrit works, the first half of the 13th century saw the appearance of the most important of all medieval music texts, the *Saṅgītaratnākara* of Śārṅgadeva, a native of Kashmir. The vīṇās listed and described there provide clear evidence that the stick zither, exemplified by the *ekatantrī,* was the predominant vīṇā type of the time.[12] Sanskrit musicological literature following the *Saṅgītaratnākara* includes the *Saṅgītaratnākara* of Nārada and the *Saṅgītopaniṣatsāroddhāra* of Sudhākalaśa, works from Gujrat and Rajasthan notable for their indications of new trends in the classification and visualization of rāgas. The *Saṅgītamakaranda* lists twenty vīṇās and the *Saṅgītopaniṣatsāroddhāra* thirteen.[13] Among the listed instruments there is no sitar or tablā. Nor is there mention of khyāl.

The invention and practices of Persian court poets and musicians might not be expected to appear in Sanskrit works, known as they are for their indiffence toward non-Sanskritic ideas. Two contemporaneous Persian works, then, must represent more closely the court music and culture of the time. The *Ghunyat-ul Munya* of 1351-1388 and the *Lahjāt-i Sikandar Shāhī* of the late 15th century, are the prominent Persian sources on Indian music of the time.[14] They also fail to mention sitar, tablā or khyāl. The iconographical sources, available from a somewhat later time, show some of the Persian instruments mentioned by Amir Khusrau. The harp which must be the chang, the rabāb and the tambūr are the stringed insturments found in the 16th century early Mughal paintings. On the basis of considerable amount of available material, it must be concluded that claims for the existence of the sitar (and the tablā and the sung Khyāl) near the time of Amir Khusrau are unfounded.

What remains of the Amir Khusrau theory then? It is clear that the oral tradition alone exists as the source of the story. In that vast and wonderful storehouse of musical information, Amir Khusrau is often credited with the origin of the instrument itself, but actual performance practice is traced only to the time of Masit Khan, a figure of late 18th century Delhi. A few traditions speak of a performance history extending to a generation before Masit Khan. Vague ideas of an earlier association with Sufi music are sometimes expressed, but details are not known. Some accounts in the oral tradition, however, backed up by a series of written references in 18th century Persian sources, and later references in some later Urdu, and finally Hindi and even English sources affirm that there existed a personality in 18th century Delhi known as Amir Khusrau or Khusrau Khan, someone who had a role in the earliest appearance of the sitar in Delhi.

The 18th Century Amir Khusrau

Credit should go to K.C. Brhaspati for pioneering studies of the Persian and Urdu sources relating to music in the Raza library at Rampur and the presentation of material from them in his works. Brhaspati states repeatedly that Khusrau Khan was the actual originator of the sitar.[15] While the specific origins of some of Brhaspati's statements remain elusive and are possibly a mix of oral and written sources, his ideas are easily substantiated, and the written history of the mix-up is not very difficult to trace.

12. See R.K.Shringy, *Saṇgītaratnākara*, vol. 1.
13. *Saṅgītamakaranda* : kacchapī, kubjikā, citrā vahanī, parivādinī, jayā, ghoṣavatī, jyesṭha, nakulī, iṣṭā, mahatī, vaiṣṇavī, brāhmī, raudrī, kūrmī, rāvaṅī, sarasvatī, kinnarī, sairandhri, ghoṣakā; The *Saṅgītopaniṣatsāroddhāra* : pinākī, kinnarī, ālambī, kacchapī, bṛhatī, mahatī, kalāvatī, prabhāvati, ghoṣavatī, vipañcī, kaṇṭhakūṇikā, vallakī, brahma.
14. Ahmad, *Hindustani Music*, 17.
15. Kailas Chandra Brhaspati, *Saṅgīt Cintāmaṇi*, (Hathras, Sangeet Karyalaya, 1976), 241=2; *Musalmān our Bhāratīya Saṅgīta* (Delhi: Rājkamal Prakāśan, 1974), 14, 79.

In 1834 an ambiguous statement appears in Captain N. Augusts Willard's[16] important work "A Treatise on the Music of Hindoostan." Following a description of the tambūra, he says of the sitar :

This is likewise a modern instrument, and was invented by Umeer Khosro of Delhi.[17]

Willard is admirable in his concern for contemporary practice. Since in his work he speaks of the earlier figure as "Umeer Khusrow of Delhi," it is possible that in relation to sitar he was referring to a later figure. Most likely, however, he was simply recording what he had heard from contemporary musicians. The statement remains ambiguous. Muhammad Karam Imam Khan of Lucknow in his 1856 *Ma'dan-ul Mūsīqī* is the first to state explicitly that "Amir Khusrau of Alauddin Ghori's time invented the sitar, along with other instruments and vocal forms."[18] It is likely that Karam Imam's statements are expansions of the ideas expressed in the earlier Persian works, the *Rāg Darpan* and the *Tuhfāṭ-al Hind* where Amir Khusrau is first credited with numerous modern innovations. In 1874 the prominent Calcutta music scholar and prolific writer Sourindro Mohan Tagore propagates the story of the sitar and the early Amir Khusrau when he says in his essay "Hindu Music :"

It was, according to Captain Willard, invented by Ameer Khusroo in the beginning of the 12th century.[19]

Despite the strong multilingual influences of Willard, Karam Imam and Tagore, however, a written tradition continued to survive that remembered and recognized the later Amir Khusrau. A number of sources continued to speak of an Amir Khusrau who was not the 14th century figure. One 19th century example appears in a paper presrented before the Poona Gayan Samaj in 1884. The speaker, Mr. Natekar, having stated that the bin was introduced during the time of Akbar says "Satar was subsequently introduced on the model of Bin by Amir Khusru."[20] Two early 20th century works representing clearly separate traditions add details on the lineage of the 18th century Amir Khusrau. *Sangīt sudarśan,* written in 1916 by Sudarśanācārya, a disciple of the Jaipur sitarist Amṛtasen, speaks of the sitar's inventor as Amir Khusrau "faqīr," a descendant of Miyan Tansen[21] through his daughter's line. According to Sudarśanācārya he was the father of Firoz Khan and the grandfather of Masit Khan.[22] A similar account is found in a 1934 Pune collection of anecdotes and histories of musicians by Laksman Dattatray Josi. Josi however speaks of Amir Khusrau as father of both Firoz Khan and Masit Khan.[23] Firoz Khan (known as Adārang from the signatures in his khyāl compositions) was a musician in the court of Muhammad Shah (1719-1748). Masit Khan, also famous in Delhi, was the creator of the sitar *gat* form bearing his name. Firoz Khan and Masit Khan are by all accounts leading figures in the early history of the sitar. It is not surprising to hear that the later Amir Khusrau was closely related to them.

---

16. Little is known about this important 19th century writer. Joep Bor suggests that Willard was an Anglo-Indian, son of a British musician who died in 1825 in Awadh. The name of this musician, A. Willard, appears in the India Office records while that of N. A. Willard does not. Joep Bor, "The Rise of Ethnomusicology: Sources on Indian Music c. 1780-c. 1890," (unpublished) 10-13.
17. N. Augustus Willard "A Treatise on the Music of Hindoostan" in Sourindro Mohun Tagore, *Hindu Music from Various Authors* (Calcutta: 1882; Varanasi: Sanskrit Series Office, Chowkhamba, 1965), 98.
18. Muhammad Karam Imam Khan, *Ma'dan -ul Mūsīqī* (Lucknow: Hindustani Press, 1925), 23, 58, 227.
19. Sourindro Mohun Tagore, "Hindu Music", *Hindu Music from Various Authors*, 348.
20. S. T. Saharasbudhe, *Hindu Music and the Gayan Samaj* (Poona and Madras: The Madras Gayan Samaj Offices, 1887), 56-7. The Poona Gayan Samaj was a pioneering institution for musical education and publications founded in 1874.
21. Tānsen, the prized musician of the court of Akbar, originally of Gwalior, died 1589, considered to be the virtual founder of the *dhrupad* performance tradition that dominated North Indian music for the following two hundred years.
22. Sudarśanācārya Sastri, *Saṅgīi Sudarśan* (Varanasi: 1916), 16.
23. Laksman Dattatrey Joshi, *Saṅgīt Śāstrakār va Kalāvant Yāñcā Itihās* (Pune:, 1934), 250

Some oral accounts, despite the strength of the wider popular belief, also continue to speak of the later Amir Khusrau. Here the name Khusrau Khan replaces Amir Khusrau. Sarod player Umar Khan on the basis of his learned tradition, spoke of Khusrau Khan as the father of Firoz Khan.[24] Muneshwar Dayal of Gaya aded that Khusrau Khan was the younger brother of Niamat Khan.[25] Niamat Khan (known as Sadāraṅg in his khyāls), was the most prominent musician of Emperor Muhammad Shah's court and of his time. Brhaspati makes the same statement on the basis of unspecified sources.[26] Undoubtedly other modern accounts of the later Amir Khusrau, oral and written, will continue to turn up.

For conclusive information on the 18th century Amir Khusrau and his family we finally look to the available literature of the time. At least six contemporary and near contemporary Persian texts mention Niamat Khan as the leading musician of Muhammad Shah's court. Two give biographical details. The *Risālah-i zikr-i mughanniān-i Hindustān* ("Treatise on the Musicians of Hindustan") of 1734-35 contains a short biography of Niamat Khan as does the *Mir'āt-i āftāb numā,* compiled in 1803-04. The *Jahāndār Shāh nāmah,* the *Tārīkh-i Muhammad Shāhī* and the *Muntakhab-ul lubab* are historical works that briefly refer to Niamat Khan's family and their positions in the court in Delhi.

The most outstanding work for conveying the musical atmosphere of Muhammad Shah's Delhi court is the *Muraqqa-i Dihlī,* written in 1738 by Dargah Quli Khan. *Purānī Dilhī ke hālāt* is an Urdu translation by Hassan Nizami. This wonderful work contains an enthusiastic first hand description of over sixty musicians and performers at the Delhi court. Niāmat Khan is described as the leading musician of the time and, most importantly for our purposes, another of those described is his brother, for whom, unfortunately, no name is given. The author describes the man like this :

> He, like his outstanding brother, is a master in music. And his specialization is that for hours he can play one instrument and one section of music in many ways. Probably no one exists anywhere around Delhi who can demonstrate such skill at playing various instruments at the same time with such clarity and beauty. That is Niamat Khan's brother's art. And his second excellence is this, which music experts can well understand, that on an instrument with three strings he plays hundreds of rāgs and rāginīs. This is really an impossible feat that even those who know music consider unfeasible. He has an instrument of three strings that is counted among the wonders of music...[27]

It seems conclusive from this that Niamat Khan's brother had a role in the early history of the sitar.

Here, however, Muneshwar Dayal provided comments that somewhat complicate the story. According to his information, Khusrau Khan's three-string instrument was not the sitar at all but a piece of bamboo on which three strings were mounted and rough frets tied. When asked what he had named it Khusrau Khan said that he would call it seh-tār because it had three strings.[28] The amazement with which the author of *Muraqqa-i Dihlī* speaks of the instrument might support the contention that this was not the sitar at all. But whether this was the early sitar or not, it is still probable, because of the numerous references to him and because of his relation to known sitar players, that Niamat Khan's brother, probably named Khusrau Khan and later known as Amir Khusrau, had something to do with the creating, naming or popularizing of the early sitar in the court of Delhi. Part Two, Chapters 2 and 3 contain a full discussion of Niamat Khan, Firoz Khan and Masit Khan.

---

24. Umar Khan, interview, Calcutta, January 1979.
25. Muneshwar Dayal, interview, Brindavan, October 1979.
26. Brhaspati, *Saṅgīt Cintāmaṇi,* 242.
27. Dargah Ouli Khan, *Muraqqa-i Dihlī*. Translated into Urdu by Khwaja Hassan Nizami under the title *Purāni Dihlī ke Hālāt*, (Delhi: , 1949), 67; my translation.
28. Muneshwar Dayal, interview, Brindavan, October 1979

Sitar and the Vīṇās of the Sanskrit Texts

The Tritantrī Vīṇā

The mention of a vīṇā whose name means "three-stringed" in the important 13th century Sanskrit treatise the *Saṅgītaratnākara* inspired some writers on music to formulate theories relating the sitar to it. Reflecting the Hindu cultural renaissance of 19th century Bengal and a fervent interest in Indian cultural history that it stirred, Sourindro Mohun Tagore makes probably the original claim for such a relationship. In his *Yantra Kosha* of 1875 he claims that sitar was another name of the tritantri vīṇā; Amir Khusrau had substituted the Persian term for the instrument in order to please the Muslim ruler-patrons of his time.[29] In the *Yantra Kṣetra dīpikā* of 1877 he states that the instrument was a combination by Amir Khusrau of the tritantrī and the *Kacchapī* vīṇās.[30]

Sourindra Mohun Tagore, a highly educated aristocrat of 19th century Calcutta, took it upon himself to promote an improved understanding and respect toward Indian music among Europeans and urban Indians. His numerous works in English, Bengali and Hindi and his school of music in Calcutta, the first of its kind, were indeed significant in helping create the tremendous popular interest in music seen in Calcutta in the late 19th century.[31] In his enthusiasm for proving the antiquity of the music, however, he imposed Sanskrit vīṇā names on instruments of his time. He even, it appears, went so far as to create several new instruments to carry the names of vīṇās. His examples of the *kinnarī vipañcī nādeśvar and bharat* vīṇās are fanciful combinations of modern instruments, including the Western violin. His *Yantra Kosha* catalogues these instruments, and collections of them can be seen in a number of museums around the world.[32]

Tagore's work in this direction found resonance among some Indian thinkers in the 20th century. Proving Sanskritic origins for modern instruments became a way of stating that Western, and especially Muslim, influence on modern Indian culture was minimal. Lalmani Misra in his *Bhāratīyā Saṇgit vādya* exemplifies this thinking, identifying the sitar as the earlier tritantrī vīṇā and tracing it to later times through the *jantar.*[33] The tritantrī vīṇā is mentioned in Śārṅgadeva's 13th century *Saṇgītratnākra* but no description is given.[34] The tritantrī is not mentioned after 15th century wrhen Kallinātha, wrote a commentary on the *Saṅgītaratnākara*. Evidently later authors were not familiar with the instument of this name. In the commentary on *Saṅgītaratnākara,* Kallinātha states that the popular name for the tritantrī vīṇā is *jantar.*[35] The *jantar* is again found mentioned in the *Ain-i Akbarī* of Abūl Fazl, the great chronicler of the court and times of Akbar. There it is described as having five strings, a hollow wooden neck with sixteen frets and a half gourd fastened at each end.[36] There is no reason to doubt that Akbar's jantar is related to Kallinātha's jantra and probably Śārṅgadeva's tritantrī. It is clear that the jantar of the

---

29. Tagore, *Yantra Kosha* , 22-3.
30. Sourindro Mohun Tagore, *Yantra kṣetra dīpikā* , 2nd ed. (Calcutta: 1879), 4. The kacchapī is another vīṇā listed in early and medieval Sanskrit texts. Tagore gives this name to the kacuā sitar, the sitar with a flat-cut gourd, in his *Yantra Kosha.*
31. Michael Rosse, "Tagore, Sourindro Mohun," The New Grove Dictionary of Music and Musicians,
32. Collections can be seen in the Metropolitan Museum of Art and the Calcutta Museum. Joep Bor points out that Tagore's collections influenced (and misled) leading European scholars of the day including Curt Sachs. See Bor, Joep. "The Rise of Ethnomusicology: Sources on Indian Music. 1780 -c. 1890" 17-19.
33. Lalmani Misra, *Bhāratīyā saṅgit vādya* (Delhi:, 1973), 45.
34. The.*ekatantrī*, "one-stringed," which is described in detail, was a stick zither, and its relation and proximity in the text suggests a structural relationship with the tritantrī. Śārṅgadva, *Saṅgītaratnākara*, (The Adyar Library Series, Madras: Adyar Library, 1951), 6: verse 110.
35. Ibid, Kallinātha's commentary, p. 248
36. Abul Fazl i Allami, *Ain-i-Akbarī*, trans, H.S. Jarrett, rev. Sir Jadunath Sarkar (Calcutta: 1948) 3: 268; also in Francis Gladwin, "Sungeet," Tagore, *Hindu Music from Various Authors, 205.*

Ain-i Akbari was the predominant North Indian vīṇā of the time, a type frequently seen in miniature paintings and structurally unrelated to the sitar. This vīṇā sometimes has half gourds rather than the full gourds of the later bīn. The *Ain-i Akabri* itself describes the bīn as similar to the jantar but smaller.[37] Later the relative prominence of the jantar and the bīn were to change as the bīn became the larger and predominant vīṇā of North India. The jantar is still found as a folk instrument in Rajasthan and is a small bīn. In other areas it takes different form.[38] The term is also used, mainly in Bengali works, in its Sanskrit form Yantra, meaning "device" or "instrument" where it is modified by other specifying terms : yantra koṣa, "dictionary of instruments," sitar yantra, and yantra *Saṅgīt,* "instrumental music." The jantar has no direct relationship to the sitar, nor does the tritantrī vīṇā.

The Citrā Vīṇā

Another proposed progenitor of the sitar is the citrā vīṇā found mentioned in the earliest Indian musicologial text the *Nāṭyaśāstra* of Bharata (c.400 B.C.-400 A.D.). Swami Prajnanananda says :

> The origin of the *sitār* or *setār* can be traced back to the *chitrā veenā* possessed of seven strings. The *gātrā veenā* is also possessed of seven strings, and the *gātrā veenā* is more ancient. Narada mentioned the name of the *gātrā veenā* in the *Śikṣā.* So both *gātrā veenā* and *chitrā veenā* can be considered to be the fore-runners of the modern *sitār*.[39]

The citrā vīṇā is specified in Bharata's *Nāṭyaśāstra* as having seven strings,[40] but its structure can only be surmised from related information. It is normally accepted on the basis of Bharata's descriptions of vīṇā techniques, *dhātu,* and supported by the iconography of the time, that most vīṇās of the time were harps.[41] Several types of short lutes are also seen in paintings and temple reliefs dating to the first few centuries A.D.. Misra has tried to identify the short lute as the citrā vīṇā,[42] but the evidence is far too weak for any conclusions. A relationship of citrā to sitar and both to the Greek kithara or cithara on the basis of a perceived phonological basis[43] is also not supported by history or logic, but the area of ancient Greek and Indian musical interchange is overdue for systematic study.

Long Lutes in Medieval India

The appearance of long-necked lutes in some South Indian temple reliefs has been the basis for a suggestion that the sitar existed in India from pre-Muslim times.[44] The long lutes as seen in medieval temple reliefs are problematic, in regards to both their identity and their place in musical history. They appear in the Cālukyan period at Paṭṭaḍakāl[45] and at Cidambaram in the 12th century but are rare in comparison to stick zithers. They vary widely in shape. Allowing for the possibilities of artistic licence, it must be assumed that the basic type did exist in the contemporary society.

The stick zither predominates in Indian iconography after the sixth century[46] and is the only vīṇā

---

37. Fazl, *Ain-i Akbarī.*
38. A jantar of Madhya Pradesh, also a stick zither but with only one gourd, is bowed. See Joep Bor, *The Voice of the Sarangi,* (Bombay: National Centre for the Performing Arts, Ouarterly Journal, XV 3&4; XVI, 1986-87) 51, 52.
39. Swami Prajnanananda, *Historical Development of Indian Music* (Calcutta: Firma K. L. Mukhopadhyay, 1973), 468.
40. Bharata, *Nāṭyaśāstra* (Gaekwad's Oriental Series No. 145, Baroda: 1964) 4: Chapter 29, verse 118.
41. see Ananda K. Coomaraswamy, "The Parts of a Vīṇā," *Journal of the American Oriental Society*, 50: 248-9.
42. Misra, *Bhāratīya saṅgīta vādya* , 41-42.
43. Manmohan Ghosh, The Natyasastra, 45.
44. Tarlekar, *Musical Instruments in Indian Sculpture.*, 88-89; B. Chaitanya Deva, *An Introduction to Indian Music* (New Delhi: Publications Division, Ministry of Information and Braodcasting, Government of India, 1973, rev. ed. 1981), 54.
45. Claudie Marcel-Dubois. *Les instruments de musique de l'Inde ancienne*, (Paris: Presses Universitaires de France, 1941), 89.
46. Curt Sachs, *The History of Musical Instruments* ,224

type explicitly described in the musical literature until the late 17th century description of the *taumburam* in the *Saṅgītapārijāta* of Ahobala. This is not to say that no vīṇā listed in the earlier texts is a lute, but there is no clear revidence at this point by which any vīṇā name from among those listed can definitively be applied to the long-necked temple lutes.

A tempting source of identification for the long lutes does exist in Thailand and Indonesia, where instruments whose names derive from the kacchapi vīṇā continue to exist.[47] The kacchapī, "tortoise," vīṇā is mentioned in Sanskrit texts from the time of Bharata but is not described. Much later, in the 18th century *Saṅgītanārāyaṇa,* the author assigns the name kacchapī to what is clearly the Mughal rabāb. The Hindi *kacuā* is used to describe the flat-cut gourd of a sitar type called the kacuā sitar. Its associations with lutes, then are fairly consistent.

Even if the kacchapī was the long lute, however, there is little prominence given to it in the Sanskrit texts. It was either a lesser used instrument (a fact supported by its relative scarcity in iconography) or considered secondary to the predominating stick zither vīṇās. Iconography also indicates that it was regionally isolated in the South of India. Outside of India, the history of the long lute is traced to the Arab world. According to Farmer, it was first seen by the Arabs in Spain, and came to Arabia as early as the first century A.D.. It probably existed in its fretted form in Persia by the late 10th century, and not long after became one of the predominant instruments of Persia and Central Asia.[48] It is found in India only from the 10th century. Sea routes from the Southwest coast of India to and from the Arab world were functioning from very ancient times and were early passages of cultural exchange. It is possible that the temple long lutes had their source in the Arab world.

These instruments disappear from temple sculptures by the end of the 12th century and the long lute seen next in Indian history is the tambūr, an instrument prominently depicted and reported throughout the art and literature of the Muslim courts of North India from the 11th to the 18th centuries. There is no question that the tambūr's immediate source was Arab-Persian culture. What happened to the long lutes of the temples! It is possible that in South India they continued in a minor or regional role, finally re-emerging as the Karṇāṭak vīṇā. The origin of the Karṇāṭak vīṇā is a problem deserving of more attention. For the present, however, there clearly exists no continuity between the lutes depicted in the medieval temples and the sitar to indicate any sort of relationship there.

The Tambūr

The waves of Muslim invasion in Northwest India and finally the 12th century establishment of the Delhi Sultanate by Turkish Muslims introduced profound change in North Indian culture. Over the next six centuries the art, literature, religion and customs of Turkish, Persian and Central Asian cultures came to India with the artists and scholars of the Muslim courts. At first the Persian music of the courts thrived with no evidence of influence by India's musical culture.[49] Soon, however, the presence of Indians in the courts produced change and synthesis. This is known to have begun significantly during the time of Amir Khusrau and to have culminated under the Great Mughals in the sixteenth and seventeenth centuries. The result was a powerful music unique to the courts of North India.

---

47. Sibyl Marcuse, *Musical Instruments: A Comprehensive Dictionary*. (New York: Doubleday and Company, 1964), 268.Jaap Kunst, *Hindu-Javanese Musical Instruments* (Koninklijk Institut voor Taal-, Land - en Volkenkunde Translation Series 12, The Hague: Martinus Nijhoff 1968), 15-16.
48. Farmer.*Studies in Oriental Musical Instruments*, 34, 57; Idem, *A History of Arabian Music to the XIII Century* (London: 1929; reprinted 1967), 5.
49. S.H. Askari, "Music in Early Indo-Persian Literature," 102.

Among the instruments that appeared in North Indian history from the early period of Muslim occupation was the tambūr (tanbūr, or tunbūr), a long lute. Farmer found the earliest descriptions of the fretted tambūr in Arabic manuscripts dating to the 9th and 10th centuries and traced its origins to the 8th century when texts spoke of the "measured tunbūr" and called it an instrument of Baghdad. Farmer found that by the mid-10th century the tambūr had become a dominant instrument throughout the Middle East.[50]

In India, as early as 1076 during the occupation of the Panjab by the Ghaznavids (of modern Afghanistan), one of the first Indo-Persian poets, Masud-i Sa'ad-i Salman, speaks of the tambūr among the Arab and Persian instruments at the Lahore court.[51] One of the earliest historians in Delhi, Hasan Nizami, makes the next references to it in about 1200. Amir Khusrau describes the tambūr of the Delhi court in some detail in the late 13th century. After his time, references are numerous. Tambūrs and other related instruments might have existed in different varieties in the Muslim settlements of Northwest India outside the mainstream court tradition, but the characteristic features of the early court tambūr depicted in miniature paintings from the earliest available time are consistent. It had a small pear shaped body, probably wood, with a flat face, and a long, very narrow tapering neck. The tuning pegs, usually four, were in lateral positions on both sides of the neck. The bridge was thin, an important distinction from the later sitar, and the frets were gut tied around the neck. Amir Khusrau describes the tambūr as having four strings, two of silk and two of metal, and producing notes that were "precise and piercing like arrows."[52] Paintings from the later Mughal periods and into the 18th century show the neck considerably shorter and a bit wider. The instrument probably began to change soon after it arrived in India.

The tambūr figured with increasing prominence among court instruments. Context and explicit references from the 17th century indicate a process of Indianization. An account of the reign of Sikandar Lodi of the late 15th century just preceding Mughal rule mentions a tambūr player among four instrumentalists, including the vīṇā, employed at court.[53] In the 16th century *Ain-i Akbari,* four tambūr players are included among the thirty-six listed musicians of Akbar's court, the largest number of players mentioned for any one instrument, including the bīn.[54] The Adil Shahi dynasty in the Deccan court of Bījāpur was an important center for Urdu language and literature and Muslim court culture, including music. This was especially so under Ibrahim Adil Shah (ruled 1580-1627), a contemporary of Akbar and Jahangir. Ibrahim Adil Shah himself was reported to be an expert tambūr player. He named his tambūr Moti Khan and was very fond of it, alluding to it in a number of songs.

> The importance of Moti Khan can be judged from the fact that almost all the poets attached to his court have referred to it in their writings. Zuhuri and Malik have composed 128 *rubais* exclusively for this tambourine.[55]

Ibrahim Adil Shah was fascinated with the music and religion of his Hindu subjects and is known to have been a composer of dhrupads. The *Kitāb -i nauras* is a collection of his songs to be sung in Indian rāgas. His tambūr music was in all probability a thorough blend of Persian and Indian music. It is perhaps

50. Farmer. "The Evolution of the Tanbur or Pandore," *Glasgow University Oriental Society Journal*, 26-27: 27-28. Idem, *A History of Arabian Music to the XIIIth century*, 15.
51. Also mentioned in the *diwan* of Masud-i Sa'ad-i Salman are the chang, barbat, nay, kamancha, rabab, anqa, 'ud, sarod, and rud. Oanun and autar are among those added in the later *Taj-ul Maasir* of Hasan Nizami. S.H. Askari, "Music in Early Indo-Persian Literature," 91-92, 95, 102.
52. Sarmadee. "Amīr Khusrau's own writings on music," 258.
53. Also employed in the court were players of the chang, and qānūn: Brhaspati, *Musalmān aur bhāratīyā saṅgīt*, 62.
54. H.Blochmann "The Naqqarahkhanah and the Imperial Musicians", Tagore, *Hindu Music.from Various Authors*,214-16.
55. Adil Shah, *Kitab-i Nauras* , ed. and trans.Nazir Ahmad (New Delhi: Bharatiya Kala Kendra, 1956), 53.

significant that from around this time the instrument is sometimes called *tamburah or tambūrā,* a detail that might well reflect the structural and musical change that literature, iconography and cultural history indicate.[56]

The 17th century *Tuhfāt-al Hind* speaks of śruti-s, the Sanskrit theoretical tradition's microtonal division of the notes of the octave, with respect to the tambūr. An illustration in a manuscript of this text shows a tambūr with śrutis designated alongside the neck. Around 1665 Amin Faqirullah, a courtier under the Mughal emperor Aurangzeb, wote his important Persian *Rāg Darpan,* which the author says is in part a translation of a (now lost) Sanskrit work, the *Mānakutuhala,* written about a hundred and fifty years before. Faqirullah reports that the tambūr had five strings made of iron or copper[57] and mentions three players of the instrument among the most famous musicians of the time. In a comment that indicates the mixed nature of tambūr music he says that the foremost tambūrist, Shauqi, "played both Hindi and Farsi [Persian] melodies very well." Indicating the degree to which the tambūr had become accepted in India, a disciple of Shauqi was Tara Chand, the first Hindu that we hear mentioned in relation to the instrument.[58]

A related occurrence in the indigenization of the instrument is the appearance of the tambūr (or tamburā/tamburah) as a drone accompaniment to voice. Iconography begins to show it as a drone instrument in the early 17th century. From a 1630 painting it is clear that at least some drone tambūrs had acquired a flat-surface bridge on the model of the bīn.[59] The flat-surface bridge is a feature unique to Indian string instruments and found on vīṇās from a very early period.[60] In this painting it appears to have frets not being used, though this may be decorative design. The drone tambūr becomes omnipresent in musical iconography from the late 17th century. The addition of the flat-surface bridge, clearly an adaptation of the bīn bridge, and the full scale adaptation of the instrument by vocalists seems to mark an important step in the acculturation of the tambūr to its Indian environment.

The full Indianization of the instrument by the time of the last powerful Mughal emperor Aurangzeb is finally confirmed by its appearance in a Sanskrit text, the *Saṅgītapārijāta* of Ahobala written in 1665, about the same time as Faqirullah's *Rāg Darpan.* This text mentions both an unfretted, *anibaddha,* and a fretted, *nibaddha, tamburam.* A Persian translation of the *Saṅgītapārijāta* was made by Pandit Dinanath in 1724 (and also, confusingly; given the title *Rāg Darpan*). An intriguing drawing of the fretted tambūrah copied from Dinanath's manuscript was published by Sir W. Ouseley[61] in his "Anecdotes of Indian Music." The instrument is drawn to indicate the fret positions for playing the rāga Rāmakalī. An intriguing aspect of the illustration is the strikingly short, wide neck shown on this tambūr, resembling very much the sitar. Maharaja Sawai Pratap Singh in his *Saṅgītsār* of 1790 Jaipur follows the *Saṅgītapārijāta* closely. He adds that the nibaddha tambūra is in fact another name for the sitar.[62] It is clear, however, that Pratap Singh's interpretation of the instrument described in the *Saṅgītapārijāta* is his own. He makes several changes to the description to fit the sitar of his time.The instrument in Dinanath's manuscript on

---

56. Ibrahim 'Adil shah, *Kitab-i Nauras, tambūrā: 107 tambūrkār:* 105; court poet Zuhuri: *tambūr:* 54.
57. Ahmad, *Hindustani Music*, 30.
58. Govind Vidyarthi, "Melody Through the Centuries." *Bulletin*, Sangeet Natak Akademi 11-12 (April 1959), 13-26, 33; Muhammad Karam Imam Khan, *Ma'dan-ul mūsīqī*, (Lucknow: 1925), 30. The importance of the *Rāg Darpan* for Karam Imam is evident from the excerpts appearing in his work.
59. This is pointed out by Dick in "Sitar," New Grove Dictionary of Musical Instruments.
60. The kinnarī, ekatantrī and ālāpinī vīṇās are all described with wide bridges called *kakubha.. Saṅgītaratnākara*, Vādyādhyaya., verses 52-56, 241-291.
61. Sir W.Ouseley, "Anecdotes of Indian Music," in Tagore, *Hindu Music from Various Authors* , 170 ff.
62. Sawai Pratap Singh, *Rādhāgovind saṅgīt sār*, vādyādhyay, 7.

the other hand must be assumed to be a diagrammatic representation of the tambūr, since no mention of the sitar occurs in that or any other contemporary text.

The melody tambūr maintained a presence in the courts well after Aurangzeb, through the 18th and into the 19th century. A story referring to the instrument is found in an account of the reign of Muhammad Shah's predecessor Jahandar Shah (1712-1713), to be recounted here in Part Two. References also occur in the *Miraqqa-i Dihlī* of 1738 where a court player named Baqar Tambūrcī is highly praised.[63] The *Nādirāt-i Shāhī* of 1797, a collection of songs composed by Shah Alam mentions both tambūr and tambūrā.[64] As late as the mid 19th century, Muhammad Karam Imam mentions something called a *tambūrah bīn,* an instrument having gut frets on which ālāp was played as on the bīn. The instrument was rare in his time, though, as he had seen only one player, Tusli Ram Kalāvant, interestingly a player of the Nāuhār dhrupad style.[65] Before its disappearance in India the melody tambūr had eviently been transformed into a dhrupad instrument.

The Appearance of the Sitar

While references to the tambūr continue to the end of the 18th century, the name sitar makes its appearance sometime before mid-century. The 1738 *Muraqqa-i Dihlī* may give the earliest Delhi reference, in the course of its description of Niamat Khan's brother. An alleged occurrence of the name at an earlier time in a text of Jodhraj, Rajasthan,[66] so far untraced, would indicate either that the sitar had already been brought there from Delhi (unlikely if it was still in an experimental stage, as it sounds from the *Muraqqa-i Dihlī*) or that it was existing elsewhere than in Delhi at an earlier time. This would be an important reference challenging the strong association of the earliest sitars with Delhi. By the third quarter of the century it was being seen fairly commonly, as European decriptions of it begin to appear.[67]

The exact circumstances of the sitar's first appearance are difficult to specify. The iconography of the time and to the end of the 18th century shows a number of thin necked long lutes. If some of them are sitars, no characteristics distinguishing them from the tambūr are visible. But it is fairly certain that some distinguishing features did characterize the sitar since it and the tambūr existed side by side for some time. Shah Alam mentions tambūr, tambūrā and sitar in his 1797 song collection the *Nādirāt-i shāhī.*[68] Besides the fact that they existed side by side, they are not associated in any oral histories. The sitar was probably not just a modification of the tambūr.

---

63. Khan, *Purānī Dihlī ke hālāt*, 68-69.
64. Ahmad, *Hindustani Music,* 73-77. The *Nādirāt-i shāhī*, Department of Musicology, Banaras Hindu University, handcopied from a manuscript in the Raza Library, Rampur. The work has now been edited by Imtiaz Ali Arshi and published by the Raza Library, Rampur.
65. Khan, *Ma'dan-ul musīqī,* 57.
66. In the *Hammīra Rāso*: Dick, "Sitar," 393.
67. The earliest (so far) by Mrs. Kindersley, dated 1777 "Letters from the Island of Teneriffe, Brazil, the Cape of Good Hope, and the East Indies," in Ketaki Kushari Dyson *A Various Universe*, A Study of the Journals and Memoirs of British Men and Women in the Indian Subcontinent, 1765-1856 (Delhi: Oxford University Press, 1978), 336.
68. "Bīn rabāb tambūrā sitār kānūn damāme sāringī muhcang
jhānjh manjīrā aur ḍholakī dairā bansarī karah aur hī cang
khaṭkarī aur kaṭṭār liye surnāī bhalī karnāī abapang
gāye gunī śāh ālam ko sab det mubārakī bajāye mirdang."
also
...gāvat rāg kanacan bājat bīn rabāb tambūr...
Ahmad, *Hindustani Music* , 76, 77.

No visual examples of what are definitely mid-18th century sitars are available, so in speaking of the shape of the earliest sitars we must depend on somewhat later examples. The earliest dates to about 1790. Maharaja Sawai Pratap Singh's fretless tambūrā is beautifully preseved in the Maharaja Sawai Man Singh II Museum in Jaipur. In his *Sangīt sār* he describes the fretted tambūrā , which he calls sitar, as exactly like the fretless one. Frontal as well as lateral pegs (one on each side of the neck in this case), a slightly widened neck that does not taper toward the end, a gourd body and a flat-surface bridge are features that set this instrument, however subtly, apart from the tambūr. It might be reasonably assumed that playing position, stroke technique and tuning were added elements of distinction. By far the most striking depiction of an early sitar is a drawing of a Delhi sitar player named Sahir Khan done at the relatively late date of 1827. Here we see every detail of instrument and player. The instrument resembles Pratap Singh's in almost every aspect, although it appears perhaps even smaller and more tambūr-like than his. A flat-surface bridge, two frontal and two lateral pegs and a straight neck characterize this instrument. The frets may be flat metal pieces although it is difficult to say. By these two examples, the earliest court sitars were small, narrow-necked instruments. Their resemblance in size and shape to the tambūr is striking.

With these characeristics of early court sitars in mind, it is surprising to find an equally early depiction of distinctly different sitar type. An etching done by a Belgian writer and artist, F. Baltazard Solvyns in Calcutta in 1799 shows a much larger instrument with six strings. The bridge is thin and the neck tapers toward the end. In contrast to the assumed court setting of the Jaipur and Delhi sitars, the setting here is distinctly non-court, the player possibly a travelling minstrel. Solvyns' unflattering description hints at its playing style.

> An European would make much more of this instrument than the Hindoo musicians, who are satisfied with touching the chords merely from time to time; and as they are much more charmed with the noise than with the melody of their music they frequently, to create a variety in their dull and monotonous sounds, place an iron ring in each chord of the *Sittar,* which being put in motion by the vibration, and striking against each other, produces a singular noise which delights the ear of the Hindoos and appears to them the supreme degree of perfection.[69]

The Solvyns sitar, along with others reported seen outside the courts and heard in accompaniment to dance, may represent a type significantly different from the Delhi sitar of Khusrau Khan. The existence of more examples of the Solvyns' sitar type in iconography and regional traditions suggest that it may also be as old as or even pre-date the sitar of Delhi.

The Kashmiri setar (the Persian spelling is usually used for this instrument) exists today as one of the most prominent of the regional sitar types in India. In Kashmir the instrument is said to come directly from the Persian setar. It is especially associated with *Sufiāna kalām*, the Sufi music of Kashmir. This genre, thought to date to at least the 15th century, is a fascinating mixture of Persian and Indian influences.[70] Although the modern Kashmiri setar now shows some influences of the mainstream Indian sitar, it retains characteristics that group it with the 1799 Calcutta instrument. A larger number of strings, a distribution of the strings across the entire width of the neck, and the strumming use of most of the strings especially define this sitar type. The Kashmiri setar has a wooden body, gut frets and seven to nine strings. Six of the strings are tuned in unison and are strummed as drones. A double course is

---

69. **Solvyns, F. Baltazard,** *Les Hindous,* (Paris:, 1810), vol.2
70. **Jozef Pacholczyk,** "Sufyana Kalam, the Classical Music of Kashmir," Asian Music, x-1(1978); Jean During and Alastair Dick, **"Setar,"** *The New Grove Dictionary of Musical Instruments,* Vol.3:345.

used for the main melody.[71] It has a flat-surface bridge like all sitars. A second sitar of similar type is to be found in the *deśi* ("regional") sitar of Gujarat. The Gujarat sitar has ten strings, its pegs crowded at the top of the neck. A double course is used for melody and the rest are strummed as fillers. Even the playing position for the Gujarati sitar seems to resemble that of Solvyns' 1799 player.

Considering the location and history of Kashmir, it is very possible that the setar in Kashmir predated that in the plains of North India. Some oral histories report early associations of the Delhi sitar with Kashmir. Umar Khan's oral tradition speaks of Khusrau Khan visiting or residing for some time in Kashmir and bringing the idea for the sitar back to Delhi.[72]So far, no iconography of Kashmir has turned up examples of the early instrument, but non-court culture normally remains unrepresented in mainstream art. A probable scenario is that the Presian setar found its way into Kashmir and from there to regional and non-court use in a shape and style close to its own. This type survived to some extent, and is represented today by the Kashmiri and *deśi* sitars. In the courts it took on a form modified by the Delhi musicians. The court sitar would soon displace the other types and receive acceptance and distribution as the mainstream sitar across North India. By the mid 19th century it would eclipse all the other solo instruments of its time. Details of the instrument's changing structure and tuning are traced in the next chapter.

In Afghanistan and Pakistan, lutes of Turkish and Central Asian origin other than the sitar are still in use today and reflect the variety of instrument types that must have existed in Northwest India throughout the earlier periods. The *danbooro*, the large dutār and the fretless *dambura* are all broadly related to the sitar as fretted long lutes. It is not impossible that some of these might have had an influence on the Delhi sitar, but this is not historically called for.[73]

The Early Sitar

Oral and written evidence indicates that the sitar appeared in the Delhi court sometime shortly before the mid-18th century. Iconography shows at least two different versions of the instrument for the 18th century, one closely resembling the small, narrow-necked court tambūr and the other larger with a wider neck and a larger number of strings. As the gat-toḍā solo repertoire for the sitar developed and professionals established the instrument in court musical culture, one sitar type emerged as mainstream while other varieties remained in regional traditions. In the earliest period still others were probably used in contexts outside the solo repertoire for dance and song accompaniment. The shape of the bridge, the material of the frets, positioning of the pegs, width of the neck, position, number and tuning of the strings, the plectrum and the right hand playing position reported in written account and seen in the art of the time help us in determining sitar types and in tracing the progress of change. In this chapter information is sorted out to determine the structural characteristics of the sitars from the 18th into the early 19th century.

71. See Jean During and Alastair Dick, "Setar," 355.
72. Umar Khan, interview, Calcutta, January 1979.
73. Dick, "Sitar," 3:393. Dick, citing the sitar's decorative collar and perceived imitations of carvel ribbing, proposes that the Uzbek dutār was the model for the Indian sitar. A historical connection is needed to support this idea. Also see: Jean Jenkins and Poul Rovsing Olsen, *Music and Musical Instruments in the World of Islam*, (London: Horniman Museum, 1976), 22-32; N.A. Baloch. *Musical Instruments of the Lower Indus Valley of Sind*, (Hyderabad, Pakistan: Mehran Arts Council, 1966;)

The Earliest Types

The earliest mention of the sitar in an informative context, aside from that in the *Muraqqa-i Dihli,* is an uncomplimentary description of a "nautch" by a British traveller. In a letter dated 1767 Mrs. J. Kindersley in a style typical for the time says about the music:

> The girl sings, while she is dancing, some Persian or Hindostàn song; some of them are really pleasing to the ear, but are almost entirely drowned by the accompaniments: several black fellows stand behind, who likewise sing with all the strength of voice they are masters of, making, at the same time, the most ridiculous grimaces; some of them playing upon a *Sitar,* which is something like a guitar, but greatly inferior even to that trifling instrument; but all this, loud as it is, is drowned by those who play with two pieces of bell-metal, which they work between their fingers, and make the same noise as braziers at work upon a large copper.[1]

No further information on the sitar is given by Mrs. Kindersley, but the sitting is conveyed quite graphically. Other references and iconography of the period indicate that accompaniment to song and dance was a regular function of early, possibly non-mainstream or non-court, sitars.[2] A small wooden figure dated "18th century" in the Jaipur Archaeological Museum provides a visual reference to the Jaipur sitar of the time. Held by a dancing woman, the small sitar appears to have a somewhat widened neck. No other details are visible, but the association with dance is notable. The next Delhi court source to mention the sitar after the *Muraqqa-ī Dihlī* is the *Nādirāt-i shāhi,* mentioned earlier, a song collection written for Emperor Shah Alam (ruled 1759-1806). The name is simply listed there.

In the last quarter of the 18th century, the first informative descriptions of the sitar are provided by Maharaj Pratap Singh of Jaipur in his *Saṅgīt Sār,* and the Belgian artist F. Baltazard Solvyns in his work *Les Hindous.* As noted earlier, the visual examples of the two portray notably different sitar types. Pratāp Singh's descirption of the sitar is sketchy but informative. It is a modified version of the description of the nibaddha taumburam found in the *Saṅgītapārijāta*. Pratāp Singh says:

> Now the tambūr, the vīṇā played by the Gandharva named Tumbar is described: This is popularly called tambūrā. Make this tambūrā of wood. On one end attach a half gourd and cover it with a thin wooden board. There attach three or four metal strings; keep one string for help, and tune the others to one note. Sing to the double of this note. This tambūrā is of two types, one tied (nibaddh), the other untied (anibaddh). To play rāgas on the tambūrā, tie strings (tār) at the note positions. And play rāgas on the tied strings. Know this to be the nibaddh tambūrā, which is popularly called sitār. And the one on which gut (tānti) is not tied, know that to be the anibaddh, to the double of which you can sing rāgas. From the note position tie strings (tāt) on the neck, and , two fists toward the neck on the board, put a bridge (ghoḍac) in the middle to support the strings. Place the bridge so that the strings are easily playable. Know the nibaddh tambūrā to be like

1. Kindersley, Mrs. J. "Letters from the Island of Tenereffe, Brazil, the Cape of Good Hope, and the East Indies" in Dyson, Ketaki Kushari. *A Various Universe,* p. 336. Thanks to Dr. Joep Bor who pointed out this valuable reference.
2. See small sitars in "The Impey family listening to strolling musicians," and "Colonel Mordaunt's Cock Match," by John Zoffany, 1783-4 and 1784-6 . Mildred Archer, *India and British Portraiture 1770-1825* (Delhi: Oxford University Press, 1979), 136, 149, 151.

this. And where there were seven or five or four strings (tār) tied at the note positions on the neck, and there is no string (tānti) tied, but in all other ways it is like the nībaddh tamburā and helps the notes in singing, know this to be the anibaddh tambūrā.[3]

His ambiguous language makes interpretation of the fret number and material difficult. He seems to be describing gut frets numbering only four, five or seven. Pratāp Singh's term for the bridge, ghoḍac. is a term meaning "horse" and is typical in later terminology for the bridges of both sitar and sarod. In the *Saṅgīt Sār,* the term *ghoḍacī* is used for the bridge of the rudra vīṇā. The origin of the use of the word is unclear. The flat-surface bridge here along with the gourd body stand as the only features explicitly distinguishing the sitar from the tambūr. The two or three strings to be tuned to one note are clearly the tonic **S** while the first, on the basis of later tunings is **M** for the sitar and **P** for the tambura. Tuning will be discussed more presently.

In 1799 F. Baltazard Solvyns, who had lived in Calcutta for fifteen years, published his large work in Europe featuring a collection of his own etchings protraying Hindu dress and customs. The 1810 edition with added commentary shows a peculiarly large, wide-necked and multi-stringed instrument. It has a thin, tambūr-like bridge and seems to have tied gut frets. The strings are positioned on the bridge to span the width of the neck, reaching to the very left edge. Solvyns' comments on the playing and sound of this instrument, quoted earlier, point to a non-solo, non-court use. Metal rings are described by Solvyns to enhance the sound of the instrument and are seen as tiny in his drawing, placed on the strings behind the bridge in the position of fine tuning beads. The description would indicate a metallic buzzing effect not unlike that of a pronounced *javārī* sound. The suggestion is repeated here that the etching and the description of the instrument points to its being a non-mainstream type. Similarities to the Solvyns instrument are seen in the deśī sitar of Gujarat and the Kashmiri setar.The size of the instrument, the number of strings , the positioning of the strings on the neck and even the holding position are similar. This sitar type was not structurally set up to participate in the gat-toḍā—a music that required deflection of the main playing string. The regional sitars will not be followed in detail here.

The Earliest Influences of the Bīn

The sitars recognized in the Hindustani tradition in the 20th century have several necessary features, especially a flat-surface bridge, curved metal frets, a wide neck, the positioning of the main playing string inward from the left edge of the neck and drone cikārī strings. All are adaptations of the features of the bīn, the North Indian rudra vīṇā. Performance tradition points to the sreious beginning of bīn influence with respect to Masit Khan, who it says was the first to introduce techniques of the bīn into sitar playing. On the basis of his lineage and surrounding evidence, Masit Khan can be placed in late 18th century Delhi (see Part Two, Chapter 3 for the full discussion). One of the important late 19th century sitar handbooks, the *Sarmāy-i ishrat of* 1875 speaks of the Delhi *bāj* (school or style of playing) of Masit Khan as being imitative of the bīn, played complete with "*mīḍ-mād, ṭhonk* and *jhārā*".[4] Mīḍ, thonk and *jhālā* are techniques of the bīn and modern sitar and involve deflection of the main string and use of cikārī strings. They require an instrument having virtually all of the physical features of the modern sitar. Sudarśanācārya in his *Saṅgīta sudarśana* states that Masit Khan "purified" the sitar after he had learned it from his father,[5] implying both physical and music classicization, movement toward the bīn.

---

3. Singh, *Saṅgīt Sar,* vādyādhyāya, 6-7. Translation mine.
4. Khan, Sadiq Ali. *Sarnay-e Ishart,* p. 203. See Part Three for a discussion of the terms.
5. Sastri. *Saṅgīta Sudarśana,* introduction, p. 26

Although consistent oral hsitories indicate that Masit Khan, taking over from the presumably innovative work of Khusrau Khan and Firoz Khan introduced dhrupad techinques into sitar playing, the exact features of his sitar are not known. Written and pictorial source show that sitars in the late 18th century and into the 19th century were still of a type lacking several of the basic features of the later sitar. The Masit Khan style sitar would have been in use in small and specialized circles, possibly within only one family line, which may explain the lack of pictorial documentation, but no graphic evidence supports the presence of metal frets or cikārī strings on 18th century sitars.

The Early 19th Century

The wonderful portrait of Sahir Khan provides a clear indication of the features of an early nineteenth century instrument. A flat-surface bridge, the earliest apparent influence of the bīn, must have occurred through the intermediary of the drone tambūrā, which had such a bridge from the seventeenth century. The positioning of the main playing string inward from the left edge of the neck allowing for the possibility of deflection is a second bīn feature seen on Sahir Khan's sitar. Although it has a narrow neck, the main string is clearly positioned in this way and would have been capable of a small amount of deflection. Even the position of his left hand on the strings seems to indicate a pulling motion. Whether the frets were metal or not is not clear, but they were definitely flat, not raised and curved as on later sitars. It is to be noted that cikārī strings are not present on Sahir Khan's sitar. It is not possible to see if Sahir Khan is using *mizrāb,* but other sources of the time do refer to its use. A right hand position geared to the use of the mizrāb is a feature essential to the mainstream sitar and its gat-toḍā music. Along with metal frets it probably represents the next stage of influence from the bīn.

Captain Robert Smith, in an unpublished account written between 1828 and 1833 speaks of seeing the sitar along with the "saringee" accompanying nautch girls. He also describes a separate concert :

> At the concert I mentioned there were five performers; the principal one and he was considered first rate, played on the sitar, an instrument resembling the guitar but strung entirely with wire, in which respect it may with more propritey be likened to that Italian instrument the mandolin; it was played upon principally with the forefinger armed with a piece of wire passing over the top and round a little above the first joint. The next performer played the base on an instrument nearly similar to the first except being much larger and with no wire guard on the finger; a third beat time with his fingers on a small soft toned drum: there were two other performers in the rear all sitting on the carpet who seemed to take very subordinate parts.[6]

Captain Smith's wonderful pencil drawing of the concert ensemble shows a distinctly wide-necked sitar with five pegs in frontal positions. The right hand and general holding position is pre-modern, resembling that of Solvyns' player and the player of the deśī sitar. The large sitar-like instrument is a fascinating predecessor to the *Surbahār*. Significant here is the solo role of the instrument, one of the first on record.

One of the most informative descriptions of the early 19th century sitar is found in Captain Willard's "Treatise on the Music of Hindoostan", one of the learned and respectful works by British writers, published in 1834. Willard speaks of metal frets (their first clear reference) and the use of the mizrāb, and gives a few valuable details on string tuning :

6. Captain Robert Smith, Pictorial Journey of Travels in Hindustan from 1828 to1833 (unpublished) manuscript in Victoria and Albert Museum, London, I.M. 15-1915. Thank to Dr. Joep Bor for this reference.

> It resembles the last mentioned instrument [the tumboora], but is made a good deal smaller, and has movable frets of silver, brass, or other material, which are fastened with catgut or silk. Seventeen frets are generally used, and as they are movable, they answer every purpose required. The shifting of these to their proper places requires a delicate ear.
>
> This instrument derives its name from si...signifying in Persian *three,* and tar... *a string* as that number is commonly used. More modern players have made several additions.
>
> Of the three wires, one is steel, and the others brass. These last are tuned in unison, and are called Khuruj from their sound, and the other is a perfect fourth to it. The fingers of the left hand side over the frets on the fingerboard, and stop the notes in the same manner as on the guitar, and the wires are struck with the forefinger of the right, to which is fitted a kind of plectrum or instrument called a *Mizrab,* made of a piece of wire curiously twisted, to facilitate the various motions of the finger.
>
> The Sitar is very much admired, is used by both professional men and amateurs, and is really a very pleasing toned instrument in the hands of an expert performer.[7]

The word *Kharaj,* is a corruption of ṣaḍja, the full name of the tonic note S. The term is sometimes used today for the lowest string of the sitar. The pair of S strings next to the main playing string on sitar later came to be called joḍi, "pair."

The mizrāb, the wire plectrum worn on the right index fingur, came to be the basis for all right hand sitar techniques and to a significant degree a basic for the gat-toḍā music genre. An Arabic word derived from the root *zarab,* "to strike," it was used as the name for the flat plectrum (made of wood or eagle's talon) of the Arabic and Persian rabāb (and later the ud) from at least the 9th century according to Farmer.[8]The term was later used in connection with the stroking motion of the Persian setar, a technique that used the index finger in quick rhythmic patterns.[9] It was probably carried into India from this source. The wire plectrum was used by bīn players from an earlier period It is described clearly in a 17th century account by an Italian traveller, Pietro Della Valle:

> ...he touch'd [the frets] with the left Hand, to diversify the sounds, and the strings with the right, not with his Fingers or Nails, but with certain iron wires fastened to his Fingers by certain rings like thimbles...[10]

Pratāp Singh does not mention any plectrum in connection with the sitar al though in describing a gamaka for the bīn (from the *Rāgatattvavibodha* of Śrīnivāsa) speaks of the nakhūn,[11] "fingernail," which could refer to an artificial plectrum as well as the natural nail.

---

7. N. Augustus Willard, "A Treatise on the Music of Hindoostan", in Tagore, *Hindu Music from Various Authous,* 98.
8. Farmer. *Studies,* p. 89
9. During and Dick "Setar," New Grove Dictionary of Musical Instruments, Vol. , 354.
10. From *The Travels of Pietro Della Valle in India,* 1892 in Bor, The Rise of Ethnomusicology: Sources on Indian Music c. 1780, 3/1890,3
11. Singh. *Sangit Sar,* Part 4, Prakīrṇakādhyāya., p. 14.

The two-sided wire mizrāb extending over the end of the finger from front to back contributed an essential feature to mainstream sitar playing, namely the production of clear single notes with back and forth strokes. This movement contrasted the brushing technique of the tambūr and the non-mainstream sitars and must have been marked by the clarity of sound that it could produce on the main string. It took the idea from the bīn and added to it an easy back and forth movement. The mizrāb allowed the adaptation of bīn techniques and innovative rhythmic patterns. Even the stroke patterns of free-hand instruments such as rabāb and later sarod were now possible.

By 1830's a sitar type had emerged in Delhi that was becoming known for solo performance as well as dance accompaniment. It had three to five strings, a gradually widening neck and metal frets and was played with a mizrāb. At least some instruments were capable of producing some bīn-derived techniques, especially deflection of the main string. But still to be added to the instrument were several of the basic modifications in the direction of the bīn known on the modern sitar, including *cikārī* and *tarab* strings.

★★★

.5.

Taṇḍu, The First Theoretician of Dance

—Dr. Mukund Lath

Speaking of theoretical activity in India we proudly sing glories of Yāska (7th century BC), Pāṇini (4th Century BC) and their predecessors who were the first thinkers in the world to subject language to a theoretical analysis, semantic and grammatical. We forget certain others who are equally ancient. One of them is Taṇḍu. Taṇḍu was the first theoretician in the world to analyse dance.

Taṇḍu wrote ..... or perhaps like some ancient theoreticians ...... orally composed a śāstra on dance which has not come down to us in its original form. The Śāstra, however, is incorporated in Bharata's Nāṭya śāstra and it is on this that we shall base our account of his endeavour. We shall be aided in this by the Abhinava Bhāratī, the insightful commentary which the renowned Abhinavagupta wrote on the Nāṭya śāstra in the 10th-11th centuries.

How old is Taṇḍu? There is no way one can give an answer. He is certainly older than Bharata, who used many existing śāstras including Taṇḍu's śāstra on Tāṇḍava to complile his own Nāṭyaśāstra around the beginning of the Christian era. Bharata presents Taṇḍu's śāstra in his own way, as he does many other of the śāstras that he uses. Yet we can reasonably expect a good deal of Taṇḍu's own words to have been preserved in Bharata's reformulation, for this would only be natural in reproducing a tightly-knit technical work, auch as a śāstra usually was.

But the śāstra as a whole, however, has suffered a distortion in his hand, as we shall attempt to show. Bharata has split it into two parts, assimilating one of them into his own text in such a manner as to almost obliterate its separate identity. We shall try to show how.

But we are more interested in the nature of Taṇḍu's śāstra : his approach to his material, the Tāṇḍava. As we have already pointed out, śāstric or theoretical activity concerning the performing arts seems to have begun as early in India as theoretical activity concerning language. Pāṇiṇi was familiar with a Naṭasūtra which he ascribes to an ācārya named Śilālin. Nothing is known of this Sūtra or of Śilālin beyond Pāṇini's reference to them. But the very fact that Śilālin's work is called a Sūtra indicates that it was a systematic, organized enterprise. Did the word 'Naṭa' in the Naṭasūtra stand for a dancer or a play-actor? We have no way to know. Some have suggested that the 'Naṭa' here stands for a juggler. That seems unlikely, since composing a Sūtra was considered a serious activity. Juggling was certainly not a serious enough business to call for a Sūtra to be written on it. But if Śilālin's Naṭasūtra was either on dancing or playacting, it is surprising that Bharata seems unaware of it. Nowhere does he mention

* The author is very well known in the fields of Musicolgy and many other. He is a close member of Bahenji's seholarly family. I could not cantact him at present to get a memqir for this Vol. due to his illness, so this old article of his (got from Bahingi's store) is being presented here from Behanji's collection. —Urmila

Śilālin. Yet we must not forget that many old works have been forgotten. The authors of some we know through their mention by later theoreticians, who have, however, not mentioned everyone. Śāstric works are not histories, except incidentally. We would not have known of Śilālin and his Naṭasūtra except for Pāṇini's incidental mention of him.

Taṇḍu may have been as ancient as Śilālin, though we can never be sure. We can be surer of the fact that his endeavour is connected with ancient Shaivism, which took the performing arts very seriously, creating forms which continue to live with us. In music it produced the Gāndharva which through transformations is the basis behind our rāgas. It also introduced the Gāndharvaśāstra which likewise remains the basic framework behind our theorising a bout rāgas.

Tāṇḍava was the dance counterpart of Gāndharva. It was the dance Śiva himself created and danced. This indeed makes Tāṇḍava more central to Shaivism then Gāndharva. It was not created by Śiva nor performed by him, as Tāṇḍava was. It was only addressed to him.

The story goes that Taṇḍu created his Śāstra when, desirous of teaching his dance to Bharata, Śiva asked Taṇḍu to do the work. What Taṇḍu did was to create the first known theoretical analysis of dance as a form, which became a model for all subsequent Indian enterprise in the field.

It is a model worth understanding on its own. For Taṇḍu created one of the earliest systems for constructing or generating complex forms out of simple entities through certain rules of formation. What is extremely interesting is the fact - something which is pointedly brought out by Abhinava - that the simple units of which the dance was constituted as well as the complex whole they formed were self-contained entities. Unlike language, on which Pāṇini theorised, the structures of Taṇḍu's dance did not refer to or mean anything beyond themselves. The dance was form alone, a significant form - being a dance danced by Śiva himself - but its significance was not acquired through any meaning outside of itself such as language essentially has.

From the viewpoint of theory, thus, Taṇḍu's discourse upon dance is one of the earliest attempts at building what might be called generative system of pure forms without any content. It should be of extreme interest to theoritsts who think that creating such systems, is one of the supreme goals of theorising.

Taṇḍu's system can be likened to that of Pāṇini. Except that Pāṇini's system is not a system for generating pure forms. The complex linguistic whole which Pāṇini was interested in analysing was the pada, a usable unit in a sentence. Pāṇini broke up padas - Sanskrit padas , which were his concern - into smaller units. These units of dhātu, pratyaya, upasarga had themselves no meaning. They could be variously combined by rules of formation which Pāṇini meticulously notes. Any number of 'pada' could be formed or generated, provided the rules were correctly observed. But there was an outside constraint. Whether a pada was acceptable or not could not be determined by the generative system itself. For, the pada had to have a meaning which the system itself could not endow it with. Taṇḍu's system, on the other hands, has no such constraint. It was not a system for abhinaya which, like language, has to have a meaning beyond itself. It was a system meant for generating pure dance. The Nāṭyaśāstra is aware of this distinction and Bharata brings it out very clearly through an interesting story.

After Bharata had created Nāṭya, he presented a play before the Devas and the Asuras who enjoyed it immensely. The art, Bharata then thought, should be presented before a proper sahṛdaya and critic. He, therefore, approached Śiva with an appropriate play called the Tripura-dāha. Śiva was pleased with the play and with Bharata's Nāṭya, calling it meritorious and instructive. But he asked Bharata to add something to it. This was the Tāṇḍava. But could this be done? The very idea of adding a pure form to

Nāṭya, which like language was not a pure form, raised an aesthetic problem which was voiced by the Rsis to whom Bharata related the story. The soul of Nāṭya, the Rsis said, was abhinaya, which was a means for representing what happens in the world on the stage; how can Tāṇḍava fit into such a representation, since it has no concern for any meanings nor can it represent any happenings? Bharata ageed with the rsis. He was fully aware that Tāṇḍava was pure form. Tāṇḍava, he agreed, was quite unrelated to anything that happens in the world. It was, he said, beautiful in itself, a source of joy on its own without depending on anything beyond itself. Yet he did incorporate it into his Nāṭya. And this was possible because of Taṇḍu's analysis of Tāṇḍava into smaller units. The Tāṇḍava as a whole could not be incorporated into Nāṭya, but it was possible to incorporate its parts.

II

The Tāṇḍava consisted basically of complex formations called aṅgahāras which could be strung together into larger wholes. The Tāṇḍava that Śiva danced had a repertoire of 32 aṅgahāras. Taṇḍu's goal as a śāstrakāra was, doubtless, to describe these aṅgahāras. The method he chose was to analyse them into smaller building-blocks. The analysis follows two satges. At the first stage, Taṇḍu analyses aṅgahāras into karaṇas, 108 in number. Different combinations of karaṇas, he says, produce aṅgahāras. A combination of at least two karaṇas gives rise to what he terms a nṛtta-mātṛka, which is not yet an aṅgahāra. For an aṅgahāra must have from five to nine karaṇas, one or more of which can be repeated.

One thing is clear at this stage. Given 108 karaṇas and the rule that five to nine of them make an aṅgahāra, it is possible to produce innumerably more than the 32 aṅgahāras which Śiva's repertoire consisted of. The result of Taṇḍu's analysis was to enlarge the possibilities inherent within Śiva's dance. We find him describing 32 aṅgahāras where Śiva danced. But other aṅgahāras which he has not described could be easily formed following his simple rule. Abhinava, therefore says that there is no end to aṅgahāras though the 32 danced by Śiva are especially sacred. Taṇḍu's śāstra in effect opened up the restricted Tāṇḍava of Śiva, without diverging from it in form and conception. This is, indeed, the character of many Indian śāstras including Pāṇini's grammer, due perhaps to an influence of that great and ever-fascinating intellectual in analysis language. Though I must say that it seems more likely that Pāṇini's grammer was not a cause but itself an effect of the works behind many śāstras including that of Pāṇini. Certainly, no historical links with Pāṇini can be palpably traced in the various śāstras which analyse their material with the same intent of opening up possibilities.

A karaṇa, however, was itself a complex unit and obvioulsy so. Even a simple glance at the description of the karaṇas will not fail to impress this fact upon us.

Let us take a couple of samples. The karaṇa, named maṇḍala-svastika (No. 8), is described as follows:

"With the body in the sthāna called maṇḍala, bring the two hands to the svastika position so that they are equipoised with the palms raised and facing inwards. (prānmukhordhvatalau samau). Such is the karaṇa called maṇḍala svastika." Another karaṇa, the kaṭicchinnā (No. 11) bears this description:

"The hands are to be in the pallava formation near the head; the waist is to be turned first to one side, then the other (chinnā) - done repeatedly. This is the karaṇa called kaṭicchinnā."

Even in these two samples we can see the complexity of the karaṇas. Each of them can be analysed into smaller, more atomic, units. Such an analysis was, indeed, made and is assumed in the description of the karaṇas. These smaller units too, were known as mātṛkās.

Taṇḍu introduces his description of the karaṇas with the words:

"Listen to me, I shall now describe to you [the karaṇas] noting the movements of the hands, the feet, the hips, the thighs, the breast and the back. [Also the] sthānas, cārīs and the position and the movements of the hands needed in Nṛtta Tāṇḍava and are known as the mātṛkās. The combination of mātṛkās produce the karaṇas." (NS 4, 59-60).

The use of the term mātṛkā which recurs here can cause confusion. Earlier, Taṇḍu had told us that a mātṛkā was a much larger building-block in the formation of aṅgahāras. Two karaṇas, he had said, made a mātṛkā. Now he tell us that mātṛkās are units in the formation of the karaṇa itself! No justification is given for this puzzling use of the same term in two very different senses. Mātṛkās cannot both form a karaṇa and be formed by it. Fortunately, we have Abhinava whose comments help us to sort out the confusion. Mātṛkās, he says, are of two sorts: (1) nṛtta-mātṛkās which are formed through karaṇas and (2) Karaṇa-mātṛkās which form the karaṇas. Yet, where is the justification for this dual use of the term? The term mātṛkā, properly speaking, should be used only for the karaṇa mātṛkās. For, the word mātṛkā as used elsewhere in other śāstras, means the smallest unit into which a larger whole could be analysed. In the grammatical tradition we thus have varṇa-mātṛkās, basic syllables, which could be combined into strings to form larger units, such as words, most of which have more than one syllable.

Morever, the nṛtta-mātṛkā in any case seems to be a redundant notion. It does not really play any role in the formation of the aṅgahāras. A nṛtta mātṛkā is described as a set of two karaṇas. But the aṅgahāras are not a combination of such pairs. What then is the purpose in the śāstra of the concept of nṛtta-mātṛkā? Abhinava tries to give a justification which does not convince. He argues that it is only after two karaṇas have been formed that we begin to conceive the bodily movements occurring before us as forming a dance and not as part of another, a totally different activity. This is, plainly, a forced justification. A karaṇa itself, as we can see even from the two samples described above, should have been sufficient to impress upon an onlooker's mind that what was being performed was a dance. Abhinava, like all loyal commentators, felt obliged to justify an ancient śāstrakāra even though there was no justification. And yet Abhinava has himself defined the smallest movement in pure dance as a movement which creates the impression of being a single unitary movement gracefully executed without any ulterior purpose. A karaṇa-mātṛrkā could on its own, have formed such an, unmistakably, dance unit.

Mātṛkā, then, should be taken to mean only a karaṇa-mātṛkā. The śāstra seems to have no real use for nṛtta-mātṛkā. Where did the notion of nṛtta-mātṛkā come from? Was it Taṇḍu's own or that of Bharata we do not know. But it is redundant.

The mātṛkā consisted of movements and positions (gati and avasthāna as Abhinava aptly terms them) of the different parts of the body and were given different names. Noteworthy is the absence of any movement of the eyes or the face in Taṇḍu's list of movements that formed a karaṇa, which we have noted above. Such movements inevitably convey an emotion, a feeling, in other words a bhāva, and are not self-contained movements. Understandably, therefore, they were excluded from a dance aiming at pure form. Abhinava and the later the theorists, however, include such movements as part of Tāṇḍava. With what justification we do not know. They seem to have become part of Tāṇḍava much after Taṇḍu.

The outline of Taṇḍu's śāstra that we have given so far was based on chapter four of the Nāṭya śāstra.

Taṇḍu here mentions the mātṛkās which were the building-blocks of the karaṇas. But these are not described here. Their knowledge is assumed in descherdibing the karaṇas. Obviously, the śāstra here is incomplete. The mātṛkās should have been described. Evidently they were but the śāstra has been

dismembered by Bharata. He has taken the description of mātṛkās out of its proper place, namely Taṇḍu's śāstra and has carried it elsewhere. Taṇḍu's description of mātṛkā now forms part of a larger, much more ambitious, repertory of movements and position used in nāṭya and described in chapters eight to eleven of the Nāṭyaśāstra.

Taṇḍu's original śāstra must have contained a description of just those mātṛkās which were needed for his Tāṇḍava. Bharat has many more. Moreover, the description as we have it now in Bharata is appended with a viniyoga, a karma, as Bharata calls it, which tells us of the 'use' (or uses) of the movement or position in nāṭya.

This is how Bharata incorporated the pure form of Tāṇḍava into his own abhinaya-oriented nāṭya. For abhinaya can make use of any movement whatsoever. Speaking about hand movements, Bharata pointedly remarks: 'there is no hand movement that is of no use for abhinaya in nāṭya - nāsti kaścidahastastu nāṭye 'rtho' bhinayaṁprati' (N. S. 9, 162). What he says of the hand is true of all movements in general and this, surely, he was aware of. Taṇḍu's śāstra must have been devoid of these viniyoga details.

Yet, though Taṇḍu's mātṛkās have been incorporated within a larger nāṭya material we can still sort them out to some extent. Some sorting has been done by Bharata himself. Take chapter nine. It gives the movements and positions of the hands -- the forearm, the arm and the palms -- the breast, the sides, the stomach, the hips, the thighs and the shanks. The positions are carefully classified, named and described. The movements and positions of the hands -- though not of the other limbs -- are divided into two distinct parts (1) those that are relevant to abhinaya, and (2) those that are relevant to Nṛtta that is Tāṇḍava though also to abhinaya, since abhinaya can make use of any movement.

A more thorough sorting can be done on the basis of the terms which occur as descriptions of movements that form a karaṇa. Many of these have been used in a technical sense and they recur in the descriptions of movements in chapters nine and ten.

The problem becomes much more was difficult to solve when we come to sthānakas and cārīs, especially the cārīs.

Dance, as Abhinava aptly points out, is a combination of positions and movements -- avasthāna and gati. If we thus conceive dance as a large spectrum of avasthānas or avasthitis and gatis, then the cārīs would be at one end of the spectrum, being the essence of gati while at the other end would be sthāna, which many be called the basic avasthiti (tatrāvasthana karakāyopayogi sthānakāni. gatau tu cāryaḥ says Abhinava on N. S. 4, 59)

The sthānas or sthānakas, as they have also been called, were basic positions of the body with which all gati began and to which it returned (cārīnāṁ gatirupatvaṁ gateśca pūrvaṁ paścādbhāvinī sthitiḥ: Abhinava on N. S. 10.50).

The sthānaka is, in this, somewhat similar to the ādhāraśruti or the tonic 'Sa' in music, which indeed was also known as sthānaka in earlier times although we are not sure if the same sthānaka formed the beginning and end of movement in dance.

Though all mātṛkās involved some movement, the movement in most was instrumental: it was aimed at arriving at a position. In a cārī, movement itself was the end. It could be: (1) a large movement into which movements of the different parts of the limbs were coordinated into a single whole (2) movement of the foot or the feet with the ground as the focus, which gave the feel of the body moving on the ground or above it, in space.

In describing cārīs, Bharata promises to let us know which of these belong to Nṛtta or Tāṇḍava. But he does not keep his promise. The greater problem here in, however, posed by Taṇḍu's own description of karaṇas in chapter four. He speaks of cārīs as a mātṛkā in the formation of karaṇas. But his description of karaṇas does not mention cārīs. Abhinava and later theorists such as Śārṅgadeva do speak of them in their much more thorough descriptions of karaṇas. But why are they absent from Tandu's own description? It is a question difficult to answer. But it certainly forms a lacuna in the śāstra for which Bharata probably cannot be blamed.

The mātṛkās open up even greater possibilities of composing newer structures than the karaṇas. For Taṇdu they are the building-blocks merely for the fixed number of karaṇas that his dance used. Taṇḍu must have been aware that these karaṇas could be used to form more than the 32 aṅgaharas which Śiva danced and which formed the basis of his analysis. But was he also aware of the fact that the mātṛkās into which he had analysed the karaṇas could also be similarly used to compose more than 108 karaṇas he has taken into account? We can reasonably imagine that he must have been, for the possibility we are speaking of, flows very plainly from his method of analysis.

His analysis, in fact, allows us to move even further. Can we not add to the repertory of mātṛkās themselves? Later tradition, indeed, did just that and so we hear of various deśī positions and cārīs in later texts. This, indeed, is a process which need not stop, as it seems to have done today.



.6.

Nāda in Spiritual Culture, Specially Yoga and Tantra

—*Dr. Govindagopal Mukhopadhyaya*

It is a very happy augury for all of us to have assembled in this holy city of Varanasi to make an enquiry into the various facets of Sound (*Dhvani*) as explored in Indian Culture. But as all happiness in the world is tinged with sadness, our infinite regret is that the convener, who was the main inspiration behind this unique Seminar, our dear sister Dr. Premlata Sharma, suddenly left us a few months back. Having made all arrangements and after having drawn up the programme in all details as well as having prevailed upon all of us to attend this Seminar, she chose to take herself away to the source of all *Dhvani* or Sound, of which she was such a magnificent exponent, both through her beautiful singings as well as writings. I offer my respectful humble homage to her memory before I commence to speak on the topic, she chose to allot to me.

The spiritual culture of India, as is well known, is based on the Vedas, which is looked upon as the Śabda Brahman, the uncreated Sound, Anāhata Dhvani, Apauruṣeya Śruti. It is Apauruṣeya, not created or produced by any person, the implication of which is not very clear to us who live, move and have our being in the realm of created or manufactured things.

The fundamental question which engaged the attention of the Vedic seers was the mystery of creation. *Kuta ājātā, Kuta iyam visṛṣṭiḥ* was the only question that haunted them. Whence has all this sprung forth? Whence this creation? They discovered that at the root of all creation is vibration. This vibration is called *Nāda* or sometimes called *Spanda.* The supreme silence, which is beyond all sound and vibration, is the source, the eternal ground (*adhiṣṭhāna. āśraya*) of all creation. The Tantras call it Śiva, who in its inherent nature is niṣkala, niḥspanda, niḥśabda, which all denote its utter transcendence. But in creation, this Śiva becomes joined with Śakti i.e. becomes sakala. The term kalā means śakti and also its different phases or aspects. The power or Śakti unfolds itself step by step and as an inherent principle immanent in all creation starts the process of evolution. The *Śāradātilaka,* an ancient Tantrik text, beautifully describes this process thus:

Saccidānanda - vibhavāt
sakalāt parameśvarād -
āsicchaktis tato nādaḥ
nādād bindusamudbhavaḥ.

From this *sakala,* empowered Parameśvara or the Supreme, first came out Śakti and from that i.e. *Śakti* was generated *Nāda*, the Sound, Dhvani or vibration and thence was the emergence of Bindu, the dot, the first concrete point of creation.

Creation is thus a concretisation of what was abstract, the expression of the inexpressible. This expression is known as *Nāda* or *Dhvani* and as is well known, *Dhvani* is always followed by *Āloka* or Light. The vibration becomes illumination. *Ākāśa,* the first of all *bhūtas,* is known only through sound and *Prakāśa*, the manifestaion of light, is the characteristic of *Agni.* the third of the *bhūtas*. The heat of the fire then cools down in the water, the fourth of the *Bhūtas* and finally in the fifth of the *bhūtas* i.e. *prithvī*, the liquid becomes solid, it is all grey matter, apparently inert, immobile. This is how the seers of India traced the descent of the Spirit in Matter and *discovered* the *mystery of creation in their thinking and living laboratoy of mind and life.*

Having briefly indicated the significance and role of *Nāda* in the process of creation, let us now concentrate on the main topic which I have been asked to elaborate viz. *Nāda* in spiritual culture. Spiritual culture in India, as indicated at the outset, concentrates in resolving the mystery of creation. In all the multifarious forms of this spiritual culture, we find the attempt has always been to get back to the source. The Yoga and the *Tantra* have specially devised practical methods to undertake this return journey from matter to spirit. It is thus an ascent of the soul enmeshed in matter to its own pristine glory through those very steps by which it made the descent and here again *Nāda* plays a vital role.

Yoga, as we all know, has many branches like *Haṭha, Rāja,* Mantra and others. They are all concerned with the psycho-physical make-up of man, some concerntrating on the body, some on the mind, some on the life or the speech and so on. The aim of all of them is to restore the harmony, bring back the poise by rousing the right vibration. Some take recourse to *āsana,* some to *prāṇāyāma,* still, others to *dhyāna* or meditation to achieve this end. But the most common and almost general practice accompanying all of them is the muttering or recital of a *mantra.* Nothing is more helpful in achieving the desired end of all Yoga than this Japa which has almost become universal in all forms of *Sādhanā* or spiritual practice.

But the secret of Japa always eludes us, as we do not care to known the science behind it. We carry on our Japa mechanically, repeating the words, without knowing why we are doing so. The purpose of all Japa is to rouse the *Nāda,* the real power behind the dry and lifeless words we go on muttering. This will need a deeper probe into the formation of a word or a letter through its four different stages. viz. *Parā, Paśyanti, Madhyamā, Vaikharī.*

All of us may feel bewildered when we are asked to go back beyond the spoken word, with which we are all familiar and carry on all our worldly business of communication. This is the last outer stage, the external expression through the mouth and the lips of that original vibration. This is spoken through the senses and also heard through the senses and is called *Vaikharī*. But behind this gross expression, *sthūla śabda,* lies the *sūkśma ṣabda,* the subtle vibration which stands in the middle as a bridge and is, therefore, termed *Madhymā*. It connects, as it were, the outer and the inner worlds of vibration or expression. Going further back beyond this bridge, we reach the realm of illumination, where it is all 'seeing' *vāk, paśyanti.* There the vibration itself is the revelation. It is creative word, which as soon as it is spoken or vibrated, creates the object. Bhavabhūti, in his *Uttararāmacaritam,* hints at it, when he says:

ṛṣīṇām punarādyānam
vācam artho anudhāvati.

Here the process is reversed. In our everyday experience, the object predominates. We are confronted with different objects, *artha* or *padārtha* and to distinguish them we put different names as labels to each of them. So here, *artham vāg anuvartate,* the word follows the object. But in a creative word, as

word, as of the seers, the object follows i.e. comes immediately after the word. The word here is not hollow or empty but loaded with the object.

In spiritual culture we are in search of this creative word, which is called *mantra*, the saving word of meditaion *(mananāt trāyate)*. The highest of all mantras, the very best which sustains even today all the people of India is the *Gāyatrī*, which also literally means that which saves through its singing (*Gāyatrī procyate tasmād gāyantam trāyate yataḥ)*. This singing signifies the rousing of the vibration. The *mantra* must vibrate, resonate through every *fibre* of the being and this is achieved through *Nāda*.

The *Guru* imparts the *mantra* at the lowest level of *Vaikharī* by whispering it into the ear of the disciple. The fire must have a container when it is to be carried or transmitted from one place to another and *Vaikharī* here serves that purpose. But inside it is the flame or power, which has to be brought out by peeling off the outer cover, by and by. For this, Japa is prescribed through which the dry letters gradually melt, leaving only the flowing *Nāda,* which is the very soul of *mantra,* to carry the *Sādhaka* or *Jāpaka* to his desired goal. This is what is called *srotāpatti* in Buddhist terminology. Having now fallen in the stream, no further personal effort is needed. The stream itself, the vibrating *Nāda* alone will carry the aspirant to the ocean of light, his ultimate destination.

Thus we find what an indispensable and vital role *Nāda* has, both in creation as well as dissolution. It is a well-known fact of science that Sound creates forms as well as destroys them. Indian spiritual culture had all along been based and formulated on scientific lines and this can be verified by everyone even to this day by pursuing the age-old process of *Japa* with proper understanding of all its implications. Not only the seers of old but even those of the present day like Swami Pratyagatmananda Saraswati, Mahamahopadhyaya Gopinath Kaviraj, Srimat Anirvan, to name a few, who lived this truth, have left for us through their illuminating writings the most authentic account of the secret of *Japa* through which the bare lifeless words become transmuted into flaming vibrant *dhvani* or *nāda*. Swami Pratyagatmananda Saraswati's magnum opus, the *Japasūtram* in six volumes is devoted totally to unravel the mystery of *Japa*. Our departed dear sister, Dr. Premlataji, took infinite pains to translate these volumes in Hindi and publish them for the benefit of all true seekers of the spiritual path. So also Mahamahopadhyaya Gopinathji Kaviraj as well as Srimat Anirvanji, in whatever they wrote, either on the *Tantras* or the Vedas, they tried to lift the veil that hides the true sitgnificance of India's spiritual culture.

Unfortunately even after fifty years of independence we have not cared to study seriously the works of such savants. On the other hand, there is a tendency to dismiss them all as unrealistic and imaginary. In our zeal to uphold the reign of reason we imprison ourselves within its narrow confines and thereby having lost the catholicity and the openness of mind are deprived of the infinite treasure which is our very own. The following remarks of the great psychologist Jung may open our eyes:

"Reason sets the boundaries far too narrowly for us and would have us accept only the known - and that too with limitations -- and live in a known framework, just as if we were sure how far life actually extends. As a matter of fact, day after day we live far beyond the bounds of our consciousness; without our knowledge, the life of the unconscious is also going on within us. The more critical reason dominates, the more impoverished life becomes; but the more of the unconscious, and the more of myth we are capable of making conscious, the more life we integrate. Overvalued reason has this in common with political absolutism; under its dominion the individual is pauperised."

I shall fervently hope that a Seminar like this will not overvalue reason but give revelation also its due and strike a balance between the two as has been the age-old tradition of India. Only thus can we hope to prevent the individual from being pauperised and our life from being impoverished.

I have refrained from taxing you with more details about the different types of *Nāda or Dhvani*, which are experienced in spiritual culture as they may appear to our reason even more fanciful and imaginary. But those who are interested in exploring this matter sincerely and experimenting with them are requested to go through such texts as the *Nādabindu - Upaniṣad,* where numerous types of *Nāda,* such as those of *bherī, mardala, ghaṇṭā, kāhala, kiṅkiṇī, vamśa, vīṇā* and others are mentioned. The purpose everywhere is to merge the mind in the sound, *nāda* or *dhvani*. The power of Nāda is also mentioned in the very first chapter of the *Bhagavadgītā* : *Sa ghoṣo dhārtarāṣṭrāṇām hṛdayāni vyadārayat,* where the sound of the conchshell practically foretold about the outcome of the war that was going to be fought. Similary in the *Durgā saptaśatī*, we hear how *Nāda* filled the entire atmosphere during the fight with the *Asuras.* Lastly I must mention about the drum-beat of the *Naṭarāja,* which led to the creation of the world of letters, without which I would not have been able to speak to you today or present this small paper of mine.



7.
Pāṇinīya Pratyāhāra and Vedic Cosmogony

—Prof. Ramashray Roy

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्द ब्रह्म परम् च यत्।
शब्दे ब्रह्मणि निष्णात: परम् ब्रह्माधिगच्छति॥

Dve brahmaṇī veditavye śabda brahma param ca yat.
śabde brahmaṇi niṣṇātaḥ paraṁbrahmādhigacchati.

The term Brahma is commonly understood to refer to not only the unknown (or *Brahma*) as the substratum of reality. It also refers to the power of the Absolute through which the *idam sarvam* has come to be, that is *śabda*. As *Vākyapadīya,* 120 puts it, 'Those who are well versed in the *Veda* say that the world is the result of *śabda*, the entire world was created in the beginning by *Chanda'*. It is because of this that *Sabda* has been identified in traditional indian thinking as constituting two *Brahmas*, the *Parambrahma* and the *Śabdabrahma.* What is also important here is the fact that these two *Brahmas* are organically linked.

This linkage refers to the fact that the *Parambrahma,* when invaded by the irresistible desire to bring its solitude to an end and become many, engendered through *tapa* the power to process into *Viśva.* It is this power to process or to undergo the process of transformation that becomes the source of the *idam sarvam*. This power to process expresses itself in the form of *dhvani* or *nāda* which then goes into the making of the phenomenal world as a result of the *dhvani* assuming, in the process of transformation, multitudinous gross forms, Thus, there is a continuous process of transformation in which the *Brahma* becomes *Viśva* through the mediation of *Śabda.* To put it differently, it is the *Brahma* that is not only the source of *śabda* but also its illuminator. Similarly, the *śabda,* when illuminated by the *Brahma,* becomes the source of the *Viśva* as well as its illuminator.

Given this organic connection, the relationship between *Parambrahma* and *Śabdabrahma,* assumes a crucial importance. That is why it is emphasized that knowledge of the former is consequent on the knowledge of the latter. That is to say, it becomes difficult for a person not quite conversant with *Śabda-brahma* to know and realize *Parambrahma.* But, then, is the scope of the knowledge of *Śabdabrahma* exhausted by circumscribing it to different aspects of manifest *Vāk*? It cannot be denied that sound occupies a pivotal position in Indian thought. The whole system of Vedic recitation *Śikṣās* and *Pratiśākhyas* both forming part of philosophy, *Tantra, Mantra, Yoga, Śabda* [word] and its relationship with *artha* [meaning] are the various channels in which *dhvani* manifests both in the interior and exterior dimensions of human existence.

Śabda occupies a central position in our self-understanding. It is a key to the understanding of the truth in reality and our relationship with it. It constitutes, by the same token, an indispensable key to

unlocking the storehouse of religio-cultural writings; the most important and arch text is, of course, the *Veda.* It is not therefore surprising that *Śabdānuśāsana* is one of the most important disciplines in Indian thinking. As a matter of fact, it is one of the six *Vidyās* that promises to unlock the secrets of the *Veda.* And as Patañjali puts it, *Pradhānam Ca Śabdāṅgeśu Vyākaraṇaṁ* [chief among the six organs is *Vyākaraṇa, Mahābhāśya,*I.I.I.]

Patañjali goes on to find in *vyākaraṇa* all those properties that *Dīrghatamas* attributes to the Absolute. But these attributes refer largely to the external attributes of *Vāk* which are, for the sake of convenience, usually categorised into four classes, *Dhvani, Varṇa, Pada* and *Vākya.* But can the external characteristics or structural properties of *śabda* prove very helpful in fully explicating the relationship between *Parambrahma* and *Śabdabrahma*? It does not need to be emphasized that the knowledge of *śabda* in its externality does not constitute a reliable basis for realizing the truth in reality. What it can certainly do is to help us understand truth as it appears through the telescope of words.

To take note of the distinction between truth in reality and truth as it is reflected in different sequences of words is to realize that *śabda* has an internal aspect. Unless one takes the internal characteristics of *śabda,* into account, it is very difficult to justify relationship between *Param-brahma* and *śabda-brahma.* As such, it is necessary to explicate both the internal and external strctures of *śabda,* in order to fully appreciate the nature of the relationship between *Parambrahma* and *śabdabrahma.* The argument developed in this paper underlines the fact that the key to understanding *śabda* both in its internal and external aspects lies in Vedic cosmogony. What this argument suggests is not simple *bandhutā* [homology] between the process through which *śabda* becomes *varṇa* and further differentiates into *pada* and *vākya* and that of the creation of the world; it also proposes a complete identity between these two processes. It is only on the basis of this identity that the relationship between *Parambrahma* and *śabdabrahma* can be fully apprehended. In order to elucidate this relationship we focus on some important aspects of *Pāṇinīya Pratyāhāra.* But before we do this, we turn to *Vākyapadīya* and *Tantra* literature for whatever help we can get in developing this argument.

Right at the beginning, *Vākyapadīya* [Vap][2] underlines the fact that behind the working of the world is that which is itself above the flux of the world. It is this entity or *Brahma* that underegoes transformation in the form of *artha,* it is this entity, again that constitutes both *śabda* and *artha.* The process of the transformation of *Brahma* is also the process of its differentiation of the one becoming many. It is in the process of transformation that *Brahma* generates *Śakti* [power] that is inherent in itself and that, when separated from its source', becomes the cause of *Brahma's* differentiation [Vap.2]. It is this *śakti* that becomes autonomous and presides over, regulates and controls the process of becoming [Vap.3]. This autonomy must not be interpreted to mean a real separation between *Brahma* and *Śakti.* It only means a formal separation underlining the inseparability of *Brahma* and its *Śakti* but highlighting its autonomous functioning, after the separation of cohabitant parents into two separate entities, that governs the process of becoming. That is why *Vāk* as the *Śakti* or *Brahma* has been described as *param rasa* [the supreme fluid Vap,12]. The epithet *param rasa* in itself is enough to indicate the inseparability of *Brahma* from its *Śakti,* the opposite but complimentary principle without which the process of becoming is simply inconceivable.

1. These attributes are articulated as *catvāri śṛṅga trayo asya pāda dve śirśe sapta hastaso asya ; tridhā vaddho vṛṣabho roraviti maho devo martyaṅga aviveśeti* [*Ṛgveda,* 1. 164]. These attributes insofar as they are descriptive of *śabda* in its manifest form are : *pāda,* that is, *nāma, ākhyat, upasarga* and *nipāt,* three time periods, two souls, that is, eternality and functionality, seven *vibhakti,* etc..
2. The edition used here is the one prepared with commentary by Surya Narayan Shukla and published in 1990 by Chaukhamba Sanskrit Sansthan, Varanasi.

It is this *Vāk* as *Śakti* that, as *Vākyapadīyam,* 118 points out, is grounded in *Śabda* which constitutes the cause of the world, or the entity out of which this world has emerged. It is true that when the one becomes many, differences and divisions that result because of the process of differentiation, appear to be real. However, these differences and divisions are not real; they only appear to be so. In essence, they are different manifestations of the one and are therefore one. But the *Vāk* as *Śakti* becomes the knowledge [*Veda*] which proves instrumental in the creation process [Vap. 120] *Veda* differentiates into several *Veda*s in the process of becoming. However, *Veda* remains one and retains its originality despite being split into several *Vedas* [Vap. 10]. And what is distinctive about *Veda* as the manifestation of *Vāk* is that, while all knowledge systems may perish, it alone remains as the seed of the world [Vap. 133]. And as long as *Veda* as *Vāk* exists, it constitutes not only the *manas* of every being but also assumes grosser forms of *Śabda*.

Vākyapadīya does not rest with establishing the essential relatedness of *Vāk* with *Brahma* and identifying it as the source of the world alone. it also discusses the process through which the *anirukta* [undefined] *dhvani* becomes *nirukta* [defined], and *śabda* becomes *akṣara.* The transformation of *dhvani* into word involves the desire to communicate, the effort necessary to express this desire and action taken to translate this desire into reality. The very desire to communicate activates *manas* which propels *prāṇavāyu* [life force]. Being thus propelled, *prāṇavāyu* gets heated and becomes externalised in the form of word [Vap. 113-114]. Once it is heated under the influence of the mind's inclination to engage in communication, the heated *prāṇvāyu* strikes different parts of the mouth activating atoms abiding in these parts. It is these atoms that appear in different *akṣaras* [Vap. 115, 117, 111].

The transformation of *Vāk* into *akṣara* is basically the transformation of the idea [in the Platonic sense] into concrete forms, that is, embodiment of what is basically an abstraction, what Plato calls embodied ideas [enhylon eidos]. In this process the *Vāk,* which exists only in a very subtle form, progressively assumes grosser forms as *Parā Vāk* moves upward through *paśyanti* and *madhyamā* stages and gets externalized as *Vaikharī* [Vap. 143]. Three different aspects of the *Vāk* becoming externalized and getting transformed into *akṣara* need to be noted here. First, *Vāk* constitutes the first *vivarta* of *Brahma* and describes the beginning or the procession of *Brahma* into *Viśva.*

In this procession *Vāk* plays the crucial role of constituting the *Viśva.* Thus, as *vivarta* of *Brahma, Vāk* is not different from *Brahma.* Second, the differentiation and externalization of *Vāk* proceed in two distinct stages. One of these stages is purely internal. In this stage *Vāk* retains its subtle form as *dhvani* till it becomes fully articulated in *Vaikharī* form and embodied in *akṣara.* Thus, *Vāk* in its subtle form does undergo the process of transformation as a reference to *paśyanti* and *madhyamā* forcefully suggests. However, it remains *anirukta.* It is only in its *Vaikharī* form that *Vāk* becomes embodied and undergoes further differentiation through which it acquires its attributes such as, *varṇapada, vākya.* etc. It is again in this process of externalization that *Vāk* manifests, in different letters as '*ka*' 'kha', etc. [Vap. 117], on the one hand, and gets differentiated into *udātta, anudātta,* etc. vowels, [Vap. 29], on the other.

And, lastly, *Varṇas* are created out of *dhvani*. However, when *dhvani* becomes *nirukta* and assumes different forms and properties, it may seem that *dhvani* and *varṇa* have become separate entities. However, to conclude so would be a mistake in as much as these forms and aspects are only seemingly different from each other. In fact, the world-constitutive power, that is, the world of connotation and connoted, of *śabda* and *artha,* is inherent in *śabda.* But this power, when externalized, appears divided into too many forms [Vap. 118]. In fact, *dhvani* or *vāk* is not only the cause but also the symbol of *akṣara* existing before *varṇa* or *śabda,* gets reflected in it [Vap.20]. Similar to a lamp which throws light on itself and lights up everything within its perimeter, *vāk* also lights up while lighting what it

becomes [Vap. 108]. Thus, the manifestation of *Vāk* has a beginning in *parā,* it is this *parā vāk* that presses to becomes manifest. In this process, its subtle form undergoes progressive differentiation and externalizes itself in different embodied forms.

Similar to *Vākyapadīya, Tantra* literature too takes *akṣara* as one of its central concerns. But while the former offers a philosophical and theoretical exposition of the origin of *akṣara,* the latter uses *akṣaras* and the power inherent in them as evocation of certain divine entities for inducing and bringing to maturity a transcendental experience, that forms basis of spiritual bliss. In other words, the importance of *akṣara* in *Tantra* literature derives precisely from the fact that *akṣara* helps in *sādhanā* [meditation] as a necessary condition of attaining spiritual bliss. This spiritual bliss is consequent upon the reunion of *Śiva* and *Śakti* who have become separated in the process of creation. This separation has further been reinforced by two other factors, that is ignorance [*avidyā*] and the domineering concerns of the process of living itself, that is the concerns of everyday life. In the *Tāntrik* perspective, the reunion of *Śakti* and *Śiva* is possible if *Śakti,* lying dormant in a state of self-forgetfulness as *mūlādhāra* is induced to travel upward passing through six different groups of *granthis* [knots] and unlocking them in sequence, till she reaches *Sahasrāra cakra.*

Given this basic orientation of *Tāntrik Sādhanā,* it is necessary for *Tantra* literature to articulate the physical, psychological and spiritual dimensions of man as an organism and take help of the structural properties of each of these dimensions to begin *Sādhanā* and bring it to a successful completion for gaining the desired spiritual experience. Since *Tantra* possesses a fundamental *bandhutā* [homology] between the cosmos and man as an integral part of the cosmos, *Tantra* literature has, of necessity to articulate denovo or use a pre-existent perspective on how this cosmos came to be in the first place. In the second place, then, it has to specify the ways in which the *bandhutā* between man and cosmos obtains and works. And, lastly it is also necessary to specify the ways in which different capacities, implanted in man as an organism can be best explained to induce and sustain the spiritual experience. It is in elaborating these aspects of *Tāntrik Sādhanā* that *Tantra* literature dwells on the strategic importance of *akṣara* not only as source of the cosmos [*Bhūtasṛṣti*] but also as a medium of meditation in the form of *mantra.*

Taking the cue from the Vedic *bhāvavttam* [*sṛṣṭividyā* or cosmogony], *Tantra* too treats the cosmos as the *Vivarta* [transformation] of the Absolute. Before the Absolute [or *Śiva*] becomes infected with the desire to create [*sisṛkṣā*], it is a quite inactive *Brahma* and is *aśabda* [without any sound]. But when the desire to create takes hold of it, it generates *śakti* [power] which, then, becomes the source of creation not only of *devas,* human beings and the cosmos but also of *akṣara.* As a matter of fact, for the followers of *Tantra,* the very desire to create [*sisṛkṣā*] is *Śakti*[5]. It is in its active phase that the Absolute acquires the characteristics of *śabda, artha* and *pratyaya*[6]. With the generation of *śakti,* sound is produced and when it achieves a particular intensity it assumes the form of a *bindu* [point].

From this *bindu* emanate endless *śabda* like sparks from fire, and spreads all around. The spreading out *śabda* is called *nāda* and the collectivity of the *bindu and nāda* is characterized as *bīja* [seed]. This original *bindu* is, in the Vedic perspective, identified with *Om* which abides in the heart of

3. This is what is called *dvedhapāta* in *Bṛhadāraṇyak Upaniṣad.*
4. As Abhinav a gupta notes, *avidyā* or *ajñāna* is two-fold : the innate [*puruṣa*], the autolimitation of God, that is, the consequence of his voluntary decline in time and space, and inellective ignorance [*buddhigata*] increased by ourselves. *Tantrasara,* P.3. Quoted in Guiseppe Tucci - *The Theory and Practice of Mandala* [*London* : Rider & Co., 1974], p.12.
5. On this point, see *Hajariprasad Dwivedi, Natha Sampradaya.* [Allahabad: *Hindustani Academy,* 1950], p.61.
6. See *Janardan Mishra, Bharatiya Prateeka Vidya* [Patna : Bihar Rashtrabhasha Parishad, 1959], p.8

the Absolute; it is this *Om* that becomes the source of the generation of all beings and pervades the cosmos and all its beings as *anāhta nāda.* From this original *bīja,* that is, *Om,* are derived the three *Vedas,* viz. *Yajur, Rk* and *Sāma.* As a matter of fact, the aggregate of these *Veds* is *Vāk.* To put it differently, the aggregate of *bindu* and *nāda* is described, in *Tāntrika* literature, as *Parāṅga bindu* [symbolically represented as a circle] at the centre of which is *Brahma-pada* and the circumference represents *māyā.* This *Parāṅga bindu* is the symbol of the unity of cohabitant parents, or *Ardhanārīśvara,* the Absolute before it undergoes the process of what *Bṛhadāraṇyak Upaniṣad* calls *Dvedhapāt,* the split into two of the living conjoint of *Puruṣa* and *Prakṛti.* In other words, it represents both *parā and aparā Brahman* before it polarizes. The *bindu* is like a seed which contains within a divided grain. Once the process of polarization begins, *Śakti,* becomes *unmukhī,* face turned towards *Śiva* ; there is an unfolding which bursts the encircling shell of *māyā* and creation then takes place[9]. In the process of creation *Śiva* and *Śakti* are divided; it is symbolically represented as the division of Haṁ and Sah[10]. As already pointed out, innumerable *śabdas* flow from the original *śabda* and constitute the world and its beings. The creation of the world proceeds on three different dimensions, that is, *ādhidaivika* (at the level of gods), *ādhyātmika* (at the level of psyche) and *ādhibhautika* (at the level of material beings). In so far as the *ādhyātmika* level is concerned, the expansion of the original word produces fifty *dhvanis.* These *dhvanis* are alternatively called *mātrika varṇa* which appear in man's interior and become audible when they assume the form of *akṣara* after getting externized as *vaikharī.* As *Tantrāloka* puts it, "Within the pile of *śabda,* that is *Bhairava* (*śabda brahma*) lies the power called *antarī* which, because it is motionless, is like a pregnant mother *(anucchhunna)* But she, when activated, becomes the mother of the world. That is why she is called *mātrikā.*[11]

The fifty *dhvanis* are grouped into six classes associated with six centres of *Śakti* called *cakras* which lie within the spinal cord. Each of these *cakras* represents the location of consciousness which, when transmitted through nerves, regulates and controls the operation of physical and mental processes. Each of these *cakras,* as repositories of essential components that are engendered in the process of the transformation of *Śabda Brahma* and that are necessary for the efficient functioning of the human body as an organism, is said to contain a varying number of lotus petals totalling fifty[12]. Each of these petals represents *akṣara* (from 'a' to 'kṣa'). Differentiation of *akṣaras* and their association with a lotus petal in a particular *cakra* is consequent upon the sequence in which the *spandana* [vibration] of the original sound creates different elements and capacities as it spreads out. Because of the tonal differences in the original expanding sound, different *dhvanis* are produced. It is these *dhvanis* that are called *Mātrikavarṇa.*[13]

These six *cakras* along with the *sahasrāra* at the apex of human body as organism is equivalent to what in the Vedic perspective is identified as *saptalokas* [seven worlds], the lowest rung of which is located at *mūlādhāra.* The descent of the Absolute into materiality occurs in six successive stages with each of these stages representing a particular ensemble of possibilities. The *ājnā cakra,* for example, represents, as its presiding deity, its *bīja* and *tattva* indicate. the location of *manas,* that is, pure

7. Shatachakra Nirupana , 49.
8. *Ṛgveda,* 1 140.3;111.7.1.
9. Arthur Avalon, *Tantra of the Great Liberation* [*Mahanirvan Tantra*], London: Luzac&Co.
10. Shatachakra Nirupana ,49
11. Translation of the following :-
śabda raśerbhairavasya yanucchunnatayantarī ; Sa māteva bhaviṣyaːvat tenasau mātṛkoditā.
12. Symbolically lotus represents creation of cosmos and its petals represent different elements of creation, their potentialities, their presiding deities, etc.
13. The six chakras are : *mūlādhāra* at the base of the spinal cord [4 petals], *svādhiṣṭhāṇa* [6 petals], *maṇipura* [10 petals], *anāhata* [12 petals], *viśuddha* [16 petals] and *ājnā* [2 petals] just below the *Sahasrāra.*

consciousness symbolizing what in the Vedic terminology is called *supta* [sleeping] *Brahma*. When the *supta Brahma* begins the process of creation, that is, its descent into materiality, its first *vivarta* is *Sadāśiva* abiding in *Viśuddhi cakra* representing the emergence of the unity of cohabitant parents. At this level *parā* and *aparā Brahma* remain one but inherent in it is the possibility of *dvedhapāt*, polarization into opposite but complementary entities whose synergy becomes instrumental in the creation of the cosmos. The next *vivarta* representing the *anāhata cakra* symbolizes the polarization of the one absolute into two entities *Puruṣa* and *Prakṛti* -- and the triangulation of the nature of both.

This triangulation indicates, in the case of *Puruṣa*, the appearance of three basic forces - *Prajāpati*, *Viṣnu* and *Rudra*, and in the case of *Prakṛtī*, the development of three *guṇas sattva*, *rajas* and *tamas*. It is the combination and permutation of these *guṇas* that create diversity of *piṇdas* in the phenomenal world. Each of these *piṇdas* contain within itself the three basic forces emanating from *Puruṣa*. From here on, the process of differentiation of the absolute, or its embodiment occurs till the process is completed at *mūlādhāra cakra* passing through *maṇipur* and *svādhiṣṭhāna cakras*.

Space prevents us from undertaking a detailed discussion of various aspects of *Tantra* philosophy. However, it is necessary to point out that letters '*ha*' and '*kṣa*' embossed on the two lotus petals of *ājnā cakra* hold a key to the understanding of the *Tantra* system. The letter '*h*', for example, represents the subtle form of life breath or *ūṣmā* or *mahāprāṇa* which makes it possible for the *dhvanis* of all letters or *varṇas* to incarnate.[14] The letter '*h*' as *Śabdakalpadruma* notes, represents the second of *pañcaprāṇa* [the aggregate of the five basic *prāṇik* forces that is inherent in every living being] and two fundamental aspects of the three-way divided *Brahma*, that is *manas* and *prāṇa*.

The letter '*kṣa*', too, represents *pañcaprāṇātmaka* God, but in a fully three-way divided *Brahma*.[15] What is also to be noted in this connection is that, as *Śabdakalpadrum* indicates, the letter '*kṣa*' symbolizes *mātrikāntanalaḥ kṣayaḥ*, that is the exhaustion of the heat of creation inherent in materia prima. This suggests that the reunion that takes place between *Śiva* and *Śakti* [or *Puruṣa* and *Prakṛti*] at this *cakra* refers to the withdrawal by *Brahma* of all its *mahimā* and its existence as pure consciousness.[16]

What is also distinctive about the *ājñā cakra* is the fact that it is the location of *praṇava*, the *Om*, *anāhata nāda* which is the source of all *dhvani* and *akṣara*, As such, the *Ājñā cakra* constitutes the first *vivarta* and the source of all vowel sounds located in the *Viśuddhi cakra*. The first of all these vowel sounds is '*a*', the foundation of all other sounds and language. It is '*a*' that, when propelled by the heat of life breath in the body assumes the form of different letters, depending upon the part of mouth it touches on its way out.' It is the vowels that constitute the subtle body of letters while the *praṇava* is their cause. It is the subtle bodies of all letters, both vowels and consonants that are encoded on the fifty lotus petals of six *cakras*. Thus the spreading out of the *anāhat* sound *Om* is symbolic of the process of creation in which the Absolute as an idea gets embodied. By the same token, *Śakti*, gets separated from *Śiva* and becomes forgetful of her eternal partner because she gets enwrapped in thick material cover. Also, different unlettered *dhvanis* of the *varṇamālā* exist only as subtle bodies in man's interior. They have to be externalized so that they acquire gross bodies.

---

14. See Madhusudam Ojha, *Brahma Siddhanta*, trans. Devidatta Sharma Chaturvedi [Jaipur : Rajasthan Patrika Prakashan, 1990] p.28
15. The Absolute has, before it creates the cosmos, to undergo the process of trifurcation, *trivrttikaraṇa*, splitting into *manas*. *prāṇa* and *vāk*.
16. Before the process of creation, the One subsists only as *manas*, a *sthiti* of *pralaya* in which the Absolute, as Ṛgveda. X.129.1 notes, subsists by its own intrinsic power [*svādhyāya*] in a condition of 'nothingness'. This is what is meant by *pralaya*. But when the Absolute proceeds to create the world, it split into three which expands into the cosmos. When the Absolute withdraws everything that it has become in the process of creation, dissolution or *pralaya* takes place. See my *Beyond Ego's Domain : Being and Order in the Veda*, [Delhi : Shipra Publications, 1999]. p.100, 112, 117.

The realization of the former, that is, separation from the source, leads a person to engage in certain *Tāntrik* practices as a means of liberation [that is, reunion of *Śakti* with *Śiva*]. And the need to communicate with the external world impels persons to transform different *dhvanis* into *śabda* as the basic unit of a sentence.

In so far as the transformation of sound into *varna* is concerned, the lettered sound, as Avalon puts it,

> is produced by the formation of the vocal organs in contact with air, which formation is in response to the mentat movement or idea which by the will thus seeks outward expression in audible sound.[17]

The outward expression of the idea into audible sound has to pass through four stages before *dhvani* becomes *varṇa* and therefore a fit vehicle of communication. In its motionless, primal state, that is *parā*, coming into existence as a result of the differentiation of what is called in the *Tāntrik* literature as *mahābindu* is completely unmanifest. But when it is activated, it moves from *mūlādhāra* to *maṇipura cakra* and is labelled *paśyanti.* It describes the first movement of the motionless *śabda brahma.* At its arrival at the *paśyanti* stage, it joins with *manas.* When it moves on to *madhyamā* it becomes *Hiraṇya garbha,* the omphalos [or *buddhi*] in which is nurtured the inner 'naming' by a cognitive. process of mental movement as well as the *artha* or subtle body [or *liṅga śarīra*]. It is the *madhyamā śhabda* that ppeared first in creation as Avalon notes :

> At the moment there was no outer *artha.* Then the cosmic mind projected this inner *madhyama artha* into the world of sensual experience, and in to spoken speech [*vaikharī śabda*], that is uttered speech developed in the throat issuing from the mouth. This is *virāṭa śabda.*[18]

What, then, the movement of the idea signifies is the process through which *Śabda brahma* manifests in *vaikharī* as the gross lettered sound with its object or *artha* signifying the gross or physical object [*sthūla śarīra*]. The preceding state, *Madhyama śabda,* is mental movement or ideation in its cognitive aspect and *Madhyama artha* as the mental impression of gross objects. This mental movement in its two aspects, *śabda* and *artha* constitutes the subtle body [*sūksma śarīra*]. The cause of these two is the first general movement towards particular ideation [*paśyanti*] from the motionless cause, that is, *parā śabda.*[19] Thus, "two forms of inner or hidden speech, causal and subtle, accompanying mind movement thus precede and lead up to spoken language." What this confirms is the obvious conclusion that *śabda brahma* is eternal not as audible sounds *[dhvani]* but as that which finds auditory expression in audible sounds. And what finds auditory expression is the Absolute which assumes first a subtle or non-material form and then becomes fully manifest into gross, material form.

The process of the creation in which the unmanifest *śabdabrahma* manifests and differentiates into sounds or *śabda,* and on further processing into *parā* and *vākya* signifies the transformation of ideas into embodied beings. This process describes the the way in which one becomes many. But the world of the many is usually the world of amnesia [or anamnesis as Plato calls it] indicating the forgetfulness of the many of its rootedness in the One. Thus the externalization of *parā śabda* is symptomatic of immersion into materiality, into the life-distorting concerns of everydayness. One therefore needs to turn round [periagoge, as Plato calls it] from the world of everydayness and seek liberation. *Tantra* in its *sādhanā*

17. Arthur Avalon, The Serpent Power [London: Luzac&Co.,1919] p. 104
18. Ibid , p. 109.
19. Chaturvedi, op.cit p.8

aspect suggests the way in which liberation can be achieved. The point of initation of this *sādhanā* is to arouse the *kuṇḍalini*, so called because *Śakti* encircles the *Brahmalinga* at the *mūlādhāra cakra* as a snake in three and half coils, to move up through each of the *cakras* and reunite with *Śiva* at the *Sahasrāra*. What the *kuṇḍalini* does in its progress upwards is to absorb the *tattvas*, properties, presiding deities associated with each of the *cakras* commencing with the gross elements and then unite itself and become one with *Paramaśiva*. This, in effect, amounts to the annihilation of materiality to return to the world of everydayness with a radically transformed orientation. *Śakti* joins her divine consort when completely drained of her passion for creation and merges in *Śiva*.

Both *Vākyapadīya* and *Tantra* literature deal with the manifestation of *Vāk*. Both of them look to the Vedic cosmogony for eleborating the ways in which *Vāk* constitutes a key component of the creation process and effects its process at several stages. But both of them leave it to readers to discern the connecting links that join them with the *Bhāvavṛttam* elaborated in the arch text, the *Veda*. It is, therefore, necessary to discuss in short the likely story of creation as recounted in the *Veda* and its relevance for *Vākyapadīya* and *Tantra*, in general, and for *Pāṇinīya pratyāhāra*, in particular. It is what is discussed below.

The Vedic cosmogony identifies *Brahma* as the source of the *Viśva*, this involves the transformation of one into many through the process of *Yajña*.[21] *Brahma* is something - to be precise, a potency - signifying its inherent tendency to move, to be in motion, to change place as well as cause something to happen [RV V. 40.8, VI.5.2 and VII.103.8] and to support what it becomes when excited to move. But this process of becoming is neither haphazard nor random. It is a transformative or transfigurative process in which *Brahma* grows to become something, through different kinds and stages of *vivarta*. Before its transformation into *Viśva*, *Brahma* is said to be *aprakaṭa* [without any visible sign], only a potency, protean, full of infinite possibilities. When *Brahma* becomes self-conscious, that is He acquires the awareness that He should create the *viśva* as an act of self-expression, it itself becomes the *pratimāna* [paradigm] establishing identity between itself and knowledge of creating the world, that is *Veda*. Thus the process of becoming represents the pure act of being where to be and to know are the same thing. It is not, therefore, surprising that there is a complete identity between *Brahma*, his knowledge [*Veda*], and the paradigm he uses to create the *viśva*.

Influenced by the urge to create, *Brahma* undergoes a series of transformation. The first of its transformation is its *dvedhapāt*, that is, its split into two opposite but complementary entities, that is, *Puruṣa* and *Prakṛti* whose synergy engenders the *Viśva*. Each of these entities, then split into three, the *Puruṣa* into *manas*, *prāna* and *vāk* and *Prakṛti* into *sattva*, *rajas* and *tamas*. Alternatively, this *dvedhapāt* is understood in terms of the emergence of *Agni* and *Soma* whose synergy produces the world. The trifurcation of *Puruṣa* is alternatively interpreted, as in *Tantra*, as *jñāna* [*manas*], *icchhā* [*prāṇa*], and *kriyā* [*vāk*] or, in the Vedic parlance, as *Yajus*, *Ṛk*, and *Sāma*. The transformation of *Brahma* into *Viśva* involves these three basic factors in which *manas* and *prāṇa* interact with *vāk* and its *guṇas* to transform the One into many. The procession of the One turning into many is essentially the conversion of energy into *piṇḍa* [mass] governed by the principles identified as *yajus*, *ṛk* and *sāma* representing respectively the point of origination or *Brahma*, its movement and the principle of limitation defining the boundary of a particular *piṇḍa*. Alternatively, the three basic forces symbolize *Prajāpati* as the principle of rest, or creator, *Viṣṇu* as centripetal forces of sustenance and *Indra / Rudra* as centrifugal force of destruction.

The triad of these forces represents aspects of one and the same reality ; these forces represent three different functions of rest, outward movement and inward movement symbolized as *Hṛdayam*. The emergence of *hṛdayam* symbolizes the transmutation of energy into *piṇḍa* surrounded all around by two basic factors in creation, *Agni* and *Soma*. The exchange of energy takes place continuously between the

20. Avlon .op.cit p. 110
21. See my *Beyond Ego's Domain*, op.cit, ch.4

piṇḍa and its environment consisting of *Agni* and *Soma*. The process of the transformation of energy into *piṇḍa* involves two stages of creation, known as *pūrvādha* in which gods are created, and *uttarāddha* stage of *bhūtasṛṣṭi*. These two stages incorporate five *maṇḍalas* and seven *lokas*.[22] These two distinct stages of the transformation [*vivarta*] of *Brahma* are marked by a series of changes identified as *Vigraha* [the tendency to be divided in numerous ways and small parts], *Vivarta* [to change from one state to another, transformation], and *Vikāra* [change of form of nature due to the action of some internal or external cause], a factor necessary in the process of *Vivarta*. *Vigraha* refers to different modalities of existence that *Brahma* comes to be associated with in the course of its procession. It also acquires certain properties or qualities [*dhātus*] which interact with each other to produce certain *vikāras* which, in turn, facilitate *vivarta* and *vigraha*. It is in this process that *maṇḍalas* and *lokas* as fields incorporating particular differentiated ensembles purposive energies leading to the birth of *prajā* and *vitta*.

In the process of transformation, *Brahma* develops four basic modalities [*vigraha*] of existence. These modalities are symptomatic of the progressive descent of the Absolute as the entity that is unchangeable and immortal into material bodies that are changeable and mortal. These modalities, also called *pādas* [feet], constitute important stages and landmarks in the procession of *Brahma* identified as *nirviśeṣa* [beyond distinctions], *parātpar* [undifferentiated], *Puruṣa* [the resident of *pura*], and *pura* [the material abode of *Puruṣa*]. The transformation of *nirviśeṣa* into *parātpar* is indicative of the bifurcation of *Brahma* into *prāṇik* energy and *vāk* [materia prima]. It launches the process of the immersion of *Brahma* into *bhūta*. It therefore becomes subject to change bringing into operation cause-and-effect syndrome. The third modality, that is, *Puruṣa*, is the *prāṇik* energy which constitutes the efficient cause and the basis of further change and diversification. It is still unembodied *prāṇik* energy which develops further through what is known as *kṣara* [that which changes] into enhylo cidos. It differentiates into *avayaya* [indestructible], *akṣara* [inexhaustible] and *kṣara* [exhaustible].

The transformation of *Brahma* into *piṇḍa* creates three dimensions of the cosmos, that is, *ādhidaivika*, *ādhyātmika*, and *ādhibhautika*. As already indicated, the formation of *piṇḍa* is the result of the interaction between *manas*, *parāṇa* and *vāk*. The dominance of *prāṇa* in this interaction forms the *ādhidaivika* aspect; if it is based on the activities of *prāṇik* energy centered around *manas*, it yields the *ādhyātmika* level; and if it is around *agni*, it forms the *ādhibhautik* level. These dimensions refer to the three important structural aspects of human beings as organism. These aspects are physical, psychological and divine. Similarly, every [human] organism has three other important aspects concerned with life-support system whose functioning depends on energy intake and its distribution among different organs after proper transformation, the movement and functioning of different organs, and construction and utilization of knowledge. These three functions are identified, in the case of living organisms, as three *prāṇas* called respectively as *Vaiśvānara*, *Tejas* and *Prajñā*. Likewise, they are called *Virāṭa*. *Hiraṇyagarbha* and *Sarvajña* at the level of *Īśvara* and *Agni*, *Vāyu* and *Indra* at the *Parameśvara* level.

The preceding account of Vedic cosmogony, even though very brief, is enough for us to show the reflection of the process of creation as it appears in the mind's eye of the Vedic *Ṛṣīs* in both *Vākyapadīya* and *Tantra* philosophy. Note, for example, that it is the process of creation of beings [*bhūtasṛṣṭi*] as recounted in the *Veda* that is duplicated both in *Vākyapadīya* and *Tantra*. It is the primeval word or *śabda* that is the point of origination for the creation of both beings and *akṣaras*. Just as in the Vedic *bhāvarttam*, the process of creation in both *Vākyapadīya* and *Tantra* involves two stages, *pūrvārddha* in which *dhvani* in its subtle aspects appears first followed later by the gross form. Thus the *bandhutā* between the three can first be seen in the isomorphism of three dimensions, *Parameśvara*, *Īśvara*, *Jiva* - in each being whether *bhūta* or *akṣara*. The completion of these two stages of the transformation is symptomatic of the *Brahma* changing into *Puruṣa* who now occupies a *pura* [city]. Similarly, the transformation of *dhvani* into *akṣara* mediated through *varṇa* describes the same process of transformation.

इसीलिए मैं कहता हूँ कि हजार वर्ष का भी अन्तर मानें भरतमुनि और अभिनवगुप्त में, तो वह अन्तर कैसे मिटता है और कहाँ अलगाव रहता है कैसे स्वतन्त्र रहते हैं दोनों इसे अच्छी तरह प्रकट करने में बहन जी का बहुत बड़ा हाथ था। मैं यह मानता हूँ कि उन्होंने जो उसकी व्याख्यायें प्रस्तुत की हैं उसमें बहन जी स्वयं बोलती हैं। ऐसे कितने ही बड़े-बड़े काम उन्होंने किए और करने की क्षमता रखती थीं। हम समझते हैं कि ऐसे महान् व्यक्तियों से हम जुड़े हुए हैं। मुझ पर तो उनकी असीम कृपा थी। सभी मानते हैं कि उन पर कृपा थी। मैं उसमें कोई बँटवारा नहीं करना चाहता हूँ कि यह मेरा हिस्सा है, यह आपका है—लेकिन एक बात कह कर शायद मैं आपको चौंका दूँ कि यहाँ उर्मिला बहन को छोड़ कर और शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो मेरे सिवा जिससे उनका लगाव इतना पुराना हो। क्योंकि मैंने उनका पहला दर्शन यहीं पर,* इसी स्थान पर 1951-52 में किया था। उस तरह से उनको जानने वाला और कोई व्यक्ति अब यहाँ नहीं है। वह घटना भी ऐतिहासिक थी, वह मेरे ऊपर अमिट छाप छोड़ गई। वे कहती भी थीं कि उसी दिन से आपका हमारा सहज सम्बन्ध हो गया अकारण। यह भवन College of Indology का तब नया ही बना था। इसमें कोई उत्सव था, किसी विद्वान् प्राध्यापक की अन्यत्र जाने की विदाई का। तीसरे पहर 3-4 बजे का समय था। उसी दिन दोपहर बहन जी वाराणसी पहुँच कर महिला छात्रावास में ठहरी थीं। यहाँ संस्कृत तथा प्राचीन भारतीय संस्कृति के विभाग थे। बहन जी के छात्रावास पहुँचते ही न जाने कैसे हवा में खबर तैर गई थी कि संस्कृत एम० ए० के लिए एक छात्रा आई है जो अच्छा सङ्गीत भी जानती है। संस्कृत और संगीत का तो बनारसी भाषा में 'लिट्टी गँडरी' का संबंध माना जाता है। कोई लिट्टी खाय और गँडेरी भी खाय यह कैसे हो सकता है? यानी संस्कृत वाला सङ्गीत नहीं जानता ऐसे ही गाने वाला संस्कृत नहीं जानता। इसलिए यहाँ खोज मची थी कि कुलगीत और वन्दे-मातरम् कौन गाये? इसी में पता चला कि संस्कृत एम० ए० की परीक्षा देने वह आई हैं और वह सङ्गीत-वाली भी हैं। बस तुरन्त उन्हें बुलवा लिया गया। पर भई उन्होंने यहाँ जो मङ्गलाचरण गाया तो लोग स्तब्ध रह गये। भगवान् ने क्या तो उनको कण्ठ दिया था सुर में सधा और क्या सङ्गीत दिया था अनदेखे गीत-श्लोक सब को उसके छन्द भाव आदि के अनुरूप राग में प्रस्तुत करने की कैसी क्षमता दी थी? और उच्चारण की शुद्धता का तो कहना ही क्या था? बस उसी दिन से वे हमारी ''बहन जी'' हो गईं।

संयोग से धरती पर आने में विद्यानिवास जी कुछ देर कर गए तो मुझ से दो महीने छोटे हो गए, बहन जी और देर कर गईं तो मुझ से दो बरस छोटी हो गईं। पर ज्ञान और कला-प्रस्तुति का उनका भण्डार बहुत बड़ा था। मैंने एक बार उन्हें बहुत रगड़ा, जब हमारे यहाँ ठहरी हुई थीं, कि ''बहन जी! आपने सङ्गीत-जगत् की बड़ी भारी क्षति की है।'' वे चौंक गईं, घबरा कर पूछ बैठीं—''क्या?'' मैंने कहा कि ''आपने सङ्गीत पढ़ाने में तो जान लड़ा दी, पर सबको वह सङ्गीत सुनाया नहीं जो केवल आप में भरपूर भरा है! सङ्गीत में दो चीजें हैं, एक तो विद्या है—ज्ञान, अभ्यास, सद्गुरु की प्रेरणा, शिक्षा, वह आप में पूरी है, दूसरा—भगवान् का दिया हुआ इतना अच्छा कण्ठ है मधुर और दमदार भी। जब दोनों (विद्या और कण्ठ) का इतना सामञ्जस्य आप में है तो इसे सामने न लाकर सङ्गीतजगत् को एक तरह से विपन्न किया।''

मैं भी दो चार स्वर लगा लेता हूँ, तो कभी-कभी हम लोग बैठ कर कई बार रागों और बन्दिशों का आदान-प्रदान-चर्चा करते रहते थे। वह समय बीत गया।

उनका यह भाई बनारसी चुटकुलेबाज है, बहिन जी और माताजी इसका बहुत आनन्द लिया करती थीं। खैरागढ़ भी गया तो शाम को माताजी के पास बैठ कर उनका मनोरञ्जन किया, फिर तो उनका बुलावा भी आने लगा, जहाँ भी उस समय बैठा होऊँ, कोई आकर कहता—''आपको माताजी बुला रहीं हैं,'' कोई ज्ञान की बात तो मेरे पास थी नहीं, पर सोच कर जाता कि आज यह चुटकुला सुनाना है। उसको कितनी गहराई से वे सुनती और बोलती थीं कि हमारा भी उत्साह और दूना हो जाता है।

---

* बहन जी मुझे बताती थीं कि का० हि० वि० में पैर रखते ही मुझे कुल गीत आदि मङ्गलाचरण गाने के लिए पकड़ लिया गया जो मैंने पहले कभी देखा भी न था, बड़ा कठिन काम था, सीधे सभा में गाना था। —ऊर्मिला

However, the similarity between *Puruṣa* at the *bhūta* level and that of *akṣara* goes much deeper. In *Puruṣa* it signifies that which becomes active and assumes different form [*purudhā syātī iti puruṣat*], then, it is *dhvani* that becomes active and assumes the form of different *akṣaras*. Among the *dhvani* it is the '*a*' sound that is articulated without much effort, and is transformed into different *svaras*, such as '*i*', '*u*' etc depending upon which part of the mouth it touches in its movement, and becomes *vyañjana* when joined with *ūṣmā* and *sparśa varṇas*. It is therefore not surprising that *Aitereya Āranyak* identifies '*a*' as *sarvā vāk* [*akārovai sarvā vāk saiśamparśoṣma bhirvyājyamāna vaḥvī nānārūpa bhavati*].

In addition, just as the *Parambrahma, Akṣarabrahma,* too goes, through the process of trifurcation into *udātta, anudātta* and *svarita*. They represent, respectively, *jyoti, pratiṣṭhā,* and *vidhṛti*. To put it differently, *pratiṣṭhā* signifies *vāk*, the entity which embodies *Puruṣa ; vidhṛti* denotes *prāṇa* which in the process of becoming finds abode in *vāk* and *jyoti* or *manas* which illumines everything it comes in contact with.

What also deserves a special mention here is the fact that, as already pointed out, the procession of *Brahma* into *viśva* is mediated through seven *lokas*. This is also true, as *Tantra* literature emphatically demonstrates, of the gradual descent of *Akṣara-Brahma* into *sphūṭa* [manifest] form of lettered sounds through *saptaloka*. But even more important is the fact that Pāṇini's *Māheśvar sūtra* is, to large extent, an important exemplification of Vedic cosmogony. According to Vedic cosmogony, there are five forces which are classified into *hṛdya* [that is, forces working inside the *piṇḍa*] and *pṛṣtha, prāṇas* or forces constituting the environment or the *piṇḍa*. A process of exchange goes on between these two uninterruptedly. The *hṛdya* forces are referred to as *Brahma* at rest or *pratiṣtha, Viṣṇu* as the presiding deity of *Yajña* who brings in from outside the sustaining energy thrown out of the system by *Indra*. The environment of the *piṇḍa* consists of *Agni* and *Soma* which pervade the cosmos. It is these five forces that are symbolized as '*ak*' *pratyāhāra* in *Māheśvara Sūkta* with '*a*', '*i*', and '*u*' representing *hṛdya prāṇas* and '*ṛ*' and '*lṛk*' as the surrogate of *Agni* and *Soma*.[23] What is also interesting to note here is the fact that the term *pratyāhāra* denotes something from which all the sense activities have been withdrawn. And it is *Māheśvara Sūta* because *Maheśvara* [*Rudra*] symbolizes the aggregate of *Indra, Agni* and *Soma*. It is these five forces of *akṣaras* that constitute the world, both of *bhūta* and *śabda*. And *śabda* in its external, *nirukta* aspect, becomes the subject of analysis in *Vyākaraṇa*.

If the preceding analysis has any merit, it is quite obvious that both *Vākyapadīya* and *Tantra* have as their point of departure the Vedic cosmogony. Both of them are grounded in the Vedic perspective and derive their cues from it. However they reflect Vedic cosmogony only partially. This is, of course, the result of the process of the growth of knowledge itself. It is this process that reinforces the tendency of specialized fields of knowledge to travel very far from the source of their origination and claim for themselves autonomy which is not theirs. It is in this process, too, that tradition gets attenuated and lives in a weakened form.



22. The five *maṇḍalas* are *Svayaṁbhu, Parameṣthi, Sūrya, Candra* and *Pṛthivī* and the *sapta* are *bhuḥ, bhuvaḥ, sva,, mahaḥ, janaḥ, tapaḥ* and *satyam*. These seven *lokas* are usually collapsed into three *bhuvana* called *rodasi, krandasi* and *sanyati*.
23. What should also be added here is that the fluctuations in the energy level of any organism, its growth and decay, its strength and weakness, all depend on the process and character of energy exchange between the organism and its environment. This exchange process, when applied to *akṣara*, refers to the tonal quality of sound, its pitch, etc. It is what *Vākyapadīya* 21 points to when it talks of *Yajus, Ṛk, Sāma, Atharva* and *Angiras* responsible for the higher and lower pitch of sound [*ucchavāca*]. The first three of these represent *hṛdya prāṇas* while the last two *Agni* and *Soma*.

.8.
On Abhinavagupta's Sādhāraṇikaraṇa

—P.K. Agrawala

The present paper, which is being published in the volume was originally read by me at the Abhinavagupta Seminar organised in convenership by the late Prof. Premalataji under the auspices of World Sanskrit Conference.

Since my childhood I have seen respected Bahanji with great respect and awe for she was then closely associated with my late father Prof. V.S. Agrawala with respect to many a activity for the upliftment of music and its Śāstra in the University education. As a grown up student of Indological studies I have been fortunate to have many occasions of listening to Behanji's lectures and speeches and learn something about Indian music and musicology. **She was undoubtedly one the rarest of Sanskrit scholars who inculcated a sound knowledge of Saṅgīta Śāstra. She was a doyen of the Indian Śāstra of musicology, and personally I am of the view that the lacuna created in music studies by her death is not going to be fulfilled ever.** I herewith pay my heartfelt respects to the great soul through this small study regarding a theme of Indian Aesthetics that was so near to her.

The theoritical concept of *Sādhāraṇikaraṇa, Sādhāraṇya,* or *Sādhāraṇībhāva (Sādhāraṇī-bhūta)* as part of the *Rasa* doctrine was, no doubt, one of the most significant contributions of post-Bharata aestheticians. At the present state of our knowledge, this theory appears to have its first reference in the opinion of Bhattanāyaka that is cited and elaborately discussed by Abhinavagupta while commenting comprehensively on Bharata's *Rasa* aphorism in the *Nāṭyaśāstra* and its diverse exegetical traditions maintained by other commentators before him. As admitted by Abhinavagupta himself, his own elaboration of the conception of aesthetic consciousness or *Rasa* was largely an improvement on that of Bhattanāyaka whose original ideas are unfortunately known to us only partially through Abhinavagupta's criticism of them. However, Bhaṭṭanāyaka's concept of *Sādhāraṇīkaraṇa* has been adopted and thoroughly revised as to its nature and theoritical implications by him to establish his own statements of the aesthetic theory with much clarity and sound reasoning.

The words of Bhaṭṭanāyaka (c. 900 A. D.) quoted most probably in their original diction by Abhinavagupta (last quarter of the 10th to first quarter of the 11th cent. A. D.) are as follows :- भट्टनायकस्त्वाह-रसो न प्रतीयते, नोत्पद्यते, नाभिव्यज्यते। स्वगतत्वेन हि प्रतीतौ करुणे दुःखित्वं स्यात्। न च सा प्रतीतिर्युक्ता सीतादेरविभावत्वात्, स्वकान्तास्मृत्यसंवेदनात्, देवतादौ साधारणीकरणायोग्यत्वात्, समुद्रलङ्घनादेरसाधारण्यात्। न च तद्वतो रामस्य स्मृतिः, अनुपलब्धत्वात्। न च शब्दानुमानादिभ्यस्तत्प्रतीतौ लोकस्य सरसता प्रयुक्ता प्रत्यक्षादिव। नायकयुगलकावभासे हि प्रत्युत लज्जाजुगुप्सास्पृहादिस्वचित्तवृत्यन्तरोदयव्यग्रतया का सरसत्वकथापि स्यात्। तन्न प्रतीतिरनुभवस्मृत्यादिरूपा रसस्य युक्ता। उत्पत्तावपि तुल्यमेतद्दूषणम्। शक्तिरूपत्वेन पूर्वं स्थितस्य पश्चादभिव्यक्तौ विषयार्जनतारतम्यापत्तिः। स्वगतत्वपरगतत्वादि च पूर्ववदविकल्प्यम्। तस्मात्काव्ये दोषाभावगुणालङ्कारमयत्वलक्षणेन नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण निबिडनिजमोहसङ्कटकारिणा

विभावादिसाधारणीकरणात्मनाऽभिधातो द्वितीयेनांशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसोऽनुभवस्मृत्यादिविलक्षणेन रजस्तमोऽनुवेधवैचित्र्यबलाद्द्रुतिविस्तारविकासलक्षणेन सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यत इति।[1]

Several of the points maintained by Bhaṭṭanāyaka have been rejected by Abhinavagupta, and the concept of *Sādhāraṇikaraṇa* has been accepted by him in a somewhat revised and enlarged form. The particular use of the term occurs in the above passage of Bhaṭṭanāyaka at several junctures:

(1) *devatādau sādhāraṇīkaraṇāyogatvāt*—for in case of the deities etc. it (i.e. the perception or *pratiti)* is incapable of having *Sādhāraṇīkaraṇa;*

(2) *samudralanghanāderasādhāraṇyāt*—for ocean-crossing etc. are the (divine) undertakings beyond *Sādhāraṇya;*

(3) Therefore, *Rasa* is *bhāvyamāna* by a *Bhāvakatva-vyāpāra*—which is on a distinct level next to *Abhidhā,* which consists of the *Sādhāraṇīkaraṇa* of *Vibhāva* and the rest....; that (*Rasa*) is then enjoyed in the fine (*Param*) by a kind of *Bhoga,* which is like the tasting of the *Parabrahma,* (and) which has the virtue of resting on one's own *Saṁvit* as consisting of light and beautitude due to the emergence of (pure) *Sattva;...*

Abhinavagupta has quite logically rejected as unnecessary in the poetic language the additional assumption of two new powers of *Bhāvakatva* and *Bhojakatva* by Bhaṭṭanāyaka. But he has fully utilised his theories of *Sādhāraṇīkaraṇa,* no doubt with some modifications, and of putting aesthetic experience at par with mystical experience, both the latter being the functions paradigmatically of individual *Saṁvit* or *Caitanya* representing the Universal Consciousness.

But what was *Sādhāraṇīkaraṇa* in view of Bhaṭṭanāyaka himself? Is it the same as interpreted by Abhinava for his own aestheticism ? Bhaṭṭannākaya's reference to the divinities and their exploits as not being the subjects proper of *Sādhāraṇīkaraṇa* (*asādhāraṇya*) indicates them to be the aspects, in his view, of their extra-worldly or *alaukika* nature, which cannot be achieved either by the actor or by the spectator. Thus, he takes *sādhāraṇa* to be a thing sharing in the common or worldly human level and his *Sādhāraṇīkarnaṇa* is a process or phenomenon that makes things of this level to take place or allow their re-performance. It is not that a divine performance or exploit can be re-enacted and re-experienced by actors or spectators who are just human beings. This position of his *Sādharaṇīkaraṇa* doubtless helped, *inter alia,* his outright denial of a *Pratīti* (perception), *Utpāda* (production) or *Abhivyakti* (manifestation of the *Rasa*-phenomenon).

But Bhaṭṭanāyaka himself uses, further on in a summarisation of his own opinion (as reproduced by the *Abhinavabhāratī*), the pharase *vibhāvādi-sādhāraṇīkaraṇātmanā* as an adjective to *bhāvakatvavyāpāreṇa.* This presumably indicates that the activity of *Bhāvanā* is defined by him as having its essence or soul (*ātmā-*) in the *Sādhāraṇīkaraṇa* of *Vibhāva* etc.

Abhinavagupta seems to comment on it as follows : यत् काव्येन भाव्यन्ते रसा इत्युच्यते तत्र विभावादिजनितञ्च-वर्णात्मकास्वादरूपप्रत्ययगोचरतापादनमेव यदि भावनं तदभ्युपगम्यत एव।[2]

1. *Abhinavabhāratī,* Gaekwad Oriental Series, vol. I, Baroda, 1956, 276-77: R. Gnoli, *The Aesthetic Experience According to Abhinavagupta,* Rome, 1956, 11-12.
2. Baroda ed., 277; Gnoli, *op. cit.,* 13.

Evidently, *vibhāvādi-sādhāraṇīkaraṇātman-* of Bhaṭṭanāyaka is elaborated here by him as *vibhāvādi-janita-carvaṇātmakāsvāda-rūpapratyayagocaratāpādanam,* i.e. becoming an object of sense-perception of the character of a sampling consisting of tasting (*carvaṇa*) generated (*janita-*) by *vibhāva* and the rest. This annotation on the word *sādhāraṇīkaraṇa* is introduced to reconcile with Bhaṭṭanāyaka's view of *bhāvanā.*

It appears that Abhinavagupta has taken *sādhāraṇīkaraṇa* to evolve much beyond the rudimentary application of it made by Bhaṭṭanāyaka originally. His usages of the expression at different place in his discussion on the *Rasa* theory tend to reveal that he attached such specialised significance and theoretical value to this word; the usual English renderings of the word by 'generalisation', 'universalisation', are possibly not fully suited to bring out that implication. If needed, an English rendition for this *sādhāraṇikaraṇa* in the *Rasa* theory we would prefer to have by the following expression: "the effecting of participation", i.e. inducing a common sharing in the whole affair.

Earlier in the context of *Rasasūtra* itself, Abhinavagupta has already made clear the position of his *sādhāraṇīkaraṇa* in the case of its effecting in the actors : *sva-vibhāva-smaraṇāc cittavṛtti-sādhāraṇībhāvena hṛdaya-saṁvādāt kevalam anubhāvān pradarśayan.*[3]

It is significant that while talking of ten types of *laukika-pratīti* in *Nāṭya-vyāpāra* he has used in his commentary of the first chapter[4] the expression *a-sādhāraṇatā* to signify an antithesis of the *sadhāraṇīkaraṇa* process.

Commenting on an altogether impersonalised transformation of the *Vibhāvādi* factors of *Rasa*-realisation, he observes: तत एव न परिमितमेव साधारण्यमपि तु विततम्। व्याप्तिग्रह इव धूमाग्न्योर्भयकम्पयोरेव वा। तदत्र साक्षात्कारायमाणत्वे परिपोषिका नटादिसामग्री। यस्यां वस्तुसतां काव्यार्पितानां च देशकालप्रमात्रादीनां नियमहेतूनामन्योन्यप्रतिबन्ध-बलादत्यन्तमपसरणे स एव साधारणीभावः सुतरां पुष्यति। अत एव सर्वसामाजिकानामेकघनतयैव प्रतिपत्तेः सुतरां रसपरिपोषाय सर्वेषामनादिवासनाचित्रीकृतचेतसां वासनासंवादात्। सा चाविघ्ना संविच्चमत्कारः।[5]

Bringing in the concepts of seven *Vighnas* and their spontaneously fading away as operative in the experiencing of *Rasa,* he has to observe similarly:—

(1) *sa eṣa sarvo muninā sādhāraṇībhāvasiddhyā rasacarṇanopayogitvena parikarabandhaḥ samāśrita iti.*[6]

(2) *pratipadārthaniṣṭhaiḥ sādhāraṇya-mahimnā.*[7]

His another literary instrument to explain *Sādharaṇīkaraṇa* phenomenon in *Rasa* experience of art is *Laukika vis-a-vis Alaukika,* where he is indeed diametrically opposed to the view of Bhaṭṭanāyaka, who thought, as noted above, that the *asādhāraṇya* of divine acts is unlikely to be rendered *sādhāraṇya* by human actors. Abhinavagupta has viewed the *Sādhāraṇīkṛta Rasāsvāda* to be in fact *alaukika* and not *laukika* (i.e. as we experience in our day-to-day affairs):—*tenālaukikacamatkārātmā rasāsvādah,*[8] *upāyānāṁ vibhāvādīnāṁ laukika-vailak-ṣaṇyāt;*[9] *lokottaro'rtho rasaḥ.*[10] To substantiate his standpoint

3. Baroda ed., 275; Gnoli, *op. cit.*, 9.
4. Baroda ed., 35; *sarveṣveteṣu pakṣeṣvasādhāranatayā draṣṭuraudāsinye rasāsvādayogāt.*
5. *Ibid.*, 279.
6. *Ibid.*, 281.
7. *Ibid.*, 281.
8. *Ibid.*, 284.
9. *Ibid.*, 285.
10. *Ibid.*, 285.

in a truer perspective he has successfully explained the role of *Saṁvit* or *Caitanya,* which is the seat and playground of *Rasa*-experience enabling individual consciousness in a sharing of the Collective Consciousness: *asmanmate saṁvedanam evānandaghanam āsvādyate.*[11] His own well-known summary of the whole theory is, however, as follows:—*kavigata-sādhāraṇībhūta-samvinmūlaśca kāvyapura-ssaro nāṭyavyāpāraḥ saiva ca samvit paramārthato rasaḥ*[12] : "The *saṁvit* in the poet as descending in identification (*sādharaṇībhūta-*) on the creative level is the root-origin of dramatic activity, which is preceded by poetic creation, the same *saṁvit* in its ultimate reference is *Rasa.*"

★★★

11. *Ibid.,* 292.
12. *Ibid.,* 294. Cf. P.K. Agrawala, *On the Śadnga Canons of Painting,* Varanasi, 1981, 65-66.

.9.

Rationalisation of Voice Problems and Techniques in the Indian Musical System Employing an Interdisciplinary and Inter-Systemic Approach

—*Anant Vaidyanathan**

The absence of scientific and systematic know-how in the area of voice production and voice culture is one of the greatest limitations of the Indian musical performance and training complex. The problem in training faced because of this severe shortcoming, fall under two heads and should be approached from two angles :

(1) The problem of 'setting' the voice for a fresh trainee;

(2) The problem of 'correcting' the voice of a trainee who has developed defects/shortcomings in his/her voice.

The glaring manifestations of the poverty of know-how in this area are, of course, more easily available in the second category, which follows as a logical corollary to the first. This is because the realisation of the lack of a system or the defectiveness of instinctive methods used by many teachers is largely absent. Most traditional teachers of Indian music are reluctant to believe that they are insufficiently equipped to train a voice. Thus, the problem remains in an embryonic form until a few years after the commencement of training. This is a stage when the student, having acquired good musical responses, reflexes and knowledge, attempts to give a final well-rounded, and polished shape to his performance technique.

The Sangeet Research Academy's training programme has also faced these difficulties in the ten years of its existence. Listed below are some of the specific symptoms of voice problems faced by some scholars. These problems are preventing the individuals from attaining their full potential :

(1) Difficulty in correct phonation of vowels and consonants;

(2) Excessive tension of face and neck muscles, especially during 'taans' (rapid renditions of notes in succession, employing vowels, usually 'aa');

(3) Inconsistency in ability to hit the notes accurately;

(4) Inability in employing the vowel 'aa' correctly in musical rendition.

(5) Very poor range of voice;

---

* *(Former) Academic research Manager*. Sangeet Research Aeademy Calcutta;— a very close student and versalile artist (Vocal Music).

(6) Constant gruffness and stiffness in voice preventing the student from executing the necessary turns of the note;

(7) Chronic attacks of laryngitis arising not out of infection but out of inflammation following prolonged periods of practice;

(8) Excessive thickness of voice timbre;

(9) Tremendous tonal inconsistency over range;

(10) Constriction of voice over the tara saptak 'sa' (one octave above tonic).

The case students who display some of the above symptoms, are musically very accomplished and their progress is hampered by the above shortcomings alone. These problems are typical of students of vocal music in both Hindustani and Carnatic systems all over India. And with the absence of professional expertise in voice culture and pathology, the loss to the field and to individual aspirants is incalculable.

Sangeet Research Academy proposes to mobilise expertise from within India and abroad to conduct a systematic investigation into all the sub-areas relating to voice culture, training and therapy.

Sub-Areas Identified

Seven broad areas have been identified where either immediate investigation is necessary or expertise needs to be built up :

1. Study and rationalisation of the parameters of a voice suitable for Indian Classical Music.

There exists tremendous inconsistency among the sub-traditions of classical music with regard to the necessary attributes of a voice required for Indian music. The inconsistencies/controversies revolve around the following four attributes :—

(*a*) Optimum intensity;

(*b*) Intensity/frequency pattern over range;

(*c*) Tonal quality;

(*d*) Tonal consistency over range.

(*a*) Optimum Intensity :

The problem is largely related to the entry of electronic sound reinforcement amplification into Indian classical music performance.

Today the dependence is total, and has been on for a complete generation of performers. Thus, the pre-1940's performer had to maintain a minimum volume of voice, which is not the case in the new scheme of things. The use of a soft, light voice quality has now become possible and has become a source of tremendous controversy.

However, apart from questions of the relevance of such a voice quality to the musical structure, this culture has led to a new set of problems :

(*i*) The musical structure has lost a vital element which though, perhaps, limiting acted as a sound foundational principle or rider;

(*ii*) On an average, voice problems (including laryngitis) have become increasingly common in the changed situation.

(*b*) Intensity/frequency pattern over range:

There are two distinct views here. One view has it that as one ascends the scale into the 'tara saptak' (octave above the mid-octave) the voice should become 'softer' and 'thinner' - as if it were 'tapering off'. This view, interestingly has been held by some very successful musicians with acknowledged vocal prowess but who definitely fall into a category of musicians who were not accorded the highest status as inheritors of the best traditional knowledge (they have also been categorised as those exponents of khayal - the currently extant classical genre - who come from the 'Sarangi' tradition, as against the Dhrupad tradition).

The second and more traditional view considers the first view as totally abhorrent to the principles of Indian music. According to this view, the voice retains a uniform pressure as one rises (due to the frequency/intensity relationship, the voice, in fact, becomes louder as one ascends the scale). In this school of thought, musicians do try to reach beyond the fourth or fifth note in the octave above the mid-octave.

(*c*) Tonal Quality:

There is a general consensus that male voices should be 'deep and resonant' (buland). Richness of voice is often referred to as 'jawari' in the voice. Such qualifications are vague and inconsistent. Scope for survey of opinions and rationalisation is immense.

(*d*) <u>Tonal consistency over range:</u>

This is related to **1.** Traditionalists speak of the requirement of 'one voice' all along the range.

2. Documentation of techniques used by musicians in the oral tradition and the analysis of the same from scientific perspective.

Traditional musicians in India do adopt certain rudimentary techniques in voice production and culture. Musicians like Ustad Nissar Hussain Khan and Ustad Aminuddin Dagar have several admirable voice qualities and it is significant that they have been able to transfer many of these qualities to their students. Among the known techniques used by Indian musicians are —

(*i*) The practice of 'kharaj' — the application of the note exactly one octave below the tonic for prolonged periods of time. This is known to activate certain resonating cavities in the abdomen and lend a certain richness to the voice timbre and a tonal consistency over range. It is also said to increase the range of the voice. But the correct method of this exercise is not known, neither is the rationale behind its effectiveness available.

(*ii*) Mandra Saptak Sadhana (exercise in the octave below the tonic);

(*iii*) Rudimentary techniques of voice placing and throw;

(*iv*) Instructions to 'bring' the voice from the area of the navel. This is oft-repeated in many sub-traditions. Some musicians speak of the interference of the 'uvula' in the throw of the voice. Here again, the concepts are vague and the rationale unknown.

It is essential that a systematic survey be conducted among traditional musicians with regard to the voice techniques used by them. Such techniques will have to be documented and then analysed from a scientific perspective as to what the rationale behind them may be.

3. Deriving the acoustical correlates of all the terms and concepts collated in **(1)**, and **(2)**.

4. Study of voice production and voice culture techniques developed in the west and study of the scope for application of the same to the requirement of an ideal voice for Indian Classical Music.

This will be the most important area which will essentially be the transfer of know-how developed in the West to the Indian system.

5. Study of the relationship between speech and music with a view to exploring the scope of correction of phonation defects among students of Indian music by speech therapy.

The relationship between speech and vocal music is of immense significance in Indian context. The Indian musical structure carries hang-overs from its original super-imposition on literature.

On the one hand there is a conceptual relationship between speech and Indian music manifested primarily in the 'thaya' or basic musical phrase which evidently derived its character from musical super-imposition onto the syllabic unit. Secondly, since lyrics (or 'pada') form one of the three major prongs of the Indian musical structure (the other two being 'svara' and 'tala') the study and analysis of the pada aspect becomes significant. From the composers perspective, literacy considerations including syntax becomes inportant. However, from the exponent's perspective, the factor which is of primary importance is articulation. The significance of articulation manifests itself broadly in two ways :

(*i*) Phonetic matching between dialect and form:

Firstly, the phonetics of the particular language or dialect (Sanskrit, Brajbhasa, Hindi, Telegu, Tamil, Kannada etc.) which is adopted in a particular form begin to have a direct impact on the typical intonation associated with the form, partly by virtue of the typical voice production which is associated with a particular dialect or language. The phonetics of the language used in a musical form thus attain supreme importance in the correctness of musical rendition (it is for this reason that in the extreme case it is difficult for a South Indian to perform Hindustani music and vice-versa). Thus, the study of phonetics and correct articulation (both within the context of the language employed in a musical form) become very significant. In the Indian context systematic scientific study has been made of this aspect in the case of some language, but of the spoken dimension alone. This know-how is presently totally out of the reach of the musical complex. One of the reasons why musical excellence has not suffered in spite of the lack of access to a scientific perspective has been that especially in the case of Hindustani music either the phonetic orientation of the exponent and the musical genre he has adopted have always happily matched (as in the case of the musicians of the Hindi heartland) or else the music of a particular region has slowly taken on a different colour in phonetic articulation, musical intonation and voice production, all three related to the linguistic character of that particular region (as in the case of Maharashtra).

(*ii*) Defective Speech:

But the second more important problem area is the case of the exponent who suffers from incorrect speech habits primarily in the area of articulation of vowels and consonants, and also in the use of the voice in speaking (pitch, timbre and intensity). It is inevitable that incorrect speech habits interfere with articulation of vowels, and consonants in classical music and also in voice production.

It is likely that phonation malfunctions are precipitated by faulty voice production and, therefore, could possibly be corrected by improved culture of voice from the musical angle. However, residual malfunctions would need speech therapy.

It is thus proposed that (*a*) know-how be developed for articulation therapy in the context of the specific dialects used in the Indian musical forms (*b*) such know-how be applied on case students of music in order to ascertain if it can supplement/complement voice culture techniques.

(The speech analysis conducted by some institutions in India has covered the spoken dialects. Analysis of the dialects/languages used in music will have to be initiated).

In the process of the analysis of the dialects/languages used in the musical forms, the breakdown into the phonemes and the combination of the same could provide very significant guidelines to the speech therapist for the correct articulation of the phonemes and also possibly the identification of a suitable voice production for the set of phonemes. This exercise could go a long way in facilitating the development of voice techniques applicable for the Indian systems of music (with relation to specific forms).

★★★

.10.
Bahenji, Saṅgītaśāstra and I

—*N. Ramanathan**

For the February 1999 issue of the SRUTI magazine I had written an article on Bahenji, who had passed away just seven weeks earlier. It was an account about Professor Premlata Sharma's academic life and contribution. It had practically nothing about my association with her as a student. This article I promise would be about me and will be full of 'I'.

Being a drop-out from an undergraduate course in Chemistry pursued in Delhi, I was looking for a change. What came immediately to my mind was Karnataka music, which I had been soaked in since birth, hearing the music that my sisters had been learning and which I had myself been learning through playing violin since the age of 12. I shifted to Madras (now Chennai). I resumed my music training and as acquiring a degree was considered a must my father took me to meet the renowned Professor Sambamurthi. A degree course in Karnataka music for boys, he informed us, was then available at only two Universities, Sri Venkateswara. Tirupathi and at Delhi University. Not wanting to go back to Delhi and also because of Sambamurthi's presence at Tirupathi as a Visiting Professor made me decide in favour of the Music College at Tirupathi (1966).

Towards the conclusion of the undergraduate course, much to my disappointment, I found that the Sri Venkateswara University was winding up the Postgraduate Department. Again I consulted Prof. Sambamurthi, who was then settled at Madras. With no University in the South offering a postgraduate course for men, he suggested that I could try to do a Postgraduate course in Musicology at the Banaras Hindu University. He mentioned that Dr. Premlata Sharma, an able scholar, had been made its Head and been asked to develop it. Dr. M.R. Gautam, the Head of the Department of Vocal Music, BHU, was then in Madras to give a lecture-demonstration at the conference of the Music Academy. I met him and he spoke very encouragingly of Dr. Sharma and suggested that I immediately write to her. I did so but received no reply. So I had decided to join the Sangeetha Vidwan course in violin at the Central College of Karnatic Music (presently Tamil Nadu Government Music College) at Madras. But in May 1969 I got a very sweet letter from Dr. Sharma, apologizing for the delayed reply as my letter had been misplaced. She had suggested that I come in July. The degree course at BHU weighed in favour of the diploma course at Madras.

BHU had been through very serious students' agitation and the course commenced in September. Dr. Premlata Sharma had also become the Dean of the Faculty of Fine Arts. She had her hands full with administration. I was the only student who had sought admission to the M.Mus.(Musicology) course. Classes would frequently be disturbed by faculty members coming to her with pressing problems. Mrs. Vimala Musalgaonkar, the Samskrta teacher in the department, took charge of some classes. I had also

---

* Prof. Dr. N. Ramanathan, Head of Deptt. Music, Madras–University. One of the main student scholars of P.L.S.–Gharānā.

been given the option to pursue Karnataka Violin from Sri V.K Venkataramanujam, Lecturer in the Department of Instrumental music, as part of the practical subjects.

Towards the end of the first semester, Bahenji asked me to write an assigment on``Marga and Desi Sangita". I proudly submitted the pages I had copied from the Introduction to Svaramelakalanidhi written by the editor, M.S. Ramaswami Iyer. She, who had always advocated going to the sources, had expressed her utter disappointment at my performance to her colleagues and had begun to question her own wisdom of admitting me to the course. The subsequent semesters of the course did not see anything outstanding from me. Being the only student in the course, I was mercifully passed in all papers.

Although the two years, 1969 to 1971, did not see me make any significant progress in any specific area, there was great exposure to all kinds of knowledge because of the atmosphere in the Department. Sessions of reading Sangitaratnakara were taking place. Smt. Subhadra Chaudhary, who had completed her M.Mus.(Musicology) in 1969 and had been the first one to do so, and Mrs. Vimala Musalgaonkar were explaining the text to me and to Miss Indrani Chakravarti, who had joined as a research scholar. I was constantly peeping into the works of the members of the research section. Mr. Ravindra Kumar Shringy was working on Sangitaratnakara and on his thesis on J.Krishnamurthi's philosophy. Sri Gopal Lal. Bhat was preparing an index of musical terms in Mahabharata. Swami Nijabodhanandji, Office Assistant in the Department, and who had earlier served in the Sivananda Asram, Rishikesh, was always talking about Advaita. Sri Badrika Prasad, a research scholar was tackling Sangitasamayasara. Dr. Gajanan Sastri Musalgaonkar, Professor of Mimamsa at the Samskṛta Mahavidyalaya and the husband of Vimalaji, was ever ready to oblige the students and faculty of the Department. He read and explained Kavyaprakash of Mammata and Dhvanyaloka of Anandavardhana, works on poetics and passage from Darsana-s. Miss Ranganayaki Ayyangar, a research scholar from Pennsylvania, had come down to study Ragavibodha of Somanatha with Bahenji as she was working on that text for her dissertation. Bahenji read Ragavibodha verse by verse and its commentary and explained the musicological intricacies. All the students and teachers of the Department sat through these sessions. Miss Ayyangar, herself, gave a series of 16 lectures on the History of Western Music with illustrations from Long Playing records. Her advisor at USA, Professor Harold Powers, had also come down to BHU to consult Bahenji for his article on Indian Music he was preparing for the New Grove Dictionary of Music and Musicians. In addition, classes for the Students of Diploma in Music Appreciation were going on. For one who was totally new to serious Hindustani music and Śāstra-s all this was a large mass of information, which I could neither understand nor assimilate. But it made an impression on me.

My M.Mus. was nothing much to speak of, yet Bahenji did not give me up as a hopeless case, and advised me to register for Ph.D.A technical hitch delayed my registration by one year and I registered in 1972. I was not yet mature enough to think of or select an area or topic for research by myself.

Bahenji had envisioned a programme of intense study of each Sangitasastra work in Samskṛta for the department. Smt. Subhadra Chaudhary had taken up the area of Metre, Tala and Prabandha, an area that had not been investigated. Miss Indrani Chakravarti, being a Sitar performer, had preferred an area relating to string instruments, namely, the influence of stringed instruments on the development of Svara and Raga. For the next candidate she had determined to assign a text and Sangitaratanakara of Sarngadeva held the highest priority. I do not how much thinking and hesitation had been gone through, but Bahenji's decision (perhaps arrived at intuitively) was that I should work on Sangitaratnakara. The area marked out for me was 'Gita'. She told me that Sangita was defined as a composite of 'gita', 'vadya' and 'nrtta' and I would have to confine myself to 'gita', which would relate to the first four chapters of the text.

Reading sessions of various Samskrta texts on music, in full and in parts, were continuing in the department. There were quite a few research scholars from other countries, mainly USA, who were

affiliated with the department for their field work in Varanasi and were consulting Bahenji for their research. I was present in most of the consultation sessions and assisted the scholars with their field work. Mr. Wayne Howard was working on Samagana and I helped him as an interpreter during the interviews with the Samaga-s and Pandita-s and sat with him during the analysis sessions of his tape recordings of Saman singing done from various parts of the country. Mr. Edward Henry initially did his recording of the folk songs of Bhojpuri region in the villages outside the boundary wall of the Banaras Hindu University campus. I used to sit with him during the recordings and during the translation of the Bhojpuri texts. Mr. James Arnold was working on the cycle of fifths and the Sruti-s. Bahenji made me teach him the Sruti-Svara portion of the first chapter of Sangitaratnakara. There was also a seminar conducted by Professor Lalmani Misra on Music Education for which Bahenji prepared a paper on "Review of Available Music Literature of University Level and Future Requirements". Bahenji had attached an appendix that had a comprehensive list of books on music in English and in Indian languages. The whole department had assisted in the preparation of this appendix and was a great education of everyone.

Many new students were joining the department. Miss Vidya Kalvint took up the study of Gaandharva in Natyasastra of Bharata for her Ph.D. dissertation. A session of reading Natyasastra along with its commentary by Abhinavagupta started. We were learning the art of reading commentaries and gradually improving our Samskṛta knowledge too. Mr. Vijay Kumar and later Mr. Surender Kumar Tripathi joined M.Mus. Mr. Tej Singh Tak was working on the Post-Bhatkhande period for his Ph.D. I was assigned the classes for teaching M.Mus. What I had failed to learn as a student, I was learning through teaching. Dr. Shringy had got a fellowship for translating Sangitaratnakara and I would sit in his room trying to follow his work. Mr. Ritwik Sanyal joined with his subject that combined Philosophy and Music.

Many things were happening. My wife Hema was working for her Ph.D. on the area of Aesthetics and Art which put me in touch with writing in western aesthetics, especially the books of Ernst Cassirer and Susanne Langer. A very big event was the arrival of the thesis of Mr. Mukund Lath on Dattilam. It used to be kept on Bahenji's table. All of us stealthily took a peep at it, later browsed through it and finally read the whole bulky volume. This was a revelation for the department since for the first time there was a research work that had made full use of Abhinavagupta's commentary on Natyasastra. In the department itself we had not proceeded beyond the twenty-eighth chapter of Natyasastra and its commentary. As the name of Mr. Lath was unknown we used to guess who would have 'helped' him in the preparation of such a stupendous work. We all agreed that no one else could have 'helped' since there was no scholar in the country or abroad well versed in the texts of pre-Ratnakara period with such insights into Tala, Gitaka etc. Mr. Lath became a celebrity in the department even before he got his Ph.D. Sessions on reading the chapter on Tala and Gitaka-s of Sangitaratnakara started. Gradually the department was getting into Marga-tala system. Prof. Lewis Rowell, from the University of Hawaii, came in 1975 to spend his sabbatical studying the Tala chapter of Natyasastra and the whole of Naradiya Siksha. The thirty-first chapter of Natyasastra along with Abhinava's commentary (including the terse passage for the first verse) was read. It was literally a groping in the dark. One needed to understand the system to decipher what Abhinava was trying to say and one also need to decipher Abhinava to understand the system. Gradually the domination of Sarngadeva on the Department was giving place to the domination of Abhinavagupta, for it was realized that to one had to conquer Abhinava to understand both Bḥarata and Sarngadeva.

Dr. Rowell was giving a series of lectures on Greek Music for Surendra Kumar Tripathi and I was sitting with them while he used to be sitting in my classes with Surendra. We also jointly read the text of Naradiya Siksha along with the Bhattasobhakara commentary. Bahenji organized a seminar on "Language and Music" for which Dr. Mukund Lath had been invited. It was a revelation to him that there was a place in the country where sessions on reading Samskṛta texts on music were going on, and that too of Abhinavagupta's commentary. Musicology Department/Sangitasastra vibhaga had come to symbolize transmission of textual tradition in music.

This was the period when Bahenji was diversifying her creative interests. She was getting seriously into Kalidasa and his dramas. She had started directing plays and was getting into intricacies of the Purvaranga and Nrtta. She was also trying to reconstruct Bharat's purvaranga. The fourth and fifth chapters of Natyasasastra was read in a small group of which Surendra and I were the only other members. In the fourth chapter the context where Abhinava raises and discusses the question of the distinction between Nrtta and Natya, posed a great challenge. It was difficult to make out where the 'purva-paksha' ended and where the 'uttara-paksha' began. Understanding the relevance of 'dombika nrtta' to the discussion was difficult. We also read the first and sixth chapters of Natyasastra, just the initial portions. Sri C.V.Chandrasekhar and his wife Smt. Jaya Chandrasekhar, who were teaching Bharatanatyam at Women's College, BHU and at Vasanta College, Varanasi respectively, were helping Bahenji with the dance and abhinaya in the drama production. Bahenji read for them the seventh chapter, 'Nartanadhyaya', of Sangitaratnakara. Going through this chapter one realized that a full understanding of Sangitaratnakara could not be had till this chapter was read.

It was at this stage that Bahenji asked me to give a seminar on the Concept of 'Gita'. The paper did not shape in the way Bahenji had expected it when she assigned the research topic to me in 1971. All the deliberations and experiences that had taken place at the Gujarat House of BHU, where the Musicology deptt. had been housed, had influenced the designing of the paper. I also read a paper on 'Svara-sadharana' which deviated from the existing conceptions. I checked the proof of the text and translation of the first chapter of Sangitaratnakara that Dr.Shringy and Bahenji had prepared for publication. I had applied for a position at the Indira Kala Sangeet Vishwavidyalaya at Khairagarh and had been selected. Bahenji had been a member of the selection committee. Bahenji felt that I should present by pre-submission seminar for Ph.D. before leaving for Khairagarh, which I did. But the thesis draft was far from being complete. My period of registration for Ph.D. had also expired and I had to re-register. I joined my position in November 1977 but the stay at Khairagarh was for just four months. The preparation for the classes there made me familiar with the post-Ratnakara texts and the svara-raga-mela system of that period. In fact the real concept of Mela became meaningful to me there. In March 1978 I moved to a position at the Department of Indian Music, Madras University. It took me time to settle down and got back to my thesis in early 1979. I wrote a paper on Sruti-jati and sent it to Bahenji and she sent her appreciation of the new interpretation it had presented. The summary of it was presented in the thesis. Hema and I reached Varanasi in May 1979, stayed there and completed the thesis. I was writing out the chapters, Hema was straightening out the language and contents as she was typing the draft and Bahenji was going through the draft. She not only made the corrections but also supplied all the section headings, which greatly helped in understanding the contents.

The primary contribution of the thesis was the presentation of the concept of Sangita. In the thesis, 'Sangita' was being sought to be presented as a homogenous performing art that combined the three limbs, gita, vadya and nrtta. The sessions on Natya and Nrtta and on the Nartanadhyaya that I had read with Bahenji had been very helpful in the developing of this concept. In a way all the chapters in the thesis had their roots in all the classes, all text-reading sessions and all the seminars I had attended in the seven years at BHU. And I realized that Bahenji was not merely the human scholar-teacher that worked at Gujarat House but the institution itself. The institution had been built around her and the two could not be viewed separately. The thesis was built on all the knowledge that I had gained in my stay there in BHU and there was not one session in my stay that had not been made use of in the thesis. Thus the concept of Sangita was a new interpretation and although Bahenji did not disagree with my interpretation it did take her quite a while to agree. Although Sarngadeva's concept of 'Gita', denoted the Jati, belonging to the 'Gandharva' class and the Alapa and Prabandha, that belonged to the 'Gana' variety, my preoccupation with the earlier gandharva forms like Gitaka and Nirgita treated by Sarngadeva, gave me very little time

to deal elaborately with Jati and Prabandha which was a shortcoming and minus point in the thesis. Because of the thrust of the long introductory chapter that dealt with Sangita and Gita (which as one of the examiners had remarked had been 'exhaustive' and 'exhausting'), the shortcomings were excused and overlooked by Bahenji. Even the examiners had not made an issue of it.

Thus from a hopeless or a gone case I grew into an acceptable student of Bahenji in the course of ten years. She found me mature enough to discuss her new writings and ideas and thus my association with her continued after the submission of the thesis and award of the degree and thus took off my continuing education in musicology. And every time she met me or talked to me over the telephone she would urge me to publish my thesis and I kept postponing. But it got finally published and released in 1999 a few months after her death.

In 1982 I visited Varanasi to sit with Bahenji for the scrutiny of the translation of the fifth chapter of Sangitaratnakara, that Dr. Shringy and she had prepared. In 1985 she moved to Khairagarh as Vice-Chancellor. It was here that she was working on the English translation of Brhaddesi assited by Dr. Anil Behari Beohar. I sat with her and went through the draft of the translation and her comments for the first volume that was being published by the IGNCA. For the second volume, she sent the draft to me and during her visit to Madras we went through the draft. After her moving back to Varanasi and in particular to Amnaya, my visits to Varanasi were related to her editing of Ananda Coomaraswamy's "Thirty Songs from the Panjab and Kashmir" for the IGNCA; the translation of the twenty-eightth chapter of Natyasastra along with the purport of the commentary and her notes; the commencement of the editing of Bharatabhashya of Nanyadeva. I was present in the many seminars organized by her. These included the seminar on 'Standardisation of Technical Terms' for which I had sent a paper and could not attend it in person; Seminar on 'Kalidasa and Music' (BHU, 1980), 'Sarngadeva's Sangitaratnakara's (BHU, Feb, 1994); Thakur Jaidev Singh Centenary Celebrations Seminar (BHU, No.1994); "Matanga and his Unique work Brhaddesi (Hampi, July 1995); 'Rasa in the Arts' (BHU, January 1997). Seminar on "Dhvani" (Jnana-pravaha Mar 1999) was the last one that she had organized but alas did not live to conduct. I had also participated in seminars organized by other institutions to which she was also invited. The most embarrassing and testing moment was to be the discussant of her paper on Tala presented at the World Sanskrit Conference held at Leiden, 1987.

The purpose of listing the above events is to point out that during each and every meeting there a was continuing of my education in musicology. She would show me a new article or book or collection of the papers presented at the seminar she had attended. She would ask me to read the article or paper she had written or an idea she had been working on. Thus I was able to keep abreast with all that was happening in the academic world. There was something new to learn during every one of these meetings. I regarded every trip to Varanasi as a pilgrimage from which I returned with renewed musicological vigour. Even the meetings in other places like the lounges of the airports, the reception room at Sangeet Natak Akademi, and the guesthouses at Seminar venues became classrooms for me. Thus for me the student life in Sangitasastra under Bahenji started in 1969 and continued unbroken up to 5th December1998.

—N. Ramanathan



.11.

A Teacher Affects Eternity

*—Dr. Sudhakar Bhat**

Prof. Prem Lata Sharma, affectionately known as Behanji among her students, was known to me by name as early as 1953, when I joined the erstwhile college of Music and Fine Arts of Barṇaras Hindu University. She was the person to whom people approached with their problems, because no one dared to go before Pandit Omkarnath Thakur, the founder principal of the college, an extraordinary short tempered vocalist par excellence. But, my actual acquaintance with Behanji was in 1956 when I failed in the diploma class and decided to leave the college out of sheer diffidence. It was she who persuaded me to continue my studies in music, and made me reappear in the examination next year. She even provided a tablā accompanist for my regular music practice at home. I was deeply moved by her kind gesture and I decided to continue in the college with fresh determination, though I changed my subject from flute to tabla. Then from 1966 to 1970 she took my theory classes when I switched over to sitar. It was during this period that I came closer to her as one of her favourite students and knew of her multifarious personality as a linguist, a musicologist, a vocalist and above all a humanist. With her vast knowledge of music, both theoretical and practical, she had an unusual capacity to inculcate interest in her students in music theory. Like many of her students, I too developed a liking for the theoretical aspects of music, which eventually culminated into my research work under her able guidance.

When I joined Ph.D in 1984 the precondition of M.Phil. was already in force, but being one of her oldest and best students, she made an exception by allowing me without any prerequisite. Soon after my registration under her, she left for Khairagarh as Vice-Chancellor of Indira Kala Sangita Vishvavidyalaya and for almost three years my work was confined to reading books on acoustics, the topic of my research work being "A study of the tuning system of sitar and tanpura from the point of view of acoustics and aesthetics". Actually, I was interested in making a comprehensive and indepth study of the scale degrees of Indian Music, about which, there still exist great many controversies, but Behanji was of the opinion that much work had already been done in this direction, and so, I should choose a different path of enquiry. The topic was promptly suggested by my co-guide, Prof Ranganayaki Ayyangar, and was readily accepted by Behanji. In the beginning, I was discouraged by quite a few of my seniors that it would be very tough to work with Behanji, as she was very strict in guiding research and expected a scholar to devote full time to his work. But I knew her better than any one else and I always adored her as one of my best teachers. She also admired me as an ideal student with a deep sense of responsibility. That is why, on several occasions she entrusted me with various duties as a volunteer in the public functions organized by the college, and I always tried to discharge my duties to her utmost satisfaction. She even nicknamed me "Kaisabiyanka" a historical character known for blindly obeying his father's orders.

* Professor in Sitar, M.M.V—B.H.U., very close student of Bahenji.

When Behanji came back here, after completing her term of vice chancellorship, the first thing that she asked me was whether I still intended to do Ph.D., and if so, I should write down the introductory chapter all by my self, disclosing my mind, so that she could get a bird's eye view of my proposed research work. She, perhaps, wanted to know if I was serious enough to take-up the work and ascertain my ability to express my views. I endeavored to write the chapter so far I understood the subject and to my utter surprise she approved the whole chapter without any alteration. This gave me great confidence in proceeding further with my work.

As a student I was always intrigued by the complex lacing of acoustic laws and aesthetic principles underlying the intonation of notes in different ragas. The original plan was to record the performances of star musicians to collect empirical data. For this purpose, I approached the department of physics, B.H.U. with a request to provide facilities for analysis of recorded music. They stipulated that physical analysis could be meaningful only in the case of sound recorded in their laboratory and not in the case of sound recorded elsewhere, because the fruitfulness of such enterprise could be dubious. I was faced with insurmountable difficulty, as no musician would be ready to get his performance recorded for research purposes, that too in a laboratory. It was too late to change the topic either and I was in a bad fix. At this juncture Behanji, as usual, came to my rescue and helped me overcome the impasse. When she knew about the constraint that made me drop the idea of collecting empirical data, she coolly told me not to fight shy of such difficulties and that she would take care of all such problems. She advised me to turn over a new leaf by looking for textual data in treatises on music instead. This was even a more difficult task for me, since the ancient and mediaeval treatises are all in Sanskrit language of which I had very little knowledge. But, seeing my interest in the subject, she was determined to see me get through my work and, for about six months, she spent two to three hours a day helping me step by step in going through the vadyadhyaya of Sangita Ratnakara. She would do literal translation of the text word by word and would give clues for terse verses, which I had to work out and give tangible explanations. Once I started picking up things, it became more and more interesting. She ran a one month crash course for teaching Sanskrit grammer to me and two other scholars from Delhi, ably assisted by her youger sister Dr. Urmila Sharma, fondly known as Bholi didi.

Behanji's typical style of guidance was that she never believed in spoon-feeding, but expected her students to put their own shoulders to the wheel. She always advised me not to limit my train of thought to static text-book knowledge but to go beyond it, by looking things from modern point of view, to get correct perspective of a given situation. This helped me a lot is resolving many unanswered questions regarding the structure and tuning of some of the precursor musical instruments which were the early forms from which developed the modern ones. It was only after my initiation into the text of Sangita Ratnakara by Behanji that I could realize the extent of limitless treasure lying unexplored in ancient and mediaeval treatises. I sometimes wonder whether I would know at all, under what circumstances musical instruments evolved, were it not for her generous help. While correcting my thesis, she was very particular about clarity in expression; even the slightest mistakes did not escape her attention. She was very particular about the correct use of words and would not hesitate to refer a standard dictionary when in doubt and would even take the help of Bholi didi, whom she considered a better grammarian. This only showed her modesty whose tremendous insight of the subject was unquestionable.

She was of the firm view that one of the beauties of this art form is its freedom from finality. No judgement is ever the final one but with a better knowledge of the past we can get an idea of where we are headed in the long run. She very well knew that each individual artist has his own frame of mind and would give a different answer to the same question. Therefore, she patiently listened to everybody's views, even if she did not agree with them. She was deeply conservative in her thought but together with

this conscious bias, she was beautifully attuned to modern concepts; the unlikelihood of this mixture made her so poignant a figure in the field of musicology. Although, an academician in the highest standing, her unassuming nature and simplicity in every sphere of her life, won the plaudits of people from all walks of life, both the learned and the ignorant.

In the course of my research work when she found that I was not only interested in playing on different musical instruments but was equally fascinated by the technical know how of their construction, she decided to entrust me the work of translating vadyadhyaya of Sangita Ratnakara, part of which, containing stringed instruments, was already covered in collecting textual data for my research work. She then made me study wind instruments and present a paper on the sets of flutes described in Sangita Ratnakara in the Sarngdeva festival in 1994, organized by Sangeet Natak Akadami, New Delhi, of which she was the vice-chairperson. In her view, it was critically important to study ancient and mediaeval treatises on music to bring forth dynamic links between contemporary theory and practice which have been of paramount consideration in the field of musicology but not widely understood. She was really worried at times about preserving the integrity of the technical aspects of musical instruments, mentioned in ancient and mediaeval treatises, which were integral part of the older musical traditions, but have now fallen into disuse. The motivation behind my accepting the gigantic work of translation of the Vadyadhyaya of Sangita Ratnakara was not a rising frustration over ineffectiveness of a viable connection between theory and practice but a growing conviction that effectiveness is possible.

Unfortunately, in 1994, I got a severe set-back to my health when I underwent retina detachment operations in both of my eyes, bringing our work of translation to a standstill. It is almost 6 years now and I have not been able to gather courage to proceed with the incomplete work without Behanji's help, through Bholi didi is keen to push me forward by extending all possible help.

Now, when I recall Behanji's discussions, I cannot help being overwhelmed by now long-lasting was the influence of her arresting and brilliantly argued views. She had the rarest quality of convincing people with logical arguments and that she remained cool and rational even under most provocative and trying circumstances. Of course, she did not fail in giving a bit of her mind to her students when she found anyone inattentive in her class.

Well, it is not possible to do justice to the many-sided activities of Behanji in a short essay like this. I can only say that from whichever angle we observe her life and work, we would come to the conclusion that she stands supreme among Indian musicologists of recent times. I feel very proud, rather privileged, to have been her student right from undergraduate to the doctorate level and to have been of help to her till her last breath.

★★★

.12.

To Bahenji—My Mentor

—Prof. Dr. Indrani Chakravarti

Some are born teachers; some qualify themselves to be the teachers. Professor Premlata Sharma was the former one. She possessed a number of coveted positions and worked with devotion. But above all, she was the most respected and revered teacher. As a student I met her in 1968, when I was studying Master of Music course. I urgently needed to discuss with someone a few portions of the theory of the syllabus. My senior fellow student suggested me to meet her. I was a bit nervous. I did not know how she would accept me. She was known for her strictness in her behavior and a teacher with principles. I was then the student of Dr. Lalmani Mishra, the Head of the Department of Instrumental Music, in the Faculty of Music and Performing Arts, Banaras Hindu University. I was studying the Master of Music course in Instrumental Music (Sitar) with him. It was no hidden fact among the students too, that both of them were not on good terms. Some of the fellow students warned me too for the worse consequences. But I was least bothered over such things. I was crazy in my studies. I wanted to complete my course with good result. I took a challenge to be in Music Faculty in BHU against the wishes of the elders of my family. Initially I was not permitted to take admission in the Faculty with a stupid presumption that in the Music College (as it was popularly known) the students were admitted for free mixing and not for study! It was Dr. Lalmani Mishra, who discussed with my father and convinced him to allow me to study in Music college. I am indeed, indebted to him for the rest of my life for his incomparable help and guidance.

After my admission in the Faculty, I refused to take any money from my father for my studies and started private tuitions to meet out the expense of my education. The house was stormed, as it was a matter of insult for the traditional family that a girl was revolting and doing private tuitions against the wishes of the elders. But I persisted to continue my tuition with my studies. I am grateful to my heavenly mother who stood besides me in this whole episode and always supported me for the actions and the decisions I had taken against the old and insane values, although I never considered them values at all. These were old and rigid concepts continuing in some of the traditional families due to lack of proper education, as I believed. My mother was very modern in her thoughts and her deeds. She had to face a lot of problems in her own parent of house as well as with her in-law's. She was a modern lady over and above her age and surroundings. She made us, her children, modern in thoughts but honoring the traditional values too. I, being the eldest amongst her four children, had to face a lot of opposition from other family members, in one pretext or other, because we were born and brought up in a joint family. Therefore, whatever action I took, I had to complete it with great difficulties, but certainly later on, it opened the door for my younger ones. My mother always used to say that I was her thought-idol. Once she expressed her wish to be my daughter in her next birth! I wish the Almighty fulfills her wish. Dr. Premlata Sharma known as ***Bahenji***-the honored sister, was a great admirer of my mother. Although my

mother was a bit younger to her, Bahenji used to call her ***Ma*** (Mother). Both of them had a relation of respect to each other.

Hence I went to Bahenji to request her to teach me some portions of my course. She discussed a regarding few points with me, examined my sincerity regarding my studies and agreed to teach. Then destiny started to take a new turn in my life! Bahenji laid a strong foundation from the first day onward. Gradually I started having interest in theory too. Initially it was very boring and tiring for me, because like other students of music, I had no interest in studying theory. I had an aim to become a popular stage artist in Sitar. Therefore initially I went to her to have a basic knowledge of some of the portions of theory syllabus, which was very difficult for me to understand. Today it is still a difficult subject for the music students of most of the department. It is better to disclose the topics to the readers. The topics were the *Grama-Murchhana System* and *Saruqana Chatustayi,* Aesthetics and *Rasa* theory and a few more. Bahenji gave me time without asking for any remuneration or any other condition and trained me. I was so influenced with the method of her teaching that after my completion of M. Music, I started my Ph. D. under her invaluable and incomparable guidance. I will narrate this later on. Bahenji taught me with a great patience. She explained the nuances of the theory of music in detail, which I still believe, no one could teach in such a short period. As a result, I had grown an interest in theory too. I qualified my Master of Music with First Division and topped in the Faculty and was honored with a Gold Medal and cash prize. I could do well in theory papers too because of Bahenji's proper guidance. I am not hesitant to give the credit to her.

Bahenji was a versatile scholar. Her initial research was in Sanskrit poetics, but she had profound knowledge in aesthetics of music, *prayoga paksha* (practical aspects), theory of music, and literary arena. She was the Head of the Department of Musicology in Banaras Hindu University. She could understand and communicate in more than eight languages, besides Panjabi, her mother tongue. She worked on and edited the texts written in Bengali, Kashmiri, English, Sanskrit, Gujrati, Persian, German and a few more.

As an illustrious scholar. Professor Premlata Sharma edited a number of texts on music, dance, poetry and philosophy and of course on *rasa* theory. The translation works by her are the everlasting treasures in the field of music. Prof. Sharma built a trust named *Bharatanidhi* to encompass all the disciplines of music and other allied arts. Her house *Amnaya* was a place of the attainment of traditional knowledge, because the word itself means 'tradition'. She edited/translated a number of texts viz. Rasavilasa (1952), a critical edition of Nada Rupa - the Research Journal (1960-62), Sangitaraja (1963), Chitrakavyakautukam (with translation in Hindi & preface in Sanskrit (1965), Japasutram (vol. I in 1966 & vol. II in 1992), Sahasrasa (1972), Ekalingamahatmyam (1976), Dhrupad Annual (Journal on Dhrupad Tradition, 1986-95). Her lecture series on *rasa* was published in the name of Rasa Siddhanta (Hindi, 1988), Sangitaratnakara (a project of translation work taken up by Dr. R.K. Shringy, Research Assistant of the Dept. of Musicology under the supervision of Prof. Premlata Sharma. The volumes I & II were published in 1978 & 1989 respectively, but the other volumes could not be printed due to the sudden demise of Dr. Shringy. Although he was able to complete the manuscript of vol. III, as I was told, the scholars are still waiting to see it in printed form) and Gaveshana, the journal of Sangeet Research Academy, Brihaddeshi (vols. I & II, with English translation and notes in 1992 & 1994), Bhaktirasamritasindhu (vol. I with translation & notes in Hindi in 1998). Very recently, Dr. Urmila Sharma, Bahenji's erudite sister, has edited a book namely Indian Aesthetics and Musicology, a compilation of the research papers and other articles written by Prof. Sharma that is supplemented with the glimpses on her and the memoirs of her students, friends and the admirers (2000).

Bahenji wrote more than 150 research papers, organized a few International and National seminars, workshops and conferences and edited many of the proceedings in book form along with the research papers.

Producer-Composer

Professor Premlata Sharma was an idol of patience in respect of teaching and training her students. I can recall that we, the scholars of the department of musicology often encountered with her to convince her of our own views. Bahenji always gave a patient hearing and more often we were able reach to a common platform. The Dept. of Musicology was fully devoted to the studies of the concept of musical theories, their Lakshyas and Lakshanas (i.e. the theoretical and the practical aspects). Therefore, we were supposed to get ourselves prepared with the practical problems of music theories. I may recall those days when we celebrated *Sanskrit Divas* (The Sanskrit Day) consecutively for three years. Bahenji wrote the scripts and composed the music from the *shlokas* (the verses) of *Natya Shastra, Brihaddeshi,* and *Sangita Ratnakara* and from the works of *Kalidasa* too. She also wrote skits in Sanskrit. The research scholars and the other members of the Department participated. The members of the Faculty and other friends from outside attended as *Samajika* (the audience). Bahenji was the director and the producer of the whole program. She performed her duties with a great zeal. We learned from her the key of hard work and also the way to complete the job sincerely and honestly when it was once started. After the program, it was mandatory for the audience to have refreshments and buttermilk (instead of tea) prepared by Bahenji. The Sanskrit Divas was the first step towards a new concept of a drama club in the name of *Abhinayabharati,* which, later on, successfully presented a number of shows on the works of Kalidasa, Bhavabhuti, Vishakhadatta and other Sanskrit scholars. Bahenji was the center of focus. We won the Swarna Kalash (the golden pitcher) as the first prize by presenting our items on the national front like *Kalidāsa Utsava* at Ujjain, Madhya Pradesh, where a number of Institutions / Universities used to take part. Here I must narrate a few interesting events on the rehearsals and staging of the dramas under the banner of *Abhinayabharati.*

1. I was a research scholar in the dept. of Musicology and had almost completed my work, when Bahenji mooted the idea to participate in Kalidasa festival at Ujjain, Madhya Pradesh under the banner of Abhinayabharati. Bahenji was the Producer-Director of the drama. Bahenji, along with scholars like Dr. Vidya Nivas Mishra, Dr. Rewa Prasad Dwivedi, and Dr. Kamalesh Datta Tripathi, formed a forum of Natya (an amalgamation of Sanskrit literature, drama, music and dance) and named it *Abhinayabhāratī.* Professor. C.V. Chandrashekhar and his wife Mrs. Jaya Chandrashekhar, Sri V.S. Smart (a renowned artist and Head of Deptt. of Painting in Women's College, B.H.U) were the constant supporters of the *Prayoga Pakṣa* (practical aspects) of this idea. She revived the prelude or Purvaranga of Natya Shastra as well as the stage making as mentioned in N.S. to educate the viewers of the beauty and the unparalleled and superb nature of ancient drama. I was playing Sitar with the orchestra of the dance-drama. I was enjoying the new experience although I had given background music quite a few times in other dramas the schools and colleges and some non-professional clubs, but working with the professor- artists at the university level was a great experience. I was doing my job sincerely. But fate was against me. Just two days before leaving the for Ujjain, I developed jaundice. The doctor restrained me to go. I cried bitterly and requested Bahenji to take me with her. But she could not take the risk. She patted me and promised me to take me the next year. No one could imagine my dismay. After their return I was happy to know that we won the trophy- the Swarna Kalasha! Some consolation!

2. After submission of my thesis, I was looking for a job. I received the degree within a few months I submitted my thesis. I was working in a college as a music teacher on temporary basis, when Bahenji

asked me to participate in Malavikagnimitram- a Sanskrit play written by the great poet Kalidasa. I was given the role of Iravati, the second beloved wife of Agnimitra, the king and the hero of the drama. I was in seventh heaven. Bahenji kept her promise. I used to take part in dramas since my schooldays and also directed a number of dramas and dance-dramas. I was actively attached with *Abhinayabharati* from its prime time. As I could not participate in the previous year due to my illness, hence I was careful this time to keep myself fit to attend the Kalidasa Utsava at Ujjain. I was playing with a great zeal. It was not very easy to act in Sanskrit dramas. Prof. Chandrashekhar was the king Agnimitra. His dancer wife Jaya was his queen consort. I was Iravati, the second but beloved wife of the king Agnimitra, who always promised to be sincere to her. But things did not go well. Agnimitra fell in love with Malavika not knowing that she was already his betrothed princess, the princess of a State that Agnimitra conquered in a war. Malavika was caught and imprisoned by the chief of his army. As Agnimitra saw Malavika and so did she, their love grew. Iravati knew about the development through her chief attendant Nipunika. She could not believe such unworthiness of the king. When she asked the king about such relation with Malavika, the king refused, because he did not want to lose her too. But one day Iravati caught the king redhanded. The king pleaded to her and asked for a pardon. He caught hold of her feet even, but Iravati refused to pardon him and left the place kicking the unfaithful king. It was a climax scene of the whole drama. I had to play it giving special touch and I was doing it in proper manner, so said by the viewers.

One day Chandrashekharji could not attend the rehearsal. Bahenji was giving proxy of the king. Bahenji had a sharp memory. She could deliver with ease the dialogue of each and every character. Hence, Bahenji used to give proxy of any of the characters. Everything was going smooth. But when the above said scene appeared, I refused to kick her. Bahenji requested me first and then ordered me to act properly. She said that it was a drama so I should act as per its need. But I was not in a position to kick her even in the dramatic scene, because I had a great respect for her as my teacher. I did not want to hit her anyway. Another reason was that I always used to forget myself when I was acting. Chandrashekharji unseldom counted the number of kick everyday and told all how many times I kicked him. He even introduced me to Ms. Padma Subramaniam as a great kick-master (or kick mistress?) narrating the episode of the drama.

On the day of our show, we felt shivering cold due to chilly wind. Our dresses were prepared considering the period of Kalidasa. We, therefore, could not use any warm cloth to save ourselves from the cold. Chandrashekharji came to our rescue. He requested Bahenji to allow us to have a little brandy with warm water. At first Bahenji was not ready. But later on, seeing our condition, she allowed. It worked like a medicine to us. But due to heavy chilled blow, the small brandy did not effect much. I, with my fellow artists continuously quivered due to cold. I was scared for due justification to my role. The drama started in time all were serious of their roles. Hence, when that climax scene approached the combined effect of the cold and the anger worked marvellous. I was given a big hand with applause. The audience came to the green-room to congratulate me. Once more we won the Swarna Kalasha. It is worth to be mentioned here that I came to act from Kurukshetra University, with a special permission of the Vice Chancellor of Kurukshetra University. The Vice Chancellor of B.H.U. requested him to allow me to attend the Samaroha (function). This special request was made because just a few days before the Samaroha at Ujjain, I joined the Music Department, Kurukshetra university as a Lecturer of Instrumental Music. Without the permission of the Vice Chancellor it would not be possible for me to leave the department. So, once more, Bahenji helped me to participate in Ujjain's kalidasa Samaroha. Next year, Bahenji produced Bhavabhuti's Uttaramracharita and Abhinayabharati bagged the Swarna Kalasha. But I was told that the Kalidasa committee changed their rule and made it a running trophy! Although we won the trophy consecutively for three years, but we could not retain it permanently with us due to the new rule. All luck!

Classroom Teaching

The department of Musicology was the only department in the country, solely devoted to the teaching of Post Graduate Courses and Research in musicology. This was also a unique department providing regular classes on the original Sanskrit texts as well as the texts in other languages. We had to be very regular in the dept. otherwise we could miss the classes and the discussions on the chapters we were engaged to study. Bahenji was very strict in classroom teaching. Everyday I had to spend at least four to six hours in the classes apart from my own Sanskrit class with Vimlaji. We studied Natya Shastra (ch. 28-33, 1-4), Sangita Ratnakara (ch. 1-4), Brihaddeshi, Dattilam, Bharata Kosha, Sangita Parijata, Svaramelakalanidhi, Ragatarangini. Chaturdandiprakashika and many more. We all research scholars sat together in Bahenji's room along with the Sanskrit Instructor and the Research Assistants and more often some foreign scholars. We went through every line of the texts and wherever our speed broke, we started discussing. Bahenji then, used to play the role of an audience and slowly we could reach to an acceptable conclusion.

Those were nice days we spent together. The research scholars like Subhadra Chaudhri and myself, N. Ramanathan, the then student of Master of Musicology, (who joined us as research scholar next year), Dr. Vimla Musalgaonkar and Dr. R.K. Shringy, the Sanskrit Instructor and the Research Assistant of the department respectively, followed by a few more (who often joined us in the classes) had memorable time. Very often we assembled after the class and discussed the points we studied. Sometime our discussions took a turn of hot arguments and Vimlaji used to play the role of a pacifier. Although we were always concerned of one point that our discussions should not disturb Bahenji and she should not know about our arguements. But later on, I came to know that she was in constant touch with her students' activities and had always been supporting such discussions, of course, that was unknown to us. She was also very happy that her research scholars were serious in their studies and that they could think on the problems on their own and could express their views openly.

But it does not mean that we were engaged only on the dry subject like Shastra or musicology (as considered by the members of other departments). Bahenji used to throw parties off and on. We celebrated our birthdays in the dept. or gave parties on any occasion we liked to. Bahenji was very fond of preparing and serving food amongst the members of the department. She was very fond of butter- milk. She seemed very happy distributing the butter- milk made by her from her own beloved cow's milk to who-so-ever came to her house. She felt happy if somebody requested her for butter-milk instead of tea or coffee.

The parties she threw were full of fun for us. The only thing Bahenji preferred was that everyone should appreciate her dishes. Her simplicity was noteworthy then.

I must narrate an occasion here. In one of her parties she prepared Dahi-bada (the balls made of grounded pulse mixed with curd) and filled those in a big mud-jar and asked us to eat as much as we could. All the members were limited to four to six. But the rest, i.e. half of the jar (having not less than 30-40 Dahi-Badas), was finished by Jha-ji, one of our Research Assistants! That was a real fun we experienced that day. On such occasions Bahenji became as simple and innocent as a Child.

Further, her childlike innocence one could view when she was with her mother. She became just a little daughter conversing with her mother, (fondly known as Maiyaji). Sometime she cuddled and caressed her, and lisping like a small child, ignoring the members whosoever present there. We, the students enjoyed much the conversation of mother and her small daughter of fifty plus! A nice experience indeed!

Till her last breath, Bahenji took classes and taught the texts, sometimes to the students from abroad,

sometime to her own. I often joined her classes whenever I was in Varanasi on long vacations. A never-ending vacuum haunts me today. I question myself, who will teach me, solve my problems and explain me the intricacies of the Sanskrit texts! Today I am without my Guru, my mentor, my friend, and my guide.

A True Guardian

Bahenji played the part of a guardian too. I was not very free with her at the very outset. But later on I mixed up with her, although she maintained a considerable distance with her students and colleagues, which is mandatory in administration. I used to question her whenever the subject was not clear to me. Sometimes I argued too. Initially Bahenji got irritated, but with my humble requests I came to study with her and said that if I was not convinced how could I write my thesis. Gradually I won her trust. Once she praised my perseverance before others. My co-scholars jeered me as her foster daughter. But I, in contrary, felt proud to consider myself as her daughter. She did so much for me, that no teacher does for his/her students. All her students must confess that she helped her students as much as she could. I must recall a few events here:

1. As I was nearing the completion of my research work, I needed to visit to Delhi to discuss some of the problems related to my thesis with Pandit K.C.D. Brahaspati, Prof. V.V. Sadagopan, and Dr. B.C. Deva and also to consult the library of Delhi University, Sangeet Natak Akademi and a few more. My father as ever, refused to allow me to go alone. But due to his own pre-occupation, he himself could not escort me. Bahenji talked to my father and convinced him to allow me. Bahenji arranged my stay with Prof. Sadagopan, fondly known as *Anna.* I was very excited as it was my first journey to another city without any escort! At Delhi, my encounter with Acharya Brahaspati is another story, which needs a separate article. After meeting Brahaspatiji, I developed a deep respect for him and he fondly acknowledged me as his daughter. This sweet relation continued till his last breath. On one occasion, he presented me *Sangit Samayasara* of *Parshvadeva,* edited by him. It was his last publication. Later on, I presented him my book too.

I also came across another renowned musiclogist viz. late Dr. B.C. Deva, the then joint Secretary of Sangeet Natak Akademi, New Delhi. He was impressed with my studies and helped me a lot in collecting the data for my thesis. And later on, he became the main instrument for the publication of my thesis. I am thankful to Bahenji for introducing me with such erudites.

However, I completed my work and reported to Bahenji after my return. She was very happy. I incorporated my experience with them in my thesis and also analyzed their views. It is indeed, important to mentioned here that both the above stalwarts were the external examiners of my thesis and I received much applause from them in their evaluation reports. Both of the experts recommended the thesis for its publication and later on, with the direct help of Dr. Deva, the Akademi subsidized my thesis and Chaukhambha Orientalia published it in 1978.

2. Around 1974, Bahenji was invited by Sangeet Natak Akademi, Bhuvaneshwar to preside over the convocation and confer the degrees to its candidates. She was also invited by Dr. Sunil Satpathy, the Principal of Kala Vikas Kendra, Katak, Orissa, to address the students of the Kendra. Bahenji asked me and Vidya Kalvint Katgade, another research scholar of the deptt. whether we would like to escort her. We happily agreed. She arranged our Sitar and vocal recitals respectively in both the Institutions. We visited important temples and other points viz. Lord Jagannath temple and Puri Beach, Lingaraj and other caves and temples of Bhuvaneshwar, the Sun Temple and the sea beach of Konark, Kshirchora Gopinath and a few more points. There I experienced how people showed their love and respect to Bahenji. We had

also received warm welcome being her students. A few years later, Bahenji again visited Bhubaneshwar and other points of Orissa. This time, Bahenji's mother and my mother accompained her. After her return, my mother blessed me a lot for helping her to have *darshan* of *Lord Jagannath* at Puri, the sea beach and the Sun Temple at Konark that she was craving to see for so many years.

3. At the fag end of my submission of the thesis, I needed the constant guidance of Bahenji. Hence I requested her to allow me to stay with her. She, after consulting her mother, agreed. She was staying in the University quarter with her mother (fondly called as Maiyaji) and her sister Dr. Urmila Sharma (Bholi). I, with my note-books, papers and baggages, shifted to Bahenji's house. This was an experience for me. I was allotted a room in the first floor of the house. Bahenji was very fond of cows, and was breeding a few in her quarter. She was as caring of them as a mother towards her children. She was alert for their proper maintenance. She fondly fed them with her own hand. The cows liked to eat molasses especially from her hands.

Here I got a good friend. It was Dr. Urmila Sharma (Bholidi). Since she was the youngest in the house, therefore, she was rarely allowed to raise her voice, but she was very dear to Bahenji indeed. I had always been vocal at my home because I had to fight for my right since my childhood. It was very difficult for me to subdue my voice even in Bahenji's house. Hence my chats and laughs (mostly without any pretext) sometimes irritated Maiyaji. But it was very difficult to change my nature. So I was helpless. Maiyaji also knew my position, hence she stopped scolding us for our chats later on.

On our first meeting, I presumed Bholidi a serious lady, but later on my view was totally changed. She was then working as Lecturer in V.K.M. College at Varanasi. She was elder to me, hence she thought she could command a girl younger to her. But very soon we became close friends and trust-worthy to each other. The mornings and late evenings were strictly devoted to studies. Everyday we met each other at the time lunch and dinner. It was the duty of Bholidi to prepare the food. I came to share her work. This made her very happy. We used to discuss many subjects. Gradually I came to know her views, about her sweet nature, her devotion to Lord Krishna and about her deep knowledge in Sanskrit and Hindi literature. Often we laughed some jokes and held our tongues having upbraided by Maiyaji. Maiyaji did not like the girls talking or laughing loudly. But I was fostered in an environment where everyone talked in a high pitch, laughed and even cried in highest pitch. In Bahenji's house, I learned to speak in on considerably lower voice, to laugh low and even to argue in lower voice. But no doubt, we enjoyed our company and still we are on good terms and share our views and laugh whenever we meet. Bahenji knew about our friendship and supported us. I remember how she enjoyed our competition to eat Rasogollas (the sweetmeat of Bengal, which I ate 23 and Bholidi 21) after our full diet of lavish dishes on Bholidi's birthday and how both of us suffered from jaundice together later on.

Every evening and Sunday morning I, sat with Bahenji to discuss my subject of research and the problems. I was overwhelmed with the depth of her knowledge.Maiyaji joined our discussion Occacionally as sincere listener. Maiyaji was very fond of listening Shyama Sangit (the devotional songs of Bengal, composed and sung by Sadhak Ramprasad and Sadhak Kamalakanta, as their devotional offering to the Goddess Kali). Maiyaji was moved with the songs. Sometimes tears fell from her eyes. However, I got her blessings for singing those devotional songs because of the impressive wordings and touchy tunes.

4. I received an invitation from Bahenji to attend Dhrupad Samaroha and seminar at Vrindavan in 1979. I did not want to miss the opportunity and attended the conference. I could be known as an ignorant about the rich tradition of Krishan Bhumi Vrindavan (the place of Lord Krishna) had I not attended the conference. Bahenji taught me some nuances of the Dhrupad tradition and the traditional song-forms of Vrindavan.

There are many such occasions in my life when Bahenji played the role of a sincere and a strict guardian concerned with my academic and intellectual developments.

An Adviser

I joined Kurukshetra University in November 1975. I came to know after my joining that the syllabi and the regulations of the newly formed department of Music were mainly formulated and prepared by Prof. Lalmani Mishra. I was very happy, because Prof. Mishra was my teacher in B.H.U. and he persuaded me to leave Varanasi for a better future. He told me once: "If you want to be a self-made person and do something remarkable in your field, go and work in other institutions out of your hometown and accept new challenges. You will find better prospects." He foresaw my future. As a result, in a short span of time, I could be able to become the Vice Chancellor of Indira Kala Sangit University, Khairagarh and got an extension for the second term, breaking the 45th year history of this university indeed.

The dept. of Music at Kurukshetra started with a Reader-Head, a Lecturer in Vocal Music and a Lecturer in Instrumental Music- that was me. I worked very hard to establish myself as a musician, a researcher and also as a sincere teacher. My thesis was published in 1978. The book was released by Thakur Jaidev Singh, a stalwart of Music and Musicology. Later on, I successfully guided a Ph.D. thesis on him. I received enormous help from Bahenji over the publication of my thesis. The prelude was written by her, which on the classification of the musical instruments, added an extra importance and weightage to the book in particular and also in the field of Indian music in general. I shall ever recall the day as a significant one in my life. I intend to narrate the episode.

I was requesting Bahenji over months together to write the prelude of my book. Dut to her heavy schedule, she could not do so. In one summer vacation, I again humbly requested Bahenji to write the prelude for the book since the printing work was almost completed. Bahenji asked me to sit with her with a note- book and pen. I did so. She spontaneously dictated and I, with great amazement, noted it down. Thus the prelude was ready within an hour! I was so overwhelmed with her wisdom and spontaneity in the subject concerned that after the completion of the dictation, I could not speek for a few moments. It seemed as if every·word was already prepared before by her but the fact was, she never asked me to give her a few moments for preparation! I am proud to mention here that the prelude of my book is the most essential part as reference material for the research scholars, who want to have the basic knowledge and new concept of the classification of the instruments.

At Kurukshetra, I decided to develop my practical acumen on Sitar. Hence I started learning from Pt. Debu Chaudhuri, the disciple of late Ustad Mushtaq Ali Khan, the Maestro of Senia Gharana. Later on, I had an opportunity to sit under Ustadji's feet and learn some nuances of Ragas in Indian Music. Bahenji encouraged me too, since she was a constant researcher and was the disciple of Sangit Martanda Pandit Omkarnath Thakur. She herself was a fine performer and a composer but accepted to work in the area dejected by the performer-musicians, that is Musicology- the theory and science of music. Since I was trained and guided by such stalwarts, hence I decided to specialize considerably both in the practical field as well as musicology. I am still at my endeavor to reach the goal.

In May 1987, I attended a meeting at Khairagarh with my other co-fellows to celebrate Bahenji's sixtieth birthday. Bahenji called Mrs. Simmi R. Singh, my student also, who submitted her thesis to IKSU under my guidance and was waiting for the date of the viva. Simmi was in her family way and was expecting the child soon. She was also not in a position to travel, but was determined to attend her viva at the earliest. Hence, she accompanied me. Bahenji was very affectionate to her. The month of May is always the worst period in Madhya Pradesh being climatically hottest. I came from Shimla and Simmi

from Chandigarh. Therefore our physical conditions were unbearably pathetic. We stayed at Khairagarh for three days and were expecting the viva any day. But on the last day when we were about to leave, Bahenji broke the news that the report from the another examiner was yet to reach! The mental condition of Simmi was miserable. She was very upset and started crying. Bahenji and I were upset too. In fact the examiner already sent the report but due to the abnormal delay by the postal department, we could not receive the report in time. Bahenji consoled her and promised to conduct her viva very soon. After our return Simmi gave birth to a male child. Bahenji kept her promise too. Within a short span, she conducted her viva at Delhi, in the office of Sangeet Natak akademi. Being the guide, I paid my sincere thanks to Bahenji. Bahenji was very happy too. She expressed her love towards Simmi and blessed her for the commendable job she did in her thesis. The examiner Dr. N. Ramanathan was also very happy with her work. He asked me with much praise that how I chose such a fantastic subject for research work. The topic of the research was "The concept of the Shuddha in Indian Music." Obviously, as a guide I was happy too, seeing my student's success. Later on two more of my students were also registered for their Ph.D. from Khairagarh when Bahenji was Vice Chancellor there. They also received Bahenji's spontaneous love and invaluable suggestions regarding their work.

Almost all the Gurubhais and Gurubahens (the co-brothers and co-sisters trained from the same teacher) at Khairagarh joined hands to celebrate Bahenji's sixtieth birthday. In fact it was a call from Bahenji to start a new job. Birthday celebrations was an excuse. Most of her students were occupying reasonably good positions in some of the universities or in teaching institutions. Bahenji told us that she was much annoyed finding the deplorable conditions of the text- books in music prescribed in the teaching institutions as well as in the universities. In her simple, short and commanding speech she expressed her anguish and assigned her students the job to prepare at least one section of the text book on music for the project she had taken. We were very enthusiastic and promised to do so. But alas! None of us could cmplete her assignment till date. Since we were too busy with our own work; hence we could not devote our time to fulfill her wish. Will we be able to complete the task ever?

An Organiser

Prof. Premlata Sharma was a successful organizer. She organized a number of conferences and seminars; like Dhrupad Mela at Varanasi, Vrindavan, Nathadwara and other places where the temple tradition of Dhrupads and Vishnupadas are still in vogue. Thus she was the pioneer of the revival of Dhrupad tradition in modern India. Bahenji had a great convincing power. She was a good orator, hence could explain the problems with a command as well as could suggest the solutions. Thus she was able to get the necessary fund from the concerned agencies for the work she wanted to complete. Her approach was so sincere and genuine that the funding agencies did not say no to her and became fully convinced whenever she approached them. She not only organized the Dhrupad Melas but also successfully edited the Dhrupad Annual (journal based on the Dhrupad tradition) published under the patronage of the Maharaja of Banaras for ten years! I was also asked by her to contribute a paper in 1993. My paper was on "The Impact of Dhrupad Anga on the Form and Style of Sitar playing and some Contemporary Notions."

Simultaneously she conducted many National and International Seminars and Symposia. Three of them were International Seminars at the time of her Vice Chairmanship in Sangeet Natak Akademi, New Delhi, viz. Works of Sangita Ratnakara (1994), Brihaddeshi (1995) and Rasa in the Arts (1997). The proceedings of the first seminar was edited by Prof. Sharma and Sangeet Natak Akademi New Delhi published it in a book form in 1998. Simultaneously she started working on the proceedings of the other two seminars, but death snatched her from us depriving us of having the benefit of the valuable knowledge in the field of music by Bahenji.

The seminar on Sangita Ratnakara was organized at Varanasi. Initially, Bahenji proposed the Tourism Department of Maharashtra Government to arrange the seminar in Devagiri (known as Daulatabad in the district of Aurangabad of Maharashtra State). The department accepted her proposal. But due to Latur earthquake, the Maharashtra Government asked Bahenji to postpon the date of the seminar. But because of the schedule of the delegates from abroad who were reaching India to attend the seminar and the cancellation of their journey was not feasible at the last moment, hence it was decided to arrange the seminar at Varanasi. I would like to mention here that the idea of organizing this seminar was cropped up one year before when I with my sister accompanied Bahenji in a seminar at Bombay and thereafter we visited Ajanta and Ellora in Aurangabad Distt. Our tourist bus was passing through Devagiri when the idea struck in our mind. Both of us were thrilled with the notion and started planning in our own way. It took a year to arrange. I attended the seminar from Shimla (my working place). I was serving then at Himachal Pradesh University, Shimla as Head & Dean, Faculty of Performing & Visual Arts. My paper was on the Problems of Reconstructing Kinnari Vina. My paper was supported with the Kinnari Vina that I acquired and purchased from a Kinnara Jogi of Karnataka State. I presented my paper with a proof of the striking resemblance between Kinnari Vina of the Kinnara Jogis- the nomads of Karnataka, and the Marga Kinnari as described by Sharngadeva in his Sangita Ratnakara. I had to answer numerous questions, some odd and meaningless too. But I received applause from the scholars who could appreciate such deep research work. I got Bahenji's blessings. In my paper I tried to prove that the concept of Grama-Murcchana System had little practical application at the time of Sharngadeva and the svaras were the same as are used today. My finding admonished those scholars who ardently believed that the Grama-Murchhana System was present uninterrupted till the period of Sharngadeva. The paper was accepted in the proceedings as well as incorporated in the book published by the Akademi.

The second International Seminar was arranged at Hampi, Karnataka. The place has a cultural history. It is considered to be the kingdom of Bali and his brother Sugriva, the Vanara kings of Ramayana period. It was also the home of the great devotee of Sri Rama, called Pawan Putra (son of the Wind God) Hanuman, also the friend and the commander of the army of King Sugriva. The inapproachable mountain called Matanga Giri is also a famous spot. It is said that the Shabari, who offered Sri Rama her tested fruits, was the disciple of Matanga Muni- the great sage and musician. Shabari was also known as Maatangi. Because of this famous Matanga Hill, the seminar was proposed to be organized at Hampi. Hampi is also famous for being the capital Kingdom of Vijaynagar Dynasty of 12th century. The Cultural University of Karnataka is situated nearby and the Vice Chancellor promised all help for the seminar. We enjoyed a lot apart from participating in the seminar. In the mid of the seminar days, we celebrated simple but a graceful Guru Purnima function. The idea was initially mooted by me. I persuaded other co-scholars (Guru Bhais and Bahens) to show our gratitude on the special day. All were ready. Two of us went to the city to buy a sari and other materials. The city was more than ten kilometers away from our location. After reaching the city we came to know that all the shops were closed due to some unavoidable reason. We found it very difficult to get the items accroding to our choice. But anyhow we could be able to purchase a reasonably good sari. The next day before proceeding to the session, I requested Bahenji to stay for a few moments for we all wanted to discuss a few points with her. She asked us what were the points, but I restrained others from disclose. All of us entered Bahenji's room with flowers and coconuts. Bahenji was a bit surprised. Vimalaji was asked to offer the sari and other items to Bahenji on our behalf, being the eldest among us. Bahenji understood all. She was moved with our devotion. I offered my gratitude at the last. Bahenji suddenly told all: "I know all this is masterminded by this girl". I suddenly became emotional and left the room with tearful eyes. That sari was one of the favorite saris for Bahenji and she put on it only on some special occasions. After her demise, Dr. Urmila sharma (Bholidi) gave me two saris saying that Bahenji had a special liking for those saris, therefore she

was giving me those with a trust that those would be used properly. Hearing this, suddenly my voice was broke and the tear tanted flowing from my eyes. I am now carefully and cautiously using them. I believe Bahenji had given me the saris because she had all praise for my being properly dressed up and careful possession of the saris. I remember that my mother also used to ask me to wear her new saris before she wore it. She believed that since I properly took care of the saris, hence her saris would also last long if I wore them first! I was very happy no doubt, to wear the new saris the first time. It is needless to mention here that I am taking proper care of the saris of Bahenji.

Whosoever came in contact with Bahenji could never forget her. The everlasting impact of her behaviour with her students, scholars, friends and admirers shall haunt all time to come. I personally believe that no one could get such an untiring and ever enthusiastic teacher in their life from whom they always could know more, discuss more and could also grow more. The vacuum in the field of music in particular and in Indian Culture in general can never be replaced after Professor Premlata Sharma, our beloved Bahenji.



Prof. Dr. Indrani Chakravarti is at present the Vice Chancellor of Indira Kala Sangeet Viswavidyalaya, Khairagarh, Distt. Rajnandagaon, Chhattisgarh.

.13.
Indic Musicology and Musicologists*

(Answer for a question posed by Mark Slobin, as—)

The term "Indic Musicology" has been coined for a special branch of music studies. Evaluate why the term was invented, what its implications are, and how Indic musicology overlaps or does not overlap with ethnomusicology. Cite the main authors in this field and basic positions of Indian and non-Indian scholars on this topic.

****

In the 1950's a young musicologist, Harold Powers, took interest in the art music of South India. As a Fulbright scholar in 1952, he studied Karnatic vocal music in Madras and initiated his lifelong research on the complex and highly developed music theory of Indian music based on texts dating back as far as the first century BC. A decade later he reseacrhed the theory and practice of the art music of North India. He became the recognized authority in USA musicological circles on Indian art musics, their theory as witnessed by Dr. H. Powers' dense thirty page article in the New Grove Dictionary of Music.

Musicology is an emerging academic discipline in India. The term musicology and its associated scholarship has distinctly different meanings within the Euro/American view and the Indian view. Before Harry Powers went to India, there was no Indian academic field known as musicology. There was, however, a longstanding tradition of studying the ancient texts on music and drama. Harry Powers coined the term Indic Musicology with the intention of removing the distinction between Indian and non-Indian scholars studying and researching Indian Art Musics.

Powers and his Euro/American contemporaries saw strong similarities between Euro/American musicology and Indian art music theory because they are both rooted in a long literary tradition. Ultimately the term "Indic musicology" has not found resonance in Indian musicology circles. According to correspondence with N. Ramanathan (May 1998), few, if any, Indian music scholars today are aware of or would use the term. From an even more extreme position, some Indian musicologists feel that Indic musicologists of the West "very rarely quote from Indian writings and often quote only each other," and it is also felt that "in conferences outside India, comments and observations from Indian musicologists on the papers by Indic musicologists are rarely given a proper hearing or treated with respect." From this point forward in my paper, I will use the term Indic musicologists to mean non-Indian musicologists (who study Indian art music).

* This article was handed over to me in 1999, by Ms. Harriotte Hurrie, one of the dearest faithful students of Bahenjee,for this memorial Volume. —U. Sharma

Powers succinctly and precisely addresses the heart of the dilemma between Indian and Indic musiclogists in his quote, "The development of the literature on Indian music in the English language is an especially valuable illustration of inter-cultural contact. For the westerner, it is the application of familiar methods to alien materials; for the Indian, it is the impingement of alien ideas on familiar materials." (H.S. Powers "Indian Music and the English Language" in Ethnomusicology 9, 1965, Bruno Nettl.)

It is important for the reader to know that what Indians and non-Indians now call Indian musicology is based on a long tradition, known as Sangita Shastra. The study of music theory is imbedded in the prescriptions and definitions of the Vedik ritual religious dramas described in such classic texts as the Natyashastra. These dramas were performed seasonally, annually, and for special propitiation of a paticular god or goddess. The drama is the ritual vessel which contains the symbolic substance of archetypal Hindu life. Music, both instrumental and vocal, is an integral part of the drama. It does not gain an independent identity until the 12th century. (See P.L. Sharma or Powers). Much like the study of mathematics or any one of the six major schools of philosophy, the early Indian music scholars passed on their knowledge by the writing down of commentaries on the core text (the Sutra). The core text and commentaries were taught and interpreted by the senior most teacher, or "guru," of that order of students. This powerful combination of written and oral/aural learning has continued to the present in all the above mentioned disciplines except for music. The oral/aural transmission was broken in the 13th century when the heavy Muslim invasions and rulers began to prevail.

In India today there are a handful of musicologists once again translating and interpreting the ancient texts. Musicology in India in some institutions is focused intensively on translating, analyzing, and making available the history of the highly developed theories of art musics in India. Some Indian musicologists have sought to uncover the on-going relationships between the ancient theory and current practice, most notably Dr. Prem Lata Sharma. (see interview with Harold S Powers, 1998). Prem Lata Sharma did a doctorate of music in vocal music under the legendary vocalist Pt. Omkarnath Thakur and a Ph.D. in Sanskrit at Banaras Hindu University in the early 1950s and became the chief editor of Pt. Thakur's three-volume compilation of original compositions and music theory, Sangitanjali, published in the early 1960s. This was the foundation for her lifetime commitment to Sangita Shastra. Her efforts to ground current musical practices in the ancient texts were a part of the opening of the academic field of musicology in India.

Prem Lata Sharma mentored Harold Powers, Lewis Rowell, Richard Widdess and many other non-Indian scholars as well as many North and South Indian aspiring musicologists over the last 40 years. She lobbied for and succeeded in opening the first musicology department in a university in India in 1966. The very act of bringing the discipline of musicology into the codified academic arena made it possible for Dr. P. L. Sharma to draw music scholars from many different camps and create the framework for harmonizing and ultimately beginning to make possible an on-going dialogue between the otherwise quite disparate streams of musicological scholarship. N. Ramanathan, in his paper, (Indian Musicology) presented at Wesleyan in 1991, points out that there is an unspoken mandate among scholars who wrote during the last two millennia and those who translate and make commentary on ancient Indian music. One can observe that when two elements or traditions or musical concepts conflict either within one document or between one or more documents, then the author-commentator, or translator must harmonize the conflict before the completion of the translation and commentary. (see E-mail correspondence with N. Ramanathan May 1998) Further, the author must at least affirm and better yet add to the evidence that present day musical practice is the predictable and natural result of the unbroken line of music since ancient times. Ramnathan and other well-recognized musicologists maintain that the "unbroken line" theory is not viable yet the traditional belief in it has hindered scholars in their scholarship.

To state the obvious, the field of ethnomusicology began to be defined and named during the 1950s in the U. S. A. One of the first Indian musicians who opted to train in this new western field of ethnomusicology was Nazir Jairazbhoy. One of his first major contributions was the theoretical text The Rags of North Indian Music. This work, published in the late sixties, does not seem to differ too much from Indic musicology. However, the new features of ethno-musicology were richly reflected in such research as L.G. Tewari's Folk Music of Uttar Pradesh, Bonnie C. Wade's book on Khyal and Daniel Neuman's study of musicians in his book The Life of Music in North India.

In the 1950s and 1960s, ethnomusicologists researching in India showed interest in some of the folk traditions. This interest increased through the end of the 1970s but studies of Hindustani and Karnatak music were still in the majority (for studies on folk musics see L.G. Tewari, Edward O. Henry, Nazir Jairazbhoy). Although Jairazbhoy was initially recognized for his contributions to Indic musicology, he has completed extensive long term research on the folk musics of Rajastan as well as on several other south Indian tribal communities. In the university music departments in India, however, this folk music research would not have been considered significant just as it would not be significant to the musicology circles in the U. S. or in Europe. By the 1980s and 1990s both Indian and non-Indian ethnomusicologists were delving into Indian folk and film music research projects. For example, Alison Arnold's 1991dissertation Hindi Filmi Git andAnuradha Mohan's 1994 MA Thesis Ilaiyaraja: Composer as Phenomenon in Tamil Film Culture and Carol Babiracki's "Tribal Music in the Study of Great and Little Traditions of Indian Music." Predictably, the focus on research of Indian art music had substantially receded with respect to other types of music. This came about, in my view, because ethnomusicology responded to and was politicized by the intellectual trend of revising and deconstructing histories produced in or about nation states and individual disciplines like music, as viewed from the post-colonial period.

The substantive changes in both the theory and treatment of subjects, research topics, present in ethnomusicology has scarcely affected musicology in India. Yet the research of Indic musicologists, such as Powers, R. Qureshi, Allyn Miner, and Lewis Rowell has richly informed ethnomusicologists. I would even venture to say that Indic musicologists are perceived as a subset of ethnomusicology.

In the discussion of the points of convergence and divergence of Indic musicology, Indian musicology, and ethnomusicology it is useful to consider that in each of these fields there have been no more than 15 major figures over the course of the last forty five years. Having been published in both Euro/American and Indian musicology journals over the past thirty years, Harry Powers holds a unique position as a non-Indian musicologist. In his article "Indian music in the English Language" published in 1965 in Ethnomusicology, he starts by enumerating and lauding the reprinting of old works on Indian music in English and later very diplomatically points out how varied and conflicted the branches of scholarship are in this new field of musicology in India. He does not, however, take up the issue of how widely the writing about music and music theory can and does diverge from what Euro/American scholars assume to be a norm/standard. I came to understand this issue while I was enrolled in the MA Musicology Program at Banaras Hindu University, 1976-78. I was initially confused and disconcerted by the authors who wrote using a very anecdotal and/or intensely opinionated style. As a direct result of an MA course which explored the influence and infiltration of terms from the six major classical schools of philosophy on the ancient texts on music and drama, I learned that philosophy which is based on the Vedas honors the speech of elders as the truth. In all layers of post-colonial Hindu culture, the Vedas and the published "word" still constitute a serious authority. Keeping this view in mind, I could understand and accept the wide variation in scholarship.

The four decades of on-going exchange between key mentors like Dr. P. L. Sharma and the non-Indian Indic musicologists is observable in the research writings of the next generation of Indian

musicologists such as Dr. Subhadra Chaudhary, Dr. Mukund Lath, and Dr. N Ramanathan, Ph.D. student of P.L. Sharma and now the head of the Music department of Madras University. Ramanathan's treatment is more critical and less self-referential in relationship to the topic of discussion. The following is an excerpt from a collection of essays by N. Ramanathan: "The purpose of this article has not been to give an introduction to the talas used in Indian music but to explain the concept of tala itself as can be gathered from the musical practice of various periods of history. The function of tala has been one of regulating the rhythmic flow of the melodic line and providing a temporal framework or form to music."

Another key figure in Indic musicology is Professor Lewis Rowell, Department of Musicology, University of Indiana at Bloomington. After 20 years of researching and translating from many of the key Sanskrit texts on Indian music, he wrote Music and Musical Thought in Ancient India. Rowell takes a bold stand in this work for the remarkable constancy of the fundamental principals of music despite the travails of periodic invasions on the Indian sub-continent.

The following two quotes exemplify his telescoped view of ancient Indian musical concepts: "I shall have frequent occasion to refer to an important musical document from that century-the Sangitaratnakara (the mine of musical jewels) of Sarngadeva, a monumental synthesis of the many musical doctrines expounded by the authors of the previous millennium. "*****" When we recall that the ancient Greek concept of mousike was held to encompass all of the domains of the nine Muses-from poetry, song, and dance, to history and even astronomy- we should be prepared to encounter a complex structure of ideas with multiple dimensions and many interconnections." (pp. 5)

Hitherto, the vast majority of Indian and non-Indian musicologists had restricted themselves to detailed translations and restrained interpretations of specific ancient texts or sections of those texts. Sometimes research focused on a musical form or concept as illuminated in more than one text (see Subhadra Chaudhary's Time measure and Compositional Types in Indian Music, 1997). Considering this backgound Rowell's synthesis is a breakthrough. Rowell builds a systematic foundation of the history and geography of ancient India and intersperses the highly detailed taxonomies of musical elements and concepts in such a way that the rather dry and one-dimensional material becomes vital and inviting.

Another main point of divergence between Indic musicology and ethnomusicology is evident in the heavy emphasis of ethnomusicological texts on social/cultrural and political contexts in which the threads of musical activity clearly bind the three spheres together. This ethnomusicological focus and treatment contrasts sharply with Indic musicology's clear single-minded focus on music.

Another individual who has made outstanding contributions to both Indic and ethnomusicology is Regula Burkhart Qureshi. She was first known as a cellist and musicologist. Through marriage she was exposed to and then dedicated herself to living in and learning Hindustani art music as it is played on the sarangi. Her publications range from specific detailed studies of qawwali and sarangi to theorizing on the interdisciplinary nature of the study of music. (see Qureshi in Journal of the American Musicological Society, Volume 48, Number 3, 1995.)

The Indic musicologists have harvested knowledge and guidance on an on-going basis from Indian musicologists. Further, they have been able to take advantage of research and translations of key Indian music texts published in India. The Indian musicologists have little if an access to the Euro-American publications by the Indic musicologists. This has occurred, most often, because, these publications are prohibitively expensive for institutions as well as individual scholars. The issue of availability of new publications impedes the dialogue between the two groups. However the lack of communication is by no means an indicator of Indian musicologists' interest in the work of Indic musicologists. (see e-mail correspondence with N. Ramanathan 1998).

Bibliography

Arnold, Alison. *Hindi Filmi Git: on the History of commercial Indian Popular music.* Dissertation, University of Illinois, 1991.

Babiracki, Carol M. "Tribal Music in the Study of Great and Little Traditions of Indian Music". *Comparative Musicology and Anthropology of Music.* ed. Bruno Nettl and and Philip V. Bohlman.

Chicago: The University of Chicago Press, 1991. pp.69-109.

---------------------------------------"What's the Difference : Reflections on Gender and Research in Village India," in *Shadows in the Field* ed. Barz/Cooley.

Chaudhary, Subhadra. *Time Measure and Compositional Types in Indian Music* New Delhi: Aditya Prakashan, 1997.

Henry, Edward O. 1988. *Chant the Names of God : Musical Culture in Bhojpuri-speaking India.* San Diego: San Diego State University Press.

Jairazbhoy, Nazir A. *The Ragas of North Indian Music.* Bombay: Popular Prakashan, 1995. Original copyright 1971.

Mohan, Anuradha. *Ilaiyaraja: Composer as Phenomenon in Tamil Film Culture.* MA Thesis, Wesleyan University, 1994

Neuman, Daniel M. 1980. *The Life of Music in Northern India.* Detroit; Wayne State University Press.

Powers, Harold S. "Sangitasastra and Sastriya Sangita," in *The Indian Music Journal,* No. 9, 1968, g. 52-57.

-------------------- "India". in *The New Grove Dictionary of Music and Musicians.* ed. Stanley Sadie. Hong Kong: Macmillan Publishers. Limited, 1980. pp.69-166.

-------------------- *Indian Music and the English Language: a Review Essay* in Ethnomusicology, Jan. 1965. Vol. 9, No. 1, pg. 1-13.

------------------- Phone interview with H. S. Powers by H. Hurie, May 1, 1998

Qureshi, Regula Berkhart. "Music Anthropologies and Music Histories: A Preface and an Agenda." *Journal for American Musicology.* Fall, 1995. volume 48, number 3.

--------------------- "Whose Music? Sources and Contexts in Indic Musicology." In *Comparative Musicology and the Anthropology of Music.* ed Bruno Nettl and Philip Bohlman. Chicago: University of Chicago Press, 1991.

---------------------- "The Indian Sarangi: Sound of Affect, Site of Contest."Yearbook for Traditional Music. ed Dieter Christensen.Vol. 29. International Council for Traditional Music, 1997.

---------------------- *Sufi Music of India and Pakistan: sounds, context and meaning in qawwali.* Cambridge University Press, 1986 Cambridge and New York.

Ramanathan, N. *Essays on Tala and Laya*. Bangalore: Percussive Arts Center, 1997.

Rowell, Lewis. *Music and Musical Thought in Early India*. Chicago: The University of Chicago Press. 1992.

Tewari, Laxmi Ganesh. 1974. *Folk Music of India: Uttar pradesh*. Ph.D. dissertation, Wesleyan University.

Van Der Meer, Wim. *Hindustani Music in the 20th Century*. New Delhi etc. : Allied Publishers, 1980.

Wade, Bonnie Claire. 1971. *Khyal: A Study in Hindustani Classical Vocal Music*. University of California at Los Angeles.



.14.
The Musico-Poetic Gems of Vraja : *Tattva* Revealed Through Beauty

— Dr. Selina Thielemann

In the Vaiṣṇava liturgical practice of Vraja, as in any devotional tradition for that matter, music and its poetic basis cannot be imagined as individual entities but are inseparably intertwined. Poetry is brought to life by the inspiring touch of the musical melody, and the meter of the verse unites with the musical *tāla* into a harmonious and well-ordered articulation of beauty. Given the mutual indispensability of both the musical element and the poetic factor, the study of the one cannot be pursued without knowledge of the other. When I approached the mammoth task of preparing a survey of the major Vaisnava temple music traditions of Vraja, I felt therefore extremely blessed partaking of the guidance by as excellent a connoisseur of music, devotional poetry and Vaiṣṇava philosophy as was Professor Prem Lata Sharma - a grace yet more special as my work was to become the last thesis guided by her. The present short essay is a humble attempt of paying tribute to my respected teacher, acknowledging a spiritual debt which to repay in one lifetime is certainly not sufficient.

The verses of Vrajabhāṣā devotional literature, brought forth from the poetic minds of generations of poet-musicians and saint-philosophers devoting their lives at the feet of Lord Kṛṣṇa, form today the primary fundament of Vaiṣṇava liturgy far beyond their region of origin. Preseved not only on dusty manuscript pages but rather as living musical compositions presented in the daily divine worship, these poems inherit a peculiar aesthetic charm easily absorbed even by a complete outsider who chances to listen to their musical rendition upon visiting the one or other temple. The true beauty of these musico-poetic treasures, however, does not lie in their literary perfection or rhythmic-melodic realization, and this inner beauty cannot be discerned at first acquaintance either. What is it that endows the poems with genuine authority? It is the fact that their creators, philosophers rather than mere poets or singers, made these verses statements of universal wisdom, in which the *tattva* or essence of scriptures and theological treatises is contained in most compressed, yet most refined form.

Every single verse, even if disguised as a sober description of ritual routine, contains some vital philosophical truth, and the most excellent examples may well carry the tenets of several Purāṇic chapters in a mere two or three couplets. Just as it is said in a verse of the 16th century *aṣṭachāpa* poet Nandadāsa-

> Oh jewel of Nanda's house.
>
> Yaśodā's darling, hero of the plough-holder, enchanter of Rādhā, forever bestowing happiness.[1]

१. नन्दभवन कौ भूषणमाई॥ जसुदाकौं लाल बीरहलधरकौ राधारमन सदासुखदाई॥

Kṛṣṇa is addressed as the darling child of his foster-mother, the source and object of Yaśodā's motherly love and, in a broader sense, the child-god who calls forth that very same motherly sentiment from the heart of all humans, thereby enabling man to love with an intenseness with which only a mother can love. Kṛṣṇa is adored by Balarāma with brotherly affection, and as Rādhāramaṇa - the lover of Rādhā -, He reveals Himself as the sweetest of all transcendental realities whose energy of bliss is upheld by the eternal principle of female cosmic power manifest in the personification of Rādhā. The poet thus evokes the emotional essence of three fundamental *bhāvas* or sentiments in a single line - *mātṛ bhāva* or *vātsalya bhāva,* the love cherished by a mother for her child; *sakhā bhāva,* friendship or brotherly love, and *mādhurya bhāva* sweet love as the quintessence of universal existence.

Further it is said:

> Let Indra be Indra, let gods be gods, let Brahma be Brahma - whatsoever else;
>
> let Yama be Yama, let divinities be divinities, let Varuṇa be Varuṇa, let glory be glory.
>
> The treasure of Śiva, leave it wholly to the saints; let go the greatness of Vedas and Purāṇas-[2]

-Why? Because there, the true divinity is not found. God does not reside in scriptures or sacred texts; He does not abide in temples or sanctuaries or any separate realm. In the Padma Purāṇa, Lord Viṣṇu proclaims, 'I dwell not in Vaikuṇṭha, nor in the hearts of *yogīs*'[3]. The Supreme Divinity is more than impersonal, hence unreachable reality. He is no god in the sense of a distant divinity. He is not realized in the divine grandeur of Indra or in the abstract concept of Brahma. He is not hidden in the mysteries of the beyond.

Where then is the Supreme Reality obtained? Like in many devotional verses, the poet saves his conclusion for the last line of the song:

Nandadāsa's life is the mountain-holder, Gokula's ornament, the young boy Kanhaī.[4]

God is human, albeit superhuman: to our poet, He reveals Himself as the child Kṛṣṇa who enlivens the village Gokula with his delightful presence and who performs his extraordinary deeds for the benefit of mankind. What is the core message thus conveyed by the poem? God manifests Himself in human form. He dwells amidst all as a fellow human being, endowed with all the capacities of a fully accomplished person, yet as a person who remains entirely accessible to ordinary humans.

What is more, attainment to the Supreme Divinity is not but the privilege of a few selected individuals, but the presence of the divine energy is latently evident in each and every living being. Man's only task in order to attain to the sought-after reality is to evoke the treasure that rests within him. To evoke it from where? - from the human heart where the inner divinity resides. Therefore another *aṣṭachāpa* poet, Paramānanda Dāsa, *contemplates on that treasure which abides time and again within the heart*[5]. For the one who has realized the simple yet fundamental truth of the divine within man, no

---

२. इन्द्रकौ इन्द्र ईस ईसनको ब्रह्मकौ ब्रह्म अधिक अधिकाई। कालकौ काल देव देवनकौ वरुणकौ वरुण विरुद विरुदाई॥ सिवकों धन सन्तनकौ सर्वस महिमा वेद पुराननगाई॥

३. Padma Purāṇa, Kārttika Māhātmya *nāham vasāmi vaikunthe yoginām hṛdaye na ca...*

४. नन्ददास को जीवन गिरधर गोकुलमण्डन कुमर कन्हाई॥

५. सो धन बार बार उर अन्तर परमानन्द बिचारैं॥ (*Paramānanda Sāgara,* Sharma edition, verse 12)

vision is complete unless it is attained from within, unless, as another 16th century poet experiences at the sight of his worshiped deity of Rādhāramaṇa, the glance *of those restless eyes settles in Guṇamañjarī's heart*[6]. Once this inner vision is fully accomplished and maintained, the aspired reality remains no more aloof as a distant abstraction accessible to the human mind only in the concrete materialization of a physical image, but rather man comes to realize that he must direct his spiritual search inward if he wishes to bring his efforts to fruition. Why? - because the object of all *remembering and worshipping dwells inside the heart*[7]: because the spark of divinity is found in man himself.

Once the Supreme Being is sought from within, once man opens his inner eye and sensitizes his mind to the subtle vibrations emanating from the transcendental presence, what does he see? Before the devoted seeker's mind then arises the vision of the Invisible in whatever shape he desires to partake of it. Vision that reveals itself in what way? - as experience: as the most sublime spiritual experience, as the emotional taste of transcendental sweetness. It is upon attaining this experience that our Vaiṣṇava poets would spontaneously call out, *look at him, Nanda's son comes, with eyes like piercing flower-arrows*[8]. The fact that the mediaeval poet-singers used to render their verses as part of the musical liturgies before the deities installed in the Vaiṣṇava temples may perhaps suggest that the songs contain mere descriptions of the beauty and features of those temple images and of the ritual routine. It would be wrong, however, to assume that those poets drew their inspiration merely from a material symbol of the divinity. Rather, they had attained the vision of the true divinity settled in the temple of the heart - an experience which made them eligible to worship the temple deity not as a lifeless idol but as a concrete extension of the formless divine energy.

Ritual worship coupled with knowledge born of the spiritual experience requires a high state of accomplishment, and realization of the formless divinity indwelling the manifest form as its vital essence is not obtained in a single instant. The one who thinks to attain vision of the divine by simply directing his physical eyes at a temple deity thoroughly fails to discern the nature of the transcendental reality. What he sees is an image, charming and beautiful though, but a material object devoid of life, lacking the vital spirit. This is not, however, what our Vaiṣṇava poet-saints conceived before their eyes upon composing their songs. The divinity honored in their verses, the divine play described in their poetry is not settled in temples or mythological accounts - their God is reality, permeating the universe with His all-encompassing brilliance. Their vision was permanent rather than momentary, their *darśana* did persist when closed shrine doors concealed the deity from sight. It was the vision of the formless revealed through the form, and, what is more, it was a vision not to be achieved at once but after a long period of earnest and patient spiritual efforts:

> These lotus-feet are attained to upon worshiping throughout many lives -alone for the sake of Paramāṇanda's lord it is that the sage indulges in spiritual endeavor.[9]

---

६. गुणमञ्जरी हिये में बैठी चपल नैन अनियाँ की॥

७. सुमिरन भजन बसत उर अन्तर (*Paramānanda Sāgara,* Sharma edition, verse 808)

८. वह देखो आवत नन्द-कुमारु नैन कुसुम-सर साँधें। (*Paramānanda Sāgara,* Sharma edition, verse 362)

९. ए पद-कमल तबहि प्रापत हैं बहुत जनमु अराधें। परमानन्द प्रभु उनहीं कारन लपवत मुनी समाधें॥ (*Paramānanda Sāgara,* Sharma edition, verse 362)

१०. परमानन्द तब तें सचु पायो जब ते पद-अंबुज भजी। (*Paramānanda Sāgara,* Sharma edition, verse 792)

Yet no effort howsoever stern is ever meant to bear success if the seeker is not able to fully surrender himself to the aspired divinity. Paramānanda says, *highest bliss is then truly attained when one worships the pair of lotus-feet*[10]. The poet delivers his heart at the feet of the lord as ultimate bliss is obtained through the very act of surrender: *Paramānanda performs his vow, surrendering his heart at the pair of lotus-feet,* a signature line whose deeper meaning implies, *the vow of utmost joy is surrender of heart to the pair of lotus-feet*[11]. Surrender is the secret of spiritual experience, of experience which enables the worshipper to conceive the true divinity and to worship knowingly. Offering his entire being to the Divine Reality, man partakes of the most sublime vision whose radiance of beauty rises then before the inner eye.

It is the capacity of surrendering oneself thus unconditionally which makes man eligible to receive the gift of love. Through surrender, love is attained in its subtlest essence. This love, which unites the Supreme Soul with its countless extensions embodied in the individual souls, is most pure and at the same time most intense. It is unattached, dispassionate love free from selfish intents; love for the sake of love. And this flawless essence of essences, whose immenseness is comprehensible only to those who have tasted its full sweetness, constitutes the exquisite emotional fluid that carries the human soul to the ocean of the Infinite.

This quintessence of existence is what? - it is *sahaja prema* - easy or spontaneous love which finds its sweetest manifestation in the union of Rādhā and Kṛṣṇa, of the human soul and the Supreme Soul, of man and God. Therefore, *sahaja prema* is upheld as the most precious spiritual treasure by the Vaiṣṇava poet-philosophers, as expressed by Paramānanda in one of his *vasanta verses*[12]:

> Easy love suits Gopāla alone—
> Seeing his face, happiness arises, oh friend!— the beloved makes his eyes meet
> the eyes.[13]

The poet speaks in the persòn of a *gopī* addressing her companions, saying that pure, unattached love alone is approved of by the Lord. It is selfless love which brings forth all joy, and it is spontaneous love out of which the aspired divinity becomes revealed before the inner eye, visioned face to face. Further it is said —

> Easy love bonds the lotus-bloom and the light-beam, easy love joins the water-lily
> to the moon;
> easy love entwines the black cuckoo with the spring, easy love unites Rādhā and
> Nanda's darling;
> easy love ties the *cātaka* bird to the *svāti* asterism; easy love links the earth and
> the cloud.[14]

---

११. परमानन्द ब्रत कीनों। पद-अंबुज चित दीनों॥ (*Paramānanda Sāgara*, Sharma edition, verse 783)

१२. *Paramānanda Sāgara*, Sharma edition, verse 1191

१३. सहज प्रीति गोपालहि भावै। मुख देखें सुख होइ सखी री! प्रीतम नैननि नैन मिलावै॥

१४. सहज प्रीति कमलनि अरु भानै. सहज प्रीति कुमुदनि चंदै। सहज प्रीति कोकिला-बसंतै, सहज प्रीति राधा नन्दनन्दै॥ सहज प्रीति चातक अरु स्वातै, सहज प्रीति धरनी जल-धारै।

The lover of the lotus-flower is the moon, dwelling at a seemingly infinite distance; yet he is so close to the flower-soul that the lotus will not blossom unless awakened by the rays of his light. Likewise, the *cātaka* bird cannot live unless the autumn asterism brings the clouds whose raindrops alone he drinks. Pure love is of such kind - it is completely dispassionate, yet it links two spiritual entities to such an extent that the one cannot exist without the other. Just as flawless love unites Rādhā and Kṛṣṇa as the one eternal cosmic principle, the human soul is forever conjoined with the Supreme Divinity through the bond of spontaneous love:

> With heart, deeds and words, Paramānanda Dāsa is tied by easy love to the incarnation of the Dark one.[15]



१५. मन-क्रम-वचन दास परमानन्द सहज प्रीति कृष्णा-अवतारै ॥

.15.
Sound As Conveyor of The Sacred Message : Nitya Kīrtana in Bhakti

*—Selina Thielemann**

Sound, and specifically organized sound in the form of music, is a phenomenon that has been intrinsically linked with the mystical experience of man ever since the sphere of human interest began to exceed the realm of the immediately discernible, phenomenal reality. Its nature of being non-visible and non-touchable, yet conceivable by the senses, causes sound to permeate both the phenomenal and the transcendental planes and thus qualifies it to act as the connecting medium between the levels of the mundane and the divine. The communication between the two realms is established in a two-fold way, either by a sound deliberately created on the mundane level and directed to the divinity, or, in turn, by divine inspiration which is transformed into a sounding reality on the phenomenal level. Music as a consciously pursued human activity thus derives its vital energy from the quest for vision of the divine, the fundamental quest that distinguishes man from other living creatures. The capacity of organized sound to establish a direct contact between man and the divinity accounts for the indispensibility of music, in one form or another, in any religious tradition anywhere in the world. In *bhakti,* devotional religion whose chief tenet is a personal relationship between man and God, the foremost position of music as a mode of worship is self-evident.

Among all forms of music, song enjoys the highest authority in the divine service, because the human voice alone can verbalize the praises of God. Song, again, is dual in its function: it is offered to the divinity and thereby intensifies devotion by raising the awareness of the object of devotion, and it is received through divine inspiration, that is to say, the state of devotion, once attained, is expressed in tunes. The Bhāgavata Purāṇa, the theological foundation of Vaiṣṇava *bhakti,* acknowledges this two-fold functionality in two passages from the Eleventh Book. Verse 11.19.20 refers to singing the praises of God among the ways that lead to devotion:

> *Śraddhāmṛta-kathāyāṃ me śaśvan mad-anukīrtanam, parinisṭhā ca pūjāyāṃ stutibhih stavanam mama.*
>
> Believing in nectar-like stories of me, incessantly narrating them, to praise me with eulogies in complete knowledge and respect [-all these lead to devotion].

It is important to note that in the Vaisnava tradition, expressions related to the glorification of God such as *anukirtana* and *stuti* in the present passage have always the connotation of singing. Verse 11.14.24 of the Bhāgavata Purāṇa speaks of music and dance as immediate manifestations of the state of devotion:

* Dr. Selina Thielemann is the last Research student of Prof. P.L.S. staying in Vṛindavan for more than ten years She has authored many volums on Music of Vaiṣinava Cult.

vāg gadgadā dravate yasya cittaṃ rudaty abhikṣṇaṃ hasati kvacic ca, vilajja udgāyati nṛtyate ca mad-bhakti-yukto bhuvanaṃ punāti.

He whose words are stammered and whose heart melts, who weeps again and again and laughs at times; who, doing away with all bashfulness, sings aloud and dances, endowed with my devotion-such a person purifies the world.

Given the scriptural affirmation of the authority of music and song as essential components of the religious practice in *bhakti,* it is only natural that devotinal religion has given rise to a tremendous variety of musical and performing art traditions that evolved in the course of the centuries in different geographical and cultural surroundings. Sound in its function to convey devotional messages and to mediate between the spiritual and mundane realms is effectively employed in any religious tradition that acknowledges a relationship and an interaction of one kind or another between man and the divinity. The concrete shape musical activity takes in any one religious tradition is determined by the way in which this relationship is perceived, and the role and function of organized sounds within the divine service is accordingly defined in the respective liturgies. What I intend to do in the following explications is to exemplify the usage of musical sound as part of the ritual service with reference to the Vaiṣṇava temple music tradition of Vraja and on the basis of the concrete example of the *nitya kīrtana* practice.

Devotional music as professed in Vaiṣṇava temples and sanctuaries can be divided into three categories distinguished by their settings and performance schedules: *nitya kīrtana, samājagāyana* and *saṃkīrtana.* These terms are specifically relevant for the North Indian Vaiṣṇava temple music tradition, but similar categories are found in the South. *Nitya kīrtana,* or 'eternal song of praise', signifies the rendition of devotional songs on a continuous basis to accompany the daily ritual worship in a temple or sanctuary from the early morning to the late evening. *Nitya kīrtana* is rendered in an essentially soloistic setting, involving a singer, a *pakhāvaja* drummer and sometimes a supporting melody instrument. Congregational musical performances in Vaiṣṇava temples are referred to as *samājagāyana,* literally 'group singing' or 'congregational singing', and such performances - in distinction to the continuous *nitya kīrtana* sessions - are held at set times, either daily or on specific festive occasions. The third category of Vaiṣṇava devotional music, again in congregational setting but often spontaneous in its nature, is *saṃkīrtana.* The present paper shall not refer to *samkīrtana* in deeper detail, but focuses on *nitya kīrtana* while offering a summarized account of the *samājagāyana* practice.

Samājagāyana, or *samāja* as the compound is conveniently abbreviated, is an indigenous tradition of the region of Vraja, the sacred homeland of Lord Kṛṣṇa centered around the temple towns of Vrindaban and Mathura. The practice of *samāja* singing is unique to Vraja and barely known beyond this area. The *samāja* tradition took birth around the 16th century, in the course of a wave of *bhakti* that swayed through northern India, resulting in a tremendous rise of devotional music, art and literature. There is no firm evidence for an exact date of origin of *samājagāyana,* nor can it be said with certainty in which religious community this form of temple music was practiced first. The privilege of having been the originator of the *samāja* tradition is nowadays claimed by two Vaiṣṇava communities with strong representation in Vraja, namely the Nimbārka and Rādhāvallabha Sampradāyas, and the musicians of the latter support their argument by referring to a miniature painting dating from 1538, which depicts the founder of the *sampradāya,* the poet-saint Hita Harivaṃsa, and his followers in a musical performance resembling the *samāja* setting with cymbals, barrel-drum and *tānpurā.*

Today, *samājagāyana* is identified with the musical practice of three important Vaiṣṇava communities of Vraja, viz. the Nimbārka, Rādhāvallabha and Haridāsī Sampradāyas. *Samājagāyana*

plays moreover a central role in the musical traditions of the Vallabha and Caitanya Sampradāyas, in the former in addition to the soloistic *nitya kīrtana,* in the latter in addition to both *nitya kīrtana* and *saṃkīrtana.* The setting for *Samājagāyana* is approximately the same in all communities, but differences occur with regard to stylistic features and treatment of the *rāgas. Samājagāyana* is performed by a small group of five to ten musicians, comprising the lead singer or *mukhiyā* who conducts the performance, and a chorus of responsorial singers or *Samājīs.* The set of accompanying musical instruments includes the barrel-drum *pakhāvaja,* the harmonium and the cymbals *jhānjha* or *mañjīra,* all of them being indispensible; the usage of further supporting melody instruments such as the *sāraṅgī,* flute, *vīṅa, esrāja* or others is subject to availability. The repertoire of verses rendered in *Samājagāyana* is drawn from the rich heritage of devotional poetry in Vrajabhāṣā and includes the works of mediaeval and contemporary poets likewise. The verses are collected into textbooks arranged according to the daily and seasonal liturgies, and for each verse, the *rāga* (in some cases also the *tāla*) is prescribed. The compositions of *Samājagāyana* are strophic songs following the *sthāyī-antarā* model. Each line of the verse is first introduced by the lead singer and successively repeated by the chorus, and the rendition of the complete verse is compulsory because of the sacred content of its text. Three categories of musical composition are distinguished on the basis of their stylistic characteristics: *dhrupada, dhamāra* and *pada. Dhrupada* is a slow song set to Cautāla of twelve beats, rendered in a simple and plain vocal style. *Dhamāra* compositions, set to Dhamāra tāla of 14 beats and sung in medium tempo, are primarily associated with the poetic repertoires of *horī dhamāra,* i.e. the verses for the Holi season sung during the month of Phālguna, and *rāsa,* i.e. the repertoire for the autumn full-moon. Finally, *pada* refers to compositions in any tāla other than Cautāla and Dhamāra.

Stylistically, *Samājagāyana of the* Haridāsī Paramparā exposes the highest degree of standardization and rigidity. Here, the *rāgas* were reduced to formalized melodic models on the basis of which the compositions are sung, and the performance is devoid of any spontaneous elements, since even the number of repetitions of the respective verse-lines and the insertion of phrases on the verse-filling syllables *erī hā* - a characteristic feature of *Samājagāyana* - are predefined. Changes to the conventional *rāga* structures were made by the musicians of the Rādhāvallabha Sampradāya, too, who simplified *rāgas* with difficult melodic turns and created new compound *rāgas* by mixing the existing melody types. The *samāja* performance in the musical style of the Rādhāvallabha Sampradāya permits certain freedom with regard to the number of repetitions and to the insertion of verse-filling syllables, though here, too,improvisation as such is not executed *Samājagāyana* of the Nimbārka Sampradāya is stylistically closely related to *Samājagāyana* of the Haridāsi Sampradāya - a fact which does not surprise since the *Samāja* practice of the Haridāsī Sampradāya evolved from Nimbārkite *samājagāyana.* The formalization of the *rāgas,* however, was not followed by the Nimbārkite musicians, and the melody types have thus maintained their original shape. In the musical traditions of the Caitanya and Vallabha Sampradāyas, the *rāgas* are rendered in their pure classical form. These two traditions are characterized by the lowest level of standardization, hence by the highest degree of spontaneity and musical freedom, though within established rules. In Vallabhite and Caitanyaite *samājagāyana,* the basic musical compositions are often enriched by subtle rhythmic-melodic improvisation carried out in such a manner as to enhance the effect of the musical rendition of the verse, hence to amplify the devotional message conveyed by the text.

In the Vaiṣṇava temples of Vrindaban and Mathura, *Samājagāyana* is practiced on a regular basis throughout the year. Temples and religious establishments in which daily *Samāja* performances are held include the temple of Rādhāvallabha (Rādhāvallabha Sampradāya) and Srī Svāmī Haridāsa Sevā Samsthāna (Haridāsa Sampradāya) in Vrindaban, and the temple of Dvārakādhīsa (Vallabha Sampradāya) in Mathura.

At the temple of Rādhāvallabha, *samāja* takes place twice daily in the morning and evening, at Srī Svāmī Haridāsa Sevā Samsthāna once every day in in the late afternoon, and at the temple of Dvārakādhīsa, *samāja* sessions, being held four times a day, are almost given the character of *nitya kīrtana.* The temples of Bhatta-ji and of Rādhāramana in Vrindaban (both Caitanya Sampradāya) arrange *Samājagāyana* during the major annual festivities such as Holī and Janmāstamī. There is no regular practice of *samāja* singing in the Nimbārka Sampradāya; here, sequences of *samāja* performances extending over four or five days are from time to time organized to commemorate important religious festivals. Let me suggest an impression of the various styles of *samājagāyana* by presenting a number of short musical examples recorded during the holī celebrations at the temple of Rādhāvallabha, at Srī Svāmi Haridāsa Sevā Samsthana, at the temple of Bhatta-jī and at the temple of Rādhāramaṇa respectively.

The musical traditions of the Vallabha and Caitanya Sampradāyas shall remain of interest when we turn to the main subject of this paper: the *nitya kīrtana* practice. *Nitya kīrtana* is primarily associated with the Vallabhite liturgical system and with the musical style nowadays popularly referred to as *havelī saṃgīta,* 'music of the *havelī*-type temples', i.e. the stylistic tradition followed by the temple singers of the Vallabha Sampradāya. The Vallabhite *kīrtana-praṇāli,* i.e. the regulations for the performance of music as part of the daily liturgies, was formulated and established during the 16th century by Vallabhācārya's second son Gosvāmi Viṭṭhalanātha, and it has remained authoritative to the present day. The rules laid down in the *kīrtana-praṇālī* include the specification of verses, *rāgas* and *tālas* to be rendered on particular occasions, furthermore prescriptions for the setting of the performance and for the set of musical instruments. In formulating the *nitya-kīrtana praṇālī,* Viṭṭhalanātha of course did not introduce anything substantially new, but he rather applied the Purāṇic indications and prescriptions to the concrete liturgies of his *Sampradāya.* The Eleventh Book of the Bhāgavata Purāṇa states very clearly that musical performances and dance form an integral part of the divine service, and that these have to be arranged every day or - if there is not sufficient means - at least at festival time.[1] It is further elaborated that musical performances should comprise song and instrumental music[2], and that both verses found in ancient texts (i.e. in Sanskrit) and verses in the current language (i.e. in vernaculars) are to be rendered[3]. The Vallabhite *kīrtana-praṇālī* is arranged on a daily basis, and within the day it follows the *aṣṭayāma* divisions according to the Vallabhite liturgy. Setting and accompanying instruments are accurately specified, and the requirement of rendering both Sanskrit and vernacular verses is met by the basic body of Vrajabhāṣā poetry being supplemented by a number of *aṣṭapadīs* in Sanskrit, many of them composed by Viṭṭhalanātha himself.

At the time when the Vallabhite *kīrtana-praṇālī* came to be established at the temple of Srī Nātha-ji in Govardhan, the worship had been assigned to a group of eight poet-musicians collectively known as the *aṣṭachāpa* ('eight seals'), viz. Kumbhanadāsa (1469-1584 A.D.), Suradāsa (1478-1580), Paramānanda Dāsa (1494-1585), Kṛṣṇadāsa (1497-1580), Govinda Svāmi (1506-1586), Chitasvāmī (1517-1586), Caturabhuja Dāsa (1531-1586) and Nandadāsa 1534-1584). According to Vallabhite hagiographic accounts, these eight singers shared the duties of rendering the daily *kīrtana* songs throughout the eight

1. BhP. 11.27.35 *abhyaṅgonmardanādarśa-danta-dhāvābhiṣecanam, annādhya-gīta-nṛtyādi parvani syur utānv-aham* - On festive days or every day, massaging with unctuous substances, cleaning the teeth and bathing (should be performed); food (should be offered) and song and dance (should be presented).
2. BhP. 11.11.36 *maj-janma-karma-kathanam mana parvānumodanam, gīta-tāṇḍava-vāditra-goṣṭhibhir madgṛhotsavah* - (To recite) pleasing stories of me and my incarnations and deeds, (to celebrate) festivals in my temple with song, dance, musical performances (or. instrumental music) and discourses.
3. BhP. 11.27.45 *stavair uccāvacaih storaiḥ paurānaiḥ prākṛtair api, stutvā prasīda bhagavann iti vandeta daṇḍa-vat* - with various praises and hymns found in ancient texts as well as in the current language, (after which) he should prostrate himself (before me) with the words 'may you be gracious unto me, o Lord'.

watches: Pramānanda Dāsa performed at *maṅgalī* (5 to 7 am), Nandadāsa at *śṛṅgāra* (7 to 8am), Govinda Svāmī at *gvāla* (9 to 10am), Kumbhanadāsa at *rājabhoga* (10am to 12pm), Sūradāsa at *utthāpana* (3:30 to 4:30pm), Caturabhuja Dāsa at *bhoga sandhyā* (from 5pm), Chītasvāmī at *sandhyā ārati* (6:30pm) and Kṛṣṇadāsa at *śayana* (7 to 8pm). Nowadays, the entire *nitya kīrtana* service is rendered by one and same singer who sits from *maṅgalā* to *śayana,* but - in distinction to earlier practice - no verses are sung at *gvāla* in the contemporary liturgy.

The principal rules laid down in the Vallabhite *kīrtana-praṇālī* regard the choice of *rāgas* at particular times of the day and during the respective seasons of the year, furthermore the usage respectively indicates prohibition of certain musical instruments at specific hours, the spacial arrangement of the performance, the texts to be rendered as well as, in some cases, the number of singers. As for *rāgas,* the Vallabhite musical tradition classifies melody types with temporal implications further as 'hot' or 'cold' *rāgas,* i.e. *rāgas* that are sung either only during the summer or only during the winter. The distinction between hot and cold *rāgas* does not affect the relevance of the pure seasonal *rāgas* such as Vasanta and Malhāra, that are sung during the proper period of the year. With respect to musical instruments, the *kīrtana-praṇālī* prohibits the usage of percussion instruments at any time when the deity is taking rest, that is, a *maṅgalā,* at *utthāpana* and at *śayana.* For *maṅgalā* and *śayana,* the rendition of gentle *ālāpa* tunes on the *vīṇā* is prescribed - a practice which is presently followed only at the temple of Srī Nātha-jī in Nāthadvārā. The *kīrtana-praṇālī* indicates further whether the *kīrtana* singer has to render his verses in *sanmukha,* i.e. facing the deity, or in *oṭa,* i.e. from a side platform. In some temples, specific rules apply to the number of singers: thus, at the temple of Srī Nātha-jī in Nāthadvārā, the main singer has to be joined by eight supporting singers - the number eight being associated with the eight poets of the *aṣṭachāpa* group. The Vallabhite verse collections for liturgical use provide detailed indications for the musical rendition of the verses. Specific verses are prescribed for every single act of daily worship and for every single event within the annual cycle. This includes specification of poetic repertoires for occasions such as the additional month (*adhika māsa*) in the lunar calendar, or eclipses - in fact there are even conventions for the verses to be sung if an eclipse occurs on the day of *dīpāvalī,* though this may not happen more than once or twice a century.

It would lead too far to offer a detailed account of the stylistic traditions of Vallabhite temple singing. For the present purpose, it should be sufficient to mention that *nitya kīrtana* is practiced in two styles pertaining to Vraja and Rajasthan respectively, the former being the original tradition while the latter evolved after the shift of the deity of Srī Nathā-jī to Nāthadvārā during the 17th century. Unlike *samājagāyana,* the Vallabhite *nitya kīrtana* practice is not confined to Vraja, but extends over the entire northwestern half of the Indian sub-continent, from Vraja to Maharashtra with strongholds in Gujarat and Rajasthan. This broad geographic distribution, however, did not affect the language and literary basis of *nitya kīrtana,* and Vrajabhāṣā devotional poetry is rendered in the temples of Gujarat and Maharashtra just as much as in Vraja and Rajasthan (some textbooks contain short appendices of Gujarātī poetry, but these verses are sung only in addition to the main body of Vrajabhāṣā texts).

Nitya kīrtana, the continuous rendition of devotional songs throughout the entire ritual cycle, serves primarily one purpose: to retain awareness of the Lord in every single moment and thereby to constantly evoke and establish the emotional bond between man and the divinity. The connecting element by which this bond is tied is *rasa,* aesthetic experience. Music, as the principal medium of communication between the spheres of the human and the divine, represents the vitalizing factor by which the flow of *rasa* is set in motion. Once the sound fades, the flow comes to a standstill and the way towards the divinity is blocked. It is therefore necessary, in order to maintain the spiritual contact, to continuously re-evoke it through the musical offering. In the context of the temple liturgy, this means that

the musical rendition intensifies the devotional impact on the ritual activity and thereby ensures the spiritual merit of the ritual acts. Attendance to a deity on a continuous basis signifies consciousness of the divine presence at all times, and this is the core idea of *nitya-kīrtana sevā,* daily musical worship.

In order to suggest a concrete impression of the way in which *nitya kīrtana* is integrated into the daily ritual schedule, I would like to refer to the liturgy of the temple of Rādhāramaṇa in Vrindaban, the only non-Vallabhite temple in Vraja with a continuing practice of *nitya kīrtana* service. The worship of the deity of Rādhāramaṇa was established by Gopāla Bhaṭṭa, a follower of Srī Caitanya, in 1533 when Rādhāramaṇa-ji became manifest from a *śāligrāma* stone, and since then the ritual service has remained in the hands of Gopāla Bhaṭṭa's descendants. Throughout the four and a half centuries after its establishment, the temple of Rādhāramaṇa has developed a unique variety of artistic, poetic and musical traditions, including the parallel existence of two poetic traditions in Vrajabhāṣā and Bengali respectively, as well as a flourishing practice of *samājagāyana, nitya kīrtana and samkīrtana* likewise. For the rendition of the daily *kīrtana,* the temple employs two singers who share the responsibility of attending to the divine service throughout the day.

The daily cycle begins with *maṅgalā ārtī,* performed around 4:30am (5:30am during the cold season). About 15 to 20 minutes before *maṅgalā ārtī,* one of the temple servants renders *maṅgalācaraṇa* and a few verses in Bengali to awaken the deity, accompanying himself on the barrel-drum *khola* and the cymbals *manjīrā.* The *nitya-sevā praṅālī* of the temple at Rādhāramaṇa prescribes one verse to be sung at *mangalā ārtī:*

मंगल आरती कीजै भोर।
मंगल जनम गुण मंगल मंगल यशोदा माखन चोर॥
मंगल बेन मुकुट गुण मंगल मंगल रूप रमे मनमोर॥
जन भगवान जगत में मंगल मंगल राधा जुगल किशोर॥

The verse, like most early morning songs, is normally set to rāga Bhairava. - After *mangalā ārtī,* the second *prabandha* of Jayadeva's *Gita Govinda* as well as two to three further Sanskrit verses are rendered by the chorus of devotees. Then, the shrine closes and the deity retires for bath. No specific verses are prescribed for the subsequent interval until the next *darśana* opens. Recitation of the Bhāgavata Purāṇa and *samkīrtana* may be performed during this period, lasting approximately from 6am to 8:30pm. The *kīrtana* singer takes up his duties from 9am, when the shrine opens for the second time for *bāla darśana,* and *dhūpa ārtī,* the offering of incense, is performed. A gauracandrikā (i.e. a verse in praise of Srī Caitanya) is rendered in rāga Bhairava, and for *dhūpa ārtī,* a verse of the Caitanyaite poet Gunamañjarri is prescribed :

अगर धूप कौ धूम सुहायौ।
चन्दनचूर कपूर उसीरन, मिलि कुञ्जन नव घन सों छायौ॥
हेम आरती बाती बिजुरी, रव घंटा गरजन मनभायौ।
गुणमञ्जरी मोर कुहकत हैं, निरखि श्री राधारमण सचु पायौ॥

This verse is sung in rāga Bilāvala. Following the two fixed items, the *kīrtana* singer may continue to render appropriate verses of his own choice as long as the shrine remains open. Seasonal themes may be taken up; thus, during the spring and Holī seasons, the poetic repertoires for *vasanta* and *horī dhamāra* offer a rich source of texts. Then, the curtain closes, and *śṛṇgāra bhoga,* the morning breakfast, is offered to the deity. *śṛṇgāra bhoga* is accompanied by three verses: *bhoga madhura āyo śṛṇgāra* and *bhoga śṛṇgāra srī rādharamaṇaju* of Guṅamanjarī, both sung in rāga Bilāvala and consisting of an

enumeration of various kinds of sweet and fruit taken by the deity, and *chagana magana pyāre lāla kījiye kalevā of* Suradāsa Madanamohana, in rāga Bhairavī. *Śṛṅgāra ārtī* is performed between 10 and 10:30am, and the *dhrupada 'āja aura kāla aura'* based on a verse of Chītasvāmī is rendered. Two versions of this *dhrupada* are prevalent, one in rāga Suddha Bilāvala and one in age alaiye without any further specification. Six more verses are quoted in *nitya-sevā praṇālī* for *śṛṅgāra śanmukha: lalita sṛṅgāra ramana kau nirakhata* of Guṇamañjarī (rāga Asavarī) *āja singāra nirakha syāmakau* and *manamohana pagiyā jo ājakī* of Caturabhuja Dāsa (rāga Bilāvala), *nanda bhavana kau bhuṣana māī* of Nandadāsa (rāga Bilāvala), *mahā cita coryau naina kī kora* of Caturabhuja Dāsa (rāga Āsavarī) and *dina dulhe merau kumara kanhaiyā* of Gadādhara Bhaṭṭa (rāga Sāranga).

Besides the daily *nitya kīrtana* verses, *saṃkīrtana* may be performed while *śṛṅgāra darśana* remains open. The shrine closes around 11am, and *rājabhoga,* the large midday meal, is offered behind the curtain. A verse is rendered which speaks of Mother Yasoda calling the boy Gopāla for meal:

नेक गुपालहि दीजौ टेर॥
आज सबेरे कियौ न कलेऊ सुरत भई बड़ी बेर।
ढूँढत फिरत जसोदामाता कहाँ कहाँधौं डोलत॥
यह कहिये घर जाऔ साँमरे बाबा नँद तोहि बोलत॥
इतनी बात सुनतही आये प्रीतजो मनमें जानी॥
परमानँद स्वामी की जननी निरखि बदन मुसकानी॥

The verse is often rendered in *rāga* Sāranga or Todi; the nitya-sev*ā pranālī* indicates *rāga* Dhanāsri. For *rājabhoga,* a further verse (*āge āvori chakiyārī* of Jana Bhagavān) is sung, followed by *baithe lāla kunjana mē jo pāu* of Sribhatta in rāga Sāranga, which accompanies the offering of betel (*bīrī bhoga*). *Rājabhoga ārtī* is performed around 12pm, and the renditoin of the *dhrupada 'baithe hari rādhā sanga'* in Rāga Sāraṅga is compulsory on completion of the *ārtī* ceremony. Thereafter, the temple closes for the afternoon siesta, during which musical performances are prohibited in order to not disturb the sleep of the deity.

In South Indian temples, it is common to announce the ritual worship by an ensemble of oboes and drums playing at the outer gate of the temple courtyard. This practice has become rare in the North, but at the temple of Rādhāramaṇa, oboes and drums are present at least on festive occasions. Here, a small group of musicians consisting of a *śahanāī* player, one or two supporting oboists and a drummer who plays a pair of small *nagārā* kettledrums, perform continuously during the hours of worship from *maṅgalā* to *śayana,* placing themselves either at the outer or at the middle gate of the temple compound, or - on the occasion of special festivals such as Janmāṣṭami or the birth anniversary of the deity of Rādhāramaṇa on Vaisākha Purṇimā - right at the entrance of the temple. In the early morning, only the oboe is played at the middle gate, while the drums are banned to the outer gate until the deity has been awakened. You may obtain a taste of the oboe ensemble by listening to a short musical example recorded during the morning service.

Following the afternoon siesta, the temple re-opens around 5pm. The *kīrtana* singer renders the *maṅgalācaraṇa* and one or two verses to awaken the deity, before the evening *dhūpa ārtī* is performed. The musical performance is now dominated by afternoon *rāgas* such as Purvī, Puriyā and Gaurī. After the *ārtī* ceremony, the curtain closes and *utthāpana bhoga,* a light meal of fruits and sweets is offered, again accompanied by the appropriate songs. As soon as *darśana* re-opens, the singer presents the *dhrupada 'āge gāya pāche gāya'* in rāga Purvī , based on a verse of Chītaswāmī:

आगे गाय पाछे गाय इत गाय उत गाय गोविंद को गायनमें बसवौई भावै।
गायनके संग धावे गायनमें सचु पावे गायनकी खुररज अंग लपटावे॥
गायन सो वृज छायो वैकुण्ठ विसरायो गायनके हेत गिरि कर ले उठावै।
छीतस्वामी गिरधारी विट्ठलेश वपुधारी ग्वालिया को भेष धरे गायनमे आवै॥

A few more verses for *āvanī,* i.e. Kṛṣṇa's homecoming from the forests where he had been grazing the cattle, are rendered in late afternoon and early evening *rāgas*, such as *kadamacarha kānha bulāvata gaiyā* of Govinda Svāmī and *dekhau gopāla kī āvanī* of Paramānanda Dāsa, before *sandhyā ārtī* is performed around 7pm. At *sandhyā ārtī,* the verse *laṭakata calata juvatī sukhadānī* of Caturabhuja Dāsa is compulsory, and it is sung within the five minutes needed to prepare the ceremony.

लटकत चलत जुवती सुखदानी॥
संध्या समें सखा मंडल में सोभित तन गौरज लपटानी॥
मोर मुकट गुंजा पियरो पट मुख मुरली गुंजत मृदुबानी॥
चत्रभुज प्रभु गिरधारी आये बन ते लै आरती वारत नँदरानी॥

A number of compositions in different *rāgas* are available for this verse; most often it is sung in rāgas Nāyakī Kānharā, Kālavatī or Gaurī. *Sandhyā ārtī* is followed by a *kīrtana* in praise of the deity of Rādhāramaṇa and the saint Gopāla Bhaṭṭa, rendered by the chorus of devotees. Thereafter, musicians and devotees circumambulate the two *tulasī* stands in the inner courtyard of the temple while singing a verse glorifying the sacred basil plant, accompanied on *khola* and *mañjīrā. Saṃkirtana,* too, is commonly performed after *sandhyā ārtī.*

The shrine closes again and *aulāī darśana* is being prepared. At *aulāī darśana* the deity can be seen in his informal household dress or *aulāī*. The singer presents the verse *aṅga ābhuṣaṇa jananī utārata* of Suradāsa as well as a few other *kīrtanas* describing the deity changing dress and ornaments. These verses are sung in early evening *rāgas* such as Yamana and Hamīra. At *aulāī darśana,* the verse *bani hai āja anupama jhānkī* of Gunamanjarī as well as the second composition of the *Gita Govinda* are sung. *Aulāī darśana* is followed by *vyālu bhoga,* the evening meal, for which two verses are prescribed: *mohana lāla viyāru kījai* of Āsakarana and *śrī radhāramaṇa biyālu kījai* of Guṇamanjarī, both sung in rāgas Kānharo or Bāgeśrī. The remaining period until *darśana* re-opens is filled with verses for *rāsa in rāga Kedāra,* such as *āja gopāla rasa rāsa khelata* of Hita Harivamśa. No. specific verses are prescribed for *bhoga kā darśana;* the present temple singer normally renders cmpositions from the *Gita Govinda.* The subsequent offering of milk and betel is again accompanied by the appropriate verses, *aba dūdha lāī jasodā maiyā* of Āskaraṇa and *bīrī leo mere karaso lālana,* both sung in rāga Bihāga.

The last *darśana* of the day opens around 9pm (10pm during the hot season), and *śayana ārtī* is performed to put the deity to sleep. *Śayana ārtī is* accompanied by tunes in rāga Bihāga, the only melody type permitted at this hour, played on the flute. The percussion instruments remain silent. After *śayana ārtī*, a few verses describing the blissful union of the divine couple are rendered, very sweetly, in rāga Bihāga:

बसौ मेरे नैनन में दोऊ चंद।
गौरवरण वृषभानु नन्दिनी, श्यामवरण नँदर्नद॥
दोउ लखि रहे लुभाय रूप में, निरखत आनँद कँद।
जै श्रीभट्ट प्रेम रस बन्धन, क्यों छूटै दृढ फँद॥

रँगभरे लाल रंगीली प्यारी राधा।
एकतन एकमन एक ही समान दोऊ, नेक हू न न्यारे होत पल छिन आधा॥
छबि सों छबीली नारि नैनन में मुसकावत, चितवन में रस भर्‍यौ है अगाधा॥
जैसी है नवलसखी तैसे पिय कुँजबिहारीलाल, तैसी मेरी प्राण प्यारी पूजिये मनसाधा॥

पधारिये पिय पैंया।
कुँज महल के द्वारे ठाडे, कुँवर कदम की छैंया॥
सुनत वचन हँसि विलम्ब न कीनौ, चलि अली गहि बहियाँ॥
विट्ठल विपुल विनोद बिहारिन डाल दई गल बहियाँ॥

Then, the daily cycle ends with a number of *āśraya* and *binatī* verses, affirming profound devotion to the Lord. In the last song, the melody changes to rāga Khamāja, and the day is brought to its close with a prayer of the poet Chītasvāmī, with which I would like to conclude my presentation:

अहो बिधिना तोपै अँचरा पसारि माँगौं, जनमु-जनमु दीजै याही व्रज बसिवौ।
अहीर की जाति, समीप नँद-घरु, घरी-घरी घनस्याम हेरि-हेरि हसिवौ।
दधि के दान मिस व्रज की बीथिन में झकझोरनि अँग-अँग कौ परसिवौ।
छीत-स्वामी गिरिधरन श्रीविट्ठल सरद-रैनि रस-रास कौ विलसिवौ॥



.16.

Premlata "Behenji"—A Complete Embodiment of Esoteric Knowledge and Music

*—Dr. Ritwik Sanyal**

Prof. Prem Lata Sharma is universally and affectionately named "Behenji" by her friends, students, admirers and wellwishers. The very name indicates the wonderful person behind the name suggesting commitment, intensity and dedication in her work, interaction and relationship, true to her personality.

My long standing interaction and relation has been so intense and fruitful that I find words eluding me to describe her. It can only be felt and realized, more intensely in the years to come. Nevertheless, I attempt to indicate some of her special characteristics and contributions that have not only motivated, inspired and impressed me as my mentor of *saṅgita śāstra,* but also her innumerable admirers who have been in contact with Behenji directly or indirectly for the cause of knowledge and research.

I have always felt that my meeting with Behenji was predestined. After having completed my rigorous training of Dhrupad in Mumbai under Ud. Zia Mohiuddin Dagar, I was advised by Ustadji to go to Benaras and continue my advanced studies in Music with her. It was really a continuous and unbroken journey for me from Mumbai to Varanasi. Music for me began with my mother Late Smt. Ranu Sanyal, a writer a and singer, almost as a mother tongue. Then my initiation with Philosophy as a home-discipline came from my father Prof. B.S. Sanyal of Mumbai IIT, as a result of which I could obtain a Master's degree in Philosophy from the University of Bombay. All these were simultaneously carried out by me along with my rigorous training in Dhrupad with Ud. Zia Mohiuddin Dagar and Ud. Fariduddin Dagar in Mumbai (1963-74).

After being well equipped with the '*prayoga*' of music, my journey with Behenji was 'śāstra' based that reconfirmed, re-oriented and revitalized my musical knowledge that I studied in the oral tradition of Dagar School of Dhrupad. Behenji's constant presence and guidance enriched my thought processes in reframing my ideas and views with a holistic outlook. The 'tree' had already actualised and perceived; it was to look back into the potential 'seed' of music.

My philosophical inclination plunged me into researching in philosophy of Music. Behenji was convinced and because of her scholarly guidance of a multidisciplinary character, I could successfully complete my dissertation titled "The Predicate Musical : A Philosophical Analysis."

Though it is very difficult to put into words the unique personality of Behenji, let me make an attempt to visualise the different facets of her personality as observed and experienced with her.

---

* Reader & Head, Department of Vocal Music, Faculty of Music and Performing Arts, Banaras Hindu University, Varanasi.

AS A SCHOLAR. Simply, her scholarship was remarkable. She was definitely an ideal and complete scholar. Her grasp and command over any knowledge related to philosophy, mysticism, religion, Sanskrit studies, grammar, musicology, several languages, performing arts, other allied arts, comparative music and music performance bear testimony of her in-depth study and critical assessment as a scholar par excellence.

She is the first person to have popularised the study of the *saṅgīta śāstra* as a serious discipline. She has been a pioneer in habituating us in the comparative study of the several *saṅgīta śāstra* works as a branch of study known as the textual criticism in Musicology. She has also remained active in discovering links between the textual and oral tradition and bridging the gap between *lakṣaṇa* and *lakṣya, śāstra* and *prayoga.* So Musicology never remained an intellectual exercise, but became creative and thought provoking for the seekers of music. As a result, scholarship in her hands became fruitful, not futile. She was not only open and liberal to inviting discussions, but also firm and determined in her critical value judgements. That proved her stoicism and rigorous scholarship as a true Ācārya.

AS A TEACHER. Erudition and teaching sometimes do not go hand in hand. Behenji was indeed a matchless teacher. She had the capacity to impart and infuse knowledge in students coming from any level of learning. The most difficult concepts and theories would appear very simple - that was the style of her teaching. She transmitted knowledge with ease and confidence, whether in the elementary stage or on an advanced level. Till her noble soul departed from this world, she remained a teacher for everyone, a teacher of teachers.

AS A WRITER. Behenji was never a prolific writer. But all her works carry the distinction of a scholar - critical, original, visionary, contemporary and futuristic. The study and writings in India become meaningful and popular because of her untiring efforts to mobilize, and motivate this discipline, not in demand in this country. Her contribution in translating and critically editing some of the leading texts on *saṅgīta śāstra* is laudable. She has also simultaneously pursued in writing on disciplines other than music. This pursuit has been both creative and scholastic. Her original writings in philosophy, religion, vaishnavism, indology, other allied arts and several branches of Performing Arts are valuable research material for posterity.

AS A COMPOSER. Behenji had been a creative person all through her life. It has been reflected in her musical composition as well as original theoretical judgements. She also had the zeal and tenacity to compose music apart from her busy academic and administrative responsibilites. Her intellectual and creative verve also lay in her attempt to involve performing artists in trying to reconstruct and recreate the music as codified in the *saṅgīta śāstra*, thus discovering links between the textual and oral traditions. Behenji's active involvement in reviving the Sanskrit stage is certainly a landmark in the history of contemporary Indian performing arts. She had also been regularly composing music for Sanskrit plays, traditional dance forms and various themes related to our socio-cultural ethos.

AS AN ORGANISER. Apart from her academic and administrative responsibilities as Head of the Deptt. of Musicology and Dean of the Faculty of Performing Arts of Banaras Hindu University for three decades,she was also the Chairman of U.P. State Sangeet Natak Akademi, Vice-Chairman of Central Sangeet Natak Akademi and Vice Chancellor of Khairagarh University. She managed, conducted and anchored several important seminars both national & international. The important ones are on *Śārṅgadeva, Mataṅga* and *Abhinavagupta.* She also organised several seminars of multi-disciplinary character related to Aesthetics, Philosophy, Indology and almost all the branches of Performing Arts. She has been active & instrumental in the revival of the art-music of Dhrupad by organising Dhrupad festivals in different parts of the country, infusing new life to this profound musical tradition. Some of the places were

Vrindavan, Ambejogai and Nathdwara. She had also been strongly upholding the tradition of reviving & regenerating the tradition of playing the rare instruments like Rudra Veena, Surbahar, Sarangi and Pakhawaj.

AS A PERSON. For me, Behenji was my mentor, guardian and guide all through these years. After my arrival in Varanasi, I got moral support from her during the initial years that gave me inspiration and courage to continue my music studies and research. She had always encouraged me in keeping up with my practice of the Dhrupad from time to time. After the untimely death of my mother, Behenji's motherly affection gave me the emotional support to bear the irreparable loss of my mother, who was also my first Guru.

I think Behenji's all round personality made her the most universally adorable woman. She had all the distinction of a complete woman. She also had an extraordinary quality of loving and respecting elders and youngsters alike. She had an intuitive power of judgement in assessing human beings and acted very positively in bringing out the best of oneself. Truly, she was an embodiment of *Vāgdevī Saraswatī* and *Nāda*. She still lives and will continue to live in her immortal works and in her pupils forever.

RESEARCHING WITH BEHENJI

In the latter half of the seventies, I started researching under the supervision of Behenji. The Ph.D. dissertation titled "The Predicate 'Musical': A Philosophical Analysis" became a treatise "Philosophy of Music" published by Somaiya Publications Pvt. Ltd. of Mumbai in 1985.

In this work I have tried to span the bewildering diversity of Musical theory and practice by means of an axiological definition of 'music' and a gradation of it into seven phenomenological kinds.

I could hit upon such a definition as a result of insights which my teacher and guide Dr. Prem Lata Sharma gave me into musical concepts and Sanskrit syntax, my gurus of the Dagar tradition of Dhrupad Ustad Zia Mohiuddin Dagar, Ustad Zia Fariduddin Dagar and my mother Smt. Ranu Sanyal gave me into the techniques of creating structures of beauty in music performance, my philosophy teachers including my father Prof. B.S. Sanyal gave me into explanatory concepts in philosophical methods, and my students and friends at the workshops on Indian Music & Dhrupad held in several parts of the Western World gave me into new music, Western Aesthetics and musical culture of the west. Probably, all this verges on *the* definition of Music and the criteria of grading music could be spelt out because of my studies in three areas of philosophy—theories of knowledge, reality and art and in Sanskrit musicology, especially the three great works, viz, *Nāṭya śāstra, Abhinavabhāratī* and *Saṅgīta Ratnākara.*

In Ch 1, I have clarified the method by means of which one could analyse 'music' and grade the musical phenomena. Six sets of explanatory concepts have been brought to bear on the subject : this makes it look like terminological excesses; but this strategy makes the definitoin of 'music' clear to a larger number of readers—coming from six different disciplines: art, grammar, axiology, logic, cosmology (Aristotelian), aesthetics, and thus of lay leaders too.

Ch 2 establishes the case of definability of 'music' as against its indefinability. In Ch 3, the seven aspects of elements of music have been laid bare; and in Ch 4, these elements or aspects have been synthesised into a definition of 'music': a summary of this saw light in the *Viśva-Bharati Quarterly* Vol. 46, Nos. 1-4. In the remaining two chapters, I have tried to achieve the gradation of musics: in Ch 5, by means of a set of generic characteristics arising out of the musico-aesthetic qualities recommended by the Sanskrit text; in Ch 6, as a special theory arising out of a general theory of pursuit of perfection or spiritual development.

To a non-Indian reader, the set of qualities (enumerated in Ch 5) alone may appear to be adequate for gradation, whereas ch 6 theory would make fanciful reading, though this theory too would seem relevant and necessary to the Indian readers. Chapters 1, 3, 5 will be understood by all. Chapters 2, 4 will be easily understood by students of philosophy. Ch 6 will be liked by men of *nādayoga,* mystical practice by way of music.

CONTENTS OF THE THESIS

Reminiscences Down Memory Lane

I have always been fortunate to have the best gurus in life. My childhood & boyhood days began with my home as the institution and then travelling extensively with my parents, spending about five valuable years in Ethiopia and Nigeria. My primary education came from my mother and father. My mother initiated me into music and my father into systems of formal education at home! Since knowledge came from my parents, learning was fun and more inspiring than going to a primary school. After our return from Africa, I joined the secondary school and simultaneously my Dhrupad *gurukula* training began with Ud. Zia Mohiuddin Dagar in Mumbai and continued unbroken for around 15 years.

After completing my rigorous training in Dhrupad along with my postgraduation in Philosophy from University of Mumbai, I came to Varanasi to pursue my academic studies in Music. In fact it was my Ustadji who advised me to go to Benaras and study *saṅgīta śāstra* under Behenji.

It was four golden years for me to have been able to study and research under her. She had great affection and trust for me in any sort of interaction. She had a great admiration for Dhrupad and respect for my Ustads and the Dagar tradition. She would always consult me on issues related to Dhrupad and *prayoga*-oriented *śāstra* and we had long and fruitful discussions opening up new avenues of thoughts.

Behenji always had a special delight for musical recitation of *ślokas* and would entrust me to sing them most of the time on important events. Her profound interest in Dhrupad resulted in her organising the most important Dhrupad Melas between 1979 to 1989 at Vrindavan, Ambe Jogai, Nathdwara and other places. I am a witness to all these events as a performer and it was an education for us to see how Behenji was able to bind all the Dhrupadias of different traditions as a single musical unit like a family. She had special respect for my Ustads Zia Mohiuddin Dagar and Zia Fariduddin Dagar. Whenever there was an argument on *'paramparā'*, she never hesitated to give the example of the Dhrupad Kendra of Bhopal with Ud. Zia Fariduddin Dagar as the Guru and as the only place nurturing the *Gurukula* model of Music.

In the Vrindaban Dhrupad Mela of 1980, Behenji initiated the concept of *'Trika'* and on her request I performed the *'Trika'* for the first time with my Gurubhai Asit Banerji on the Rudra Veena and Raja Chhatrapati Singh on Pakhawaj.

During her four decades of teaching, she actually is the first person to show us the art of studying and interpreting the *saṅgīta śāstra*. It has become an unique *śāstra 'paramparā'* Most of her students with expertise in different areas of Musicology can partly claim to be a part of this grand new *paramparā*.

During my tenure in the Dept. of Musicology of Banaras Hindu University. I had pleasant interaction with my senior researchers, Prof. Subhadra Choudhary, Indrani Chakraborty and Prof. N. Ramanathan.

All of them are musicologists of eminence. Some of the prominent scholars that followed need to be acknowledged. Dr. Vimla Musalgaonker very well contributed to Musicology in the context of Indian Philosophy. Dr. Ramakant Dwivedi is one of the few persons in this country to have the largest collection of rare Gramophone Records. He researched on the history & role of Gramophone during the last 100 years.

Several scholars from abroad had a chance to work with Behenji. Allyn Miner of U.S.A. rigorously studied Sitar under Prof. Rajbhan Singh and researched with Behenji on the history of Sitar. She is both a performer of Sitar and musicologist in her own right. I met Nancy Lesh, a cellist from U.S.A. at the chamber of Behenji. It was at the request of Behenji that she became my disciple of Dhrupad. At present, she is probably the only cellist to play Dhrupad on the cello professionally.

Prof. Lewis Rowell of Indiana University U.S.A. visited the Dept. of Musicology for some months. During his stay, we had stimulating sessions on Tāla going through the *Nāṭyaśāstra* and commentaries of *Abhinavagupta.* It was a matter of pleasant coincidence that Prof. Rowell and Dr. Kapila Vatsyayana became my examiners for evaluating my Ph.D. dissertation. I still cherish their valuable comments and words of praise for my thesis.

Behenji had a deep and loving affection for my wife Shubhalakshmi. Incidentally, our marriage venue was just beside the quarters of Behenji and we enjoyed her total presence for a few days. My wife always had concern and deep respect for her health and well-being. She still recollects her memories of emotional bondage with tears of joy.

Dr. Ritwik Sanyal



.१७.

निर्माण-कुशला 'बहिन जी' के गुरुकुल में

—डॉ० तेजसिंह टाक

सम्पर्क

संगीत की प्रारम्भिक परीक्षाओं के परिणामों से मुझे यह अनुभव हो गया था कि व्यवहार की अपेक्षा मेरा शास्त्र पक्ष अधिक सुदृढ़ है। आगे चल कर धीरे-धीरे यह धारणा पुष्ट होती रही। मुझे शास्त्र में शोध कार्य करने की लगन लग गयी, 1968 में मैंने संगीत-अलंकार की परीक्षा उर्त्तीण की। उसके बाद यू०जी०सी० में फेलोशिप के लिए निवेदन करने पर पता चला कि जब तक किसी विश्वविद्यालय से एम०ए० न किया हो फेलोशिप नहीं मिल सकती और उन दिनों मेरा बी०ए० चल रहा था। मैंने 1972 में पंजाब विश्वविद्यालय चंडीगढ़ से एम०ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की। डा० सुमति मुटाटकर ने मुझ पर कृपा करके इस कार्य में सहायता की। उन्होंने मुझे बनारस जा कर शोद्य-कार्य करने की सलोह दी। उससे पूर्व मैंने दिल्ली में अनेक स्थानों पर प्रयत्न किया कि कोई मुझे अपने निर्देशन में शोध-कार्य करवा दे पर नेत्रहीनता इसमें बाधक थी। कोई यह बात मानने को ही तैयार न था कि नेत्रहीन व्यक्ति से भी शोध-कार्य करवाया जा सकता है। बनारस में डा० प्रेमलता शर्मा बहिन जी—जो परम विदुषी और सहृदय गुरु थीं,—के सम्पर्क में कुछ नेत्रहीन विद्वान् एवं विद्यार्थी थे, **वे नेत्रहीनता को बाधक नहीं समझती थीं। व्यक्ति की लगन को वे किसी भी अक्षमता से ऊपर रखती थीं।**

मैं 1973 जुलाई में बहिन जी के लिए डा० सुमति मुटाटकर का पत्र लेकर बनारस पहुँचा। बहुत ही नवीन वातावरण था। "Good Morning" के स्थान पर 'प्रणाम' और पैर छूना प्रचलित था। वहाँ के लोगों में परस्पर सम्मान एवं सहयोग का भाव था। संक्षेप में कहा जाए तो संगीतशास्त्र-विभाग एक परिवार-सदृश लगता था। सभी एक-दूसरे की सहायता को तत्पर रहते थे। मेरे वहाँ पहुँचने के कुछ समय पश्चात् ही इन्द्राणी चक्रवर्ती जी का शोध कार्य सम्पन्न हो रहा था। शोध-प्रबन्ध की प्रतियाँ पाँच व्यक्ति मिल कर चेक कर रहे थे। मैं तो नया-नया था परन्तु बहिन जी ने मुझे भी उसे सुनने का निर्देश दिया। मेरी 'शास्त्र में सुदृढ़ता' यहाँ आ कर बौनी अनुभव होने लगी। मैंने तब तक मूल ग्रन्थ संगीत रत्नाकर आदि देखे ही नहीं थे और इस विभाग की स्थिति यह थी कि आरम्भ ही मूल ग्रन्थों से किया जाता था। अनुवाद या किसी अन्य स्थान से पढ़ा हुआ महत्त्वहीन था। जब तक मूल-ग्रन्थ न देखा हो तब तक उसकी बात नहीं की जा सकती थी।

शास्त्र-सम्बन्धी सभी प्राचीन ग्रन्थ संस्कृत में होने के कारण सर्वप्रथम संस्कृत का अध्ययन आवश्यक था। सौभाग्य से मेरी संस्कृत काफी हद तक पहले से ही ठीक थी। बहिन जी का कहना था पहले दो साल तक संगीत शास्त्र की सभी धारणाओं का अध्ययन करके उन्हें पुष्ट करो और अभी अपने शोध-प्रबन्ध के शीर्षक को एक किनारे रख दो।

विभाग में विद्यार्थियों की संख्या कम थी। छोटा-सा विभाग था, इसलिए बहिन जी कुछ भी पढ़ाती तब सभी को सब कक्षाओं में बैठना आवश्यक था। **यदि किसी को कभी भी कुछ पूछना होता था तो बिना हिचकिचाहट के कभी-भी पूछ सकता था। उनके घर पर या विभाग में बिना भेदभाव के ये सुविधायें हर समय उपलब्ध थीं।** बहिन जी के अपने

परिवार के नाम पर हम लोग ही थे। मेरे लिए तो बहिन जी 'लोकल गार्जियन' ही थी। इसलिए मेरी सभी सुविधाओं-असुविधाओं का ध्यान वे विशेष रूप से रखती थीं और जीवनचर्या के बाह्य पक्ष को भी सँवारती रहती थीं।

मेरा गणित-पक्ष भी बचपन से सुदृढ़ था, और संगीत में जहाँ कहीं भी गणित की बात होती वह मुझे अपेक्षाकृत जल्दी समझ में आती थी, इसलिए ताल के प्रस्तार के अन्तर्गत आने वाले प्रत्यय पढ़ाते समय वे सभी से कहती कि सब लोग समझने का प्रयास करो, चूँकि मेरा गणित में दिमाग चलता है, इसलिए मेरी सहमति के बिना बात आगे नहीं बढ़ाती थीं।

एक बार संगीत-रत्नाकर के वाद्याध्याय की कक्षा चल रही थी। तार या तन्त्री बाँधने के लिए रत्नाकर में कहा गया है कि तार को नागपाश की ग्रन्थि से वाद्य के अन्त में लंगोट से बाँधो। बात आगे बढ़ सकती थी पर बहिन जी को लगा कि नागपाश क्या होता है ? उन्होंने सबसे पूछा, 'भई नागपाश की गाँठ कैसे लगती है' ? मेरा सम्बन्ध हरियाणा के ठेठ देहात से होने के कारण बहिन जी ने विशेष रूप से मुझसे पूछा। मुझे नागपाश ज्ञात भी था। मैंने कहा पशुओं को बाँधने के लिए हमारे यहाँ 'नागबल दे दो'। यह कहा जाता है, वह नागबल बाँधना मुझे आता है। बस फिर क्या था, रस्सी मँगवायी गई, सबने नागपाश सीखा। बहिन जी ने भी कई बार खोल-खोल कर नागपाश बाँधा। औरों को तो जल्दी समझ में आ गया पर बहिन जी का बाँधा हुआ नागपाश खुल जाता था आखिर उसे पक्का बाँधकर ही मानीं। खैर, उस दिन की कक्षा नागपाश के नाम पर ही सम्पन्न हुई।

मार्गी तालों के अध्ययन में मुझे बहिन जी की प्रेरणा से अधिक रुचि हो गई। मैंने पाँचों मार्गी तालों को कंठसथ कर लिया। इन तालों की निःशब्द व सशब्द क्रियाओं का सूत्र समझ आने पर ये मुझे आसान लगने लगीं। बाद में 'बहिनजी' ने मेरे इस पक्ष को सबके सामने लाने के लिये बहुत अवसर दिये।

एक बार संगीत-शास्त्र विभाग में कालिदास के नाटक प्रस्तुत करने की योजना बनी उसके पूर्व रंग के सभी नियम-पालन होने चाहिए यह निश्चित किया गया। नाट्य शास्त्र की टीका के सहारे उसकी तैयारी पहले तो बहिन जी ने खुद की, फिर उसके लिए किसको क्या कार्य दिया जाए इस क्रम में मेरे लिए तालधर का कार्य निर्धारित किया गया। मालविकाग्निमित्रम् के प्रस्तुतीकरण के लिए इस सिल-सिले में लखनऊ, उज्जैन और बनारस के अनेक स्थलों में तालधर के रूप में गया। जब तालों की चर्चा होती मुझे बहिन जी स्वयं से भी अधिक जानकार की तरह मानती थीं। यह उनकी महान् आशयता थी, उदारता थी।

मेरे लिए शोध-कार्य के शीर्षक के लिए जब सोचा गया तो बहिन जी का इरादा था कि भातखण्डे के पूर्वकाल, भातखण्डे-काल और भातखण्डे के उत्तर काल पर यदि कार्य हो जाए तो संगीत-सम्बन्धी अनेक गुत्थियाँ सुलझ जायेंगी। भातखण्डे-काल श्रीमती भूपेन्द्र शीतल को दिया गया। मेरे लिए भातखण्डे का उत्तर काल तय कर दिया। भातखण्डे के पूर्वकाल पर तब तक बहिन जी को कोई उपयुक्त व्यक्ति नहीं मिल सका था। बाद में भूपेन्द्र शीतल भी किन्हीं कारणों से अपना कार्य पूरा न कर सकीं। अतः मुझे ही बहिन जी ने भातखण्डे काल पर भी एक अध्याय लिखने का निर्देश दिया। इस प्रकार सब शोधकर्ता सबके सहयोग से अपना कार्य करते रहे। मेरा और रामनाथनजी का कार्य लगभग एक साथ सम्पन्न हुआ।

मेरे शोध प्रबन्ध का शीर्षक ''भातखण्डे उत्तर काल में सम्पन्न कार्य का आलोचनात्मक विश्लेषण'' होने के कारण पूरे संगीत विभाग में उत्सुकता-भरा अनुमान फैल रहा था कि भातखण्डे जी को नीचा दिखलाने का प्रयास किया गया होगा। अतः सभी शिक्षक उस अवसर पर इकट्ठे हो गए जब शोध-प्रबन्ध दाखिल करने के पहले की गोष्ठी हुई। इतनी भीड़ सम्भवतः अन्य किसी शोध के सेमीनार में नहीं हुई थी। पर मेरी विचारधारा तो भातखण्डे जी के पक्ष में आरम्भ से ही थी। कई बार बहिन जी से भी इस विरोध के कारण झिक-झिक हो जाती थी। **पर बहिन जी में यह विशेषता थी कि वे प्रमाण देख कर सन्तुष्ट हो जाती थीं।** खैर सभी ने मेरे सेमिनार में राहत की साँस ली, कुछ सुझावों के साथ यह कार्य सम्पन्न हो गया।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है बहिन जी अपने सभी विद्यार्थियों को अपने परिवार के सदस्यों जैसा स्थान देती थीं। अतः हम सब अपनी समस्याओं को चाहे वे पारिवारिक हो या आर्थिक शिक्षा सम्बन्धी हो या भावी जीवन-सम्बन्धी उनके सामने रखते थे और इनके सम्पूर्ण समाधान के लिए बहिन जी का दरबार हमेशा खुला होता था। उनका कहना था कि कभी भी कोई भी समस्या हो मुझ पर छोड़ दो।

बहिन जी को मुझसे यही शिकायत थी कि मुझे पढ़ाने में उनकी जितनी शक्ति व्यय हुई है उसका उतना परिणाम मैंने उनको नहीं दिया। बहिन जी के सभी छात्र उच्च पदों पर शास्त्र विषय पढ़ा रहे हैं और लगभग सभी की शास्त्र सम्बन्धी अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। मैं ही इकलौता ऐसा हूँ, जिसने यह सब कुछ नहीं किया। अब मेरा प्रयत्न है कि मेरी पुस्तक ''सङ्गीत जिज्ञासा और समाधान'' जल्दी प्रकाशित हो जाए ताकि बहिन जी के जीवन काल में न सही बाद में ही उनकी शिकायत मेरे प्रति निर्मूल हो पाए*। ऐसी ईश्वर से विनम्र प्रार्थना है। कदाचित् श्रद्धेया बहिन जी की स्मृतियों को मेरी ओर से यह सच्ची हार्दिक श्रद्धाञ्जलि होगी।

अभी यहाँ, 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये' के भाव से मेरे शोध-प्रबन्ध का संक्षिप्त सारांश प्रस्तुत है।

भातखण्डे उत्तरकाल (1935-1970) में सङ्गीत में सम्पन्न अनुसन्धान एवं अध्ययन का आलोचनात्मक विश्लेषण

इस शोधकार्य को चार अध्यायों में विभाजित किया जाता है। जो निम्न हैं—

(1) पं० भातखण्डे का संगीत-शास्त्र के प्रति दृष्टिकोण और कार्य,

(2) भातखण्डे उत्तरकाल में संगीत-शास्त्र के प्रति दृष्टिकोण में अन्तर,

(3) भातखण्डे उत्तरकाल में हुए अध्ययन एवं अनुसन्धान का सर्वेक्षण,

(4) भविष्य के लिए दिग्दर्शन अब तक हुए कार्य की न्यूनता एवं उत्कर्ष का मूल्याङ्कन।

1. पहला अध्याय—भातखण्डे का संगीत शास्त्र के प्रति दृष्टिकोण—

(1) भूमिका— भातखण्डे काल बीसवीं शताब्दी का पूर्वार्ध काल है। उस समय देश पराधीन था, देश को स्वतन्त्र कराने के लिए चारों ओर से प्रयास किये जा रहे थे। राजनेता जनसाधारण को देश पर बलिदान होने के लिए प्रेरित कर रहे थे। सच्चे भारतवासी देश की खोई हुई प्रतिष्ठा वापस लाने के लिए संघर्षरत थे। शिक्षा के उत्थान के लिए 1916 में बनारस-हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना महामना मदनमोहन मालवीय ने की तो उधर अलीगढ़ में मुस्लिम-विश्वविद्यालय को सर सैयद अहमद ने स्थापित किया। साथ ही संगीत के पुनरुद्धार के लिए विष्णु दिगम्बर पलुस्कर और विष्णु नारायण भातखण्डे अपने-अपने स्तर पर जुट गए।

शासित देश होने के कारण भारतीय कलाओं, विद्याओं को हीन दृष्टि से देखा जाता था। यहाँ हुए मौलिक शोध विदेशी अपने नाम कर चुके थे। लक्ष्य-लक्षण में समन्वय का सम्बन्ध टूट चुका था जिसे जोड़ने के लिए हर तरफ़ प्रयास जारी होने लगे। कहने का तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति अपने देश के लिए जो भी कर सकता था उसे करने के लिए तन-मन-धन से लग गया था।

पं० भातखण्डे जी पेशे से वकील थे परन्तु उन्होंने संगीत का क्षेत्र चुना। पत्नी की मृत्यु के पश्चात् परिवार का बोझ भी उन पर नहीं रहा, सम्पन्न तो वे थे ही अतः ऐसी परिस्थिति में वे संगीत के उद्धार के लिए भ्रमण पर निकल पड़े।

पं० भातखण्डे जी गायक-वादकों से मिलकर, उन से जैसे भी हो सकता था संगीत के रहस्यों की खोज करने लगे।

राजदरबार प्रायः समाप्त हो चुके थे ऐसे में संगीतज्ञ सुविधाओं के अभाव में इधर-उधर भटक रहे थे। पं० भातखण्डे ने शिष्य बनकर, आर्थिक मदद कर तथा बचे-खुचे राजपरिवारों के राजाओं से मिलकर, उनके सहयोग से वहाँ के संगीतज्ञों से भरपूर संगीत सीखा एवं सुना। स्थान-स्थान पर पुस्तकालयों में संगीत सम्बन्धी पुस्तकों का अध्ययन करके भातखण्डे जी ने संगीत का पर्याप्त ज्ञान एकत्र कर लिया।

---

* सच ही वह पुस्तक 2002 के प्रारम्भ में प्रकाशित हो गयी।—सम्पा०

(2) **उद्देश्य**—भातखण्डे जी भारतीय संगीत की एक व्यवस्थित पद्धति स्थापित करना चाहते थे। संगीत को भी वे अन्य विषयों की भांति शिक्षा का एक विषय बनाना चाहते थे। रागों में एकरूपता, शुद्धसप्तक की स्थापना, लक्ष्य-लक्षण में समानता, रागों का समय सिद्धान्त, रागों का रसों से सम्बन्ध, रागों के नियम आदि अनेक बिन्दुओं पर भातखण्डे जी ने अपना चिन्तन प्रस्तुत किया।

(3) **लक्ष्य-लक्षण में समन्वय**—ग्रन्थों में रागों के लक्षण अलग थे और प्रचार में अलग। संगीत-विषयक शास्त्र संस्कृत में होने के कारण अशिक्षित सङ्गीतज्ञों को उनकी चिन्ता न थी। अधिकांश गायक-वादक मुस्लिम थे। जिन्हें स्वयं तो संस्कृत के प्रति लगाव था नहीं और हिन्दू पंडित भी उन्हें इन ग्रन्थों के रहस्यों से परिचित नहीं कराना चाहते थे, अतः संगीत के शास्त्र और व्यवहार में पर्याप्त अन्तर आ गया था।

भातखण्डे जी ने दो विधियों से इस का हल निकालने का रास्ता अपनाया, (1) संस्कृत में पुनः व्यावहारिक संगीत पर आधारित ग्रन्थ रच कर एवं (2) लक्षण गीत रच कर।

संगीतग्रन्थ रचकर—1909 में पं० भातखण्डे जी ने अपने उपनाम 'चतुर पंडित' नाम से श्रीमल्लक्ष्यसंगीतम् की रचना की। 1921 में अभिनव राग-मंजरी नामक ग्रन्थ संस्कृत में रचा। भारतीयों को देववाणी होने के कारण संस्कृत के प्रति अपनी एक श्रद्धा है। अतः इस भाषा में जो भी लिखा हो वह यहाँ के लोगों के लिए श्रद्धेय था और अध्ययन योग्य है, इस नाते इन ग्रन्थों का प्रचार देश में खूब हुआ। इन ग्रन्थों में प्राचीन संगीत सम्बन्धी वे भाग थे जो वर्तमान संगीत से समानता रखते थे। जहाँ कहीं आवश्यक हुआ भातखण्डे जी ने टिप्पणी देकर उद्देश्य की पूर्ति भी की। लक्ष्य संगीत की टीका मराठी पुस्तक श्रृंखला ''हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति'' के चार भागों में करके उसमें अनेक स्थानों पर स्वयं यह कहा कि यह ग्रन्थ उपयोगी है अतः उसे महत्त्व देना चाहिए। इस प्रकार संगीतज्ञों में शास्त्र के प्रति रुचि जागृत हुई और लक्ष्य-लक्षण में समन्वय की दिशा में कुछ सुधार होना प्रारम्भ हुआ।

(4) **लक्षणगीत रच कर**—भातखण्डे जी ने अनेक प्रसिद्ध बन्दिशों के स्वरों पर या अपनी स्वयं की बनाई रचनाओं में रागों के लक्षण हिन्दी भाषा में लिखे जिनका देश के बड़े-बड़े गायक-वादकों ने स्वागत किया। इतना ही नहीं उनके शिष्यों के अतिरिक्त दूसरे संगीतज्ञ भी भातखण्डे जी से उन लक्षण गीतों को सीखने लगे।

दो लक्षण गीत यहाँ दिए जा रहे हैं—

राग आसावरी—

स्थाई—मोहे आसावरी राग सुनायो ग नी को आरोहण में छिपायों सा रे म रे म प ध प ध गं रें सां रें नी ध प,

अंतरा—धैवत वादी ग संवादी मध्यम् सुर ग्रह न्यास सुपंचम अवरोहण संपूरण दिखावत सा रे म रे म प ध प ध गं रें सां रें नी ध प।

राग अल्हैया बिलावल—

स्थाई—तब कहत बिलावल भेद चतुर जब मेल मिलावत शुद्ध सुरन को प्रात समय नित प्रथम प्रहर,

अंतरा—धैवत वादी ग संवादी अष्ट भेद तब गाय मधुर।

(5) **प्राचीन ग्रन्थों के प्रति दृष्टिकोण**— ग्राम-मूर्छना प्रणाली दुर्बोध होने के कारण भरत के नाट्यशास्त्र, शार्ङ्गदेव के संगीत-रत्नाकर आदि ग्रन्थ भातखण्डे जी को उपयोगी न लगे तो उन्होंने इन ग्रन्थों को दूर से नमस्कार कर मध्यकाल के 17 ग्रन्थों को उपयोगी मानकर अपने संगीत ग्रन्थों का आधार बनाया, क्योंकि इन ग्रन्थों में मेल राग वर्गीकरण और राग-रागिणी-वर्गीकरण था वे सत्रह ग्रन्थ इस प्रकार हैं—1-रागतरंगिणी, 2-हृदयकौतुक, 3-हृदयप्रकाश, 4-संगीतपारिजात, 5-रागतत्त्वविबोध, 6-सद्रागचन्द्रोदय, 7-रागमाला, 8-रागमंजरी, 9-रसकौमुदी, 10-अनूप संगीत विलास, 11-अनूपरत्नाकर, 12-अनूपांकुश, 13-स्वर-मेल-कलानिधि, 14-राग-विबोध, 15-चतुर्दण्डिप्रकाशिका, 16-संगीतसारामृत, 17-रागलक्षणम्।

(6) **क्षेत्र**—शास्त्रों में स्वर, ताल व पद तीनों का समन्वय ही संगीत कहा गया है। भरत ने गान्धर्व का लक्षण देते हुए उसे स्वरतालपदात्मक कहा है। संगीत-रत्नाकर में सात अध्याय दिए गये हैं जिनमें स्वर, राग, प्रकीर्ण, प्रबन्ध, ताल, वाद्य और नृत्य का वर्णन है जबकि भातखण्डे काल में केवल स्वर व राग पर ही चर्चा की गई है। भातखण्डे जी ने अपने पूरे संगीत सम्बन्धी साहित्य में इन दो बिन्दुओं पर ही विचार किया है। इतना ही नहीं भातखण्डे जी ने अपने समय में 26 ग्रन्थों का प्रकाशन भी किया जिनमें इन्हीं दो अध्यायों पर ही प्रकाश डाला गया है।

2. दूसरा अध्याय—भातखण्डे उत्तर काल में दृष्टिकोण में अन्तर—

इस काल में एक ऐतिहासिक घटना यह हुई कि देश परतन्त्रता की बेड़ियों से मुक्त हो गया। इसके कारण पूरे विश्व में भारत के प्रति दृष्टिकोण में अन्तर आया। विदेशी यहाँ के संगीत के प्रति आकर्षित हुए। भारत के संगीतज्ञ भी विदेश जाने लगे। कुछ साहित्य यहाँ विदेशी जिज्ञासुओं के निमित्त भी विशेष रूप से लिखा गया। इस दौरान संगीत ही नहीं बल्कि समग्र शिक्षा नीति में एक रचनात्मक और क्रांतिकारी परिवर्तन आया। विश्वविद्यालयों में संगीत एक विषय के रूप में मान्य हुआ। शोध कार्य होने लगे। इस दौरान संगीत के पाठ्यक्रमानुसार और परीक्षापयोगी ग्रन्थ भी लिखे गये।

(1) **सम्पादन एवं अनुवाद कार्य**—इस काल में संस्कृत के 36 ग्रन्थों का संशोधित सम्पादन हुआ जबकि भातखण्डे काल में केवल असंशोधित ग्रन्थ ही प्रकाशित हुए थे।

(2) **प्रान्तीयता से हट कर राष्ट्रीय स्तर पर विचार**—भातखण्डे काल में अधिकतर विद्वान् प्रान्त-स्तरीय भाषाओं में संगीत संबंधी ग्रन्थ रच रहे थे, स्वयं भातखण्डे जी ने भी मराठी में ही अधिकांश साहित्य रचा था। उत्तरकाल में हिन्दी में संगीत के ग्रन्थ लिखे गए साथ ही अंग्रेज़ी में भी ग्रन्थों की रचना हुई।

(3) **क्षेत्र में विस्तार**—भरत व शार्ङ्गदेव जैसे प्राचीन ग्रन्थकारों को, उनकी क्लिष्ट पद्धति के कारण, भातखण्डे जी प्रासंगिक न मानते हुए मध्यकालीन ग्रंथों के प्रति गम्भीर होने की बात करते थे परन्तु उन के उत्तरकाल में भरत के नाट्यशास्त्र, अभिनव गुप्त की अभिनव भारती और शार्ङ्गदेव के संगीत रत्नाकर के बिना संगीत की चर्चा ही आरम्भ नहीं होती। अतः कहा जा सकता है कि भातखण्डे उत्तरकाल (1935 के बाद) में संगीत के प्रति दृष्टिकोण में पर्याप्त अन्तर आया।

इस काल में संगीत-रत्नाकर के सातों अध्यायों पर चिन्तन किया गया। भातखण्डे काल तक मुख्य रूप से स्वर व राग पर ही अधिक चिन्तन किया जाता रहा परन्तु उत्तरकाल में संगीत के इतिहास पर भी अनेक शोध ग्रन्थ लिखे गए जिनमें प्रमुख हैं—

डॉ० लालमणि मिश्र का भारतीय संगीत वाद्य, डॉ० इन्द्राणी चक्रवर्ती का स्वर व रागों के विकास में वाद्यों का योगदान, डॉ० अरुणसेन का भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन उसके अतिरिक्त डॉ० उमा मिश्र, डॉ० ऊषा गुप्ता, डॉ० सुभद्रा चौधरी का पदों से सम्बन्धित चिन्तन उल्लेखनीय है।

इस प्रकार भातखण्डे उत्तरकाल में दृष्टिकोण में अन्तर, क्षेत्र विस्तार, प्राचीन साहित्य के प्रति श्रद्धा आदि अनेक बिन्दुओं को स्पष्ट रूप से चिन्हित किया गया है। इसकाल में संगीत के उत्कृष्ट साहित्य के अभाव में जिस अपेक्षित स्तर का कार्य होना चाहिए था वह नहीं हो पाया परन्तु कुछ न कुछ कार्य अवश्य हुआ। जो कार्य नहीं हो पाया इसकी चिन्ता भी इस शोध प्रबन्ध काल में की गई है।

(4) **ध्वनि विज्ञान को लेकर चिन्तन**—प्रो० ललित किशोर सिंह द्वारा संगीत की गुत्थियों को सुलझाने का प्रयास जैसा महत्त्वपूर्ण कार्य भी इस काल में हुआ है।

3. तीसरा अध्याय—भातखण्डे उत्तरकाल में हुए कार्य का सर्वेक्षण

इस अध्याय में उत्तरकाल में जितना भी संगीत सम्बंधी कार्य हुआ था उसको 8 कोटियों में विभाजित कर आलोचना की गई है।

(1) **पाठ संशोधन एवं अनुवाद**—इस वर्ग में 36 प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों पर विचार किया गया है, यदि उनमें से किसी का अनुवाद हुआ है तो उस पर अपने विचार दिए गए है। ग्रन्थकार का नाम (यदि ग्रन्थकार के एक से अधिक नाम है : जैसे संगीतराज के लेखक राणा कुम्भा का दूसरा नाम कालसेन, और कुम्भकर्ण भी दिये गये हैं), ग्रन्थ का रचनाकाल (जहाँ तक सम्भव हुआ सही समय) देने का प्रयास किया गया है। पाठ संशोधन कितनी पाण्डुलिपियों पर आधारित है, ग्रन्थ की विषयवस्तु तथा अन्त में प्रत्येक ग्रन्थ के विषय में टिप्पणी दी गई है, कि कार्य किस स्तर का हुआ है।

(2) **शिक्षण संस्थाओं के लिए पाठ्य सामग्री का निर्माण**—वैसे तो सन् 1926 में लखनऊ के मैरिस कॉलेज ऑफ म्यूज़िक और बड़ौदा तथा ग्वालियर में संगीत के विद्यालय खुल गए थे तथा भातखण्डे काल में ही परीक्षाएँ भी होना प्रारम्भ हो गई थीं। संगीत सम्बन्धी कुछ न कुछ साहित्य भी लिखा गया था पर अधिकांश परीक्षोपयोगी पुस्तकें भातखण्डे के उत्तरकाल में ही लिखी गईं हैं। अतः इस शोधग्रन्थ में उन पर स्तर को लेकर चिन्ता व्यक्त की गई है अंत में लगभग बीस ऐसी ही पुस्तकों पर सर्वेक्षण प्रस्तुत किया गया है।

(3) **परिभाषिक शब्दों का स्पष्टीकरण**—इस काल में पं० ओंकार नाथ ठाकुर, आचार्य बृहस्पति, प्रो० ललितकिशोर सिंह और के० वासुदेव शास्त्री के साहित्य में संगीत के परिभाषिक शब्दों पर दिये गए विचारों के आधार पर श्रुति, ग्राम-मूर्च्छना, स्वर व ताल के प्रत्ययों पर विचार किया गया है। प्रत्येक बिन्दु पर विचार करने के पश्चात् निष्कर्ष भी दिया गया है।

पारिभाषिक शब्दों के स्पष्टीकरण के विषय में यह धारणा उभर कर सामने आयी है कि जो विद्वान भातखण्डे जी से प्रभावित हैं, उन्होंने उनके साहित्य में भातखण्डे जी की धारणाओं की पुष्टि की है किन्तु दूसरे वर्ग के लोग शक्ति का निरर्थक अपव्यय कर भातखण्डे जी की भूलों को सुधारने में ही लगे रहे जैसे—

श्रुतियों के विषय में—

(1) श्रुतियों की समान और असमान होने की धारणा को लेकर,

(2) स्वरों की स्थापना प्रथम श्रुति पर या अन्तिम श्रुति पर,

(3) विकृत स्वरों की संख्या को लेकर।

पं० ओंकार नाथ ठाकुर और आचार्य बृहस्पति ने कतिपय प्रश्नों के समाधान प्रस्तुत कर दिए हैं किन्तु बहुत से प्रश्न अब भी शेष हैं।

(4) **भातखण्डे के प्रश्न और समाधान**—वे अनुत्तरित प्रश्न जो भातखण्डे जी से शेष रह गए थे उन्हें भातखण्डे-संगीत-पद्धति के प्रथम भाग में लिया है। सामवेद से सम्बन्धित 25 प्रश्न, द्वितीय भाग में 36 प्रश्न तथा चतुर्थ भाग के अन्त में 15 प्रश्न दिए गए हैं।

(5) **ध्वनि का वैज्ञानिक अध्ययन**—ध्वनि-विज्ञान की सहायता से संवाद-विवाद, शुद्ध सप्तक, भाटों की संख्या, अति कोमल या अति तीव्र स्वरों का लगना, श्रुतियों के नाप, उनका क्रम आदि पर विचार किया गया है। शार्ङ्गदेव ने आयुर्वेद के आधार पर कण्ठ में मधुरता और कटुता के कारणों की विवेचना की है। प्रथम बार इस शोध-प्रबन्ध में दोनों (ध्वनि-विज्ञान और आयुर्वेद) दृष्टिकोणों को समन्वित रूप से समझने का प्रयास किया गया है।

(6) **संगीत लिपि**—उत्तर भारत में संगीत की अनेक लिपियाँ प्रचार में रही हैं। भातखण्डे लिपि के सुगम होने के कारण व्यापक प्रचार और प्रसार हुआ। विष्णुदिगम्बर लिपि अधिक सूक्ष्मतत्त्वों को लिए हुए थी इसलिए क्लिष्ट थी। अतः उनके शिष्यों ने उसे अपेक्षाकृत सरल करके उसके और प्रकार बना दिए। जिस कारण संगीत के जिज्ञासुओं को स्वरलिपियों की अनेकता के कारण बाधा सिद्ध हुई उस पर भी प्रकाश डाला गया है।

(7) **शोध ग्रन्थ**—भातखण्डे उत्तरकाल में जितने संगीत सम्बन्धी शोध प्रबन्ध लिखे गए उनका उल्लेख किया गया है।

संगीत पत्रिकाएँ एवं स्मारिकाएँ—संगीत सम्बन्धी जो-जो पत्रिकाएँ इस काल में आरम्भ हुईं, कितनी चल पायी कितनी पत्रिकाओं के कितने अङ्क निकले और कौन सी पत्रिका कब बंद हुई आदि का वर्णन इस वर्ग में किया गया है।

4. चौथा अध्याय—भविष्य के लिए दिग्दर्शन—

इसमें अब तक हुए काम की न्यूनता और उत्कर्ष का मूल्यांकन किया गया है—

(१) **मौलिक दृष्टिकोण**—भारतीय-संगीत-शास्त्र को समझने के लिए अब तक पाश्चात्य दृष्टिकोण अपनाया जाता रहा है परन्तु अब यहाँ के दृष्टिकोण से विचार करने की आवश्यकता है। भातखण्डे जी ने भी पाश्चात्य प्रभाव से ही संगीत पर विचार किया है। अब आवश्यक है कि भारतीय चिन्तन के आधार पर उपयुक्त परिणाम पर पहुँचा जाए।

(२) **लक्ष्य-लक्षण में समन्वय**—संगीत विषयक ग्रन्थों में लक्षण कुछ दिये गए है और प्रचार में लक्ष्य कुछ है इसमें समानता आवश्यक है। अपठित (अशिक्षित) कलाकार अपने विषय में तो पारंगत हैं परन्तु उसके शास्त्र से वे अनभिज्ञ हैं अतः शास्त्रकार और व्यवहार कुशल संगीतज्ञों में एक-दूसरे का सहयोग होना चाहिए। यह शृंखला दसवीं शताब्दी से टूटी हुई है इसे जोड़ने का प्रयास अपेक्षित है।

(३) **उपयोगी पाठ्य-पुस्तकों की उपलब्धता**—प्राचीन ग्रन्थों से आज की पाठ्य-पुसतकों को जोड़ने की आवश्यकता है। मात्र परीक्षा की दृष्टि से ही नहीं बल्कि वास्तविक शास्त्र की जानकारी विद्यार्थियों को दी जाए।

(४) **संगीत की परीक्षाओं में शास्त्र का महत्त्व**—शास्त्र एवं व्यवहार दोनों को समान महत्त्व देने की आवश्यकता है। परीक्षा में प्रश्नपत्र के स्तर का निर्धारण संगीत-शास्त्र विषयक ज्ञान को ऊँचा उठाने के आधार पर किया जाना चाहिए।

(५) **संगीत के शब्दकोश की आवश्यकता**—अभी तक मात्र दो शब्दकोश उपलब्ध हैं, भारत-संगीत-कोश और भरत-कोश। पर अभी इसके लिए विस्तृत कोश की आवश्यकता है जिसमें संगीत के सभी पारिभाषिक शब्दों की विस्तृत जानकारी उपलब्ध हो।

(६) **लक्षण से लक्ष्य की प्राप्ति**—भारतीय-संगीत में अपार सम्भावनाओं की निधि छुपी हुई है। उसके पुनरुद्धार का कार्य शेष है। अभी तक आचार्य बृहस्पति ने षाड़जी जाति को और डॉ० प्रेमलता शर्मा ने गीतकों को लक्षणों के आधार पर तैयार कर के गवाया था पर यह बहुत विस्तृत कार्य है। भारतीय-संगीत के रहस्यों को उद्घाटित करने के लिए इस दिशा में अनवरत प्रयास की आवश्यकता है।

(७) **संगीत का इतिहास**—अब तक जो भी कार्य इस दिशा में हुआ है उसमें विषय की समग्रता लाने के लिए राजाओं के दस्तावेज़ों के माध्यम से कार्य करने की आवश्यकता है। मध्यकाल के अधिकतर राजा मुसलमान थे अतः तत्कालीन फ़ारसी के ग्रन्थों का अध्ययन करने से इस क्षेत्र में ज्ञात हो सकता है कि संगीत के क्षेत्र में उस समय क्या-क्या सुविधाएँ थी, संगीत की उस समाज में क्या स्थिति थी तथा संगीत के लिए कितना व्यय होता था। किस प्रकार राजा अपने आश्रितों से अपने नाम पर ग्रन्थ लिखवाते थे। इस प्रकार और भी बिन्दुओं पर दस्तावेज़ों के अध्ययन से प्रकाश डाला जा सकेगा।

(८) **अनुवाद**—अभी तक केवल संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद पर ही बल दिया जाता रहा है। इसके अतिरिक्त प्रान्तीय भाषाओं में भी विपुल संगीत-साहित्य है, उसका भी हिन्दी में अनुवाद होना चाहिए। अंग्रेज़ी में संगीत सम्बन्धी साहित्य में से सिद्धान्त सम्बन्धी साहित्य का यदि अनुवाद हो जाए तो संगीत की गुत्थियों को सुलझाने में सहायता मिल सकती है।

(९) **सम्पादन कार्य**—देश के कई पुस्तकालयों में संगीत सम्बन्धी पाण्डुलिपियाँ सुरक्षित हैं। डॉ० वी० राघवन ने संगीत नाटक अकादमी के 5, 6, 17, 18 क्रम के बुलेटनों में संगीत के ग्रन्थों की लम्बी सूची प्रकाशित करवायी थी, उसमें से जितने अधिकतम सम्भव हो सके, ग्रन्थों के संशोधित संपादन की आवश्यकता है।

(१०) **ध्वनि-विज्ञान का अध्ययन**—ध्वनि-विज्ञान की सहायता से संगीत की समस्याओं को समझने और सुलझाने में

निश्चित रूप से सहायता मिल सकती है। ध्वनि का वैज्ञानिक अध्ययन सम्बन्धी साहित्य बहुत कम मात्रा में है, जो है भी उसकी भाषा सरल नहीं है अतः सरल भाषा में ऐसे ग्रन्थों की रचना हो जाए तो शास्त्र के साथ-साथ संगीत के व्यवहार में भी सुधार होने की सम्भावना है जैसे अवाज़ मधुर करने के लिए किन आवर्तकों को कैसे दबाया जाए कि कंठ में मधुरता आ जाए।

(११) **संगीत-लिपि की राष्ट्रव्यापी समता की आवश्यकता**—वर्तमान समय में भातखण्डे स्वर लिपि अधिक प्रचार में है। इसके अतिरिक्त किसी अन्य स्वर-लिपि में जो विशाल भंडार है, विद्यार्थी उसका लाभ लेने में हिचकते हैं। भातखण्डे-लिपि के अतिरिक्त किसी भी लिपि में लिखे रागों के विस्तार, तान आदि को ऐसे मानते हैं जैसे वह किसी अपरिचित भाषा में कुछ लिखा हुआ हो जिसका वह लाभ नहीं उठा सकते। अतः पूरे देश में यदि एक लिपि हो तो दक्षिणात्य-संगीत भी उत्तर के संगीतज्ञ समझ सकेंगे।

(१२) **अब तक हुए अध्ययन एवं शोधकार्य की आलोचना**—जिस प्रकार इस शोध प्रबन्ध में उत्तर-भातखण्डे-काल (1935-1970 तक) का विवेचन किया गया है उसी प्रकार वर्तमान तक जितने शोधकार्य हुए हैं उन पर विश्लेषणात्मक व्याख्या प्रस्तुत की जाए और उन ग्रन्थों को पुस्तकालयों में उपलब्ध कराया जाये जिससे उस शोध का लाभ नवीन शोधार्थियों के साथ-साथ सभी संगीत-प्रेमी ले सकें।

(१३) **अलङ्कारों का महत्त्व**—संगीत-रत्नाकर के रागाध्याय में ग्राम-रागों का वर्णन करते समय अलग-अलग रागों के लिए अलग-अलग अलंकारों के उपयोग के लिए कहा गया है जैसे अमुक राग के लिए प्रसन्नादि अलंकार होता है दूसरे राग के लिए प्रसन्नान्त अलङ्कार होना चाहिए। अभी तक यह बिन्दु स्पष्ट नहीं हो पाया है। इस रहस्य को उजागर करने की आवश्यकता है। इससे रागों के प्रभाव में वृद्धि होगी।

(१४) **हिन्दी में उपयोगी संगीत-पत्रिका**—एक ऐसी संगीत पत्रिका होनी चाहिए जिसमें सारगर्भित लेख हो। अंग्रेज़ी में तो कुछ ऐसे जरनल प्रकाशित होते हैं लेकिन हिन्दी में उच्च स्तरीय पत्रिका का अभी अभाव है। जितने शोध हुए हैं यदि आरम्भ में उनकी रूप रेखा ही प्रकाशित की जाए तो भी लाभ होगा।

(१५) **लोक संगीत की रक्षा**—आज चित्रपट-संगीत ने लोक संगीत को लुप्त प्रायः कर दिया है, और यह प्रक्रिया दिन प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही है। पंजाब के लोक-संगीत से प्रभावित हो कर मियां शौरी पंजाब गए और उसमें से टप्पा-शैली का विकास कर दिया। आज संभवतः पंजाब वाले भी नहीं जानते होंगे कि ऐसा कौन सा लोक-गीत था। इस प्रकार का हर प्रांत का लोक-संगीत है जिसे बचाने की आवश्यकता है।

(१६) **पं० भातखण्डे जी के प्रश्न**—भातखण्डे जी ने ''हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति'' नामक पुस्तक शृङ्खला के चौथे भाग के अंत में 15 प्रश्न दिए हैं जो उनसे अनसुलझे रह गये थे उनमें से कितने अब तक सुलझ पाये हैं, इस पर भी प्रकाश डाला जाना चाहिए।



.१८.

हमारी परमपूज्या 'प्रेम दीदी'

—डा० उषा (पाण्डे) बैनर्जी

''प्रेम एवं ज्ञान की ज्योति स्वरूपा
कोटि कोटि वन्दन श्रद्धेया गुरु माँ॥''

ज्ञान की धरा पर साहित्य सङ्गीत एवं कला की साक्षात् त्रिवेणी का यदि साक्षात् दर्शन करना हो तो हमारी ''प्रेमलता दीदी'' से बड़ा उदाहरण विरला ही मिलेगा। प्रेम-बेल की तरह सुखद अहसास दिलाने वाली, स्वच्छ निर्झर की तरह सहज स्वभाव, नि:स्वार्थ ममत्व प्रदान करने वाली एवं शरण में आये हुए का निर्वाह करने वाली थी हमारी श्री गुरु डॉ० प्रेमलता शर्मा।''

बहन जी का परिचय दैना तो सूर्य को छोटा-सा दीपक दिखाने जैसा है। वे बहुमुखी प्रतिभा के धनी संगीत मार्तण्ड पण्डित ओंकार नाथ ठाकुर की प्रिय एवं सार्थक शिष्या रही हैं। सार्थक शब्द मैंने उनके संदर्भ में इसलिये प्रयुक्त किया क्योंकि गुरु अपनी कला एवं विद्या का बीज तो सभी शिष्यों में एक साथ एक जैसा ही रोपता है परन्तु कुछ शिष्य ही गुरु प्रदत्त विद्या को अपनी मेहनत एवं लगन से सार्थकता प्रदान करते हैं। उनकी महानता का बखान मैं अपनी अक्षम लेखनी से शायद आंशिक रूप से ही दे सकूँ।

''सब धरती कागद करूँ तरु लेखनि बन जाय।
सात समुद्र की मसि करूँ पै गुरु गुन लिख्यो न जाय॥''

गुरु महिमा पर संतों की उक्त वाणी भी अपने को अक्षम महसूस कर रही है तो मेरी अल्प बुद्धि कुछ नया कैसे करे? मैं तो मात्र उनसे सम्बन्धित अपने कुछ सुपरिचित पक्षों का ही बखान कर रही हूँ—

उनके प्रेरणा स्वरूप को याद करते ही मेरा रोम-रोम स्फुरित हो उठता है। मन बार बार यही कह उठता है' ''उनसे दूर रहकर ये जीवन क्यों बीत रहा हैं? क्या विधाता पुन: उनका साथ नहीं दे सकता? कहीं बीता समय भी वापस दुवारा आ पाता है। सच किसी जन्म के पुण्यों का ही परिणाम था उनसे मिलना। बात सन् १९७६ की है। मैने बी०ए० की परीक्षा दी थी, संगीत विषय पर ही आगे पढ़ना चाहती थी परन्तु वृन्दावन में तो क्या उस समय आगरा में भी एम० म्यूज की सुविधा नहीं थी, परन्तु मेरे भाग्य में तो वाराणसी जैसी पवित्र भूमि में जाकर अध्ययन करना लिखा था।

मेरे पिता जी सत्सङ्ग के बड़े प्रेमी है। कभी संतो के सत्सङ्ग में ही उनका परिचय आदरणीय दीदी से हुआ था। संयोगवश उस वर्ष पिता जी को अपनी रेलवे की नौकरी के चलते वाराणसी जाना पड़ा। छत्तीस घंटे का रेस्ट था पिताजी ने सोचा स्टेशन पर समय गँवाने से अच्छा है सतसंगियों से मुलाकात कर लें। इसी बहाने कुछ भगवत् चर्चा होगी। सो खोजते-खोजते वे दीदी के घर पहुँच गये। दीदी ने बच्चों की कुशल पूछी तो भाइयों के साथ मेरी भी चर्चा छिड़ गई। उसी समय कृपामयी दीदी ने मेरे बनारस में पढ़ने का प्रस्ताव रखा। पिता जी ने तो इसे भगवत् इच्छा समझी पर मेरी माँ ने मेरे बनारस जाकर पढ़ने को मना कर दिया।

शायद दीदी को मेरी घरेलू स्थिति का पूर्वाभास बनारस में ही हो गया था। अतः उन्होंने एक कृपा पत्र वृन्दावन मेरे घर भेजा जिसमें उन्होंने निश्चिन्त होकर मुझे बनारस पढ़ने भेजने के लिये लिखा था। आखिर में मेरी माँ दीदी के घर रहकर अपनी पढ़ाई जारी रखने की स्थिति पर ही तैयार हुई और उस समय दीदी ने मुझे अपने घर में रखने की कृपा भी की जिसे मैं कभी नहीं भूलुंगी।

संगीत शास्त्र विभाग में प्रथम दिवस सबसे परिचय देते हुए कहा था 'यूं तो इसका नाम उषा पाण्डेय है पर मैने इसकी बातें सुनकर इसका नाम 'रसिका'' रख दिया है। इतना सुखद एवं सुन्दर परिचय मेरा आज तक कभी किसी ने नहीं दिया।

वे बहुत अनुशासनप्रिय थी। उस समय मेरी उम्र बहुत कम थी, बुद्धि भी ज्यादा नहीं थी सो कभी-कभी घबरा जाती थी। एक बार तो मैने हिम्मत हारकर वापस वृन्दावन जाने की तैयारी कर ली थी, परन्तु उस समय उन्होंने जिस मातृत्वभरे प्रेम से मुझे समझाया था, लगता नहीं था कि ये मेरी गुरु भी हैं। वे जितने समय तक विभाग में पढ़ाती थी तभी तक गुरु की गम्भीरता में रहती। विभाग से बाहर आते ही वही ममतामय स्वरूप वापस आ जाता जो मुझे बहुत अच्छा लगता था।

विभाग में जब भी कोई सेमिनार या कार्यक्रम होने को होता तो वे सभी से सलाह लेतीं। ऐसा वे घर पर भी करती थी। मैं विभाग में सबसे कम उम्र की थी फिर भी वे मुझसे भी सलाह माँगती थी। ध्यान से सुनती और अमल करने लायक होती तो उसे मानती भी थीं। उस समय मुझे उनपर इतना अभिमान होता था जिसे मैं शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकती।

वे हमेशा अपने सभी विद्यार्थियों को अपने बेटे बेटी का ही मान देती थीं। अपने विद्यार्थियों की पढ़ाई के साथ-साथ उनकी हर व्यक्तिगत समस्या को हल करना भी वे अपना कर्त्तव्य मानती थीं। मुझे उन्हीं के साथ रहकर ही महसूस हुआ कि माता पिता तो मात्र एक हद तक ही अपने बच्चों का पालन-पोषण एवं संस्कार देते हैं, और कभी-कभी अपने अतिशय लाड़ से बच्चे के भविष्य को बिगाड़ भी देते हैं, परन्तु गुरु हर पल, हर क्षण अपने विद्यार्थी के कल्याण के लिये ही निःस्वार्थ लगा देते हैं और फिर प्रेम दीदी जैसा गुरु जिसके पास विद्या अध्ययन एवं अपने शिष्यों के बारे में सोचने के अलावा कोई दूसरा विषय ही नहीं।

उन्हें अपनी स्नेहमयी माँ से इतना ममत्व मिला था कि वे स्वयं माँ भले नहीं बनीं, फिर भी अपने शिष्यों के लिये कभी ममता बाँटने में कंजूसी नहीं की। ममता का अक्षय भण्डार था उनके पास। मुझे भी उनकी माँ जी के साथ रहने का कुछ अवसर मिला था। दीदी हमेशा घर में अपनी माता जी के साथ बच्चों की तरह बच्ची बनकर और तुतलाकर बात करती थीं। बिल्कुल तीन-चार वर्ष की बच्ची की तरह; वह सब देख सुनकर और याद कर बड़ा आनन्द आता है। उनके घर से कभी कोई मेहमान बिना कुछ खाये पिये नहीं जा सकता था। उनका यह स्वभाव मैं भी अनुकरण करने की कोशिश करती हूँ। जब कभी मन उखड़ता है तो मैं उन्हें ही याद कर लेती हूँ। इतनी व्यस्तता के बीच भी मेहमानों के लिये अलग से सामान बनाकर रखतीं, सुबह उठकर दही बिलोतीं। घर के सभी लोग लड्डू और मट्ठा का नाश्ता पाते। गऊ सेवा करतीं तथा घर के दूध, दही, मट्ठा एवं घी आदि का ही वे अपनी रसोई में उपयोग करती थी। खाने की मेज पर खाने के बीच कढ़ी और अन्त में पायस का आनन्द लेते हुए हर विषय पर सबसे चर्चा करतीं। ऐसी ही उनसे सम्बन्धित अनन्त बातें स्मरण हैं जिसे ठीक से कह पाना असम्भव है।

मेरे शोध प्रबन्ध की नींव एवं पृष्ठभूमि भी बहन जी ने ही तैयार की थी। संगीत शास्त्र विभाग में संगीत के शास्त्रीय, दार्शनिक एवं ऐतिहासिक पक्षों का आड़ोलन-विलोड़न तो उनके प्रायः सभी शिष्यों ने किया परन्तु उन्होंने मेरे लिये सबसे अलग विषय चुना जो शायद मेरी प्रकृति के अनुकूल था। वे अपने इस विभागीय अध्ययन को संगीत के लौकिक पक्ष से भी जोड़ना चाहती थी इसीलिये उन्होंने मुझे ब्रज की समृद्ध लोकगीत-परम्परा ''रसिया'' के बारे में अध्ययन करने के लिये प्रेरित किया।

मेरे शोधकार्य प्रारम्भ करने से पूर्व ब्रज-लोक-संस्कृति के अन्तर्गत जितने भी शोधकार्य सामने आये थे, उनमें ब्रज के लोक साहित्य की समग्र विद्याओं का एकत्र रूप में ही अध्ययन किया गया था। उस समय तक रसिया शैली के गीतों पर स्वतन्त्र रूप से एक दो अध्ययन अगर कहीं मिलते भी थे तो केवल इस गीत-विधा के साहित्यिक पक्ष पर ही केन्द्रित थे। उस समय तक

लोक-अध्येताओं ने भी लोकगीतों के पदों में निहित उनकी विषय-वस्तु के आधार पर उन्हें मानव जीवन के विभिन्न उत्सवों, संस्कारों, ऋतुओं अथवा दैनिक कर्मों से जोड़कर देखने की कोशिश की गई थी। या उन्हें किसी जाति विशेष का गीत कहकर अपने अध्ययन की इति कर दी परन्तु गीतों के संदर्भ में मात्र इतना अध्ययन ही अपेक्षित नहीं था। किसी भी गीत के तीन घटक- उनके स्वर, ताल, एवं पद अर्थात् इन गीतों की गेयता, लयात्मकता तथा उनकी सार्थक पदावली होती हैं।

लोक-गीतों के गेय एवं लयात्मक पक्षों पर लोक साहित्य के अध्येयताओं की दृष्टि सम्भवतः इसलिये नहीं गई प्रतीत होती थी क्योंकि उनका अध्ययनीय विषय संगीत नहीं था और ब्रज-लोक साहित्य का अभी तक साहित्य के विद्वानों ने ही किया था। इस क्षेत्र में शास्त्रीय संगीतज्ञों की दृष्टि भी नहीं गई थी। बहन जी का विचार था कि शायद शास्त्रीय संगीतज्ञों ने इन लोकगीतों के गेय पक्ष को शास्त्रीय संगीत से इतर मानकर उन पर ध्यान नहीं दिया और किसी ने दिया भी तो 'लोक संगीत' के अन्दर भी शास्त्रीय संगीत की झलक ही ढूंढते रहे। उन्हें ऐसा लगता था कि शास्त्रीय संगीत के अध्येता मात्र शास्त्रीय परम्परागत संगीत एवं उसके शास्त्र की समस्याओं से ही संलग्न है, उनसे लोकगीतों के गेय पक्ष, गीत-बन्ध, छन्द विधान एवं उनकी प्रचलित स्वरावलियों के विश्लेषण आदि अनेकों पक्ष अछूते रहे। इन अछूते पक्षों पर उनकी दृष्टि बहुत समय से थी। वे अपने किसी विद्यार्थी के माध्यम से अपने निर्देशन में ही अध्ययन करवाना चाहती थीं और यह सुअवसर उन्होंने मुझे प्रदान किया। मेरे अध्ययन की दिशा, विचार और प्रस्तुति सब कुछ का श्रेय बहनजी को ही जाता है।

उस समय इतनी गम्भीर बुद्धि नहीं थी कि उनके सम्पर्क का सही उपयोग कर पाती परन्तु जैसे सूर्य की किरण तो पात्र-अपात्र पर विचार किये बिना ही अपनी सम्पूर्ण कृपा सब पर सम भाव से बरसाती है उसी प्रकार बहन जी अपने सभी शिष्यों पर सम दृष्टि रखते हुए कृपा करती रहीं। यह मेरा दुर्भाग्य ही था कि मेरे शोध-प्रबन्ध के पूर्ण होने से पहले ही बहन जी को ''इन्दिरा कला-संगीत विश्वविद्यालय खैरागढ़'' में कुलपति बन के जाना पड़ा। बहन जी को इतना बड़ा कार्यक्षेत्र सँभालना था सो मुझे खुशी तो हुई पर बनारस और यह संगीत विभाग सूना हो गया। सच्चे मार्ग दर्शक के बिना काम में जो बारीकियाँ आनी चाहिये थी वह नहीं आ सकीं। मेरे सारे अरमानों पर पानी फिर गया। काम करने का मजा ही नही रहा, बस किसी तरह काम पूरा कर मैने उस सूने विभाग को ही छोड़ दिया। वे जब तक नजदीक थी, उनका रहना सामान्य लगता रहा पर उनके विभाग में न रहने पर हर क्षण उनके वहाँ रहने वाले क्षणों को ही याद करती रहती थी।

शादी के बाद वाराणसी छोड़ लखनऊ आ गई घर गृहस्थी में इतनी व्यस्त हो गई कि व्यावहारिक रूप से उनसे अलग जरूर रही परन्तु हृदय से मुझे उनसे कोई अलग नहीं कर सका। जीवन की हर समस्या में जब उन्हें याद करती हूँ तो उस समस्या का सटीक हल वे मुझे सुझा ही देती हैं। उनकी निःस्वार्थ कृपा दृष्टि मैं हमेशा अपने चारों ओर महसूस करती हूँ। पुनः स्मरण—

''प्रेम की वो लतिका, ज्ञान की वो गंगा,
साहित्य की वो रसिका, संगीत की वो धारा।
ममता की वो देवी, बेटी सरस्वती की ,
गरिमा है वो काशी की, जै हो मेरी गुरु माँ की॥'' इति।

अब प्रस्तुत हैं उनके निर्देशन में मेरे द्वारा किये गये शोध-प्रबन्ध के कुछ बिन्दु :—

"ब्रज के रसियों का अध्ययन"

संक्षिप्त सारांश

इस शोध प्रबन्ध को छः भागों में विभाजित किया गया है जो इस प्रकार हैं—

(1) ब्रज के रसियों की सामाजिक एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं उसकी विभिन्न प्रयोग-परम्परायें (देश एवं काल पक्ष)

(2) लोक, लोक-गीत एवं रसिया।

(3) रसिया-गीतों में रस-छन्द एवं उसके गीत-बन्धों का स्वरूप।

(4) रसिया-गीतों का सांगीतिक विश्लेषण।

(5) रसिया गीतों की विभिन्न प्रयोग-परम्पराओं में प्रयुक्त होने वाले वाद्यों का स्वरूप।

(6) निष्कर्ष।

इसके अतिरिक्त आठ परिशिष्ट दिये हैं जिनमें शोध-प्रबन्ध में प्रयुक्त सामग्री संगृहीत की गई है।

प्रथम अध्याय—ब्रज के रसियों की सामाजिक एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं उसकी विभिन्न प्रयोग परम्परायें—

'रसिया' गीत ब्रज के लोकसंगीत का सम्राट् हैं। ये ब्रजलोक-संस्कृति के प्रत्येक भाव एवं कर्म में दैनिक कर्मों की तरह ओत-प्रोत है। साहित्यिक एवं शास्त्रीय गीत विद्याओं की अपेक्षा किसी भी लोक-गीत-विधा के उन पक्षों पर विचार करना बहुत कठिन होता है, क्योंकि सामान्य रूप से इन गीतों में न तो रचनाकार की मुहर अंकित होती हैं न ही उन्हें कोई लिखित रूप में संजोकर ही रखता है। ये समस्त लोक-कलायें समूह के बीच में ही उत्पन्न होकर वहीं अपना पोषण भी पाती हैं, अतः उनके प्रयोगों में निहित परम्परा प्रवाह से ही हमने उनके स्रोतों की ओर जाने की कोशिश की है। इन गीतों की परम्परा के "काल-पक्ष" से इस गीत-विधा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि स्पष्ट की है। तथा यह परम्परा-प्रवाह जिन प्रयोग-परम्पराओं में निहित होकर पोषण पाता हुआ आगे बढ़ता है, वे सभी प्रचलित प्रयोग-परम्परायें इस गीत-विधा का "देशपक्ष" है; जो कि उसके सामाजिक हार्द को स्पष्ट करती है। कहने का तात्पर्य यह है कि इस गीत-विधा के देश और काल पक्ष पर विचार ही सामाजिक एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के मूल में है। यह दोनों अन्योन्याश्रित हैं।

शोधप्रबन्ध के शीर्षक में स्थित 'ब्रज' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत धातु 'ब्रज' में 'क' प्रत्यय लगाकर हुई है, जिसका प्रयोग गत्यर्थक यानी जाने के अर्थ में किया गया है। अमर कोष ने इसके तीन अर्थ (1) 'गोष्ठ' (2) 'मार्ग' एवं (3) 'वृन्द' कहे हैं। आज ब्रज शब्द तीन अर्थों में रूढ़ है—

(1) ब्रज एक संस्कृति विशेष

(2) ब्रज एक क्षेत्र विशेष

(3) ब्रज एक भाषा विशेष

उक्त रूढ़ियों के अतिरिक्त ब्रज-संस्कृति एवं ब्रज-मण्डल, शूरसेन जनपद एवं शौरसेनी संस्कृति का केन्द्र रह चुका था। मुगल आक्रमणकारियों के आतंक के दौरान वैष्णव धर्माचार्यों ने इस क्षेत्र को धर्म एवं संस्कृति का केन्द्र बिन्दु बनाया, उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप ब्रज का धार्मिक दृष्टि से भी महत्त्व बढ़ गया। इन परिस्थितियों में राजनैतिक एवं धार्मिक ब्रज के साथ भाषायी ब्रज का महत्त्व भी स्वीकारा गया। रसिया गीत-विधा के प्रयोग की दृष्टि से भाषायी ब्रज का ही अधिक महत्त्व है।

रसिया एवं उसकी अर्थ रूढ़ियाँ—रसिक रसिअ-रसिय य का देशी उ० या "रसिया" शब्द की व्युत्पत्ति 'रस' शब्द में 'इक' प्रत्यय लगाकर हुई है। 'रस' शब्द भाववाचक कृदन्त है। यह शब्द अपने आप में संज्ञा और विशेषण दोनों ही है। 'रस'

शब्द प्रत्यय लगने से 'रसिया' व्यक्ति विशेष बना 'जिस में रस है' तथा इसी भाव की धारक एक गीत-विधा की संज्ञा के रूप में भी प्रचलित है। लोक में निरूक्ति मूलक अर्थ यह है कि 'रसिया' यानी जिसमें रस है, जो रस से भरा है—वो व्यक्ति भी हो सकता है और गीत भी। इसके अतिरिक्त अनेकों विद्वानों एवं कोषों की भी रसिया सम्बन्धी परिभाषाओं पर आलोचनात्मक अध्ययन किया है जिसका सार है—''रसिया गीतों की उत्पत्ति का आधार काव्य की दृष्टि से शृंगार-रस-परक चतुर्मात्रिक छन्दोबद्ध पद संरचना तथा उसकी लय को दिखाने वाला आदि ताल अथवा रास-ताल हैं। सम्पूर्ण लोक-प्रवृत्ति का आदिम छन्द चतुर्मात्रिक है, इसलिये उसे धारण करने वाले ताल को आदिताल कहा है। सम्भवतः इसी छन्द पर आधारित नृत्य को 'रास' नाम दिया है, जिसमें आदिताल का ही प्रयोग होता था, इसलिये आदिताल को 'रासताल' के नाम से भी संगीतरत्नाकर आदि ग्रंथों ने स्वीकारा है। आज के लक्ष्य में उक्त लय दिखाने वाली ताल कहरवा के नाम से प्रसिद्ध हैं। दक्षिण संगीत में आज भी 'कहरवा' को 'आदि ताल' ही कहते हैं।

जिस प्रकार चतुर्मात्रिक छन्द लोक-प्रवृत्ति का आदिम छन्द है, उसी प्रकार शृंगार रस भी लोक प्रवृति के अनुकूल आदि-रस है। प्रायः सभी देशों की प्रारम्भिक लोक-विधायें मुख्यतः शृंगाररसपरक ही पाई जाती हैं। ब्रज-लोक-संस्कृति में पोषित ये ब्रजभाषा के रसिया गीत इसी प्राचीन परम्परा के धारक प्रतीत होते हैं।

रसिया की विभिन्न प्रयोग परम्परायें—

आज रसिया की प्रयोग परम्पराओं को दृष्टि में रखते हुए इसके प्रमुख तीन घराने प्रचार में हैं—

(1) गोवरधन-नन्दगाँव घराना

(2) भरतपुर घराना

(3) हाथरसी घराना

(1) गोवरधन-नन्दगाँव घराना—

यह रसियों का सर्वाधिक प्राचीन घराना है। इसी घराने के 'रसिया' विशेष रूप से ''ब्रज के रसिया'' के नाम से प्रचलित हैं। इस घराने के प्रमुख प्रयोग स्थल इस प्रकार है—

ब्रज का सम्पूर्ण संगीत या तो मंदिरों में सम्पन्न हुआ है अथवा लोक के विस्तृत एवं उन्मुक्त प्रांगण में। आमतौर से ब्रज का 'हवेली संगीत' एवं 'समाज गान' मंदिरों के प्राङ्गण में ही सम्पन्न होता हैं परन्तु रसिया के साथ ऐसी कोई बंदिश नहीं है। उसका जो महत्त्व लोकोत्सवों, लौकिक त्योहारों एवं लोकनाट्यों में है वही मंदिरों में भी। इस गीत-विधा के प्रमुख प्रयोगस्थल इस प्रकार हैं—

I. ब्रज के प्रसिद्ध होली एवं हुरंगे

II. ब्रज के विभिन्न लोकोत्सव

III. ब्रज के साधू-संतों के घराने

IV. मथुरा के चंग पर गाने वाले रसिया गायक

V. जावनी-गायक और उनके अखाड़े भी बने रसियाबाज

VI. ब्रज का प्रमुख लोक-नाट्य 'रासलीला'

VII. 'भगत' अथवा 'स्वांग' (संगीत)

VIII. नौटंकी

(2) रसियों का भरतपुर घराना—

विद्वानों की मान्यता है कि भरतपुर में रसिया नन्दगाँव-गोबरधन से ही आया है। मथुरा एवं भरतपुर जनपद बिल्कुल आपस में सटे हुए हैं। जब भरतपुर के राजा गिरिराज जी की परिक्रमा लगाते थे तो उनके साथ नन्दगाँव गोबरधन के रसिया गायकों के टोल चलते थे और उनके साथ भरतपुर के लोग भी चलते थे। इसी संगति से भरतपुर के लोगों ने रसिया को अपनाया। इस घराने के प्रयोग स्थल—

I. हुरंगा एवं लोकोत्सव

II. लोकनाट्य (भगत आदि)

III. रसियों की अखाड़ेबाजी

IV. मण्डला आदि

(3) रसियों का हाथरसी घराना

रसियों का तृतीय एवं सर्वाधिक अर्वाचीन ''हाथरसी घराना'' है। हाथरस के अखाड़ेबाजों की सक्रिय भागीदारी से रसिया का उल्लेखनीय विकास हुआ। आज भी रसिया के अखाड़ेबाजों के 'दंगल' सम्पूर्ण रात्रि चलते हैं। सर्वप्रथम इन्हीं अखाड़ेबाजों ने रसिया गीतों को प्रकाशित किया। यहाँ की बगीचियाँ अखाड़ों का केन्द्र-स्थल हैं। इनमें पहले कुश्ती, ख्याल, एवं झूलना आदि के अखाड़े संचालित होते थे। रसिया यहाँ जमुनापार से आया था। अखाड़ेबाजों ने उसमें समय-समय पर प्रयोग किये। दूसरे लोकगीतों की धुनें जोड़कर रसियों की नयी धुनें तैयार की। सिनेमा गीतों की धुनों पर भी रसिया गीतों की पलट तैयार की गई। यहाँ की अखाड़ेबाजी में राजनैतिक आन्दोलन की लहर तथा राष्ट्रीय भावना के उद्‌बोधन के लिए भी रसिया लिखे जाते थे।

रसिया की हाथरसी अखाड़ेबाजी के विभिन्न अङ्ग—

I. उस्ताद	II. खलीफा	III. कवि
IV. गायक	V. आवाज लगाने वाले	VI. जनाना
VII. वाद्य-वादक	VIII. अखाड़ों के प्रमुख वाद्य	IX. मंच

अखाड़ों की प्रदर्शनशैली—

यह एक प्रतिद्वन्दितापूर्ण भावना से ओत-प्रोत शैली है, जिसमें कवित्व प्रतिभा एवं उसकी गायकी आदि की प्रतिद्वन्दिता में कम से कम दो अखाड़ों के बीच हार-जीत की शर्त लेकर ही रसिया-दंगलों के प्रदर्शन होते हैं। इसमें सर्वप्रथम I. इलायची भेजकर आमन्त्रित करना II. वाद्य-वादन III. देवी-देवताओं की भेंट गाना IV. दंगलों के प्रमुख गीत-बन्ध—छन्द, रसिया, बहर और सिनेमा गीतों की पलट तथा अन्त में चमत्कारिक प्रयोगों में पौराणिक या ऐतिहासिक उपाख्यानों में दिये गये सूक्ष्म से सूक्ष्म तथ्यों पर उक्त गीत-बन्ध गाकर सवाल-जवाव शैली में प्रश्नोत्तरों से उनकी हार-जीत का फैसला होना आदि प्रमुख है।

अखाड़ेबाजी के अतिरिक्त हाथरस में रसिया के उक्त अन्य घरानों की तरह ही प्रयोग रचा बसा है।

रसिया का ऐतिहासिक विश्लेषण—

ब्रजभाषा के समुचित स्वरूप का निर्माण लगभग 15वीं शताब्दी तक हो चुका था। ब्रजभाषा साहित्य में सर्वप्रथम लिखित रूप में रसिया गीत ''चंद्रसखी'' एवं ''चाचा वृन्दावनदास'' आदि कवियों के ही प्राप्त हैं। विद्वानों ने चंद्रसखी का समय संवत् 1700 से 1790 तथा चाचा वृन्दावनदास का समय प्रायः संवत् 1765 से 1850 के बीच माना है। उक्त दोनों भक्त कवियों के पूर्व रसिया गीतों की मौखिक परम्परा सशक्त रूप से ब्रज में न केवल विद्यमान ही थी बल्कि लोकप्रिय भी रही होगी, इसलिये 'चंद्रसखी' ने ब्रज के प्रसिद्ध लोकनाट्य 'रासलीला' को लोकग्राही रूप देने के लिये अनेकों लोक धुनों में रसिया गीतों की रचना करके उन्हें 'रासलीला' के प्रदर्शनों के बीच प्रयुक्त किया। आज के प्रयोगों में रसिया चतुर्मात्रिक छन्दों मुख्यतः शृङ्गाररसपरक तथा विशेषरूप से फागुन मास में गाये जाने वाले लोकगीत के रूप में प्रचलित है लगभग इसी शैली के 'धम्माली' नामक गीत की चर्चा 'महाराणा कुम्भा' ने अपने ग्रन्थ 'संगीतराज' में भी की है। सम्भव है रसिया गीत उसी परम्परा के धारक हों।

द्वितीय अध्याय— *लोक, लोकगीत एवं रसिया*

इस अध्याय में विभिन्न लोक-प्रवृत्तियों के आधार पर रसिया लोकगीत विधा का लोकधर्मी स्वरूप स्पष्ट किया है। लोक शब्द अपने आप में मानव स्वभाव का एक विशेष स्तर प्रकट करता है। 'लोक' शब्द के साथ जुड़ी विभिन्न संज्ञायें उस स्तर के विभिन्न प्रकारों को ध्वनित करती हैं। बाद में मानव के स्वभाव के यही स्तरविशेष उसकी प्रवृतियों को स्थिर करते हैं। रसिया गीतों के सन्दर्भ में लोक-स्वभाव की इन्हीं प्रवृत्तियों का मूल्यांकन एवं उनके आधार पर रसिया गीतों की विविधता का विवेचन, उसके लोकधर्मी स्वरूप को स्पष्ट करने में सहज ही समर्थ है। लोकजीवन में उसका विविध प्रकारों से प्रयोग उसके लौकिक पक्ष पर पर्याप्त प्रकाश डाल रहा है। इस आधार पर ही इस गीत-विद्या को 'लोक संस्कृति' के अन्तर्गत रखा गया है।

'लोक' शब्द की व्युत्पत्ति जन्य अर्थ एवं उसकी अनेक रूढ़ियों के साथ देशी एवं विदेशी विद्वानों के विचार, लोकगीत सम्बन्धी अनेकों विचार एवं उनका विश्लेषण तथा उनकी विशेषताएँ आदि सभी रसियों को लोकप्रिय लोकगीत की श्रेणी में लाते हैं। इसमें ब्रज का सम्पूर्ण भाव एवं कर्म समाहित है।

रसिया गीतों की विविधता को देखते हुए इनका विभाजन इस प्रकार है—

प्रस्तुतीकरण के आधार पर 'लोकगीतों' की विविधता एवं रसिया—

(क) एकल गायनशैली एवं रसिया

(ख) युगल गायनशैली एवं रसिया

(ग) वृन्द गायनशैली एवं रसिया

(घ) नृत्याधारित गायनशैली एवं रसिया

(ङ) लोकनाट्यों के अन्तर्गत प्रयुक्त होने वाली गायनशैली एवं रसिया

(च) संवाद शैली एवं रसिया

(छ) प्रश्नोत्तर शैली एवं रसिया

विषयवस्तु के आधार पर 'लोक-गीतों' का विभाजन एवं रसिया—

(अ) देश, काल, जाति, भाषा, लिङ्ग, प्रवृत्ति, एवं अवस्था आदि नैसर्गिक गुणों के भेद से उत्पन्न वैविध्य एवं रसिया।

(ब) विभिन्न प्रकार के बाह्य प्रभावों से उत्पन्न लोकगीतों का वैविध्य एवं रसिया—

(1) सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रभावों से उत्पन्न 'लोकगीतों' की विविधता—जिसमें ऋतु, संस्कार, त्योहार, उत्सव, रीति-रिवाज, नजर टोना, सामाजिक उन्नति, महत्त्वाकांक्षा आदि सम्बन्धी रसिया आते हैं।

इसके अतिरिक्त—

(2) धार्मिक (3) ऐतिहासिक (4) राष्ट्रीय भावना (5) आर्थिक दृष्टिकोण (6) नैतिकता (7) विभिन्न रस आदि के लोकगीतों में वैविध्य एवं रसिया।

तृतीय अध्याय— *रसिया-गीतों में रस, छन्द एवं उसके गीतबन्धों का स्वरूप—*

संगीत की शास्त्रीय परम्परा में पद केवल स्वर एवं ताल के धारक के रूप में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रहता है अतः वहाँ कभी-कभी निरर्थक पदों का प्रयोग भी दिखता है परन्तु लोक गीतों में लोकगायक की दृष्टि उनकी गेयता एवं लयात्मकता की अपेक्षा इन गीतों की सार्थक पदसंरचना पर अधिक होती है। काव्य की दृष्टि से किसी भी गीत की पदसंरचना के दो प्रमुख पहलू होते हैं। प्रथम—विषयवस्तु की दृष्टि से उस रचना में वर्णित रस-विशेष तथा दूसरा—उस पदसंरचना का छन्द-विधान, जिसे मोटे तौर पर उसका रूप-विधान भी कह सकते हैं।

रसिया गीतों के संदर्भ में शृंगार रस की ही प्रधानता है। हास्य, वीर, करुण एवं शान्त रस के भी रसिया कहीं-कहीं लिखे गये हैं। रौद्र, बीभत्स एवं भयानक रसों के रसिया ना के बराबर ही मिलते हैं।

ब्रज मण्डल में रसिया लोक-गीत-विधा मधुरोपासक वैष्णव सम्प्रदायों के प्रभाव से अछूती नहीं रही है, बल्कि इसी परिवेश में पल्लवित हुई है। यहाँ के मधुरोपासक धर्माचार्यों ने अपनी आध्यात्मिक उपासना में परिवेश के साध्य उज्ज्वल-रस के आलम्बन कृष्ण को ही एक उज्ज्वल-वेशात्मक शृंगारी नायक मानकर उन्हें रसिया की उपाधि से विभूषित किया है।

ब्रज की इस उपासना के अतिरिक्त 'लोक' में भी 'रसिक नायक' को 'रसिया' तथा शृंगाररसपरक लोकगीतों को भी 'रसिया' गीत कहने की ही परिपाटी है। शृंगार रस के संदर्भ में 'रसिक नायक' का रसिया अभिधान तो लोक में स्वीकृत ही था, बाद में वैष्णव आचार्यों ने अपनी मधुरोपासना के शृङ्गार-रस-परक आध्यात्मिक नायक 'कृष्ण' को भी 'रसिया' की उपाधि दी साथ ही उक्त रस से युक्त लोक शैली को भी 'रसिया' अभिघान देते हुए अपनी उपासना का एक अंग बनाया।

II. रसिया गीतों के गीत-बन्धों का स्वरूप एवं उसमें प्रयुक्त छन्दो विधान—

रसिया गीत भी एक प्रकार के प्रबन्ध ही कहे जा सकते हैं। मूलतः प्रबन्धों के अन्तर्गत प्रचलित विभिन्न गीत-विधाओं का ही वर्णन है, उनमें से कुछ शास्त्र की परिधि में आये हैं और कुछ लोक गीत की। विशेष रूप से, 'विप्रकीर्ण' प्रबन्धों के अन्तर्गत वर्णित चर्या, चर्चरी, ओवी रोली आदि प्रबन्ध लोक गीतों के ही भेद है। प्रबन्धों की तरह रसिया गीतों के भी प्रमुख तीन गेय चरण हैं—

(क) **प्रथम चरण**— उनकी ध्रुव पंक्ति जिसे **'टेक'** के नाम से सम्बोधित करते हैं। इसे बार-बार गाने या उस पर टिके रहने से ही शायद यह नाम पड़ा होगा।

(ख) **द्वितीय चरण**—इसे 'कड़ी', 'तुक', 'झड़' अथवा कभी-कभी 'कली' भी कहते हैं।

(ग) **तृतीय चरण**—रसियों की कड़ी का अन्तिम चरण अथवा अन्तिम तुक जिसका तुकान्त 'टेक' के द्वितीय चरण की तुकान्त से मेल खाता है। उस पंक्ति अथवा चरण को 'मिलान' कहते हैं। इसे ही गाकर 'टेक' का मुखड़ा पकड़ते हैं। हाथरसी रसियों में इसे 'तोड़' भी कहते हैं।

रसियों का छन्द विधान—

छन्द उस शब्द-योजना को कहते हैं, जो किसी विशेष नियम से अक्षर या मात्राओं के बन्धन में बँधी हुई चलती है। रसिया गीतों में मुख्य रूप से मात्रिक छन्दों का प्रयोग देखने को मिलता है। चतुर्मात्रिक छन्दों का प्रयोग रसिया गीतों में विशेष रूप से है। इन गीतों में अक्सर चतुष्कल गणों की गणना उपेक्षित भी हो जाती है, ऐसी स्थिति में गीतों को लय प्रदान करने वाली चतुर्मात्रिक ताल (कहरवा) के ठेके में गीतों को बिठाने के लिये उसके पदों में स्थित दीर्घ स्वरों की मात्राओं को घटा बढ़ा लेते हैं। लोक-गीतों में यूँ भी छन्दों के कठोर नियम का पालन नहीं किया जाता।

रसियों में प्रयुक्त प्रमुख छन्द—

इस प्रकार है—

(1) डेढ़तुकिया (2) टुकड़िया (3) तिकड़िया एवं (4) चौकड़िया आदि। इन्हें छोटी रंगत का रसिया कहते हैं। इसके बाद यही छन्द और अधिक विकसित होकर (5) रसिया ठड्डा (6) रसिया रंगत का (7) साढ़े तीन तुक का (8) 5 तुक का (9) 6 तुक का (10) 8 तुक का एवं (11) 17 तुक के भी रसियों के मिश्र-छन्द मिलते हैं।

रसिया चूँकि लोक गीत है अतः जितने कण्ठ हैं, उतनी ही गति, विश्रान्ति एवं मात्राओं से छन्द-संरचना हो जाती है। उक्त रसिया छन्दों के अतिरिक्त अन्य जो भी रसिया धुनें या प्रकार रसिया गीतों के अन्तर्गत प्रचलित हैं, उन्हें हम आंचलिक 'बहर' मानकर 'बहर के रसियों' के अन्तर्गत अथवा रसियों के मिश्र-छन्द के अन्तर्गत रख सकते हैं। रसियों की फिल्मी 'पैरोडी' में मात्र 'टेक' की धुने ही फिल्मी प्रयुक्त करते हैं, परन्तु आमतौर से तुक और मिलान में रसियों के मिश्र छन्दों का प्रयोग करके पुनः फिल्मी धुनों की 'टेक' पकड़ लेते हैं।

चतुर्थ अध्याय—*रसिया-गीतों का सांगीतिक विश्लेषण*

लोक-गीतों में महत्त्व की दृष्टि से दूसरा स्थान उसमें निहित उनकी 'लय' का है। 'ताल' इसलिये नहीं कहा क्योंकि लोक-गायक किसी भी ताल विशेष का नाम नहीं जानता। वे अपने रसिया गीतों में 'लय' को प्रमुख दो रूपों में स्वीकारते हैं।

(1) प्रथम—अर्थ के अन्तर्गत चतुर्मात्रिक छन्द को प्रकट करने वाली वाद्याधारित क्रिया को 'लय' कहते हैं, जिसके अन्तर्गत आधुनिक लक्ष्य में रूढ़ इन्हीं क्रियाओं के द्रुत अथवा मध्य वेग को 'लय' स्वीकारते हैं।

(2) दूसरे—अर्थ के अन्तर्गत वे 'लय' शब्द में ही ताल की क्रिया एवं विश्रान्ति दोनों को ही स्वीकार कर किसी भी ताल के प्रमुख छन्द को 'लय' के रूप में ही स्वीकार करते हैं। लोक प्रवृत्ति के संदर्भ में यह 'लय' शब्द का प्रयोग अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है, जो कि इसे शास्त्रीय संगीत परम्परा से सहज ही अलग करता है। इन गीतों में आमतौर से चतुर्मात्रिक छन्द वाली 'कहरवा ताल' का ही प्रयोग होता है। आठ मात्रा काल की इसी ताल को ही चार, आठ एवं सोलह मात्रा बनाकर बजाते हैं।

रसिया गीत पूर्णरूपेण लोक-धुनें है, जिसमें शास्त्रीय संगीत के रागों का प्रयोग ना के बराबर ही है। कहीं-कहीं उपशास्त्रीय राग जिन्हें शास्त्रीय संज्ञीतज्ञ शास्त्रीय संगीत की दृष्टि से 'धुन' कहते हैं; उनकी छाया का भास भर है। परन्तु यह छाया भी रसिया-गीत की सम्पूर्ण स्वरावली में स्थिर नहीं है। स्थान-स्थान पर रसिया-गीतों के सहज प्रवाह में उपशास्त्रीय रागों की छाया का बाधित होना, एक ही रसिया स्वरावली में एक से अधिक उपशास्त्रीय रागों की छाया के भास के साथ-साथ स्थान-स्थान पर उनका भंग होना एवं अनेक ऐसी रसिया धुनें, जिसमें किसी भी राग की स्पष्ट छाया नहीं मिलती, ये सब इन गीतों की प्रवृत्तियाँ हैं। इसके साथ ही रसिया गीतों में कुल चार या पाँच स्वरों में रसिया स्वरावली का संचरण होता है। इन गीतों में जब रसिया

गायक पलट में (फिल्मी पलट नहीं) 'टेक' के टुकड़े के एक स्वर को आधार मानकर गाने के उपरान्त पुनः उसी टुकड़े का आधार स्वर बदल कर पूर्व स्वरावली के तीसरे, चौथे या पाँचवे स्वर से गायें तो स्वाभाविक ही होगा कि मध्य सप्तक में चलने वाली स्वरावली की 'पलट' में तार सप्तक के स्वरों का प्रयोग हो जायेगा। रसिया गायकों का 'पलट' उठाने का एक विशेष ढंग होता है जो कि सभी रसियों में सम्भव नहीं है। इन गीतों में गंद्र सप्तक का प्रयोग कहीं-कहीं ही होता है।

विभिन्न 'राग-रूपों'की तरह ही रसिया गीतों की पहचान के लिये भी कुछ रसिया-गीतों में बरते जाने वाले विशिष्ट स्वर-संचारों के टुकड़े अगर एकत्र किये जायें तो उन स्वर-संचरण के टुकड़ों के द्वारा भी रसिया-गीतों की पहचान ठहराई जा सकती है। रसिया गीतों की स्वरावलियों के सहज प्रवाह में जहाँ रागों की छाया खण्डित हो रही है, वही स्थान-विशेष रसिया-गीतों की स्वरावलियों की अपनी विशेषता एवं मौलिकता है। रसिया गीतों में आनेवाली विभिन्न रागों की छाया उन रसिया-रूपों से पृथक् नहीं है बल्कि रसिया रूपों के संगठन में कहीं-कहीं विभिन्न रागों के स्वर-संचार भी द्रष्टव्य हैं यही समझना समीचीन होगा। रागों के ये स्वर-संचार रसिया रूपों के निर्माण में सहायक हैं और 'रसिया-रूप' गीत के सम्पूर्ण संगठन से ही तैयार हो पाता है।

रसिया धुनों में उपशास्त्रीय रागों की छाया के संदर्भ में एक बात और महत्त्वपूर्ण यह है कि इन गीतों में मुख्यतः काफी अंग का प्राधान्य है। जो कि ब्रज की प्राचीन उपशास्त्रीय संगीत परम्परा में गाये जाने वाले 'होली काफी' में मुख्य रूप से प्रयुक्त काफी राग का एक 'संस्कार' भी हो सकता है। काफी अंग के पीलू, बरवा, वृन्दावनी सारंग, सिंदूरा आदि उपशास्त्रीय रागों का प्रयोग, खमाज अंग के देश, तिलक कामोद, गारा, झिंझोटी, मांड-खमाज आदि राग प्रमुख रूप से प्रयुक्त हुए है। इसके अतिरिक्त भैरव मांड, सोरठ आदि उपशास्त्रीय रागों की छाया इन गीतों में कम देखने को मिलती है। लोक प्रवृति में भैरवी-अंग सर्वाधिक प्रचलित है पर आश्चर्य है कि इन गीतों में भैरवी अंग की अपेक्षा काफी एवं खमाज अंग का प्रयोग अधिक है। कुछ रसिया गीतों में किसी भी राग की छाया स्पष्ट नहीं है।

सम्पूर्ण विश्लेषण के आधार पर यही कहा जा सकता है कि रसिया गीतों में कुछ निश्चित रागों के अंगों के कुछ निश्चित स्वर संचार ही बार-बार दृष्टव्य हैं और बार-बार कुछ निश्चित स्वरों से ही वे बाधित भी हुए हैं। ये सभी तथ्य रसिया गीतों की अपनी सहज-पहचान के रूप में महत्त्व रखते हैं।

पंचम-अध्याय—*रसिया गीतों की विभिन्न प्रयोग परम्पराओं में प्रयुक्त होने वाले वाद्यों का स्वरूप*—

रसिया गीतों की विभिन्न प्रयोग परम्पराओं में प्रयुक्त वाद्य भी रसिया की लोक प्रवृति एवं उसकी विविधता के सूचक है। इसकी प्रयोग परम्पराओं में प्रमुखता लोक वाद्यों की ही है जो इस प्रकार है—

(1) तत् वाद्यों के अन्तर्गत-चिकारा या चिंकारा पुष्कर या अवनद्ध वाद्य—

(क) नगाड़ा (ख) ढोल (ग) ताशा

(घ) ढोलक (ङ) चंग (च) ढफ

(छ) खंझरी या खंजरी (ज) मृदंग (झ) बम्ब आदि।

(3) घन वाद्य—

(क) मंजीरा (ख) झाँझ (ग) थाली

(घ) खरताल (ङ) चिमटा आदि।

(4) सुषिर-वाद्य—

(क) अलगोजा (ख) बाँसुरी (ग) नफीरी (घ) क्लैरिनेट

6 षष्ठ अध्याय—*निष्कर्ष*

(1) प्रथम परिशिष्ट (क)

(2) प्रथम परिशिष्ट (ख)

(3) द्वितीय परिशिष्ट (क)

(4) द्वितीय परिशिष्ट (ख)

(5) तृतीय परिशिष्ट (क)

(6) तृतीय परिशिष्ट (ख)

(7) चतुर्थ परिशिष्ट (क)

(8) चतुर्थ परिशिष्ट (ख)

—डा० उषा बनर्जी

★★★

.१९.

पूज्या 'बहनजी' की शिक्षणपद्धति

—डा० लिपिका (दास गुप्ता) वसु *

मैं 1981-85 पर्यन्त काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के सुप्रसिद्ध सङ्गीतशास्त्रविभाग की छात्रा रही हूँ। इससे पहले भी ७९ से ही एम० म्यूज करते समय ही सम्पर्क प्रारम्भ हो गया था। एम० मयूज़िकॉलॉजी, एम० फिल में प्रत्यक्ष बहिनजी द्वारा अध्यापन पाया, फिर पी०एच०डी० उन्हीं के सुयोग्य शिष्य डॉ० ऋत्विक् सान्याल के निर्देशन में किया तब भी पू० बहिनजी का पर्याप्त मार्गदर्शन मिलता ही रहा।

स्वदेश-विदेश के सभी सम्बद्ध विद्वान् यह स्वीकार करते हैं कि का०हि०वि० का सङ्गीतशास्त्रविभाग पू० प्रेमलता बहनजी द्वारा प्रवर्तित ज्ञान-प्रसार की अद्‌भुत शाखा थी। जिसमें "Music Appriciation-cource" के दो वर्षों में भारतीय सङ्गीत (स्वर-राग-ताल-नृत्य-नाट्य) को समझते हुए सुनने देखने की क्षमता जगाई जाती थी। यह पाठ्यक्रम विदेशी तथा भारतीय भी विभिन्न क्षेत्रों के जिज्ञासुओं को आकर्षित करता था। इसके माध्यम से अनेक विशेष प्रतिभायें भारतीय सङ्गीत के प्रति आकर्षित हुईं और संगीतशास्त्र-विभाग का परिवार प्रायः विश्वव्यापी हो गया।

एम०म्यूज़िकॉलोजी के दो वर्ष-चार सत्रों-के पाठ्यक्रम में प्रत्येक सत्र में चार-चार प्रश्नपत्रों के लिये गम्भीर अध्ययन कराया जाता था। सङ्गीतशास्त्रके सर्वाधिकमहत्त्वपूर्ण ग्रन्थों—नाट्यशास्त्र, सङ्गीतरत्नाकर, बृहद्देशी, मानसोल्लास, सङ्गीतराज आदि—के मूलपाठ से परिचय होता था। बहनजी स्वयं ये ग्रन्थ संस्कृत के 'प्रतिपद-पाठ' और 'पंक्ति लगाने' की शैली से पढ़ते हुए हमें समझाती थीं, साथ ही विभाग के शोध-सहायकों एवं अन्य भी समागत आचार्यों के साथ परामर्श चलता था, शोधछात्र-छात्राओं को भी इन कक्षाओं में समान्तर सक्रिय विचार-विमर्श तथा अध्ययन का खुला अवसर प्राप्त रहता था।

पू० बहनजी की इन कक्षाओं की अनोखी विशेषता यह थी कि समयसारिणी में भले ही प्रथम सत्र, द्वितीय सत्र इत्यादि कक्षांश विभिन्न कक्षावार रहते थे, किन्तु प्रत्येक कक्षांश (periods) में सभी विद्यार्थी सम्मिलित रहते थे। जिन का वह समय होता वे विद्यार्थी सामने बैठते एवं अपनी शङ्काओं का समाधान पाते, अन्य विद्यार्थी पीछे बैठकर सुनते रहते, और बहिनजी द्वारा कोई समस्या सबके सामने रखे जाने पर विचार में सहभागी भी होते। इसके फलस्वरूप, उच्चवर्गीय कक्षाओं में बैठकर सुनने से नीचे के विद्यार्थियों को भी अध्ययन के स्तर का आकलन अपने-आप होता रहता और वे स्वयं ही अध्ययन द्वारा अपने चिन्तन तथा ज्ञान को अग्रसरित करने तथा अधिक सक्षम होने की प्रेरणा पा कर प्रयास करते रहते थे। साथ ही उच्चकक्षाओं के विद्यार्थी या शोधछात्र विभिन्न कक्षाओं के विद्यार्थियों के साथ बैठकर पूर्ववर्ती अध्यायों को पुनः स्मरण करने की सुविधा पाते थे।

यहाँ विद्यार्थी स्वयं शास्त्रीय (संस्कृत) ग्रन्थों के अध्ययन में प्रवृत्त हो सकें इसके लिये सङ्गीतशास्त्रोपयोगी संस्कृत-व्याकरण एवं भाषा का परिचय कराने के लिये विभाग में संस्कृत-शिक्षण की भी व्यवस्था थी। पूज्या डॉ० विमला मुसलगाँवकर बहनजी इसी के लिये विभाग की सदस्या थीं, जो अपने कार्य के साथ-साथ पूरे विभाग परिवार का ''गृहमन्त्रालय'' भी बहुत ही सहृदयता

---

* डॉ० लिपिका दासगुप्ता (वसु) उपाचार्या-सङ्गीत, सङ्गीत एवं ललित कला विभाग, म० गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी।

से सँभालती थीं। इस विशाल परिवार के जो सदस्य जिन समस्याओं को सीधे पू० बड़ी बहनजी से नहीं कह पाते थे वे पू० विमला बहिनजी से भलीभाँति समाधान पा लेते थे।

M. Musicology के द्वितीय सत्र में, ग्रन्थ-अध्ययन के साथ, एशिया की प्रमुख सङ्गीत-पद्धतियों का तथा जापान-कोरिआ-चीन-इण्डोनेशिया आदि के सङ्गीत का फिर कुछ अंश में पाश्चात्त्य सङ्गीत का भी अध्ययन होता था।

तृतीय सत्र में भारतीय सङ्गीतशास्त्र में ध्वनिविज्ञान का तथा पाश्चात्त्य सङ्गीतशास्त्र का अध्ययन किया जाता था। चतुर्थ सत्र में विभिन्न स्वरलिपियों का अध्ययन तथा किसी एक सङ्गीत शास्त्रीय ग्रन्थ का पूरा अध्ययन करना होता था। इसमें मैंने श्री कृष्णधन बैनर्जी के ग्रन्थ 'गीतसूत्रसार' को चुना था।

इस सबके साथ सङ्गीत के प्रयोग का भी ज्ञान आवश्यक था। उसकी भी परीक्षा ली जाती थी।

इस प्रकार यह पाठ्यक्रम संगीतशास्त्र का सर्वाङ्गीण ज्ञान कराने की दिशाएँ खोलता था। चतुर्थ सत्र में विद्यार्थी अपने आगामी शोधकार्य के प्रति जागरूक हो जाय इसलिए विशेषाध्ययन पर ध्यान केन्द्रित कराया जाता था। छात्र-छात्रा की मानसिक रुचि एवं क्षमता के आधार पर बहनजी दिशा-निर्देश करती थीं कि वह किस विषय पर विशेष ध्यान दे कर शोध-अनुसन्धान करे।

M. Musicology के छात्र चार आचार्यों के पास अध्ययन करते थे, और वे चारों आचार्य परस्पर क्रमबद्धता से जुड़े होते थे, जिसका श्रेय पू० बहिनजी की (प्राचीन गुरुकुल-पद्धति-जैसी) शिक्षण प्रणाली और उन्हीं के बनाये पाठ्यक्रम का था। पू० बहनजी के सहकर्मी आचार्य भी उनके शिष्यवर्ग में शामिल होते थे अथवा स्वयं को शिष्य-तुल्य मानने वाले थे, सहकर्मी होते हुए भी उनके साथ शोध-कार्य में लगे हुए थे। अत: विद्यार्थियों को ज्ञान-प्रदान या समस्या-समाधान में कहीं कोई व्यवधान नहीं था।

इस स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम एवं पदवी के पश्चात् शोध-वृत्ति का और मार्जन करने तथा अभ्यास कराने के लिये पू० बहनजी ने संगीतशास्त्र में M Phil. की उद्भावना की थी। इसमें एक वर्ष शास्त्राध्ययन तथा ६ माह में एक शोध-निबन्ध लिखना होता था। M. Phil. के प्रथम वृन्द (batch) में ही मैं थी। प्रथम वर्ष में सङ्गीतशास्त्र की विषयगत समस्याओं (Problems in Indian-Musicology *i.e. Saṅgīta Śāstra*) तथा शोध की प्रक्रिया में प्रयुक्त विधि (Research Methodology) का अध्ययन कराया जाता था। सन्दर्भ-ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार के विषय में अध्ययन की विधि, पुस्तकालय में अध्ययन करने की सही रीति, ग्रन्थ-विज्ञान और सन्दर्भिका (Bibliography) बनाने की विधि तथा उपयोगिता-इत्यादि समझाई जाती थी।

इनमें से प्रथम विषय (सङ्गीतशास्त्र की विषयगत समस्यायें) पू० बहनजी स्वयं पढ़ाती थीं और द्वितीय (Research Methodology) का अध्ययन डॉ० रङ्गनायकी आयंगार के पास करवाती थीं।

आद० रङ्गनायकी जी क्योंकि स्वयं कर्णाटक-सङ्गीत की उत्तम प्रयोक्त्री होते हुए भी १६ वर्ष अमेरिका में पाश्चात्त्य सङ्गीत का अध्ययन कर चुकी थीं, उनकी वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अध्ययन-अध्यापन की प्रवृत्ति तथा तकनीकी प्रयोगों के प्रति रुझान की प्रशंसा और सम्मान पू० बहनजी विदुषी-मित्र की भाँति करती थीं और वे बहिनजी के निर्देशन में शोध कर रही थीं, सहकर्मिणी भी थीं।

कुल मिलाकर बहिनजी का एक ही लक्ष्य था कि विद्यार्थी अधिक से अधिक ज्ञान पा सकें। उन्होंने कभी किसी भी निमित्त से किसी प्रकार का पक्षपात विद्यार्थियों के प्रति नहीं किया। सभी को समान रूप से ज्ञान-आलोक देने का प्रयास हर सम्भव रीति से वे जीवन भर करती रहीं।

हम विद्यार्थियों की अलग-अलग उपस्थिति नहीं ली जाती थी; बहनजी स्वयं ही हमें देखकर पञ्जिका में उपस्थिति अङ्कित कर देती थीं। शायद ही कभी कोई विद्यार्थी अकारण अनुपस्थित होता था क्योंकि सभी को बहनजी की कक्षाओं में बैठकर सीखने-सुनने का आकर्षण रहता था। यदि कभी कोई विद्यार्थी अस्वस्थतावश या किसी अनिवार्य कारण से विशेष परिस्थितिवश उपस्थित नहीं हो पाता तो उस के आने पर बहनजी बिना द्विधा के, पहले कहे गये सभी पाठों को संक्षेप में दोहरा कर नया शुरू करती

थीं। एक-एक वर्ग में भले ही छात्रसंख्या कम ही रहती थी किन्तु सब को सब कक्षाओं में बैठने की सुविधा होने से सभी कक्षायें भरी-पूरी गोष्ठी जैसी होती थीं। फिर भी प्रत्येक विद्यार्थी पर बहनजी की नजर रहती थी और प्रत्येक को उस की क्षमता के विकास के अवसर और प्रेरणा बहिनजी देती रहती थीं।

परीक्षाओं की दृष्टि से पाठ्यक्रम की खाना-पूरी (जैसे-तैसे पढ़ाई पूरी कराना) बहनजी कभी भी नहीं करती थीं। प्रत्येक सत्र के sessional work (निबन्धों) में छोटी-छोटी भी गलतियों पर तथा शोध-पत्रों पर प्रखर दृष्टि डालकर उनका सुधार करवाती थीं। मेरे ही एक ऐसे निबन्ध (''सङ्गीत में भुक्ति-मुक्ति''—विषयक) पर उन्होंने टिप्पणी लिखी थी—''अन्तः प्रभावित रीति से नहीं लिखा गया है; वर्तनी की अशुद्धियाँ चित्त की चञ्चलता को सूचित करती हैं।''—तात्पर्य यह कि विद्यार्थी की भाषा तथा विषय की पकड़ सभी पर बहनजी की कड़ी नज़र रहती थी।

वे कभी किसी को तेज़ चिल्ला कर नहीं डाँटती थीं और न किसी प्रकार रुष्टता या नाराज़ी प्रकट करती थीं किन्तु कोई भी विद्यार्थी उनके महान् व्यक्तित्व और गहरे स्नेह से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता था। उनके शुद्ध आचरण, सात्त्विक विचार और निश्छल अबाध स्नेह से अपने विद्यार्थी तो वशीभूत रहते ही थे। बाहरी उद्‌दण्ड विद्यार्थी या असामाजिक व्यवहार वाले छात्रनेता जैसे भी बहिनजी का आदेश टाल नहीं पाते थे।

बहिनजी के जीवन की नींव आध्यात्मिक थी। भारतीय संस्कृति और मानवीय धर्म उनके प्रत्येक व्यवहार में विद्यमान था। उनमें न कोरे वैराग्य का रूखापन या कठोरता थी, न ही सामान्य संसारियों जैसी आसक्ति, प्रमाद या शिथिलता थी। सत्यनिष्ठा, नीतिपूर्ण सदाचरण, ज्योतिष् आदि विद्याओं पर विश्वास, प्रतिदिन के ग्रहों के अनुरूप रंग के वस्त्र शालीन रीति से धारण करना, खादी-हथकरघा के वस्त्र ही पहनना, कार्यालय के लिए भी खादी के ही उपयोगी साधन खरीदना, कार्यालय की रकम को उतनी ही सूझबूझ से आवश्यकता के अनुसार व्यय करना जितना कोई सुगृहिणी अपने घर के लिए करती है, कभी परिस्थिति-वश अपनी रकम भी कार्यालय के हित में स्वयं व्यय करके अवसर सम्हाल लेना—इत्यादि सभी प्रकार से आदर्श प्रस्तुत करने वाले उनके व्यक्तित्व की विशेषताएँ थीं। सबके प्रति उनके सहज व्यवहार को देखते हुए विद्यार्थी भी अनायास ही समवयस्कों के प्रति मित्रवत् और गुरुजनों के प्रति हार्दिक सम्मानमय व्यवहार सीखते थे।

पू० बहनजी ने कभी भी केवल पाठ्यक्रम पूरा करवा देने भर में शिक्षक के कर्त्तव्य की इतिश्री नहीं मानी, बल्कि विद्यार्थियों में अभिभावक-गुरु का ही सम्बन्ध रखा जो उन्हें पग-पग पर सद्‌भाव-सौहार्द-भरा मार्गदर्शन कराती रहीं। और यह सम्बन्ध तथा मार्ग दर्शन केवल अपने विभाग या सङ्गीत-सङ्काय के विद्यार्थियों तक ही सीमित नहीं था, बल्कि पूरे विश्वविद्यालय के किसी भी सङ्काय या विभाग के विद्यार्थी या आचार्य-गण अपनी जिज्ञासा-समाधान अथवा विचार-विमर्श के लिए बहनजी के पास आते रहते थे। इस 'गुरुकुल' में सदा सबका स्वागत था।

स्वयं बहनजी ने नाट्यशास्त्र में उल्लिखित रङ्ग-मञ्च, कुतप, ध्रुवाएँ आदि का पुनरुज्जीवन करके अपने ''अभिनय-भारती''—संगठन के द्वारा अनेकों प्रयोग किए-करवाये, जिनके निमित्त से यह विभाग सर्वाङ्ग से पूरे विश्वविद्यालय से ही नहीं, नगर की अन्य सम्बद्ध संस्थाओं से भी जुड़ा रहता था। कितने ही गम्भीर-महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय सेमिनार भी—वैदिक तथा आगम-सम्बन्धी विषयों पर यहाँ आयोजित हुए। पू० बहनजी के अनुरोध-आमन्त्रण को सभी विद्वान सम्मानित करते थे। अनेकों **धुरन्धर विद्वज्जनों के प्रसन्न हृदय से निकले उद्‌गार थे—''बहनजी! आपका यह स्थान तो सिद्धपीठ है।''** ''यहाँ की विचारगोष्ठियाँ सच ही उपनिष्कालीन 'गोष्ठी' का आभास कराती हैं।'' ''यह विभाग का देखने में छोटा-सा स्थान, यहाँ का चप्पा-चप्पा इतने प्रकार के कार्यों से हर समय गूँजता रहता है कि पूरे विश्वविद्यालय का एकत्र लघु संस्करण या हृदय जैसा दिखता है।''

इटली की भाषाविज्ञानविद् संस्कृतविदुषी डॉ० प्रो०अन्ना रेडिकी ने बहिनजी के पास अपने ''मालविकाग्निमित्रम्'' पर शोध-प्रबन्ध के लिए मार्गदर्शन लिया, तो बेल्ज़ियम से आये शिल्पी ''हेनरी'' दक्षिण से ''विरूपाक्षकारिका'' ले आये, वे उसी का अध्ययन एवं दर्शनविभाग से सम्बद्ध होकर उसी पर शोध करना चाहते थे जिन्हें बहिनजी के ही पास भेज

दिया गया, पूरे तीन वर्ष अध्ययन किया, मार्गदर्शन पाया; फ्रांस की डॉ० फ्रांस्वाज देल्वा 'नलिनी' ध्रुपद के साहित्य-परक शोध के लिये बहनजी से जुड़ी, तो अमेरिका के डॉ० पॉवर्स संगीतशास्त्र के ही गहन अध्ययन तथा कर्णाटक एवं उत्तर भारत की सङ्गीतपद्धतियों के सम्बन्ध-विषयक जिज्ञासाओं द्वारा घनिष्ठ अध्येता हुए, नाट्य सम्बन्धी शोध-निमित्त से डॉ० ब्रिस्की जुड़े और संगीतशास्त्र-विषयक अध्ययन के लिए डॉ० लुइज़ रॉवल, डॉ० रिचर्ड विडेस, डॉ० बेत्तीना बाउमेर आदि अनेक विद्वान् व्यक्ति जुडते रहे। पाश्चात्त्य सङ्गीत की सुख्यात शेलो-वादिका नैन्सी आईं तो बहनजी ने उनकी प्रतिभा तथा वाद्य की गरिमा को पहचान कर ध्रुपद-शैली अपनाने को प्रेरित किया, डॉ० ऋत्विक् सान्याल के पास भेजा क्रमशः उनके गुरु उस्ताद मोहिउद्दीन डागर से शिक्षण पाने के लिये भेजा। नैन्सी को वह निर्देशन इतना भाया कि उनके कला जीवन की दिशा ही बदल गयी। इसके लिए वह बहिनजी के प्रति हमेशा हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करती रही, स्वयं अवसर माँग कर घर (आम्नाय) आ कर बहिनजी को अपना शेलोवादन सुनाया।

डॉ० एलिन माइनर सितार की विद्यार्थिनी होकर भारत आई थीं, भारत में—का०हि०वि० में स्थिर होने के लिए बहनजी के सङ्गीत-रसास्वादन पाठ्यक्रम से जुड़ीं। फिर तो शास्त्र की लगन लगी और बहनजी के ही निर्देशन में बहुत विशिष्ट शोधप्रबन्ध प्रस्तुत किया।

ये कुछ उदाहरण मात्र हैं। भारतवर्ष के प्रायः सभी विश्वविद्यालयों एवं सङ्गीत-प्रतिष्ठानों का० हि०वि० के सङ्गीतशास्त्रविभाग में के ही (पू०बहिन जी द्वारा गढ़े गये) विद्वान-विदुषी व्यक्ति कुलपति-संकायप्रमुख-विभागाध्यक्ष-प्राचार्य-उपाचार्य, स्वतन्त्र प्रतिष्ठान-सञ्चालक, शोधाधारित कार्यशालाओं या कलाकार-संयोजनों के परिचालक आदि—विभिन्न स्तरों पर अध्यापन-शोधनिर्देशन-प्रशासनिक आदि कार्यभार सुचारु रूप से संभाल रहे हैं, उनका कोई भी विद्यार्थी विपन्न (कार्याभाव से ग्रस्त) नहीं रहा।

बीसवीं सदी में जहाँ परमगुरुदेव पं० विष्णुदिगम्बर पलुस्कर एवं पं० भातखण्डे जी की शिष्य-परम्परा ने लक्ष्य-सङ्गीत के घराने समृद्ध किये वहाँ हमारी पूज्या प्रेमलता शर्मा बहनजी ने गत अनेक सदियों से धुँधले पड़ चुके हुए वास्तविक लक्षण-सङ्गीत को पुनरुज्जीवित करके इसके एकमात्र विश्वव्यापी सुप्रतिष्ठित घराने का सर्जन किया। १९९४ में बहनजी के निर्देशकत्व में सङ्गीतनाटक अकादमी द्वारा समायोजित अन्तर्राष्ट्रीय-शार्ङ्गदेव समारोह तथा विचारगोष्ठी की पूर्णाहुति में डॉ० मुकुन्द लाठ ने बहनजी के इस ''धराने'' का भलीभाँति उद्घोष किया भी था। पू० बहनजी जैसे सर्वाङ्गसम्पूर्ण व्यक्तित्व-शाली किसी भी शिक्षक का यह चरम लक्ष्य होता है कि उनका शिष्य-सम्प्रदाय ज्ञान में धनी हो, प्रयोग में निपुण हो, आचरण में गुणी हो। इसके लिए बहनजी जी-जान से आजीवन जुटी रहीं। अपने स्वास्थ्य की भी अवहेलना करते हुए **वे ज्ञान एवं कला (शास्त्र तथा प्रयोग) दोनो दिशाओं में आत्मदान में सतत सन्नद्ध रहीं। उनका वह विपुल, सर्वथा निःस्वार्थ आत्मदान उन असंख्य कलाकारों तथा जिज्ञासुओं के लिए तो सदा स्मरणीय अमूल्य निधि है ही जिन्होंने उनसे प्रत्यक्ष-परोक्ष किसी भी रूप में स्नेह सम्पर्क पाया, साथ ही भावी सङ्गीतजगत् के लिये भी वैसी ही अमूल्य थाती (विरासत) है।** उन परमपूज्या बहनजी के चरणों में शत-शत वन्दन समर्पित हैं जो हमारे हृदयों में सदा सजीव रहेंगी।

यह लेख पूरा करते समय मैं सङ्गीतशास्त्रविभाग तथा गायन-वादन विभागों के भी उन साथियों तथा मेरे गुरुजनों का भी स्मरण करती हूँ जिन्होंने पू० बहिनजी से अध्ययन किया एवं मार्गदर्शन पाया।

एम० म्यूज़िकॉलोजी में—सुश्री सुभद्रा चौधरी, श्री एन् रामनाथन, श्री विजय कुमार जैन, सुश्री छायारानी बहल, श्री सुरेन्द्र त्रिपाठी, श्री आदिनाथ उपाध्याय, सुश्री उषा पाण्डे, सु० श्री० मंजीत कौर, श्रीमती प्रतिमा सिंह, श्री नीरजकुमार, श्री अनिल ब्यौहार, श्री रमाकान्त द्विवेदी, सुश्री पूनम पाण्डे, (मैं) लिपिका दासगुप्ता, श्री चलंसाक (थाईलेण्ड) एम० फिल् में—श्री विजय कुमार जैन, सुश्री पूनम पाण्डे, सुश्री मंजीत कौर, श्री चलंसाक इत्यादि।

इनका सिलसिलेवार क्रमिक उल्लेख सम्भव नहीं हो पाया है, किन्तु डी०म्यूज़ तथा पी०एच्०डी० की उपाधि के लिये स्वीकृत जो शोधप्रबन्ध पू० बहिनजी के निर्देशन में का० हि०वि० सङ्गीतसङ्काय से प्रस्तुत हुए उनका जितना विवरण प्राप्त हो सका वह प्रस्तुत है—

क्रम	वर्ष	शोधप्रबन्ध का विषय	शोधकर्ता का नाम
१	१९६४	नायक नायिका भेद और राग-रागिणी वर्गीकरण का तुलनात्मक अध्ययन —डी०म्यूज० शोध प्रबन्ध।	श्री प्रदीप कुमार दीक्षित
२	१९६४	रागकल्पद्रुम का विश्लेषणात्मक अध्ययन—डी म्यूज० शोध प्रबन्ध	श्री चितरंजन ज्योतिषी
३	१९६५	A Comparative Study of Musical Systems of Northern and Southern India	Mrs. N. Rajam
४	१९७२	भा०संगीत में ताल, छन्द और प्रबन्ध का ऐतिहासिक और विश्लेषणात्मक अध्ययन	सुश्री सुभद्रा चौधरी
५	१९७४	स्वर और रागों के विकास में वाद्यों का योगदान	सुश्री इंद्राणी चक्रवर्ती
६	१९७९	A Critical Study of Treatment of Geetak in Sangit Ratnakar of Sarangdev	Mr. N. Ramnathan
७	१९७९	भातखण्डे के उत्तर काल में (१९३५ से १९७०) संगीतशास्त्र में संपन्न अनुसंधान एवं अध्ययन का आलोचनात्मक विश्लेषण	श्री तेजसिंह टाक
८	१९८०	The Predicate 'Musical' a Philosophical Analysis	Mr. Ritwik Sanyal
९	१९८०	भा० संगीत शास्त्र पर विभिन्न दर्शनों का प्रभाव	श्रीमती विमला मुसलगांवकर
१०	१९८१	Hindustani Instrumental Music in Early Modern Period—A study of Sitar and Sarod in 18th & 19th Century	Ms. Allyn Jan Miner
११	१९८२	'संगीतपारिजात' का विवेचनात्मक अध्ययन	श्रीमती कमला देवी नौटियाल
१२	१९८२	उत्तरभारतीय शास्त्रीय गायन के ध्वन्यंकित रूप का समीक्षात्मक अध्ययन (१८८० से १९८० तक)	श्री रमाकांत द्विवेदी
१३	१९८५	मतंग कृत 'बृहद्देशी' का अध्ययन भाग-१, भाग-२	श्री अनिल बिहारी व्योहार
१४	१९८७	तबला एवं पखावज के लक्ष्य का संगीत-शास्त्रोक्त लक्षण से सम्बन्ध	श्री नीरज कुमार
१५	१९९२	A Study of the Tuning System of Sitar and Tanpura from the Point of view of Accoustics and Aesthetics	Mr. Sudhakar Bhat
१६	१९९९	Musical Tradition of Vaishnav Temples in Braj	Miss Selina Thielmann

इनके अतिरिक्त भी अनेकों देशी-विदेशी शोधकर्ताओं ने प्रो० प्रेमलता जी से विविध प्रकार से मार्गदर्शन प्राप्त किया, उनके समीप शास्त्रग्रन्थों का अध्ययन किया। उनमें से कुछ का उल्लेख ऊपर लेख में आया है। यह क्रम १९९८ तक चलता रहा।

★★★

.२०.

छन्दस्, अनुप्रास और यमक के द्वारा ध्वनि-सौन्दर्य का प्रस्फुटन*

[काव्यगत छन्दोविधान में यति आदि विराम-विन्यास के माध्यम से ध्वनि के कालगत आयाम का प्रकटीकरण, तज्जनित भावाभिव्यक्ति तथा अनुप्रास, यमक जैसे शब्दालङ्कारों द्वारा ध्वनि के सौन्दर्य की सविशेष प्रतिपत्ति]

—डॉ० ऊर्मिला शर्मा

ध्वनिर्वर्णाः पदं वाक्यम् इत्येतद् वाङ्मयं मतम्।

श्रव्य ध्वनि की ये उत्तरोत्तर बड़ी होती इकाइयाँ मिलकर जिस समन्वित रूप की सृष्टि करती हैं, वह वाङ्मय है—अग्निपुराण (337/1) में यह सूत्रात्मक लक्षण है। हम यहाँ श्रव्य ध्वनि के ही विविध पक्षों पर चिन्तन कर रहे हैं, उन्हीं में से, छन्दस्, अनुप्रास एवं यमक के द्वारा प्रकट होने वाले ध्वनि-सौन्दर्य-पक्ष पर यह निबन्ध केन्द्रित है। वस्तुतः स्वतन्त्र दो प्रपत्रों के विषय यहाँ परिस्थितिवश एक में सम्पुटित किये गये हैं। सहज संयोग है कि दोनों परस्पर घनिष्ठ सम्बद्ध भी हैं। निश्चय ही छन्दस् का सम्बन्ध ध्वनि के कालगत आयाम से अधिक है और अनुप्रास-यमक अक्षर-पदगत श्रुतिमाधुर्य के साथ-साथ अर्थ-विन्यास की वैचित्री के उद्भावक है, किन्तु समन्वित रूप में दोनों परस्पर पूरक होते हुए ध्वनि-रमणीयता के सुव्यञ्जक हैं और पानक-रस-न्याय से कुछ अप्रतिम ही रसास्वाद जगाते हैं। अर्थात् विविध फलों के सम्मिलित रसों में जब घुटे हुए बादाम-पिस्ते तथा मिश्री के साथ-साथ कुछ लवण तथा कालीमिर्च, पिप्पली, अदरख, सौंफ-जायफल-इलायची-केशर आदि समुचित प्रमाण में घोल दिये जाते हैं, तब उस पेय का स्वाद जैसे उन सब घटकों के पृथक-पृथक स्वादों से कुछ विलक्षण अनिर्वचनीय सा होता है; कुछ वैसा ही रस निपजता है जब प्रसङ्ग एवं भाव के अनुरूप छन्दःचयन के साथ तदनुकूल ही अक्षरों की किसी न किसी प्रकार से अर्थ-समन्वित योजना सुनाई देती है; फिर उसमें भावानुसारी हृदयावर्जक सङ्गीत भी जुड़ जाय तो काव्यरस का 'ब्रह्मानन्दसहोदर' कहलाना वस्तुतः सार्थक होता है।

पहले हम 'छन्दस्' शब्द को लें। पाणिनीय धातुपाठ में भ्वादिगण की 'छदि रूर्जने' (जिसमें 'रू' तथा 'ऊर्ज्' दोनों समाहित हैं) तथा चुरादि गण की 'छद' एवं 'छदि' संवरणे तथा 'छद अपवारणे' ऐसे कुल पाँच प्रकार से कही गई, सर्वत्र उभयपदी धातु से 'असुन्' प्रत्यय लग कर बना छन्दस् शब्द, उक्त मूल अर्थों से संकेतित प्रायः चालीस अर्थों में विविध रीतियों से प्रयुक्त हुआ। कहीं-कहीं भ्वादिगण की परस्मैपद 'चदि आह्लादने, दीप्तौ च'—इस धातु को भी 'छन्दस्' का निष्पादक माना गया है। सब मिलाकर प्रमुख रूप से वेद एवं वृत अर्थ में प्रचलित हुआ, जिनके अन्तर्गत अर्थ की ये छटायें समायी हैं—सामर्थ्य, इच्छा, रहस्य-निवेदन, ज्ञान या समझ, एकान्त, सम्पूर्णता, सहित होना, सहनशीलता, सङ्कोचन, नियमन, नियन्त्रण, बाँध, सेतु, सुरक्षा,

---

* श्र० 'बहन जी' द्वारा परिकल्पित एवं नियोजित 'ध्वनि'-विचारगोष्ठी (अखिल भारतीय, कुछ अंशों में अन्तर्राष्ट्रीय भी) अन्ततः उनकी स्मृति में समर्पित रूप में मार्च १९९९ में समायोजित हुई थी, उसी में स्वयं बहिन जी द्वारा कहे जाने वाले विषय के एक अंश पर उनकी इस अनुजा द्वारा प्रस्तुत निबन्ध निवेदित हुआ। —ऊर्मिला

समेटना, आवरण, आच्छादन, अनेकों पर एक की व्याप्ति, गोपन, अव्यक्त तथा व्यक्ति ध्वनि अर्थात् शब्द के विविध रूप, गति, विभाग, खण्डित करना, अखण्ड रहना, आह्लादन, चमत्कृति, जीवन, श्रेष्ठता, भाव्यता, सौन्दर्य इत्यादि।

श्रुति या वेद का पर्यायभूत 'छन्दस्' पुनः छह वेदाङ्गों में भी विशेष महत्त्वशाली होकर वेद-पुरुष का चरण कहलाया—

''छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ कथ्यते।
ज्योतिषामायनं नेत्रं निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।
शिक्षा घ्राणन्तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्''—पा०शि०।

स्वयम्भू ज्ञान में अभिन्न रूप से निहित इच्छा का अनायास प्रवहमान होना-रूप जो छन्दस्वती सरस्वती श्रुति अपने द्रष्टा ऋषियों के माध्यम से मुखर हुई—यह सहज क्रिया या 'नितरां गतिः' 'निगम' बनी तो उसका प्रथम प्राकट्य बाह्य दृष्टि से 'दीर्घतमा' किन्तु अन्तरालोक से 'परा' को 'पश्यन्त्री' रूप में देखते हुए 'मध्यमा' पथ से 'वैखरी' में मुखरित करने वाले ऋषि (मन्त्रद्रष्टा) के मुख से गायत्री छन्दः में अवतरित हुआ—

''अग्निमीळे पुरोहितम्। यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥''

ऋ० १/१/१

यह प्रथमा ऋक् अर्थात् सत्य तत्त्व का स्तुतिमय, चमत्कारमय, हिरण्मय वेश (आवरण) विशिष्ट गतिमद आकृति में प्रकट हुआ; वह 'गायतं त्रायते'—गायत्री छन्दः स्वरूपतः गेय था, अतः 'साम' भी बना। सम्भवतः इसीलिये बाद में समझा गया—

''गायत्रीच्छन्दसां माता''

यह आठ-आठ वर्णों का त्रिक अर्थात् 24 अक्षरों की एक इकाई बाद में वेदाङ्गरूप छन्दः शास्त्र में तथा लौकिक पिङ्गलशास्त्र (पिङ्गलमुनि द्वारा प्रथम प्रणीत) में प्रसिद्ध छन्दोजातियों में एक प्रकार से प्रथम हुई, जब 'चरण' या 'पाद' सम्पूर्ण छन्दः के चतुर्थांश का वाचक हुआ। इसी से 'छन्दः' का अर्थ हुआ—

''नियमितवर्णमात्रानिबद्ध-चतुष्पादादि पद्यम्।
लौकिकवैदिकशब्दान् छन्दयति, नियमयति, प्रतिपादयति,
विरामादिव्यवस्थापको ग्रन्थः शास्त्रं वा।''

छन्दोजातियों में पहले एकाक्षर चरण से लेकर पाँच अक्षरों वाले चरणों तक की छन्दोजातियाँ, जो क्रमशः उक्ता, अत्युक्ता, मध्या, प्रतिष्ठा तथा सुप्रतिष्ठा नाम से गिनी गईं, वे, तथा गायत्री के अनेक भेद भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में 32वें ध्रुवाध्याय में, कुछ भिन्न-कुछ समान नामों से उल्लिखित एवं उदाहृत भी हुईं, जिन्हें (हम सब की) 'बहनजी' ने परखा, समझाया, एवं दो अक्षर से छह अक्षरों के चरण वाली कुछ ध्रुवाओं को यथासम्भव सस्वर रूप देकर गाया और गवाया भी। अभी पाँच वर्ष पहले एक प्रसङ्ग से श्रीमती मञ्जु सुन्दरम् जी से ऐसे कुछ पद्य-पाठ गवाये थे।—(कोष्ठक में भरतोक्त नाम अङ्कित हैं—)

देवम्, शर्वम्, ईशम्, वन्दे॥ (श्री)	—	(दो अक्षर का चरण)
शङ्करः, शूलभृत्, पातु माम्, लोककृत्॥ (धृति)	—	(तीन '' '' '')
उमेशः, सुरेन्द्रः, तवायुः, करोतु॥ (रजनी)	—	('' '' '' '')
शोषयन् सर्वाङ्गकानि, वाति वातः पुष्पवाही॥ (प्रतिष्ठा)	—	(चार '' '' '')
वनखण्डे ह्यतिमत्तो वनहस्ती परिखिन्नः॥ (भ्रमरी/मत्ताली)	—	('' '' '' '')
हिमाहते, वनान्तरे, ह्ययं गजः, प्रविष्टकः॥ (जया)	—	('' '' '' '')
ईदृशके ह्युत्सुकिता, प्रेक्षति मां हंसवधूः॥ (सुप्रतिष्ठा)	—	('' '' '' '')
मेघनिरुद्धम्, प्रेक्ष्य हि चन्द्रम्, शोचति तारा, ह्यश्रुनिमग्ना॥ (भूतलतन्वी)	—	(पाँच अक्षर का चरण)

गायत्री भेद

वज्राहतकूटो धातुस्त्रवधारः,	—	(छह अक्षर का चरण)
रम्यो गिरिराजो भूमिं पततीव॥ (तनुमध्या)	—	('' '' '' '')
इह शिशिरे ऽस्मिन् मदजननेऽपि, प्रमदवने हिं विलसति वातः॥ (मकरकशीर्षा)	—	('' '' '' '')
गर्जन्तो जलदाः, नृत्यन्तः शिखिनः, गायन्तो भ्रमराः, रम्ये प्रावृषि भो॥ (विधिका)	—	('' '' '' '')
पवनेन हताः, तरुणास्तरवः, कुसुमागमने, विकसन्ति मुदा॥ (नलिनी)	—	('' '' '' '')

गायत्री वेद में त्रिपदा है, अतः ८ वर्णों वाले तीन पाद मिलकर कुल २४ अक्षर होते हैं, इसके पश्चात् वेद में भी सब छन्द चतुष्पात् (चार चरणों वाले) हैं, एवं क्रमशः कुल ४-४ अक्षर बढ़ते हुए, उष्णिक्, अनुष्टुभ्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुभ्, जगती, अतिजगती, शक्वरी, अतिशक्वरी, अष्टि, अत्यष्टि पर्यन्त छन्दों की सम्पूर्ण अक्षर-संख्या 68 तक पहुँचती है। विद्वज्जनों को सुविदित ही है कि छन्दः सन्दर्भ में अक्षर या वर्ण का अर्थ व्याकरण-वाला नहीं, स्वरयुक्त अक्षर होता है। अर्थात् 'राम' शब्द में जैसे व्याकरण के चार अक्षर (र् आ म् अ) है, वहाँ छन्द या वृत्त के अनुसार एक गुरु एक लघु—कुल दो ही अक्षर गिने जाते हैं। और भी, वृत्त में लघु-गुरु और मात्रा की गणना किसी अक्षर के बाद आने वाले अक्षर की अपेक्षा से होती है। इसीलिये ह्रस्व-मात्र लघु नहीं होता, यदि उसके पश्चात् विसर्ग, अनुस्वार या संयुक्ताक्षर हो तो ह्रस्व भी गुरु होता है; चरण का अन्तिम लघु भी वृत्त की अपेक्षा हो तो गुरु माना जाता है।

लौकिक छन्दोगणना पूर्वोक्त 'उक्ता' (कुल चार अक्षर) से लेकर अत्यष्टि के ६८ अक्षरों के पश्चात् भी उसी क्रम से कुल चार-चार अक्षर बढ़ाते हुए धृति, अतिधृति, कृति, प्रकृति, आकृति, विकृति, सङ्कृति, अतिकृति और उत्कृति—इन नामों से कुल १६४ अक्षरों तक की गई है। ये सभी नाम छन्दोजातियों के हैं। अर्थात् प्रत्येक चरण की अक्षरसंख्या के अनुसार छन्द की जाति देखी जाती है, फिर प्रत्येक जाति में सम्भावित वृत्तों की कुल संख्या—सुप्रतिष्ठा (पाँच अक्षर का चरण) में ३२ जातिभेद से लेकर उत्कृतिजाति के भेद ६ कोटि ७१ लक्ष ०८ सहस्र ८६४ गिने गये हैं। तदनुसार व्यक्तिछन्दोनाम तो 'हरि अनन्त हरिकथा अनन्ता' का ही स्मरण कराते हैं।

उनमें फिर भाव-रसानुकूल अक्षरयोजना में गौडी, वैदर्भी, लाटी और पाञ्चाली रीतियों, कैशिकी-सात्त्वती-भारती-आरभटी नाट्यवृतियों के अनुसार विविध अनुप्रास-यमकादि शब्दालङ्कारों, वाक्यार्थ में विशेष आधान करने वाली अभिधा-लक्षणा-व्यञ्जनात्मक शब्दार्थ-वृत्तियों तथा १२५ अर्थालङ्कारों की झङ्कार से जो 'शब्दार्थाविव सम्पृक्त' 'जल-तरङ्गवत्' 'कहियत भिन्न न भिन्न' तत्त्व की सौन्दर्य-समृद्धि होती है, वह अवर्णनीय है।

कहना न होगा कि **भाषा का यह अमेय वैभव संस्कृत एवं तन्निष्ठ प्राकृतों (भारतीय भाषाओं) में ही सम्भव हुआ तथा आज तक विद्यमान रहा है। विश्व की अन्य किसी भी काल की किसी भी भाषा में ऐसी क्षमता कभी रही नहीं, न आज है।** सम्भवतः इसीलिये यहाँ वाणी का पर्याय हुआ 'भारती'। यह सत्य तथ्य रहते भी, आधुनिक तथाकथित भाषाविज्ञान के भाषावंशवृक्ष में संस्कृत की गणना किसी कल्पित मूलभाषा की अनेक शाखाओं में से एक की प्रशाखा के रूप में है, वह भी 'मृतभाषा' कह कर, और 'मृत' होने का दोष मढ़ा गया उन पाणिनि (व तुल्य वैयाकरणों) पर जिन, की अप्रतिम प्रातिभ-विज्ञानमयी दृष्टि ने 'संस्कृत' की संस्कृति के प्राण सदा के लिये बचाकर उसे 'अमरवाणी' बनाया। उसी के फलस्वरूप अनादि काल से आज तक यह अमृतवल्ली हरी-भरी बनी हुई है। **इसको 'मृत' मानने वालों की क्षमता पर हम हँसें या रोयें, पर इस वि-ज्ञान की वैज्ञानिकता पर प्रश्नचिह्न तो लगता ही है।** अस्तु।

छन्द पुनः मात्रिक और वार्णिक भेद से द्विविध, वे दोनों भी सम, अर्धसम, विषम—ऐसे त्रिविध हैं। इन में से सम फिर साधारण और दण्डक-भेद से द्विविध हैं। मात्रिक छन्द 'जाति' नाम से ख्यात हुए एवं वार्णिक 'वृत्त' कहलाये, जिनमें वर्णों का लघु-गुरु-क्रम नियत है। छन्द के मध्य के विराम यतिस्थान मात्रिक एवं वार्णिक दोनों में नियत हैं, और वृत्तों की तत्काल पहचान करा देते हैं। इन यतिस्थानों एवं लघु-गुरु-उच्चारण में लेशमात्र भी व्यतिक्रम असह्य हो उठता है। इसीलिये कहा गया—''अपि

माषं मषं कुर्यात्, छन्दोभङ्गं न कारयेत्।''

इसीलिये सङ्गीत में भी वाग्गेयकार के लिये छन्दोज्ञान अनिवार्य माना गया और उसके लिये अक्षर-पद-वाक्यमय भाषा का सुपरिनिष्ठित ज्ञान अपेक्षित है ही। अन्यथा वह रसानुरूप पाठ्य-गेय-तालादि की योजना नहीं कर सकेगा। सभी क्षेत्रों में 'योजकस्तत्र दुर्लभः' सार्थक है। वह दुर्लभ क्षमता अपनी 'बहिनजी' में भरपूर थी।

मात्रिक छन्दों का अधिक विस्तार प्राकृतों के अर्वाचीन रूपों—प्रान्तीय भाषाओं में हुआ। इनमें वार्णिक वृत्त भी बनते रहे, किन्तु मात्रिक का उपयोग अधिक हुआ, कुछ नये प्रकार भी बने। नाट्यशास्त्र में भी ध्रुवा एवं 'गीत' के लिये माधुर्य-विशेष की व्यञ्जकता के कारण प्राकृत को वरीयता दी गई।

भारतीय सङ्गीतशास्त्र के मूल स्रोतों को आधार बना कर अध्ययन-अनुसन्धान की जो सरणी श्रद्धेया 'बहनजी' (प्रो० प्रेमलता शर्मा) द्वारा काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय के संगीतशास्त्र-विभाग में प्रवर्तित हुई थी, उसके प्रथम फल के रूप में १९७२-७३ में पी एच् डी के लिये स्वीकृत डॉ० सुभद्रा चौधरी का शोधप्रबन्ध 'भारतीय सङ्गीत में ताल, छन्द और प्रबन्ध का ऐतिहासिक, विश्लेषणात्मक अध्ययन' क्रमशः और भी परिमार्जित हो कर 'भा०सं० में ताल और रूप-विधान : लक्ष्य-लक्षण मूलक अध्ययन' —इस शीर्षक से १९८४ में प्रकाशित हुआ, जिसमें मर्म-निवेदनी भूमिका स्वयं बहनजी की है। इस क्षेत्र का यह अप्रतिम ग्रन्थ सिद्ध हुआ। वस्तुतः यहाँ छन्दोविषयक स्वतन्त्र प्रस्तुति डॉ० सुभद्रा जी द्वारा ही संकल्पित थी, जिसमें विराम द्वारा ध्वनि के कालगत आयाम का प्रस्फुटन विवेचन हमारे सङ्गीत के तालवैभव के सन्दर्भ सहित विस्तार से हो पाता; अब इस प्रसङ्ग में उक्त ग्रन्थ से सहाय लेकर संक्षेप में कुछ कहने का प्रयास होगा।

भरतमुनि के अनुसार छन्दोविधान में—सम्पद्, विराम, पाद, देवता, स्थान, अक्षर, वर्ण, स्वर, विधि, एवं वृत्त—इतने पक्ष हैं—

> **''सम्पद्विरामपादश्च देवतास्थानमक्षरम्।**
> **वर्णः स्वरा विधिर्वृत्तमितिच्छन्दोगतो विधिः॥** (ना०शा०१४/१०२)''

इनमें—छन्दः में अपेक्षित अक्षरसंख्या में न्यूनाधिक्य किये बिना काव्य सम्पन्न होना सम्पद् है (वहीं १०३)। जहाँ अर्थ की समाप्ति हो वह विराम है। जो प्रायः द्वितीय एवं चतुर्थ चरण पर होता है, युग्मक आदि हों तो वाक्यार्थ की व्याप्ति एक से अधिक पद्यों में रहती है, प्रत्येक चरण में छन्दः प्रकृति के अनुसार जहाँ नियत पद-विच्छेद या उच्चारण में क्षणिक प्राणविच्छेद यानी सांस तोड़ना होता है, वह चरण की मध्यस्थ विश्रान्ति यति कहलाती है। प्रत्येक यति पर पद भी पूरा होता हो तो उत्तम है, यथा २१ अक्षर प्रतिचरण वाले स्रग्धरावृत में प्रत्येक सातवें वर्ण पर यति है—

> **ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः,**
> **पश्चार्द्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद भूयसा पूर्वकायम्।**
> **दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिःकीर्णवर्त्मा**
> **पश्योदग्रप्लुतत्वाद् वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति॥** (अभि०शा०१/७)

यहाँ प्रथम/द्वितीय एवं चतुर्थ चरणों में सब यतियाँ उत्तम हैं, केवल तृतीय चरण में द्वितीय यति समास के मध्य में आ रही है, अतः मध्यकोटि की है।

मन्दाक्रन्ता में ४, ६, ७ पर यति के उत्तम उदाहरणों में से एक है—

> **बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारम्,**
> **बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीञ्च मालाम्।**
> **रन्ध्रान् वेणोरधरसुधयाऽऽपूरयन् गोपवृन्दैर्**
> **वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्त्तिः॥** (श्रीमद् भा० १०/२१/५)

तथा

जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानाम्,
जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः।
तेनार्थित्वं त्वयि विधिवशाद् दूरबन्धुर्गतोऽहम्,
याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा॥ (मेघ० १/६)

पाठ्य में विराम एवं उसी के प्रसारभेद यति, विच्छेद आदि अतीव महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि ये अर्थ के भी अनुदर्शक होते हैं। जैसे—'रुक, मत जा' 'रुक मत, जा'। यदि छन्दोंबोध एवं अर्थबोध चित्त में न हो तो बहुधा उचित स्थान पर विच्छेद का उच्चार न होने से विपरीत अर्थ या अनर्थ तथा वृथा की भ्रान्ति हो जाती है जैसे—'रु कम तजा' या 'असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे' ऐसे मालिनी छन्द को कोई पढ़े 'असि तगि रिसमं स्यात्कज् जलं सिन्धुपात्रे' ....। तो क्या होगा?

वृत्तों की यति, विच्छेद आदि का अर्थबोध में तो महत्त्व है ही, सङ्गीत की दृष्टि से ताल-चयन में भी उतना ही महत्त्व है, क्योंकि अक्षरों या वर्णों के लघु-गुरु क्रम तथा विश्रान्तिस्थानों से मात्राखण्डों का सीधा सम्बन्ध है, जैसे—प्रमाणिका (ज र ल ग = ।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ) में एक लघु एक गुरु ऐसे का चार बार आवर्तन है, अर्थात् तीन मात्रा वाले चार खण्ड हैं, और मध्य लय इष्ट है—

''भजे व्रजैकमण्डनं समस्तपापखण्डनम्।
स्वभक्तचित्तरञ्जनं सदैव नन्दनन्दनम्॥''

इसी का दुगना पञ्चचामर (ज र ज र ल ग = ।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ) है, लघु-गुरु क्रम वही है, किन्तु द्रुत लय अपेक्षित है—

''सबिन्दुसिन्धुसुस्खलत्तरङ्गभङ्गरञ्जितम्,
द्विषत्सु पापजातजातकारिवारिसंयुतम्।
कृतान्तदूतकालभूतभीतिहारिवर्मदे
त्वदीयपादपङ्कजं नमामि देवि नर्मदे॥''

ऐसे ही प्रारम्भ में—'कहो! कहाँ ते' के भाव एवं 'अनुमानि' की स्वाभाविकता विराम तथा विलम्ब के द्वारा कैसे सुव्यक्त हुए है—इसके विपरीत, अपेक्षित स्थान पर समुचित मात्रा में विराम अभिमत भाव की अभिव्यक्ति में कैसा सहायक एवं भाव पोषक होता है। इसका उदाहरण पू० बहनजी के द्वारा दिये संगीत से युक्त भ्रमरगीत के ये स्थान देखें—'ताः किं निशाः' में 'ताः' पर रुकना कालगत दूरी और उन रास-मय शरद् रात्रियों की मधुर स्मृति को कैसा व्यक्त करता है।

इसी वृत्त में प्रतिपाद्य के अनुरोध से और भी द्रुततर लय तथा स्वर में सबलता अपेक्षित है— शिवताण्डव में—

''जटाकटाहसंभ्रमभ्रमन्निलिम्पनिर्झरीविलोलवीचिवल्लरीविराजमानमूर्धनि।''
धगद्धगद्धगज्ज्वलल्ललाटपट्टपावके किशोरचन्द्रशेखरे रतिः प्रतिक्षणं मम।

इसी में गुरु-लघु क्रम होकर समानिका (ऽ।ऽ।ऽ।ऽ।) और उसकी दुगुनी चञ्चला (ऽ।ऽ, ।ऽ।, ऽ।ऽ, ।ऽ।, ऽ।ऽ, ।) हैं।

चार मात्रा वाले खण्ड बनते हैं तोटक (।।ऽ, ।।ऽ, ।।ऽ, ।।ऽ)—''**अधरं मधुरं नयनं मधुरं** (मधुराष्टक) में

और इसकी विपरीत गति तथा द्विगुण वर्ण वाले मत्तगयन्द छन्द में (७ भगण + ऽऽ)

ऽ।।, ऽ।।, ऽ।।, ऽ।।, ऽ।।, ऽ।।, ऽ।।, ऽऽ
या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहू पुर को तजि डारौं।
आठहुँ सिद्धि नवौ निधि को सुख नन्द की गाय चराय बिसारौं।

नैनन ते रसखान इहै ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिक हूँ कलधौंत के धाम करील की कुंजन ऊपर वारौं॥''

पाँच मात्राओं वाले खण्ड बनते हैं सारङ्ग (४ तगण = ऽऽ।, ऽऽ।, ऽऽ।, ऽऽ।) (दो गुरु एक लघु क्रम चार बार) में, उससे दुगुने मन्दारमाला में, और चार यगण वाले (।ऽऽ, ।ऽऽ, ।ऽऽ, ।ऽऽ) भुजङ्गप्रयात में, जो बहुत प्रचलित वृत्त है,

यथा—
''नमामीश्वरं सच्चिदानन्दरूपं लसत्कुण्डलं गोकुले भ्राजमानम्।
यशोदाभियोलूखलाद् धावमानं परामृष्टमत्यन्ततो द्रुत्य गोप्या॥'' (सत्यव्रतकृत दामोदरस्तोत्र)

ऐसे ही चार रगण वाला स्रग्विणी वृत्त भी पञ्चमात्रिक है, तथा प्रसिद्ध है—

''अङ्गनामङ्गनामन्तरे माधवो माधवंमाधवं चान्तरेणाङ्गना।
इत्थमाकल्पिते मण्डले मध्यगो वेणुना सञ्जगौ देवकीनन्दनः॥''

ऐसे वर्णवृत्तों में लघु-गुरु क्रम अपरिवर्तनीय होता है, और मात्रिक वृत्तों में हर इकाई स्वतन्त्र नहीं, मात्रासंख्या नियत होती है, लघु-गुरु क्रम में परिवर्तन हो सकता है। वर्तमान तालपद्धति में ताल की कुल मात्राओं और मात्रागणों का नियम रहता है, जैसे मात्रिक छन्दों में मात्रासंख्या और मात्रिक गणों का नियम रहता है। अवान्तर खण्डों में मात्रा-संख्या-भेद से मात्रिक छन्दों एवं तालों के नाम भिन्न हो जाते हैं; जैसे झपताल और सूलताल में १०-१० ही मात्रा हैं किन्तु विभाग क्रमशः २/३, २/३ एवं २/२/२/२/२ हैं। ऐसे ही १४ मात्रा के आड़ा चौताल और झूमरा में विभाग क्रमशः २-२ के सात एवं ३-४-३-४ के हैं।

अब हम शब्दालङ्कारो द्वारा ध्वनि-सौन्दर्य की समृद्धि का कुछ आस्वादन करें। छन्दों में जैसे काल-मान के विविध प्रकार के आवर्तनों से श्रुति-माधुरी का शृङ्गार होता है, उसी प्रकार भावानुकूल अक्षरों, अक्षरसमूहों, व्यञ्जनों की विविध, पुनरावृत्तियों से श्रव्य-ध्वनि प्रसाधित होती है। अनुप्रास और यमक द्वारा ध्वनि-शृङ्गार के उत्तम उदाहरण कल हमने स्वयं बहनजी के कण्ठ में गङ्गालहरी-पाठ में सुने, फिर भी पृथक्-पृथक् कुछ उदाहरण देखे—' व्यञ्जनों की समता-सदृशता ही वर्णसाम्यरूप अनुप्रास कहलाती है। वह पाँच प्रकार का है—जहाँ अनेक व्यञ्जनों की एक बार पुनरावृति हो, जैसे—

१-छेकानुप्रास।

सरग न चाहैं, अपवरग न चाहैं, सुनौ,
भुक्ति-मुक्ति दोउ सों विरक्ति उर आनैं हम।
कहै रतनाकर तिहारे जोग-रोग माँहि
तन-मन-साँसनि की साँसति प्रभानैं हम।
एक व्रजचन्द कृपा मन्द-मुसकानि ही मैं
लोक-परलोक कौ अनन्द जिय जानैं हम।
जाके या वियोग-दुख हू मैं सुख ऐसो कछु
जाहि पाइ ब्रह्म-सुख हू मैं दुख मानैं हम॥ (उ०श०४९)

२. (दूसरा है)—वृत्त्यनुप्रास—जहाँ एक या अनेक व्यञ्जन अनेक बार दोहराये जायें, यथा—पू० बहनजी की प्रिय एक पंक्ति—

''चंचल चपल ललचौहैं दृग मूँद तौ लौं, जौ लौं गिरिधारी गिरि नख पै धरे है री।''

तथा— **जोगिनि की भोगिनि की बिकल वियोगिनी की**
जग मैं न जागती जमातैं रहि जाइँगी।
कहै रतनाकर न सुख के रहे जौ दिन
तौ ये दुख-द्वन्द्व की न रातैं रहि जाइँगी।
प्रेम-नेम छाँड़ि ज्ञान-छेम जो बतावत सो
भीतैं हि नहीं तो कहा छातैं रहि जाइँगी?
घातैं रहि जाइँगी न कान्ह की कृपा तैं इती
ऊधौ कहिबै को बस बातैं रहि जाइँगी॥ (उ०श० ५४)

कोमला वृत्ति-अनुप्रास का एक प्रसिद्ध उदाहरण है—

अपसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किं कमलैः।
अलमलमालि मृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला॥ (का०प्र०९/३५६)

३-**लाटानुप्रास**—शब्द तथा अर्थ समान रहने पर भी अभिप्राय व अन्वय के भेद से शब्दों का पुनरावर्तन (लाट-देशवासियों को विशेष प्रिय होने के कारण) लाटानुप्रास या पदानुप्रास कहलाता है। यथा—वाल्मीकिरामायण-सुन्दरकाव्य में—

निवेशनानां विविधाश्च शालाः प्रधानशङ्खायुधचापशालाः।
मनोहराश्चापि पुनर्विशाला ददर्श वेश्माद्रिषु चन्द्रशालाः॥२॥

गृहाणि नानावसुराजितानि देवासुरैश्चापि सुपूजितानि।
सर्वैश्च दोषैः परिवर्जितानि कपिर्ददर्श स्वबलार्जितानि॥३॥

ततो ददर्शोच्छ्रितमेघरूपं मनोहरं काञ्चनचारुरूपम्।
रक्षोधिपस्यात्मबलानुरूपं गृहोत्तमं चित्रप्रतिरूपरूपम्॥५॥

४-**स्फुटानुप्रास**—पद्य के आधे में या उससे भी आधे में नियतरूप से वर्णों की आवृत्ति हो तो स्फुटानुप्रास कहलाता है। इसे सम्भवतः उन स्तोत्रों या अष्टकों में देखा जा सकता है जिनमें एक या आधा चरण दोहराया जाता है, जैसे शङ्कराचार्य कृत गोविन्दाष्टक में '**प्रणमत गोविन्दं परमानन्दम्**', ब्रह्मसंहिता के गोविन्दस्तोत्र में २७ पद्यों में '**गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि**'।

५-**अर्थानुप्रास**—उपमेय-उपमान आदि में वर्णों एवं अर्थों में भी साम्य होने पर होता है, जैसे—

''**चन्दनं खलु गोविन्दचरणद्वन्द्ववन्दनम्।**'' (कुव० ५/६)

भिन्न अर्थ वाले उन्हीं वर्णों का पुनरावर्तन यमक अलङ्कार कहलाता है। यह आवृतियों के प्रकार-भेद से अनेकों प्रकार का देखा गया है। सभी यमक अभङ्ग और सभङ्ग भेद से द्विविध होते हैं। इनमें एक तो प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ पादों का पूरा या आधा क्रमशः अन्य-अन्य पादों में (अर्थ-भेद से-) दोहराया जाना बीस से भी अधिक भेदों की सृष्टि करता है। यह पादाभ्यास यमक है।

माघ के शिशुपालवध (१९/६०) से एक उदाहरण—

आपदि व्यापृतनयास्तथा युयुधिरे नृपाः।
आप दिव्या पृतनया विस्मयं जनता यथा॥

[अर्थात् शूरवीर राजा-गण आपत्काल में भी (आर्त, युद्ध से भागते हुए, शरणागत शत्रु को नहीं मारना चाहिये आदि युद्धविषय-) नीति में शास्त्रसम्मत नियम में रहते हुए ही विरोधी सेना से इस प्रकार युद्ध करने लगे जिससे (युद्ध देखने के लिए आकाश में स्थित विद्याधर, देवगण आदि) दिव्य जनसमूह विस्मित हो गये।] बहुत सुगम मध्ययुगी कविता की सुप्रसिद्ध पंक्ति है—छत्रसाल की वीरता के प्रसंग में—शत्रुसेनानियों की नायिकायें—

''तीन बेर खाती थीं वे तीन बेर खाती हैं ....''

और अभी २०-४० वर्ष पहले तक की ब्रज भाषा की रचनायें तो आज भी भरी पड़ी हैं ऐसे प्रयोगों से, जैसे कि—

''कामरि-वारे पै का मरि जात हौ ?
कारो रंग कौन बड़ नीको, द्वै तातरु द्वै मात हो।''

अथवा— **''तुम जीवन-जीवन जीवन-धन।**
तिन जीवन जीवन बस जीवन, जिन जीवन किय जीवन अरपन।*
जिन किय निज कहँ अरपन, तिन् कहँ अरपन कर निज कहँ यह तव पन॥*
तिन के अवगुन गनत न अगनित, अगनित करि तिन कर इक गुन गन।''*

इसमें अभङ्ग यमक तथा लाटानुप्रास दोनों अनायास हैं।

प्रतिलोम यमक—जहाँ एक चरण का ठीक उलटा सार्थक अक्षरक्रम द्वितीय चरण में हो। माघकाव्य से ही पुनः एक उदाहरण—

वारणागगभीरा सा साराभीगगणारवा।
कारितारिवधा सेना नासेधा वारितारिका॥ (१९/४४)

(अर्थ—हाथीरूपी पर्वतों से दुर्गम, बलवान् निर्भीक शूरवीरों के कलकल से युक्त, शत्रुओं को समाप्त कर चुकी हुई, निर्बाध गति से आगे बढ़ने वाली, स्वयं ही शत्रु को आमन्त्रित करने वाली और उन्हें चारों ओर से घेर कर हटा देने वाली यदुवंशी सेना—(वैसे ही शत्रुओं में मिल गयी जैसे पथिकों से भरी गली राजमार्ग में मिल जाती है—४५)

भट्टिकाव्य में विविध वृत्तों में, एकावली एवं यमक युक्त विविध अनुप्रास के अनेकों उदाहरण श्रव्य माधुर्य से विशेष समृद्ध हैं। तथाकथित शुष्क व्याकरण-शिक्षण का यह ग्रन्थ 'रामचरितम्' मानो अपने प्रतिपाद्य के प्रभाव से काव्य के अप्रतिम रसमय फल रूप में आस्वाद्य है; कुछ उदाहरण देखें—

न तज्जलं यन्न सुचारुपङ्कजं न पङ्कजं तद् यदलीनषट्पदम्।
न षट्पदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलं न गुञ्जितं तन् न जहार यन्मनः॥ २/१९॥

तथा—

विलुलितपुष्परेणुकपिशं प्रशान्तकलिकापलाशकुसुमम्,
कुसुमनिपातचित्रवसुधं सशब्दनिपतद् द्रुमोत्कशकुनम्।
शकुननिनादनादिककुब्-विलोल विपलायमानहरिणम्,
हरिणविलोचनाधिवसतिं बभञ्ज पवनात्मजो रिपुवनन्॥ (८/१३१)

एक चरण के अन्तिम शब्द या शब्द समूह के आगामी चरण के प्रारम्भ में दोहराये जाने एवं सम्पूर्ण पद्य के आदि-अन्त में समान पद-समूह-प्रयोग का ध्वनि-माधुर्य प्राकृत-देशी भाषाओं में भी बहुधा प्रकट हुआ है; गिरिधर एवं दीनदयाल के 'कुण्डलिया' छन्द इसके सुगम उदाहरण है :

चल चकई वा सर विषय, जहँ नहिं रैनविछोह। रहत एकरस दिवस ही सुहृद हंस-सन्दोह।
सुहृद हंस सन्दोह, कोह अरु द्रोह न जाके। भोगत सुख अम्बोह, मोह दुख होय न ताके।
बरनै दीनदयाल, भाग्य बिनु जाय न सकई। प्रिय मिलाप नित रहै, ताहि सर चल तू चकई॥

भट्टिकाव्य में यमक के जो विशिष्ट प्रकार मिलते हैं वे हैं—समुद्रयमक, काञ्चीयमक, यमकावली, युक्पाद०, अयुक्पाद०,

पादाद्यन्त०, पादमध्य०, मिथुन०, वृन्त०, पुष्प य०, विपथ०, गर्भ०, सर्व०, महायमक, चक्रवाल यमक। सभी अतीव सुन्दर हैं किन्तु यहाँ अपना समय सीमित है। केवल चक्रवाल एवं सर्वयमक के उदाहरण क्रमशः देखें—

अवसितं हसितं प्रसितं मुदा विलसितं हसितं स्मरभासितम्।
न समदाः प्रमदा हतसम्मदाः पुरहितं विहितं न समीहितम्॥ (१०/६)
बभौ मरुत्वान् विकृतः समुद्रो, बभौ मरुत्वान् विकृतः समुद्रः।
बभौ मरुत्वान् विकृतः समुद्रो, बभौ मरुत्वान् विकृतः समुद्रः॥ (१०/१९)

यहाँ एक ही चरण ज्यों का त्यों चार बार आवृत्त हुआ है; पृथक् अर्थों में उन्हीं शब्दों का प्रयोग है। (१) मरुत् के पुत्र हनुमान् विविध वन-भङ्ग आदि कर्म करने वाले, मुद्रा (चूडामणि रूप पहचान) से युक्त, तेजपुञ्ज के समान दीप्त हुए तब (२) मरुत्वान् इन्द्र जो रावण से पराजित होकर अपने आधिपत्य से च्युत हो गये थे, मुद्रा नाम की अप्सरा के साथ थे, वे हनुमान् का समाचार जानकर हर्ष से दीप्त हुए, (३) जलनिधि समुद्र हनुमान् के वेग से उठे वायु से युक्त होने से मर्यादा लाँघता हुआसा सुशोभित हुआ, (४) लोकपाल मरुत्वान्, मेरा पुत्र हर्ष (मुद् रः) देने वाला है, वह सुख से जाये, अतः विकृत = मन्दगति हो रहा।

अनुप्रास एवं यमक की ध्वनिसौन्दर्य-वर्धकता के अनेक उदाहरण भगवती-पुष्पाञ्जलिस्तोत्र में पद्य सं० ७ से २७ पर्यन्त सुपरिचित ही हैं, जैसे—

अयि सुमनः सुमनः सुमनः सुमनः सुमनोहरकान्तियुते
श्रितरजनीरजनीरजनीरजनीरजनीकरवक्त्रभृते।
सुनयनविभ्रमरभ्रमरभ्रमरभ्रमरभ्रमराभिवृते
जय जय हे महिषासुरमर्दिनि रम्यकपर्दिनि शैलसुते॥ १६॥

इस क्रम में एक सुगम पादान्त यमक देखें जो अन्त में श्लेष में पर्यवसित है—

अति सूधो सनेह को मारग है, जहँ नेकु सयानप बाँक नहीं,
तहँ साँचे चलैं तजि आपनपौ, झझकैं कपटी जे निसांक नहीं।
घनआनँद प्यारे सुजान सुनौ, यहाँ एक ते दूसरि आंक नहीं,
तुम कौन सी पाटी पढ़े हौ लला, मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं॥
(यह पंक्ति भी पू० बहनजी बहुत बार कहा करती थीं।)

यमक-युक्त अनुप्रास की चरम कोटि चित्रकाव्य में 'सर्वतोभद्र' छन्द में दिखाई-सुनाई देती है, जहाँ आठ अक्षर वाले आठ चरणों (श्लोक-युग्मक) में अक्षरक्रम ऐसा रहता है कि* (प्रथम का विपरीत द्वितीय, तृतीय का विपरीत चतुर्थ होता है, फिर चतुर्थ के समान पञ्चम, तृतीय के समान षष्ठ, द्वितीय के समान सप्तम एवं प्रथम के समान अष्टम चरण होता है। अर्थात् पहले श्लोक के चरणों का दूसरी ओर से विपरीत क्रम दूसरे श्लोक में होता है। फलस्वरूप)* इन आठों चरणों को क्रम से सुस्पष्ट लिखा जाय तो, चारों ओर से सभी दिशाओं में (ऊपर से नीचे, नीचे से ऊपर, दाँयें से बाँयें, बाँये से दाँये) क्रमशः पूरा युग्मक पढ़ा जा सकता है।

इसके उदाहरण संस्कृत में प्राचीन महाकवियों एवं कुछ ब्रज आदि प्रान्तीय भाषाकवियों की कृतियों में तो हैं ही, अभी हमारी शताब्दी के पूर्वार्ध में, हमारी आँखों के सामने, इसी काशी में एक नन्हीं सी कुटिया में रहते हुए एक अकिञ्चन ब्राह्मण पं० श्री रामरूप पाठक (बहनजी जिन्हें स्नेहादर से सुदामा पण्डित कहती थीं) विशुद्ध रूप से स्वान्तः सुखाय ऐसे चित्र-बन्ध

---

* प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम खण्ड के अन्त में ''चित्रकाव्यकौतुकम्'' का परिचय तथा चित्रकाव्यमीमांसा-विषयक स्वयं बहिनजी के संस्कृत-लेख सङ्कलित हैं। उदाहरण आगामी पृष्ठ पर है। —सम्पा०

बनाते रहते थे, जिनमें से कुछ के ही प्राचीन उदाहरण प्राप्त हैं, और इन पण्डितजी ने ५५ प्रकार के चित्र-बन्ध बनाये थे* (छोटे-छोटे काग़जों पर स्वयं ही चित्र आँक कर उनमें ये पद्य लिखे थे, साथ ही उनकी स्वोपज्ञ टीका भी लिखी थी। १९६० में इस हृदयावर्जक तथ्य का साक्षात्कार होने पर रोमाञ्चित हृदय से बहनजी ने तत्काल यथासाध्य व्यय एवं प्रयत्न करके १९६५ में उन रचनाओं को सुन्दर पुस्तकाकार प्रकाशित करवाया, (फिर तो पण्डितजी भारत-शासन द्वारा सम्मानित भी हुए, यह अन्य बात है)* देखना यही है कि भारत में काव्य-प्रतिभा और संस्कृत की इतनी सजीवता आज भी है। 'सर्वतोभद्र' का यही उदाहरण देखें—

रा	धा	सा	र	र	सा	धा	रा
धा	म	रा	स्व	स्व	रा	म	धा
सा	रा	धा	सु	सु	धा	रा	सा
र	स्व	सु	र	र	सु	स्व	र
र	स्व	सु	र	र	सु	स्व	र
सा	रा	धा	सु	सु	धा	रा	सा
धा	म	रा	स्व	स्व	रा	म	धा
रा	धा	सा	र	र	सा	धा	रा

राधासाररसाधारा धामरास्वस्वरामधा।
साराधासुसुधारासा रस्वसुररसुस्वर॥
रस्वसुररसुस्वर साराधासुसुधारासा।
धामरास्वस्वरामधा राधासाररसाधारा॥
(चित्रकाव्यकौतुकम्, २. पृ० ४-५)

यमक, अनुप्रास के लालित्य की कथा अधूरी रहेगी यदि छन्दों की बृहत्तम श्रेणी एवं पद्य से गद्य के मध्य सेतुरूप दण्डकों का स्मरण न किया जाय, एवं गद्य में काव्य की हृद्यता को साकार करने वाले बाणभट्ट, दण्डी, सुबन्धु एवं आज के युग की हिन्दी आदर्श कवयित्री महादेवी वर्मा के गद्यकाव्य 'सप्तपर्णा' आदि में प्रवहमान वाग्धारा का कल-कल-निनाद न सुना जाय। किन्तु विवश हैं हम समय-बन्ध से, जो बृहत्तर छन्दः की मर्यादा सम्हालते हुए हमें छन्दोहीन स्वच्छन्दता से विरत करता है। केवल एक रुचिकर तथ्य देख लें कि 'रूखे' कहे जाने वाले विषयों वेदान्त, न्याय आदि के ग्रन्थों में उनके लेखकों के हृदय की रसधारा जहाँ-तहाँ ऐसी प्रकट हुई है मानो उर में समा न सकी हो। इसके प्रत्यायक हैं—

योगवासिष्ठ में अनेकों स्थल, अद्वैतसिद्धि-कार के अनेक उद्‌गार तथा न्यायसिद्धान्तमुक्तावली का के (मध्य में) उत्तरार्ध का मङ्गलाचरण (वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्......................)

नूतनजलधररुचये, गोपवधूटीदुकूलचौराय।
तस्मै कृष्णाय नमः, संसारमहीरुहबीजाय॥

★★★

卐 यह 'ध्वनि'-विषयक विचारगोष्ठी में (इस सङ्कलन की) **सम्पादिका** द्वारा प्रस्तुत किया गया प्रपत्र है। पूज्या 'बहिनजी' को यह विषय बहुत प्रिय था एवं उनके द्वारा दिये जाने वाले शिक्षण में इसका समावेश अवश्य रहता था, इसीलिये इसे उनके इस स्मारक-ग्रन्थ में समाविष्ट किया गया है।

.२१.

हमारी मातृ-तुल्य वत्सला 'बहनजी'

*—श्री अतुल देसाई**

पूज्या प्रेमलता बहनजी के विषय में लिखने के लिए हृदय उमड़ता है, किन्तु शब्द अधूरे पड़ते हैं मेरे भाव व्यक्त करने में।

सन् १९५५ में अध्ययन के लिए बनारस आया, तब स्वाभाविक ही था पूज्य गुरुजी पं० ओंकारनाथजी के निवास में ही रहना। मेरे पिताजी (श्री गिरीशचन्द्र देसाई) उनके अभिन्न मित्र थे अतः पण्डितजी का हमारे यहाँ निवास प्रायः होता ही था। वे आते और घर भरा रहता उनकी स्वरलहरियों से जिस की गूँज हमेशा बनी रहती थी घर के सभी लोगों के कामों में, मन में। वे इस परिवार के अतिथि नहीं स्नेही सदस्य थे। उन्हें जब अमेरिका आदि विदेश जाना होता तो पूज्या माँ (श्रीमती ठाकुर) हमारे यहाँ रहतीं, और पं० जी हमारी दादीमाँ का चरणस्पर्श कर के जाते। मैं तब बहुत छोटा था, अपनी माँ से बिछुडना (उनके दिवंगत होने से) जल्दी ही हो गया था। पिता एन्जीनियर थे व्यवसाय से, किन्तु शुद्ध-सङ्गीत-प्रेमी थे हृदय से। पिताजी की मित्रमण्डली में थे अम्बेलाल देसाई तथा श्री कंचनलाल मामावाला।

ये भी पण्डितजी की लोकोत्तर सङ्गीत-प्रतिभा से अभिभूत थे एवं गुजरात के इस रत्न को स्वयं गुजरात में तथा सर्वसामान्य के सम्मुख उजागर करने में तत्पर थे। इन्हीं की प्रेरणा से पण्डितजी को उस समय के विशिष्ट सम्मान-सूचक रणजीतराम सुवर्णचन्द्रक से विभूषित किया गया था जो पहली बार किसी सङ्गीतकार को दिया गया, इससे पहले केवल साहित्य क्षेत्र में ही यह सम्मान दिया जाता था।

मुझ में अपनी माँ से सङ्गीत के संस्कार आये थे, पू० गुरुजी (पं० ओंकारनाथजी) ने बचपन में ही इसे परख लिया था, अतः इस क्षेत्र में मुझे आगे बढ़ाने का अवसर देने की सलाह मेरे पिताजी को दी थी। उसी के अनुसार, कुछ बड़ा होने पर मुझे काशी भेजा गया था। पू० गुरुजी के पास रहते हुए मुझे अपना शैक्षणिक स्तर भी आगे बढ़ाना था और सङ्गीत भी सीखना था। १९५५ से ५८ तक ही मैं बनारस रह पाया। उसी में पूज्या बहिनजी के अतीव स्नेह तथा सूक्ष्म दृष्टि का ऐसा परिचय मिला कि सदा के लिये वे माँ के समान मेरे मानस-पट पर अङ्कित हो गई। याद आता है वह दिन जब सङ्गीत विद्यालय में प्रवेश के लिए परीक्षा देने से पहले मैं पू० भैयाजी (पं० बलवन्तराय भट्ट) की कक्षा में चुपचाप सुनने के लिए बैठा था; वे राग पटदीप सिखा रहे थे; मेरा तब तक शास्त्रीय सङ्गीत सीखना शुरू नहीं हुआ था, पर 'पटदीप' नाम सुना और वह स्वरावली मन में भा गई थी, सो जब प्रवेश-परीक्षा के समय पूछा गया (परीक्षकों में स्वयं बहनजी तथा भैयाजी भी थे) कि क्या गाओगे? तो मैं ने कहा—'पटदीप' और जैसा सुना था वैसा गा दिया। इससे मुझे प्रवेश तो मिल ही गया, पू० बहिनजी ने घर आकर बड़ी प्रसन्नता से पूरी बात पू० गुरुजी को भी बताई।

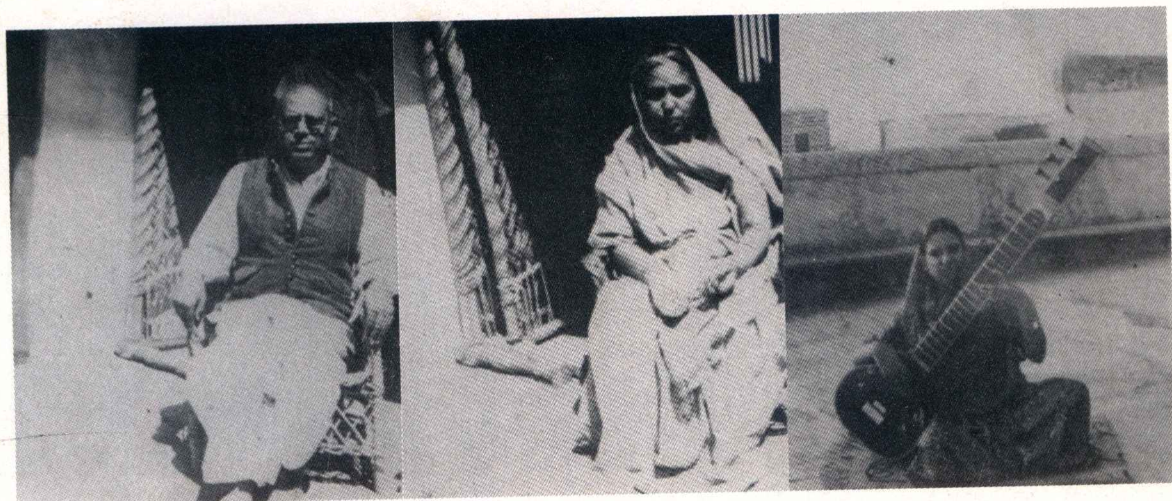
---

* पं० ओंकारनाथजी ठाकुर के पुत्रवत् प्रिय शिष्य, सुविख्यात गायक (जिनके कण्ठस्वर एवं शैली में स्वयं ''गुरुजी'' की प्रतिध्वनि स्पष्ट दिखाई-सुनाई देती है) आज हम पं० ओंकारनाथजी को साक्षात् सुनना चाहें तो बहुत-कुछ **श्री अतुलभाई देसाई** के माध्यम से ही सुन सकते हैं, जिन्होंने अभिमन्यु की तरह जन्म से पहले से ही ''पण्डितजी'' का सङ्गीत भली भाँति पिया था, क्योंकि पिता श्री गिरीशचन्द्र देसाई पं० ओंकारनाथजी के न केवल घनिष्ठ मित्र थे, अपितु उनके सङ्गीत के भक्त एवं बहुत-कुछ ''पोषक''-वत् सहयोगी थे। अतः यह परिवार और घर ''पण्डितजी'' का अतीव अन्तरङ्ग था। —ऊर्मिला

तभी बहिनजी ने निर्णय कर लिया था और पू० गुरुजी को कहा भी था कि अतुल को गायन के साथ-साथ शास्त्र भी सिखाना है। तभी से मुझे बहिनजी की—सङ्गीत-सिद्धान्त सिखाने वाली कक्षाओं में भी बैठने का अवसर मिला। पूज्य गुरुजी, पू० भैयाजी तथा बहिनजी—तीनों से सीखने का लाभ मुझे भरपूर मिला। सङ्गीतालङ्कार के अन्तिम वर्ष की परीक्षा में 'दीदी'—बिजनबाला घोष दस्तिदार (उस समय की सुप्रतिष्ठित गायिका, एवं स्वयं को पू० गुरुजी की शिष्या मानने वाली, गुरुजी की स्नेहभाजन)—परीक्षक होकर आई थीं। वे बहनजी की भी अनन्य घनिष्ठ मित्र थीं। परीक्षा में मैंने पूरिया गाया। उससे पू० बिजनदी और बहनजी बहुत प्रसन्न हुईं और दूसरे दिन घर आकर पू० गुरुजी को भी बड़े हर्ष से सब बताया।

इसी प्रकार मेरी हर ऐसी गतिविधि पू० बहनजी बिल्कुल माँ की तरह ध्यान से रुचिपूर्वक देखतीं और पू० गुरुजी को सूचित करती थीं जिससे उन्हें आनन्द हो और मेरे विकास का मार्ग आगे बढ़ता चले। पूज्य गुरुजी जब कहीं बाहर जाते तब बहिनजी मुझे अपने घर ले जातीं, खिलातीं-पिलातीं, स्नेहपूर्वक सब आवश्यकताओं का ध्यान रखतीं। बड़ी बहन का वात्सल्य बिल्कुल माँ जैसा ही उनसे मुझे मिला, और पू० गुरुजी से मिला 'गुरु' का शिक्षण एवं पिता जैसा अनुशासन। उन सब स्मृतियों से मैं अपने आपको धन्य अनुभव करता हूँ।





मथुरा घर में (१९५०)
पूज्य पिता जी पं. लालचन्द्र शर्मा तथा पूं० माताजी श्रीमती माया देवी शर्मा

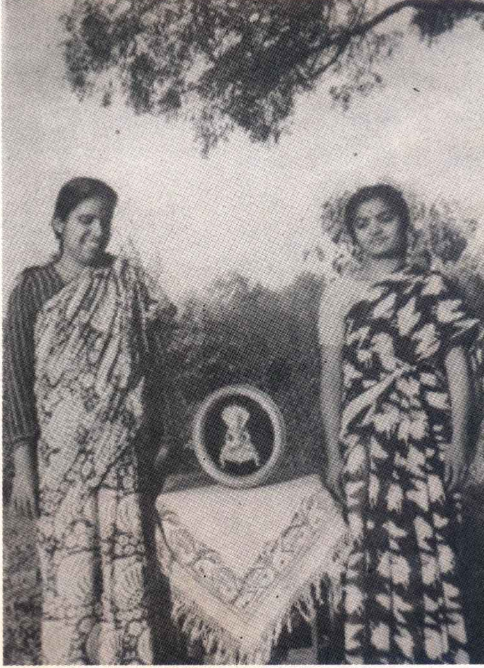
घर की छत पर सितार-अभ्यास



दिलरुबा (इसराज) पर अभ्यास
(१९५०)

घर में भीतर सितार-अभ्यास
(१९५०)

महिला छात्रावास (का. हि. वि.)
में (१९५३) छत पर एकान्त में
उषःकालीन अभ्यास



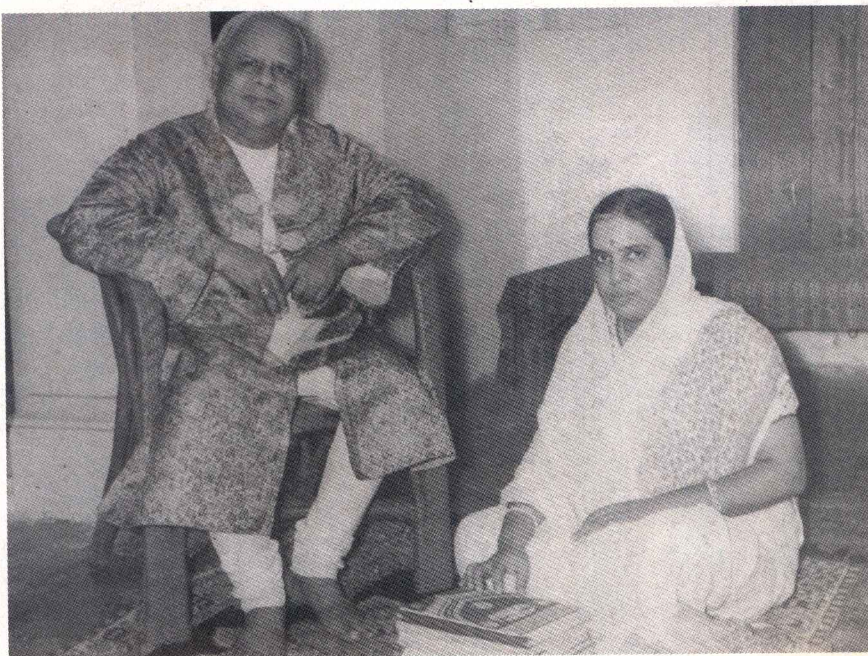
प्रिय सखी तिलोत्तमा देसाई के साथ
संस्कृत विश्वविद्यालय में संस्कृत अभिनय
सीता-त्रिजटा-संवाद के पुरस्कार-सहित (१९५३)



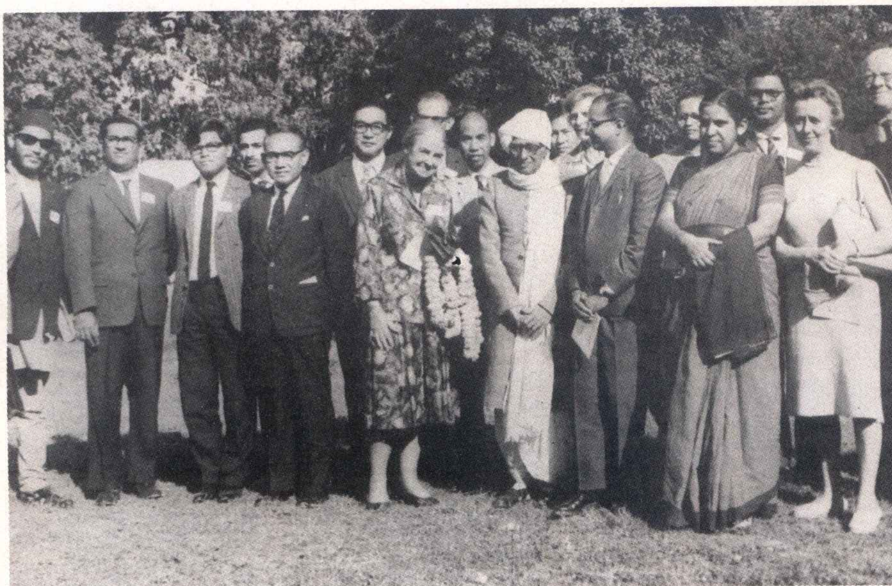
प्रिय मित्र फिलिपा बरेल के साथ १९५६

बिजन बाला घोष दस्तिदार (सुख्यात गायिका एवं अन्तरङ्ग दीदी)
तथा सुभद्रा चौधरी (छात्रा एवं मित्र) के साथ १९५५

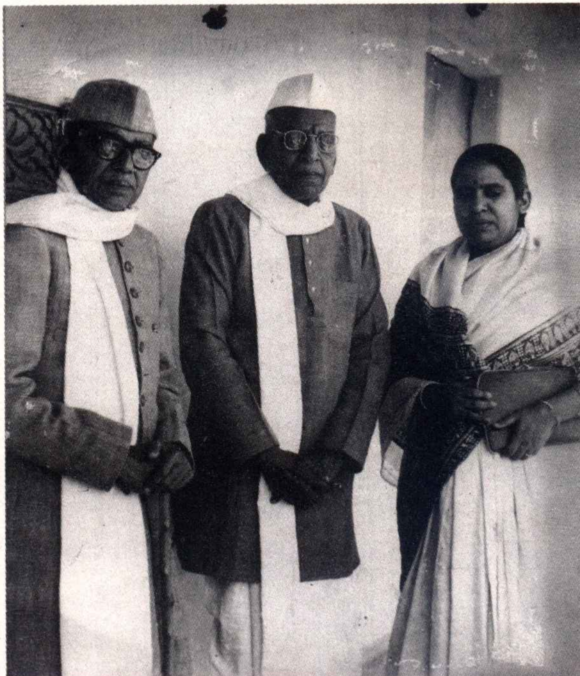




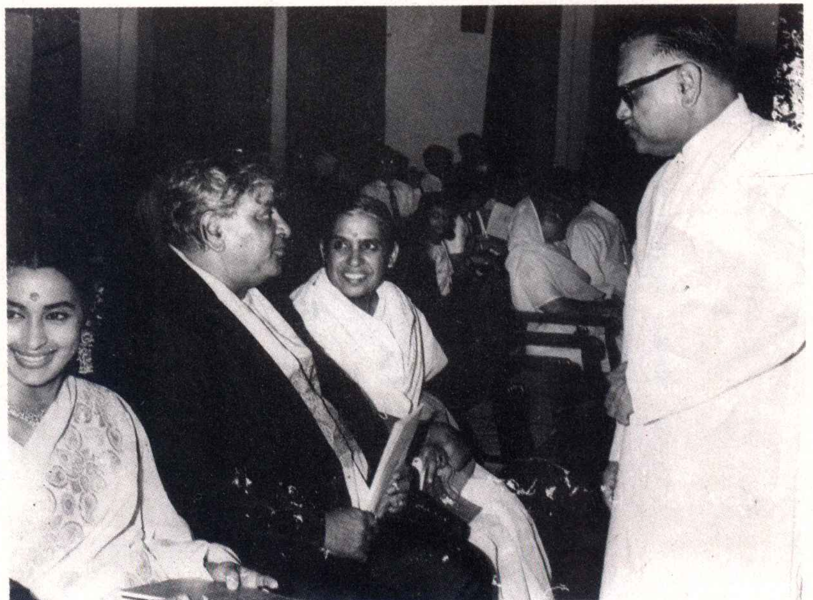
पूज्य "गुरुजी" संगीतमार्तण्ड पं. ओंकार नाथ ठाकुर के साथ (१९५७)



हंगेरिअन कलाकार-मण्डल के साथ
(मध्य में) श्री जगन्नाथ अहिवासी राय आनन्दकृष्ण एवं प्रेमलता शर्मा,
श्री कलासङ्गीतभारती, भारत कलाभवन-परिसर में का० हि. वि.(१९५७)



साहित्य-संगीत-कलामय भक्त-त्रिपुटी
श्री जगन्नाथ अहिवासी एवं राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त
के साथ (१९५८)



अभिनेत्री नूतन, श्री पृथ्वीराज कपूर,
डां. प्रेमलता शर्मा, श्री बृजनारायण
(का. हि. वि. में किसी सभा में
परस्पर चर्चा में मग्न, १९५८)



बॉये से खड़ेः- श्रीमती लक्ष्मी शंकर,
श्री वी.वी. षड़गोपन, प्रेमलता शर्मा,
श्री रविशंकर, श्री एम. आर. गौतम,
श्री छेदीलाल श्रीवास्तव (बांसुरीवादक)
पीछे की पंक्ति में से दिखते मुख-
श्री रामजी मिश्र, श्री ईश्वर लाल मिश्र एवं
श्री पाँचू महाराज (तीनों तबला कलाकार)
श्री कला-संगीत-भारती, का. हि. वि. में,
(१९५९)



का. हि. वि. में किसी विचार गोष्ठी के प्रसङ्ग में
चिन्तन - संवाद में मग्न मित्र-त्रिक (१९६०)
प्रेमलताजी, राय आनन्द कृष्ण, श्रीमती कपिला वात्स्यायन



संगीत नाटक अकादमी (केन्द्रिय) की किसी
विचार-गोष्ठी में डां. जयदेव सिंह,
श्री आर. सत्यनारायण के साथ
(१९५९)



श्री विष्णु दिगम्बर जयन्ती अवसर पर
गान्धर्वमहाविद्याालय दिल्ली में भाषण देते
हुए प्रेमलता जी। बायें बैठे हैं (प्रथम)
भाईजी श्री विनयचन्द्र मौद्गल्य (१९६२)



संगीत परिषद, वाराणसी (१६६०) में ध्रुपदगायन, संगत में वायलिन पर
श्रीमती एन राजम्, परवावज पर श्री बाबूलाल पखावजी



श्री कला संगीत भारती (संगीत एवं ललित कला महाविद्यालय) के वार्षिकोत्सव में
गायन, तानपुरे पर सुश्री धर्मा श्रीवास्तव वायलिन पर सुश्री एन् राजम् (१६६४)



पं. कैलासचन्द्र देव बृहस्पति के साथ शास्त्र-चर्चा (१९७३)



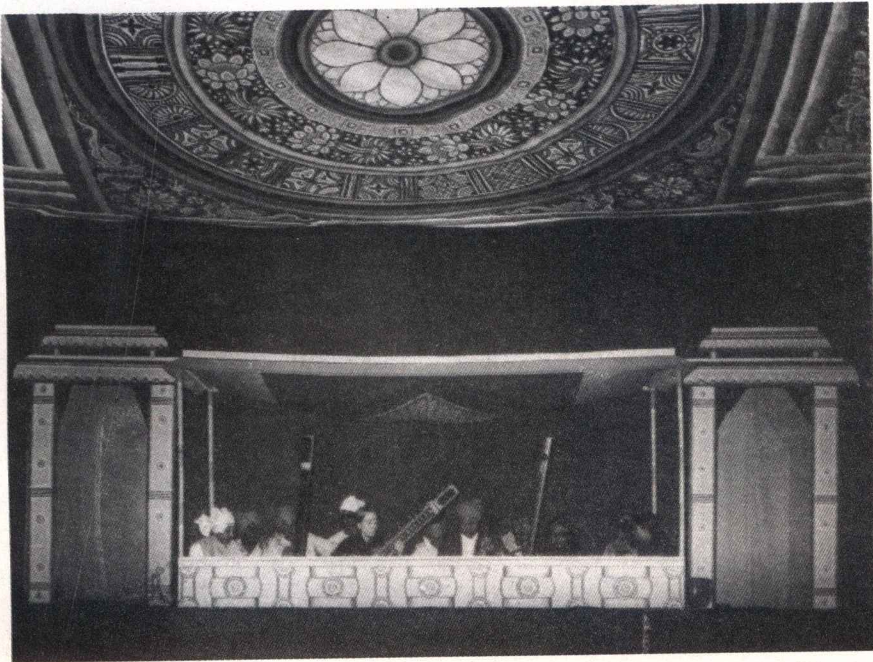
किसी विशेष आयोजन के प्रारम्भ में मंगलाचरण
तथा प्रास्ताविक प्रस्तुत करते हुए।



किसी विचार गोष्ठी में मुद्रा सहित व्याख्यान देते हुए



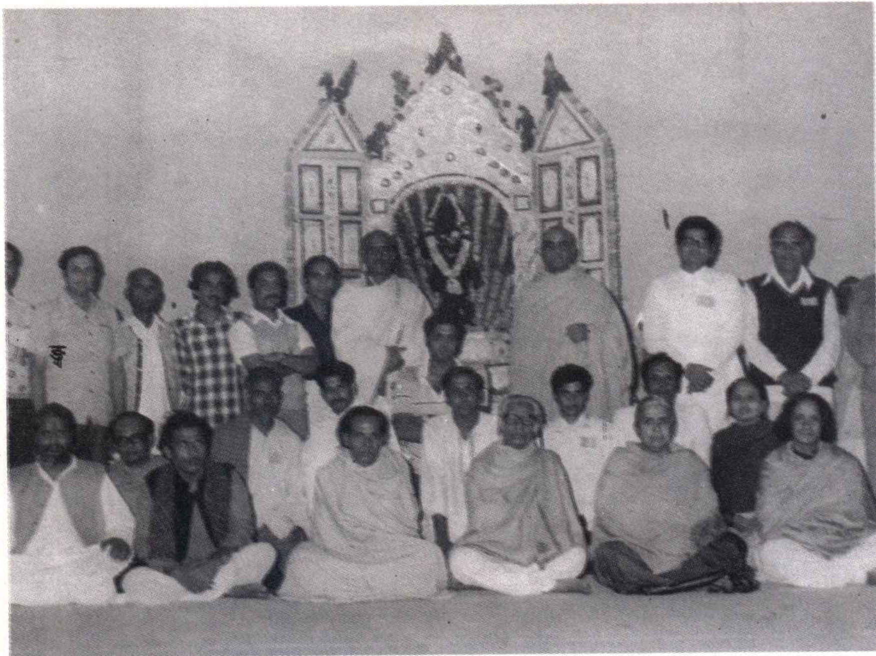
बॉये से दाहिने :- डॉ. कृष्णकान्त शर्मा, श्रीमती जया चन्द्रशेखर, ऊर्मिला, प्रेमलता शर्मा, डॉ. रंगनायकी आयंगार, श्री सी. वी. चन्द्रशेखर, डॉ. श्रीमती कपिला वात्स्यायन, डॉ. विश्वनाथ भट्टाचार्य, ठाकुर जयदेव सिंह, डॉ. कमलेशदत्त त्रिपाठी, प्रो. राय आनन्द कृष्ण, डॉ. एम. ए. ढाकी, श्री ओं० पी० टण्डन (का.हि.वि. १९७५)



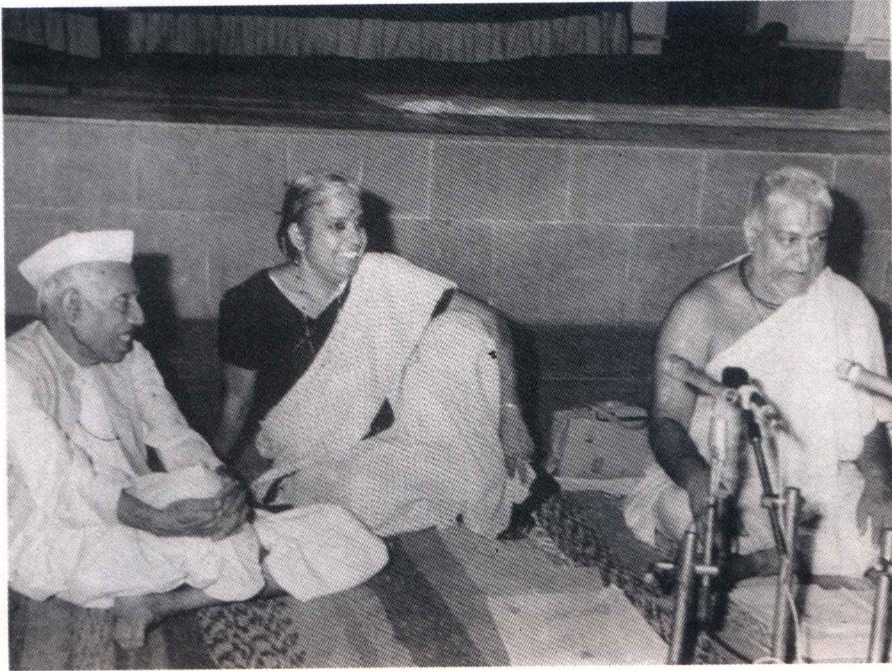
प्रेमलता जी द्वारा पुनरुज्जीवित भरतनाट्यशास्त्रीय रङ्गमण्डप के अन्तर्गत रंगशीर्ष तथा कुतपसन्निवेश (रंगमण्डप का निर्माण एवं सज्जा सुख्यात चित्रकलाकार श्री वासुदेव स्मार्त द्वारा सम्पन्न हुआ था)।



प्रथम ध्रुपद मेला के उद्घाटन में स्वरचित सर्वाङ्गध्रुपद प्रस्तुत करते हुए वाग्गेयकार पं. बलवन्तराय भट्ट,
साथ दे रहे है ऋत्विक् सान्याल तथा राहुल भट्ट,
सारंगी पर श्री नारायण मिश्र तानपुरों पर बाँये श्रीमती मंगला तिवारी दाहिने सुश्री स्वरवन्दना भट्ट



बैठे हुए बाँये से म० रामकिशोर दास, मृदङ्गाचार्य, श्री विदुर मलिक,
डागरबन्धु उ० सईदुद्दीन एवं उ० फ़हीमुद्दीन, बहनजी, सुश्री शरयू कालेकर, श्री बुद्धदेव भट्टाचार्य





ध्रुपदमेला - १६७६ विचारगोठी में ऊपर
ठाकुर जयदेव सिहं 'बहन जी' श्री आचार्य रासबिहारी गोस्वामी जी, नीचे श्री गोस्वामी जी के बॉये , डॉ. कपिला वात्स्यायन
श्रीमती उषा मलिक, तथा विद्यार्थिगण में स्वरवन्दना भट्ट, इन्द्राणी चक्रवर्त्ती, राहुल भट्ट (प्रथम पंक्ति में)



ध्रुपदमेले (वृन्दावन, १६८०) में प्रथम वार शास्त्रीय **'त्रिक' प्रयोग**
मृदंग, गायन तथा वीणा एक साथ प्रयोग में। पखावज के साथ रीवां नरेश राजा छत्रपति सिंह,
गायन डा० ऋत्विक् सान्याल, वीणावादन - श्री असित बॅनर्जी



दाये प्रेमलता जी इस 'त्रिक' का स्वरूप समझा रही हैं।
आचार्य श्रीवत्स गोस्वामी कलाकारों को सम्मानित रहे है।



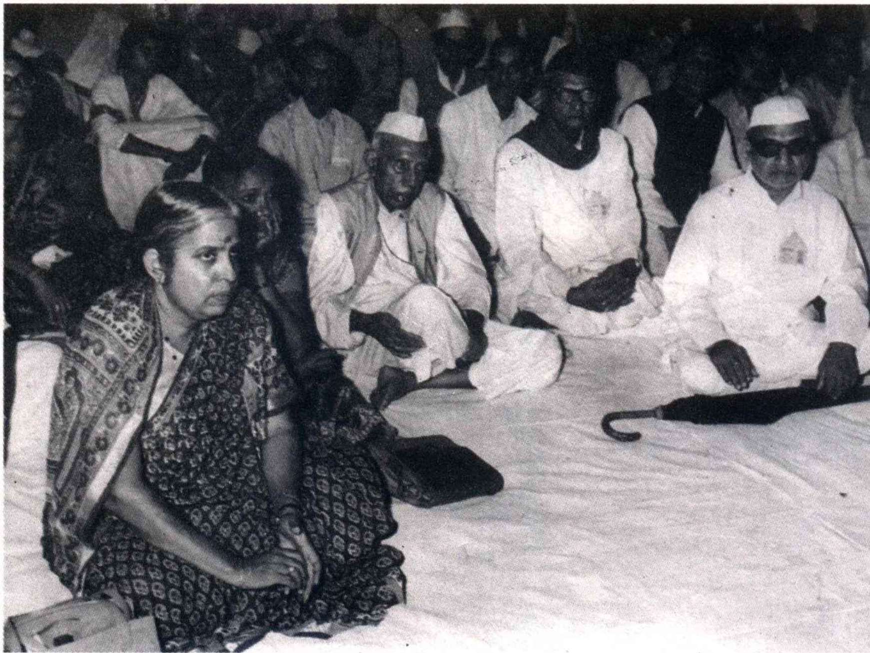
ध्रुपदमेला - विचार गोष्ठी में
परिचर्चा-रत ठाकुर जयदेव सिंह
तथा उस्ताद असद अली खाँ
के साथ (१९८०)



ध्रुपदमेला १९८२ - श्रीनाथद्वारा में सिद्ध
सुविख्यात गायिका असगरी बाई को
सम्मान सहित सहारा देते हुए।



का. हि. वि. में किसी उत्सव पर समूहगान का नेतृत्व करते हुए बहनजी
श्री भालचन्द्र पाटेकर के साथ (१६७४-७५)



तल्लीन श्रोतृवृन्द-प्रेमलता शर्मा, रंगीजी ठा. जयदेव सिहं, श्री गजानन्द ठाकोर,
पं. बलवन्त राय भट्ट (प्रथम ध्रुपद मेला, वृन्दावन १६७६)



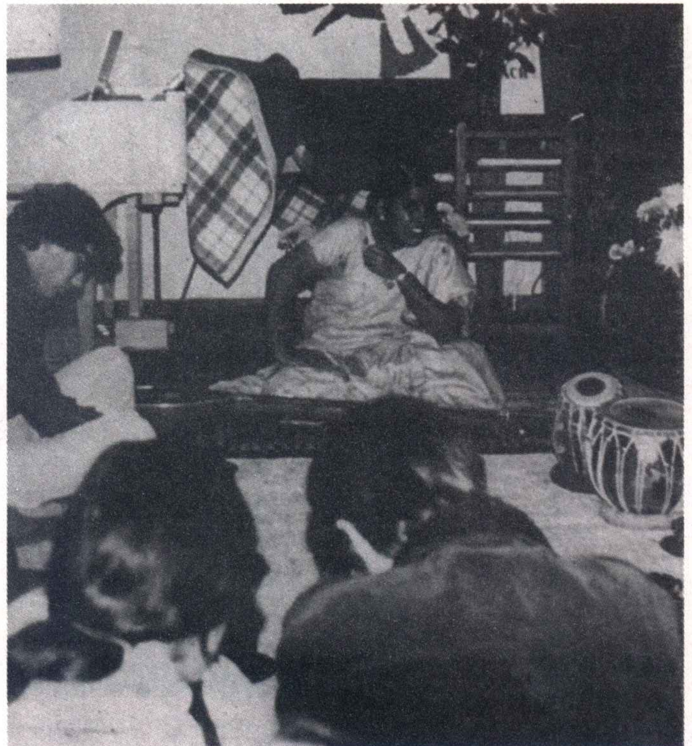
ध्रुपदमेला - प्रयोग के सहृदय प्रेक्षक गण (वृन्दावन, १६७६)



श्रीमती कमला देवी चट्टोपाध्याय के साथ (१६८०)



गोवत्सला बहिनजी
अपने लाडले 'नारायण' के साथ १६७२



अमेरिका में किसी घर में विद्यार्थियों को
अध्ययन कराते हुए १६७०





लाडले बछिया-बछड़ों 'पूजा-ऊधो-माधो' के साथ
का० हि० वि आवास में १९७३





१९९३ व्याख्यान देते हुए १९९८



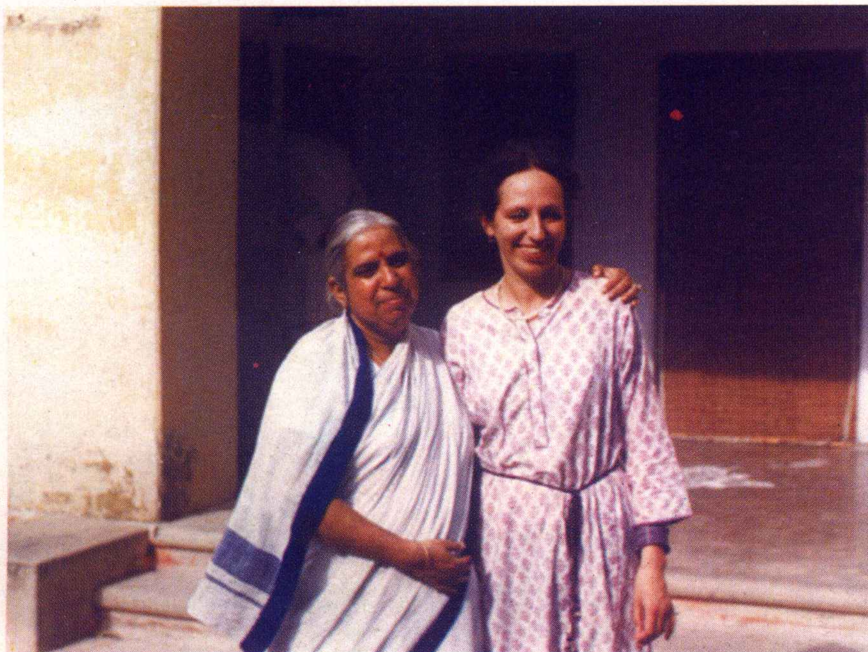
अमेरिका में एक विद्यार्थिनी के साथ संगत करते हुए (१६७८)



प्रिय शिष्या हेरियट् हयूरी के साथ (अमेरिका में १६७८)



इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय कला केन्द्र की एक अन्तर्राष्ट्रीय
विचार गोष्ठी में डॉ. लुइस रॉवेल के साथ चर्चा में



प्रिय शिष्या एवं मित्र डॉ. नलिनी फ्रांस्वाज देल्वुआ के साथ
(सङ्गीत-शास्त्र-विभाग के सम्मुख, १९८२)



सङ्गीत-शास्त्र-विभाग में डॉ. कैलाशचन्द्र गंगराडे तथा
डॉ. श्रीमती विमला मुसलगांवकर के साथ (१९८५)



संगीत-शास्त्र-विभाग में किसी शोध-उपाधि सम्बन्धी मौखिक परीक्षा में बङ्गाल के प्रसिद्ध
संगीतकार श्री निमाई चाँद बौराल तथा डॉ. श्रीमती एन् राजम् के साथ (१९८३)



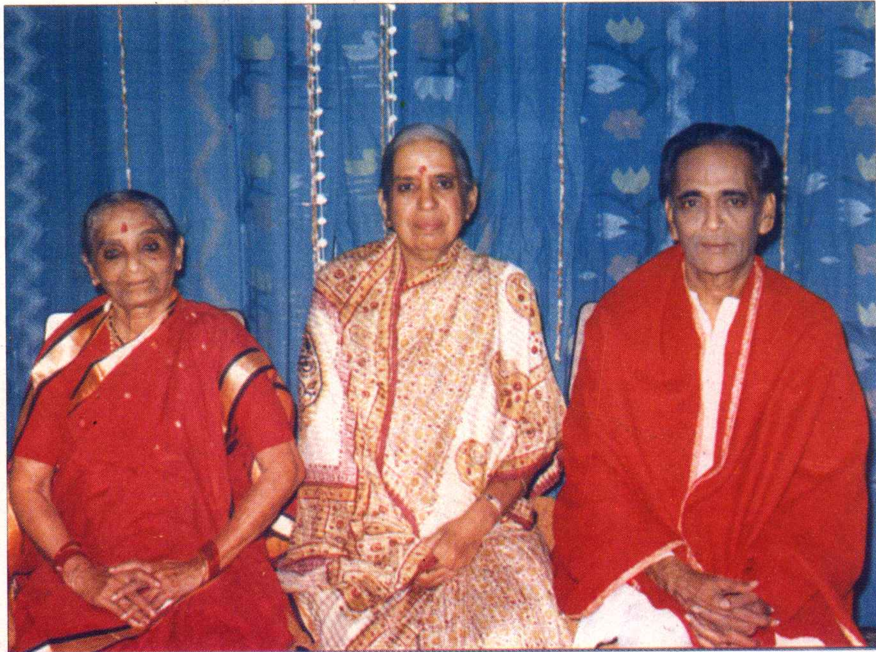
With the President of India Shankar Dayal Sharma,
Mr. Bhabha, Chairman S.N.A. (P.L.S. as Vice Chairman) and
Smt. Usha Malik as the Secretary SNA, New Delhi (1995)



Fellowship Award of S.N.A., 1993, at Hydrabad.



संगीत नाटक अकादमी के साक्षात्कार कक्ष में डॉ. श्रीमती कपिला वात्स्यायन
के साथ गम्भीर विमर्श में संलग्न (१९९६)



हैदराबाद से आये-आन्ध्रनाट्यम् के महान् कलाकार श्री नटराज रामकृष्ण एवं
(सहृदय माणिक्यम्मा संगीत-युक्त अभिनय की उर्वशी परम्परा) के साथ 'आम्नाय' में (१९९०)



१९६० से लेकर १९९७ पर्यन्त अनवरत विविध प्रसंगों मे यह दृश्य रहा । महामहिम काशीनरेश श्री श्री विभूतिनारायण सिहं जी के साथ संगीत एवं संस्कृत सम्बन्धी विचार-विमर्श बड़ी सहजता से होता रहा, वे बड़ी रुचि से स्नेहभरे आदर से ''बहिनजी'' को सुनते सराहते थे। ऐसा ही यह अन्तिम अवसर था- पं. ओंकारनाथ ठाकुर शताब्दीपूर्ति के उपलक्ष्य में भारत सरकार के डाकविभाग द्वारा स्मारक डाकटिकट का प्रकाशन - समारोह - २७ जून १९९७ भारत कलाभवन की चित्रकलादीर्घा, काशीहिन्दू विश्वविद्यालय।



पूर्वोक्त अवसर पर डाक विभाग के महानिदेशक एवं म० म० काशीनरेश पं. ओंकारनाथ ठाकुर के चित्रयुक्त स्मारक डाक टिकट का लोकार्पण करते हुए।

विविध कार्यो में



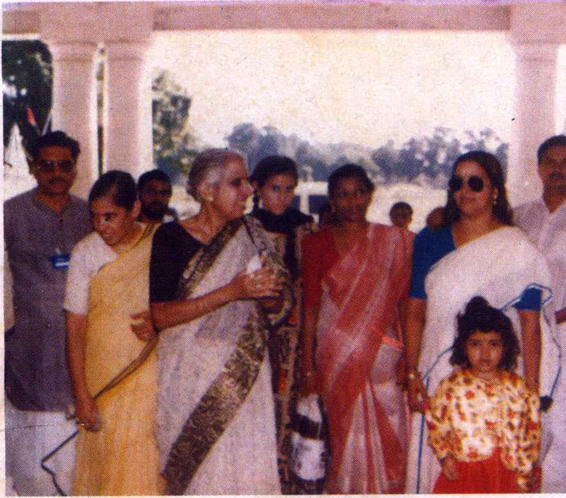
रायपुर में मुख्य भाषण
(१९८७)



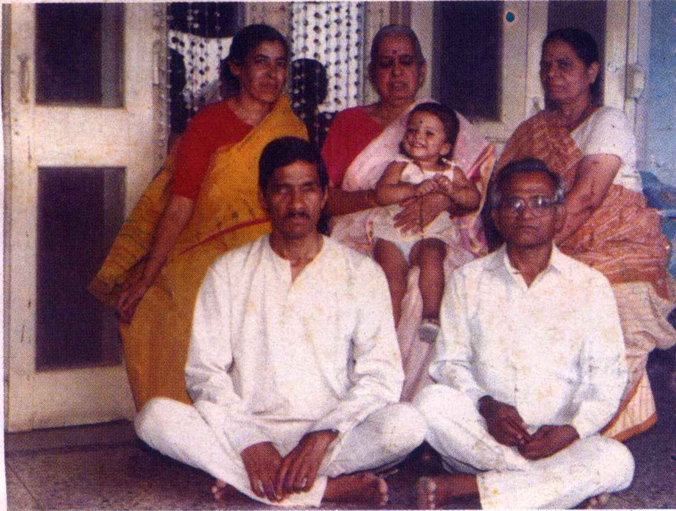
मुख्य अतिथि एवं
परीक्षक
१९८६ (बिलासपुर)



मुख्य अतिथि रूप में उपस्थिति एवं भाषण,
ईसाई संस्था नवसाधना केन्द्र (वाराणसी) में
बिशप डिसूजा के साथ १९९७



केरल से आये-कूडियाट्टम्-दल 'मार्गी' की सुप्रसिद्ध ''नांगियार''- सती (श्वेत नील वस्त्र) उनकी बेटी कु० रेवती एवं सहयोगी कलाकार श्रीमती उषा के साथ (अक्टूबर १६६५)



१० मई १६६१ चि० अभिनव (डा. अनिल ब्योहार के पुत्र) को गोद में लिये हुए! साथ हैं- डां. श्रीमती सावित्री श्रीवास्तव, ऊर्मिला, डां. अनिल एवं श्री ज्योतिषी (चि० अभि० के नानाजी)



बड़ी बहन जैसी हितैषिणी मित्र श्रीमती शान्तिकुमारी वाजपेयी (का. हि. वि. में हिन्दी प्राध्यापिका एवं उपन्यास-लेखिका) के साथ (आम्नाय में, जून १६६६)



संगीत नाटक अकादमी द्वारा आयोजित शार्ङ्गदेव - समारोह के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय
विचारगोष्ठी में - डॉ. हैरोल्ड पॉवर्स (अमेरिका) तथा उषा मलिक के साथ



उसी गोष्ठी में पं. विद्यानिवास मिश्र जी के साथ



प्रिय सखी कणिका तोमर के साथ
शान्तिनिकेतन में (१९९३)



''मतङ्ग'' विचारगोष्ठी (हम्पी, कर्णाटक, १९९५)
के समय संयोग वश श्री गुरुपूर्णिमा अवसर पर
उपस्थित प्रमुख विद्यार्थिवृन्द के साथ। मध्य में
''बहिनजी'' एवं पं. विद्यानिवास मिश्रजी
प्रथम पंक्ति में डॉ. तेजसिंह टाक,
डॉ. अनिल ब्योहार, डॉ. एन रामनाथन्,
डॉ. आदिनाथ उपाध्याय, डॉ. ऋत्विक सान्याल,
डॉ. एलिन माइनर,
मध्य की पंक्ति में बायें डॉ. विमला मुसलगावकर,
डॉ. इन्द्राणी चक्रवर्ती,
दायें - डॉ. सुभद्रा चौधरी, श्रीमती सत्या उपाध्याय,
नीचे बैठी है - श्रीमती उमा टाक
तथा ऊर्मिला शर्मा



काञ्चीकामकोटि-पीठ के आचार्य
श्री जयेन्द्र सरस्वती के प्रति
प्रणत श्री सोमास्कन्दन् जी एवं
बहन जी (वाराणसी १९९६)



डा. राममूर्त्ति त्रिपाठी, एवं डॉ. कमलेशदत्त त्रिपाठी के साथ विचार गोष्ठी में। नवं. १९९४



डॉ. वेत्तिना बाउमेर तथा
डॉ. जगजीवन रस्तोगी



डा. ऋत्विक् सान्याल तथा
डॉ. लिपिका दासगुप्त (बोस)
के साथ (१९९४)



डॉ. मुकुन्द लाठ के साथ



डॉ. दामोदर होता (संगीत में गुरुभाई तथा शिष्यवत्) के साथ



श्री अतुल देसाई (संगीत में गुरुभाई तथा शिष्यवत्) के साथ



पं. ओं नां. श. विचारगोष्ठी के तल्लीन श्रोता रूप में वक्तागण, श्री अतुल देसाई, डॉ. हेरोल्ड पॉवर्स, श्री आर. सी. मेहता, पं. जसराज, बी. बी. कारन्त



डा. भानुशङ्कर मेहता एवं श्री बी. कारन्त (अनेक प्रकार से प्रिय शिष्य) के साथ विचार गोष्ठी में।



प्राच्यविद्या धर्मविज्ञान सङ्काय (संस्कृत महाविद्यालय) का. हि. वि. में सुख्यात चित्रकलाकार श्री वासुदेव स्मार्त जी का अभिनन्दन करते हुए बहिनजी एवं सभाध्यक्ष पं. विद्यानिवास मिश्र (सितम्बर, १९९३)



गंगा जी पर नाव में ऊर्मिला तथा प्रिय 'बेटी' हंसी (चि० चन्द्रकान्ता नेगी) के साथ १९९६

प्रथम वार्षिक श्रद्धाञ्जलि सत्र
(५.१२.९६)





विविध गायन श्रीमती मंगला तिवारी



ध्रुपद-धमार में लीन डॉ. ऋत्विक् सान्याल
एवं श्रीकान्त मिश्र (पखावज पर)

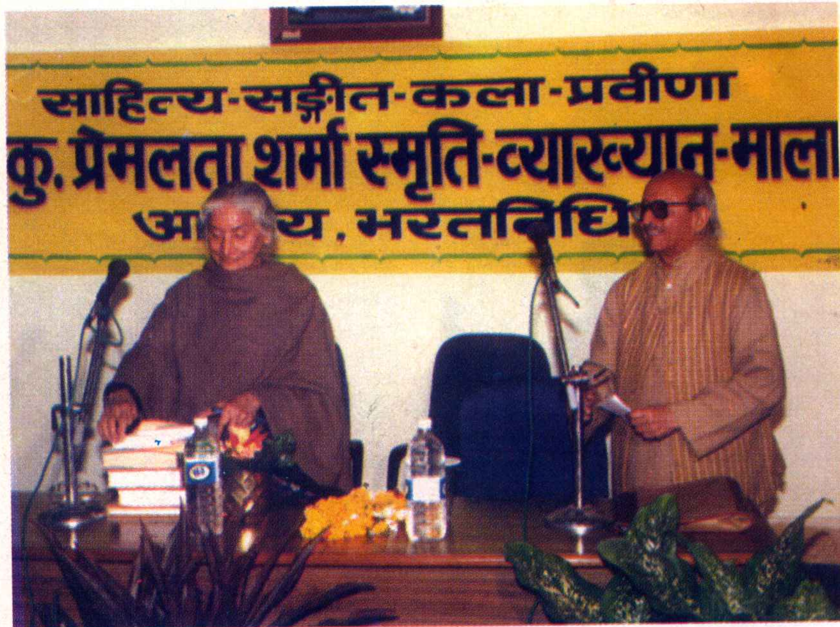


श्रीमती मञ्जु सुन्दरम् के ठुमरीगायन में संगत—
तबले पर विनोद लेले सारंगी पर श्री सन्तोष मिश्र

द्वितीय-स्मारक व्याख्यान माला ४, ५ दिसं. २०००



प्रमुख व्याख्यात्री डॉ. श्रीमती कपिला वात्स्यायन एवं
अध्यक्ष आचार्य श्रीवत्स गोस्वामी जी (४ दिसं. २०००)



द्वितीय दिवस के अध्यक्ष प्रो. राय आनन्दकृष्ण के साथ
श्री कपिलाजी (५ दिसं. २०००)

परिशिष्ट 'क'

जीवन-कर्म-तथ्य परिचय

परिशिष्ट

(७३७-८१६)

(क)

जीवन-कर्म-तथ्य-परिचय

(ख)

कुछ विशिष्ट-अभिनन्दन

(ग)

'प्रेमलता' के 'गोलोकवास' के पश्चात् व्यक्त हुए स्नेहिजनों के उद्गार

विशेष

.1.

Biographical Note*

I, Premlata Sharma, was born on the **10th May 1927** in Nakodar (Distt: Jullundur, East Punjab). My parents are – Sri L.C. Sharma, B.Com. (Ex-Auditor, Indian State Railways) and Smti. Mayadevi, who are settled down in Mathura (U.P) since over a decade now.

I received my primary and secondary education at home, in Delhi and appeared for the **Matriculation** Examination of the **Punjab University** in **1938.** For the next two years I studied in the University Tutorial Institute and passed the **Intermediate** Examination of the Delhi University in **1940.** Having studied in **Indraprastha Girl's College** for two years, **I graduated** from the **Delhi University** in **1942.** After this I spent seven years in studying religious literature, especially that of the Gauriya Vaiṣṇavas in Bengali and Sanskrit, in which my father is also deeply interested. Towards the end of this period I also started taking **regular training in Music which has been a hobby with me since childhood.** I passed the Inter. Examination in vocal Music of the Academy of Hindustani Music, Lucknow in 1949 and the Sangita Viśārada Examination of the Gāndharva Mahavidyala Mandala, Bombay, in 1951.

I obtained **M.A., Degrees in Hindi Literature and Sanskrit in 1950 and 1951** respectively from the **Banaras Hindu University.** Since 1951 I have been carrying on research work, as a result where of I am submitting the present Thesis and as colleteral there to my printed publication **"Rasa Vilāsa".** In, the years **1952 and 1953 I** also passed Parts **I & II of the Acarya (Sahitya)** Examination of the **Sanskrit Mahavidyalaya B.H.U.,** work for which has been of much help to me in my studies for this Thesis. **As a side activity I have kept up my hobby, the study of Music in the College of Music & Fine Arts, B.H.U.**

PremLata Sharma

---

* स्वयं बहिनजी द्वारा 1954 में Ph.D. Thesis जमा करते समय उसमें दिया गया स्वपरिचय।

.२.

साहित्य-सङ्गीत-कला-प्रवीणा प्रेमलताजी

—का—

विवृत जीवन-वृत्त (Bio-Data)

I.	नाम	:	प्रेमलता शर्मा,
II.	जन्म-तिथि	:	10 मई, 1927, (राशि-सिंह) नक्षत्र-उत्तरा फाल्गुनी (वैशाख शुक्ल नवमी)
III.	जन्म-स्थान	:	नकोदर, जिला जालन्धर (पंजाब, भारत)
IV.	पिता का नाम (+ जीवन)	:	स्व० श्री लालचन्द शर्मा (-२.२. १९०२-३.९.१९८३)
V.	माता का नाम (+ जीवन)	:	स्व० श्रीमती मायादेवी शर्मा (माघ, (१९०५)-(ज्येष्ठ, १९८९)
VI.	शैक्षणिक योग्यता	:	एम०ए० – हिन्दी (१९५०) काशी हिन्दू विश्वविद्यालय एम०ए० – संस्कृत (१९५१) काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पी-एच०डी० – संस्कृत (१९५४) काशी हिन्दू विश्वविद्यालय शास्त्राचार्य – (साहित्य) (१९५५) काशी हिन्दू विश्वविद्यालय संगीतालङ्कार – (गायन) (१९५५) काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
VII.	सेवायें	:	१. लेक्चरर सङ्गीत १९५५-५७, का०हि०वि०वि०, वाराणसी। २. रीडर सङ्गीत शास्त्र १९५७-८१, का०हि०वि०वि०, वाराणसी। ३. प्रोफेसर सङ्गीतशास्त्र १९८१-८५, का०हि०वि०वि०, वाराणसी। ४. वाइसचांसलर-इन्दिरा कला सङ्गीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़राज, म०प्र० ३१ अगस्त, १९८५ से सितम्बर १९८८। ५. एमेरिटस प्रोफ़ेसर, सङ्गीतशास्त्र, का०हि०वि०वि० १९९३ से।
VIII.	पदभार (मुख्य)	:	१. प्राचार्या (प्रिंसिपल) श्रीकलासंगीत-भारती-१९५७-६१, का०हि०वि०वि, वाराणसी २. अध्यक्षा-संगीत एवं ललित-कला-विभाग १९५७-६१, एवं 1964-66। ३. संकाय प्रमुख (डीन) - सङ्गीत एवं ललित-कला-संकाय, का०हि०वि०वि०, १९५७-६१, १९६४-६६, १९६९-७१, १९७९-८३।

४. अध्यक्षा - सङ्गीतशास्त्र विभाग - १९६६-१९८५।

५. अध्यक्षा - उत्तर-प्रदेश संगीत नाटक एकादमी, मार्च १९८३-मार्च १९८६।

६. उपाध्यक्षा - संगीत नाटक अकादमी, नई दिल्ली, २१ अप्रैल ९४ को निर्वाचित (अन्त तक रहीं-१९९८ दि०)

७. एमेरिटस फेलो - संस्कृति विभाग, भारत सरकार, १९८९-९१।

IX. **विशिष्ट समितियों की सदस्यता** :

१. केन्द्रिय सङ्गीत नाटक अकादमी की कार्यकारिणी १९७८-८२।

२. राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय N.S.D. की प्रबन्धकारिणी समिति, १९७८-८२।

3. साहित्य अकादमी (केन्द्रिय) की परामर्शदात्री समिति (संस्कृत) १९७९-८४।

४. सङ्गीत ऑडीशन बोर्ड - आकाशवाणी १९६६-१९७४।

५. कथक केन्द्र, नई दिल्ली, की परामर्शदात्री समिति १९७८-८२।

६. American Institute of Indian Studies की उभयदेशीय (भारत-अमेरिका)-समिति, 1984 से आजीवन।

७. Advisory and Editorial Committee for Natyashastra Project, Kalidas Academy UJJAIN, नाट्यशास्त्र प्रकल्प हेतु परामर्शदात्री एवं सम्पादकीय समिति कालिदास अकादमी, उज्जैन 1985 से 90।

८. U.G.C. Panel on History of Art and Fine Arts—1986 से आजीवन।

९. परामर्शदात्री समिति-कलातत्त्वकोश-इन्दिरागांधी-राष्ट्रीय कला केन्द्र, नई दिल्ली-1987से।

१०. भारत सरकार द्वारा नियुक्त प०ना० हक्सर-समिति (सङ्गीतनाटक अकादमी, साहित्य अकादमी, ललितकला अकादमी तथा राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय (N.S.D.) के कार्यों के आकलन हेतु) १९८८-९०। (जुलाई ९० में विवरण दिया गया)

X. **विशिष्ट सम्मान** :

१. सङ्गीत नाटक अकादमी (केन्द्रिय) का प्रकाशन पुरस्कार, १९७१।

२. उत्तर प्रदेश सङ्गीत नाटक अकादमी की रत्नसदस्यता, १९७८।

३. ''फुल-ब्राइट''-फ़ेलोशिप १९७८।

४. ''रचना'' संस्था (कलकत्ता) का कथेतर साहित्य के लिए पुरस्कार 1984।

५. गुरु जानकीप्रसाद कथक केन्द्र एवं मूवीमून, दिल्ली द्वारा ''नाट्यमुनि'' उपाधि पुरस्कार १९८८ रचनाओं में शास्त्र की प्रतिष्ठा के लिए।

६. सङ्गीत नाटक अकादमी, नई दिल्ली की रत्न-सदस्यता (फेलोशिप) १९९२।

XI. **विशिष्ट कार्य क (भारत में)** :

१. केन्द्रिय सङ्गीतनाटक अकादमी के तत्त्वावधान में **चार अखिल भारतीय ध्रुपदमेलों** का आयोजनः- १९७९- ८०-वृन्दावन (उ०प्र०) में (दो), १९८१-श्रीनाथद्वारा (राजस्थान) १९८२-अम्बेजोगाइ (महाराष्ट्र)

इन ध्रुवपद मेलों से पूरे संगीत-जगत् में **ध्रुपद-शैली** के महत्त्व **पर जागृति की लहर फैल गयी।**

२. ''**अभिनयभारती**'' नाम से विद्वान्-कलाकार-विद्यार्थी-वृन्द (सम्पुट) का सङ्ग्रथन, भरतनाट्यशास्त्र-निष्ठ सम्पूर्ण सङ्गीत-युक्त नाट्य के प्रयोग के लिए समर्पित इस सङ्ग्रथित वृन्द (विविध आयामों में से आये समान-रुचि-निष्ठा-सम्पन्न व्यक्तियों का एक परिवार)—के माध्यम से अनेकों शास्त्रगत **गीत-नृत्य-नाट्य-प्रयोगों का निर्देशन**, इस प्रसङ्ग में **प्राचीन विधाओं - पूर्वरङ्ग के सभी अङ्गों का पुनर्निर्माण, ध्रुवा-गान का उज्जीवन, भरतकालीन रङ्गमण्डप का भी उज्जीवन।** प्रस्तुतीकरण-उज्जैन, वाराणसी (में अनेक बार) लखनऊ, भाटपाररानी (देवरिया), १९७३-८५ तक।

३. विश्व संस्कृत परिषद (अन्तर्राष्ट्रीय) ८१ में भी सम्पूर्ण सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन। इस दायित्व के अन्तर्गत कालिदास-नाटक (मालविकाग्निमित्रम्) की पुनः प्रस्तुति की।

४. ''**भाषा और सङ्गीत**''—विषय पर अखिल-भारतीय विचारगोष्ठी का सङ्गीतसङ्काय (का०हि०वि०वि०) में आयोजन—१९७६ ''**अभिनवगुप्त की भारतीय संस्कृति को देन**'' विषय पर अन्तर्राष्ट्रीय विचारगोष्ठी—१९८१, उसी विषय में अखिलभारतीय विचार गोष्ठी—१९८२। इन गोष्ठियों में प्रत्यभिज्ञादर्शन के तत्कालीन प्रायः सभी दिग्गज विद्वान् मनीषी एवं साधक **सङ्गीतशास्त्र विभाग** में पधारे थे, एवं अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहा था—''बहिनजी! यह स्थान तो **सिद्धपीठ** बन गया है।''

५. **छत्तीसगढ़ की सांस्कृतिक सम्पदा**-विषयक अखिलभारतीय विचार-गोष्ठी—खैरागढ़ में आयोजित संचालित—१९८६।

६. ''**कविभारती**''—नाम से संग्रथित वाराणसेय संस्कृतरचना-दल की सक्रिय सदस्यता।

७. काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अध्यात्म-जिज्ञासु व्यक्तियों तथा शुभ-संस्कार-प्रवण विद्यार्थियों के लिए सुविख्यात मनीषी सुश्री **विमला ठकार** के सान्निध्य एवं चिन्तन-लाभ का सुअवसर प्रदान करने वाले दो शिविरों का आयोजन १९७१ में **ध्यान शिविर** तथा १९७२ में ''**युग की माँग**'' —विषयक **अध्ययन-शिविर**।

८. **इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय कला केन्द्र,** नई दिल्ली के सहयोग से **भरतनिधि** (प्रेमलता शर्मा द्वारा स्थापित—प्रयोगधर्मा कलाओं में शोध आदि को समर्पित न्यास) द्वारा—दक्षिण भारत की ''उर्वशी''—सम्प्रदाय की श्रेष्ठ कलाकार ''**सहृदय**'' **माणिक्यम्मा** के ''अध्यात्म-रामायणम्''—गायन सहित अभिनय

का Documentation तथा '**नटराज**' **रामकृष्ण** के सदृष्टान्त व्याख्यान, प्रश्नोत्तरी आदि का आयोजन—१९९०।

९. **''एमेरिटस प्रोफ़ेसर'', का०हि०वि०,** निर्वाचित होने के नाते १९९३ से आजीवन सङ्गीत सङ्काय के तथा अन्य अभ्यागत जिज्ञासुओं-विद्यार्थियों को **सङ्गीतशास्त्रीय अध्ययन एवं शोध के लिए मार्गदर्शन।**

१०. सङ्गीतनाटक अकादमी (केन्द्रिय) नई दिल्ली के लिए ''शार्ङ्गदेव-समारोह'' के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय विचारगोष्ठी तथा तत्सम्बन्धित अखिल भारतीय सङ्गीत-नृत्य उत्सव का आयोजन-संञ्चालन,—वाराणसी में, फरवरी १९९४।

११. सुविख्यात मनीषी **ठाकुर जयदेव सिंह की जन्म शताब्दी** के उपलक्ष्य में—संस्कृति विभाग, भारत सरकार के सहयोग से—भरतनिधि तथा सङ्गीतनाटक अकादमी (केन्द्रिय) तथा रायकृष्णदास-इंटाक-वाराणसी न्यास के सम्मिलित आयोजन में—

नवम्बर १९९४ में अखिल भारतीय विचार गोष्ठी तथा सङ्गीतास्वादन का अनुष्ठान। ठाकुर जयदेव सिंह के चिन्तन के प्रमुख दो पक्षों पर आधारित गोष्ठी के विषय थे— 1. आधुनिक काल के परिप्रेक्ष्य में भारतीय सङ्गीतशास्त्र (१८००-१९३०) २. भारतीय लालित्यशास्त्र (Aesthetics) में काश्मीर शैवदर्शन का योगदान।

१२. सङ्गीत नाटक अकादमी (केन्द्रिय) द्वारा ही उसकी उपाध्यक्षा होने के नाते **"Mataṅga and his Bṛhaddesi"**—विषय पर **अन्तर्राष्ट्रीय विचार गोष्ठी** का समायोजन सञ्चालन—मतङ्गमुनि के ही स्थान हम्पी-कर्णाटक प्रदेश में—१९९५ (अगस्त)।

१३. **भरतनिधि**—द्वारा १९९१ से १९९७ तक प्रायः दो-तीन माह के अन्तराल पर विशिष्ट कलाकारों तथा विद्वान् चिन्तकों के सङ्गीत नृत्य-प्रयोग एवं व्याख्यान आदि का आयोजन। इनमें विशेष उल्लेखनीय—पूज्यपाद महामण्डलेश्वर **स्वामी महेशानन्द गिरि जी** का ''लोक''— विषयक व्याख्यान, पद्मविभूषण **पं० श्री विद्यानिवास मिश्र जी** का ''लोक''—विषयक व्याख्यान, प्रो० **के०पी० (कमला प्रसाद) सिंह** (वैज्ञानिक) का **''रामायण तथा महाभारत''** —विषयक व्याख्यान, **श्रीमती कलानिधि नारायणन्** का नृत्य-अभिनय-विषयक सदृष्टान्त व्याख्यान, **केरल के ''मार्गी''—दल का आतिथ्य तथा कुडियाट्टम्-परिचायक प्रयोग,** सं०रि० अकादमी कलकत्ता के **श्री अनन्त वैद्यनाथन्** का गायन, **डॉ० एलिन् माइनर** का सितारवादन, सुश्री **नैन्सी लेश** का ध्रुपद शैली में **शेलो-वादन, डॉ० रिचर्ड विडेस** का **बौद्ध—'चर्यागान'**—विषयक सदृष्टान्त व्याख्यान, **Dr. Rocus D. Groot** का "The Influence of Hindustani classical Music on Western Composers"—विषय पर सदृष्टान्त व्याख्यान इत्यादि।

१४. सङ्गीतनाटक अकादमी (केन्द्रिय) की उपाध्यक्षा-रूप में "**रस**"—विषयक **अन्तर्राष्ट्रीय विचार गोष्ठी** का आयोजन-सञ्चालन—वाराणसी में १९९८।

१५. **पं० ओङ्कारनाथ ठाकुर-जन्म शताब्दी** के उपलक्ष्य में उनके चित्र-युक्त **विशेष डाक-टिकट** के **लोकार्पण का समारोह** २६ जून १९९७।

१६. **पं० ओङ्कारनाथ जन्म शताब्दी-वर्ष** के उपलक्ष्य में जनवरी १९९७ में उनके **व्यक्तित्व-कृतित्व-सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय विचारगोष्ठी** तथा सङ्गीत-उत्सव का आयोजन।

१७. **सङ्गीत-प्रस्तुति**—भोपाल में १९५७-सितारवादन। कलकत्ता १९५८ तथा वाराणसी १९६० में कठिन लयकारीयुक्त ध्रुपद-धमार गायन।

१९६५ महाराणा कुम्भा-समारोह, उदयपुर में—ख्याल और ध्रुपद गायन।

१८. **सङ्गीतरचना (वाग्गेयकारिता) १९६४-६५** में "पाइअ सद्दमहण्णवो" के लोकार्पण-अवसर पर **प्राकृत जैन गाथाओं** तथा णमोकारमन्त्र को रागों-तालों में निबद्ध कर प्रस्तुत करने **से लेकर प्रारम्भ हुई अद्भुत सङ्गीतरचना**—सङ्गीतशास्त्र-विभाग में स्वयं आयोजित संस्कृत-दिवसों में **स्वर-ताल-पदात्मक विविध रचनाओं**, भरत-निर्दिष्ट पद्धति से **ध्रुवा एवं प्राचीन शुष्क-निर्गीत-पाटाक्षर**-आदि के पुनरुज्जीवन, **पूर्वरङ्ग का सर्वाङ्ग पुनरुज्जीवन** उसकी नृत्ययोजना में **मद्रक तथा वर्धमान गीतकों, 'कण्डिकाओं' की पद-सहित-सङ्गीत रचनाओं** आदि से होती हुई **१९९८ पर्यन्त** चलती रही।

अन्तिम 6 वर्षों में हुई सङ्गीत रचनाओं में प्रमुख रहीं :—

१. **भ्रमरगीत**—श्रीमद्भागवत, के दशम स्कन्ध के ४६-४७ अध्यायों में से चुने ५४ पद्य, उसी प्रसङ्ग के सूरदास-पद, एवं विशिष्ट प्राचीन पद्य मिला कर कुछ ६७ कृतियों का गुम्फित रूप—५० रागों, ६ तालों तथा अताल एवं मध्य-'विराम' आदि के प्रयोग-सहित निबद्ध। १९ मार्च, १९९४ में वृन्दावन (जयसिंह घेरा) में कथक शैली में डॉ० श्रीमती रञ्जना श्रीवास्तव द्वारा एकल नृत्य प्रयोग में यह प्रस्तुति हुई। फिर २० मार्च ९४ इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय कला केन्द्र नई दिल्ली में तथा ४ जून ९४ को भरतनिधि द्वारा वाराणसी में यह प्रस्तुति हुई। दिल्ली की प्रस्तुति का कुछ संक्षिप्त रूप दूरदर्शन-दिल्ली ने लिया जो अनेक बार प्रदर्शित हो चुका है।

२. **श्रीकृष्णलीलाप्रसङ्ग**—प्रमुख रूप से सूरदास के पदों के साथ कुछ प्राचीन संस्कृत पद्य तथा घनानन्द-कवित्त आदि जोड़ते हुए व्रज में श्रीकृष्ण की ग्यारह लीलाओं के वर्णन-युक्त यह गुम्फन १८ रागों तथा दो तालों (अनेक अताल) में निबद्ध। कथक शैली में एकल नृत्य प्रयोग इस पर ११ मार्च, १९९५ को वृन्दावन में हुआ। इसकी पुनः प्रस्तुति वाराणसी में श्रीवल्लभ सम्प्रदायाचार्या श्रीमती शरदवल्लभा बेटी जी के सम्मुख ३ अप्रैल ९५ को हुई।

३. **वेणुगीत**—श्रीमद्भागवत दशम० २१वाँ अध्याय (सम्पूर्ण) १९७४ में पाँच रागों में निबद्ध कर के का०हि०वि० में **म०म० मो० मालवीय-जयन्ती** के अवसर पर स्वयं कुछ छात्राओं के साथ सामूहिक गान रूप में प्रस्तुत किया था।

पुनः १९९५ में उक्त २० पद्यों के साथ सूरदास, घनानन्द एवं वाचिक परम्परागत कुछ पद-कवित्तादि जोड़कर सर्वथा भिन्न रूप में, नृत्य की दृष्टि से तथा छन्दों के अनुरूप तालों तथा रागों में विविधता लाते हुए नवीन सङ्गीत रचना की, जिस पर श्रीमती कुमुदिनी लाखिया के शिष्य समूह द्वारा कथक शैली में सामूहिक नृत्य प्रयोग—जयपुर में—१४ नवम्बर ९५ को प्रस्तुत किया गया।

४. **श्री गोविन्दबिरुदावली**—१६वीं शती ई० के पूर्वार्ध में श्री श्रीरूप गोस्वामी द्वारा विरचित अद्भुत देवस्तुतिकाव्य श्री गोविन्दबिरुदावली में से २५ विविध विकट वृत्तों के पद्य चुनकर उन्हें २३ रागों में छन्द की यतियों के अनुसार निबद्ध किया। इस पर श्री एवं श्रीमती प्रो० सी०वी० चन्द्रशेखर तथा उनके शिष्यवृन्द द्वारा योजित भरतनाट्यम् शैली में सामूहिक नृत्य-प्रयोग-जयपुर में १६ नवम्बर ९५ को प्रस्तुत किया गया।

इसकी पुनः प्रस्तुति वाराणसी में महिलामण्डल काशी, भरतनिधि, रायकृष्णदास 'इन्टैक' न्यास, वाराणसी के सम्मिलित आयोजन से ८ अप्रैल १९९६ को हुई।

५. **युग्मगीत**—श्रीमद्भागवत दशम 35वाँ अध्याय (सम्पूर्ण)—के २६ पद्य २६ ही रागों तथा ७ तालों में निबद्ध। इनमें भी मध्य के १२ युग्म को (दो-दो पद्यों के जोड़ों) को मिलते-जुलते रागों के १२ जोड़ों में बाँधा गया है। इस पर ओडिसीशैली में श्रीमती सोनल मानसिंह ने एकल नृत्य प्रयोग १८ फरवरी १९९६ में वृन्दावन में प्रस्तुत किया पुनः १८ नवं० ९६ वाराणसी में उसकी प्रस्तुति की।

६. **सङ्गीतगङ्गा**—इस शीर्षक से भारतीय सङ्गीत-शास्त्र तथा प्रयोग के इतिहास का वर्तमान पर्यन्त प्रवाह वर्णित करने वाली एक दृश्य-श्रव्य रचना प्रारम्भ हुई थी; उसके शीर्षक रूप तीन श्लोक तथा गीत की पद-स्वर-तालादि रचना करके ध्वन्यङ्कित करवा दी थी तथा प्रारम्भिक कथारूप लिख लिया था, किन्तु ''काल''—क्षेप से वह कार्य पूरा न हो सका।

७. **नवरस**—आकाशवाणी के लिए एक साहित्य-सङ्गीत परिचर्चात्मक संवाद निर्माण, उसके लिए संस्कृत पद्यों का चयन, गेय रचना तथा अपने शिष्यों तथा सहयोगियों के साथ स्वयं प्रस्तुति।

विशिष्ट कार्य ख (विदेशों में)

(*i*) **''मॉस्को-कॅन्ज़र्वटॉयर''** के शताब्दी समारोह में **भारत का प्रतिनिधित्व**—अॅक्टूबर १९६६।

(*ii*) **रोचेस्टर** वि०वि०, **न्यूयार्क**, (अमेरिका) के 'समर-स्कूल' में अध्यापन भारतीय सङ्गीत के दो पाठ्यक्रम—जून से अगस्त १९७०।

(*iii*) **'इण्टरनेशनल म्यूज़िकॉलोजिकल सोसाइटी'** के बारहवें अधिवेशन में—बर्कले, कैलिफोर्निआ (अमेरिका) में शोधपत्र प्रस्तुत किया—अगस्त १९७७।

(*iv*) **नॉर्थ कैरोलिना, शार्लट,** तथा **डेविडसन कॉलेज** N.C. (U.S.A.) में दो पाठ्यक्रमों में भारतीय रसशास्त्र तथा भारतीय सङ्गीत-परिचय विषयक अध्यापन, सितम्बर से दिसम्बर १९७८।

(*v*) **महात्मा गाँधी-संस्थान, मौरिशस** में प्रथम स्नातकीय परीक्षायें सञ्चालित-सम्पन्न की। —१९८१।

(*vi*) सप्तम विश्वसंस्कृत सम्मेलन-अधिवेशन—लाइडन, हॉलैंड में शोधपत्र प्रस्तुत—अगस्त १९८७।

(*vii*) **रूस (U.S.S.R) मॉस्को में** भारत-महोत्सव के अन्तर्गत **भारत का नेतृत्व** करते हुए Tradition and Modernity विषय पर विचार गोष्ठी में शोधपत्र-प्रस्तुत अॅक्टूबर १९८७।

XII. **विशिष्ट गुरुजन** : संस्कृत एवं पाठसंशोधन—**डा० परशुराम लक्ष्मण वैद्य** (राष्ट्रपति पुरस्कार से सम्मानित) दर्शन एवं समग्र—**महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज**
संस्कृत साहित्यशास्त्र—**पं० महादेव शास्त्री, पं० रामचन्द्र दीक्षित**
साहित्य-समग्र—**पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी,**
संस्कृत व्याकरण—**पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु,**
सङ्गीत—**पं० ओम्कारनाथ ठाकुर**
समग्र संस्कृति एवं कलादृष्टि—**डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल।**

XIII. **विशिष्ट अध्यापन एवं अनुसन्धान-निर्देशन** :

१. सङ्गीतशास्त्र के अध्ययन में आदिम स्रोतों के प्रत्यक्ष अध्ययन का सूत्रपात।

२. १६ शोधप्रबन्ध डी०म्यूज़ तथा पी-एच०डी० उपाधि के लिए (वैधानिक रूप से) निर्देशित एवं प्रस्तुत-स्वीकृत।

३. अनौपचारिक शोध-परक तथा ग्रन्थों के अध्ययन के लिए अनेकों देशी-विदेशी विद्वानों को मार्गदर्शन एवं प्रत्यक्ष अध्यापन।

XIV. **विदेश-यात्रायें** : रूस - १९६६, १९८७। अमेरिका १९७०, ७७, ७८। मॉरिशस - १९८१, हालैण्ड - १९८७ **(विशिष्ट कार्यों में सूचित सन्दर्भों में)**

XV. **विशिष्ट व्याख्यान एवं विचार-गोष्ठियों में योगदान** : देश के (प्राय: ५०) विभिन्न भागों में आयोजित गोष्ठियों में योगदान एवं शोधपरक व्याख्यान।

XVI. **भाषा-ज्ञान** : **हिन्दी के सभी रूप** (ब्रजभाषा, अवधी, मारवाड़ी आदि), **संस्कृत, अंग्रेजी, बंगला, गुजराती, पंजाबी,** उड़िया, असमी, मराठी, उर्दू, फ़ारसी (अल्प)।

XVII. **प्रकाशन—** :

क. पाठ-संशोधन सहित सम्पादन

१. रसविलासः (१९५२) संस्कृत
२. सङ्गीतराजः (१९६३) संस्कृत
३. सहसरस (१९७२) हिन्दी
४. एकलिङ्गमाहात्म्यम् (१९७६) संस्कृत
५. बृहद्देशी (१९९२) संस्कृत खण्ड १
६. बृहद्देशी (१९९४) संस्कृत खण्ड २
७. श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुः (१९९८) संस्कृत
८. श्री-उज्ज्वलनीलमणिः (अपूर्ण) ''
९. श्री-नाटकचन्द्रिका (अपूर्ण) ''

ख. सम्पादन

१. Vedic Mathematics 1965
२. चित्रकाव्यकौतुकम् १९६५
३. कविभारतीकुसुमाञ्जलिः १९६८
४. स्तोत्रभारतीकण्ठहारः १९६८, ७६ (दो भाग)
५. मन के उस पार १९६९
६. सख्यसंवाद १९७१
७. पावकस्फुलिङ्ग ७१
८. जीवनयोग ७३
९. कस्तूरबा ट्रस्ट की बहनों से ७३
१०. युग की माँग ७४
११. Thirty songs from Punjab and Kashmir—1994
१२. भारतीय सङ्गीत का इतिहास १९९४
१३. Indian Music, 1995
१४. भारतीय सङ्गीतशास्त्र का दर्शनपरक अनुशीलन १९९५
१५. नाट्यकल्पद्रुम—१९९८
१६. Śārṅgadeva and his Saṅgītaratnākara 1998
१७. सङ्गीतकलाधर (प्रायः पूर्ण; शीघ्र प्रकाश्य)
१८. NurRatnakar (प्रायः पूर्ण, शीघ्र प्रकाश्य)

ग. अनुवाद, टिप्पणी आदि सहित सम्पादन

संस्कृत से अंग्रेजी—

१. सङ्गीतरत्नाकर (दो भाग) १९७८, १९८८।

२. बृहद्देशी (दो भाग) १९९२, ९४।

संस्कृत से हिन्दी—

१. श्री भक्तिरसामृतसिन्धुः (भाग १)—१९९६ (भाग २)—(शीघ्र प्रकाश्य) टीकात्रयी (भाग ३) (अपूर्ण) (भविष्य में प्रकाश्य)

२. श्री-उज्ज्वलनीलमणिः (अपूर्ण) "

३. श्री-नाटकचन्द्रिका (अपूर्ण) "

बंगला से हिन्दी

१. जपसूत्रम् (प्रथम भाग) १९६६ " (द्वितीय भाग) १९९२

२. साधुदर्शन व सत्प्रसङ्ग १९७३

३. अमरवाणी १९७२

घ. पत्रिका-सम्पादन

१. नादरूप (प्रथम अङ्क) १९६०

२. ध्रुपद वार्षिकी (दस अङ्क) १९८६-९५

३. गवेषणा (एक अङ्क)१९९५

४. Indian Music Journal (सहसम्पादन) १९६४-८२

ङः विशिष्ट लेखन

१. **"रस-सिद्धान्तः, मूल, शाखा, पल्लव और पतझड़"**: वत्सलनिधि द्वारा आयोजित एवं पुस्तकाकार में प्रकाशित व्याख्यानमाला।

२. शताधिक (१०० से ऊपर) विशिष्ट लेख (देश-विदेश में) विभिन्न पत्रिकाओं तथा अभिनन्दनग्रन्थों में प्रकाशित।

XVIII. विविध

१—संस्कृत-प्रचार

१. सार्वभौम संस्कृत-प्रचार-कार्यालय, वाराणसी, की कार्यकारिणी की सक्रिय सदस्या, फिर अध्यक्षा।

२. अनेकों उपायों से संस्कृत-शिक्षण एवं प्रचार के कार्यों में तन-मन-धन से योगदान।

३. अपने सङ्गीतशास्त्र विभाग में अनेकों वर्षों तक 'संस्कृत दिवस' के आयोजन द्वारा विद्यार्थियों और सहयोगियों को संस्कृत सीखने की प्रेरणा एवं रुचि-वर्धन।

२—गोरक्षा-गोसेवा

१. भारतीय कृषि-गोसेवा-संघ, वाराणसी शाखा तथा गोरक्षा समिति, उत्तरप्रदेश की अध्यक्षा रहीं। इस सन्दर्भ में गोरक्षा-सत्याग्रहों में अनेक विधाओं से सक्रिय योगदान।

२. देश भर में अनेक स्थानों पर गोभक्त गोसेवारत महात्माओं सन्निष्ठ व्यक्तियों द्वारा चलाई जा रही गोशालाओं एवं अन्य गोसेवा-संस्थानों को समय-समय पर आर्थिक एवं वैचारिक सहायता।

३. सब के द्वारा अनायास हो सकने योग्य गोसेवा के उपायों के सूचक पत्रक स्वयं बनाकर प्रकाशन एवं वितरण। 'गोग्रास' - पत्रिका की आजीवन ग्राहकता स्वयं लेकर उसका भरपूर प्रचार।

४. १९६४-८५ पर्यन्त अपने निवास (न्यू ई/५, जोधपुर कॉलोनी का०हि०वि०) में स्वयं निष्ठा-सहृदयता-सहित **भारतीय नस्लों का पूर्ण भारतीय विधि से गोपालन।** हरियाणा—("गायत्री" का वंश 'सुरभि'-सन्तति तक) साहिवाल ('वृन्दा' का वंश 'मञ्जरी'-'सुमङ्गला' तक)*

३—सन्त-समागम

भारत में विद्यमान २० बीसवीं शताब्दी के अधिकतर मूर्धन्य चिन्तक-आध्यात्मिक मनीषी-महात्माओं से घनिष्ठ सम्पर्क स्नेह-भरा मार्गदर्शन पाया एवं यथा-अवसर उनकी सेवा जीवन का सतत अङ्ग रही। इनमें (ऊपर-) **"विशिष्ट-गुरुजनों" में उल्लिखित के अतिरिक्त** प्रमुख उल्लेखनीय साक्षात् सम्पर्क — गौड़ीय-सम्प्रदायाचार्य **श्रीश्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती,** म० म० आचार्य श्री **पुरीदास जी,** वेद-प्रतिष्ठापक योगेश्वर **स्वामी गङ्गेश्वरानन्द** (उदासीन) गणित-भौतिकी-तन्त्र-मर्मज्ञ **स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती, स्वामी अनिर्वाण, ब्रह्मर्षि दैवरात** (गोकर्ण) दक्षिणामूर्त्ति निरञ्जन पीठ के महामण्डलेश्वर **स्वामी महेशानन्द गिरि,** श्रीश्री **माँ आनन्दमयी,** राष्ट्र-सन्त **विनोबा भावे,** जीवनयोगिनी-अध्यात्ममयी **सुश्री विमला ठकार, श्री दादा धर्माधिकारी,** गोसेवा में समर्पित **श्री राधाकृष्ण बजाज** इत्यादि से रहा, तथा पुनः **श्रीश्री गोपालभट्ट गोस्वामी**-वंशधुरीण श्रीमध्व-गौड-श्रीचैतन्यसम्प्रदायाचार्य जगद्गुरु **श्री पुरुषोत्तम गोस्वामी** जी से सम्पर्क बढ़ा। इनके तत्त्वावधान में भक्तिसङ्गीत-प्रयोगों का सत्र चला।

४—धार्मिक अनुष्ठान

१. जीवन में कोई भी समस्या उठने पर प्रायः स्वयं नियम-सहित श्रीरामचरितमानस का एकाह्न अखण्ड पारायण (प्रायः १८ घण्टे में सम्पूर्ण पाठ) तथा भ० गीता-पाठ किया करती थीं।

२. श्रीमद्भागवत एवं श्रीमद्भगवद्गीता में निगूढ़ प्रेम-निष्ठा थी। जागते-सोते इनका चिन्तन मनन और अवसर पाते ही पारायण चलता ही रहता था।

३. दोनों नवरात्र में प्रतिदिन प्रथम पूजा में श्रीललितासहस्रनाम का पारायण करती थीं। श्रीविष्णुसहस्रनाम एवं श्रीनारायण कवच का तो दैनिक स्मरण में पाठ होता ही रहता था। उस पर भाष्यों तथा महात्मा-मनीषियों की व्याख्या का अध्ययन बड़े चाव से करती थीं।

४. वैदिक अनुष्ठानों, सस्वर वेदपाठ-श्रवण में विशेष रुचि थी। का०हि०वि० में अपने सङ्गीतशास्त्र विभाग में एवं निजी निवास में अनेक बार साम-गान तथा अथर्व-पाठ एवं उस पर परिचर्चा के आयोजन किये।

---

* द्रष्टव्य—**"गोवंशपञ्जिका"** तथा **"बहिनजी का गोकुल"**—लेख—ऊर्मिला।

जीवन के अन्तिम नौ वर्षों में अपने निवास ''आम्नाय'' में समय-सपय पर वेदध्वनि, सामगान का घोष कराने के अवसर आयोजित किये, जिनमें विशेष उल्लेखनीय हैं—१९९० में (२५ अगस्त)—श्री शङ्करनारायण श्रौती जी एवं शिष्यमण्डली द्वारा सामगान। १९९७ में (१२ जून) —**भीमरथशान्ति यज्ञ** में ७ वैदिकों द्वारा वेदध्वनि। १९९८ (१८ मार्च) २५ वैदिकों द्वारा सतत ४ घण्टे तक चारों वेदों की वाराणसी में उपलब्ध सभी शाखाओं के पाठ-युक्त **''वसन्तपूजा''**।

इस महान् जीवन यज्ञ की पूर्णाहुति—५.१२.९८—को वाराणसी में हो गयी।

सेयं गोपालिका धन्या प्रेमवल्ली स्वयम्प्रभा।
गोलोकवसतिं प्राप्ता गोविन्दद्रुममाश्रिता॥

—ऊर्मिला

.3.

BIO-DATA OF PROF. PREM LATA SHARMA*

1. Date of Birth — 10th May, 1927.
2. Place of Birth — Nakodar, Distt. Jalandhar (Panjab).
3. Educational Qualifications — B.A. (Delhi University) M.A. (Hindi) B.H.U. 1950. M.A. (Sanskrit) B.H.U. 1951. Shastracharya (Sanskrit Sahitya) B.H.U. 1955. Ph.D. (Sanskrit) B.H.U. 1954. Sangeetalankar (Vocal Music) B.H.U. 1955.
4. Distinguished Teachers :

   (*i*) Dr. P.L. Vaidya, Sanskrit and textual criticism, B.H.U.

   (*ii*) Pt. Omkar Nath Thakur, Vocal Music & initiation into Sangītaśāstra, B.H.U.

   (*iii*) M.M. Pt. Gopinath Kaviraj, Philosophy and general, Varanasi.

   (*iv*) Pt. Brahmadatta Jijñāsu, Sanskrit Grammer, Varanasi.

   (*v*) Pt. Mahadeva Sastri, Sanskrit Poetics, B.H.U.

   (*vi*) Pt. Ramachandra Dixit, Sanskrit Poetics, B.H.U.

   (*vii*) Prof. V.S. Agrawala (informal), B.H.U.

   (*viii*) Pt. Hazari Prasad Dwivedi (informal), B.H.U.

5. **Positions held :**

   (*a*) Teaching—

   (*i*) Lecturer in Music - 1955-57, B.H.U.

   (*ii*) Reader in theory of Music & Reaserch - 1957-81, B.H.U.

   (*iii*) Professor in Musicology - 1981-87, B.H.U.

   (*iv*) Emeritas Professor, Musicology, B.H.U. - Since 1993.

   (*b*) Academic-cum Administrative—

   (*i*) Ag. Principal, College of Music & Fine Arts, B.H.U. 1957-61

   (*ii*) Head, Department of Music & Fine Arts, B.H.U., 1957-61, 1964-66.

   (*iii*) Head, Department of Musicology, B.H.U., 1966-85.

   (*iv*) Dean, Faculty of Music & Fine Arts, B.H.U., 1957-61, 1964-66, 1969-71.

   (*v*) Dean, Faculty of Performing Arts, B.H.U., 1979-83.

---

* यह भी स्वयं बहिनजी द्वारा बनाया गया था। हिन्दी में तथा अंग्रेजी में कुछ भिन्न प्रकार से प्रस्तुति हुई है, कुछ ऐसे तथ्य भी यहाँ हैं जो हिन्दी में नहीं हैं, अत: दोनों यहाँ सङ्कलित किये गये हैं। —ऊर्मिला

(*c*) Academic and Executive Positions outside B.H.U.—

(*i*) Vice-Chancellor, Indira Kala Sangit Vishwavidyalaya, Khairgarh (M.P.)–1985-88. (On deputation from B.H.U. till 31st May, 1987, the date of retirement due to superannuation from the post of Professor, completed the three year term on 30.9.88. and handed over charge on 30.9.88.

(*ii*) Chairman, U.P. Sangit Natak Akademi, Lucknow, 1983-86.

(*iii*) Vice-Chairman, Sangit Natak Akademi, New Delhi, Since April, 1994.

6. **Membership of Important Bodies/Committees** :

(*i*) Music Audition Board, All India Radio, 1966-74.

(*ii*) Executive Board, Sangeet Natak Akademi, New Delhi, 1978-82.

(*iii*) Advisory Committee for Sanskrit, Sahitya, Akademi, New Delhi, 1979-84.

(*iv*) National School of Drama, Managing Society, New Delhi, 1978-82.

(*v*) Advisory Committee Kathak Kendra, New Delhi, 1978-82.

(*vi*) Bi-National Committee of the American Institute of Indian Studies, since 1984.

(*vii*) U.G.C. Panel on History of Art and Fine Arts since 1986.

(*viii*) Advisory and Editorial Committee for Natyasastra Prodject, Kalidas Academi, UJJAIN, since 1985.

(*ix*) Advisory Committee for Kala-tattva-kosa, Indira Gandhi National Centre for Arts, New Delhi, since 1987.

(*x*) High-powered Review Committee appointed by the Govt. of India for reviewing the working of the Sangit Natak Akademi, Sahitya Akademi, Lalit Kala Akademi and National School of Drama, New Delhi, in April 1988, under the Chairmanship of Sri P.N. Haksar. The Committee completed its work by August, 1989. (Report submitted in July 90)

7. **Awards** :

(*i*) Publication prize of Sangeet Natak Akademi, New Delhi, 1971.

(*ii*) Fulbright Fellowship, 1978.

(*iii*) Fellowship of U.P. Sangeet Natak Akademi, 1977-78.

(*iv*) Cash prize of Rs. 5,000/- from RACHANA, a Womens' organization in Calcutta for non-fiction literature 1980.

(*v*) Selected Fellow of the Sangeet Natak Akademi, New Delhi, 1992.

8. **Work Abroad** :

(*i*) Attended Centenary Celebrations of the Moscow Conservotoire as a representative of India in October, 1966.

(*ii*) Taught two courses on Indian Music in a Summer School organised at the University of Rochester, New York, (U.S.A.), June - August, 1970.

(*iii*) Presented a paper in the XII congress of the International Musicological Society at Berkeley, California (U.S.A.), in August, 1977.

(*iv*) Taught two courses on Indian Aesthetics and Introduction to Indian Music at University of North Carolina at Charlette, N.C. (U.S.A.) and the latter course also at Davidson College, N.C. in Sept. - Dec., 1978.

(*v*) Conducted the examination of the first batch of graduate students at Mahatma Gandhi Institute, Mauritius in 1981.

(*vi*) Presented a paper at the VII World Sanskrit Conference at Leiden (Holland) in August, 1987.

(*vii*) Participated in the Seminar on Tradition and Modernity held at Moscow as part of the India Festival in U.S.S.R. in October, 1987 as leader of the Indian group.

9. **Organisation of Seminars and Music Festivals** :

(*a*) **Seminars** :

(*i*) National Seminar on Language and Music organised in B.H.U. in Feb., 1976.

(*ii*) International Seminar on "Contribution of Abhinava-Gupta to Indian Culture" organised in October, 1981 in BHU.

(*iii*) National Seminar on the above subject organised again in Dec., 1982.

(*vi*) National Seminar on the Cultural Heritage of Chattisgarh organised at Khairagarh (M.P.) in March, 86.

(*b*) **Music Festival/Cultural Events** :

(*i*) Organised five cultural events in the VII world Sanskrit Conference held at B.H.U. in October, 1981.

(*ii*) Directed four massive festivals of Dhrupad in Vrindaban (1979, 1980), Nathadwara (1981) and Amba Jogai (Maharashtra, 1982), organised by the Sangeet Natak Akademi, New Delhi. **These festivals have given rise strong wave of revival of the Dhrupad form of Indian Music.**

10. **Reconstruction of Ancient Musical Forms and Production of Sanskrit Dramas** :

Reconstructed ancient musical forms in the context of Sanskrit drama. Directed sanskrit dramas and related forms in 1973, 75, 78, 81 and 85 in Ujjain, Varanasi and Lucknow.

11. **Research Experience** :

(*a*) Supervised the research work of numerous scholars out of whom Sixteen have been awarded the Ph.D. degree of the B.H.U. (1966-98)

(*b*) Provided informal guidance many Indian Scholars on an informal basis.

(*c*) Helped and guided many senior international scholars; some names are as follows :

(*i*) Prof. Harold S. Powers, University of Princeton, N.J. (U.S.A.)

(*ii*) Prof. Lewis Rowell, University of Indian, Bloomington (U.S.A.)

(*iii*) Prof. Anna Radicchi, Sienna, Italy.

(*iv*) Dr. Francoise Delvoye, France.

12. **Participation in Seminars, Special Lectures/Series of Lectures** :

(*i*) Participated in more than 40 National Seminars in Jaipur, Delhi, Udaipur, Varanasi, Allahabad, Kanpur, Bhopal, Ujjain, Khairagarh, Raipur, Madras, Cuttack etc.

(*ii*) Delivered special lectures in Delhi, Udaipur, Kurukshetra, Agra, Allahabad, Kanpur, Varanasi, Madras, Lucknow etc. in India and Amsterdam, Philadelphia, Charlotte etc., abroad.

(*iii*) Delivered series of lectures in Lucknow (1976), Mount Abu (1977), Delhi (1978 and 86) Bhopal (1982), Delhi (1986) etc.

13. Publications : (Main)

(*a*) **Critical Editions—**

(*i*) **Rasavilāsa** (a late work on Sanskrit Poetics), 1952.

(*ii*) **Sangitarāja** (a comprehensive Sanskrit work on Music), Vol. I, 1963.

(*iii*) **Sahasarasa** (a compilation of one thousand Dhrupad Song-texts), 1972.

(*iv*) **Ekalingamāhātmya** - (a pauranic genealogy of the Mewar dynasty), 1976.

(*v*) **Bṛhaddeśi** Vol. I & II

(*b*) **General Editions—**

(*i*) Nada - Rupa Vol. I, a journal of the college of Music and Fine Arts, B.H.U., 1960-61.

(*ii*) Citra-Kāvya-Kautukam, 1965.

(*iii*) Dhrupad Annual (ten numbers, 1986, 87, 88, 89, 90, 91, 92, 93, 94, 95)

(*iv*) Thirty Songs from Pujab and Kashmir, 1994.

(*v*) **Bhārtīya Saṅgīta kā Itihasa**, 1994.

(*vi*) **Indian Music**, 1995.

(*vii*) Nāṭya Kalpadruma 1998. And many other works in Sanskrit and Hindi.

(*c*) **Translations—**

(*i*) Sangita Ratnakara, Vol. I, II, annotated translation in English, with the assistance of Dr. R.K. Shringy, 1978, 1989. (Vol. III is going to be published soon)

(*ii*) Japasutram, Vol. I (from Bangali to Hindi), 1966. & Vol. II, 1992. And many other works from Bangali to Hindi.

(*d*) **Works under Preparation—**

(*i*) Bharata-Bhāṣya of Nānyadeva Critical earthics with translation and annotations.

(*ii*) Collaborating in the **Kala-tattva-Kośa** (glossary of fundamental terms in the arts) project of the Indira Gandhi National Centre for Arts, New Delhi.

(*iii*) A alonary of technical terms of Indian Music.

(*vi*) Mahākośa Project of Sangit Natak Akademi, New Delhi–taken up in 1.3.96.

14. **Unique Contribution** :

(*i*) Have done pioneering work in initiating serious studies in the textual tradition of Indian Music, Specially in Sanskrit.

(*ii*) Established the tradition of emphasising the study of primary sources for research in Indian Music.

(*iii*) Established and nurtured the Dept. of Musicology in the B.H.U., the only Dept. of its kind in the country.

(*iv*) Prepared serious research scholars who are doing commendable work; some names are..... Dr. Subhadra Chaudhary, Head, Dept. of Musicology, B.H.U. Prof. Indrani Chakravarthi, H.P. University, Simla. Vice Chanallor I.K.S.V. Khairagarh. Dr. N. Ramanathan, Professor in Music, University of Madras. Dr. Tej Singh Tack, Bhatkhande Sangit Mahavidyalaya, Lucknow. Dr. Anil Bihari Beohar, I.K.S.V. Khairagarh.

.4.

A BRIEF ACCOUNT OF THE DEPARTMENT OF MUSICOLOGY FACULTY OF PERFORMING ARTS BANARAS HINDU UNIVERSITY

In April 1949, the Senate (now called Academic Council) of the Banaras Hindu University, accepted a proposal for starting a School of Music & fine Arts with a Diploma Course extending over three years. The School of Music and Fine Arts started functioning from the 18th August 1949. Consequent on the receipt of a donation of Rs. two lakhs from Maharaja of Banaras in October 1949, the Senate resolved in May 1950 that "The School of Music and Fine Arts be henceforward designated as the College of Music and Fine Arts". Pandit Omkar Nath Thakur was appointed Principal of the College. The music classes used to be held in the evening in the Ruiya Hostel and later in the L.D. Guest House.

The College had three divisions (sections) in Music at that time namely, Vocal Music, Instrumental Music and Research Section. Professor Alain Danielou was working as Honorary worker as the Incharge of the Research section. There were two Research Assistants, one Copyist and one typist in the Research Section to assist him. Professor Alain Danielou (Shiva Sharan) Left India in a year or two.

Dr. (Miss) Prem Lata Sharma who was appointed in August 1955 for teaching theory to degree and Post-graduate students in Vocal and instumental Music, was asked to Supervise the work of the Research Section also.

In the year 1956, a full-time post of Reader was created by the University for teaching theory to degree and Post-graduate classes and for supervising the Research section. Dr. P.L. Sharma was then appointed to this post on a permanent basis from 1-8-1957.

In the year 1966, the three Sections were raised to the status of Statutory Departments. The Departments of Vocal Music, Instrumental Music and Musicology thus came into existence. Dr. Prem Lata Sharma was appointed head of the Department of Musicology and she continued in this capacity till the date of her retirement, viz, 31-5-1987.

In 1985, she went on deputation from B.H.U. to serve as the Vice-Chancellor of the Indira Kala Sangeeta Vishvidyalaya, Khairagarh for a period of three years from 31-8-1985 to Sept. 1988. The date of her retirement from the service of the Banaras Hindu University fell during this period.

In the year 1993 she was appointed Emeritus Professor of Musicology of the Banaras Hindu University.

The Department of Musicology was housed in Gujarat House from the year 1956. The Department was able to establish a good Library also. The Library was an essential part of Research in Musicology. It contains many rare manuscripts and books.

The Gujarat Guest House was constructed with the donation of Rajya Ratna Sri Nanjibhai Kalidas of Porbandar in 1954 (Vikram Samvat 2011) due to the efforts of Pandit Omkar Nath Thakur.

In 1954, when Dr. C.P. Ramaswami Aiyar joined as the Vice-Chancellor of the University, he appointed a Reorganisation Committee for revamping the courses and for recommending the requisite number of teaching and other posts for the music courses. As the Founder-Principal and Dean of the Faculty (Pt. Omkarnath Ji) was bed-ridden with heart trouble when the Committee started the work, Dr. Prem Lata Sharma acted as the Secretary of the Committee and the whole report was drafted by her in consultation with Pandit Omkarnath Thakur, Principal of the College and other members of the Committee. The Committee consisted of the following members:

1. Prof. P. Sambamoorthy, Madras
2. Dr. S.N. Ratanjankar, Lucknow (He did not attend anu meeting)
3. Pt. Vinay Chandra Maudgalya, Delhi.
4. Pt. Omkarnath Thakur, Convenor.

The courses that wre started in the Department of Musicology, from 1-8-1957 onwards were Ph.D., M.Phil., Master of Musicology and Diploma in Music Appreciation.

The teaching staff of the Department of Musicology consisted of only one post of Reader and one post of Instructor in Sanskrit till the year 1982. A post of Professor was created only in the year 1980. The Instructor's post was also upgraded in the year 1982. Persons who occupied these posts were:

- Dr. Prem Lata Sharma, Reader from 1-8-1957 and Professor from 8-4-1981.
- Dr. (Miss) Ranganayaki Ayyangar, Reader from 1-9-1982 and Professor (temp.) from 3-4-1987 Retired on 31.12.1987..
- Dr. Mrs. Vimla Musalgaonkar, Insrtuctor from 19-9-64 to the upgraded post of Lecturer from 3-8-1982 to 1-1-1989 *i.e.* upto the date of retirement.
- Dr. (Mrs.) Subhadra Chaudhary, Professor from 18-3-1993 to 31-5-1996, Date of retirement, continued teaching till June 1996.
- The Department is without a teacher from 1-7-1996.

Prof. Prem Lata Sharma organised the teaching and research work of the Department of Musicology from its inception, nurtured it and spared no pains to establish it as the only Department of its kind in India. She made very valuable contribution to Indian Music by initiating serious studies in the traditional Sanskrit Texts in Saṅgītaśâstra. She had also made valuable contributtion and research to Performing Arts as a Whole, both in Theory (śāastra) and Practice (Prayoga) encompassing Music, Dance and Drama. A list of some of the prominent Research Scholars, who have been trained by her is enclosed herewith which will show the great and outstanding service that she has rendered in the field of Musicology.

P.T.O

1. Prof. N. Rajam	Dean, Faculty of Performing Arts, B.H.U. (Retd.) Eminent Violinist
2. Prof. Ranganayaki Ayyangar	Musicologist (U.S.A.) and Vocal Artist, Karnatak Music, also worked in Deptt. of Musicology, B.H.U. Varanasi.
3. Dr. Anna Radicchi	Sanskritist and Indologist, Director Institute of Philology University of Cagliary, Italia.
4. Prof. Subhadra Choudhary	Musicologist, Reader in Musicology, Kharagarh University, Prof. and Head, Dept. of Musicology (Retd.)
5. Prof. N. Ramnathan	Musicologist, Dept. of Music, Madras University
6. Prof. Indrani Chakravarty	Musicologist and Sitarist, Prof. of Musicology, Kurukshetra Uni versity and Himanchal Pradesh University, currently Vice-Chance lor, Kharagarh University.
7. Prof. Chittaranjana Jyotishi	Dean, Faculty of Music sperforming Arts, B.H.U.
8. Prof. Pradip Kumar Dixit	Head of Depit.-Music sperforming Arts, B.H.U.
9. Dr. Tej Singh Tak	Musicologist, Lecturer in Musicology, Bhatkhande Vidyapeeth, Lucknow
10. Dr. Ritwik Sanyal	Musicologist, Philosophy, Dhrpad Vocalist, Reader and Head, Dept. of Vocal Music, BHU
11. Dr. Allyn Miner	Musicologist, Sitar Maestro, USA.
12. Dr. (Mrs.) Vimla Musalgaonkar	Sanskritist & Musicologist, Lecturer in Sanskrit and Musicology, Dept. of Musicology, BHU (Retd.)
13. Dr. Kamla Nautiyal	Musicologist,USA
14. Dr. Ramakant Dwivedi	Musicologist, Vocalist, Lecturer P.G. College, Firozabad (Retd.)
15. Dr. Anil Kr. Vyohar	Musicologist, Reader in Musicology, Khairagarh University.
16. Dr. Neeraj Kumar	Musicologist, Tabla, Research Assistant, Faculty of Performing Arts. BHU
17. Prof. Sudhakar Bhato	Musicologist, Sitarist, Professor of Music, Mahila Mahavidyalaya, BHU
18. Dr. Selina Theilmann.	Musicologist' Vocalist, specialised in Vaishnava Tradition. Author of Many Highly important books on Vaishnava Music.

Several other Research Scholars worked under Prof. Rangnayaki Ayyangar and Prof. Subhadra Choudhary after the retirement of Prof. Prem Lata Shama.

Some of the eminent Professors both in India and abroad who collaborated with Prof. Prem Lata Sharma were Prof. V.V. Sadgopan, Prof. Harold Powers of USA, Prof. Lewis Rowell of Indiana University, USA and Dr. Francoise Delvoye 'Nalini' of France. The Diploma Course in Music Appreciation attracted severl Foreign Scholars and Musicians towards pursuing Music along with Sanskrit, Philosophy and other Indological Studies.

.९.

एक साक्षात्कार में स्व-परिचय*

"सरकार ही Consumerism को प्रोत्साहन दे रही है—यह बहुत दुर्भाग्यपूर्ण है।"

—प्रो० प्रेमलता शर्मा

प्रश्न—आप सङ्गीत नाटक अकादमी की उपाध्यक्षा कैसे बनीं?

उत्तर—इस प्रश्न के उत्तर के लिए मेरे बचपन से ही उपस्थित परिणामों के बारे में जानना होगा, क्योंकि आज मैं जो भी हूँ वह उस-सब के परिणाम-स्वरूप हूँ।

प्रश्न—कृपया अपने बचपन के बारे में बताइये, बहुत उत्सुक हैं हम वह जानने को।

उत्तर—मेरे माता-पिता पञ्जाब के सुशिक्षित सारस्वत ब्राह्मण थे, नाना-नानी और उनके माता-पिता तक उस युग में भी बहुत उदात्त दृष्टि वाले थे जो कन्या और पुत्र में समान भाव तथा व्यवहार रखते थे। पिताजी रेलवे में Auditor होने के कारण दिल्ली-कलकत्ता-बम्बई फिर अधिकतर दिल्ली में रहना हुआ। बचपन का शिक्षण दिल्ली में हुआ था। मैं अपने माँ-पिताजी की अकेली सन्तान रही (एक मुझसे बड़ा और एक छोटा ऐसे दो भाई हुए थे पर वे शैशव में ही क्रमशः डेढ़ वर्ष, दस मास में दिवङ्गत हो गये थे)। इसलिए दोनों का अतिशय स्नेह मुझमें केन्द्रित था, वही मेरे नाम का प्रेरक था। पिताजी मुझे स्कूल भेज कर पढ़ाना नहीं चाहते थे, मैं मन में सब के साथ पढ़ना चाहती थी किन्तु उनके सामने जवाब देने की वह उमर नहीं थी।

प्रश्न—फिर कैसे चली आप की पढ़ाई?

उत्तर—एक ट्यूटर रोज हमारे घर आकर पढ़ाते थे। माँ और पिताजी स्वयं भी पढ़ाते थे। पहले ग्यारह साल तक घर में ही विद्याभ्यास किया। इसमें गायन, सितार-दिलरुबा बजाना, कुछ सिलाई-कढ़ाई-बुनाई करना, चित्रकला आदि भी शामिल था; केवल नृत्य के लिए एक नए खुले सांस्कृतिक विद्यालय में कुछ समय भेजा गया था।

प्रश्न—फिर आगे पढ़ाई कैसे चली?

उत्तर—उस समय (१९३८) पंजाब वि० वि० 'प्राइवेट मैट्रिकुलेशन' की परीक्षायें लेता था। अतः मैंने ग्यारहवें वर्ष में मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण कर ली।

प्रश्न—अरे! इतनी कम उम्र में ही दसवीं-पास?

उत्तर—हाँ, तब उम्र का सीमा-बन्धन नहीं था। इसलिए तभी फिर मैं दिल्ली के प्रसिद्ध इन्द्रप्रस्थ कॉलेज में 'इण्टर'

---

* आन्ध्र प्रदेश के तेलगू "आज"–"EENADU" (दैनिक समाचार पत्र) के "वसुन्धरा" स्तम्भ में २. अक्तूबर १९९४ के अङ्क में सम्मान्या "बहिनजी" का (पत्रकार के प्रति) यह साक्षात्कार सचित्र प्रकाशित हुआ था; उसी का यह हिन्दी अनुवाद अन्यत्र भी समय-समय पर हुई अभिव्यक्तियों से समन्वित रूप में प्रस्तुत है जिसमें स्वयं बहिनजी के शब्दों में उनका जीवन संक्षेप में प्रकट है।—सम्पा०

कक्षा में भरती हो गयी। लेकिन तीन महीने में ही कॉलेज जाना बन्द कर दिया, क्योंकि वहाँ की छात्राओं में हिल-मिल नहीं पायी, वातावरण का अन्तर बहुत था। बचपन से ही अकेली रहने, घर में ही सीधे शिक्षकों से पढ़ने की आदत थी।

प्रश्न—तो क्या तब आपकी पढ़ाई रुक गई?

उत्तर—नहीं, एक Tutorial College में जाने लगी। वहाँ बहुत कम लोग रहते थे। दो साल में Intermediate पूरा करके फिर इन्द्रप्रस्थ कॉलेज में बी०ए० में प्रवेश लिया। १९४२ में (१५ वर्ष वयस् में) डिग्री पूरी हुई।

प्रश्न—शास्त्रीय-सङ्गीत का शिक्षण कब प्रारम्भ हुआ?

उत्तर—आठ वर्ष की थी तब सितार सीखी थी, कुछ गाना भी। थोड़ा अभ्यास चलता रहा। फिर B.A. पूरा होने पर प्रायः सात वर्ष घर में ही रही थी। इस बीच पिताजी ने एक सत्यनिष्ठा की कसौटी पर खरे उतर कर सरकारी नौकरी छोड़ दी थी और गौडीय वैष्णव-सम्प्रदाय के प्रति श्रद्धा से खिंच गये थे, इधर देश-प्रेम के कारण महात्मा गाँधी के भी भक्त थे। मुझे और माताजी को गाँधी जी की सभाओं में अवश्य ले जाते थे, उनका साहित्य घर में पढ़ा जाता था और बंगाली-वैष्णव-सत्सङ्ग में श्रीमद्भागवत तथा श्रीचैतन्य-मत के ग्रन्थों का अध्ययन भी चलता था।

प्रश्न—उस स्थिति में बदलाव कब आया?

उत्तर—१९४८ में। उस समय हम लोग मथुरा में रहते थे। गौडीय-वैष्णव-सत्सङ्ग में शास्त्राध्ययन और सेवा-पूजा के निमित्त से गृहोपयोगी कलाओं के प्रयोग में लगे रहना होता था। पर शास्त्रीय सङ्गीत भलीभाँति सीखने की मेरी इच्छा बहुत प्रबल थी। इसी समय महात्मा गाँधी जी का देहान्त हुआ। उस घटना से मेरे पिताजी को बहुत सदमा पहुँचा था। मैंने सङ्गीत-विद्याभ्यास चालू रखना चाहा तो पिताजी सहमत हो गए। मथुरा में ही एक अच्छे मराठी सङ्गीत शिक्षक थे श्री व्यवहारे जी, वे घर आकर मुझे सिखाते थे (कुछ समय बाद उनका भी देहान्त हो गया)। भातखण्डे-सङ्गीत-विद्यापीठ द्वारा सञ्चालित सङ्गीत-प्रवेशिका-विशारद आदि परीक्षायें १९४९ तक उत्तीर्ण कर ली थीं। साथ ही साथ हिन्दी में M.A. की भी तैयारी करती रही। १९५० में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से हिन्दी M.A. की उपाधि प्राप्त हुई। तभी बनारस आने पर और आगे अध्ययन की तथा विधिवत् शास्त्रीय सङ्गीत में अग्रसर होने की मेरी इच्छा देखकर पिताजी यहाँ पं० ओङ्कारनाथ ठाकुर के पास मुझे ले गए। का०हि०वि० में छात्रावास में रहते समय वे मेरे स्थानीय अभिभावक हों ऐसी प्रार्थना भी की जिसे पू० पण्डितजी (फिर ''गुरुजी'') ने स्वीकार कर लिया।

प्रश्न—संस्कृत का अध्ययन कब किया आपने?

उत्तर—उस समय एक M.A. उत्तीर्ण हुए विद्यार्थी को दूसरा M.A. एक ही साल में पूरा करने का प्रावधान रहा। इसीलिए मैं १९५१ में संस्कृत M.A. भी हो गयी। M.A. के लिए भाषा माध्यम अंग्रेजी था। यहाँ का०हि०वि० में (प्राच्यविद्यासङ्काय) संस्कृत-महाविद्यालय भी था जहाँ भारतीय पद्धति से संस्कृत-माध्यम से ही संस्कृत का अध्ययनाध्यापन किया जाता था, उसमें रुचि होने से मैंने वहाँ साहित्यशास्त्र में आचार्य (M.A. के समकक्ष उपाधि) भी उत्तीर्ण किया। फिर "Studies in Bhaktirasa" विषय पर शोध करके संस्कृत-विभाग से Ph.D. उपाधि पाई। इधर पू० गुरुजी के पास शास्त्रीय सङ्गीत का अभ्यास चलता रहा उन्हीं की अध्यक्षता में का०हि०वि० में बने ''श्रीकला सङ्गीत भारती''—नामक महाविद्यालय से सङ्गीतालङ्कार उपाधि भी प्राप्त की। इस प्रकार १९५० से ५५ तक में ही हिन्दी तथा संस्कृत दोनों M.A, साहित्याचार्य, सङ्गीतालङ्कार तथा Ph.D. —ये सभी उपाधियाँ अर्जित कीं।

प्रश्न—आपका आजीविका-प्रारम्भ कैसे हुआ?

उत्तर—१९५५ में एक साथ मुझे अलीगढ़ वि० वि० में संस्कृत के एवं का०हि०वि० में सङ्गीत के प्रवक्ता-पद (Lecturership) के लिए नियुक्ति-पत्र मिले थे, तब का०हि०वि० (वाराणसी) का आकर्षण अधिक होने के कारण तथा पू० गुरुजी (पं० ओङ्कारनाथ ठाकुर) के साथ सङ्गीत-शास्त्रीय कार्य का अवसर होने के कारण मैंने सङ्गीत-प्रवक्ता-पद ही चुना। उस समय उस महाविद्यालय को विधिवत् सङ्गीत-कला-सङ्काय बनाने एवं इसके अन्तर्गत उपाधियों की संरचना की प्रक्रिया चल

रही थी। पू० गुरुजी के निर्देश से मुझे ही उस सब का मसौदा (Draft) भाषा (अंग्रेजी) में तैयार करना था। Sir C.P. Ramaswamy Aiar तब का०हि०वि० में V.C. थे। उन्होंने मेरा परिश्रम तथा अर्हतायें पहचान कर दो ही वर्ष बाद १९५७ में मुझे Reader पद पर नियुक्त किया। तब से १९८१ तक मैं Reader पद में रही।

प्रश्न—पहले दो ही वर्ष में आप Lecturer से Reader हो गयीं, फिर Professor बनने में इतना समय क्यों लगा? बड़े आश्चर्य की बात है।

उत्तर—'रीडर' रहते हुए ही मैं सङ्गीत तथा ललितकला सङ्काय में विभागाध्यक्ष, प्रिंसिपल, सङ्काय-प्रमुख आदि रूपों में कार्य करती रही क्योंकि मेरे सङ्गीतशास्त्र-विभाग में 'प्रोफ़ेसर' पद था ही नहीं, जब वह पद बना तभी उस पर नियुक्त हुई।

प्रश्न—फिर 'वाइस-चांसलर' कब बनीं?

उत्तर—१९८५ में मध्यप्रदेश में इन्दिरा-कला-सङ्गीत-विश्वविद्यालय, खैरागढ़ में मुझे V.C. होने के लिए बुलाया गया। १९८८ तक वहाँ रही, इधर १९८७ में का०हि०वि० से सेवामुक्ति (Retirement) हुई। वाराणसी में ही शेष जीवन रहते हुए शैक्षणिक कार्य करना चाहती थी इसलिए खैरागढ़ में V.C. पद की एक अवधि पूरी होते ही काशी चली आई।

प्रश्न—आप सङ्गीत नाटक अकादमी की उपाध्यक्षा (V.C.) कब, कैसे चुनी गईं?

उत्तर—१९७८ में ही केन्द्रीय सङ्गीत नाटक अकादमी की कार्यवाहिनी-परिषद् की सदस्या रूप में चुनी गई थी, उस रूप में प्रायः सभी उपयोगी कार्यों के निर्णय में मेरी सलाह एवं सूचनाओं का समादर होता था। मैं सं० ना० अ०—उत्तरप्रदेश की अध्यक्षा भी रही। **मैंने कभी भी 'पद' या 'प्रतिष्ठा' के लिए किसी भी स्तर पर याचना नहीं की। अनायास ही जब जो स्वयं सामने आया वह अपनी सत्यनिष्ठा और कार्य-गरिमा बनाए रखते हुए स्वीकार किया।** सं० ना० अ० (केन्द्रीय) द्वारा आयोजित सभी ध्रुपद-मेले तथा कथाकलि-महोत्सव, शार्ङ्गदेव पर अन्तर्राष्ट्रीय 'सेमिनार' जैसे अनेक आयोजन मेरे निर्देशन एवं रूपरेखाङ्कन में हुए थे। सङ्गीत-शास्त्र एवं प्रयोग-सम्बन्धी मेरे शोध-कार्यों का सम्मान करते हुए ही १९९२ में मुझे रत्न-सदस्यता प्रदान की गई तथा १९९४ में सर्वसम्मति से अकादमी की उपाध्यक्षता का दायित्व सौंपा गया।

इस प्रकार सभी उपलब्धियों में मेरी कार्य-स्तर-गरिमा की पहचान ही कारण बनी ऐसा मानती हूँ।

प्रश्न—Merrit और गुणवत्ता को पहचान मिलेगी—ऐसा आपको विश्वास है क्या?

उत्तर—क्यों नहीं है! वह पहचान न होती तो मुझ जैसे व्यक्ति को ये अवसर तथा इस तरह की प्रशस्तियाँ कैसे मिलतीं? **जिसने जीवन-भर कभी किसी से कुछ भी आशा नहीं की, अपने और अपनों के लिए किसी से कुछ चाहा नहीं, सत्यनिष्ठा और शुद्ध आचरण को शिथिल करने वाला कोई समझौता कभी नहीं किया।**

प्रश्न—जिन व्यक्तियों ने सङ्गीत एवं नाटक क्षेत्रों में परिश्रम किया है उनको Fellowship (S.N.A.का) मिलना चाहिए—इस बारे में कुछ कहिये।

उत्तर—इस प्रकार की अकादमी-फेलोशिप १९९२ में मुझे प्राप्त हुई ही है, यह प्रमाण है कि अकादमी इस दिशा में जागरूक है।

प्रश्न—कृपया फिर एक बार आप पीछे देखकर कहें कि कौन-सी चीज़ें आपको आनन्द और तृप्ति देती हैं?

उत्तर—जो ज्ञान, विद्या पाने के लिए अभिरत हैं, तत्पर हैं, उन लोगों की जिज्ञासा-अभिलाषा को पूरा करने में मुझे अपार आनन्द होता है। इसके अलावा सङ्गीत एवं साहित्य-विषयक जो ग्रन्थ-सम्पादन मेरे द्वारा हो पाये—रसविलास, सङ्गीतराज, सहसरस, बृहद्देशी (दो भागों में)—ये सभी आगामी जिज्ञासु-शोधकों के लिए बहुत उपयोगी होंगे, इससे भी मुझे सन्तृप्ति अनुभव होती है। फिर, नाट्यशास्त्र में कहे गये गीतकों एवं ध्रुवाओं का मर्म समझ कर तदनुसार उनके पुनर्निर्माण के प्रयोग कर पाई, जो वास्तव में बहुत कठिन कार्य था; इसी प्रकार भरत मुनि के बताए गए 'पूर्वरङ्ग' को भी प्रत्यक्ष प्रयोग में लाने का पुनर्गठन

एवं रचना का कार्य मेरे द्वारा हो पाया, बहुतों को वह विरासत दे पाई—यह सब भी परम्परागत सङ्गीत-प्रयोग के पुनरुज्जीवन के लिए उद्यमी व्यक्तियों को निस्सन्देह बहुत उपयीगी होगा इसका मुझे सन्तोष है।

इनके अलावा—सन्त गुरुजनों की सेवा में किए गए कार्यों में पुरी के ब्रह्मकालीन शङ्कराचार्य स्वामी भारतीकृष्ण तीर्थ जी के विश्व प्रसिद्ध ग्रन्थ (Vedic Mathematics) के सम्पादन तथा प्रकाशन में मेरा विशेष सहयोग था। उन्हीं के 'स्तोत्र-भारती-कण्ठहार:' (दो भाग) का सम्पादन तथा स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती के अद्भुत ग्रन्थ ''जपसूत्रम्'' का संस्कृत+बंगला से हिन्दी में अनुवाद एवं सम्पादन विशेष उल्लेखनीय तथा आनन्ददायी रहे।

प्रश्न—अपने साङ्गीतिक वैभव को कहाँ तक प्रदर्शित कर पाईं?

उत्तर—का०हि०वि० में सेवा प्रारम्भ करने से पहले और सेवा के आरम्भिक कुछ वर्षों में—कलकत्ता, वाराणसी, इन्दौर में सङ्गीत-अधिवेशनों में मञ्च पर ध्रुपद-धमार गायन ताल की विशिष्ट बारीकियों के साथ किया था, जो बहुत सराहा गया था। इनसे पहले एक बार सितार-वादन भी किसी सभा में किया था। फिर अध्यापन और **शास्त्रीय शोध-कार्यों, सम्पादनों में पूरी तरह लगने की अधिक आवश्यकता समझ में आने से प्रयोग-गत मञ्च-प्रदर्शन का मोह छोड़ कर उन कार्यों में जुट गई जो करने की क्षमता प्रायः सब में नहीं होती।** दोनों पक्ष साथ निभाना साध्य भी नहीं होता। हाँ, **विविध प्रकार से सङ्गीत रचना (गेय और पद दोनों) और विद्यार्थियों तथा सहयोगियों के साथ मिल कर उनके विनियोग-प्रयोग 'अभिनव-भारती'** (स्वयं-प्रेरित समुच्चय) तथा अपने सङ्गीतशास्त्र-विभाग द्वारा **निरन्तर चलते रहे।**

शैक्षणिक औपचारिक सेवाओं से निवृत्त होने के बाद वृन्दावन के श्री चैतन्य प्रेमसंस्थान की प्रेरणा से—श्रीमद्भागवत के तीन महान् गीतों (श्री भ्रमरगीत, वेणुगीत, युग्मगीत) श्रीरूपगोस्वामी-कृत विशिष्ट काव्य श्रीगोविन्दबिरुदावलि के कुछ अंशों तथा श्री सूरदास के पदों—को छन्द और भाव के अनुरूप राग-ताल-बद्ध करके उनको सम्पूर्ण सङ्गीत-योजना देते हुए विविध नृत्याभिनय-सहित प्रदर्शित करवाया। (१९९४-९६)। इन रचनात्मक साङ्गीतिक प्रयोगों में, मेरे भीतर पैठी पू० गुरुजी (पं० ओङ्कारनाथ ठाकुर) की आशीर्मयी प्रतिभा को खिलने का अवसर मिला था—इससे बहुत सन्तृप्ति मिली।

प्रश्न—सङ्गीत-नाटक-अकादमी की तरफ से अब आप क्या कर रही हैं?

उत्तर—सन् १९०० से लेकर १९३५ तक लिखे गए एवं प्रकाशित होकर अब अप्राप्य हो चुके **विविध-भारतीय भाषाओं के सङ्गीत-विषयक प्रचुर ग्रन्थों को पुनः प्रकाशित करने के लिए 'पुनर्नवा'-योजना** बनाई है, उसका कार्यान्वयन प्रारम्भ हो गया है। विभिन्न प्रदेशों में हो रहे नृत्य-सङ्गीत-नाटकादि के शिक्षण-कार्यक्रमों को समुचित सहायता भी यथासम्भव दी जा रही है।

प्रश्न—आप गर्व से कह सकें ऐसे अपने विद्यार्थियों के नाम बताइए।

उत्तर—प्रो० डॉ० एन्० रामनाथन् (मद्रास वि० वि०) प्रो० डॉ० इन्द्राणी चक्रवर्ती (हिमाचल वि० वि० शिमला) डॉ० सुभद्रा चौधरी (इं० क० सं० वि० वि० खैरागढ़) डॉ० ऋत्विक् सान्याल, डॉ० सुधाकर भट (दोनों का०हि०वि०) डॉ० तेजसिंह टाक (भातखण्डे सं० लखनऊ) डॉ० अनिल ब्योहार (खैरागढ़ वि० वि०) डॉ० एलेन माइनर (अमेरिका)—इत्यादि अनेकों विभिन्न विश्वविद्यालयों की सङ्गीत-शाखाओं में हैं।

प्रश्न—हमने सुना है आपने 'भंरतनिधि' नाम से एक न्यास एवं संस्था बनाई है।

उत्तर—हाँ, १९८९ में वाराणसी में निजी मकान ('आम्नाय') लेकर स्थिर होने पर 'भरतनिधि'-न्यास बनाया। तभी से इसके द्वारा सङ्गीत-नृत्याभिनयादि कलारूपों के सुचारु संरक्षण का प्रयास कर रहे हैं। आन्ध्रनाट्यम् के दिग्गज नटराज रामकृष्ण की सूचना पर 'सहृदे'-श्रीमती माणिक्यम्मा के 'अध्यात्मरामायणम्' गायन-अभिनय को दृश्य-श्रव्य रूप में संरक्षित किया (Vidio Documentation) श्रीमती कलानिधि नारायणन् का भी सोदाहरण व्याख्यान उसी प्रकार संरक्षित किया। अन्य भी अनेक गतिविधियाँ इस दिशा में होती रहती हैं।

प्रश्न—विविध कलारूपों से आपके सम्बन्ध और अनुभव से आपने क्या Notice किया ?

उत्तर—हम लोगों (भारत) के सभी कला-रूप भिन्न-भिन्न प्रान्तीय परिमल से सुवासित हैं फिर भी **प्रत्येक में सौन्दर्य-दृष्टि और भगवत्-तत्त्व का विविध प्रतिपादन इन्हें एक सूत्र में पिरोये हुए है।**

प्रश्न—विवाह के बारे में कुछ कहेंगी ?

उत्तर—आरम्भ से ही विद्याभ्यास में चित्त रहने से वैवाहिक जीवन में मेरी विशेष रुचि नहीं थी, इसीलिए उसके विषय में सोचा नहीं। मेरे संस्कारों तथा विद्या-आदि के अनुरूप कोई पात्र न दिखने से माँ-पिताजी ने भी उस ओर बल नहीं दिया।

प्रश्न—इतने वर्षों के जीवन में आपने क्या परिवर्तन देखा ?

उत्तर—मेरे बचपन से अब तक मैंने देखा है कि सामान्य रूप से मनुष्यों के जीवन में स्वार्थपरता बढ़ती गई है और परिवार-भावना बहुत सङ्कुचित होती गई है। देश के लिए और पूरी दुनिया के लिए सोचना तो बहुत दुर्लभ हो गया है। एक दुर्भाग्य यह है कि सरकार भी उपभोगवाद Consumarism को प्रोत्साहन दे रही है। **दूर-दर्शन जैसी सरकारी संस्था में भी छिछले मनोरञ्जन-व्यापार की प्रधानता छाई हुई है, यह गर्हणीय है। चारों ओर स्वार्थ-भरा कलुषित वातावरण है, तुच्छ स्तर की भोगवादी-वृत्ति व्यापार की जड़ बनी फैली हुई है। उसमें फिर हर विज्ञापन में स्त्री का तुच्छ स्तर ही दिखाने का ढंग बहुत आपत्तिजनक है। यह सभी कुछ जिस जीवन-शैली का निदर्शन कराता है वह अत्यन्त दुःखद है। भारतीय संस्कृति को बुरी तरह मिटा डालने पर तुले हैं सारे रंग-ढंग—यह देखकर मुझ जैसे सहृदय भारतीयों को व्यथा होना स्वाभाविक है।**

प्रश्न—महिला-अभ्युदय के लिए क्या उपाय किए जाने चाहिएँ, कौन असल में इस आवश्यकता को आगे बढ़ाएगा ? इस बारे में आपका क्या अभिमत है ?

उत्तर—बहुत सदियों से स्त्रियों को विद्या से दूर रखा गया, उसका परिणाम और प्रतिक्रिया इस शताब्दी तक अनेक रूपों में असन्तुलनों में देखने में आ रही है। सरकार और कुछ करे या न करे इतनी सुविधा तो उपलब्ध करा ही दी गई है कि लड़कियाँ कम से कम दसवीं कक्षा तक पढ़ सकें। समाज को ही यह दायित्व उठाना होगा कि उन सुविधाओं का उपयोग होने में बाधा न डाली जाय। लड़के और लड़की को समान भाव से देखना तो सरकार नहीं सिखा सकती न! दूसरी ओर यह ध्यान देने की बात है कि प्रचलित शिक्षण-पद्धति में स्थित पाठ्यक्रमों को भली भाँति बदलना आवश्यक है। आलोचनात्मक, समझ का विस्तार करने वाली एवं व्यक्तित्व का विकास करने में सक्षम शिक्षण पद्धति आनी चाहिए। विभिन्न अभिरुचियों के अनुसार विषयों को चुनने की सुविधा रहनी चाहिए। **लड़कियों-लड़कों दोनों को अपने सामर्थ्य के अनुसार अध्ययन कर पाने का अवसर मिलना चाहिए। मेरे तो नाना-नानी भी इतना समझते और अमल में लाते थे। नानी तो अपने बचपन में अच्छी घुड़सवारी और गाँव की नदी में तैरना तक जानती थी, फिर अपने-आप घर (मायके) में ही धार्मिक चित्र बनाना, कपड़ा-दरी-निवाड़ आदि बुनना, कलात्मक ढंग से चारपाई-पलँग बुनना, मिट्टी और पौधों से रंग बना लेना तक सीख गयी थी,** जिसकी विरासत बहुत थोड़े-थोड़े अंश में हमारे मामा-मौसी सीख पाये क्योंकि नानी किसी पर थोपती नहीं थी—''जिसमें जैसी लगन होगी वह सीख लेगा'' —यही कहती थी। नाना ने भी सब बच्चों को विद्यालय भेजा था, पर हिदायत थी कि ''जो लड़का या लड़की जिस कक्षा में 'फेल' हो जाए, उसकी पढ़ाई वहीं तक होगी, फिर कोई काम सीखना होगा अपने पाँव पर खड़े होने लायक।''

समाज में यदि यह 'रवैया' अपनाया जाता रहे तो बहुत अच्छे परिणाम सामने आ सकते हैं।

प्रश्न—'वसुन्धरा'-पाठकों के लिए आपका सन्देश क्या है ?

उत्तर—भावनाओं एवं आकांक्षाओं को उन्नत आदर्श की ओर मोड़ना चाहिए। प्रलोभनों एवं व्यामोहों को दूर रख कर अपने चुने हुए मार्गों से काँटे निकाल कर, औरों के लिए सुगम बना कर लक्ष्य की ओर बढ़ना चाहिए।

समाज में स्त्रियों के प्रति जो न्यूनता की भावना अभी तक बनी हुई है, उसका निराकरण स्वयं स्त्रियों को ही अपने जीवन की उन्नतता सामने लाकर करना चाहिए। **प्रत्येक बालिका एवं स्त्री को स्वयं भीतर से उन्नत होने का प्रयत्न करना चाहिए। जिससे उसकी आत्मिक-चैतसिक सम्भावनायें खिल सकें।**

.६.

विशिष्ट-कर्म-पञ्जिका *

१९५२

भूदेवशुक्ल-रचित 'रसविलासः' का पाठसंशोधन सम्पादन-प्रकाशन (श्र० प्रो० परशुराम लक्ष्मण वैद्य द्वारा प्रोत्साहित प्रथम पाठसंशोधन-सम्पादन)

१९५३

फरवरी—पू० गुरुजी (पं० ओंकारनाथ ठाकुर) की अनुपम स्वरयोजना-युक्त सङ्गीतरूपक **'कामना'** (-जयशङ्कर प्रसाद-कृत नाटक) के मञ्चन में **'विवेक'** की भूमिका। इस रूपक की प्रस्तुति की तैयारी में (तीन प्रमुख पात्रों के अतिरिक्त) अन्य सभी को उन-उनकी भूमिका का संगीत सिखाना, प्रमुखों को भी सहायता करना। पूज्य गुरुजी मुझे सिखा देते थे फिर आगे सबको सिखाना—अभिनय करवा लेना आदि दायित्व मेरा रहता था। इस नाते **सम्पूर्ण 'कामना' रूपक की संगीतरचना मुझे कण्ठस्थ** हो गयी थी, जो अब (१९९१) तक ज्यों की त्यों बनी हुई है। पर इसे संरक्षित करने का अवसर नहीं पाया है, शायद यह मेरे साथ ही लुप्त हो जायेगी। *[वही हुआ भी। —ऊर्मिला]*

१९५४-५६

श्रीकलासङ्गीतभारती की पुनर्व्यवस्था समिति (Re-organisation Committee) का पूरा कार्य, मसविदा बनाना आदि किया।

१९५७

पू० गुरुजी का हीरक-जयन्ती-महोत्सव आयोजित किया; उसकी पुस्तकें (विशद जीवन-परिचय तथा विवरण आदि समस्त) लिखकर प्रकाशित कीं।

१९५५-६२

पू० गुरुजी की पुस्तकों के लेखन, सङ्कलन, सम्पादन आदि में पूर्णतया योगदान।

---

* स्वयं बहिनजी द्वारा १९९१ में अपने का०हि०वि० में व्यतीत तथा तदुपरान्त अन्य कर्म-जीवन पर दृष्टि डालते हुए लिखी गई—१. कर्म पञ्जी, २. 'काशीविचारवलय'—पञ्जी ३. भरतनिधि-कार्य कलाप-पञ्जी यह का समन्वित रूप तथा ४. १९६४-८६ तक हुई गोसेवा के समय लिखी हुई गोवंश-पञ्जिका यहाँ प्रस्तुत है, ५. उल्लेखनीय घटना-तालिका भी उनकी लिखी हुई है किन्तु वह सूत्र-रूप में है, अतः नहीं दी जा रही है।
वास्तव में इन सब पञ्जियों को, दोनों जीवनवृत्तों को तथा ''साक्षात्कार ''—विवरण को लेकर ही पू० बहिनजी का **कर्म** अधिकांश समझा जा सकता है, किसी एक में वह समाता नहीं।
—सम्पा०

सङ्गीताञ्जलि भाग ३ — १९५५ में प्रकाशित
प्रणव-भारती भाग १ — १९५६ में प्रकाशित
सङ्गीताञ्जलि भाग ४ — १९५७ में प्रकाशित
सङ्गीताञ्जलि भाग ५ — १९५८ में प्रकाशित

१९५८

अक्टूबर—आकाशवाणी, दिल्ली में ठा० जयदेवसिंह द्वारा आयोजित सेमिनार ''राग-लक्षण'' परक में शोधपत्र प्रस्तुत किया, इस सेमिनार में के० वासुदेव शास्त्री एवं स्वामी प्रज्ञानानन्द आदि वरिष्ठ विद्वान् सहभागी थे।

१९५९

दिसम्बर—राजस्थान-संगीत-नाटक-अकादमी के आयोजन में जयपुर में संगीतशिक्षा पर सेमिनार, उसमें विशेष पत्र-व्याख्यान।

१९६०

फरवरी—काशी-संगीत-परिषद् की संगीत-कॉन्फरेन्स में ध्रुपद-गायन-शेषताल।

ऑक्टूबर—अभिनव कला समाज, इन्दौर के बृहद् आयोजन (Open air) में ख्याल, तराना, ध्रुपद-गायन।

नवम्बर—''नादरूप''—प्रथमखण्ड सम्पादन प्रकाशन।

दिसम्बर—मद्रास म्यूज़िक एकेडेमी में 'ग्राम' पर सोदाहरण व्याख्यान।

१९६१

नवंबर—उज्जैन में लोक-संस्कृत-सम्मेलन में सोदाहरण व्याख्यान;

सदारंग-संगीत-संसद, कलकत्ता में धमार-गायन।

दिसम्बर—मद्रास-म्यूज़िक एकेडमी में सोदाहरण व्याख्यान।

१९६२

अक्टूबर—उदयपुर, महाराणा-कुम्भा-उत्सव में दो भाषण।

नवंबर—आकाशवाणी (A.I.R.)—आयोजित ठुमरी पर सेमिनार में प्रपत्र प्रस्तुत।

१९६३

फरवरी—संगीतराज:-प्रथम खण्ड (बृहदाकार) का सम्पादित प्रकाशन।

अक्टूबर—महाराणा कुम्भा-समारोह में विशेष-व्याख्यान।

आकाशवाणी (A.I.R.) आयोजित सेमिनार 'Light Classical Music' में प्रपत्र प्रस्तुत।

१९६४

नवंबर—महाराणा कुम्भा-समारोह उदयपुर में व्याख्यान।

१९६५

अप्रैल—दिल्ली-संगीत-समाज में भाषण।

ॲक्टूबर—"चित्रकाव्यकौतुकम्" प्रकाशन, सुमेरु पीठाधीश्वर जगद्गुरुशङ्कराचार्य स्वामी महेश्वरानन्द सरस्वती की अध्यक्षता में, घर (का०हि०वि०—जोधपुर कॉलोनी—नया ई/५) पर विराट् विद्वत्कवि सभा का आयोजन, जिसमें काशी के तात्कालीन प्रायः सभी मूर्धन्य विद्वान् उपस्थित हुए थे। उसी में कवि-संस्था—

"कविभारती"—गठन की घोषणा की गयी।

नवंबर—म० कुम्भा—समारोह, उदयपुर में गायन (ख्याल एवं ध्रुपद)।

१९६६

अक्टूबर—Moscow Conservatoir के शताब्दी समारोह (Centenary Celebrations) में भारत के सरकारी प्रतिनिधि रूप में सम्मिलित।

'जपसूत्रम्' प्रथमखण्ड-प्रकाशन।

१९६७

मार्च—संगीतनाटक अकादमी, दिल्ली द्वारा आयोजित "गीतगोविन्द"—सेमिनार में सक्रिय योगदान।

नवंबर—म० कुम्भा समारोह (अन्तिम बार) में उद्घाटन भाषण।

१९६८

मार्च—रवीन्द्रभारती में 'पद' पर व्याख्यान।

मई—"कविभारती-कुसुमाञ्जलिः"—सम्पादन-प्रकाशन।

१९६९

दिसंबर—मद्रास म्यूज़िक अकादमी में—

"Mela and Thata Vis-a-vis Grama System." पर सोदाहरण व्याख्यान।

१९७०

मार्च—संगीत नाटक अकादमी में "Science and Music" पर सेमिनार में सक्रिय योगदान

जून से अगस्त—Rochester-NewYork में Summer School में दो Course पढ़ाए—

1. Song Texts 2. Sangeeta Darpana.

अगस्त—Deptt. of South Asian Studies (Philadelphia Pensilvania U.S.A.) में 'व्यञ्जना' पर सोदाहरण व्याख्यान।

सितम्बर—Tropical Museum, Amsterdam (Holand) में सोदाहरण व्याख्यान।

अक्टूबर—A.I.R. आयोजित 'हार्मोनियम' पर सेमिनार में प्रपत्र-योगदान।

दिसंबर—International Yoga Conference, दिल्ली, में भाषण।

१९७१

फरवरी—का०हि०वि० में पाँच दिन के ध्यान-शिविर (सं० विमला ठकार) का आयोजन।

''पावक-स्फुलिङ्ग''-संकलन, सम्पादन, प्रकाशन।

अप्रैल—'सख्य-संवाद'—संकलनादिपूर्वक प्रकाशन।

१९७२

मार्च—का०हि०वि० में छात्रों के अध्ययन-शिविर (सं० विमला ठकार) का आयोजन।

मई—इसी शिविर की विवरण-पुस्तक-''युग की माँग'' A challange for the Youth का प्रकाशन।

सितंबर—अपने (संगीतशास्त्र) विभाग में विशिष्टस्तर पर 'संस्कृत-दिवस' का आयोजन। इसके लिये संस्कृत में—संगीतशास्त्राध्ययन-सम्बन्धी संवाद, ध्रुपद, गीत आदि स्वयं लिखे।

अक्टूबर—'सहसरस' का सम्पादन-प्रकाशन।

नवंबर—खैरागढ़ में सेमिनार में योगदान।

१९७३

सितम्बर—संगीतशास्त्रविभाग में संस्कृतदिवस पर पूर्ववत् सब रचनायें कीं।

अक्टूबर—का०हि०वि० में 'सङ्गीत-शिक्षा' सेमिनार पाठ्यपुस्तकों पर व्याख्यान।

नवंबर— कालिदास-समारोह, उज्जैन के लिये 'कालिदास-सङ्गीतम्'—शीर्षक बनाकर उसके अन्तर्गत 'कालिदास-मङ्गलम्' (सभी ग्रन्थों के मङ्गलाचरणों को राग-ताल-बद्ध करके) तथा 'प्राकृत-गीतावली' का संकलन, स्वर-रचना और प्रस्तुति। **इससे उज्जैन-समारोह में का०हि०वि० को 'स्वर्णकलश'** प्राप्त हुआ।

१९७४

जून—भुवनेश्वर, संगीत-महाविद्यालय में Convocation में दीक्षान्त-भाषण।

सितम्बर—सं०शा० विभाग में संस्कृत-दिवस। पहले की तरह विविध रचना कीं।

अक्टूबर—इन्दौर में गान्धर्व महाविद्यालय के शिक्षण-सम्मेलन में 'प्राथमिक शिक्षा'—'वर्कशॉप' का सञ्चालन।

नवंबर—कालिदास-समारोह उज्जैन में व्याख्यान।

दिसंबर—जबलपुर में भारतीय संगीत विद्यालय में व्याख्यान।

१९७५

जनवरी—दिल्ली में कला-परिषद् के आयोजन में (स्वरचित) संस्कृत-काव्य-पाठ।

फरवरी—(सं०ना० अकादमी के द्वारा आयोजित) प्रथम ध्रुपदमेले में प्रातः गोष्ठी में 'संगीत-शिक्षोपयोगी ध्रुपद के पद' पर सोदाहरण व्याख्यान।

मई—भुवनेश्वर में Regional College of Education में Teacher's Refresher course में दो व्याख्यान, शिविरार्थियों को श्री षड्गोपन् जी के रचित बाल-संगीत-शिक्षण के कुछ गीत ('भालू!' 'बन्दर' 'साइकिल-मोटर') सिखाये।

नवंबर—कालिदास-समारोह, उज्जैन में 'मालविकाग्निमित्रम्' की प्रस्तुति, पुनः 'स्वर्णकलश'—प्राप्ति।

१९७६

फरवरी—का०हि०वि० में Language and Music (भाषा और सङ्गीत) पर सेमिनार का आयोजन उसमें स्वयं साहित्यशास्त्र एवं सङ्गीतशास्त्र पर व्याख्यान।

नवम्बर—गोवा (रामनाथी) में संगीतशिक्षा के सम्मेलन में अध्यक्षीय भाषण।

दिसम्बर—भातखण्डे-सङ्गीत महाविद्यालय की सुवर्ण जयन्ती पर 'निबद्ध-अनिबद्ध' पर पाँच भाषण।

१९७७

फरवरी—भातखण्डे संगीत महाविद्यालय की सुवर्ण जयन्ती में आयोजित विचार गोष्ठी में भाषण।

अप्रैल—विश्वभारती (शान्तिनिकेतन) हिन्दी भवन में हलवासिया-स्मारक तीन व्याख्यान।

अगस्त—International Musicological society की बारहवीं Conference-Berkelay में 'राग और रास' पर तीन व्याख्यान

अक्टूबर—आबू (पर्वत), राजस्थान, में श्र० विमला ठकार के सान्निध्य में International study camp में छह भाषण।

३१. अक्टूबर—बड़ोदा विश्वविद्यालय में सेमिनार में भाषण।

१९७८

जनवरी—नागरीनाटक मण्डली प्रेक्षागृह, वाराणसी में—'अभिनयभारती' द्वारा 'उत्तररामचरितम्' का [illegible] मञ्चन (प्रथम)

फरवरी—लखनऊ में—'उत्तररामचरितम्' का मञ्चन (द्वितीय)

अगस्त—राष्ट्रीय नाट्यविद्यालय (N.S.D.) दिल्ली में नाट्य-विषयक दो व्याख्यान।
'गमक' पर दो व्याख्यान—सं०ना० अकादमी दिल्ली में।

अगस्त से दिसम्बर— Charlette N.C. (कैलिफोर्निया) में दो 'कोर्स' और Davidson College में एक 'कोर्स' पढ़ाया। Charlette में 'Rasa' पर एक विशेष व्याख्यान। Philosopher's club में व्याख्यान 'Type' पर। Davidson में तीन भाषण, गायन भी।

दिसम्बर में University—Wesreleyan, Middle Town conference में 'Rasa' पर व्याख्यान।

उ०प्र० संगीत—नाटक अकादमी की 'रत्न-सदस्यता' (Fellowship) मिली।

१९७९

मार्च—दिल्ली, कथककेन्द्र में 'मन्दिरों में कथक'—सेमिनार में अध्यक्षता और भाषण किये।

अप्रैल—कलापरिषद्, भोपाल, में संस्कृत-काव्य पाठ।

अक्टूबर—सं०ना० अकादमी, दिल्ली की ओर से वृन्दावन में प्रथम ध्रुपद मेले का आयोजन, सञ्चालन किया। इसमें प्रातः सभा में 'सेमिनार' रहता था और सायं से मध्यरात्रि तक सङ्गीत-प्रयोग।

इसी समय एक पृथक् वैष्णव-सभा (सार्वजनिक) में परम पूज्यपाद श्री रासबिहारी गोस्वामी जी के आदेश से मङ्गलाचरण तथा पूर्णाहुति में कुछ श्लोक एवं भजन (बिना किसी स्वर-वाद्य के ही) गाये, जिससे पू० गोस्वामीजी अतिशय प्रसन्न हुए और कहा—''जीजी! आपने कैसे इस पत्थर के भवन का मूल-स्वर पकड़ लिया? आदि-अन्त दोनों समय पूरी तरह वही स्वर रहा—पूरा भवन संवाद में स्पन्दित (''झनझना रहा'') था। ऐसी स्वरसिद्धि केवल पं० ओंकारनाथ जी में देखी थी और कहीं नहीं। ....''

नवम्बर—'Technical Terminology' पर अखिल भारतीय 'सेमिनार' का०हि०वि० में आयोजित-सञ्चालित किया।

१९८०

फरवरी—भारत कला भवन (का०हि०वि०) में 'गुप्तकाल'—सेमिनार में व्याख्यान। 'मुद्राराक्षस' नाटक के लिये सङ्गीत-रचना तथा निर्देशन।

मार्च—कलकत्ता में 'अनामिका' संस्था के अन्तर्गत 'नाट्यशास्त्र-परिसंवाद' का सञ्चालन तथा सक्रिय योगदान।

दिल्ली-कथककेन्द्र में व्याख्यान।

अक्टूबर—वृन्दावन में सं०ना० अकादमी की ओर से ध्रुपद मेला-आयोजन, (उसके अन्तर्गत विचारगोष्ठी भी)। इस बार श्रीमती कमलादेवी जी का आगमन। इस ध्रुपद मेले में प्रातः सत्र में युवा-कलाकारों के गायन आदि।

१९८१

जून— दूरदर्शन में साक्षात्कार 'गुरुजी' (पं० ओंकारनाथ ठाकुर) पर विशेष 'फ़ीचर' दिल्ली।

मद्रास में—कुप्पूस्वामी शास्त्री-शतवार्षिकी में व्याख्यान शास्त्र और सम्प्रदाय पर।

कलकत्ता में—सङ्गीत रिसर्च अकादमी में दो व्याख्यान।

अगस्त—पणिक्कर के 'मध्यम-व्यायोग' नाटक का आयोजन।

अक्टूबर—World Sanskrit Conference (विश्व-संस्कृत-सम्मेलन) के लिये समस्त सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन। इसमें 'मालविकाग्निमित्रम्' की प्रस्तुति, वाराणसी। तथा—पञ्चवाद्यम् (तमिल), कूड़ियाट्टम् (केरल),भावना (बंगाल), डागर-रुद्रवीणा, ध्रुपद-पं० सियाराम तिवारी।

नवम्बर— उज्जैन में—विक्रम कीर्त्तिमन्दिर में व्याख्यान। कालिदास समारोह में 'विक्रमोर्वशीयम्' की प्रस्तुति। शिमला हिमाचल वि०वि० में दो व्याख्यान।

मॉरीशस में महात्मा गाँधी इंस्टीट्यूट में B.Mus. की परीक्षा ली।

वहीं पर 'रस' पर व्याख्यान दिये।

दिसम्बर—मध्य प्रदेश कलापरिषद्, भोपाल में 'प्रबन्ध' पर दो व्याख्यान।

१९८२

जनवरी अन्त **फरवरी** प्रारम्भ—श्रीनाथद्वारा में तृतीय ध्रुपद सम्मेलन।

अप्रैल—उज्जैन, विक्रम कीर्त्ति मन्दिर में दो व्याख्यान।

जून— भारतभवन, भोपाल में Music Appriciation पर तीन व्याख्यान।

उज्जैन में कालिदास-अकादमी द्वारा प्रस्तुत विक्रमोर्वशीयम् चतुर्थ अङ्क में सङ्गीत-निर्देशन, अपनी सङ्गीतरचना में ध्रुवाओं का गान कराया। 'ध्रुवा-प्रयोग' पर व्याख्यान।

नवम्बर—भोपाल में 'डागर-सप्तक' में ठा० जयदेव सिंह के साथ डागरों से चर्चा।

दिसम्बर—अपने संगीतशास्त्र विभाग (का०हि०वि०) में अभिनव गुप्त सेमिनार द्वितीय।

८२ दिसम्बर अन्त ८३ जनवरी प्रारम्भ—अम्बे जोगाइ (महाराष्ट्र) में चतुर्थ ध्रुपद-मेला।

१९८३

जुलाई—कालिदास अकादमी के 'नाट्यशास्त्र'-सेमिनार में सक्रिय योगदान।

जु०-अगस्त—वत्सल निधि के अन्तर्गत मुकुन्द लाठ के व्याख्यान पर अध्यक्षता।—इलाहाबाद।

अगस्त—लखनऊ (इलाहाबाद?) में अभिनव-गुप्त-संस्थान में व्याख्यान।

सितम्बर-अक्टूबर—खैरागढ़ वि०वि० में १४ दिन के लिये Visiting Fellow के रूप में व्याख्यान।

१९८४

जनवरी—सं०रि० अकादमी, कलकत्ता में ६ दिन व्याख्यानमाला (पाँच व्याख्यान, एक चर्चा)

मार्च—उज्जैन में 'काल' पर शास्त्र-संगोष्ठी में 'सङ्गीतशास्त्र में काल और ताल' पर व्याख्यान।

ध्रुपद सम्मेलन (वाराणसी) के अन्तर्गत (का०हि०वि०—सङ्गीतसङ्काय में) सेमिनार का संचालन

जुलाई—कलकत्ता, 'कथेतर-साहित्य' के लिए 'रचना' पुरस्कार प्राप्त।

अॅक्टूबर—अम्बेजोगाई में व्याख्यान।

१९८५

जनवरी—उज्जैन, कालिदास अकादमी के सेमिनार का उद्घाटन।

भिलाई—आदिवासी-महिला सम्मेलन में योगदान।

फरवरी—प्रयाग-संगीत-समिति में दीक्षान्त भाषण रामपुर-संगीत-सम्मेलन के अन्तर्गत आचार्य बृहस्पति-स्मृति-सेमिनार का सञ्चालन।

जून—मद्रास—Prof. V.V. Sadagopan—Felicitation-Function में स्मारक व्याख्यान।

जुलाई—सं०रि० अकादमी में पुनः ६—व्याख्यान (माला), इनमें चि० सौ० मंगला तिवारी के साथ उदाहरण—प्रस्तुति भी—रायकृष्णदास व्याख्यानमाला (जयपुर) में व्याख्यान संकल्पित, किन्तु पू० माताजी की बीमारी के कारण जा नहीं सकी।

अगस्त—कालिदास अकादमी, उज्जैन में पूर्वरङ्ग सेमिनार में व्याख्यान तथा पूर्वरङ्ग-प्रस्तुति।

(खैरागढ़ में वाइस-चांसलर पद-ग्रहण)।

ध्रुवाओं का नया निर्माण। 'नाट्यशास्त्र-प्रोजेक्ट' पर सेमिनार में कपिलाजी के व्याख्यान पर अध्यक्षता, अपना व्याख्यान भी।

सितम्बर—पूना में, भण्डारकर-स्मारक व्याख्यान "Classicism in Indian Music" विषय पर।

इस व्याख्यान में उदाहरण-प्रस्तुति में—ऋत्विक् सान्याल, माणिक मुंडे तथा मङ्गला तिवारी सहायक रहे।

नवम्बर—भारत भवन, भोपाल में 'नई शिक्षानीति' पर विचारगोष्ठी में योगदान।

दिसम्बर—भुवनेश्वर में 'Tribal Music' पर सेमिनार 'शबर' 'बृहद्देशी' पर व्याख्यान।

१९८६

मार्च—'ध्रुपद' वार्षिकी—प्रथम का सम्पादन-प्रकाशन (वाराणसी)।

—खैरागढ़ में "छत्तीसगढ़ की सांस्कृतिक सम्पद्"—सेमिनार का आयोजन, सञ्चालन, व्याख्यान।

अगस्त—शिमला में—"Music Education" सेमिनार में शोध की आवश्यकताओं पर व्याख्यान।

सितम्बर—८-१३ ता० कलकत्ता—S.R.A. + I.T.C. + मैक्सम्यूलर भवन के "Rhythm" सेमिनार में—"Ancient Tala system" पर प्रपत्र व्याख्यान।

नवम्बर—२०-२६ ता० दिल्ली—I.G.N.C.A.—इन्दिरागाँधी राष्ट्रीय कला केन्द्र में— 'आकाश' "Space" सेमिनार में "Akasha and sound in Music" पर प्रपत्र एवं व्याख्यान I.I.C.।

दिसम्बर—खैरागढ़—"सङ्गीत में शोध का क्षेत्र"—पर सेमिनार में—ता० १६ "प्राचीन ग्रन्थोक्त गेय रूपों का पुनरुद्धार" पर सोदाहरण व्याख्यान।

ता० २०-२३—दिल्ली की ओर से : "मूल, शाखा, पल्लव और पतझड़" पं० हीरानन्दशास्त्री-व्याख्यानमाला 'वत्सलनिधि' में रस-सिद्धान्त पर चार व्याख्यान साहित्य अकादमी के 'हॉल' में—

ता० २९-३१—दिल्ली—A.I.I.S. के सेमिनार—Texts, Tones & Tunes में Pada in Indian Music पर प्रपत्र व्याख्यान एवं परिचर्चा।

१९८७

जनवरी—मध्यप्रदेश-संस्कृत अकादमी के आयोजन में—रवीन्द्रालय, भोपाल में व्याख्यान।

—दिल्ली में—आचार्य बृहस्पति-स्मृति-समारोह में स्मारक-व्याख्यान।

मार्च—ध्रुपद-वार्षिकी (द्वितीय) सम्पादन वाराणसी। 'वसन्तजगत्'—सेमिनार, रायपुर, में व्याख्यान।

जुलाई—भारतभवन, भोपाल में—''हजारी प्रसाद द्विवेदी-प्रसङ्ग''—में 'लालित्य और संस्कृति' पर व्याख्यान।

अगस्त— 'लाइडन' Leiden (हॉलेन्ड) में विश्वसंस्कृतपरिषद् में 'ताल' पर विस्तृत प्रपत्र, व्याख्यान एवं परिचर्चा।

—रायपुर में संभागीय संस्कृत परिषद् द्वारा आयोजित म०म०पं०श्री—गोपीनाथ कविराज स्मारक आयोजन में व्याख्यान।

अॅक्टूबर—15–24 "Moscow" 'मॉस्को' में—I.S.S.R. के द्वारा India Festival के अन्तर्गत Leader of the group तथा 16–20 Tradition & Modernity पर सेमिनार में व्याख्यान।

नवम्बर—१३ ता० उ०प्र० सङ्गीत नाटक अकादमी की रजत-जयन्ती में ठा० जयदेव सिंह-स्मारक व्याख्यानमाला का प्रथम व्याख्यान। लखनऊ।

—कलकत्ता सं०रि० अकादमी द्वारा आयोजित "Scientific Studies in Music" पर सेमिनार में व्याख्यान।

१९८८

फरवरी—U.G.C., N.B.T., A.I.C.T.E., I.C.A.R. तथा Medical council of India के सहयोग से आयोजित International Book Fair में "Text books in Higher Education sects"–Seminar में प्रपत्र तथा व्याख्यान।

मार्च—ध्रुपदवार्षिकी (सम्पादनादि)

एप्रिल—'मॉस्को' के India Festival के प्रतिरूप के भारतीय सेमिनार में "Tradition & Modernity" व्याख्यान।

मई—स्वजन-सम्मेलन, खैरागढ़ में। (६० वर्ष पूरे होने के उपलक्ष्य में, किन्तु प्रकट किये बिना)

जुलाई—'हक्सर कमेटी' में चयन, पहली बैठक।

सितम्बर—हक्सरकमिटी—दूसरी बैठक।

अक्टूबर—खैरागढ़ से वाराणसी आगमन। N.E.T. के Interviews लिए।

नवम्बर—हक्सरकमिटी—बैठक।

दिसम्बर—S.R.A. कलकत्ता का विराट् सम्मेलन, Symposium, Heritage and Responsibilities इसमें पूरे दिन अध्यक्षता "Problems of Music Education" पर व्याख्यान। Music Fraternity की स्थापना, Steering group, Core Group में काम। नये मकान की खोज।

जनवरी—कलकत्ता—S.R.A. द्वारा आयोजित 'गायकी' पर सेमिनार में १६ जन० को पूर्णाहुति-भाषण—''शास्त्रग्रन्थों में गायकी के सङ्केत''—पर।

१९८९

जनवरी—संस्कृत-(प्राच्यविद्या धर्मविज्ञान) सङ्काय में तीन व्याख्यान।

फरवरी—मणिपुर कला एकेडमी में दो स्मारक-व्याख्यान। नये घर (आम्नाय) में प्रवेश।

मार्च—ध्रुपद वार्षिकी सम्पादन-प्रकाशन।

मार्च-एप्रिल—हक्सर कमिटी की बैठकें—लखनऊ, मणिपुर।

मई—हक्सर बैठकें कलकत्ता, बम्बई।
भारतीय संस्कृति-संसद-कलकत्ता में 'वेद में सङ्गीत' पर व्याख्यान।

जून—पू० माताजी की रुग्णता एवं महायात्रा (२६ जून)

जुलाई—पू० माताजी-सम्बन्धी आद्यश्राद्ध आदि।

अगस्त—हक्सर कमिटी की बैठकें : हैदराबाद, त्रिवेन्द्रम्, बंगलौर, मद्रास।

सितम्बर—हक्सर कमिटी की बैठकें : श्रीनगर, भुवनेश्वर।
९-१० सित०-दिल्ली-गान्धर्वमहाविद्यालय केन्द्र सेमिनार में पूरा योगदान।

अक्टूबर—वाराणसी-घर में——नटराज रामकृष्णन् के साथ Workshop
सह्दे-माणिक्यम्मा के अध्यात्म रामायण-सङ्गीताभिनय का वृत्तीकरण।

नवम्बर—ग्वालियर में Spic Macay के Mini-Convention में भाषण "Listening to Music" पर।
—हक्सर कमिटी की बैठकें—नव०—चण्डीगढ़, शिमला।

दिसम्बर—ह०क० बैठकें—भोपाल।

१९९०

जनवरी—हक्सर कमिटी—बैठकें—पटना, गौहाटी।

फरवरी—दिल्ली,—देवहूति फाउण्डेशन का सेमिनार—नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय पर, उसमें Historical, Sociological Aspects पर व्याख्यान। वाराणसी—ध्रुपदवार्षिकी (सम्पादनादि।)

मार्च—चण्डीगढ़-वि०वि० में १४ दिन Visiting Fellow
S.R.A. कलकत्ता—सेमिनार "Problem and Method of Collecting Data from Traditional Musicians" पूरा Conduct किया।
—फिर चण्डीगढ़ में सेमिनार उसमें Keynote तथा Valedictory दोनों भाषण तथा 'स्थाय'—पर व्याख्यान।

अप्रैल—हक्सर कमिटी-बैठक-दिल्ली।

अगस्त—२० ता०—जयपुर, सत्यसांई-महाविद्यालय के सेमिनार का उद्घाटन किया—
"Influence of Contemporary Situations on Music" पर भाषण।

सितम्बर—१० ता०—इलाहाबाद में —"Cultural Policy" पर सेमिनार में भाषण।
२३ ता०—बम्बई में—S.R.A. के 'सितार' सेमिनार का उद्घाटन।

अक्टूबर—६ ता०—वाराणसी, राजाघाट पर पद्यावली में से काव्यपाठ।

नवम्बर—२०-२६—दिल्ली—I.G.N.C.A. के 'काल' "Time" सेमिनार में प्रपत्र प्रस्तुत।
२७-३०—दिल्ली में ही—S.R.A. के Fraturnity Meet में योगदान।
'Music Education' के session पर (२८ ता०) Preside किया।

१९८९ में 'आम्नाय' में स्थिर होने पर

[पू० बहिनजी ने **काशी-विचार-वलय** नाम से एक गोष्ठी-सम्पुट बनाया था जिसमें समय-समय पर एक-एक विषय पर व्याख्यान एवं चिन्तन-गोष्ठी होती रहें, सब सहृदय मित्र-मनीषी-मण्डली एकत्र होकर चिन्तन-यज्ञ चलाती रहे यह चाहा था।]

प्रथम वर्ष में **'लोक'** विषय पर निम्नोक्त गोष्ठियाँ हुईं—

दिनाङ्क	स्थान	वक्ता	विषय
७ अक्टूबर ८९	आम्नाय	पं० विद्यानिवास मिश्र	'लोक'
४ दिसम्बर ८९	इं०गां०रा० कला-केन्द्र	पं० प्रियव्रत शर्मा आयुर्वेदाचार्य	'लोक'
१५ जनवरी ९०	आम्नाय	म०म० स्वामी महेशानन्द गिरि	'लोक'

[यह क्रम फिर आगे इसी रूप में नहीं बढ़ा, किन्तु अपनी ही नाममात्र शेष पूँजी से बहनजी ने **भरतनिधि** नाम से प्रयोगधर्मा कलाओं में मौलिक अनुसन्धान आदि को समर्पित न्यास की स्थापना की।—ऊर्मिला]

भरत-निधि के उद्देश्य

१. प्रयोगधर्मा कलाओं में, अन्तरानुशासनिक एवं विविधानुशासनिक दृष्टि से, इतिहास, दर्शन, साहित्य, दृश्य-कला इत्यादि का समावेश करते हुए, मौलिक अनुसन्धान।

२. उपर्युक्त अनुसन्धान के लिए पश्चिम से उधार लिए हुए चिन्तन और प्रतिमानों का अनुसरण छोड़कर 'स्वदेशी' दृष्टि का विकास।

स्थापिका एवं स्थायी न्यासधारिणियाँ

प्रो० प्रेमलता शर्मा, डॉ० ऊर्मिला शर्मा

प्रथम बार सहयोजित न्यासधारी

१. डॉ० श्रीमती कपिला वात्स्यायन, दिल्ली

२. श्री अशोक बाजपेयी, दिल्ली

३. श्री सुबोधनाथ झा, लखनऊ

४. श्री अनन्त वैद्यनाथन्, कलकत्ता

५. डॉ० बेत्तीना बाउमेर, वाराणसी

६. डॉ० कल्याणकृष्ण, वाराणसी

७. डॉ० सुधाकर भट, वाराणसी

८. डॉ० ऋत्विक सान्याल, वाराणसी

९. डॉ० सो० विजयकुमार, वाराणसी

'उत्सव-पञ्जी'*

'भरतनिधि' के अन्तर्गत हुए प्रमुख विशिष्ट कार्य

	दिनाङ्क	समय	व्यक्ति	कार्य	स्थान
१.	११/१०/१९८९	प्रातः	पं० शङ्करनारायण श्रौती एवं उनके छात्रगण	सामगान	आम्नाय
२.	१३-२०/१०/८९	प्रति दिन (६-७ घण्टे)	'सहृदे' माणिक्यम्मा	अध्यात्मरामायण का गायन (तेलगू में) के साथ अभिनय,	आम्नाय
			तथा		
			नटराज रामकृष्ण	वैचारिक गोष्ठी	आम्नाय
	१८/१०/	सायं	स० माणिक्यम्मा	'सीताकल्याणम्' गायन	"
			नटराज रामकृष्ण (आम्नाय में आमन्त्रित अतिथियों के लिए)	सोदाहरण भाषण	"
३.	११/१२/८९	सायं	नैन्सी लेश	शेलो-वादन (भीमपलासी)	"

इसके बाद के तीन वर्षों में भी अनेक कार्य भरतनिधि के अन्तर्गत होते रहे किन्तु उनका 'लेखा' नहीं रखा गया। फिर भरतनिधि का विधिवत् पञ्जीकरण होने के बाद १९९३ से ९७ तक निम्नलिखित प्रमुख कार्य हुए।

After Registration—

1. Sitar Recital of Dr. Allyn Miner and Vocal recital by Ananta Vaidyanathan. Dec. 93.
2. Lecture (illustrated), by Dr.Richard Widdess, Jan. 24. 94
3. Vocal recital by Sri A. Vaidyanathan, Feb. 22. 94
4. Publication of Bhramara-geeta booklets, March, 94
   and production (in Vrindavana) March, 94
5. Production of Bhramara-geeta (in Varanasi) 15 May, 94
6. Programme (Lecture with demonstration on Abhinaya) of Smt. Kalanidhi Narayanan, Aug. 29, 94
7. Local hospitality (as guests at home) extended to the Margi Troupe—Kootiyattam from Trivendrum, Kerala (16 members) Oct. 94.

* स्वयं बहिनजी द्वारा लिखित।

8. Thakur Jaidev Singh Centenary Celebration Nov. 94 (A five day Seminar on Musicology in Modern India and 'Abhinavagupta ....') and three evenings full of Music by great Musicians (Classical.) in collaboration with S.N.A. and Rai Krishnadas INTACH Varanasi Nyasa.
9. Productions (and publication of booklets) of Venugeeta and Govinda Virudavali at Jaipur, Nov. 14-15, 95 (in collaboration with S.C.P.S. Vrindavan)
10. Lecture of Prof. Rokus de Groot, 5. Jan. 96
11. Production (and publication of booklets) of Yugmageeta (in collabaration with S.C.P.S.) Feb. 28. 96
12. Organising Pt. Omkar Nath Thakur—Centenary Celebrations (Seminar and Music Recitals) in collaboration with O.N.T. Cent. Cel. Samiti and Rai Krishnadas INTACH Varanasi Nyasa. 27-29 Jan. 97.
13. Organising the function for publication of Pt. O.N. Thakur Postal Ticket. and new editions of Pranava Bharati and Sangeetañjali—June 27, 97
14. Lecture on Rāmacarita Mānasa and Mahābhārata by Prof. K.P. Singh—Nov. 97.

.७.

गोसेवा तथा गोवंशपञ्जिका

प्रेमलता शर्मा

[श्रद्धेया बहिनजी का जीवन-वृतान्त अधूरा रहेगा उनकी उन्हीं के नाम के अनुरूप गोसेवा की थोड़ी भी बात कहे बिना। यद्यपि भगवान् की कृपा से हमारे यहाँ जो गायें आयीं और पलीं वे सभी अनूठी थीं और उनकी अपने हाथों हो रही प्यार भरी सेवा-सुश्रूषा के नाते उनके विशेष संस्कार एवं मानवोचित भावाभिव्यक्तियाँ उजागर होती ही रहती थीं, फिर भी कुछ बातें ऐसी थीं जो हमारे लिये आँखों-देखी होने से इतिहास-तथ्य हैं-पर जिन्हें ऐसे संस्कारी प्राणियों से निकट-सम्पर्क का अनुभव न हो उन्हें ये तथ्य आश्चर्य ही नहीं असम्भव जैसे प्रतीत हो सकते हैं। फिर भी ये अनुभव कहना स्वधर्म है ऐसी गोजाति की सम्भावनाओं का इतिहास स्थिर रखने के लिए। श्र० बहिनजी ने स्वयं अपने गो-कुल का लेखा-जोखा 'गोवंश-पञ्जी' नाम से एक 'रजिस्टर' में सारणी-बना कर लिख रखा था, यथा-अवसर उसे भरती रहती थीं। **उनकी वह पञ्जीकृत-सारणी** ज्यों की त्यों यहाँ प्रस्तुत की जा रही है। **—ऊर्मिला**]

अथ गोसेवा—I. 1964 में का० हि० वि० की जोधपुर कॉलोनी में बड़ा निवास-स्थान (न्यू ई/5) मिला जिसके चारों तरफ़ खुली जमीन भी थी। वह देखकर इच्छा पनपी कि घर में गोसेवा करें। का० हि० वि० के ही संस्कृत महाविद्यालय से अवकाश प्राप्त पण्डित श्री गया प्रसाद ज्योतिषी जी ने अपनी गाय की डेढ़-दो साल की बछिया बड़े स्नेह से मुझे दी। यहाँ घर में आने पर उसका नामकरण हुआ—''गायत्री''-। मेरे ज्येष्ठ भ्राता-तुल्य 'अण्णा'—श्री वी० वी० षडगोपन् जी ने यह नाम रखा था। ''गायत्री छन्दसां माता''—इसी भावना से हमारे घर की इस पहली गौ का नाम हुआ **गायत्री**। यह हरियाणा नस्ल की सफ़ेद थी।

घर में स्थायी सदस्य हम चार थे—पूं० माताजी (''मैय्या'' जी) पू० पिताजी, मैं तथा छोटी बहन भोली (ऊर्मिला)। वह तब एम०ए० द्वितीय वर्ष में पढ़ रही थी। पू० मैय्या जी से हम अपने नानाजी की गोसेवा और उन गायों का घर-परिवार में स्थान तथा भाव का वर्णन सुनते आये थे, वह हम में भरा हुआ था। गायत्री के आते ही पू० मैयाजी के निर्देशानुसार सेवा प्रारम्भ हुई। उसे खिलाने के लिए गेहूँ का भूसा बड़े-बड़े बर्तनों में नल के नीचे खुले पानी में धो कर (कि मिट्टी और अशुद्धि निकल जाए) टोकरों में डाल कर निचोड़ कर फिर उस में चोकर, चूनी (चने या अरहर आदि का मोटा आटा), नमक, खली, भीगा हुआ बिनौला आदि मिलाकर—यह 'सानी' सुबह 6-7 बजे तक में फिर ऐसी ही 'सानी' तीसरे पहर 4-5 बजे तक दी जातीं। बीच में (दो बार बाल्टियाँ भर पानी और)—मौसम और जरूरत के अनुसार हरा साग, सब्जी-फलों के छिलके, बेर, अमरूद, गाजर-मूली आदि, गर्मी में बेल-और गुड़ का घोल, दलिया, कढ़ी आदि दिया जाता था। सर्दियों में रात में सोने से पहले गुड़ खिलाया जाता।

II. गायत्री की पहली सन्तान होने पर 1968 में, तारा-प्रेस के स्वामी-सञ्चालक पं० श्री रत्नशङ्कर पण्ड्या जी ने अपनी गाय की (साहिवाल नस्ल की) सवा-डेढ़ साल की बछिया बड़े स्नेह से स्वयं लाकर मुझे दी। इसका नाम मैंने रखा ''वृन्दा''।

यह बहुत ही सुलक्षणी थी। इसका रंग साँवला-लाल था और चारों थन काले थे; 'कपिला' जाति के सब लक्षण थे। बाद में पहली सन्तान के समय जब अपने आप चारों थनों से दूध की धार बह चली धरती पर—बछिया का मुँह छूने से पहले ही—तब ग्वालों ने भी कहा यह तो 'कामधेनु' का लक्षण है।

इस बछिया की आदतें और सब रंग-ढंग देख कर हमारे सलाहकार ग्वालों ने पहले ही बता दिया था कि यह बहुत उत्तम जाति की है, सामान्य गाय नहीं है, यह बड़ी होगी तब आम गायों की तरह 'धनाने' के लिये रँभायेगी नहीं; इसके लक्षणों पर ध्यान रखना होगा। वह समय आने पर तो और भी आश्चर्य की घटना हुई। उसके "गरम" होने के लक्षण देख कर जब उसे अच्छे साँड के पास ले जाया गया तो उसे दूर से ही देख कर यह लौट पड़ी और अपने आप एक दिशा पकड़ कर चल दी। ग्वाले तथा रक्षक चकित होकर इसके पीछे चले और देखा कि सीधी-सरपट चलते हुए यह प्रायः दो मील दूर एक गली में जाकर वहाँ गोशाला में बँधे एक साँड के पास खड़ी हुई; अपना सन्तोष पाकर फिर चुपचाप सीधे घर चली आई। तब से लेकर आजीवन (प्रायः चौदह वर्ष) हर साल-सवा साल पर "धनाने" का समय आने पर यह रक्षकों के साथ सीधे उसी स्थान पर, उसी साँड के पास जाकर सन्तुष्ट होकर वापस घर आ जाती रही। कोई पूर्वजन्म का 'सती'-सम्बन्ध इस जन्म में भी पूरा निभाया।

वृन्दा की एक विशेषता और थी—इसके सामने कोई किसी को डाँट या मार नहीं सकता था, खास कर बच्चों को। जहाँ यह दिन भर बँधती थी, उसके सामने मैदान में मोहल्ले के बच्चे खेलते थे, उनकी गेंद या ढेले आकर इसे चोट पहुँचाते, पर यदि हम उन बच्चों को डाँटें तो यह हम पर झुँझला कर मना करती; बड़े प्यार से बच्चों को खेलते हुए देखती रहती।

यों तो **गायत्री-वृन्दा** तथा इन्हीं की बेटियाँ सुरभि-मञ्जरी-ये चारों बचपन से अन्त तक (जब तक हमारे घर रहीं) बहुत ही सफ़ाई-पसन्द, भोजन की शुचिता की आग्रही, जरा भी जूठन या बाहर कहीं बना अन्न न खाने वाली थीं—पर गायत्री और वृन्दा में तो खास पक्के "पंक्तिपावन" ब्राह्मण जैसे शुचिता के संस्कार थे। इन चारों को ही सहलाते समय हम संस्कृत में स्तोत्र या कोई भजन-कीर्त्तन गायें तो बहुत प्रसन्न होती थीं या फिर सीधे इन्हीं से कुछ बात करें तो सुनती थीं—पर इधर-उधर किसी से कुछ कहें तो नाराज़ी दिखाती थीं।

मुझे अपने शैक्षणिक आदि दायित्वों के लिये प्रवास (यात्रा) पर जाना होता तब इन्हें (खासकर गायत्री-वृन्दा को) मिलकर बता कर ही जाना पड़ता था, जब कभी हड़बड़ी में चूक हो जाती तब ये आँसू बहातीं और मेरे जाने की दिशा में 'ताकती' रहती थीं'; लौट कर पहले इन्हें मिलना आवश्यक था, नहीं तो रूठी रहती थीं, खाना छोड़ देती थीं। इनकी कितनी ही घटनायें सदा के लिये स्मृति में स्थिर हो गयी हैं, सब लिखना सम्भव नहीं। इनकी सन्तानों के जन्म और यात्रा आदि का कुछ लेखा रखती रही हूँ। एक सारणी में (वह नीचे लिखा है)।

1975 में सुरभि की सन्तान हो जाने पर घर में तीन दूध देने वाली गाय हो गयीं और चौथी मञ्जरी भी तैयार थी, तब अपने निकट-वर्ती श्री शुक्ल जी (ललित कला संकाय में प्राध्यापक) की इच्छा जानकर **गायत्री उन्हें दी गयी**। फिर चि० ऊर्मिला का आबू (राजस्थान) जाकर सत्सङ्ग के लिये रहना निश्चित होने पर **वृन्दा** को भी 1978 में पं० कमलेशदत्त त्रिपाठीजी (प्राच्यविद्या-धर्मविज्ञान सङ्काय में प्राध्यापक) के यहाँ **दे दिया गया**। तब **सुरभि-मञ्जरी** घर में रहीं, और वृन्दा की बेटी **सुमङ्गला** भी हमारे पास ही बड़ी होकर दूध देने लगी।

(आगे देखें सारणी)

गो-वंश-पञ्जिका

—प्रेमलता शर्मा

क्रम	नाम	बछड़ा (सं०)	बछिया (सं०)	जन्म तारीख	माता-नाम (सन्तान सं०)	टिप्पणी
१	गायत्री			१९६२	पं० गयाप्रसाद ज्योतिषी जी की अपनी पाली हुई गाय की बछिया	हरियाणा नस्ल की यह बछिया दो-वर्ष की होकर १९६४में उन्हीं के द्वारा दी हुई मेरे यहाँ आई। हमारे 'अण्णा' श्री वी०वी० षडगोपन् जी ने इसका नामकरण किया—''गायत्री''—''छन्दसां माता''।
२	वृन्दा			१९६८	पं० रत्नशङ्कर पण्ड्या	(ताराप्रेस स्वामी) की अपनी पाली हुई गाय की सहिवाल नस्ल की, कपिला-लक्षणों से युक्त बछिया उन्होंने १९६९ में मुझे दी। मैंने इसका नाम ''वृन्दा'' रखा। अद्भुत ''सती'' जातिस्मर, पंक्तिपावन ब्राह्मणी जैसा जीवन।
३	गोपाल (गोपू)	१.		८.१२.६७	गायत्री-१.	गायत्री का पहला सन्तान सवा साल का होने पर एक किसान के माँगने पर दिया गया, अच्छी तरह पला, किन्तु ५ वर्ष का होकर रोग से मृत्यु।
४	बसन्त (तू)	२.		२३.१.६९	गायत्री-२.	डेढ़ साल का होकर किसान के यहाँ गया। अच्छा पला सुन्दर हरियाणा-बैल बना।
५	गङ्गाप्रसाद (गङ्गू)	३.		२५.५.७०	गायत्री-२.	किसान (संगीत म० वि० का० हि० वि० में माली) के यहाँ गया, पला, हरियाणा-बैल बना।
६	गोपी		१.	१९.७.७१	गायत्री-४.	पणिनि कन्या महाविद्यालय की गोशाला के लिये दी गयी।
७	मञ्जरी		२.	२२.९.७२ अनन्तचतुर्दशी	वृन्दा-१.	मञ्जरी घर में बहुत लाड से पाली गई। फिर घर में पली, अन्य सब गो-सन्ततियों की अग्रणी ''नेता'' रही। घर का सारा गो-कुल इसी के पीछे-पीछे चलता था—जिधर यह जाय उधर सब जायें; इसे पुकार कर कुछ आदेश दिया जाय तो सब उसे मान लें। अनेक सन्तान देकर, अन्त में प्राय: एक मास भोजन छोड़ कर मानो मेरी प्रतीक्षा में सांस लेती रही—७ मार्च १९८६ को मैं खैरागढ़ से आई तब मेरे हाथ से गुड़-पानी खा-पी कर रात १० बजे देह छोड़ दिया। इसे घर में ही समाधि दी गई।

क्रम	नाम	बछड़ा (सं०)	बछिया (सं०)	जन्म तारीख	माता-नाम (सन्तान सं०)	टिप्पणी
८	सुरभि		३.	२५.१०.७२ शरद्-पूर्णिमा	गायत्री ५.	उत्पन्न हुई तब ''मोहन जोदड़ो'' के बैल जैसा रूप था; बहुत लाड़ली हुई, घर में पाली गई। अपने से एक महीना बड़ी मञ्जरी से तो पल-भर भी दूर न रहती। दोनों जुड़वाँ बहनों की तरह रहीं। बड़ी होने पर भी यह अकेली कभी बाहर नहीं निकलती थी। बहुत समय तक इसके लिए 'साँड़' को घर पर ही बुला लाना पड़ता रहा। —मेरी खैरागढ़ जाने की स्थिति बनने पर इसे निकट ही परिमल चक्रवर्त्ती के यहाँ भेजा गया। १३ फरवरी ९५ को, पर वहाँ उदास रही, २० मार्च को घर लौट आई। फिर ३ नवम्बर को छबिनाथ के यहाँ भेजी गई।
९	ऊधो	४		७.८.७४	वृन्दा २.	बहुत हृष्ट-पुष्ट एवं लाडला रहा। डेढ़ वर्ष का होकर किसान के यहाँ गया। अच्छा बैल बना।
१०	माधो	५		१४.८.७४	गायत्री ६.	कुछ दुर्बल था, फिर किसान के गया।
११	सुन्दरी (मालविका)		४.	२१.९.७५	सुरभि १.	सुरभि की पहली सन्तान होने से अतिशय लाडली। पाण्डे जी के घर गई।
१२	पूजा		५.	१०.१.७७	मञ्जरी १.	मञ्जरी की पहली सन्तान; अतीव सुन्दर-हृष्ट-पुष्ट; किन्तु साल भर की होने पर अकस्मात् (शिरोवेदना मस्तक में ज्वर) होकर घर में ही ४.१.७८ को—पीड़ाहरण के लिये पढ़ा गया नवग्रह स्तोत्र सुनकर भोली की गोद में मृत्यु।
१३	सेवा		६	११.२.७७	सुरभि २.	—सेवा-पूजा की जोड़ी पहले ऊधो-माधो की जोड़ी की तरह जब तक घर में रही बहुत लाड़ से पली। सेवा फिर तिवारी जी के यहाँ गाँव गई।
१४	वेणु		७	१२.३.७७	वृन्दा ३.	बहुत प्यारी सुन्दर नाजुक बछिया, थी। अचानक २.६.७७ को मृत्यु। यह घर में पहली मृत्यु हुई फिर 'पूजा' की ४.१.७८ को—इन दोनों का हम सब को बहुत आघात लगा था। फिर तो अनेक बार ऐसी घटनाओं को झेलना पड़ा।

क्रम	नाम	बछड़ा (सं०)	बछिया (सं०)	जन्म तारीख	माता-नाम (सन्तान सं०)	टिप्पणी
१५	नारायण	६.		२४.१.७८	मञ्जरी २.	एक वर्ष का होकर बाबूनन्दन (माली) के घर गया, लेकिन ढाई वर्ष का होने पर मृत्यु।
१६	अनामिका		८	१७.३.७८	सुरभि ३.	सद्योजाता-मृत्यु।
१७	मङ्गल	७		२४.१.७९	मञ्जरी ३.	घर में ही ६ महीने बाद २४.१.७९-मृत्यु। चि० भोली ३१.१.७८ को आबू चली गई। उसके आबू जाने का निश्चय हुआ; तब से हमारे गो-वंश में यह चौथा शोक है। उसके जाने के दु:ख को यह शोक और बढ़ाता जाता है।
१८	सूर्या		९	१.७.७९	सुरभि ४.	स्वस्थ रही, सालभर की होकर किसान के यहाँ गई अच्छी गाय बनी।
१९	मुरारि	८		२३.१२.७९	मञ्जरी ४.	बाबूनन्दन के घर गया। स्वस्थ रहा।
२०	सुलभा		१०	१२.८.८०	सुरभि ५.	तिवारी के यहाँ (गाँव में) गई।
२१	सुफला		११	३०.१२.८०	मञ्जरी ५.	उपाध्याय के यहाँ गई।
२२	सुबल	९		२३.९.८१	सुरभि ६.	त्रिलोकी मामा के घर गई।
२३	महावीर	१०		९.२.८२	मञ्जरी ६.	लालजी के गाँव गया।
२४	सोमनाथ	११		६.१२.८२	सुरभि ७.	घर में ही ३१.७.८३ को मृत्यु ५.
२५	निशा		१२	२.३.८३	मञ्जरी ७.	तीन दिन बाद ही ५.३.८३ को मृत्यु ६.
२६	सत्या		१३	२१.१.८४	सुरभि ८.	प्यारी (सब्जीवाली) के घर गई।
२७	मञ्जुला (छोटी)		१४	६.३.८४	मञ्जरी ८.	(११.३.८५ को-) पं० रटाटे जी के यहाँ गई।
२८	बसन्ती		१५	२६.१.८५	सुरभि ९.	(३.११.८५ को-) माँ—सुरभि के साथ छबिनाथ के घर गई।
२९	भरत	१२		५.२.८५	सुमङ्गला १.	सुमङ्गला वृन्दा की बेटी। उसका यह प्रथम सन्तान। फिर सूर्या वाले घर गया।
३०	मोहन	१३		२९.५.८५	मञ्जरी ८.	किसान के यहाँ गया।
३१	मन्दाकिनी		१६	२३.४.८६	सुमङ्गला २.	घर में रही।
३२	मुकुन्द (बालाजी)	१४		५.१२.८७	सुमङ्गला ३.	कुछ दिन बाद ही मृत्यु।

.८.

बहिनजी का 'गोकुल'

—ऊर्मिला

स्वनामधन्या श्र. प्रेमलता बहिनजी के जीवन की कथा अधूरी रहेगी यदि उनकी प्यारी गायों का वृत्तान्त न कहा जाय। हमारे नानाजी स्वयं जैसी गोसेवा करते थे एवं उन गायों का परिवार से जो सम्बन्ध रहा था। उसी में हमारी गौओं एवं उनकी सन्तति के प्रति स्नेह भावना की नींव निहित है।

नानाजी के लिए अपने सन्तान और गाय दोनों समान स्नेह एवं देखभाल के पात्र रहे। सन्तानों में भी बेटियों का मान बेटों से अधिक था, वैसा ही गाय का भी। गाय को भोजन नाना स्वयं देते थे। गेहूँ का भूसा भली भाँति धोकर, हरा-चारा सँवार कर, पौष्टिक पदार्थ (बिनौले, चने का मोटा आटा, उत्तम खली, सरसों का तेल, चोकर, चुनी, नमक, गुड़) मिला कर दिया जाता था। सेंधानमक का एक शिला जैसा बड़ा खण्ड हमेशा गाय के पास रखा रहता। जिस पर वह जब चाहे तब जीभ रगड़ कर साफ़ करती रहे, इस तरह उसका हाजमा ठीक बना रहे और शक्ति भी मिलती रहे। जब-जब गाय के सन्तान हो तब नानाजी बड़े कड़ाहे में तिल के तेल में गेहूँ का दलिया या मोटा आटा भून कर गुड़-हल्दी-अजवाइन की चाशिनी डाल कर खूब 'तर' हलवा बना कर उसे खिलाते थे और भी पौष्टिक पदार्थ हल्दी और गुड़ सहित पानी में उबालकर वह पका पानी ही चार दिन तक गाय को पिलाया जाता था, दस-पन्द्रह दिन तक दलिया के हलवे में गुड़ हल्दी-अजवाइन आदि भरपूर मात्रा में खिलाये जाते थे। उसकी सेवा-सम्हाल बहुत कुछ मनुष्य-सूतिका स्त्री जैसी की जाती थी और वैसे हमेशा ही गाय बछड़ों को प्यार से पुचकारते हुए खिलाना, उन्हें ''खरहरा'' करना आदि नाना-नानी स्वयं करते और अपनी सन्तानों से करवाते थे।

वह समूचा अनुभव हमारी पूज्या 'मैयाजी' (नानाजी की सबसे बड़ी बेटी) के द्वारा बहिनजी में सञ्चरित हुआ था। पू. मैयाजी स्वयं गायों के लिये चने की 'चूनी' घर में चक्की पर दलतीं, आँगन में चूल्हे पर बड़े कड़ाह में यथा अवसर दलिया, कढ़ी, काढ़ा आदि बना देती; गायों के छोटे बच्चों को दो तीन महीने का होने तक सीधे अपनी देखरेख में अपने पास रखती, हाथ से उन्हें पंखा झलतीं, सर्दी में उनके ओढ़ने के लिये मुलायम मोटी कथरियाँ हम से बनवातीं। ये गायें और उनके बच्चे पू. मय्याजी और बहिनजी को अपना दुःख-सुख मान-अपमान इतनी अच्छी तरह बताते कि देखने वाले चकित रह जाते थे। बहिनजी को शैक्षणिक एवं बहु आयामी जीवन के विविध दायित्वों के लिए बहुत यात्राओं पर जाना रहता था, तब घर से चलते समय गायों को भलीभाँति बता कर ही जाना होता था, और वापस घर लौटने पर पहले उन्हें मिल कर, सन्तुष्ट करके तब घर में प्रवेश करना होता था; जब कभी हड़बड़ी के कारण इसमें चूक हो जाती तब गायें आँसू बहातीं, खाना छोड़ देतीं, उनके आने की दिशा में ताकती रहतीं थीं। फिर आने पर रूठना प्रकट करतीं।

प्रत्येक मौसम की नई वस्तु (गुड़, अनाज, गाजर, साग, फल आदि) घर में आने पर पहले भगवान और गायों को अर्पण करने के बाद ही स्वयं उपयोग में ली जाती थी। नया गुड़ और गाजर चख लेने पर फिर पुराने को कुछ रूप बदल कर ही खिलाना पड़ता था। आहार की शुद्धि का तो इन गायों को इतना अधिक और आश्चर्यजनक आग्रह था कि किसी भी स्तर की जूठन या अशुचिता सहन नहीं करती थीं।

अपने हाथों 18 साल इन्हें पाला-पोसा है, उस बीच जो देखा है वही लिखा जा रहा है। कुछ भी यहाँ अतिशयोक्ति नहीं, भले ही उन लोगों को इन बातों पर विश्वास करना कठिन प्रतीत होगा जो कभी ऐसे-पशु-शरीर में संस्कारी जीवन जी रहे-जीवों के सम्पर्क

में न आये हों, किन्तु अपनी आप बीती घटनाओं को इतिहास रूप में रख देना मुझे धर्म प्रतीत हो रहा है इसीलिये ज्यों का त्यों वर्णन कर रही हूँ।

घर में तो हम कभी भी जूठी वस्तु उनके भोजन या पेय में नहीं ही डालते थे, पर कभी कोई बाहर से लाया हुआ—यात्रा में से बचा हुआ भोजन (जूठा न हो तब भी)—यदि इनके भोजन पर डाल दे तो पूरा खाना छोड़ देती थीं। ऐसे ही यदि कोई अकाल-मृत्यु के उपरान्त के श्राद्ध आदि की वस्तु इन्हें देना चाहे तो नहीं लेती थीं। यहाँ तक कि घर में श्राद्ध-अमावस्या के दिन परोसी हुई पंगत में से (भोजन प्रारम्भ होने के बाद) कोई पत्तल (जिस पर कोई बैठा नहीं, लेकिन शुद्ध पंक्तिपावन ब्राह्मण जिसे नहीं खायेंगे) इन्हें देने पर नहीं खाती थीं; और मुँह मोड़ कर नाराजी दिखाती थीं और वही सब पदार्थ सीधे रसोईघर से ले जाकर दें तो खा लेती थीं। इनके रहने के स्थान में अच्छी तरह सफ़ाई न हो तो बैठती नहीं थीं, स्वयं हट-हट कर सफ़ाई करवाने में सहायता करती थीं, पर यदि भूल से या लापरवाही से झाड़ू इन्हें लग जाए तो बहुत क्रोध दिखाती थीं, फिर जब तक इनसे क्षमा माँग कर भलीभाँति दोष स्वीकार न करें तब तक खाने से मुँह मोड़े रहती थीं। सन्तान होते समय भी स्थान की सफ़ाई पर इनका ध्यान रहता था, सफ़ाई हो तभी प्रसव करती थीं। फिर बहिनजी द्वारा अपने हाथों किया गया गरम पानी से सेंक, घाव पर दवा लगाना आदि सेवा बहुत प्रसन्नता से लेती थीं। इनके प्रसव के समय का ध्यान रखते हुए ही बहिनजी अपने यात्रा-आदि कार्यक्रम निश्चित करती थीं, और यहीं (वाराणसी) रहते समय कभी विश्वविद्यालय की आवश्यक बैठक आदि में हों तो भी आपातकाल के समय उन्हें सूचना पहुँचाई जाती थी और उनकी भावना का आदर करते हुए कुलपति भी उन्हें उस समय घर पहुँचवाने में सहायता करते थे।

बहिनजी विदेश में हों तब भी बहुधा अपनी ''गायत्री'' (हरियाणा), 'वृन्दा' (साहिवाल) तथा इन की सन्तानों 'सुरभि'—'मञ्जरी', 'ऊधो-माधो', 'गोपाल', 'वेणु' आदि को स्मरण करती रहती थीं। कभी उनके स्थानीय मित्र हँसी में कहते भी थे कि काश हम 'गायत्री-वृन्दा' को भी वायुयान में यहाँ ला पाते।

१९७८ प्रारम्भ में मेरे आभ्यन्तर जीवन की उन्नति के लिए मैं अपनी शैक्षणिक सेवा से निवृत्ति ले कर स्वाध्याय-सत्सङ्ग-सेवा के लिये चली गयी; यह जाना निश्चित देख कर क्रमशः गो-कुल का संक्षेप करना पड़ा; फिर १९८५ में स्वयं बहिनजी को कुलपति-पद के लिये खैरागढ़ आमन्त्रित किया गया, तब सङ्गीतजगत् की सेवा का अधिक अवसर होने के नाते वह पद स्वीकार तो किया किन्तु **सबसे अधिक दुःख रहा अपने गो-कुल से वियोग का।** सवा तीन वर्ष बाद अक्टूबर १९८८ में वे वाराणसी लौट आईं, किन्तु तब तक परिस्थितियाँ बहुत बदल चुकी थीं। पुनः गो-कुल की प्रतिष्ठापना घर में अब सम्भव न थी। इतना अवश्य हुआ कि एक ग्वाला ऐसा जुटा जो केवल गायें ही रखता था, वह भी बहिनजी के कहने से देशी नस्ल की गायें ही रखने लगा, और देशी गाय का दूध भरपूर मिलता रहा अन्त तक। बहिनजी जहाँ भी रहीं, देशी गाय के दूध का आग्रह रखती रहीं ताकि उन्हीं के निमित्त से गायें पलती रहें।

१९८९ में अप्रैल में मैं भी पुनः उनसे आ मिली; अब तक मेरी दृष्टि और खुल चुकी थी अतः देख पाई कि जिस ''जीवनयोग'', ''मानवधर्म'' की बात मैं सन्तवाणी में सुनती आई एवं पुस्तकों-पत्रिकाओं आदि द्वारा जिस कथ्य के प्रचार-प्रसार का माध्यम बनी थी—वह **मानवीय-प्रेममय कर्मयोग पू० बहिनजी अनायास सहज ही जी रही थीं। जीव-मात्र के प्रति स्वयम्भू प्रेम का सहज व्यवहार बहिनजी के जीवन-गान का आधारस्वर (षड्ज) था जो उनके प्रत्येक आचरण में अनुस्यूत था।**

फिर भी बीच-बीच में वे अपने गोकुल के वियोग से व्यथित हो जाती थीं। गायों-बछड़ों को पुचकारने-सहलाने-गले लगाने के आनन्द का बिछोह उन्हें सालता था। जब कभी, जहाँ कहीं वह पा सकें, तब आनन्दित होती थीं पर स्वयं घर में पली हुई गायों—उनके बच्चों के साथ जो भावना का लगाव **दोनों ओर से** था, वह तो अब दुर्लभ हो गया था।

अखिल भारतीय गोसेवासंघ से तो बहिन जी सक्रिय रूप से जुड़ी थीं ही; गोवंश की सुरक्षा-पालन-संवर्धन के लिये तन-मन-धन से स्वयं जुटते हुए लोक में इसकी जागृति-हेतु अनेकों स्तरों से प्रयत्न करती रहीं। इस हेतु प्रामाणिक गो-सेवा-संस्थानों को समय-समय पर यथाशक्ति आर्थिक सहायता भी देती रहती थीं। उनके जीवन का अन्तिम दान भी (देहान्त से प्रायः एक मास पूर्व) गो-सेवा-संघ-वर्धा के लिये हुआ।

उनकी गायों का व्यवस्थित विवरण तो स्वयं उनकी लिखी पञ्जिका में आ ही गया है।

·9·

॥ ॐ ॥

गोकुल का आशीर्वाद*

—*प्रेमलता शर्मा*

[वध-स्थल पर ले जाये जाते हुए गाय और बैल के बीच संवाद]

[१=गाय २=बैल]

१. आओ बैठो, बात करें कुछ दुख-सुख की, जीने-मरने की।
२. बातों से अब क्या होना है, किसको फुर्सत है सुनने की? ॥ १ ॥
नक्कारों की धड़-धड़ में औ' आपा-धापी की भगदड़ में।
तूती के-से क्षीण स्वरों को कौन सुनेगा उठा-पटक में ॥ 2 ॥
१. कहते हो तुम ठीक, परन्तु फिर भी, चुप रहने से अच्छा।
मरने से पहले अपना 'जीवन-रहस्य' कह लें हम सच्चा ॥ ३ ॥
२. चलो यही अब होने दो, हम-मूकों की भाषा सुनने को।
मिलें नरों को नये कान औ' संवेदन के गुर पढ़ने को ॥ ४ ॥
१. वैदिक युग की याद करो तो [1*] जब तुम ब्रह्मज्ञान कहते थे।
सत्यकाम जाबाल-संग, वन-में स्वच्छन्द विचरते थे ॥ ५ ॥
२. अरे! कहाँ की याद दिला दी! वह सब सपना-सा लगता है।
फिर क्या लौट सकेंगे वे दिन! दुख का अन्त नहीं दिखता है ॥ ६ ॥
१. माना, लौट नहीं सकते दिन कालचक्र आगे चलता है।
फिर भी आस्था की धरती का सूरज कभी नहीं ढलता है ॥ ७ ॥
२. क्या कहती हो? आस्था के अब दिन लद चुके, न कुछ कहना ही।
उत्तम है, उसकी बातों का मन ही के मन में रहना ही ॥ ८ ॥

---

* गायों के लिये अगाध प्यार, गोसेवा, गोवंश-रक्षा के लिये हर-सम्भव उपाय करने की तत्परता—पू० बहिनजी के जीवन का एक बड़ा पहलू रहा। वे उ०प्र० गोरक्षा-समिति की अध्यक्षा भी रहीं, तदर्थ सत्याग्रहों में भी सम्मिलित हुईं। नृशंस गोहत्या के विरोध में देवनार में चल रहे सत्याग्रह के निमित्त से १९९० में बहनजी लेख लिखने चलीं तो यह पद्यमय अभिव्यक्ति हो गयी। इसे सस्वर ध्वनि-रक्षित करके भी उन्होंने देवनार-सत्याग्रह-साथियों के लिये भेजा था। इसकी हजारों मुद्रित प्रतियाँ वितरित हुई थीं तथा अनेकों पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई थीं। —ऊर्मिला

१. फिर भी याद नहीं मिटती है, 'जाति-स्मृति' पेंगें भरती है।
कुछ भी कर लो, आस्थाओं की गहरी जड़ें नहीं मरती हैं॥ ९॥
२. तो फिर चलो, जड़ों को सींचो शायद दिन कुछ फिर ही जाएँ।
भूली भटकी भाव-बदरियाँ जनमानस में घिर ही आएँ॥ १०॥
१. वेदों से कुछ आगे बढ़कर [२]नाट्यशास्त्र की बात करें हम।
प्रेक्षागृह में हम लोगों के प्रथम वास की याद करें हम॥ ११॥
२. हाँ, वह तो 'अदृष्ट'[३] कथा है उसको भला कौन समझेगा?
आज 'दृष्ट' का युग है भद्रे! वह सब कोई क्यों समझेगा? ॥ १२॥
१. हाँ, अदृष्ट तो 'गोष्ठी'[४] के भी नामकरण में छिपा हुआ है।
'दृष्टादृष्टों' की जोड़ी में युग का चिन्तन भरा हुआ है॥ १३॥
२. छोड़ो, 'दृष्ट' पकड़कर ही हम अद्यतनों से बात करें कुछ।
जो भाषा वे समझें, उसके वर्णों की पहचान करें कुछ॥ १४॥
१. अच्छा, लो, कृषि में हम सबका योगदान किसको भूला है?
गोबर हम-तुम दोनों का, औ' हल तुम पर ही नित झूला है॥ १५॥
२. हल औ' हलधर तो चुनाव-चिह्नों में शोभा पाता है।
धरती जोते 'ट्रेक्टर' तो ही 'सभ्य' जनों के मन भाता है॥ १६॥
१. ट्रेक्टर को जो खाद्य चाहिए उसकी तो निश्चित सीमा है।
वहाँ कहाँ 'मण्डलमय' गति[५] जो जीवन की सच्ची महिमा है॥ १७॥
२. सीमा की तो कौन कहे? तत्काल काम चल जाने दो अब।
मांस हमारा निर्यातित कर 'तेल' करें आयातित, लो सब॥ १८॥
१. बलिहारी इस मति की, जिसके जीवन के प्रति नेत्र मुँदे हैं।
मण्डलमय गति भूली जिसको तम से जिसके मार्ग रुँधे हैं॥ १९॥
२. जीवन की अवगणना ही तो सब दोषों की जड़ में दिखती।
उससे तरु में 'काष्ठ-राशि' औ 'मांस-राशि' हम-तुम में दिखती॥ २०॥
१. सच कहते हो, वृक्ष-लता भी हम-तुम-सम काटे जाते हैं।
दोनों से पैसे जो मिलते आपस में बाँटे जाते हैं॥ २१॥
२. पैसा ही क्या चरम 'अर्थ'[६] है? हा! यह कैसी विडम्बना है!
पशु औ' तरु तो मानव के चिर-सङ्गी, नहिं नवीन घटना है॥ २२॥
१. लगता है यन्त्रों के मद में मानव 'अर्थ' भुला बैठा है।
जो 'साधन' है, 'साध्य' उसे कह सब सन्तुलन गँवा बैठा है॥ २३॥
२. नर-बल पशुबल का सहचर बनकर ही यन्त्र सही चलता है।
है इतिहास सभ्यता का यह इसमें सबका हित पलता है॥ २४॥
१. आज इसी को तोड़ चला नर जीवन-विमुख खड़ा होने को।
नर-केन्द्रित यह नई व्यवस्था विष का बीज चली बोने को॥ २५॥

२. यह विष केवल हम-तुम को ही नहिं, नर को भी ले डूबेगा।
*रक्तबीज के सदृश यही नित नये अनर्थों को सिरजेगा॥ २६॥
१. क्या कोई भी तरणोपाय न आज बचा है इस विनाश से?
देर हो चुकी बहुत, पर कहो, कैसे छूटे नर कुपाश से?॥ २७॥
२. बहुत कठिन है, ठहरो लेकिन बात अभी रह गई अधूरी।
यन्त्र-सभ्यता की विनाश-लीला की कथा हुई नहिं पूरी॥ २८॥
१. अच्छा! अब तुम मुखर हो उठे! पहले तो कुछ कतराये थे।
मुझे बड़ा सुख इसमें भैया! कब-से तुम सहते आये थे॥ २९॥
२. तुमने जब से छेड़ दिया है, तब से सत्य कथा कहने को।
मचल उठा है जी, सब कुछ ही लाग-लपेट बिना कहने को॥ ३०॥
१. यह शुभ है, हम दया न माँगें, पर मनुष्य को उसका ही हित।
कह डालें, फिर जो चाहे सो करे, रहें हम सदा सत्य-रत॥ ३१॥
२. हम दोनों की बातें सचमुच नर के ही हित कही गई हैं।
उसके और हमारे हित में कुछ भी तो टकराव नहीं है॥ ३२॥
१. चलो, आज के ही युग का इतिहास बन्धु तुम कह डालो।
भारत में कितना वचनभङ्ग है घटित हुआ, सब कह डालो॥ ३३॥
२. पहले कुछ इतिहास पुरातन कह लूँ तब फिर अधुना की।
बात करेंगे हम-तुम मिलकर वचनभङ्ग की घटना की॥ ३४॥
१. चलो बढ़ो फिर आगे, सुन लूँ क्या कहने को शेष रह गया?
दुर्गति की लम्बी यात्रा में कौन पड़ाव विशेष रह गया? ॥ ३५॥
२. हम तुम थे अवध्य घोषित, कुछ मुस्लिम युग में हुआ प्रहार।
उसका सिक्खों ने डटकर प्रतिकार किया था, सत-बल धार॥ ३६॥
१. सभी प्रहारों के विरोध में सिक्खों का उज्ज्वल बलिदान।
भूल नहीं सकते हम-तुम गुरु-गोविन्द सिंह का यशोगान॥ ३७॥
२. सच है, पर भूले अकबर को, जिसका निकला था फ़रमान।
हमें अवध्य पुनः घोषित कर जिसने पाया था बहुमान॥ ३८॥
१. याद करो फिर अँगरेजों के शासन में नव-तन्त्र चला था।
हिन्दू-मुस्लिम को बिलगाने का नवीन षड्यन्त्र चला था॥ ३९॥
२. उस कुचक्र में सच हम लोगों का शोषण भरपूर हुआ था।
हमें बनाकर मुहरा, अँगरेजों ने अपना काम किया था॥ ४०॥
१. लोकमान्य था तिलक कि जिसने अँगरेजों को था ललकारा।
'स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार' दिया, उसने यह नारा॥ ४१॥
२. 'स्वराज्य होते ही गोहत्या पाँच मिनट में बन्द करेंगे!'
ऐसा भी वह कहता था, हा! कैसे उसको भूल सकेंगे? ॥ ४२॥

१. उसके बाद महात्मा गाँधी क्या कहते थे—याद किसे है?
'गोहत्या मेरी हत्या है'—चिन्ता उसकी आज किसे है?॥ ४३॥
१. स्वामी करपात्री जी औ' प्रभुदत्त ब्रह्मचारी जी ने भी।
कितने सत्याग्रह-उपवासों की शृंङ्खला महान् बना दी॥ ४४॥
२. सन्त विनोबा भी आखिर में सब कुछ तज गोरक्षा के ही।
व्रती बने थे, पर उनको तो 'भारतरत्न' बनाकर के ही॥ ४५॥
शासन ने दे दी तिलाञ्जलि; कभी 'धर्म' तो कभी 'अर्थ' की।
आड़ लिया करते शासकजन शङ्कायें बस उठा व्यर्थ की॥ ४६॥
१. देवनार[८]-सत्याग्रह अब भी सतत चला करता है, देखो।
'गो-गीता-पदयात्रा' कितनी निकली हैं—इनको भी देखो॥ ४७॥
२. कहीं किसी की पूछ नहीं है जिनके हाथों में अधिकार।
उनको केवल 'अर्थ' सूझता, अल्पदृष्टि कैसी दुर्वार॥ ४८॥
१. चलो, अर्थ को ही समझें हम, ऊर्जा और उर्वरक लेकर।
इन दोनों में गो-कुल द्वारा जो कुछ सम्भव उसे कूत कर॥ ४९॥
२. अधुना अर्थ-व्यवस्था में तो पूँजी की ही है भरमार।
उसमें जो पूँजी विदेश की, उसकी तो नित-नई बहार॥ ५०॥
१. कीटनाशकों-उर्वरकों के रसायनों के बृहदुद्योग।
अरबों-खरबों की पूँजी से चलते, उनका जो उपयोग॥ ५१॥
आज हो रहा, वह जीवन का महावधिक है, यह मत भूलो।
त्वरित लाभ की मृगमरीचिका, उसके धोखे में मत फूलो॥ ५२॥
२. सच कहती हो, धीमी गति से ये सब हरते जीवन-सार।
दुर्घटना हो जाए-तब तो करते अमित जीव-संहार॥ ५३॥
१. गोबर-मूत्र हमारे उर्वरकारी, कीट-विनाशक भी हैं।
धरती को देते नवजीवन दोषरहित, गुणधारक भी हैं॥ ५४॥
२. इतना ही नहिं, विकिरण को भी रोक सके वह शक्ति भरी है।
हम लोगों के गोबर में औ, श्वासक्रिया में, बात खरी है॥ ५५॥
१. यह सब तो है ठीक, किन्तु यह पूँजी का जो निकृष्ट वैभव।
उसके चलते गुण-दोषों की विवेचना बन गई असम्भव॥ ५६॥
२. सार यही तब तो निकला अब हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न नहीं है।
पूँजी औ' श्रमजीवन के बिच किसे चुनें? बस प्रश्न यही है॥ ५७॥
१. यह विश्लेषण सच्चा है, पर कौन इसे देखे—समझेगा?
सबने पूँजी का मद चाखा, कौन इसे परखे-समझेगा? ॥ ५८॥
२. तुमने ही तो कहा कि मरने से पहले सब कुछ कहना है।
फिर क्यों घोर निराशा के स्वर? हमें अविचलित ही रहना है॥ ५९॥

१. ठीक कहा तुमने, हमको तो सत्य बात कह जाना है।
कुछ भी करे मनुष्य, हमें तो सत्पथ पर ही जाना है॥ ६०॥

२. तब तो, बातें बची-खुची जो उनको भी कह डालें हम।
हम लोगों पर बीता जो अन्याय उसे कह डालें हम॥ ६१॥

१. याद मुझे आता है हम लोगों के खाद्यों का निर्यात।
जिससे हमें पालना दूभर, यह कैसा अति-मार्मिक घात?॥ ६२॥

२. कानून बने जो गोरक्षा-हित उनमें छिद्र भरे कितने?
उन छिद्रों की आड़ ले रहे मनुज छल-भरे हैं कितने?॥ ६३॥

१. गाय 'दूध का यन्त्र' नहीं है, उसकी सत्ता है व्यापक।
उसे यन्त्र समझो मत मानव! यह चिन्तन जीवन-घातक॥ ६४॥

२. यह तो है ही, फिर हम लोगों की नस्लों का किया विनाश।
नस्ल विदेशी बढ़िया मानी यह भी कैसा सत्यानाश॥ ६५॥

१. यदि विदेश की नस्ल बड़ी है, धरा यहाँ की यदि घटिया है।
तब तो मनुजों को विदेश की नस्ल मिले-यह भी बढ़िया है! ॥ ६६॥

२. सच कहती हो किन्तु आज भी मनुज कहाँ इस धरती का है?
चिन्तन-भावन सब कुछ उसका बाहर की ही धरती का है॥ ६७॥

१. बाहर की धरती में भी तो टॉलस्टॉय रस्किन जैसे।
उपजे जीवन-रसिक कि जिनकी सुध भी नहीं हमें, कैसे?॥ ६८॥

२. स्वातन्त्र्योत्तर-काल बली है, जिसमें यह सब कुछ निपजा है।
जो विदेश के शासन में हो सका न, वह सब अब उपजा है॥ ६९॥

१. चिन्तन का दासत्व सुनो—प्रत्यक्ष गुलामी से बढ़कर है।
उसका ही परिणाम बोलता-'सभ्य'-जनों के सिर चढ़कर है॥ ७०॥

२. इसीलिये गोधन की चिन्ता दकियानूसीपन कहलाती।
बाघ-शेर-सुअर की चिन्ता 'जीवदया' का दर्जा पाती॥ ७१॥

१. क्यों भूले हो-हम 'बहुसंख्यक', 'अल्पसंख्यकों' को लेकर।
हमें भूलना ही 'फ़ैशन' है, इसे त्याग दें जन क्योंकर?॥ ७२॥

२. उतरन-चिन्तन से उबरें जब शासक, नेता, बुद्धिधनी।
तब कुछ बिगड़ी बात बनेगी पनपेगी न कुमति इतनी॥ ७३॥

१. तब यह भी मति उपज सकेगी किस प्रकार नव-तकनीकों से।
निर्मल यन्त्र-व्यवस्था सम्भव मेल रखे जो हम-जैसों से॥ ७४॥

१. छोड़ो, किन्तु कहीं तो शायद कुछ भारत का सत्त्व बचा हो।
उसे हमारी बात समर्पित जिसको जीवन-तत्त्व पचा हो॥ ७५॥

२. जय बोलें हम समग्र जीवन की! शुभ-सुन्दर-चिन्मय की!
जिसके साथ सदा पनपी है अभिन्नता शुचि मृण्मय की॥ ७६॥

१. चलो कह लिया जो कहना था, अब हममें दुख-लेश नहीं है।
मरना तो है ही, पर अब कुछ कह देने को शेष नहीं है॥ ७७॥
२. चिन्ता है बस एक कि यदि हम नष्ट हुए तो नर-समुदाय।
नष्ट हो रहेगा, यह निश्चित उसका कहीं न तरणोपाय॥ ७८॥
१. स्थूल ही नहीं, सूक्ष्म नाश की बात कही है, यह समझें तो।
शायद उपजे बुद्धि कि जिससे जीवन-मर्म कहीं समझें वो॥ ७९॥
२. एक बात अन्तिम कहता हूँ—मानव! तुम तो मतवाले हो।
घोर प्रकृति-दोहक बनकर तुम हाय! भयङ्कर मद पाले हो॥ ८०॥
१. शाप नहीं देते हम, नर! तुम स्वयं सत्य को भजो परख कर।
हम तो नित्य असीसेंगे ही तुमको मनु का पुत्र समझ कर॥ ८१॥

टिप्पणियाँ

*१. छान्दोग्य उपनिषद् (४।४-५) में उल्लेख है कि सत्यकाम जाबाल को गुरु-आचार्य ने चार सौ गायों के साथ वन भेज दिया था; और कहा था कि ये एक सहस्र हो जाँय, तब यहाँ लौटना। जब वे एक सहस्र हो गयीं, तब एक बैल ने ही सत्यकाम को बताया, और ब्रह्मोपदेश भी दिया।

२. सर्वलक्षणसम्पन्ने कृते नाट्यगृहे शुभे। गावो वसेयुः सप्ताहं सह जप्यपरैः द्विजैः॥ (ना० शा० ३।१) कहा गया है कि नाट्यगृह (सभी सुलक्षणों से युक्त, विधान के अनुसार) बन जाने पर उसमें सबसे पहले एक सप्ताह तक गायें निवास करें, उनके साथ गायत्री-जप करते हुए ब्राह्मण वहाँ रहें। इस प्रकार गायों के श्वास व गोबर आदि से वह स्थान बाह्य रूप से शुद्ध होगा, एवं गायें निश्चिन्त भाव से बैठेंगी—सुख से रहेंगी, तब ब्राह्मणों द्वारा गायत्री-जप व घोष होता रहेगा एवं शुद्ध चिन्तनमय जीवन जिया जायेगा—तो उस स्थान के वायुमण्डल में शुद्ध स्पन्दन बने रहेंगे। इस प्रकार उस भवन एवं भूमि की अन्तर्बाह्य शुद्धि होने पर ही वह स्थान कलाकार्य के योग्य बनेगा।

३. भारतीय चिन्तनधारा में प्रत्येक कर्म के दो स्तरों के फल उत्पन्न होना देखा गया है। **१. दृष्ट**—जो स्थूल रूप से दिखाई देता है—जैसे गायों के श्वास-गोबर-मूत्र आदि से वातावरण की शुद्धि (कीटाणु-रहित होना, आणविकदूषण से रहित होना, त्वचा मुलायम एवं नीरोग होना इत्यादि) **२. अदृष्ट**—फल वह है जो सूक्ष्म है, बाहरी इन्द्रियों को दिखाई नहीं देता, तुरन्त पकड़ में नहीं आता, और कब, कैसे, कहाँ वह फलेगा—इसका कोई हिसाब नहीं लगाया जा सकता। किन्तु किसी न किसी रूप में वह फल मिलता अवश्य है, उसे स्थूल भाषा में 'पुण्य' या 'पाप'—रूप से कहा गया। यों भी—जिस धरती पर अच्छे कार्य होते रहे हों वहाँ बाद में भी रहने वालों को सुख-अनुभव होता है, चित्त प्रसन्न रहता है, अच्छे विचार आते हैं, और जहाँ क्रूर-व हिंसक घटनायें होती रही हों वहाँ वातावरण में बेचैनी, दुःख, क्रूरता-भरे स्पन्दन तैरते हैं यह अनुभवसिद्ध है।

४. **'गोष्ठी'** शब्द का भी अर्थ है वह स्थान जहाँ पर गायें बैंठती हों। प्राचीन-काल में ऋषि-मुनि एवं चिन्तक-मनीषी जन चिन्तन एवं चर्चा के लिये, ग्रन्थ-प्रणयन के लिये वह स्थान चुनकर बैठते थे जहाँ पर वन में विचरती गायें स्वाभाविक रूप से आकर बैठती-विश्राम करती—आराम से उठती-बैठती-जुगाली करती रही हों। उसी स्थान पर चिन्तन करने से,—प्रश्नोत्तर व चर्चा-विचारणा करने से बुद्धि सूक्ष्म स्तरों तक कार्य करने या पहुँचने में समर्थ बनेगी ऐसा अनुभव था। ऐसे सूक्ष्म-चिन्तन के लिये होने वाली बैठकों को ही 'गोष्ठी' कहा गया था।

५. **मण्डलमय गति**—बीज से वृक्ष, वृक्ष से पुनः बीज उत्पन्न होने के समान चक्र चलना। गोवंश के रूप में (बहुत स्थूल दृष्टि से भी देखें तो) ऊर्जा की मण्डलमय गति बनी रह सकती है—आगे-आगे बछड़े-बछिया-गाय-बैल पैदा होते रहने से उनके गोबर-मूत्र आदि से खाद व ईंधन, दूध से पोषण, बैलों द्वारा खेती और भार-वहन आदि का अक्षय क्रम चलता रह सकता है।

६. **अर्थ**—इस शब्द का पहला अर्थ है चाहने योग्य या चाही गयी वस्तु, या वह वस्तु जिससे कामना पूरी होती हो; आवश्यकता की पूर्ति होती हो। उसका एक साधन या माध्यम होने के नाते ही 'धन' को 'अर्थ' कहा गया। धन भी केवल 'पैसा' नहीं;—'जीवन का उपाय' धन शब्द का अर्थ है। सम्यक् व स्वस्थ मानव जीवन के लिये सबसे पहला उपाय गायों का दूध व गोबर-मूत्रादि तथा बैल आदि को समझा गया—इसीलिये धन का पहला पर्याय 'गोधन' हुआ था; समृद्धि की गणना या माप की इकाई गोधन ही बना था।

७. **रक्तबीज**—'दुर्गासप्तशती' में आये एक असुर का नाम—जिसकी गर्दन या कोई अङ्ग काटने पर जितने रक्तबिन्दु धरती पर गिरते थे उतने ही नये असुर (उसी पहले के समान बलशाली) पैदा हो जाते थे। उनको भी काटने पर फिर उनके रक्त की बूँदों से और-और उतने वैसे ही राक्षस पैदा होते जाते थे। रक्त का कण ही मानो बीज़ बन जाता था। इसी दृष्टान्त को लेकर एक से असंख्य की उत्पत्ति में 'रक्तबीज' की उपमा दी जाती है।

८. **देवनार-सत्याग्रह**—बम्बई के निकट 'देवनार' नामक स्थान पर—जहाँ बड़े पैमाने पर बैलों के वध का कत्लखाना है (बहुत बड़ी संख्या में प्रतिदिन वहाँ बैलों का वध हो रहा है।) वहाँ—सन्त विनोबाजी ने ११ जनवरी १९८२ से सतत सत्याग्रह (वध रोकने के लिये) आरम्भ कराया था। महाराष्ट्र-गुजरात एवं देशभर से गोरक्षा-कार्यरत सर्वोदय-सेवकों का वहाँ जाना एवं क्रमिक शृंखला में सत्याग्रह अब तक सतत चल रहा है, पर उसकी कोई परवाह शासनतन्त्र को नहीं रही है।

९. बाघ-शेर जंगली सूअर आदि वन्य पशुओं की तथा ह्वेल आदि समुद्री प्राणियों की सुरक्षा के लिये 'जीवदया' के नाम से बड़े समारम्भ से प्रयत्न हो रहे हैं; वह भी होने ही चाहियें इसमें सन्देह नहीं, किन्तु उसके साथ ही उस राशि का दसवाँ-बीसवाँ भाग भी यदि गोवंश की रक्षा एवं गाय-बैलों की उत्तम भारतीय नस्लों की सुरक्षा के लिये व्यय हो तो मनुष्य जाति के लिये बहुत उपकारी होगा।

निवेदन

काव्य नहीं यह, बारह वर्षों का मन्थन है उफन चला।
घुटन भरी थी जो अन्तस् में उसका लावा बह निकला॥
समानधर्मा होंगे जो भी, उनको यह रुचिकर होगा ही।
उदासीन जन को शायद कुछ विचलित कर डाले अब भी॥
सत्याग्रहरत आत्मीयों के हित ये बरसे हैं शोले।
उनकी दीर्घ तपस्या अब तो फल लाये, मधुरस घोले॥
शासन को है स्मरण दिलाना वादे पूरे करने का।
बिना कठोर सत्य को पाले, यह कलङ्क नहिं मिटने का॥
बरस अठारह तक गोसेवा का प्रसाद छक-छक पा कर।
मेरा अन्तस् भीग उठा है गौ की करुणा को छूकर॥
भीगे अन्तस् की वाणी यह मरुओं का सिञ्चन कर दे।
संस्कृति के चिन्तक-भावक जन के मानसघन को भर दे॥
कुमति दूर हो, भावजगत् में सुमति-समीर सदा सरसे।
सूखी बंजर धरती में भी गौ की करुणा नित बरसे॥

'**आम्नाय**' धर्मजित् नगर
२०९/१, करौंदी
वाराणसी—२२१००५ (दूरभाष—३१६४६०)

निवेदिका—
प्रेमलता शर्मा

.१०.

गो-सेवा में तन-मन-धन से जुटने का आह्वान*

यह 'आह्वान' किसके लिये है?

उसके लिये नहीं—जो केवल गोमाता की जय बोल कर सन्तुष्ट रहना चाहता हो।

उसके लिये अवश्य है—जिसके चित्त में गोमाता के लिए कुछ न कर पाने के कारण छटपटाहट हो, कुछ न कुछ करने की अकुलाहट हो—भारत में गाय-बैल की दुर्दशा देख-सुन कर जिसे तड़पन होती हो, जिसकी बेचैनी छलकी पड़ती हो—जो भारत को केवल भूखण्ड नहीं, अपितु विशिष्ट सांस्कृतिक चेतना का पुञ्ज समझता हो।

उसके लिये भी है—जिसे गोरक्षा की बात में दकियानूसीपन की गन्ध आती हो।

* * *

इस आह्वान को सुन लिया हो तो आइये, अपना-अपना कर्तव्य मार्ग हम अपने-अपने स्वधर्म के अनुसार तय करें, और इस प्रक्रिया में जिस हृदय-मन्थन में से गुजरना अनिवार्य हो, उसके लिये तैयार रहें।

यदि हम—

१. शिक्षक या विद्यार्थी हैं तो मानव-जीवन में श्रम का स्थान, श्रम में नर-बल के साथ पशु-बल का सहयोग और मानव की बुद्धि-मेधा के संवर्धन में गोदुग्ध का स्थान समझें-समझायें।

२. माता-पिता हैं तो अपनी सन्तान को ताजा गोदुग्ध; छेना, छेना व दूध की मिठाई का ही सेवन करायें और उनमें गोमाता के प्रति कृतज्ञता का भाव-बीज बोयें। बाजारू-कृत्रिम पोषक द्रव्यों का उपयोग यथासम्भव न करें।

३. चिकित्सक हैं तो गोवंश की चिकित्सा में परम्परा प्राप्त नुस्खों, औषधियों, जड़ी-बूटियों की खोज करें और मानव-स्वास्थ्य की रक्षा में गोदुग्ध, गोमूत्र आदि की महिमा उजागर करें।

४. अर्थ शास्त्री हैं तो श्रम-केन्द्रित अर्थ-व्यवस्था में गाय-बैल का स्थान समझें-समझायें। पूँजी-केन्द्रित अर्थव्यवस्था को सर्वग्रासी बनने से रोकने के उपाय सोचें। गोवंश के प्रति समग्र दृष्टि विकसित करें, जिसमें दुग्ध, खाद, जलावन, जोत और ढुलाई का यथोचित स्थान हो।

इस दृष्टि के अनुसार **गाय-बैल जीवन के अन्तिम क्षण तक अनुपयोगी नहीं होते**—इस सत्य को प्रतिष्ठित करें।

५. कृषि-शास्त्री हैं तो सेन्द्रिय खाद को रासायनिक खाद की तुलना में वरीयता कैसे मिले, इसके उपाय सोचें। विषाक्त रासायनिक कीटनाशकों के स्थान पर गोमूत्र के प्रयोग पर अनुसन्धान करें, करायें।

—ऊर्मिला

* बहिनजी ने यह पूरी सामग्री लिखकर फोल्डर बनाकर हजारों की संख्या में स्वयं छाप कर वितरित किये थे।

६. व्यवसायी या उद्योगपति हैं तो गोमांस, गोचर्म आदि के व्यापार और निर्यात को बन्द करने-कराने का उद्यम करें, और उद्योग में गाय की खाद्य-वस्तुओं का (अन्य वस्तु बनाने में) उपयोग न बढ़े, इसका ध्यान रखें।

७. कृषक हैं तो गोसेवा को कृषि का अभिन्न अङ्ग बनाये रखें। बैल को हटाकर 'ट्रैक्टर' आदि न लायें।

८. वकील या कानून के ज्ञाता हैं तो गोरक्षा-सम्बन्धी कानूनों का पालन कराने के लिये निःशुल्क पैरवी करें, या सलाह दें और गाय के शोषण के स्थूल-सूक्ष्म रूपों का, उनके पोषक निहित स्वार्थों का पर्दाफाश करें।

९. न्यायाधीश हैं तो गोरक्षा-सम्बन्धी कानूनों के छिद्रों की आड़ में जोर पकड़ती गोहत्या का प्रतिकार करें।

१०. नीति-निर्धारक हैं तो भारतीय समाज में गाय के केन्द्रीय स्थान को समझकर तदनुसार आर्थिक, औद्योगिक, शैक्षणिक, निर्यात-सम्बन्धी नीति बनायें।

११. धर्माचार्य-सन्त-महन्त हैं तो मठों-मन्दिरों में गोदुग्ध-गोघृत के ही उपयोग का नियम बनायें।

१२. चिन्तक-विचारक हैं तो मानव-जीवन के 'संस्कार' में गोवंश के साथ प्रेममय सम्बन्ध के मर्म को प्रकट करें।

१३. पत्रकार हैं तो गोरक्षा के प्रयत्नों के समर्थन और गोवंशनाश के दुश्चक्र के विरोध के लिए जनमत तैयार करने के उद्देश्य से तत्सम्बन्धी समाचारों को प्राथमिकता दें।

१४. कवि या लेखक हैं तो गोवंश की मूक वेदना को वाणी दें, जिससे पत्थर पिघलें और उपेक्षा-उदासीनता के स्थान पर करुणा-संवेदनशीलता जागे।

१५. पुलिस अधिकारी या कर्मचारी हैं तो गोरक्षा के कानूनों को तोड़ने वालों को पकड़ने तथा दण्डित कराने में सहयोग करें। चोरी-छिपे गोवध, अवैध लदाई और राज्यान्तरण इत्यादि को रोकें।

१६. कतलखाने के अधिकारी या कर्मचारी हैं तो कानून के छिद्रों की आड़ में गोवध को बढ़ावा देने का और स्वस्थ गाय-बैलों को भी 'अनुपयोगी' करार देने का घोर पाप करते हुए यह न समझें कि आप प्रत्यक्ष गोहत्या नहीं कर रहे हैं।

१७. मांसाहारी हैं तो कम से कम मानव-जीवन के लिए सर्वाधिक उपयोगी पशु—गो-वंश (किसी भी आयु व स्थिति के गाय-बछड़ा-बछिया-बैल-साँड़) का मांस वर्जित रखें।

१८. सामान्य नागरिक हैं तो—(१) अपने घर में निकलने वाले सब्जी-फल के छिलकों, भूसी, चोकर आदि को अलग रखें, कूड़े में न मिलायें—यह सामग्री किसी गाय का ग्रास बने, इसका उपाय करें।

(२) सुविधा हो तो एक गाय अवश्य पालें।

(३) गोदुग्ध को भैंस-दूध के समान दाम दें। दोनों की तुलना सूक्ष्म गुणवत्ता से करें, न कि ऊपरी गाढ़े-पतलेपन से या 'फैट' की कमी-बेशी से।

(४) नगरों में प्रत्येक बस्ती में ताजा गोदुग्ध सुलभ हो सके, इसके लिए गोशालाओं की स्थापना के लिए आवाज उठायें।

(५) गोवंश का महत्त्व केवल 'हिन्दू' के लिए नहीं, भारत के प्रत्येक नागरिक के लिए है, इस सत्य को समझें-समझायें।

(६) 'हिन्दुहिं मधुर न देहिं, कटुक तुरुकनि न पियावहिं'—इस ऐतिहासिक वाक्य का सतत स्मरण करें।

(७) गोसेवा, गोरक्षा के प्रयत्नों में यथाशक्ति आर्थिक सहायता दें।

(८) जो निरामिष भोजी (शाकाहारी) हैं वे किसी भी नाम वाले वनस्पति घी का, और उससे बनी वस्तुओं का उपयोग न करें क्योंकि उसमें मृत-चर्बी (अधिकतर गाय की) मिली होती है। यों भी वनस्पति घी हृदयरोग का कारण बनता है। अतः सादे खाद्य तेलों का उपयोग करें।

(९) हम सबके हाथ किस प्रकार परोक्ष रूप से गाय के रक्त में सने हैं—इसे समझें और स्वीकारें।

हम सब

जागें!................सोचें! ....! समझें!......................बोलें!.........करें!

—डॉ० प्रेमलता शर्मा

गोरक्षा-आन्दोलन से हुई उपलब्धि

काशी की पंचक्रोशी यात्रा के तीसरे पड़ाव पर स्थित श्री रामेश्वर गोशाला, महान गोउपासक पं० झांवरदत्त जी शर्मा की अमर कीर्ति है। सन् १९५४ में उनके गोलोकवासी होने के बाद गोशाला उपेक्षित सी रही। किन्तु श्री काशी-जीवदया-विस्तारिणी गोशाला एवं पशुशाला के शताब्दी समारोह (१८ नवम्बर, १९८६) के मुख्य अतिथि महामहिम राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह जी की अपील एवं मन्त्री श्री दीनानाथ जी झुनझुनवाला की सुविचारित योजना से यह गोशाला गोरक्षा का केन्द्र बनी। तब २४ नवम्बर, १९८६ से कलकत्ता, पं० बंगाल के कत्लखानों में जाने वाली गायों को बचाकर रामेश्वर गोशाला में रखा जाने लगा। अब तक लगभग २० हजार गाय-बैल कसाईयों के हाथों से छुड़ाये गये, उनमें जो उपयोगी थे, उनको छोटे किसानों में वितरित कर दिया गया। **जिन्हें अनुपयोगी समझ कर लोगों ने लेने से इन्कार कर दिया, उनसे गोशाला में निम्न परिणाम आये हैं :**

दुग्ध उत्पादन				(लीटर में)
१ अप्रैल,	१९८७ से ३१	मार्च,	१९८८	५,९४४.०००
१ अप्रैल,	१९८८ से ३१	मार्च,	१९८९	४१,३८२.०००
१ अप्रैल,	१९८९ से ३१	मार्च,	१९९०	९७,२५९.७५०
१ अप्रैल,	१९९० से ३०	अप्रैल,	१९९०	८,२७१.२५०
१ मई,	१९९० से ३१	मई,	१९९०	७,६७९.७५०

हरे-चारे का उत्पादन				(क्विन्टल में)
१ अप्रैल,	१९८७ से ३१	मार्च,	१९८८	२,१५०.०००
१ अप्रैल,	१९८८ से ३१	मार्च,	१९८९	५,०७८.०००
१ अप्रैल,	१९८९ से ३१	मार्च,	१९९०	८,८६३.०००
१ अप्रैल,	१९९० से ३०	अप्रैल,	१९९०	३७५.०००
१ मई,	१९९० से ३१	मई,	१९९०	६९०.०००

उपर्युक्त आँकड़ों से स्पष्ट है कि—अनुपयोगी गायें उपयोगी बनीं, अक्षम बैल उत्पादन में सहायक हुए और **बूढ़े बीमार गोवंश भी सेन्द्रिय खाद, गोबर गैस तथा ऊर्जा उत्पादन में कंकरीली बन्ध्य बंजर धरती को उपजाऊ बनाने में सहायक रहे।** इसलिये हम अब विश्वास के साथ कहने की स्थिति में हैं कि **भारतीय गोवंश अन्तिम क्षण तक उपयोगी है।** उसकी सुरक्षा का प्रश्न राष्ट्र की प्रगति, पर्यावरण और जन-भावना से सम्बन्धित है।

भारत कृषि प्रधान देश है। सारी कृषि बैलों पर आधारित है। माना जाता है कि करीब ४० करोड़ एकड़ में खेती होती है, उसमें १५ प्रतिशत यन्त्रों से २० प्रतिशत मनुष्यों से और ६५ प्रतिशत बैलों से उर्जा प्राप्त होती है। ट्रैक्टर जितनी जमीन जोतते हैं, उतनी तो भैंसे जोतते हैं, जबकि भैंसों से आठ गुनी जुताई बैल करते हैं। इन बैलों की शक्ति का सही मूल्यांकन नहीं किया गया तो वह दिन दूर नहीं, जब सारी खेती चौपट हो जायगी, और बैल दर्शन के लिए भी नहीं मिलेंगे।

बैल खेत जोतते हैं, बैल गाड़ियाँ खींचते हैं, और मरने के बाद भी अपने भारी भरकम शरीर से जूते आदि बनवाने में सहायक होते हैं। इनका उपकार भूल कर जो लोग बैलों को कसाईयों के हाथों में बेच देते हैं, वे मेरी दृष्टि में राष्ट्रघाती हैं। रामेश्वर गोशाला के माध्यम से हमने पिछले चार वर्षों में कसाईयों के हाथ से छुड़ाये गये हजारों बैलों को खिला-पिलाकर स्वस्थ किया और छोटे-छोटे किसानों के बीच वितरित किया है।

—अशोक जालान

'आचार्य कुल' (रामेश्वर-गोशाला अंक) से साभार सङ्कलित

The Role of University in Cow Protection

While craving your indulgence for encroaching upon your valuable time, I wish to draw your kind attention to a subject of national importance viz. **'Save the Cow',** with the request—that you may kindly bring this letter to the attention of the following Departments/Units of your University, conveying to them our request for working in the directions suggested by us or any other direction that they might deem proper, through research and extension work in the first place and eventual inclusion of relevant points in syllabi of various courses.

You must be having some ideas on this subject. Universties could contribute vitally to this movement by their help in evolving a holistic and pragmatic approach towards the cow and the bullock, countering the platitude expressed in allegations of obscurantism, fundamentalism and the like.

1. Agriculture—the use of cowdung and cow's urine in organic manure, the advantage of indigenous ploughing over use of tractors.

2. Veterinary and Animal Husbandry—indigenous know-how of the treatment of the cow with herbal medicines, help of technology in making the draught by bulls easier, development of indigenous breeds, taking a total view of milk and draught.

3. Chemistry—the use of cow's urine and cowdung as pesticide, to replace poisonous pesticides.

4. Environment and ecology—the place of the cow in the total perspective of environment and ecology.

5. Economics—the place of the cow and the bull in labour-based economy, how the utility of the cow is not limited to milk-yield alone; energy is an important aspect for consideration.

6. Ayurveda—the use of cow's milk, butter-milk, urine etc. in health services and the treatment of the cow in the Ayurvedic system.

7. Adult Education and Youth Affairs—the training of neoliterate and educated youth in the rearing of the cow, an excellent channel for the youth energy.

8. Sociology—the social bearing of the relationship between human beings and animals, specially the cow.

9. Law—loopholes in the existing laws of cow protection; how young and able-bodied cows and bulls are being slaughtered in the name of getting rid of 'useless' animals.

10. Indian Languages and Literature—the traditional literature on the cow in vÕous Indian languages.

11. Philosophy—the Indian components of Philosophy Departments could study the spiritual aspect of human relationship with the cow.

[Extract from a letter addressed to vice-chancellors of all Indian Universities by PROF. PREMLATA SHARMA] (Retd. Professor in Musicology, Banaras Hindu University and Ex-Vice-chancellor, Indira Kala Sangit Vishwavidyalaya, Khairagarh M.P., **in July, 1990 on the issue of cow protection.]**

सेयं गोपालिका धन्या प्रेमवल्ली स्वयम्प्रभा।
गोलोकवसतिं प्राप्ता गोविन्दद्रुममाश्रिता॥

—ऊर्मिला

परिशिष्ट 'ख'

विशिष्ट-अभिनन्दन

शुभाभिनन्दन-पत्र

विलक्षण-प्रतिभा-सम्पन्ना, ज्ञान-गरिमा-युता, साहित्य-सङ्गीत-कला-पोषिका, स्वनामधन्या परमश्रद्धेया

डा० सुश्री प्रेमलता शर्मा जी

के कर कमलों में सादर समर्पित अभिनन्दन

अयि सारस्वत साधिके!

शताब्दियों से सङ्गीत भारतीय ज्ञान राशि के विविध रूपों के सतत आलोडन के द्वारा आपने शिक्षा की उस उच्चतम पराकाष्ठा को प्राप्त किया है जिसकी शाश्वत किरणें (अनेक विरुदावलियों के रूप में) आपको महनीय छटा प्रदान करती हैं।

अमन्द-अभ्यास-रते!

विभिन्न गुरु-परम्पराओं से प्रवाहित ज्ञान धाराएँ उसी प्रकार आप में सम्मिलित हुई हैं जैसे जल धाराएँ महासागर में। भारत के मूर्धन्य मनीषियों ने स्वीय ज्ञान राशि के संरक्षण एवं परिवर्धन के लिए आपका ही चयन किया जै। प्रो० परशुराम लक्ष्मण वैद्य, पं० ओंकार नाथ ठाकुर, महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज, पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु तथा कवितार्किकचक्रवर्ती सर्वतन्त्र स्वतन्त्र पं० महादेव शास्त्री जैसे मनीषियों की प्रज्ञा से प्रज्ज्वलित किया है आपने हृदयस्थ ज्ञान-दीपावलि को।

सर्वलोक-प्रिये!

भूतभावन-राजधानी, त्रैलोक्य-ललामभूता, काशी नगरी में निरन्तर वास करते हुए भी विश्व के कोने-कोने में प्रकाशित हुई है आपकी प्रतिभा। अमेरिका महादेश के विभिन्न राज्यों में, कभी मॉस्को में, कभी मॉरिशस में और कभी हॉलैण्ड में विभिन्न संगोष्ठियों, महोत्सवों के माध्यम से भारतीय साहित्य तथा सङ्गीत को आपने विश्वजनीन व्याप्ति प्रदान की है।

साहित्य-सङ्गीत-कला-सुमण्डिते!

एक दशक से भी अधिक समय तक कालिदास की उज्जयिनी को आपने मुखरित किया है प्राचीन भारतीय सङ्गीत की विस्मृत विधाओं की स्वर लहरियों से। पुनरुज्जीवित किया है भारतीय नाट्य कला तथा नाट्य सहित्य के मनोहर रूप को अपने उत्कृष्ट निर्देशन से। वाराणसी, लखनऊ, वृन्दावन, नाथद्वारा, महाराष्ट्र को आलोकित किया है ध्रुवपद समारोहों से। निरन्तर संरचनशील आपकी लेखनी अनेक साहित्यिक समालोचनों, मुख-पत्रों तथा अनुवाद-ग्रन्थों तथा पाठ-संशोधन युक्त विशिष्ट सम्पादनों को जन्म देती रही हैं। सर्जना की इस त्रिधारा का समन्वित समागम हैं आप।

शिष्य-स्नेहपरिपूर्ण-हृदये!

आपकी स्नेहधार सुधी सङ्गीत-जिज्ञासुओं को परितृप्त करती हुई आज भी गतिशील है, प्रवहमान है। अनेक भारतीय एवं विदेशी शोधकर्ताओं ने आपकी ज्ञानछाया में आश्रय लिया है। यह समृद्ध शिष्य-परम्परा आप को प्रणाम करती हैं।

प्रशासन-प्रवीणे!

अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रशासकीय तथा अधिशासकीय पद आपको पाकर धन्य हुए हैं। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के 'सङ्गीत-ललित कला-सङ्कायों के 'डीन' के रूप में आपका योगदान अविस्मरणीय है। प्रशासन-सूत्र-सञ्चालन की दक्षता का चरम साक्ष्य खैरागढ इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय है जिसका आपने कुलपति के रूप में तीन वर्ष तक लालन किया है। उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी आपको अध्यक्ष के रूप में पाकर गौरवान्वित हुई है। एतदतिरिक्त ललित कला अकादमी, साहित्य अकादमी, आकाशवाणी, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय को भी समय-समय पर आपने अपनी छत्रछाया प्रदान की है, और अब संगीत नाटक अकादमी (केन्द्रीय) की उपाध्यक्षा रूप में अतीव महत्त्वपूर्ण योगदान कला-जगत् को दे रही हैं।

विद्वज्जनाभिनन्दिते!

पञ्चनद के सरस सलिल ने सींचकर सर्वतोमुखी किया है आपकी प्रतिभा को। गुणीजन वन्दना में तत्पर अन्य प्रदेशों तथा समग्र देश ने भी पुरस्कार पुष्प-माला से आपकी प्रतिभा की बारम्बार वन्दना की है।

चारुशीले!

पुनरुज्जीवित किया है आपने संस्कृत में सङ्गीत की शास्त्रीय अध्ययन-परम्परा को। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के सङ्गीत शास्त्र विभाग की स्थापना ही नहीं लालन और परिपोषण भी किया है आपने।

अयि ज्ञानमुद्रा-करे! अयि सङ्गीत-सम्भाविते! आपकी सर्वतोमुखी प्रतिभा को, आपके गरिमामय व्यक्तित्व को, आपको— शतशः नमन है, प्रणाम हैं।

हे योगक्षेममयि!

आपके इस अभिनन्दन के अवसर पर हम आपके प्रति अभिवन्दन समर्पित करती हैं एवं सर्वशक्तिमान् भूतभावन भगवान् शङ्कर तथा जगदम्बा अन्नपूर्णा के चरणकमलों में प्रार्थना करती है कि आप नीरोग, स्वस्थ एवं दीर्घायु होकर चिरकाल तक न केवल काशी, न केवल भारत अपितु सम्पूर्ण विश्व को अपने कल्याणकारी ज्ञानवारि से सिक्त करती रहें।

दिनाङ्क ७.४.९६ आपकी गुणगरिमा से अभिभूत एवं श्रद्धावनत हम हैं

महिला मण्डल, काशी की सदस्याएँ

(म०मण्डल की हीरक जयन्ती के अवसर पर)

परम विदुषी बहन जी डा० कुमारी प्रेमलता शर्मा को 'कुलपति' पद पर जा रही 'कुलदीदी' को मंच-कला-कुल की ओर से सादर समर्पित

मानपत्र

हे संगमस्थली!

आपके ज्ञान की गंगा, कर्म की यमुना और स्वर की सरस्वती के त्रिविध संगम में आकण्ठ आप्लावित होकर अनेकानेक जिज्ञासु-पिपासु तृप्त हुए हैं।

हे 'भरत' से 'प्रणव' तक के चिन्तन की यात्रिक! आप धन्य हैं ॥

शतियों पूर्व ग्रथित सङ्गीतशास्त्र को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में पुनः स्थापित करते हुए लक्ष्य-लक्षण का समन्वय साधनेवाली आप अपूर्व कालयात्री हैं।

हे ध्रुवा से ध्रुवपद की यात्रिक! आप अनन्त हैं॥

'नाट्यशास्त्र' वर्णित ध्रुवा-गान परम्परा को पुनर्जीवित करते हुए आपने 'ध्रुवपद' गायकी की दुरूह और क्लिष्टतम लय-बाट को अत्यन्त सहजरूप से उजागर किया है।

हे नाट्यकर्मी हे नाट्यधर्मी! आप समर्थ हैं॥

संस्कृत नाटकों के पुनरुत्थान हेतु कृतसंकल्प आपमें यज्ञ के होता की श्रद्धा है, निर्देशक की निष्ठा है, पात्रों की प्रतिष्ठा है।

हे सर्वप्रिय! आप अभिनन्दनीय हैं॥

गुरुजनों के प्रति नव विनय, सहयोगियों के प्रति सरस स्नेह, विद्यार्थियों के प्रति अपार वात्सल्य बिखेरने वाला आपका सहज स्वभाव आपकी अपनी ही विशेषता है।

आप चिर स्मरणीय हैं॥

हमारी बहन जी के प्रति हमारी शुभ भावना............

भगवान् भूतभावन से यही प्रार्थना है कि आपका अभ्युदय व्योम से उन्नत हो, गहनता प्रशान्त महासागर से गहरी हो, व्यापकता दिशाओं से विस्तृत हो, विजय विश्व के अपने ढंग के एकमात्र विश्वविद्यालय से आगे हो ....

का०हि०वि०वि०
वाराणसी-5

विदा से विलखता किन्तु उत्कर्ष से उत्फुल्ल,
आपका अपना ही,

सङ्काय परिवार

२८-८-८५

अभिनन्दन-अभिवन्दन

गुणानुकीर्तन

गुरु-भक्ति एवं ज्ञान की गंगा, जागरूकता एवं जनहित-चिन्तन की जमुना तथा सौहार्द एवं सदाशयता की सरस्वती के 'त्रिवेणी-संगम' का मूर्तिमय स्वरूप हम डॉक्टर प्रोफेसर प्रेमलता शर्मा जी के व्यक्तित्व में पाते हैं।

विविध-विद्यादायी काशी हिन्दु विश्वविद्यालय में शिक्षित-दीक्षित डॉ० शर्मा, १९५५ में, प्रवक्ता पद नियुक्त होने के पश्चात् क्रमशः आरोही सोपान चढ़ती हुई, 'रीडर' तथा 'प्रोफेसर' पद को शोभायमान करती हुई, १९८५ में, इन्दिरा कला सङ्गीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ की कुलपति नियुक्त हुईं।

सुदीर्घकालीन अध्यापन-प्रशासन के कार्य-भार को सुचारु रूप से वहन करते हुए आपने अनेक महत्त्वपूर्ण पदों को गौरव प्रदान किया। उत्तर प्रदेश सङ्गीत नाटक अकादमी की अध्यक्षा तथा केन्द्रीय सङ्गीत नाटक अकादमी की उपाध्यक्षा होने के उपरान्त अनेकानेक प्रकार की अनेकानेक समितियों को आपने विद्वत्तापूर्ण दिशा-निर्देश द्वारा लाभान्वित किया। 'फुलब्राइट', 'उत्तर प्रदेश सङ्गीत-नाटक अकादमी' तथा 'केन्द्रीय सङ्गीत नाटक अकादमी' की 'रत्न-सदस्यता' अपने को आदरणीय बहन जी के साथ संलग्न पाकर गौरवान्वित अनुभव कर रही है।

ऋण-स्वीकार

सम्पादकत्व की जो सरिता '**रसविलास**' से प्रारम्भ होकर '**सङ्गीतराज**', '**सहसरस**' से होती हुई '**बृहद्देशी**' तथा '**भक्तिरसामृतसिन्धु**' की ओर प्रवाहित हुई है, उसमें निमज्जित होकर विद्यार्थी, विद्वान् हुए हैं तथा विद्वान्, अधिकारी हुए हैं। '**सङ्गीतरत्नाकर**' तथा '**जपसूत्रम्**' सहित अनेक ग्रन्थों का अनुवाद प्रस्तुत करते हुए आपने देवभाषा संस्कृत तथा गरिमामण्डित बँगला से अनभिज्ञ शोधार्थियों का मार्ग प्रशस्त किया है, उसके लिए अनन्त साधुवाद हैं।

स्वयं ध्रुपद-गायन की क्लिष्टतम लयकारियों को सहज रूप से प्रदर्शित करने का सामर्थ्य रखते हुए भी मंच-प्रदर्शन के मोहमय मायाजाल से मुक्त होकर शास्त्राध्ययन, सत्यान्वेषण तथा रहस्योद्घाटन में अपनी शक्तियों को केन्द्रित करने वाली, प्रेमलता जी! आप धन्य हैं।

देश-विदेश के अनेकानेक छात्र-छात्राओं में सहज रूप से, निःस्वार्थभाव से जो विद्या-प्रसाद वितरित किया है तथा कर रही हैं, वह आपके उदारमना ऋजु तथा सरल स्वभाव का परिचायक है।

आचार्य भरत-प्रतिपादित सिद्धान्तों की पुनः स्थापना हो अथवा ध्रुपद के प्रायोगिक एवं शास्त्रीय पक्ष का समुद्धार, देश-विदेश की विचार-गोष्ठियों में निर्णयात्मक भूमिका का निर्वाह हो अथवा किसी छिपी प्रतिभा के उद्घाटन का सत्कार्य, गोमाता की सेवा हो अथवा कन्या-शिक्षण का दायित्व-स्वीकार—प्रोफेसर शर्मा जी ने सदैव अपने को समर्पित किया तथा परिचय-परिधि में आने वाले प्रत्येक को 'प्रेम' की लता से आवेष्टित करते हुए अपना 'प्रेमलता' नाम सार्थक किया।

शुभाशंसा

संगीत, साहित्य तथा संस्कृति की सेवाव्रती आदरणीया बहन जी आज जीवन के सातवें दशक के अन्तिम चरण में हैं। जिस प्रकार निवृत्ति के पश्चात् जीवन-पथ के प्रति उदासीनता, तटस्थता तथा विमुखता अपना कुप्रभाव छोड़ते हैं उसी प्रकार अत्यधिक शारीरिक-मानसिक श्रम, विभिन्न प्रकार के उत्तरदायित्वों की बहुलता तथा बार-बार के यात्रा-प्रवास वार्धक्योन्मुख देह से अपना 'दान' तो वसूलते ही हैं। हम सभी बहन जी के स्नेही, शिष्य-प्रशिष्य, गुणानुरागी, ऋणी एवं निकटवर्ती, भगवान्-भूत-भावन से सविनय याचना करते हैं कि हम सबकी प्रिय, बहन जी को सुदीर्घ, निरामय, फलप्रद आयुष्य प्रदान करें। वाग्देवी की वरद विदुषी को अपने संकल्पित कार्य यथा—नान्यदेव के '**भरतभाष्य**' तथा '**सङ्गीत-विषयक पारिभाषिक शब्दकोष**' का सम्पादन, 'कलातत्त्व-कोष' का प्रकाशन, अनेक भाषाओं पर समान अधिकार रखने वाली बहन जी द्वारा ही संभव '**पुनर्नवा**' की योजना-पूर्ति, भक्तिरसपूरित '**भागवत गीतियों का सङ्गीत-संयोजन**', 'पूज्य-गुरुवर्य सङ्गीत मार्तण्ड पं० ओमकारनाथ जी ठाकुर की जन्म शताब्दी का बृहद संयोजन', प्रभृति कार्यों को सम्पन्न कर सकने का समय दें—सामर्थ्य दें—सन्तुष्टि दें। सदैव की भाँति, विविध विषयों के उपेक्षित शास्त्रग्रन्थों का उद्धार आपके द्वारा होता रहे। विद्या-व्यासङ्गियों की पथप्रदर्शिका बनी रहें तथा प्रकाश-स्तम्भ की अपनी भूमिका का निर्वाह करने हेतु सक्षम बनी रहें।

विनयावनत

बृहस्पतिवार, १ फरवरी १९९६

गुणग्राहक, कृतज्ञ, शुभकामी

वाराणसी, माघशुक्ल द्वादशी

'आपके अपने'

नादार्चन-पर्व-समिति तथा डीरेका संस्थान के संयुक्त तत्वाधान में आयोजित
नादार्चन-पर्व-समारोह में 'नाद गुंजन' पर सादर समर्पित

परिशिष्ट ग

आत्मा के गोलोकवास के पश्चात्
शेष रही छाया के प्रति व्यक्त हुए
स्नेही-गुरुजनों-सहृदयों के उद्‍गार
तथा
पुनरुज्जीवक निर्देशन

.१.

॥ श्रीः ॥

अभिनयभारती, वाराणसी

न्यू-एफ-४, जोधपुर कालोनी
काशी हिन्दु विश्वविद्यालय, वाराणसी-२२१००५

पत्रांक...................... दिनांक ७.१२.९८

शोक प्रस्ताव

आज दिनाङ्क ७.१२.९८ को काशीहिन्दू विश्वविद्यालय में अभिनय भारती के सदस्यों की एक आकस्मिक बैठक डॉ० सुधाकर भट की अध्यक्षता में हुई, जिसमें अभिनयभारती की संस्थापिका सदस्या एवं वरिष्ठ उपाध्यक्ष, सङ्गीत-जगत् की असामान्य शास्त्रविदुषी परमादरणीय बहन जी प्रो० प्रेमलता शर्मा जी के आकस्मिक निधन पर गहरा शोक व्यक्त करते हुए श्रद्धाञ्जली दी गई। सम्पूर्ण अभिनयभारती अपनी मूल प्रेरिका को खो देने से मर्माहत है तथा भूतभाव भगवान् विश्वनाथजी से प्रार्थना करती है कि दिवंगत आत्मा को गोलोक प्रदान करें।

इस घोर बेला में अभिनय भारती के सदस्य गोलोकवासिनी पूजनीया बहनजी की अनुपम अनुजा आदरणीय ऊर्मिला बहनजी के प्रति पूर्णरूपेण सहानुभूति रखते हुए सहयोग हेतु समर्पित हैं।

—कमलेशदत्त त्रिपाठी



.२.

E. Message from Professor Jack Hawley, U.S.A.

Oh!

This is a very sad and very unexpected news. What a terrible loss!

A great mix of feelings rush in perhaps foremost among them all being great gratitude to have had the privilage of a few hours with her in these last days.

She was so splendid as a scholar and as a human being, both aspects changed deeply my feeling about the Sursagar book, as I approach it's end (I think).

1Oh!..... though : I had the feeling that she would be with us for many years and had felt what a happy thing that was for all of us.

I do not find words to convey my sympathies to Urmilaji. It must be a truly devastating loss for her.

9.12.1998

.३.

कालिदाससंस्थानम्, वाराणसी
Kālidāsa Academy, Varanasi
28, Mahāmanāpuri, Varanasi-5

संस्थापक अध्यक्ष
आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी

सचिव
डॉ० सदाशिवकुमार द्विवेदी

२०.दिसं.१९९८

आदरणीया बहिन डॉ० ऊर्मिलाजी,

आज स्व० बहिन डॉ० प्रेमलता शर्मा के लिए आपने श्रद्धाञ्जलि-सभा आयोजित की है। नियति दुर्निवार है। इसलिए यह दिन देखना पड़ रहा है। संतोष की बात इतनी ही है कि आदरणीया बहिनजी का शरीर 'अक्लेश' से छूटा। अवश्य ही वे पुण्यात्मा थीं। मेरे ऊपर उनकी स्नेहदृष्टि थी। मैंने तदनुरूप उनकी आज्ञा का पालन किया फिर ऐसा तो कोई कार्य उन्होंने मुझे दिया ही नहीं जो उनका वैयक्तिक रहा हो। सदा ही उनसे मेरा संपर्क संस्कृत भाषा और प्राचीन भारतीय शास्त्रों के विषय में हुआ।

संस्कृत उन्हें आती भी थी और उनमें उसका प्रेम भी था। उन्हें खोकर हम संस्कृत वालों ने अपनी एक भारी कमी अनुभव की है।

बाबा विश्वनाथ जी से प्रार्थना है बहिन प्रेमलता जी के छूटे कार्य आप के माध्यम से पूर्ण हों और उनकी आत्मा को चिर शान्ति प्राप्त हो।

आप स्वयं भी उतनी ही आदरणीया हैं। योग्य सेवा सूचित करती रहें।

भवदीय—
रेवाप्रसाद द्विवेदी

.४.

डॉ० उर्मिला शर्मा,

डॉ० प्रेमलता शर्मा जी के दु:खद निधन का समाचार सुना। बहुत दु:ख हुआ। हम सब इस दु:ख की घड़ी में आपके साथ हैं। सङ्गीत क्षेत्र की एक महान् हस्ती को अलग करके ईश्वर ने अपने पास बुला लिया है। परंतु सङ्गीत के क्षेत्र में डॉ० प्रेमलता शर्मा जी को सदैव याद किया जायेगा। उनके द्वारा संगीत के लिये किये गये कार्य के लिये संगीत-जगत् सदैव ऋणी रहेगा।

संगीत प्रेमी सेवाकर
बाबा साहेब पूछवाले
(पं० बाबा साहेब पूछवाले)
मामा का बाजार
ग्वालियर म०प्र०
४७४००१

५.

डॉ० पाण्डुरङ्ग राव

एच ४/७१, महावीर एन्क्लेव,
पालम डाबरी मार्ग, नई दिल्ली - ११००४५
दूरभाष : ५०३४१०६
४ जनवरी १९९९

आत्मवती बहन ऊर्मिला,

आपका अश्रु-सिक्त नयनों से लिखा पत्र मिला। आकस्मिक वियोग, अपरिहार्य शून्यता, असहाय एकाकीपन-सबकुछ समझ में आता है। पर आत्मवत्ता शून्य को परिपूर्ण बना देती है। 'अस्मिता' को भुला देनेवाली आस्तिक्य-भावना आत्मा को परमात्मा के प्रशान्त प्रसाद का दर्शन कराने में समर्थ है। इसलिए देह-भावना को क्षण भर के लिए भूलकर विदेह-भावना में आत्मिक चिरन्तनता का स्मरण करना ही एकमात्र उपाय है।

प्रेमलता जी की भव्य विभूति अब दिव्यवल्लरी बनकर विशोका-भूमिका में विराजमान है। यह तथ्य धारण करने में समय तो लगता है पर वही जीवन का चिरन्तन सत्य है।

अठारह साल की अवस्था में मैने पितृ-वियोग का अनुभव किया था। आकस्मिक निधन होने के कारण दिल को आघात पहुँचा था। पर तुरन्त गीता का पाठ रुदनशील आत्मा को सुनाकर मैने अपने को आश्वस्त कर लिया था। उससे मुझे जो आत्मा का आलोक मिला था, वह अब भी मेरा सम्बल बना रहता है।

उन्होंने ही मुझे गायत्री, सहस्रनाम, गीता आदि के साथ जोड़ दिया था। अभाव के समय भक्तिगीत सुनाया करते थे। उनकी वह साधना और आराधना ही अब मेरी सात्त्विकता की भाव-भूमिका है।

इसलिए आप चिन्ता छोड दें, चिन्तन से चित्त को उदात्त बना लें। सब ठीक हो जाएगा। स्व० प्रेमलता की दिव्यात्मा को भव्य आलोक प्रदान करनेवाली परम-प्रेम-रूपा आध्यात्मिकता को हम अपना लें और कोई उपाय नहीं है।

आनन्द-वनवासी बाबा विश्वनाथ सब ठीक करें।

आपका हितैषी
पाण्डुरङ्ग राव

पूर्व निदेशक—भारतीय ज्ञानपीठ, भारतीय भाषा परिषद संघ, लोक सेवा आयोग

.६.

ॐ

महेशानन्द गिरि शङ्करमठ, आबू पर्वत (राज०)
५.२.९८

प्रिय ऊर्मिला,

सस्नेह शिवाशीर्वाद। सर्वत्र शङ्करश्शन्तनोतु। तुम्हारा २२/१/९८ का पत्र कल मिला। दिसम्बर अन्त में वैद्य-(गजानन्द व्यास) जी ने प्रेमलताजी की खबर दी थी। पर मोतिया के शल्य के पश्चात् आँखों में सूजन थी, देखना बन्द था, अत: पत्र लिखना अशक्य था। इसलिए लिखा नहीं। अभी भी आँख सामान्य नहीं, पूर्वापेक्षया ठीक है। तुम्हारा पत्र पढ़कर उत्तर स्वयं लिखना अत्यावश्यक था, अत: किसी प्रकार लिखने का निश्चय किया। तुमने बहिनजी का सारा कार्य शास्त्रीयता से पूर्ण किया यह जानकर सन्तोष हुआ।

बृहदारण्यक में ''अन्य कलाओं के लीन होने पर भी नाम के अवशिष्ट रहने'' की बात स्पष्ट है। अत: उनके अवशिष्ट कार्यों को सम्पूर्ण करने से प्रायश्चित भी हो जायेगा व उनकी प्रसन्नता भी। साथ में शिवकृपा भी होगी। उनके कार्यों के पीछे ईश्वरसंकल्प ही प्रेरक था। अत: उनको पूर्ण करने से उन (ईश्वर) की प्रसन्नता अवश्यम्भावी है। **अपने को ईश्वर का यन्त्र समझ कर कार्य करो। तुम ढोल बनो, जिसे प्रभु बजावें। प्रभु के माध्यम रूप से तुम जो कर रही हो वह बहिनजी की चेतना में भी प्रतिफलित होगा ही। समष्टि माया का एकदेश ही तो ''अहं-बोध'' है।**

तुम्हारा दूसरा विकल्प तो जीवन का लक्ष्य है ही। पर उसका समय आयेगा। तब तक ईश्वरसङ्कल्प-रूपी भागीरथी में देह प्रवाहित हो। ''प्रारब्धाय समर्पितं मम वपु:''—प्रतिश्वास में हरिनाम चले तथा प्रत्येक कार्य में हरिलीला की स्मृति-रूपी भागवत-पाठ चलता रहे। इसी की स्वाभाविक परिणति तुम्हारी इच्छा की पूर्णता हो—यही हमारी ईश्वर से प्रार्थना है। अधिक न लिख कर यही आशा करता हूँ कि तुम्हें मेरी दृष्टि समझ में आ जायेगी।

सस्नेह,
महेशानन्द गिरि :

---

* पूज्या बहिनजी के गोलोकवासी होने पर मुझे अपना जीवन समेट कर श्रीमद्भगवत-पाठ एवं हरिनामजप करते हुए शेष श्वास गङ्गोत्री में समर्पित करने की तीव्र इच्छा हुई थी, तब दो ही विकल्प सामने थे कि एक वर्ष में ही सब समेट लूँ या पू० बहिनजी के अधूरे रहे कुछ अतीव महत्त्वपूर्ण कार्यों को यथाशक्ति पूरा कर के ''प्रभु'' के द्वार पर पहुँचूँ। इसका निर्णय पाने के लिये मैंने तब अपने चैतसिक जीवन के निर्देशक परमपूज्यपाद स्वामीजी को पत्र भेजा था; उनके इस उत्तर के (यथाशक्ति) अनुसार ही यह जीवन प्रवहमान है। —ऊर्मिला

विशेष

ॐ

श्री दक्षिणामूर्ति पीठ

श्री शङ्कर मठ, आबूपर्वत
हरितामावास्या
(२०५७ वि०)

शुभाशंसनम् *

भारत में पनपे दर्शन, साहित्य, कला, नाट्य, सङ्गीत आदि सभी विधाएँ अन्तश्चेतना से स्फुरित होने से परमात्मप्रधान रही हैं, इसी से भारत की धर्मप्रधानता की प्रसिद्धि रही है।

''प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं धर्म वैदिकम्''—से यह स्पष्ट है कि धर्म यहाँ केवल निवृत्तिपरायण नहीं रहा। यह ठीक है कि श्रमणधारा में निवृत्ति की प्रबलता से कई लोगों में यह धारणा स्थिर हो गई है, परन्तु वेद में स्पष्टत: दोनों ही बताये गये हैं। परम-पुरुषार्थ के विषय में जो भी मतवैविध्य हों, परन्तु सभी पुरुषार्थ-रूपेण तो स्वीकृत हैं ही। इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय कला-केन्द्र ने इस अथाह कला-राशि को प्रकट करने का सङ्कल्प लेकर वर्तमान की दिशाहीन परिस्थिति में दिग्दर्शन कराने का उत्कृष्ट कार्यारम्भ किया है। श्री श्री भक्तिरसामृतसिन्धु (एवं गौडीय वैष्णव धारा के प्रमुख कुछ ग्रन्थों) का (प्रस्तावित) प्रकाशन इसी की एक कड़ी है।

मानव-प्रकृति में सबसे प्रबल शक्ति इच्छा ही है। इच्छा की स्वतन्त्रता भी सर्वाधिक है। ज्ञान में ज्ञेय की अधीनता रहेगी ही, प्रमाणों की परतन्त्रता भी रहेगी। क्रिया में भी शक्यता की परिच्छिन्नता है, कारणों की परतन्त्रता के साथ साधनों की अधीनता भी है ही। परन्तु इच्छा में स्वकीय संस्कारों के सिवाय कुछ भी अपेक्षित नहीं है। यही इच्छाशक्ति ईशोन्मुखी होने पर भक्ति कही जाती है। देवर्षि-महर्षि नारद एवं शाण्डिल्य ने 'परप्रेमस्वरूपा', 'परानुरक्ति' ही भक्ति का लक्षण किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में भी ''आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनम्'' से यही बताया गया है। इच्छा अनुकूलता से ही सम्भव है। ''कृष्ण की इच्छा ही मेरी इच्छा हो'' यही भक्ति का बीज है। यही शरणागति है। अत: शरणागत ही यहाँ अधिकारी हो सकता है। इत: पूर्व वैधी उपासना तो हो सकती है, भक्ति नहीं। यत: इच्छा ही आनन्दानुभूति का कारण है, अत: यह भक्ति स्वयं ही रसरूप है,

---

* ''बहिनजी''—के अन्तिम प्रकाशन-कार्यों में प्रमुख श्री रूपगोस्वामी-कृत ग्रन्थों की शृङ्खला में से **श्री भक्तिरसामृतसिन्धु** द्वितीय खण्ड के लिये (उनके पश्चात्) लिखा गया यह आशीर्वचन ग्रन्थ एवं अनुवादिका का सविशेष परिचायक है, अत: यहाँ निविष्ट है।—सम्पा०

और यही अमृत है। शृङ्गार आदि इसी की अभिव्यक्ति के प्रकार हैं। साधकों-पार्षदों-परिकरों के भेद से पाँच रस प्रधानतया एवं अन्य औपाधिक या गौण रस परिस्थति-भेद से पूर्णतया यहाँ निरूपित होने से इस ग्रन्थ को सिन्धु (समुद्र) कहा गया है। इस प्रकार सभी रसानुभूतियों के भेदों का यह विश्वकोष बन गया है। श्री रूप-गोस्वामी जी ने भगवदवतार श्री-कृष्णचैतन्य महाप्रभुजी का सान्निध्य पा कर अपने को तो कृतार्थ किया ही, अपनी रचनाओं से मानव-मात्र के लिये कृतार्थता के मार्ग को सुलभ एवं प्रशस्त किया है।

लीलाचिन्तन की विविधताओं का जो बीज श्रीमद्भागवत में है, उनको विस्तार से रस-ग्रहण के विविध वर्गीकरण के द्वारा यहाँ इतना स्फुट कर दिया गया है कि साहित्य-शास्त्री भी चमत्कृत हुए बिना नहीं रह सकेंगे। **हिन्दीभाषियों से यह निधि छिपी न रहे अतः सुश्री प्रेमलताजी ने इसका प्रामाणिक अनुवाद एवं श्रीश्री जीवगोस्वामी, श्री मुकुन्द दास तथा श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती की (संस्कृत-) चिन्तनिकाओं का सार उपस्थापित किया है। वे सङ्गीत, साहित्य एवं नाट्य की अगाध विज्ञाता तो थीं ही, उच्चकोटि की साधिका भी थीं।** इस समय आँखों की अयोग्यता के कारण स्वयं पढ़ना सम्भव न होने से सुश्री ऊर्मिला-द्वारा मैंने इस का प्रायः पूर्णरूपेण श्रवण किया। अपनी व्यस्ताओं में भी ऊर्मिला ने इस ग्रन्थ का आनन्द उपलब्ध कराया। वह अपने परम लक्ष्य को प्राप्त करे यह हमारा उसे आशीर्वाद है।

अनुवाद अत्यन्त उत्तम बन पड़ा है, एवं मूल-ग्रन्थ के भावों का पूर्ण रक्षण इसमें है। कई स्थलों पर, टीकाकारों के समय अत्यन्त प्रसिद्ध होने से जो विस्तार के योग्य नहीं समझा गया होगा, उसको भी वर्तमान परिवेश में समझाने का स्तुत्य प्रयास विमर्श में अनुवादिका ने किया है।

अन्य सभी रसों का पूर्ण विवेचन इस ग्रन्थ में प्रस्तुत होने पर भी रसराज शृङ्गार (मधुरभक्तिरस) इसमें अत्यन्त संक्षिप्त है, अतः इसके परिशिष्ट रूप में स्वतन्त्र पूर्ण ग्रन्थ "उज्ज्वलनीलमणि" प्रकट हुआ। उसका भी प्रकाशन इस शृङ्खला में होने जा रहा है—यह प्रसन्नता का विषय है।

कृष्णयजुर्वेद में परमात्मा को ही रस कहा है। भक्ति से ही उसकी रसरूपता उपलब्ध होती है।

"रसो वै सः।" "रसं हि एवायं लब्ध्वा ऽऽ नन्दी भवति।"........

श्री० सुरेश्वराचार्य के शब्दों में—

"नीरसस्यास्य कार्यस्य रसो ऽ सौ परमः स्मृतः।
रसः सारो ऽ मृतं ब्रह्म आनन्दो ह्लाद उच्यते॥"

यह विश्वरूपी कार्य स्वयं में नीरस होने पर भी इस में सार रस-स्वरूप परमात्मा का सम्बन्ध होने से

यह आह्लाद का रूप ले लेता है। अतः भगवत्पाद शङ्कर स्वामी ने—"**प्रणमत गोविन्दं परमानन्दम्**" कहा, एवं शङ्करहृदयज्ञ स्वामी आनन्दगिरि जी ने "**गोभिः गीर्भिः वेद्यत इति गोविन्दः**" कह कर इन्द्रिय व अन्तःकरण से या वेदान्त वाक्यों से उसका वेदन कहा। भगवान् शङ्कर "**अपेक्षितोपाधिसम्बन्धो निरस्तोपाधिसम्बन्धश्च उपास्यत्वेन ज्ञेयत्वेन च वेदान्तेषूपदिश्यते**" (ब्र०सू०भा० १-१-१२) में इसे स्पष्ट करते हैं। जैसे ज्ञेय ब्रह्म का स्फुटीकरण युक्ति, अनुमान आदि की मीमांसा से होता है, वैसा ही भक्ति के रस-प्रवाह का स्फुटीकरण रस व भाव के भेदों के विचार-द्वारा होता है। इन भेदों का लक्षण व प्रमाण दोनों ही प्रस्तुत "सिन्धु" में स्पष्टतया निरूपित हैं।

यद्यपि अनुभव ही साधकों का लक्ष्य है, पर वह अनुभव प्रमाणसिद्ध होने पर ही यथार्थ होता है। श्रीमद्भागवत एवं अनेक भक्त-विद्वज्जनों के अनुभवपूर्ण उद्गार ही यहाँ प्रमाण हैं। साधक अपने अनुभवों को यहाँ मिलाता जायेगा, तभी उत्कर्ष होगा। जो इससे विपरीत हों वे त्याज्य हैं। गौण रसों व मुख्य रसों के शत्रु-मित्र-भाव के निरूपण द्वारा किस भाव-वाले को कहाँ बचना चाहिये—यह भी स्पष्ट होता जायेगा। मूलतः यह ग्रन्थ साधकोपकारी होने पर भी, विद्वान् व्यक्तियों को भक्तिसाहित्य का अध्ययन करने में इससे सहायता मिलेगी। कहाँ कौन-सा लक्षण घटित होता है, या कहाँ विरसता उत्पन्न हो सकती है—इत्यादि के विवरण भी अध्येता को सहायक होंगे।

श्रीकृष्ण अनन्त हैं व उनकी लीलाएँ भी अनन्त हैं। प्रत्येक भक्त नव-नवोन्मेष को प्राप्त करके नवीनतम लीलाओं का साक्षात्कार करता है व करता रहेगा। अनन्त को परिच्छिन्न लक्षणों में लाना दुष्कर कर्म है। श्रीश्री रूप गोस्वामी जैसा विलक्षण-विचक्षण-भगवदनुगृहीत ही यह कर सकता था। इसी प्रकार उनके भावों का भाषान्तर-रूप से प्राकट्य भी भगवदनुगृहीत ही कर सकता था। प्रेमलताजी आज सशरीर नहीं है, परन्तु अनुजा ऊर्मिला में मानों वही अनुग्रह कार्य कर रहा है। अतः यह समारम्भ स्वयं भगवत्-प्रेरित है, एवं उस नित्य लीला का ही अङ्ग है, ऐसा निश्चय है।

इस कार्य में सहयोग करने वाले सभी सहृदय भगवदनुग्रह प्राप्त करें—यही श्री उमारमण एवं श्री राधारमण से प्रार्थना है॥

शङ्करमठ
आबू (पर्वत)
हरितामावास्या (श्रावण)
२०५७ वि० (३१.७.२०००)

भगवत्पादीयो
महेशानन्द गिरिः

महेशानन्दगिरिः

[श्रीमत्-परमहंस-परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ, श्री दक्षिणामूर्त्ति-पीठस्थ, श्रीनिरञ्जन पीठाधीश, महामण्डलेश्वर]

श्रीदक्षिणामूर्तिपीठ से सम्बन्धित संस्थायें—

श्री दक्षिणामूर्ति मठ,
(डी ४६/, मिश्र पोखरा, वाराणसी-२२१००१)

श्री शंकरमठ,
(आबू पर्वत-३०७५०१)

श्री विश्वनाथ संन्यास आश्रम,
(श्रीराम रोड, देहली-११००५४)

श्री दक्षिणामूर्त्ति संस्कृत महाविद्यालय
(डी ४६/६ए, वाराणसी)

श्री शंकर विद्यालय,
(नापासर, बीकानेर)

श्री विश्वनाथ संस्कृत महाविद्यालय,
(वेलारोड, देहली)

श्री ध्रुवेश्वर मठ,
(काशी)

श्री दशनाम संन्यास आश्रम,
(पुष्कर)

श्री विश्वनाथ आयुर्वेदिक दातव्य औषधालय,
(देहली)

श्री भैरवगिरि मठ,
(रानी बाजार, बीकानेर)

—ये सभी संस्थायें पूज्यपाद स्वामीजी के संरक्षण-निर्देशन के अन्तर्गत मानव-सेवारत हैं।

विशेष

कौस्तुभ-जयन्ती पर सश्रद्ध स्मरण

आचार्यश्री श्रीवत्स गोस्वामी जी के उद्‌गार

नमोऽस्त्वनन्ताय सहस्त्रमूर्त्तये
सहस्त्रपादाक्षिशिरोरुबाहवे।
सहस्त्रनाम्ने पुरुषाय शाश्वते
सहस्त्रकोटीयुगधारिणे नमः॥

समुपस्थित समस्त गुरुजन, गुणीजन एवं रसिकजन! सबके चरणों में प्रणाम।

यह पावन काशी की पावन गङ्गा का नारदघाट है, और यहाँ रसाचार्या दिवं० प्रेमलता बहिनजी की कौस्तुभजयन्ती के अवसर पर उनके अप्रतिम कृतित्व और व्यक्तित्व का परिचय देने वाले ग्रन्थ

''प्रेमरसायन और सङ्गीतमीमांसा''

"The Alchemy of love & wisdom as expressed through the Holistic life and works of Prof. Premlata Sharma"

—का लोकार्पण हो रहा है जिसमें उन की दुर्लभ कृतियों का सङ्ग्रह है। ग्रन्थ की महत्ता के विषय में तो ग्रन्थ की विषयसूची स्वयं बता रही है और वास्तव में इन सभी निबन्धों में केवल सङ्गीत-साहित्य-कला आदि का ही मर्म नहीं कहा गया बल्कि मानव-मात्र के लिए बहुत-कुछ कहा गया है।

'प्रेमलता' की जड़ गड़ी थी रस की ही भूमि व्रज में। वहीं उस मूल से यह लता अङ्कुरित हुई, सींची गई प्रेम-रस से ही। वृन्दावन में एक आचार्य (श्री पुरीदास बाबा) ने प्रेमलता को रस का चस्का लगाया। ''प्रेमपत्तन'' (वृन्दावन) में इन बहिनजी को जिस रस का चस्का लगा वह काशी में आने पर उन का व्यसन बन गया, प्राचीन शास्त्रों की मीमांसा उन की वृत्ति बन गयी।

वह 'रस' प्रकट हुआ था सन् १५१५ में यहाँ काशी में ही। प्रेमावतार रसमूर्ति श्री चैतन्य महाप्रभु

---

* *बैशाख-शुक्ल-नवमी सं० २०५९— श्र० प्रेमलता शर्मा जी की ७६ वीं जन्मतिथि अर्थात् कौस्तुभजयन्ती के उपलक्ष्य में दि. १९ से २१ मई २००२ को वाराणसी में— राय कृष्णदास इन्टैक वाराणसी न्यास तथा आम्नाय भरतनिधि— द्वारा आयोजित समारोह में प्रथम दिन प्रस्तुत ग्रन्थ का लोकार्पण करते समय व्यक्त हुए आचार्य श्री श्रीवत्स गोस्वामी जी के सारगर्भित चिन्तन को भी इस ग्रन्थ में संग्रथित करने का लोभ संवरण नहीं कर सकी, अत: (पू० बहिनजी के जीवन का मर्म-प्रकाशक) यह प्रवचन (यत्नपूर्वक) यहाँ प्रस्तुत किया है।*
—ऊर्मिला

यहीं गङ्गातट पर बिन्दुमाधव के आँगन में डेरा डाले हुए थे। यहीं से जाकर वृन्दावन और व्रजमण्डल को प्रकट किया स्वयं अनुभूति से। तब तक भौतिक वृन्दावन-व्रजमण्डल उपलब्ध नहीं था। श्री चैतन्य पुनः काशी लौटे। उन्होंने विचार किया कि प्रेमभूमि व्रज प्रतिष्ठित नहीं रह सकेगा यदि ''प्रेम-रस'' का शास्त्र प्रकट न हो।

यहाँ 'ज्ञान' के साथ संवाद हुए। ज्ञानीधुरीण स्वामी प्रकाशानन्द के साथ विशेष संवाद हुआ। यहीं विलक्षण घटना हुई रसशास्त्र के बीजारोपण की। श्री सनातन प्रभु तथा श्री रूप का काशी-आगमन। श्री चैतन्यमहाप्रभु ने काशी और प्रयाग में बैठकर इन दोनों सारस्वत साधकों के हृदय में रस के बिन्दु सींचे। वहाँ जो बिन्दु डाले गये वह ही फिर सिन्धु **(श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु)** के रूप में प्रकट हुए। श्री रूप गोस्वामी का वह अद्‌भुत ग्रन्थ और फिर **श्री उज्ज्वलनीलमणि** निकला उस सिन्धु में से। उन ग्रन्थों का बीज पड़ा यहीं काशी में। उसी भक्तिरसामृतसिन्धु के अध्ययन से प्रेम की लता पुष्ट हुई— डॉ० प्रेमलता शर्मा की पी०एच०डी का मुख्य विषय था भक्तिरसामृतसिन्धु। बहिनजी ने उस रसशास्त्र को व्रज से वाराणसी तक जो यात्रा करायी वह एक विलक्षण यात्रा थी। श्री चैतन्यमहाप्रभु ने रस बनाकर बनारस से वृन्दावन भेजा। उस रस को आचार्य बाबा पुरीदास जी से ग्रहण कर के बहनजी ने काशी में लाकर प्रकाशित किया। वह मूल रस था क्या? वह था रसराज भक्तिरस। भक्ति स्वरूपतः ज्ञान और कर्म आदि से अनावृत होती है। जिस प्रेम और भक्ति पर ज्ञान और कर्म का पाखण्ड न छाया हो, परदा न पड़ा हो। वह भक्ति का स्वरूप है—''ज्ञानकर्माद्यनावृतम्'' किन्तु बहिनजी ने उस भक्ति रस को अनावृत किया एक दूसरी प्रणाली से। रसशास्त्र के ज्ञान को बढ़ा कर भक्ति को प्रकाशित किया, प्रतिष्ठित किया। उन का पहला सम्पादन-प्रकाशन था भूदेव शुक्ल का ''रसविलास'' और अन्तिम हुआ ''भक्ति रसामृतसिन्धु''।

लोग सोचते हैं कि भक्ति का ज्ञान से विरोध है। वस्तुतः ऐसा नहीं है, ज्ञान साधन बना रसशास्त्र को प्रतिष्ठित करने में। रसमय कर्मों की साधना से उस रस को और प्रकाशित करती रहीं। भक्तिमय कर्म हुए, जहाँ अपना जो सबसे अधिक रोचक हो वह प्रियतम प्रभु को अर्पण किया जाता है। उस का क्रम सन्तों ने यही बताया है—

''श्रुतिकोटिसमं जप्यं जपकोटिसमं हविः''।
हविकोटिसमं गेयं गेयं गेयसमं विदुः॥

श्रुति = वेदादि-स्वाध्याय से अधिक है जप, कोटिजप के समान है प्रियतम को भोग अर्पण करना - अनुरागमय गेय-आराधना प्रियतम के चरणों में अर्पित करना यह सर्वोपरि आराधना है। उससे बढ़कर फिर कुछ नहीं—''गेयं गेयसमं विदुः''।

भक्तिपथ में सङ्गीत-अर्पण करना सर्वोत्तम साधना है। वह नादमयी ब्रह्मोपासना बहिन जी ने काशी में की और पुनः वृन्दावन में आकर श्रीराधारमणजी के चरणों में निवेदित की।

इस नादब्रह्म की उपासना में बहिनजी ने अपना जीवन लगाया और उसकी शिक्षा दी अनेकों को। वह रागसेवा कर के उन्होंने स्वयं सुख लिया। जिसे हम व्रजवासी कहते हैं सेवा-सुख। ''महल-टहल की बात'' यह अन्तरङ्ग बात है। रागमयी सेवा का सुख लिया। अपने आराध्य ''स्वयं भगवान्'' को रिझाने के लिए युक्ति की कि ठाकुर को ठाकुर का गीत सुनाओ। उस सेवा की पराकाष्ठा में बहिनजी ने श्रीमद्भागवत के शिखर स्वरूप पञ्चगीतों को पकड़ा। जीभर लाड लडाते हुए उन गीतों का ''सङ्गीत'' बनाया। इस सेवा का साक्षी होने का मुझे सौभाग्य मिला, जिसके बल पर मैं यहाँ बैठा हूँ और आप से ये दो बातें कर रहा हूँ। बहिन जी ने प्रारम्भ किया भ्रमरगीत से, फिर लिया वेणुगीत, फिर युग्मगीत। और दो हैं गोपीगीत और महिषीगीत। इनसे पहले बहिनजी ने श्रीरूप गोस्वामी की ही अद्भुत रचना श्री गोविन्दबिरुदावली में से कुछ पद्यों को सङ्गीत दिया और श्रीकृष्णलीलाप्रसङ्ग नाम से श्री सूरदास, घनानन्द आदि के कुछ पदों को कथाक्रम से जोड़कर सङ्गीतमय बनाया था। श्रीमद्भागवत के उन पाँचों गीतों को नित्यगेय-स्वरूप देने का एक महत् संकल्प लिया था बहिनजी ने वृन्दावन में। उस सेवा-क्रम में बहुत मन से बहिन जी ने वे गीत गाये और गवाये, उस पर बहुत कलासेवियों को नचाया भी। वह विलक्षण सृष्टि हुई। उस में भक्तिरस को और उसके शास्त्र को निरन्तर अनावृत करने की प्रक्रिया चलती रही। विशुद्ध रस-स्थिति क्या है वहाँ तक पहुँचने की बात उन गीतों के माध्यम से होती रही।

प्रेमलताजी आराधना और साधना का एक विलक्षण 'प्रत्याहार' बनी रहीं। ''आदिरन्त्येन सहेता''—आदि से अन्त तक और मध्य के सभी का ग्रहण प्रत्याहार (व्याकरण) में होता है। प्रेमलता-नामक प्रत्याहार में सर्वत्र शास्त्र, भक्ति और कर्म तीनों की त्रिवेणी समन्वित होकर एक साथ बहती रही—'प्रयोग' के साथ। प्रयोग हुए तो शास्त्र पुनः लौटा, और रसशास्त्र की प्रस्थानत्रयी (—श्रीश्री रूपगोस्वामी के तीन ग्रन्थ—श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु, श्री उज्ज्वलनीलमणि और नाटकचन्द्रिका) के अनुवाद, विमर्श और सम्पादन का कार्य गतिशील हुआ। ज्ञानमार्ग की प्रस्थानत्रयी थी—उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और श्रीमद्भगवद्गीता। लेकिन रसिकों ने इस पर भाष्य नहीं लिखे, बल्कि 'रस' को साकार बनाने वाला शास्त्र रचा गया। इस शास्त्र का बीज यहाँ 'बिन्दुमाधव' में पड़ा था जो बना 'भक्तिरसामृतसिन्धु'। उस सिन्धु में से निकला 'उज्ज्वलनीलमणि' नाम का रत्न। इसी रत्न के प्रकाश में एक और शास्त्र प्रकाशित हुआ—नाटकचन्द्रिका, कि उस भक्तिरस को हम लीला के आस्वादन के रूप में नाट्य विधा के रूप में मूर्त्तिमान् कैसे कर सकते हैं?

इन तीनों शास्त्रग्रन्थों को सम्पादित करने की सेवा का जो महान् दायित्व बहिनजी ने अपने ऊपर लिया, वह भारतीय मनीषियों के इतिहास की एक विशेष घटना है। संस्कृत-वस्तु को सरल हिन्दी के माध्यम से, किन्तु प्रभूत विमर्श करते हुए सहृदयों के सम्मुख लाने का दायित्व उठाया बहिनजी ने।

सौभांग्य से भक्तिरसामृतसिन्धु दो खण्डों में प्रकाशित हो ही गया है; और यह परम्परा चलती रहेगी; वे तीनों ग्रन्थ प्रकाशित होंगे। मूल कार्य करके बहिनजी सौंप गई थीं छोटी बहन ऊर्मिला को। इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय कलाकेन्द्र तथा श्री चैतन्यप्रेमसंस्थान, वृन्दावन के सहयोग से वह कार्य आगे बढ़ रहा है। इस प्रकार वह दुर्लभ रसशास्त्र सुलभ होगा।

यही परम्परा है रसशास्त्र की। वे तीनों ग्रन्थ भी रूपगोस्वामी ने पूर्ण रूप से लिखे नहीं थे, उन्होंने मूल-विचार बिन्दु अङ्कित किये थे—'नोट्स्' बनाये थे। उन्हें फिर शास्त्र रूप में परिणत किया था श्री जीवगोस्वामी

ने। ऐसे ही पश्चिम में एक भारतीयविद्याविद् हुए—Heinrich Zimmer। उन्होंने कोई भी ग्रन्थ पूरा स्वयं नहीं लिखा। उनके जो भाषणों के 'नोट्स्' थे —उन्हीं को व्यवस्थित कर के ग्रन्थ बने—

Philosophies of India, Myths and Symbols in Indian civilization and culture इत्यादि अद्भुत संवेदनात्मक ग्रन्थ उन Lecture-notes में से आये। उसी परम्परा को आगे बढ़ाते हुए, बड़ी बहन जी की सृष्टि और कृति को व्यवस्थित करके हमारी ''छोटी बहनजी'' ला रही हैं इन सङ्कलनों के रूप में।

रससिद्धा आचार्या प्रेमलताजी ने अपनी साधना का प्रस्फुटन किया। जो रस-सत्त्वोद्रेक संवादिनी विद्याओं एवं कलाओं के संस्पर्श सहित स्वात्मभाव में जाकर पर्यवसित हुआ, परिनिष्ठित हुआ, उस रससाधना का नाम था डॉ० प्रेमलता शर्मा। किन्तु आज उन्हें सदेह न देखकर यदि हम कहें कि यह नाम 'था'—तो अपराध होगा।

''उड़ गये फुलवा, रह गई बास''

यहाँ यह बात नहीं है। प्रेमलता में जो फूल खिले हैं, इन ग्रन्थों के माध्यम से, यह जो उन की वाङ्मयी मूर्त्ति है इसका विज्ञान अद्भुत है। पञ्चतत्त्वों में एकमात्र जिस तत्त्व का 'नाश' नहीं होता, उस का भौतिक गुण है शब्द, जो विभु है और नित्य है। शब्द में अनित्यता नहीं है। अतः प्रेम की लता में खिले हुए जो वाङ्मय पुष्प हैं उनसे यह सिद्ध है कि ''प्रेमलता'' अतीत का नाम नहीं है। प्रेमलता वर्तमान है। उसके पुष्पों की बास, सुगन्धित जीवन्तता भविष्य में भी ऐसी ही बनी रहेगी। लता अपने उस रूप को अप्रकट करके रसराज की नित्यलीला में प्रविष्ट हो गईं, और वाङ्मयी मूर्त्ति के माध्यम से आज भी प्रकट है।

आज मैं निश्चित रूप से कृतार्थ हूँ; अपनी 'बतकही' कर के नहीं; क्योंकि उस रस की बात कही नहीं जा सकती। जिस का यह घाट है (नारद) उस ऋषि ने कहा कि भक्ति-रस का स्वरूप एक ही है— ''परमप्रेमरूपा''। वह परमप्रेम मौन की वस्तु है (मूकास्वादनवत्)। किन्तु धृष्टता की है स्नेहियों के आग्रह से। वह रस तो देखने की और आस्वादन की वस्तु है। उस रसराज कृष्ण के रस का दर्शन तो कोई 'कलाकृष्ण' एवं 'उमा महेश्वरी' जैसे रसिक ही हमें करा सकेंगे, जो आज हमारे सम्मुख उपस्थित हैं बहिनजी के प्रति श्रद्धानत भाव से।

आदेश-पालन हो गया, इस बहाने आज बहिनजी का पुनः स्मरण हुआ और काशी का कुछ क्षण सेवन हुआ। पुनः प्रणाम करता हूँ। **राधे-राधे!**

---

* *श्र. बहिनजी की इस कौस्तुभ-जयन्ती के समारोह में उन के प्रति कलामय श्रद्धा-सुमन अर्पित करने के लिये हैदराबाद से सदलबल पधारे थे—''आन्ध्रनाट्यम्'' तथा 'पेरिणी' - ताण्डव के पुनरुज्जीवक ''नटराज'' श्री रामकृष्ण के प्रमुख सुविख्यात शिष्य श्रीकलाकृष्ण तथा हरिकथा कालक्षेपम्— विधा की सिद्ध कलाकार श्रीमती उमा महेश्वरी। दि. १९ को नारदघाट पर — तथा दि. २० को का० हि० वि० में श्री कलाकृष्ण ने ''भामाकलापम्'' में कुछ नृत्य-प्रस्तुतियाँ कीं तथा उनके शिष्यों ने 'पेरिणी' (सङ्गीतरत्नाकर तथा नृत्तरत्नावली में प्रतिपादित शैली) ''नृत्त'' से शिवाराधना की। श्रीमती उमा महेश्वरी ने १९ को श्रीजयदेवचरितम् (संस्कृत में) तथा 20 को ''मार्कण्डेयचरितम्'' (तेलुगू में) की सङ्गीत-कथन-अभिनय-समवेत प्रस्तुतियाँ कीं॥ —ऊर्मिला*



केन्द्रीय सङ्गीत नाटक अकादमी तथा
राय कृष्णदास इन्टैक वाराणसी न्यास के
द्वारा आयोजित अखिल भारतीय
लोक-विधा-सङ्गीत-उत्सव
(गायन-वादन-नृत्य-कथा-अभिनय)
का उदघाटन भाषण मार्च १९९८
राजाघाट, वाराणसी (गङ्गातट)



Academic Staff College B.H.U.
में-अगस्त १९९८ में- प्रथम
Refresher Course in Performing Arts
का उद्घाटन-भाषण



उदयन सांस्कृतिक एकाडमी,
जगन्नाथ पुरी में भाषण
२६,२७-११-१९९८
(सार्वजनिक सभा में अन्तिम योगदान)
(यहीं से लौटकर ५ दिसंबर को महाप्रयाण)

राधा पब्लिकेशन्स
4378/4 बी, अंसारी रोड, दरिया गंज, नई दिल्ली-110002
फोनः 011-3261839, 3254306